श्रीनरहरिविरचित

बोधसार

-: प्रकाशक :-

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-८६

श्रीनरहरिविरचित

बोधसार

संस्कृतव्याख्या एवं हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्री १००८ स्वामी पुण्यानन्द गिरिजी महाराज
निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
के निर्देशानुसार

श्री बलराम कण्डेल (विद्यावारिधि)
श्री नवराज पौडेल (विद्यावारिधि)
श्री राजेन्द्र द्विवेदी (विद्यावारिधि)
द्वारा सम्पादित

-: प्रकाशक :-
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

-: प्रकाशक :-
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी. ४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०
Web. : www.dakshinamurtimathaprakashan.org

प्रथम संस्करण

शंकराब्द	:	१२२८
विक्रमाब्द	:	२०७३
ईस्वी	:	२०१६

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य
₹४५०

आवरण चित्र	मुद्रक
अदिति मालपानी	सौरभ प्रिंटर्स प्रा. ली.

विषय-सूची

	पृ
प्राक्कथन	घ
मंगलाचरणम्	१
गुरुस्तवः	४
गुरुशिष्यविवेकः	१०
ब्रह्मजिज्ञासा	१७
वैराग्यपीठिकाबन्धः	१९
कायादिविडम्बनाः	२४
धर्मजिज्ञासा	४९
तपस्यातात्पर्यम्	५५
व्रतादिविचारः	५६
अधिकारपरीक्षा	६७
सत्संगसुधा	६९
समन्वयाऽविरोधविचारः	७२
सांख्यपातंजलमतविचारः	७८
हठयोगः	१०१
शिवशक्तिपराक्रमः	११०
लययोगः	११९
भक्तिरसायनम्	१३७
राजयोगः	१५९
ज्ञानभूमिकाः	१६४
अवस्थाः	२३८
मुनीन्द्रदिनचर्या	२५३
प्रातःस्मरणम्	२५७
स्नानादिविचारः	२६३
प्रातःसन्ध्यादिनिर्णयः	२७०

होमनिर्णयः २८५
ब्रह्मयज्ञः २९४
देवपूजाचतुर्दशी २९८
महायज्ञ-दानादि ३१४
भोजनादिविचारः ३२०
भारत-पुराण-रामायणश्रवणम् ३२३
अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयः ३३२
सायंसन्ध्या, निशाव्यवहारः ३६६
निरञ्जनपञ्चाशत्कम् ३७१
यमुनाष्टकम् ३९३
शिलाधेनुषट्कम् ३९८
निद्रापञ्चकम् ४०४
अनुभवनवकम् ४०८
विद्वत्प्रभावनवकम् ४२२
निर्वाणदशकम् ४२७
बोधदीपः ४३४
उपदेशः ४३९
ब्रह्मचर्चा ४५१
स्वेच्छाचारचतुष्टयी ४६३
अहङ्कार-वासना-कामादिचर्चा ४६८
स्तनपानलीलाष्टकम् ४७३
आश्चर्यचतुष्टयी ४७९
तुरीयतुलसीपत्रपूजा ४८५
हेतुमालाहीरावली ४९५
कैवल्यकुञ्चिका ५०४
बुद्धिप्रशंसा ५१८
रङ्गलीला-चन्द्रिकाचन्द्रचमत्कार-शिरश्छेदाः ५२२
गुरोः प्रश्नामृतम् ५३१
चर्याचतुष्टयी ५३८

ज्ञानगङ्गातरङ्गाः	५४४
मनोमहिमा	५६७
पशोर्घातः	६०१
जीवन्मुक्तिः	६०२
ज्ञानिगर्जनम्	६११
नरहरिषट्कम्	६५२
उन्मत्तप्रलापशतकम्	६६२
शिवपूजाशतकम्	७१८
बोधसारप्रशंसा	८०५
बोधसारोपासना	८०६
श्लोकसूची	८१७

ॐ

प्राक्कथन

परमार्थ तत्त्व अनुभवविषय नहीं वरन् स्वयं अनुभव है। उसमें कुछ और भरा होने से वह पूर्ण नहीं वरन् स्वयं पूर्ण है। उसका स्वरूप ही आनन्द है। शास्त्र उस आनन्द का ही उद्रेक है। वेद में परमेश्वर का वर्णन ऐसा नहीं मिलता जैसे कोई दर्शनशास्त्रका ग्रन्थ हो। वहाँ तो ऋषियों के आनन्दानुभव की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति मिलती है, उनकी साधना का प्रवाह दिखायी देता है, समस्त चराचर जगत् के प्रति घनिष्ठ आत्मीयता और असन्दिग्ध निर्ममता का दर्शन होता है। वेदोपदेश समझना इसीलिये साधक के लिये ही सम्भव है। जो तटस्थभावसे तर्कदृष्टि द्वारा समझना चाहेगा उसे कुछ स्पष्ट बोध होना संभव नहीं। भगवान् भाष्यकार ने जितना उपनिषत्-प्रसंग बुद्धिगम्य हो सकता है उतना व्यक्त किया, कुछ अन्य आचार्यों ने भी किया, फिर भी उपनिषत् हृदयंगम करने के लिये उसकी शिक्षा को आत्मसात् ही करना पड़ता है, अन्यथा आध्यात्मिक असन्तोष बना रहता है, भले ही बुद्धि निरुत्तर बन जाये। अत एव ब्रह्मनिष्ठ ही वेदान्तोपदेष्टा सम्भव है, अन्य द्वारा कहा हृदय में प्रवेश ही नहीं करता। जिस तरह से वास्तविकता दीखे वही 'दर्शन' है, किन्हीं मान्यताओं का संकलन नहीं। वैदिक अभिव्यक्ति दर्शनके सर्वथा अनुकूल है। जितना दर्शन और इसके ढंग को 'व्यवस्थित' बनाया जाता है उतनी कृत्रिमता बढ़ती जाने से व्यवधान ही खड़े होते जाते हैं। फलतः दर्शनों की कतार खड़ी होकर आपसी मान्यताओं-प्रक्रियाओं के जल्प का कोलाहल ही बचता है। मोक्षरूप प्रयोजन की सिद्धि ही दर्शन का सत्यापन है, कुछ-एक वचन-तर्क आदि से समर्थन हो जाने से दर्शन सत्य कहलाने योग्य नहीं। वेदान्त को स्वयं वेद ने 'विज्ञान' कहा, वह एक साक्षात्कार है जिसमें भेद के कोई मायने नहीं रहते, व्यापक एकरस आनन्द की दीप्ति ही रहती है। इसीलिये यह 'परा विद्या' है।

वेदान्त सम्प्रदाय की विशेषता है कि आचार्यों ने इस सफलतारूप पवित्रता को कायम रखकर भी वेदोपदेश को यौक्तिक साँचों में ढाला। आज एक वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त आस्तिक किसी दर्शनका साम्प्रदायिक अस्तित्व नहीं। दर्शनान्तर-अध्येता उस दर्शन की साधना से मोक्ष पाने के प्रयास में संलग्न नहीं होते। मोक्ष के

लिये यदि उत्सुक होते हैं तो अन्यान्य साधन ही अपनाते हैं। न्यायचर्चा ईश्वरविषयक मनन है यह न्यायाचार्यों की घोषणा रही किन्तु शनैः शनैः चर्चाविषय ईश्वर रहा ही नहीं! शब्द ब्रह्म के ज्ञानसे मोक्ष के लिये प्रयास तो दूर, शुद्ध पदप्रयोग के लिये बताये सरल नियमों को उलझाने की कुशलता ही धीरे-धीरे वैयाकरणों की शोभा रह गयी। सभी शास्त्रों का उपकार जिनका प्रयोजन उन्हीं की ऐसी स्थिति हो गयी कि शास्त्रान्तरवेत्ता इनसे दूर रहना चाहते हैं। योग की दर्शन के रूप में, मोक्षोपायके रूप में पहचान समाप्त है, कोई गुरु-शिष्य-परम्परा योगाभ्यास से मोक्ष का उपदेश देती नहीं मिलती। इह लोक के दैहिक-मानसिक लाभ के लिये अपना लिया जाना वास्तव में दर्शन का महत्त्व नहीं। सत्य का निरावरण करने में निरपवाद उपाय स्वीकारा जाये यही दर्शन का आदर है।

मानव बुद्धि में विवेक निहित है। विवेकपूर्ण प्रतीत न हो तो मानव स्वानुभव को भी शंकादृष्टि से ही देखता है। बाह्य जगत् के नियमों के सूक्ष्म ज्ञान के लिये बुद्धि की यही सामर्थ्य उपयोगी हुई है। आत्मसन्दर्भ में भी युक्तिपूर्ण उपस्थापन का यही बीज है। धर्म जैसे अलौकिक तत्त्व के बारे में भी मनु का निर्णय है कि यदि युक्तिहीन विचार अपनाया जायेगा तो धर्म की हानि ही होगी। वैदिक धर्म से अतिरिक्त विश्व का कोई मज़हब आदि यह चुनौती नहीं स्वीकारता! कर्मकाण्ड हो या ज्ञानकाण्ड, दोनों के भाष्यकार मानते हैं कि अविचारपूर्वक जो-कुछ भी मान लेने से निःश्रेयस से हाथ धो लेने होंगे, अनर्थ ही मिलेगा। युक्तिदृष्टि का विकास मनुष्य में करना पड़ता है। बुद्धि युक्तिपक्षपातिनी होने पर भी युक्ति की ठीक पहचान के लिये शिक्षानिर्भर है। जैसे बाह्य प्रपंच के सन्दर्भ में युक्ति न जानने से तद्विषयक भ्रान्तियाँ बनती-फैलती रहती हैं वैसे परमार्थविषयक युक्ति की शिक्षा न पाने से इस बारे में मोहग्रस्तता बनी रहती है। आधुनिक युग में वास्तविक सत्य को केन्द्रित कर विचार की शिक्षा का सर्वथा अभाव होने से समाज में जो अभिज्ञता उपलब्ध है वह केवल व्यष्टि-समष्टि की हानि के लिये सार्थक बन रही है। क्लेश, अशान्ति, अतृप्ति, द्वेष, क्रूरता आदि की ओर बेधड़क प्रगति जितनी 'सम्भ्रान्त' पठित वर्ग में प्रत्यक्ष है उतनी आज भी उस समुदाय में नहीं जहाँ आधुनिक जानकारियाँ नहीं हैं।

भारत में अध्यात्म और धर्म के बारे में शिक्षा के प्रति घोर उपेक्षा समाज में व्याप्त है जिसका स्पष्ट प्रभाव है कि हम धर्म तथा मोक्षसाधना से दूरतर होते जा रहे हैं। जगत् की 'प्रतिष्ठा' धर्म है। धर्मविमुख होने से हम इहलोक के स्तरपर भी खोखले होते जा रहे हैं। जब भारत अपने वैभव से विश्व का आकर्षणकेन्द्र था तब

यहाँ के जनमानस पर धर्म का साम्राज्य था। जिस समाजव्यवस्था, राज्यव्यवस्था को ह्रास का हेतु प्रचारित किया जा रहा है उसी के चरम बन्धनों के अन्तर्गत भारतवर्ष में सभी स्तरों पर सर्वोच्च शिखर स्थापित हुए। यह तो अविवेक, अविचार का ही प्रदर्शन है कि वैदकि संस्कृति को 'लोकविरुद्ध' घोषित किया जाये। साहित्य-संगीत-शिल्प-रसायन-चिकित्सा-भाषा आदि सभी विषयों में उत्कृष्ट परिष्कार वैदिक धर्मावलम्बियों ने ही प्रस्तुत किये इसमें आधुनिक खोज-बीन करने वाले भी सन्देह नहीं कर सकते। हमारा ह्रास धर्म से नहीं वरन् धर्म-विमुखता से हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत के प्रसिद्ध दोनों नास्तिक मतों के उद्भव के अनन्तर ही हर तरह का बिखराव, मूल्यों के प्रति अनाश्वास, राष्ट्र के प्रति अप्रतिबद्धता, लोभ आदि कुवृत्तियों के बढ़ने पर विदेशियों का प्रवेश सम्भव हुआ। भारत में ऐकमत्य के अभाव से विदेशी सफल हुए यह कहने वालों को इस पर दृष्टि डालनी चाहिये कि अनादिकाल से ऐसा वैमत्य क्यों नहीं विकसित हुआ? नास्तिक दृष्टिकोणों के प्रचार के बाद ही क्यों यहाँ 'फूट' पड़ी और बढ़ी? आज पुनः नास्तिकता का रिवाज है, भारतीय स्वयं को नास्तिक जताना चाहता है। संभव है अन्यत्र भी नास्तिक बढ़ रहे हों लेकिन स्वयं की नास्तिकता के प्रदर्शन का प्रचलन भारत में खासकर मिल रहा है। खेद इस बात का है कि स्वयं उस नास्तिकता से तृप्ति पाकर उसे प्रचारित नहीं कर रहे। यदि नास्तिकता वास्तविक सन्तोष दे रही हो और वह सन्तोष अनुभव कर अपने पुत्र-मित्र आदि को नास्तिकता की ओर प्रेरित करें तो प्रसन्नता होगी क्योंकि सत्य की अवश्य स्थापना होनी चाहिये, सत्यकी ही अन्तिम विजय हो सकती है। दुःख के मलपंक में डूबता व्यक्ति जब औरों को उधर ही निमन्त्रित करे तब सावधानी का अवसर है, ऐसे लोगों को विकृत मानस वाला जानकर, आसुरी सम्पत्ति से सम्पन्न जानकर उनसे दूर रहने में ही बुद्धिमानी है, अन्यों को भी ऐसों से हठात् दूर रखना ही वास्तव में करुणा भी है। विचार-स्वतन्त्रता के भेष में आसुरी दृष्टिकोण की घुट्टी पिया समाज धीरे-धीरे धरती को ही पाताल बनायेगा।

सृष्टि की महिमा है कि हमें सदा परिवर्तन का अवसर सुलभ है। हर नया बालक अपना मस्तिष्क इतना खाली रखकर लाता है कि हम उसमें विवेक भर सकते हैं। अविवेक भी तो हमने ही भरा है! स्वयं में हो या जगत् में, परिवर्तन लाने में हम पर्याप्त स्वतन्त्र हैं। हमारे प्रसास की दृष्टिगोचर सफलता न मिले यह संभव है, प्रत्याशित भी है, तथापि अपने प्रयास के हम स्वयं तो साक्षी होते ही हैं और उसकी

तृप्ति हमें अनुत्तम सुख प्रदान करती है। जरूरत इतनी ही है कि प्रयास हृदय से हो, समग्रता से हो; बेमन-से किया अधूरा प्रयास केवल हताशावर्धक हो जायेगा।

स्वयं की भूख मिटा चुके तभी किसी भूखे को तृप्त करने में तत्पर हो सकता है। अपना कल्याण कर चुकने पर ही किसी के कल्याण में सहायक बनने की कोशिश सम्भव है। शास्त्र की स्पष्ट घोषणा है कि आत्मलाभ ही प्राथमिकता है। बंधन से जिसे भीतरी पीडा है, अपूर्णता से जो समझौता कर ही नहीं पा रहा, विषय-इन्द्रिय का चक्र जिसे नीरस निरर्थक पुनरावृत्ति के अलावा कुछ प्रतीत नहीं हो रहा, उसी के लिये क्षुर-धारा-सा यह दुर्गम पथ है जो पूर्ण की दिशा में बढ़ रहा है। पूर्णता भी कोई परिधि नहीं है, वह तो अथाहता है। परिच्छिन्न में डूबने की तरह पूर्णता में भी डूबना पड़ता है। एक में प्रयोजन दुःख, दूसरे में आनन्द का अखण्ड साम्राज्य है। अतः पूर्ण कहलाने वाली कोई सीमा हो ऐसी आशा नहीं रख सकते। इसी दृष्टि से उपनिषत् 'भूमा' शब्द का उल्लेख करती है। जब तक दृश्य से सहारे की आशा है तब तक दृग्रूप परमेश्वर चाहे जितना आकर्षक लगे, उसकी ओर बढ़ा नहीं जा सकता। वैचारिक कुशलता पर्याप्त नहीं, उसका प्रभाव हो अर्थात् दुःख-स्रोत पहचानकर बन्द किया जाये तब साधना प्रारम्भ होगी। घी-पानी का मेल नहीं, घी को काम में लेना है तो पानी जलाना ही पड़ेगा, ऐसे ही दृक् के उल्लास के लिये दृश्य का विलाप समाप्त करना जरूरी। मन-इन्द्रियों के संयम से यह संभव हो जाता है। तब परमार्थ-भूमि पर कदम रखने का साहस होगा जिसमें प्रवेश का द्वार शास्त्र का श्रवण है। मनन-निदिध्यासनरूप कदम बढ़ाते चलें तो विज्ञान की समग्रता में लीन हुआ जा सकेगा।

यद्यपि वेद का उपदेश जीव के हित के लिये पर्याप्त है तथापि जैसे खुशी हो तो चेहरा खिल ही उठता है, प्रसन्नता के अतिशय में हँसी आ ही जाती है वैसे विद्वानों को सत्य पता चलने पर उसकी किसी-न-किसी तरह वे अभिव्यक्ति कर ही देते हैं। इसके पीछे हेतुगवेषणा निरर्थक है बल्कि हेतु खोजें तो असंभव ही लगेगा कि अद्वितीय अज के अनावरण के बावजूद भेदस्तर का कोई भी व्यवहार हो सकता है। किन्तु अनन्त आश्चर्यों की तरह यह भी एक तथ्य है। चाहे ऋषियों के उद्गार हों या गुरुओं के, संगति-विसंगति समान हैं। तत्त्वबोध को 'साम' गाते हुए बिखेरना उपनिषदों में भी सूचित है। परमात्म-साक्षात्कार से प्रेरित अभिव्यक्ति गीत, स्तुति आदि किसी भी तरह संभव है एवं कोई ढंग हो, उससे अधिकारी प्रफुल्लित, प्रेरित ही होता है। अनुभवमूलक कथन शास्त्र के प्रति श्रद्धा बढ़ाता ही है, शास्त्र में

अवगाहन के लिये उत्तेजित ही करता है। शास्त्र से विमुख करने वाला हो तो जान लेना चाहिये कि परमार्थ से अस्पृष्ट है। तत्त्वज्ञ का निश्चय है कि उसके स्वानुभव का उपस्थापन प्रमाणविरुद्ध हो नहीं सकता जबकि तत्त्वसे अपरिचित अपने अनुभव से सन्तुष्ट भले ही हो पर डरा रहता है कि कहीं प्रमाण उसकी निराधारता न प्रकट कर दे अतः प्रमाण से दूरी रखने को उत्साहित करता है। अनुभव अपने-आप में वास्तविकता का मापदण्ड नहीं। भ्रम भी अनुभव ही होता है! अनुभव की महिमा अपार है लेकिन सत्य का निर्धारण प्रमाण से है। अनुभव वैयक्तिक होने से परीक्षणीय नहीं, अन्यों के लिये उपयोगी नहीं, प्रमाण सार्वजनिक, परीक्षणीय तथा अनभिज्ञ के लिये उपयोगी है। अनेक सम्प्रदाय विद्वद्-अनुभव पर ही आश्रित हैं, यही उनकी दुर्बलता है। आश्रय लेने लायक तो स्थिर सार्वकालिक प्रमाण ही होता है।

वेदान्तों में विहित साधना से सन्तृप्त हुए विद्वानों ने सहजभाव से अपनी स्थिति का बखान किया ऐसे अनेक प्रबन्ध सुलभ हैं। प्रायः प्रकरण शिष्यशिक्षणार्थ प्रवृत्त हैं, उनसे विलक्षण ये ग्रन्थ हैं जहाँ व्यवस्थित प्रक्रियाबद्ध क्रमिक प्रबोधन अभिप्रेत नहीं वरन् अनुभूयमान पूर्णता के विभिन्न आयामों का प्रदर्शन स्वभावतः प्रकट है। इनके अध्ययन में यह दृष्टिकोण अपेक्षित है कि प्रमाणानुसारी चिन्तन से इनमें प्रतिपादित स्थितियों को संगत समझा जाये। कवि-सा स्वातन्त्र्य प्रदर्शित करते हुए विद्वान् बहुधा ऐसे बिम्ब दिखाते हैं कि दृष्टि चकाचौंध हो जाये, अभिप्राय की थाह ढूँढना मुश्किल हो जाये! तथापि साधक उनपर विचार कर तत्त्व का आविष्कार कर ही लेता है जबकि बिना साधना के परीक्षण में प्रवृत्त की दृष्टि में वे ग्रन्थ निरुपयोग रहते हैं। अधिकारिभेद से सर्वत्र व्यवस्था निर्दोष है। लाभ इनका यह है कि साधक अपनी स्थिति आँक पाता है, विकास की दिशा ढूँढ पाता है। जीव में केवल बुद्धि होती तो तर्कानुसारी चिंतन कृतार्थ कर देता लेकिन इसमें मनोभावनाएँ भी हैं, उस स्तर पर असन्तोष रहते कृतार्थता संभव नहीं। सविशेषोपासक की तरह निर्विशेष का भी उपासक ही जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द पाता है। निर्विशेषकी ऐसी उपासना प्रारम्भ होती है साक्षात्कार के बाद। ज्ञानसे वंचित के लिये कही प्रणवादि-आश्रित उपासनासे यह पृथक् है। यह ज्ञानी की भक्ति है, ज्ञानकी परा निष्ठा का सम्पादन है, प्रज्ञा का संस्थापन है, गुणों का उल्लंघन है। परमार्थदर्शन और यावज्जीवन सुलभ अनुभवों का सामंजस्य स्थापित कर वास्तविक की ही निरन्तर उपलब्धि को यहाँ उपासना समझना चाहिये। भगवान् भाष्यकार एक जगह कहते हैं कि तत्त्व आनन्दरूप होने से उसके अनावरण के बाद मन तन्मात्र का आकार लिये

बिना रहेगा नहीं! यह आत्मोपासना विद्वान् का स्वभाव है। विद्वद्दृष्ट्या अनादि-अनन्त प्रपंच जीवन्मुक्तिरूप है! दृश्यबाध होने पर इस आग्रह के कोई मायने नहीं कि एक शरीर के निमित्तभूत प्रारब्ध की पूर्त्ति पर दृश्य अप्रतीत ही रहे! बंधन की तरह मोक्ष कोई मजबूरी नहीं है! दृश्य सत्य लगते तो अवश्य इसके स्पर्श से बचने में रुचि होगी लेकिन इसे असत्य अनुभव करने पर, अपनी निरंतर असंगता भासने पर स्पर्श ही असंभव प्रतीत होते उसकी निवृत्ति भी सार्थक नहीं लगती। गीतोपदेश इस स्थिति को स्पष्ट करता है, आचार्यों के उपदेशादि व्यवहार यही सूचित करते हैं। अतः परमार्थ-व्यवहार के सामंजस्य का खेल ही जीवन्मोक्षका विशेष उल्लास है। प्रारम्भिक साधक इस खेल को सीखने के लिये मार्गदर्शन चाहता है जो विद्वानों की ऐसी ही रचनाओं से सुलभ होता है।

लगभग सवा दो सौ वर्ष पूर्व की एक ऐसी ही अद्भुत कृति है **'बोधसार'**। **श्रीनरहरि** नामक दाक्षिणात्य विद्वान् इसके रचयिता प्रसिद्ध हैं किन्तु उनके बारे में अन्य कोई जानकारी मिलती नहीं, न अन्य रचनाएँ ज्ञात हैं। आत्मविश्वास इनमें असीम होने से इन्होंने स्वयं अपनी रचना के लिये कहा कि ऐसा ग्रंथ न हुआ, न होगा!

'सिद्धार्थः सुगमार्थश्च विशेषैर्बहुभिर्वृतः।
ग्रन्थस्त्वेतादृशस्तात न भूतो न भविष्यति।।'

इस तरह के प्रबन्ध का आशय दुर्बोध होना स्वाभाविक है। अतीव सौभाग्य से रचयिताके ही शिष्य **श्री दिवाकर** ने ग्रन्थ का हृदय खोलती हुई मधुर व्याख्या उपलब्ध करायी जिससे बोधसार के सभी अध्येता सदा के लिये अधमर्ण हैं। श्री दिवाकर के भी ऐतिह्य का ज्ञान नहीं। व्याख्यारचना का काल उन्होंने स्वयं समाप्ति में अंकित कर दिया है जिससे यह भी दो सौ वर्ष पूर्व की ही है यह पता चलता है। प्रतिपद्य अवतरण और प्रतिपद अर्थकथन व्याख्या का सौष्ठव है। शीर्षक, उद्धरण तक का स्पष्ट तात्पर्य बता दिया गया है। निरालस्यभाव से धैर्यपूर्वक बनायी यह व्याख्या ग्रंथाभिप्राय समझने के लिये अनिवार्यतः पठनीय है।

बोधसार शाङ्कर सिद्धान्तनुसार उपनिषद्-अनुसारी रचना है। तथापि स्वतन्त्र प्रज्ञा से तत्त्व की व्याख्या द्वारा निष्ठा की अभिव्यक्ति इसकी विशेषता होने से प्रक्रियाओं का सहारा जरूर लिया गया है पर किसी प्रक्रिया का बन्धन भी है नहीं। निरुक्तियाँ प्रसंगानुसार ऊह की गयी हैं, स्वसन्दर्भ में अत्यन्त सटीक भी हैं पर उन पर अतीव आग्रह रखने की भी जरूरत नहीं है। साकार-भक्ति के विस्तार में मानवीय

सम्बन्धों के आरोप से परमेश्वर-प्रेम को प्रोत्साहित किया जाता है यह सुविदित है। अभारतीय साहित्य में भी ईश्वर से सम्बन्ध स्थापितकर तदनुकूल प्रेम के विकास का वर्णन सुलभ है। निर्विशेष के प्रति भावनात्मक दृढता के लिये ऐसा प्रयास वेद में कहीं संकेतित तो है पर स्पष्टतः उल्लेख या विस्तार सरलता से नहीं मिलता। बोधसार में यह प्रयास उपलब्ध है एवं दाम्पत्य-सम्बन्ध के आरोप से घनिष्ठ अभेद की अनुभूति करने की प्रेरणा है। भेदबोधपूर्वक सम्बन्धद्वारक अभेदानुभव दाम्पत्य में प्रसिद्ध होने से ग्रंथकार ने इसी को प्रधान बिम्ब माना। समर्पणपूर्वक अंगीकरण एवं स्वयं में विकसित कर अभिव्यक्ति - यह चक्र भी इस रूपक से व्यक्त होने से इसका महत्त्व है। इस प्रकार के सन्दर्भ अभिप्रायानुसार ही समझने योग्य हैं, अनभिप्रेत ध्वनितार्थों की कल्पना व्यर्थ ही प्रयोजन से दूर ले जायेगी। इस ग्रंथ की टीकानुसारी व्याख्या हिन्दी में **श्रीरामावतार विद्याभास्कर** द्वारा रची गयी एवं सुप्रचारित रहकर भी अनेक दशाब्दियों से अनुपलब्ध है। निकटभूत में आँग्लभाषा में जेनिफर कोवर द्वारा कवितात्मक अनुवाद भी प्रकट किया गया है। संस्कृत टीका उदासीन साधु श्रीदयानन्द स्वामी जी के सम्पादकत्व में चैखम्बा संस्कृत बुक डिपों से ईस्वी सन् १९०५-६ में प्रकाशित हुई थी और जीर्ण-शीर्ण स्थिति में यदा-कदा उपलब्ध हो भी जाती है।

ग्रंथ की सरसता, उपयोगिता तथा संस्कृत-हिन्दी व्याख्याओं की दुर्लभता देखते हुए संस्था ने इसके अभिनव संस्करण का प्रयास किया है। न्यायशास्त्र में विद्यावारिधि उपाधि पाये दो युवा विद्वानों ने मूल एवं टीका के समग्र कलेवर को अतीव सुबोध रूप में प्रकट करने का प्रशंसनीय कार्य किया है। **श्री बलराम कण्डेल** तथा **श्री नवराज पौडेल** के संयुक्त श्रम का फल है कि 'अर्थदीप्ति' नामक संस्कृत टीका में पदविभाग, वाक्यविभाग, मूल के प्रतीक, उद्धरण आदि विविक्त रूप से अंकित हो पाये हैं। पुराने संस्करणों में संस्कृत ग्रंथ यों मुद्रित नहीं होते थे क्योंकि अध्येता भाषा-प्रवाह से इतने परिचित थे कि अभ्यासवश ही ये विभाग उन्हें भास जाते थे। आधुनिक पाठक इस दृष्टि से प्रायः अप्रबुद्ध है। विरामादि संकेतों के बिना, मुद्रित अक्षरों में स्थूल विभाग के बिना पढ़ते हुए शब्दों का भी आकलन कठिन प्रतीत होने लगा है। लेख के ढंग में अन्तर आने से भाषान्तर की तरह संस्कृत भी वैसी ही लिपिबद्ध हो तो सहजभाव से पढ़ने में आती है यह प्रत्यक्ष हो रहा है। इस दृष्टि से उपस्थापन करने में, विशेषकर सन्धिनियमों के बारे में सम्पादक का स्वविवेक कार्यकारी होता है। संभव है इस संस्करण में एतद्विषयक उपालम्भ

विद्वानों की ओर से मिले किन्तु सुबोधता को प्रधानता देने से वह सह्य ही होगा। दोनों टीकाओं के मुद्रणसंशोधन के कार्य में विद्यावारिधि **श्री राजेन्द्र द्विवेदी** ने पूर्ण मनोयोग से विवेकपूर्वक सेवा प्रदान की है जिससे वे संशोधक ही नहीं, लगभग सम्पादन-मण्डल के सदस्य ही रहे। इन तीनों सज्जनों ने श्रद्धामात्र से संस्था की यह सेवा की। भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति इनका इह-परलोकों में भविष्य उज्ज्वल करें एवं इन्हें परमार्थलाभ प्रदान करें यही प्रार्थना है। समग्र कार्य का निर्विघ्न संयोजन ब्रह्मचारी **श्री सुन्दर चैतन्य जी** महाराज ने कृपापूर्वक सम्पन्न किया एवं संस्था के सभी कार्यों में उनकी यह भूमिका बनी हुई है।

आशा है अद्वैत-रसिक साधक अर्थदीप्ति एवं हिन्दी व्याख्या समेत इस अपूर्व संस्करण में उपलब्ध बोधसार से प्रेरित हो आत्मानुसन्धान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य के सम्पादन में तत्पर होकर जीवन्मुक्ति का आनन्द अनुभव करेंगे।

ॐ
श्रीदक्षिणामूर्त्तये नमः

श्रीमदाचार्यनरहरिविरचितो

बोधसारः

आचार्यदिवाकरकृतया दीप्त्या संवलितः ।

मङ्गलाचरणम्

ॐ । किञ्चित्कुतूहलेनैव विदुषां प्रियकाम्यया ।
मङ्गलाचरणं कृत्वा बोधसारो निरूप्यते ।।१।। (१)

भवभयमपहन्तुं ज्ञानशास्त्रं विधाय ।
तदनधिकृतमूढज्ञप्तये दैवतं च ।
तदनधिकृतजीवस्यापि कर्मार्थकाण्डं
सकलजनगतिन्तं सद्गुरुं भावयामि ।।१।।
पूर्वजन्मा नरहरिरुत्तरेऽस्मिन् दिवाकरः ।
बोधसारप्रकाशाय जलवीचिलया यथा ।।२।।
नरहरिपदसेवालब्धविज्ञानसारो
बुधजनहितकृत्यै बोधसारं विधाय ।
बुधदिनकरसाह्वो बोधसारार्थदीप्तिं
विदधति सुजनानां प्राप्तये तत्पदस्य ।।३।।
यत्कारुण्यामृतजलनिधिस्नानमात्रेण सद्य-
स्तापध्वंसात्परसुखनिधिः प्राप्यते जायते च ।
दुःखध्वान्तं स्वशरणगते नाशयित्वा स्वरूपे
चित्तस्थैर्ये नरहरिमहङ्कारणं भावयामि ।।४।।
अजमभयमनाद्यनन्तमेकं सहजसुखाद्वयचित्स्वरूपमाद्यम् ।
स्वशरणभयहारकं समस्तं गुरुमहमभयं नृसिंहमीडे ।।५।।
यद्दृष्टिर्न हि राति दृश्यमखिलं विश्वं सदित्यन्तरा
तज्जन्ये च सुखेतरे त्वतितरामन्तर्न रात्येव यत् ।

यज्ज्ञानं च महातमोगजहरिर्ब्रह्मत्वतोऽसौ हरि-
स्तन्नामाङ्कितसद्गुरुन्नरहरीत्याह्वान् भजेऽहन्त्विति।।६।।
गौरीमुखेऽर्पितकरो गुडमोदकेषद्-
ग्रासेन शोभितमुखश्चलितस्वकर्णः।
दूर्वाङ्कुरैश्च हरितैर्विलसत्किरीटो
विघ्नानि मे हरतु सिद्धिकरो गजास्यः।।७।।
बोधसारगुरुसत्कृपालवाद् बोधसारहृदयप्रकाशिनीम्।
बोधसारहृदयं परिबोद्धुं बोधसारसुहृदां प्रतनोमि।।८।।

इह कश्चित् श्रीनरहरिचरणकमलचिन्मकरन्दमधुपः तत्करुणयैव चिदानन्दसमुद्रतरङ्गायितहृदयो दिवाकराह्वाभासो नरहरिचिकीर्षितं ग्रन्थं मनसि निधाय तदभिधाननिरूपणपुरःसरं तन्निरूपणं प्रतिजानीते, अर्थतश्च शास्त्रत्वसिद्धये तस्यानुबन्धचतुष्टयमपि सूचयति **किञ्चिदिति। किञ्चित्कुतूहलेनैव** अनिर्वचनीयस्वसुखसाक्षात्कारेणैव, न तु अन्यरंजनादिना केनचित् प्रयोजनेनेत्यर्थः। परप्रयोजनं चाह **विदुषां प्रियकाम्यया** विवेकिनां स्वस्वरूपानन्दे चित्तस्थैर्यलक्षणहितेच्छया। ननु अत्र व्याख्याकृतिप्रतिज्ञाश्लोके ग्रन्थकृतिव्याख्याकृतिरूपक्रिययोरेकस्यैव दिवाकरस्य कर्तृत्वमुक्तं, तथा दिवाकराह्वाभासे नरहरिरित्यत्र दिवाकरगुरोर्नरहरेरेव कर्तृत्वं सूचितं, तथा 'न तु अन्यरञ्जनादिना' इत्यत्र स्वानन्दविलासेनैव ग्रन्थरचने प्रवृत्तिरुक्ता, 'परप्रयोजनं चाह' इत्यत्र परप्रयोजनार्थमपि; इति पूर्वापरविरोध इति चेद्? न। दिवाकराह्व आभासो यस्येति बहुव्रीहिणा बिम्बप्रतिबिम्बयोर्वास्तवाभेद इव ग्रन्थकर्तुर्नरहरेः व्याख्यानकर्तुर्दिवाकरस्य च वास्तवाभेदसूचनाद्। अत एव पूर्वत्राप्यनेनैव आशयेन बोधसारं विधाय इति ग्रन्थरचनक्रियायां व्याख्याकरणक्रियायां च एकस्य कर्तृत्वमुक्तम्। किञ्च विदुषामित्यत्र स्वस्य अन्यविदुषां च वैदुष्यसामान्याद् ब्रह्मवित्त्वेन च स्वस्य अन्यविदुषां अपि ब्रह्मरूपेण ऐक्याद् 'न तु अन्यरञ्जनादिना' इत्युक्तिः, प्रातीतिकमात्रभेदापेक्षया तु 'परप्रयोजनं चाह' इत्युक्तिः, एवं पूर्वापरविरोधाभावः। मया इति अध्याहार्य, **मङ्गलाचरणं** मङ्गलस्य मङ्गलार्थस्याचरणं रचनं, **कृत्वा** विधाय।

ननु अत्र मङ्गलाचरणं कथं संपन्नं, मङ्गलवाचकशब्दानां देवतावाचकशब्दानां च मङ्गलार्थत्वेन सर्वत्र गृहीतत्वात्। तदुक्तम्

'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे मङ्गलाः प्रोक्ता ग्राह्या ग्रन्थादिमङ्गले'।इति।

तेषामेव शास्त्रेषु मङ्गलकारित्वप्रसिद्धेः; देवतावाचकशब्दाभावात् मङ्गलशब्दस्य च आचरण-संबन्धार्थवत्त्वेन मङ्गलार्थवत्त्वासिद्धेश्च इति चेद्? न, अन्यार्थत्वेपि अस्य मङ्गलशब्दस्य पूर्णकुम्भन्यायेन

केवल इस थोड़े से कुतूहल में आकर कि जिस गम्भीर आनन्द का मैंने साक्षात् किया है, अन्य आरुरुक्षु विवेकियों को भी वैसा साक्षात्कार हो सकेमंगलाचरण करने के पश्चात् यह बोधसार ग्रंथ बनाता हूँ।।१।।

अनन्तशक्तिसन्दोहपूर्णस्य परमात्मनः।
विघ्नविध्वंसिनीं शक्तिं गणराजमुपास्महे।।२।। (२)

मङ्गलार्थत्वाद् मङ्गलकारित्वसिद्धेः। किञ्च ग्रन्थसमाप्तिप्रचयगमनाभ्यामपि तत्कृतमेवेति ज्ञेयम्। किञ्च बोधसारपदेन अपि जीवब्रह्मैक्येष्टवस्तुस्मरणरूपं मङ्गलं स्पष्टमेवात्रेति सुष्ठूक्तं 'मङ्गलाचरणं कृत्वे'ति। मङ्गलाचरणस्य कर्त्तव्यतायां च महाभाष्यसंमतिः'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते सिद्धार्थद्योतकानि सिद्धार्थाध्येतृकाणि च स्युः' इति। **बोधसार** एतन्नामको ग्रन्थः, **निरूप्यते** कथ्यते। बोधपदेन अत्र समष्टिव्यष्ट्यन्तःकरणावच्छिन्नचिदाभासाः, सारपदेन च तद्बिम्बभूतं चैतन्यं सामानाधिकरण्येनाभिन्नं गृह्यते, तत्प्रतिपादकतया ग्रन्थस्यापि अभेदोपचाराद् बोधसारत्वम्। अनेन ग्रन्थस्यास्य तत्प्रतिपाद्याद्वयचैतन्यस्य च प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपो लक्ष्यलक्षकभावरूपो वा सम्बन्धो बोध्य इति सूचितं, तथैव बोधसारपदवाच्ययोर्जीवब्रह्मणोरेकत्वलक्षणो विषयश्च सूचितः। विदुषामिति पदेन च पदपदार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वकवेदान्तश्रवणादिकृतप्रयत्नाः तत्प्रतिपाद्येऽखण्डरसे व्यवहारा[1]विरोधेनाऽपि[2] चित्तस्थैर्येप्सवोऽधिकारिणश्च विशिष्टा अत्र सूचिताः। प्रयोजनमपि 'किञ्चित्कुतूहलेने'ति पदेन स्वाऽज्ञाननिवृत्त्या सर्वदुःखनिवृत्तिलक्षणानिष्टनिवृत्तिरूपप्रयोजनपूर्वकस्वानन्दाविर्भावलक्षणेष्टप्राप्तिरूपं सूचितमिति ज्ञेयम्।

अस्य चादिमध्यावसानेषु मङ्गलविधानाद् महाशास्त्रत्वम्। वक्ष्यति हि

आदौ गुरुस्तवो यत्र प्रान्ते च शिवपूजनम्।
मध्ये मुकुन्दस्मरणं बोधसारः स उत्तम।।इति।। तस्माद् एतद्विचारेण स्वरूपस्थैर्यलक्षणपुरुषार्थोऽधिकारिणां स्याद् एव इति निश्चेतव्यम्।।१।। (१)

एवं सप्रयोजनं सानुबन्धं सेष्टस्मरणमङ्गलं ग्रन्थनिरूपणं प्रतिज्ञाय इदानीं शिष्टाचाराविरोधेन स्वेष्टजीवब्रह्मैक्याविरोधेन च गणपतिस्मरणरूपं मङ्गलमाचरन् शिष्याणां च तत्कर्त्तव्यताशिक्षायै श्लोकेनोपनिबध्नाति **अनन्तेति। अनन्तशक्तिसन्दोहपूर्णस्य** अनन्ता अपरिमिताः शक्तीः सन्दोहयति परस्परानुकूल्येन स्वस्वकार्यजननक्षमाः करोतीति तथा सा मूलशक्तिः तया पूर्णस्य। अपूर्णत्वस्य मिथ्यात्वेन तन्निषेधकस्य पूर्णत्वस्यापि शक्तिकार्यत्वम्। चितिशक्तिसत्त्वे श्रुतिः 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिः। **परमात्मनः** कार्यकारणातीतस्यात्मवस्तुनः, **विघ्नविध्वंसिनीं** सर्वकार्यपरिपन्थिविघ्ननिरासकर्त्रीं, **शक्तिं** सामर्थ्यरूपां, **गणराजं** गणराजनाम्नीं, गणे भौतिके स्वप्रकाशत्वेन विराजमानत्वात्। 'राजाहः सखिभ्यष्टच्।' (पा.सू.५.४.३१) इति टच्। शक्तिशक्तिमतोः पृथक् सत्त्वाभावात् शक्त्यभिन्नमात्मानमेव इत्यर्थः। **उपास्महे** अखण्डैकरस्येन मदभिन्नत्वेन भावयामि इत्यर्थः।।२।।(२)

संसार की अनन्त शक्तियों के सन्दोहन (अर्थात् आदिभूत मूल शक्ति) से परिपूर्ण परमात्मा (अर्थात् कार्यकारणातीत तुरीय आत्मा) की विघ्नों का विनाश करने वाली गणराज नामक शक्ति की हम (ऐकात्म्यभाव से) उपासना करते हैं।।२।।

---

[1] परव्यसनिनीवत्।

[2] व्यवहारावस्थायां समाध्यवस्थायां च सर्वदाऽखण्डैक्यचित्तस्थैर्येच्छावत्त्वद्योतकोऽपिशब्दः।

या प्रकाशविमर्शाभ्यां स्वरूपावस्थितिङ्गता।
स्मरामि तामहं भक्त्या ज्ञानशक्तिं सरस्वतीम्।।३।।(३)

अथ गुरुस्तवः

श्रीगुरून् परमानन्दस्वरूपानभिवादये।
तापत्रयापहा येषां कृपा ब्रह्मामृतप्रपा।।४।।(४)

एवमेव स्वेष्टाविरोधेन सरस्वतीस्मरणमपि कृत्वा शिष्यशिक्षायै तदपि श्लोकेनोपनिबध्नाति **येति। या** प्रत्यक्षा विदुषां, **प्रकाशविमर्शाभ्यां** प्रकाशेन स्वरूपप्रकाशेन, विमर्शः सदसद्विवेकः, तेन चोपलक्षिता सती, **स्वरूपावस्थितिं** स्वप्रकाशचिन्मात्रस्थितिं, **गता** प्राप्ता, चिदानन्दघनाभिन्नत्वेन स्थिता इति भावः। **ताम्** उक्तलक्षणां, **सरस्वतीं** सर्वजीवचैतन्यनदीसमुद्रायितत्वेन सरस्वत्यभिधां, **ज्ञानशक्तिं** सर्वज्ञानप्रकाशयितृसामर्थ्यरूपां, स्वतश्च ज्ञानरूपां, परमात्मन इति अत्रापि अनुषञ्जनीयम्। **अहं** तत्प्रकाशाभिन्नोऽहंत्वावच्छिन्नोऽहमाधारचित्सहितश्चिदाभासः, **भक्त्या** निरतिशयप्रेमलक्षणया 'अहं ब्रह्मास्मि' इति प्रमारूपया वृत्त्या, **स्मरामि** मदभिन्नां चिन्तयामि इत्यर्थः।।३।।(३)

एवं तावत् सर्वारिष्टनिरसनक्षमं मङ्गलाचरणं कृत्वा इदानीं मुमुक्षूणां मोक्षस्यैव इष्टत्वात्तस्य च तत्त्वज्ञानसाध्यत्वात् तस्य च श्रवणजन्यत्वेन तस्य च गुरुप्रसादलभ्यत्वात् तस्य च तद्भक्तिसाध्यत्वात् तद्भक्तेश्च तच्छ्रैष्ठ्यज्ञानाधीनत्वात् तच्छ्रैष्ठ्यनिरूपणार्थं मङ्गलार्थं च गुरुस्तवाभिधं प्रकरणमारभते द्वादशभिः। तत्र तावत् प्रथमतो गुरोरौदार्यातिशयनिरूपणपूर्वकं तात्त्विकं गुरुस्वरूपं लक्षीकृत्य प्रणमति **श्रीगुरूनिति। परमानन्दस्वरूपान्** निरतिशयसुखमेव तत्त्वतः स्वरूपम् असाधारणरूपं येषां तान्, **श्रीगुरून्** गृणन्ति हितमुपदिशन्ति इति गुरवः तान्, सर्वहितोपदेष्टृत्वस्य वेदे प्रसिद्धत्वात्, तस्य च 'यस्य निःश्वसितं वेदा' इति स्मृतेः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो यजुर्वेद' इत्यादि श्रुतेश्च। परमानन्दस्वरूपपरमात्मन एव गुरुरूपत्वं तद्वाक्यत्वाद् वेदस्य अतः परमानन्दरूपाविरोधेन, सर्वहितोपदेशकत्वेन च परमात्मन एव गुरुरूपत्वेन प्रणामः कृत इति बोध्यम्। **अभिवादये** प्रणतिपूर्वकं प्रस्तौमि, वदिधातोरभिवादनस्तुतिकरणमत्र प्रतिज्ञातमिति बोध्यम्। औदार्यमाह **येषामिति। येषां** गुरूणां, **कृपा** करुणा एव स्वशरणपथिकानां, **तापत्रयापहा**

जो सरस्वती विमर्श (अर्थात् सदसद्विवेक) और प्रकाश (अर्थात् आत्मज्ञान) से फिर अपने स्वरूप को प्राप्त हो चुकी है, परमात्मा की उस सरस्वती नाम की ज्ञानशक्ति को मैं भक्तिपूर्वक स्मरण करता हूँ। (तात्पर्य यह है कि आत्मदर्शन कर लेने के पश्चात् जब निरन्तर सदसद्विवेक रहने लगेगा तो साधक को अपने स्वरूप का लाभ हो जायगा)।।३।।

परमानन्दस्वरूप हो चुके हुए उन पूज्य गुरुओं को मैं अभिवादन करता हूँ, तीनों तापों को अपने कटाक्षमात्र से दूर भगा देनेवाली जिनकी निष्कारण कृपा ही ब्रह्मरूपी अमृत की प्याऊ बन जाया करती है।।४।।

मदमोहाभिधक्रूरमधुकैटभजिष्णवे।
मोक्षलक्ष्मीनिवासाय नमः श्रीगुरुविष्णवे।।५।।(५)

आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक-तापत्रयनिरसनकर्त्री, **ब्रह्मामृतप्रपा** अपरिच्छिन्न-भूमानन्द-जलपानार्थं पानीयशालिकाऽस्ति। एतेन समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुं तत्त्वज्ञानार्थम् अभिगच्छेत्। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रुतेः, 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' इत्यादि-स्मृतेश्च मोक्षसाधनभूततत्त्वज्ञानस्य गुर्वधीनत्वश्रवणाद् गुरुकृपया एव ब्रह्मानन्दाविर्भवे तापत्रयनिवृत्तिः भवतीति बोध्यम्।।४।।(४)

गुरुस्तवः

ननु विष्णोरेव तत्र तत्र सर्वत्र श्रैष्ठ्यमुक्तं मुक्तिप्रदत्वं च श्रुतं, तथाहि 'विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्' इत्यादौ अगणितवीर्यत्वं, 'नारायणाद् विधिर्जायते' इत्यादिषु सर्वकारणत्वेन ब्रह्मादिभ्यःश्रैष्ठ्यं च। भागवते च

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः।।

इत्यादिषु मुक्तिप्रदत्वं च। अतः तद्भजनं विहाय गुरुभक्त्या एव केवलं मुक्तिसिद्धिः इति कथं विरुद्धम् उच्यते इत्याशङ्क्य; मोक्षप्रदत्वेन यद्विष्णुत्वं प्रसिद्धं तद् गुरौ एव अस्ति इत्याशयेन आह **मदमोहेति। मदमोहाभिधक्रूरमधुकैटभजिष्णवे** मदयति विक्षेपयति इति मदः अहङ्कारः, मोहयति विस्मारयति स्वस्वरूपमिति मोहः अज्ञानं, तौ एव क्रूरौ स्ववशंप्राप्तस्य अतीवदुःखदौ, न तु तादृशं क्रौर्यमितरयोः, तत्र च तत्सत्त्वमपि तन्मूलकमिति इतरयोः न्यूनत्वं सूचितम्। अतः तौ एव मधुकैटभौ, तयोः जिष्णवे जयशीलाय। अन्यविष्णौ तु यद् मधुकैटभजेतृत्वं तद् मदमोहकृतमेवेति गुरुविष्णोः इतरविष्णौ न्यूनत्वमुक्तमिति बोध्यम्। **मोक्षलक्ष्मीनिवासाय** मोक्षरूपैव लक्ष्मीः नान्या 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि' इति श्रुतौ भद्रेति विशेषणेन गुरुवाक्यस्थितलक्ष्म्या मोक्षरूपत्व-प्रतिपादनात्। अन्यविष्णौ स्थितलक्ष्म्या बन्धनहेतुत्वेन निकृष्टत्वं, तेन च तद्वासभूतान्यविष्णौ च तज्ज्ञेयम्। तस्या मोक्षलक्ष्म्या निवासाय आश्रयाय। एतेनापि श्रीगुरुविष्णो अन्यविष्णोरुत्कृष्टत्वं सूचितमिति बोध्यम्। **श्रीगुरुविष्णवे** सर्वेषां तत्तद्धितोपदेशकत्वेन सर्वव्यापकत्वाद् गुरोर्व्यापकत्वेन विष्णुत्वम्, अन्यस्य कस्यचिदगुरुत्वेन विष्णुत्वमेव नास्तीति अभिप्रायः। तस्मै **नमः** प्रह्वीभावोऽस्तु। अतः श्रीगुरुरेव विष्णुर्नान्य इत्यभिप्रायः।।५।।(५)

मद (अहंकार) और मोह (अज्ञान) रूपधारी मधु और कैटभ नामक दोनों क्रूर राक्षसों पर विजय प्राप्त करनेवाले और मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवासभवन श्रीगुरुरूप विष्णु को मेरा नमस्कार हो।।५।।

गुणैर्गौरवमायाता हरिब्रह्महरास्त्रयः ।
गुणातीततयाऽस्माकं गुरवो गुरुताङ्गताः । ।६ । ।(६)
पुरान्तकहरो रुद्रः कंसकेशिहरो हरिः ।
चण्डमुण्डहरा चण्डी सर्वद्वन्द्वहरो गुरुः । ।७ । ।(७)
यच्छन्ति देवतास्तुष्टा धनमायुः सुतं यशः ।
ज्ञानं के नाम दास्यन्ति विना श्रीगुरुपादुकाम् । ।८ । ।(८)

ननु ब्रह्मादिष्वपि गुरुत्वमस्त्येव इत्याशङ्क्य, तस्य गुणकृतत्वाद् गौणत्वं, गुरौ तु गुणनैरपेक्ष्येण स्वतो गुरुत्वाद् मुख्यत्वम् इत्याह **गुणैरिति । हरिब्रह्महरास्त्रयः** विष्णुः ब्रह्मा रुद्रश्च एते त्रयोऽपि प्रसिद्धाः । गुरुत्वेन ते, **गुणैः** सत्त्वरजस्तमोभिः पालनादिषु, **गौरवं** गुरुत्वम्, **आयाताः** प्राप्ता, न तु स्वतः । अत एव तद्गुरुत्वमन्योन्यक्रियासु व्यावृत्तम् अतः तेषां गुरुत्वं नास्तीत्यर्थः । तु इति शेषः । **अस्माकं गुरवस्तु गुणातीततया** गुणराहित्येन, **गुरुतां** श्रैष्ठ्यं, **गताः** प्राप्ताः, अतो गुरूणां गुरुत्वं स्वतः सिद्धमिति सूचितम् । अस्माकमिति पदेन अन्येषाम् एतादृशगुरुत्वेऽप्रत्यक्षेऽपि मद्दृष्ट्या एतत्प्रत्यक्षमिति ध्वनितम् । ।६ । ।(६)

पराक्रमतोऽपि इतरदेवेभ्यः श्रैष्ठ्यमाह **पुरान्तकेति । रुद्रः** शिवः, **पुरान्तकहरः** पुरस्य त्रिपुरस्य, अन्तकस्य यमस्य च, हरः घातकोऽस्तीति शेषः, पुरान्तकयोरेव ग्रहणमत्र तत्पराक्रमस्य परिमितत्वज्ञापनाय इति बोध्यम् । एवम् उत्तरत्रापि ज्ञेयम् । **हरिः** विष्णुः, **कंसकेशिहरः** कंसस्य, केशिनश्च, हरः घातकः । **चण्डी** क्रोधवती देवी, **चण्डमुण्डहरा** चण्डनाम्नः, मुण्डनाम्नः असुरस्य हरा घातिका अस्ति । अत्रापि तु इति शेषः । **गुरुः** तु **सर्वद्वन्द्वहरः** सर्वेषां द्वन्द्वानां सुखदुःखादीनां हरः घातकः । अस्तीति शेषोऽपि अत्र कर्त्तव्यः । इतरदेवतानां द्वन्द्वैः ग्रस्तत्वात् तत्पराक्रमस्य च अल्पत्वात् न्यूनत्वं, गुरोस्तु द्वन्द्वैरनभिभूतत्वात् प्रत्युत तन्नाशकत्वेन अपरिमितपराक्रमत्वात् च इतरदेवताभ्यः श्रैष्ठ्यमिति भावः । ।७ । ।(७)

ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीनों तो सत्त्वादि तीन गुणों की सहायता से (जगत् की उत्पत्ति आदि करने के कारण गौणरूप से) गुरुता को प्राप्त हो गए हैं (इनकी गुरुता उन-उन उत्पत्ति आदि क्रियाओं के आधीन होने से प्रथम तो कृत्रिम होती है, दूसरे परस्पर के उत्पत्ति आदि कर्म न कर सकने के कारण अपूर्ण भी है ही) परन्तु देखो, हमारे गुरु लोग तो गुणातीत (गुणरहित) होने से स्वभाव ही से गुरुता को प्राप्त हुए हैं । ।६ । ।

रुद्र भगवान् ने तो त्रिपुर और यमराज को, विष्णु भगवान् ने कंस और केशि को तथा चण्डी देवी ने चण्ड-मुण्ड नामक राक्षसों को ही मारा है, परन्तु गुरुदेव की महत्ता को तो देखो कि वे सम्पूर्ण (सुख दुःखादि) द्वन्द्वों का ही समूल नाश कर डालते हैं! (द्वन्द्वों के नष्ट हो जाने पर किसी को मारने किंवा किसी को पराजय करने जैसे तुच्छ भाव उदय ही नहीं होते) । ।७ । ।

जयति श्रीगुरूणां हि चरणाब्जरजोगुणः।
हतास्त्रयो यदेकेन रजःसत्त्वतमोगुणाः।।९।।(९)
तार्या वयं तरिर्बोधस्तरणीयो भवार्णवः।
तत्कर्णधाररूपेण तारकं श्रीगुरुं भजे।।१०।।(१०)

इदानीम् अन्यदेवतानां बन्धनकारणधनादिफलदातृत्वेन अनिष्टत्वाद् अनुपास्यत्वं, गुरोस्तु केवलमोक्षप्रदज्ञानप्रदत्वेन मुमुक्षूणामुपास्यत्वञ्च आह **यच्छन्तीति। देवता** ब्रह्मविष्णुहरादयः, **तुष्टाः** तप आदिभिः साधनैः प्रसादिताः सत्यः, **धनमायुः सुतं** पुत्रं, **यशः** कीर्तिं च, **यच्छन्ति** ददति। एतदुपलक्षणं सर्वविषयाणाम्। एतेन बन्धकारणविषयप्रदत्वेन मुमुक्षुभिः इतरदेवताभजन आदरो न कर्त्तव्य इत्याशयः। **श्रीगुरुपादुकां विना** पादुकापदेन अत्र गुरुस्वरूपज्ञानाभावे मुमुक्षूणां गुरुपादुका एव प्रतिमादिवत् पूज्या नान्या इति सूचितम्। **ज्ञानम्** आत्यन्तिकमुक्तिसाधनं साक्षात् जीवब्रह्मैक्यविषयकं महावाक्यजन्यं ज्ञानं, **के नाम** ब्रह्मादयः प्रसिद्धा अपि दास्यन्ति! नेत्यर्थः। ब्रह्मादिषु यत्प्रसिद्धं ज्ञानप्रदत्वं तदपि गुरुरूपेणैव इति भावः।।८।।(८)

ननु ब्रह्मादीनां कारणत्वेन यत् श्रैष्ठ्यं सर्वं तदनादृत्य कुतः गुरोरेव श्रैष्ठ्यमुच्यते? इत्याशङ्क्य तेषां गुणाभिमानित्वेनानादरणीयत्वं मुमुक्षूणां, गुरोस्तु गुणनाशकत्वेन मुक्तिप्रदत्वादादरणीयत्वमित्याशयेनाह **जयतीति। हि** यस्मात् कारणात् **श्रीगुरूणामादरे** बहुवचनं, **चरणाब्जरजोगुणः** पादकमलस्य परागवत् स्थितस्य शिष्यप्रेमवासनारूपस्य प्रतापरूपो गुणो, **जयति** सर्वोत्कृष्टो वर्त्तते। केन कार्येण इत्यत आह, **यद्** यस्मात् कारणाद् **एकेन** अन्यकर्मोपासनादिसाधननिरपेक्षेण एव इत्यर्थः। **रजःसत्त्वतमोगुणाः** कामज्ञानावरणहेतुत्वेन प्रसिद्धाः ते **हताः** स्वस्वरूपप्रकाशज्ञानेन बाधिताः, अतो मुमुक्षूणां गुरुभक्तिरेव मुख्या नान्या इति भावः।।९।।(९)

देवताओं में से यदि कोई प्रसन्न भी हो जाता है तो धन, ऐश्वर्य, सन्तान किंवा कीर्ति आदि विषय दे देता है (जिससे कि अनादि काल से संसारारण्य में भटकते हुए जीवों का कल्याण होना तो अलग रहा, उल्टी और मोह-ममता बढ़ जाती है तथा वे नरक के गामी हो जाते हैं) परन्तु (आत्यन्तिक मुक्तिसाधन) ज्ञान जैसी पवित्र वस्तु को गुरुपादुका के सिवाय और कौन दे सकता है?।।८।।

(शिष्योद्धार करने की वासना के रूप में वर्त्तमान) गुरुदेव के चरणकमल की धूलि का गुण (प्रभाव) ही मुमुक्षुओं के सब से अधिक काम की वस्तु है, जिस अकेले ही से सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण बाधित हो जाते हैं।।९।।

(विषयरूपी जल से भरा हुआ) यह संसाररूपी समुद्र हम मुमुक्षु लोगों को बोध अर्थात् आत्मसाक्षात्काररूपी नौका से पार करना होगा, उसके कर्णधर (केवट) बनकर तारनेवाले श्री गुरु का मैं भक्तिभाव से चिन्तन करता हूँ।।१०।।

तारकस्योपदेशेन गुरुर्भूत्वा विमुक्तिदः।
काश्यामपीश्वरस्तस्माद् ईश्वरादधिको गुरुः।।११।।(११)
गुरोरनुग्रहादीश ईश्वरानुग्रहाद् गुरुः।
श्रीगुरोर्दर्शनं हेतुः परं त्वीश्वरदर्शने।।१२।।(१२)
ईश्वरः सर्वहेतुत्वाद् हेतुः संसारमोक्षयोः।
मोक्षस्यैव गुरुस्तस्मान्नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्।।१३।।(१३)

इदानीं मुमुक्षूणां गुरूपासनप्रकारं निरूपयितुं स्वकृतं गुरूपासनं रूपकेणाह **तार्या इति। वयं** गुरूपासकाः, बहुवचनं मद्वद् अन्येषामपि गुरूपासकानां मुक्तिर्भवतीति ज्ञापनाय। **तार्याः** तरितुं योग्या नान्ये गुर्वभक्ताः, **बोधः** जीवब्रह्मैक्यविषयकं महावाक्यजन्यमपरोक्षज्ञानं, **तरिः** तीर्यते अनया सा तरिः तरणसाधनं नौका, **भवार्णवो** विषयजलपूर्णो रागादिग्राहषडूर्मितरङ्गादिमत्त्वेन समुद्रः, स तर्तुं **योग्यत्वात् तरणीयोऽस्ति, तत्कर्णधाररूपेण** तत्र नाविकवत्तारकरूपतया, **तारकं** तारकः प्रणवः, तन्नामानं, **श्रीगुरुं** तद्वाच्यं, लक्ष्यं वा, **भजे** सोऽहमिति अभिन्नत्वेन चिन्तयामि।।१०।।(१०)

ननु सर्वत्र ईश्वरस्य आधिक्यप्रदर्शनात् कोऽयं निर्युक्तिक आग्रह ईश्वराद् गुरोराधिक्ये इत्याशङ्क्याह **तारकस्येति। ईश्वरोऽपि** स्वयमीश्वरः सन्नपीत्यर्थः, स्वस्मिन्न्यूनताबुध्येति शेषः। **काश्यां** पुरि, **तारकस्य** संसारतारणक्षमस्य प्रणवस्य, **उपदेशेन** उपदेशं निमित्तं कृत्वा, **गुरुर्भूत्वा** गुरुरूपं धृत्वा इत्यर्थः। **विमुक्तिदो** मुक्तिप्रदो भवति, **तस्मात्** कारणाद् **ईश्वराद्** ईशपदात्, **गुरुः** गुरुपदम्, **अधिकं** श्रेष्ठमित्यर्थः। नहि श्रेष्ठत्वं परित्यज्य निकृष्टत्वमङ्गीक्रियते क्वापि सामान्यविद्वद्भिरपि, तर्हि सर्वज्ञेन ईश्वरेण न्यूनं चेद् गुरुपदं कथमङ्गीक्रियेतेति भावः।।११।।(११)

ननु ईश्वरदर्शनहेतुत्वेन गुरोः श्रैष्ठ्यमस्तु, तथापि फलत्वेन ईश्वरस्य तत्त्वरूपत्वाद् गुरुप्रसादेनैव तत्त्वप्राप्तिश्रवणात् सर्वत्र ईश्वरस्यैव तत्त्वस्वरूपत्वात् श्रैष्ठ्यमित्याशङ्क्य

यावन्नानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात्।
तावन्न सद्गुरुं कश्चित् सच्छास्त्रमपि नो लभेत्।।

इत्यादिषूपासनागुरोरीश्वरप्रसादहेतुत्वस्य प्रतिपादनात् सद्गुरोस्तु ईश्वरप्रसादलभ्यतया तत्त्वस्वरूपत्वात् श्रैष्ठ्यमित्याशयेन आह **गुरोरिति। गुरोः** उपासनोपदेष्टुः, **अनुग्रहात्** प्रसादेन **ईश** ईश्वरः, प्राप्यते इति शेषः। तत् **ईश्वरानुग्रहाद्** ईश्वरप्रसादात् **गुरुः** सद्गुरुः मुक्तिप्रदः, प्राप्यते, अतः **श्रीगुरोर्दर्शनम्** उपासनोपदेष्टुः दर्शनम्, **ईश्वरदर्शने** ईशप्रसादलब्धौ, **हेतुः** कारणम्, अस्ति इति अध्याहार्यं, तथापि श्रीगुरोर्दशनं तु **मोक्षप्रदगुरोर्दर्शनं तु परम्** ईशप्रसादलभ्यत्वादतिश्रेष्ठमिति ज्ञेयम्। अतः श्रीगुरोरेव श्रैष्ठ्यात् तत्त्वरूपत्वमितिभावः।।१२।।(१२)

काशी में भी ईश्वर तारक (ओम्) मन्त्र के उपदेश से गुरु बनकर ही मुक्तिदाता होता है, इसी से कहते हैं कि गुरु तो ईश्वर से भी अधिक है।।११।।

गुरु का अनुग्रह हो तो ईश्वर मिले, फिर ईश्वर अनुग्रह करें तो सद्गुरु मिले, उस सद्गुरु का दर्शन ही ईश्वरदर्शन में मुख्य कारण माना जाता है।।१२।।

विनापि क्षेत्रमाहात्म्यं गुरुमाहात्म्यतः किल।
विमुक्तिर्यत्र कुत्रापि न काश्यां गुरुणा विना।।१४।।(१४)
क्षम्यतामिति किं वाच्यं प्रसीदेति किमुच्यताम्।
क्षमाप्रसादसम्पूर्णः स्वभावादेव मे गुरुः।।१५।।(१५)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे गुरुस्तवाभिधं प्रथमं प्रकरणम्।।

किञ्च ईश्वरस्य सर्वकारणत्वाद् बन्धमोक्षकारणत्वेन अतत्त्वत्वं, गुरोस्तु केवलमोक्षप्रदत्वात् तत्त्वत्वमित्याशयेन आह **ईश्वर इति। सर्वहेतुत्वात्** सर्वप्रपञ्चकारणत्वात्, 'एष योनिः' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतिषु कारणत्वं सर्वस्यास्य प्रसिद्धम्, **ईश्वरः** समष्टिकारणोपाधिकः सर्वज्ञत्वादिमान्, **संसारमोक्षयोः** संसारस्य मोक्षस्य च, **हेतुः** कारणं भवति। रजस्तमोभ्यां कामादिभिः मोहादिभिश्च संसारकारणं, सत्त्वेन प्रकाशरूपेण मोक्षकारणं तदपि गुरुरूपेणेत्याशयः। गुरुस्तु **मोक्षस्यैव** कारणं ब्रह्मात्मैक्यज्ञानप्रदत्वेन केवलमोक्षस्यैव कारणं भवति, अतः **गुरोः परम्** यत्तत्त्वमनारोपितं पारमार्थिकं रूपं, **नास्ति** न विद्यते, अतो मुमुक्षुभिः गुरुरेव उपास्य इति भावः।।१३।।(१३)

ननु 'काश्यां तु मरणान्मुक्तिः' इत्यादौ काश्यादिक्षेत्राणामपि मुक्तिप्रदत्वमुक्तम् अतः कथं गुरोरेवमुक्तिप्रदत्वम् उच्यते? इत्याशङ्क्य आह **विनापीति। क्षेत्रमाहात्म्यं** क्षेत्रस्य काश्यादिक्षेत्रस्य माहात्म्यं सामर्थ्यं, **विनापि** राहित्येनापि, **यत्र कुत्रापि** मुक्तिप्रदक्षेत्रान्यभूमावपि, अपिशब्दात् कुग्रामोषरकीकटादावपुण्यदेशेपि **गुरुमाहात्म्यतः** केवलगुरुकृपयैव, **विमुक्तिः** मोक्षो जायते, **किलेति** प्रसिद्धमेतद् आगोपालं, **गुरुणा विना** गुरुं त्यक्त्वा, **काश्यां** मुक्तिप्रदत्वेन प्रसिद्धायामपि, मुक्तिर्न जायते, अतः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुरोरेवमुक्तिप्रदत्वं, क्षेत्रस्य तु तद् अर्थवादमात्रमिति भावः।।१४।।(१४)

इदानीं क्षमाप्रसादराहित्येन अन्यदेवतानां निकृष्टत्वं गुरोस्तु ताभ्यां पूर्णत्वात् श्रैष्ठ्यमाह **क्षम्यतामिति।** अन्यदेवतासु इव गुरौ **क्षम्यतां** क्षमस्वेति, **किं वाच्यं** किमर्थं वक्तव्यं, निरर्थकमेव तत्तत्र इत्यर्थः। तथा **प्रसीदेति** प्रसन्नो भवेति, **किमुच्यतां** किमर्थं वक्तव्यं, तदपि निरर्थकं तत्रेत्यर्थः। कुतो निरर्थकत्वं क्षमापनप्रसादनयोः? तत्राह **मे** इति। मद्दृष्ट्येत्यर्थः। **गुरुर्मोक्षप्रदो गुरुः,** परब्रह्मरूपत्वात् **स्वभावादेव** स्वत एव, **क्षमाप्रसादसम्पूर्णः** क्षमया सहनतया, प्रसादेन प्रसन्नतया च सम्पूर्णः परिपूर्णोऽस्ति, अतः क्षमापनप्रसादनयोः नैरर्थक्यमिति भावः।।१५।।(१५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरकृतौ बोधसारदीप्तौ गुरुस्तवार्थप्रकाशः प्रथमः।।१।।

ईश्वर तो इस सम्पूर्ण (प्रपंच) का कारण होने से (रज, तम से) संसार तथा (सत्त्व से) मोक्ष दोनों का ही कारण होता है परन्तु गुरु तो केवल मोक्ष ही का कारण होता है इसलिये (मुमुक्षु के लिये) गुरु से उत्कृष्ट कोई तत्त्व नहीं है।।१३।।

क्षेत्रमाहात्म्य न होने पर भी केवल गुरुकृपा से जहाँ कहीं भी मोक्ष प्राप्त हो जाता है। परन्तु गुरुकृपा के विना तो काशी आदि क्षेत्रों में भी मुक्ति नहीं होती।।१४।।

(अन्य देवताओं के समान गुरुदेव से) 'क्षमा कीजिये', 'प्रसन्न होइये' यह कहने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि हमारे गुरुदेव तो स्वभाव से ही क्षमा और प्रसन्नता से परिपूर्ण हैं।।१५।।

अथ गुरुशिष्यविवेकः

बीजं गुरूपदेशो हि जिज्ञासुः क्षेत्रमुच्यते।
विवेकाङ्कुरजो बोधो द्रुमो मोक्षस्तु तत्फलम्।।१।।(१६)
यद्यपि क्षेत्रबीजाभ्यां विना न द्रुमसंभवः।
किन्तु बीजमुपादानं निमित्तं क्षेत्रमुच्यते।।२।।(१७)
द्रुमो बीजपरीणामो न क्षेत्रपरिणामकः।
बोधो गुरुपरीणामो न शिष्यपरिणामकः।।३।।(१८)

एवं मुमुक्षूणां गुरौ सर्वदेवताभ्यः श्रेष्ठ्यनिरूपणेन गुरौ भक्तिदार्ढ्यं विधाय, इदानीं कुमतिकृतकुतर्कैः पण्डितंमन्यैःगुरुशिष्यसाम्यप्रतिपादनेन गुरुभक्तिशैथिल्यं माभूदिति गुरुशिष्यविवेकाख्यं प्रकरणमेकोनविंशतिश्लोकम् आरम्भ्यते, तत्र तावत् कुमतिकृततर्केण गुरुशिष्यसाम्यं सूचयन् रूपकमाह **बीजमिति। गुरूपदेशो** महावाक्यजन्यं जीवब्रह्मैक्यविषयं ज्ञानं युक्त्या प्रतिपादितम्, **बीजम्** 'अहं ब्रह्म' इत्याकारकनिश्चयवृक्षस्य कारणत्वेन बीजस्थानीयं, **हि** प्रसिद्धम्, बीजं वृक्षकारणमिति सर्वेषामित्यर्थः। **जिज्ञासुः** स्वस्वरूपं ज्ञातुमिच्छुः शिष्यः, **क्षेत्रं** प्रसिद्धबीजवपनाय क्षेत्रमिवोपचर्यते, **उच्यते** अतः भूमिरिति कथ्यते, विद्वद्भिः इति शेषः। **विवेकाङ्कुरजः** सदसद्विवेक एव अंकुरः तस्माज्जात उत्पन्नो **बोधद्रुमः** 'अहं ब्रह्मास्मि' इति साक्षाज्ज्ञानं तदेव द्रुमो वृक्षो, **मोक्षस्तु तत्फलं** मुक्तिर्ज्ञानवृक्षफलमित्युपचर्यते। वस्तुतस्तु तुशब्देन मोक्षस्य जन्यत्वं नास्तीति सूचितम्। इति क्षेत्रबीजयोर्वृक्षजननं प्रति कारणत्वेन साम्यमिव गुरुशिष्ययोः बोधं प्रति साम्यमेव इत्याक्षेपः।।१।। (१६)

सिद्धान्ती दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः कारणत्वे समानेऽपि निमित्तत्वोपादानत्वाभ्यां तयोर्न्यूनाधिकत्वम् इत्याशयेन आह **यद्यपि इति। यद्यपि** एतत् सत्यमित्यर्थः, **क्षेत्रबीजाभ्यां** क्षेत्रेण बीजेन च, **विना** ऋते, **द्रुमसम्भवो** वृक्षोत्पत्तिः,**न** भवत्येव। तर्हि साम्यस्य का गतिरिति चेत्? तत्राह **किन्तु** तथापि **बीजं,** वृक्षस्य **उपादानम्** उपादानकारणं, **क्षेत्रं** भूमिः **निमित्तं** निमित्तकारणम्, **उच्यते** कथ्यते, विवेकिभिरिति शेषः। इदमेव गुरोः शिष्यात् श्रैष्ठ्यमिति भावः।।२।। (१७)

गुरूपदेश (आत्मसाक्षात्काररूपी वृक्ष का) बीज होता है, जिज्ञासु (अर्थात् अपने निर्व्याज आनन्द-स्वरूप को जानने की इच्छावाला शिष्य उस बीज के बोने की) भूमि है। 'क्या नित्य है क्या अनित्य' इस विवेकरूपी अंकुर से बोधरूपी वृक्ष उगता है। उस बोधरूपी वृक्ष पर मोक्षरूपी फल लगता है।।१।।

यद्यपि यह ठीक है कि क्षेत्र और बीज दोनों ही के बिना वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती (परन्तु इस हेतु से गुरु-शिष्य में समता की कल्पना ठीक नहीं होती) किन्तु बीज ही वृक्ष का उपादान कारण होता है, क्षेत्र तो केवल निमित्त कारण है। (गुरु में शिष्य से यही विशिष्टता है)।।२।।

द्रुमो हि बीजजातीयः क्षेत्रजातीयको न हि।
बोधो हि गुरुजातीयः शिष्यजातीयको न हि।।४।।(१६)
बीजेन बीजजातीयस्तरुः क्षेत्रे समर्पितः।
गुरुणा स्वात्मजातीयो बोधः शिष्ये समर्पितः।।५।।(२०)
वह्निप्रभा हि वर्त्तिस्था तमो हन्ति प्रकाशते।
तमोहन्त्री प्रकाशात्मा प्रभैव न तु वर्त्तिका।।६।।(२१)

इदानीमुपादानपरिणामवत्त्वेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः उपादानस्यैव श्रेष्ठत्वमाह **द्रुम इति। द्रुमो** वृक्षः, **बीजपरीणामो** बीजस्य सजातीयकोपादानस्य, परीणामो विकारः, **क्षेत्रपरिणामकः** क्षेत्रस्य भूमेः, परिणामको विकारो, **न** न भवति, तथा **बोधो** जीवब्रह्मैक्यज्ञानं, **गुरुपरीणामो** गुरोः सच्चिदानन्दरूपगुरोः, परीणामो विकारः, **शिष्यपरिणामकः** चिज्जडरूपस्य शिष्यस्य, परिणामको विकारः, **न** न भवति, गुरुबोधयोरैकजात्येन बोधस्य गुरुकार्यत्वं, बोधशिष्ययोर्वैजात्येन निमित्तनैमित्तिकत्वम्। अतः बोधं प्रति गुरोर्मुख्यत्वं शिष्यस्य गौणत्वमिति भावः।।३।। (१८)

ननु वृक्षबोधयोर्बीजगुरुकार्यत्वं कुतो निश्चेयम्? तत्राह **द्रुमो हि इति। हि** यस्मात् कारणात्, **द्रुमो** वृक्षः, **बीजजातीयो** बीजजातिभवः, **क्षेत्रजातीयको** भूमिजातिभवो, **न हि** नैवाऽस्ति, **बोधो हि** जीवात्मैकत्वज्ञानमपि, **गुरुजातीयो** गुरुजातिभवः सच्चिदानन्दत्वस्यैक्यात्, **शिष्यजातीयकः** चिज्जडशिष्यजातिभवो **न हि** नास्त्येवेत्यर्थः।।१४।। (१६)

एतदेव स्पष्टमाह **बीजेनेति। बीजेन** वटादिकारणबीजेन, **बीजजातीयो** बीजजातिभवो, वृक्षः **तरुः, क्षेत्रे** भूमौ, **समर्पितः** स्थापितः, तथा **गुरुणा** ब्रह्मस्वरूपेण महावाक्योपदेष्ट्रा स्वात्मजातीयोऽखण्डानन्दब्रह्मस्वरूपो, **बोधो** ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं, **शिष्ये** शुद्धान्तःकरणे अधिकारिणि, **समर्पितः** स्थापितः, अतः शिष्यो निमित्तत्वाद् न्यूनो, गुरुस्तु उपादानत्वाद् अधिक इति निश्चेतव्यम्।।५।। (२०)

एवमुपादानतया गुरोः बोधं प्रति प्राधान्यं निमित्ततया च शिष्यस्य गौणत्वं च प्रतिपाद्य इदानीं तदेव स्थूणानिखननन्यायेन द्रढयितुमाक्षिप्य दृष्टान्तान्तरेण स्थापयति वह्नीत्यादिद्वाभ्याम् **वह्निप्रभेति। हि** प्रसिद्धमेवेदं, **वह्निप्रभा** अग्नेः प्रकाशरूपा शक्तिः, **वर्तिस्था** कार्पाससूत्रमाश्रिता, **तमो** गृहादिस्थितं नेत्रावरकमन्धकारं, **हन्ति** नाशयति, स्वयं च **प्रकाशते** प्रकाशरूपा वर्त्तते।

वृक्ष बीज का रूपान्तर है, भूमि का नहीं। इसी प्रकार आत्मबोध गुरु का परिणाम है, शिष्य का नहीं। (इस हेतु से आत्मज्ञान में गुरु की ही मुख्यता है, शिष्य तो गौण होता है)।।३।।

वृक्ष अपने बीज की जाति का होता है, भूमि की जाति का नहीं। इसी प्रकार बोध भी गुरु की ही जाति का होता है शिष्य की जाति का नहीं।।४।।

बीज अपने सजातीय वृक्ष को ही भूमि में उत्पन्न किया करता है। इसी प्रकार गुरु ने शिष्य (अर्थात् शुद्धान्तःकरणवाले अधिकारी) में अपने सजातीय बोध को स्थापित किया है।।५।।

गुरुप्रभा हि शिष्यस्था तमो हन्ति प्रकाशते।
तमोहन्ता प्रकाशात्मा गुरुरेव न शिष्यकः।।७।।(२२)
यदग्निः काष्ठमारुह्य भस्मसात् कुरुते पुरीम्।
भस्मसात्कारणं तत्र गुणो वह्नेर्न काष्ठगः।।८।।(२३)

तत्रेति शेषः, वर्त्तिप्रभासमूहे लोकदृष्ट्याऽन्धकारनिवारणप्रकाशलक्षणे कार्ये साम्यप्रतीतावपि न तु सा प्रतीतिः तात्त्विकी भ्रान्तिरेव सा। विवेके तु **तमोहन्त्री** अन्धकारनिरसनक्षमा, **प्रकाशात्मा** प्रकाशस्वरूपा, **प्रभैव** अग्निशक्तिरेव, **न तु वर्त्तिका** वर्त्तिका तु अन्धकारनाशक्षमा न भवतीत्यर्थः।।६।। (२१)

दार्ष्टान्तिकमाह **गुरुप्रभेति। हिः** तथार्थः, तथा **गुरुप्रभा** गुरुरूपाखण्डजीवात्मैक्यविषया 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारा प्रमारूपा वृत्तिः, **शिष्यस्था** साधनसंपन्नान्तःकरणविशिष्टचिदाभासमाश्रिता सती, **तमो** वृत्तेः स्वरूपाज्ञानं, **हन्ति** नाशयति, **प्रकाशते** स्वयं प्रकाशात्मरूपतया अवशिष्यते। अत्रापि तत्रेति शेषः। अज्ञाननाशप्रकाशनलक्षणे कार्ये अन्तःकरणावच्छिन्नचिदाभासस्य साधिष्ठानस्य गुरूपदिष्टज्ञानस्य च कारणत्वे समे प्रतीतेऽपि सा प्रतीतिः पारमार्थिकी न, भ्रान्तिकृतैव सा, विवेके तु **तमोहन्ता** वृत्तेः स्वरूपाबोधलक्षणान्धकारस्य तमसो हन्ता नाशकः, **प्रकाशात्मा** स्वयं प्रकाशतया अवशिष्टस्वरूपश्च, **गुरुरेवास्ति न शिष्यको**ऽल्पः शिष्योऽज्ञाननाशनसमर्थो न भवति इत्यर्थः। बोधे बोधावसाने च गुरोरेवावशिष्टत्वात् शिष्यस्य च बोधकाले तस्य च स्वरूपलयावस्थायामपि असत्त्वाच्च गुरोः प्राधान्यं शिष्यस्य गौणत्वमिति भावः।।७।। (२२)

पुनरपि तदेव द्रढयति दृष्टान्तान्तरेण द्वाभ्याम् **यदिति। यद्** यस्मात् कारणाद्, **अग्निः** दाहकत्वेन प्रसिद्धो वह्निः, **काष्ठं** दार्वादिकं दाह्यं वस्तु, **आरुह्य** आश्रित्य, **पुरीं** नगरीं, **भस्मसाद्** भस्मावशिष्टां, **कुरुते**। तत्र वह्निकाष्ठयोरुभयोरपि भस्माऽवशेषणलक्षणे कार्ये कारणत्वप्रतीतिसाम्येऽपि अविवेक एव सा प्रतीतिः, विवेकदृष्ट्या तु **तत्र** वह्निकाष्ठयोर्मध्ये, **भस्मसात्कारणं** भस्मावशेषणकार्यस्य कारणम् उपादानकारणं, **वह्नेर्गुण** एव अग्नेर्दाहकशक्तिरेव, **न काष्ठगो** दाह्यकाष्ठनिष्ठा शक्तिः भस्मावशेषणकार्ये नोपादानरूपेत्यर्थः।।८।। (२३)

बत्ती में निवास करनेवाली अग्नि की प्रकाशरूपा शक्ति ही अँधेरे को नष्ट करती और स्वयं भी प्रकाशित होती है, वहाँ अन्धकार को हटानेवाली और स्वयं भी प्रकाशित होनेवाली प्रभा (लौ) ही है, बत्ती नहीं।।६।।

इसी प्रकार शिष्य में रहनेवाली गुरु की प्रभा ही स्वरूपाज्ञान को नष्ट करती है तथा स्वयं (अन्यनिरपेक्ष होकर) भी प्रकाशित होती है। अज्ञान को नष्ट करनेवाला तथा (अन्त में स्वयं) ज्ञान-स्वरूप से शेष रह जाने वाला गुरु ही है, शिष्य नहीं।।७।।

जैसे कि अग्नि ईंधन के सहारे से नगरी को भस्मावशेष (राख का ढेर) बना देती है (उसमें चाहे ईंधन और अग्नि दोनों ही समानरूप से आवश्यक प्रतीत होते हों) परन्तु उन दोनों में भस्म बना डालने का कारण जो गुण है वह तो अग्नि का ही है, काष्ठ का नहीं।।८।।

बोधात्मना गुरुः शिष्यमाविश्य दहति क्षणात्।
यद् द्वैतं सा गुरोः शक्तिर्न शिष्यस्येति निर्णयः।।९।।(२४)
यद्यप्युदयने भानोर्यथा पद्मं प्रकाशते।
न काशन्ते तथा पद्माः काष्ठपाषाणमृण्मयाः।।१०।।(२५)
प्रकाशको रविर्यद्वत् पद्ममेव विकासयेत्।
गुरुस्तथा बोधकः सच्छिष्यमेव प्रबोधयेत्।।११।।(२६)

दार्ष्टान्तिकमाह **बोधात्मनेति**। एवं **बोधात्मना** जीवब्रह्मैक्यबोधरूपेणैव, **गुरुः** अखण्डैकचिन्मात्रः परमात्मा, **शिष्यं** साधनसहितान्तःकरणवृत्त्युपहितचैतन्यरूपम्, **आविश्य** प्रविश्य, **क्षणात्** क्षणमात्रेणैव, **यद् द्वैतं** द्वैतप्रतीतिकारणं यदंशरूपमज्ञानं तद्, **दहति** नाशयति, **सा** द्वैतनाशकर्त्री, **गुरोः** अखण्डचिन्मात्रपरमात्मनः, **शक्तिः** सामर्थ्यं, **शिष्यस्य** अन्तःकरणावच्छिन्नचिदाभासस्य **न** तत्सामर्थ्यं न भवतीत्यर्थः, तत्कार्यत्वात् तस्य। **इति निर्णय** एवं निर्णीतोऽर्थः, सर्वशास्त्रेषु न अस्मत्कपोलकल्पित इति भावः। अत्र युगलयोर्द्वयोर्मध्ये पूर्वयुगले वह्निप्रभावर्त्योः तमोनाश-प्रकाशनलक्षणकार्ये कारणत्वसाम्यमिव बोधबोध्यरूप-गुरुशिष्ययोरज्ञाननाशनस्वरूप-प्रकाशनलक्षणकार्यं प्रति समानत्वमित्याक्षेपः, वह्निप्रभाया एव प्रधानत्वमिवाज्ञाननाशप्रकाशलक्षणे कार्ये गुरोरेव मुख्यत्वमिति समाधानम्। उत्तरयुगले तु भस्मावशेषलक्षणे कार्ये वह्निकाष्ठयोः साम्यमिव द्वैतदाहलक्षणे कार्ये गुरुशिष्ययोः साम्यमित्याक्षेपः, समाधानं तु नगरदाहलक्षणे कार्ये वह्निशक्तेः प्राधान्यमिव द्वैतदाहस्वरूपे कार्ये गुरुशक्तेरेव प्राधान्यमिति विवेकः।।९।। (२४)

इदानीं पुनरपि तदेव द्रढयितुं पूर्वोत्तरपक्षेण निर्णयमाह सार्धाभ्याम् **यद्यपीति**। **भानोः** सूर्यस्य, **उदयने** उदये जाते सति, **यथा** यादृक्, **पद्मं** कमलं, **प्रकाशते** प्रफुल्लति, **तथा** तादृक् **काष्ठपाषाणमृण्मयाः** काष्ठकृतानि पाषाणकृतानि मृत्कृतानि च, **पद्माः** कमलानि, 'पद्मोऽस्त्री'-त्युक्तत्वात् पुंस्त्वं नपुंसकत्वं च अत्र पद्मशब्दस्य, **न काशन्ते** न प्रफुल्लन्ति, तेषु तत्कमलत्वमारोपितं न तु वास्तवमिति भावः।।१०।। (२५)।।

दृष्टान्तपूर्वकं दार्ष्टान्तिकमाह **प्रकाशक इति**। **यद्वद्** यथा, **प्रकाशकः** प्रकाशकर्त्ता, **रविः** सूर्यः **पद्ममेव** वास्तवकमलमेव, न तु आरोपितं, **विकासयेत् प्रफुल्लं कुर्यात्, तथा** तद्वत्, **बोधक** उपदेष्टा, **गुरुः**, शिष्यमेव **सच्छिष्यमेव** न तु नाममात्रं **प्रबोधयेत्** प्रबोधितं कुर्यात्।।११।।(२६)

इसी प्रकार जो कि गुरु (साधन-सम्पन्न) अधिकारी में (ज्ञानरूप से) प्रविष्ट होकर द्वैत (अर्थात् द्वैत-प्रतीति के कारण अनादि अज्ञान को) क्षण-मात्र में नष्ट कर देता है, वह सामर्थ्य किंवा प्रधानता गुरु की ही है, शिष्य की नहीं, यह निश्चित है।।९।।

सूर्य के उदय होने पर जिस तरह कि कमल खिलता है, वैसे मिट्टी-पत्थर किंवा लकड़ी के बनावटी कमल नहीं खिलते।।१०।।

ऊपर के दृष्टान्त में जिस प्रकार प्रकाश करनेवाला सूर्य सच्चे कमल को ही विकसित करता है, बनावटी को नहीं इसी प्रकार उपदेष्टा गुरु सच्छिष्य को ही प्रबुद्ध कर सकता है (अनधिकारी को नहीं)।।११।।

प्रकाशकस्य महिमा प्रकाश्यादधिकः किल।
सूक्ष्मं विशेषं वक्ष्यामि गुरुसूर्यस्य तं शृणु।।१२।।(२७)
तत्तद्विवेकवैराग्ययुक्तवेदान्तयुक्तिभिः।
शिष्यं नयति गुर्वर्कः स्वैक्यं स्वाद्भिन्नमप्यहो।।१३।।(२८)
विकासकोऽपि तपनो न पद्मं स्वैकतां नयेत्।
तस्मात् सर्वात्मभावेन सेव्या श्रीगुरुपादुका।।१४।।(२९)

इदानीमुक्तदृष्टान्तेन गुरुशिष्यसाम्यानुवादेन उक्तं तद् दूरीकरोति **प्रकाशकस्य इति**। हे शिष्य! **प्रकाश्यात्** प्रकाशकर्मभूतात् कमलादेः परिच्छिन्नात् **प्रकाशकस्य** प्रकाशयितुः सूर्यादेः अपरिच्छिन्नस्य, **महिमा** महत्त्वम्, **अधिक** उत्कृष्टः **किल** इति निश्चेतव्यं, नात्र संदेहः कार्य इति। एवं श्रीगुरोः शिष्यादाधिक्यं प्रतिपाद्य इदानीं पूर्वप्रकरणे सर्वदेवेभ्यः श्रीगुरोः श्रैष्ठ्यं प्रतिपादितं यत्तदत्र सूर्यदृष्टान्तेन तत्साम्यस्फूर्त्या ध्वस्तम् अतस्ततोऽपि इदानीं गुरोः श्रैष्ठ्यं दर्शयति तत् श्रवणे च शिष्यं सन्मुखीकरोति सार्धाभ्यां **सूक्ष्ममिति**। हे शिष्य! त्वं **गुरुसूर्यस्य** गुरुरूपादित्यस्य प्रसिद्धादित्यात्, **सूक्ष्मं** विचारमन्तरेण ज्ञातुमशक्यं, **विशेषं** श्रेष्ठत्वेन कारणत्वातिशयं, **वक्ष्यामि तं** विशेषं, त्वं शृणु सावधानतया श्रोतव्य इत्यर्थः।।१२।। (२७)

प्रसिद्धसूर्ये तदभावं दर्शयति **तत्तदिति। गुर्वर्को** गुरुरूपः सूर्यः, **तत्तद्विवेकवैराग्ययुक्तवेदान्तयुक्तिभिः,** तत्त्वमादिपदार्थयोः विवेकश्च अनात्मपदार्थेषु वैराग्यं वैतृष्ण्यं च ताभ्यां युक्ता या वेदान्तयुक्तयोऽन्वयव्यतिरेकाद्यास्ताभिःलक्षितैः वचनैरिति शेषः। **स्वाद्** गुरुपदात्, **भिन्नं** भेदं प्राप्तमपि, **शिष्यं** साधनसंपन्नमन्तःकरणावच्छिन्नं चिदाभासं, **स्वैक्यं** स्वेनाखण्डैकरसब्रह्मणा सह एकत्वं, **नयति** प्रापयति, **अहो** इदमाश्चर्यं गुराविति भावः।।१३।। (२८)

विकासकोऽपीति। तपनः सूर्यः, **विकासकोऽपि** पद्मानां प्रकाशकोऽपि, **पद्मं** कमलं, **स्वैकतां** सूर्यभावं, **न नयेत् न प्रापयेत्। तस्मात्** सूर्यादपि गुरोराधिक्यात्, **सर्वात्मभावेन** सर्वत्र आत्मभावनया **श्रीगुरुपादुका** गुरुचरणारविन्दं, **सेव्या** सेवितुं योग्या मुमुक्षूणां न तु अन्यत्, पादुकापदं च अत्र यथार्थगुरुस्वरूपज्ञानाभावे प्रतिमावद् गुरुपादुकापूजाधिकार इति मुमुक्षूणां सूचनाय इति ज्ञेयम्।।१४।। (२९)

हे शिष्य, प्रकाशक (सूर्यादि) का महत्त्व (कमल आदि) प्रकाशयितव्य (जिनका प्रकाश करना है उन) पदार्थों से बहुत अधिक होता है इसमें कुछ संदेह मत करो। अब मैं तुम्हें गुरुसूर्य की (इस भौतिक सूर्य से विचारगम्य) विशेषता बताता हूँ, उसे सुनो।।१२।।

गुरुरूपी सूर्य आत्मानात्मविवेक कराने के पश्चात् अनात्म पदार्थों में वैराग्य कराकर वेदान्त की अन्वय व्यतिरेक आदि प्रबल युक्तियों के द्वारा अपने से भिन्न भी अधिकारी को अपने से अभिन्न कर देता है। (यही गुरुरूपी सूर्य की एक बड़ी विशेषता है)।।१३।।

कमलों का विकास करनेवाला यह लौकिक सूर्य कमलों को सूर्य नहीं बना सकता। इसी विशेषता के कारण (मुमुक्षुओं को) सर्वभाव से गुरु की पादुका का ही आश्रय लेना चाहिए।।१४।।

इसमें तो सन्देह नहीं कि देने और लेने वाले दोनों के बिना दान-क्रिया सिद्ध नहीं

तत्सत्यं दातृपात्राभ्यां विना दानं न सिद्ध्यति।
तथापि पात्रं पात्रं स्याद् दाता परमकारणम्।।१५।।(३०)
भवेत् स्पर्शमणिस्पर्शाल्लोहं स्वर्णं न तन्मणिः।
गुरुस्पर्शमणिस्पर्शात् स एव भवति क्षणात्।।१६।।(३१)
एवं विवेकतो धीमन्नुपयोगो द्वयोरपि।
शिष्यो निमित्तमात्रं स्याद् गरिष्ठा गुरुपादुका।।१७।।(३२)

ननु दातुः पात्रस्य च दानक्रियां प्रति साम्यमिव बोधक्रियां प्रति गुरुशिष्ययोः साम्यं कुतो न स्याद् इत्याक्षिप्य समाधत्ते **तदिति। दातृपात्राभ्यां** दाता दानकर्त्ता, पात्रं प्रतिग्रहीता, च ताभ्याम् **विना** तौ वर्जयित्वा, **दानं** दानक्रिया, **न सिद्ध्यति** सिद्धा न भवति, **तत्सत्यं** प्रामाणिकमेव इदम् **तथापि** तयोः साम्यं न भवति। कुतः पात्रं प्रतिग्रहीता, पात्रं धान्यसंचयनाद्यर्थं कुसूलादिवत् **पात्रं स्याद्** दातुः देयस्य संचयनार्थं पात्रमेव स्याद्, अतो न मुख्यत्वं तस्येत्यर्थः। **दाता** दानकर्त्ता, **परमकारणं** मुख्यं कारणं, तस्यैव तद्बोक्तृत्वादित्यर्थः। बोधं प्रत्युपादानत्वेन बोधावस्याथां तच्छेषत्वेन च गुरोरेव प्राधान्यं, शिष्यस्य तु निमित्तमात्रत्वेन गौणत्वमिति भावः।।१५।।(३०)

इदानीं स्पर्शमणेरपि गुरोर्वैलक्षण्यद्योतनेन ततोऽपि गुरोः श्रैष्ठ्यमाह द्वाभ्याम् **भवेदिति। स्पर्शमणिस्पर्शात्** स्पर्शनामकमणेः स्पर्शात् संयोगात्, **लोहम् अयः, स्वर्णं** कनकं, **भवेत्** स्यात्, **तच्च मणिः** स्पर्शमणिः, **न** भवेत्, **गुरुस्पर्शमणिस्पर्शाद्** गुरुरेव स्पर्शमणिः तत्संयोगात् शिष्यः **स एव** गुरुरेव, **क्षणाद्** उपदेशक्षणे एव, **भवति** स्याद्, अयमेव स्पर्शमणेर्विशेषो गुरुस्पर्शमणाविति भावः।।१६।। (३१)

सिद्धान्तयति **एवमिति**। हे **धीमन्,** इति सम्बोधनेन मूर्खाणान्तु गुरुशिष्ययोः साम्यं भासतु, तव तु एतदयोग्यमिति सूचितम्। **एवम् उक्तरीत्या, विवेकतो** विवेकेन, बोध **उपयोगो** फलजनकत्वं, **द्वयोरपि** उभयोरपि, अविशेषेणास्ति, तथापि **शिष्यो** बुद्ध्यवच्छिन्नः साधनसम्पन्नः चिदाभासः, **निमित्तमात्रं** निमित्तमेव केवलं, **गुरुपादुका** प्राधान्याद् गुरुः, पादुकापदप्रयोगतात्पर्यं पूर्वमेवोक्तं, **गरिष्ठा** अतिश्रेष्ठा, आदरार्हेत्यर्थः।।१७।।(३२)

होती, तो भी (उन दोनों की परस्पर कुछ समता नहीं मानी जाती क्योंकि) पात्र आखिर पात्र ही होता है, मुख्य कारण तो दान करने वाला ही है।।१५।।

स्पर्शमणि (पारस) के संयोग से लोहे का स्वर्ण तो हो जाता है, वह लोहा स्वयं पारसमणि कभी नहीं बनता, परन्तु जब किसी अधिकारी शिष्य को गुरुरूपी पारसमणि का स्पर्श हो जाता है तो वह शिष्य तत्क्षण गुरु ही हो जाता है।।१६।।

हे धीमन्! इस प्रकार का विचार करें तो (आत्मबोध में) गुरु और शिष्य दोनों का उपयोग समानरूप से होने पर भी शिष्य तो निमित्तमात्र होता है, गरिष्ठ अर्थात् अत्यादरणीय वस्तु तो गुरुपादुका ही है।।१७।।

उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्।
इत्यादि वचनं तत्तु शिष्योत्साहविवृद्धये।।१८।।(३३)
सिद्धान्तः सर्वतन्त्राणां सद्यः प्रत्ययकारकः।
सर्वदा भावनीयोऽयं गुरुशिष्यविनिर्णयः।।१९।।(३४)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे गुरुशिष्यतत्त्वविवेकाख्यं द्वितीयं प्रकरणम्।।२।।

इदानीमेतत् प्रकरणार्थप्रामाण्यप्रतिपादनपूर्वकं तत्फलोक्त्या तद्विचारकर्तव्यतां विधत्ते। ननु वासिष्ठे ग्रन्थे

'उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्।
ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव केवलम्।।

इत्यादिवाक्ये गुरोः सकाशाद् शिष्यस्यैव श्रैष्ठ्यमुक्तम् अत्र तद्विरुद्धं गुरोः श्रैष्ठ्यं भवद्भिः कथं प्रतिपाद्यते? इत्याशङ्क्य तस्यान्यार्थकत्वाद् मैवमिति परिहरति **उपदेशेति। 'उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्' इत्यादि वचनं** यत् **तत्तु** तत्सदृशमन्यदपि वाक्यजातमादिपदाद् ग्राह्यं, **शिष्योत्साहविवृद्धये** शिष्यान्तःकरण उत्साहं विना बोधो न भवेदिति तदभिवृद्ध्यर्थं तदिति योज्यम्। अन्यथा

'यावन्नानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात्।
तावन्न सद्गुरुं कश्चित् सच्छास्त्रमपि नो लभेत्'।।

इत्यादिबहुवाक्यविरोधादिति भावः।।१८।।(३३)।

सिद्धान्त इति। सर्वतन्त्राणां सर्वशास्त्राणां, **सिद्धान्तः** सिद्धान्तभूतोऽयम्। अनेन प्रामाण्यमुक्तं, एतत्प्रकरणस्य फलमाह **सद्यः प्रत्ययकारको** विचारसमय एव गुर्वाधिक्य-प्रतीतिद्योतकः, **अयं गुरुशिष्यविनिर्णयो** गुर्वाधिक्यनिर्णायकं प्रकरणमिदं, **सर्वदा** निरन्तरं, **भावनीयः** विचार्यः।।१९।।(३४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ गुरुशिष्यतत्त्वविवेकप्रकाशो द्वितीयः।।२।।

एवं शिष्यस्य गुरौ श्रद्धामान्द्यनिमित्तं कुतर्कमूलं गुरौ स्वसाम्यं यदुत्पन्नं तद् युक्त्या परिहृत्य यदर्थं गुरुसेवा कर्तव्या तदर्थनिरूपणार्थमिदानीमुत्तरं प्रकरणमारभंते पञ्चभिः **अथेति। अथ** गुरुशरणगमनानन्तरम्, **अतः** मुमुक्षूणां ब्रह्मज्ञानस्यैव इष्टत्वादित्यर्थः, **ब्रह्मजिज्ञासा** कर्तव्येति शेषः। ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी। ननु ब्रह्मणो ज्ञानविषयत्वे सद्वितीयत्वं तेन चावस्तुत्वे तस्य ज्ञानप्रयोजकत्वेन शास्त्राप्रामाण्यापत्तिः, अद्वितीयत्वे च ज्ञानाविषयत्वेन तत्प्रतिपादक-शास्त्रस्य निर्विषयत्वेनाप्रामाण्यापत्तिः, अतः कथं ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वमित्याशङ्क्याह **केवलं** निरुपाधिकं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं, **जिज्ञास्यं** ज्ञानेच्छाविषयो न तु सोपाधिकमतः पूर्वोक्तदोषो नेति भावः। सर्वनिषेधेन तस्यैवावशेषत्वात्तज्ज्ञानस्य पुरुषार्थत्वं तत्प्रतिपादकशास्त्रस्यापि सप्रयोजनत्वेन च प्रामाण्यमिति भावः। ननु निरुपाधिकस्य कथं ज्ञानविषयत्वम्? तत्राह **तटस्थेति। तटस्थलक्षणेन** तत्कारणत्वादिद्योतकानि लक्षणानि शाखादीनि यथा एकदेशस्थत्वेपि चन्द्रलक्षकाणि तद्वदेतानि ब्रह्म-

योगवासिष्ठ का 'हे राम! उपदेशक्रम तो व्यवस्था का पालनमात्र है' इत्यादि वचन तो शिष्यों का उत्साह बढ़ाने के लिये है।।१८।।

यह प्रकरण गुरु-शिष्य के विषय में सर्वशास्त्रों का सिद्धान्तभूत है। इसके विचार करते ही गुरु की विशेषता झटपट समझ में आ जाती है। इसलिये यह 'गुरुशिष्य-विनिर्णय' नामक प्रकरण सर्वदा विचारणीय है।।१९।।

अथ ब्रह्मजिज्ञासा

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा जिज्ञास्यं ब्रह्म केवलम्।
तटस्थलक्षणेनाथ स्वरूपस्य च लक्षणात्।।१।।(३५)
उत्पत्तिस्थितिनाशानां मूलकारणमीश्वरः।
सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्प इत्यादिषु तटस्थता।।२।।(३६)
सच्चिदानन्दरूपं तत्स्वप्रकाशं परात्परम्।
अनण्वित्यादिवेदोक्तं स्वरूपस्य तु लक्षणम्।।३।।(३७)

वस्तुतोऽस्पृष्ट्वैव तल्लक्षकाणि भवन्ति, अतस्तेषां तटस्थत्वं जातित्वादेकवचनं च, **स्वरूपस्य चाथ** तटस्थलक्षणेन लक्षयित्वा प्रतिपादकानि, तैर्लक्षणैः ब्रह्म केवलं ज्ञानविषयो भवतीति भावः। एताभ्यां लक्षितं ज्ञानेच्छाविषय इत्युपचर्यते न तु वास्तवविषयत्वं ब्रह्मणो जिज्ञासाया इत्याशयः।।१।। (३५)

तत्र तटस्थलक्षणं निरूपयति **उत्पत्तीति। उत्पत्तिस्थितिनाशानां** जगत उत्पत्तेः स्थितेर्नाशस्य च, **मूलकारणं** कारणं माया तदाधारो मूलकारणम्, **ईश्वर** ईशनादिशक्तिमान्, **सर्वज्ञः** सर्वजगत्प्रकाशकः, **सत्यसंकल्प** सफलसंकल्पवान् **इत्यादिषु** 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिषु वाक्येषु इत्यर्थः, **तटस्थता** तटस्थलक्षणं ज्ञेयम्।।२।। (३६)

सदिति। तद् ब्रह्म, **सच्चिदानन्दरूपं** सदबाध्यं, चित् ज्ञप्तिमात्रस्वरूपम्, आनन्दं निरतिशयसुखं रूपं यस्य तत् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिषु उक्तं **स्वप्रकाशं** स्वयं ज्योतिः-स्वरूपम्, 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' इति श्रुतौ उक्तं, **परात्परं** परं कारणं जगतो माया तस्या अपि परं, तया अस्पृष्टमित्यर्थः। **अनण्वित्यादिवेदोक्तम्** अणुत्वादिप्रतिषेधकविशेषणैरुक्तं यत्तत् **स्वरूपस्य** तुपदेन पूर्वलक्षणाद् एतस्य महद्वैलक्षण्यं द्योतितं, **लक्षणं** लक्षकं, ब्रह्मणो ज्ञेयम्।।३।। (३७)

इदानीमस्मिन् ग्रन्थे मोक्षे प्रधानसाधनभूतस्य ज्ञानस्य अपेक्षितानि अन्यसाधनानि सन्ति तन्निरूपणं प्रतिजानीते **गुणेति। गुणप्रधानभावेन** गौणमुख्यभावेन, यद्यत्साधनं प्रधान-

जिस प्रयोजनसे गुरु के पास श्रद्धापूर्वक जाना चाहिये उसका प्रतिपादन पाँच श्लोकों से किया जाता हैजब कोई अधिकारी नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि चारों साधनों से सम्पन्न हो चुके, तो उसे केवल ब्रह्मज्ञान ही इष्ट रह जाता है, इसलिए अब उसे ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी ही चाहिये। केवल अर्थात् निरुपाधिक ब्रह्म ही जानने की इच्छा का विषय है। तटस्थ लक्षण से ब्रह्म को लक्षित करने के पश्चात् स्वरूप लक्षण से केवल ब्रह्म भी ज्ञान का विषय हो-सा जाता है।।१।।

वह ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का मूल कारण है, वह सर्वज्ञ (सर्व-जगत्प्रकाशक) तथा सत्यसंकल्प है इत्यादि ब्रह्म के तटस्थ लक्षण कहलाते हैं (तटस्थ इसलिये कि ये लक्षण इन क्रियाओं के होने पर ही हो सकते हैं। शुद्ध ब्रह्म में ये लक्षण नहीं पाये जाते)।।२।।

सत् (त्रिकालाबाधित) चित् (ज्ञानस्वरूप) आनन्द (निरतिशय तथा निर्व्याज सुखस्वरूप) स्वयं ज्योतिःस्वरूप, पर से भी पर (माया से भी असंपृक्त) अनणु अह्रस्व अदीर्घ इत्यादि उपनिषदों में प्रतिपादित लक्षण, ब्रह्म के स्वरूप लक्षण होते हैं।।३।।

गुणप्रधानभावेन यद्यत्किञ्चिदपेक्षितम्।
नानाप्रकरणव्याजैस्तत्सर्वमभिधीयते।।४।।(३८)
बहिरङ्गान्तरङ्गाणां साधनानामनुक्रमः।
यदन्तरङ्गं यस्मात्तु तत्पश्चात्तु निरूप्यते।।५।।(३९)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे ब्रह्मजिज्ञासाप्रकरणं तृतीयम्।।३।।

साधनभूतज्ञानस्य, **अपेक्षितम् ईप्सितं, तत्सर्वं** ज्ञानानुकूल्येन अस्मिन् ग्रन्थे **नानाप्रकरणव्याजैः** अनेकप्रकरणमिषेण, मया इति अध्याहार्यम्, **अभिधीयते** प्रतिपाद्यते।।४।।(३८)

तन्निरूपणक्रमपीठिकां रचयति **बहिरिति। साधनानां** प्रधानसाधनज्ञानसाधनानां, **बहिरङ्गान्तरङ्गाणां** कतिचित् ज्ञानस्य बहिरङ्गाणि कतिचिदन्तरङ्गाणीति साधनानां भेदः, अतस्तेषाम्, **अनुक्रमः** अनुक्रम्यन्ते अनेन इति अनुक्रमः क्रमेण ज्ञानमपेक्षितम् अतो **यस्मात्** साधनाद् **यद्यदित्यर्थः, तत्तदित्यर्थः, पश्चाद्** अनन्तरं, बहिरङ्गं प्रथमतो निरूप्य पश्चात् ततोऽन्तरङ्गमित्यर्थः। **तु** पदेन वैलक्षण्यद्योतनपूर्वकमिति ज्ञेयं, **निरूप्यते** कथ्यते। एवमस्मिन् ग्रन्थे उत्तरप्रकरणेषु क्रमो ज्ञेयः।।५।।(३९)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ ब्रह्मजिज्ञासार्थप्रकाशः तृतीयः।।३।।

अथ वैराग्यपीठिकाबन्धः

एवं मोक्षे मुख्यसाधनभूतज्ञानस्य साधनानुक्रमनिरूपणं प्रतिज्ञाय इदानीं सर्वसाधनेभ्यो बहिरङ्गत्वेन प्राथम्याद् वैराग्यस्य तज्ज्ञानं प्रथममपेक्षितम् अतस्तदर्थं वैराग्यपीठिकाबन्धाख्यं सार्धषट्षष्टिश्लोकं प्रकरणमारभते। तत्रावान्तरप्रकरणानि सप्तवैराग्यभेदनिरूपण-कायविडम्बना-वृत्तिविडम्बना-कामविडम्बना-क्रोधविडम्बना-लोभविडम्बना-कर्मविडम्बनाऽऽख्यानि सन्ति, तानि क्रमेण निरूप्यन्ते। तत्रादौ वैराग्यभेदनिरूपणाख्यं पञ्चदशश्लोकं निरूपितं तद्व्याख्यायते तत्रादौ एतत्प्रकरणश्रवणाय शिष्यं प्रेरयति **वैराग्येति।** हे **सन्मते** इति सम्बोधनेन एतत् श्रुत्वाऽवधारणमेव सन्मतित्वं तव युक्तमिति सूचितं, त्वं **प्रथमम्** आदौ **वैराग्यपीठिकाबन्धो** वैराग्यस्य पीठिकाऽनुक्रमो बध्यते रच्यते अनेनेति वैराग्यक्रमबोधकं प्रकरणं, **शृणु** श्रवणे सावधानो भवेत्यर्थः। ननु मुमुक्षोर्मोक्षस्यैव इष्टत्वात् तत्प्रधानीभूतसाधनज्ञानस्यैव इष्टत्वमतः तत्प्रतिप्रादकवेदान्तश्रवणादेव कर्तव्यं किं वैराग्येण इत्याशङ्क्य वैराग्यं विना कृतेऽपि श्रवणादौ ज्ञानस्थिरता **न** न भवेद् इत्याशयेनाह **नेति। यत्र**

(मोक्ष का प्रधान साधन जो ज्ञान है उसके लिए) गौण किंवा मुख्य भाव से अन्य जिस जिस साधन की अपेक्षा हुआ करती है, अनेक प्रकरणों के द्वारा अब मैं उन सब साधनों का प्रतिपादन करूँगा।।४।।

(आत्मदर्शन का मुख्य साधन ज्ञान है, उसके) बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों की जिस-जिस क्रम से अपेक्षा हुआ करती है उसी क्रम के अनुसार पहिले बहिरंग साधनों का निरूपण करने के अनन्तर, अन्तरंग साधनों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया जायगा।।५।।

अथ वैराग्यपीठिकाबन्धः

वैराग्यपीठिकाबन्धं प्रथमं शृणु सन्मते।
न नेमिरेव यत्रास्ति स्थितिश्चक्रस्य कीदृशी।।१।।(४०)
न शूद्रे वेदसंस्कारः तैलञ्च सिकतासु न।
न स्यात् करतले रोम तथा मुक्तिर्न रागिणि।।२।।(४१)
वैराग्यं द्विविधं सूक्ष्मं तद्भेदमवधारय।
जिज्ञासामुख्यमेकं स्यात् जिहासामुख्यमेव च।।३।।(४२)

चक्रे, **नेमिरेव** सर्वाङ्गेषु सत्स्वपि तच्चलनकारणभूताधारैव केवलं नास्ति, तस्य **चक्रस्य स्थितिः** चलनरूपे कार्ये स्थिरता, **कीदृशी** कथं स्यात्, न कथमपीत्यर्थः। तथा वैराग्यं विना ज्ञानस्याज्ञाननाशनलक्षणे कार्ये सामर्थ्यमेव न स्यादिति भावः।।१।। (४०)

एतदेव स्पष्टमाह **नेति। शूद्रे वेदसंस्कारः** वेदोक्तः व्रतबन्धादिसंस्कारः, **न** नास्ति, **सिकतासु** वालुकासु, **तैलञ्च** तैलमपि, **न** नास्ति। यथा इति सर्वत्र योज्यं, यथा यादृक्, **करतले** हस्ततले, **रोम** केशो, **न** नास्ति, **तथा** तादृग, **रागिणि** विषयासक्तपुरुषे, **मुक्तिः** ज्ञानफलरूपो मोक्षः, **न स्यात्** न सम्भवेद् अतो मुमुक्षूणां प्रथमं वैराग्यमेव इष्टमित्याशयः।।२।। (४१)

एवं ज्ञानमुख्यसाधनभूतवैराग्यस्वरूपप्रतिपादकशास्त्रश्रवणे शिष्यम् अभिमुखीकृत्य इदानीं तद्भेदं निरूपयति **वैराग्यमिति। वैराग्यं** विषयवैतृष्ण्यं, **द्विविधं** द्विप्रकारकम्, अस्ति इति शेषः। ननु वैराग्यं स्वरूपेण एकधा एव प्रतीयते अतः कथं द्विविधमुच्यते इत्याशङ्क्याह **सूक्ष्ममिति। सूक्ष्मं** तल्लक्षणभेदज्ञानं विना दुर्ज्ञेयं **तद्भेदं** तस्य वैराग्यस्य भेदं, मत्तः **अवधारय** श्रुत्वा निश्चिनु। तमेव प्रतिज्ञातं निरूपयति **जिज्ञासेति। एकं** वैराग्यं, **जिज्ञासामुख्यं** ब्रह्मज्ञानेच्छा एव मुख्या निदानभूता यस्मिन् तत्, **स्याद्** भवेत् **च** पुनः, अन्यं **जिहासामुख्यमेव** त्यागेच्छैव मुख्या निदानभूता यत्र तदपि द्वितीयं वैराग्यमित्यर्थः।।३।।(४२)

ननु किंविषया जिज्ञासा जिहासा चेति तज्ज्ञानापेक्षायामाह **जिहासेति। संसृतेः** संसारस्य, **जिहासा** त्यक्तुमिच्छा, **ब्रह्मजिज्ञासा** ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नात्मवस्तुनो जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छेति

हे सन्मते! वैराग्यक्रम को प्रतिपादन करनेवाले प्रकरण को पहले सुन लो। क्योंकि जैसे बिना नेमि (पुट्ठी) का चक्र (पहिया) स्थिर नहीं रह सकता इसी प्रकार वैराग्य के बिना कोरे ज्ञान में अज्ञान को नष्ट करने का सामर्थ्य नहीं होता।।१।।

जैसे कि शूद्र के वेदोक्त संस्कार नहीं होते, बालू में तेल नहीं निकलता, हथेली पर केश नहीं उपजते, इसी प्रकार रागी (अर्थात् विषयकर्दम में फँसे) पुरुषों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। (इसलिए वैराग्य सब से आवश्यक होता है)।।२।।

वैराग्य (विषयों से विमुखता) दो प्रकार की होती है उसके सूक्ष्म भेद को समझ लो। एक 'जिज्ञासामुख्य' वैराग्य होता है, दूसरे को 'जिहासामुख्य' कहा जाता है।।३।।

जिहासा संसृतेर्ब्रह्मजिज्ञासेति द्वयं मुने।
एकमेव तथाप्यस्ति विशेषः कश्चिदत्र हि।।४।।(४३)
राज्यभ्रष्टा दीर्घरोगाः पराधीना हतश्रियः।
ये विरक्तास्तपस्यन्ति जिहासामुख्यमेव तत्।।५।।(४४)

जिहासाजिज्ञासयोर्विषयभेदः अवगन्तव्यः। इदानीं तयोः अपि भेदं निरूपयितुं तत्र विशेषं दर्शयति **द्वयमिति। द्वयं** द्वितयमपि एकमेकैकमेव इत्यावृत्तिरेकैकरूपमपीत्यर्थः। **तथापि** उभयत्र एकैकधा प्रतीतौ अपि इत्यर्थः। **कश्चिद् विशेषः** किञ्चिद् वैलक्षण्यम्, **अत्र** द्विविधवैराग्ये, **अस्ति** विद्यते, **हि** इति प्रसिद्धिद्योतकेन इदं विशेषभानं विदुषां प्रसिद्धमेव इति सूचितम्।।४।।(४३)

तत्रोभयत्राऽपि मन्दमध्योत्तमभेदेन त्रैविध्यमस्ति, तेषु अपि प्रथमतो मन्दं जिहासामुख्यं सोदाहरणं लक्षयति **राज्येति। राज्यभ्रष्टा** राज्यात् च्युताः, पुनाराज्याप्राप्तिं कारणैः निश्चित्य, **दीर्घरोगा** जन्मत आरभ्य मरणपर्यन्तं स्वशरीरे निश्चितरोगाः, **पराधीना** मरणपर्यन्तं स्वपराधीनत्वनिश्चया, **हतश्रिय** गतसंपत्तिकाः पुनस्तत्प्राप्त्यभावनिश्चया, एतदादिकारणैः **ये** पुरुषा **विरक्ता** विषयभोगवितृष्णा सन्तः, **तपस्यन्ति** एतादृशं जन्म मा भूद् इतोऽपि उत्कृष्टं स्वाधीनसर्वसंपत्तिकं जन्म स्याद्, यस्मिन् एतानि दुःखानि न स्युः इति इच्छया तपः कुर्वन्ति, **तद्** इह जन्मनि प्रतीयमानं यद् विषयवैतृष्ण्यं, तत्त्यागेच्छामूलकत्वात् **जिहासामुख्यमेव** त्यागेच्छाप्रधानमेव, ज्ञेयमिति शेषः। अस्य च जन्मान्तरीयभोगहेतुकत्वाद् अधमत्वमिति भावः।।५।।(४४)

इदानीं सोदाहरणम् अधमं जिज्ञासामुख्यं लक्षयति द्वाभ्याम् **आधीति। आधिव्याधिभयोद्वेगपारतन्त्र्यादिवर्जिता** आधिः मानसं चिन्तादिजन्यं दुःखं, व्याधिः देहदुःखं ज्वरादिजन्यं, भयं भीतिः उद्वेगः चित्तास्थैर्यजन्यः क्लेशः, पारतन्त्र्यं पराधीनता, इत्यादिभिः दुःखैः वर्जिता रहिता। **ये धीरा** ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्ना दुःखाद्यनुद्विग्नाश्च सन्तः, **मुक्तिं** मोक्षम्, इच्छन्ति तेषां तद्वैराग्यं जिज्ञासामुख्यमेव ज्ञानेच्छामुख्यमेव ज्ञेयम् इति उत्तरेणान्वयः। एतद्वैराग्यवत उदाहर्त्तुं तच्छ्रवणे शिष्यम् अभिमुखी करोति **शृण्विति। तेषाम्** उक्तलक्षणानां

हे मुने! 'संसार को छोड़ने की इच्छा' और 'ब्रह्म को जानने की इच्छा' ये दोनों बातें एक ही हैं तो भी इनमें कुछ भेद है।।४।।

राज्य छिन जाने पर, आजीवन रोगी हो जाने पर, किंवा पराधीनता आ पड़ने पर अथवा सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर विषयभोगों से विरक्त होकर जो लोग तप करने लगते हैं (और चाहते हैं कि ऐसा कष्टकारक जन्म कभी न मिले, प्रत्युत ऐसा हो कि जिसमें सकल सम्पत्तियाँ हाथ बाँध कर हमारी इच्छा से नाचा करें, जिसमें ऐसे दुःखों का लेश भी न हो) उनका ऐसा वैराग्य जिहासामुख्य वैराग्य कहाता है। (इसको अधम वैराग्य जानना चाहिये क्योंकि इससे दूसरे जन्म में भोगों की प्राप्ति होकर ही रहती है)।।५।।

आधिव्याधिभयोद्वेगपारतन्त्र्यादिवर्जिताः।
ये धीरा मुक्तिमिच्छन्ति शृणु तेषामयं क्रमः।।६।।(४५)
कामधेनुर्गृहे येषां निवासो नन्दने वने।
कश्यपाद्यास्तपस्यन्ति जिज्ञासामुख्यमेव तत्।।७।।(४६)
आधिव्याधिभयोद्वेगपारतन्त्र्यादिपीडिताः।
ये जीवा मोक्षमिच्छन्ति जिहासामुख्यता तु सा।।८।।(४७)

जिज्ञासामुख्यवैराग्यवताम्, **अयं** मद्वाक्स्थितः मत्प्रत्यक्षः, **क्रमो** मन्दजिज्ञासावैराग्यवत्त्वबोधक आचारः, कथ्यते उत्तरश्लोके तं **शृणु** श्रुत्वा चावधारय तदाचारे ज्ञाते तेषु स्थितमन्द-जिज्ञासामुख्यवैराग्यज्ञानं स्यादिति भावः।।६।। (४५)

तदेव उदाहरति **कामधेनुरिति। येषां** कश्यपादीनां **गृहे** मन्दिरे **कामधेनुः** सर्वकामदोग्ध्री गौः सुरभिः, अस्ति। **येषां** कश्यपादीनां **निवासः** वसन्ति अस्मिन् इति निवासः गृहं, **नन्दने वने** नन्दननाम्नीन्द्रवने, अस्ति। सर्वभोगप्राप्तिकारण-कामधेनुप्राप्तौ सर्वे कल्पतरवः सर्वकामपूरका यत्र सन्ति तत्रैव वासप्राप्तौ सत्यामपि सर्वभोगसुखे सत्यपि नन्दनादेत्य **कश्यपाद्या** ऋषयो, वैराग्यपूर्वकं **तपस्यन्ति** तपः कुर्वन्ति, इदमेव अधमं **जिज्ञासामुख्यं** वैराग्यमिति भावः।।७।। (४६)

एवं मन्दजिहासामुख्यजिज्ञासामुख्ययोः वैराग्ययोर्भेदं प्रदर्श्य, मध्यमयोः तयोः भेदज्ञानाय वैलक्षण्यं प्रदर्शयति त्रिभिः। तत्र प्रथमतो मध्यमं जिहासामुख्यं लक्षयति एकेन **आधीति। आधि-व्याधि-भय-उद्वेग-पारतन्त्र्यादि-पीडिताः** आध्यादीनामर्थ उक्त एव तैः पीडिताः पीडां प्राप्ताः सन्तः **ये** केचित्, **जीवा, मोक्षं** संसारदुःखात् मुक्तिम्, **इच्छन्ति** अभिलषन्ति, **सा तु** विरक्तता। तुपदेन पूर्वोक्तजिहासामुख्यवैराग्यात् मुक्तीच्छारहितात् मुक्तीच्छाजनकत्वरूपं वैलक्षण्यमत्र सूचितम्। **जिहासामुख्यता** अस्ति जिहासायाः त्यागेच्छाया, मुख्यता प्राधान्यं, यस्यां विरक्ततायां, सा तथोक्ता अतोऽस्य वैराग्यस्य मध्यमत्वमिति भावः।।८।।(४७)

जिन लोगों ने मानसी व्यथा, शारीर कष्ट, भय, चित्त की अस्थिरता तथा कष्टकारिणी पराधीनता को कभी भी अनुभव नहीं किया, जो धीर (अर्थात् ब्रह्मचर्यादि साधनों से सम्पन्न) हैं, ऐसे लोग जब मुक्ति को चाहने लगते हैं उन लोगों का आचार जिस प्रकार होता है वह हमसे सुनो।।६।।

जिनके घर में कामधेनु बँध रही है तथा नन्दनवन में जिनका निवास है, ऐसे सम्पन्न कश्यप आदि ऋषिगण भी जब तप करने लगते हैं, तब वह उनका जिज्ञासामुख्य वैराग्य होता है।।७।।

आधि, व्याधि, भय, उद्वेग और पराधीनता आदि से पीडित होकर जो जीव मुक्ति चाहने लगते हैं, तब यह वैराग्य (मध्यम) जिहासामुख्य वैराग्य कहलाता है, (क्योंकि इसमें त्यागेच्छा की प्रधानता रहती है)।।८।।

मानुष्यं दुर्लभं प्राप्तं सच्छास्त्रैः संस्कृता मतिः।
यदि न ब्रह्मविश्रान्तिः तदस्माभिः किमर्जितम्।।६।।(४८)
इत्येवं व्यवसायेन ह्याकाशफलपातवत्।
जिज्ञासयन्ति ये धीरा जिज्ञासामुख्यता तु सा।।१०।।(४६)
विरोचनः कार्त्तवीर्यो बलिः श्रीराघवादयः।
विरक्ता राजलीलायां ते हि तत्र निदर्शनम्।।११।।(५०)

जिज्ञासामुख्यं मध्यमं वैराग्यं लक्षयति द्वाभ्याम् **मानुष्यमिति। दुर्लभं** दुःसाध्यं, बहुपुण्यैः प्राप्यमित्यर्थः। **मानुष्यं** मनुष्यजन्म, **प्राप्तं** लब्धं, तत्रापि **सच्छास्त्रैः** वेदान्तानुकूलैः शास्त्रैः, सह वेदान्तैरित्यर्थः। **मतिः** बुद्धिः, **संस्कृता** सूक्ष्मा जाता, **यदि** अथापि यर्हि, **ब्रह्मविश्रान्तिः** अपरिच्छिन्नानन्दे चित्तस्थैर्यं, **न** न स्यात् चेत् **तत्** तर्हि **अस्माभिः किमर्जितं** किं संपादितं, न किमपि इत्यर्थः मिथ्यात्वात् सर्वस्येत्यर्थः।।६।।(४८)

इतीति। इत्येवं एवं प्रकारेण, **व्यवसायेन** निश्चयेन, **आकाशफलपातवत्** काकतालीयन्यायेन इत्यर्थः। **हि** प्रसिद्धम् एतद् वासिष्ठादौ इत्यर्थः। **धीराः** साधनसंपन्ना सन्तः, **ये** रामादयः, **जिज्ञासयन्ति** जिज्ञासां कुर्वन्ति। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्। **सा** तेषां विरक्तता, **जिज्ञासामुख्यता** ज्ञानेच्छाया मुख्यता यस्यां सा तथा ज्ञेयेति शेषः।।१०।।(४६)

एतद्वैराग्यवतोऽपि उदाहरति **विरोचन इति।** विरोचनः दैत्यः बलेः पिता, **कार्त्तवीर्यः** कृतवीर्यस्य राज्ञः पुत्रः, सहस्रार्जुन इत्यर्थः। **बलिः** विरोचनपुत्रः दैत्यः, **श्रीराघवादयः** श्रीराघवः रामचन्द्रः तदादयः तत्प्रभृतयः, पुराणेषु प्रसिद्धा बहवः सन्ति, **राजलीलायां** सहजेऽपि राजकर्मणि, दुःखरहितेऽपि प्रजापालनादिरूपे कर्मणि इत्यर्थः। **विरक्ता** उदासीनाः स्थिता इति शेषः। **ते हि** प्रसिद्धाः ते, **तत्र** मध्यमजिज्ञासामुख्यवैराग्ये **निदर्शनम्।** निदर्श्यते प्रदर्श्यते अनेन इति तद् उदाहरणमित्यर्थः। करणे ल्युड् ज्ञेयमिति शेषः।।११।। (५०)

दुर्लभ मनुष्य-शरीर भी प्राप्त किया, वेदान्तादि सच्छास्त्रों के परिशीलन से बुद्धि को सूक्ष्म (संस्कृत) भी कर डाला, इतने पर भी यदि (निरवधि आनन्दरूप) ब्रह्म में चित्त की स्थिरता न हुई तो हमने क्या कमायाइस प्रकार के निश्चय से, आकाश से अचानक फल गिरने के समान जब कोई धीर जीव अकारण ही जिज्ञासा करने लगते हैं, तब उनका वह वैराग्य (मध्यम) जिज्ञासामुख्य वैराग्य कहलाता है।।६-१०।।

बलि का पिता दैत्य विरोचन, कृतवीर्य राजा का पुत्र सहस्रार्जुन, विरोचन का पुत्र दैत्य बलि तथा श्रीरामचन्द्र आदि अपने-अपने राजकाज को उदासीन रहते हुए भी सम्पादन करते थे, ये लोग मध्यम जिज्ञासामुख्य वैराग्य के उदाहरण हैं।।११।।

तीव्रात् संसारवैराग्याद् ब्रह्मजिज्ञासनं यदि।
वैराग्यं पुण्यजीवानां जिहासामुख्यमेव तत्।।१२।।(५१)
ब्रह्मजिज्ञासया तात तीव्रया यो विधीयते।
विरागो दृश्यभावेषु जिज्ञासामुख्यमेव तत्।।१३।।(५२)
सहजं यस्य वैराग्यं का वाच्या तस्य मुख्यता।
अथ दोषाः प्रदर्श्यन्ते वैराग्यं दोषदर्शनात्।।१४।।(५३)

एवं मध्यम-जिहासामुख्य-जिज्ञासामुख्यवैराग्ये दर्शयित्वा, उत्तमे ते दर्शयति द्वाभ्यां, तत्रादौ उत्तमं जिहासामुख्यं दर्शयति **तीव्रादिति। तीव्राद्** वेगवत्तरात्, **संसारवैराग्यात्,** संसारे वैराग्यं प्राप्य इत्यर्थः **यदि** यर्हि, **ब्रह्मजिज्ञासनं** ब्रह्मज्ञानेच्छा केवलं स्यात्, तत्, **वैराग्यं पुण्यजीवानां** तद् बहुपुण्यैः जीवानां जायते परन्तु **जिहासामुख्यमेव** जिहासैव मुख्या यत्र तत् तथा ज्ञेयमिति शेषः।।१२।।(५१)

उत्तमं जिज्ञासामुख्यं वैराग्यं दर्शयति **ब्रह्मेति।** हे **तात यो विरागः** यद् वैराग्यं, **दृश्यभावेषु** द्रष्टव्यपदार्थेषु **तीव्रया** दृढया, **ब्रह्मजिज्ञासया** ब्रह्मज्ञानेच्छया, **विधीयते** क्रियते, **तत्** वैराग्यं, **जिज्ञासामुख्यमेव** जिज्ञासैव मुख्या यत्र तत्तथा, जिज्ञासाया एव प्रथमत उत्पन्नत्वादिति भावः।।१३।।(५२)

अथ सप्तमं पूर्वषड्वैराग्यविलक्षणं वैराग्यमाह अर्धेन **सहजमिति। यस्य** अधिकारिधुरीणस्य, उत्तमाधिकारिण इत्यर्थः। **सहजं** स्वाभाविकं न तु दोषदृष्टिजनितं सर्वत्र आत्मदर्शनाद्, गुणदोषदृष्टिरहितत्वात् च। दोषदृष्टिरहितत्वात् जिहासामुख्यं न प्राप्तस्वरूपत्वात् स्वाभाविकं सर्वत्र आत्मदृष्टिरूपं यद् वैराग्यमस्ति तस्य **का मुख्यता** जिहासा-जिज्ञासयोः मध्ये कस्य प्रधानता, **वाच्या** वक्तव्या, न कयोः अपि इत्यर्थः। अत एव पूर्वोक्तषड्वैराग्येभ्य इदं श्रेष्ठं विलक्षणं च इति भावः। एवं सप्तविधं वैराग्यं सलक्षणमभिधाय इदानीं तस्य दोषदर्शनजन्यत्वात् तज्जननार्थं दोषप्रदर्शनं प्रतिजानीते सार्धेन **अथेति। अथ** वैराग्यभेदप्रदर्शनानन्तरं **प्रदर्श्यन्ते** प्रदर्शयित्वा निरूप्यन्ते इत्यर्थः।।१४।।(५३)

संसार में अतिप्रबल वैराग्य हो जाने पर (निराश्रय होकर) जब जीव ब्रह्मज्ञानेच्छा करने लगता है, पुण्यशाली जीवों का वह वैराग्य उत्तम जिहासामुख्य वैराग्य कहलाता है।।१२।।

हे तात! तीव्र ब्रह्मजिज्ञासा से दृश्य पदार्थों में जो वैराग्य उत्पन्न होता है, वह उत्तम प्रकार का जिज्ञासामुख्य वैराग्य कहलाता है।।१३।।

परन्तु जिस उत्तम अधिकारी को (सर्वत्र आत्मदर्शन के कारण) स्वभाव से ही भोगों में वितृष्णा हो गई हो वह वैराग्य तो उन दोनों प्रकार के वैराग्यों का ललामभूत है। क्योंकि विषयों के दोषों का प्रदर्शन ही वैराग्य को उत्पन्न किया करता है, इसलिए अब अगले प्रकरण में संसार के दोषों का निरूपण किया जाता है।।१४।।

कथयामि समासेन सावधानमनाः शृणु।
असमञ्जसतां साधो समारभ्य शरीरतः।।१५।।(५४)

इति श्रीबोधसारे वैराग्यपीठिकाबन्धे वैराग्यविवेचनं प्रकरणम्।।

अथ कायविडम्बना

यं भूषयन्ति कनकैर्वसनैश्चन्दनैरपि।
अविचारत एवायं कायो रम्यत्वमागतः।।१।।(५५)

कथयामीति। हे **साधो** वैराग्यादिसाधनसंपादक **शरीरतः** शरीरात् **समारभ्य** प्रारभ्य सर्वविषयेषु **असमञ्जसतां** दोषरूपत्वं **समासेन** संक्षेपेण **कथयामि** निरूपयामि त्वं **सावधानमनाः** स्थिरचित्तो भूत्वा इत्यर्थः, शृणु अवधारय।।१५।।(५४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ वैराग्यपीठिकाबन्धार्थप्रकाशे वैराग्यविवेचनार्थप्रकाशः प्रथमः।।

एवं वैराग्यं विविच्य दर्शयित्वा प्रतिज्ञातान् विषयदोषान् दर्शयिष्यन् प्रथमतः शरीरदोषान् दर्शयितुं कायविडम्बनाख्यं प्रकरणमाह नवभिः। तत्र तावत् शरीरे रम्यताप्रतीतिः अन्यद्रव्यकृता, न तु स्वतो रम्यत्वं शरीर इत्याशयेनाह **यमिति।** लोकाः **कनकैः** सौवर्णालङ्कारैः, **वसनैः** वस्त्रैः, कञ्चुकोष्णीषादिभिः। **चन्दनैरपि** चन्दनादिसुगन्धितद्रव्यैश्च, **यं** देहं, **भूषयन्ति** भूषणैः वस्त्रैश्च अलङ्कुर्वन्ति, चन्दनादिभिः सुगन्धयन्तीति विवेकः। यदि देहे स्वतो रम्यत्वं स्यात् तर्हि भूषणादिधारणं व्यर्थं स्यात् तथा यदि सुगन्धित्वं स्यात् तर्हि चन्दनादिलेपनं व्यर्थं स्याद्, अरम्यत्वमेव स्वतो देहे तत्तिरस्कारार्थं भूषणादिधारणं, तथा दुर्गन्धित्वं स्वतो देहे तद्दूरीकरणाय चन्दनादिना लेपः क्रियते। अतः अरम्यत्वं प्रत्यक्षमेव। तथापि **अविचारत एव** केवलम् अविवेकेन एव, **अयम्** अरम्यतया प्रत्यक्षः, **कायः** शरीरं, **रम्यत्वं** सुन्दरतत्वम्, **आगतः** प्राप्तः, सुवर्णवस्त्रादीनां सुन्दरत्वं, चन्दनादीनां सुगन्धित्वम्, अरम्ये दुर्गन्धिस्वभावे देहे आरोप्य तस्य अरम्यत्वं दुर्गन्धित्वं च तिरस्कृत्य अयमेव देहो रम्यः सुगन्धरूप इति प्रतीतिः अस्ति, सा भ्रान्तिमात्रमिति भावः।।१।।(५५)

हे साधो! शरीर से लेकर जिस-जिस विषय में जो-जो दोष भरे पड़े हैं, उनको संक्षेप से निरूपण करता हूँ, स्थिरचित्त होकर तुम उन सबको सुन लो।।१५।।

इस शरीर को सोने के आभूषणों से, कपड़ों से, और चंदन से, सजाना पड़ता है। तो फिर इससे यह सिद्ध तो हो ही गया कि यह शरीर अविचार की महिमा से ही रम्य प्रतीत हुआ करता है। संसार के पामर लोगों को यह मनुष्य देह सोने आदि नाना प्रकार के आभूषणों और पगड़ी, दुपट्टा, कुरता, टोपी, आदि नाना प्रकार के रंग-बिरंगे कपड़ों से सजाना और चन्दन तेल अत्तर आदि अनेक सुगन्धित पदार्थों से सुगन्धित करना पड़ता है। यदि देह में स्वभाव से रम्यता और सुगन्ध होती तो इसे गहने और कपड़ों से सजाने या चन्दनादि लेपन से सुगन्धित करने की क्या आवश्यकता होती! वस्तुतः तो इस नग्न देह की अरमणीयता को छिपाने के लिये भूषण वस्त्रादि धारण

अस्य क्रव्यादभक्ष्यस्य कृशानोरिन्धनस्य च।
परिणामकृशस्यैव केन कायस्य रम्यता।।२।।(५६)
कलेर्वरमिदं स्थानं विग्रहो मूर्त्तिमानसौ।
पञ्चभूतनिवासोऽयं कथं तत्र सुखी भवेत्।।३।।(५७)

इदानीम् अरम्यत्वमेव देहस्य स्पष्टम् आह **अस्येति। क्रव्यादभक्ष्यस्य** क्रव्यादा मांसाहारिणो जीवा व्याघ्रादयः तेषां भक्षितुं योग्यस्य, **कृशानोरिन्धनस्य च** अग्नेः काष्ठादिवद् दाह्यस्य, एताभ्यां मांसादिरूपत्वेन दाहसमये अनुभूयमानदुर्गन्धित्वेन च अरम्यता स्पष्टैव इति ज्ञापितं जाड्यरूपत्वेन च **परिणामकृशस्यैव** ज्वरादिभिः मध्ये मध्ये वृद्धत्वेन च अन्ते दुर्बलस्यापि, एतेन कृशावस्थायाम् अरम्यत्वं दुर्गन्धित्वं च स्पष्टमेव इति ज्ञापितमिति ज्ञेयम्। **अस्य कायस्य** उक्तलक्षणस्य शरीरस्य,**रम्यता** सुन्दरत्वं, स्नेहास्पदत्वं। **कैव** किंविषया, न कापीत्यर्थः।।२।।(५६)

ननु सुखभोगाश्रयत्वेन स्नेहास्पदत्वमस्ति अतो रम्यत्वमित्याशङ्क्य तन्नामनिरुक्त्या तदभावं दर्शयति **कलेरिति। इदं** शरीरं, **कलेः** कलहस्य अधर्मबहुलस्य कालस्यापि, **वरं** श्रेष्ठं, **स्थानं** स्थीयतेऽस्मिन् इति स्थानं, गृहं दुर्गं च। यथा सार्वभौमस्य सर्वा पृथिवी स्थानमपि निजाभिमानविषयं गृहं दुर्गं वा क्वचिद् देशे वर्तते, तत्र तत्स्थितिः नित्यं दृश्यते। तथा कलहकलिकालयोः अपि सर्वब्रह्माण्डव्याप्तयोः शरीरे स्वीयाभिमानेन नित्यं स्थितिःज्ञेया, अतः किञ्चित्कालं स्थितयोः क्वचिद् देशे तयोः दुःखहेतुत्वं दृष्टं तत्कुतः तयोः नित्यस्थाने देहे सुखाशङ्का इति भावः। पुनश्च किया जाता है और स्वभाव से दुर्गन्धपरिपूर्ण इस देह के दुर्गन्ध को छिपाने के लिये चन्दनादि-लेपन किया जाता है। इस विवेचन से इसकी अरम्यता और दुर्गन्ध प्रत्यक्ष ध्यान में आ ही जाते हैं। इस अरमणीयता और दुर्गन्ध के इतने प्रत्यक्ष होने पर भी अविवेकी लोग इस देह को सजाने के लिये उधार ली हुई सुन्दरता और उधार लिये हुए सुगन्ध को स्वभावतः कुरूप तथा दुर्गन्धसे परिपूर्ण इस देह में आरोपित करके इसे ही रमणीय और सुगन्धी मान बैठते हैं। यों प्रतिदिन अपने आपको और संसार को धोखा दिया करते हैं।।१।।

हिंसक पशुओं के भक्ष्य, अग्नि के ईंधन, तथा बुढ़ापे में कमजोर (जर्जर) हो जाने वाले इस देह में सुन्दरता कहाँ है, सो ही समझ में नहीं आता। जीते हुए इसको जंगली जानवर फाड़ डालते हैं, और मरने पर इसको चील कव्वे गिद्ध आदि नोच खाते हैं, तथा अग्नि जला डालती है, जीवनकाल में रोगों से और अन्त में बुढ़ापे से जब यह शरीर दुर्बल हो जाता है, तब इसकी अरम्यता और दुर्गन्ध स्पष्ट दीख पड़ती है। हमें तो इसकी रम्यता खोजे भी नहीं मिलती। परन्तु संसार के विचारहीन लोगों के विषय में क्या कहा जाय! वे तो इसे फिर भी रम्य माने ही बैठे हैं।।२।।

कारागृहं गर्भवासो बाल्यं केवलमूढता।
तत्रापि दुःसहात्यन्तं पराधीनतया स्थितिः।।४।।(५८)
कामबाणैर्यत्र पीडा कामिनीविरहज्वरः।
पुष्कला पापसंपत्तिः यौवनं विपदां वनम्।।५।।(५९)

असौ देहः, **मूर्त्तिमान्** आकारवान्, **विग्रहः** युद्धं, सर्वभूतानां भौतिकानाम् इन्द्रियाणां च परस्परं विरुद्धस्वभाववत्त्वेन तेषां च कार्यत्वात् देहस्य विग्रहरूपत्वमिति भावः। किञ्च **अयं** देहः, **पञ्चभूतनिवासः** पञ्चभूतानां निवासो वसतिः यस्मिन् स, गृहमस्ति, यत्र यत्र युद्धं भूतप्रवेशश्च जायते तत्र तत्र सुखं न भवति इति प्रत्यक्षमतः सर्वदा विग्रहरूपे पञ्चभूतनिवासे च देहे कुतः सुखाशङ्का इति भावः **तत्र** देहे, **कथं सुखी भवेत्** न कथमपि इत्यर्थः।।३।। (५७)

ननु देहे सर्वदा सुखं मास्तु तथापि गर्भवासे सर्वबाह्योपाध्यभावात् तत्र सुखं स्यादिति तत्रैव वासः सर्वप्रयत्नैः साध्यः शुकेनापि गर्भे द्वादशवर्षं स्थितम् अत एवेति पुराणप्रसिद्धेः इत्याशङ्क्य तत्रापि दुःखसत्त्वे हेतुमाह **कारागृहमिति। गर्भवासः** मातुः उदरे वासः स्थितिः, **कारागृहं** कारा बन्धनं तस्य, गृहं शाला अस्ति बन्धनहेतुत्वात्, तत्रापि न सुखमिति भावः। ननु गर्भस्थशरीरे सुखं मास्तु बालत्वे तु स्नेहः सर्वैः क्रियते अतः तत्र सुखं स्यादिति तदेव सर्वदा सर्वप्रयत्नैः संपाद्यमित्याशङ्क्य तत्रापि तदभावहेतुं दर्शयति **बाल्यमिति। बाल्यं** बालत्वं, **केवलमूढता** केवलम् अत्यन्तं मूर्खत्वमेव। तद्दुःखहेतोः अज्ञानस्य तत्र सत्त्वात् सुखहेतोः ज्ञानस्य चात्यन्ताभावाच्च अत्यन्तं दुःखास्पदमेव बाल्यमिति भावः। किञ्च **तत्रापि** अतिदुःखहेतौ अपि बाल्ये **पराधीनतया** आहार-विहारादिषु अस्वाधीनतया, **स्थितिः** स्थानम्, **अत्यन्तं** अतिशयं **दुःसहा** सोढुमशक्या, इदं दुःखं तु सार्वजनीनानुभवविषयमिति भावः।।४।।(५८)

ननु युवावस्थायां शरीरे सर्वकार्ये च स्वातन्त्र्यात् सर्वविषयभोगजन्यसुखसत्त्वात् च तदेव साध्यमित्याशङ्क्य तत्रापि तदभावहेतुनिरूपणपूर्वकं तदसत्त्वं दर्शयति **कामबाणैरिति। यत्र**

यह शरीर कलि (कलियुग और काल) का अत्यन्त प्रिय निवास स्थान तथा शरीरधारी विग्रह है (अर्थात् परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले भूत तथा भौतिक इन्द्रियों से यह देह बना हैइनमें परस्पर विग्रह, खींचातानीबनी ही रहती है) साथ ही यह शरीर पाँच भूतों का निवास स्थान है, ऐसे इस देह में कैसे कोई सुखी रह सकता है (जब कि एक भूतवाले स्थान में भी निवास दुःखदायी हो जाता है फिर पाँच भूतों के समूह में सुख कहाँ?)।।३।।

माता के उदर में (नौ मास तक) निवास पूरा कारावास है (वहाँ सुख की आशा कहाँ?) बालकपन केवल मूर्खतापूर्ण होता है (बालकपन में दुःख का मूल कारण अज्ञान बना रहता है, सुख का हेतु ज्ञान वहाँ सर्वथा नहीं होता, इस प्रकार अति दुःखदायक तो है ही) साथ ही वहाँ खाने पीने खेलने-कूदने में भी पराधीनता होने से वह अवस्था और भी असहनीय हो जाती है।।४।।

उन्नताऽनततां यातो जराक्षारविधूसरः।
पुराणकूष्माण्डसमः कायो वृद्धस्य गर्हितः।।६।।(६०)
मरणस्य तु किं वाच्यं मृत्युदूतभयं ततः।
नरके तु महद्दुःखं स्वर्गे पतनजं भयम्।।७।।(६१)

युवदेहे, **कामबाणैः** कामस्य मनोभावस्य, बाणैः मोहनादिभिः बाणसदृशैः विकारैः। **पीडा** दुःखं, भवतीति शेषः। किञ्च **कामिनीविरहज्वरः** कामिनीनां कामवतीनां स्त्रीणां, विरहेण अप्राप्तिजन्यदुःखेन, ज्वरः सन्तापः, भवति यौवने। किञ्च यौवने **पुष्कला** बह्वी, **पापसंपत्तिः** सर्वदुःखकारणभूतपापनिष्पत्तिः, जायते; अतः **यौवनं** युवावस्था **विपदां** दुःखवृक्षाणां, **वनं** समूह एव, कुतः सुखाशङ्का तत्रेति भावः।।५।।(५९)

ननु जरावस्थायां कामाद्यभावात् पुत्रादिभिः आदरणीयत्वात् च सुखमस्तु इत्याशङ्क्याह **उन्नतेति। उन्नतानततां** गमने क्रियमाणे उन्नतताम् उच्चत्वम्, आनततां नम्रत्वं च, **यातः** प्राप्तः, कटिदेशे निर्बलत्वेन उन्नमनानमने पीडाजन्ये एवेति भावः। किञ्च **जराक्षर-विधूसरो** वृद्धत्व-निमित्तकक्षारेण धूसरवर्णो भवतीत्यर्थः, क्षारपदेन अत्र तज्जनितं तद्दुःखं लक्ष्यते। किञ्च **पुराण-कूष्माण्डसमः** पुराकूष्माण्डवद्, अन्तर्निःसार इत्यर्थः। **वृद्धस्य** जरिणः **कायो** देहो, **गर्हितः** सर्वजनैः अनादृतः, भवतीति शेषः। सर्वजनकृतानादरजन्यं दुःखं तत्र भवतीति सूचितम्।।६।। (६०)

ननु मरणे सर्वदुःखकारण-देहाद्युपाधिरहितत्वात् सुखं स्याद् इत्याशङ्क्यमानं प्रत्याह **मरणस्येति। मरणस्य तु** मृतेस्तु, **किं वाच्यं** तत्र दुःखं वचनानर्हमेव, सर्वदुःखपरमावधित्वस्य सर्वलोकप्रत्यक्षत्वात्, अनिर्वचनीयत्वात् च न वाच्यं तदिति भावः। ननु मरणानन्तरं सुखं स्याद् इत्याशङ्क्याह **मृत्युदूतेति। ततः** मरणानन्तरं, **मृत्युदूतभयं** मृत्योः यमस्य ये दूताः तेभ्यः भयं भीतिर्जायते अतस्तत्रापि दुःखमस्ति इत्याशयः। तत इति आवर्त्तनीयम्, अनन्तरं, **नरके तु** तुशब्देन उक्तसर्वदुःखेभ्यो नरके **महद्दुःखं** भवतीति सूचितम्। ननु पुण्यकर्मिणां स्वर्गप्राप्तौ तत्र दुःखाभावेन तत्प्रार्थ्यमेव स्याद्

जवान शरीर में कामविकार प्राणी के चित्त को खिन्न रखते हैं, सकामा स्त्री के न मिलने का ज्वर भी रहता ही है। सम्पूर्ण दुःखों के मूल पाप भी यौवन में ही अधिकता से कमाये जाते हैं, इस प्रकार यह यौवन विपद्वृक्षों का एक वन है। (इसमें तो ढूँढे भी सुख नहीं मिलेगा)।।५।।

वृद्ध का शरीर चलते समय ऊँचा-नीचा होता हैऽगमगाता है (जिसे देखकर बालक हँसी उड़ाते हैं)। बुढ़ापे के क्षार से (खुजाये हुए दद्र (दाद) की तरह) धूसर वर्ण तथा पुराने पेठे की तरह (अन्दर से सड़ा हुआ, निस्सार, पोला) हो जाता है, इस प्रकार वृद्ध का शरीर एक नितान्त अनादरणीय पदार्थ होता है।।६।।

उत्तमाधमभावेन तत्राप्यस्ति विडम्बना।
यदि पश्वादियोनिः स्यात् तदा दुःखस्य का कथा।।८।।(६२)
पुनर्जन्म पुनर्मृत्युः पुनर्दुःखं पुनर्भयम्।
न जानाति गतिं जन्तुर्निमग्नो मोहसागरे।।९।।(६३)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे वैराग्यपीठिकाबन्धे कायविडम्बनाख्यं द्वितीयं प्रकरणम्।।२।।

इत्याशंक्याह **स्वर्ग इति। स्वर्गे** इन्द्रादिलोके, तत्तद्विषयसुखे सत्यपि। **पतनजं** पतनाज्जायमानं, **भयं** भीतिः अस्तीति शेषः, भयजनितदुःखसत्वात् तत्रापि तस्य दुःखरूपत्वमिति भावः।।७।।(६१)

भोगकाले अपि स्वर्गसुखे दुःखहेतुं दर्शयति **उत्तमेति। तत्रापि** स्वर्गसुखभोगसमयेऽपि, **उत्तमाधमभावेन** उच्चनीचत्वबुद्ध्या, **विडम्बना** तिरस्कारादिजनितदुःखम्, **अस्ति** वर्तते अतः स्वर्गे सुखं नास्त्येव इति भावः। ननु तर्हि स्वर्गनरकयोः सुखाभावेऽपि अन्यत्रैव गतौ सुखं क्वचित् स्यात् अतः सैव प्रार्थनीया भवेदिति शङ्कामालक्ष्य उभयगत्यभावे तृतीया गतिः, तत्रापि दुःखं दर्शयति **यदीति। पश्वादियोनिः स्याद्** भवेद्, **यदि** यर्हि, **तदा** तर्हि, **दुःखस्य** दुःखसम्बन्धिनी, **कथा** वार्ता, **का** न कापीत्यर्थः। सर्वकार्येषु पराधीनत्वस्य स्पष्टत्वाद् अनन्तत्वाच्च वचनानर्हमिति भावः।।८।।(६२)

ननु मरणानन्तरं पुनर्जन्म नेति नास्तिकमतं श्रुत्वा पुनर्जन्म अस्ति वा न वा इति सन्दिहानं प्रत्याह **पुनरिति। जन्म** जननं, **पुनः** मरणानन्तरं, **स्याद्** भवेत्, **मृत्युः** मरणं **पुनः**जननानन्तरं स्याद्, **दुःखं पुनः** दुःखानन्तरं स्याद् **भयं** मृत्युः **पुनः**जन्मानन्तरं, स्यात्। ननु तर्हि जन्ममरणातीतगतिः कुतो न साध्यते सर्वैः इत्याशङ्क्याह **नेति। जन्तुः** जीवः, **मोहसागरे** मोहो मूलाज्ञानं, तदेव सागर इव अपारत्वात् तस्मिन्, **निमग्नः** तादात्म्याभिमानं प्राप्तः सन्, **गतिं** सर्वप्रपञ्चातीतमोक्षरूपां स्थितिं **न जानाति** अतः तत्साधन आदरं परित्यज्य पुनः पुनः संसारापत्तिकारणानि कर्माणि एव करोतीति भावः।।९।।(६३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ वैराग्यपीठिकाबन्धार्थप्रकाशे कायविडम्बनार्थप्रकाशो द्वितीयः।।२।।

मरने के दुःख का तो वर्णन ही क्या करें (वह तो दुःखों में सबसे बड़ा दुःख किंवा दुःखों की पराकाष्ठा ही है। क्योंकि मरना कोई (कुष्ठ रोगी तक) भी नहीं चाहता है)। मरने के बाद यमदूतों का डर भी तैयार है ही, उसके बाद नरक की घोर यातनायें हैं। यदि किसी पुण्यशाली को भाग्यवश स्वर्ग मिल गया तो वहाँ 'यहाँ से लौटना होगा' यह विचार भी कुछ कम भयकारक नहीं होता।।७।।

स्वर्ग से लौटने के दुःख के साथ-साथ उत्तम मध्यम तथा निकृष्टभाव भी स्वर्ग में है ही। यदि कहीं पश्वादि योनि की प्राप्ति हो जाती है, तब तो दुःख की कुछ हद ही नहीं रह जाती, उनका तो खाना-पीना भी दूसरों के अधीन हो जाता है।।८।।

अथ वृत्तिविडम्बना

क्षत्रधर्मे परा हिंसा याच्ञायां लाघवं महत्।
असत्यमेव वाणिज्ये नानृतात् पातकं परम्।।१।।(६४)
सेवायां परमं कष्टं मृत्कीटस्तु कृषीवलः।
द्यूते सर्वस्वनाशः स्यात् चौर्ये राजभयं महत्।।२।।(६५)

एवं शरीरदोषान् प्रदर्श्य इदानीं तज्जीवनभूतवृत्तिदोषान् प्रदर्शयितुं वृत्तिविडम्बनाख्यं प्रकरणं सार्धद्विश्लोकमाह। तत्र प्रथमं क्षत्रवृत्तेः दोषानाह पादेन **क्षत्रेति। क्षत्रधर्मे** क्षत्रियकर्मणि, **परा हिंसा** उत्कृष्टा हिंसा, अस्ति; अतः अत्र आसक्तिः न योग्या। ननु ब्राह्मणजीविका निर्दोषा इति चेत्। तत्राह **याच्ञायामिति। याच्ञायां** भिक्षावृत्तौ, **महत्** बहु, **लाघवम्** अनादरणमस्ति, अतो अनादरजन्यं दुःखम् असह्यं तत्रेति भावः। तर्हि वैश्यवृत्तौ दोषो न स्याद् इति चेत्? तत्राह **वाणिज्ये** व्यापारवृत्तौ, **असत्यमेव** अनृतमेव, केवलमस्ति। ननु असत्ये दुःखहेतुत्वं न प्रतीयते इत्याशङ्क्याह **अनृतात्** मिथ्यावचनात्, **परम्** अन्यदुत्कृष्टं, **पातकं** पापं, **न** नास्ति, तदेव श्रेष्ठं पापमित्यर्थः दुःखहेतोः पापस्य सत्त्वात् तत्रापि दुःखम् अस्तीत्याशयः।।१।। (६४)

ननु तर्हि शूद्रवृत्तिः श्रेष्ठा चेत्? तत्राह **सेवायामिति। सेवा** शूद्रवृत्तिः तस्यां, **परमम्** उत्कृष्टं, **कष्टं** दुःखं प्रसिद्धमेव अतः शूद्रवृत्तौ अपि आदरो न कार्य इति भावः। कृषिवृत्तौ अपि दोषं दर्शयति **मृदिति। कृषीवलः** कर्षको, **मृत्कीटः** मृदि कीट इव सदा तिष्ठति इत्यर्थः। **तु**पदेन सर्ववृत्तिभ्योऽपि तत्र कृषिवृत्तौ दुःखाधिक्यं सूचितमिति ज्ञेयम्। ननु द्यूतवृत्तिः तर्हि समीचीना स्यात्? तत्राह **द्यूत इति। द्यूते** द्यूतवृत्तौ, **सर्वस्वनाशः स्यात्** स्त्रीधनगृहादिनाशः, स्यात् भवेद्, अतः तत्रापि दुःखमेवेति भावः। चौरवृत्तौ तु तत्प्रसिद्धमेव इत्याशयेनाह **चौर्य इति। चौर्ये** चौरवृत्तौ, **महद्** अतीव, **राजभयं** राज्ञो भीतिः, अस्ति इति शेषः।।२।। (६५)

मरण के अनन्तर जन्म, जन्म के अनन्तर मृत्यु, सुख के अनन्तर दुःख और फिर भय, बस यही तो संसार की गति है। इस अपार मोहसागर में डूबा हुआ जीव परमगति परमात्मा को नहीं पहचान पाता (इससे फिर संसारसागर में ला पटकने वाले ही कर्म किया करता है)।।६।।

क्षात्र धर्म तो हिंसा से भरा हुआ है। माँगने में भी बड़ा अनादर सहना पड़ता है। व्यापार में भी झूठ के बिना काम नहीं चलता, (झूठ बोलना स्वयं चाहे दुःखप्रद न हो परन्तु) झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं है (इसलिए वह भी दुःखरूप ही है)।।१।।

सेवा (करके वृत्ति उपार्जन करने) में भी बड़ा कष्ट है। किसान बिचारा तो मिट्टी का एक कीड़ा ही है, द्यूत में सर्वस्व नाश हो जाता है, चोरी (से जीविका चलाने) में भी राजदण्ड का भय रहता है।।२।।

नाकाशात् पतति द्रव्यं जीविका सुखदा कथम् ।।३।।(६६)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे वैराग्यपीठिकाबन्धे वृत्तिविडम्बनाख्यं तृतीयं प्रकरणम् ।।

अथ कामविडम्बना

चर्वयन्ति महामांसं गते प्राणे पिशाचकाः ।
जीवत् परस्परं मांसं स्त्रीपुंसाश्चतुराननाः ।।१।।(६७)

ननु एताभ्यः षड्वृत्तिभ्यः अन्या काचिद् वृत्तिः आश्रयणीय इत्याशङ्क्याह **नेति। द्रव्यं** सर्वजीविकादानभूतं द्रव्यं धनम्, **आकाशाद्** वियत्तः, **न पतति** न वर्षति, एता वृत्तीः विना न लभ्यते इति भावः। अतो **जीविका** जीवनहेतुभूतं द्रव्यं वस्तुमात्रम् इत्यर्थः। **सुखदा** सुखप्रापिका **कथं** केन प्रकारेण स्यात्, न कथमपि इत्यर्थः।।३।। (६६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ वैराग्यपीठिकाबन्धार्थप्रकाशे वृत्तिविडम्बनार्थप्रकाशः तृतीयः।।

एवं वृत्तिदोषान् प्रदर्श्य इदानीं कामस्यैव सर्वसंसारमूलत्वं 'सोऽकामयत', 'कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता' इत्यादिश्रुतिभ्यः प्रसिद्धम् अतः तत्र आसक्तिनिषेधार्थं तद्दोषान् दर्शयितुं कामविडम्बनाख्यं प्रकरणम् आरभते पञ्चभिः श्लोकैः। तत्र तावद् मनुष्येषु मनुष्यस्वभावमाच्छाद्य पिशाचस्वभावं क्रौर्यादिदोषरूपं पिशाचेभ्यः अपि अतिमलिनं प्रकटयति एवंरूपं कामदोषमाह **चर्वयन्ति इति। पिशाचकाः** पिशाचाः, कप्रत्ययेन कामिपिशाचेभ्यः पिशाचेषु पिशाचत्वं न्यूनमेवेति सूचितम्। ते **प्राणे गते** सति प्राणवियोगे जाते सति, प्रेतानां **महामांसं** पुरुषादिमांसं, स्वयमपि प्राणवियोगे जाते पिशाचत्वं प्राप्य इत्यर्थोऽपि ज्ञेयः। **चर्वयन्ति** खादन्ति, तत्तेषां स्वधर्मत्वान्न क्रौर्यं गणनीयम् इति भावः। तेभ्यः पुरुषेषु कामिषु तदाधिक्यं दर्शयति **जीवदिति। स्त्रीपुंसाः** स्त्रियश्च पुमांसश्च स्त्रीपुंसाः, **परस्परं** मिथुनीभूय, इत्यर्थः। **जीवत्** परस्परं जीवतामेव, परस्परम् अन्योन्यम् इत्यर्थः। **मांसं चर्वयन्ति** खादन्ति। ननु परस्परमांसभक्षणे कृते कुतो न ज्ञायते मन्मासं भक्षति इति? ज्ञाते च कुतो न निवारयन्ति? इत्याशङ्क्याह **चतुराननाः** भक्षणे चतुराणि आननानि मुखानि येषां ते, सर्वप्रयत्नैः संपादितानि प्राणवत् प्रियाणि धनानि एव मांसतुल्यानि वा परस्परदुःख-परिहारादिजीवनादिचिन्तया परस्परं मांसशोषणं भवति तदेव भक्षणमुपचर्यते। भक्षकत्वेऽपि परस्परं भक्षकत्वाप्रतीतिः एव आननानां चातुर्यम् इति विवेकः। मनुष्यत्वं दूरीकृत्य पिशाचत्वं संपादितमित्ययं कामस्य महान् दोषः दर्शित इति ज्ञेयम्।।१।। (६७)

(अगतिक होकर इन ही वृत्तियों) में से किसी एक से निर्वाह करना पड़ता है क्योंकि आकाश से तो द्रव्य बरसता ही नहीं, इसलिये जीविका सुखदायी कैसे हो सकती है!।।३।।

(सुनते आये हैं कि) पिशाच लोग प्राण निकल जाने पर मुर्दे मनुष्य के मांस को खाते हैं। परन्तु संसार के चतुर मुख वाले दम्पती तो एक-दूसरे के जीवित मांस को चबाते हैं (मैथुन से शरीर को पोषण करनेवाला पदार्थ नष्ट होकर दोनों ही रोगी और दुःखी होते हैं। एक-दूसरे के दुःख दूर करने तथा जीविकोपार्जन आदि में भी दोनों का ही मांसशोषण होता रहता है)।।१।।

नृदेहैर्निशि नृत्यन्ति श्मशानेषु पिशाचकाः।
विचित्रैरङ्गविन्यासैः गृहेषु गृहमेधिनः।।२।।(६८)
लिहति स्पृशति भ्रान्तो मुहुर्जिघ्रति खादति।
ग्रामसिंहानुरूपेयं ग्राम्यधर्मव्यवस्थितिः।।३।।(६९)

पुनः अपि तदेव प्रकारान्तरेण दर्शयति **नृदेहैरिति। पिशाचकाः** पिशाचाः, कप्रत्ययार्थस्तु उक्त एव। **नृदेहैः** स्वदेहैः नृत्यं कर्तुं लज्जिता इव मनुष्यशरीराणि धृत्वा इत्यर्थः। तत्रापि **निशि** रात्रौ, तत्रापि **श्मशानेषु** अमङ्गलस्थानेषु, शवदाहदेशेषु **नृत्यन्ति** नृत्यं कुर्वन्ति। **गृहमेधिनः** गृहधर्मेषु हिंसाप्रायेषु शीलं येषां ते तथोक्ताः कामिनः, स्वदेहैः एव दिने रात्रौ च निर्लज्जा भूत्वा **गृहेषु** स्वस्थानेषु, **विचित्रैः** भावहावविशिष्टैः, **अङ्गविन्यासैः** हस्ताद्यङ्गस्थापनैः, नृत्यं कुर्वन्ति, अतः कामिनः पिशाचेभ्यः अपि अतितराम् अविवेकित्वं तत्कामस्यैव दोषजातमिति भावः।२।। (६८)

एवं कामिषु पिशाचचेष्टानुकरणं प्रदर्श्येदानीं श्वचेष्टामपि तेषु दर्शयति **लिहतीति**। यथा श्वा कश्चिद् अन्नमांसचर्मादिपदार्थं दृष्ट्वा **भ्रान्तः** सन् दिशि भ्रममाणः प्रथमतः तं, **स्पृशति** स्पर्शेन निश्चिनोति, **मुहुः** पुनः, तत्र भक्ष्यं वा अन्यत् किञ्चिदिति संदेहे, **जिघ्रति** घ्राणेन निश्चिनोति, तत्रापि संदेहे **लिहति** जिह्वया स्वादु वा अस्वादु निश्चिनोति, ततश्च निःसंदेहं **खादति** भक्षति। एवं श्वस्वभावव्यवस्था दृष्टा एव सर्वैः इत्यर्थः। एवमेव **ग्राम्यधर्मव्यवस्थितिः** कामवतां स्वभावव्यवस्था अपि। सा **इयं ग्रामसिंहानुरूपा** शुनामेव योग्येत्यर्थः। एवं विपरीतस्वभावः कामकृत एवेति भावः।३।। (६९)

विषयेषु दुःखरूपेण सत्सु अपि कामेन भ्रान्तानामेव तेषु सुखरूपत्वनिश्चयो भवति इत्याशयेनाह **कण्डूयनेनेति। कण्डूयनेन** नखादिना घर्षणेन, **कण्डूसुखं** घर्षणजन्यं सुखमिव यत्प्रतीयते, **तत्किं सुखं भवेत्** नैव सुखमित्यर्थः। कुतो न तत्सुखमित्यत आह **यत्र** घर्षणजन्ये सुखे, **पश्चाद्** घर्षणानन्तरं, **महापीडा** महतीव पीडा, दुःखमस्ति। **तथा** तद्वत् **वैषयिकं** विषयघर्षणजन्यं **सुखं** सुखमिव प्रतीयते, परन्तु तद् दुःखमेव नाशरोगचिन्तादिदुःखैः बहुभिः व्यामिश्रत्वाद् विषसंपृक्तान्नं विषमिव तत्सुखं दुःखमेवेति भावः।।४।। (७०)

पिशाच लोग तो दूसरे मृत मनुष्यों के देहों के द्वारा केवल रात में फिर भी एकान्त श्मशान जैसे अमंगल स्थानों पर ही नृत्य करते हैं, परन्तु ये गृहमेधी लोग तो स्वयं अपनी ही देहों से दिन रात निर्लज्ज होकर अपने ही घरों में विचित्र हावभाव पूर्वक नृत्य किया करते हैं (यों कामी लोग तो पिशाचों से भी अधिक अविवेकी होते हैं और यह सब काम का ही प्रताप है)।।२।।

जिस प्रकार कुत्ता इधर उधर घूमकर अपने भक्ष्य को कभी स्पर्श करता है, कभी सूंघता है, कभी चाटता है और अन्त में निःसंदेह होकर खाने लगता है, ठीक यही अवस्था ग्राम्यधर्म (मैथुन) की भी है (यह तो केवल कुत्तों को ही शोभा देनेवाली बात मानी गयी है। यह विपरीत स्वभाव काम का ही किया हुआ है)।।३।।

कण्डूयनेन यत्कण्डूसुखं तत्किं भवेत् सुखम्।
पश्चाद् यत्र महापीडा तथा वैषयिकं सुखम्।।४।।(७०)
नादासक्तं मृगं व्याधः छिनत्ति निशितैः शरैः।
रूपासक्तं नरं नारी रतिच्छुरिकयाऽसकृत।।५।।(७१)

।इतिकामविडम्बना।।

अथ क्रोधविडम्बना

रुधिरं पिबति स्वीयं दिवा तमसि नृत्यति।
भीषयत्यात्मनात्मानं क्रूरः क्रोधी न राक्षसः।।१।।(७२)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे वैराग्यपीठिकाबन्धे क्रोधविडम्बनाख्यं पञ्चमं प्रकरणम्।।

स्त्रीषु तु स्वस्य पुनः पुनः मारकत्वेन अतीव शत्रुरूपत्वे सत्यपि मित्रबुद्धिः तत्र कामकृतभ्रान्त्यैव इत्याशयेनाह **नादेति। व्याधः** मृगयुः। **नादासक्तं** मृगयुकृतगायनलुब्धं, **मृगं** हरिणं, **निशितैः** तीक्ष्णैः, **शरैः** बाणैः **छिनत्ति** भिनत्ति, तत्तु एकवारमेव। **नारी** स्त्री,**रूपासक्तं** स्वरूपलुब्धं, **नरं** पुरुषं, **रतिच्छुरिकया** रतिःमैथुनमेव छुरिका क्षुरः तया, **असकृत्** नित्यमेव, छिनत्ति इति, अहो व्याधादपि क्रूरत्वं स्त्रीणामतीव इति भावः।।५।। (७१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ वैराग्यपीठिकाबन्धार्थप्रकाशे कामविडम्बनार्थप्रकाशः चतुर्थः।।

एवं कामदोषान् प्रदर्श्य इदानीं क्रोधे अतिदुष्टत्वस्य सर्वजनप्रसिद्धत्वात् संक्षेपेण तद्दोषान् प्रदर्शयितुं क्रोधविडम्बनाख्यं प्रकरणमेकश्लोकम् आरभते। राक्षसादपि अतिक्रौर्यं क्रोधवति दर्शयति **रुधिरमिति। क्रोधी** क्रोधवान्, **स्वीयं** स्वकीयं, **रुधिरम्** असृक्, **पिबति** प्राश्नाति, स्वीयदेहेपि निर्दयस्य परदेहे कुतो दयाशङ्का इति भावः। 'स्वापत्यभक्षणं यत्र परापत्येषु का दया' इति न्यायात् राक्षसस्तु परकीयं रुधिरं पिबति न स्वीयम् अतो दयासत्त्वात् कदाचिदपि परदेहेऽपि सा स्याद् इति राक्षसे क्रौर्यन्यूनत्वमिति भावः। किञ्च क्रोधी **दिवा** दिवस एव, **तमसि** अन्धकारे,

खुजली हो जाने पर खुजाने से जो सुख प्रतीत होता है उसे क्या कभी सुख कहा जा सकता है, क्योंकि खुजाने के बाद ही बड़ा भारी दुःख उत्पन्न होता है। ऐसा ही यह विषयघर्षणजन्य सुख है (वह यद्यपि नाश, रोग, चिन्ता आदि दुःखों से परिपूर्ण ही है फिर भी कामी लोग काम के पराधीन होकर इन दुःखरूप विषयों में सुख-बुद्धि कर ही बैठते हैं)।।४।।

शिकारी लोग बाजे के मधुर शब्द में आसक्त हुए मृग को तीक्ष्ण बाणों से सिर्फ एक बार मार डालते हैं, परन्तु कामिनी तो रूप के लोभी पुरुष को रति (मैथुन) रूपी छुरी से प्रतिदिन मारती रहती है (फिर भी कामी लोगों को शत्रुरूप कामिनी में मित्रबुद्धि काम के प्रताप से हो ही जाती है)।।५।।

अथ लोभविडम्बना

न पिशाचा न डाकिन्यो न भुजंगा न वृश्चिकाः।
संभ्रान्तयन्ति मनुजं यथा लोभो धियं रिपुः।।१।।(७३)

नृत्यति नृत्यं करोति, क्रोधिनः प्रकाशरूपेऽपि दिने अन्धकारप्रतीतेः अतीव अविवेकित्वं राक्षसे तु तमसि एव तमः प्रतीतेः अविवेकस्य न्यूनत्वमिति भावः। किञ्च क्रोधी **आत्मना** स्वेनैव, **आत्मानं** स्वं, **भीषयति** भयं प्रापयति, राक्षसस्तु अन्यं भीषयति अतः स्वस्मिन् सदयत्वस्य विद्यमानत्वात् कदाचिद् अन्येषु अपि तत् ततः स्यात्, क्रोधवति तु तदभावात् न तदाशङ्का इति भावः। अतः **क्रोधी** एव **क्रूरः** निष्ठुरतरो **न राक्षसः** राक्षसस्तु क्रूरः न क्रूरतर इति भावः।।१।। (७२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ वैराग्यपीठिकाबन्धार्थप्रकाशे क्रोधविडम्बनार्थप्रकाशः पञ्चमः।।

एवं क्रोधदोषान् प्रदर्श्य इदानीं लोभस्यैव सर्वमोक्षसाधनपरिपन्थित्वात् तस्य दोषान् विस्तरेण प्रदर्शयितुं लोभविडम्बनाख्यं प्रकरणम् एकविंशतिश्लोकम् आरभते, तत्रादौ पिशाचादिभ्योऽपि बुद्धेः अतिभ्रामकत्वं लोभे दर्शयति **नेति। पिशाचाः** प्रेताः **न डाकिन्यो न भुजङ्गाः** सर्पाः, **न, वृश्चिका न,** एते सर्वेऽपि प्रत्येकं मिलिता वा **मनुजं** मनुष्यं, **संभ्रान्तयन्ति** अपि तथा न संभ्रान्तयन्ति। तथा कथं? **यथा** येन प्रकारेण, **लोभः** लोभाख्यः वृत्तिविशेषः, **धियं** बुद्धिं, संभ्रान्तयति तथा, अतः स एव **रिपुः** शत्रुतर इति भावः। मनुष्यपदेन वृश्चिकादीनां मनुष्यत्वबुद्धिमात्रभ्रामकत्वं न तु अन्यजन्मविषयबुद्धिभ्रामकत्वम् अतः तेषु शत्रुत्वं प्रसिद्धमेव न शत्रुतरत्वं, लोभस्य तु केवलबुद्धिमात्रभ्रामकत्वेन जन्मान्तरविषयबुद्धिभ्रामकत्वसिद्धेः शत्रुतरत्वं 'गोश्वौ पशू' इति न्यायादिति भावः।।१।। (७३)

क्रोधी मनुष्य अपना ही रक्त पीता है (राक्षस तो दूसरों का रक्त पीते हैं। उन्हें चाहे कभी दया आ भी जाती हो, पर अपना ही रक्त पीने वाले क्रोधी को दया कहाँ?) क्रोधी दिन में ही क्रोधान्धकार में नाचता है। (क्रोधी को दिन में भी अँधेरा-सा प्रतीत होता है, राक्षस बिचारा तो अन्धकार को ही अन्धकार समझता है) क्रोधी अपने आपको ही डराता है (राक्षस दूसरों को डराते हैं, अपने-आपको नहीं। अपने में दयाशील होने के कारण राक्षस से कभी दया की आशा की भी जा सकती है, परन्तु क्रोधी से कभी नहीं)। इससे यह सिद्ध होता है कि क्रोधी लोग क्रूर होते हैं, राक्षस नहीं।।१।।

पिशाच, डाकिनी, सर्प और वृश्चिक ये सब (पृथक्-पृथक् किंवा मिलकर)। मनुष्य को उतना विचलित नहीं करते जितना कि लोभ बुद्धि को भ्रांत बना देता है (इसलिए लोभ एक बड़ा भारी शत्रु है)। सर्प आदि जब डस लेते हैं तब वे केवल मनुष्य देह में

मेरवो घृतबिन्द्वाभा दुराशादावपावके।
कथं सहस्रलक्षाद्यैः तर्हि तृप्यतु लोभवान्।।२।।(७४)
आनिद्रं प्रातरारभ्य जाग्रति स्वप्नपूर्ष्वपि।
भ्रमन्नो लभते शान्तिं स लोभस्य पराक्रमः।।३।।(७५)
निधानं यक्षसर्पाद्या यदाक्रामन्ति यत्नतः।
न पिबन्ति न खादन्ति तेषां हि गुरवः शठाः।।४।।(७६)

एवं लोभस्य शत्रुत्वं प्रदर्श्य इदानीं शत्रुजयेच्छायां शत्रुजयोपायाः चत्वारः साम-दाम-भेद-दण्डाख्याः सन्ति। तेषु समञ्जसे शत्रौ सामोपयुज्यते, लोभे तु असामञ्जस्येन तस्य अनुपयोगं निश्चित्य दामरूपोपायेन शत्रुं जिगीषुमालक्ष्य शिष्यं गुरुस्तदनुपयोगं दर्शयति **मेरव इति। मेरवः** कनकाचला अपरिमिताः **दुराशादावपावके** विषयाशा एव अरण्याग्निः तस्मिन्, **घृतबिन्द्वाभा** घृतबिन्दुतुल्या भवन्ति इत्यर्थः। तदा **तर्हि लोभवान्** स लोभो यस्मिन् विद्यते स पुरुषविशेषः **सहस्रलक्षाद्यैः** सहस्रलक्षादिसङ्ख्यापरिमितैः द्रव्यैः इति शेषः, कथं **तृप्यतु** तृप्तो भवेत्, न कथमपि इत्यर्थः, अतो दामरूपोपायोऽपि निरुपयोग इति भावः।।२।।(७४)

एवं लोभरूपशत्रुजये सामदामयोः अनुपयोगित्वं प्रदर्श्य अत्र भेदोपयोगं निश्चित्य तस्मिन् बलाबलविचारस्य कर्तव्यतायां तद्बलं दर्शयति **आनिद्रमिति।** अयं जीवः **प्रातरारभ्य** प्रातः जागरणाद् आरभ्य, **आनिद्रं** निद्रापर्यन्तं, **जाग्रति** जागरावस्थायां, **भ्रमन्** भ्रान्तः सन्, **स्वप्नपूर्षु अपि** स्वप्ननगरेषु अपि, अपिशब्दात् मनोरथादौ भ्रान्तः सन्, **शान्तिं** स्थैर्यसुखं, **नो लभते** न प्राप्नोति, तत्कारणं यत्, **स लोभस्य** लोभरूपशत्रोः **पराक्रमः** बलं निश्चेतव्यम्।।३।। (७५)।।

इदानीं मनुष्यत्वं दूरीकृत्य सर्पभूतादिस्वभावजननमपि लोभबलकृतमेव इत्याह **निधानमिति।** ये **यक्षसर्पाद्या** यक्षाः प्रेतादयः, सर्पाद्याः सर्पवृश्चिकादयः। **निधानं** द्रव्यपूर्णं पात्रं, दानभोगा-दुःख उत्पन्न करते हैं अर्थात् केवल एक जन्म में ही हानि पहुँचाते हैं, परन्तु यह लोभ तो बुद्धि को भ्रम में डाल देता है जिससे जन्मजन्मान्तर में भी छुटकारा नहीं होता, इसलिए लोभ तो उन सर्पादियों से भी बड़ा शत्रु है।।१।।

विषयाशारूपी दावाग्नि में सुवर्णमेरु जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी केवल एक घृतबिन्दु के समान तुच्छ (थोड़े से) प्रतीत होने लग जाते हैं फिर भला हजार लाख आदि द्रव्य से लोभी क्योंकर तृप्त हो!।।२।।

यह जो बिचारा जीव प्रातःकाल से लेकर सोने के समय तक तो जागरण अवस्था में भ्रांत होकर, फिर सपने के कल्पित नगरों में घूम-घूमकर भी शान्ति को प्राप्त नहीं होता है, यह सब लोभरूपी शत्रु का ही तो पराक्रम है।।३।।

दानभोगविहीनं च यदेव धनिनो धनम्।
न तु तस्य मुखे धूलिः दीयते भूमिगोपनैः।।५।।(७७)

द्यनुपयोगेऽपि **आक्रामन्ति** आक्रम्य तिष्ठन्ति, **यत्नतः** यत्नेन, **न पिबन्ति न खादन्ति** खानपानाद्युपायेन व्ययं न कुर्वन्ति इत्यर्थः। तेषां मध्ये **शठाः** दानाद्युपयोगरहितधनरक्षका, **गुरवः** श्रेष्ठाः। यद्वा तेषां गुरवः उपदेष्टारः **तेषां** पिशाचादीनां तथा धनरक्षणम् एतस्मात् शिक्षितमिति तेषां न्यूनत्वम् एतस्माद् इति भावः। तेषां पिशाचादीनां ज्ञानाभावे अनुपयोगितया द्रव्यरक्षणं न निन्द्यम् इति ध्वनितं, मनुष्याणां तु तत्सत्त्वेऽपि पिशाचवत् तद्रक्षणं निन्द्यमेव इति पिशाचेभ्योऽपि निकृष्टत्वसम्पादनमिति लोभपराक्रमः सूचितः।।४।।(७६)

इदानीं दानभोगहीनधनरक्षणं व्यर्थमेव इत्याह **दानेति। दानभोगविहीनं** दानाभावात् परलोकहितं न भवति भोगाभावाद् ऐहिकसुखासाधकं च भवति अतः यद् उभयलोकासाधकं, **धनिनः** धनवतो, **धनं** द्रव्यमस्ति। **तु** शब्देन तद् नास्ति एव इति सूचितम्। ननु मरणसमये मुखे सुवर्णादि निक्षिप्यते प्रेतक्रियाश्च कुर्वन्ति पुत्रादयः तदुपयोगित्वात् धनरक्षणम् उचितमेव इत्याशङ्क्याह **नत्विति। तस्य** उक्तलक्षणस्य यक्षवित्तस्य, **मुखे तु** आस्येऽपि **भूमिगोपनैः** भूमिरक्षकैः नृपैः इत्यर्थः। **धूलिः** द्रव्यसमीपवर्त्तिरजोऽपि, द्रव्यकणगमनशङ्कया न **दीयते** दूरे क्रियायां धनस्योपभोगाशङ्का इति भावः।।५।।(७७)

यक्ष, सर्प आदि जिस खजाने पर डटकर बैठे रहते हैं उसे खान-पान में व्यय नहीं करते, उनके गुरु ये लोभी लोग ही हैं (अर्थात् इन लोभियों से ही उन्होंने इस प्रकार धनराशि पर निकम्मा पहरा देना सीखा है)। जिस धनी का धन न तो दान (दकर परलोक) के काम आता है और न भोग (करके इस लोक) के काम में ही लगता है वह उसका कुछ धन न समझना चाहिए, वह तो उसका चौकीदार है। (पुरुष के मरने पर उसके मुख में सोना डालने की परिपाटी के अनुसार) उस धनी के मरने पर राजा लोग (जो कि मरने के अनन्तर उसकी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं) उसके मुख में सोने के बजाय धूल भी तो नहीं डालते।।५।।

मूर्ख मनुष्य ताँबे के बरतन में रखकर धन को क्यों गाड़ता है, पात्र में रक्खा हुआ धन लाभदायक तो होता है किन्तु पहले पात्र की परीक्षा तो कर लो।

लोग कहते हैं 'आपदर्थे धनं रक्षेत्' परन्तु वे इसका अर्थ नहीं समझते। इसका अभिप्राय यह है कि 'धनं रक्षेत् चेत् तद्धनमापदर्थे स्यात्' अगर धन जोड़ोगे तो उससे तुम्हारा नाश होगा, तुम पर आपत्ति आयेगी। अथवा 'धनं रक्षेत् चेत् न संभवति यतः अर्थे आपत् नाशः नियतः' धन जोड़ोगे तो भी वह नष्ट हो ही जायगा। अथवा 'धने आपत्' धन में ही विनाश या बरबादी समायी हुई है। इसलिए धन जोड़ने का सवाल केवल एक बहम है, यह एक भ्रान्त कल्पना है परन्तु बहुत दिनों से चली आने के

मूढस्ताम्रमये पात्रे संस्थापयति किं धनम्।
पात्रे स्थितं धनं भद्रं किन्तु पात्रं परीक्षय।।६।।(७८)
काकविष्ठाधनस्यार्थे कायक्लेशेन भूयसा।
मदान्धा धनिनः सेव्या महतीयं विडम्बना।।७।।(७९)
न लोभस्योपचाराय मणिमन्त्रौषधादयः।
मणिमन्त्रौषधश्लाघी सोऽपि लोभपरायणः।।८।।(८०)

ननु 'आपदार्थे धनं रक्षेद्' इत्यादीनि नीतिवाक्यानि, 'सत्पात्रे स्थापितं द्रव्यं परलोकहितं भवेद्' इति, 'दृढे पात्रे तु निक्षिप्तं धनं भद्रं भवेद्' इत्यादि वाक्यानि पण्डितजनमुखेन श्रुत्वा परलोकाय धनं दृढे ताम्रादिनिर्मितपात्रे निक्षिप्य भूम्यां स्थापयन्ति तद्विहितमेव इति तत्कुतो निन्द्यते इत्याशंक्य; तद्वाक्यतात्पर्यम् अज्ञात्वैव। धनं द्रव्यं रक्षेद् यदि तर्हि तद्रक्षणं तद्धनं वा आपदर्थे स्यात् स्वनाशायैव स्यात्। यद्वा धनं रक्षेत् चेत् रक्षणं न सम्भवति, कुतः! अर्थे धन आपन्नाशः स्यादेव। यद्वा धनं आपन्नाशोऽस्ति अतः तदायासं त्यक्त्वा आत्मानमिति अपकृष्य तमेव रक्षेद् इत्यर्थः। सत्पात्रे तु श्रोत्रियत्वादिगुणविशिष्टे इत्यर्थः। अतः तदेव दृढं; भूमिनिक्षेपणं तु सर्वजगदुत्पत्तिकारणभूम्यां निक्षेपणं 'ब्रह्मार्पणम्' इत्यादिवाक्योक्तमेव विहितम्। इममर्थम् अज्ञात्वा केवलताम्रादिपात्रे द्रव्यनिक्षेपो मौर्ख्यविलसितमेव इत्याशयेनाह **मूढ इति। मूढः** मूर्खः, **ताम्रमये** ताम्रादिरचिते पात्रे भाण्डे, **धनं** द्रव्यं, **स्थापयति** स्थापनं करोति, तत् किं न किमपि तदित्यर्थः। **पात्रे स्थितं धनं भद्रं** सत्पात्रे विद्यमानं द्रव्यं भद्रं सुखाय भवति, तत्सत्यम् उक्तं; किन्तु **पात्रं** सत्पात्रं, **परीक्षय** परीक्ष्य ज्ञातव्यम्, इत्यर्थः।।६।।(७८)

इदानीं मानं शरीरसुखाशां च त्यक्त्वा याच्ञायै भ्रमणं गृहं गृहं प्रति लोभपराक्रमकृतमेव इति दर्शयति **काकविष्ठेति। काकविष्ठाधनस्य** वायसविष्ठातुल्यस्य धनस्य, **अर्थे** निमित्ते, **भूयसा** अधिकेन, **कायक्लेशेन** शरीरजन्यक्लेशेन, **मदान्धा** द्रव्यमदेन अन्धा, हिताहितज्ञानशून्या। **धनिनः** धनवन्तः, **सेव्याः** सेवितव्या, **इयम्** उक्तलक्षणा कदर्थनाः सह्या या महत्यतीव विडम्बनाऽनार्यतैव सेत्यर्थः, इदमपि लोभपराक्रमकृतमेव इति भावः।।७।। (७९)

कारण स्वाभाविक-सी लगने लगी है। इसीलिए अन्त में नीतिकार ने कहा है 'आत्मानं सततं रक्षेत्' आत्मा की ही सतत रक्षा करो। ये लोभ मोहादि उसे ग्राहों की तरह अपनी-अपनी ओर को खींच-खींच कर बरबाद (निकम्मा) किये डालते हैं, स्वरूपपरिज्ञान के द्वारा उस ही की रक्षा करो। परन्तु संसार के मूढ लोगों का क्या किया जाय, वे तो ताँबे के पात्रों में बन्द कर-करके धन को भूमि आदि में गाड़ देते हैं। उन्होंने तो केवल इतना कहीं से सुन लिया है कि 'पात्रे स्थितं धनं भद्रम्' अर्थात् पात्र में रक्खा हुआ धन कल्याणकारी होता है। परन्तु पहले उन्हें पात्र का अभिप्राय जानना चाहिए। वहाँ पात्र का अभिप्राय सत्पात्र श्रोत्रिय आदि से है। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय को दान देना चाहिये।।६।।

किञ्चिद् धनकणं ध्यात्वा मुखमाढ्यस्य पश्यसि।
करोषि श्वेव चाटूनि लोभेनापकृतं स्मर।।९।।(८१)

ननु लोभरोगनिवारण औषधाद्युपायः अस्ति वा न वा इति सन्दिह्यमानं प्रष्टुमिच्छन्तं शिष्यमालक्ष्याह **नेति। लोभस्य** लोभनाम्नो रोगस्य, **उपचाराय** निवारणाय, **मणिमन्त्रौषधादयः** मणिश्च मन्त्रश्च औषधञ्च आदीनि येषां ते, **न** न सन्ति। ननु लोभनिवारकं मन्त्रादिकं नास्ति इति कुतः अवगतम् इत्यत आह **मणीति।** यः कश्चित् **मणिमन्त्रौषधश्लाघी** मणिभिः मन्त्रैः औषधैः च श्लाघते आत्मानं, कथ्यते **सोऽपि** असौ च, **लोभपरायणः** लोभपर एव दृष्ट इति शेषः। अत एव अवगतमिति भावः।।८।।(८०)

इदानीं मनुष्येषु मनुष्यस्वभावं तिरस्कृत्य श्वस्वभावसम्पादनमपि लोभकृतमेवेत्याशयेनाह **किञ्चिदिति।** यथा श्वा **किञ्चित्** स्वल्पं, **धनकणं** स्वभक्ष्यकणिकां **ध्यात्वा** मम एतावत् प्राप्नुयाद् इति निश्चित्य, **आढ्यस्य** धनिनः, अन्नसमृद्धिमतः, **मुखम्** आस्यं, **पश्यति** अवलोकयति, **चाटूनि** तद्रञ्जनार्थम् उदरदर्शनपुच्छचालनपादप्रक्षेपणादीनि करोति, तद्वत् किञ्चित् सर्वं द्रव्यं कोऽपि न ददाति तत्र ढब्बूकादिकणिकामात्रं ददाति न वा ददाति इति जानन् अपि धनवतो **मुखं** प्रति **पश्यसि** प्रतीक्षां कुर्वन्नेव तिष्ठसि ततश्च तद्रञ्जनार्थं **चाटूनि** गायनहास्यविनोदशास्त्र-चर्चानृत्यादिचेष्टाः **करोषि** इति अयं श्वस्वभावः त्वयि उत्तमं मनुष्यस्वभावं दूरीकृत्य सम्पादितः, एतत् **लोभेन अपकृतं** लोभनाम्ना शत्रुणा अपकृतम् अपकारः कृत इति **स्मर** जानीहि इत्यर्थः।।९।।(८१)

कव्वे की बीट के तुल्य हेय (तुच्छ) धन के लिए बड़ा भारी शरीरक्लेश सह कर द्रव्यमद से अन्धे श्रीमान् लोगों के आगे पीछे फिरा जाय, यह तो एक बड़ी ही अनार्यता (कमीनापन) है।।७।।

लोभ नामक रोग को हटाने में मणि मन्त्र तथा औषध आदि भी समर्थ नहीं होते क्योंकि यदि इनसे लोभ की निवृत्ति हो जाया करती, तो इनके जानने वाले लोभी क्यों होते!।।८।।

थोड़े से तुच्छ धन के लिए तू अमीरों का मुँह ताकता है और कुत्ते की तरह खुशामदें कर रहा है, लोभ के किये हुए इस अपकार को तो तू याद कर। जैसे कि कुत्ता थोड़े से टुकड़े के लोभ में टुकड़ा देनेवाले को प्रसन्न करने के लिये कभी पेट दिखाता, कभी पूँछ हिलाता, और कभी पैरों में पड़ता है, इसी प्रकार 'कोई भी अपना सम्पूर्ण धन तो दे ही नहीं देताथोड़े धन का भी देना न देना सन्दिग्ध ा होता है' यह जानता हुआ भी तू विद्वान् होकर उसको प्रसन्न करने के लिये कभी गायन से, कभी हास्य से, कभी विनोद से और कभी शास्त्र-चर्चा से उसकी खुशामदें करता है। इस प्रकार उत्तम मनुष्य-स्वभाव को छिपाकर तुझ में लोभ ने कुत्ते का स्वभाव उत्पन्न कर दिया है। हे विद्वन्! लोभकी की हुई इस बुराई की ओर ध्यान दे।।९।।

लोहार्गलो भद्रहरो लोलताङ्को भयप्रदः।
लुनात्युभौ च यल्लोकौ तेन लोभः प्रकीर्त्तितः।।१०।।(८२)

लोहार्गल इति। लोहार्गल आयसो शृंखलेव यत्र यत्र विषये लोभवती बुद्धिः संलग्ना ततो विषयात् सा निर्गन्तुम् अस्वाधीना अतः लोभशृङ्खला रुद्धा अतो लोभस्य लोहार्गलत्वम्, अत एव लोभनाम्नि **लोकारस्य** सिद्धिरिति भावः। किञ्च **भद्रहरो** भद्रस्य सुखस्य, हरः नाशकः, यस्य बुद्धौ लोभः तस्य सुखं नैव स्याद् इत्यर्थः। अतो लोभनाम्नि **भकारसिद्धिः** ज्ञेया। किञ्च **लोलताङ्को** लोलता चाञ्चल्यं, तदेव अङ्कं चिह्नं यस्य सः, यत्र यत्र सचेतनेषु चाञ्चल्यं लक्ष्यते तत्र तत्र लोभसत्त्वम् अनुमीयतेऽयं लोभवान् क्रियावत्त्वात् तद्वत्। ननु ज्ञानिषु एतद्व्यभिचारः? न, तत्रापि व्यवहारकाले तत्सत्त्वात्, समाधिकाले तु व्यवहाराभावात् लोभासत्त्वम् इष्टमेव। ननु ज्ञानिनि तत्सत्त्वे तत्त्वमेव व्याहन्येत 'रागो लिङ्गम् अबोधस्य' इति श्रुते रागवृत्तेः विशेषस्यैव लोभत्वादिति चेत्? न, बाधितत्वेन तत्सत्त्वेऽपि अकिञ्चित्करत्वात् 'सन्तु रागादयो बुधे' इति शास्त्रान्तरेण तस्य तेषु अकिञ्चित्करत्वोक्तेः, 'जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृत' इति न्यायेन अबाधकत्वसिद्धेश्च ज्ञानिषु तदबाधकत्वात् न ज्ञानित्वव्याहतिः। अतः इदमनुमानमव्यभिचारि; लोलताङ्क इति। अतोऽपि लोभनाम्नि **लोकारस्य** सिद्धिः ज्ञेया। किञ्च **भयप्रदः** यत्र यत्र भयं तत्रापि लोभसत्त्वमनुमीयते अतः लोभनाम्नि **भकारस्य** सिद्धिः ज्ञेया, किञ्च यद् यतः लोभ **उभौ लोकौ** एतल्लोकपरलोकौ, दानभोगाप्रवर्तकतया **लुनाति** खण्डयति, नाशयति। ननु लुभधातुप्रकृतिकत्वे प्रसिद्धे लोभस्य कथं लूञ्-प्रकृतिकत्वम् उच्यते येन छिदिक्रियावत्त्वं स्यादिति चेत्? न; लुभधातोः विमोहनार्थत्वेन विमोहनस्य चोभयलोकघातकत्वप्रसिद्धेः लोभशब्दस्य अर्थतः लूञ्प्रकृतिकत्वात्, **तेन** कारणेन, **लोभो** लोभनाम्ना, **प्रकीर्तितः** प्रसिद्धत्वेन प्रतिपादितः, एतेनाऽपि लोभप्रतापो ज्ञेय इति भावः।।१०।।(८२)

लोभ शब्द में दो अक्षर हैं, एक 'लो' दूसरा 'भ'। 'लो' का अर्थ लोहे की जंजीर 'भ' का अर्थ है भलाई को हरनेवाला। 'लो' का दूसरा अर्थ है लोलतांक अर्थात् चंचलता का रोग, 'भ' का दूसरा अर्थ है भयप्रद। 'लो' और 'भ' का तीसरा अर्थ है दोनों लोकों को नष्ट करने वाला। यों इतनी बुराईयों वाला यह 'लोभ' है।

लोभी की बुद्धि जिस-जिस विषय में फँस जाती है वह वहाँ से स्वाधीनता से नहीं निकल सकती। इसलिये लोभ को लोहार्गल (लोहे की बेड़ी) कहा है। जिसकी बुद्धि पर लोभ सवार हो जाता है उसे सुख चैन नहीं रहता इसलिये लोभ को भद्रहर (सुखनाशक) कहा गया है। सजीव पदार्थों में जहाँ-जहाँ चंचलताचेष्टा, गति है वहाँ-वहाँ लोभ रहता है अर्थात् चंचलता लोभ का चिह्न है इसलिये लोभ को लोलतांक (चंचलता का रोग) बताया जाता है। जहाँ-जहाँ भय है वहाँ-वहाँ कोई-न-कोई लोभ है इसलिये लोभ को भयप्रद कहा जाता है। लोभी मनुष्य न दान कर सकता है, जिससे

सकामाः कामिनीलुब्धा निष्कामा मोक्षलोभिनः।
भावलुब्धो हि भगवान् निर्लोभोऽत्यन्तदुर्लभः।।११।।(८३)
दुग्धफेनोज्ज्वला शय्या बाला चरणसेविनी।
निद्रां न लभते भूपः परराष्ट्रजिगीषया।।१२।।(८४)

एवं लोभरूपशत्रोः बलं प्रतिपाद्य अतिबलित्वे निर्णीते तज्जये भेदः अपेक्षितः। स च द्विविधः शत्रुबलन्यूनत्वसाधकदामसामोपायैः तन्मन्त्र्यादिवशीकाररूप एकः, अपरः समाश्रयः। समाश्रयोऽपि द्विविधः शत्रोः[1] अन्याधिकबलिसंश्रयः शत्रुसंश्रयश्च। तत्र दामसाम्नोः असामञ्जस्येन लोभरूपशत्रोः तन्मन्त्र्यादिषु अपि तथात्वाद् अनुपयोगः, अतः प्रथमानुपयोग[2] एव। शत्रुसमाश्रयस्यापि, तथैव दुःसाध्यत्वात् तमपि विहाय तदधिकबलसमाश्रयेण स जेतव्य इति तदधिकबलिजिज्ञासायां तद्दौर्लभ्यं परमयत्नादरार्थं दर्शयति **सकामा इति। सकामाः** कामेन सह वर्त्तमाना, ये जगति प्रसिद्धाः ते **कामिनीलुब्धाः** कामिनी इति उपलक्षणं धनादिसर्वविषयाणाम्, अतः तेषां लोभग्रस्तत्वं प्रत्यक्षमेवेति तदाश्रयः अकिञ्चित्कर इति भावः। किञ्च **निष्कामाः** कामरहिता, विरक्ता इत्यर्थः। ते **मोक्षलोभिनः** मोक्षे लोभो विद्यते येषां ते यथोक्ता, अतः तेषामपि समाश्रयः लोभशत्रुजये अप्रयोजक एवेति भावः। किञ्च **हि** प्रसिद्धः, **भगवान्** षड्गुणैश्वर्योऽपि ईश्वरः, **भावलुब्धः** भावे प्रेम्णि, लुब्धः, लोभी भवति, अतः तस्यापि लोभग्रस्तत्वमेव इति तदाश्रयः लोभनाशे अकिञ्चित्कर एव तस्यापि तन्मूलकत्वादिति भावः। तर्हि निर्लोभः नास्त्येव, किं तर्हि असाध्यलोभजयविचारेण? इत्याशङ्क्याह **निर्लोभः** लोभरहितः, केवलब्रह्मनिष्ठः जीवन्मुक्त इत्यर्थः। **अत्यन्तदुर्लभः** अत्यायासैः बहुसाधनैः, लभ्यः प्राप्यः स इति तत्प्राप्तिसाधनेषु दृढो भूत्वा प्रवृत्तिः कार्या इति सूचितम्। अतः केवलं तदाश्रयेणैव स जेतुं शक्यः न अन्यथा इति भावः।।११।।(८३)

ननु ईश्वरेऽपि लोभसत्त्वं कथं निश्चेयम् इत्याशङ्क्य तत्सम्भावनायै तद्विभूत्यां राजनि तं

उसका परलोक नष्ट हो जाता है, न भोग ही कर सकता है जिससे उसका यह लोक दुःखमय हो जाता है, इस प्रकार 'उभौ लोकौ लुनाति' दोनों लोकों को नाश कर डालने से उसे लोभ कहा है।।१०।।

सकाम लोग कामिनी (और काँचन) के लोभी हैं, निष्काम लोगों को भी मोक्ष का लोभ लगा ही है, भगवान् भी भाव (प्रेम) के लोभी प्रसिद्ध ही हैं। निर्लोभ (लोभरहितकेवल ब्रह्मनिष्ठ) पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है। (उस ही के आश्रय से लोभ को जीता जा सकता है)।।११।।

दूध के झागों के समान श्वेत पलंग और चरणसेवा के लिये नयी युवती जैसे साधनों के होने पर भी, दूसरे के राष्ट्र को जीतने के लोभ से राजा को नींद ही नहीं आती, रातें उसकी चिन्ता में ही कटती हैं (अर्थात् जो जितना बड़ा है उस पर उतना ही बड़ा लोभ सवार है)।।१२।।

---

[1] शत्रुतः। [2] प्रथमयोः सामदामयोः।

मार्गेषु मिलिताश्चौराः सख्यं तैः सह वर्धितम्।
ते गता धनमादाय पश्चात् शोचति मन्दधीः।।१३।।(८५)
स्वामी तु चौरवद् द्रव्यं गोपायति यतस्ततः।
भार्यापुत्रादयश्चौरा भुञ्जते स्वामिनो यथा।।१४।।(८६)

दर्शयति **दुग्धेति। दुग्धफेनोज्ज्वला** दुग्धफेनवत् कोमलस्पर्शा निर्मला च, **शय्या** शयनसाधनं, कशिपुयुक्तपर्यङ्कः अस्तीति शेषः। **बाला** पूर्ववयस्का स्त्री, **चरणसेविनी** पादसेवां कर्तुं विद्यते इति शेषः। एतादृशनिद्रासाधनानुकूल्येऽपि **भूपः** स्वीयराज्यलाभवानपि इत्यर्थः। **परराष्ट्रजिगीषया** अन्यराजदेशग्रहणेच्छया, **निद्रां** निद्रासुखं, **न लभते** न प्राप्नोति, इति लोभसत्त्वं तत्र प्रसिद्धमेव अत एतादृशसर्वविभूतिमति ईश्वरेऽपि लोभः अस्तीति भावः।।१२।।(८४)

ननु निर्लोभस्य अतीव दुर्लभत्वात् तदाश्रयं विना लोभजयासम्भवाद् अस्तु सः, को बाधः तेन? इत्याशंक्य; बुद्धेर्विपरीतकारित्वेन लोभे अनिष्टत्वमेव दर्शयति इतः परं द्वाभ्यां; तत्रादौ हितेषु अहितबुद्धिम् अहितेषु हितबुद्धिं जनयति इति एवं बाधकत्वं लोभे दर्शयति **मार्गेषु इति। मार्गेषु** प्रसिद्धपथिषु, भवमार्गेषु च, **चौराः** प्रसिद्धचौरा, भार्यापुत्रादयश्च चौरसादृश्यात् चौरा, **मिलिता** संगता; **तैः सह** भार्यापुत्रादिभिः चौरैश्च साकं, **सख्यं** हितबुद्धित्वं, **वर्धितं** वृद्धिं प्रापितं, ततः **ते** चौरा भार्यापुत्रादयोऽपि, **धनं** भोगसाधनभूतं द्रव्यम्, **आदाय** गृहीत्वा, **गता** याताः, **पश्चाद्** अनन्तरं, **मन्दधीः** मन्दबुद्धिः, शोचति शोकं क्रोति। अयं बुद्धिविपर्यासः लोभकृत एवेति भावः।।१३।।(८५)

इदानीं स्वामिचौरयोः चौरत्वस्वामित्वसम्पादनरूपं विपरीतकारित्वं लोभस्यैव इत्याशयेनाह **स्वामिति। स्वामी** तु स्वामी अपि, स्वयं **चौरवद्** यथा चौरा इतस्ततः गोपायन्ति तथा, **द्रव्यं** धनं, व्ययभयाद् **यतस्ततः गोपायति** आच्छाद्य रक्षति न ददाति न भुनक्ति च इत्यर्थः। **भार्यापुत्रादयः** स्त्र्यपत्यादयः, **चौराः** धनहारित्वात् चौरसादृश्यात् चौराः, **यथा** तद्वत् **स्वामिनः** प्रकटं **भुञ्जते** तथा तद् द्रव्यं भुञ्जते, भक्षणादिना हरन्ति। एवं स्वामिनि चौरत्वं चौरेषु स्वामित्वं च विपरीततया लोभेन एव सम्पादितमिति भावः।।१४।।(८६)

पहले तो (संसाररूपी कान्तार में घूमते-घूमते) मार्ग में स्त्री पुत्रादि रूपधारी चोर मिले, फिर उनके साथ मित्रता बढ़ने लगी, वे लोग अपनी गाढ़ी कमाई का धनादि व्यय कराकर अपनी-अपनी कर्मगति से परलोक आदि को चले गए, पीछे से यह मूढ मनुष्य शोक करने लगता है।।१३।।

कमाने वाला मालिक तो चोरों की तरह जैसे-तैसे जिस किसी से इधर-उधर से धन को बचाता है। (न दान करता है, न स्वयं भोगता है) और भार्या पुत्रादि चोर मालिक की तरह (खुल्लमखुल्लाप्रकटरूप में) उस धन को भोगते रहते हैं!।।१४।।

पुत्रमित्रकलत्रेभ्यो गोप्यते यद्धनं जनैः।
तेन मन्येऽवनं पापं सुकृत्या[1] गोप्यते नहि।।१५।।(८७)
रागिणी गणिका वित्तं यद्वाञ्छति वरा हि सा।
धिक् तं वैराग्यवक्तारं वाचालं वित्तलम्पटम्।।१६।।(८८)
धनिभ्यो धनमादाय श्लाघते शास्त्रपाठकः।
बहुभ्यो मिथुनीभूय धनिभ्यो गणिका यथा।१७।।(८९)

तर्हि सर्वेभ्योऽपि धनं गोपनीयमेव? न इत्याह **पुत्रमित्रेति। पुत्रमित्रकलत्रेभ्यः** पुत्रात् मित्रात् कलत्रात् च, **जनैः** लोकैः, **धनं** द्रव्यं, **गोप्यते** रक्ष्यते, **यद्** यत इह लोकेपि सुखाभावाद् इति भावः। **तेन** कारणेन, **अवनं** रक्षणं धनस्येति शेषः, **पापं** पापमेव केवलं तद्, अतः **सुकृत्या** सुकृती पुण्यकर्मा यः कश्चित् तेन **नहि** नैव, **गोप्यते** रक्ष्यते।।१५।।(८७)

ननु विरक्तवेषा अपि मुखतश्च वैराग्योपदेष्टारो बहवो धनलुब्धा दृश्यन्ते? तत्राह **रागिणीति। रागिणी** रागवती प्रसिद्धा एव, **गणिका** वेश्या **यद्** धनादि, **वाञ्छति** इच्छति, **सा वरा** श्रेष्ठा, प्रसिद्धरागत्वात्। **वैराग्यवक्तारम्** अन्येषां वैराग्योपदेष्टारं, **वित्तलम्पटम्** अन्तर्धनलुब्धम्, अत एव **वाचालं** निरर्थकवाक्यं, **तं धिग्** धिक्कारः अस्तु। स च अत्यधम इति भावः।।१६।।(८८)

ननु बहवः शास्त्रवक्तारः अपि धनार्जनक्लिष्टाः तत्कुतः निन्द्यते भवद्भिः? तत्राह **धनिभ्य इति। बहुभ्यः** अनेकेभ्यः, **धनिभ्यः** धनवद्भ्यः, **मिथुनीभूय** रतिं कृत्वा, **धनं** द्रव्यम्, **आदाय** गृहीत्वा, **गणिका** वेश्या, **यथा** तद्वत् **श्लाघते** कत्थते अहमेव धनवती स्वरूपवती चातुर्यवती च इति आत्मानं प्रशंसति इत्यर्थः। तथा तद्वत्, **शास्त्रपाठकः** शास्त्रवक्ता, बहुभ्यो **धनिभ्यो** धनवद्भ्यः तत्तद्रञ्जनं कृत्वा धनमादाय द्रव्यं सम्पाद्य, **श्लाघते** अहमेव पण्डितः मया एतावद् द्रव्यं सम्पादितं कः अन्यः मत्सदृशः अस्तीति कत्थते। कामिषु वेश्यातुल्य एव स इति भावः।।१७।।(८९)

पुत्र मित्र कलत्रादि किसी को न देकर सब से धन को बचा रखना भी केवल पापरूप अर्थात् दुःखदायक है इसलिये पुण्यकर्मा लोग धन को जोड़ते ही नहीं।।१५।।

रागिणी वेश्या का धन चाहना तो किसी हद तक ठीक है किन्तु ऊपर से वैराग्य का उपदेश करने वाले और अन्दर से धन के लोभी वंचक वाचाल को धिक्कार है।।१६।।

बहुत-से धनियों से मैथुन के द्वारा धन प्राप्त करके वेश्या जिस तरह अपने विपुल धन, सुन्दर रूप और चतुरता का बखान करती रहती है, इसी प्रकार कोरा शास्त्रपाठी मनुष्य भी बहुत-से धनियों के रंजन द्वारा धनोपार्जन करके "मैं बड़ा पण्डित हूँ, मैंने इतना धनोपार्जन किया, मेरे समान और कौन है" इत्यादि प्रकार से अपना बड़प्पन बघारता रहता है (उस कोरे शास्त्रपाठी की यह आत्मप्रशंसा कामियों में वेश्या की आत्मप्रशंसा के समान उपेक्षणीय होती है)।।१७।।

---

[1] पात्रे समर्पणेन।

न शोभते तथैवायं लोभी वेदान्तवाचकः।
चौर्येण निगडे दत्तो जटाभस्मधरो यथा।।१८।।(६०)
यदि वित्तार्जनेनैव विद्वांसो यान्ति गौरवम्।
कस्तर्हि वेश्याविदुषोः विशेष इति वर्णय।।१६।।(६१)
अनित्यमिति यो वक्ति सेवते नित्यमेव तत्।
बहिर्मुखस्य तस्यास्यं मा दर्शय महेश्वर।।२०।।(६२)

नेति। यथा यद्वत् **जटाभस्मधरः** शिरसि जटाजूटधारी, अङ्गे च विभूतिधारी, एवं वैराग्यवेषवानपि **चौर्येण** तस्करकर्मणा, **निगडे** अवरोधककाष्ठे, **दत्तः** अर्पितः, स न शोभते। **तथैव** तद्वदेव, **अयं** भवदुक्तः, **वेदान्तवाचकः** वेदान्तवक्ता, **लोभी** लोभवान्, **न शोभते** शोभां न प्राप्नोति इत्यर्थः। उभयोः विरोधादिति भावः।।१८।।(६०)

ननु धनं विना गौरवं लोके न स्यादिति तदर्थं तत्सम्पाद्यं विदुषामित्याशङ्क्याह **यदीति। विद्वांसः** पण्डिता **वित्तार्जनेन एव** द्रव्यसम्पादनेन एव, केवलं **गौरवं** प्रतिष्ठां, **यान्ति** प्राप्नुवन्ति, **यदि इति** यर्हि सम्भाष्यते त्वया, **तर्हि** तथा सति, **वेश्याविदुषोः** उभयोः ज्ञाने समाने सति, **को विशेषो** भेद इति, तद् **वर्णय** कथय। तस्माद् विदुषां विद्यया एव गौरवं, तद्धनकृतमिति ज्ञानं भ्रम एव इति भावः।।१६।।(६१)

ननु मुखेन अनित्यतां प्रतिपादयन्तः पुनः तानेव सेवमाना अपि बहवः दृश्यन्ते? तत्राह **अनित्यमिति। हे महेश्वर** हे परमेश्वर, **यः** कोऽपि ज्ञानिमन्यः, **अनित्यं** नाशवत् सर्वमिदम् इति एवं, **वक्ति** ब्रूते, परन्तु **तद्** अनित्यवस्तु, **नित्यमेव** सर्वकालमपि, **सेवते** भुनक्ति, **तस्य बहिर्मुखस्य** विरक्तापसदस्य अन्तर्विषयिणः, **आस्यं** मुखं, **मा दर्शय** न दर्शनं भवेद् यथा तथा कुरु। तादृशस्य मुखदर्शनमपि न कर्तव्यमिति भावः।।२०।।(६२)

एवं लोभबलं प्रदर्श्य तदधिकबलब्रह्मनिष्ठदौर्लभ्यप्रदर्शनेन तदाश्रये साधनात्यादरं विधाय तत्समाश्रयेण स जेतव्य इति ज्ञापयित्वा, इदानीं शत्रुसमाश्रयपक्षे दोषप्रदर्शनपूर्वकं तज्जये च फलं

जटा और भस्म रमाये हुए किन्तु चोरी के अपराध से बेड़ियों में जकड़े हुए साधुवेशधारी की तरह लोभ के कारण वेदान्त की कथा करनेवाला पण्डित भी शोभा नहीं पाता।।१८।।

यदि धन कमा कर ही विद्वानों का गौरव होता हो तो (धन कमाने में एक ही चतुरता रखनेवाले) विद्वान् और वेश्या का अन्तर बताओ।।१६।।

जो आदमी नित्य ही इस संसार को नाशवान् बताता रहता है, परन्तु स्वयं निरन्तर उसी नाशवान् संसार में लिप्त हो रहा है, हे भगवन्! उस अन्तर्विषयी विरक्ताधम का हमें कभी मुख भी न दिखाओ।।२०।।

कामकिंकरतां प्राप्य सकामाः सर्वकिंकराः।
कामेनैव परित्यक्तो निष्कामः कस्य किंकरः।।२१।।(६३)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे वैराग्यपीठिकाबन्धे लोभविडम्बनाख्यं षष्ठं प्रकरण्।।

अथ कर्मविडम्बना

वंशपात्रमिवापूर्णं पूर्णं घटशतैरपि।
क्रियाजालं कथं साधो विरागाय न जायते।।१।।(६४)

दर्शयति **कामेति। कामकिंकरतां** काम्यन्ते विषया अनेन इति कामो लोभः, तस्य किंकरता सेवकत्वं, **प्राप्य** लोभसमाश्रयं कृत्वा इत्यर्थः। **सकामाः** सर्वविषयेच्छावन्तो, जायन्ते इति शेषः। ततश्च **सर्वकिंकराः** सर्वसेवकत्वम् अङ्गीकार्यं, महान् अनर्थोऽयं लोभसमाश्रय इति भावः। अतो निर्लोभसमाश्रयेण तज्जये तु **कामेनैव परित्यक्तः** कामो लोभः, तेन परित्यक्तः, लोभनाशेन तद्धीनः पुरुषो, **निष्कामः** स **कस्य** किंकरः, न कस्यापि किंकर इति स्वाराज्यसिद्धिफलं दर्शितम्।।२१।।(६३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ वैराग्यपीठिकाबन्धार्थप्रकाशे लोभविडम्बनार्थप्रकाशः षष्ठः।।

एवं लोभदोषान् प्रदर्श्य तन्मूलककाम्यकर्मदोषान् प्रदर्शयितुं कर्मविडम्बनाख्यं प्रकरणं चतुर्दशश्लोकम् आरभते। तत्रादौ कर्मणः अपूर्णतया श्रमहेतुत्वाद् अनादरणीयत्वमाह **वंशेति**। हे **साधो** क्रियासाधनपर, **घटशतैरपि** घटपदेन अत्र तत्परिमितं जलं ग्राह्यं लक्षणया 'भावानयने द्रव्यानयनम्' इति न्यायेन वा, शतपदं च अत्र असंख्यातपरम्, असंख्यघटजलैः इत्यर्थः। **पूर्णम् अपि अपूर्णं वंशपात्रमिव** वंशशकलनिर्मितभाण्डमिव, **क्रियाजालं** कर्मरूपं जालमिव स्वबन्धकारणं, **विरागाय** विरागं जनयितुं, **कथं** कुतः इत्यर्थः। **न जायते** न भवति, बन्धनहेतुत्वात् श्रमहेतुत्वाच्च। विरागयोग्ये कर्मणि रागोऽहोन्तःकरणमौढ्यम् एतद् इति भावः।।१।।(६४)

ननु कृते च कर्मणि पूर्णता स्याद् इत्याशंक्याह **ब्रह्मण इति। ब्रह्मणः** अजस्य, **दिनं** दिनाद् **आरभ्य** प्रारम्भं कृत्वा, **अद्य यावद्** अद्यपर्यन्तं, **क्रियाः** कर्माणि, **कृताः** कृतानि, तेषु कृतेषु अपि **मुहूर्तं** क्षणमात्रं, **संसारी** जीवः, **निश्चिन्ततां** चित्तस्थैर्यजन्यं सुखं, **नैव गतो** नैव प्राप्तो, **हन्त** इति खेदे, तत्पूर्णताशा अद्यापि तव वर्त्तते अयं मम खेदः भवति इति भावः।।२।।(६५)

काम के दास बनकर कामी लोग सभी के दास हो जाते हैं; इच्छारहित निष्काम लोग तो किसी के भी दास नहीं होते।।२१।।

हे साधो! सैकड़ों घड़ों पानी से भरे जाने पर भी सदा अपूर्ण ही रहने वाले फटे हुए बाँस के बरतन की तरह, संसार के कामों में तुम्हें वैराग्य उत्पन्न क्यों नहीं होता है?।।१।।

ब्रह्मणो दिनमारभ्य यावदद्य कृताः क्रियाः।
मुहूर्त्तं हन्त संसारी नैव निश्चिन्ततांङ्गतः।।२।।(९५)
अभाग्यं परमं पुंसां परपिण्डोपजीवनम्।
तत्कथं नाम सौभाग्यं पुत्रपिण्डोपजीवनम्।।३।।(९६)
मृतशब्देन सम्बोध्य मृतपिण्डं मृताहनि।
मृताय दास्यते पुत्रस्तद्वरं किमुतामृतम्।।४।।(९७)

ननु पुत्रात् सुखं स्यादिति प्रसिद्धिः लोके 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति' इति श्रुतेः, पुत्रं विना परलोकासिद्धेः श्राद्धादिकर्मणा च पुत्रकृतेन परलोकसुखसिद्धेः पुत्रजननोऽपयोगि विवाहादि कर्म कार्यमेव इत्याशंक्य तत्रापि साम्ना दोषं दर्शयति त्रिभिः। तत्रादौ पुत्रदत्तपिण्डोपजीवनं पराधीनजीवनत्वाद् दौर्भाग्यमेव इति आह **अभाग्यमिति। पुंसां** पुरुषार्थिनां, दृष्ट्या इति शेषः। **परपिण्डोपजीवनम्** अन्य-अधीन-अन्नादिना आयुःक्षपणमात्रं तज्जीवनम्, इहलोके परलोके च सुखासाधकत्वात्। तत् **परमं** केवलम्, **अभाग्यम्** एव दौर्भाग्यमेव, प्रसिद्धमिदं लोकेऽपि, **तत्** तस्मात्, **पुत्रपिण्डोपजीवनं** पुत्रदत्तपिण्डादिना परलोके, इहापि पुत्रादेः पिण्डस्य शरीरस्यार्थे, पुत्राद्यर्थशरीरेण वा उपजीवनं पराधीनमेव, **नाम** प्रसिद्धं च इदं, **कथं** केन प्रकारेण, **सौभाग्यं** संपन्नत्वं, न कथमपि, परमं दारिद्र्यमेव तदिति भावः।।३।। (९६)

तत्रापि अतीवानादरेण दत्तान्नादिना जीवनं तु अतीव दुःखास्पदत्वाद् अतीव दौर्भाग्यमेव इत्याशयेनाह **मृतशब्देन इति। मृतशब्देन** मृतस्य शब्देन प्रेत इति नाम्ना, **सम्बोध्य** सम्बोधनं कृत्वा, हे प्रेत इति। इदानीमपि यस्य कस्यापि त्वं प्रेतः असि इत्युक्ते दुःखं मन्यते स तर्हि कथं तत् तव तदा सुखकारकं स्याद् इति भावः। स्वपालकस्य यस्य कस्यापि एतादृशं वचनं दुःसहं तत्किं वाच्यं स्वपाल्यस्य पुत्रस्य तादृशं वचनं दुःसहमिति भावः। **मृतपिण्डं** मृतिनिमित्तं पिण्डं, मृतमेव पिण्डं शरीरमिति वा मृतशरीरोत्पादकत्वात् पिण्डस्य इति भावः। मृतेः अप्रियत्वात् तन्निमित्तकपिण्डस्यापि दुःखकारणत्वं; मृतशरीरमपि कस्यापि न रोचते तत्कथं मृतशरीरोत्पादकः पिण्डः सुखदः स्यादिति भावः। **मृताहनि** मृतदिने। मृतदिने मृतसम्बन्धिनामपि दुःखेन अन्नाद्यरुचिः दृश्यते, मृतस्य तर्हि मूर्च्छावत्त्वाद् अन्नादिभोगः दुर्घटः, तत्किं पुनः तस्यापि अरुचिः अन्नादिषु इति वक्तव्यमिति भावः। तत्रापि **मृताय** मरणमूर्च्छिताय, **दास्यते** अर्पयिष्यति, भविष्यद्

इस संसारी ने जब से यह सृष्टि प्रारम्भ हुई है तब ही से लेकर आज तक बराबर कर्म किये हैं। परन्तु तब से अब तक यह संसारी क्षणमात्र के लिए भी निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सका है। (इतने लम्बे अनुभव के बाद अब भी यदि तुमपर इस कर्म को पूर्ण कर डालने की दुराशापिशाची सवार है तो फिर हम क्या करें)।।२।।

परभाग्योपजीवी होना पुरुषों का परम दुर्भाग्य है फिर भला पुत्र के दिये हुये पिण्डों से (इस लोक या परलोक में) जीवन धारण करना कहाँ का सौभाग्य कहा जायगा!।।३।।

अशनायां पिपासां च शोकं मोहं जरां मृतिम्।
प्राप्नुवन् श्रुतिशास्त्रेभ्यो मा भव श्राद्धभक्षकः।।५।।(९८)
दीर्घमायुर्जराभुक्त्यै धनं भूरि दुराधये।
पुत्राः कलहदुःखाय संसारे दुःखमद्भुतम्।।६।।(९९)

अर्थेन दानप्रयोगेण तदपि बुध्यादिचाञ्चल्येन मरणादिना पुत्रस्य स्यात् न वेति तत्र निश्चयाभावः सूचित इति ज्ञेयम्। **तत्** तादृशपुत्रादि संपादनेन मृत्वा तद् दत्तपिण्डादिनां जीवनं, **वरं** श्रेष्ठं, **किमुत** किं वा, **अमृतं** मोक्षसुखं, वरं श्रेष्ठमित्येवं विचार्यतामित्यर्थः।।४।। (९७)

शास्त्रतोऽपि श्राद्धादिभोजनं निन्द्यमित्याशयेनाह **अशनायामिति**। त्वम् **अशनायां** रोगादिना भक्षितान्नादेः भस्मीभावेन पुनः पुनःभोक्तुमिच्छाम्, अन्नाद्यप्राप्त्या बहुबुभुक्षुत्वम् इत्यर्थः। **पिपासां च** तृड्बाहुल्यमपि, **शोकम्** आधिं, **मोहं** कर्तव्यास्फुरणरूपां स्तब्धतां, **जराम्** अकाले तु धातुक्षीणत्वादिना वार्धक्यं, **मृतिम्** अकालमृत्युम्, इत्यादिफलानि **श्रुतिशास्त्रेभ्यः** श्रुतिभ्यः 'श्राद्धीयम् अन्नं भुञ्जनप्रेतोशनायातृट्शोकजरामूर्च्छाकालमृत्युभ्यः शंकमानो जीवन्नेव मृतो न तत्समश्नीयाद्' इत्यादिभ्यः श्रुतानि, शास्त्रेभ्योऽपि कर्मविपाकादिभ्यः श्रूयन्ते अतः तानि **प्राप्नुवन्** अङ्गीकुर्वन् सन् **श्राद्धभक्षकः** पुत्राद्युत्पादेन तत्कृतश्राद्धभोजनेप्सुः, **मा भव** न भवितव्यं, निन्द्यत्वाद् एतद् अयोग्यमिति भावः।।५।।(९८)

ननु मास्तु पुत्राद्युत्पादनादिश्राद्धान्तं कर्म, ऐहिकसुखभोगहेतु आयुर्वर्धापकं तु कर्म कर्त्तव्यमेव इत्याशंक्य तत्रापि दोषं दर्शयति **दीर्घमिति। दीर्घं** बहुकालम्, **आयुः** जीवनं, **जराभुक्त्यै** सर्वलोकतिरस्कार्यं स्वस्य चानपेक्ष्यम् अशक्त्यादिदोषवत्त्वाद् वृद्धत्वं, तद्भोगाय तस्य भोगं कर्तुं तत् स्याद् अतः तत्साधककर्मणि आदरो न युक्त इति भावः। ननु धनस्य सर्वविषयभोगहेतुत्वेन सुखहेतुत्वात् तत्साधनभूते कर्मणि आदरो विधेय इत्याशंक्याह **धनमिति। भूरि** बहु, **धनं** द्रव्यं, **दुराधये** चिन्तायै, स्याद्, भूरिपदेन अत्र जीवनमात्रकारणभूतं धनं तु जीवनकारणप्रारब्धेन एव स्यात् तद्विशेषभोगार्थं तु कर्मणा इति तदर्थं कर्मणि आदरो न कर्तव्य इति सूचितं ज्ञेयम्। ननु पुत्राणां पारलौकिक-सुखहेतुत्वाभावेऽपि ऐहिकसुखहेतुत्वेन तत्साधककर्मणि आदरो युक्त एव इत्याशंक्याह **पुत्रा इति। पुत्रा** अपत्यानि, **कलहदुःखाय** स्वेप्सितादाने स्वेन सह स्वधनार्थं

(जीवित काल में यदि किसी को 'प्रेत' कहकर पुकारा जाय तो वह बुरा मानता है, फिर भला) जब श्राद्ध में तुम्हारा (अनन्त कष्टों से पाला हुआ) पुत्र ही मरे हुये तुमको मृत्यु के दिन प्रेत नाम से सम्बोधन करके मृत पिण्ड (मरने के कारण मिला हुआ पिण्ड) देगा (या न देगा) तब वह (निकृष्ट पराधीन जीवन) तुम्हें सुखदायी प्रतीत होगा किंवा अमृतरूप मोक्षसुख? (यही तो एक विचारणीय बात है)।।४।।

श्राद्धभोजी को भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा अकाल-मृत्यु अधिकता से प्राप्त होती है ऐसा शास्त्र में कहा है इसलिये तू (सन्तानोत्पति के द्वारा) श्राद्धभोजी मत बन।।५।।

छायां पश्यति कायस्य रायो गर्वेण मुह्यति।
जायां भजति भावेन मायां नो वेद वैष्णवीम्।।७।।(१००)

तेषां वा परस्परेण सह यः कलहो विग्रहः तद्द्वारा दुःखं जनयितुं स्युः। अतः तदर्थकर्मणि आदरो न युक्त इति भावः। ननु सर्वेऽपि एते दुःखदा एव इति कुतो न ज्ञायते सर्वैः इत्याशंक्याह **संसार इति। संसारे** असारेऽपि संसारनाम्नि, **दुःखं** दुःखमपि इत्यर्थः, **अद्भुतम्** अत्याश्चर्यरूपम् इत्यर्थः, असारत्वेऽपि संसारत्वप्रतीतौ दुःखे सुखप्रतीतिः युक्ता एव इति भावः।।६।।९९।।

ननु रूपसाधने तर्हि कर्मणि आदरः अस्तु? तत्राह **छायामिति। कायस्य** शरीरस्य, **छायां** प्रतिरूपं, दर्पणादौ **पश्यति** अवलोकयति, ततः तत्र सुन्दरत्वं यत्प्रतीयते तद् **रयः** द्रव्यस्य, न तु देहस्य; तथैव तत्सुन्दरत्वं स्वदेहे आरोप्य **गर्वेण** सुन्दरोऽहम् इति अभिमानेन, **मुह्यति** तदासक्तिं करोति, अतः विमोहकत्वाद् रूपस्य तत्साधनभूते कर्मणि आदरो न कर्तव्य इति भावः, एवं भार्यासाधनभूतं कर्म त्याजयितुं भार्यायामपि दोषं दर्शयति अर्धेन **जायामिति। जायां** जायते स्वयं पुत्ररूपेण, पतिरूपेण च यस्यां सा जाया माता तां, **भावेन** भार्याबुद्ध्या, **भजति** भुनक्ति, अहो अन्याय इत्यर्थः। ननु मातरि भार्याबुद्धिः कथं स्याद् इत्याशंक्याह **मायामिति। वैष्णवीं** विष्णु-सम्बन्धिनीं, **मायाम्** अघटितघटनाचातुरीं, **नो वेद** न जानाति, 'तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः' इति श्रुतेः, तस्यां पुत्ररूपेण उत्पन्नत्वात् भार्याया मातृत्वं प्रसिद्धं प्रमाणसिद्धमेव युक्त्यापि इदं स्वस्यापि पतिरूपेण तस्यामेव उत्पन्नत्वात्सम्भावनीयं, मायापदेनापि मायाया विपरीतकारित्वं प्रसिद्धमेवेति सूचितम्, वैष्णवीम् इति पदेन च विष्णोः जगत्स्थापकत्वात् तस्येयं स्त्रीरूपा माया एव मूर्त्तिमिति सा स्वं रूपं तिरस्कृत्य विपरीतबुद्धिम् उत्पाद्य स्वासक्तं पुरुषं करोति तेन च जगत्स्थितिनिर्वाहः जायते इति सूचितम्।।७।।(१००)

बहुत काल तक जीने से बुढ़ापा भोगना होगा, बहुत धन (बहुत का अभिप्राय यह है, कि जीवनयात्रा का उपयोगी धन तो ज़ीवन के कारण प्रारब्ध से ही होगा, विशेष भोग के लिये ही विशेष कर्म करना पड़ता है) कमाया जायगा तो बहुत-सी चिन्तायें उत्पन्न होंगी, पुत्र बहुत से होंगे तो वे धन के लिये तुमसे किंवा आपस में ही झगड़ा करके तुम्हें दुःख ही पहुँचायेंगे। इस प्रकार यह संसार अद्भुत प्रकार के दुःखों से भरा पड़ा है (परन्तु बेचारे मूर्ख लोग इसे नहीं पहचानते और वे पहचानें भी कैसे जब कि वे इस असार पदार्थ को संसार समझे बैठे हैं। फिर भला वे दुःख को सुख समझें तो इसमें आश्चर्य की बात ही कौन-सी है)।।६।।

मूर्ख मनुष्य बैठा-बैठा दर्पण में शरीर की छाया को देखा करता है, धन के घमण्ड से मूर्च्छित-सा हुआ रहता है, जाया का भाव से भजन करता है। हा शोक! कि इस मूर्ख प्राणी को वैष्णवी माया का पता ही नहीं है। वैष्णवी माया के भेद को न पाकर मूर्ख प्राणी शरीर की सुन्दरता को अपनी सुन्दरता समझता है, धन के घमण्ड में आकर अपने आप को भूल जाता है। जाया (माता) को स्त्री समझकर भोग करता हैस्त्री को जाया इसलिए कहते हैं कि उसमें फिर दुबारा सृष्टि भी चलानी ही है इसलिए उस स्त्री के मातृरूप को आच्छादित करके वह उसमें भोग्यबुद्धि को उत्पन्न कर देता

यात्रासमागमसमे नतर्कितगतागते।
पशुपुत्रकलत्रादौ ममता न मता समा।।८।।(१०१)
सुतरां गुरवोऽस्माकं वैयाकरणसत्तमाः।
आदिश्य ममतास्थाने समतां साधयन्ति ये।।९।।(१०२)
त्यक्ष्यन्त्यवश्यं च त्वाम् ये त्वं च त्यक्ष्यसि यानपि।
येषां त्यागे महत्सौख्यं तेषां त्यागेऽपि कः श्रमः।।१०।।(१०३)

अतः सर्वत्र स्त्रीपुत्रादिषु ममता त्याज्या इत्याह **यात्रेति। यात्रासमागमसमे** क्वचिद् यात्रायामपि असम्बन्धिनां समागमे संगो जायते तत्तुल्ये, **नतर्कितगतागते** नतर्किते तर्कागोचरे गतागते संयोगवियोगौ यस्मिन्, तादृशे **पशुपुत्रकलत्रादौ** पशवः तुरगगजादयः पुत्राश्च कलत्रं स्त्री च आदयः यस्मिन्, तस्मिन् सर्वस्मिन् **ममता** आसक्तिः, **समा** सुखदा, **न मता** न संमता, मुनिभिः इति शेषः। तदासक्तिः न कार्या इति भावः।।८।।(१०१)

तर्हि सा ममता कथं त्याज्या इति आशंक्य गुरुसेवां विना न त्यक्ता स्याद् इत्याशयेनाह **सुतरामिति। अस्माकम्** अस्मद्दृष्ट्या, **गुरवः** देशिका, **वैयाकरणसत्तमाः** वैयाकरणश्रेष्ठाः **सुतराम्** अत्यन्तं ज्ञेयाः। किं तद्गुरूणां वैयाकरणश्रेष्ठत्वं ? तदाह **ये** गुरवः, **ममतास्थाने** ममतारूपे, **समतां** समतारूपं, **आदिश्य** आदेशं कृत्वा, **साधयन्ति** इदमेव वैयाकरणश्रेष्ठत्वं गुरूणामिति भावः।। ९।।(१०२)

ननु स्त्रीपुत्रादित्यागः दुष्कर इत्याशंक्याह **त्यक्ष्यन्तीति। ये** च विषयाः **त्वां** तदासक्तमपि त्वाम्, **अवश्यं** निश्चयेन, **त्यक्ष्यन्ति** परित्यज्य गमिष्यन्ति, **त्वं च** त्वमपि, **यानपि** पुत्रादिविषयानपि, **त्यक्ष्यसि** परित्यज्य गमिष्यसि स्वमरणकाले अवश्यभाविवियोगकाले वा इत्यर्थः, किञ्च **येषां** विषयाणां, स्वतः **त्यागे** कृते सति, **महद्** अतीव, **सौख्यं** सुखं भवति, **तेषां** विषयाणां **त्यागेऽपि** त्यागनिमित्तकः, **कः श्रमः** किं दुःखं जायते, प्रत्युत सुखेनैव भाव्यमिति भावः।।१०।।(१०३)

है, जिससे वह पुरुष उसपर आसक्त होकर परमात्मा की सृष्टि चलाने का साधन बन जाता है।।७।।

यात्रा में अकस्मात् मिले हुए यात्रियों की तरह अकारण ही जिनके संयोग और अकारण ही जिनके वियोग होते रहते हैं (जिनमें अपना कुछ भी बस नहीं चलता) ऐसे परबस मिले हुए पशु, पुत्र, स्त्री आदि में ममता करके कभी कोई सुख नहीं पा सकता, ऐसा विचारशील पुरुषों ने निर्णय किया है।।८।।

हमारी दृष्टि में तो हमारे देशिक (आत्मज्ञान देनेवाले गुरु) ही बड़े भारी वैयाकरण हैं, जो कि हमारी ममता को निकाल कर उसके स्थान पर समता का आदेश कर देते हैं।।९।।

(जिन स्त्रीपुत्रादि को तुम प्राणाधिक प्रेम करते हो, एक दिन आयेगा जब कि) वे तुम्हें छोड़कर चले जायेंगे, या फिर तुम ही स्वयं परवश होकर उन्हें छोड़कर कूच कर जाओगे (ये दोनों बातें अवश्यम्भावी हैं)। जिन विषयों को स्वतः छोड़ने के अनन्तर बड़ा ही सुख मिला करता है उनके त्याग देने से कौन-सा परिश्रम पड़ता है।।१०।।

व्यवहारविमूढानां स्तुतिनिन्दामयः क्रमः।
सोऽपि तत्कायपर्यन्तः कायः कतिदिनान्वयी।।११।।(१०४)
एकतः सकला लोका विकर्षन्ति यथाबलम्।
पदार्थमालां बलवानेकः कालो गिलत्यसौ।।१२।।(१०५)
लोला लक्ष्मीर्वयं लोला लोला विषयवृत्तयः।
किं सुखं तत्र यत्राङ्ग जीवनस्यैव संशयः।।१३।।(१०६)

ननु विषयत्यागेन वैराग्ये क्रियमाणे सुहृज्जनकृतनिन्दा दुःसहा इत्याशंक्याह **व्यवहारेति। व्यवहारविमूढानां** व्यवहारेऽपि ये विमूढाः विशिष्टा मूर्खा, व्यवहारेऽपि अर्थसाधनं तेषां न स्याद् इति भावः। व्यवहारेऽपि स्तुतिनिन्दयोः सत्त्वात् तत्र च निन्दाभयेन व्यवहारलोपः प्रसज्येत अतः ते उभयज्ञानशून्याः तेषां, **स्तुतिनिन्दामयः क्रमः** स्तुतिः प्रशंसा, निन्दा जुगुप्सा, च तत्प्रचुरः क्रमः व्यवहारः न तु उभयज्ञानिनां स्तुतिर्निन्दा च इति स्वकार्यपरत्वमेव तव उचितमिति सूचितम्, तथापि न सहते चेत् तत्राह **सोऽपि इति। सोऽपि** स्तुतिनिन्दामयक्रमोऽपि, **तत्कायपर्यन्तः** तेषां सम्बन्धिशरीरपर्यन्तमेव, अतः स **कायः** तत्सम्बन्धि शरीरं, **कतिदिनान्वयी** कतिदिनपर्यन्तं तव सम्बन्धी स्यात्, शरीरपर्यन्तं निन्दा सह्या परन्तु 'स्वकार्यं साधयेत् धीमान्' इति नीतिवाक्येन स्वकार्यपरस्यैव धीमत्वप्रतिपादनात् तव स्वकार्यपरता एव योग्या इति भावः।।११।। (१०४)

एवं नीतिं प्रदर्श्य विषयासक्तौ भयमपि दर्शयति **एकत इति। सकलाः** सर्वे, **लोका** जीवाः, **पदार्थमालां** विषयस्रजं, **यथाबलम्** बलमनतिक्रम्य, स्वस्वशक्त्यनुसारेण इत्यर्थः, **एकत** एकदेशेने, **विकर्षन्ति** स्वस्वाभिमुख्येन मम एव इयमिति स्वीकुर्वन्ति इत्यर्थः, अन्यत्र देश **एक** असहायी, **बलवान्** महाबलः, **कालः** सर्वजगत्कलनसमर्थः ईश्वरः, ताम् **गिलति** ग्रसति **असौ,** विषयासक्त्या कालमुखे न गन्तव्यं तत्त्यागेन अमृतो भव इति भावः।।१२।।(१०५)

ननु यावद्विषयभोगसुखहेतुत्वाद् विषयाणां कुतः त्याज्यत्वम् इत्याशंक्य तत्र विषयाणां, वृत्तीनां, भोक्तुश्च क्षणिकत्वेन अन्योन्याभावे जीवनस्य एवाभावः कुतः भोगजन्यसुखाशंका इत्याशयेन

व्यवहार में उलझ कर पथभ्रष्ट हुए लोग ही स्तुति और निन्दा किया करते हैं। उनकी यह स्तुति और निन्दा केवल उस शरीर तक ही चलती है, सोचो तो सही कि यह शरीर ही कितना टिकाऊ है? (उन निन्दकों को निन्दा कर लेने दो, उन्हें संसार-भीरु बता लेने दो, तुम तो केवल अपना मुक्तिरूप कार्य सिद्ध कर डालो)।।११।।

अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार एक छोर पर तो सारे जीव इस पदार्थ माला को अपनी-अपनी ओर को ('यह मेरी ही है' इस ममता से) खींच रहे हैं, दूसरी ओर इस पदार्थ माला को अकेला महाबलशाली काल (ईश्वर) ग्रास करता चला जा रहा है (विवेकी पुरुषों को उचित है कि विषयासक्ति में फँसकर उस काल के ग्रास न बनें और अमृत पद को पाने का प्रयत्न करें)।।१२।।

शोकमोहौ भयं दैन्यम् आधिर्व्याधिः क्षुधा तृषा।
इत्यादि विविधं दुःखमिति संक्षेपकीर्त्तनम्।।१४।।(१०७)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे वैराग्यपीठिकाबन्धे कर्मविडम्बनाख्यं सप्तमं प्रकरणम्।।

अथ धर्मजिज्ञासा

अथातो धर्मजिज्ञासा धर्मः प्रोक्तश्चतुर्विधः।
नित्यो नैमित्तिकः काम्यः प्रायश्चित्तमिति क्रमात्।।१।।(१०८)

अह **लोलेति। लक्ष्मीः** विषयभोगसम्पत्तिः, **लोला** चञ्चला, क्षणिका इत्यर्थः, **वयम्** अस्मदादयो भोक्तृत्वाभिमानिनः,**लोलाः** क्षणिका, **विषयवृत्तयः** विषयाकारान्तःकरणवृत्तयः भोगसाधनभूता, **लोलाः** क्षणिकाः। एवं सर्वेषां क्षणिकत्वे उत्तरोत्तरक्षणे अभावसत्त्वाद् अन्योन्यत्राभावे सिद्धे **यत्र** विषयवृत्तौ, भोक्तरि च भोग्येऽपि, **जीवनस्यैव** केवलसत्त्वस्यैव, **संशयः** अस्ति न वा इति सन्देहः, **तत्र** विषयभोगे, **किं सुखं** सुखसत्त्वं कुतो निश्चेयं, यत्रासक्तिः स्यादिति भावः।।१३।।(१०६)

इदानीं तत्र क्षणिकसुखेऽपि अनेकदुःखमिश्रितत्वेन दुःखरूपत्वमेव इति तदासक्तिः न कार्या इति सिद्धान्तयन् उपपादितमर्थम् उपसंहरति **शोकेति। शोकमोहौ** शोकः गतार्थगुणचिन्ताजन्यं दुःखं, मोहः दुःखेन कर्त्तव्याकर्त्तव्यविस्मृतिः, **भयं** भीतिः प्रसिद्धाः, **दैन्यं** स्वविषयालाभजन्यं दुःखम् **आधिः** संकल्पजनितदुःखप्रतीतिः, **व्याधिः** ज्वरादिरोगजनितपीडा, **क्षुधा** बुभुक्षाजनितदुःखप्रतीतिः, **तृषा** पिपासाजनितपीडा, **इत्यादि** एतदादि, **विविधम्** अनेकप्रकारं, **दुःखं** तत्र सुखाभासे अस्ति दुःखमिश्रितत्वेन न तत्सुखं दुःखमेव, विषमिश्रितान्नं विषमिव इति भावः। **संक्षेपकीर्त्तनं** विषयदोषाणां संक्षेपतः निरूपणम् इति समाप्तम् इत्यर्थः।।१४।।(१०७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ वैराग्यपीठिकाबन्धार्थप्रकाशे कर्मविडम्बनार्थप्रकाशः सप्तमः।।

एवं सर्वविषयदोषान् प्रदर्श्य तत्र कर्मविडम्बनायां कर्मणां त्याज्यत्वे सर्वकर्मणां त्यागेन मुमुक्षूणां चित्तशुद्धिः न स्यादिति; ग्राह्यं कर्म ग्राहयितुं धर्मजिज्ञासाम् आरभते एकोनत्रिंशद्भिः श्लोकैः। तत्र अवान्तरप्रकरणानिधर्मजिज्ञासा-तपस्यातात्पर्य-व्रतव्यवस्था-वेषविचार-मौनमीमांसा-दानज्ञान-

लक्ष्मी अर्थात् विषयभोग की सामग्री अचिरस्थायिनी है, हम भोक्ता लोग भी कुछ अधिक दिन रहने वाले नहीं हैं, विषय-प्राप्ति का विचार भी सदा नहीं बना रहता, फिर प्यारे! बताओ तो सही कि विषयों में सुख कैसे हो सकता है जब कि वहाँ आये दिन जीवन के ही लाले पड़े रहते हैं।।१३।।

शोक, मोह, भय, दीनता, आधि, व्याधि, भूख-प्यास ये दुःख भी तो (उस संसारी सुख में) भरे ही पड़े हैं (सुख का शुद्धरूप तो संसारी सुख में देखने को भी नहीं मिलता)। यह विषयदुःखों का संक्षेप से कीर्त्तन हुआ।।१४।।

वर्णाश्रमसमाचारः शौचस्नानादयश्च ये।
आवश्यकास्ते नित्याः स्युरकृत्य प्रत्यवैति यान्।।२।।(१०९)
देशकालनिमित्ता ये ते तु नैमित्तिकाः स्मृताः।
संक्रान्तिग्रहणस्नानदानश्राद्धजपादयः।।३।।(११०)

तीर्थतत्त्व-आचारचातुरी-आख्यानि अष्टौ सन्ति, तानि क्रमतः व्याख्यास्यामः, तत्रादौ धर्मजिज्ञासाप्रकरणम् एकादशश्लोकं व्याख्यायते, तत्र तावद् धर्मजिज्ञासानिरूपणं सभेदं प्रतिजानीते **अथेति। अथ** वैराग्यनिरूपणानन्तरं, यतः ग्राह्यत्याज्यधर्मज्ञानं विना ग्राह्यधर्मसंग्रहो न स्यात् तेन विना मुमुक्षोः चित्तशुद्धिः न स्यात् 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' इत्यादिश्रुतेः, कर्मणां शुद्धिद्वारा वेदनेच्छाजनकत्वं श्रुतं, वक्ष्यति हि 'वेदनेच्छा वेदनं वा चित्रा सत्कर्मणां गतिः' इति। **अतः** कारणाद्, **धर्मजिज्ञासा** धर्मस्य जिज्ञासा ज्ञानेच्छा, कर्त्तव्या इति शेषः। तस्यां च कर्त्तव्यायां सत्यां शिष्यं प्रति धर्मं ज्ञापयितुं तद्भेदमाह **धर्म इति। धर्मः** विहितधर्मरूपः, **चतुर्विधः** चतुःप्रकारः, **प्रोक्तः** कथितः, मन्वादिभिः इति शेषः। चातुर्विध्यमेव दर्शयति **नित्य इति। नित्यो** एकः, **नैमित्तिकः** निमित्ताद् उत्पन्नः द्वितीयः, **काम्यः** कामनानिमित्तः तृतीयः, **प्रायश्चित्तं** प्रायश्चित्तनामा चतुर्थ, **इति** एवं, **क्रमात्** क्रमेण, स चतुर्विधः ज्ञेयः।।१।।(१०८)

तत्रादौ नित्यधर्मं लक्षयति एकेन **वर्णेति। ये** धर्मा, **वर्णाश्रमसमाचारा** वर्णानां ब्राह्मणादीनाम् अनुलोमादीनां च, आश्रमाणां ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतीनां, समाचाररूपा विविक्ता आचाररूपाः **शौचस्नानादयश्च** शौचम् आन्तरं रागत्यागरूपं, बाह्यं स्नानादिरूपं देहमलत्यागरूपम्, एते आदिनी येषां संध्यावन्दनादीनां ते तथोक्ताः। साधारणलक्षणमाह **आवश्यका इति। आवश्यका** यैः विना इह लोके, परत्र वा भ्रष्टाः स्युः ते। तानेव स्पष्टमाह **यान्** धर्मान्, **अकृत्य** न कृत्वा, **प्रत्यवैति** प्रत्यवायः दोषः, तद्वान् भवति, **ते** धर्मा, **नित्याः स्युः** भवेयुः।।२।।(१०९)

नैमित्तिकान् लक्षयति एकेन **देशेति। ये** धर्मा, **देशकालनिमित्ता** देशाः क्षेत्राणि कुरुक्षेत्र-प्रयागादीनि, काला व्यतीपातसंक्रान्तिग्रहणादयः, ते एव निमित्तं येषां धर्माणां ते, तु-पदेन नित्यधर्माद् अस्य कादाचित्कत्वं दर्शितम्। **ते** धर्मा, **नैमित्तिका** निमित्तभवाः, **स्मृताः** स्मृतिभिः प्रतिपादिताः। तानेव स्पष्टमाह **संक्रान्तीति। संक्रान्तिग्रहणस्नान-दानश्राद्धजपादयः**

वैराग्य के निरूपण के अनन्तर चित्तशुद्धि के लिये ग्राह्य धर्मों का संग्रह करना आवश्यक है। इसलिए धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त भेद से वह धर्म चार प्रकार का होता है।।१।।

जो धर्म (ब्राह्मणादि) वर्णों तथा (ब्रह्मचारी आदि) आश्रमों के आचाररूप हैं, जैसे कि रागत्यागादिरूप आन्तरशुद्धि, स्नानादिरूप बाह्यशुद्धि तथा सन्ध्यावन्दनादि, जिनको कि न करने से मनुष्य पाप का भागी होता है, वे धर्म 'नित्यधर्म' कहलाते हैं।।२।।

प्रायश्चित्तात्मका धर्माः कृच्छ्रचान्द्रायणादयः।
कामनापूर्वकं काम्यं मुमुक्षोर्न विधीयते।।४।।(१११)
हरिप्रसादकाम्या च चित्तशुद्धेश्च कामना।
मोक्षस्य कामना चेति कामनेयं न कामना।।५।।(११२)

संक्रान्तिग्रहणे च कालौ, अन्येषामपि उपलक्षणमेतद् व्यतीपातादीनां देशानां चेति ज्ञेयं, तन्निमित्तकाः स्नानं प्रसिद्धं, दानं द्रव्यादीनां सत्पात्रे प्रक्षेपणं, श्राद्धं पितृकार्यं, जपश्च गायत्र्यादिमन्त्रावृत्तिः आदयः येषां यज्ञोपवासादीनां ते तथोक्ताः ते सर्वे नैमित्तिका ज्ञेयाः।।३।।(११०)

तेषु ग्राह्यत्वात् प्रथमं प्रायश्चित्तधर्मान् दर्शयति **प्रायश्चित्तेति**। कृच्छ्रचान्द्रायणादयः कृच्छ्रं च शरीरशोषणादिना पापनिवर्त्तकं तप्तकृच्छ्रादि, चान्द्रायणं च मासादिनियमेन एकग्रासत एकैकोत्तरं पञ्चदशग्रासवृद्ध्या पञ्चदशदिनानि व्यतीत्य तत एकैकग्रासेन एकग्रासावशेषरूपमु, आदिनी येषां ते धर्माः, **प्रायश्चित्तात्मका** प्रायश्चित्तनामकाः दोषनिवर्तका ज्ञेयाः। काम्यधर्मनिरूपणपूर्वकं तत्र मुमुक्षोः प्रवृत्तिं वारयति **कामनेति। कामनापूर्वकं** कामनया यत् क्रियमाणं तत् **काम्यं** कर्म ज्ञातव्यं; तत् **मुमुक्षोः** मोक्षेच्छोः **न विधीयते** न कथ्यते तत्र विरक्तत्वात् तस्य इत्यर्थः, काम्यकर्मणस्तु कामिविषयत्वाद् इति भावः।।४।। (१११)

ननु निष्कामकर्मणां चित्तशुद्धिनिमित्तत्वाद् उपासनायाश्च भगवत्प्रसादनिमित्तत्वात् श्रवणादीनां च मोक्षकामनानिमित्तत्वाच्च सर्वमपि कर्म काम्यत्वात् त्याज्यम् इत्याशंक्य तस्य कामनानिवर्त्तकत्वात् न त्याज्यत्वमित्याशयेन आह **हरीति। हरिप्रसादकाम्या च** हरेः भगवतः, प्रसादः, प्रसन्नता, तस्य काम्या कामनापि, **च,** पुनः **चित्तशुद्धेः** चित्तस्य अन्तःकरणस्य, शुद्धिः निर्मलत्त्वं, तस्याः, **कामना** इच्छा, **च** पुनः, **मोक्षस्य** मुक्तेः, **कामना** इच्छा, **इयं** कामनापि इच्छापि **न कामना** अकामनैव सा स्वनाशहेतुत्वादिति भावः।।५।।(११२)

जो संक्रांति ग्रहण आदि काल तथा विशिष्ट पुण्यक्षेत्रादि देश के कारण स्नान, दान, श्राद्ध, जप, यज्ञ तथा उपवासादि किये जाते हैं, वे 'नैमित्तिक धर्म' कहलाते हैं।।३।।

(शरीर-शोषण आदि द्वारा पापों की निवृत्ति करके दोषों को दूर करनेवाले) कृच्छ्र चान्द्रायणादि धर्म 'प्रायश्चित धर्म' कहलाते हैं। किसी फल की कामना से किये जाने वाले 'काम्य कर्म' होते हैं, परन्तु मुमुक्षुओं को वे करने का अधिकार नहीं होता।।४।।

भगवान् को प्रसन्न करने, चित्त को शुद्ध करने तथा मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा, इच्छा नहीं कहाती (क्योंकि इन इच्छाओं से तो जीवत्वरूपी भ्रम का नाश हो जाता है और अन्य इच्छायें भी नष्ट हो जाती हैं)।।५।।

तस्मात् तया कामनया स्नानदानजपादिकम्।
तीर्थव्रततपोनिष्ठा मोक्षकामैर्विधीयताम्।।६।।(११३)
कर्मणां निर्णयं त्वेवं गीतायामाह माधवः।
सर्वथा न परित्याज्यं नित्यं कर्म मुमुक्षुणा।।७।।(११४)
ज्ञाने जातेऽपि न त्याज्यं लोकानुग्रहहेतुना।
यो वासनापरित्यागः कर्मत्यागः स एव हि।।८।।(११५)

सिद्धान्तयति **तस्मादिति। तस्माद्** हेतोः, कर्मणः कामनिवर्त्तकत्वाद् इत्यर्थः। **तया कामनया** तया भगवत्प्रसादादीच्छारूपेच्छया, **स्नानदानजपादिकं** स्नानं च प्रसिद्धं, दानं च द्रव्यादीनां सत्पात्रे निक्षेपो, जपश्च गायत्र्यादिमन्त्रस्यावृत्तिरूप, आदयः यस्य तत्सर्वमपि कर्म,आदिपदाद् उपासनश्रवणमननादयः गृह्यन्ते। **मोक्षकामैः** मुमुक्षुभिः, **तीर्थव्रतपोनिष्ठा** तीर्थानि पुष्कारादीनि, व्रतानि एकादश्युपवासादीनि, तपांसि स्वस्वकर्माचरणे क्लेशसहनरूपाणि, तेषु निष्ठा सहजप्रीतिः, **विधीयतां** क्रियताम्।।६।।(११३)

ननु अत्र किं प्रमाणं? तत्राह **कर्मणामिति। माधवः** श्रीकृष्णः, उभयविधलक्ष्मीच्छावताम् अनुल्लंघ्यवचनत्वं माधवपदेन सूचितमिति ज्ञेयम्। **गीतायां** भगवद्गीतायां, **कर्मणां** विहितकर्मणां, त्यागेऽत्यागे वा **एवम्** अनेन प्रकारेण, **निर्णयं** निश्चयम्, **आह** उक्तवान्। किम् उक्तवान् तत्राह्यज्ञ इति। यज्ञो नित्यो ब्रह्मयज्ञादिः, **दानं** च **तपश्च** मनीषिणां विवेकवतां मुमुक्षूणाम् इत्यर्थः। पावनानि अन्तःकरणशुद्धिकारणानि सन्ति इति, एवमुक्तवान् इत्यर्थः। तथा च गीतायां 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्। एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति। अतः **सर्वथा** सर्वप्रकारेण, **मुमुक्षुणा** मोक्षेच्छुना, **नित्यं कर्म** आवश्यकं सन्ध्यावन्दनादि, **न परित्याज्यं** नैव त्यक्तव्यम्।।७।।(११४)

ननु जिज्ञासूनां कर्मकर्त्तव्यतायां विहितायामपि ज्ञानिनां तु तत्त्यागो विहित एव? इत्याशंक्य वृथाज्ञानित्वाभिमानेन न कर्त्तव्य इत्याह **ज्ञान इति। ज्ञाने** देहाद्यतीतात्मज्ञाने, **जातेऽपि** उत्पन्नेऽपि, **लोकानुग्रहहेतुना** लोकान् कर्म ग्राहयितुम् इच्छया, **न त्याज्यं** कर्म न त्यक्तव्यम्। अयमपि निर्णयो भगवद्गीतासूक्तः, 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि' इत्यादिभिः। ननु तु 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इति श्रुतौ मुमुक्षूणां कर्मत्यागो विहित इत्याशंक्याह **य इति। यो वासनापरित्यागो** वासनानां जगन्मिथ्यात्वबुद्ध्या वासनानाम् अत्यन्ताभावज्ञानमेव परित्यागः **स एव कर्मत्यागः** कर्मणां त्यागः संन्यासः, **हि** प्रसिद्ध उक्तः श्रुतौ इत्यर्थः।।८।।(११५)

इसलिये ऊपर की इन तीनों कामनाओं को लेकर मुमुक्षुओं को भी स्नान दान जपादिक, तथा तीर्थ व्रत और तप में स्वाभाविक प्रीति, करनी ही चाहिए।।६।।

विहित कर्मों के (त्याग या अत्याग के) विषय में भगवान् ने गीता में यह निर्णय कहा है कि मोक्षेच्छुओं को सन्ध्यादि नित्य कर्म किसी प्रकार भी नहीं छोड़ना चाहिये।।७।।

न कर्मणां परित्यागः कर्मत्यागो मनोमयः।
यज्ञो दानं तपश्चेति पावनानि मनीषिणाम्।।९।।(११६)
कर्मणा चित्तशुद्धिः स्यात् तया तीव्रा मुमुक्षुता।
ततो विवेकाद् मुक्तिः स्यात् कर्म त्याज्यं कथं तु तत्।।१०।।(११७)

कर्मणः बाह्यस्य त्यागः नैव कार्यः किन्तु मनसा कर्तृकरणक्रियाणां मिथ्यात्वदृढीकरणं कार्यमित्याशयेन आह **नेति। कर्मणां** क्रियाणां, स्वरूपेण **परित्यागः** सर्वभावेन संन्यासो, **न** न कर्त्तव्य इत्यर्थः। किन्तु **मनोमयः** मनसा एव त्रिपुटीमिथ्यात्वदृष्टिरूपः, **कर्मत्यागः** कर्मणां विहितानां, त्यागः संन्यासः, कर्त्तव्य इति शेषः, ननु यज्ञादिकर्मणां कुतो न त्याज्यत्वं तत्राह **मनीषिणामिति। यज्ञः** ब्रह्मयज्ञादिः, **दानं** प्रसिद्धं सत्पात्रे द्रव्यनिक्षेपरूपं, **तपश्च** स्वस्वकर्मसु क्लेशसहनादरः, एतानि **मनीषिणां** मननवतां, विवेककारणत्वात् **पावनानि** चित्तशोधकानि सन्ति इति, अतो न त्याज्यानि इत्यर्थः।।९।।(११६)

एवं कर्मत्यागे दोषं निरूप्य इदानीं कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानोपकारकत्वात् तत्त्यागे मित्रद्रोहसम्भवात् तेन दोषेण ज्ञानाभावे जन्ममरणरूपसंसारनरकपातरूपानिष्टप्रदर्शनेन कर्मणि आदरं विधत्ते **कर्मणा इति। कर्मणा** विहितकर्माचरणेन, **चित्तशुद्धिः** चित्तस्य अन्तःकरणस्य, शुद्धिः रागादिमलापकरणं, **स्याद्** भवेत् **तया** चित्तशुद्ध्या, **तीव्रा** यत्नसहिता, **मुमुक्षुता** मोक्षेच्छास्थैर्यं स्यात्, **ततो** मुमुक्षास्थैर्याद्, **विवेकाद्** विवेको जायते तस्मात्, **मुक्तिः** मोक्षः, **स्यात्** भवेत् तत्तु ईदृशं कर्मोपकारकं, **कर्म** विहिताचाररूपं, **कथं** केन प्रकारेण, **त्याज्यं** त्यागयोग्यं भवेत्, न कथमपि इत्यर्थः। अतः तत्त्यागे अनिष्टमेव स्याद् इति भावः।।१०।। (११७)

आत्मदर्शन हो जाने पर भी लोकसंग्रह (लोगों को कर्म करना सिखाने) के लिये ज्ञानी लोगों को कर्म करना नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि वासनाओं के परित्याग को ही 'कर्मत्याग' कहा जाता है।।८।।

क्रियाओं का त्याग यथार्थ कर्मत्याग नहीं कहलाता, किन्तु मन से ही कर्मों का त्याग करना चाहिये। यज्ञ, दान और तप ये तो मनीषियों के चित्त को शुद्ध करनेवाले धर्म हैं। अतः त्यागने नहीं चाहिये।।९।।

विहित कर्मों के आचरण से चित्तरूपी क्षेत्र रागादि मलों से रहित हो जाता है, उसमें तीव्र मोक्षेच्छारूपी बीज बोया जाता है, तीव्र मोक्षेच्छारूपी बीज से विवेकरूपी अंकुर का उदय होता है, उस पर बढ़ते-बढ़ते मोक्षरूपी फल लगते हैं। इतना उपकारक विहिताचरणरूपी कर्म भला किस प्रकार छोड़ देना चाहिए!।।१०।।

ये तु बोधेन संप्राप्तास्तात कर्मातिगां दशाम्।
न विधेः किंकरास्तस्मात् स्वच्छन्दं विचरन्तु ते।।११।।(११८)

इति श्रीबोधसारे धर्मजिज्ञासायां कर्मत्यागात्यगनिर्णयाख्यं प्रथमं प्रकरणम्।।

ननु तर्हि शुकादिषु तत्त्यागः कथं श्रूयते तत्राह **ये तु इति**। तु पदेन उक्तपूर्वकर्माधिकारिभ्यो वैलक्षण्यम् एतेषु सूचितम्। **ये** त्वदाशङ्किताः शुकादयः, **बोधेन** ज्ञानेन, **कर्मातिगां दशां** कर्मणाम् अगोचराम् अवस्थां, **संप्राप्ता** याता, हे **तात, ते** दत्तादयः अवधूता, **विधेः** वेदाज्ञायाः, **किंकरा** दासा, अधिकारिण इत्यर्थः **न** न भवन्ति। तथा च उक्तम् **तस्मात्** कर्मणि अनधिकृतत्वात्, कृतकृत्यत्वाच्च, **स्वच्छन्दं** स्वेच्छया कर्मणि अकर्मणि वा, **विचरन्तु** वर्त्ततām्; तथा च श्रुतिः

'वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतेः दासो भवेत् नरः।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्त्तते श्रुतिमूर्धनि।।' इति।
'यावद् देहात्मविज्ञानं बाध्यते न प्रमाणतः।
प्रामाण्यं कर्मशास्त्राणां तावद् देह्युपपद्यते'।। इति च।
भगवताऽपि उक्तम् 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येवात्मना तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः'।। इति।
'समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशय'।। इति।
तेषां जीवन्मुक्तानां कृतेऽकृते वा कर्मणि गुणो दोषो वा नेति भावः।।११।।(११८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ धर्मजिज्ञासार्थप्रकाशे धर्मत्यागात्यागविवेकार्थप्रकाशः प्रथमः।।

हे तात! जो ज्ञान की महिमा से कर्म से ऊँची अवस्था को पा चुके हैं, वे तो विधि की आज्ञा मानेंगे ही नहीं, वे विधि के दास नहीं रहे हैं, उनको स्वच्छन्द घूमने दो। (उनको देखकर आप नवाभ्यासी लोग उच्छृंखल मत बनो। शुक दत्त अवधूत आदि पर तो वर्णाश्रमादि के अभिमान से रहित हो जाने के कारण विधि ने शासन करना ही छोड़ दिया था, वे तो ज्ञान की अधिकता के कारण कर्म की हद से बाहर होकर कृतकृत्य हो गए थे, इसलिये ऐसे अधिकारी लोग तो स्वच्छन्दतापूर्वक चाहे जैसा बर्ताव करें उनको वैसा करने दो, क्योंकि उनको तो गुण दोष कुछ भी नहीं लगता। ऐसे सिद्ध लोग कर्मत्याग करें तो उन्हें देख कर सामान्य जनों को कर्म से विचलित होना नहीं चाहिये)।।११।।

अथ तपस्यातात्पर्यम्

कृता कपटभावेन दम्भलोभपरायणैः।
हट्टे नगरमध्ये वा सा तपस्याऽधमा स्मृता।।१।।(११९)
वेदशास्त्रोक्तविधिना शीतोष्णादिसहिष्णुना।
या कृता कामनापूर्वं सा तपस्या तु मध्यमा।।२।।(१२०)

एवं धर्मत्यागात्यागनिर्णयं कृत्वा इदानीं तत्प्रसङ्गेन तपस्त्यागात्यागनिर्णयं निरूपयितुं तपस्यातात्पर्याख्यं प्रकरणम् आरभते चतुर्भिः श्लोकैः; तत्रादौ त्याज्यत्वेन अधमां तपस्यां लक्षयति **कृतेति। दम्भलोभपरायणैः** दम्भः लोककृतस्तुतीच्छया स्वतपस्वित्वख्यापनं, लोभः द्रव्यादिप्राप्तीच्छा, तौ एव परमयनं मनोनिवासः येषां तैः, **कपटभावेन** छलेन, **हट्टे** व्यापारिजनदृग्गोचरस्थाने, **नगरमध्ये वा** नगरग्रामादिषु मध्येऽपि, **कृत्वा,** या **तपस्या** तपःक्रिया, **सा अधमा** निकृष्टा, **स्मृता** प्रोक्ता, मुनिभिः इति शेषः। अतो न अंगीकार्या सा इति भावः।।१।।(११९)

मध्यमां काम्यतपस्यां लक्षयति **वेदेति। वेदशास्त्रोक्तविधिना** वेदेन शास्त्रेण च उक्तेन विधिना आचरणेन, **शीतोष्णादिसहिष्णुना** शीतोष्णादिसुखदुःखसहनशीलेन कर्त्रा, **या कृता** तप्ता, **कामनापूर्वं** कामनानिमित्तका च यथा तथा, **सा तपस्या** तत्तपः, **तु** पूर्वविलक्षणा, **मध्यमा** मुमुक्षुभिः न आदरणीया सा इत्यर्थः।।२।।(१२०)

उत्तमां मुमुक्षुग्राह्यां तपस्यां लक्षयति **मनस इति। तत्त्वजिज्ञासोः** अनारोपितात्मज्ञानेच्छोः, **मनसः** अन्तकरणस्य, **निग्रहार्थाय** वशीकरणमेवार्थः तदर्थं, तथा **परमार्थपरायणा** परमार्थो मोक्षः स एव परायणं मुख्यं साध्यं यस्याः सा तथोक्ता, **अकामा** ऐहिकपारलौकिकविषयेच्छाहीना या, **सा**

दम्भ (लोगों से अपनी स्तुति कराने की इच्छा) और लोभ (द्रव्यप्राप्ति की इच्छा) को मन में रखकर कपट-भाव से बाजार में या नगर ग्रामादिकों में बैठकर (जहाँ सब लोगों की दृष्टि पड़ती हो) जो तपस्या की जाती है वह तपस्या निकृष्ट तपस्या कहाती है।।१।।

वेद शास्त्र में कही हुई विधि से शीतोष्णादि सहन करते हुए किसी कामना से जो तपस्या की जाती है वह मध्यम तपस्या कहाती है। (यह भी मुमुक्षु के काम की नहीं होती)।।२।।

मनोनिग्रह करने के लिये केवल मोक्षरूप परमार्थ को प्राप्त करने के उद्देश्य से ऐहिक तथा पारलौकिक किसी भी इच्छा को न रखते हुए तत्त्वजिज्ञासु मुनि लोग जो तप किया करते हैं, वही श्रेष्ठ तपश्चर्या कहाती है।।३।।

मनसो निग्रहार्थाय परमार्थपरायणा।
अकामा तत्त्वजिज्ञासोः सा तपस्योत्तमा मता।।३।।(१२१)
आगते स्वागतं कुर्याद् गच्छन्तं न निवारयेत्।
यथाप्राप्तं सहेत् सर्वं सा तपस्योत्तमोत्तमा।।४।।(१२२)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे धर्मजिज्ञासाप्रकरणे तपस्यातात्पर्याख्यं द्वितीयं प्रकरणम्।।

अथ व्रतव्यवस्था

परदारपरद्रव्य-परद्रोहविवर्जनम्।
रागद्वेषपरित्यागो व्रतानामुत्तमं व्रतम्।।१।।(१२३)

तपस्या सा तपःक्रिया, **उत्तमा** श्रेष्ठा, स्मृता मुनिभिः इति शेषः। अतो मुमुक्षुभिः इयम् अन्तःकरणशुद्ध्यर्थम् अङ्गीकार्या इति भावः।।३।। (१२१)

इदानीं पूर्वोक्ताभ्यो विलक्षणां जीवन्मुक्तेषु स्थितां तां सर्वश्रेष्ठां लक्षयति **आगते इति। आगते** प्राप्ते, पुरुषे वा कस्मिंश्चित् पदार्थे; **स्वागतम्** आदरं, **कुर्यात्** क्रियतां, **गच्छन्तं** गन्तारं, पुरुषं वा कञ्चित् पदार्थं **न निवारयेत्** न निरुन्ध्यात्। किञ्च **यथाप्राप्तं** येन सुखरूपेण वा दुःखरूपेण प्रकारेण, प्राप्तम् आगतं **सर्वं** सुखं दुःखं वा **सहेत्** सोढव्यं **सा** उक्तलक्षणा, **तपस्या** तपश्चर्या, **उत्तमोत्तमा** अतीवश्रेष्ठा। इयं जीवन्मुक्तेषु जीवन्मुक्तिस्थितिलक्षणरूपा एव इति भावः।।४।।(१२२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ धर्मजिज्ञासार्थप्रकाशे तपस्यातात्पर्यार्थप्रकाशः द्वितीयः।।

इदानीं मुमुक्षूणां ग्राह्यं व्रतं निर्णेतुं व्रतव्यवस्थाख्यं प्रकरणमारभते द्विश्लोकं, तदेव व्रतं दर्शयति **परेति। परदारपरद्रव्यपरद्रोहविवर्जनं** परेषाम् अन्येषां, दाराः स्त्रियः तथा परेषाम् अन्येषां, द्रव्याणि गृहधनादीनि। तथा परेषाम् अन्येषां, द्रोहः अनिष्टचिन्तनपूर्वकः तदुद्योगः। तेषां विवर्जनं त्यागः। तथा **रागद्वेषपरित्यागः** रागः विषयस्नेहः, द्वेषः अप्रीतिः, तयोः परित्यागः सर्वथा अनंगीकार, एतदेव **व्रतानाम्** एकादश्युपवासादिव्रतानां, मध्ये **उत्तमम्** अतिश्रेष्ठं, **व्रतं** नियमेन अनुष्ठेयम्, इत्यर्थः।।१।।(१२३)

(प्रारब्धवश) आनेवाले (सुख, दुःख) का स्वागत करे, जाने वाले को रोके नहीं, जो जैसे प्राप्त हो उसे वैसे ही सहन करे, बस यही उत्तम से उत्तम तपस्या है।।४।।

दूसरों की स्त्री, दूसरों के द्रव्य तथा दूसरों के अनिष्टचिन्तन का परित्याग करना, राग-द्वेष को छोड़ना, यह अन्य सम्पूर्ण (उपवासादि) व्रतों से भी उत्तम व्रत है।।१।।

तदुक्तं काशीखण्डे

'परदारपरद्रव्य-परद्रोहपराङ्मुखः।
गंगाप्याह कदागत्य मामयं पावयिष्यति'।।२।।(१२४)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे धर्मजिज्ञासाप्रकरणे व्रतव्यवस्थाख्यं तृतीयं प्रकरणम्।।

अथ वेषविचारः

मुक्तिर्नास्ति जटाजूटे न काषाये न मुण्डने।
न भस्मनि न कन्थायां तिलके वा कमण्डलौ।।१।।(१२५)

अत्र प्रमाणमाह**तदुक्तमिति। तत्** मन्निर्णीतमेव व्रतं, **काशीखण्डे** ग्रन्थेपि, **उक्तं** ज्ञेयम्, कथितमिति ज्ञेयम् इत्यर्थः। तत्रत्यवाक्यमाह **परेति। गङ्गापि** सर्वान् पवित्रयितुं समर्थाऽपि प्रसिद्धा गंगा, **परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः** परदारेषु परस्त्रीषु, परद्रव्येषु परधनेषु, परद्रोहे परानिष्टचिन्तने च, परङ्मुखः निवृत्तः, अप्रवृत्त इत्यर्थः। **अयं** प्रसिद्धगुणः पुरुष, **आगत्य** आगतः, सन् **मां** सर्वजनसङ्गजन्यपापैः मलिनां, **कदा** कस्मिन् काले, **पावयिष्यति** पवित्रीकरिष्यति, इति **आह** एवं प्राह, अत एवोक्तं विश्वास्यमिति भावः।।२।।(१२४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ धर्मजिज्ञासार्थप्रकाशे व्रतव्यवस्थार्थप्रकाशः तृतीयः।।

इदानीं संन्यासादिवेषस्यैष मुक्तिहेतुत्वप्रसिद्धेः तन्निर्णयार्थं वेषविचाराख्यं प्रकरणम् त्रिश्लोकम् आरभते; तत्र तावद् मुक्तेः हेतुत्वं वेषे नास्ति इत्याह **मुक्तिरिति। जटाजूटे** जटानां मुकुटवद् रचिते व्यूहे, **मुक्तिः** मोक्षः, **नास्ति** न विद्यते तथा **काषाये** गैरिकादिरंजिते वस्त्रे, मुक्तिः **न** विद्यते **मुण्डने** शिखाश्मश्र्वादिवपनेन विशिष्टवेषावधारणे, मुक्तिः **न** विद्यते **भस्मनि** विभूतिलेपने, मुक्तिः **न** विद्यते। **कन्थायां** वस्त्रखण्डादिनिर्मिते वसनादौ, मुक्तिः नास्ति। **तिलके वा** गोपीचन्दनादिना तिलके विशिष्टे धृतेऽपि, तस्मिन् मुक्तिः नास्ति। **कमण्डलौ** मृदादिनिर्मिते पात्रे, मुक्तिः न विद्यते, एतेन सर्वेऽपि वेषा मुक्तिहेतवो न भवन्ति इति सूचितम् इति ज्ञेयम्।।१।।(१२५)

काशीखण्ड में कहा है किगंगा भी कहती है कि पराई स्त्री, पराये द्रव्य, और पराये द्रोह से विमुख मनुष्य कब मुझमें आकर स्नान करें और कब मैं पवित्र होऊँ।।२।।

बालों के गुच्छे से, गेरू आदि से रंगे हुए वस्त्र से, दाढ़ी मूँछ कटा डालने और सिर मुंडवा लेने से, विभूति पोत लेने से, या चीथड़ों की गुदड़ी ओढ़ लेने से, तिलक छाप लगा लेने या कमण्डलु पकड़ लेने से किसी को मुक्ति नहीं मिलती।।।१।।

द्वेषेन ताड्यते सर्पो वृथा वल्मीकताडनम्।
मनसो निग्रहो नास्ति वृथा कायस्य मुण्डनम्।।२।।(१२६)
चित्तविक्षेपशान्त्यर्थं जटाकन्थादिधारणम्।
कुरुते वीतरागश्चेद् उत्तमोत्तममेव तत्।।३।।(१२७)

इति श्रीनरहरिकृतबोधसारे धर्मजिज्ञासाप्रकरणे वेषविचाराख्यं चतुर्थं प्रकरणम्।।

ननु एते वेषाः तर्हि शास्त्रेषु विहिताः कुत इत्याशंक्य सर्वाणि अपि वेषचिह्नानि मनोव्यापृतिसंकोचार्थत्वेन इति तद्द्वारा एव मुक्तिसाधनानि भवन्ति, तदभावे तु व्यर्थानि एव इत्याशयेनाह **द्वेषेनेति। द्वेषेन** शत्रुभावेन, **सर्पो** भुजङ्गः, केवलं **ताड्यते** मार्यते, बुधैः इति शेषः। **वल्मीकताडनं** मृद्विकारस्य सर्पगृहस्य ताडनं, मूर्खैः क्रियमाणं दण्डादिभिः हननमित्यर्थ, **वृथा** व्यर्थं, निष्फलमेव इत्यर्थः। तथा **मनसः** अन्तःकरणस्य, **निग्रहो** व्यापारनिवृत्तिः, **नास्ति** न विद्यते, तर्हि **कायस्य** शरीरस्य, **मुण्डनं** वेषान्तरधारणं, तथा **वृथा** निष्फलमित्यर्थः।।२।।(१२६)

तर्हि शास्त्रेषु तत्र तत्र कुतः वेषमहिमा कृत इत्याशंक्य वैराग्येन चित्तविक्षेपन्यूनत्वार्थं न तु तदासक्त्या तद्वृद्ध्यर्थम् इत्याशयेनाह **चित्तेति। वीतरागः** वीता रागा विषयस्नेहादिवृत्तयः यस्य स, निवृत्तस्नेहः पुरुषः, **चित्तविक्षेपशान्त्यर्थं** चित्ते मनसि, ये विक्षेपाः कार्यविशेषस्मृत्यादयः, तेषां शान्त्यर्थं निवृत्त्यर्थं, **जटाकन्थादिधारणम्** जटा असंस्कृतकेशाः, कन्थाः जीर्णवस्त्रादिखण्डनिर्मिता आदिपदेन भस्मकमण्डल्वादयः गृह्यन्ते, तेषां धारणम्, अंगीकारं कुरुते चेत्। कर्त्रभिप्रायक्रियाफलार्थेन आत्मनेपदप्रयोगेण दम्भादिना तद्धारणं निषिद्धमिति ज्ञेयम्, तदेतादृशवेषधारणम् **उत्तमोत्तमम् एव** इति उत्तमं सफलत्वात् तद्विहितमिति भावः।।३।।(१२७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ धर्मजिज्ञासार्थप्रकाशे वेषविचारार्थप्रकाशः चतुर्थः।।

द्वेष के कारण साँप को तो मारा करते हैं, परन्तु साँप के बजाय बल्मीक (बमई) को पीटना तो व्यर्थ ही है, इसी प्रकार यदि मन को अपने व्यापारों से नहीं रोका गया है तो इस बेचारे शरीर का मुण्डन कराकर इसे विरूप बना देना तो निष्फल ही है।।२।।

यदि वीतराग महात्मा लोग अपने चित्त के विक्षेप की शान्ति के लिये जटायें छोड़ दें, गुदड़ी ओढ़ें या भस्मादि लेपन करने लगें तो वह सर्वोत्तम बात है परन्तु ये मुक्ति के मुख्यसाधन नहीं हैं।।३।।

अथ मौनमीमांसा

मौनं चतुर्विधं प्रोक्तं वाङ्मौनं वाग्विनिग्रहः।
ज्ञानेन्द्रियाणां संरोधस्त्वक्षमौनमुदाहृतम्।।१।।(१२८)
कर्मेन्द्रियाणां संरोधः काष्ठमौनं तु काष्ठवत्।
गौणं तु त्रिविधं मौनम् उत्तमं तु मनोलयः।।२।।(१२९)
न मौनी मूकतां यातो न मौनी दुग्धबालकः।
न मौनी व्रतनिष्ठोऽपि मौनी सँल्लीनमानसः।।३।।(१३०)

इदानीं ग्राह्याग्राह्यत्वं मौनस्य निर्णेतुं मौनमीमांसाख्यं प्रकरणं चतुःश्लोकम् आरभते, तत्रादौ मौनभेदनिरूपणपूर्वकं तद्भेदेषु भेदद्वयं सलक्षणमाह **मौनमिति। मौनं** लोकप्रसिद्धं यन्मौनशब्देन, तत् **चतुर्विधं** शास्त्रे चतुःप्रकारं, **प्रोक्तं** निरूपितं, तेषु प्रथममाह **वागिति। वाग्विनिग्रहः** वाचो वाण्या विनिग्रहो निरोधः स, **वाङ्मौनं** वाच एव केवलं मौनं तूष्णीम्भावो, वाङ्मौननाम्ना शास्त्रेषु अभिहितम्। द्वितीयमाह **ज्ञानेति। ज्ञानेन्द्रियाणां** ज्ञानसाधनानि रूपादिज्ञानकरणानि यानि इन्द्रियाणि तेषां, **संरोधः** अवरोधः, स्वस्वविषयान्निवृत्तिः इत्यर्थः। **तु**पदेन अस्य पूर्वमौनादान्तरत्वं सूचितम् इति ज्ञेयम्, **अक्षमौनम्,** अक्षमौननाम्ना **उदाहृतं** कथितम्।।१।।(१२८)

तृतीयं मौनम् आह अर्धेन **कर्मेति। कर्मेन्द्रियाणां** क्रियासाधनानि यानि इन्द्रियाणि तेषां, **संरोधो** गमनादिविषयेभ्यो निवृत्तिः। **तु**शब्देन पूर्वाद् एतस्य जाड्येन न्यूनत्वाद् अग्राह्यत्वं सूचितम्, तदेतद् अतिजाड्यात् **काष्ठवत्** काष्ठादिसदृशम्, अतः **काष्ठमौनं** काष्ठमौननाम्ना अभिहितं शास्त्रेषु इत्यर्थः, एतत्त्रितयस्य अग्राह्यत्वं मुमुक्षूणामाह **गौणमिति। त्रिविधं तु** एतत् त्रिविधमपि मौनं, **गौणं** निकृष्टम् अग्राह्यम् इत्यर्थः, इदानीं पूर्वत्रिविधमौनेभ्यो विलक्षणं मुमुक्षुग्राह्यं मौनमाह **उत्तममिति। मनोलयस्तु** मनसः अन्तःकरणस्य, जगत्प्रतीतिकारणस्य, लयः अत्यन्ताभावः, कालत्रयासत्त्वप्रतीतिरेव, **उत्तमं** तमोनिवर्त्तकत्वाद् अतिश्रेष्ठम् इदमेव मुमुक्षुभिः ग्राह्यम् इति भावः।।२।।(१२९)

एतदभावे अन्यमौनेषु तल्लक्षणाभावं दर्शयति **नेति। मूकतां** वाग्व्यापारहीनत्वं, **यातो** गतः, **मौनी** मौनवान्, **न** न भवति; वाचः अवरोधे यदि मौनं भवेत् तर्हि मूकेऽपि तत्प्रसक्तिः इति

शास्त्रों में चार प्रकार का मौन कहा गया है, केवल वाणी का संयम पहला 'वाग्मौन' कहाता है, चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषय से रोके रखना दूसरा 'अक्षमौन' कहाता है।।१।।

हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों को आदान चलन आदि व्यापारों से रोक कर काष्ठ के समान निश्चेष्ट कर देना तीसरा 'काष्ठमौन' कहाता है। यह तीनों प्रकार का मौन ज्ञानोपार्जन में विशेष उपकारक न होने से अमुख्य मौन होता है, उत्तम मौन तो 'मनोलय' ही है।।२।।

मुनेर्भावस्तु मौनं स्याद् शब्दशास्त्रव्यवस्थया।
मुनिभावो यर्हि नास्ति तर्हि मौनं निरर्थकम्।।४।।(१३१)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे धर्मजिज्ञासाप्रकरणे मौनमीमांसाख्यं पञ्चमं प्रकरणम्।।

भावः। किञ्च **दुग्धबालकः** दुग्धपानः बालकः डिम्भः, मध्यमपदलोपी समासः, **मौनी** मौनवान् **न** न भवति। केवलकर्मेन्द्रियावरोधे मौनं स्यात् तर्हि विशेषकर्माभावेन इन्द्रियासत्त्वाद् बालेऽपि तत्प्रसक्तिः इति भावः, किञ्च **व्रतनिष्ठः अपि** व्रतेषु चान्द्रायणादिनियमेषु, निष्ठा स्नेहपूर्विकास्थितिः, यस्य सोऽपि, **मौनी** मौनवान्, **न** न भवति केवलज्ञानेन्द्रियव्यापाराभावे यदि मौनं स्यात् तर्हि व्रतनिष्ठेऽपि तत्प्रसक्तिः इति भावः। तर्हि मौनी भवन्मते कः? तत्राह **मौनीति। सँल्लीनमानसः** संलीनं कालत्रयेऽसत्त्वम् आपन्नं मनः अन्तकरणं यस्य स तथोक्तः, **मौनी** मौनवान्, विज्ञेयो न अन्ये।।३।।(१३०)

ननु लीनमानसे मौनित्वं न प्रसिद्धं लोके क्वापि इत्याशंक्याह **मुनेरिति। मुनेः** मननवतः, **भावः** सत्ता, आशयो वा, **मौनं** मौननामकम् अर्थतः, **स्यात्** निर्मनस्कत्वं मौनमित्युक्तं भवति, एवं **शब्दशास्त्रव्यवस्थया** शब्दशास्त्रं व्याकरणं, तस्य व्यवस्था प्रकृतिप्रत्यययोः अर्थमर्यादा, तया मौनशब्दार्थः अयमेव, स **मुनिभावः** निर्मनस्करूपो, **यर्हि** यदा **नास्ति** न विद्यते, **तर्हि** तदा, **मौनं** लोकप्रसिद्धं, **निरर्थकं** व्यर्थं निष्फलमेव इत्यर्थः।।४।।(१३१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ धर्मजिज्ञासार्थप्रकाशे मौनमीमांसार्थप्रकाशः पञ्चमः।।

दानस्यापि ग्राह्याग्राह्यविचारेण ग्राह्यं दानं ग्राहयितुं दानज्ञानाख्यम् एकश्लोकमेव प्रकरणमाह। तत्र तावद् दानानां भेदमाह **कीर्तिदानमिति। कीर्तिदानं** कीर्त्यै यशोऽर्थं दानं यत् तद् दानम्, इदम् अधमम्। **कामदानं** कामेन इह परत्र वा मम फलम् एतद् दानेन स्यादिति इच्छया, यद् दीयते तत्कामदानम्, इदं मध्यमं कामिनामेव तस्य विहितत्वाद्। **दयादानं** दयया मद्धनेन दारिद्र्यवतां केषाञ्चित् सुखमेव भूयाद् इति इच्छया यद्दीयते तद्दानं दयादानम्, इदं मुमुक्षुभिः अपि कर्त्तव्यमेव अतः श्रेष्ठम् इत्यर्थः। **इति** एवं प्रकारेण, एतद्दानं **त्रिधा** त्रिप्रकारकम्। पूर्वोक्तत्रय उत्तमधमत्वादि स्पष्टयति **उत्तरादिति।** उक्तं त्रिविधदानं **उत्तरात्** पूर्वाद् अधमाद्, **उत्तरं** श्रेष्ठं, तस्मादुत्तरादपि उत्तमम् उपरितनं श्रेष्ठम् उत्तमम् उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वस्य अधमत्वं पूर्वपूर्वापेक्षया

गूंगा बन जानेवाला मौनी नहीं है, दूध पीनेवाला नन्हा बालक मौनी नहीं है, किसी व्रत के कारण कुछ न बोलने या कुछ न करनेवाला मौनी नहीं है, मौनी तो वही है जिसका मन मर चुका हो।।३।।

व्याकरण के अनुसार तो मननशील पुरुष का भाव (आशय) अर्थात् निर्मनस्कता 'मौन' कहाती है, वैसी निर्मनस्कता यदि किसी ने सम्पादन नहीं की है तो यह लोकप्रसिद्ध (वाग्निरोधरूप) मौन तो निरर्थक ही है।।४।।

अथ दानज्ञानम्

कीर्तिदानं कामदानं दयादानमिति त्रिधा।
उत्तराद् उत्तरं श्रेष्ठं तेभ्यः कृष्णार्पणं परम्।।१।।(१३२)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे धर्मजिज्ञासाप्रकरणे दानज्ञानाख्यं षष्ठं प्रकरणम्।।

उत्तरोत्तरस्य श्रैष्ठ्यमिति भावः। इदानीम् अत्युत्तमं दानं जीवन्मुक्तेषु स्थितमाह **तेभ्य इति। तेभ्यः** पूर्वोक्तत्रिविधदानेभ्यः, **कृष्णार्पणं** 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इत्युक्तत्वात् कृष्णस्य ब्रह्मणः अर्पणं कृतदाने ब्रह्मसत्ताया अवलोकनरूपं 'नान्योतोस्ति द्रष्टा नान्योतोऽस्ति श्रोता नान्योतोस्ति विज्ञाता' इत्यादि श्रुतिदृष्ट्या दातृप्रतिगृहीत्रादित्रिपुटीबाधेन यद्दीयते तद्दानं कृष्णार्पणमित्युच्यते, तत् **परम्** अत्युत्तमम्, इदं जीवन्मुक्तेषु स्थितं मुमुक्षुभिः तु साध्यम् इति भावः।।१।।(१३२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ धर्मजिज्ञासार्थप्रकाशे दानज्ञानार्थप्रकाशः षष्ठः।।

अथ तीर्थनिर्णयं निरूपयितुं तीर्थतत्त्वाख्यं प्रकरणं श्लोकचतुष्टकम् आरभते। तत्र तावत्, तीर्थमिति भ्रान्तिज्ञानं तत्त्यागार्थम् आह द्वाभ्याम् **इदमिति। इदं तीर्थम्** इदं मत्पुरतः दृश्यते तद् इदं कूपतडागादिरूपमेव तीर्थम् इति भ्रमेण तत्रैव कतिचिद् दिनानि स्थित्वा ततः अन्यत्र तीर्थं श्रुत्वा तत्र पूर्वतीर्थे अश्रद्धां कृत्वा अन्यतीर्थे गत्वा **इदं तीर्थं** पूर्वं यत् श्रुतं तदिदं तीर्थं पवित्रताकारकं मम इति मत्वा किञ्चित् कालं तत्र स्थित्वा **इतः तीर्थम्** इतोऽपि अन्यत् तीर्थम् अस्तीति मत्वा तथैव तत्र गत्वा च तत्रापि पूर्ववद् **अतः** अस्मादपि तीर्थात्, **परं** श्रेष्ठं तीर्थम् अस्तीति मत्वा तत्र गत्वा तत्रापि केनचिद् **इत** एतस्मात् तीर्थाद्, **दूरतरं** तीर्थम् अतिदूरे वर्तमानं तीर्थं मानसादिकमपि अन्यत् श्रेष्ठमस्ति तत् **मया दृष्टं** तीर्थाधिकारिणा मया एव दृष्टं, **न तु त्वया** न्यूनतीर्थस्नायिना भवता नैव दृष्टं तद् अतः **तव** ते, **तीर्थफलं** तीर्थानां फलं, **स्वल्पं** न्यूनमस्ति, **मम** मे, **तीर्थफलं** तीर्थस्नानजं पुण्यं, **महद्** बहु अस्ति **इति** एवं प्रकारेण, **ये** पुरुषाधमाः, **तीर्थं** तीर्थाभासं प्रति **भ्रमन्ति** गच्छन्तिमात्रं, **ते** पुरुषा **भ्रान्ता** भ्रमणवन्त एव केवलं, **न तु** नैव, **तैर्थिकाः** तीर्थस्वरूपविदः, तेषां भ्रान्तिरेव फलं भ्रमणस्य न तु तीर्थफलमिति भावः।।१-२।।(१३३-१३४)

यश किंवा नाम कमाने के लिये दिया हुआ दान 'अधमदान' है। किसी बदले की इच्छा से दिया हुआ सकाम दान 'मध्यम दान' है। (मेरे धन से किन्हीं गरीब लोगों के कार्य सिद्ध हो जायें इस) दया भावना से दिया गया दान 'उत्तमदान' है। परन्तु इन तीनों दानों से भी उत्तमदान तो यह है जो कि भगवदर्पण-बुद्धि से दिया जाय। (उसमें देने वाले के अहंकार का लेश तथा देने-लेने वाले के भेद का भान नहीं होना चाहिये)।।१।।

अथ तीर्थतत्त्वम्

इदं तीर्थमिदं तीर्थमितस्तीर्थमतः परम्।
इतो दूरतरं तीर्थं मया दृष्टं न तु त्वया।।१।।(१३३)
तव तीर्थफलं स्वल्पं मम तीर्थफलं महत्।
इति भ्रमन्ति ये तीर्थं ते भ्रान्ता न तु तैर्थिकाः।।२।।(१३४)
तीर्थे पापक्षयः स्नानैस्तीर्थे साधुसमागमः।
तीर्थे वैराग्यचर्चा स्यात् तीर्थमीश्वरपूजनम्।।३।।(१३५)
तीर्थं शीतोष्णसहनं तीर्थं निःसङ्गचारिता।
इति जानन्ति ये तीर्थं तीर्थतत्त्वविदो हि ते।।४।।(१३६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे धर्मजिज्ञासायां तीर्थतत्त्वाख्यं सप्तमं प्रकरणम्।।

इदानीं तीर्थतत्त्वनिरूपणपूर्वकं तद्विद आह **तीर्थ इति। तीर्थे** पुष्करादौ, **स्नानैः** अवगाहैः, इदं चोपलक्षणं दानदैवपैत्रकर्मणां, **पापक्षयः** पापानां दुष्कृतकर्मणां, क्षयः नाशः, भवति इति निश्चयः कार्यः, **तीर्थे** पुष्करादौ, **साधुसमागमः** साधूनां विवेकिनां, समागमः सङ्गतिः, स्यात् मम भूयाद् इति निश्चयः कर्तव्यः तदेव तीर्थमित्यर्थः, पूर्वतोऽपि उत्तरत्र आदरः कर्त्तव्य इति भावः, **तीर्थे** सत्संगरूपे तीर्थे, **वैराग्यं** विषयवैरस्यं, तस्य तत्प्रतिपादकशास्त्रस्य, **चर्चा** निरूपणं, **स्याद्** भवेद्, अत्रापि पूर्वतः आदरः विशिष्टो विधेय इत्याशयः, **तीर्थं** ततोऽपि पवित्रकारकम्, **ईश्वरपूजनम्** ईश्वरस्य अन्तर्यामिणः पूजनं तल्लक्षणैः ज्ञानमस्ति, पूर्वतोऽपि अत्र आदरः विशेषः कार्य इति भावः।।३।।(१३५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ धर्मजिज्ञासार्थप्रकाशे तीर्थतत्त्वार्थप्रकाशः सप्तमः।।

तीर्थमिति। ततोऽपि **तीर्थम्** अन्तःकरणशुद्धिकारणं, **शीतोष्णसहनं** शीतं शैत्यजन्यं दुःखम्, उष्णं तापजन्यं दुःखं, तदादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वम् अधिकं ज्ञेयम्, किञ्च **तीर्थम्** अन्तःकरणशुद्धिकरं, **निःसङ्गचारिता** स्वासंगत्वानुभवः, तद् एतेषु उत्तरोत्तरं विशिष्टादरणीयत्वम् एव **इति** एव ज्ञात्वा **ये** विवेकिन उक्तप्रकारेण **तीर्थं** यथार्थं तीर्थस्वरूपं, **जानन्ति** विदन्ति, **ते हि** ते एव, न तु अन्ये,

यह तीर्थ है, वह तीर्थ है, इधर तीर्थ है, उधर तीर्थ है, एक तीर्थ यहाँ से बहुत ही दूर है, वह मैंने देखा है तैंने नहीं।।१।।

तुम्हारे तीर्थ का थोड़ा फल है, मेरे तीर्थ का अधिक फल है, इन भ्रांत विचारों को लेकर जो तीर्थाटन करते हैं वे तो भ्रांत हैं, उन्हें सच्चा तैर्थिक मत मानो।।२।।

तीर्थ में स्नान (दान आदि) करने से पापक्षय होता है। तीर्थ में जाने से विवेकी महात्माओं का संग हो जाता है। तीर्थ में वैराग्य-चर्चा हुआ करती है। सबसे बड़ा तीर्थ तो ईश्वरपूजन (उसके लक्षणों से उसे पहचान लेना) ही है।।३।।

अथ आचारचातुरी

अनाचारस्तु मालिन्यम् अत्याचारस्तु मूर्खता।
विचाराचारसंयोगः सदाचारस्य लक्षणम्।।१।।(१३७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे धर्मजिज्ञासायामाचारचातुरी अष्टमं प्रकरणम्।।

तीर्थतत्त्वविदः तीर्थानाम् अन्तःकरणशुद्ध्युपायभूतानां, तत्त्वं यथार्थस्वरूपं, विदन्ति ते, तथा मन्तव्याः तान् पृष्ट्वा स्वयमपि तथा कर्त्तव्यमिति भावः।।४।।(१३६)

आचारोऽपि ग्राह्यः त्याज्यः च इति द्विविधः अतः तत्र ग्राह्यं ग्राहयितुं त्याज्यं त्याजयितुम् आचारचातुर्याख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् आरभते, तत्र च अनाचारनिषिद्धाचारयोः लक्षणनिरूपणपूर्वकं सदाचारलक्षणं निरूपयति **अनाचार इति। अनाचारस्तु** केवलम् आचारत्याग एव, प्रत्यवायजनकत्वाद् अन्तःकरणशोधको न भवति, प्रत्युत **मालिन्यं** मलिनत्वकारणमेव स्याद् इति शेषः, किञ्च **अत्याचारस्तु** समीचीनदृष्ट्या अन्येषां वर्णभेदेन, आश्रमभेदेन वा श्रेष्ठानां य आचारः स स्वस्य मलिनत्वकारकत्वात् तस्मिन् प्रवृत्तिः चेत् सा **मूर्खता** मूर्खत्वमेव तत्। तर्हि कः सदाचारः? तत्राह **विचाराचारसंयोगः** विचारः स्वस्य ग्राह्याग्राह्यविवेक आचारः स्वयोग्यकर्माचरणं, तयोः संयोगः सहवर्त्तनं तदेव, **सदाचारस्य** प्रामाणिकाचरणस्य, **लक्षणं** चिह्नं, ज्ञेयम् इति शेषः, तथा स्वयमपि ज्ञात्वा आचर इति भावः।।१।।(१३७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ धर्मजिज्ञासार्थप्रकाशे आचारचातुर्याख्यप्रकरणार्थप्रकाशः अष्टमः।।

एवं सभेदां धर्मजिज्ञासां निरूप्य इदानीं वैराग्यस्य मुक्तिहेतुत्वप्रसिद्धेः तथापि बाह्यत्यागमात्रेण कृतार्थता न स्यादिति ज्ञापयितुं रागत्यागनिर्णयाख्यं षट्श्लोकं प्रकरणम् आरभते, तत्र तावद् बाह्यत्यागमात्रस्य वैराग्यत्वेऽतिप्रसंगदर्शनपूर्वकं मुख्यवैराग्यलक्षणमाह **नेति। धनैः** द्रव्यैः, **त्यक्ता**

सरदी गरमी आदि द्वन्द्वों को सहना भी एक भारी तीर्थ है, निःसंगचारी होना अर्थात् अपने-आपको असंग अनुभव करना, यह भी एक बढ़िया तीर्थ है, इस प्रकार जो विवेकी लोग तीर्थों के यथार्थ रूप को समझते हैं, वे ही तीर्थों के मर्म को जानने वाले हैं।।४।।

अनाचार (अर्थात् त्याग के धोखे में सदाचार को छोड़ बैठना) मलिनता है और अत्याचार (अर्थात् दिन-रात शरीरशुद्धि आदि आचार में ही फँसे रह जाना और परमार्थ विचार के लिए समय न रहना यह) भी कोरी मूर्खता ही है। सच्चे सदाचार का लक्षण तो यह है कि विचार (हेय-उपादेय का विवेक) और आचार (अपने योग्य कर्मों का आचरण) इन दोनों का संयोग बराबर बना रहे। कोई एक-दूसरे की बाधा न करे।।१।।

अथ रागत्यागात्यागनिर्णयः

न विरक्ता धनैस्त्यक्ता न विरक्ता दिगम्बराः।
विशेषरक्ताः स्वपदे ते विरक्ता मता मम।।१।।(१३८)
चौरस्त्यजति गेहं स्वं भयेनैव न बोधतः।
जारास्त्यजन्ति गेहं स्वं कामेनैव न बोधतः।।२।।(१३९)
क्रुद्धस्त्यजति गेहं स्वं प्रतिवादिविरोधतः।
रुद्धस्त्यजति गेहं स्वं रोधेनैव न बोधतः।।३।।(१४०)

रहिता, **विरक्ता** वैराग्यवन्तः, **न** न भवन्ति, केवलबाह्यधनादित्यागमात्रं विरक्तलक्षणं चेत् निर्द्रव्येषु तत्प्रसक्तिः इति भावः। किञ्च **दिगम्बरा** नग्ना, **न विरक्ता** वैराग्यवन्तः न भवन्ति, नग्नत्वमेव वैराग्यलक्षणं चेद् बालादिषु तत्प्रसक्तिः इति भावः। तर्हि विरक्ताः के? तत्राह **विशेषेति।** ये पुरुषाः **स्वपदे** स्वस्वरूपे वा, स्वाधिकारानुरूपे स्वस्वभावानुकूल्येन प्राप्ते वा वर्णाश्रमाद्याचाररूपे कर्मणि वा, **विशेषरक्ताः** स्वस्वरूपस्थितिमविस्मृत्य बाधिततत्वदृष्ट्या वर्त्तमाना अपि लोकदृष्ट्या आसक्ता इव स्थिताः, स्वरूपे तु अत्यन्तासक्ता एव, **ते** एतादृशा, मे **मम,** मद्दृष्ट्या इत्यर्थः, **विरक्ता** वैराग्यवन्तः, **मता** निश्चिता, न तु बाह्यत्यागमात्रेण वैराग्यवन्तो भवन्तीति भावः।।१।।(१३८)

बाह्यत्यागमात्रेण वैराग्यभावम् एव उदाहृत्य दर्शयति द्वाभ्याम् **चौर इति। चौरः** तस्करः, कदाचित् स्वकर्मणः प्राकट्येन राजादिभयात्; **स्वं** स्वीयं, **गेहं** गृहम्, उपलक्षणं च एतत् कुटुम्बक्षेत्रवित्तादेः सर्वमित्यर्थः, **त्यजति** परित्यज्य गच्छति, स तस्य त्यागः **भयेनैव** दण्डादिभीत्या एव केवलं, **न बोधतः** न तु ज्ञानेन। केवलं गृहादित्यागमात्रेण बोधं विना विरक्तः चेत्, चौरेऽपि तत्प्रसक्तिः इति भावः। किञ्च **जाराः** परस्त्र्यासक्ता उपपतयः स्वकर्मणः प्राकट्ये परस्त्रियं गृहीत्वा त्यक्त्वा वा **स्वं** स्वीयं, **गेहं** गृहं, स्वगृहकुटुम्बपुत्रक्षेत्रवित्तादि सर्वमपि इत्यर्थः, **त्यजन्ति** परित्यज्य गच्छन्ति देशान्तरं, स त्यागः **कामेनैव** कामनिमित्तक एव स **न बोधतः** न तु ज्ञानेन, ज्ञानं विना केवलगृहादित्यागमात्रेण विरक्तत्वे जारेषु अपि तत्प्रसक्तिः इति भावः।।२।।(१३९)

क्रुद्ध इति। क्रुद्धः क्रोधवान्, **स्वं** स्वीयं, **गेहं** गृहं, सर्वमित्यर्थः। **त्यजति** परित्यज्य देशान्तरं

धनहीन मनुष्य को वैरागी नहीं कहा जा सकता, दिगम्बर अर्थात् नंगों को भी विरक्त नहीं कह सकते, हम तो विरक्त उन्हें ही मानते हैं जो स्वपद अर्थात् अपने स्वरूप में ही विशेषरूप से आसक्त हो चुके हैं।।१।।

राजदण्ड के डर से चोर लोग भी घबराकर (कुटुम्ब आदि सब) छोड़ देते हैं, बोध के कारण नहीं। जार अर्थात् परस्त्रीगामी लोग भी अपने घर आदि को छोड़ देते हैं, उनका यह त्याग काम के कारण होता है ज्ञान के कारण नहीं (ज्ञान के बिना घर छोड़ने से विरक्त होते हों तो उनको भी विरक्त कहना होगा)।।२।।

निःसंगतासुखं प्राप्ताः कयाचिद् बोधलीलया।
गृहं त्यजन्ति मुनयो गृहस्था वा वने स्थिताः।।४।।(१४१)

तदुक्तम्

'मूढः किं त्यजतु प्रमत्तमनसस्त्यागेन वा किं फलम्
विज्ञः कर्म करोतु वा न कुरुतां त्यागेऽवलिप्तो न यत्।
इत्येवं कृतनिश्चयः प्रवचनैरद्वैतविद्यावताम्
रागत्यागनिरादरो मुनिजनः पारे गिरां खेलति।' ।५।।(१४२)

गच्छति, स त्यागः **प्रतिवादिविरोधतः** स्वबन्धुजनविरोधेन वा, परकीयशत्रुजनविरोधेन वा, न तु बोधेन। बाह्यगृहादित्यागमात्रेण विरक्तत्वे क्रोधिषु अपि तत्प्रसक्तिः इति भावः। किञ्च **रुद्धः** निगडादिना कारागृहे अवरुद्धः, **स्वं** स्वीयं, **गेहं** गृहं, धनादिसर्वमपि इत्यर्थः, **त्यजति** परित्यज्य गच्छति देशान्तरं, स त्यागः **रोधेनैव** अवरोधनिमित्तक एव, **न बोधतः** न तु ज्ञानेन, तथा च बाह्यत्यागमात्रेण विरक्तत्वे रुद्धत्यागेऽपि तत्प्रसक्तिः इति भावः।।३।।(१४०)

एवं बोधाभावे त्यागासिद्धिं प्रदर्श्य बोधे सति तु त्यागः सिद्ध एव इति बाह्यत्यागेन अत्यागेन वा न किञ्चित् प्रयोजनम् इत्याह **निःसंगतेति। कयाचिद्** अनिर्वचनीयया विद्वदनुभवगम्यया, **बोधलीलया** ज्ञानमेव लीला अनायासचेष्टा, तद्रूपया **निःसंगतासुखं** असंगसुखं, **प्राप्ता** गता सन्तः, **मुनयः** विवेकिनः, **गृहं** गृहादिकं सर्वं, **त्यजन्ति** मिथ्या इति अनुभवन्ति, ततश्च **गृहस्था** गृहे एव स्थिता, **वा वने** स्थिता गृहादि त्यक्त्वा वनाद्युपलक्षिते स्थाने स्थिताः, ते उभयेऽपि समाना एव इत्यर्थः।।४।।(१४१)

अस्मिन् अर्थे वृद्धसंमतिमाह **तदुक्तमिति**। इदमेव **उक्तं** वृद्धैः इत्यर्थः। तद्वाक्यं पठति **मूढ इति। मूढः** मूर्खः, **किं** किमपि वस्तु, **त्यजतु** नांगीकरोतु, **प्रमत्तमनसः** प्रमत्तं कार्याकार्यविचारहीनं, मनः अन्तःकरणं यस्य, तस्य कृतेनापि **त्यागेन** वैराग्येण, **किं फलं** न किमपि फलं, तादृशत्यागस्य तस्य इत्यर्थः, तुषकण्डनवद् व्यर्थमेव तदिति भावः। किञ्च **विज्ञः** कर्तृत्वादिमिथ्याज्ञानवान्,

क्रोधी मनुष्य अपना घर आदि सब कुछ प्रतिवादियों के विरोध से विवश होकर छोड़ बैठता है, कैद में डाला हुआ मनुष्य भी अपना घर आदि सब कुछ छोड़ देता है, उसका वह त्याग रोध के कारण होता है, ज्ञान के कारण नहीं। (क्या भला ऐसा गृहत्यागी वैरागी कहा जा सकता है)?।।३।।

किसी अनिर्वचनीय आनन्ददायिनी बोधलीला (के अप्रतिम प्रभाव) से असंगता-सुख का भोग लेने वाले विवेकी लोग तो घर-बार का मानस त्याग कर देते हैं, अर्थात् उन सबको मिथ्यारूप से अनुभव करने लगते हैं। यही उनका छोड़ना कहाता है। फिर चाहे वे वन को चले जायँ, या घर पर ही डटे रहकर अपना प्रारब्ध भोग समाप्त करें।।४।।

इत्ययं योगयुक्तानां रागत्यागविनिर्णयः।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयमिति वेदान्तनिर्णयात्।।६।।(१४३)

इति श्रीनरहरिकृतबोधसारे रागत्यागात्यागनिर्णयाख्यं षष्ठं प्रकरणम्।।

तस्मिन् सर्वस्यापि बाधितत्वात् स, **कर्म** क्रियां, **करोतु** आचरतु **वा न कुरुतां** नाचरतु, तदुभयमपि तस्य समम् इत्यर्थः। कुत इत्यत आह **यद्** यदि अस्मात् कारणात् **त्यागे** अपि कर्माऽनाचरणे, अपिशब्दात् तदाचरणेऽपि, **अवलिप्तः** कर्तृत्वाकर्तृत्वरूपलेपवान्, **न** भवति, अतः तस्य त्यागात्यागौ समानावेव इति भावः, **इत्येवम्** अनेन प्रकारेण, **अद्वैतविद्यावताम्** अद्वैतज्ञानिनां, **प्रवचनैः** स्वोपदेशकवाक्यैः, **कृतनिश्चयः** दृढनिश्चयवान् **मुनिजनः** विवेकिसार्थो, **रागत्यागनिरादरो** रागः स्नेहः त्यागः संन्यासः तयोः आदररहितः सन्, **गिरां** विध्यतीतत्वाद् वेदवचसां, **पारे** अगोचरे ब्रह्मणि, **खेलति** कदाचित् कर्मणा कदाचित् त्यागेन वा क्रीडति, न तु उभयमपि तस्य गुणकृद्दोषकृद् वा स्यादिति भावः।।५।।(१४२)

उक्तम् उपसंहरति **इतीति। योगयुक्तानां** जीवात्मैकत्वज्ञानमेव योगः तद्वताम्, **अयम्** उक्तलक्षणः, **रागत्यागविनिर्णयः** रागस्य स्नेहस्य, त्यागः संन्यासः, तस्य विनिर्णयः विनिर्णीयते अनेन इति विनिर्णयः प्रकरणम्, **इति** समाप्तम् इत्यर्थः, ननु एतद् निरूपणस्य किं कारणमत्र इत्यत आह **त्यजतेति।** यस्माद् **हि, वेदान्तनिर्णयाद्** वेदान्तः ब्रह्मात्मैकत्वं तन्निर्णीयते अनेन इति वेदान्तनिर्णयम्, उपनिषद्-सूत्र-वार्तिकादिकं तच्छ्रवणादिव्यापारादित्यर्थः, **त्यजतैव** त्यागं कृतवतैव, आत्मरूपं **तद्** यथार्थं, **ज्ञेयं** ज्ञातुं शक्यमस्ति न अत्यागवता **इति** अतो हेतोः, त्यागनिर्णयः प्रोक्त इति भावः।।६।।(१४३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ रागत्यागात्यागविनिर्णयार्थप्रकाशः षष्ठः।।

अज्ञानी लोग तो त्याग ही कैसे कर सकते हैं! प्रमत्त मनवाले पुरुष के त्याग से फल ही क्या हो सकता है! विज्ञ के लिये कर्म करना या न करना दोनों बराबर हैं क्योंकि उसे कर्मत्याग (या कर्माचरण) में अहंकार ही नहीं रहता। अद्वैत विद्या जाननेवाले आचार्यों के मुख से इस प्रकार दृढ निश्चय कर लेनेवाला मुनि, राग या त्याग की कुछ भी परवाह न करता हुआ विधिवाक्यों की हद से बाहर हो कर खेलने लगता है (वह कभी तो कर्म से क्रीडा करने लगता है और कभी त्याग से, उसको गुण दोष कुछ भी नहीं लगते)।।५।।

योगयुक्त पुरुषों के लिये कहा हुआ यह 'रागत्यागनिर्णय' नामक प्रकरण समाप्त हुआ। क्योंकि त्यागशील पुरुष ही आत्मरूप को पा सकते हैं, ऐसा वेदान्तों में निर्णय किया जा चुका है (अतः इस प्रकरण के विचार से अधिकारियों को त्याग के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जायगा)।।६।।

अथ अधिकारपरीक्षा

धर्मा बहुविधाः प्रोक्ताः शास्त्रे धर्माधिकारिणाम्।
तत्र तीव्रा मुमुक्षैव मोक्षे मुख्याधिकारिता।।१।।(१४४)
ज्योतिष्टोमे स्वर्गकामो विवाहे पुत्रकामवान्।
वाणिज्ये लोभवान् मोक्षे मुमुक्षुरधिकारवान्।।२।।(१४५)
तीव्रा मुमुक्षा यद्यस्ति प्रज्ञामान्द्यं च वर्त्तते।
सच्छास्त्रविद्वच्चर्चाभिः प्रथमं तन्निवारयेत्।।३।।(१४६)

एवं रागत्यागनिर्णयं निरूप्य इदानीं यत्र धर्मे येन प्रवर्तितव्यम् अधिकारिणा तज्ज्ञानार्थम् अधिकारपरीक्षाख्यं षट्श्लोकं प्रकरणम् आरभते; तत्रादौ धर्माणां बहुत्वाद् अधिकारिणोऽपि बहुत्वं तत्तद् धर्माधिकारिनिरूपणार्थम् आह **धर्मा इति। शास्त्रे** वेदे, **धर्माधिकारिणां** यत्र यत्र धर्मे येषाम् अधिकारः अस्ति तेषां, **बहुविधा** अनेकप्रकारा धर्माः **प्रोक्ताः** सन्ति इति शेषः, तत्र मोक्ष-धर्मे अधिकारिणमाह **तत्रेति। तत्र** धर्मेषु मध्ये, **मोक्षे** मोक्षधर्मे, **तीव्रा** फलपर्यवसाना, **मुमुक्षा एव** मोक्षेच्छा एव, **अधिकारिता** अधिकारित्वं, मता उक्ता, मुनिभिः इति शेषः।।१।।(१४४)

इदानीम् अन्यधर्मेषु अधिकारिनिरूपणपूर्वकं पुनरपि मोक्षधर्माधिकारिणमाह **ज्योतिष्टोम इति। स्वर्गकामः** स्वर्गसुखे काम इच्छा यस्य स, **ज्योतिष्टोमे** ज्योतिष्टोमनाम्नि यज्ञे, अधिकारवान् अधिकारी ज्ञेयः, **विवाहे** स्त्रीपरिणयनादिकर्मणि, **पुत्रकामवान्** पुत्रे अपत्ये काम इच्छा, यस्य विद्यते सोऽधिकारी ज्ञेयः। किञ्च **वाणिज्ये** व्यापारकर्मणि, **लोभवान्** धनलोभी, अधिकारवान् अधिकारी ज्ञेयः, **मोक्षे** मोक्षसाधनभूते कर्मणि, **मुमुक्षुः** मुक्तीच्छावान् **अधिकारवान्** अधिकारी, ज्ञेयः।।२।।(१४५)

ननु मोक्षधर्माधिकारिणा मुमुक्षुणा बुद्धिमान्द्ये सति कुत्र प्रवर्त्तितव्यं? तत्राह **तीव्रेति। यदि** यर्हि, **तीव्रा** वैराग्यादियुक्ता, **मुमुक्षा** दृढा मोक्षेच्छा, **अस्ति** विद्यते, **प्रज्ञामान्द्यं च** बुद्धेः मान्द्येन अर्थधारणासामर्थ्यमपि, **वर्त्तते** अस्ति, यस्य स अधिकारी, **प्रथमम्** आदौ, **सच्छास्त्रविद्वच्चर्चाभिः** सच्छास्त्राणि वेदान्तग्रन्था, विद्वांसः वेदान्ततात्पर्यानुसन्धानपूर्वकं स्वमात्रनिष्ठाः तेषां तैः सह वा चर्चाभिः प्रश्नपूर्वं तदुत्तरं विचार्य अज्ञाते पुनः प्रश्नादिरूपाः ताभिः **तद्** बुद्धिमौढ्यं, **निवारयेत्** निराकुर्याद्, एवं बुद्धौ सर्वपदार्थधारणसामर्थ्यं संपादयेद् इति भावः।।३।।(१४६)

वेद में धर्म के अधिकारियों के लिये बहुत प्रकार के धर्म बताये गये हैं। उन सब धर्मों में मोक्ष के लिए मोक्ष की तीव्र इच्छा ही मुख्याधिकारी का चिह्न बतायी गई है।।१।।

स्वर्ग की इच्छावाले को ज्योतिष्टोम का, पुत्र की इच्छा वाले को विवाह का, धनाभिलाषी को व्यापार का तथा मुमुक्षु को मोक्ष (मोक्षसाधनों) का अधिकार होता है।।२।।

वेदे नास्त्यधिकारोऽस्य मुमुक्षा यदि वर्त्तते।
विचारस्तेन कर्त्तव्यः पुराणश्रवणादिना।।४।।(१४७)
यदेव वेदे कथितं पुराणेऽपि तदेव हि।
न तु वेदाक्षरं श्राव्यमिति भाष्ये विनिर्णयः।।५।।(१४८)
यथाधिकारविहितं कर्म सिध्यति चान्यथा।
कार्यसिद्धिर्न जायेत प्रत्यवायो महान्भवेत्।।६।।(१४९)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारेऽधिकारपरीक्षा।।

ननु तीव्रमुमुक्षायां सत्यामपि बुद्धिमान्द्ये च विद्यमाने वेदश्रवणानधिकारिणा शूद्रादिना कथं बुद्धिमान्द्यं निवार्यं, मोक्षे प्रधानसाधनभूतं ज्ञानं च कथं संपाद्यं? तत्राह **वेद इति। अस्य** मुमुक्षोः शूद्रादेः, **वेदे** उपनिषदादिश्रवणे, **अधिकारः** योग्यता, **नास्ति** न विद्यते, परन्तु **मुमुक्षा** मोक्षेच्छा, **यदि** यर्हि, **विद्यते** अस्ति, तर्हि **तेन** वेदश्रवणानधिकारिणा शूद्रादिना, **विचारः** श्रवणमनननिदिध्यासनरूपः, **पुराणश्रवणादिना** पुराणानां भागवतादीनां, श्रवणमादिः यस्य मननादेः तत्तथा तेन, अनेन इदानीन्तनग्रन्थभाषाग्रन्थादिसर्वम् उपलक्ष्यते तेन इत्यर्थः, **कर्त्तव्यः** कुर्यात्।।४।।(१४७)

ननु वेदश्रवणजं ज्ञानं पुराणश्रवणेन कथं स्यात् तत्राह **यदिति। वेदे** उपनिषदादिरूपे, ज्ञानप्रतिपादकभागे, **यदेव** यच्च ज्ञानं, **कथितं** प्रतिपादितम् अस्ति, **पुराणेऽपि** पुराणशब्दवाच्य आर्षग्रन्थे, वासिष्ठादौ, **तदेव** वेदोक्तं ज्ञानमेव अस्ति, नान्यत् कथितं **हि** निश्चये। ननु वेदोक्तमेव ज्ञानं पुराणेषु अस्ति चेद् वेदश्रवणं कुतो निषिध्यते? तत्राह **न तु इति वेदाक्षरं** वेदानां उपनिषदाम्, अक्षरं वर्णा, जातौ एकवचनम्, **न तु** नैव, **श्राव्यं** श्रोतव्यम् **इति** एवं प्रकारो, **भाष्ये विनिर्णयः** भाष्ये शारीरके विनिर्णयः निर्णीतोऽर्थः अस्ति, अतो मया निषिध्यते इति भावः।।५।।(१४८)

ननु मास्तु वेदश्रवणे अधिकारः वेदश्रवणे कृते तु ज्ञानं स्यादेव इत्याशंक्य; अविहितकरणे फलं न स्यात् प्रत्युत दोष एव स्याद् इत्याह **यथेति। यथाधिकारविहितं** स्वाधिकारम् अनुल्लंघ्य यत्तत् यथाधिकारं तच्च तद्विहितं चेति तत्तथा, **कर्म** क्रिया, **सिध्यति** फलति, **अन्यथा** स्वाधिकारम् उल्लंघ्य परविहितं कर्म कृतं चेत् **कार्यसिद्धिः** कार्यस्य कर्मणः, सिद्धिः फलं, **न**

यदि किसी की मुमुक्षा तो तीव्र हो परन्तु बुद्धि मन्द हो तो उस अधिकारी को चाहिये कि वह सच्छास्त्रों के अवलोकन तथा ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों से प्रश्नोत्तर के द्वारा अपनी बुद्धि की मन्दता को नष्ट कर दे।।३।।

यदि किसी मुमुक्षु को वेदश्रवण का अधिकार (योग्यता) न हो तो उसे पुराण आदि श्रवण के द्वारा (आत्मा का) विचार करना चाहिये।।४।।

वेदों के (ज्ञानकाण्ड) में जो बात बतायी गयी है, पुराणों में भी उसी का वर्णन है। अनधिकारियों को वेदाक्षर सुनना नहीं चाहिये, ऐसा शारीरक भाष्य में निर्णय किया गया है।।५।।

अथ सत्संगसुधा

सत्संगसुधया तात मन आनन्दितं यदा।
निश्चेतव्यं तदा मोहाद् मम मुक्तिर्भविष्यति।।१।।(१५०)
साधनानां हि सर्वेषां वरिष्ठा साधुसंगतिः।
एतया सिद्धया सिद्धं सर्वमेव हि साधनम्।।२।।(१५१)
शश्वदीश्वरभक्ता ये विरक्ताः समदर्शनाः।
साधवः सेवितव्यास्ते मोक्षशास्त्रविशारदाः।।३।।(१५२)

जायते न भवेत्, प्रत्युत **महान्** अनिवार्यः, **प्रत्यवायो** दोषः, **भवेत्** स्याद्, अत आग्रहः अनधिकारिणा अन्यविहिते कर्मणि न कार्य इति भावः।।६।।(१४९)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ अधिकारपरीक्षार्थप्रकाशः सप्तमः।।

एवम् अधिकारिभेदनिर्णयेन तत्तत् कार्यनिर्णयं विधाय, इदानीं सर्वसाधनमुख्यज्ञानकारणभूतं सत्सङ्गं विधातुं तत्प्रशंसार्थं सत्सङ्गसुधाख्यम् अष्टश्लोकं प्रकरणम् आरभते; तत्रादौ सत्संगेन मनसि सुखाविर्भावे स्वमोहमुक्तिः स्यादेव इति निश्चेतव्यम् इत्याह **सत्संगेति**। हे **तात, सत्संगसुधया** सतां विवेकिनां, सङ्गः सङ्गतिः, स एव सुधा अमृतं, सुखदत्वात् मृतिनिवर्त्तकत्वाच्च इति भावः तथा **मनः** अन्तःकरणं, **यदा** यस्मिन् काले, **आनन्दितं** सञ्जातसुखं स्यात्, **तदा** तस्मिन् काले, **मम** मे, **मोहाद्** अज्ञानाद्, **मुक्तिः** मोक्षः, **भविष्यति** स्यादिति, **निश्चेतव्यं** निश्चयः कार्यः, सत्संगप्रेम एव मुख्यं भाविमोक्षस्य चिह्नम् इति भावः।।१।।(१५०)

ननु सत्सु अन्यसाधनेषु किं सत्संगत्या? तत्राह **साधनानामिति। सर्वेषां** समस्तानां, **साधनानां** साधनभूतानां करणानां मध्ये, **साधुसंगतिः** साधूनां सज्जनानां, सङ्गतिः संगः, **वरिष्ठा** श्रेष्ठा, सैव सर्वसाधनमूलम् इत्यर्थः, तदेव स्पष्टयति **एतया इति, एतया** सत्संगत्या, **सिद्धया** जातया, **सर्वं साधनं** समस्तसाधनजातं **सिद्धं** प्राप्तं, हस्तगतम् इति यावद् भवति जायते, अतः सत्संग एव सर्वसाधनेषु श्रेष्ठतर इति भावः।।२।।(१५१)

ननु सतां किं लक्षणं येषां सङ्गः विधीयते? तत्राह **शश्वदिति। ये** पुरुषाः, **शश्वत्** निरन्तरम्, **ईश्वरभक्ता** ईश्वरस्य शिवस्य, विष्णोः वा, भक्ता दासाः, सेवका इत्यर्थः, **विरक्ता** ईश्वरातिरिक्ता-

अपने-अपने अधिकार के अनुकूल किये हुए विहित कर्म ही फलदायक होते हैं, अनधिकार चेष्टा करने से तो कार्य भी सिद्ध नहीं होता, साथ ही बड़ा भारी दोष (पाप) भी लगता है।।६।।

हे तात! यदि सत्संगरूपी अमृत से तुम्हारा मन प्रफुल्लित होने लगा हो तो तुम निश्चय समझ लो कि 'अज्ञान से मेरी मुक्ति हो जायगी'। (सत्संगति का प्रेम ही होने वाले मोक्ष का मुख्य चिह्न है)।।१।।

सम्पूर्ण साधनों में साधुसंगति ही सबसे श्रेष्ठ साधन कहाता है, सत्संगति हो जाने से सब साधन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं।।२।।

येषां दर्शनमात्रेण मोक्षे श्रद्धा विवर्धते।
येषां च वाग्विलासेन संशयो विनिवर्त्तते।।४।।(१५३)
उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गैस्तात्पर्यनिर्णयः।
विशेषसामान्यतया शास्त्रार्थानां व्यवस्थितिः।।५।।(१५४)

खिलपदार्थेषु वैराग्यवन्तः, **समदर्शिनः** समं ब्रह्म, पश्यन्ति साक्षाद् अनुभवन्ति ते, तथा **मोक्षशास्त्रविशारदा** मोक्षस्य मोक्षसाधनज्ञानस्य च, प्रतिपादकं यत् शास्त्रं वेदान्तः तस्मिन् विशारदाः पदपदार्थविदः ते, **साधवः** परकार्यसाधने दक्षाः, **ते सेवितव्याः** सेवितुं योग्याः तेषां सेवा कार्या इति भावः।।३।।(१५२)

अन्यानि अपि साधुलक्षणानि आह चतुर्भिः **येषामिति। येषां** पुरुषविशेषाणां, **दर्शनमात्रेण** केवलं दर्शनेन एव, **मोक्षे** मोक्षशास्त्रे, **श्रद्धा** विश्वासः **विवर्धते** वृद्धा भवति, किञ्च **येषामिति, येषां च** पुरुषविशेषाणां, **वाग्विलासेन** प्रश्न-प्रत्युत्तरवचनरूपक्रीडया एव, **संशयः** सन्देहः **विनिवर्त्तते** निवृत्तः भवति।।४।।(१५३)

किञ्च **उपक्रमेति। उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गैः** उपक्रमः प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः प्रकरणारम्भ उद्देशः स आदिः येषां उपसंहाराऽभ्यासाऽपूर्वताफलाऽर्थवादोपपत्तीनां तानि उपक्रमादितात्पर्यलिंगानि तात्पर्यस्य सर्वप्रकरणार्थस्य अवद्योतकानि चिह्नानि तैः, **तात्पर्यनिर्णयः** तात्पर्यस्य प्रकरणप्रतिपाद्यार्थस्य, निर्णयः निर्णीयते निश्चीयते अनेन इति निर्णयो निश्चयः येषां वाक्याद् अवाप्यते इति तृतीयस्थेन सहान्वयः, तथा **शास्त्रार्थानां व्यवस्थितिः** शास्त्राणां सर्ववाक्यानाम्, अर्था विषयाः तेषां **व्यवस्थितिः** व्यवस्था, **विशेषसामान्यतया** केषांचिद् विशेषत्वने केषाञ्चित् सामान्यत्वेन, सर्ववाक्यानां स्वस्वार्थप्रतिपादकत्वेऽपि एकार्थपरिनिष्ठत्वम् इत्यर्थः, इयं व्यवस्थितिः येषां वाक्याद् अवाप्यते।।५।।(१५४)

जो निरन्तर ईश्वर की भक्ति करते रहते हैं, जिनको ईश्वर से भिन्न सब पदार्थों में वैराग्य हो गया है, जो सम- (ब्रह्म) दर्शी हैं, जिन्होंने मोक्षशास्त्रों का भले प्रकार से मनन किया है, उनकी सेवा मुमुक्षु लोगों को करनी चाहिये।।३।।

जिनके केवल दर्शन करने मात्र से मोक्ष में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती हो, जिनके वाग्विलास से संदेह निवृत्त हो जाते हों, उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति आदि (प्रकरण के अर्थ को विशद करने वाले) चिह्नों से जो तात्पर्य का निर्णय करा देते हों, (सम्पूर्ण वाक्य पृथक् पृथक् स्वस्वार्थबोधक होते हुए भी अन्ततः एकार्थपरक ही हैं इस प्रकार) विशेष-सामान्यतया जिनके वाक्य से सब शास्त्रवाक्यों की व्यवस्था हो जाती हो, ऋगादि वेद तथा मीमांसादि का विरोधपरिहार करते हुए मोक्ष के मार्गभूत ज्ञान में प्रवेश, मतभेद का निर्णय, और अध्यात्म सम्प्रदाय का परिज्ञान, ये सब बातें संवाद आदि रूप में पूर्वोत्तर पक्ष द्वारा जिनके वाक्य से हो

वेदशास्त्राविरोधेन मोक्षमार्गप्रवेशनम्।
संप्रदायपरिज्ञानं मतभेदविनिर्णयः।।६।।(१५५)
पूर्वोत्तराभ्यां पक्षाभ्यां येषां वाक्यादवाप्यते।
ज्ञानिनः कर्णधारास्ते सेवितव्या हि साधवः।।७।।(१५६)

तथा च गीता

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः।।८।।(१५७)

इति श्रीनरहरिकृतबोधसारे सत्संगसुधायम् अष्टमं प्रकरणम्।।

किञ्च **वेदेति। वेदशास्त्राविरोधेन** वेदा ऋगादयः, शास्त्राणि मीमांसादीनि तेषाम् अविरोधेन विरोधपरिहारेण, **मोक्षमार्गप्रवेशनं** मोक्षस्य मुक्तेः मार्गे साधनभूते ज्ञाने, प्रवेशनं प्रविश्यते अनेन इति प्रवेशनं, प्रवृत्तिज्ञानं, करणे ल्युड्, येषां वाक्याद् अवाप्यते, किञ्च **मतेति। मतभेदपरिज्ञानं** मतानां शैववैष्णवादीनां, भेदस्य वैलक्षण्यस्य, परिज्ञानं यथार्थसम्यगूबोधः, येषामिति पूर्ववत्, किञ्च **संप्रदायेति, संप्रदायविनिर्णयः** शैववैष्णवादिमतप्रवर्त्तकानामाशयनिर्णयः यथार्थस्फुरणं, येषामिति पूर्ववत्।।६।।(१५५)

केन प्रकारेण अवाप्यते? तदाह **पूर्वोत्तराभ्यामिति। पूर्वोत्तराभ्यां पक्षाभ्यां** स्वकृतेन पूर्वपक्षेण, वक्तुः च उत्तरपक्षेण च, **येषां** पुरुषविशेषाणां, **वाक्यात्** संवादादिरूपाद् वचनविलासात्, पूर्वोक्तं सर्वम् **अपाप्यते** प्राप्यते, **ते ज्ञानिनः** जीवब्रह्मैक्यज्ञानवन्तः, लौकिकव्यवहारे सम्यग्ज्ञानवन्तश्च, **कर्णधाराः** संसारसमुद्रे मुमुक्षून् ज्ञाननाव्यारोप्य तारकाः, **साधवः** परकार्यसाधनप्रयोजनाः ते, **सेवितव्याः** सेवितुं योग्या ज्ञेयाः।।७।।(१५६)

अस्मिन् अर्थे गीतावाक्यं प्रमाणयति **तथा चेति।** इमम् अर्थं **गीता** अपि आह इत्यर्थः, केन वाक्येन इत्याशंक्य।

तदाह **तदिति।** हे अर्जुन **तत्** ज्ञानं ज्ञेयं च, **प्रणिपातेन** प्रणामेन, **परिप्रश्नेन** प्रश्नादिवार्त्तया, **सेवया** तेषां परिचर्यया, **विद्धि** जानीहि, लभस्व वा तेभ्यः ज्ञानप्राप्तौ सन्देहः न कर्तव्य इत्याह **उपदेक्ष्यन्तीति। ते** साधवः **ज्ञानिनः** ज्ञानवन्तः, **तत्त्वदर्शिन** अनारोपितमेव स्वरूपं पश्यन्ति ते तथा, **ज्ञानं** ज्ञानसाधनम्, **उपदेक्ष्यन्ति** उपदेशं करिष्यन्ति इत्यर्थः।।८।।(१५७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ सत्संगसुधार्थप्रकाशः अष्टमः।।

जायें, संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए मुमुक्षुओं को ज्ञानरूपी नाव में चढ़ाकर पार उतारने वाले ऐसे तत्त्वज्ञानी साधु केवटों का सेवन करना चाहिये।।४-७।।

गीता में भी कहा हैहे अर्जुन! उस ज्ञान और ज्ञेय के तत्त्व को नम्रता से, प्रश्नादि वार्त्ता से और उन ज्ञानियों की सेवा से जान लो। वे तत्त्वदर्शी लोग ही तुम्हें ज्ञान के साधनों का उपदेश करेंगे।।८।।

अथ समन्वयसरस्वती

अवगाह्या विशेषेण समन्वयसरस्वती।
जायते मतभेदाख्यपङ्कप्रक्षालनं यया।।१।।(१५८)
पदं पदार्थो वाक्यार्थः तत्त्वानि मनसो यमः।
महावाक्यार्थविज्ञानं साधनानि क्रमेण हि।।२।।(१५९)

एवं सर्वसाधनानां प्रधानकारणभूतसत्संगकर्त्तव्यतां विधाय, इदानीं सर्वशास्त्राणां वेदान्तानुकूल्यं दर्शयितुं तत्तद्द्वारेण उपयोगनिरूपणार्थं समन्वयसरस्वत्याख्यं षट्श्लोकं प्रकरणम् आरभते। तत्रादौ निरूपितव्यप्रकरणश्रवणे श्रद्धां जनयितुं फलप्रदर्शनेन शिष्यं तदभिमुखी करोति **अवगाह्येति।** हे शिष्य भवता अन्यैश्च अधिकारिभिः, **समन्वयसरस्वती** सम्यग् एकस्मिन् एव अर्थे, अन्वयः तात्पर्यबोधकः सम्बन्धः यस्याः सा सरस्वती भारती वाग्रूपा, **विशेषेण** परमादरेण, **अवगाह्या** विचार्या, ननु समन्वयसरस्वत्यवगाहनेन किं फलं? तत्राह **जायते इति, यया** समन्वयसरस्वत्या, **मतभेदाख्यपङ्कप्रक्षालनं** मतानां व्याकरणादिशास्त्रप्रतिपाद्यानाम् अर्थानां, भेदः भेदप्रतीतिः सा एव आख्या नाम, यस्य तदेव पंको मलः, तस्य प्रक्षालनं, निवर्त्तनं, **जायते** भवेद्। इदमेव फलं तस्य इति भावः।।१।।(१५८)

एवं फलदर्शनेन एतत् प्रकरणं श्रोतुं सन्मुखीकृत्य इदानीं सर्वशास्त्राणां ब्रह्मणि समन्वयं वक्तुं प्रथमं मोक्षे यानि साधनानि तानि आह **पदमिति। पदं** सुप्तिङन्तं प्रसिद्धं पदमेकं, 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति सूत्रितत्वात्, **पदार्थो** पदस्य वाच्यो लक्ष्यो वा अर्थो द्वितीयं, **वाक्यार्थः** पदसमूहः वाक्यं सक्रियापदम् इति उक्तलक्षणस्य वाक्यस्य अर्थः तात्पर्यं तृतीयम्, **तत्त्वानि** प्रकृतिपुरुषौ द्वौ, महदादयः सप्त, मनआदयः विकाराः षोडश एवं पञ्चविंशतिसंख्यानि चतुर्थम्, **मनसः यमः** चित्तस्य निरोधाख्यः योगः पञ्चमम्, **महावाक्यार्थविज्ञानं** महावाक्यानि तत्त्वमस्यादिवाक्यानि तेषाम् अर्थो जीवब्रह्मणोः एकत्वरूपः तस्य विज्ञानमनुभवः षष्ठम्, एतानि षट् **साधनानि** मोक्षस्य कारणानि, **क्रमेण** क्रमतः, **हि** प्रसिद्धानि, विदुषाम् इत्यर्थः।।२।।(१५९)

तेषु सर्वसाधनेषु सर्वशास्त्राणाम् उपयोगनिरूपणं प्रतिजानीते **सर्वेषामिति। तत्र** साधनेषु, **सर्वेषां** समस्तानां, **तन्त्राणां** शास्त्राणां, **यथायथं** येन येन उपयोगेन, **उपयोगः** प्रयोजनम् अस्ति,

हे शिष्य! तुम्हें यह 'समन्वयसरस्वती' नामक प्रकरण विशेषतया विचारना चाहिये। इसके विचार से मतभेदरूप में प्रतीत होनेवाला सभी मल निवृत्त हो जायेगा।।१।।

(१) पद (२) पद का वाच्य तथा लक्ष्यरूप पदार्थ (३) वाक्यार्थ (४) प्रकृति पुरुष महदादि सात तथा षोडशविकार इस प्रकार ये पच्चीस तत्त्व (५) मन का निरोध नामक योग तथा (६) तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के जीवब्रह्मैक्यरूपी अर्थ का परिज्ञान, ये क्रम से मोक्ष के छः प्रसिद्ध साधन माने गये हैं।।२।।

सर्वेषां तत्र तन्त्राणाम् उपयोगो यथायथम्।
वदामि तत्समासेन सर्वमेव यथातथम्।।३।।(१६०)
जायते शब्दशास्त्रेण पदव्युत्पत्तिरुत्तमा।
व्युत्पत्तिश्च पदार्थानां न्यायवैशेषिकोक्तिभिः।।४।।(१६१)
मीमांसया च वाक्यार्थव्युत्पत्तिः परिनिष्ठिता।
व्यक्तिः सांख्येन तत्त्वानां योगेन मनसो यमः।।५।।(१६२)
महावाक्यार्थविज्ञानं वेदान्तैर्ब्रह्मनिष्ठया।
इत्येवं सर्वतन्त्राणां ब्रह्मण्येव समन्वयः।।६।।(१६३)

इति श्रीबोधसारे समन्वयसरस्वती।।

तत्सर्वमेव तत्समस्तमपि, **यथातथम्, समासेन** संक्षेपेण, **वदामि** कथयामि, त्वं शृणु इत्यर्थः।।३।।(१६०)

तत्र तावद् व्याकरणोपयोगमाह अर्धेन **जायते इति। शब्दशास्त्रेण** व्याकरणेन, **उत्तमा** यथार्था, **पदव्युत्पत्तिः** पदानां सुप्तिङन्तानां, व्युत्पत्तिः ज्ञानं, **जायते** भवति, न्यायादीनाम् उपयोगम् आह **न्यायवैशेषिकोक्तिभिः** न्यायस्य वैशेषिकस्य, उक्तिभिः वाक्यैः, **पदार्थानां** पदानां लक्ष्या वाच्या वा अर्थाः तात्पर्याणि तेषां **व्युत्पत्तिश्च** ज्ञानमपि भवति।।४।।(१६१)

मीमांसोपयोगमाह अर्धेन **मीमांसयेति। मीमांसया** मीमांसाशास्त्रेण, **वाक्यार्थव्युत्पत्तिः** वाक्यानां पदसमूहानाम्, अर्थः तात्पर्यं, तस्य व्युत्पत्तिश्च ज्ञानं, **परिनिष्ठिता** स्थिरा भवति। सांख्योपयोगमाह पादेन **व्यक्तिरिति। सांख्येन** सम्यगसांकर्येण ख्यायन्ते तत्त्वानि प्रकृतिपुरुषादीनि अनेनेति सांख्यं तेन, **तत्त्वानां** प्रकृत्यादीनां, **व्यक्तिः** असांकर्येण प्रतीतिः जायते, योगोपयोगमाह पादेन **योगेनेति। योगेन** चतुर्विधेन शैवेन, पातञ्जलेन एकविधेन च, **मनसः** अन्तःकरणस्य, **यमः** अवरोधः निरोधाख्यसमाधिरूपो जायते।।५।।(१६२)

वेदान्तोपयोगमाह **महावाक्येति। वेदान्तैः** उपनिषद्वाक्यैः, **महावाक्यार्थविज्ञानं** महावाक्यानि तत्त्वमस्यादीनि तेषाम् अर्थः तात्पर्यं जीवब्रह्मणोः एकत्वं तस्य विज्ञानं बोधः जायते, परन्तु

उन (छओं साधनों) में जिन समस्त शास्त्रों का जिस-जिस प्रकार से उपयोग है वह सब मैं अब संक्षेप से वर्णन करता हूँ।।३।।

शब्दशास्त्र (व्याकरण) से पदों का यथार्थ ज्ञान होता है। न्याय तथा वैशेषिक से पदार्थों का (यह अर्थ वाच्य है या लक्ष्य इस प्रकार का तात्पर्य) ज्ञान होता है।।४।।

मीमांसाशास्त्र से वाक्यार्थ का ज्ञान परिपक्व हो जाता है। सांख्यशास्त्र से (प्रकृति आदि) तत्त्वों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। योगशास्त्र से अन्तःकरण का निरोध हो जाता है।।५।।

अथ अविरोधबोधः

प्रसंगादविरोधस्य बोधोऽप्यत्र निरूप्यते।
व्यवहारे द्वैतसत्त्वं द्वैताद्वैतमते समम्।।१।।(१६४)

ब्रह्मनिष्ठया ब्रह्मणि निष्ठा सहजं प्रेम तया, स्याद्, न तु केवलेन वेदान्तार्थविचारेण इति भावः।।६।।(१६३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ समन्वयसरस्वत्यर्थप्रकाशः नवमः।।

एवं सर्वशास्त्राणां वेदान्तार्थे जीवब्रह्मैक्ये समन्वयेन आनुकूल्यं प्रदर्श्य, एतत्प्रसंगेनैव वेदान्तवाक्यजन्ये बोधे जातेऽपि तस्मिन् द्वैतादीनां भिन्नार्थत्वेन विरोधित्वप्रतीतिः बाधिका स्यादिति हेतोः तन्निरासाय अविरोधबोधाख्यं सप्तश्लोकं प्रकरणम् आरभते; तत्र तावत् समन्वयनिरूपणप्रसंगेन एव तदनन्तरम् अविरोधबोधनिरूपणं प्रतिजानीते अर्धेन **प्रसङ्गादिति। प्रसंगात्** सर्वशास्त्रनिरूपणप्रसङ्गेन एवं, **अविरोधस्य** द्वैताद्वैतादिसर्वमतानाम् आनुकूल्यस्य, **बोधः** विज्ञानमपि, **अत्र** अस्मिन् ग्रन्थे, प्रकरणेन इत्यर्थः। **निरूप्यते** कथ्यते, प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। त्वं शृणु इति शेषः, तत्र तावद् द्वैताद्वैतविवादं परिहर्तुं द्वैताद्वैताविरोधमाह अर्धेन **व्यवहारे इति। व्यवहारे** व्यवह्रियते व्याप्रियते अनेन इति व्यवहारः व्यापारः तस्मिन्, **द्वैतसत्त्वं** द्वैतस्य सत्त्वं सत्यत्वं, **द्वैताद्वैतमते** द्वैतमते अद्वैतमते च, **समं** तुल्यमस्ति, वेदान्तिभिः अपि व्यवहारे द्वैतस्य अंगीकृतत्वाद् द्वैतवादिभिः अपि प्रतीतिविषयत्वेन एव द्वैतसत्त्वस्य अंगीकृतत्वाद् द्वयोः मतयोः न विरोध इति भावः।।१।।(१६४)

ननु द्वैताद्वैतवादे अद्वैतकल्पिताकल्पितत्वरूपविरोधस्य सत्त्वात् कथम् अविरोध इत्याशंक्य; वेदान्तिभिः प्रातीतिकद्वैतापवादार्थकत्वेन अद्वैतेऽपि तथात्वस्य अंगीकृतत्वात् न सिद्धान्ते विरोधः तेन इत्याह **अद्वैतकल्पितत्वमिति। अद्वैतकल्पितत्वं च** अद्वैतस्य कल्पितत्वम् आरोपितत्वम् अपि, द्वैताद्वैतमते उभयत्रापि सममिति पूर्वेणैवान्वयः, वेदान्तिनोऽपि सिद्धान्ते अद्वैतस्य कल्पितत्वं मन्यन्ते तदेव द्वैतवादिनोऽपि अद्वैतकल्पितत्वं प्रतिपादयन्ति इत्याशयः, **अतः** कारणात्, **मतद्वये** मतयोः द्वैताद्वैतयोः, द्वये युग्मे, **अविरोधः** विरोधः नास्ति इत्यर्थः। ननु तर्हि द्वैताद्वैतयोः विषये

ब्रह्मतत्त्व में यदि किसी का स्वाभाविक प्रेम हो तो वेदान्तों से (तत्त्वमसि आदि) महावाक्यों के (अभेदरूप) तात्पर्य का ज्ञान हो जाता है। अकेले वेदान्तविचार से महावाक्यार्थ का परिज्ञान नहीं होता। इस प्रकार सब शास्त्रों का ब्रह्म में ही समन्वय है।।६।।

अब प्रसंग से सब मतों का अविरोध भी बताये देते हैं। व्यवहारकाल में द्वैत की सत्यता तो द्वैत और अद्वैत दोनों मतों में समान रूप से मानी गयी है। (वेदान्ती व्यवहारकाल में द्वैत को मानता है, द्वैतवादी प्रतीति का विषय होने से द्वैत को मानता है। इस प्रकार दोनों मतों में परस्पर कोई विरोध नहीं है)।।१।।

अद्वैतकल्पितत्वं चाविरोधोऽतो मतद्वये।
विवदन्ति मुहुर्वादरसैः तद्विवदन्तु ते।।२।।(१६५)
यमास्त्वहिंसासत्याद्या नियमाः शुचितादयः।
सुखासने च संस्थानं प्रत्याहारस्तु सर्वतः।।३।।(१६६)

अविरोधे कथं विवादः प्रवर्त्तते इत्याशंक्याह **विवदन्ति इति**। ये वादरसिकाः केवलं **वादरसैः** वादेषु ये रसाः प्रातीतिकाः स्वस्माद् अन्यपराभवस्वाधिक्यादिजन्याः सुखविशेषाः तैः निमित्तभूतैः, **मुहुः** पुनः पुनः, **विवदन्ति** परस्परं विरुद्धं वदन्ति, **तत्** तस्मात्, **ते** मूर्खा, **विवदन्तु** विरुद्धं वदन्तु, विवेकिभिः जिज्ञासुभिश्च अविरोधं ज्ञात्वा विवादः त्याज्य इति भावः।।२।।(१६५)

एवं द्वैताद्वैतविरोधं परिहृत्य विशिष्टाद्वैताद्वैतयोः विरोधः परिहर्त्तव्यः। तत्र तावद् विशिष्टाद्वैतिनो हि अद्वैतब्रह्मपरिणामः जीवः जगच्च मन्यन्ते, अद्वैतवादिनस्तु जीवो ब्रह्मैव, जगच्च अद्वैतब्रह्मविवर्त्त इति मन्यन्ते इति यद्यपि विरोधः प्रतीयते, तथापि जीवोपाधेः जगतश्च मायापरिणामत्वेन वेदान्तिभिः अपि अंगीकृतत्वात्, किञ्च साधनसम्पत्तेः वेदान्तिनामपि इष्टत्वाच्च विशिष्टाद्वैतिभिरपि साधनादराय ब्रह्मपरिणामत्वं जीवस्य स्थापयित्वा तन्निरासाय साधनसम्पत्या जीवत्वनाशेन अद्वैतेश्वरत्वप्राप्तिः प्रतिपाद्यते अतः तदविरोधं ज्ञापयितुं यमादिसर्वसाधनानां सर्वसंमतत्वमाह द्वाभ्याम् **यमास्त्विति। यमाः** पञ्च, **अहिंसासत्याद्या** अहिंसा च हिंसात्याग आवश्यकं विना स च ज्ञेयः, सत्यं सत्यवचनं सत्यप्रतिज्ञत्वादिराद्यः प्रथमं येषाम् अस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाणां ते यमा ज्ञेयाः, तथा **शुचितादयः** शुचिता निर्मलत्वमादिः प्रथमं येषां सन्तोषस्वाध्यायतपईश्वरप्रणिधानानां ते शुचितादयः **नियमा** ज्ञेयाः। **संस्थानं च** सम्यक् स्थीयते अनेन इति संस्थानं, शरीरस्य स्थैर्यसम्पादनम्, **सुखासने** इति निमित्ते सप्तमी 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इतिवत्, सुखासननिमित्तजं शरीरे स्थैर्यं सम्पाद्यम् इति भावः, यद्वा सुखेन यदासनं स्थितिः एतत्सदृश्येव शरीरस्थिरता सा एव आसनं मुख्यमित्यर्थः, यद्वा सुखे सुखरूपे ब्रह्मणि, आस्यते स्थीयते अनेन इति सुखासनं वृत्तेः ब्रह्मणि स्थैर्यमेवात्र शरीरस्थैर्यकारणत्वात् शरीरस्थिरता नान्या बद्धपद्मासनादिरूपा शरीरस्थिरता मता इत्यर्थः, तथा **सर्वतः** सर्वेभ्यो विषयेभ्य इन्द्रियाणामिति शेषः, स तु **प्रत्याहारः** ज्ञेयः।।३।।(१६६)

द्वैतवादी भी अद्वैत को कल्पित बताते हैं, और वेदान्ती भी सिद्धान्तरूप से अद्वैत को कल्पित ही मानते हैं, इस प्रकार इस मामले में भी दोनों मतों में विरोध नहीं है। तो भी जिनको केवल वादविवाद में ही रस आता है, यदि वे लोग उस रस के कारण आपस में विवाद करते हैं तो किया करें (विवेकी या जिज्ञासु विवाद को छोड़ ही दें)।।२।।

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये 'यम', शौच सन्तोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ये 'नियम', सुखदायक 'आसन' से शरीर में स्थिरता, (अथवा सुखस्वरूप ब्रह्म में वृत्ति की स्थिरता) तथा सब विषयों से इन्द्रियों का 'प्रत्याहार'

धारणा च तथा ध्यानं समाधानं च चेतसः।
योगाङ्गसप्तकं त्वेतत् सर्वेषामपि संमतम्।।४।।(१६७)
लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ सांख्ये हरेर्मते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः।।५।।(१६८)

धारणेति। धारणा च कस्मिंश्चिद् विषये चित्तस्थैर्याऽस्थैर्ये ज्ञातुं तस्यैव स्थापनं धारणाशब्देन उच्यते इत्यर्थः, **तथा ध्यानं** वृत्तीनाम् इष्टैकवस्तुविषयकप्रवाहः अन्यविषयवृत्तिभिः अनन्तरितः तद् ध्यानम्, इत्युच्यते, **चेतसः** त्रिपुटीरूपस्य चित्तस्य, **समाधानं** ध्येयमात्रावस्थानं, समाधिः ज्ञेयः। **एतत्तु** इदमपि, **योगांगसप्तकं** योगस्य निर्बीजसमाध्याख्यस्य निरोधापरपर्यायस्य अङ्गानां साधनानां सप्तकं सप्तानां समूहः समूहे कन्, प्राणायामस्य तु सर्वैः एव अंगीकृतत्वात् तं विना सप्तैव अत्र उक्तानि इति ज्ञेयम्। **सर्वेषामपि** द्वैताद्वैतवाद्यादीनाम् अपि, **संमतम्** इष्टम्, अतः तदर्थवतः विशिष्टाद्वैतस्य न केनापि विरोध इति भावः।।४।। (१६७)

(संकोच), 'धारणा' (किसी विषय में चित्त को इस प्रकार लगाना कि किसी दूसरे पदार्थ का उस काल में ज्ञान ही न हो) तथा चित्त की 'समाधि' (जब ध्याता ध्येयमात्र होकर रहने लगे); योग के ये सातों अंग तो सब को ही सम्मत हैं।।३-४।।

लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग तथा श्रीकृष्ण के भागवत धर्म में वेदान्तमत के साथ कोई भी विरोध नहीं है। इस बात का पता जिनको हो जाता है वे सीधे मोक्ष को पहुँच जाते हैं।

लययोगप्रतिपादक शास्त्रों में लय को आत्मचिन्तन का उपाय बताया गया है। उससे वेदान्तियों का कोई विरोध नहीं, क्योंकि वह आत्मचिन्तन में उपयोगी है। मन्त्रयोग से देवता प्रसन्न होते हैं, उससे ज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मन्त्रयोग से भी हमारा कोई विरोध नहीं। हठयोग से शिवशक्तिसमायोग होने से अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसलिये हठयोग से भी हमारा कोई विरोध नहीं। राजयोग तो स्वरूपावस्थितिरूप है उससे विरोध ही क्या! भक्ति भी अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करा कर मुक्ति को प्राप्त कराती है, उसका भी वेदान्त से कोई विरोध नहीं। तत्त्वविवेचन के द्वारा पुरुष की असंगता का बोध कराकर 'त्वं' पदार्थ के शोधन करने में उपयोगी सांख्यों के साथ भी वेदान्त का कोई विरोध नहीं है। हरि भगवान् के "जो कुछ करते हो सब मुझे अपर्ण करो" इस धर्म से भी कर्तृत्व की बाधा होती है, सो तो वेदान्त के अनुकूल ही है। इस प्रकार सब शास्त्रों में कोई विरोध नहीं है।।५।।

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न संमतः।।६।।(१६९)

इदानीं लयादीनामपि सर्वेषां विरोधं परिहरति **लय इति। लये** लययोगे, 'निद्रादौ जागरस्यान्ते निद्रान्ते जागरोदये। लयो भवति चित्तस्य कार्यं तत्रात्मचिन्तनम्' इत्यादिषु लयप्रतिपादकेषु लय आत्मचिन्तनाय उक्तः तस्मिन् अपि न वेदान्तिभिः सह विरोध इत्यर्थः, आत्मचिन्तनोपयोगित्वादिति भावः। **मन्त्रे** मन्त्रयोगे, शैववैष्णवादिमन्त्राणामपि देवताप्रसाद हेतुत्वात् तस्य च ज्ञानप्राप्तिहेतुत्वात् तस्याश्च मुक्तिहेतुत्वाद् न विरोधः वेदान्तिनां मन्त्रयोगिनां च इति भावः। तथा **हठे** हठयोगे, हठस्यापि शिवशक्तिसमायोगफलत्वात् तस्य च साम्यरूपत्वात् तस्य च अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानहेतुत्वाद् न विरोधो हठवेदान्तयोः इति भावः, **राज्ञि** राजयोगे, राजयोगस्य च स्वरूपस्थितिरूपत्वाद् न कोऽपि विरोध इति भावः, **भक्तौ** भक्तियोगे, भक्तियोगस्यापि अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानप्राप्त्या मुक्तिहेतुत्वाद् न विरोधः वेदान्तेन सह इति भावः, **सांख्ये** सांख्यमते, सांख्यस्यापि तत्त्वविवेचनद्वारा पुरुषाऽसङ्गत्वज्ञानेन त्वंपदार्थशोधने उपयोगित्वाद् वेदान्तिभिः सह सांख्यानां न विरोधः, **हरेर्मते** श्रीकृष्णस्य 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्' इत्यादि उक्तलक्षणे भागवतधर्म इत्यर्थः, एतस्मिन् अपि कर्तृत्वबाधेन 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुत्यर्थानुकूल्येन अविरोधः वेदान्तेन सह इति भावः, एवं **सर्वेषां** सर्वशास्त्राणां, **मतैक्यं** मतस्य इष्टार्थस्य, ऐक्यम् अविरोधः, **अस्ति** विद्यते, **य** एवं विदुः इति शेषः, ते **बुधा** ज्ञानिनः, ते **मोक्षमार्गगा** मोक्षस्य मार्गो जीवब्रह्मैक्यज्ञानं तेन गच्छन्ति प्रवर्तन्ते इति तथोक्ताः ते ज्ञेयाः, यदि मतेषु तात्पर्यभेदं तर्हि ते अज्ञानिन इति भावः।।५।।(१६८)

ननु हठयोगे प्राणायामादिना क्लेशबाहुल्यम् इत्याशंक्य प्राणायामेन मनः स्थैर्यलक्षण-प्रयोजनसद्भावात् तस्यापि सर्वसंमतत्वम् इत्याह **हठिनामिति। हठिनां** हठयोगिनाम्, **एकः** मुख्यः **प्राणायामपरिश्रमस्तु** प्राणानाम् आयामः नियमनम् तु अन्येभ्यो विलक्षणः, **अधिकः** विशेषः अस्ति, तस्मिंश्च **प्राणायामे** सिद्धे सति, **मनःस्थैर्यं** मनसः चित्तस्य, स्थैर्यं स्थिरत्वं, जायते इति शेषः, अतः **स तु** प्राणायामश्च, **कस्य** साधकस्य, **न संमतः** न इष्टः, सर्वस्यापि इष्ट इत्यर्थः।।६।।(१६९)

तस्मात् सर्वमतानां मुक्तिफलत्वं सिद्धम् इत्याह **विमुक्तिरिति।** तस्माद् फले अविरोधाद्, **वादिनां** सर्वेषां स्वस्वमतवादशीलानां, **विमुक्तिः** मोक्षः स्याद्, अतः फलैकत्वात्, **कश्चन** कोऽपि, **मतभेदः** मतेषु भेदः भिन्नत्वं, **न** नास्ति। ननु तैः स्वस्वप्रक्रियासु अन्यथा प्रतिपाद्यते अतः कुतो न भेदः तेषु इत्याशंक्याह **कश्चिदिति। वेदान्तिनामपि** अद्वैतवादिनामपि, **मते** सिद्धान्ते, **कश्चित्**

हठयोगियों का प्राणायाम परिश्रम और सब मतों से पृथक् है। जिस प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर मन स्थिर हो जाता है वह प्राणायाम भला किस साधक को पसन्द न आयेगा।।६।।

विमुक्तिर्वादिनां तस्माद् मतभेदो न कश्चन।
कश्चित् कश्चिद् मते भेदस्त्वस्ति वेदान्तिनामपि।।७।।(१७०)

इति श्रीनरहरिकृतबोधसारे अविरोधबोधाख्यं दशमं प्रकरणम्।।

अथ सांख्याञ्जनशलाका

नेत्रयोरञ्जनं कार्यं सांख्याञ्जनशलाकया।
ततस्तिमिरनाशेन सूक्ष्मवस्तु विलोक्यते।।१।।(१७१)

कश्चित् कोऽपि कोऽपि, **भेदो** भिन्नत्वम्, एकजीवत्वानेकजीवत्वादिरूपः, **अस्ति** वर्त्तते, प्रक्रियाभेदेन विषयभेदे वेदान्तेऽपि विषयभेदः स्यादिति भावः।।७।।(१७०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ अविरोधबोधार्थप्रकाशः दशमः।।

एवं सर्वमतानाम् अविरोधं प्रदर्श्य इदानीं सांख्यस्यापि असङ्गपुरुषज्ञानसाधनत्वात् तस्य च त्वंपदार्थशोधनेन त्वंपदलक्ष्ये कूटस्थे उपयोगात् तदर्थज्ञानाय सांख्यं निरूपयितुं सांख्याञ्जनशलाकाख्यम् एकविंशतिश्लोकं प्रकरणम् आरभते; तत्रादौ सांख्याञ्जनशलाका इति प्रकरणनामार्थं सम्भावयितुं तदर्थनिरूपणाय च रूपकमाह **नेत्रयोरिति।** हे शिष्य, त्वया **सांख्याञ्जनशलाकया** सम्यग् निःसन्देहं यथा तथा ख्यायन्ते कथ्यन्ते तत्त्वानि प्रकृतिपुरुषादीनि अनेन इति सांख्यं शास्त्रं, तदेव अञ्जनशलाका तया, **नेत्रयोः** प्रकृतिपुरुषज्ञानरूपयोः, नीयते प्राप्यते असङ्गं तत्त्वं याभ्यामिति नेत्रे तयोः नेत्रसदृशयोः प्रकृतिपुरुषविषयकज्ञानयोः इत्यर्थः, **अञ्जनम्** अज्यते व्यज्यते स्वरूपमनेन इति अञ्जनम् असङ्गत्वज्ञानं शास्त्रजन्यं तत्, **कार्यं** कर्तव्यम्, किं फलं तस्य इत्यपेक्षायां फलं दर्शयति **तत इति। ततः** कृतनेत्राञ्जनात्, **तिमिरनाशेन** नेत्रस्थिताज्ञाननाशेन, **सूक्ष्मवस्तु** अदृश्यत्वात् सूक्ष्मं, वस्तु यथार्थभूतं स्वरूपं **विलोक्यते** प्रत्यक्षमनुभूयते, इदमेव फलं ज्ञेयम्।।१।।(१७१)

एवं फलप्रदर्शनेन मुमुक्षूणां सांख्यश्रवणे रुचिम् उत्पाद्य, इदानीं तेषां तत्र विश्वासं जनयितुं सांख्यसंप्रदायश्रैष्ठ्याय तत्संप्रदायमाह **कपिलेनेति। मुकुन्देन** मुक्तिदेन परमेश्वरेण, एव **कपिलेन** कपिलनामकेन आचार्येण, **सर्वतत्त्वविवेकेन** सर्वाणि तत्त्वानि समस्तानि प्रकृतिपुरुषादीनि तत्त्वानि विविच्यन्ते पृथगूलक्षणैरसंकीर्य ज्ञाप्यन्ते अस्मिन् इति सर्वतत्त्वविवेकं सांख्यशास्त्रं तेन, कृत्वा येन

(फल में विरोध न होने से) सब मतवादियों की मुक्ति होने में कोई भी संशय नहीं रहा। इसलिये (क्योंकि एक ही मुक्तिस्वरूप फल सब को प्राप्त होना है) मतों में भी परस्पर कोई भेद नहीं मानना चाहिये। यों कोई-कोई मतभेद तो वेदान्तियों में भी आपस में है (जैसे कि कोई वेदान्ती एकजीववादी है, कोई अनेकजीववादी इत्यादि)।।७।।

सांख्यरूपी अंजन की शलाका से (प्रकृतिपुरुषज्ञानरूपी) नेत्रों में (असंगत्वज्ञानरूपी) अंजन लगाना चाहिये, उससे (अज्ञानरूपी) तिमिर का नाश होकर सूक्ष्म पदार्थ देखा जा सकेगा।।१।।

कपिलेन मुकुन्देन देवहूती प्रबोधिता।
सर्वतत्त्वविवेकेन तत्सांख्यमभिधीयते।।२।।(१७२)
सर्वा विकृतयो यस्याः स्थूलसूक्ष्माश्चराचराः।
अस्ति काचिदनिर्देश्या प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका।।३।।(१७३)
महत्तत्त्वमहङ्कारः पञ्च तन्मात्रकाणि च।
प्रकृतिर्विकृतिश्चेति सप्तैतानि भवन्ति हि।।४।।(१७४)

इति अध्याहार्यम्, **देवहूती** नाम्नी स्वमाता, **प्रबोधिता** उपदिष्टा, **तत्** शास्त्रं, **सांख्यं** सांख्यनामकम् **अभिधीयते** कथ्यते अतः अत्र विश्वासः कार्य इति भावः।।२।।(१७२)

एवम् अत्र विश्वासं जनयित्वा, इदानीं सांख्यप्रतिपाद्येषु तत्त्वेषु मध्ये मूलकारणभूतां प्रकृतिं प्रधानापरपर्यायां लक्षयति **सर्वा इति। यस्याः** कारणभूतायाः, **स्थूलसूक्ष्माः** स्थूलाः पञ्चीकृतभूतभौतिकरूपाः, सूक्ष्मा अपञ्चीकृतभूतभौतिकरूपाश्च, **चराचराः** पञ्चीकृतभौतिकेष्वपि चरा जङ्गमा, अचराश्च स्थावराः, **सर्वाः** समस्ता अपि, **विकृतयः** विकाराः, कार्याणि इत्यर्थः, भवन्ति एतादृशी **त्रिगुणात्मिका** त्रयाणां गुणानां सत्त्वरजस्तमोभिधानानां साम्यावस्थारूपा, **अनिर्देश्या** सत्त्वेन असत्त्वेन वा केनापि रूपेण निर्देशानर्हा, अत एव **काचिद्** अनिर्वचनीया, **प्रकृतिः** सर्वजगत्कारणरूपत्वात् प्रकृतिनाम्नी, **अस्ति** विद्यते, तदसत्त्वे जगत्सत्त्वप्रतीत्यनुपपत्तेः इति भावः, तथा च अत्र सांख्यानां कारिका 'मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः।' इति।।३।।(१७३)

एवं मूलप्रकृतिलक्षणं निरूप्य, इदानीं सप्त प्रकृतिविकृतीः आह **महत्तत्त्वमिति। महत्तत्वम्** एकम्, **अहंकारः** द्वितीयः, **पञ्च** पञ्चसंख्यानि **तन्मात्रकाणि च** शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यानि अपि, **एतानि हि** प्रसिद्धानि उक्तानि, **सप्त** सप्तसंख्याकानि, **प्रकृतिः** कारणरूपाणि, **विकृतिश्च** कार्यरूपाणि अपि, **भवन्ति** जायन्ते।।४।।(१७४)

ननु एतेषां कारणत्वं कार्यत्वं च एकैकस्य परस्परं विरुद्धं कथं सम्भाव्यम् इत्याशंक्याह **स्वेति। यत्** यस्मात् कारणात् महदादीनि प्रत्येकं **स्वकारणानां** स्वस्य स्वस्य च यानि यानि कारणानि प्रकृतयः तेषां, **विकृतिः** स्वयं विकारः, कार्यमित्यर्थः, तथा **स्वोद्भवस्य** स्वस्मात् स्वस्मात् कारणरूपाद्, उद्भव उत्पत्तिः, यस्य यस्य कार्यरूपस्य तस्य तस्य स्वयं **प्रकृतिः** प्रक्रियते कार्यम्

कपिलरूपधारी मुकुन्द ने देवहूती (नामक अपनी माता) को प्रकृति पुरुष आदि सब तत्त्वों का विवेक जिस शास्त्र से कराया वह सांख्य शास्त्र कहाया।।२।।

स्थूल सूक्ष्म भूत तथा ये जङ्गम स्थावर आदि सब ही जिसके विकार हैं, ऐसी कोई सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंवाली अनिर्वचनीय प्रकृति है (जिसके कारण से यह सब जगत् प्रतीत हो रहा है)।।३।।

महत्तत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच तन्मात्रा ये सातों कार्य भी होते हैं और कारण भी होते हैं।।४।।

स्वकारणानां विकृतिः प्रकृतिः स्वोद्भवस्य यत्।
एवमष्टौ प्रकृतयः, ततो विकृतयोऽभवन्।।५।।(१७५)
व्योमादिपञ्चभूतानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि च।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव मनसा सह षोडश।।६।।(१७६)
खं वायुरग्निस्तोयं भूर्भूतपञ्चकमुच्यते।
शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धस्तेषां गुणाः क्रमात्।।७।।(१७७)

अनया सा प्रकृतिः कारणं भवति इति शेषः, सर्वप्रकृतिसंख्यामाह **एवमिति, एवम्** उक्तरीत्या, **प्रकृतयः** प्रकृतिशब्दवाच्यानि कारणानि, **अष्टौ** अष्टसंख्या, मूलप्रकृत्या सह इति ज्ञेयाः, ताभ्य एव विकृतिसम्भवम् आह **तत इति, ततः** ताभ्यः अष्टप्रकृतिभ्यः, **विकृतयः** विकाराः षोडशसंख्याका वक्ष्यमाणा, **अभवन्** जाताः।।५।।(१७५)

तानेव विकारान् संख्यया सह निरूपयति **व्योमादीति। व्योमादिपञ्चभूतानि** व्योम आकाशम् आदिः येषां वाय्वादीनां चतुर्णां तानि व्योमादीनि तानि पञ्चसंख्यानि भूतानि च तथा तानि, तथा **ज्ञानेन्द्रियाणि च** शब्दादिज्ञानसाधनानि अपि करणानि, **पञ्च** पञ्चसंख्यानि, पूर्वपञ्चकेन सह दश भवन्ति, तथा **कर्मेन्द्रियाणि** क्रियाजनकानि करणानि, **पञ्चैव** पञ्चसंख्याकान्येव, एवं पूर्वदशकेन सह पञ्चदश भवन्ति, तानि सर्वाणि, **मनसा** अन्तःकरणेन, **सह** साकं, **षोडश**संख्याका एते विकारा ज्ञेयाः।।६।।(१७६)

तानेव विकारान् स्पष्टं नामतो निर्दिशति सपादद्वाभ्याम् **खमिति। खम्** आकाशं, **वायुः** अनिलः, **अग्निः** तेजः, **तोयं** जलं, **भूः** पृथ्वी, एतद् **भूतपञ्चकं** भूतानाम् आकाशादीनां, पञ्चकं पञ्चसमूहः, समूहे कन्, **उच्यते** कथ्यते, मुनिभिः इति शेषः, प्रसङ्गात् तेषां गुणानपि आह **शब्देति। शब्दस्पर्शौ** शब्दश्च प्रतिध्वनिरूपः स्पर्शश्च अनुष्णाशीतरूपः, तौ द्वौ, **रूपरसौ** रूपं च प्रभारूपं, रसश्च माधुर्यरूपः, तौ द्वौ, एवं पूर्वाभ्यां सह चत्वारः, **गन्धः** सामान्यगन्धः पञ्चमः एते पञ्च **तेषां गुणा** वियदादीनां **गुणा** धर्माः, **क्रमात्** क्रमेण, ज्ञेयाः।।७।।(१७७)

इन्द्रियाणां दशकमाह **श्रोत्रमिति। श्रोत्रं** श्रुतिः, शब्दज्ञानकरणमित्यर्थः, **त्वक्** स्पर्शज्ञानकरणम् इत्यर्थः, **चक्षुः** नेत्रगोलकस्थं रूपज्ञानकरणम्, **रसनं** रस्यते अनेन इति रसनं रसज्ञानकरणं

महत् आदि प्रत्येक अपने-अपने कारणों के तो विकार (कार्य) हैं परन्तु अपने से उत्पन्न हुए कार्यों के प्रकृति (कारण) कहाते हैं। इस प्रकार मूल प्रकृति को साथ गिन कर सांख्यमत में आठ प्रकृति होती हैं। इन आठों से ही विकार (कार्य) उत्पन्न हो जाते हैं।।५।।

आकाशादि पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मनये सोलह विकार कहाते हैं।।६।।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँच 'भूत' कहाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँचों भूतों के क्रम से 'गुण' कहे जाते हैं।।७।।

श्रोत्रं त्वक् चक्षू रसनं घ्राणं ज्ञानेन्द्रियाणि च।
वाक्पाणिपादपाय्वादिपञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।।८।।(१७८)
उभयात्मा मनस्तेन चतुर्विंशतिरीरिता।
तत्त्वानां, तद्विकारस्तु सर्वं चैव जगत्त्रयम्।।९।।(१७९)
प्रकृतेस्त्रिगुणात्मत्वात् सर्वं हि त्रिगुणात्मकम्।
रक्तश्वेतश्यामरूपा रजःसत्त्वतमोगुणाः।।१०।।(१८०)

जिह्वागोलकस्थं गन्धज्ञानसाधनम् एतानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि ज्ञानकरणानि ज्ञेयानि। कर्मजनकानि इन्द्रियाणि आह **वाक्** इति। **वाक्** वचनजनकं जिह्वास्थं करणम्। **पाणिः** ग्रहणत्यागजनकं हस्तस्थं करणम्, **पादो** गतिक्रियाजनकम् अंघ्रिस्थं करणम्, **पायुः** गुदस्थं मलोत्सर्गक्रियाजनकम् इन्द्रियम् **आदि**पदेन उपस्थं शिश्नस्थं रतिसुखजनकं करणम् एतानि **कर्मेन्द्रियाणि च** क्रियाजनकानि इन्द्रियाणि अपि, **पञ्च** ज्ञेयानि।।८।।(१७८)

मनसः स्वरूपमाह **उभयात्मेति। मनः** संकल्पविकल्परूपं संशयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः, **उभयात्मा** उभयेषां ज्ञानकर्मेन्द्रियाणाम्, आत्मा कारणम्, उभयेन्द्रियसाधनभूतमित्यर्थः। सर्वतत्त्वानां संख्यामाह **तेनेति। तेन** कारणेन, **तत्त्वानां** पुरुषवर्जितानां, **चतुर्विंशतिः** चतुर्विंशतिपरिमिता संख्या, **ईरिता** कथिता। एवं सर्वतत्त्वसंख्याम् उक्त्वा इदानीम् एतत्सर्वतत्त्वकार्यत्वं जगतो दर्शयति **तदिति। सर्वं** समस्तं, **जगत्त्रयं चैव** भुवनत्रयमपि, **तद्विकारः** तेषां तत्त्वानां विकारः कार्यम् अस्ति **तु**।।९।।(१७९)

इदानीं जगतः प्रकृतिकार्यत्वं दर्शयितुं प्रकृतेः त्रैगुण्यनिरूपणपूर्वकं सर्वजगतः त्रिगुणकार्यत्वेन गुणमात्रत्वं दर्शयति **प्रकृतेरिति। प्रकृतेः** सर्वजगत्कारणभूतायाः प्रधानापरपर्यायायाः, **त्रिगुणात्मत्वात्** गुणत्रयसाम्यरूपत्वात्,**सर्वं** तत्कार्यभूतं जगत्, **हि** प्रसिद्धं च इदं, **त्रिगुणात्मकं** सत्त्वरजस्तमोमात्रम् अस्ति, जगतः गुणमात्रत्वमेव ज्ञापयितुं गुणानां वर्णतो रूपमाह अर्धेन **रक्तेति। रजःसत्त्वतमोगुणाः** रजश्च सत्त्वं च तमश्च एतत् नामकाः त्रयः, **रक्तश्वेतश्यामरूपा** रक्तो लोहितः, श्वेतः शुक्लः, श्यामः कृष्णः, एतानि रूपाणि येषां तथाविधाः, एतेनैव जगतोऽपि रक्तश्वेतश्यामरूपत्वेन गुणमात्रत्वं निश्चेयम् इति भावः।।१०।।(१८०)

श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, रसना तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाणी, पाणि, पाद, गुदा तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।।८।।

(संकल्पविकल्परूप) मन तो उभयात्मा है (अर्थात् यह मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों का साधनभूत है)। इस प्रकार ये सब चौबीस तत्त्व हुए। यह त्रिभुवन इन्हीं तत्त्वों का कार्य है।।९।।

(सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप) प्रकृति क्योंकि त्रिगुणात्मक है इसलिये उसका कार्य यह समस्त जगत् भी त्रिगुणात्मक ही है। सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण क्रम से श्वेत रक्त तथा कृष्णरूपवाले हैं।।१०।।

रजश्चलं तमः स्तब्धं प्रकाशस्सात्त्विको मतः।
तमोऽधमं रजो मध्यं सत्त्वमुत्तममेव हि।।११।।(१८१)
लोभादयो रजोभावाः तमसो जडतादयः।
सुखप्रसादबोधाद्या भावाः सत्त्वस्य कीर्त्तिताः।।१२।।(१८२)

इदानीं जगतो गुणकार्यत्वं गुणस्वभावकथनेन सूचयति अर्धेन **रज इति। रजो** रजोगुणः, **चलं** चञ्चलस्वभावम् अस्ति, **तमः** तमोगुणः, **स्तब्धं** स्तब्धस्वभावं, स्थिरमित्यर्थः, अस्ति। **प्रकाशो** ज्ञानं, **सात्विकः** सत्त्वधर्मो, **मतः**निश्चितः मुनिभिः इति शेषः। पुनरपि जगतो गुणकार्यत्वं ज्ञापयितुं नीचत्वादीन् धर्मान् गुणानामाह **तम इति। तमः** तमोगुणः, **अधमं** नीचस्वभावं, **रजः** रजोगुणः, **मध्यं** मध्यस्वभावं, **सत्त्वं** सत्त्वगुणः, **उत्तममेव** उच्चस्वभावमेव अस्ति, **हि** प्रसिद्धम्, एतद्विदुषामिति भावः।।११।।(१८१)

इदानीं गुणकार्यतः अपि जगतः गुणमात्रत्वं दर्शयितुं गुणानां कार्याणि आह **लोभादय इति। लोभादयः** लोभः प्राप्तेऽपि वस्तुनि स्पृहारूपा अन्तःकरणवृत्तिः, आदिः येषाम् अक्षचाञ्चल्यादीनां ते, **रजोभावाः** रजोगुणकार्याणि ज्ञेयानि। **जडतादयः** जडता मोह आदिः येषां क्रोधादीनां ते, **तमसः** तमोगुणस्य भावाः कार्याणि विद्यन्ते। **सुखप्रसादबोधाद्याः** सुखानि प्रियमोदप्रमोदाख्याः सुखविशेषाः, प्रसादः अन्तःकरणनैर्मल्यं, बोधः ज्ञानं च, आद्याः प्रमुखा येषां शमादीनां ते, **भावाः** कार्याणि, **सत्त्वस्य** सत्त्वगुणस्य, **कीर्त्तिताः** कथिता मुनिभिः इति शेषः, एवं प्रकारेण विचारे कृते जगतः प्रकृतिगुणकार्यत्वं सिद्धमेव इति ज्ञेयम् इति भावः।।१२।।(१८२)

इदानीं स्पष्टमेव जगतः गुणकार्यत्वं दर्शयति **देवादय इति। देवादयः** देवा इन्द्रादयः आदयो येषां विद्याधर-किन्नर-गन्धर्वादीनां ते, तारतम्येन **सात्त्विकाः** सत्त्वगुणोद्भवाः, **स्युः** भवेयुः, तथा तद्वत् **नराद्या** नरो मनुष्य आद्यो येषां मुनिऋष्यादीनां ते, **राजसा** रजोगुणोद्भवाः, **स्मृताः** प्रोक्ताः, पुराणेतिहासादौ इत्यर्थः, **पशुभूताद्याः** पशवः गोऽश्वादयश्च, भूताश्च प्रेतादयः, आद्या मुख्या येषु पतङ्गकीटवृक्षादिषु ते, **तामसाः** तमोगुणोद्भूताः। यद्यपि 'भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरसिंहेन देवयोनित्वमुक्तं, तथापि तदन्तर्धानादिशक्तिमत्त्वेन

रजोगुण का स्वभाव चंचल, तमोगुण का स्वभाव मूढ तथा सत्त्वगुण का स्वभाव प्रकाश है। तमोगुण नीच स्वभाववाला, रजोगुण मध्य स्वभाववाला, तथा सत्त्वगुण उच्च स्वभाववाला होता है।।११।।

लोभ तथा इन्द्रियचापल्य आदि रजोगुण के कार्य हैं। जडता मोह क्रोधादि तमोगुण के कार्य हैं। सुख, अन्तःकरण की निर्मलता, बोध तथा शमदमादि सत्त्वगुण के कार्य कहे गये हैं। (इससे यह निष्कर्ष निकाल लो कि यह जगत् प्रकृति के गुणों का कार्य है)।।१२।।

देवादयः सात्त्विकाः स्युः नराद्या राजसाः स्मृताः।
तामसाः पशुभूताद्या एवं सर्वं विविच्यताम्।।१३।।(१८३)
विरोधिनः सहायाश्च मिथः कार्यं च कारणम्।
मिलित्वा कार्यकर्त्तारः गुणा विषमचेष्टिताः।।१४।।(१८४)

इति ज्ञेयम्, तामसत्वं क्रौर्याद्यतिशयवत्त्वादिति भावः। उक्तम् अन्यत्रापि अतिदिशति **एवमिति। एवम्** उक्तप्रकारेण **सर्वं** वस्तुजातं **विविच्यतां** सात्त्विकादिभेदेन पृथक् पृथक् ज्ञायताम् इत्यर्थः।।१३।।(१८३)

एवं जगतो गुणकार्यत्वं प्रदर्श्य इदानीं सांख्यस्य वेदान्तानुकूल्याय तत्कारणभूतप्रकृतेः मायात्वं ज्ञापयितुं गुणानाम् अघटितघटनाकारित्वं दर्शयति **विरोधिन इति। गुणाः** प्रकृतिलक्षका धर्मा, रजःसत्त्वतमोरूपाः, **मिथः** अन्योन्यं, **विरोधिनः** विरोधः विद्यते येषां ते तथोक्ताः, परस्परनाशकस्वभावा इत्यर्थः, **सहायाश्च** मिथः अन्योन्यम् अनुकूलाः तत्तत्कार्यजनने अन्योन्यम् अनुकूला इत्यर्थः, सन्ति इति शेषः, अन्योन्यं **कार्यं कारणं च** परस्परं कार्यकारणरूपा अपि भवन्ति, किञ्च **गुणाः** सत्त्वरजस्तमोभिधा **विषमचेष्टिता** विषमम् अन्योन्यनाशकं चेष्टितं चेष्टा येषां ते, प्रकाशकं सत्त्वं, चाञ्चल्यादिमद् रजो, लयरूपं तमः, एवं वैषम्याद् गुणानां परस्परं प्रातिकूल्यम् इति भावः। ते गुणाः **मिलित्वा** एकीभूय, **कार्यकर्त्तारः** कार्यस्य जगतः जननस्थितिनाशरूपस्य, कर्त्तारः कारका भवन्ति, एतेन गुणानामघटितघटनारूपत्वेन तत्कार्यस्य जगतोऽपि तथात्वाद् उभयत्र मायालक्षणसिद्धेः मायात्वं सिद्धं, तेन च तत्कारणभूतप्रकृतौ अपि तत्सिद्धम् एव इति ऊह्यम् इति भावः।।१४।।(१८४)

एवं प्रकृतेर्मायात्वं प्रदर्श्य इदानीं पुरुषस्यासङ्गत्वं दर्शयितुं विश्वस्य आत्मनश्च वैलक्षण्यं दर्शयति **विश्वमिति। सर्वं** समस्तं, **विश्वं** जगत्, **गुणात्मकं** गुणा एव आत्मा स्वरूपं यस्य तत् गुणरूपम् इत्यर्थः, **आत्मा** पुरुषः **हि** विलक्षणत्वेन प्रसिद्धो विदुषां, **निर्गुण एव** गुणरहित एव, अतः **तत्र** जगति गुणकार्ये **प्रकाशकतया** गुणानां जगतश्च प्रकाशकलक्षणाऽऽभासरूपसम्बन्धाभासेन,

देवादि सत्त्वगुण से, मनुष्य आदि रजोगुण से, तथा पशु भूत कीट पतंग आदि तमोगुण से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार सब पदार्थों में सात्त्विक राजस तामस का भेद समझ लेना चाहिये।।१३।।

ये सत्त्व आदि गुण एक-दूसरे के विरोधी भी हैं और (कार्योत्पत्ति में) परस्पर सहायक भी हैं। एक-दूसरे के परस्पर कार्य भी हैं और कारण भी हैं। सत्त्व प्रकाशक है, रज चांचल्यरूप है, तम लयरूप है, इस प्रकार इन सबका व्यवहार विषम अर्थात् एक-दूसरे को नष्ट करनेवाला है, तो भी ये गुण एक-दूसरे के साथ मिलकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश करते ही रहते हैं।।१४।।

विश्वं गुणात्मकं सर्वमात्मा निर्गुण एव हि।
प्रकाशकतया तत्र प्रविष्ट इव भासते।।१५।।(१८५)
यथा द्वात्रिंशद्दन्तस्था रसज्ञा रसवेदिनी।
चतुर्विंशतितत्त्वान्तः स्वात्मज्ञस्तत्त्ववित् तथा।।१६।।(१८६)
एकमेव निजं नाथं माया विषयलम्पटा।
बहुरूपधरं कृत्वा वेश्येव खलु खेलति।।१७।।(१८७)

प्रविष्ट इव प्रविष्टसदृशः, **भासते** प्रतीयते, वस्तुतस्तु न प्रविष्ट इत्यर्थः, अत एव न केनचित् सम्बन्ध आत्मनः सम्भवति, तेन चासङ्गत्वं सर्वदा एव आत्मनः सिद्धम् इति भावः।।१५।।(१८५)

इदानीं सर्वतत्त्वेभ्यो वैलक्षण्यं पुरुषस्य सदृष्टान्तमाह **यथेति। यथा** यद्वद्, **द्वात्रिंशद्दन्तस्था** द्वात्रिंशत्संख्यदन्तसमूहस्था, **रसज्ञा** रसान् मधुरादीन् जानाति इति रसज्ञा जिह्वा, सर्वरसानुभवित्रीत्यर्थः। **रसवेदिनी** रसवेदनशीला, रसज्ञानरूपक्रियाकरणरूपा इत्यर्थः, न तु दन्ता रसवेदनशीलाः। **तथा** तद्वत्, **चतुर्विंशतितत्त्वान्तः** चतुर्विंशतिसंख्यप्रकृत्यादितत्त्वानि अन्तयति नाशयति, स्वसत्ताकर्षणेन स तथा, **स्वात्मज्ञः** स्वात्मानं जानातीति तथा स्वप्रकाश इत्यर्थः, **तत्त्ववित्** तत्त्वानि चतुर्विंशतिसंख्यानि वेत्ति इति तथा स पुरुषो ज्ञेयः। स्वतः सत्तास्फूर्तिरहिततत्त्वेभ्यः सद्रूपत्वस्वप्रकाशत्वसर्वप्रकाशकत्वेन सिद्धम् आत्मनः असङ्गत्वम् इति भावः।।१६।।(१८६)

एवम् आत्मनः असङ्गत्वं स्वप्रकाशत्वं च प्रदर्श्य तस्य वास्तव एकत्वे बहुत्वस्य मायामात्रत्वं दर्शयति **एकमिति। विषयलम्पटा** विषयेषु भोग्येषु लम्पटा लोलुपा, **माया एव** प्रकृतिरेव केवलम्, **एकं** तत्त्वतः भेदरहितं, **निजं** स्वकल्पितं स्वीयं निर्माय स्वरूप एकत्वानेकत्वयोः अभावाद् इत्यर्थः, **नाथम्** ईश्वरं, **बहुरूपधरं कृत्वा** अनेकरूपजननशक्तिमन्तं कृत्वा विधाय तेन सहैव वस्तुतः शुद्धात्मनः तत्सम्बन्धानुपपत्तेः, **वेश्येव** यथा वेश्या जारैः सह क्रीडति तथा इयं, **खेलति** क्रीडति, **खलु** निश्चये, अत्रार्थे सन्देहो न, न कार्य इत्यर्थः, पुरुषनिष्ठम् अनेकत्वं यत्प्रतीयते तन्मायिकमेव न पारमार्थिकम् इति भावः।।१७।।(१८७)

यह समस्त विश्व गुणरूप है, परन्तु आत्मा तो निर्गुण ही है। वह इन समस्त गुणों के अन्दर तथा इस समस्त विश्व में प्रकाशकरूप से प्रविष्ट हुआ-सा प्रतीत होने लगा है।।१५।।

जिस प्रकार बत्तीस दाँतों के बीच में रहनेवाली केवल जिह्वा ही रस को पहचानती है (बिचारे दाँत रस को नहीं पहचानते) इसी प्रकार अपने ज्ञान के प्रभाव से, चौबीसों तत्त्वों का अन्त कर देनेवाला अथवा चौबीस तत्त्वों के अन्दर रहनेवाला आत्मदर्शी ही इन तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को समझता है (वही पुरुष कहाता है। इन चौबीसों तत्त्वों को आत्मतत्त्व का पता ही नहीं है आत्मा को तो केवल तत्त्वज्ञानी ही पहचानता है)।।१६।।

विषयों की लोभिन यह प्रकृति ही अपने अकेले नाथ को बहुरूपधारी बना लेती है और फिर वेश्या की तरह (उस [अनेक रूपधारी] के साथ यह जगद्रूप) क्रीडा किया करती है।।१७।।

अपृथग्भावरूपेण मिलित्वा पुरुषेण हि।
विचित्राकाररूपैस्तं सन्नर्त्तयति नर्त्तकी।।१८।।(१८८)
निर्दोषो निश्चलो नाथः सदोषा चञ्चला वधूः।
दम्पत्योरनयोर्नूनं रसभङ्गो भविष्यति।।१९।।(१८९)

अपृथगिति, नर्त्तकी नर्त्तनकर्त्री स्वयं माया, **अपृथग्भावरूपेण** न विद्यते पृथग् भिन्नः, भावः सत्ता, यस्य तत्, तच्च तद्रूपञ्च स्वरूपं यस्य स तथोक्तः, मायापुरुषयोः एकसत्ताकत्वम् इति भावः, तेन आरोपितेन, **पुरुषेण** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासेन सह, **मिलित्वा** एकीभूय, **विचित्राकाररूपैः** स्वीयानि यानि विचित्राकाराणि विलक्षणाकृतीनि रूपाणि तैः, कृत्वा **तं** स्वकृतमेव पुरुषं न तु शुद्धं, **सन्नर्त्तयति** स्वनृत्यं तस्मिन् आरोप्य तदभिन्नं दर्शयति इत्यर्थः, **हि** प्रसिद्धं च एतद् विवेकिनां माया स्वकार्यम् अनेकत्वं मायिकपुरुषे समारोप्य तञ्च पारमार्थिके असङ्गे चिदात्मनि समारोप्य आत्मनः अनेकत्वं प्रत्याययति, सा प्रतितिः न पारमार्थिकी, भ्रान्तिः एव सा इति भावः।।१८।।(१८८)

ननु मायिकपुरुषशुद्धपुरुषयोः पारमार्थिकैकत्वज्ञानं कथं स्याद् इत्याशंक्य मायाया मायाकार्यभूतपुरुषस्य च भिन्नस्वाभाव्यात् मायिकपुरुषस्य दुःखप्रतीतिः मायायां यदा स्यात् तदा वैराग्योत्पत्त्या स्वस्य उपाधेश्च विविक्तत्वज्ञानेन स्वस्य निर्माय आत्मनश्च एकत्वज्ञानं स्याद् इत्याशयेन आह **निर्दोष इति। नाथः** मायाकल्पितः मायानियन्ता जीवः, वस्तुतः **निर्दोष** उपाधिरहितः शुद्धात्मांशत्वाद् अतः **निश्चलः** चाञ्चल्यरहितः सदा एकरूप इत्यर्थः, **वधूः** स्वबन्धनकारणभूता माया प्रकृत्यपरपर्याया, **सदोषा** सोपाधिका, अत एव **चञ्चला** अस्थिरा, अनेकरूपा इत्यर्थः, अस्ति इति शेषः, **अनयोः** उक्तयोः एव, भिन्नलक्षणयोः एव इत्यर्थः, **दंपत्योः** प्रकृतिपुरुषयोः जगत्प्रजाजननाय जायापतिभावेन वर्तमानयोः, भिन्नस्वाभाव्याद् एव **नूनं** निश्चयेन, **रसभङ्गः** रसः सुखं, तस्य भङ्गः नाशः, दुःखं भविष्यति उत्पत्स्यति, ततश्च वैराग्येण स्वस्य प्रकृतेश्च भिन्नत्वज्ञानं भविष्यति इति भावः।।१९।।(१८९)

यह मायारूपी नटनी पहले तो पुरुष के साथ अपनी सत्ता को बिलकुल मिला देती है और फिर विचित्र आकार तथा विचित्र रूपों से उस अपने मायामोहित पुरुष को नचाया करती है।।१८।।

यह जीव तो वस्तुतः निर्दोष और उपाधि से रहित है, निश्चल है (सदा एकरूप है) परन्तु प्रकृतिरूपी उसकी यह वधू तो दोषों से भरी है (यह अस्थिर है, अनेकरूप है)। इन दोनों के विरुद्ध स्वभाव को देखकर हमें तो यही निश्चय होता है कि इन (स्त्री पुरुषों) का रसभंग होकर ही रहेगा। इनकी अन्त तक निभेगी ही नहीं। अथवा यों समझो कि जगत्रूपी प्रजा की उत्पत्ति के लिये स्त्री और पुरुष के रूप में वर्त्तमान इन अत्यन्त भिन्न स्वभाववाले प्रकृति-पुरुषों का कभी-न-कभी अवश्य ही रसभंग (सुखनाश, दुःखोत्पत्ति) हो जायगा, अर्थात् उससे वैराग्य होकर प्रकृति और पुरुष का विवेक होकर रहेगा।।१९।।

पृथक्त्वेन परिज्ञाता दुष्टरूपतयापि च।
न मुखं दर्शयत्येषा सलज्जा म्रियतेऽपि च।।२०।।(१६०)
प्रकृतिर्विकृतिर्नापि पुरुषो निश्चलात्मकः।
शुद्धबुद्धस्वरूपोऽसाविति सांख्यविनिर्णयः।।२१।।(१६१)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे सांख्याञ्जनशलाकाख्यम् एकादशं प्रकरणम्।।

ततश्च प्रकृतिनाशः स्याद् इत्याशयेन आह **पृथक्त्वेनेति। एषा** प्रकृतिरूपा वधूः, **पृथक्त्वेन** स्वविलक्षणस्वाभाव्येन, **च** पुनः, **दुष्टरूपतयाऽपि** सर्वदोषकारणवत्त्वेन च, **परिज्ञाता** सर्वदा अनुभूता सती, स्वस्याग्रे **मुखम्** आस्यम् **न दर्शयति** प्रतीतिविषयं न करोति, **अपि** च, किन्तु **सलज्जा** त्रपाभरासहा च सती, **म्रियते** विनश्यति।।२०।।(१६०)

ततश्च प्रकृतिविकृत्योः पृथक्सत्त्वाभावे प्रकृतेरपि पुरुषात् पृथग् असत्त्वे च सिद्धे पुरुषस्य शुद्धबुद्धस्वरूपत्वेन नित्यासङ्गत्वं सिद्धम् इत्याह **प्रकृतिः इति। विकृतिः** महत्तत्त्वादिब्रह्माण्डपर्यन्ता कार्यरूपा, **न** नास्ति, प्रकृतेः पृथगसत्त्वात्, तथा **प्रकृतेरपि** महदादिकारणभूता, न नास्ति, तस्या अपि पुरुषात् पृथगसत्त्वाद् इत्यर्थः, अतः **असौ** उक्तलक्षणः, **पुरुष** आत्मा, **निश्चलात्मक** एकत्वानेकत्वादिरूपचाञ्चल्यहीनः, अत एव **शुद्धबुद्धस्वरूपः** शुद्धं मायातत्कार्याऽस्पृष्टम्, असम्बद्धम् इत्यर्थः, बुद्धं स्वयंप्रकाशरूपं च रूपं स्वरूपं यस्य स एतादृशः अस्ति। उक्तम् उपसंहरति **इतीति। सांख्यविनिर्णयः** सांख्यस्य प्रकृत्यादितत्त्वविवेचकशास्त्रस्य, विनिर्णयः विशेषनिर्णयः, **इति** सम्पूर्णः। सम्यक्ख्यायते तत्त्वमनेन इति सांख्यनामनिरुक्तेः एतदन्यायथार्थप्रतिपादकस्य कस्यचित् शास्त्रस्य सांख्याभासत्वेन तस्य प्रामाण्यं न अभ्युपेयम् इति भावः।।२१।। (१६१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ सांख्यञ्जनशलाकार्थप्रकाश एकादशः।।

एवं साख्यं वेदान्तानुकूलतया प्रतिपाद्य इदानीं मलिनान्तःकरणानां जिज्ञासूनां सांख्योक्ते जीवात्मैक्यासंगलक्षणपुरुषे चित्तस्थितिः न स्याद् इति तदन्तःकरणमलनिरासकनिरोधाख्ययोगेन चित्तशुद्धौ विवेकाविर्भावेन तत्रैव चित्तस्थैर्यं स्यादिति तदर्थं योगं निरूपयितुं योगदीक्षाचिन्तामण्याख्यम् एकोत्तरशतश्लोकं प्रकरणम् आरभते। तत्र च अवान्तरप्रकरणे द्वे पातञ्जलाख्यं, शैवाख्यं च इति। तत्रापि पातञ्जलस्य ऐकविध्याद् आद्यमेव षड्विंशतिश्लोकं भवति, इतरस्य च चातुर्विध्यात् तत्र चत्वारि प्रकरणानि मन्त्रयोग-हठयोग-शिवशक्तिपराक्रम-लययोगाख्यानि क्रमेण चतुःश्लोक-

जब कि उस पुरुष को इस प्रकृति के विलक्षण स्वभाव तथा इसकी दुष्टरूपता का परिज्ञान हो जायगा (जब प्रकृति को यह पता चलेगा कि इसे मेरे दोषों का ज्ञान हो गया है) तब यह प्रकृतिरूपी वधू उस पुरुष को कभी मुँह न दिखायेगी और अन्त में तो लज्जा के बोझ को न सह कर मर भी जायगी।।२०।।

पुरुष तो न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है किन्तु वह तो निश्चल शुद्धबुद्धस्वरूप है, ऐसा सांख्य का निर्णय है।।२१।।

अथ पातञ्जलयोगः

अथातो योगदीक्षायाश्चिन्तामणिरुदीर्यते।
तत्प्राप्त्याऽबोधदारिद्र्यं सर्वमेव विनश्यति।।१।।(१६२)
महायोगेश्वरः शम्भुः महायोगेश्वरो हरिः।
महायोगेश्वरो ब्रह्मा भवानी सिद्धयोगिनी।।२।।(१६३)

एकोनविंशतिश्लोक-षोडशश्लोक-षट्त्रिंशच्छ्लोकानि सन्ति, तानि अनुक्रमतः व्याख्यास्यामः। तत्रादौ पातञ्जलं योगं निरूपयति, तत्र तावद् योगप्रतिपादकस्य अस्य प्रकरणस्य योगदीक्षाचिन्तामणिनाम्नः अर्थं तत्र प्रवृत्तिं जनयितुं सफलं दर्शयति **अथेति। अथ** सांख्यप्रतिपादनानन्तरं, सांख्योक्ते तत्त्वे मलिनान्तःकरणानां मुमुक्षूणां केनचित् प्रतिबन्धेन चित्तस्थैर्यं न भवति यतः **अत** इति हेतोः इत्यर्थः, **योगदीक्षाया** योगस्य निरोधाख्यस्य, दीक्षा संस्कारः, तस्याः **चिन्तामणिः** कल्पितफलप्रदत्वात् चिन्तामणिरिव कल्पितधारणाजन्यफलप्रदत्वात् चिन्तामणिः इति नाम प्रकरणस्य स, **उदीर्यते** निरूपप्यते, तत् त्वं शृणु। ननु चिन्तामणिप्राप्त्या दारिद्र्यं नश्यति अनेन किं स्याद् इत्यत आह **तदिति। तत्प्राप्त्या** तस्य योगदीक्षाचिन्तामणेः, प्राप्त्या लाभेन, **अबोधदारिद्र्यम्** अबोधः अज्ञानं, तदेव सर्वदारिद्र्यमूलत्वाद् दारिद्र्यं दरिद्रत्वं तत्, **सर्वमेव** समस्तमपि **विनश्यति** निवर्त्तते, अतः अस्य योगदीक्षाचिन्तामणिः इति नाम इति भावः।।१।।(१६२)

अस्य च संप्रदायतः प्रामाण्यं वक्तुं योगप्रवर्त्तकान् द्वाभ्याम् आह **महायोगेश्वर इति। शम्भुः** शं सुखं, भवति अस्माल्लोकानाम् इति स शम्भुः, शङ्कर इत्यर्थः, **महायोगेश्वरः** महान् श्रेष्ठः, योगानां मन्त्रादियोगानाम्, ईश्वरः प्रवर्त्तक आचार्य इत्यर्थः, तथा **हरिः** हरति सर्वं दुःखं भक्तानां स हरिः विष्णुः, **महायोगेश्वरः** महान् सर्वमान्यः योगेश्वरः योगप्रवर्त्तकः अस्ति, तथा **ब्रह्मा** परमेष्ठी, **महायोगेश्वरः** महान् जगत्पूज्यः, योगेश्वरः योगप्रवर्त्तकः अस्ति, तथा **भवानी** सर्वजगज्जीवयित्री चिच्छक्तिः, **सिद्धयोगिनी** स्वतःसिद्धयोगवती अस्ति, एतेषां सर्वजगच्छ्रेष्ठत्वं योगफलमेव, योगानां प्रवृत्तिः अपि तेभ्य एव इति भावः।।२।।(१६३)

तदितरेषामपि योगेन सिद्धिप्राप्तिमपि तदितरेषां तत्र रुचिं जनयितुं प्रदर्शयति **सनकेति। सनकाद्याः** सनक आद्यो मुख्यो येषु ते नैष्ठिका, **वसिष्ठाद्या** वसिष्ठ आद्यो मुख्यो येषां पुलस्त्यादीनां ते सर्वे गृहिणः, तथा **कचदत्तशुकादयः** कचो बृहस्पतेः पुत्रः, दत्तः हि अत्रेः पुत्रः, शुकः व्यासपुत्र एते आदयो मुख्या येषाम् आर्षभादीनां ते सर्वेऽपि परमहंसाः; तथा

अब योगदीक्षा के चिन्तामणि का वर्णन करते हैं, उसे सुनो। उसके प्राप्त हो जाने पर अज्ञानरूपी दरिद्रता समूल नष्ट हो जायगी।।१।।

शंकर भगवान् सब योगों के प्रवर्त्तक आचार्य हैं, विष्णु भगवान् भी सर्वमान्य योगप्रवर्त्तक हैं, ब्रह्मा भी जगत्पूज्य योगेश्वर हैं, भवानी भी सिद्ध योगिनी है (केवल योग के कारण ही ये लोग सर्वजगत् में श्रेष्ठ बने हैं)।।२।।

सनकाद्या वसिष्ठाद्याः कचदत्तशुकादयः ।
अरुन्धतीप्रभृतयो योगात् सिद्धिमुपागताः ।।३।।(१६४)
आत्मज्ञानेन यो योगो जीवात्मपरमात्मनोः ।
स योगस्तस्य हेतुत्वाद् योगा बहुविधा मताः ।।४।।(१६५)

अरुन्धतीप्रभृतयः अरुन्धती वसिष्ठपत्नी, प्रभृतिः आदिः यासां देवहूत्यादीनां ताः स्त्रियः, एते सर्वे **योगात्** चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगात्, **सिद्धिम्** अणिमादिरूपां, मुक्तिमपि, **उपागता** प्राप्ता अतो मुमुक्षुभिः योगः साध्य एव इति भावः ।।३।।(१६४)

ननु योगशब्दवाच्यार्थानां मतभेदेन बहुत्वप्रतीतेः मुख्यः योगशब्दार्थः कः विवक्षित इत्याशंकायामाह **आत्मज्ञानेन इति । यः** वेदान्तेषु प्रसिद्ध **आत्मज्ञानेन** आत्मस्वरूपयथार्थज्ञानेन 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यजन्य-अहं ब्रह्म-इत्याकारेण, **जीवात्मपरमात्मनोः** जीवस्य प्राणोपाधिकस्य साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्य आत्मा शोधितः त्वंपदार्थः । कूटस्थः, परमश्चासौ आत्मा च परमात्मा शोधितः तत्पदार्थः, जगदारोपाधिष्ठानं ब्रह्म इत्यर्थः । तयोः उभयोः **योग** एकत्वं यत्पारमार्थिकं, **स** स एव इत्यर्थः, **योगो** योगशब्दवाच्यः मुख्यो भवति । तत्र तर्हि कुतः बहुत्वं दृश्यते तत्र तत्र शास्त्रेषु तत्राह **तस्य** योगस्य, **हेतुत्वात्** साधनत्वात्, ते अपि **योगा** योगशब्दवाच्यार्था भवन्ति, अतः ते **बहुविधा** अनेकप्रकारा, **मता** मुनिभिः तत्तच्छास्त्रेषु निर्णीताः, याथार्थ्यात्मज्ञानस्यैव योगशब्दमुख्यार्थत्वम् इतरेषां तु तत्साधनभूतत्वाद् गौणं योगशब्दार्थत्वमिति भावः ।।४।।(१६५)

एवं मुख्यं योगशब्दार्थं प्रतिपाद्य इदानीं भगवत्प्रतिपादितं योगशब्दार्थं दर्शयति **विरोधीति । केशवः** सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णः, **सर्वदुःखवियोगस्तु** सर्वेषां आध्यात्मिकादीनां दुःखानां, वियोगः विश्लेषः स्वस्मिन् दुःखासत्त्वप्रतीतिः, स एव **योगः** योगशब्दवाच्यार्थः अस्ति, **इति** एवं, **प्राह** उक्तवान्, 'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' इत्यादिष्विति ज्ञेयं । ननु आत्मनः तत्त्वतः योगविज्ञानयोः असम्भवात् तस्मिन् योगशब्दवाच्यार्थः मास्तु, दुःखवियोगे तु तदभाववति कथं योगत्वम् उच्यते? इत्याशंक्य, योगत्वं तत्र सम्भावयितुं न्यायमाह **विरोधीति । विरोधिलक्षणान्यायाद्** यत्र यद्विरोधः अस्ति तत्र तद्वाचकशब्दप्रयोगः विरोधिलक्षणान्यायः, तदभाववति तद्भाववचन इत्युक्तलक्षण इत्यर्थः, तत्र उदाहरणम् **अभद्रेति । यथा** यद्वद्, **अभद्रा** स्वरूपतः अकल्याणरूपा,

सनकादि नैष्ठिक, वसिष्ठादि गृहाश्रमी, कच दत्त शुकदेव आदि परमहंस, अरुन्धती आदि स्त्रियाँ, ये सब योग से ही अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त हुए हैं।।३।।

आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने के कारण जीवात्मा तथा परमात्मा का जो योग (पारमार्थिक एकपन) हो जाता है, सही सच्चा योग कहाता है। शास्त्रों में जो कि अनेक प्रकार के योग बताये गये हैं वे तो इसी योग के साधन होने से योग कहाने लगे हैं। (मुख्य योग यही है, वे गौण योग हैं)।।४।।

विरोधिलक्षणान्यायादभद्रा भद्रिका यथा।
सर्वदुःखवियोगस्तु योग इत्याह केशवः।।५।।(१६६)
अत्यन्तचपलस्यापि मनसो योगशक्तितः।
निश्चलत्वं प्रजायेत विन्ध्यस्येव महागिरेः।।६।।(१६७)
तथा च भुशुण्डः
नाभसीं धारणां बद्ध्वा तिष्ठामि विगतज्वरः।
यावत् पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति।।७।।(१६८)

अपि, **भद्रिका** भद्रिका इति कल्याणवाचकशब्देन उच्यते लोके तथा वियोगः अपि योगशब्देन उक्त इति भावः।।५।।(१६६)

ननु उक्तलक्षणस्य योगस्य किं फलं तत्सदृष्टान्तमाह **अत्यन्तेति। अत्यन्तचपलस्यापि** निरन्तरचञ्चलस्वभावस्यापि, **मनसः** चित्तस्य, **योगशक्तितः** योगाभ्यासजन्यसामर्थ्येन, **निश्चलत्वं** स्थिरत्वं, **प्रजायेत** स्यात्, तत्र दृष्टान्तः **महागिरेः** अतीववृद्धस्य, **विन्ध्यस्येव** विन्ध्यनाम्नः पर्वतस्येव, यथा विन्ध्यपर्वतस्य अचलत्वं त्यक्त्वा वृद्धिरूपं चाञ्चल्यं वृद्धं, तदगस्त्यमुनिकृतयोगेन चाञ्चल्यं परित्याज्य स्थावरत्वं स्थापितं, स्वकृतयोगेन वा अगस्त्याज्ञानुल्लङ्घनाय स्थिरत्वं सम्पादितं, तद्वद् योगेन योगी स्वत आत्मरूपत्वाद् अचञ्चलस्यापि मनसः अचाञ्चल्यं त्यक्त्वा चञ्चलत्वगृहीतं तत्परित्याज्य स्थिरत्वम् आत्मस्वरूपभूतं सम्पादयति इत्याशयः।।६।।(१६७)

योगस्य मनश्चाञ्चल्यनिवर्त्तकत्वे भुशुण्डसम्मतिः अस्ति इत्याह **तथेति। भुशुण्डश्च** भुशुण्डः अपि इत्यर्थः, **तथा च** तमेव अर्थमाह। केन वाक्येन इत्याशङ्क्य तद्वाक्यं पठति **नाभसीमिति**। अहं भुशुण्डनामा काकः वायोरपि लय आसन्ने **नाभसीं** सर्ववाय्वादिभूतभौतिकरहितं नभ एव अहम् इत्येवं नभसम्बन्धिनीं, **धारणां** भावनां, **बद्ध्वा** सन्धार्य, तया च **विगतज्वरः** वाय्वादिनाशेन स्वनाशभीतिरहितः सन् आकाशमात्ररूपः **तिष्ठामि** स्थिरो भवामि। कियत्पर्यन्तम् इत्यत आह **यावदिति। कमलजो** ब्रह्मा कमलेन सह सम्भूय वर्त्तमानः, **यावत्** यावता कालेन, **पुनः** भूयः, **सृष्टिकर्मणि** सृज्यते अनया सा सृष्टिः तद्रूपे कर्मणि क्रियायां, **तिष्ठति** संस्थितः भवति तावत्कालपर्यन्तम् इत्यर्थः।।७।।(१६८)

भगवान् कृष्ण ने तो गीता में सम्पूर्ण आध्यात्मिक आदि दुःखों के वियोग को ही विरोधिलक्षणान्याय (जिसमें जो धर्म न हो उसमें उसी धर्म का कथन) से मुख्य योग कहा है, जैसे कि अभद्रा को भद्रिका नाम से कहा जाता है।।५।।

जैसे कि अगस्त्य मुनि के योग से विन्ध्य महापर्वत अपनी वृद्धिरूप चंचलता को त्यागकर स्थिर हो गया था, इसी प्रकार योग की अपार शक्ति के कारण निरन्तर चंचल स्वभाववाला भी यह मन स्थिर हो जाता है।।६।।

चित्तवृत्तिनिरोधस्तु मुख्यः पातञ्जलो मतः।
प्राणवृत्तिनिरोधस्तु गौणः तत्साधनत्वतः।।८।।(१६६)

तत्र सूत्रं 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि'।

एवं योगफलं प्रदर्श्य इदानीं पातञ्जलं योगं वक्तुं मुख्यं पातञ्जलयोगलक्षणम् आह **चित्तेति। पातञ्जलः** पतञ्जलिना प्रोक्तः पातञ्जलः, 'तेन प्रोक्तम्' इति तद्धितः अण्। **मुख्यः** प्राधनः योगः, **तु** हठादिभ्यः विलक्षणः, **चित्तवृत्तिनिरोधः** चित्तस्य अन्तःकरणस्य, वृत्तीनां बाह्यादिविषयाकाराणां, निरोधः अवरोध एव **मत** इष्टः, तत्र भगवतः पतञ्जलेः सूत्रं 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति, **प्राणवृत्तिनिरोधस्तु** प्राणस्य शरीरावच्छिन्नस्य वायोः, वृत्तयः प्राणापानादयः, तासां विरोधः अवरोधः, प्राणायामादिना स्थैर्यसम्पादनं हठिनां प्रधानभूतः अपि, पातञ्जलानां **तत्साधनत्वतः** तस्य चित्तवृत्तिनिरोधनाम्नो योगस्य, साधनरूपत्वाद्, **गौणः** न प्रधानत्वेन संमत इत्यर्थः।।८।।(१६६) एवं पातञ्जलयोगस्वरूपं प्रदर्श्य इदानीं तत्साधनानि दर्शयितुं तत्प्रतिपादकं सूत्रं प्रमाणयति

तत्रेति। तत्र योगाङ्गेषु, **सूत्रं** पतञ्जलेः सूत्रम्, अस्ति इत्यर्थः, तदेव उदाहरति **यमेति। यमाः** पञ्च, **नियमाः** पञ्च, **आसनानि** सुखासनप्रभृतीनि, **प्राणायाम** आभ्यन्तरबाह्यभेदेन द्विविधोऽपि, **प्रत्याहार** इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यो व्यावृत्तिरूपः, **धारणाः** देशविशेषसम्बन्धः चित्तस्य, **ध्यानं** विजातीयप्रत्ययानन्तरितध्येयसजातीयप्रत्ययवृत्तिप्रवाहः, **समाधिः** सविकल्पकापरपर्यायः संप्रज्ञातः, एतानि **अष्टौ** योगस्य **अङ्गानि** सन्ति।।

एवं योगाष्टाङ्गप्रतिपादकं पातञ्जलसूत्रम् उपन्यस्य इदानीं यमादीनि अङ्गानि दर्शयितुम् उपक्रमते चतुर्भिः **यम इति। अस्तेयं** चौर्याभाव, **ऋतं** सत्यवक्तृत्वादि, **अहिंसा** हिंसातः सदा निवृत्तिः, **ब्रह्मचर्यम्** अष्टाङ्गमैथुननिवृत्त्युपलक्षितं नैष्ठिकादि इति।

'स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
एकान्तवासो रमणं स्पर्शोष्टविधमैथुनम्'।।

मैं काकभुशुण्ड आकाश-सम्बन्धी धारणा को धारण करके (अर्थात् वायु आदि भूत और भौतिक पदार्थों से रहित आकाशतत्त्व में पहुँचने पर वायु आदि के नाश की शंका न रहने के कारण) अपने नाश की चिन्ता से रहित होकर, ब्रह्मा के दूसरी सृष्टि बनाने तक स्थिर होकर बैठा रहता हूँ।।७।।

बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति का निरोध ही पतंजलि मुनि का कहा हुआ मुख्य योग है। शरीर में रहनेवाले प्राण अपान आदि का निरोध तो चित्तवृत्ति के निरोध का ही साधन होने से गौण योग कहाता है।।८।।

योगाङ्गों को बताने वाला यह पतंजलि का सूत्र हैयम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधिये योग के आठ अंग हैं।

यमोऽस्तेयऋताहिंसाब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
नियमः शौचसन्तोषतपःपाठेश्वरार्पणम्।।६।।(२००)

एतन्निवृत्तिः ब्रह्मचर्यम्। **अपरिग्रहः** योगाननुकूलविषयासंग्रहः, एते पञ्च यमो जातित्वाद् एकवचनं यमा ज्ञेया, यमयन्ति निवर्तयन्ति हिंसादिभ्यः पुरुषविशेषं ते यमा इत्यर्थः। तत्र पतञ्जलेः सूत्रम् 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा' इति। यमान् उक्त्वा नियमान् आह **नियम इति।** शौचसन्तोषौ शौचं बाह्यं स्नानादि, आन्तरं रागत्यागादि इत्येवं द्विविधं, सन्तोषः यथालब्धे विषये अलंबुद्धिः, तपः स्वस्ववर्णाश्रमधर्मनिष्ठापूर्वकक्लेशसहिष्णुत्वं, पाठेश्वरार्पणं पाठश्च स्वाध्याय ईश्वरार्पणं च यद्यत् क्रियते स्वयं तत्तत् ईश्वरेणैव कृतमिति निश्चयः, एते पञ्च नियमाः, अत्रापि जातित्वादेकवचनम्, जन्मप्रदकर्मभ्यः व्यावर्त्य मोक्षकारणे निष्कामकर्मणि नियमयन्ति इति नियमनाम्नोक्ता ज्ञातव्याः। अत्रापि पातञ्जलं सूत्रम् 'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा' इति। यमनियमफलानि अपि कानिचित् सूत्रितानि तानि अपि प्रदर्शयामः, यमेषु तावदहिंसाफलप्रतिपादकं सूत्रम्'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'। सत्यफले सूत्रम्'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'। अस्तेयफले सूत्रम्'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'। ब्रह्मचर्यफले सूत्रम्'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।' अपरिग्रहफले सूत्रम् 'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः' इति क्रमेण ज्ञेयानि। नियमफलानि अपि सूत्रैः दर्शितानि, तत्र शौचफलप्रतिपादके सूत्रे'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः', 'सत्त्वशुद्धिसौमनस्यकायेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।' सन्तोषफलमाह 'सन्तोषाद् अनुत्तमसुखलाभः' इति। तपःफलमाह'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः' इति। स्वाध्यायफलमाह 'स्वाध्यायाद् इष्टदेवतासंप्रयोग' इति। ईश्वरप्रणिधानफलमाह 'समाधिसिद्धिः ईश्वरप्रणिधानाद्' इति।।६।।(२००)

आसनप्राणायामौ आह **आसनमिति। सुखरूपेण** पद्मकस्वस्तिकादीनि आसनानि प्रोक्तानि, तत्र यादृशेन देहस्थापनरूपेण आसनेन यस्य पुरुषस्य अवयवेषु व्यथाऽनुत्पत्तिः तदेव सुखरूपमासनं तेन, **शरीरस्थिरता** देहे अचाञ्चल्यं, स्याद् इति अध्याहार्यम्, तदेव **आसनम्** आस्यते अस्मिन् इति आसनं **मतम्** इष्टं ज्ञेयम्। अत्रापि पतञ्जलेः सूत्रम्'स्थिरसुखमासनम्' इति। अस्य उपायप्रतिपादकं पतञ्जलेः सूत्रमपि 'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्' इति। अस्यार्थःप्रयत्नशैथिल्यं प्रयत्नस्य लौकिकवैदिकस्य गमागममैथुनगृहकृत्यव्यापारादिरूपस्य तीर्थयात्रास्नानयागहोमादिरूपस्य च मानसोत्साहरूपस्या शैथिल्यं कर्त्तव्यं तेन, तदभावे च मानस उत्साहः बलाद् देहम् उत्थाप्य अन्यत्र चालयेदेव इत्यर्थः। अनन्तसमापत्तिश्च फणासहस्रेण पृथिवीं धृत्वा स्थिरः स्थितः अनन्त एव अहम् अस्मि इति दृढधारणा अनन्तसमापत्तिः, स्वस्मिन् अनन्तत्वापादनं स्थिरत्वहेतुः तेन च

अस्तेय, ऋत (सत्य), अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (योगबाधक विषयों का असंग्रह) ये पाँच 'यम' कहाते हैं। बाह्य शौच स्नानादि, आन्तरशौच रागत्यागादि, सन्तोष, तप (स्ववर्णाश्रम-विहित कर्म करते हुए क्लेश सहन) स्वाध्याय, तथा ईश्वरार्पणये पाँच 'नियम' कहाते हैं।।६।।

आसनं सुखरूपेण शरीरस्थिरता मतम्।
प्राणायामः प्राणदण्डः कुम्भपूरकरेचकैः।।१०।।(२०१)

उपायेन आसनसिद्धिः जायते इत्यर्थः। आसनसिद्धिफलमपि सूत्रांशेन आह भगवान् पतञ्जलिः'ततो द्वन्द्वानभिघात' इति। अस्यार्थःआसने सिद्धे ततः अनन्तरं द्वन्द्वैः सुखदुःखादिलक्षणैः अनभिघातः न पराभवो जायते योगिनः इत्यर्थः। प्राणायाममाह **प्राणायाम इति। कुम्भपूरकरेचकैः** कुम्भकेन द्विविधेन आन्तरेण, बाह्येन चेति। कुम्भकस्य द्वैविध्यं वसिष्ठ आह

'अपानेस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि।
तावत् सा कुम्भकावस्था योगिभिर्याऽनुभूयते।।
बहिरस्तं गते प्राणे यावन्नापान उद्गतः।
तावत्पूर्णा समावस्था बहिष्ठं कुम्भकं विदुः।।' इति। तेन उक्तलक्षणेन कुम्भकेन, पूरकेण
'वक्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
एवं वायुः गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम्।।'
इति उक्तलक्षणेन पूरकेण, रेचकेन च
'उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।
शून्यभावेन युञ्जीत रेचकस्येति लक्षणम्।'

इति उक्तलक्षणेन रेचकेन, यः **प्राणदण्डः** प्राणस्य शरीरावच्छिन्नवायोः दण्डो नियमनं स, **प्राणायामः** प्राणायामनाम्नोक्तः मुनिभिः इति शेषः। आसनानन्तरमेव प्राणायामप्रतिपादकं पतञ्जलेः सूत्रं 'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायाम' इति। तस्य अभ्यासप्रतिपादकमपि पतञ्जलेः सूत्रम्'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म' इति। अस्यार्थः बाह्यवृत्तिः रेचकः, आभ्यन्तरवृत्तिः पूरकः, स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः, तत्र एकैकः देशकालसंख्याभिः परीक्ष्यः। तथाहिस्वाभाविकरेचके हृदयदेशान्निर्गतस्य वायोः नासाग्रसमदेशाद् बहिर्द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं श्वासस्य समाप्तिः भवति। अभ्यासे च तस्य क्रमेण नाभेर्वा मूलाधाराद् वायुनिर्गमे चतुर्विंशत्यंगुलिपर्यन्ते समाप्तिः भवति। अस्मिंश्च प्रयत्नाधिक्ये जाते नाभेर्वा मूलाधारस्य क्षोभेणान्तर्निश्चयः भवति, बहिरपि सूक्ष्मं सूत्रादि धृत्वा तच्चाञ्चल्येन परीक्ष्यो भवति, इयमेव देशपरीक्षा। कालतोऽपि परीक्षा यथारेचककाले प्रणवस्य आवृत्तयः दश वा विंशतिर्वा त्रिंशत् वा इत्येवं कालतः परीक्षा। अस्मिन् मासे दश नित्यम् अग्रिममासे विंशतिः विंशतिः, तदुत्तरे मासे च त्रिंशत् त्रिंशत् इत्येवं संख्या परीक्षा। एवं त्रिविधपरीक्षा पूरकेऽपि ज्ञेया। कुम्भके तु कालसंख्याभ्यां द्विविधा परीक्षा स्पष्टा, परन्तु यथा तूलपिण्डः प्रसार्यमाणः विरलः सूक्ष्मश्च भवति, तद्वत् प्राणः देशकालसंख्याधिक्येन अभ्यसस्यमानः दीर्घः, दुर्लक्ष्यत्वात् सूक्ष्मश्च भवति। एवं पूर्वोक्तरेचककुम्भकपूरकेभ्यः अन्यं प्राणायामम् अपि पतञ्जलिः सूत्रयामास 'बाह्याभ्यन्तरपूर्वत्रयापेक्षः अपि चतुर्थ' इति। अस्यार्थः,

जिस प्रकार के बैठने से जिस पुरुष को व्युत्थान न होता हो, या जिस आसन से अधिक काल तक आराम से बैठ सके वही 'आसन' कहा गया है। कुम्भक, पूरक तथा रेचक से शरीर के वायु को दण्ड अर्थात् नियम में करना 'प्राणायाम' कहाता है।।१०।।

प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां चलानां प्रतिरोधनम्।
क्वचित् प्रदेशे चित्तस्य स्थापनं धारणा मता।।११।।(२०२)
निरन्तरश्चित्प्रवाहो ध्येयस्य ध्यानमीरितम्।
समाधिरष्टमो ज्ञेयः तदात्मकतया स्थितिः।।१२।।(२०३)

यथाशक्ति सर्वं विरिच्य ततः कृतः कुम्भकः बाह्यः, तथा अन्तर्वायुमापूर्य ततः कुम्भकः आन्तरः, एवं च रेचकपूरकापेक्षया कुम्भकः तृतीयः, एतत् त्रयापेक्षया रेचकपूरकौ त्यक्त्वा केवलकुम्भकः चतुर्थः भवति। निद्रालस्यादिबलवद्दोषवतां पूर्वत्रिकं, निर्दोषाणां चतुर्थ इति ज्ञेयम्। प्राणायामफलमपि आह पतञ्जलिः सूत्राभ्यां 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' इति। 'धारणासु च योग्यता मनस' इति च। अनयोः अर्थःप्रकाशस्य सत्त्वस्य आवरणं तमः निद्रालस्यादिकारणं, तस्य नाशः भवति, प्राणायामाद् मनसः तमोनाशे धारणासु योग्यताधिकारित्वं जायते इत्यर्थः।।१०।।(२०१)

प्रत्याहारधारणे प्राह **प्रत्याहार इति। चलानां** चञ्चलानाम्, **इन्द्रियाणां** श्रोत्रादीनां, **प्रतिरोधनं** स्वस्वविषयात् शब्दादेः, निवर्त्तनं, **प्रत्याहारस्तु** स प्रत्याहारोऽपि ज्ञेयः, अत्रापि पतञ्जलेः सूत्रं 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहार' इति। अस्यार्थः शब्दस्पर्शादिविषयेभ्यो निवर्त्तिताः श्रोत्रादयः चित्तस्वरूपम् अनुकुर्वन्ति इव अवतिष्ठन्ते स प्रत्याहारः इत्यर्थः। श्रुतिश्च

'शब्दादिविषयान्पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते।' इति।

प्रत्याहारफलमपि आह पतञ्जलिः 'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' इति। धारणाफलमाह **क्वचिदिति। कचित्** कुत्रचित्, **प्रदेशे** आधारस्वाधिष्ठानचक्रे, क्वचिद् बाह्ये प्रतिमादौ, सौन्दर्यवत्स्त्रीपुरुषयोः वा, **चित्तस्य** मनसः, **स्थापनं** स्थैर्यसंपादनं, **धारणा** धारणापदवाच्या, **मता** इष्टत्वेन गृहीता, योगिभिः इति शेषः, तथा च अत्र पतञ्जलेः सूत्रं 'देशबन्धः चित्तस्य धारणा' इति।।११।।(२०२)

ध्यानसमाधी आह **निरन्तर इति। ध्येयस्य** ध्यानगोचरस्य ध्येयस्य, विषयत्वात् तत्सम्बन्धवान् इत्यर्थः, **निरन्तरः** ध्येयविजातीयविषयप्रत्ययैः अनन्तरितः, **चित्प्रवाहः** चितां वृत्तीनां, प्रवाहः जलप्रवाह इव सातत्यं तद् **ध्यानं** ध्याननाम्ना, **ईरितम्** उक्तम्, अत्र च पतञ्जलेः सूत्रं 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इति। समाधिमाह **समाधिरिति**। चित्तस्य इति अपकर्षः पूर्वश्लोकात्, **चित्तस्य** मनसः, **तदात्मकतया** तद्ध्येयमेवात्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावस्तत्ता तया, ध्येयाकारपरिणामेन इत्यर्थः, **स्थितिः** स्थानं, **समाधिः** समाधिनामकः ज्ञेयः, स च उक्तेषु योगाङ्गेषु **अष्टमः**, अयं च सविकल्पक एव सम्प्रज्ञातापरपर्यायः **ज्ञेयः**। अत्रैव पतञ्जलेः सूत्रम् 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं

चंचल श्रोत्र आदि इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से रोक रखना 'प्रत्याहार' कहाता है। किसी अनाहतादि चक्र में या किसी प्रतिमा आदि बाह्य पदार्थ में मन की स्थिरता का सम्पादन कर लेना 'धारणा' कहाती है।।११।।

संप्रज्ञातस्तदन्यश्च समाधिर्द्विविधो हि सः।
यमादिपञ्चबहिरङ्गमन्तरङ्गमथापरम्।।१३।।(२०४)
वितर्केण विचारेणानन्देनास्मितया तथा।
अनुस्यूतः समाधिस्तु संप्रज्ञातश्चतुर्विधः।।१४।।(२०५)

स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति, अयं च ध्यानपरिणामरूपत्वाद् ध्यानभेद एव।।१२।।(२०३)

इदानीं योगाङ्गभूतं योगाख्यं च समाधिं विवेक्तुं समाधिभेदमाह **संप्रज्ञात इति। स** उक्तलक्षणः, **समाधिः** ध्येयाकारपरिणामरूपः, **द्विविधः** द्वे विधे प्रकारौ यस्य स तथोक्तः। **हि** तौ द्वौ प्रकारौ प्रसिद्धौ पातञ्जले इत्यर्थः। तौ एव प्रकारौ दर्शयति **संप्रज्ञात इति, संप्रज्ञातः** संप्रज्ञातनामा एकः, **तदन्यश्च** तस्मात् संप्रज्ञाताद् अन्य इतरश्च असंप्रज्ञात इत्यर्थः। एतत्समाधिद्वयप्रतिपादके पतञ्जलेः सूत्रे'शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्य एकाग्रतापरिणाम' इति 'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः' इति च। एतयोः अर्थः, शान्तो हि अतीत, उदित उत्पन्नः, वर्तमान इत्यर्थः, प्रत्ययः प्रतीतिः, अनुभव इत्यर्थः, तौ उभौ तुल्यप्रत्ययौ एकविषयौ प्रत्ययौ, चित्तस्य मनसः, यदि स्तः, तदा एकाग्रतापरिणाम एकाग्रतया एकविषयतया, परिणामः समाधिः, संप्रज्ञातनामा जायते इत्यर्थः। सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ स्वाभावकी या रजोगुणेन जायमाना चित्तस्य सर्वार्थता तस्या रजोगुणरोधकप्रयत्नेन योगिकृतेन क्षयो भवति, ततश्च चित्तस्य एकाग्रताया ऐकाग्र्यलक्षणस्य स्थैर्यस्य उदयो भवति, तदा चित्तैकाग्र्यस्य परिणामः अतिस्थैर्यं समाधिः इति अभिधीयते, सः असंप्रज्ञात इत्यर्थः। अस्य समाधेः यमादीनि पञ्च बहिरङ्गसाधनानि, पराणि अन्तरङ्गानि ज्ञेयानि।।१३।।(२०४)

एवं द्विविधं समाधिं प्रतिपाद्य इदानीं तयोः आद्यस्य सहेतुकान् भेदान् आह **वितर्केणेति। संप्रज्ञातस्तु** संप्रज्ञातनामा समाधिः अपि, ध्येयाकारपरिणामरूपो, **वितर्केण** परोक्षतया विशिष्टतर्केण, ध्येयं गोचरीकृत्य तदाकारपरिणामः एकः। **विचारेण** विवेकेन, ध्येयं गोचरीकृत्य तदाकारपरिणामः समाधिः द्वितीयः, **आनन्देन** स्वानन्दप्रतीत्याविर्भावे तदाकारपरिणामः तृतीयः, **अस्मितया** आत्मसत्त्वप्रतीत्या तदाकारपरिणामरूपः समाधिः चतुर्थः। तदेव स्पष्टमाह **अनुस्यूत इति।** एतैः चतुर्भिः **अनुस्यूतः** अन्वितः, इति हेतुगर्भं विशेषणम्, अत एव स समाधिः **चतुर्विधः** चतुःप्रकारः, अस्ति इति शेषः।।१४।।(२०५)

जल की अखण्ड धारा के समान वृत्तियों का अपने ध्येय पदार्थ के सम्बन्ध में निरन्तर प्रवाह ही 'ध्यान' कहाता है (उस प्रवाह में ध्येय से पृथक् किसी भी विषय का चिन्तन नहीं रहता) चित्त का ध्येयाकार होकर ठहर जाना (सविकल्प किंवा सम्प्रज्ञात) 'समाधि' कहाती है। यह योग का आठवाँ अंग है।।१२।।

वह समाधि, 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' भेद से दो प्रकार की होती है। समाधि के यम आदि पाँच 'बहिरंग साधन' हैं तथा दूसरे 'अन्तरंग साधन' कहाते हैं।।१३।।

यत्र न ज्ञायते किञ्चित् सोऽसंप्रज्ञात उच्यते।
द्विधा भवप्रत्ययवानुपायप्रत्ययश्च सः।।१५।।(२०६)
मूढानामपि जायेत तपोदार्ढ्यान्मनोलयः।
प्रकृतौ वा महत्तत्त्वे भवप्रत्यय एव सः।।१६।।(२०७)

इदानीम् असंप्रज्ञातभेदं वक्तुम् असंप्रज्ञातलक्षणम् आह **यत्रेति। यत्र** समाधौ, **किञ्चिद्** ध्यातृ ध्यानं वा ध्येयं वा किमपि इत्यर्थः, **न ज्ञायते** न प्रतीयते, **सोऽसंप्रज्ञातः** असंप्रज्ञातनामा समाधिः, **उच्यते** कथ्यते इत्यर्थः, तस्यापि भेदमाह **द्विधा इति। सः** असंप्रज्ञातनामा समाधिः, **भवप्रत्ययवान्** भवति अस्मादिति भवः, प्रकृतिः वा महत्तत्त्वं वा तस्य प्रत्ययः अनुभवः, स प्रत्ययः विद्यते यत्र सूक्ष्मरूपेण स तथोक्त एकः, **उपायप्रत्ययस्तु** उपैति अनेन इति उपायः, स्वप्रापकः स च प्रत्ययः अनुभवः यत्र स तथोक्तः, आत्मस्वरूपप्रापकानुभववान् इत्यर्थः, सोऽपि एवं **द्विधा** द्विप्रकारः ज्ञेय इति शेषः।।१५।।(२०६)

तयोः आद्यम् उदाहृत्य स्पष्टं दर्शयति **मूढानामिति। मूढानामपि** अज्ञानिनामपि, **तपोदार्ढ्यात्** तपसः दार्ढ्यं निरन्तराचरणेन दृढता, ततः, **प्रकृतौ** गुणसाम्यावस्थारूपायां, **महत्तत्त्वे वा** सत्त्वगुणवति प्रकृतिविकारे वा, **मनोलयः** मनसः अन्तःकरणस्य, लयः नाशः, **जायेत** उत्पद्येत, **स भवप्रत्यय एव** भवप्रत्ययनामा समाधिः असम्प्रज्ञात एव ज्ञेयः।।१६।।(२०७)

एक 'वितर्कानुगत' दूसरी 'विचारानुगत' तीसरी 'आनन्दानुगत' और चौथी 'अस्मितानुगत' यों सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती हैं।

अपने अप्रत्यक्ष ध्येय पदार्थ का तर्क से चिन्तन करके चित्त का तदाकार परिणाम कर लेना पहली 'वितर्कानुगत समाधि' कहाती है। विचार से ध्येय का चिन्तन करके चित्त का तदाकार परिणाम कर लेना दूसरी 'विचारानुगत समाधि' कहाती है। स्वानन्द की प्रतीति का आविर्भाव होने पर चित्त का तदाकार परिणाम तीसरी 'आनन्दानुगत समाधि' कहाती है। चित्त का ऐसा परिणाम कि जिसमें केवल आत्मा के अस्मितामात्र की प्रतीति होने लगे, चौथी 'अस्मितानुगत समाधि' कहाती है।।१४।।

जिस समाधि में ध्याता ध्यान ध्येय आदि किसी का भी ध्यान न हो, वह 'असंप्रज्ञात समाधि' कहाती है। वह दो प्रकार की हैपहली 'भवप्रत्ययवान्', दूसरी को 'उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं।।१५।।

तप की दृढता (निरन्तर आचरण) से अज्ञानी लोगों को भी गुणसाम्यरूप प्रकृति में किंवा महत्तत्व (सत्त्वगुण वाले प्रकृति के एक विकार) में मनोलय हो जाता है। वह 'भव-प्रत्यय' नाम की 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहाती है।।१६।।

त्रैलोक्यराज्यकामस्य हिरण्यकशिपोर्यथा।
शरीरं क्रिमिभिर्भुक्तं वल्मीकेनापि संवृतम्।।१७।।(२०८)
श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञाकामवर्जनपूर्वकम्।
मनोलयो मुनीन्द्राणामुपायप्रत्ययस्तु सः।।१८।।(२०९)

ननु अयं समाधिः कस्य जात इत्याशंक्य अत्र उदाहरणं दर्शयति **त्रैलोक्येति।** **त्रैलोक्यराज्यकामस्य** त्रैलोक्यस्य यद्राज्यं तस्मिन् काम इच्छा, यस्य तस्य, **हिरण्यकशिपोः** दैत्यस्य, **यथा** येन समाधिप्रकारेण, **शरीरं,** देहः, **क्रिमिभिः** कीटकैः, **भुक्तं** भक्षितं, **वल्मीकेन संवृतमपि** अवरुद्धं च, तत्तेन न ज्ञातं, स तस्य समाधिः भवप्रत्ययनामा असंप्रज्ञात इति भावः।।१७।।(२०८)

एवं भवप्रत्ययनामानम् असंप्रज्ञातसमाधिं प्रदर्श्य इदानीम् उपायप्रत्ययम् असम्प्रज्ञातं दर्शयति **श्रद्धेति। श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञाकामवर्जनपूर्वकं** श्रद्धा च गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः, वीर्यम् इन्द्रियदमन उत्साहः, प्रापञ्चिकसुखप्रतीतौ अपि अनुद्वेगश्च, शीतादिसहिष्णुत्वमपि, स्मृतिः गुरुमुखात् श्रुतस्य श्रुतिस्मृत्युदितार्थस्य अविस्मरणम्, प्रज्ञा वैराग्यादिसंस्कारपूर्विका शुद्धा महावाक्यार्थनिष्ठा बुद्धिः, कामवर्जनं चात्मज्ञानं वा समाधाने कामनापूर्वकम् इतरकामनानिवृत्तिः इत्यादि पूर्वं साधनभूतं यस्य स, **मनोलयो मुनीन्द्राणां** श्रेष्ठमुनीनां मनसः अन्तःकरणस्य, लयः नाशः, यो भवति, **स तु उपायप्रत्यय** उपायप्रत्ययनामा समाधिः ज्ञेयः।।१८।।(२०९)

एवं षड्विधं समाधिं प्रदर्श्य इदानीं समाध्युत्थितानां पुनः समाधिं प्रविविक्षतां तत्सिद्ध्यर्थम् उपायमाह **उक्तमिति। व्युत्थितचित्तानां** वासनोद्बोधेन समाधितः व्युत्थितम्, आगतं संसारे चित्तं मनः, येषां तेषां, **समाधानं** निरोधापरपर्यायम् असंप्रज्ञातसमाधिम्, **अभि ईप्सताम्** इच्छितवतां **तपश्च** विचारः अपि एकः 'तप आलोचने' इति अनुशासनाद् उपायः अस्ति इति भावः। तथा **वेदपाठश्च** उपनिषदादीनाम् अर्थविचारपूर्वकं पठनमपि द्वितीय उपायः, तथा **हरौ** सर्वद्वैतहरणस्वभावे ब्रह्मणि, **सर्वकर्मार्पणं** सर्वेषां समर्पणसहितानां समर्पणं 'नान्योतोऽस्ति द्रष्टा नान्योतोऽस्ति श्रोता'

जिस प्रकार त्रिलोकी के राज्य की इच्छा करनेवाले हिरण्यकशिपु दैत्य के समाधिस्थ शरीर को कीड़ों ने खा डाला और वल्मीक ने उस पर अपना घर बना लिया था (उसको इन दोनों बातों का कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ, यह समाधि 'भव-प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि' थी)।।१७।।

श्रद्धा, वीर्य (इन्द्रियनिग्रह में उत्साह, सांसारिक दुःख से अनुद्वेग, शीतादि का सहन), स्मृति (सुने हुए पदार्थ को याद रखना), प्रज्ञा (वैराग्यपूर्वक शुद्धमहावाक्यार्थ का ज्ञान) तथा कामवर्जन (समाधान से भिन्न कामों की निवृत्ति)इन पाँच बातों के प्रभाव से मुनीन्द्र लोगों का जो मनोलय होता है वह 'उपायप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात-समाधि कहाती है।।१८।।

उक्तं व्युत्थितचित्तानां समाधानमभीप्सताम्।
तपश्च वेदपाठश्च सर्वकर्मार्पणं हरौ।।१६।।(२१०)
क्लेशकर्मविपाकैश्च चित्ररूपैस्तदाशयैः।
अपरामृष्ट एवैकः कश्चित् पुरुष ईश्वरः।।२०।।(२११)

इत्यादिश्रुतिदर्शितदृशा कर्तृत्वादित्रिपुटीबाधरूपं तृतीय उपायः, एतैः उपायैः पुनश्चित्तस्थैर्यं स्यादिति भावः।।१६।।(२१०)

एवं पुनः समाधिप्रवेशोपायं प्रदर्श्य इदानीं पुरुषस्य ध्येयं दर्शयितुं पुरुषाद् ईश्वरे वैलक्षण्यम् आह सपादेन **क्लेशेति। क्लेशकर्मविपाकैः** क्लेशाः पञ्चाविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः। कर्माणि सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणाख्यानि अशुक्लकृष्णानि योगिनाम् इतरेषां शुक्लकृष्णलोहितानि वा, अस्मिन् अर्थे पतञ्जलेः सूत्रं'कर्माशुक्लकृष्णं योगिनः त्रिविधमितरेषाम्' इति। विपाका आयुर्जातिभोगाख्याः कर्मफलरूपाः तैः सर्वैः। **चित्ररूपैः तदाशयैः** विषयवैचित्र्येण चित्राणि परस्परं विलक्षणानि रूपाणि येषां तैः, तदाशयैः तेषां क्लेशकर्मविपाकानाम् आशया वासनाः तैरपि, **अपरामृष्टः अस्पृष्टः कश्चित्** कोऽपि वस्तुतः पुरुषाद् भिन्नत्वेन अभिन्नत्वेन वा भिन्नाभिन्नत्वेन वा वैलक्षण्याभावात् निर्देशानर्हः, **पुरुषएव** विशेषः पुरुष एव इत्यर्थः। ननु पुरुषत्वावैशिष्ट्ये कुतो विशेषत्वं तदभावे च कुतो ध्येयत्वं सामान्यपुरुषे च ध्यातृत्वं च इत्याशंक्य तमेव विशेषं दर्शयति **एक** इत्यादिविशेषणैः। **एकः** पुरुषस्तु व्यवहारेऽनेकः अयं ध्येयः विशिष्टपुरुषः एकः भेदरहितः। ननु ध्यातृरूपः पुरुषः तत्त्वतः भिन्न एव इत्याशंक्याह-स **ईश्वरः** नियन्ता सर्वेषां पुरुषाणाम्, ईशनादिशक्तिमान् इत्यर्थः, अयं पुरुषः तस्य नियम्य इति भावः।।२०।।(२११)

समाधि से व्युत्थान हो जाने पर फिर दुबारा समाधि की इच्छावाले पुरुष को उचित है कि वह तप अर्थात् विचार करे, उपनिषदादि अध्यात्मग्रन्थों का पाठ करे, ब्रह्म में सब कर्मों का समर्पण करे (अर्थात् उससे अन्य न तो कोई द्रष्टा है और न कोई श्रोता है इस निश्चय से कर्तृत्व आदि का बाध करता रहे, व्यष्टिदृष्टि को दूर फेंककर समष्टि दृष्टि को जगाया करे) ऐसा करने से उसका चित्त क्रम से स्थिर होने लगता है।।१६।।

क्लेशों कर्मों विपाकों तथा इनकी नाना प्रकार की वासनाओं से सर्वथा असंपृक्त (असम्बद्ध) रहनेवाला, एक पुरुषविशेष 'ईश्वर' कहाता है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच 'क्लेश' कहाते हैं। संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण, योगियों के अशुक्लकृष्ण, औरों के अशुक्ल, कृष्ण तथा लोहितये सात प्रकार के 'कर्म' कहाते हैं। कर्मफल के रूप में मिले हुए आयु, जाति तथा भोग ये तीन 'विपाक' कहाते हैं।।२०।।

स सर्वज्ञः स्वभावेन प्रणवस्तस्य वाचकः।
तदयं भावनापूर्वं तज्जपो मोक्षसाधनम्।।२१।।(२१२)
यथा रोगस्तन्निदानं भेषजं चाप्यरोगता।
विवेचनीयभेदेन चिकित्सास्ति चतुर्विधा।।२२।।(२१३)
जन्मदुःखं तथा मोहो विज्ञानं च विमुक्तता।
विवेचनीयभेदेन योगशास्त्रं चतुर्विधम्।।२३।।(२१४)

ननु एतस्यापि नियम्यत्वं न वास्तवमित्याशंक्य विशेषान्तरमाह **स इति। स** विशिष्टः पुरुषः, **स्वभावेन** स्वत एव, **सर्वज्ञः** सर्वं सामान्यतो, विशेषतश्च जानाति इति सर्वज्ञः, तस्य स्वतः सर्वज्ञत्वम् एतस्य तु साधनासाध्यम् इति अयं भेदः अस्ति इति, स एवात्र योगेषु ध्येयो विषय इति भावः, एवं ध्येयस्वरूपं निर्णीय तदर्थप्रतिपादकं मन्त्रं जपाय आह **प्रणव इति, तस्य** ध्येयतया विशिष्टपुरुषस्य ईश्वरस्य, **वाचको** नाम, **प्रणव** ओंकारः, **तदयं** प्रणवो मन्त्रो ज्ञेयः, **तज्जपः** तस्य प्रणवस्य, जपः उपांश्वावृत्तिरूपः, **भावनापूर्वं** तदर्थविचारपूर्वं प्रेम्णा यथा तथा कार्य इति शेषः, स च **मोक्षसाधनं** मोक्षस्य प्रपञ्चनिवृत्तिरूपाया मुक्तेः, साधनमुपायः अस्ति, ततः मोक्षः स्यादिति भावः।।२१।।(२१२)

इदानीं योगोपदेशकशास्त्रस्य चातुर्विध्यं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह **यथेति। यथा** यादृग् **रोगः** रोगस्वरूपनिर्णायकप्रकरणविभागः, **तन्निदानं** तस्य रोगस्य निदानं मूलकारणं, तत्प्रतिपादको ग्रन्थविभागः, **भेषजं च** तन्निवर्त्तकमौषधं तत्प्रतिपादकमपि, **अरोगता** फलं तत्प्रतिपादकं प्रकरणम्। एवं **विवेचनीयभेदेन** विवेक्तुं पृथक्कृत्य दर्शयितुं, योग्यस्य विषयस्य भेदेन भिन्नत्वेन, **चिकित्सा** चिकित्साशास्त्रं, **चतुर्विधा** चतुःप्रकारः, **अस्ति** वर्त्तते।।२२।।(२१३)

दार्ष्टान्तिकमाह **जन्मेति। तथा** तद्वत् **जन्मदुःखं** जन्मनो दुःखरूपत्वप्रतिपादकं योगप्रकरणं, **मोहो** मूलाज्ञानं, तत्स्वरूपप्रतिपादकं प्रकरणं च, **विज्ञानं च** विज्ञानप्रतिपादकं, तत्साधनप्रतिपादकं च प्रकरणजातं, **विमुक्तता** विमुक्तिः स्वस्वरूपेणावस्थानं, तस्य प्रतिपादकं शास्त्रम्, एवं **विवेचनीयभेदेन** चतुर्विधत्वेन, **योगशास्त्रं चतुर्विधं** योगप्रतिपादकं शास्त्रं चतुःप्रकारं ज्ञेयमिति शेषः।।२३।।(२१४)

वह विशिष्ट पुरुष स्वभाव से ही सर्वज्ञ है (अर्थात् सामान्य-विशेष रूपों से इस सब जगत् को जानता है)। उस विशिष्ट पुरुष का वाचक मन्त्र प्रणव (ओम्) है। प्रणव के अर्थ को विचार करते हुए उसका प्रेमपूर्वक जप करना चाहिये, ऐसा करने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।।२१।।

जैसे कि चिकित्सा शास्त्र के चार विभाग हैं, पहले रोगनिर्णय, दूसरारोग का मूलकारण, तीसराऔषध तथा चौथानीरोगता, वैसे ही योग शास्त्र भी चार भागों में विभक्त है। पहले भाग में जन्म को दुःख बताया गया है, दूसरे भाग में मोह या मूलाज्ञान का प्रतिपादन किया गया है, तीसरे में विज्ञान और उसके साधनों का प्रतिपादन किया गया है, चौथे प्रकरण में विमुक्ति अर्थात् स्वस्वरूप में स्थिति का निरूपण आया है।।२-३।।

अविवेकः पुंप्रकृत्योः स मोहो दुःखकारणम्।
समत्वपुरुषान्यत्वख्यातिबोधेन नश्यति।।२४।।(२१५)
योगाभ्यासप्रसक्तस्य सिद्धयो भोगदायिकाः।
आयान्ति नादरः कार्यो ह्यन्तराया मता यतः।।२५।।(२१६)
धारणाध्यानवैचित्र्यात् सिद्धिभेदो य ईरितः।
अत्यन्तानुपयोगित्वात् स तु नात्र निरूपितः।।२६।।(२१७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ पातञ्जलयोगाख्यं प्रथमं प्रकरणम्।।

इदानीं मोहस्वरूपं तस्य दुःखफलत्वं च तन्निवर्त्तकज्ञानस्वरूपं तत्फलभूतां दुःखनिवृत्तिं च क्रमेण दर्शयति **अविवेक इति।** यः **पुंप्रकृत्योः** पुरुषस्य प्रकृतेश्च, **अविवेकः** पृथगज्ञानं, **स** स एव, मोहयति स्वाधीनं पुरुषमिति **मोहो** अज्ञानं, स एव **दुःखकारणं** जन्ममरणस्वरूपभूतस्य दुःखस्य, कारणं हेतुः, अस्ति, स च मोहः **समत्वपुरुषान्यत्वख्यातिबोधेन** समत्वं गुणसाम्यरूपत्वं, प्रकृतेस्तस्य, पुरुषः असङ्गाद्वयनित्यानन्दस्वरूपः तस्य च, अन्यत्वं वैलक्षण्येन पृथक्त्वं तस्य, ख्यातिः ख्यायते प्रकथ्यते अनया सा ख्यातिः, उभयोः भिन्नत्वप्रतिपादिका सांख्ययोगस्मृतिवाग्वेदान्ताविरोधिनी तस्या बोधेन ज्ञानेन, **नश्यति** नष्टा भवति, ततो दुःखमपि नश्यति च्छत्रापाये च्छायापायन्यायेन इति भावः।।२४।।(२१५)

एवं ससाधनं योगं सफलं प्रतिपाद्य इदानीं तदभ्यासिनां विघ्नरूपासु सिद्धिषु नादरः कार्य इत्याह **योगेति। योगाभ्यासप्रसक्तस्य** मुक्तीच्छयोक्तलक्षणस्य योगस्य, अभ्यासः पुनः पुनः आवृत्तिः तस्मिन् प्रसक्तः सस्नेहः तस्य पुरुषस्य, **भोगदायिका** भोगं दत्वा तल्लोभेन योगभ्रंशहेतुभूताः, **सिद्धयः** दूरश्रवणदूरदर्शनाकाशगमनादय, **आयान्ति** प्राप्नुवन्ति, तासु योगिना, **आदरः** प्रीतिः, **न कार्यः** न कर्त्तव्यः, कुत इत्यत आह **हीति। यतो** हेतोः, **अन्तराया** योगस्य विघ्नरूपा, **मता** ज्ञाता योगिभिः इति शेषः। अत्र पतञ्जले सूत्रं 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' इति।।२५।।(२१६)

ननु ताः सिद्धयो लक्षणतः कारणतः कार्यतश्च निरूपितव्या इत्याशंक्यानुपयोगान्न निरूपणं तासामत्र क्रियते इत्याह **धारणेति। यः** पातञ्जले, **धारणाध्यानवैचित्र्याद्** धारणानां ध्यानानां च यद्वैचित्र्यं वैलक्षण्यं तस्मात् **सिद्धिभेदः** सिद्धीनाम् आकाशगमनादीनां भेदः पार्थक्यम्, **ईरित** उक्तः, **स तु** स च, **अत्यन्तानुपयोगित्वाद्** अत्यन्तं निरन्तरम्, अनुपयोगित्वाद् उपयोगाभाववत्त्वेन, **अत्र** अस्मिन् ग्रन्थे, **न निरूपितः** न प्रोक्तः **इतीति, पातञ्जलः** पतञ्जलिना प्रोक्तो, योग इति संपूर्ण इत्यर्थः।।२६।। (२१७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे पातञ्जलयोगार्थप्रकाशः प्रथमः।।

प्रकृति और पुरुष का अविवेक ही मोह है। वही मोह (जन्म मरणादि दुःखों का) मूलकारण होता है। सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। पुरुष तो असंग नित्यानन्द स्वरूप है। इस प्रकार का भेदज्ञान जब (सांख्ययोग शास्त्र से) हो जाता है तब वह मोह स्वतः ही नष्ट हो जाता है।।२४।।

अथ शैवयोगः

इति पातञ्जलः प्रोक्तो योगः शैवो निरूप्यते।
मन्त्रो लयो हठो राजयोगो योगश्चतुर्विधः।।१।।(२१८)
नारायणाष्टाक्षरवासुदेवद्वादशाक्षरौ।
नृसिंहरामगोपालमन्त्रास्ते तापिनीस्तुताः।।२।।(२१९)

एवं पातञ्जलं योगं निरूप्य इदानीं शैवयोगनिरूपणं प्रतिजानीते **योग इति**। हे शिष्य, **शैवः** शिवेन प्रोक्तः, 'तेन प्रोक्तम्' इति तद्धितोऽण्, **योगो** योगसाधनप्रतिपादकं शास्त्रं, **निरूप्यते** कथ्यते त्वं शृणु। एतस्य भेदानाह **मन्त्रो** मन्त्रयोगः, **लयो** लययोगः, **हठो** हठयोगः, **राजयोगः**। एवं **योगो** योगसाधनं, **चतुर्विधं** चतुःप्रकारम् इत्यर्थः।।१।।(२१८)

एवं शैवयोगान् नामभेदेन चतुरः प्रदर्श्य तत्र तावत् प्रथमं प्रधानमन्त्रोदाहरणेन दर्शयति त्रिभिः **नारायणेति**। **नारायणाष्टाक्षरवासुदेवद्वादशाक्षरौ** नारायणस्य जलशायिनो, जीवान्तर्यामिणो वा सर्वजगत्साक्षिणो वाऽष्टाक्षरोऽष्टावक्षराणि वर्णा यस्मिन् स नारायणाष्टाक्षर ॐ नमो नारायणयेत्येवंरूप एको मन्त्रः, तथा वासुदेवस्य वसुदेवपुत्रस्य सर्वभूतनिवासस्य; यद्वा वा विकल्पेना असून् प्राणाद्युपाधीन्, दीव्यति प्रकाशयतीति वासुदेवो, जगतः असत्त्वाद् अप्रकाशकः तत्सत्त्वेन प्रकाशकश्च इत्यर्थः, तस्य जगत्प्रकाशकत्वाप्रकाशकत्वाभ्यां लक्षितस्य परमात्मनो वा द्वादशाक्षरो द्वादशाऽक्षराणि वर्णा यत्र इति स तथोक्त ॐ नमो भगवते वासुदेवाय इति मन्त्रो द्वितीयः, तथा **नृसिंहरामगोपालमन्त्रा** नृसिंहस्य रामस्य गोपालस्य च मन्त्रा ये सन्ति, **ते तापिनीस्तुताः** तापिनीषु स्तुताः प्रोक्ताः तापनीयोपनिषत्सु प्रतिपादिता इत्यर्थः।।२।।(२१९)

योगाभ्यास में लगे हुए साधक को भोगदायक (आकाशगमन आदि अनेक) सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योगी को उनमें प्रेम करना उचित नहीं, क्योंकि वे सिद्धियाँ योग के विघ्न हैं।।२५।।

पातंजल योग में धारणा तथा ध्यान की विचित्रता से (आकाशगमनादि) सिद्धियों की जो-जो विलक्षणतायें बतायी गयी हैं, (मोक्षमार्ग में) अत्यन्त अनुपयोगी होने से हमने उनका यहाँ वर्णन नहीं किया।।२६।।

अब शिव के कहे हुए योग का प्रतिपादन करते हैं। उस योग के मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग तथा राजयोग ये चार भेद हैं।।१।।

ॐ नमो नारायणाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, इसी प्रकार नृसिंह, राम और गोपाल के जो मन्त्र हैं वे तापिनी उपनिषद् में बताये गये हैं।।२।।

शिवपञ्चाक्षरी श्रेष्ठा दक्षिणामूर्त्तिरुत्तमा।
यतीनां तु महावाक्यं केवलः प्रणवस्तथा।।३।।(२२०)
इत्यादयो महामन्त्राः पुरश्चर्यादिभिः क्रमैः।
सिद्धा देवप्रसादेन सद्यो मुक्तिप्रदा मताः।।४।।(२२१)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ मन्त्रयोगः।।

अथ हठयोगः

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्।।१।।(२२२)

शैवानपि प्रधानान् मन्त्रान् आह **शिवेति। शिवस्य** परमानन्दरूपस्य, **पञ्चाक्षरी** पञ्चानामक्षराणां वर्णानां समाहारः पञ्चाक्षरी नमः शिवाय इति विद्या मन्त्ररूपा, **श्रेष्ठा** उत्तमा शैवमन्त्रेषु इत्यर्थः, तथा तेषु एव **दक्षिणामूर्त्तिः** दक्षिणामूर्त्तेः उपासना मन्त्रावृत्तिरूपा, **उत्तमा** श्रेष्ठा इत्यर्थः। उक्तेषु मन्त्रेषु सर्वाधिकारः। नियमितानाह **यतीनां तु** संन्यासिनामेव केवलं, **महावाक्यं** तत्त्वमसीत्यादिरूपं मन्त्रः, **तथा केवल** एकः **प्रणवः** ॐकार एव मन्त्रः।।३।।(२२०)

एवं मन्त्रान् प्रदर्श्य इदानीं तदुपसंहारपूर्वकं तत्फलं चाह **इत्यादय इति। इत्यादय** इति एवं निरूपिता मन्त्रा आदयः प्रमुखा येषां ते, सर्वे सात्त्विका अतो **महामन्त्राः** श्रेष्ठा मन्त्राः ते, **पुरश्चर्यादिभिः क्रमैः** पुरश्चर्याः पुरश्चरणानि आदीनि येषां ध्यानादीनां तैश्च क्रमैरनुष्ठानैः, **सिद्धाः** स्वाधीनीभूताः सन्तः, **देवप्रसादेन** देवस्य आराध्यस्य कृपया, **सद्यः** तत्क्षणं, **मुक्तिप्रदा** मोक्षदा भवन्तीति, **मता** अङ्गीकृता, मुनिभिरिति शेषः।।४।।(२२१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे मन्त्रयोगार्थप्रकाशो द्वितीयः।।

एवं मन्त्रयोगं प्रतिपाद्य इदानीं हठयोगाख्यम् एकोनविंशतिश्लोकं प्रकरणम् आरभते, तत्र तावद् हठयोगमुख्यक्रियां तत्फलं चाह **गंगेति। गंगायमुनयोः** गंगा अत्र इडानाम्नी नाडी वामनासापुटवर्त्तिनी वायुसञ्चरणाय सूक्ष्मा धमनीव स्थिता, यमुना च पिंगलानाम्नी नाडी दक्षिणनासापुटवर्त्तिनी वायुप्रचाराय सूक्ष्मा धमनीव स्थिता, तयोः **मध्ये** मध्यदेशवर्त्तिनीं, **तपस्विनीं** प्रकाशबहुलां,**बालरण्डां** बालः केशः स इव सूक्ष्मां रण्डां वायुसञ्चारवतीं सुषुम्णां नाडीम् इत्यर्थः, **बलात्कारेण** प्राणायामाद्य-

शैव मन्त्रों में शिवपंचाक्षरी (ॐ नमः शिवाय) तथा दक्षिणामूर्ति की उपासना भी श्रेष्ठ है (क्योंकि इन उपर्युक्त मन्त्रों का सब आश्रमवालों को अधिकार है)। "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य केवल संन्यासियों के लिये हैं। अकेला 'ओम्' भी संन्यासी लोगों के लिये ही है।।३।।

इत्यादि महामन्त्र ध्यान पुरश्चरण आदि क्रम से सिद्ध (स्वाधीन) होकर आराध्य देव की कृपा होने पर तत्क्षण मुक्ति देने वाले हो जाते हैं।।४।।

तत्र गोरक्षः

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम्।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि।।२।।(२२३)
परमं यदि वैराग्यमाहारस्तु यथोदितः।
नित्यमेकान्तवासश्चेद् हठयोगो न दुर्लभः।।३।।(२२४)

भ्यासेन, **गृह्णीयाद्** वशीकुर्यात्, **तत्** तस्या वशीकरणमेव, **विष्णोः** व्यापनलक्षणस्य परमात्मनः, **परमं** केवलं मायातत्कार्याभ्याम् अस्पृष्टं, **पदं** स्वरूपं, ज्ञेयं, सुषुम्णावशीकार एव फलं हठयोगस्य इति भावः।।१।।(२२२)

तदेतस्मिन् योगे गोरक्षसंमतिम् आह **तत्रेति। तत्र** उक्ते हठयोगे, **गोरक्षो** गोरक्षः अपि आह इत्यर्थः। तच्श्लोकं पठति **एतदिति। यत् मनः** अन्तकरणं, **भोगाद्** विषयजन्यसुखाद् **व्यावृत्तं** निवृत्तं सत्, **परमात्मनि** कार्यकारणाभ्याम् अतीत आत्मनि, **आसक्तं** स्थिरं जातं, तदिति अध्याहार्यम् तद् **एतद्** इदं, **विमुक्तिसोपानं** विमुक्तेः मोक्षस्य सोपानम् आरोहणमार्गः, तथा **एतद्** इदं, **कालस्य** मृत्योः, **वञ्चनं** जपसाधनम्, एतेन उपायेन मृत्युरपि निवृत्तः स्यादिति भावः।।२।।(२२३)

इदानीं साधनानि आह **परममिति। परमं** ब्रह्मपदान्ते वैषयिकसुखे काकविष्ठायामिव वैतृष्ण्यं **वैराग्यम्** अरुचिः, **यदि** स्यात् तर्हि, किञ्च **आहारश्च यथोदित** आहारो भोजनमपि, यथोदितो यादृगुक्तः शास्त्रेषु इति शेषः, तच्च उक्तं 'द्वौ भागो पूरयेदन्नैर्जलेनैकं प्रपूरयेत्।
शेषं वायोः प्रचारार्थं भागं शिष्येत वै बुध' इति।

तथा **नित्यं** निरन्तरम् **एकान्तवासो** जनसम्बाधरहितस्थाने, वासः स्थितिः, यदि स्यात्, तर्हि **हठयोगो दुर्लभः** लब्धुम् अशक्यो, **न** न भवति।।३।।(२२४)

गंगा (इडावामनासिका में रहने वाली वायुवाहिनी नाडी) और यमुना (पिंगलादक्षिण नासिका में रहने वाली वायुवाहिनी नाडी) के बीच में केश के बराबर सूक्ष्म, तथा प्रकाशयुक्त सुषुम्ना नाम की नाडी है। साधक को चाहिये कि प्राणायाम आदि के अभ्यास से उस सुषुम्ना को वश में करे। उस सुषुम्ना को अपने वश में कर लेना ही परमात्मा का परम पद है (सुषुम्ना का वशीकार ही हठयोग का फल है)।।१।।

जब कि मन विषयसुखों से हटकर परमात्मा में आसक्त हो जाता है तो बस यही मुक्ति का सोपान (सीढ़ी) है और यही मृत्यु को ठग लेना है (इस उपाय से मृत्यु को भी जीता जा सकता है)।।२।।

यदि वैषयिक सुखों में (कव्वे की विष्ठा के समान) परम वैराग्य हो, शास्त्रोक्त विधि (पेट में दो भाग अन्न, एक भाग जल, चौथा भाग वायुसंचार के लिये छोड़ दे) से आहारविधि चलती हो, नित्य एकान्तवास रहता हो, तो हठयोग की सिद्धि दुर्लभ नहीं है।।३।।

परन्तु गुरुदीक्षाभिः लभ्यते नान्यथा त्वयम्।
व्यतिक्रमे महान्दोषः क्रमलाभे महान् गुणः।।४।।(२२५)
अनन्तविस्तारमयो हठः प्रोक्तः पुरारिणा।
सारं तु बन्धत्रितयं तावता सिद्धिराप्यते।।५।।(२२६)
मूले तु मूलबन्धः स्यात् मध्ये स्यादुडियानकः।
कण्ठे जालन्धरस्तेन सिद्धो भवति मारुतः।।६।।(२२७)

मुख्यं साधनमाह **परंत्विति। परन्तु** वैराग्यादिसाधनेषु सत्सु अपि, **अयं** हठयोगो, **गुरुदीक्षाभिः** गुरुभिः कृता दत्ता दीक्षा गुरुदीक्षा, मध्यमपदलोपी समासः, ताभिः कृत्वा **लभ्यते** प्राप्यते, **अन्यथा तु** गुरुदीक्षां विना, **न** न प्राप्यते इत्यर्थः, **व्यतिक्रमे** उक्ताहारादिवैपरीत्ये सति, **महान् दोषो** मरणान्तः अनर्थः स्यात्, **क्रमलाभे** उक्तसाधनक्रमेण लाभे, हठस्य प्राप्तौ सत्याम् इत्यर्थः। **महान् गुणः** सर्वदुःखनिवृत्तिरूपः श्रेष्ठः, गुणः स्यात्।।४।।(२२५)

अस्य प्रामाण्यसिद्धये संप्रदायज्ञानाय च आचार्यमाह **अनन्तेति। पुरारिणा** त्रिपुरशत्रुणा, त्रिपुटीलक्षणत्रिपुरनाशकेन वा, स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यत्रिपुरसंहर्त्रा वा उक्तलक्षणत्रिपुरनाशायैव, **अनन्तविस्तारमयो** न विद्यते अन्तः पारो यस्य स विस्तारः तेन प्रचुरः, **हठो** हठयोगः, **प्रोक्तो** वर्णितः, तत्र तु **सारं** मुख्यं, **बन्धत्रितयं** बध्यन्ते रोध्यन्ते प्राणा एभिः ते बन्धाः तेषां त्रितयं त्रयं प्रोक्तं, **तावता तु** तावन्मात्रेणैव, **सिद्धिः** मुक्तिः अथवा यस्य येप्सिता आकाशगमनादिका सापि, **आप्यते** प्राप्ता भवति।।५।।(२२६)

तदेवं बन्धत्रितयं स्थानतो नामतश्च दर्शयति **मूले त्विति। मूलबन्धस्तु** मूलं मूलाधारं, बध्यते रोध्यते अनेन इति मूलबन्धः, स च, **मूले** मूलाधारे, **स्याद्** भवेद्, **उडियानक** एतन्नामको बन्धो, **मध्ये** स्वाधिष्ठानादौ, **स्याद्** भवेत्, **कण्ठे** विशुद्धिचक्रादिस्थाने, **जालन्धरो** जालं मुखनासनेत्रकर्णच्छिद्राणां जालमिव, प्राणवायोः सञ्चारद्वारं धरति अवरोधयतीति जालन्धर एतन्नामा बन्धः, स्याद् भवेद्। एतेषां फलमाह **तेन** बन्धत्रयेण **मारुतः** वायुः, **सिद्धः** स्वाधीनो, **भवति** जायते।।६।।(२२७)

यह हठयोग गुरुदीक्षा के बिना किसी को प्राप्त नहीं होता। (गुरुके न रहने पर) आहार विहार आदि का व्यतिक्रम होते ही कभी-कभी मरणान्त कष्ट भी आ पड़ता है। क्रमपूर्वक करने से यह बड़ा गुण करता है।।४।।

त्रिपुर (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीररूपी त्रिपुर) के नाशक महादेव जी ने (इन ही त्रिपुरों को नष्ट करने के लिये) अनन्तविस्तारयुक्त हठयोग का वर्णन किया है। उसमें तीनों बन्ध सारभूत हैं, इनसे ही सिद्धि (मुक्ति या आकाशगमन आदि) प्राप्त हो जाती है।।५।।

पहला मूलबन्ध मूलाधार में होता है, उड्डियानकबन्ध मध्य (स्वाधिष्ठानादि) में होता है। जालन्धरबन्ध विशुद्धिचक्रादि स्थान में होता है। इन तीनों बन्धों से वायु स्वाधीन हो जाता है।।६।।

कुण्डलिन्याः सुषुम्णायां प्रविष्टो ब्रह्मरन्ध्रतः।
मूलस्थाने स्थिता शक्तिः ब्रह्मस्थाने सदाशिवः।।७।।(२२८)
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
तस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।८।।(२२९)
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं तथैव च।
मणिपूरं तृतीयं स्यात् चतुर्थकमनाहतम्।।९।।(२३०)

इदानीं स्वाधीनीभूतवायोर्ब्रह्मरन्ध्रं नीतस्य फलं दर्शयति **कुण्डलिन्या इति।** स एव मारुतो **कुण्डलिन्याः** कुण्डलिनीं प्रविश्यानन्तरं, **सुषुम्णायां** सुषुम्णाख्यनाड्यां, **प्रविष्टः** प्रवेशं कृत्वा, **ब्रह्मरन्ध्रतः** ब्रह्मरन्ध्राख्ये सप्तमे चक्रे प्रविष्टो भवति, तस्मिंश्च तत्र स्थिरे सति किं फलं तत्राह **मूलेति। शक्तिः** कुण्डलिनी, **मूलस्थाने** मूलाधारे, **स्थिता** तिष्ठति, **ब्रह्मस्थाने** ब्रह्मरन्ध्रस्थाने, **सदाशिवः** सर्वदा सुखरूपः कूटस्थः परमात्मा अस्ति, तयोः समायोगे वायोः स्थैर्यफलम् इति भावः।।७।।(२२८)

शिवशक्तिसमायोगहेतुत्वेन अजपाजपं विधत्ते **अजपेति। अजपा नाम** स्वयमेव उच्छ्वासनिश्वासरूपेण प्रयत्नं विना प्रवर्त्तमानत्वाद् अजपा इति प्रसिद्धा, **गायत्री** हंसः सोऽहम् इत्येवं सकारेण शक्तिवाचकेन हकारेण शिववाचकेन च उभयोः सामानाधिकरण्येन शिव-शक्त्यैक्यम् अनुसन्धाय गायन्तम् उच्चरन्तं, त्रायते रक्षति इति अतः गायत्री, यद्वा गायत्री-प्रकृतित्वाद् अपि गायत्री इव जपार्हा सा जप्ता चेद्, **योगिनां** योगाभ्यासवतां, योगसिद्धिं दत्वा, **मोक्षदायिनी** संसारान्मुक्तिदायिनी मुक्तिदात्री स्याद्, अतः **तस्या** अजपाया, **संकल्पमात्रेण** केवलं संकल्पेन एव, **सर्वपापैः** समस्तपातकैः रागद्वेषादिरूपैः कर्तृभिः, संकल्पकर्त्ता, **मुच्यते** अत्यन्तं त्यज्यते किं पुनः तस्या अनुसन्धानपूर्वकजपेन मुच्यत इति वक्तव्यम् इति भावः।।८।।(२२९)

इदानीं प्राणस्थैर्यार्थं द्वारभूतानि चक्राणि आह द्वाभ्याम् **आधारमिति। आधारम्** एतन्नामकं, **चक्रं** स्थानं, **प्रथमम्** आद्यं भवति, स्वाधिष्ठाननामकं स्थानं, **च तथैव** द्वितीयम् इत्यर्थः, तथा **मणिपूरम्** एतन्नामकं स्थानं, **तृतीयं, स्यात्** भवेत् **अनाहतम्** अनाहतसंज्ञं चक्रं, **चतुर्थकं** तुरीयं भवति।।९।।(२३०)

ऊपर के तीनों बन्धों से स्वाधीन हुआ वायु कुण्डलिनी में प्रवेश करने के पश्चात् सुषुम्ना नाडी में प्रवेश करके ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है। उस वायु के ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो जाने पर यह होता है कि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति तथा ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सदाशिव का समायोग हो जाता है।।७।।

(श्वास प्रश्वास के साथ सदा स्वभावतः होने वाली) अजपा गायत्री (हंसः) के जप का यदि चिन्तन किया जाय तो यह गायत्री अभ्यासियों को संसार से मुक्त कर देती है। यह प्राणी उस अजपा गायत्री के संकल्पमात्र से ही (रागद्वेषादि) समस्त पातकों से मुक्त हो जाता है।।८।।

विशुद्धिः पञ्चमं चक्रमाज्ञाचक्रं तु षष्ठकम्।
सप्तमं ब्रह्मरन्ध्रं स्याद् भ्रमरस्य गुहा हि सा।।१०।।(२३१)
योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेद्।
मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदनकरं सिद्धासनं प्रोच्यते।।११।।(२३२)

विशुद्धिरिति। विशुद्धिनामकं, **चक्रं** स्थानं, **पञ्चमं** भवति, **आज्ञाचक्रं तु** आज्ञाचक्रनामकं स्थानं च, **षष्ठकं** षष्ठं भवति, **ब्रह्मरन्ध्रं** ब्रह्मरन्ध्रनामकं स्थानं, **सप्तमं, स्यात्** भवेत्, तस्यैव ग्रन्थभेदे नामान्तरमाह **भ्रमरस्येति। सा हि भ्रमरस्य** सैव भ्रमं राति मोहम् आदत्ते जीवभावेन इति भ्रमरः परमात्मा तस्य, **गुहा** गूहते आवृणुते परमात्मा शुद्धजीवः त्वंपदलक्ष्यो यस्यां सा गुहा स्थानं तदित्यर्थः।।१०।।(२३१)

इदानीं सत्सु अन्येषु मुख्यत्वेन सिद्धासनं लक्षयति **योनीति। अंघ्रिमूलघटितं** पदमूलेन अमर्दितं **योनिस्थानकं** शिश्नस्थानं, **कृत्वा** आवृद्ध्य, **अथ** अनन्तरं, **मेढ्रे** वृषणमूल **एकं** द्वितीयं, **पादं** चरणं, **नियतमेव** नित्यमेव, **दृढं** गाढं यथा भवति तथा, **विन्यसेत्** संस्थापयेत्, ततश्च **विग्रहं** शरीरं, **समं** समानग्रीवाद्यवयवं, **कृत्वा, संयमितेन्द्रियो** नियमितबाह्येन्द्रियः, **स्थाणुः** स्थाणुश्छिन्नवृक्षमूलं तद्वत् स्थिरश्च भूत्वा, **अचलदृशा** स्थिरतया दृष्ट्या, **भ्रुवोः** भ्रूकुटयोः, **अन्तरं** मध्यं, **पश्यन्** सन्, **एतद्** इत्यादिलक्षणैर्लक्षितं, **हि** प्रसिद्धम् एतद् हठयोगे इत्यर्थः, **मोक्षकपाटभेदनकरं** मोक्षस्य मुक्तेः, कपाटम् इव आवरकम् अज्ञानं, यद्वा मोक्षस्य शिवशक्तिसमायोगाख्यस्य, साम्यस्थितिरूपस्य च कपाटानि मूलाधारादि ब्रह्मरन्ध्रान्तानि चक्राणि, तेषां पूर्वोक्तकपाटसहितानां भेदनं भेद उद्घाटनं, तस्य करं कर्तृ, **सिद्धासनं** सिद्धासननामकं, **प्रोच्यते** कथ्यते, योगिभिरिति शेषः।।११।।(२३२)

मूलाधार (गुदास्थान में पृथिवी का) प्रथम चक्र है। स्वाधिष्ठान (मूत्राशय में जल का) दूसरा चक्र है। मणिपूरक (नाभि में अग्नि का) तीसरा चक्र है। अनाहत (वक्षःस्थल में वायु का) चतुर्थ चक्र है।।९।।

विशुद्धि (कण्ठ में आकाश का) पाँचवाँ चक्र है, आज्ञाचक्र भ्रुकुटी में (प्रकाशस्वरूप) छठा चक्र है, सातवाँ चक्र ब्रह्मरन्ध्र है, उसको कहीं-कहीं भ्रमर नामक परमात्मा की गुहा भी कहा गया है।।१०।।

योनिस्थान (अर्थात् शिश्न स्थान) के ऊपर एक पैर की एडी रक्खो, दूसरे (सीधे) पैर को खूब दबाकर योनि तथा गुदा की सीवन के बीच में रक्खो, फिर काया शिर तथा ग्रीवा को सम करके शरीर को तोल दो। बाह्य इन्द्रियों को बन्द करके ठूँठ के समान निश्चल हो जाओ, स्थिर दृष्टि से भ्रुकुटी के बीच में त्राटक करो, यही

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु सिद्धासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं ततश्चेतसि।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सार्य सन्धारयन्
प्राणं मुञ्चति बोधयंश्च शनकैः शक्तिप्रबोधो भवेत्।।१२।।(२३३)

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तां प्रबोधयेत् सुधीः।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते बलात्।।१३।।(२३४)

एवम् आसनं प्रदर्श्य इदानीं शक्तिप्रबोधनप्रकारं निरूपयति द्वाभ्याम् **कृत्वेति**। पूर्वमुक्तलक्षणमेव सिद्धासनं, **दृढतरम्** अतिगाढं, **बध्वा** प्रसाध्य, **करौ** हस्तौ, **ततः** अनन्तरं, **सम्पुटितौ** सम्पुटाकारौ, **कृत्वा, चुबुकं तु** मुखादधो गलाद् ऊर्ध्वम् अवयवश्चुबुकः तमपि, **वक्षसि** कण्ठादधोभोगे वक्षोमध्ये, **गाढं** दृढं, **सन्निधाय** संस्थाप्य, **ततः** तदनन्तरं, **चेतसि** चित्ते, **ध्यानं** ध्येयानुसन्धानं, सन्निधाय कृत्वा, **अपानमनिलम्** अधोवर्तिनमपाननामानं वायुम् उपरितने देशे, **वारं वारं** पुनः पुनः, **प्रोत्सार्य** प्रचार्य, **प्राणं** प्राणवायुं, **सन्धारयन्** अवरुन्धन् सन्, **शनकैः** चिरेण, शक्तिं कुण्डलिनीं प्रबोधयन् व्युत्थापयन् सन्, एवं **शक्तिप्रबोधः** शक्तेः कुण्डलिन्याः, प्रबोधो व्युत्थानं, **भवेत्** स्यात्, एवं कृते सा **मुञ्चति** स्थानं मूलाधारम् इत्यर्थः।।१२।।(२३३)

पुच्छ इति। सुधीः गुरुशिक्षया स्वतश्च कुशलमतिः, **सुप्तां** निद्रितां संसारस्वप्नवतीम् अविद्यानिद्रावतीं वा, **पुच्छे** मूलाधारस्थितपुच्छे, **प्रगृह्य** सन्धार्य, **प्रबोधयेत्** संसारविमुखत्वं सम्पाद्य शिवसंमुखत्वं सम्पादयेत्, ततः **सा शक्तिः** कुण्डलिनी, **निद्रां** प्रपञ्चसंमुखतां स्वरूपाज्ञानतां वा, **विहाय** त्यक्त्वा, **बलाद्** वेगेन, **ऊर्ध्वं** ब्रह्मरन्ध्रप्रदेशम्, **उत्तिष्ठते** ऊर्ध्वमुखी भूत्वा चलति।।१३।।

'सिद्धासन' है। इसके सिद्ध होने से 'शिवशक्ति-समायोग' नामक मोक्ष के (मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक सातों चक्ररूपी) कपाट स्वतः ही खुल जाते हैं।।११।।(२३४)

सिद्धासन को उक्त रीति से सिद्ध कर लेने के पश्चात् हाथों की मुट्ठी बाँध कर (पैरों पर रखकर) ठोड़ी को गले में नीचे छाती के ऊपर मध्य में रखकर उसे ज़ोर से दबाने के पश्चात् चित्त में ध्येय का ध्यान करके अधोदेश के अपान वायु को बार-बार ऊपर को खेंचता हुआ कुण्डलिनी को शनैः शनैः जगाता हुआ प्राणवायु को धीरे-धीरे छोड़ा करे। ऐसा करने से शक्ति का जागरण हो जायगा।।१२।।

बुद्धिमान् पुरुष (गुरु की बतायी विधि से) सोती हुई कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार में संकल्प के द्वारा पकड़ कर जगा दे। (अर्थात् उसको संसार से विमुख कर दे) तब वह कुण्डलिनी शक्ति (निद्रा को छोड़कर बड़े वेग से) ऊपर (को मुख करके ब्रह्मरन्ध्र) की तरफ चल पड़ती है।।१३।।

ऊर्ध्वं निलीनप्राणस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगेन सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते।।१४।।(२३५)
ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देवि यावत्
प्राणो न नश्यति मनो म्रियते न तावत्।
प्राणो मनो द्वयमिदं प्रलयं प्रयाति
मोक्षं स गच्छति नरो न कदाचिदन्यः।।१५।।(२३६)

ननु वायुलयस्य किं फलं तत्राह **ऊर्ध्वमिति। ऊर्ध्वं** ब्रह्मरन्ध्रे, **निलीनप्राणस्य** निःशेषं लीनः नष्टः, प्राणो यस्य तस्य, अत एव **त्यक्तनिःशेषकर्मणः** त्यक्तानि निःशेषाणि समस्तानि, कर्माणि येन स तथोक्तः तस्य, **योगेन** शिवशक्तिसमायोगेन, **सहजावस्था** सहजा स्थितिः, जीवन्मुक्तिः इत्यर्थः, **स्वयमेव** स्वत एव इत्यर्थः, **प्रजायते** उत्पद्यते, प्राप्ता भवेदित्यर्थः।।१४।।(२३५)

ननु 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते' इत्यादिश्रुत्या मोक्षस्य ज्ञानसाध्यत्वम् उक्तम् किं शिवशक्तिसमायोगेन तत्साधनभूतहठयोगेन वा? इत्याशंक्य, मनोनाशस्य हठयोगजत्वात् तेन विना तन्नाशाभावे ज्ञानाभावाद् मोक्षः न स्याद् इत्याशयेन शिवपार्वतीसम्वादश्लोकम् उदाहरति **ज्ञानमिति।** हे **देवि** हे पार्वति, **मनसि** अन्तःकरणे, **जीवति** विद्यमाने सति, **ज्ञानं** जीवब्रह्मैक्यज्ञानं, **कुतो** न कुतोऽपि स्याद् इत्यर्थः, तर्हि मनोनाशः कदा स्यात्? तत्राह **प्राण इति। यावत् प्राणो** जीवोपाधिभूतः मनसश्चाञ्चल्यहेतुर्वायुः, **न नश्यति** नष्टो न भवति **तावत्** तावत्कालं **मनः** अन्तःकरणं **न म्रियते** नैव नश्यति इत्यर्थः, अतः **प्राणो** मनश्चाञ्चल्यहेतुः पवनः, **मनश्च** प्राणजीवनहेतुभूतम् अधिष्ठानसहितम् अन्तःकरणप्रतिबिम्बितं चैतन्यं संकल्पधर्मि, **इदं द्वयम्** एतद् युग्मं, यस्य योगाभ्यासवतः, हठेन **प्रलयं प्रयाति** नाशं प्राप्नोति, **स नरः** स पुरुषः, **मोक्षं** मुक्तिसाधनभूतं ज्ञानं, **गच्छति** प्राप्नोति, **अन्य** उभयलयरहितः पुरुष,ः **कदाचित्** कस्मिन्नपि काले **न,** ज्ञानं न प्राप्नोति इत्यर्थः।।१५।।(२३६)

अभ्यास करते-करते जब कि प्राण ऊपर (ब्रह्मरन्ध्र में) जाकर विलीन होने लगता है, तब संसार के सब कार्य अपने आप ही छूटने लगते हैं, ऐसे पुरुष को (शिवशक्तिसमायोग नाम के) योग के प्रभाव से (जीवन्मुक्तिरूप) स्वाभाविक अवस्था स्वतः ही प्राप्त होती है।।१४।।

हे पार्वति! मन के जीवित रहते हुए आत्मज्ञान कैसे हो सकता है! और हे देवि! वह मन भी तो तब तक नष्ट नहीं हो सकता जब तक कि (जीवका उपाधिभूत, तथा मनकी चंचलता का कारण) प्राणवायु नष्ट न हो जाय, इसलिये हम तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राण तथा (प्राण के जीवन का कारण) मन, ये दोनों ही जिस योगाभ्यासी के नष्ट हो जाते हैं वही पुरुष मोक्ष (मोक्ष के साधन ज्ञान) को प्राप्त होता है। जिसके ये मन प्राण लय को प्राप्त नहीं हुए हैं, वह तो कभी भी ज्ञान को नहीं पा सकता।।१५।।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्त्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरिदं पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं किल शाम्भवी भगवती या स्यात् प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं मृगयते तत्त्वं पदं शांभवम्।।१६।।(२३७)
प्राणवृत्तौ विलीनायां मनोवृत्तिर्विलीयते।
शिवशक्तिसमायोगो हठयोगेन जायते।।१७।।(२३८)

समस्तमुद्रासु शाम्भव्याः श्रैष्ठ्यात् तामेव सलक्षणमाह **अन्तरिति। योगी** योगाभ्यासी, **यदा** यस्मिन् काले, **अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनः** अन्तः अभ्यन्तरे, यल्लक्ष्यं शिवशक्तिसमायोगरूपं जीवब्रह्मैक्यं च, तस्मिन् लीनौ चित्तपवनौ चित्तं मनः, पवनः प्राणश्च यस्य तथोक्तः सः सन् **निश्चलतारया** स्थिरकनीनिकया, **दृष्ट्या** दृशा, **बहिः** बाह्यम्, **इदं** दृश्यं जगत्, **पश्यन्** आलोकयन्नपि, स **न पश्यन्** अनालोकयन् सन्, **वर्त्तते** वर्त्तमानो भवति, **सा इयं** प्रत्यक्षा, **भगवती** भगमणिमाद्यैश्वर्यम् अस्याम् अस्तीति भगवती, **शांभवी** शम्भुना पार्वत्यै प्रोक्ता 'तस्येदम्' इति अणि च, शंभुसम्बन्धिनी वा, साधकानां शंभवत्यस्याः सा शांभवी वा, सर्वसाधकानां सुखदात्रीत्यर्थः, **मुद्रा** अवस्थारूपा, **या गुरोः** देशिकस्य, **प्रसादाद्** गुरुकृपातः,**स्याद्** भवेत्। किं फलं तस्या इत्यत आह **शून्येति**। यया इति अध्याहार्यं, यया मुद्रया **शून्याशून्यविलक्षणं** जगतः असत्त्वं शून्यं, तत्सत्त्वं च अशून्यं ताभ्याम् असतः सत्ताप्रदत्वात् शून्याज्जगतः अशून्यरूपादपि विलक्षणम् उभयलक्षणहीनं, **शाम्भवं** शम्भुः शिवः, तत्सम्बन्धि तत्स्वरूपभूतमित्यर्थः, भेदव्यपदेशस्तु राहोः शिरोवत्, **तत्त्वम्** अनारोपितं, **पदं** स्वरूपं, **मृगयते** शोध्यते, इदमेव फलम् एतस्या इत्यर्थः।।१६।।(२३७)

उक्तं सफलं हठम् उपसंहरति **प्राणवृत्ताविति। हठयोगेन** हठाख्ययुक्त्या, **प्राणवृत्तौ** प्राणाख्यवायोः वृत्तिः श्वासोच्छ्वासरूपा तस्यां, **विलीनायां** लयं प्राप्तायां सत्यां, **मनोवृत्तिः** मनसः अन्तःकरणस्य, वृत्तिः संकल्पविकल्परूपा, **विलीयते** नष्टा भवति, ततश्च **शिवशक्तिसमायोगो** ब्रह्मरन्ध्रस्थितस्य शिवस्य, मूलाधारस्थितायाः शक्तेश्च समायोगः संयोग ऐक्यम् इत्यर्थः, **जायते** भवति।।१७।।(२३८)

जब कि अन्दर (जीवब्रह्मैक्यरूपी या शिवशक्तिसमायोगरूपी) लक्ष्य में योगी के मन तथा प्राण दोनों विलीन हो जाते हैं और जब कि वह अपनी निश्चेष्ट दृष्टि से बाहर को देखता हुआ भी न देखता हुआ-सा हो जाता है (अर्थात् जब कि योगी की दृष्टि स्वभाव से ही लक्ष्यशून्य होकर पदार्थों पर पड़ने लगती है) तब वह शाम्भवी मुद्रा कहाती है। यह मुद्रा किसी सद्गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ करती है। इस मुद्रा के प्रभाव से योगी लोग सदसद्विलक्षण शिव के वास्तविक स्वरूप को ढूँढ किंवा शुद्ध कर लेते हैं।।१६।।

गोरक्षचर्पटिप्राया हठयोगप्रसादतः।
वञ्चयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डं विचरन्ति हि।।१८।।(२३६)
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
शिवशक्तिसमायोगं कुर्वन्ति हठयोगिनः।।१६।।(२४०)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ हठयोगाख्यं तृतीयं प्रकरणम्।।

उक्तहठप्ररोचनाय अवान्तरफलप्रदर्शनपूर्विकाम् आचार्यपरिपाटीम् आह **गोरक्षेति। गोरक्षचर्पटिप्रायाः** प्रायः शब्दः अत्र प्रभृतिवाचकः, गोरक्षश्च चर्पटी च एतौ द्वौ प्रायावादी येषां ते तथोक्ताः ते, **हठयोगप्रसादत** उक्तहठयोगस्य हठाख्ययुक्तेः प्रसादतः तत्साधनेनैव सार्वविभक्तिकः तसिरत्र, **कालदण्डं** कालस्य जगत्फलयितुः ईश्वररूपस्य, दण्डो मृत्युरूपः, तं **वञ्चयित्वा** अनादृत्य, **ब्रह्माण्डं** मृत्युक्रीडास्थानं ब्रह्माण्डं इत्यर्थः, **विचरन्ति** प्रारब्धभोगान् भुञ्जते, गच्छन्ति च, **हि** प्रसिद्धम् एतद् इत्यर्थः।।१८।।(२३६)

एवं सफलां हठक्रियां निरूप्य तस्याः वेदान्तानुकूल्याय मनसो गुणसाम्ये गुणसाम्यस्य च स्फुरणविषयत्वसम्पादने च तयोः लयलक्षणं शिवशक्तिसमायोगं कुर्याद् इत्याशयेनाह **शक्तीति। मनः** साम्यस्फुरणरूपं तत्संकल्पविकल्परूपावृत्तिः, **शक्तिमध्ये** साम्यकारणभूतायां चिच्छक्तौ, **कृत्वा** शक्त्यभिन्नम् अनुभूय, **शक्तिं** साम्यस्फूर्तिकारणरूपां चिच्छक्तिं, **मानसमध्यगां** साम्यसंकल्पविकल्परूपमनःकल्पितत्वात् तन्मध्ये विद्यमानां, तदभिन्नाम् इत्यर्थः, कृत्वा अनुभूय **हठयोगिनो** हठाख्यक्रियाभ्यासिन, एवं **शिवशक्तिसमायोगं** शिवस्य आत्मनः शक्तेः गुणसाम्यरूपप्रकृतेः च समायोगम् ऐक्यानुभवरूपं **कुर्वन्ति** विदधति इत्यर्थः।।१६।।(२४०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे हठयोगार्थप्रकाशः तृतीयः।।

इस हठयोग के कारण प्राणवृत्ति के विलीन हो जाने के अनन्तर मन का व्यापार भी बन्द हो जाता है, यों तब हठयोग से (मूलाधार स्थित) शक्ति तथा (ब्रह्मरन्ध्रस्थित) शिव की परस्पर एकता हो जाती है।।१७।।

इस हठयोग के साधन से गोरक्ष तथा चर्पटी आदि महात्मा काल के मृत्युरूप दण्ड से बचकर इसी ब्रह्माण्ड में, निर्भय होकर विचरण कर रहे हैं (जिसमें कि मृत्यु का ही अखण्ड साम्राज्य छा रहा है)।।१८।।

हठयोगी पहले तो मन को शक्ति के अन्दर लगा देते हैं, प्रतिक्षण उसी का चिन्तन करते रहते हैं, फिर (अभ्यास के पक जाने पर तो) शक्ति को ही मन के अन्दर कर देते हैं (मन और शक्ति की एकता को अनुभव करने लगते हैं), यों करते-करते शिव और शक्ति का समायोग (अभेद) कर डालते हैं।।१६।।

अथ शिवशक्तिपराक्रमः

अथ वक्ष्ये स्तुतिव्याजात् शिवशक्तिपराक्रमम्।
शोधिते सूक्ष्मया दृष्ट्या यस्मिन् निर्विस्मयो भवेत्।।१।।(२४१)
तां द्वैतरूपिणीमेव द्वैताद्वैतस्वरूपिणीम्।
अद्वैतरूपिणीं शक्तिं स्मरामि परमात्मनः।।२।।(२४२)

एवं सफलं हठं प्रतिपाद्य अनन्तरं लये क्रमानुरोधेन निरूपितव्ये तं त्यक्त्वा व्युत्क्रमेण शैवमतं राजयोगं निरूपयितुं शिवशक्तिसमायोगप्रसङ्गेन शिवशक्तिपराक्रमाख्यं चतुर्दशश्लोकं प्रकरणम् आरभते, तत्र तावच्छिवशक्तिपराक्रमनिरूपणं प्रतिजानीते **अथेति। अथ** हठयोगनिरूपणानन्तरं, तत्प्रसङ्गेन एव, **स्तुतिव्याजात्** स्तवनमिषेण एव, **शिवशक्तिपराक्रमं** शिवस्य परमानन्दरूपस्य परमात्मनो, या शक्तिः जगज्जननसामर्थ्यं तस्याः पराक्रमं प्रतापं, चरित्रम् इत्यर्थः, **वक्ष्ये** कथयिष्यामि त्वं शृणु इति शेषः। ननु एतच्छ्रवणस्य किं फलं? तत्राह **शोधित इति। सूक्ष्मया** विचारसंस्कारेण सूक्ष्मीभूतया, **दृष्ट्या** बुद्ध्या, **यस्मिन्** शिवशक्तिपराक्रमे, **शोधिते** विचारिते सति, विचारकः, **निर्विस्मयः** शक्तेः अघटितघटनापटीयस्त्वज्ञानाद् आश्चर्यभूतबुद्धिरहितः गर्वरहितश्च, **भवेत्** स्यात्।।१।।(२४१)

तामेव शक्तिं विशेषणैः विशिष्टां स्मरति **तामिति। द्वैतरूपिणीं** द्वैतमनेकविधं कार्यं जगद्रूपं, तदेव रूपं स्वरूपं यस्याः सा तथोक्ता तां कार्यरूपाम् इत्यर्थः, तथा **द्वैताद्वैतस्वरूपिणीं** साधनकाले च द्वैतं, वाक्यार्थज्ञानसाधनजातं गुरुशिष्यशास्त्रश्रवणमननादिकं वाक्यतो लक्षितं च अद्वैतमपि रूपं स्वरूपं, यस्याः तां कार्यफलोभयरूपाम् इत्यर्थः, मुक्तिदशायां च **अद्वैतरूपिणीम्** अद्वैतम् ऐक्यमेव रूपं स्वरूपं यस्याः सा तथाभूता तां **परमात्मनः** कार्यकारणातीतस्य आत्मनः, **शक्तिं** जगज्जननसामर्थ्यरूपां, **स्मरामि** चिन्तयामि, लौकिकव्यवहारे सत्यरूपेण प्रतीयमानां, वैदिके तु तस्मिन् साध्यसाधनोभयरूपां, समाध्यादौ मोक्षावस्थायां च अखण्डैक्यरूपां च, क्रमेण परमार्थतश्च आत्मनोऽभिन्नां च चिन्तयामि इति भावः।।२।।(२४२)

हठयोग के निरूपण करने के पश्चात् अब प्रसङ्गवश स्तुति करने के मिष से परमात्मा की जगदुत्पादन शक्ति के चरित्र का वर्णन करूँगा। क्योंकि सूक्ष्म विचार से इस शिवशक्ति के पराक्रम को समझ लेने पर फिर इस विचित्राकार जगत् को देखकर भी (आश्चर्य) उत्पन्न नहीं होगा।।१।।

(लौकिक व्यवहार करते समय) जो द्वैत (जगद्रूप कार्य या सत्य) रूप से प्रतीत होती है, (साधनकाल में) जो द्वैताद्वैत रूप से प्रतीत होने लगती है, तथा जो कि (समाधि या मोक्ष अवस्था में) केवल अद्वैत (किंवा अखण्ड) रूप से ही भासने लगती है, परमात्मा की ऐसी उस अद्भुत शक्ति का चिन्तन करता हूँ।।२।।

केयं कस्य कुतः केन कस्मै कं प्रति कुत्र वा।
कथं कदेत्यनिर्णीता तां वन्दे शक्तिमद्भुताम्।।३।।(२४३)

इदानीं निश्चयाविषयतया तामेव स्मरन् प्रणमति **केयमिति। इयं** दृश्यमाना शक्तिरूपा माया, का कारणरूपा कार्यरूपा च द्विविधापि, का किं सती उत असती वा सदसती वा, न तावत् सत्या, बाधितत्वात्, तत्सत्यत्वे बाधानुपपत्तेः। श्रुतिश्च बाधितत्वे अस्ति 'अथात आदेशो नेति नेति' 'नेहनानस्ति किंचन' इति प्रभृतिका। तस्मान् न सत्या। नाप्यसत्या सर्वजगत्कार्यजनकत्वात्; शक्तेः असत्त्वे च तदनुपपत्तिः, न ह्यत्यन्तासतः शशशृङ्गादेः कार्यजनकत्वं दृष्टं, जगत्तु तत्कार्यं दृश्यते अतः न असत्या। नापि उभयरूपापि, सत्यासत्ययोः विरुद्धस्वाभाव्येन एककाले एकवस्तुनिष्ठत्वानुपपत्तेः, नहि तमःप्रकाशौ सूर्ये वा अन्यत्र वा एककाले प्रतीयमानौ क्वचिद् दृष्टौ अन्योन्यं व्यावृत्तौ च सर्वानुभूतौ अतः नोभयरूपत्वम्। एवं चिच्छक्तिः किं चिद्रूपा वा अचिद्रूपा उत चिदचिद्रूपा? नाद्यः, शक्तेः चित्त्वे शक्तिशक्तिमतोः अवैलक्षण्येन शक्तिशक्तिमत्त्वासिद्धेः। नापि द्वितीयः, शक्तेः पृथगसत्त्वेन तन्निष्ठस्य अचित्त्वस्य असिद्धेः, तत्सिद्धावपि चितः असंगत्वेन प्रकाशकत्वानुपपत्या शक्तिभानासम्भवात् तदभाने च तत्कार्यजगदभानेन जगदांध्यप्रसङ्गाच्च, नहि असङ्गे अद्वैते भास्यं किञ्चिदस्ति येन भासकत्वरूपः विकारः स्यात्, नापि जडः स्वयं घटादिपदार्थो भासमानो दृश्यते, नापि च जडे कारणे मृदादौ तत्कार्यघटादिप्रकाशकत्वं च दृष्टम् अतो न अचिद्रूपेण निश्चयविषया। नापि तृतीयः, चिदचिद्रूपत्वस्य विरुद्धत्वेन अपास्तत्वात्। एवं किं शक्तिः स्थूला उत अस्थूला उत स्थूलास्थूला इत्यादिभिः विशेषणैः निर्णेतुं न शक्या इति भावः। एवं स्वरूपेण निर्णयाविषयत्वं प्रदर्श्य इदानीं संबन्धतोऽपि तदाह **कस्येति**। इयं शक्तिः कस्य सम्बन्धिनीति अनिर्णीता निर्णयाविषया। तथाहि सच्छक्तिः किं सत्संबन्धिनि उत असत्संबन्धिनी? नाद्यः, सदसतोः सम्बन्धायोगाद् न हि शशशृंगादिकं शशादिसम्बन्धि दृष्टम्। ननु शक्तेः कार्यजननक्षमत्वाद् न असत्त्वम् इति चेद्? न, कार्यस्यापि तथात्वाद् असतो रज्जुसर्पादेः तादृशभयकम्पादिजनकत्वस्य दृश्यमानत्वात् च। ननु अत्यन्तासतस्तु शशशृङ्गादेः न कार्यजननक्षमत्वमिति चेद्? न।

'मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृंगधनुर्धरः।
एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः'।

इत्यादिवाक्यात् पदार्थज्ञानशून्येषु बालादिषु तत्तदर्थप्रतीतिरूपकार्यस्य दृश्यमानत्वात्। तस्माद् न सत्सम्बन्धिनी। नापि द्वितीयः, असतः शशशृंगादेः तत्कल्पितस्य च शक्तिशक्तिमत्त्वसम्बन्धवत्त्वानुपपत्तेः नहि धनुःशक्तिः शशशृंगसम्बन्धिनी कापि दृष्टा श्रुता वा, नापि उपपन्ना तदाश्रयस्य सम्बन्धस्य दुर्निरूपत्वाच्च। किञ्च सम्बन्धोऽपि दुर्निरूप एव, तथाहि सम्बन्धः किं सम्बन्धिभ्यां भिन्नः अभिन्नः वा? नाद्यः, सम्बन्धिभिन्नस्य तस्य निराश्रयत्वेन असिद्धेः, तद्भिन्नस्य च तस्य

यह कौन है? किसकी है? कहाँ से आयी है? किसने की है? किस उद्देश्य से की है? कहाँ की है? कैसे की है? और कब की है? यह कुछ भी निर्णय जिसके विषय में नहीं हो पाता, उस अद्भुत शक्ति की मैं केवल वन्दना ही करता हूँ।

तत्त्वानुपपत्तेश्च, नापि द्वितीयः सम्बन्ध्यभिन्नत्वे सम्बन्धस्यैव असत्त्वेन सम्बन्धस्वरूपासिद्धेः, तदसिद्धौ च सम्बन्धिनोरपि असिद्धेश्च इत्यादयो दोषाः स्वाराज्यसिद्ध्यादौ द्रष्टव्याः, अत्र तु विस्तारभयान्न प्रदर्श्यन्ते तत्प्रदर्शने प्रवृत्तौ तु रसहानिः स्याद् अस्य ग्रन्थस्य च रसेप्सूनां रसानुभूत्यर्थं प्रवृत्तेः नात्र ते प्रदर्श्यन्ते।

एवं सम्बन्धतः विषयानर्हत्वं प्रतिपाद्य कार्यकारणतः अपि विषयानर्हतां शक्तेः स्मरन् प्रणमति **कुत इति**। इयं शक्तिः कुतः कारणाद् आस्ते इति अनिर्णीता। तथाहि इयं सत्कारणा उत असत्कारणा? नाद्यः, शक्तेः सत्कार्यत्वे सद्भिन्नत्वेन तत्कार्यत्वानुपपत्तेः अभिन्नत्वे अपि कार्यकारणत्वाभावात् सत्कार्यत्वाभावाच्च। ननु सतो भिन्नं सद्विलक्षणं शक्तेः कारणमस्तु इति चेद्? न; शक्तेरपि सद्विलक्षणत्वेन अभेदात् कार्यकारणासम्भवे असत्कार्यत्वस्य तुल्यत्वात्। ननु कार्यसापेक्षस्य कारणस्य कार्यकारणताकत्वम् अस्तु इति चेद्? न; शक्तेःकार्यापृथग्भावेन तत्कारणभूतशक्तेः असत्कारणकतावत्त्वस्यैव सुस्थितत्वाद् अन्योन्याश्रयादिदोषप्रसक्तेश्च। न द्वितीयः, असतः खपुष्पादेः सुगन्धकारणत्वस्य क्वापि अदृष्टत्वाद् न हि शशशृंगादिकं धनुरादेः कारणं क्वापि दृष्टम्। एवं कारणतः निर्णयानर्हतां प्रतिपाद्य निमित्ततोऽपि निराकर्त्तुं प्राह **केनेति। केन** निमित्तेन इति अनिर्णीता। तथाहि, शक्तेः निमित्तं किं सद् उत असद्? न तावत् सद्, असद्रूपशक्तेः सन्निमित्तत्वायोगाद्, न हि स्वाप्नघटस्य जाग्रत्कुलालनिमित्तकत्वं दृष्टं श्रुतं वा इत्यादि द्रष्टव्यम् आकरग्रन्थेषु, अत्र तु विस्तरभयात् तद्दूषणजातं न प्रतिपाद्यते। एवं निमित्ततोऽपि निर्णयाविषयत्वं प्रदर्श्य प्रयोजनतोऽपि तदाह **कस्मै इति**। कस्मै प्रयोजनाय इति अनिर्णीता, तथाहि शक्तिप्रवृत्तिप्रयोजनं किं सन्निष्ठम् उत असन्निष्ठम् उत शक्तिनिष्ठं किमुत कार्यनिष्ठम्? नाद्यः, आनन्दघनत्वेन प्रयोजनापेक्षासिद्धेः। न द्वितीयः, असतः वन्ध्यापुत्रादेः प्रयोजनापेक्षायोगासिद्धेः। न शक्तिनिष्ठपक्षोऽपि, तस्या अपि जाड्यासत्त्वाभ्यां प्रयोजनापेक्षाभाववत्त्वात्। नापि कार्यनिष्ठं, कार्येऽपि जाड्येन प्रयोजनवत्त्वायोगात्। ननु मास्तु प्रयोजनं को दोष इति चेद्? न; प्रयोजनाभावे च प्रवृत्त्यसिद्धेः, प्रवृत्तिस्तु शक्तेर्दृश्यते अतः प्रयोजनतोऽपि निर्णयानर्हत्वं शक्तेः इति भावः। एवमेव कर्मतोऽपि निर्णयाविषयत्वं शक्तेराह **कं प्रति इति**। कम् अर्थं प्राप्तुं क्रियया शक्तेः वृत्तिः इत्येवमपि निर्णयाविषया, अर्थस्य क्रियायाश्च सन्निष्ठत्वेन असन्निष्ठत्वेन च निर्णयासम्भवादिति भावः। तथैव आधाराधेयत्वतोऽपि शक्तेः स्वरूपनिर्णयाभावमाह **कुत्र वा इति**। कस्मिन्नाधारे शक्तिराधेयेत्यनिर्णीता, सतो वा असतश्च आधाराधेयत्वासिद्धेः शक्तेः कार्यस्य चासत्त्वादेव आधेयत्वासिद्धेश्च, न हि खवृक्षस्य खस्य च आधाराधेयत्वं युक्तिसहं दृष्टं। प्रकारतोऽपि निर्णयाविषयत्वमाह **कथम् इति**। कथं शक्तिः किं प्रकारा इति अनिर्णीता, शक्तिप्रकारस्यापि तदसत्त्वेन भासमानत्वेन निर्णयाविषयत्वमिति भावः। कालतोऽपि निर्णयाविषयत्वमाह **कदा इति**। कदा कस्मिन् काले, सा शक्तिरस्ति इति अनिर्णीता, कार्यमिथ्यात्वेन शक्तेर्मिथ्यात्वे च तदपेक्षितकालस्यापि तथात्वात् तत्परिच्छेद्यत्वासम्भवः शक्तौ, तथापि तत्कार्ये कालपरिच्छेद्यत्वसम्भवेन शक्तौ अपि तत्परिच्छेद्यत्वसम्भवस्य भासमानत्वाद् न कालतोऽपि निर्णयविषयत्वमिति भावः। अत एव **अद्भुताम्** आश्चर्यरूपां, **ताम्** उक्तरूपां, **शक्तिं** शिवस्य शक्तिं, **वन्दे** प्रणमामि।।३।।(२४३)

शिवः कर्त्ता शिवो भोक्ता शिवो वेत्ता शिवः प्रभुः।
उपसर्जनमात्रं या तां वन्दे शक्तिमद्धुताम्।।४।।(२४४)
स्वयं कर्त्री स्वयं भोक्त्री स्वयं वेत्त्री स्वयं प्रभुः।
साक्षिमात्रं शिवो यस्यास्तां वन्दे शक्तिमद्धुताम्।।५।।(२४५)

परमशिवे असङ्गत्वेन कर्तृत्वासम्भवेऽपि तस्मिन् कर्तृत्वमारोप्य निमित्तमात्रतां शक्तेर्लक्ष्यीकृत्य तां प्रणमति **शिव इति। शिवः** सदानन्दरूपः परमात्मा, **कर्त्ता** जगदुत्पत्तिस्थितिलयादिसर्वक्रियासु स्वतन्त्रत्वेन कर्तृत्वाच्छक्तेः जडत्वेन कर्तृत्वासम्भवः शिवे तु चिद्रूपत्वात् तत्सम्भव इति भावः, एवं **शिवो** नित्यानन्दरूपः परमात्मा, **भोक्ता** भोगकर्त्ता, चैतन्यरूपत्वाद् आत्मनि भोक्तृत्वं जडत्वाच्च शक्तौ तदभावः, एवं **शिव** आत्मा, **वेत्ता** ज्ञाता, चेतनरूपत्वादात्मनि वेत्तृत्वं शक्तौ तु जाड्येन तदभावः, तथैव **शिव** आत्मा, **प्रभुः** नियन्ता, चेतने नियन्तृत्वम् अचेतने तु तदसम्भव इति भावः, तत्र असङ्गे कर्तृत्वादिधर्मोत्पत्तौ, **या** शक्तिः, **उपसर्जनमात्रम्** उपसृज्यते उत्पाद्यते शिवे कर्तृत्वादिकम् अनेन इति उपसर्जनं निमित्तं तदेव तन्मात्रं भवति ताम् इत्यादि पूर्ववत्।।४।।(२४४)

इदानीं निर्विकारे शिवे चिन्मात्ररूपेऽपि कर्तृत्वादिकमसम्भाव्यमिति बोधेन आत्मनि शिवे साक्षिमात्रत्वं प्रदर्श्य स्वस्यामेव कर्तृत्वादिकप्रदर्शनरूपां तां लक्ष्यीकृत्य प्रणमति **स्वयमिति। स्वयम्** अधिष्ठानाश्रया शक्तिरेव, आधारसच्चित्त्वेन सच्चिद्रूपेव सती, **कर्त्री** कर्तृत्वधर्मवती, तथा **स्वयं** शक्तिरेव, **भोक्त्री** भोक्तृत्वधर्मवती अद्वितीयाऽसंगकूटस्थात्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः अयोगात् शक्तिकार्यमेव तदिति भावः। किञ्च **स्वयं** शक्तिरेव केवलं, **वेत्त्री** ज्ञात्री, भवति इति सर्वत्र योज्यम्, अद्वितीयासंगे त्रिपुट्यभावाद् ज्ञातृत्वं शक्तौ एव इति भावः, तथा **स्वयं** शक्तिरेव, **प्रभुः** नियन्त्री भवति, असंगे नियन्तृत्वायोगात् शक्तावेव नियन्तृत्वमिति भावः, किञ्च **यस्याः** शक्तेः;

आज तक के सम्पूर्ण विद्वानों की, शक्ति के रूप के निर्णय करने की इस पराधीनता को देखकर हमसे तो केवल यही करते बनता है कि हम मौन होकर उस अद्‌भुत आश्चर्यरूप शिवशक्ति को प्रणाम ही कर लें, और अपने मूक नमस्कारों की ऐसी झड़ी लगा दें कि जिससे वह अपने स्वरूप को हम पर प्रकट करने के लिये रीझ जाय।।३।।

(जगत् की उत्पत्ति आदि सब क्रियाओं का) कर्त्ता भी शिव है, (भोगों का) भोगनेवाला भी शिव है, ज्ञाता भी शिव है। इस सब जगत् को नियम में रखनेवाला भी शिव है (क्योंकि बेचारी जडशक्ति में कर्तृत्व आदि धर्म नहीं रह सकते)। जिस शक्ति की सहायता से उस असंग परमात्मा में ये सब कर्तृत्व आदि धर्म प्रतीत होने लगते हैं, जो शक्ति केवल निमित्तमात्र हो जाया करती है, ऐसी उस अद्भुत शक्ति की (जिसने कि निमित्तमात्र होकर भी अपने प्रभाव से असंग आत्मा को कर्ता बना डाला है) हम केवल वन्दना ही करते हैं।।४।।

स्वलक्षणे महादेवे स्वलक्षणतया स्थिताम्।
वित्तां स्वलक्षणैरेव तां वन्दे शक्तिमद्भुताम्।।६।।(२४६)
सलक्षणे महादेवे सलक्षणतया स्थिताम्।
वित्तां सलक्षणैरेव तां वन्दे शक्तिमद्भुताम्।।७।।(२४७)
विलक्षणे महादेवे विलक्षणतया स्थिताम्।
वित्तां विलक्षणैरेव तां वन्दे शक्तिमद्भुताम्।।८।।(२४८)

साक्षिमात्रम् अव्यवधानेन प्रकाशकः साक्षी इति उच्यते स एव साक्षिमात्रं, **शिवः** असंगकूटस्थ आत्मा भवति, तामित्यादि पूर्ववत्।।५।।(२४५)

इदानीं स्वरूपलक्षणैः एव तां लक्ष्यीकृत्य प्रणमति **स्वलक्षण इति। स्वलक्षणे** स्वरूपभूतानि लक्षणानि लक्षकानि चिह्नानि यस्य स तथाभूतः परमात्मा तस्मिन् **महादेवे** अपरिच्छिन्नचैतन्ये, **स्वलक्षणतया** स्वानि स्वरूपभूतानि लक्षणानि चिह्नानि यस्याः सा तथाभूता तस्या भावः तत्ता तया तद्रूपेण इत्यर्थः, **स्थिताम्** विद्यमानाम्, अत एव मुमुक्षुभिः **स्वलक्षणैरेव** स्वानि स्वरूपभूतानि च तानि लक्षणानि च तथा तैरेव, कृत्वा, **वित्तां** ज्ञातां, तामित्यादि पूर्ववत्।।६।।(२४६)

सलक्षणे परमात्मनि तां सलक्षणतया लक्ष्यीकृत्य प्रणमति **सलक्षण इति। सलक्षणे** लक्षणैः सहिते, साकारे इत्यर्थः, **महादेवे** वास्तवपरिच्छेदशून्ये चैतन्ये, **सलक्षणतया** लक्षणैः सहिता सा तथोक्ता तस्या भावः तत्ता तया, साकाररूपतया इत्यर्थः, **स्थितां** विद्यमानाम्, अत एव मुमुक्षुत्वेन उपासकैः **सलक्षणैरेव** लक्षणैः सहितानि यानि साकाररूपाणि तैरेव, कृत्वा, **वित्तां** ज्ञातां, तामित्यादि पूर्ववत्।।७।।(२४७)

इदानीं निर्गुणरूपेणापि तां लक्ष्यीकृत्य प्रणमति **विलक्षण इति। विलक्षणे** विगतानि लक्षणानि चिह्नानि यस्मात् तस्मिन्, निर्गुणे इत्यर्थः। **महादेवे** अपरिच्छिन्नचैतन्ये, **विलक्षणतया** विगतानि लक्षणानि यस्याः सा तथोक्ता तस्या भावः तत्ता तया, निर्गुणत्वेन इत्यर्थः, **स्थितां** विद्यमानाम्, अत एव मुमुक्षुभिः लक्षणावृत्त्या **विलक्षणैरेव** विगतानि यानि लक्षणानि चिह्नानि तैरेव केवलं, **वित्तां** ज्ञातां तामित्यादि पूर्ववत्।।८।।(२४८)

जो स्वयं करनेवाली, स्वयं भोगनेवाली, स्वयं जाननेवाली, स्वयं ही परमेश्वरी बनी बैठी है, शिव तो जिसका केवल साक्षी ही हो रहा है, उस अद्भुत शक्ति को मैं प्रणाम निवेदन कर रहा हूँ।।५।।

स्वलक्षण (अर्थात् अपरिच्छिन्न स्वरूपवाले) महादेव में जो शक्ति अपने अपरिच्छिन्न रूप से ही विद्यमान रहती है तथा साधकों से जो अपने ही (स्वरूपभूत अपरिच्छिन्न आदि) लक्षणों के द्वारा पहचानी जाती है, उस अद्भुत शक्ति को हम प्रणाम करते हैं।।६।।

उपासकों के लिये साकार महादेव में साकाररूप से विद्यमान रहने वाली तथा साधक मुमुक्षुओं से अपने (शक्ति के) ही साकाररूप से पहचानी हुई उस अद्भुत शक्ति को हम प्रणाम करते हैं।।७।।

अचेत्यचित्स्वरूपत्वाद् अचेतन इव स्थिते।
चैतन्ये चेतनाहेतुस्तां वन्दे शक्तिमद्भुताम्।।९।।(२४९)
चेतिता चेतनेनेति सविकल्पस्वरूपतः।
चैतन्ये चेतनाहेतुस्तां वन्दे शक्तिमद्भुताम्।।१०।।(२५०)

इदानीं चैतन्ये चेतनाहेतुत्वेन तां लक्ष्यीकृत्य प्रणमति **अचेत्येति। चैतन्ये** चिन्मात्रस्वरूपे आत्मनि, **अचेत्यचित्स्वरूपत्वाद्** न विद्यते चेत्यं चेतनाविषयो यस्यां सा अचेत्यचित्, सा एव स्वरूपम् आत्मा यस्याः सा तथोक्ता तस्या भावस्तत्त्वं तस्माद् हेतोः, **अचेतन इव** जडवत् **स्थिते** विद्यमाने, **चैतन्ये** व्यवहारे अचेतनत्वेन प्रतीयमाने आत्मनि, **चेतनाहेतुः** चेतनायाः विषयप्रकाशरूपाया हेतुः कारणं भवति, चेत्यं विना चेतनत्वाप्रतीतेः शक्तेः चेतनाहेतुत्वमिति भावः, तामित्यादि पूर्ववत्।।९।।(२४९)

शक्तेः चेतनाहेतुत्वमेव विशदयति **चेतितेति। सविकल्पस्वरूपतः** विकल्पैः विविधकल्पनाभिः सह वर्त्तमानं यत्स्वरूपं तदस्यास्ति इति सविकल्पस्वरूपं ततः, तेन, सार्वविभक्तिकस्तसिः, **चेतनेन** चिन्मात्रस्वरूपेण आत्मना, **चेतिता** प्रकाशिता शक्तिः, **इति** हेतोः, **चैतन्ये** चेत्यरहिते चिन्मात्रे, **चेतनाहेतुः** चेतनायाः व्यावहारिकविषयप्रकाशनस्य, हेतुः कारणं भवति, तामित्यादि पूर्ववत्।।१०।।(२५०)

विलक्षण अर्थात् निर्गुण महादेव में निर्गुणरूप से विद्यमान रहती हुई तथा मुमुक्षुओं से लक्षणों के बिना ही (लक्षणावृत्ति से) पहचानी हुई उस अद्भुत शक्ति को हम प्रणाम करते हैं।।८।।

कल्पना करो कि एक ऐसा चेतन है जो चेत्य पदार्थों से रहित है, वह बेचारा अचेतन-सा ही तो पड़ा होगा। अचेतन के समान पड़े हुए उस चेतन में चेतना को पैदा करने वाली उस अद्भुत शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ। विषयों के प्रकाशन के बिना आत्मा की स्थिति अचेतन लोष्ठ आदि के समान रहती है क्योंकि उस समय चिति से जानने योग्य कोई भी पदार्थ नहीं रहता। उस समय अचेतन के समान प्रतीत होते हुए उस आत्मा में जिस शक्ति के कारण विषयों को प्रकाश करनेवाली चेतना उत्पन्न हो जाती है (जिसके अधिक होने पर संसारी लोगों को भी उस आत्मा के चेतन होने का निश्चय हो जाता है) उस विस्मयकारिणी शक्ति को हम केवल प्रणाम ही करते हैं।।९।।

सविकल्प स्वरूपवाला चेतन ही उस शक्ति को प्रकाशित किया करता है, यों चैतन्य में चेतना आनेका कारण जो शक्ति है उसे हम वन्दन करते हैं।

आत्मा का निर्विकल्पक स्वरूप तो किसी का भी प्रकाश करने में उपयोगी नहीं हो सकता, इसलिये वह शक्ति स्वयं सविकल्पस्वरूप चेतन से ही प्रकाशित होती है (उस शक्ति को प्रकाशित करने से प्रथम प्रकाशयितव्य पदार्थों के विद्यमान न होने से उस

शक्तिरेव न यस्यास्ति सोऽशक्तः किं करिष्यति।
शक्त्या यया शिवः शक्तस्तां वन्दे शक्तिमद्भुताम्।।११।।(२५१)
शक्ता नूनं हि कार्येषु शक्तिः शक्तिमति स्थिता।
शिवाश्रयादृतेऽशक्ता तां वन्दे शक्तिमद्भुताम्।।१२।।(२५२)
शक्तिशक्तिमतोर्यस्माद् निर्विकल्पे न वस्तुता।
सामरस्यं शिवे याता तां वन्दे शक्तिमद्भुताम्।।१३।।(२५३)

इदानीं शिवे सर्वकर्तृत्वहेतुत्वेन तां लक्ष्यीकृत्य प्रणमति **शक्तिरति। यस्य** शिवस्य, **शक्तिरेव** सामर्थ्यमेव, **नास्ति** न विद्यते, **स अशक्तः** सामर्थ्यहीनः, **किं** कार्यं, **करिष्यति** कुर्यात्, न किमपि कर्तुं शक्त इत्यर्थः, अतो **यया शक्त्या** येन जगज्जननसामर्थ्येन, **शिवः** असंगसुखचित्स्वरूप आत्मा, **शक्तः** समर्थः कार्यं कर्तुं भवति, अर्शआद्यच एतद्; श्रीमदाचार्यैरपि सौन्दर्यलहर्याम् उक्तं 'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्' इत्यादिना, तामित्यादि पूर्ववत्।।११।।(२५१)

इदानीं शिवाश्रयणेनैव शक्तिमज्जगद्गतपदार्थेषु स्थित्वा शक्तेः सर्वकार्यक्षमत्वं लक्ष्यीकृत्य तां प्रणमति **शक्तेति। शक्तिमति** शक्तिमत्पदार्थे, तद्वति पुरुषे वा **स्थिता** विद्यमाना, **कार्येषु** तत्तत्कृत्येषु, **नूनं** निश्चयेन, **शक्ता** समर्था, **हि** प्रसिद्धा, **शिवाश्रयादृते** शिवाश्रयं विना, **अशक्ता** न समर्था भवति, सदधिष्ठानं विना असतः कार्यक्षमत्वायोगाद् इति भावः, तामित्यादि पूर्ववत्।।१२।।(२५२)

इदानीं शक्तेः तद्वतोऽपि असत्त्वस्मृतिपूर्वकं निर्विकल्पे सामरस्येन तां लक्ष्यीकृत्य प्रणमति **शक्तिशक्तिमतोरिति। यस्मात्** कारणात्, **निर्विकल्पे** निर्गता विपरीता विविधा विलक्षणा वा विशिष्टा वा कल्पना नामजात्यादयो भावना यस्मात् तन्निर्विकल्पम् आत्मस्वरूपं तस्मिन् **शक्तिशक्तिमतोः** शक्तिश्च जगज्जननसामर्थ्यं परमात्मनिष्ठं, शक्तिमांश्च शबल आत्मा अव्याकृतापरपर्यायः तयोः, **वस्तुता** सत्यत्वं, **न** नास्ति, तदा **शिवे** भूमानन्दरूपे परमात्मनि, **सामरस्यम्** ऐक्यं, **याता** प्राप्ता, तामित्यादि पूर्ववत्।।१३।।(२५३)

चेतन की अवस्था किसी शून्य घर में जलते हुए निष्फल प्रकाशवाले दीपक की सी हुआ करती है, इसलिये उस समय वह आत्मा चेत्य पदार्थों से रहित चिन्मात्ररूपी ही रहता है)। जो शक्ति उस चिन्मात्ररूप आत्मा में व्यावहारिक विषयों को प्रकाशित करने वाली चेतना को उत्पन्न कर देती है, उस आश्चर्यकारिणी शिवशक्ति को भक्तिनत होकर हम केवल प्रणाम ही करते हैं।।१०।।

जिस शिव के पास शक्ति ही नहीं है ऐसा अशक्त शिव कर ही क्या सकता है? जिस शक्ति के सहारे से यह (असंगसुखचित्स्वरूप) आत्मा अपने कार्यों को करने में समर्थ हुआ है उस अद्भुत शक्ति को केवल प्रणाम ही करते हैं।।११।।

जो शक्ति शक्तिवाले पदार्थ में रहकर ही अपने कार्यों को करने में समर्थ रहती है, शिवरूपी आश्रय को छोड़ते ही जो असमर्थ होकर क्षणभर में जगद्व्यापार को बन्द कर देती है, (शिवकी अनन्य भक्त) उस शक्ति को प्रणाम करते हैं।।१२।।

भाविते भावुकैरेवं शिवशक्तिपराक्रमे।
स्वयमुल्लसति स्वान्ते सामरस्यरसार्णवः।।१४।।(२५४)

भक्ते भक्तिमयीं पशौ पशुमयीं विद्वत्सु विद्यामयीं
सृष्टौ ब्रह्ममयीं स्थितौ हरिमयीं कल्पात् पुरश्चिन्मयीम्।
जीवे वृत्तिमयीं जडे जडमयीं शक्तिं शिवस्याद्भुतां
तां ध्यायामि पदे परात्परतरे स्वानन्दलीलामयीम्।।१५।।(२५५)

इदानीं शिवशक्तिपराक्रमविचारफलमाह **भाविते इति। भावुकैः** विशिष्टभावनाचतुरैः, आत्मप्रेमिभिः इत्यर्थः, **शिवशक्तिपराक्रमे** शिवस्य आत्मनः, या शक्तिः जगज्जननसामर्थ्यं, तस्याः पराक्रमे प्रतापनिरूपणे प्रकरणे तत्प्रतिपाद्ये अर्थे च, उक्तप्रकारेण **भाविते** विचारिते ध्याते च सति **सामरस्यरसार्णवः** समरसस्य अखण्डैकसुखरूपस्य भावः सत्ता सामरस्यं तच्चासौ रसश्च आनन्दः तस्य जलस्थानीयस्य अर्णवः समुद्र इव वर्त्तमानः, स, **स्वान्ते** हृदि, **स्वयं** स्वत एव, अयत्नेनैव, **उल्लसति** आविर्भवति।।१४।।(२५४)

इदानीं सर्वव्यापित्वस्मरणपूर्वकं परमपदे परमानन्दरूपत्वेन तामेव स्मरन् प्रणमति **भक्त इति। भक्ते** भजतीति भक्तः तस्मिन् कर्त्तरि क्तः, भजनक्रियाप्रवर्तकभजनविषयस्नेहवतीत्यर्थः, **भक्तिमयीं** भज्यते सेव्यते आत्मा विषयः वा अनया सा भक्तिः भजनक्रियावति भजनविषय-स्नेहरूपान्तःकरणवृत्तिः तन्मयीं तत्प्रचुरां, तद्रूपामित्यर्थः। **पशौ** मूढे, **पशुमयीम्** अज्ञानरूपां। **विद्वत्सु** ज्ञानिषु जीवब्रह्मैक्यप्रतीतिमत्सु इत्यर्थः, **विद्यामयीं** देहे अहंप्रतीतिवत् स्वात्माहंप्रतीत्या तदितरानात्म्यनिश्चयरूपान्तःकरणवृत्तिः विद्या तत्प्रचुरां, **सृष्टौ** जगत्सर्जनरूपक्रियायां, **ब्रह्ममयीं** ब्रह्मा विरिञ्चिः, तद्रूपां, **स्थितौ** स्थीयते अनया सा स्थितिः, जगत्पालनेच्छा तया च तद्वति अन्तःकरणसमष्टौ, **हरिमयीं** हरति तत्तत्सुखप्रदानेन दुःखं सर्वस्य इति हरिः, तद्रूपां, तथा **कल्पात् पुरः** कल्प्यते शक्तिः कार्यं च अनेन इति कल्पः, 'सोऽकामयत' इति श्रुत्युक्तः संकल्पः, तस्मात्, **पुरः** पूर्वं, **चिन्मयीं** स्वयम्प्रकाशचिन्मात्रप्रधानां, तथा **जीवे** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासे, प्राणोपाधिके चैतन्ये,

निर्विकल्प आत्मस्वरूप के प्राप्त होते ही न तो कोई शक्ति रहती है तथा न कोई शक्तिमान् (अव्याकृत नामक सबल आत्मा) ही रहता है, जो उस निर्विकल्प अवस्था के आने पर शिव में समरसता (एकता) को प्राप्त हो जाती है, समरसता को प्राप्त हुई उस अद्भुत शक्ति को हम प्रणाम करते हैं।।१३।।

आत्मप्रेमी भावुक लोग जब इस प्रकार शिवशक्तिपराक्रम का विचार करेंगे तब उनके हृदय में स्वभाव से ही सामरस्य (अखण्डानन्द) का समुद्र उमड़ पड़ेगा।।१४।।

भगवद्भक्त में भक्ति के रूप में निवास करनेवाली, मूढ पुरुष में अज्ञान रूप से रहनेवाली, आत्मज्ञानियों में आत्मविद्यारूप में विद्यमान रहती हुई, जगदुत्पत्ति की क्रिया में ब्रह्मा के रूप में प्रकट होनेवाली, जगत् की स्थिति में हरि रूप को धारण

आनन्दानपि संविहाय विषयानन्दानमन्दादराद्
आदानार्थिभिरर्थितानपि जडैरानन्दलेशानमून्।
आनन्दोपनिषत्प्रमाणपठितामानन्दसीमाशिखाम्
आनन्दामृतवाहिनीं भगवतीमानन्दरूपां भजे।।१६।।(२५६)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ शिवशक्तिपराक्रमाख्यं चतुर्थं प्रकरण्।।

वृत्तिमयीं वृत्तयः तत्तद्विषयविषयकवासनाः, तन्मयीं तत्प्रचुरां, तथा **जडे** काष्ठलोष्ठादौ, **जडमयीं** जाड्यप्रचुरां, **शिवस्य** चित्सुखरूपस्य आत्मनः, **अद्भुताम्** आश्चर्यरूपां, **शक्तिं** सर्वकार्यनिर्वाहकसामर्थ्यरूपां, ध्यात्वा इत्याहार्यम्, चिन्तयित्वा, अहं **तां** शक्तिं **परात्** कारणाद् अव्याकृताख्यात् **परतरे** परमधिष्ठानचैतन्यं ततोऽपि पर आद्ये यस्य मिथ्यात्वेन आधारस्यापि तथात्वात् तद्रहिते शुद्धे, **पदे** स्वाभिन्ने ब्रह्मणि, **स्वानन्दलीलामयीं** स्वात्मभूतः य आनन्दः सुखं, सैव लीला अनायासचेष्टा, तन्मयीं तत्प्रधानां, **ध्यायामि** चिन्तयामि, अहं ब्रह्मास्मीति लक्षितलक्ष्यरूपां चिन्तयामि इत्याशयः।।१५।।(२५५)

इदानीं त्याज्यसर्वविषयजन्यानन्दरूपशक्तिस्मरणपूर्वकं परमानन्दरूपत्वेन तां स्मरति **आनन्दानपीति।** अहं शक्तेः तात्त्विकरूपचिन्तकः साधिष्ठानः अन्तःकरणसत्त्ववृत्तिस्थः चिदाभासः **विषयानन्दान्** विषयभोगजन्यसुखानि, **अमन्दादराद्** अतीवादरेण, **आदानार्थिभिः** आदानं विषयभोगजन्यसुखानुभवः तम् अर्थितुं याचितुं शीलं येषां ते तथोक्ताः तैः, **जडैः** मूढैः अज्ञैः इत्यर्थः, **अर्थितान्** ईप्सितान् अपि आनन्दान् विषयजन्यसुखलवान् यद्यपि ते मूर्खानुभवेन आनन्दाः प्रतीयन्ते तथापि ते नानन्दा इत्यर्थः, कुत इत्यत आह **आनन्दलेशानिति, आनन्दलेशान्** आनन्दस्य ते लेशा अंशाः, प्रतिबिम्बानि इत्यर्थः, तान् **अमून्** प्रसिद्धान् अपि, **संविहाय** त्यक्त्वा,

करनेवाली, जगदुत्पादन के संकल्प से प्रथम केवल चैतन्य स्वरूप में रहनेवाली, जीव में उन-उन विषयों की वासना के रूप में विद्यमान रहती हुई, जड काष्ठादि में घोराज्ञानरूप में दृष्टिगोचर होनेवाली, शिव की उस अद्भुत शक्ति के इन संसारी रूपों का ध्यान कर चुकने पर अब मैं उस अद्भुत शक्ति को ध्यान में लाता हूँ, जो कि शक्ति अव्याकृत से परे जो कि अधिष्ठान चैतन्य बताया जाता है, उससे भी परे जो कि शुद्ध निर्विकार परमपद है, उस परमपद में पहुँचकर अपनी आनन्दलीला करने लगती है।।१५।।

ग्रहणार्थी मूर्ख पामर लोग जिन्हें चाहा करते हैं, जो पूर्णानन्द के अति तुच्छ कण हैं, ऐसे इन विषयानन्द नाम के सम्पूर्ण आनन्दों को बड़ी लापरवाही से छोड़ कर ब्रह्मानन्द के स्वरूप को बतानेवाली उपनिषत् में वर्णित, आनन्द की सीमा की परमावधि बनी हुई आनन्दरूप में तन्मय हुई उस भगवती शक्ति का ही भजन करता हूँ।।१६।।

अथ लययोगः

चञ्चलं हि न जानाति मनो निश्चलतासुखम्।
तद्विचिन्तयितुं तस्मै मुनिभिर्दर्शितो लयः।।१।।(२५७)
आख्याताः शम्भुना गौर्यै ह्यसंख्याता लयक्रमाः।
केन ज्ञेयाः केन वर्ण्याः किञ्चित्तु कथयाम्यहम्।।२।।(२५८)

आनन्दोपनिषत्प्रमाणपठिताम् आनन्दस्य प्रतिपादिकोपनिषद् आनन्दोपनिषत् 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति, युवा स्यात् साधुयुवाध्यायकः, आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः, तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्याद्' इत्यादिना मानुषानन्दज्ञानाय मानुषानन्दलक्षणानि प्रतिपाद्य 'स एको मानुष आनन्द' इति मानुषानन्दं लक्षयित्वा 'ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एकः मनुष्यगन्धर्वाणाम् आनन्द' इत्यादिका 'स यश्चायं पुरुषे यश्च असौ आदित्ये स एकः' इत्यन्ता सैव प्रमाणं तस्मिन्, पठितां मानुषानन्दाद् उत्तरोत्तरं शतशतगुणत्वेन प्रतिपादिताम्, **आनन्दसीमाशिखाम्** आनन्दानां मानुषानन्दादि-ब्रह्मानन्दान्तानां, सीमा अवधिः, ब्रह्मानन्दः तस्य शिखावद् ऊर्ध्वं 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इति श्रुत्या उपास्यादित्यतदुपासकपुरुषस्थितानन्दैकत्वेन प्रतिपादित आनन्दः स्थितः तद्रूपाम्, आनन्दमात्रोपलक्षिताम् इत्यर्थः, **आनन्दामृतवाहिनीम्** आनन्दो निरतिशयसुखं स एव अमृतं जगज्जीवकत्वाद् अमृतमिव जलमित्यर्थः, तस्य वाहिनी प्रवहनशीला तां, यथा नदी निरन्तरं जलप्रवाहेन उपलक्षिता तथा अखण्डानन्दविषयकवृत्तिप्रवाहेन उपलक्षितेति आनन्दामृतवाहिनीपदेन सूचितं ज्ञेयम्, वस्तुतस्तु परमानन्दभिन्नत्वाद् **आनन्दरूपाम्** आनंद एव रूपं यस्याः तां, **भगवतीं** षड्गुणैश्वर्यसंपन्नां शक्तिं, **भजे** चिन्तयामि।।१६।।(२५६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे शिवशक्तिपराक्रमार्थप्रकाशः चतुर्थः।।

एवं शिवशक्तिपराक्रमं निरूप्य इदानीं लयभेदप्रकारनिरूपणाय लययोगाख्यं षट्त्रिंशच्छ्लोकं प्रकरणम् आरभते। तत्रादौ लयप्रयोजनमाह **चञ्चलमिति। हि** प्रसिद्धं गीतादौ, तथा च गीता 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्' इति। **चञ्चलम्** अस्थिरं, **मनः** अन्तःकरणं, **निश्चलतासुखं** निश्चलतया स्थैर्येण, यत्सुखं जायते यत् तत् **न जानाति** न वेत्ति, अतो **मुनिभिः** विवेकिभिः, **तत्** सुखं, **विचिन्तयितुम्** अनुभवितुं, **तस्मै** मनःस्थैर्याय, **लयो** लीयते मनः अनेन इति लयः, मनश्चाञ्चल्यनिवर्त्तकः योगभेदः, **दर्शितः** प्रतिपादित इत्यर्थः।।१।।(२५७)

इदानीम् एतत्संप्रदायज्ञापनपूर्वकम् एतस्यानन्ततया संक्षेपनिरूपणं प्रतिजानीते **आख्याता इति।**

इस बेचारे चंचल मन को निश्चलता के सुख का अभी तक कुछ ज्ञान ही नहीं है। उसी निश्चलता को अनुभव कराने के लिये मुनि लोगों ने लययोग का प्रतिपादन किया है।।१।।

निद्रादौ जागरस्यान्ते निद्रान्ते जागरोदये।
लयो भवति चित्तस्य कार्यं तत्रात्मचिन्तनम्।।३।।(२५६)
यदा शिथिलतां याति भारं त्यक्त्वेव भारिकः।
आत्मादरेण कर्त्तव्यं तदैव शिवपूजनम्।।४।।(२६०)

शम्भुना शिवेन, **असंख्याता** न संख्याता, न गणिता इत्यर्थः, **लयक्रमा** लयस्य लययोगस्य, क्रमा भेदा, **गौर्यै** पार्वत्यै, **आख्याता** उपदिष्टाः, सन्तीति शेषः, ते **केन** इदानीन्तनेन पुरुषेण स्वल्पायुर्बुद्धि-बलवीर्यवता, **ज्ञेया** ज्ञातुं शक्या, न केनापि इत्यर्थः, किञ्च **केन** पुरुषेण, **वर्ण्या** वर्णितुं शक्या, न केनापि इत्यर्थः। ननु तर्हि तज्ज्ञानं कथं स्यात् तत्राह **किञ्चिदिति। अहं तु** अहमपि, **किञ्चित्** स्वल्पं, यथा तथा, **कथयामि** वर्णयामि।।२।।(२५८)

एवं लयनिरूपणं प्रतिज्ञाय इदानीं लयस्थाननिदर्शनपूर्वकं लयानन्तरं कार्यमुपदिशति **निद्रादाविति। निद्रादौ** निद्रायाः पूर्वक्षणे, **जागरस्यान्ते** जाग्रतः अन्तक्षणे, तथा **निद्रान्ते** निद्रायाः सुषुप्तेः अन्तक्षणे, **जागरोदये** जागरो जागृतिः, तस्योदये उदयोपलक्षिते काले, निद्राजागरयोः उभयसंधौ इत्यर्थः। **चित्तस्य** अन्तःकरणस्य, **लयो** नाशो, **भवति** जायते, एतत्सर्वानुभवसिद्धम्। **तत्र** तस्मिन् काले, **आत्मचिन्तनं** निर्मनस्कस्थित्युपलक्षितस्य आत्मनः चिन्तनं ध्यानं तत्प्रत्ययावृत्तिरूपं, **कार्यं** कुर्याद् इत्यर्थः।।३।।(२५६)

अन्यदपि लयस्थाने दर्शयति **यदेति। आत्मा** अन्तःकरणोपाधिकः जीवः, **भारं त्यक्त्वा** इव काष्ठादिभारं त्यक्त्वा विसृज्य, शिरस्तो दूरीकृत्य इत्यर्थः, **भारिक इव** भारवाहीव व्यवहाररूपं भारं त्यक्त्वा, **यदा** यस्मिन् काले **शिथिलतां** मनसि व्यवहार-विषयशैथिल्यम्, औदासीन्यम् इत्यर्थः, **याति** प्राप्नोति, **तदा एव** तस्मिन् एव काले, **आदरेण** प्रेम्णा, **शिवपूजनं** शिवस्य प्रत्यगानन्दरूपस्य आत्मनः, पूजनं ध्यानं कर्त्तव्यं कार्यम्।।४।।(२६०)

शिव महाराज ने पार्वती को लययोग के अनगिनत उपाय बताये हैं, हम स्वल्पवीर्यबुद्धि वाले पुरुष उन सबको न तो जान ही सकते हैं और न वर्णन ही कर सकते हैं, मैं तो उनमें से कुछ-एक का वर्णन करूँगा।।२।।

जब कि जागरण समाप्त होता है और निद्रा प्रारम्भ होती है या निद्रा समाप्त होकर जब जाग्रत् अवस्था प्रारम्भ होती है तब चित्त का लय (नाश) हुआ करता है, तब आत्मा का चिन्तन करना चाहिये। (उस समय यह बार-बार चिन्तन करना चाहिये, कि यह जो इस समय मेरी निर्मनस्क अवस्था है यही आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है क्योंकि आत्मा स्वयं निर्व्यापार है, वह तो चित्त के अध्यास के कारण ही सदा व्यापार वाला-सा प्रतीत होता है)।।३।।

सिर के बोझे को उतारकर जैसे बोझा ढोनेवाला हल्का हो जाता है, इसी प्रकार संसार के व्यवहाररूपी बोझे को छोड़कर जब आत्मा संसार की तरफ से शिथिल या उदासीन हो जाय, तब बड़े प्रेम से आत्मा का ध्यान करना चाहिये।।४।।

यदा यदा शिथिलतां याति चित्तं तदा तदा।
चिन्तनीयो महेशानस्तदेव शिवपूजनम्।।५।।(२६१)
सर्वेष्टानिष्टभावानाम् इष्टत्वेनैव भावनात्।
नीरागद्वेषता चित्ते या सैव शिवपूजनम्।।६।।(२६२)
पीडैव परमा पूजा यथा चरणपीडनम्।
दुःखमेव परा पूजा रूक्षमुद्वर्त्तनं यथा।।७।।(२६३)

उक्तलयस्थानाभ्याम् अन्येषु अपि लयस्थानेषु आत्मध्यानादरो विधेय इत्याह **यदा यदेति। चित्तम्** अन्तःकरणं, **यदा यदा** यस्मिन् यस्मिन् काले, **शिथिलताम्** उदासीनवत्तां, **याति** प्राप्नोति, **तदा तदा** तस्मिंस्तस्मिन् काले, **महेशानः** परमेश्वरः, **चिन्तनीय** ध्येयः, **तदेव** ध्यानमेव, **शिवपूजनं** शिवस्य आत्मनः, पूजनं ध्यानरूपा पूजा, भवतीति शेषः।।५।।(२६१)

इदानीं सर्वेषु अपि कालेषु लयोपायकथनपूर्वकं ध्यानं विधत्ते **सर्वेति। सर्वेष्टानिष्टभावानां** सर्वे च ते इष्टाश्च अनिष्टाश्च ये भावाः पदार्थाः तेषाम् **इष्टत्वेनैव** प्रीतिविषयत्वेनापि, **भावनात्** चिन्तनात्, **चित्ते** मनसि, **नीरागद्वेषता** रागद्वेषरहितत्वं, या उदेति **सैव शिवपूजनं** शिवस्य सुखरूपस्य आत्मनः, पूजनं पूजा ज्ञेया।।६।।(२६२)

तामेव भावनाम् उदाहृत्य दर्शयति पीडैव इत्यादिभिः **पीडेति। पीडैव** दुःखमेव, एव अप्यर्थः। हि प्रसिद्धं सर्वजनेषु, **परमा** श्रेष्ठा, **पूजा** पूजनं भवति, ननु दुःखस्य परमप्रसादकारणपूजात्वं कथमित्याशंक्य दृष्टान्तेन तत् तत्र सम्भावयति **यथेति। यथा** यद्वत् **चरणपीडनं** चरणयोः अंघ्र्योः, पीडनं मर्दनं, तत् दुःखरूपमपि सुखहेतुत्वाद् यथा सुखं भवति, तथा दुःखमपि स्वनाशेन सुखपर्यवसायित्वात् पुण्यवासनाजनकत्वाच्च पुण्यक्रियया च सुखफलत्वेन सुखरूपत्वाच्च पूजैव इति भावः। एवं सुखकारणतः दुःखस्य सुखरूपत्वं प्रदर्श्य स्वरूपतोऽपि तदाह **दुःखमेवेति। दुःखमेव** स्वतो दुःखं, पीडापि, **परा** श्रेष्ठा, **पूजा** पूजनम्, आत्मनो भवति। ननु दुःखस्य चित्तमालिन्यकारणत्वप्रसिद्धेः कथं चित्तप्रसादहेतुपूजात्वं? तत्राह **रूक्षमिति। यथा** यद्वद्, **रूक्षं** शुष्कम्, आमलकचणकादिचूर्णादिना कृतम्, **उद्वर्त्तनं** मलनिवर्त्तकं, शरीराभ्यञ्जनं तद् यथा दुःखरूपमपि मलापकर्षणेन शरीरकान्त्यभिव्यञ्जकत्वात् सुखं भवति, तथा दुःखमपि स्वभोगेन पापरूपमलनिवर्त्तकत्वाद् अन्तःकरणप्रसादहेतुत्वेन पूजैव सेति भावः।।७।।(२६३)

अकस्मात् भी जिस-जिस समय तुम्हारा चित्त शिथिल हो (जब-जब चित्त में संसार से घृणा होने लगे) उसी समय परमेश्वर का चिन्तन करना चाहिये, इसी को 'शिवपूजा' या आत्मचिन्तन कहा है।।५।।

संसार के सम्पूर्ण इष्टानिष्ट पदार्थों को केवल इष्टरूप समझने से जो रागद्वेष-राहित्य की अवस्था का उदय होता है उसे ही सुखरूप 'आत्मा की पूजा' समझनी चाहिये।।६।।

खेद एव परा पूजा खेदे चिति मनोलयः।
भयं हि परमा पूजा 'भीषाऽस्माद्' इति च श्रुतेः।।८।।(२६४)

ननु दुःखाविर्भावे खेदः जायते मनसि इत्याशंक्याह **खेद इति। खेदः** चित्तवैक्लव्यं स एव सः अपि इत्यर्थः, **परा** श्रेष्ठा, **पूजा** अर्चा, जायते। ननु खेदस्य कथं पूजात्वं? तत्राह **खेद इति। खेदे** वैक्लव्ये सति, **चिति** चैतन्ये, **मनोलयः** मनसः अन्तःकरणस्य, लयः नाशः, भवति, चितः सर्वाधिष्ठानत्वेन खेदे च मनोलयस्य अधिष्ठानमात्रपरिशेषात् पूजात्वमिति भावः। ननु खेदाद् भयं भवति इत्याशंक्याह **भयमिति। हि** प्रसिद्धं च एतद् विद्वत्सु, **भयं** भीतिः, पुण्यकर्मणि प्रवर्त्तकत्वाद् भयहेतुत्वेन प्रसिद्धात्मानुसन्धायकत्वाच्च, **परमा पूजा** श्रेष्ठा पूजा भवति, ननु भयस्य पुण्यकर्मणि प्रवर्त्तकत्वम्, आत्मानुसन्धायकत्वं च कुतो ज्ञातम् तत्राह **भीषेति। हि** उपनिषत्सु प्रसिद्धाया **भीषास्मादिति च** 'भीषास्माद्' इत्यादिकायाः **श्रुतेः** वेदवाक्यतो ज्ञातमित्यर्थः।।८।।(२६४)

जिस प्रकार चरणसंवाहन (पैर दबाना) देखने में कुछ कष्टकारक होता हुआ भी परिणाम में सुखकारक होता है, इसी प्रकार पीडा को ही श्रेष्ठ पूजा समझना चाहिये (क्योंकि भोग द्वारा नष्ट होती हुई पीडा पुण्य करने के विचार को उत्पन्न किया करती है, उससे मनुष्य की पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति होती है और सुख मिल जाता है। जब कि भोग द्वारा वह पीडा नष्ट हो चुकती है तब तो सुखरूप हो ही जाती है, इस प्रकार ऐसे सुखदायक [पीडारूपी] मित्र से कभी भी घबराना उचित नहीं, प्रत्युत ऐसे दुःखों का स्वागत करना चाहिये)। जिस प्रकार कि आँवले और चने आदि के चूर्ण से शरीर का उबटन किया जाता है, वह देखने में दुःखरूप है परन्तु उससे शरीर का मैल दूर होता है और कान्ति बढ़ती है, इसी प्रकार दुःख से भी पापरूपी मल भोगद्वारा निवृत्त होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। यों सुख का कारण तथा स्वयं सुखस्वरूप सिद्ध होने से दुःख को भी 'आत्मपूजा' ही समझना चाहिये।।७।।

खेद भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि खेद के समय हमारा मन चैतन्य में लीन हो जाता है। भय भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि श्रुति ने भय का कारण आत्मा को ही बताया है।

जब किसी कार्य को करते-करते हमारे चित्त में खेद, भय किंवा विकलता उत्पन्न हो जाये और हम सहसा उस काम से ऊब उठें उस समय हम निर्विकल्प स्थिति में गये होते हैं। तब हमको आत्मचिन्तन करना चाहिये, क्योंकि ये भयादि तो हमको उस कुमार्ग से हटाने के लिये अन्तर्यामी की प्रेरणा है। जब हम इस खेद या भय के कारण को ढूँढने लगते हैं, तब हम उस खेदकारक और भयदायक आत्मा तक पहुँच जाते हैं, इसलिये खेद किंवा भय को 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये। खेद या भय के आते

दानं तु परमा पूजा दीयते परमात्मने।
अदानं परमा पूजा यदि चित्तं प्रसीदति।।९।।(२६५)
रोगा एव परा पूजा रोगैः पापक्षयो यतः।
आरोग्यं परमा पूजा नैरोग्यं मुक्तिसाधनम्।।१०।।(२६६)

दानस्यापि पूजात्वमाह **दानमिति। दानं तु** स्वस्वीयत्वनिवृत्तिपूर्वकं पदार्थे परस्वीयत्वप्रतिपादनम् इति उक्तलक्षणं दानमपि, अन्तःकरणशोधकत्वात् प्रसादहेतुत्वाच्च **परमा पूजा** भवति। ननु दानस्य कथं पूजात्वं? तत्राह **दीयते इति।** यद् **दीयते** दानं क्रियते तत्, **परमात्मने** कार्यकारणातीतायात्मने, 'नान्योतोस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन् कर्त्तृत्वनिषेधेन प्रसादहेतुत्वात् प्रतिग्रहीतुरपि पृथग् असत्त्वेन दानस्य परमात्मार्थत्वाच्च दानस्य पूजात्वं सिद्धमेव इति भावः। ननु तर्हि अदानं निषिद्धं स्यात् तत्र मे मनसः स्वाभाविकी प्रवृत्तिः, तत्र किं कर्त्तव्यम्? इत्याशंक्याह **अदानमिति। अदानं** दानविरोधिप्रतिग्रहः करग्रहो वा लोभेन दानाभावो वा, **परमा पूजा** भवति, ननु अदानस्य कथं पूजात्वं? तत्राह **यदीति। चित्तम्** अन्तःकरणम्, अदाने **यदि** यर्हि, **प्रसीदति** प्रसन्नं भवति, तर्हि पूजा स्याद् इत्यर्थः, पूजादिसर्वकर्मणः चित्तप्रसादार्थत्वाद् अतः अदानं चित्तप्रसादे सति पूजैव इति भावः।।९।।(२६५)

इदानीं रोगेषु अपि पूजात्वं सम्भावयति **रोगा इति। रोगा एव** व्याधयः अपि, **परा पूजा** भवति। ननु रोगेषु कुतः पूजात्वं? तत्राह **रोगैरिति। यतः** यस्मात् कारणात्, **रोगैः** व्याधिभिः, **पापक्षयः** पापानां किल्विषाणां, क्षयो नाशो, भवति, पूजायाः पापक्षयकारणत्वप्रसिद्धेः रोगाणामपि तथात्वात् पूजात्वं सम्भाव्यमिति भावः। आरोग्ये तु प्रसिद्धं पूजात्वं दर्शयति **आरोग्यमिति।** निर्गता रोगा यस्मात् स नीरोगः, तस्य भावो **नैरोग्यं** रोगराहित्यम्, **मुक्तिसाधनं** मुक्तेः मोक्षस्य, साधनं सर्वसाधनेषु श्रवणमनननादिषु उपयोगित्वेन उपचारात् साधनमित्यर्थः, अतः पूजायाः मुक्तिफलत्वाद् **आरोग्यं** रोगराहित्यं, **परमा पूजा** भवति।।१०।।(२६६)

ही हमारा मन चेतना में लीन हो जाता है, उस निर्विकल्प अवस्था में हम कुछ भी नहीं सोच पाते। मूर्ख लोग उस समय किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुषों को इसका रहस्य आत्मरूप में प्रकट हो जाना चाहिये। बुद्धिमान् लोग उस समय सब काम छोड़कर 'आत्मपूजन' करने के लिये उद्यत हों।।८।।

(दान से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। तथा आत्मा प्रसन्न हो जाता है अतः) दान भी आत्मदेव की पूजा ही है क्योंकि जो कुछ भी किसी को दिया जाता है वह साक्षात् परमात्मा को ही दिया जाता है। (यह तो भ्रान्त विचार है कि हम किसी दूसरे को देते हैं, असल में तो हम अपने आपको ही देते हैं, यदि उस समय हम किसी को न दें, तो हमारे अन्दर बेचैनी हो जाती है, जिससे देने पर ही छुटकारा होता है, यों हम आत्मा को ही देते हैं। आत्मा को देने का एक यह भी कारण है कि उससे पृथक् तो

क्रिया तु परमा पूजा शिवार्थं क्रियतेऽखिलम्।
अक्रियैव परा पूजा निश्चला ध्यानरूपिणी।।११।।(२६७)

कर्मण्यपि तद् दर्शयति **क्रियेति। क्रिया तु** क्रियते सा क्रियापि, **परमा पूजा** भवति। कुत इत्यत आह **अखिलं** सर्वं, यत् **क्रियते,** तत् **शिवार्थं** शिव आत्मा तदर्थमेव, अत्र बृहदारण्यकीयाश्रुतिरपि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादिः। वृद्धा अप्याहुः

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।।इति

अतः सर्वक्रियाया आत्मार्थत्वात् पूजात्वमिति भावः। ननु क्रियायाः पूजात्वम् अस्तु मम तु सा नैव रोचते? तत्राह **अक्रियते। अक्रियैव** क्रियात्यागोऽपि **परा पूजा** भवति। ननु अक्रियायां प्रत्यवायसत्त्वात् कथं पूजात्वं सम्भाव्यं? तत्राह **निश्चलेति। निश्चला** चाञ्चल्यहीना; हेतुगर्भं विशेषणं, निश्चलत्वादेव, **ध्यानरूपिणी** ध्यानं चिन्तनम् एव रूपं यस्याः सा तथोक्ता, त्रिपुटीराहित्यमेव आत्मनो ध्यानम् इति अक्रियायाः ध्यानत्वम् इति भावः।।११।।(२६७)

अन्य कोई दान को देने किं वा ग्रहण करनेवाला ही इस संसार में नहीं होता। यों जब अपने कर्तृत्व की बाधा कर दी जायगी तथा प्रतिग्रहीता का भी कहीं पता न चलेगा तो ऐसा सात्त्विक दान साक्षात् परमात्मा तक पहुँचकर 'आत्मपूजन' हो जायगा)। इसी प्रकार यदि किसी अनधिकारी को दान न देने से ही तुम्हारे अन्तःकरण में प्रसन्नता का अनुभव होता हो तो तुम उस अदान को भी आत्मपूजन ही समझ लो।।९।।

जब हमारे शरीर में कोई रोग हो जाता है तो उससे (भोग के द्वारा) हमारे पापों का क्षय हो जाता है इसलिये रोग भी 'आत्मपूजन' ही है (संसार के लोग रोगी हो जाने पर ही परमात्मा को याद किया करते हैं)। इसी प्रकार आरोग्य को भी 'परमपूजन' ही समझना चाहिये। क्योंकि नीरोग शरीर से ही मुक्ति के (श्रवणमननादि) साधनों का उपार्जन होता है।।१०।।

क्रिया को भी 'परमपूजा' ही समझना चाहिये क्योंकि जो भी कुछ किया जाता है वह सब अपने आत्मशिव की तृप्ति के लिये ही किया जाता है (इसी अभिप्राय से 'बृहदारण्यक' में कहा गया है कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इस आत्मशिव की इच्छा का साधन होने से ही सब कुछ प्रिय हो जाता है। वृद्ध लोगों ने भी कहा है कि'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्' हे शम्भो! मैं जो भी कुछ

सत्संगः परमा पूजा सत्संगो मोक्षसाधनम्।
असत्संगः परा पूजा यत्र मोहः परीक्ष्यते।।१२।।(२६८)
धैर्यं तु परमा पूजा धीरो ह्यमृतमश्नुते।
अधैर्यं परमा पूजा शीघ्रं कार्यविमोक्षतः।।१३।।(२६९)

सत्सङ्गे अपि तद् दर्शयति **सत्संग इति। सत्संगः** सतां जीवन्मुक्तानां, संगः **परमा पूजा** भवति। सत्संगस्य कथं पूजात्वं तत्राह **सत्संग इति। सत्संगः** सतां ज्ञानिनां संगः सत्संगः, **मोक्षसाधनं** मुक्तेः मोक्षस्य, साधनं कारणं भवति, मोक्षकारणत्वेन सत्संगस्य विधीयमानत्वात् शास्त्रेषु मोक्षकारणत्वं सत्संगस्य प्रसिद्धमेव इति भावः। ननु सत्संगस्य मुक्तिसाधनत्वाद् अस्तु तद्, असत्संगे तु तदभावात् तदभावः, मम तु तत्रैव रुचिः भवति किं कर्त्तव्यम्? इत्याशंक्याह **असत्संग इति। असत्संगः** असतां विषयिणां दुष्टानां च, संगः संयोगः, सोऽपि, **परा पूजा** भवति। असत्संगस्य कथं पूजात्वं? तत्राह **यत्र इति। यत्र** असत्संगे, **मोहः** अज्ञानं, **परीक्ष्यते** ज्ञायते, दुःसंगनिकषं विना मोहहेम्नः शेषपरीक्षा न स्याद् इति भावः।।१२।।(२६८)

इदानीं धैर्येऽपि तत् सम्भावयति **धैर्यं तु इति। धैर्यं तु** धीरत्वमपि, **परमा पूजा** भवति, कुत इत्यत आह **हि** यस्मात् कारणात्, **धीरः** प्राप्तेषु अपि सुखदुःखेषु क्षोभहीनः पुरुषः, **अमृतं** मोक्षम्, **अश्नुते** प्राप्नोति। ननु तर्हि अधैर्यस्य मुक्तिहेतुत्वाभावात् न पूजात्वम् इत्याशंक्य तत्रापि तत् सम्भावयति **अधैर्यमिति। अधैर्यं** कस्मिंश्चिदपि कार्ये सत्वरं प्रवृत्तिः, तदपि **परमा पूजा** भवति। कुत इत्यत आह **शीघ्रमिति। शीघ्रं** सत्वरं यथा स्यात् तथा, **कार्यविमोक्षतः** कार्यात् कर्तव्याद्, विमोक्षः निवृत्तिः, तस्मात्। कार्यम् अकृत्वा हृदि रुद्धचित्तेन मलिने अन्तःकरणे श्रवणादि सम्यक् न स्याद् इति अधैर्येण कृते तस्मिंस्तावन्मात्रमलनिवृत्तेः अधैर्येऽपि पूजात्वमिति भावः।।१३।।(२६९)

करता हूँ वह सभी कुछ तुम्हारा आराधन ही तो है)। यदि क्रियाओं को त्याग दिया जाय और निश्चल ध्यानावस्था का उदय हो जाय तो वह भी 'आत्मपूजन' ही है (क्योंकि उस क्रियात्याग में आत्मस्थिति को भंग करनेवाली चंचलता नहीं होती। इसी कारण से वह क्रियात्याग भी चिन्तनरूप हो जाता है)।।११।।

सत् अर्थात् जीवन्मुक्त लोगों का संग करना भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि उससे मोक्षमार्गों का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार असत्संग को भी 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये क्योंकि वहाँ अपने शेष रहे अज्ञान की परीक्षा हो जाती है। (जब वे लोग अपने साथ कोई बुरा बर्ताव करते हैं तब यदि हममें कुछ अज्ञान शेष रहा होता है तो हम भी उनकी तरह कटुभाषणादि व्यवहार करने पर उतारू हो जाते हैं, इस प्रकार हमारे मोह की परीक्षा हो जाती है)।।१२।।

स्तुतिरेव परा पूजा स्तुतौ देवः प्रसीदति।
निन्देव परमा पूजा सुहृदां गालयो यथा।।१४।।(२७०)
तृष्णैव परमा पूजा देवार्थं बहु कांक्षते।
सन्तोषः परमा पूजा देवः सन्तोषलक्षणः।।१५।।(२७१)

स्तुतौ प्रसिद्धं तद् दर्शयति **स्तुतिरिति। स्तुतिरेव** स्तुतिः स्तवनमपि, **परा पूजा** भवति, कुतः तदाह **स्तुतौ इति। स्तुतौ** स्तुतौ कृतायां सत्यां, **देव** आत्मा, **प्रसीदति** प्रसन्नो भवति, इति प्रसिद्धम् आबालगोपमिति भावः। ननु तर्हि सा निंदायां न स्याद् इत्याशंक्याह **निन्देति। निन्दैव** गर्हापि, **परमा पूजा** भवति, ननु निन्दाया असन्तोषकारणत्वं स्पष्टम् अतः कथं सन्तोषकारणभूतपूजात्वं तस्याम् इत्याशंक्य, दृष्टान्तेन तत् तस्यां सम्भावयति **सुहृदामिति। यथा** यद्वत्, **सुहृदां** सम्बन्धिनां श्यालादीनां, **गालयो** निन्दारूपा अपि सन्तोषकारणानि भवन्ति इत्यर्थः, तद्वत् निन्दापि भावनया सुखहेतुरपि भवतीति भावः।।१४।।(२७०)

इदानीं तृष्णायामपि पूजात्वं सम्भावयति **तृष्णैव इति। तृष्णैव** तृष्णापि, **परमा पूजा** भवति, कुत इत्यत आह **देवार्थमिति।** यद् इति अध्याहार्यं, यद् **बहु** अधिकं द्रव्यादि, **कांक्षते** इच्छति, तद् **देवार्थं** देव आत्मा, तदर्थं तत्प्रयोजनाय इत्यर्थः, 'नान्योऽतोस्ति' इत्यादिश्रुत्या आत्मनः व्यतिरिक्तभोक्तृत्वस्य प्रतिषेधनात् तदर्थविषयतृष्णाया अपि पूजात्वम् इति भावः। सन्तोषे तु तत् प्रसिद्धमेव इति आह **सन्तोष इति। सन्तोषः** निरिच्छत्वं, वैतृष्ण्यम् इत्यर्थः, **परमा पूजा** भवति, कुत इत्यत आह **देव इति। देवः** चैतन्यस्वरूपः आत्मा, **सन्तोषलक्षणः** सन्तोषः वैतृष्ण्यमेव, लक्षणं चिह्नं यस्य स तथाभूतः। अतः सन्तोषस्यापि पूजात्वम् इति भावः।।१५।।(२७१)

(सुख दुःखों से क्षुब्ध न होनेवाला) धीर पुरुष ही मोक्ष पाता है इसलिये धैर्य भी 'आत्मपूजन' ही है। इसी प्रकार अधैर्य भी आत्मपूजन हो जाता है क्योंकि (संसार के कामों से घबराकर जब कोई अधिकारी अधीरता से झटपट सब कामों को टूटा-फूटा समाप्त करके किंवा अधूरा ही छोड़कर श्रवणादि उपाय कर लेता है तो) उससे शीघ्र ही सब कामों से छुट्टी मिल जाती है, और उसे आत्मदर्शन हो जाता है।।१३।।

आत्मस्तुति को भी आत्मपूजन ही समझना चाहिये क्योंकि अपनी बड़ाई सुनकर सबका ही देव (आत्मा) प्रसन्न हो जाता (किंवा निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेता) है। इसी प्रकार आत्मनिन्दा को भी (अपनी भावना के बल से) 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये। (जैसे कि लोक में अपने श्याल आदि सम्बन्धियों की दुःखदायक गालियों को भी लोग सुखदायक समझने लगते हैं इसी प्रकार भावना से निन्दा भी सुखदायक हो सकती है)।।१४।।

विषयतृष्णा को भी 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये क्योंकि विषयी मनुष्य भी तो अपने आत्मदेव (को ही किसी न किसी प्रकार तृप्त करने) के लिये तृष्णा के आवर्त में फँसा है। इसी प्रकार सन्तोष भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि वितृष्णता किंवा सन्तोष ही आत्मदेव का सच्चा स्वरूप कहा जाता है।।१५।।

यात्रा हि परमा पूजा देवस्यैतत्प्रदक्षिणम्।
आसनं परमा पूजा स्वासनं योग उत्तमः।।१६।।(२७२)
भोजनं परमा पूजा देवनैवेद्यरूपतः।
अभोजनं परा पूजा ह्युपवासप्रियो हरिः।।१७।।(२७३)

गमनेऽपि तद् दर्शयति **यात्रेति। यात्रा हि** गमनमपि, **परमा पूजा** भवति, केन रूपेण इत्यत आह **देवस्येति। एतद्** गमनं, **देवस्य** आत्मनः, **प्रदक्षिणं** प्रदक्षिणारूपं भवति। ननु यस्य गमनेऽपि अरुचिः तस्य तदभावात् सा न स्याद् इत्याशंक्य तत्रापि तत् सम्भावयति **आसनमिति। आसनम्** आस्यते स्थीयते अस्मिन् इति आसनं स्थिरत्वं तदपि, **परमा पूजा** भवति, कुत इत्यत आह **स्वासनमिति। स्वासनं** सुष्ठु आसनं स्थैर्यम्, **उत्तमः** श्रेष्ठो, **योगो** धारणाविशेष एव ज्ञेयः, अतः पूजैव तदिति भावः।।१६।।(२७२)

भोजनेऽपि तत् सम्भावयति **भोजनमिति। भोजनं** भुज्यते तद्भोजनम् आहारः, तदपि **परमा पूजा** भवति। कुतो भोजनस्य पूजात्वं तत्राह **देवेति। देवनैवेद्यरूपतो** देवश्चिदात्मनोऽभिन्नो भोक्ता तस्य नैवेद्यो निवेदनं समर्पणम् इत्यर्थः, स एव रूपं यस्य तस्माद्। इदानीम् अभोजनेऽपि तत् सम्भावयति **अभोजनमिति। अभोजनम्** अनाहारः, **परा पूजा** भवति। अभोजने कुतः पूजात्वं तत्राह **हीति। हि** यस्मात् कारणाद्, **हरिः** सर्वदुःखहरणशीलः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **उपवासप्रिय** उपवास एव तस्य पूजा इति भावः।।१७।।(२७३)

(आत्मा सर्वव्यापक है इसलिये) अपने चलने को भगवान् की प्रदक्षिणा समझ कर 'आत्मपूजन' समझो। अपने आसन अर्थात् बैठे रहने को भी 'आत्मपूजन' ही समझो क्योंकि स्वरूप में आसन लगा देना ही तो उत्तम 'योग' कहाता है।।१६।।

आत्मदेव का नैवेद्य होने से भोजन भी 'परमपूजा' ही है और अभोजन भी 'परा पूजा' ही है क्योंकि हरि को उपवास प्यारा है। (यह हमारा आत्मदेव ही एक सत्य अग्नि है, उसमें हम सदा भोजनरूपी नैवेद्य का होम किया करते हैं, ऐसी भावना से भोजन को भी 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये। इसी प्रकार अभोजन किंवा उपवास भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि संसार में भोजन की इतनी विपुल सामग्री उत्पन्न करके भी इस आत्महरि ने किसी पदार्थ का भोजन न करने का ही दृढ निश्चय कर रक्खा है। वह अनादिकाल से लेकर अनन्त काल तक के लिये उपवास किये बैठा है, सदा ही उपवास में रहने का उस आत्मदेव का स्वभाव हो गया है)।।१७।।

स्थिति भी परमात्मा का उपस्थानरूप होने से 'आत्मपूजन' ही है (जब हम चलते-चलते थक कर कुछ काल के लिये स्थित हो जाते हैं तथा कुछ काल के लिये निर्विकल्प दशा में पहुँचते हैं तो उस समय हम निश्चल परमात्मा के समीप हो जाते हैं ऐसी

स्थितत्वं परमा पूजा तदुपस्थानमात्मनः ।
पतनं परमा पूजा नमस्कारस्वरूपिणी । ।१८ । ।(२७४)
भाषणं परमा पूजा सर्वं स्तुतिमयं हरेः ।
मौनं तु परमा पूजा मौनं व्याख्यानमस्य तत् । ।१९ । ।(२७५)

स्थितौ अपि पूजात्वं सम्भावयति **स्थितत्वमिति। स्थितत्वं** स्थितं स्थानं तस्य भावः तत्त्वं, तदेव, **परमा पूजा** भवति। ननु स्थितौ कथं पूजात्वं तत्राह **तदिति। तदुपस्थानमात्मनः** प्रत्यगात्मनः प्रकाश्यरूपेण समीपत्वाद् उपस्थानरूपं भवति। इदानीं पतनेऽपि तत् सम्भावयति **पतनमिति। पतनं** भूमौ स्वस्य निपातः, **परमा पूजा** भवति। पतने कथं पूजात्वं तत्राह **नमस्कारेति। नमस्कारस्वरूपिणी** नमस्कारः नमनक्रिया एव स्वरूपं यस्याः सा तथोक्ता, पूजायां भूमौ निपात एव नमस्कार इति सार्वजनीनप्रसिद्धिः इति भावः । ।१८ । ।(२७४)

भाषणेऽपि तत् सम्भावयति **भाषणमिति। भाषणं** लौकिकं वैदिकं च सर्ववचनमपि, **परमा पूजा** भवति, ननु भाषणे स्तुतिनिन्दयोः सत्त्वात् सर्वभाषणे कथं पूजात्वं? तत्राह **सर्वमिति। हरेः** सर्वद्वैतहरणशीलस्य, तस्मिन् सर्वस्य समत्वात् **सर्वं** भाषणं, **स्तुतिमयं** स्तुतिप्रधानं भवति। यद्वा तस्यैव ईश्वरत्वाद् ईश्वरे च धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याख्याष्टशक्तिसत्त्वात् सर्वशब्दैः ईश्वरत्ववर्णनलक्षणं स्तोत्रमेव सर्वभाषणमित्यर्थः। यद्वा साकारे विष्णौ सर्वकार्यनिर्वाहात् सर्वकार्यनिर्वाहत्वस्य सर्वशब्दप्रतिपाद्यत्वात् सर्वभाषणस्य स्तुतित्वम् इत्यर्थः। यद्वा अहमवच्छिन्ने चिदात्मनि सर्वभाषणस्य स्वेष्टसंपादकत्वेन स्तुतिमयत्वम् इत्यर्थः। मौनेऽपि तत् सम्भावयति **मौनमिति। मौनं तु** मौनं लोकप्रसिद्धं वागुरोधनरूपमपि, **परमा पूजा** भवति। मौने कथं पूजात्वं? तत्राह **मौनमिति।** यत् **मौनम्** असम्भाषणं, **तद्,** आत्मदेवस्य **अस्य, व्याख्यानं** प्रतिपादनं भवति, 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'यद्वाचानभ्युदितम्' 'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादिश्रुतिभ्यः वागविषयत्वनिषेधात्, 'त्रैगुण्यविषया वेदा' इति गीतायामपि वेदानां त्रिगुणविषयत्वप्रतिपादनाच्च मौनस्य आत्मशिवरूपप्रतिपादनेन स्तुतिरूपत्वात् पूजात्वं सम्भाव्यम् इति भावः । ।१९ । ।(२७५)

भावना को नमस्कार समझकर उसे भी 'आत्मपूजन' ही समझ लेना चाहिये)। पतन अर्थात् कहीं गिर पड़ना भी 'आत्मा की पूजा' ही है क्योंकि पतन तो एक प्रकार का नमस्कार है। ।१८ । ।

भाषण अर्थात् कुछ भी बोलना आत्मा की 'परमपूजा' है (जिससे आत्मा सन्तुष्ट हो वही आत्मा की स्तुति है। संसार के लोग गाली आदि तक देकर भी अपने आत्मदेव को सन्तुष्ट किया करते हैं इसलिये) तत्त्वविचार करने पर इस जगत् का सम्पूर्ण वाग्व्यवहार आत्महरि का पूजन ही है। मौन भी आत्मा का पूजन ही है क्योंकि मौन ही आत्मा का सम्पूर्ण व्याख्यान है (आत्मरूपी बालक को यदि कभी उत्पन्न हुआ माना

चेष्टैव परमा पूजा चेष्टते तत्प्रकाशतः।
अचेष्टा हि परा पूजा जोषमास्वेति वेदवाक्।।२०।।(२७६)
जन्मैव परमा पूजा सोऽवतारो हरेः सतः।
जीवनं परमा पूजा जीवन् कार्याणि साधयेत्।।२१।।(२७७)
दीर्घायुः परमा पूजा योगिनो दीर्घजीविनः।
स्वल्पायुः परमा पूजा सद्यो ह्यस्माद्विमुच्यते।।२२।।(२७८)

इदानीं मनोबुद्धीन्द्रियचेष्टासु तत् दर्शयति **चेष्टैव इति। चैष्टैव** मनोबुद्धीन्द्रियाणां व्यापारः अपि, **परमा पूजा** भवति, **हि** यस्मात् कारणात्, **तत्प्रकाशतः** तस्य शिवस्य, प्रकाशतः प्रकाशात्, **चेष्टते** व्यापृणोति, सर्वचेष्टाप्रकाशनलक्षणेन लक्षकत्वात् चेष्टायामपि पूजात्वं सम्भाव्यमिति भावः। चेष्टाभावेऽपि तत् सम्भावयति **अचेष्टेति। अचेष्टा** तूर्ष्णीं स्थितिः सापि, **परमा पूजा** भवति, ननु अचेष्टायां कथं पूजात्वं सम्भाव्यं तत्राह **जोषमिति। जोषं** तूर्ष्णीं यथा तथा, **आस्व** भव इति, एवं **वेदवाक्** वेदवचनमस्ति, देवस्य आज्ञारूपत्वाद् वेदस्य **इति** तदाज्ञांगीकारवत्त्वाद् एव अचेष्टायां पूजात्वम् इति भावः।।२०।।(२७६)

जन्मैवेति। जन्मैव जननमपि, **परमा पूजा** भवति। जन्मनः कथं पूजात्वं तत्राह **स** इति। **सतः** सद्रूपस्य, **हरेः** सर्वद्वैतहरणशीलस्य, **अवतारः** विभूतिः ज्ञेयः, जन्माभावे निराकारस्य पूजा न सम्भवति अतः पूजायाम् उपयोगाद् जन्मनः पूजात्वमिति भावः। जीवनेऽपि तत् दर्शयति **जीवनमिति। जीवनम्** आयुः, **परमा पूजा** भवति। कथम् इत्यत आह **जीवन्निति। जीवन्** सन् पुरुषः, **कार्याणि** कर्त्तव्यानि श्रवणकीर्तनादीनि, **साधयेत्** सम्पादयेत्, सर्वकार्यसाधनोपयोगित्वाद् जीवनस्यापि पूजात्वमिति भावः।।२१।।(२७७)

जाये और उसका नामकरण किया जाये तो मौन ही इस आत्मा का राशिनाम होता है। श्रुति में भी कहा है 'यतो वाचो निवर्तन्ते' जहाँ से वाणी और मन, उसका वर्णन करने में असमर्थ होने के कारण चुपचाप लौट आते हैं अर्थात् वर्णन करने का असामर्थ्य ही आत्मदर्शन का शुभ लक्षण होता है। इसीलिये श्रुति ने उसे निषेधमुख से 'नेति नेति' करके वर्णन किया है)।।१९।।

मन बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि की ये सब चेष्टायें उस प्रकाश-स्वरूप आत्मा की कृपा से ही हो रही हैं। इस प्रकार ये सब चेष्टायें आत्मदेव की एक प्रकार की पूजा ही है। इसी प्रकार चुपचाप निर्व्यापार होकर बैठे रहना भी 'आत्मपूजा' ही है क्योंकि वेद में आत्म-दर्शन के लिये चुप रहने का विधान है।।२०।।

जन्म भी 'आत्मपूजन' ही है। वह ज़न्म हरि की एक विभूति है (क्योंकि जन्म के बिना उस निराकार का पूजन ही कैसे होता!) इस प्रकार पूजोपयोगी होने से यह जन्म भी 'आत्मपूजन' है। इसी प्रकार जीवन भी 'आत्मपूजन' ही कहाता है क्योंकि जीवन काल में ही (आत्म-दर्शन के लिये श्रवण आदि) कार्य किये जा सकते हैं।।२१।।

मरणं परमा पूजा निर्माल्यत्यागरूपिणी।
शोको हि परमा पूजा शोको वैराग्यसाधनम्।।२३।।(२७६)
हर्ष एव परा पूजा हृष्टरूपः सदा हरिः।
पुष्टिस्तु परमा पूजा स्वस्थचित्तो हि पुष्टिमान्।।२४।।(२८०)

दीर्घायुषि अपि तत् दर्शयति **दीर्घायुरिति। दीर्घायुः** दीर्घं चिरकालं वर्त्तमानम् आयुः आयुष्यं, **परमा पूजा** भवति। ननु दीर्घायुषि कथं पूजात्वं तत्राह **योगिन इति। योगिनः** योगाभ्यासिनो, **दीर्घजीविनः** चिरजीवनवन्तो भवन्ति, योगदार्ढ्यसाधनोपयोगाद् योगिनः तद्योगेन साधयन्ति तत्त्वतः सिद्धं दीर्घायुः परमा पूजा एव श्रवणाद्युपयोगेन इति भावः। तर्हि स्वल्पायुषि तदसम्भवः अस्तु इति तत्राह **स्वल्पायुरिति। स्वल्पायुः** स्वल्पं च अचिरम्, आयुश्च जीवनं, तत् परमा पूजा भवति। **हि** यस्मात् कारणाद्, **अस्मात्** संसारदुःखात्, **सद्यः** शीघ्रं, **विमुच्यते** मुक्तो भवति, शीघ्रं संसारदुःखमोचकत्वात् स्वल्पायुषि पूजात्वमिति भावः।।२२।।(२७८)

मरणेऽपि तत् सम्भावयति **मरणमिति। मरणं** देहत्यागः तदपि, **परमा पूजा** भवति, ननु मरणे कथं पूजात्वं सम्भाव्यं तत्राह **निर्माल्येति। निर्माल्यत्यागरूपिणी** निर्माल्यस्य अनद्यतनपूजाद्रव्यवद् निर्माल्यरूपो देहः, तस्य त्यागो विसर्जनं,. तदेव रूपं यस्याः पूजायाः सा तथोक्ता, पूजायां निर्माल्यत्यागस्य आवश्यकत्वाद् देहत्यागस्यापि तथात्वात् पूजात्वमिति भावः। ननु मरणेऽपि शोको जायते इत्याशंक्याह **शोक इति। शोको वैराग्यसाधनं** वैराग्यस्य विषयवैतृष्ण्यस्य, साधनं कारणं, भवति, अतः **शोकस्तु** शोकोऽपि, **परमा पूजा** भवति, वैराग्ये कारणत्वात् शोकस्य पूजात्वं सम्भाव्यम् इति भावः।।२३।।(२७६)

हर्षेऽपि तत् सम्भावयति **हर्ष इति। हर्ष एव** आनन्दोऽपि, **परमा पूजा** भवति। कुत इत्यत **हृष्टरूप इति। हि** यस्मात् कारणाद्, **हरिः** सर्वदुःखसंहारको देवः, **हृष्टरूपो** हृष्टं सुखमेव रूपं यस्य स तथोक्तः, **सदा** नित्यम् अस्ति, देवस्वरूपत्वादेव हर्षस्य पूजात्वमित्याशयः। पुष्टौ अपि तत् सम्भावयति **पुष्टिस्तु इति। पुष्टिस्तु** पुष्टिरपि, **परमा पूजा** भवति, **हि** यस्मात् कारणात्, **पुष्टिमान्** पुष्टः पुरुषः, **स्वस्थचित्तः** स्वस्थं स्थिरं चित्तं चेतो यस्य स तथा भूतः भवति।।२४।।(२८०)

दीर्घ जीवन भी (श्रवण आदि में उपयोगी होने से) 'आत्मपूजन' ही है, योगी लोग दीर्घजीवी होते हैं। इसी प्रकार थोड़ी आयु भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि प्रारब्ध के समाप्त हो जाने पर वह इस संसारदुःख से शीघ्र ही छूट जाता है।।२२।।

(जब किसी देवप्रतिमा का पूजन करते हैं तब पहले दिन की पुष्पादि पूजासामग्री उस पर से हटा देते हैं, वही निर्माल्यत्याग कहाता है, उसी प्रकार) आत्मदेव को नया दूसरा देह देने के लिये इस पुराने देह का त्याग कर रहा हूँऐसा समझ कर यदि किसी का मरण हो तब तो वह 'आत्मपूजन' ही है। यदि मरते समय शोक होता हो तो उसे भी 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये क्योंकि (उस समय विषयों की अस्थिरता और

कृशत्वं परमा पूजा कृशगात्रा हि योगिनः।
लाभ एव परा पूजा लाभः सन्तोषकारणम्।।२५।।(२८१)
हानिरेव परा पूजा तस्मादेव विमुच्यते।
गुण एव परा पूजा साधूनां संमतो गुणी।।२६।।(२८२)

इदानीं कृशत्वेऽपि पूजात्वं सम्भावयति **कृशत्वमिति। कृशत्वं** क्षीणत्वं, **परमा पूजा** भवति, **हि** यस्मात् कारणाद्, **योगिनः** योगाभ्यासवन्तः, **कृशगात्राः** कृशं क्षीणं गात्रम् अंगं येषां ते तथोक्ता भवन्ति, गात्रकार्श्यस्य योगसाधनत्वात् पूजात्वमिति भावः। लाभेऽपि तत् सम्भावयति **लाभ एव इति। लाभ एव** आयोऽपि, **परा पूजा** भवति। कुतो लाभे पूजात्वं? तत्राह **लाभ इति। लाभः** द्रव्यादेः प्राप्तिः, **सन्तोषकारणं** सन्तोषस्य तृप्तेः, कारणं हेतुः भवति।।२५।।(२८१)

हानौ अपि पूजात्वं दर्शयति **हानिरेव इति। हानिरेव** द्रव्यादेः नाशोऽपि, **परा पूजा** भवति। ननु हानौ कुतः पूजात्वं तत्राह **तस्मादिति। तस्मादेव** यस्य यस्य धनादेः नाशो जायते तस्मात् तस्माद् इत्यर्थः। तत्तद्रक्षणादिचिन्तात इत्याशयः, **विमुच्यते** मुक्तो भवति, द्रव्यादिरक्षणादिचिन्तायाः पुरुषस्य विमोचकत्वाद् हानेरपि पूजात्वमिति भावः। गुणेषु अपि तत् सम्भावयति **गुणा एव इति। गुणा एव** विद्यादिगुणा अपि, **परा पूजा** भवति। गुणेषु कुतः पूजात्वं तत्राह **साधूनामिति। गुणी** गुणवान्, **साधूनाम्** सज्जनानां, **सम्मतो** मान्यो, भवति, सज्जनकृतसन्मानविषयत्वाद् गुणेषु पूजात्वम् इति भावः।।२६।।(२८२)

उनके साथ अपने सम्बन्ध की क्षणिकता से सभी के मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार) वैराग्य का कारण होने से शोक भी आत्मपूजन ही है।।२३।।

परमात्मा हरि सदा ही हृष्टरूप (सुखरूप) रहते हैं इस प्रकार देव का स्वरूप होने से हर्ष (आनन्द) भी आत्मदेव का पूजन ही कहाता है (तात्पर्य यह है कि किसी विषय के मिल जाने पर यदि तुम कुछ काल के लिये प्रसन्न होते हो तो उस प्रसन्नता का गुप्त कारण तुम्हारा कुछ काल के लिये निर्विकल्प स्थिति में पहुँच जाना ही होता है, इस प्रकार वह हर्ष भी 'आत्मपूजन' ही कहाता है)। पुष्टि (स्वस्थता) भी 'आत्मा का पूजन' ही है क्योंकि स्वस्थ मनुष्य ही प्रसन्नचित्त रहते हैं।।२४।।

योगी लोग दुबले पतले हुआ करते हैं इस प्रकार गात्र की कृशता भी (योग का साधन होने से) 'आत्मदेव का पूजन' कहाता है। लाभ होने से सन्तोष किंवा तृप्ति हो जाती है (जो कि विचार करने पर आत्मा की सहजावस्था ही है) इससे लाभ को भी 'आत्मदेव का पूजन' ही समझना चाहिये।।२५।।

(जब किसी को किसी व्यापार से हानि होती है तब वह उस व्यापार को छोड़ देता है अथवा किसी पदार्थ की हानि हो जाने पर उस पदार्थ की रक्षा आदि से मुक्ति मिल

दोषा एव परा पूजा निरहंकारता यतः।।
मान एव परा पूजा मान्यते परमेश्वरः।।२७।।(२८३)
अपमानः परा पूजा योगी सिद्ध्येदमानतः।
सधनत्वं परा[1] पूजा धनं धर्मस्य साधनम्।।२८।।(२८४)

इदानीं दोषेऽपि तत् सम्भावयति **दोषा एव इति। दोषा एव** लाञ्छनानि अपि, **परा पूजा** भवति। ननु दोषे कथं पूजात्वं तत्राह **निरहंकारता इति। यतो** येभ्यो दोषेभ्यः, **निरहंकारता** निर्गतः निवृत्तः अहंकारः यस्य तस्य भावः तत्ता सा, भवति, अहंकारानुदयकारणत्वेन दोषेषु अपि पूजात्वसंभव इति भावः। इदानीं मानेऽपि तद् दर्शयति **मान एव इति। मान एव** मान आदरोऽपि, **परा पूजा** भवति। ननु माने कथं पूजारूपत्वं संभाव्यं तत्राह **मान्यते इति। परमेश्वरः** परमः कार्यकारणातीत आत्मा, स एव ईश्वरो नियन्ता, सर्वत्र नियन्तृत्वेन स्थित आत्मा शिव एव मानार्हत्वाद् **मान्यते** आद्रियते, अतः पूजात्वं मानेऽपि संभवति इति भावः।।२७।।(२८३)

ननु तर्हि अपमाने तत् न स्याद् इत्याशंक्य तत्रापि तत् संभावयति **अपमान इति। अपमानः** अनादरः, **परा पूजा** भवति। कुत इत्यत आह **योगीति। योगी** योगाभ्यासी, **अमानतः** अनादरात्, **सिद्ध्येद्** योगसिद्धिं प्राप्नुयाद्, अतः अनादरेऽपि योगस्य सत्कर्मणो वा फलसाधकतया पूजात्वं संभाव्यम् इति भावः। वृद्धा अपि आहुः'मानितः पूजितो योगी दुग्धा गौरिव गच्छति'। इति। अपमानपुरस्कारेण अर्थसिद्धौ नीतिवाक्यम्'अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः। स्वकार्यं साधयेद् धीमान् कार्यभ्रंशो हि मूर्खता।।' इति।।

जाती है और उसका आत्मा स्वस्थ रहने लगता है इस प्रकार) हानि भी 'आत्मपूजन' ही है क्योंकि उससे उसे छुट्टी मिल जाती है। सज्जन लोग गुणी पुरुष का मान करते हैं (जिससे उस गुणी का आत्मा प्रसन्न होता है) इसलिये विद्या आदि गुणों का उपार्जन करना भी एक तरह का 'आत्मपूजन' ही है।।२६।।

(लोक में जब किसी पर कोई लांछन लगा दिया जाता है तब उसका अहंकार [घमण्ड] दब जाता है इस प्रकार) अहंकार को दबाने के कारण दोष भी 'आत्मपूजन' ही हो जाता है। सब लोग परमात्मा का ही मान करते हैं (लोक में और भी जिस किसी का मान किया जाता है तब उसका कारण यह होता है कि उसमें परमात्मा के किसी माननीय गुण का विकास हो रहा है) इस प्रकार मान भी 'आत्मपूजन' ही है। (जब किसी का मान हो तब उसे आत्मदेव का पूजन समझ कर निरहंकार हो जाना चाहिये। उस मान को अपने पास न रख कर परमात्मा तक पहुँचा देना चाहिये। उस समय मूर्खों की तरह अकड़ में आना कदापि ठीक नहीं होता)।।२७।।

---

[1] 'धनं हि परमा' पाठभेदः।

निर्धनत्वं परा पूजा ब्रह्म प्राप्तमकिञ्चनैः।
अप्रमादः परा पूजा ह्यप्रमत्तो हि सिद्ध्यति।।२९।।(२८५)

इदानीं धनित्वेऽपि तत् सम्भावयति **सधनत्वमिति। सधनत्वं** धनं द्रव्यं तेन सहितः सधनः, तस्य भावः तत्त्वं, तदपि **परा पूजा** भवति। कुत इत्यत आह **धनमिति। धनं** द्रव्यं, **धर्मस्य** अन्तःकरणशुद्धिकारणभूतस्य दानादेः, **साधनं** साधकं भवति, अतः सधनत्वे पूजात्वं संभाव्यमिति भावः।।२८।।(२८४)

इदानीं निर्धनत्वेऽपि तत् दर्शयति **निर्धनत्वमिति। निर्धनत्वं** निर्धनो धनहीनः, तस्य भावः तत्त्वमपि **परा पूजा** भवति। कुत इत्यत आह **ब्रह्मेति। अकिञ्चनैः** निर्धनैः निष्किञ्चनैः इत्यर्थः, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं भूमानन्दरूपं, **प्राप्तम्** अनुभूतम्, अकिञ्चनत्वस्य भूमानन्दप्रापकत्वात् पूजात्वमनुसन्धेयम् इति भावः। दक्षतायामपि तत् सम्भावयति **अप्रमाद इति। अप्रमादः** अविस्मरणं, **परा पूजा** भवति, **हि** यस्मात् कारणाद् **अप्रमत्तः** सावधानः, **सिद्ध्यति** कार्यफलभागी भवति, अत एव अप्रमादेऽपि कार्यसाधकत्वात् पूजात्वं संभाव्यम् इति भावः।।२९।।(२८५)

(सत्कार पाया हुआ योगी दुही हुई गाय की तरह निकम्मा हो जाता है) योगी लोग अनादर पाकर ही योगसिद्धि को पाते हैं (अन्यथा आदर में फँसने से शिष्यपंक्ति की चिन्ता में पड़ कर योगभ्रष्ट हो जाते हैं) इसलिये (आत्मप्राप्ति का साधन होने से) अपमान 'आत्मपूजन' ही समझना चाहिये। धन धर्म का साधन होता है इस प्रकार धन होना भी 'आत्मपूजन' ही है। (अर्थात् धनी होना भी आत्मदर्शन में बाधक नहीं होता।)।।२८।।

निर्धन (अर्थात् जिन लोगों ने संसार के सब धन धान्य आदि का परित्याग कर दिया है वे) लोग ही भूमानन्द ब्रह्म को प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार जिस निर्धनता से ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है वह भी तो 'आत्मदेव का पूजन' ही है। जो लोग कभी प्रमाद नहीं करते वे ही अपने कार्य को सिद्ध किया करते हैं इसलिये अप्रमाद (आत्मदेव को सदा स्मरण रखना) भी 'आत्मपूजन' ही है (क्योंकि उसी से अधिकारी को आत्मदर्शन प्राप्त हो सकता है)।।२९।।

जिस प्रमाद के होने पर अपने कर्तव्यों से विमुखता उत्पन्न हो जाये ऐसा प्रमाद भी (आत्मदर्शन का साधन होने से) 'आत्मपूजन' ही कहलाता है, योगी लोग जब निर्विकल्प समाधि में रहते हैं तब उनकी अवस्था सुषुप्ति की-सी रहती है। संसारी लोग सुषुप्ति के दृष्टान्त से ही उस अवस्था को कुछ-कुछ जान सकते हैं। इस प्रकार (आत्मदेव की स्वाभाविक अवस्था का अनुमान करा सकने से) सुषुप्ति भी 'आत्मपूजन' ही है।।३०।।

प्रमादः परमा पूजा कर्त्तव्यं विस्मरेद् यतः।
सुषुप्तिः परमा पूजा समाधिर्योगिनां हि सः।।३०।।(२८६)
कर्मयोगः परा पूजा कर्म ब्रह्मार्पणं हरौ।
भक्तियोगः परा पूजा यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।३१।।(२८७)
ज्ञानयोगः परा पूजा ज्ञानात् कैवल्यमश्नुते।
तुरीयं परमा पूजा साक्षात्कारस्वरूपिणी।।३२।।(२८८)

प्रमादेऽपि तद् दर्शयति **प्रमाद इति। प्रमादः** कर्त्तव्यविस्मृतिः, **परमा पूजा** भवति। कुत इत्यत आह **कर्त्तव्यमिति। यतः** प्रमादात्, **कर्त्तव्यं** कार्यं, **विस्मरेत्** न अनुसन्दध्यात्, कार्यविस्मरणस्य समाधीप्सूनाम् इष्टत्वात् तत्साधनत्वेन प्रमादोऽपि पूजा एव इति भावः। इदानीं सुषुप्तौ अपि पूजात्वं संभावयति **सुषुप्तिरिति। सुषुप्तिः** निद्रा, **परमा पूजा** भवति। ननु निरर्थिकायां सुषुप्तौ कुतः पूजात्वं तत्राह **समाधिरिति। हि** यस्मात् कारणात्, **स** सुप्तिरूपः, **योगिनां** ज्ञानिनां, **समाधिः** समं ब्रह्म अधीयते अनुभूयते अस्मिन् इति समाधिः, निर्विकल्पसमाधिः इत्यर्थः।, ज्ञानिदृष्ट्या निद्रासमाध्योः ऐक्यात् सुप्तेरपि समाधित्वात् पूजात्वम् इति भावः।।३०।।(२८६)

कर्मयोगेऽपि तत् साधयति **कर्मयोग इति। कर्मयोगः** कर्माचरणं, **परा पूजा** भवति। कर्मयोगे कुतः पूजात्वं तत्राह **कर्मेति। हरौ** सर्वद्वैतहरणशीले अखण्डरसात्मके आत्मनि, वास्तवकर्माभावाद् 'नान्योतोऽस्ति श्रोता' इत्यादिश्रुतेः कर्तुः पृथगसत्त्वादपि सर्वं **कर्म ब्रह्मार्पणं** ब्रह्मणि अर्पणं ब्रह्मार्पणं, ब्रह्मरूपेण एव दृश्यं भवति इत्यर्थः। भक्तौ तत्सम्भावयति **भक्तियोग इति। भक्तियोगः** भजनं भक्तिः तस्या योगः संयोगः, तदंगीकरणम् इत्यर्थः, **परा पूजा** भवति। कुत इत्यत आह **य इति। यः** पुरुषः, **मद्भक्तः** मम भक्तः सेवको भवति, **स** पुरुषः, **मे** मम, **प्रिय** इष्टः, भवति इति भगवदुक्तत्वाद् इत्यर्थः, भगवत्प्रीतिसाधनत्वाद् भक्तियोगस्य पूजात्वमिति भावः।।३१।।(२८७)

ज्ञानयोगेऽपि पूजात्वं सम्भावयति **ज्ञानयोग इति। ज्ञानयोगो** युज्यते अनेन इति योगः, जीवब्रह्मैक्यं ज्ञानमेव योगः ज्ञानयोगः, **परा पूजा** भवति। कुत इत्यत आह **ज्ञानादिति, ज्ञानात्** 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यजन्याद् 'अहं ब्रह्मास्मि'इति साक्षात्काररूपात् ज्ञानात्, **कैवल्यम्**

जब हम अपने सम्पूर्ण कर्मों को (''नान्योतोस्ति द्रष्टा'' के अनुसार) अखण्ड एकरस आत्मरूप में बाधित कर देते हैं किंवा आत्मा से पृथक् कुछ भी न होने से ब्रह्मार्पण कर देते हैं तब हमारा वह 'कर्मयोग' भी आत्मदेव का पूजन हो जाता है। गीता में कहा है, 'जो मेरा भक्त है वही मुझे प्रिय है' इसलिये भक्तियोग भी 'आत्मपूजन' ही है।।३१।।

श्रवणं तु परा[1] पूजा श्रूयते परमेश्वरः।
मननं परमा पूजा मननं ध्यानसाधनम्।।३३।।(२८९)
मद्गुरोः सदृशः कश्चिद् गुरुः कर्णे लगेद् यदि।
सर्वमेव तदा पूजा देवस्य लयरूपिणी।।३४।।(२९०)

आखण्डैकरस्यम्, **अश्नुते** प्राप्नोति, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते' इति श्रुतेः, 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्युप्रहाणिः' इति च श्रुतेः, 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' इति च श्रुतेरपि ज्ञानस्यैव साक्षाद् मुक्तिसाधनत्वात् पूजात्वं प्रसिद्धम् एव इति भावः। तुरीयेऽपि तत् सम्भावयति **तुरीयमिति। तुरीयं** तुर्यावस्थारूपं साक्षिचैतन्यं, **परमा पूजा** भवति। कुतः इत्यत आह **साक्षादिति। साक्षात्कारस्वरूपिणी** साक्षात्कारः प्रत्यक्षानुभवः, स एव स्वरूपमसाधारणं रूपं यस्याः तुर्यावस्थारूपपूजायाः सा तथोक्ता, स्वरूपत्वादेव तुर्यस्य पूजात्वम् इति भावः।।३२।।(२८८)

श्रवणे तत् सम्भावयति **श्रवणमिति। श्रवणं तु** श्रवणमपि, **परा पूजा** भवति, कुतः श्रवणे पूजात्वम् इत्यत आह **श्रूयते इति। परमेश्वरः** कार्यकारणातीत ईश्वर ईशनादिशक्तिमानात्मा, **श्रूयते** श्रवणविषयीक्रियते, अतः श्रवणस्य पूज्यात्मविषयतया पूजात्वमिति भावः। मननेऽपि तां सम्भावयति **मननमिति। मननं** श्रुतस्य अर्थस्य युक्त्या सम्भावनं तत्, **परमा पूजा** भवति। मनने कथं पूजानुसन्धेया तत्राह **मननमिति। मननं** श्रुतार्थसम्भावनरूपं, **ध्यानसाधनं** ध्यानस्य विजातीयप्रत्ययानन्तरिततत्सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य, साधनं साध्यते अनने इति साधनं कारणम्, अतो मननमपि पूजा एव इति भावः।।३३।।(२८९)

ननु सर्वेषु इष्टानिष्टपदार्थेषु इष्टबुद्धिरेव विधेया इत्युक्तं तत्तु दुर्घटम् इत्याशंक्य मद्गुरुसदृशगुरुलाभे सुलभम् एव इत्याह **मद्गुरोरिति। मद्गुरोः** मम गुरोः देशिकस्य, **सदृशः** तुल्यः, **कश्चित्** कोऽपि, **गुरुः** देशिकः, **कर्णे** कर्णमूले, **लगेद्** उपदिशेद्, **यदि** यर्हि, तर्हि **सर्वमेव** समस्तमपि, **लयरूपिणी** साम्येन लयो नाश एव रूपं यस्याः सा तथोक्ता, अत एव **देवस्य** चैतन्यस्य शिवस्य **पूजा** अर्चा भवेत् स्यात्।।३४।।(२९०)

ज्ञान से कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है इसलिये ज्ञानयोग (ज्ञानरूपी योग) आत्मदेव का श्रेष्ठ पूजन है। तुरीयावस्था तो आत्मा का साक्षात्कार ही है इसलिये वह भी आत्मा की परम पूजा कहाती है।।३२।।

श्रवण में परमात्मा ही श्रवण का लक्ष्य रहता है इसलिये श्रवण को भी 'परम पूजन' ही माना है। श्रवण करने के पश्चात् उसी पदार्थ की युक्ति के कारण संभावना करना 'मनन' कहाता है, वह मनन भी ध्यान (विजातीय विचारों से रहित एकजातीय विचारों की धारा को 'ध्यान' कहते हैं) का साधन होने से 'आत्मपूजन' ही है।।३३।।

---

[1] परमा पाठभेदः।

लयानामपि सर्वेषां विश्वविस्मृतिहेतुतः।
श्रेष्ठं नादानुसन्धानं नादो हि परमो लयः।।३५।।(२६१)
मकरन्दं पिबन् भृंगो यथा गन्धं न कांक्षति।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नाभिकांक्षति।।३६।।(२६२)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे योगदीक्षाचिन्तामणौ लययोगाख्यं पञ्चमं प्रकरणम्।।

इदानीम् उक्तसर्वलयेभ्यो नादानुसन्धानस्यश्रैष्ठ्यमाह **लयानामिति। सर्वेषामपि** समस्तानामपि उक्तलक्षणानां, **लयानां** लयोपायानां मध्ये निर्धारणे षष्ठी 'यतश्च निर्धारणम्' इति सूत्राद्। **विश्वविस्मृतिहेतुतः** विश्वस्य समस्तबाह्यपदार्थजातस्य, विस्मृतिः अननुसन्धानं, तस्य हेतुतः कारणत्वात्, नादानुसन्धानं दक्षिणकर्णस्थितानाहतस्य नादस्य अनुसन्धानं श्रवणं, **श्रेष्ठम्** उत्तमं, **हि** यस्मात् कारणाद् **नादो** नादानुसन्धानं, **परमः** श्रेष्ठो, **लयो** लयोपायः अस्ति, लोकेऽपि गायनवाद्यादिनादलुब्धस्य सर्वकार्यविस्मृतिः दृश्यते इति भावः।।३५।।(२६१)

उक्तमेव नादानुसन्धानश्रैष्ठ्यं सदृष्टान्तं सहेतुकमाह **मकरन्दमिति। भृंगो** भ्रमरः, **मकरन्दं** पुष्परसं 'मकरन्दः पुष्परस' इति अमरसिंहः, **पिबन्** पानं कुर्वन् सन्, **गन्धं** तद्बहिर्वर्त्तनं केसरस्थं परिमलं, **न कांक्षति** नेच्छति, **यथा** यद्वत्, **तथा** तद्वत्, **नादासक्तम्** अनाहतनादे बाह्ये वा आसक्तं रक्तं, **चित्तम्** अन्तःकरणं, **विषयान्** नादातिरिक्तविषयान्, **नाभिकांक्षति** नेच्छति, अतो नादानुसन्धानस्य श्रैष्ठ्यमिति भावः। राजयोगपक्षे तु आकाशगुणत्वेन शब्दस्य नाममात्रत्वानुसन्धानेन तद्वाच्यजगतोऽपि मिथ्यात्वेन च स्वरूपमात्रशेषलक्षणमेव नादानुसन्धानं लयोपायम् अंगीकुर्याद् इति भावः।।३६।।(२६२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ योगदीक्षाचिन्तामण्यर्थप्रकाशे लययोगार्थप्रकाशः पञ्चमः।।

इति श्रीयोगदीक्षा चिन्तामण्यर्थप्रकाशो द्वादशः।।

यदि मेरे गुरु जैसा कोई गुरु किसी के कान को लग जाय तो संसार की सभी खटपट 'आत्मदेव की लयरूप पूजा' ही हो जाय। तब संसार का खाना, पीना, सोना, उठना, जागना, बोलना, आत्मविचार करना या कामादि षड्वर्ग के वशीभूत होना, मेरु के समान सम्पत्ति इकट्ठा करना, यह सब कुछ उसी अखण्डानन्दैकरस परमात्मा में समतारूप लय को प्राप्त हो जाते हैं और यह सब उसकी पूजा ही हो जाती है।।३४।।

जितने भी लय के साधन बताये गये हैं उन सबमें संसार को भुला देने वाला होने से अनाहत नाद का श्रवण करना सबसे श्रेष्ठ साधन है (जब संसार के मधुर गायन (या वाद्यों) को सुनने वाले मनुष्य भी खाने, पीने, सोने आदि तक को भूल जाते हैं) तब नादश्रवण से संसार के विस्मरण में आश्चर्य ही क्या है!।।३५।।

अथ भक्तिरसायनम्

अथ सिद्धान्तसर्वस्वं शृणु भक्तिरसायनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिभेषजं तद्रसायनम्।।१।।(२६३)
धर्मार्थकाममोक्षाणां ज्ञानवैराग्ययोरपि।
अन्तःकरणशुद्धेश्च भक्तिः परमसाधनम्।।२।।(२६४)

एवं सर्वसाधनानि प्रतिपाद्य, इदानीं सर्वसाधनशिरोभूतं सर्वसाधनमुख्यसाधनं स्वतः अन्य-साधननिरपेक्षं भक्त्याख्यसाधनं प्रतिपादयितुं भक्तिरसायनाख्यं सार्धद्विपञ्चाशच्छ्लोकं प्रकरणम् आरभते। तत्र तावत् एतत्प्रकरणश्रवणे शिष्यं प्रेरयति **अथेति। अथ** योगश्रवणानन्तरं, हे शिष्य **सिद्धान्तसर्वस्वं** सिद्धान्तस्य सर्वशास्त्रतात्पर्यस्य, सर्वस्वं मुख्यतात्पर्यभूतं, **भक्तिरसायनं** भक्तिः भजनं स एव रसः सुखं, तस्य अयनं मार्गभूतं, प्रापकमित्यर्थः, एतन्नामकं प्रकरणं **शृणु** अवधारय। ननु भक्तिप्रतिपादकस्य प्रकरणस्य कुतो रसायनशब्दयोगः तत्राह **जन्मेति। तद्** भक्तिरूपं साधनं, **जन्ममृत्युजराव्याधिभेषजं** जन्म देहाहम्भावरूपः, मृत्युः अत्यन्तदेहविस्मृतिरूपः, जरा वृद्धत्वरूपः देहविकारविशेषः, तेन च अन्येऽपि विकारा ग्राह्याः व्याधयश्च तन्मूलज्वरादयः तेषां भेषजम् औषधं, तन्निवर्तकम् इत्यर्थः। अतो **रसायनं** रसायननाम्ना अभिहितम् इत्यर्थः।।१।।(२६३)

उक्तमेव सर्वसाधनश्रैष्ठ्यं भक्तेः विशदयति **धर्मेति। धर्मार्थकाममोक्षाणां** धर्मश्च स्वस्ववर्णाश्रमोचितकर्माचरणरूपः, अर्थश्च द्रव्याद्यर्थमुद्योगप्रतिपादकं शास्त्रं, तत्प्रतिपाद्य उपायश्च, कामश्च इन्द्रियविषयसंयोगसुखेच्छारूपः, तया च तल्लाभः तत्प्रतिपादकशास्त्रोक्तसाधनानि च ग्राह्याणि, मोक्षश्च मोक्षप्रधानार्थशास्त्रं च, तत्प्रतिपादितानि तत्साधनानि च ग्राह्याणि, तेषां, **ज्ञानवैराग्ययोरपि** ज्ञानस्य जीवात्मैक्यविषयस्य वैराग्यस्यापि, **अन्तःकरणशुद्धेश्च** अन्तःकरणं चित्तं, तस्य शुद्धी रागादिमलविसर्गः, तस्या अपि, **भक्तिः** स्नेहरूपावृत्तिः, **परमसाधनं** श्रेष्ठं साधनं, मुख्यकारणम् इत्यर्थः।।२।।(२६४)

जिस प्रकार पुष्प के मधु का पान करता हुआ भौंरा (उसी पुष्प के) गंध की कुछ भी परवाह नहीं करता इसी प्रकार संसार के बाजों में या अनाहत नाद में आसक्त पुरुष भी फिर उस नाद के अतिरिक्त किसी विषय की भी परवाह नहीं करता।।३६।।

हे शिष्य! सम्पूर्ण सिद्धान्तों के निष्कर्ष (निचोड़) 'भक्तिरसायन' नामक इस प्रकरण को सुन लो। यह भक्तिरूपी साधन जन्म-मृत्यु जरा तथा रोग आदि विकारों को निवृत्त करने वाली एक महौषधि है।।१।।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान, वैराग्य, तथा अन्तःकरण की शुद्धि का श्रेष्ठ साधन 'भक्ति' ही है।।२।।

ययाऽत्र रक्त्या जीवोऽयं दधाति ब्रह्मरूपताम्।
साधिता सनकाद्यैः सा भक्तिरित्यभिधीयते।।३।।(२६५)
सर्वा साधनसम्पत्तिरस्ति भक्तिस्तु नास्ति चेत्।
तर्हि साधनसंपत्तिः तुषकण्डनवद् वृथा।।४।।(२६६)
यद्यन्यत्साधनं नास्ति भक्तिरस्ति महेश्वरे।
तदा क्रमेण सिद्ध्यन्ति विरक्तिज्ञानमुक्तयः।।५।।(२६७)

भक्तिलक्षणम् आह **ययेति। अयं जीवः** प्रत्यक्षः प्राणाद्युपाधिमान् अधिष्ठानसहितो बुद्धिस्थः चिदाभासः, **अत्र** प्रत्यक् परोक्षादिरहिते चिदात्मनि, **यया रक्त्या** रागरूपया वृत्त्या प्रेमापरपर्यायया, **ब्रह्मरूपतां** ब्रह्मणः देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यस्य, रूपं सच्चिदानन्दैकरस्यं, तस्या भावः तत्ता तां, **दधाति** धारयति, या च **सनकाद्यैः** सनक आद्यो येषां सनन्दनादीनां ते तथोक्ताः तैः, **साधिता** कृता, आदिपदेन नारदादीनामपि ग्रहणं, **सा** उक्तलक्षणा, **भक्तिः इत्यभिधीयते** भक्तिः इत्येवं नाम्ना प्रतिपाद्यते शास्त्रेषु इत्यर्थः।।३।।(२६५)

एवं भक्तेः लक्षणं प्रतिपाद्य, इदानीं भक्तिहीनानां सर्वसाधनानां वैयर्थ्यम् आह **सर्वेति। सर्वा** नित्यानित्यवस्तुविवेकादिका, **साधनसम्पत्तिः** साधनानां मोक्षकारणभूतानां, सम्पत्तिः सम्पादनम्, **अस्ति** विद्यते, **भक्तिस्तु** प्रेमलक्षणा वृत्तिस्तु, तुशब्दोत्र भक्तेः सर्वसाधनसापेक्षत्वेन स्वतः अन्यनिरपेक्षत्वेन च वैलक्षण्यं दर्शयति। **नास्ति चेत्** तन्न विद्यते चेद् यदि, **तर्हि** तदा, **साधनसंपत्तिः** साधनानां सर्वसाधनानां सम्पत्तिः सम्पादनं, **वृथा** व्यर्था। तत्र दृष्टान्तः **तुषकण्डनवत्** तुषस्य धान्योपरितनधान्यहीनत्वचः, कण्डनं मुसलादिना कुट्टनं, तद् यथा निष्फलं श्रममात्रं, तद्वत् भक्तिहीनानि सर्वसाधनानि श्रममात्राणि इत्यर्थः।।४।।(२६६)

एवं भक्तेः अन्यसाधनसापेक्षतां[1] प्रतिपाद्य, इदानीं तस्या अन्यसाधननिरपेक्षत्वं प्रतिपादयति **यदीति। अन्यत्साधनं** नित्यानित्यवस्तुविवेकादिकं साधनं, **नास्ति** न विद्यते, **यदि** यर्हि, **महेश्वरे** ईशनादिशक्तिमति वा, आत्मतत्त्वे वा, **भक्तिः** उक्तलक्षणा प्रेमवृत्तिः, **अस्ति** विद्यते, **तदा** तर्हि, **क्रमेण** अनुक्रमतः, **विरक्तिज्ञानमुक्तयः** विरक्तिः वैराग्यं, ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यविषयं महावाक्यजन्यं, मुक्तिः मोक्षः एते **सिद्ध्यन्ति** सिद्धाः भवन्ति इत्यर्थः।।५।।(२६७)

जिस रागरूप वृत्ति के कारण यह जीव (अपने कल्पित जैव रूप को छोड़कर अपनी स्वाभाविक) ब्रह्मरूपता को धारण कर लेता है, जिसको सनक, सनन्दनादि ने सिद्ध किया है, वही 'भक्ति' कहाती है।।३।।

प्रेमलक्षण भक्ति के विना मोक्ष के कारण नित्यानित्य-वस्तुविवेक आदि सकल साधनों का उपार्जन करना तो चावलों की भूसी को मूसल से कूटने के समान निष्फल है।।४।।

---

[1] अन्यसाधनानि सापेक्षाणि यत्र तस्या भावः तत्ता ताम्।

न हि कश्चिद् भवेन्मुक्त ईश्वरानुग्रहं विना।
ईश्वरानुग्रहादेव मुक्तिरित्येष निश्चयः।।६।।(२९८)
ईश्वरः परिपूर्णत्वान्न तु किञ्चिदपेक्षते।
प्रीत्यैवाशु प्रसन्नः सन् परं कुर्यादनुग्रहम्।।७।।(२९९)

ननु 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते' इत्यादिश्रुतेः ज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वप्रतिपादनात् किं भक्त्या इत्याशंक्य भक्त्यैव ईश्वरप्रसादे ज्ञानं जायते ततो मोक्ष इति ज्ञानद्वारैव भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वम् इत्याशयेन आह **न हि इति। कश्चित्** कोऽपि, **ईश्वरानुग्रहं विना** ईशनादिशक्तिमतः अन्तर्यामिणः, अनुग्रहः दया, ताम् ऋते, **मुक्तः** मोक्षं प्राप्तः, संसाराद् उत्तीर्ण इत्यर्थः, **न** न भवेद्, **हि** प्रसिद्धम् इत्यर्थः। व्यतिरेकमुखेन दर्शितम् अर्थम् अन्वयमुखेन दर्शयति **ईश्वरेति। ईश्वरानुग्रहाद् एव** ईश्वरस्य अन्तर्यामिणः, अनुग्रहः कृपा, ततः, एव केवलं, **मुक्तिः** मोक्षो भवति इति शेषः। **एष** अयं, **निश्चयः** निश्चीयते अनेन इति निश्चयः, निर्णयः अस्ति। मुक्तेः साधनप्रधानभूतज्ञानस्य गुर्वधीनत्वाद् गुरोश्च ईश्वरानुग्रहप्राप्यत्वाद् ईश्वरानुग्रह एव दैशिकप्रापणद्वारा मुक्तिहेतुः इति भावः।।६।।(२९८)

ननु तर्हि ईश्वरप्रसादस्य मोक्षहेतुत्वे किं भक्त्या इत्याशंक्य, भक्तिं विना तद्दौर्लभ्याद् इति आह **ईश्वर इति। ईश्वर** ईशनादिशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, **परिपूर्णत्वात्** सच्चिदानन्दघनतया आप्तकामत्वात्, **किंचिद्** यज्ञदानादिकं स्वभोगोपयोगि द्रव्यादिकमपि, **न तु** नैव, **अपेक्षते** इच्छति, अतः **प्रीत्यैव** केवलं प्रेम्णा एव, **आशु** शीघ्रम्, अनेन यज्ञदानस्वधर्मानुष्ठानजपादिना ईश्वरः प्रसीदति तथापि बहुकालेन तत्रापि भक्तिसापेक्षितेन, भक्त्या तु अन्यनिरपेक्षितया एव ईश्वरशीघ्रप्रसादोपलब्धिः इति भावः। **प्रसन्नः** प्रीतः **सन्, परं** ज्ञानप्रदगुरुप्रापकम्, **अनुग्रहं** प्रसादं, **कुर्याद्।** अन्यसाधनैः भक्तिसापेक्षितैः सांसारिकफलकारणम् ईश्वरानुग्रहो जायते, केवलभक्त्या तु केवलेश्वरानुग्रहेण गुरुप्राप्त्या ज्ञानप्राप्तिद्वारा मोक्षप्राप्तिः इति भावः।।७।।(२९९)

अगर तुम में महेश्वर के लिये केवल भक्ति ही विद्यमान हो फिर चाहे अन्य साधन न भी हों तो भी क्रम से वैराग्य ज्ञान तथा मोक्ष ये तीनों सिद्ध हो ही जायेंगे।।५।।

ईश्वर के अनुग्रह के बिना इस अपार संसार को कोई पार नहीं कर सकता। ईश्वर के अनुग्रह से (आचार्य के मिलने पर) ही मुक्ति होती है।।६।।

परिपूर्ण (और आप्तकाम) होने से ईश्वर किसी वस्तु की भी अपेक्षा नहीं करता, वह तो केवल प्रीति से ही शीघ्र प्रसन्न होकर महान् अनुग्रह करता है। यज्ञादि करने वालों की भी प्रेमवृत्ति को बिना देखे वह अनुग्रह नहीं करता तथा उनको सांसारिक फल देकर टाल भी देता है। परन्तु यदि केवल शुद्ध भक्ति ही हो तब तो उसको ज्ञान की प्राप्ति का कारण परम अनुग्रह करना ही पड़ता है जिससे उस भक्त को सद्गुरु की भेंट होकर मोक्ष का मार्ग ज्ञात हो जाता है।।७।।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयाद् मापसर्पतु।।८।।(३००)
तथा च शाण्डिल्यं सूत्रं 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इति।
परमात्मनि विश्वेशे भक्तिश्चेत् प्रेमलक्षणा।
सर्वमेव तदा सिद्धं कर्तव्यं नावशिष्यते।।९।।(३०१)
अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता।
प्रेमलक्षणभक्तेस्तु परिणामः स एव हि।।१०।।(३०२)

एवं प्रेमलक्षणवृत्तेः एव केवलम् ईश्वरप्रसादहेतुत्वम् प्रतिपाद्य, इदानीं प्रेमलक्षणवृत्तेरेव ईश्वरे स्थैर्यं प्रार्थयति **येति। अविवेकानां** विवेकहीनानां, **विषयेषु** वनितास्रक्चन्दनादिषु, **अनपायिनि** अव्यभिचारिणि, अनेकविधदुर्लङ्घ्यविघ्नान्यविगणय्य तत्रैव प्रवर्त्तमाना इत्यर्थः, **या प्रीतिः** यद्वत् स्नेहरूपा वृत्तिः, अस्ति विद्यते, **सा** सा एव तादृशीत्यर्थः, **त्वाम्** ईशनादिशक्तिमन्तं त्वाम्, **अनुस्मरतः** तया वृत्त्या सदा चिन्तयतः, **मे** मम, **हृदयाद्** अन्तःकरणाद्, **मापसर्पतु** मा गच्छतु, त्वद्विषया सा सदैव तिष्ठतु इत्यर्थः। यद्वा सा[1] त्वद्विषया प्रीतिः, हृदयाद्, हे माप लक्ष्मीपते, सर्पतु निवृत्ता भवतु इति प्रार्थना।।८।।(३००)

पूर्वप्रीतिलक्षणे सूत्रमपि प्रमाणयति **तथा चेति। तथा च** तस्मिन्नुक्ते भक्तिलक्षणे शाण्डिल्यस्य मुनेः **सूत्रम्** अस्ति तदाह **सेति**। या इति अध्याहार्यम्। **ईश्वरे** ईशनादिशक्तिमति अन्तर्यामिणि, परे ब्रह्मणि वा, **परा** निरतिशया, **अनुरक्तिः** स्नेहः, सा भक्तिरित्यर्थः।

एवं भक्तिलक्षणप्रतिपादकं सूत्रम् उपन्यस्य इदानीं भक्तिसिद्धौ सर्वसाधनसिद्धिः स्याद् इति आह **परमात्मनीति। विश्वेशे** विश्वस्य जगत, ईशे नियन्तरि, **परमात्मनि** वस्तुतः कार्यकारणहीने ब्रह्मणि, व्यावहारिकदृष्ट्या तु ईश्वरे इत्यर्थः, **प्रेमलक्षणा** प्रेम स्नेह एव लक्षणं यस्याः सा तथाभूता, **भक्तिः** चित्याकारा वृत्तिः, **चेद्** यदि सिद्धा भवति, **तदा** तर्हि, **सर्वमेव** समस्तमपि साधनजातं, **सिद्धं** भवति, तदा **कर्तव्यं** कार्यं, **नावशिष्यते** नैव शिष्टं विद्यते, भक्तिसिद्धौ तु सर्वमेव सिद्धं भवति इति भावः।।९।।(३०१)

वेदान्तप्रतिपादिताया अपरोक्षानुभूतेः अपि भक्तिफलत्वम् आह **अपरोक्षानुभूतिरिति। या** विद्वदनुभवसिद्धा, **वेदान्तेषु** वेदान्तशास्त्रेषु, प्रतिपादिता **निरूपिता, अपरोक्षानुभूतिः** अपरोक्षा प्रत्यक्षा, अनुभूतिः अनुभवः, सा, **प्रेमलक्षणभक्तेस्तु** प्रेमा निरतिशयः स्नेहः, स लक्षणं यस्या भक्तेः सा तथोक्ता तस्या एव, **परिणामः** फलमेव निश्चयेन ज्ञेयं, **हि** विद्वत्सु प्रसिद्धमेतद् इत्यर्थः।।१०।।(३०२)

अज्ञानी लोग सांसारिक स्त्री, पुत्रादि भोगों में जिस अव्यभिचारिणी (कभी न टलने वाली) भक्ति को बड़े परिश्रम से और जिस प्रकार बनाये रखते हैं, उस ही वृत्ति और उस ही प्रेम (लगन) से सदा तेरा ही चिन्तन करते हुए मेरे हृदयभवन में तेरी वही अव्यभिचारिणी भक्ति सदा बनी रहे। (पिछले आधे का दूसरा अर्थ) अथवा हे माप!

---

[1] त्वत्तः अन्यविषया।

शास्त्रार्थः संपरिज्ञातो जातं प्रेम महेश्वरे।
प्रेमानन्दप्रकारेण द्वैतं विस्मरणं गतम्।।११।।(३०३)
वासुदेवमयं सर्वं वासुदेवात्मकं जगत्।
इत्थं द्वैतरसाढ्यस्य ज्ञानं किमवशिष्यते।।१२।।(३०४)

ननु ज्ञानहेतुकत्वं कृतकृत्यत्वफलाया अपरोक्षानुभूतेः वेदान्तेषु प्रसिद्धं दृश्यते तत्कथं विरुद्धं भक्तिफलत्वं तस्या उच्यते? इत्याशंक्य, प्रेमलक्षणवृत्तेः द्वैतविस्मारकत्वेन, ज्ञानस्यापि अद्वैतरूपत्वेन च ज्ञानभक्त्योः वैलक्षण्याभावात् तयोः ऐक्यं दर्शयति द्वाभ्याम् **शास्त्रार्थ इति। शास्त्रार्थः** शास्त्राणां व्याकरणादिवेदान्तान्तानाम् अर्थस्तात्पर्यं, **संपरिज्ञातः** सम्यग् ज्ञातो निश्चितश्च, अनन्तरं **महेश्वरे** वेदान्तप्रतिपादिते ईश्वरत्वारोपाधिष्ठानभूते तत्त्वे, **प्रेम** स्नेहः, **जातम्** उत्पन्नं, यदा इति अध्याहार्यम्। यदा यस्मिन् समये, तदा तस्मिन् समये, **प्रेमानन्दप्रकारेण** प्रेम्णा स्नेहेन, यः आनन्दः सुखं, तस्य प्रकार उल्लासः तेन, **द्वैतं** जगद्, **विस्मरणम्** अभानं, **गतं** प्राप्तं भवति।।११।।(३०३)

वासुदेवमयमिति। तदा तस्य भक्तस्य **सर्वं** समस्तं, **वासुदेवमयं** वा विकल्पेन, असूनां प्राणाद्युपाधीनां, देवः प्रकाशकः; प्रकाश्यमिथ्यात्वेन अप्रकाशकः, व्यवहारावस्थायां प्रकाशं विना प्रकाश्यानिर्वाहाच्च प्रकाशकश्च; इति विकल्पेन प्रकाशकत्वं वासुदेवशब्दार्थः, तन्मयं तत्प्रधानं प्रतीयते इत्यर्थः। अतो **जगद्** विश्वं, **वासुदेवात्मकं** वासुदेवो जगदारोपाधिष्ठानं जगतो विकल्पेन प्रकाशकं चैतन्यम् आत्मा यस्य तत् तथा, वासुदेवान्यद् न प्रतीयत इत्यर्थः। **इत्थम्** एवं प्रकारेण, **द्वैतरसाढ्यस्य** द्वैते जगति, यो रस आनन्दः, तेनाढ्यस्य संपन्नस्य पुरुषस्य, **ज्ञानम्** अद्वैतात्मस्वरूपम्, **अवशिष्यते** अवशिष्टं भवेत्, **किम्** नैव इत्यर्थः। तस्यैव अद्वैतलक्षणज्ञानवत्वाद् न भक्तिज्ञानयोः भेदसिद्धिः इति भावः।।१२।।(३०४)

हे लक्ष्मीपते! तेरा स्मरण करते हुए वैसी विषयभक्ति मेरे हृदयभवन को तुम्हारे निवास के लिये सूना करके चली जाय।।८।।

शाण्डिल्य मुनि कहते हैं कि परब्रह्म में जो निरतिशय प्रेम है वही भक्ति है।

विश्वेश्वर परमात्मा में यदि प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न हो गयी हो तो समझो कि सब कुछ सिद्ध हो चुका, अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा।।९।।

वेदान्तों में जिस प्रत्यक्ष अखण्डानुभव का वर्णन किया गया है वह इस निरतिशय प्रेमरूप भक्ति का ही तो परम फल है।।१०।।

वेदान्तादि शास्त्रों का तात्पर्य जानने के अनन्तर महेश्वर परमात्मा में जब प्रेम उत्पन्न हो जाता है तब प्रेम से आनन्द का उल्लास होने पर द्वैत की विस्मृति हो ही जाती है। क्योंकि निरतिशय प्रेम द्वैत को भुलाने वाला होता है तथा ज्ञान स्वयं अद्वैत-रूप है ही, इसलिये ज्ञान के द्वारा साधक जिस परिणाम पर पहुँचता है, भक्ति भी साधक को वहीं पहुँचा देती है।।११।।

वासुदेवः परं ब्रह्म परमात्मा परात्परः।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यं नारायणः स्थितः।।१३।।(३०५)

इदानीं ज्ञानभक्त्योः उक्ताभेददाढर्याय विष्णुशिवभक्तयोः भजनप्रकारं चतुर्भिः श्लोकैः आह **वासुदेव इति। वासुदेवः**

'वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोस्तु ते'।।

इतिवचनाद् वासुदेवसत्तया सर्वसत्तानिर्वाहलक्षणेन सर्वभूतनिवासत्वात् सर्वव्यापित्वलक्षणेन च लक्षितं वासुदेवं स्मरन् वासुदेव इति नाम उच्चरति। **परं** जगत्कारणं, **ब्रह्म** बृहद् देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं ब्रह्मशब्दार्थं विचिन्त्य परं ब्रह्मेति नामोच्चरति। तथा **परमात्मा** कार्यकारणत्वहीनः परमः परमश्च असौ आत्मा च इति स तथोक्त इत्यर्थानुसन्धानपूर्वकं परमात्मा इति नाम उच्चरति, कार्यकारणहीनम् आत्मानम् अनुस्मृत्य एतन्नामोच्चारं करोति इति भावः। तथा **परात्परः** पराद् जगदारोपाधिष्ठानत्वेन कारणाद्, आरोप्यमिथ्यात्वेन परः तदतीत इत्येवम् अर्थमनुसन्धाय परात्परम् इत्येवं नामोच्चरति इत्यर्थः। तथा **तत्सर्वं** तत्सर्वमिति पदद्वयेन समस्तः कार्यकारणात्मकः प्रपञ्च उच्यते। **अन्तर्बहिश्च** आन्तरं देशं, बाह्यं देशमपि, **व्याप्यं** व्याप्नुवन् सन्, **स्थितः** वर्तते, अतः **नारायणः** नृणां जीवानां समूहः नारं तदेव अयनं स्थानं प्रापकत्वाद् मार्गभूतं वा यस्य स तथोक्तः, यद्वा

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः प्रोक्ताः तेन नारायणः परः'।।

इति स्मृतेः, नरात् पुरुषात् जाता नारा जलानि ता अयनं यस्य इत्यर्थः। अत्रापि 'अम्भो मरीचीर्मरमाप' इति श्रुतेः जलप्रधानकारणके कार्यरूपे जगति व्यापकत्वमेव नारायणशब्दार्थः, एवम् उभयपक्षेऽपि व्यापकत्वम् अव्यभिचरितम् इत्यादिनारायणपदार्थानुसन्धानेन नारायण इति नामोच्चरतीत्यर्थः।।१३।।(३०५)

(यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाश्य है, वासुदेव इसका प्रकाशक है इस प्रकार पदे-पदे वासुदेव की प्रधानता होने से) यह जगत् 'वासुदेवमय' है (वासुदेव के भान से ही, इस जगत् का भान हो रहा है इसलिये) यह जगत् 'वासुदेवात्मक' है। इस प्रकार के द्वैत के आनन्द के धनी पुरुष के लिये कुछ भी ज्ञान शेष नहीं रह जाता। अर्थात् ज्ञान से प्रापणीय पद पर एकान्त भक्त भी अपना अधिकार जमा ही लेते हैं।।१२।।

भक्त लोग उसे वासुदेव, परब्रह्म, परमात्मा, परात्पर और अन्दर बाहर इस सबको व्याप्त करके स्थित रहनेवाला नारायण कहते हैं। सम्पूर्ण सत्ताओं का निर्वाहक, सर्वभूतनिवास तथा सर्वव्यापक आदि गुणों को स्मरण करके भक्त 'वासुदेव' नाम से भगवान् का स्मरण करता है। किसी देश, किसी काल तथा किसी वस्तु से भी जगत् का वह परम कारण परिच्छिन्न नहीं होता, इस अर्थ का चिन्तन करके 'परब्रह्म' नाम

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान्।
इत्यादिवचनैर्भक्तः वैष्णवः स्तौति केशवम्।।१४।।(३०६)
शिवः कर्ता शिवो भोक्ता शिवः सर्वेश्वरेश्वरः।
शिव आत्मा शिवो जीवः शिवादन्यन्न विद्यते।।१५।।(३०७)

अणुरिति। बुद्ध्यादीनाम् अव्यक्तत्वात् सूक्ष्म इति अणुशब्दार्थं लक्ष्यीकृत्य अणुरिति नामोच्चरति। तथा **बृहद्** देशाद्यपरिच्छिन्नत्वाद् महान् इत्यर्थः। **कृशः** कृशत्वस्यापि तद्व्यतिरेकेणासिद्धेः घटाभिन्ने घटे घटत्वम् इव ईश्वराभिन्ने कृशे ईश्वरत्वात् तन्नाम्नि अपि नामाभेदोपचाराद् ईश्वरनामैव कृश इति ज्ञात्वा कृश इत्येवं नामोच्चरति इत्यर्थः। एवं **स्थूलः** इति च नामोच्चरति। तथा **गुणभृद्** गुणानाम् आश्रय इत्यर्थानुसन्धानपूर्वकम् एतन्नामोच्चरति इत्यर्थः। तथा **निर्गुणो** गुणानां मिथ्यात्वात् सदैव गुणरहित इत्येवमनुसन्धाय निर्गुण इति नाम जपति इत्यर्थः। तथा **महान्** श्रेष्ठः, सर्वजगत्पूज्य इत्यर्थः। **इत्यादिवचनैः** एवमादिभिर्वाचकैः शब्दैः, **वैष्णवो** विष्णुसम्बन्धी विष्णुदेवताको वोक्त उपासकः, **केशवं** के अन्तःकरणे, शेते स्वपिति, अन्तःकरणमननुसन्धाय स्वरूपमनुसन्दधाति इत्यर्थः, तम् अन्तर्यामिणं, **स्तौति** वर्णयति।।१४।।(३०६)

एवं विष्णुभक्तभजनप्रकारं प्रदर्श्य शिवभक्तस्यापि तं दर्शयति **शिव इति। शिवः** प्रत्यगात्मा, कूटस्थः, **कर्ता** कर्मेन्द्रियव्यापारवान् बुद्धिस्थः चिदाभासः अस्ति, तथा **शिवो भोक्ता** शिव एव सुखदुःखादिसाक्षात्कारवान् आनन्दमयोपाधिकः बुद्धिस्थः, 'नान्योतोस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुतेः, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादिस्मृतेश्च, कर्त्तुर्भोक्तुश्च प्रत्यगात्मनोऽपृथक्त्वप्रतिपादनादिति भावः। तथा से भगवान् का स्मरण किया जाता है। न वह किसी का कार्य है और न किसी का कारण है किन्तु असंग शुद्ध चैतन्य हैइस भाव से 'परमात्मा' यह नाम लिया जाता है। जिसको हम जगदारोप का मूल कारण समझते हैं इसीलिये जो 'पर' है परन्तु जब कि इस आरोप्य के भी मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है, उस समय सकल के बाध का साक्षी या सर्वलयावशेषरूप से जो शेष रह जाता है वह तो 'परात्पर' इस नाम से स्मरण किया जाता है। इस सम्पूर्ण कार्यकारणात्मक प्रपंच को अन्दर बाहर व्याप्त करके जीवों का प्राप्तव्य हो के वही 'नारायण' नाम से स्मरण किया जाता है।।१३।।

'अणु' भी वही है, देश काल आदि की इयत्ता (हद) में न आने से 'बृहत्' भी वही है, सबसे अधिक सूक्ष्म होने से 'कृश' यह शब्द मुख्यवृत्त्या उस ही में चरितार्थ होता है, वह अपने संकल्प से 'स्थूल' भी हो गया है, वह 'सगुण' भी है, साथ ही गुणों के मिथ्या होने से 'निर्गुण' भी है, सर्वजगत् का पूज्य होने से 'महान्' भी है, इत्यादि प्रकार से विष्णु का भक्त केशव की स्तुति करता है।।१४।।

खंवायुतेजोजलभूक्षेत्रज्ञार्केन्दुमूर्त्तिभिः।
अष्टाभिरष्टमूर्तिं च शांभवः स्तौति शंकरम्।।१६।।(३०८)
इदं यदा परिणतं प्रेम तज्ज्ञानमेव हि।

अथ युक्त्यन्तरम्

बालकस्तात तातेति जनकं प्रति भाषते।
न पुनस्तातशब्दार्थं स तु जानाति किञ्चन।।१७।।(३०९)

शिव आत्मा, **सर्वेश्वरेश्वरः** सर्वस्य जगतो य ईश्वरा ब्रह्मविष्णुरुद्राख्याः, तेषामपि ईश्वरः नियन्ता, तथा **शिवो** जगत्सुखकारणं परमात्मा, घटाकाशमहाकाशयोरिव प्रत्यगात्मशिवयोः अभेद इत्यर्थः। तथा **शिवो जीवः** शिवः समष्ट्युपाध्यावृतं चैतन्यं तत्पदवाच्यार्थ एव, जीवः देहत्रयसहितः साधिष्ठानः चिदाभासः अस्ति। उपाध्यैक्याद् उपहितयोरपि ऐक्यमिति भावः। अतः **शिवात्** परमात्मनः, **अन्यद्** भिन्नं, किमपि **न विद्यते** नास्ति इत्यर्थः। आत्मनो व्यतिरिक्तस्य असत्त्वाद् इति भावः।।१५।।(३०७)

किञ्च **खमिति। खंवायुतेजोजलभूक्षेत्रज्ञार्केन्दुमूर्त्तिभिः** खम् आकाशं, वायुः पवनः, तेजः अग्निः, जलं सलिलं, भूः पृथ्वी, क्षेत्रज्ञः जीवः, अर्कः सूर्यः, इन्दुः चन्द्र इत्येवम् अभिधाभिः मूर्त्तिभिः, **अष्टाभिः** अष्टसंख्याभिः, **शाम्भवः** शिवभक्तः, **अष्टमूर्तिम्** अष्टौ मूर्तयो रूपाणि यस्य तं, सर्वरूपम् इत्यर्थः। **शंकरं** सकलजगदानन्दकरम् आत्मानं, **स्तौति** प्रशंसति।।१६।।(३०८)

एवं विष्णुशिवभक्तयोः भजनप्रकारं निरूप्य, इदानीं पूर्वोक्तमेव ज्ञानभक्त्योरैक्यं सिद्धान्तयति **इदमिति। इदम्** उक्तलक्षणम् एतादृशं भजनमेव, **यदा** यस्मिन् काले, **परिणतं** परिणामं प्राप्तं, निरतिशयसुखरूपेण पर्यवसितम् इत्यर्थः। तत् **प्रेम** स्नेहो भवति, **तदेव ज्ञानं** ज्ञानशब्देन उच्यते, **हि** इति विदुषाम् एतत्प्रसिद्धम् इत्यर्थः।

उक्तभक्तिज्ञानैक्ये युक्तिरप्यस्ति इत्याह **अथेति। अथ** अत्र इत्यर्थः, **युक्त्यन्तरम्** अन्या युक्तिरपि अस्ति इत्यर्थः। तामेव आह त्रिभिः श्लोकैः **बालक इत्यादिना। बालक इति। बालकः** अर्भकः, **तात तातेति** हे तात हे तात एवं प्रकारेण, **जनकं** पितरं, **प्रति** उद्दिश्य इत्यर्थः। **भाषते** ब्रूते एव केवलं, **पुनः** अन्यत्, **स तु** बालकः, **तातशब्दार्थं** पितृवाचकः यः तातशब्दः तस्यार्थं पितृरूपं, **किञ्चित्** किमपि, **न जानाति** वेत्ति नैव इत्यर्थः।।१७।।(३०९)

शिव (कूटस्थ चैतन्य) ही कर्ता होता है, वही शिव भोक्ता हो जाता है। सकल जगत् के ईश्वरों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि) का भी नियमन करनेवाला वह शिव ही है, वही शिव आत्मा है, वही शिव जीव हो जाता है, इस प्रकार शिव (आत्मा) से भिन्न इस संसार में कुछ भी नहीं है। (वह अकेला ही शैलूष [नट] की तरह नाना उपाधियों के कारण आपातदृष्टि वाले लोगों को अनेक-सा प्रतीत हो रहा है)।।१५।।

आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि, जीव, सूर्य तथा चन्द्रमा इन आठ स्वरूपों से शिव का भक्त अष्टमूर्ति शिव की स्तुति करता है।।१६।।

यदा तातपदार्थस्य व्युत्पत्तिं यात्यसौ क्रमात्।
तदा तु सत्यमेवायं तात इत्येति निश्चयम्।।१८।।(३१०)
तथा भक्तो भजन् देवं वेदशास्त्रोदितैः क्रमैः।
व्युत्पत्तिं परमां प्राप्य मुक्तो भवति हि क्रमात्।।१९।।(३११)
किं च लक्षणभेदो हि वस्तुभेदस्य कारणम्।
न भक्तज्ञानिनोर्दृष्टा शास्त्रे लक्षणभिन्नता।।२०।।(३१२)

यदेति। असौ स बालः, **यदा** यस्मिन् काले, **क्रमात्** क्रमेण, **तातपदार्थस्य** तातेति यत्पितृवाचकं पदं नाम तस्यार्थः पितृरूपः तस्य, **व्युत्पत्तिं** ज्ञानं, **याति** प्राप्नोति, **तदा तु** तस्मिन् काले च, **अयम्** एष बालः, **तात एव** पितैव, **सत्यं** तथ्यम्, **इति** एवं, **निश्चयं** निर्णयम्, **एति** प्राप्नोति यथा।।१८।।(३१०)

तथेति। तथा तद्वत्, **भक्तः** अव्युत्पन्नः भजनक्रियावान्, **वेदशास्त्रोदितैः** वेदाश्च ऋगादयः, शास्त्राणि वेदान्तानुकूलानि मीमांसासांख्यपातञ्जलशैवतन्त्रनारदपाञ्चरात्रादीनि, तेषु उदिता उक्ताः, तैः, **क्रमैः** प्रक्रियाभिः, **देवम्** ईश्वरं, **भजन्** सेवमानः सन्, अन्तःकरणशुद्ध्या, **परमां** यथार्थां, **व्युत्पत्तिं** वाच्यलक्ष्यभेदेन शब्दार्थज्ञानं, **प्राप्य** लब्ध्वा, **क्रमात्** ज्ञानस्थैर्यक्रमेण, **मुक्तो** मोक्षं प्राप्तो, **भवति** जायते, **हि** एतत् सर्वत्र प्रसिद्धम् इत्यर्थः।।१९।।(३११)

अन्यदपि ज्ञानभक्तयोरभेदे कारणं दर्शयति **किञ्चेति। किञ्च** अन्यदपि, शृणु इत्यर्थः। **हि** यस्मात् कारणाद्, **वस्तुभेदस्य** वस्तुनः पदार्थस्य, भेदः अन्यत्वं तस्य, **कारणं** हेतुः, **लक्षणभेदो**

जब यह भजन प्रेमरूप में परिणत होता है तब उसको ज्ञान शब्द से कहने लगते हैं (अर्थात भगवद्भजन ही कालान्तर में भगवत्प्रेम बनकर भगवज्ज्ञान हो जाता है।) अब तीन श्लोकों के द्वारा युक्ति बताते हैं

बालक अपने पिता को 'तात' 'तात' ऐसा कहता तो रहता है परन्तु उसको यह मालूम नहीं रहता कि किस अभिप्राय से यह 'तात' शब्द बोला जाता है।।१७।।

परन्तु समय के प्रभाव से जब कि वह सयाना होने लगता है तो वह तात पद के पितृरूप अर्थ को ध्यान में लाने लगता है। तब तो वह मेरा यही पिता है इस दृढ निश्चय को पहुँच जाता है।।१८।।

इसी प्रकार (प्रारम्भावस्था में भगवान् के स्वरूप को न जाननेवाला) भक्त वेद तथा शास्त्रों में बतायी हुई विधियों से ईश्वर का भजन करता है तो अन्तःकरण के परिमार्जित हो जाने पर क्रम से (यथार्थ ज्ञान को पाकर धीरे-धीरे ज्ञान के स्थिर होते ही) मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।।१९।।

लक्षणों के भेद होने से पदार्थों में भेद हुआ करता है किन्तु मैंने शास्त्र में भक्त तथा ज्ञानी के एक ही से लक्षण देखे हैं।।२०।।

विरागश्च विचारश्च शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
वेदे च परमा प्रीतिः तदेकं लक्षणं द्वयोः।।२१।।(३१३)
अध्याये भक्तियोगाख्ये गीतायां भक्तिलक्षणम्।
यदुक्तमष्टभिः श्लोकैः दृष्टं ज्ञानिषु तन्मया।।२२।।(३१४)

लक्ष्यते भेदो याभ्यां ते लक्षणे तयोः भेदः भिन्नत्वं, भवति जायते, तत्र तदभावं दर्शयति **नेति। भक्तज्ञानिनोः** उपासकबुद्धयोः, ज्ञानी तु अत्र यथार्थस्वरूपवेत्ता। **लक्षण-भिन्नता** लक्षणयोः चिह्नयोः, भिन्नता पार्थक्यं, चिह्नभेद इत्यर्थः। **शास्त्रे** वेदान्ते उपासनाप्रतिपादके च शास्त्रे, **न दृष्टा** नैव दृष्टा, अतो ज्ञानिभक्तयोः लक्षणैक्याद् ऐक्यमेव सिद्धमिति भावः।।२०।।(३१२)

तान्येव ज्ञानभक्त्योः लक्षणानि स्फुटं दर्शयति **विराग इति। विरागश्च** विरागो विषयवैतृष्ण्यम्, एकं लक्षणम्, **विचारश्च** विचारः विवेकोऽपि द्वितीयं, **शौचम्** आन्तरं रागादिमलराहित्यं, बाह्यं स्नानादिशौचं शुद्धिहेतुः क्रिया तृतीयम्, **इन्द्रियनिग्रह** इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां निग्रहः स्वस्वविषयेभ्यो ज्ञानभक्तिसाधनव्यतिरिक्तेभ्यो व्यावृत्तिः चतुर्थं, **वेदे च** श्रुतावपि, **परमा** अव्यभिचारिणी, **प्रीतिः** प्रेम पञ्चमम्, इत्यादीनि अन्यानि अपि ज्ञेयानि। **तत्** तस्मात् कारणाद्, **द्वयोः** भक्तिज्ञानयोः, **लक्षणं** लक्षकं चिह्नम्, **एकम्** अभिन्नम् अतो ज्ञानभक्तयोः न भेद इत्यर्थः।।२१।।(३१३)

ननु ज्ञानभक्त्योः लक्षणैक्यं क्व दृष्टं? तत्राह **अध्याये इति। गीतायां** श्रीमद्भगवद्गीतायां, **भक्तियोगाख्ये** भक्तियोग इत्येवम् आख्या यस्य तस्मिन्, **अध्याये** द्वादशाध्याये, **अष्टभिः श्लोकैः** 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादिभिः, 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया' इत्यन्तैः अष्टसंख्याकैः श्लोकैः, **यद्** यादृशं, **भक्तिलक्षणं** भक्तेः भजनस्य, लक्षणं चिह्नं, जातित्वादेकवचनम्, **उक्तं** कथितम् अस्ति, **तत्** तदेव लक्षणं, **ज्ञानिषु** ज्ञानवत्सु, **मया** उभयलक्षणपरीक्षकेण, तत्रैव त्रयोदशाध्याये 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादिभिः 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' इत्यन्तैः पादोनपञ्चभिः श्लोकैः प्रतिपादितं, **दृष्टम्** अवलोकितं, तस्मादपि ज्ञानभक्त्योः ऐक्यमेव सिद्धमिति भावः।।२२।।(३१४)

संसार के आपातमात्र-मधुर विषयों में वितृष्णता, नित्या-नित्य वस्तुओं का विवेक, बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि, इन्द्रियों का (ज्ञान के साधनों से भिन्न विषयों से) निग्रह, अध्यात्म शास्त्रों में प्रगाढ प्रीति, इन पाँचों लक्षणों से भक्त तथा ज्ञानी दोनों ही पहचाने जाते हैं।।२१।।

गीता के भक्तियोग नामक बारहवें अध्याय में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' इत्यादि आठ श्लोकों से पुरुषों की भगवद्भक्ति पहचानने के लिये जो चिह्न बताये हैं, वे ही चिह्न मैंने गीता के तेरहवें अध्याय के 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादि पौने पाँच श्लोकों में तत्त्वज्ञानियों के भी देखे हैं (इसलिये ज्ञान तथा भक्तियोग में कोई अन्तर नहीं)।।२२।।

भक्त का तो भगवान् के प्रति 'मैं तेरा हूँ तेरा सेवक हूँ' ऐसा भाव रहता है। इसके विपरीत ज्ञानी की सदा यह दृष्टि रहती है कि 'मैं तू ही हूँ'। इतना कुछ परस्पर भेद

तवास्मीति भजत्येकः त्वमेवास्मीति चापरः।
इति किञ्चिद्विशेषेऽपि परिणामः समो द्वयोः।।२३।।(३१५)
अन्तर्बहिर्यदा देवं देवभक्तः प्रपश्यति।
दासोऽहं भावयन्नेव दाकारं विस्मरत्यसौ।।२४।।(३१६)
दृष्टमेकान्तभक्तेषु नारदप्रमुखेषु तत्।
किंचिद्विशेषं वक्ष्यामि त्वमेकाग्रमनाः शृणु।।२५।।(३१७)

ननु ज्ञानिभक्तयोः सोऽहंभावदासोऽहंभावरूपभजनाभ्यां वैलक्षण्यम् अस्तु तेन च भेदोऽपि स्याद् इत्याशंक्याह **तवेति। द्वयोः** ज्ञानिभक्तयोः मध्ये, **एकः** भक्तः, **तव** तेऽहं त्वदंशत्वात् सेवक एव, **अस्मि** भवामि, **इति** एवं, **भजति** सेवते, **अपरः** अन्यः ज्ञानी, **त्वमेव** 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति श्रुतौ निरंशत्वप्रतिपादनात् नापि त्वदंशोऽहं किन्तु त्वमेव त्वदभिन्न एव अहम् **अस्मि** भवामि, **इति** एवं प्रकारेण। यद्वा त्वं सर्वजगत्कारणं सर्वाधिष्ठानं सर्वज्ञ ईशनशक्तिमान् त्वमेवाहं समष्टिव्यष्ट्युपाध्योः ऐक्याद् व्यावहारिकभेदेऽपि न पारमार्थिकभेदकल्पनायुक्ता इति भावः। **भजति** सेवते, **इति किञ्चद् विशेषेऽपि** एवं प्रकारेण स्वल्पे भेदे सत्यपि, तयोः **परिणामः** परिपाकः, **सम** एकरूपः, अतः अपि ज्ञानिभक्तयोः ऐक्यमेव सिद्धमिति भावः।।२३।।(३१५)

ननु भक्तज्ञानिनोः भजनैक्यलक्षणः परिणामः क्व दृष्ट इत्याशंक्याह सार्धेन **अन्तरिति। देवभक्तः** देवस्य चिन्मात्ररूपिणः परमात्मनो, भक्तः सेवकः, **दासोऽहं भावयन्नेव** दासः सेवक एवाहमिति चिन्तयन् सन्नपि, तादृशभजनेनैव शुद्धान्तःकरणो **यदा** यस्मिन् काले, **अन्तः** बुद्ध्यहंकारादिसर्ववृत्तिसाक्षितया वृत्तिसन्धिप्रकाशकतया च **बहिः** जगत्प्रकाशकतया जगद्गतघटपटादिपदार्थसन्धिप्रकाशकतया च, **देवं** चिन्मात्रैकस्वभावम् आत्मानं, **प्रपश्यति** साक्षात्करोति, तदा तस्मिन् काले, **असौ** भक्तः, **दाकारं विस्मरति** भेदबोधकं दा-इत्येवं पूर्वमक्षरं न अनुसन्धत्ते।।२४।।(३१६)

दृष्टमिति। एकान्तभक्तेषु अव्यभिचारिभक्तेषु, **नारदप्रमुखेषु** नारदः प्रमुख आद्यो येषां तेषु, **तत्** दाकारविस्मरणं, **दृष्टम्** अवलोकितम्, अतो ज्ञानभक्त्योः ऐक्यमेव सिद्धमिति भावः। एवं ज्ञानभक्त्योः ऐक्यं प्रसाध्य भक्तिश्रद्धाविवृद्धये ज्ञानतो भक्तेः आधिक्यं दर्शयितुं किञ्चिद् वैलक्षण्यं दर्शयति सार्द्धाभ्यां **किञ्चिदिति।** अहं **किञ्चित्** सूक्ष्मं, **विशेषं** ज्ञानतः भक्तेः आधिक्यं, **वक्ष्यामि** कथयिष्यामि, तं **त्वमेकाग्रमना** एकाग्रं स्थिरं, मनः अन्तःकरणं, यस्य स तथाभूतः सन्, **शृणु** अवधारय।।२५।।(३१७)

होने पर भी परिणाम दोनों का तुल्य ही है (इसलिये ज्ञानी और भक्त एक ही हैं)।।२३।।

भगवान् के भक्त को 'दासोऽहं' अर्थात् मैं आपका दास हूँ, इस प्रकार भजन करते-करते भजन की परिपाकावस्था आने के कारण जब अन्दर-बाहर देव के ही अखण्ड दर्शन होने लगते हैं, तब वह अपने (दासोऽहं) इस पूर्वाभ्यास में से 'दाकार' को भूलकर 'सोहं' 'सोहं' करने लगता है।।२४।।

यदीश्वररसी भक्तः तदीश्वररसी बुधः।
उभौ यद्यप्येकरसौ तथापीषद्विलक्षणौ।।२६।।(३१८)
बुद्धा बोधरसादन्यरसनीरसतां गताः।
तथाधिकप्रेमरसान्न तु भक्ताः कदाचन।।२७।।(३१९)

अथ प्रश्नः

ननु ज्ञानं विना मुक्तिः नास्ति युक्तिशतैरपि।
तथा भक्तिं विना ज्ञानं नास्त्युपायशतैरपि।।२८।।(३२०)

एवं भक्त्याधिक्यश्रवणे शिष्यम् अभिमुखीकृत्य इदानीं तयोः ऐक्यनिरूपणपूर्वकं किञ्चिद्वैलक्षण्यं दर्शयति **यदिति। भक्तः यदीश्वररसी** यस्य ईश्वरस्य, रसः सुखं, विद्यते यस्य स तथोक्तः अस्ति, **बुधः** ज्ञानी, **तदीश्वररसी** तस्यैव ईश्वरस्य रसः सुखं तद्विद्यते यस्य स तथोक्तः अस्ति, एवं **यद्यपि** सत्यमित्यर्थः। **उभौ** भक्तज्ञानिनौ, **एकरसौ** एकसुखविषयौ स्तः, **तथापि ईषद्विलक्षणौ** ईषत् स्वल्पं, विशेषं लक्षणं चिह्नं ययोः तौ तथोक्तौ भवतः।।२६।।(३१८)

तदेव वैलक्षण्यं दर्शयति **बुद्धा इति।** यथा **बुद्धा** ज्ञानिनः, **बोधरसाद्** बोधः ज्ञानं, तदेव रसः सुखं 'रसो वै स' इतिश्रुतेः, तस्माद्, **अन्यरसनीरसतां गताः** अन्यः वैषयिको, रसः सुखं, तस्मिन् नीरसतां वैरस्यं, गताः प्राप्ताः, **तथा** तद्वद्, **अधिकंप्रेमरसाद्** अधिको बिम्बरससहितत्वेन द्विगुणत्वेन प्रतीयमानः प्रेमा तद्रसविषयकस्नेहरूपा वृत्तिः, तद्विषयभूतो रसः सुखं, तस्माद् हेतोः, **भक्ता** उपासकाः, **कदाचन** कस्मिन्नपि काले, **न तु** नैव, अन्यरसविरसत्वं याताः। ज्ञानिनः स्वरूपसुखमात्रं, भक्तस्य तु तत्सहितवृत्तिसुखम् अतो भक्ते सुखाधिक्याद् ज्ञानितो वैशिष्ट्यम् इति भावः।।२७।।(३१९)

एवं ज्ञानिभक्त्योः मध्ये भक्ते वैशिष्ट्यं प्रदर्श्य, इदानीं भक्तेर्ज्ञानं ज्ञानाद् मोक्ष इत्येवं व्यवस्थासिद्ध्यै ज्ञानभक्त्योः एकनिष्ठत्वसिद्धेः शास्त्रेषु वसिष्ठादिषु ज्ञानित्वं, नारदादिषु तु भक्तत्वं च भिन्नत्वेन

भगवान् के अनन्य भक्त नारदादि पहले 'दासोहं' ऐसी भावना करते करते 'दा' को भूलकर अन्त में 'सोहं' इस निश्चय पर पहुँच गये थे, इसलिये ज्ञानी और भक्त परिणाम में एक ही हैं। अब मैं ज्ञान से भक्ति की कुछ अधिकता भी बताता हूँ तुम एकाग्र होकर सुनो।।२५।।

जिस (अक्षय्य सुखसमुद्र) ईश्वर में भक्त को रसास्वाद मिलता है, वही ईश्वर ज्ञानी का भी रस है। इस प्रकार यद्यपि दोनों एक ही सुख के रसिक हैं, तो भी दोनों में कुछ थोड़ी-सी विलक्षणता पायी जाती है।।२६।।

जिस प्रकार ज्ञानियों के लिये ज्ञानसुख से अतिरिक्त अन्य सब वैषयिक सुख नीरस हो जाते हैं, भक्त को ऐसा कभी नहीं होता। क्योंकि भक्तों को ज्ञानियों के ज्ञानरस की अपेक्षा भक्ति का प्रेमरस और अधिक होता है। (अर्थात् भक्त लोग ज्ञानियों से दूना आनन्द भोगते हैं)।।२७।।

भक्तेर्ज्ञानं ततो मुक्तिरिति साधारणक्रमः।
ज्ञानिनस्तु वसिष्ठाद्या भक्ता वै नारदादयः।।२९।।(३२१)
एवमादिव्यवस्थायाः कारणं किं निरूप्यताम्।
अत्रोच्यते विचित्रं यत्कारणं तन्निशामय।।३०।।(३२२)
कथयामि सदृष्टान्तं येनार्थः स्फुटतां व्रजेत्।
स्यात् तापस्य च पापस्य गंगास्नानेन हि क्षयः।।३१।।(३२३)

कुतः प्रतिपाद्यते तत्र हेतुं ज्ञापयितुं प्रश्नमुत्थापनं प्रतिजानीते **अथेति। अथ** इदानीं, **प्रश्न** उत्थाप्यते इत्यर्थः, तमेवाह सार्धाभ्याम् **ननु इति। ननु** इयम् अत्राशंका, **ज्ञानं विना** ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यविषयं महावाक्यजन्यम् अपरोक्षं, विना ऋते, **युक्तिशतैरपि** युक्तीनां योगधारणानां, शतैः शतसंख्याकैः, असंख्ययोगधारणाभिः इत्यर्थः। **मुक्तिः** मोक्षो, **नास्ति** न भवति, **तथा** तद्वद्, **भक्तिं विना** प्रेमलक्षणवृत्तिम् ईश्वरविषयां, विना ऋते, **ज्ञानम्** आत्मबोधः, **उपायशतैः अपि** उपायानां कर्मोपास्त्यादीनां, शतैरपि असंख्येयोपायैः इत्यर्थः। **नास्ति** न भवति, इत्येवं निर्णयः सर्वशास्त्रेषु इति भावः।।२८।।(३२०)

भक्तेरिति। भक्तेः ईश्वरविषयकप्रेमवृत्तेः, **ज्ञानं** जीवब्रह्मैक्यबोधो भवति, **ततो** बोधाद्, **मुक्तिः** मोक्षो भवति, **इति** एवं, **क्रमो** निर्णयः, **साधारणः** सामान्यः अस्ति, एवं सत्यपि **वसिष्ठाद्याः तु** वसिष्ठ आद्यो मुख्यो येषां ते तथोक्ताः ते एव, **ज्ञानिनो** ज्ञानवन्तो भवन्ति, **नारदादयो वै** नारद आदिः येषां ते तथोक्ताः, ते एव, **भक्ता** ईश्वरविषयकप्रेमलक्षणवृत्तिमन्तो भवन्ति।।२९।।(३२१)

एवमिति। एवमादिव्यवस्थायाः एवंरूपा या आदिः प्राचीना व्यवस्था मर्यादा तस्याः, **कारणं** बीजं, **किम्** अस्ति, तद् **निरूप्यतां** कथ्यताम्। इदानीं दृष्टान्तसहितोत्तरश्रवणे शिष्यं प्रेरयति **अत्रेति। अत्र** अस्यां व्यवस्थायां, **विचित्रं** विलक्षणं, **यद्** यादृशं, **कारणं** बीजम् अस्ति, तद् **उच्यते** मया कथ्यते, **तत्** कारणं, त्वं **निशामय** शृणु।।३०।।(३२२)

तत्कथनं प्रतिजानीते **कथयामीति।** अहं **सदृष्टान्तं** दृष्टान्तेन सहितं, यथा तथा तत्कारणं, **कथयामि** निरूपयामि, **येन** निरूपणेन, **अर्थः** पृष्टार्थः, **स्फुटतां** प्राकट्यं, **व्रजेत्** गच्छेत्। प्रतिज्ञातार्थनिरूपणे तावद् दृष्टान्तमाह **स्याद् इत्यादित्रिभिः। गंगास्नानेन** गंगाया अवगाहनेन, **तापस्य** शरीरगतौष्ण्यस्य, **पापस्य** च कलुषस्यापि, **क्षयो** नाशः, **स्याद्** भवेद्, **हि** इदं सर्वलोकशास्त्रयोः प्रसिद्धम् इत्यर्थः।।३१।।(३२३)

सैकड़ों उपाय करने पर भी ज्ञान के बिना मुक्ति कभी भी नहीं हो सकती, वैसे ही सैकड़ों उपाय कर डालने पर भी भक्ति के बिना ज्ञान का होना सम्भव नहीं।।२८।।

भक्ति से भगवान् के सन्तुष्ट हो जाने के अनन्तर ज्ञान का उदय होता है तब कहीं ज्ञान से मुक्ति मिलती है। यद्यपि मुक्ति का सामान्य क्रम यही है तो भी वसिष्ठादि ज्ञानी ही और नारदादि भक्त ही क्यों कहलाते हैं? इस व्यवस्था का कुछ कारण बताना चाहिये। हे शिष्य! इस व्यवस्था का विचित्र मूल कारण मुझसे सुनो।।२९-३०।।

यस्तु स्यात् तापशान्त्यर्थी तस्यापि स्यादघक्षयः।
यस्तु स्यादघशान्त्यर्थी तापस्तस्यापि नश्यति।।३२।।(३२४)
तापपापक्षयौ स्नानं त्रयमेतत्समं द्वयोः।
तथाप्येकस्तु शैत्यार्थी शुद्ध्यर्थी तु द्वितीयकः।।३३।।(३२५)
यथैवं भावभेदेन नामभेदस्तयोरभूत्।
एवमेव बुधैर्यैस्तु देवो मुक्त्यर्थमाश्रितः।।३४।।(३२६)

यस्त्विति। यस्तु योऽपि, **तापशान्त्यर्थी** ताप उष्णत्वं, तस्य शान्तिः नाशः, ताम् अर्थते प्रार्थयति इति स तथोक्तः, **तस्यापि** शीतेच्छुपुरुषस्यापि, **अघक्षयः** अघं पापं, तस्य क्षयः नाशः, **स्याद्** भवेद्। **यस्तु** योऽपि, **अघशान्त्यर्थी** अघं पापं, तस्य शान्तिः नाशः, अर्थते इच्छति, स तथोक्तः, **स्याद्** भवेत्, **तस्यापि** पापक्षयेच्छुपुरुषस्यापि, **ताप** औष्ण्यं, **नश्यति** नष्टो भवति।।३२।।(३२४)

तापेति। तापपापक्षयौ तापश्च उष्णत्वं, पापं च कलुषं, तयोः क्षयौ नाशौ, **स्नानं** च **एतत् त्रयम्** इदं त्रितयं, **द्वयोः** तापपापक्षयार्थिनोः, उभयोरपि **समं** तुल्यं भवति, यद्यपि यर्ह्यपि, **तथापि** तयोर्मध्ये, **एकस्तु** एक एव, **शैत्यार्थी** शीतलत्वार्थी इतिलोके नाम्ना उच्यते, **द्वितीयकस्तु** अन्य एव, **शुद्ध्यर्थी** पापनिवृत्यर्थी इति नाम्ना उच्यते इत्यर्थः।।३३।।(३२५)

अथेति। एवम् अनेन प्रकारेण, **यथा** यद्वद्, **भावभेदेन** वासनाभिन्नत्वेन, द्वयोः उभयोः नामद्वयमेव द्वे एव नामनी जातं व्यवहार उत्पन्नम्। दार्ष्टान्तिकम् आह सार्धत्रिभिः **एवमिति। एवमेव** एवं प्रकारेणैव, **बुधैः** विवेकिभिः, **यैः** यादृशैः, **देवः** चेतनरूपः परमात्मा, **मुक्त्यर्थं** मुक्तिच्छया, **आश्रितः** अवलम्बितः।।३४।।(३२६)

मैं इस बात को उदाहरण सहित बताता हूँ जिससे इसका रहस्य प्रकट हो जायगा। देखो! गंगा के स्नान से शरीर का ताप और पाप दोनों नष्ट हो जाते हैं।।३१।।

केवल शीतलता चाहनेवाले पुरुष का भी गंगास्नान करने से पाप नष्ट हो ही जाता है। जो कि पाप की निवृत्ति के लिये गंगा में स्नान करता है उसका ताप भी नष्ट हो ही जाता है।।३२।।

ताप की निवृत्ति, पाप का क्षय, तथा स्नान, ये तीनों बातें दोनों (पापक्षयार्थी, तापशान्त्यर्थी) में तुल्य हैं तो भी उनमें से लोक में एक को शैत्यार्थी ही कहा जाता है और दूसरे को शुद्ध्यर्थी ही माना जाता है।।३३।।

जिस प्रकार कि वासना के भिन्न-भिन्न होने से व्यवहार में दोनों के पृथक्-पृथक् दो नाम पड़ गये हैं इसी प्रकार जिन विवेकी पुरुषों ने मुक्ति के उद्देश्य से परमात्मा का आश्रय लिया, वे विवेकी लोग अपनी भक्ति से ज्ञान को प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त हुए, वे (भक्ति तथा ज्ञान का एक-सा ही अनुशीलन करने पर भी) सदा ज्ञानी ही कहलाये।।३४।।

भक्त्या ज्ञानमवाप्यैव ये मुक्ता ज्ञानिनो हि ते।
यैस्तु संसारविरसैः भक्त्यर्थं हरिराश्रितः।।३५।।(३२७)
ततो भक्तिप्रभावेन स्वभावाज्ज्ञानमुद्गतम्।
तज्ज्ञानं प्राप्य मुक्ता ये ते भक्ता इति वर्णिताः।।३६।।(३२८)
विरक्तिभक्तिविज्ञानमुक्तयस्तु समा द्वयोः।
तथापि भावभेदेन नामभेदस्तयोरभूत्।।३७।।(३२९)
मुक्तिर्मुख्यफलं ज्ञस्य भक्तिस्तत्साधनत्वतः।
भक्तस्य भक्तिर्मुख्यैव मुक्तिः स्यादानुषंगिकी।।३८।।(३३०)

भक्त्येति। ते बुधा, **भक्त्या** प्रेमवृत्त्या सहैव, **ज्ञानं** जीवब्रह्मैक्यबोधम्, **अवाप्य** संप्राप्य, **मुक्ता** मोक्षं प्राप्ताः, ते ज्ञाने भक्तौ च समाभ्यासवन्तः, **ज्ञानिनो** ज्ञानिनामानो, **हि** प्रसिद्धा लोके शास्त्रे च इत्यर्थः, **यैस्तु** यैरपि, **संसारविरसैः** संसारे ऐहिकपारलौकिकप्रपञ्चे, विरसैः दोषदृष्ट्या विरक्तैः, ज्ञानमोक्षयोः अवज्ञानात् तदिच्छाभावेन, **भक्त्यर्थं** केवलं भक्तिः अर्थः प्रयोजनं यस्याम् आश्रयक्रियायां यथा तथा, **हरिः** भक्तदुःखहारक, **आश्रितः** अवलम्बितः।।३५।।(३२७)

तत इति। ततो हरेराश्रयणाद्, **भक्तिप्रभावेन** भक्तेः भजनस्य, प्रभावः प्रतापः, तेन, **स्वभावाद्** रागादिमलनिवृत्त्या स्वस्य आत्मनो, भावात् सत्तानुभवात्, **ज्ञानं** जीवब्रह्मणोरैक्यलक्षणम्, **उद्गतम्** उत्पन्नं, भवति इति शेषः। **तज्ज्ञानं** तं बोधं, **प्राप्य** लब्ध्वा, **ये** पुरुषाः, **भक्ता इति** भक्ता एवं प्रकारेण, **वर्णिताः** कथिताः पुराणादिषु इत्यर्थः।।३६।।(३२८)

उभयोः फलैक्यं दर्शयति **विरक्तीति। द्वयोः** ज्ञानिभक्तयोः, **तु** अपि, **विरक्तिभक्तिविज्ञानमुक्तयः** विरक्तिश्च वैराग्यं, भक्तिश्च प्रेमलक्षणा, विज्ञानं जीवब्रह्मैक्यविषयं, मुक्तिश्च मोक्षः, एता, **समाः** तुल्याः सन्ति, **तथापि** फलसाम्ये सत्यपि, **तयोः** ज्ञानिभक्तयोः, **भावभेदेन** भावयोः भिन्नविषयकवासनयोः, भेदेन भिन्नत्वेन, **नामभेदः** नाम्नोः अभिधानयोः, भेदः पृथक्त्वम्, **अभूत्** जातम्।।३७।।(३२९)

जिन्होंने ऐहिक तथा आमुष्मिक भोगों में दोषदृष्टि के कारण विरक्त होकर (ज्ञान तथा मोक्ष की कुछ परवाह न करते हुए) केवल भक्ति के लिये हरि का आश्रय लिया उस भक्ति के प्रताप से (रागादि मलों के निवृत्त होते ही स्वरूपानुभव हो जाने पर) जिन्हें अखण्ड ज्ञान का उदय हो गया, इस क्रम से उस ज्ञान को प्राप्त होकर जो लोग मुक्ति को प्राप्त हुए वे सदा भक्त ही कहलाये।।३५-३६।।

यद्यपि ज्ञानी और भक्त में वैराग्य, भक्ति, ज्ञान तथा मोक्षये चारों समान रूप से रहते हैं तो भी वासना के भिन्न-भिन्न होने से दोनों के पृथक्-पृथक् नाम हो गये हैं।।३७।।

अथान्योऽपि महिमा

रीत्यानयापि सुमते वरिष्ठा भक्तिरीश्वरे।
परमानन्दरूपोऽसौ परमात्मा स्वयं हरिः।।३९।।(३३१)
शिवभक्तिं पुरस्कृत्य भुंक्ते भक्तिरसायनम्।
सनकाद्या वसिष्ठाद्या नन्दिस्कन्दशुकादयः।।४०।।(३३२)

एवं फलैक्ये भक्तज्ञानिनोरेक्यं प्राप्तं तत्प्रकरणविरुद्धत्वाद् निवारयितुं ज्ञानतो भक्तेः आधिक्यं दर्शयति **मुक्तिरिति। ज्ञस्य** ज्ञानिनः, **मुक्तिः** मोक्षः, **मुख्यफलं** मुख्यं प्रधानं च तत्फलं च मुख्यफलम् अस्ति, **भक्तिः** ईश्वरविषयकं प्रेम, **तत्साधनत्वतः** तस्य मोक्षस्य, साधनत्वादेव हेतोः, न मुख्यफलम् अस्ति, **भक्तस्य** उपासकस्य, **भक्तिः एव** ईश्वरविषया प्रेमवृत्तिरेव, **मुख्या** प्रधाना भवति, **मुक्तिः** मोक्षः, **आनुषंगिकी** भक्तिफलरूपेण भक्तिसहचारिणी, **स्याद्** भवेत्।।३८।।(३३०)

रीत्या इति। हे **सुमते** इदमेव ते सुमतित्वं यद् भक्तिसहचरितज्ञानेन मुक्तिसम्पादनम् इत्यनेन सम्बोधनेन सूचितम्। **अनया** उक्तया, **रीत्या** प्रकारेण, **ईश्वरे** परमात्मनि, **भक्तिः** प्रेमलक्षणा वृत्तिरेव, **वरिष्ठा** श्रेष्ठा। एवं ज्ञानतो भक्तेराधिक्यं प्रतिपाद्य इदानीं भक्तेरेव प्रकारान्तरेण महिमानं निरूपयितुं प्रतिजानीते **अथेति। अथ** भक्तिश्रैष्ठ्यनिरूपणानन्तरम्, **अन्योऽपि** उक्तप्रकाराद् विलक्षणोऽपि इत्यर्थः। **महिमा** भक्तेर्महत्त्वं, निरूप्यते इत्यर्थः। तमेव प्रकारमाह **परमानन्दरूप इति। असौ** स, **परमात्मा** कार्यकारणातीत आत्मा, अत एव **परमानन्दरूपः** परमो निरतिशयः, य आनन्दः सुखं, तदेव रूपम् आकृतिः, यस्य स तथोक्तः, अत एव **हरिः** सर्वदुःखहरणशीलः, **स्वयम्** आत्माऽपि।।३९।।(३३१)

शिवभक्तिमिति। शिवभक्तिं शिवस्य कूटस्थस्य आत्मनः, भक्तिं प्रेमलक्षणां वृत्तिं, **पुरस्कृत्य** ध्वजीकृत्य, **भक्तिरसायनं** सर्वसुखानां बिम्बभूतानन्दविषयत्वाद् भक्तेः रसायनत्वम् इत्यर्थः। ज्ञानस्य तु परब्रह्मस्वरूपत्वेन परमानन्दरूपत्वेन सत्यपि तस्य निर्विषयत्वात्, प्रेमलक्षणवृत्तेस्तु वृत्तिविषयकानन्दस्य परमानन्दस्य च सत्त्वात् सर्ववैषयिकानामपि तत्रैव सत्त्वाच्च प्रेमातिशयेन सर्वदुःखतिरोभावेन च केवलसुख-समूहरूपत्वाच्च भक्तौ विष्णोरपि प्रवृत्तिः ऊह्या इत्याशयः। जीवन्मुक्तिसुखादपि भक्तिसुखमधिकमिति सनकादिप्रवृत्तिनिरूपणेन दृढीकरोति **सनकाद्या इति। सनकाद्याः** सनक आद्यो मुख्यो येषां सनत्कुमारादीनां ते तथोक्ताः, तथा **वसिष्ठाद्या** वसिष्ठ आद्यो मुख्यो येषां व्यासादीनां ते तथोक्ताः, तथा **नन्दिस्कन्दशुकादयो** नन्दिः शिववाहनभूतः वृषभः, स्कन्दः गुहः, शुको व्यासपुत्र, एते आदय येषां ते तथोक्ताः।।४०।।(३३२)

ज्ञानी के लिये मुख्य फल मुक्ति है, भक्ति तो मुक्ति का साधन होने से उसे स्वीकार करनी पड़ती है। परन्तु भक्त की दृष्टि में भक्ति ही मुख्य होती है, मुक्ति को तो वह आनुषंगिक (सहचारी) फल समझता है।।३८।।

हे सुमते! इस रीति से भी ईश्वर में भक्ति करना ही अधिक श्रेष्ठ मार्ग है। अब दूसरे प्रकार से भक्ति की महिमा का निरूपण करते हैं।

भुञ्जते तत्पदं प्राप्ता अपि भक्तिरसायनम्।
द्वैतं विना कथं भक्तिरिति तत्रोत्तरं शृणु।।४१।।(३३३)
द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।।४२।।(३३४)

भुञ्जत इति। तत्पदं तत् प्रत्यगभिन्नं, पदं स्वरूपं, **प्राप्ता अपि** तद्रूपाः सन्तोऽपि, **भक्तिरसायनं** भक्तिसुखं, **भुञ्जते** अनुभवन्ति। ननु भक्तेः द्वैतमिश्रितत्वं 'नाल्पे सुखमस्ति' इति श्रुत्या विषसंपृक्तान्नस्य विषत्वमिव भक्तेः दुःखमिश्रितत्वेन दुःखरूपत्वात् कथं सुखरूपत्वम् श्रुतिविरुद्धं प्रतिपाद्यते इत्याशंकाम् उद्भाव्य उत्तरयति सार्धेन **द्वैतमिति। द्वैतं विना** भेदमृते, **भक्तिः** भजनं, **कथं** केन प्रकारेण, **स्याद्** न कथमपि इत्यर्थः। **इति** चेद् एवं यदि वदसि तर्हि, **तत्र** प्रश्न, **उत्तरं** प्रत्युत्तरं, **शृणु** अवधारय।।४१।।(३३३)

द्वैतमिति। द्वैतं भेदः, **बोधात् प्राग्** जीवब्रह्मैक्यज्ञानात् पूर्वं, **मोहाय** मोहयितुं भवति, **बोधे प्राप्ते** जीवात्मैकत्वज्ञाने लब्धे सति, **मनीषया** स्वेच्छया, **भक्त्यर्थं** भक्तिं कर्तुं, **कल्पितं** कल्पनया कृतं द्वैतं, **द्वैतं** पृथक्त्वम्, **अद्वैतादपि** सामान्यैकरूपात् सुखादपि, **सुन्दरम्** अतिसुखमेव अस्ति आनन्दद्वैगुण्यादिति भावः।।४२।।(३३४)

अब दूसरे प्रकार से भक्ति की महिमा का निरूपण करते हैंयद्यपि वह परमात्मा हरि स्वयं परमानन्दस्वरूप है तो भी वह शिवभक्ति के मिष से भक्तिरूपी रसायन का भोग लेता ही रहता है (भावार्थ यह है कि स्वयं परमात्मा-स्वरूप होने से ज्ञान तो निर्विषय है परन्तु भक्ति में (जो कि एक उच्च प्रकार की प्रेमलक्षणा वृत्ति है) सम्पूर्ण विषयानन्द भी अन्तर्भूत हो जाते हैं, उसमें सम्पूर्ण दुःखों का अभिभव हो जाता है तथा प्रेमातिशय होने से वह परमानन्द-स्वरूप भी होती है, यों इस द्विगुणित आनन्द के लोभ से हरि भगवान् भी शिवभक्ति में प्रवृत्त हो गये हैं) इस ही लोभ में आकर सनक सनन्द व्यास वसिष्ठ नन्दी स्कन्द शुकादि, उस अद्वैत पद को प्राप्त करके भी भक्ति सुख का अनुभव करते ही जा रहे हैं।।३९-४०।।

यहाँ पर शंका होती है कि द्वैत के बिना भक्ति कैसे हो सकेगी? इसका उत्तर सुनो।।४१।।

ज्ञान से पूर्वकाल का द्वैत मोह में डाल सकता है। परन्तु बोध के अनन्तर तो अपनी इच्छा से भक्ति के लिये कल्पना किया गया द्वैत, दुगुना आनन्द देने के कारण सामान्य एकरूप अद्वैत से भी सुन्दर हो जाता है।।४२।।

तथा चोक्तं भागवते
'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः।' ।।४३।।(३३५)
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दंपत्योः जीवात्मपरमात्मनोः।।४४।।(३३६)

तत्रार्थे भागवतं प्रमाणयति **तथा चेति। तथा च** तथैव इत्यर्थः। **भागवते** भगवल्लीलाप्रतिपादनप्रधाने शास्त्रे, **उक्तं,** तद्वाक्यं पठति **आत्मारामा इति। आत्मारामाश्च** आत्मनि सच्चिदानन्दघने, आरमन्ते क्रीडन्ति, ते तथोक्ताः, तथाभूता **अपि निर्ग्रन्था** अत एव ग्रन्थनिरपेक्षा अपि, **मुनयो** मननवन्त, **उरुक्रमे** उरुः बहुः, क्रमः पादविक्षेपो यस्य तस्मिन्, **अहैतुकीं** फलापेक्षाहीनां, **भक्तिं** श्रवणकीर्तनादिनवलक्षणाम् अन्तःकरणवृत्तिं, **कुर्वन्ति** प्रवर्त्तयन्ति। ननु 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' इति न्यायात् फलापेक्षारहितानां परमानन्दानुभविनां च मुनीनां क्रियारूपायां भक्तौ कथं प्रवृत्तिः तत्राह **इत्थमिति। हरिः** समस्तदुःखहारी विष्णुः, **इत्थंभूतगुण** इत्थंभूता निरपेक्षत्वेऽपि पुरुषाणां स्वेषु प्रवर्त्तका गुणा यस्य स तथोक्तः, अस्ति, गुणसंस्कार एव गुणेषु प्रवर्त्तकः गुणानां भवतीति भावः।।४३।।(३३५)

उक्तमेव भक्त्यर्थकल्पितद्वैतस्य सुखातिशयरूपत्वं दृष्टान्तेन विशदयति **जाते इति। समरसानन्दे** सम एकरूपः, रसः सुखरूपत्वं, यस्य स च असौ आनन्दश्च स तथोक्तः जीवब्रह्मणोः ऐक्यलक्षणे सुखे इत्यर्थः। **जाते** प्राप्ते सत्यपि, **जीवात्मपरमात्मनोः** जीवस्य परमात्मनश्च यद् भक्त्यर्थं भक्तिं कर्तुं, कल्पितं कल्पनया अंगीकृतं, **द्वैतं** पृथक्त्वं, तद्, **अमृतोपमम्** अमृतं मुक्तिसुखमेव उपमा तुला यस्य तत् तथाभूतम् अस्ति, तत्र दृष्टान्तो **मित्रयोरिति। मित्रयोः** परस्परं प्रेमवतोः, **दम्पत्योरिव** जायापत्योः पृथक्त्वमिव इति।।४४।।(३३६)

भागवत् में भी कहा है किजिनको क्रीडा या रमण (जी लगाने) के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती, जो केवल आत्मा में ही रमण करते हैं, मनन के लिए भी जिन्हें शास्त्र की सहायता अपेक्षित नहीं है, ऐसे निरपेक्ष मुनि लोग भी उस उरुक्रम भगवान् की, फलासक्ति से रहित होकर श्रवण, कीर्तन आदि रूप से भक्ति करते रहते हैं। भगवान् हरि में ऐसे अपरिमित गुण विद्यमान हैं जिनके कारण निरपेक्ष मुनि लोग भी उसकी भक्ति में प्रवृत हो ही जाते हैं।।४३।।

परस्पर अत्यन्त प्रेमवाले दम्पतियों का द्वैत भी जिस प्रकार आनन्ददायक होता है ऐसे ही समरस आनन्द निर्बाध रूप से जब उत्पन्न हो जाता है तब जीवात्मा तथा परमात्मा का केवल भक्ति के लिये कल्पना किया हुआ द्वैत (पार्थक्य) भी मुक्ति सुख के साथ तुलना करने योग्य हो जाता है।।४४।।

हृदये वसति प्रीत्या लोकरीत्या च लज्जते।
यथा चमत्कारमयी नित्यमानन्दिनी वधूः।।४५।।(३३७)
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत् सा तु मुक्तिशताधिका।।४६।।(३३८)
प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तद्द्वयं तुल्यमेव।।४७।।(३३९)

दृष्टान्तं विशदयति **हृदय इति। यथा** यद्वद्, **वधूः** जाया, 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इति विश्वः। **हृदये** अन्तःकरणे, **प्रीत्या** पतिप्रेम्णैव, **वसति** तिष्ठति, **लोकरीत्या च** लौकिकव्यवहारेण च, **लज्जते** त्रपते, यथा यादृशी, **चमत्कारमयी** आश्चर्यवती, **नित्यं** सर्वदा, **आनन्दिनी** पत्यौ आनन्दवर्धनशीला भवति, एतत्प्रसिद्धं सर्वेषु इति भावः।।४५।।(३३७)

ननु परमानन्दरूपमुक्तिं त्यक्त्वा किं दुःखरूपद्वैतरूपभक्त्या? इत्याशंक्याह **पारमार्थिकमिति। अद्वैतं** जीवब्रह्मैक्यं, **पारमार्थिकं** तात्त्विकम्, इत्यंगीकृत्य, **द्वैतं** पृथक्त्वं, **भजनहेतवे** भजननिमित्तम्, अंगीकरोति, गुरुशिष्यादिरूपं द्वैतम् अंगीकरोति इत्यर्थः। यद्वा भजनं भक्तिः, तदेव हेतुः फलं तदर्थं द्वैतं गुरुशिष्यादिद्वारा श्रवणमननादिरूपं सेव्यसेवकादिरूपं च अंगीकरोति इत्यर्थः। तादृशी एवंरूपा, **भक्तिः** भजनं, **चेद् यदि** अंगीकृता तर्हि, **सा** भक्तिः, **तादृशी** उक्तलक्षणा, **मुक्तिशताधिका** मुक्तीनां शतं मुक्तिशतं, तस्माद् अपि अधिकोत्कृष्टा।।४६।।(३३८)

पुनः भक्तेराधिक्यप्रतिपादनाय भक्तिज्ञानयोरेकफलत्वप्रतिपादनाय च वृत्तमाह **प्रियतमेति। प्रेयसी** प्रियतरा स्त्री, **प्रियतमहृदये** अतिप्रीतिविषयः प्रियतमः, तस्य हृदये वक्षसि, वेति पक्षे, **प्रेमरीत्या** प्रेमप्रकारेण, **खेलतु** क्रीडतु इत्येकः पक्षः, **वा** अथवा, **पदयुगपरिचर्यां** पदयोः अंघ्र्योः युगं तस्य परिचर्यां सेवां, **विधत्तां** क्रियताम्, उभयत्र सुखं तुल्यमिति भावः। यथा यद्वत् तथा **विदितार्थो** ज्ञाततत्त्वो, **निर्विकल्पे** विकल्पा नामरूपजात्यादयः, ते निर्गता निवृत्ता, यस्मात्, तस्मिन्, **समाधौ** समं ब्रह्माधीयते लक्ष्यते अस्मिन् इति समाधिः तस्मिन्, **विहरतु** क्रीडतु वा इत्येकः पक्षः, अथवा **भजनविधौ** भक्तिप्रकारे, **विहरतु** क्रीडतु, **तद्द्वयं** तदुभयमपि, **तुल्यमेव** एकमेव अस्ति, **ननु** निश्चय इत्यर्थः।।४७।।(३३९)

जिस प्रकार पति के आनन्द को बढ़ाती हुई चमत्कारवाली पत्नी, अपने पति के प्रेम की अनुवृत्ति को देखकर उसके हृदय पर भी बैठती है साथ ही लोक (की सत्कार करने की रीति से) लज्जा भी करती जाती है।।४५।।

पारमार्थिक रूप से तो अद्वैत को ही अंगीकार किया जाय और भजन के लिये द्वैत की कल्पना कर ली जाय, ऐसी यदि किसी की भक्ति हो तब तो वह सैकड़ों मुक्तियों से भी अधिक आनन्ददायिनी होती है।।४६।।

विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः।।४८।।(३४०)

एवमुभयोः साम्यं प्रतिपाद्य, इदानीं प्रकरणविषयत्वाद् भक्तेः श्रैष्ठ्यं सदृष्टान्तमाह **विश्वेश्वर इति। सुधिया तु** शोभना रागादिरहिता धीः मतिः यस्य स तथोक्तः, तेनापि, **भेदे** सेव्यसेवकादिलक्षणे पृथक्त्वे, **गलितेऽपि** निवृत्ते सत्यपि, **भक्तिसहितेन** श्रवणादिनवलक्षणलक्षितया अन्तःकरणवृत्या सहितेन, **भावेन** प्रेम्णा, **विश्वेश्वरः** जगदीश्वरः परमात्मा, **समर्चनीयः** पूज्यः। तत्र दृष्टान्तः **प्राणेश्वर इति। चतुरया** बुद्धिमत्या स्त्रिया, **चित्ते** अन्तःकरणे, **मिलितेऽपि** एकीभूते सत्यपि, **चैलाञ्चलव्यवहितेन** चैलम् ऊर्ध्ववस्त्रं, तस्यां चलम् अंशः, तेन अन्तरितं तेन, चक्षुषा इति शेषः। **प्राणेश्वरः** पतिः, **निरीक्षणीयः** प्रेक्षणीयः, अन्यथा सुखं न स्याद् यथा तथा श्रवणादिभक्तिं विनापि केवलसमाधौ सुखं न स्याद् इति भावः।।४८।। (३४०)

उक्ते भक्तिश्रैष्ठ्ये वृद्धवाक्यं प्रमाणयितुमाह **अथेति। अथ** अत्र इत्यर्थः। **भक्तिरसमाश्रित्य** भक्तिसुखमवलम्ब्य, **श्लोकः** श्लोकौ, इत्यर्थः। जातित्वादेकवचनम् अस्ति। तमेव उदाहरति **योग इति।** अष्टांगसहिते **योगे** चित्तनिरोधाख्ये समाधौ, मम **गतिः** प्रचारो, **नास्ति** न विद्यते, किञ्च **सम्भावनादुर्गमे** सम्भावनाया निश्चयवृत्तेः, दुर्गमः अप्राप्तिः, यस्मिन्, यद्वा सम्भावनया दुर्गमे दुष्प्रापे, **निर्गुणविधौ** निर्गुणं गुणरहितं ब्रह्म, विधीयते निश्चीयते अस्मिन् इति तथाभूते वेदान्ते इत्यर्थः। गतिः प्रचारो **न** नास्ति। तर्हि वैषयिके सुखे एव प्रचारः अस्तु? तत्राह **नित्यं** सर्वदा, **नीरसया** उदासीनया, **धिया** बुद्ध्या, **ऐहिकामुष्मिके** इह लोके भवम् ऐहिकं, स्रक्चन्दनवनितादिविषयजं सुखम्, आमुष्मिकं च अमृतभोगादिविषयजन्यं पारलौकिकं सुखं च ते, **द्वे** उभे अपि, **परिहृते** त्यक्ते, अतो नात्र मनसो रमणमिति भावः। **पुनः** पश्चाद्, अन्यदेव विचार्य मया कृतं; किं तदित्यत आह **गोप इति।** मया **कोऽपि** अनिर्वचनीयो, **गोपो** गोपालः, ग्रामीण इत्यर्थः, **स तु** सोऽपि, **नानांगनासंगवान्** नाना अनन्ताश्च ता अंगनाः स्त्रियश्च तासां संगः सम्भोगः अस्यास्ति

प्यारी स्त्री चाहे तो अपने प्रियतम के वक्षःस्थल पर खेले, या चरणों को दबाती रहे। इसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरुष तत्त्वज्ञान के अनन्तर चाहे तो निर्विकल्प समाधि में गोते लगाता रहे किंवा भजन करता रहे, ये दोनों बातें परिणाम में तुल्य ही हैं।।४७।।

सेव्य-सेवकादि भ्रम के मिट जाने पर भी सुधी पुरुष को उचित है कि भक्तिसहित प्रेम से परमेश्वर की पूजा किया ही करे। अन्तःकरण मिल जाने पर भी बुद्धिमती स्त्री को उचित है कि अपने प्राणेश्वर को घूंघट का व्यवधान करके ही देखा करे।।४८।।

अथ भक्तिरसमाश्रित्य श्लोकः

योगे नास्ति गतिर्न निर्गुणविधौ सम्भावनादुर्गमे
नित्यं नीरसया धिया परिहृते द्वे ऐहिकामुष्मिके।
गोपः कोऽपि सखाकृतः स तु पुनर्नानांगनासंगवा-
नस्माकं पदमर्थयन्ति मुनयश्चित्रं किमस्मात्परम्।।४६।।(३४१)

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितं
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते।।५०।।(३४२)

इति तथाभूतः सः **सखाकृतः** सखा मित्रं, कृतः आश्रितो, मित्रत्वेन आश्रित इत्यर्थः। ननु गोपालसंगत्या बुद्धिभ्रंशेन अधः पात एव स्यात्, तत्र किं पुनर्वक्तव्यं नानांगनासंगवद्गोपालसंगेन अधः पात इति शंकायामाह **अस्माकमिति। मुनयो** मननवतोऽपि, **अस्माकं** तादृशगोपालसंगवतां नः, **पदं** प्रेमानन्दस्थितिरूपमधिकारम् इत्यर्थः। **अर्थयन्ति** प्रार्थयन्ति इत्यर्थः। अतः **अस्मात्परम्** एतदाश्चर्यादन्यद् आश्चर्यं श्रेष्ठं किं, न किमपि इत्यर्थः। इदमेव अतिश्रेष्ठम् आश्चर्यम् इति भावः।।४६।।(३४१)

आश्चर्यान्तरमाह **रोमाञ्चेति। कृष्णार्चनं** कृष्णस्य भूमानन्दरूपस्य, अर्चनं ध्यानरूपं, बाह्यमपि साकारस्य पूजनं कुर्वताम्, **अस्माकं** नः,

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते'।।

भक्तिरस विषयक-प्राचीन श्लोक भी लिखते हैं

अष्टांग योग तथा दुष्प्राप्य वेदान्त शास्त्र में तो हमारी गति नहीं, इस लोक के माला चन्दनादि भोग तथा परलोक के अमृतादि भोगों को नीरस समझ कर हमने परित्याग कर दिया है, अन्त में हमने सोच-विचार कर अनेक अङ्गनाओं के सङ्गी किसी गोप को अपना मित्र बना लिया है। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा कि बड़े-बड़े मुनिजन भी हम गोपालभक्तों के पद को पाने की प्रार्थना करते हैं।।४६।।

भगवान् कृष्ण का अर्चन करते हुए हमारे शरीर पर रोमांच [रोंगटे खड़े हो गये] हो गया। भक्ति से मन आनन्दित हो गया। प्रेमातिशय के कारण उत्पन्न हुए हर्षाश्रुओं ने तो हमारे मुखमण्डल को तथा गद्गद वाणियों ने हमारे कण्ठ को सुशोभित कर दिया है, अब तो हमें थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं है कि हम किसी भी अन्य विषय को स्वीकार कर सकें। पर तो भी सायुज्य आदि चारों प्रकार की मुक्ति हमारे द्वार पर खड़ी हुई हमारी दासता को स्वीकार करने के लिये बड़ी ही आतुर हो रही है।।५०।।

घनः कामोऽस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्र न रुचिः
तवैवांघ्रिद्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला।
सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पदगता
सकामास्मान् मुक्तिर्भजति महिमाऽयं तव हरे।।५१।।(३४३)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे भक्तिरसायनाख्यं त्रयोदशं प्रकरणम्।।

इति प्रभृतिवचनैः कृष्णशब्दार्थस्य भूमानन्दत्वेन प्रतिपादनाद्, **इयम्** एषा, **तनुः** देहयष्टी, **रोमाञ्चेन** रोम्णां बालानाम्, अञ्चः पुलकः, तेन, **चमत्कृता** चमत्कारवती, दृश्यते इति शेषः, **मनः** च अन्तःकरणं, **भक्त्या** प्रेमलक्षणया वृत्त्या, **आनन्दितम्** आनन्देन समृद्धं, **प्रेमाश्रूणि** स्नेहाऽऽविर्भूतानि अश्रूणि नेत्रजलानि, **वदनं** मुखं, **विभूषयन्ति** अलंकुर्वन्ति, **गद्गदा** अव्यक्ताक्षरा, **गिरो** वाण्यः, **कण्ठं** गलम्, अवरोधयन्ति इति शेषः। एवंलक्षणवताम् **अस्माकं क्षणमात्रमपि** क्षणमात्रं तावन्मात्रमपि, **अवसरः** समयः, अन्यविषयम् अंगीकर्त्तुं, **न** न विद्यते, तथापि **चतुर्विधा** सायुज्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यभेदेन चतुःप्रकारापि, **मुक्तिः** मोक्षः, **द्वारि** पारमार्थिक-जीवब्रह्मैक्यलक्षणमोक्षद्वारभूते भजने, **दास्याय** दास्यं कर्त्तुं, **लोलायते** लोला चञ्चला इव आचरति, अतश्चतुर्विधा मुक्तिः प्रपञ्चनिवृत्तिः, **किं** न किमपि, अतितुच्छा इत्यर्थः।।५०।।(३४२)

उक्तश्लोकौ मधुसूदनकृतौ उदाहृतौ। स्वश्लोकेनापि भक्त्याधिक्यप्रतिपादनेन आश्चर्यान्तरमाह **घन इति। तव तु** तवैव, नान्यस्य इत्यर्थः। **भजने** भक्तौ, **अस्माकं** त्वद्भक्तिरुचिमतां नो, **घनो** गाढः, **काम** इच्छा अस्ति, **अन्यत्र** कर्मणि, ज्ञाने वा अन्यभजने वा अपि, **रुचिः** प्रीतिः, **न** नास्ति। कुत इत्यत आह **तवेति। तवैव** ते एव केवलम्, **अंघ्रिद्वन्द्वे** अंघ्र्योः पादयोः, द्वन्द्वं युग्मं, तस्मिन्, तद्विषयिणीषु इत्यर्थः। **नतिषु** प्रणामेषु, **अस्माकं** त्वद्भक्तानां, **रतिः** प्रीतिः, **अतुला** न विद्यते तुलोपमा यस्याः सा तथाभूता अस्ति यतः, अत इत्यर्थः। किञ्च **सकामे** विषयेच्छावति पुरुषे, **निष्काम** इच्छारहिता, **तु** अपि, यद्वा तु प्रसिद्धा इत्यर्थः। **सकामा** कामवती भूत्वा इति शेषः, **मुक्तिः** सायुज्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यरूपा, **सपदि** शीघ्रं, **पदगता** पदयोः चरणयोः, गता लग्ना सती, **सकामास्मान्** कामसहितान् नः, **भजति** सेवते, हे **हरे** हे सर्वदुःखनिरासक **अयम्** एष, **महिमा** महत्त्वं, **तव** ते अस्ति।।५१।।(३४३)

इतिश्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भक्तिरसायनार्थप्रकाशः त्रयोदशः।।

हे हरे! हमारा तो केवल तेरे ही भजन में प्रगाढ प्रेम है। ज्ञान आदि किसी भी अन्य पदार्थों में हमारी प्रीति नहीं है। तेरे चरणयुगल को प्रमाण करने में ही हमें अतुल प्रेम है। हे भगवन्! तुम्हारी कुछ ऐसी अपार महिमा है कि वह बिचारी मुक्ति जब सकाम (विषयार्थी) लोगों को नापसन्द कर डालती है, तो तत्क्षण ही अपने को निराश्रय सा देखकर बड़ी उत्सुकतापूर्वक हम भक्तिकामी लोगों के चरणों को चिपट जाती है और हमारी चरणशुश्रूषा करने लग पड़ती है।।५१।।

अथ राजयोगे भूमिकाभेदभास्करे अज्ञानभूमिका

भूमिकाभेदमारभ्य यावद् ग्रन्थसमापनम्।
अगाधबोधसारेऽस्मिन् राजयोगो निरूप्यते।।१।।(३४४)
अथायं हृदि कर्तव्यो भूमिकाभेदभास्करः।
यस्य प्रसादमात्रेण तमो हार्दं विलीयते।।२।।(३४५)
अज्ञानभूमिकाः सप्त सप्तैव ज्ञानभूमिकाः।
बीजजाग्रत् तथा जाग्रद् महाजाग्रत् तथैव च।।३।।(३४६)

एवं सर्वसाधनानि प्रतिपाद्य, इदानीम् एतैः साधनैः साध्याम् अवस्थां निरूपयितुम् उत्तरग्रन्थारम्भः, तत्र च फलरूपां ताम् अवस्थां भूमिकाभेदेन निरूपयितुं भूमिकाभेदभास्कराख्यं प्रकरणं सार्धचतुःषष्ट्युत्तरशतश्लोकम् आरभते। तत्र च त्याज्यग्राह्यभेदेन भूमिकाश्चतुर्दशप्रतिपादयितुं प्रकरणद्वयम् अस्ति। तत्रादौ त्याज्यसप्तभूमीः त्याजयितुं तज्ज्ञानार्थम् अज्ञानभूमिका निर्णेतुम् अज्ञानभूमिकानिर्णयाख्यं पादोनचतुर्दशश्लोकं प्रकरणम् आरभते। तत्रापि आदौ तावदुत्तरग्रन्थ इत ऊर्ध्वं राजयोगनिरूपणं प्रतिजानीते **भूमिकाभेदमिति। भूमिकाभेदं** भूमिकानां चतुर्दशभूमीनां, भेदं भेदनिरूपकप्रकरणम्, **आरभ्य** आरम्भं कृत्वा, **ग्रन्थसमापनं यावद्** ग्रन्थस्य बोधसाराख्यग्रन्थस्य, समापनं समाप्तिः, यावद् ग्रन्थसमाप्तिपर्यन्तम् इत्यर्थः। **अस्मिन्** प्रकृते, **अगाधबोधसारे** अगाधः दुरवगाहः, अनुभवं विना अर्थतो दुरवगाह इत्यर्थः। स चासौ बोधसारश्च एतन्नामको ग्रन्थः तस्मिन्, **राजयोगो** राज्ञां नृपाणां स्वस्थाने स्थित्वापि साधयितुं शक्यत्वात् तत्सम्बन्धी योगो जीवब्रह्मैक्यविषयकज्ञानलक्षणो, **निरूप्यते** प्रतिपाद्यते।।१।।(३४४)

एवमुत्तरग्रन्थार्थनिरूपणं प्रतिज्ञाय इदानीं प्रकरणार्थं श्रोतुं फलप्रदर्शनेन शिष्यं प्रेरयति **अथेति। अथ** साधनश्रवणानन्तरम्, **अयं** प्रत्यक्षो, निरूप्यमाणो, **भूमिकाभेदभास्करो** भूमिकानाम् अवस्थानां निरूपयिष्यमाणानां चतुर्दशसंख्यानां, भेदः परस्परवैलक्षण्येन पार्थक्यं, तस्य भास्करः सूर्य इव प्रकाशको ग्रन्थो, **हृदि** अन्तःकरणे, **कर्तव्यः** अवधार्यः। ननु एतदवधारणे किं फलं तत्राह **यस्येति। यस्य** भूमिकाभेदभास्करस्य, **प्रसादमात्रेण** प्रसन्नतया एव केवलं, **हार्दं** हृदि भवम्, अन्तःकरणे उत्पन्नं, **तमः** अज्ञानलक्षणम् आन्ध्यं, **विलीयते** नश्यति।।२।।(३४५)

एवं प्रकरणार्थविचारस्य फलं प्रदर्श्य, इदानीं प्रकरणप्रतिपाद्यसर्वभूमिकासंख्यामाह **अज्ञानेति। अज्ञानभूमिकाः** अज्ञानस्य मोहस्य, भूमिका अवस्थाः, **सप्त** सप्तसंख्याः सन्ति, **ज्ञानभूमिका एव** अज्ञाननिवर्त्तकस्य विवेकस्य, भूमिका अवस्था, अपि, **सप्त** सप्तसंख्याः सन्ति। एवं भूमिकासंख्यां

(अज्ञानियों तथा ज्ञानियों की चौदह) भूमिकाओं के भेद को बतानेवाले इस प्रकरण से लेकर ग्रन्थ की समाप्तिपर्यन्त अगाध बोधसार नामक इस ग्रन्थ में राजयोग का ही निरूपण किया जायगा।।१।।

अब 'भूमिकाभेदभास्कर' नामक प्रकरण को भली प्रकार समझ लो। जिसके समझते ही हृदय का अज्ञान नष्ट हो जाता है।।२।।

जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम्।
इति सप्तविधो मोहस्तेषां विवरणं शृणु।।४।।(३४७)
कुसूले संस्थितं बीजं तत्र सर्वो यथा द्रुमः।
तथा यत्र स्थितं विश्वं न तु व्यक्तिमुपागतम्।।५।।(३४८)
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत् तदुच्यते।
संसारप्रथमावस्था महामोहः स एव हि।।६।।(३४९)

प्रदर्श्य त्याज्यत्वेन अज्ञानभूमिकाज्ञानार्थं प्रथमम् अज्ञानभूमिकाः सप्त नामभेदेन निर्दिशति **बीजजाग्रदिति। बीजजाग्रत्** बीजजाग्रन्नाम्नी एका। **तथा** तद्वत्, **जाग्रत्** जाग्रन्नाम्नी द्वितीया। **तथैव च** तद्वदेव, **महाजाग्रद्** एतन्नाम्नी तृतीया।। तथा **जाग्रत्स्वप्नः** जाग्रत्स्वप्ननाम्नी चतुर्थी। **तथा** तद्वत्, **स्वप्नः** स्वप्ननाम्नी पञ्चमी। तथा **स्वप्नजाग्रत्** स्वप्नजाग्रन्नाम्नी षष्ठी। तथा **सुषुप्तकं** सुषुप्तिनाम्नी सप्तमी। सर्वसंख्यामाह **इतीति। इति** एवं प्रकारेण, **मोहः** अज्ञानं, **सप्तविधः** सप्तप्रकारः अस्ति। तासां भेदज्ञानाय ता निरूपयितुं तच्छ्रवणे शिष्यं प्रेरयति **तेषामिति। तेषां** सप्तविधमोहानां, **विवरणं** विस्तारं, **शृणु** अवधारय।।३-४।।(३४६-३४७)

तासु प्रथमां लक्षयति सार्धेन **कुसूल इति। कुसूले** धान्यसञ्चयार्थं मृदादिना निर्मिते पात्रे, **संस्थितं** पूर्वं स्थापितं, **बीजं** चणकादिधान्यानां कारणभूतं धान्यमस्ति, **तत्र** बीजे, **सर्वः** शाखाकाण्डपुष्पफलोपेतो, **द्रुमो** वृक्षो, **यथा** यद्वद् अस्ति, **तथा** तद्वद्, **यत्र** मायाशबले ब्रह्मणि, **विश्वं** जगत्, **स्थितम्** अस्ति, **व्यक्तिं** प्रकटतां, **न तु** नैव, **उपागतम्** प्राप्तं, तदेव जगत् जाग्रच्छब्दवाच्यं (जाग्रद्बीजरूपं) बीजरूपत्वाद् बीजमिव जगत्कारणं मायाशबलं ब्रह्म तदेव रूपं यस्य तत् तथाभूतं, **स्थितं** तिष्ठति, तत्कारणमेव **बीजजाग्रद्** एतन्नामकम् **उच्यते** कथ्यते, मुनिभिः इति शेषः। तस्यैव ग्रन्थान्तरे नामान्तराणि सन्ति तानि आह **संसारेत्यादिना। संसारप्रथमावस्था** संसारस्य ब्रह्माण्डस्य, प्रथमा गर्भस्थितिरूपावस्था स्थितिरिति सैव उच्यते, **स एव हि** उक्तलक्षण एव हि प्रसिद्धो, **महामोहो** मूलाज्ञानमिति नामान्तरैः उच्यते।।५-६।।(३४८-३४९)

अज्ञान की सात अवस्थायें हैं, इसी प्रकार (अज्ञाननिवर्तक) ज्ञान की (भी) सात ही अवस्थायें होती हैं। बीजजाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत्, तथा सुषुप्त, अज्ञान के ये सात भेद हैं, उनका विस्तार हमसे सुन लो।।३-४।।

कृषक लोग अगले वर्ष में बोने के लिये (कुसूल) कुठले में चने आदि के बीज रख देते हैं। जिस प्रकार भावी वृक्षों के पत्र पुष्प फल तथा स्कन्ध (गुद्दे) आदि उन ही बीजों में समाये रहते हैं, इसी प्रकार जिस (मायाशबलित ब्रह्म) में यह सम्पूर्ण संसार, बीज (कारण) रूप में स्थित होने पर भी प्रकट नहीं हो पाता, उस अवस्था में जाग्रत् शब्द का वाच्य (मायाशबलित) ब्रह्म बीजरूप में विद्यमान रहता है इसीलिये उसे 'बीजजाग्रत्' अवस्था कहते हैं। उसी को किसी शास्त्र में संसार की प्रथमावस्था (गर्भस्थिति)

तदेवाज्ञानमित्युक्तं यत्स्वबोधेन लीयते।
कुसूले संस्थितं बीजं क्षेत्रे निक्षिप्यते यदा।।७।।(३५०)
अंकुरोन्मुखतां याति सावस्था जाग्रदुच्यते।
इदमेव महत्तत्त्वमिति सांख्यैः निरूप्यते।।८।।(३५१)
ईक्षणं चेति वेदान्तैः सामान्याहंकृतिस्तथा।
आनन्दमयकोशश्च तत्साक्षी त्वीश्वरः स्मृतः।।६।।(३५२)

तदेवेति। तदेव बीजजाग्रदेव, **अज्ञानं** ज्ञानविरोधि भावरूपम्, **इति** एवं नाम्ना, **उक्तं** कथितं, वेदान्तेषु इत्यर्थः। कुत इत्यत आह **यदिति। यद्** यस्मात् कारणात्, **स्वबोधेन** स्वस्य अज्ञानस्य, बोधो ज्ञानं, तेन, यद्वा स्वस्य आत्मनः, बोधो ज्ञानं, तेन इत्यर्थः। **लीयते** नश्यति इति अत इत्यर्थः। द्वितीयां सदृष्टान्तां लक्षयति **कुसूल इति सार्धाभ्यां। कुसूले** धान्यसञ्चयनार्थं मृदादिना निर्मिते पात्रे, **संस्थितं** पूर्वं संस्थापितं, **बीजं** चणकादिकारणभूतं चणकादि, **यदा** यस्मिन् काले, **क्षेत्रे** भूमौ, **निक्षिप्यते** उप्यते।।७।।(३५०)

तदा इत्यध्याहार्यं, तदा तस्मिन् काले **अंकुरोन्मुखतां** किञ्चिदंकुरोत्पत्त्या वृक्षजनने सन्मुखतां, **याति** प्राप्नोति, तस्यावस्थेव अवस्थानं या **सा** जाग्रन्नाम्ना, **उच्यते** कथ्यते, तस्या एतस्या अपि शास्त्रान्तरे नामान्तराणि सन्ति तानि आह **इदमित्यादिसार्धेन। इदमेव** इयमवस्थैव, **सांख्यैः** सांख्यशास्त्रविद्भिः, **महत्तत्त्वमिति** एवं नाम्ना, **निरूप्यते** प्रतिपाद्यते।।८।।(३५१)

तथा तद्वद्, **वेदान्तैः** उपनिषद्वाक्यैः 'स ईक्षत' इत्यादिभिः **ईक्षणं च** ईक्षणम् अवलोकनम्, **इति** नाम्ना इदमेव प्रतिपाद्यते, **तथा** तद्वत्, **सामान्याहंकृतिः** समष्ट्यहंकार इति, **आनन्दमयकोशश्च** इति च, तैरेव वेदान्तिभिः अभिधीयते, **तत्साक्षी तु** तस्य जाग्रतः साक्षी अव्यवधानेन प्रकाशकः तद्विलक्षणश्च, **ईश्वर** इति, **स्मृत** उक्तः।।६।।(३५२)

महामोह (किंवा मूलाज्ञान) कहा जाता है। उसी बीजजाग्रत् नामक अज्ञान को वेदान्त सिद्धान्त में ज्ञान का विरोधी भाव पदार्थ माना गया है क्योंकि वह स्वबोध (उस अज्ञान के बोध हो जाने या आत्मा के बोध हो जाने) से नष्ट हो जाया करता है।।५-६।।

कुसूल में रक्खे चने आदि के बीजों को भूमि में बोने पर जब कि उनमें अंकुर फूटने को तैयार होता है, मायाशबलित ब्रह्म में भी जब ऐसी ही जगदंकुरता उत्पन्न होती है, उस दूसरी अवस्था को 'जाग्रत्' कहा जाता है। सांख्यमतानुयायी लोग इसी को 'महत्तत्त्व' कहते हैं, उपनिषदों में इसी को 'ईक्षण', 'समष्टि अहंकार' तथा 'आनन्दमय कोष' कहा गया है। इस 'जाग्रत्' अवस्था के साक्षी को ईश्वर कहा जाता है।।७-६।।

विशेषाहंकृतिः सूक्ष्मांकुरवद् व्यावहारिकी।
महाजाग्रद् बुधैः प्रोक्ता व्यष्ट्यवस्थात्रये तु सा।।१०।।(३५३)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्येवस्था जाग्रदिति स्मृता।
जाग्रदेव यदा जीवो मनोराज्यं करोति हि।।११।।(३५४)
जाग्रतः स्वप्न इव यत् स जाग्रत्स्वप्न उच्यते।
लोकप्रसिद्धो यः स्वप्नः स स्वप्न इति कथ्यते।।१२।।(३५५)

तृतीयां लक्षयति त्रिभिः पादैः **विशेषेति। सूक्ष्मांकुरवद्** यवादिधान्यानां परिचितिकारणं यद्वत् तद्वत् **व्यावहारिकी** व्यवहारे भवा, **विशेषाहंकृतिः** विशेषा सुखी अहं, दुःखी अहं, काणोऽहं, बधिरोऽहं, पुष्टोऽहं, कृशोऽहं, ब्राह्मणोऽहं, क्षत्रियोऽहम् इत्यादिरूपा अहंकृतिः अहंक्रिया सा, **बुधैः** विवेकिभिः, **महाजाग्रद्** एतन्नाम्ना, **प्रोक्ता** कथिता, अस्या एव नामान्तरं व्यावहारिकमाह **व्यष्टीति। सा तु** सैव, **जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्ये** जाग्रच्च इन्द्रियैरर्थोपलब्धिः जागरितम् इति उक्तलक्षणा, स्वप्नश्च इन्द्रियाणां कारणाज्ञानमात्रावस्थाने जाग्रत्संस्कारजः प्रत्ययवान् स्वप्न इत्युक्तलक्षणः, सुषुप्तिश्च अज्ञानमात्रस्थितिरूपा, एता आख्या आह्वा यस्य तस्मिन्, **व्यष्ट्यवस्थात्रये** व्यस्तरूप-बुद्धेरवस्था जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः तासां त्रयं तस्मिन्, **जाग्रदिति** नाम्ना, **स्मृता** प्रोक्ता, मुनिभिः इति शेषः। चतुर्थीं लक्षयति **जाग्रदेवेति। जीवः** साधिष्ठानबुद्धिस्थः चिदाभासो, **यदा** यस्मिन् काले, **जाग्रदेव** जाग्रत्सन्नपि, **मनोराज्यं** मानसं संसारं, **करोति** संकल्पयति, **हि** प्रसिद्धम् एतत् सर्वेषामित्यर्थः।।१०-११।।(३५३-३५४)

जाग्रत इति। जाग्रतो जागरणवतः, **स्वप्न इव** स्वप्नवद्, **यत्** मनोराज्यं, **स जाग्रत्स्वप्नो** जाग्रत्स्वप्ननाम्नी अवस्था, **उच्यते** कथ्यते। पञ्चमीम् आह **लोकप्रसिद्ध इति। यो लोकप्रसिद्ध** आगोपालं सर्वैः अनुभूतः, **स्वप्नः** अस्ति, **स** स एव स्वप्ननाम्नी, **कथ्यते** निरूप्यते।।१२।।(३५५)

जब कि बोये हुए धान्यों के अंकुर बाहर फूट आते हैं, जिससे कि उनके जौ-चने आदि होने की पहचान पड़ने लगती है, जाग्रत् की जब ऐसी व्यवहारयोग्य अवस्था हो जाती है जिसके प्रभाव से मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं काणा हूँ, मैं बहरा हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ इस प्रकार का विशेषाहंकार उत्पन्न हो जाता है, उस तीसरी अवस्था को 'महाजाग्रत्' कहा गया है। यहाँ तक समष्टि की तीन अवस्थायें वर्णन की गईं। व्यष्टि जीव की भी ये ही तीनों अवस्थायें होती हैं परन्तु तब इनको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कहा जाता है। उनमें से यह 'महाजाग्रत्' नाम की तीसरी अवस्था व्यष्टि की 'जाग्रत्' अवस्था कहाती है।।१०-११।।

जब कि जीव (अधिष्ठानसहित बुद्धि में पड़ा हुआ चिदाभास) जागते समय ही मनोराज्य करने लगता है या मानससंस्कार बनाने लगता है तब वह मनोराज्य जागरण काल का स्वप्न होता है इसलिये उसे 'जाग्रत्स्वप्न' कहा जाता है।

सर्वलोक-प्रसिद्ध स्वप्न को ही पाँचवीं 'स्वप्न' अवस्था कहा गया है।।१२।।

जातेऽपि जागरे जन्तोः स्वप्नदृष्टार्थभासनम्।
प्रत्यक्षमिव संस्कारात् स्वप्नजाग्रत् तदुच्यते।।१३।।(३५६)
षडवस्थापरित्यागे सुषुप्तिः सप्तमी मता।
अज्ञानभूमिकास्त्वेताः शृणु विज्ञानभूमिकाः।।१४।।(३५७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे भूमिकाभेदभास्करे अज्ञानभूमिनिर्णयाख्यं प्रथमं प्रकरणम्।।

षष्ठीं लक्षयति **जातेऽपि इति। जन्तोः** जीवस्य, **जागरे** जागरणे, **जातेऽपि** उत्पन्नेपि सति, **संस्कारात्** स्वप्नार्थानुभवसंस्कारात्, **प्रत्यक्षमिव** जाग्रद्दृग्गोचराभावेन अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षवत् स्मृतिविषयं, **स्वप्नदृष्टार्थभासनं** स्वप्ने ये दृष्टा अर्था गिरिनदीनगरादयः, तेषां भासनं प्रतीतिः, **तद्** भासनं, **स्वप्नजाग्रद्** एतन्नाम्नी अवस्था, **उच्यते** कथ्यते।।१३।।(३५६)

सप्तमीं लक्षयति **षडिति। षडवस्थापरित्यागे** षण्णाम् उक्तलक्षणानां जाग्रदाद्यवस्थानां, परित्यागे अभावे सति, या **सुषुप्तिः** निद्रा, सा **सप्तमी** सप्तमी अवस्था, **मता** उक्ता, मुनिभिरिति शेषः। उक्तम् अज्ञानभूमिकानिरूपणम् उपसंहरति **अज्ञानेति।** हे शिष्य **एता** निरूपिता, **अज्ञानभूमिका** अज्ञानस्य महामोहस्य, भूमिका अवस्था, उक्ता इति शेषः। एवं सलक्षणा अज्ञानभूमिकाः प्रतिपाद्य इदानीं ज्ञानभूमिकाः श्रोतुं शिष्यं प्रेरयति **शृणु इति। विज्ञानभूमिका** विज्ञानस्य विवेकस्य, भूमिका अवस्थाः पूर्वं सप्त निर्दिष्टाः ता, इदानीं त्वं **शृणु** अवधारय।।१४।।(३५७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भूमिकाभेदभास्करार्थप्रकाशेऽज्ञानभूमिकानिर्णयार्थप्रकाशः प्रथमः।।

अथ ज्ञानभूमिका

एवम् अज्ञानभूमिकाः सलक्षणाः सप्त निरूप्य इदानीं ज्ञानभूमिकाः प्रतिपादयितुं ज्ञानभूमिनिर्णयाख्यं प्रकरणम् एकोनसार्धशतश्लोकम् आरभते, तत्र च अवान्तरप्रकरणानि प्रथमभूमिका-द्वितीयभूमिका-तृतीयभूमिका-चतुर्थभूमिका-पञ्चमभूमिका-षष्ठभूमिका-सप्तमभूमिकानिर्णयाख्यानि, सप्तभूमिकाशास्त्रार्थनिर्णयाख्यं च इति अष्टौ क्रमेण एकोनत्रिंशच्चतुस्त्रिंशदेकादशाष्टादशद्वाविंशति-नवनवसप्तदशश्लोकानि सन्ति। तत्रादौ प्रथमभूमिकानिर्णयाख्यमेकोनत्रिंशच्छ्लोकं प्रकरणम् आरभते। तत्र च तावन्निरूप्यमाणभूमिकानामानि आह **जिज्ञासेत्यादिसार्धेन। जिज्ञासा** ज्ञातुम् आत्मनः तात्त्विकं रूपमिच्छति जिज्ञासानाम्नी एका। **अथ** अनन्तरं, **विचाराख्या** विचारो विवेकः

स्वप्नकाल के अनुभव किये हुए नदी, पर्वत आदि पदार्थ संस्कारों की प्रबलता के कारण याद आने पर जाग्रत् में भी प्रत्यक्ष-से प्रतीत होने लगते हैं, इसलिये उस अवस्था को 'स्वप्नजाग्रत्' कहा जाता है। वह छठी अवस्था है।।१३।।

जिस समय ऊपर कही हुई कोई भी अवस्था नहीं रहती तब वह सातवीं 'सुषुप्ति' अवस्था कही जाती है। अज्ञान की ये सात अवस्थाएँ हमने बतायीं। अब विज्ञान की सात अवस्थाओं का वर्णन करेंगे, उन्हें सुनो।।१४।।

अथ ज्ञानभूमिकाः

जिज्ञासाथ विचाराख्या ततस्तु तनुमानसा।
सत्त्वापत्तिरसंसक्तिः पदार्थाभाविनी तथा।।१।।(३५८)

आसामेव नामान्तराणि

सप्तमी तुर्यमित्युक्ता तुर्यातीतमतः परम्।
मुमुक्षा च समक्षा च परीक्षा च परोक्षका।।२।।(३५९)

प्रकृतिपुरुषात्मानात्मादीनां सैव आख्या यस्याः सा तथोक्ता, एतन्नाम्नी द्वितीया। **ततस्तु** द्वितीयभूमिकानन्तरं तु ताभ्यां विलक्षणा, **तनुमानसा** तनवः सूक्ष्मा मानसा मनोविकाराः कामादयो यस्यां सा तथोक्ता, एतन्नाम्नी तृतीया। **ततः** अनन्तरं, **सत्त्वापत्तिः** सत्त्वस्य सत्त्वगुणस्य, आपत्तिः प्राप्तिः, यस्यां सा तथोक्ता। यद्वा अन्यासत्त्वदृष्ट्यात्मनः स्वस्य कालत्रयाबाधितस्य, आप्तिः प्राप्तिः, यस्यां सा तथोक्ता, चतुर्थी ज्ञेया। **ततः** अनन्तरम्, **असंसक्तिः** न विद्यते संसक्तिः केनापि सम्बन्धप्रतीतिः स्वस्मिन् यस्यां सा, एतन्नाम्नी पञ्चमी ज्ञेया। **तथा** तद्वत्, **पदार्थाभाविनी** पदानि जीवेश्वरादिनामानि, अर्थाः तद्वाच्यानि रूपाणि, तेषाम् अभावः असत्त्वं, विद्यते यस्यां सा, पदार्थाभाविनी षष्ठी नाम्ना ज्ञेया, **तुर्यमित्युक्ता** तुर्यम् इत्येवं नाम्ना उक्ता मुनिभिः कथिता, सा सप्तमी ज्ञेया। **अतः परं** सप्तमभूम्यस्पृष्टं, **तुर्यातीतम्** एतन्नामतत्त्वमस्ति।।१।।(३५८)

आसां भूमिकानां ग्रन्थान्तरे नामभेददर्शनेन भ्रमः मा भूदिति नामान्तराण्यपि वक्तुं प्रतिजानीते **आसामिति। आसामेव** उक्तनाम्नीनां भूमीनां, **नामान्तराणि** अन्यानि नामानि, उच्यन्ते इति शेषः तानि आह **मुमुक्षेति। मुमुक्षा** मोक्तुं संसारबन्धनादिच्छा मुमुक्षा, प्रथमा भूमिका ज्ञेया। **च** पुनः, **समक्षा** सम्यगक्षं समीचीनं विचाररूपं नेत्रं यस्यां सा तथोक्ता, द्वितीया। **च** पुनः, **परीक्षा** परीक्षणं परीक्षा मननं तदस्याम् अस्ति इति सा तथोक्ता, तृतीया। **च** पुनः, **परोक्षका** परोक्षं परोक्षतया ज्ञातं, कं ब्रह्म, यस्यां सा तथोक्ता, चतुर्थी ज्ञेया।।२।।(३५९)

अपरोक्षेति। अपरोक्षा न परोक्षं ब्रह्म यस्यां सा तथोक्ता, ब्रह्मसाक्षात्कारवतीत्यर्थः, पञ्चमी। **महादीक्षा** महती अनवच्छिन्ना दीक्षा 'अहं ब्रह्म'इति दीक्षणं संस्कारविशेषो, यस्यां सा तथोक्ता,

जिज्ञासा, विचारा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तथा तुर्य नाम की सात ज्ञानभूमिका कहाती हैं। इन भूमिकाओं से परे 'तुर्यातीत' पद का निवास माना गया है।

इन भूमिकाओं के दूसरे नाम भी बताये जाते हैं (कि जिससे नाम का भेद देखकर भ्रम की सम्भावना न रहे)।।१।।

मुमुक्षा, समक्षा (समीचीन विचार), परीक्षा (मनन), परोक्षा (ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान), अपरोक्षा (साक्षात्कार), महादीक्षा ('अहं ब्रह्म' ऐसा दृढ निश्चय), पराकक्षा (ब्रह्मप्राप्ति का द्वारभूत) ये सात नाम भी उन्हीं भूमिकाओं के हैं।।२।।

अपरोक्षा महादीक्षा पराकक्षेति सप्त ताः ।
प्रथमा त्वधिकाराख्या द्वितीया श्रवणात्मिका ।।३।।(३६०)
तृतीया मननप्राया निदिध्यासश्चतुर्थिका ।
साक्षात्कारः पञ्चमी स्यात् षष्ठी परिणतिः स्मृता ।।४।।(३६१)

षष्ठी ज्ञेया । तथा **पराकक्षा** परोत्कृष्टा ब्रह्मप्राप्तेः, कक्षा द्वारभूता सप्तमी । इत्येवं **ता** भूमिकाः, **सप्त** सप्तविधा ज्ञेयाः । पुनश्च ग्रन्थान्तरस्थितं भूमिकानामभेदमाह **प्रथमेति । अधिकाराख्या** अधिकारित्वं सैव आख्या नाम यस्याः सा तथोक्ता, **प्रथमा** प्रथमभूमिका ज्ञेया । तथा **श्रवणात्मिका** श्रवणं वाक्यानाम् आदिमध्यावसानेषु एकस्मिन् ब्रह्मैक्यलक्षणेर्थे तात्पर्यप्रतीतिः इति उक्तलक्षणः अर्थ आत्मा स्वरूपं यस्या सा तथोक्ता, **द्वितीया** भूमिका ज्ञेया ।

तृतीयेति । मननप्राया मननं श्रुतार्थस्य युक्त्या संभावितत्वानुसन्धानं मननमिति उक्तलक्षणं प्रायं बहु यस्यां सा, प्रायशब्दः अत्राकारान्तः सा **तृतीया** ज्ञेया । **निदिध्यासः** श्रुतार्थस्य सजातीयप्रत्ययानुवृत्तिः विजातीयप्रत्ययरहितेति उक्तलक्षणो विपरीतभावनानिवर्त्तको निदिध्यासो वृत्तिविशेषः, सा **चतुर्थिका** चतुर्थभूमिका ज्ञेया । **साक्षात्कारः** साक्षात्करोतीति साक्षात्कारो जीवब्रह्मैक्याव्यवहितानुभवरूपा वृत्तिः, सा **पञ्चमी** भूमिका ज्ञेया । **परिणतिः** तस्मिन्नेव जीवब्रह्मैक्ये परिणतिः परिणामरूपा वृत्तिः सा, **षष्ठी** भूमिका, **स्मृता,** मुनिभिरिति शेषः ।।३-४।।(३६०-३६१)

सप्तमीति । पराकाष्ठा तु जीवब्रह्मैक्यार्थपरिणतिरूपा वृत्तिरेव, **पराकाष्ठा** निरतिशयसुखरूपेण गाढं परिणता सती, **सप्तमी** भूमिका ज्ञेया, **सैव** सप्तम्येव, **तुर्यमिति** तुर्येत्येवं नाम्ना, **ईरिता** कथिता । एवं भूमिकानामानि अभिधाय इदानीं तासु आरूढपुरुषलक्षणप्रतिपादनेन तासां लक्षणं विस्तरेण प्रतिपादयितुं तासु एव आरूढलक्षणं संक्षेपेणाह द्वाभ्यां **प्रथमायां** प्रथमभूमिकायां जिज्ञासाह्वायाम्, आरूढो, **विद्यार्थी** इति विद्यां जीवब्रह्माभेदापरोक्षज्ञानम् अर्थते तच्छीलो भवति । **तु** पुनः, **द्वितीयायां** विचाराख्यायां भूमिकायाम्, आरूढः **पदार्थवित्** पदानि 'तत्त्वमसि'इत्यादीनि तेषाम् अर्था वाच्यलक्ष्यौ तत्त्वमोः द्वयोः ऐक्यं च असिपदस्य इत्यादयः तान् वेत्ति इति स तथोक्तो, भवति ।

निःसंशय इति (तृतीयायां) । तनुमानसानाम्न्यां तृतीयभूमिकायां, **निःसंशयो** निर्गताः संशया यस्मात् स तथोक्तो, भवति । **चतुर्थ्यां** चतुर्थभूमिकायां सत्त्वापत्तिनाम्न्याम्, आरूढः, **पण्डितः**

अधिकारित्व पहली, श्रवणस्वरूपा दूसरी, मननबहुला तीसरी, निदिध्यासन चौथी, साक्षात्कार पाँचवी, परिणति षष्ठी तथा पराकाष्ठा सातवीं अवस्था है, इसी सातवीं को तुर्य भी कहते हैं । ये सातों नाम भी उन्हीं अवस्थाओं के हैं ।।३-४।।

उन सात भूमिकाओं में आरूढ पुरुषों के लक्षण संक्षेप से बताये जाते हैं'जिज्ञासा' नाम की प्रथम भूमिका में आरूढ पुरुष 'विद्यार्थी', 'विचार' नाम की द्वितीय भूमिका में 'पदार्थवित्' 'तनुमानसा' नामक तृतीय भूमिका में 'निःसंशय' 'सत्त्वापत्ति' नामक चतुर्थ भूमिका में 'पण्डित' किंवा 'समबुद्धि', 'असंसक्ति' नामक पंचम भूमिका में

सप्तमी तु पराकाष्ठा सैव तुर्यमितीरिता।
प्रथमायां तु विद्यार्थी द्वितीयायां पदार्थवित्।।५।।(३६२)
निःसंशयस्तृतीयायां चतुर्थ्यां पण्डितो भवेत्।
प्राप्तानुभूतिः पञ्चम्यां षष्ठ्यामानन्दघूर्णितः।।६।।(३६३)

समस्तपदपदार्थेषु समबुद्धिः, **भवेत्** स्यात्, तथा **पञ्चम्यां** पञ्चमभूमिकायाम् असंसक्तिनाम्न्याम्, आरूढः, **प्राप्तानुभूतिः** प्राप्ता लब्धा, अनुभूतिः जीवात्मैक्यस्य अनुभवो येन स तथोक्तो, भवति। तथा **षष्ठ्यां** षष्ठभूमिकायां पदार्थाभाविनीनाम्न्याम्, आरूढः पुरुष **आनन्दघूर्णित** आनन्देन भूमानन्देन, घूर्णितो व्याप्तो, भवेद्, आनन्दानन्यास्वादी भवेदित्यर्थः।।५-६।।(३६२-३६३)

सप्तमीति। सप्तमी सप्तमभूमिका, **तुर्या** एतन्नाम्नी, **सहजा** सहजस्वभावा, तदारूढः सहजानन्दवान् भवति इत्यर्थः। **अतः परं** तुर्याख्यसप्तमभूमेः परम् उत्कृष्टं, तदस्पृष्टं तदन्यच्च, **तुर्यातीतं** तुर्यायाः सप्तमभूमेः, अतीतम् अस्पृष्टं तत्त्वं, ज्ञेयमित्यर्थः। एवं सप्तभूमिकासु आरूढलक्षणं संक्षेपतः प्रदर्श्य, इदानीं सप्तमभूमेः तुर्यशब्दवाच्यत्वं यदुक्तं तद्विशदयितुं सप्तभूमिकासु चतस्रोऽवस्था दर्शयति सार्धाभ्याम् **भूमिकात्रितयमिति। अत्र तु** अत्र ज्ञानेऽपि, **पूर्वं** प्रथमम्, **अवस्थात्रितयम्** अवस्थानां भूमिकानां, त्रितयं त्रिकं जिज्ञासाविचारातनुमानसाख्यं, **जाग्रदिति** जाग्रन्नाम्ना, **स्मृतं** प्रोक्तं, मुनिभिरिति शेषः।

कुत इत्यत आह **जिज्ञासोरिति। यतः** यस्मात् कारणाद्, **अत्र** भूमित्रये, **जिज्ञासोः** मुमुक्षोः, **यथापूर्वं** पूर्वम् अनतिक्रम्य इति यथापूर्वम् अज्ञानावस्थायां यथा संसारः स्थितः तथैव इत्यर्थः। **संसारः** दृश्यदर्शनद्रष्टृरूपः, **स्थितः** तिष्ठति, अतः इत्यर्थः। अयं भावःएतद्भूमित्रिके पूर्ववत् संसारप्रतीतौ सत्यामपि भूमित्रिकस्य एतस्य मोक्षसाधनत्वाज्ज्ञानत्वेन तुर्यत्वे जाग्रत्तुर्यत्वं, जाग्रत्त्वं तु सप्तमी भूमिकायाः तुर्यत्वापेक्षयेति ज्ञेयं। एवं भूमित्रिके जाग्रत्त्वं प्रदर्श्य, इदानीम् एतदपेक्षया चतुर्थ्यां स्वप्नत्वं साधयति **चतुर्थीति। चतुर्थी** चतुर्थभूमिका सत्त्वापत्तिनाम्नी, **स्वप्न इत्युक्ता** स्वप्न इत्येवं नाम्ना, उक्ता कथिता। कुत इत्यत आह **स्वप्नाभमिति।** यद् यतः कारणाद्, **यत्र** चतुर्थभूमिकायां, **जगद्** विश्वं, **स्वप्नाभं** स्वप्नस्य आभा इव आभा यस्य तत्तथाभूतम्, अस्ति प्रतीयते इत्यर्थः, अत इति योज्यम्। अत्रापि अयं भावः ज्ञानसाधनत्वात् ज्ञानत्वेऽपि अस्या जगतः मिथ्यात्वपूर्वप्रतीतेः स्वप्नत्वं, स्वप्नोत्थितपुरुषे स्वप्नपदार्थप्रतीतिः इव अस्या जगतः तात्कालिकमिथ्यात्वेन स्वप्नतुर्यत्वमिति।

'प्राप्तानुभूति', 'पदार्थाभावनी' नामक षष्ठ भूमिका में 'आनन्दघूर्णित' हो जाता है। 'तुर्य' नामक सप्तमी भूमिका में आरूढ हुआ पुरुष सहजानन्द-स्वभाव होता है। इस तुर्य नामक सातवीं भूमिका से परे अत्यन्त उत्कृष्ट तथा इन अवस्थाओं से सर्वथा असंपृक्त तुर्यातीत पद है (वही ज्ञेय भी है)।।५-६।।

ज्ञान की इन सात भूमिकाओं में से (जिज्ञासा, विचारा, तनुमानसी)ये तीन भूमिकायें मिलकर 'जाग्रत्' कहाती हैं। क्योंकि जिज्ञासु की दृष्टि में अभी तक

सप्तमी सहजा तुर्या तुर्यातीतमतः परम्।
भूमिका त्रितयं पूर्वं त्वत्र जाग्रदिति स्मृतम्।।७।।(३६४)
जिज्ञासोरत्र संसारो यथापूर्वं यतः स्थितः।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत्।।८।।(३६५)
सुषुप्तिः शिथिला गाढा द्विविधाऽऽद्या तु पञ्चमी।
षष्ठी गाढसुषुप्तिः स्यात् सप्तमी तुर्यमुच्यते।।९।।(३६६)

इदानीं सुषुप्त्यवस्थाभेदप्रदर्शनपूर्वकं भूमिकाद्वये क्रमप्राप्तं सुषुप्तं दर्शयति **सुषुप्तिरिति**। **सुषुप्तिः** निद्रा, **द्विविधा** द्विप्रकाराऽस्ति, एका **शिथिला,** अपरा **गाढा** घना, तत्र **आद्या तु** शिथिला सुषुप्तिस्तु, **पञ्चमी** असंसक्तिनाम्नी पञ्चमभूमिका ज्ञेया। **षष्ठी** पदार्थाभाविनी भूमिका, **गाढसुषुप्तिः** गाढा घना, सुषुप्तिः निद्रा, सा तथोक्ता स्याद्। एवं च शिथिलात्वगाढात्ववैलक्षण्येन सुषुप्तित्वं सममेव। अयं भावःप्रपञ्चास्फूर्त्या सुषुप्तत्वम् अहंकारलयाभावेन स्वरूपस्फूर्त्या च सुषुप्ततुर्यत्वमिति। यदर्थम् अवस्थात्रयं प्रदर्शितं तदिदानीं तुर्यत्वं सप्तम्यां दर्शयति **सप्तमीति**। **सप्तमी** सप्तमभूमिका, **तुर्यं** तुर्यावस्था, **उच्यते** विद्वद्भिः कथ्यते, पूर्वावस्थाषट्कस्य ज्ञानत्वेन तुर्यात्वापेक्षया तु तुर्यतुर्यात्वमिति भावः।।७-९।।(३६४-३६६)

एवं ज्ञानभूमिकाः सप्तापि संक्षेपतो निरूप्य, इदानीं ता एव विस्तरतो वर्णयितुम् अज्ञानभूमिकाभ्यः ज्ञानभूमिकासु अवतरणे कारणं ज्ञापयितुं प्रश्नम् उत्थापयति त्रिभिः **अत्रेति**। **अत्र** ज्ञानभूम्यवतरणकारण इत्यर्थः, **प्रश्नः** अनुयोगः, क्रियते इति शेषः, तमेवाह **संसारमिति**। **यः** कश्चिदज्ञानी, **संसारमेव** केवलं संसारं प्रपञ्चमेव, **वेत्ति** जानाति, केवलं वर्त्तमानमेव दृश्यं

अज्ञानावस्था की तरह ही (दृश्य दर्शन द्रष्टारूप) यह संसार प्रतीत होता रहता है। परन्तु चौथी अवस्था को 'स्वप्न' कहते हैं क्योंकि इस भूमिका में यह संसार स्वप्नतुल्य प्रतीत होने लगता है। (ज्ञान का साधन होने से यह अवस्था ज्ञानरूप होती है। स्वप्न देखकर जगे हुए पुरुष को जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थ मिथ्या प्रतीत होते हैं, यह जगत् इस भूमिकावाले को स्पष्ट दीखने पर भी उस समय उसी तरह मिथ्या प्रतीत होने लगता है)। सुषुप्ति दो प्रकार की होती हैपहली 'शिथिल सुषुप्ति', दूसरी 'गाढ सुषुप्ति'। 'असंसक्ति' नाम की पाँचवी भूमिका 'शिथिल सुषुप्ति' है। 'पदार्थाभाविनी' नाम की षष्ठी भूमिका 'गाढ सुषुप्ति' कहाती है। सप्तमी भूमिका को 'तुर्यावस्था' कहते हैं। इसी अवस्था को समझाने के लिये पहली छः अवस्थाओं को जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में बाँट दिया गया है। पहली छह अवस्थाओं को यदि तीन श्रेणियों में विभक्त करें तो यह अवस्था तुर्य अर्थात् चौथी कहाती है। परन्तु यदि उन छहों अवस्थाओं को ज्ञानरूप होने से तुर्य ही माना जाय तब तो इस सातवीं अवस्था को 'तुर्यतुर्या' अवस्था कहा जायगा।।७-९।।

अत्र प्रश्नः

संसारमेव यो वेत्ति मोक्षमार्गं न वेत्ति यः।
तस्य संसारिणः पूर्वं मुमुक्षा जायते कथम्।।१०।।(३६७)
यादृशो यस्य संस्कारस्तादृशी तस्य वासना।
संसारसंस्कारवतो मुमुक्षा जायते कथम्।।११।।(३६८)
मोक्षे तु विषयो नास्ति सुखं न विषयैर्विना।
इति मूढधियां पूर्वं मुमुक्षैव कथं भवेत्।।१२।।(३६९)

जानाति इत्यर्थः, न तु पारमार्थिकं रूपं पारलौकिकं च। **यश्च** अज्ञानी, **मोक्षमार्गं** मोक्षस्य ब्रह्मात्मभावस्थितेः, मार्गमुपायभूतं साधनं, शास्त्रं च, **न वेत्ति** न जानाति, उभयोः ऐहिकमात्रज्ञानपारलौकिकज्ञानाभ्यां भेदे सत्यपि मोक्षमार्गाज्ञानं समानमेव इति भावः। **तस्य** तथाविधस्य, **संसारिणः** संसारप्रवृत्तस्य पुरुषस्य, **पूर्वं** प्रथमं, **मुमुक्षा** मोक्षेच्छा, **कथं** केन प्रकारेण, **जायते** भवति, तत्कथ्यताम्।।१०।।(३६७)

इदानीं पृष्टमेव अर्थम् आक्षिप्य पुनः पृच्छति **यादृश इति। यस्य** पुरुषस्य, **यादृशो** यद्वत्, **संस्कारः** पूर्वजन्मकर्मजन्यः वासनाविधानकारणं भवति, **तस्य** पुरुषस्य, **वासना** इच्छाविशेषः, **तादृशी** तद्वद्, भवेत्। तत्र **संसारसंस्कारवत** इदानीं संसारप्रवृत्तस्य पूर्वमपि संसारसंस्कार एव अनुमीयते, अतः तद्वतः पुरुषस्य, **मुमुक्षा** मोक्षेच्छा, **कथं** केन कारणेन, **जायते** भवति। अत्रायं प्रयोगःअयं संसारसंस्कारवान् भवितुमर्हति संसारे प्रवर्त्तमानत्वाद् जाग्रत्संसारसंस्कारेण स्वप्न-संसारप्रवृत्तवदिति। इह जन्मनि संसारप्रवृत्तस्य पूर्वजन्मनि अपि संसारसंस्कारेणैव भाव्यमिति तस्य न मोक्षमार्गे प्रवृत्तिः सम्भवति इति भावः।।११।।(३६८)

ननु विषयसुखलाभेन विषयज्ञानेन विषयसाधनप्रवृत्तिवद् मोक्षविषयकज्ञानेन एव मोक्षेच्छया मोक्षसाधनेषु प्रवृत्तिः स्याद् इत्याशंक्य तस्य अज्ञानित्वाद् विषयप्रात्यक्ष्येण, मोक्षस्य च अप्रात्यक्ष्येणापि तन्न भवति इत्याशयेन आह **मोक्षे त्विति। विषयस्तु** सुखसाधनभूतो विषयश्च, **मोक्षे** वेदान्तप्रतिपाद्ये मोक्षाख्ये ब्रह्मणि, **नास्ति** न विद्यते, **सुखं** शर्मापि, **विषयैः विना** सुखकारण-भूतविषयानृते, **न** नास्ति, **इति** एवं, **मूढधियां** मूढाऽज्ञानवती, धीः निश्चयात्मिका अन्तकरणवृत्तिः, येषां, तेषां विपरीतज्ञानिनाम् इत्यर्थः, **मुमुक्षैव** मोक्षेच्छैव, **पूर्वं** प्रथमं, **कथं** केन प्रकारेण, **भवेत्** स्यात्, न कथमपि भवेद् अत एव अज्ञानभूभ्यः अज्ञानिनः ज्ञानभूम्यवतरणं केन हेतुना स्यात् तत्कथ्यताम् इति प्रश्नतात्पर्यम्।।१२।।(३६९)

उन पहली सात अज्ञानभूमिकाओं में से निकल कर ज्ञानभूमिका में प्रवेश होने के कारण को मालूम करने के लिये अब प्रश्न किया जाता हैजो अज्ञानी पुरुष केवल इस दृश्य जगत् को ही जानता है, जिसने कभी मोक्ष का नाम नहीं सुना, ऐसे संसारी को मोक्ष की इच्छा ही किस प्रकार उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि जिस पुरुष के जैसे

अत्र उत्तरम्

निष्कामा वा सकामा वा भक्तिर्विष्णोः शिवस्य वा।
सप्रेम हृदये जाता मुमुक्षाकारणं हि तत्।।१३।।(३७०)
कदाचिच्छुद्धभावेन गंगातीरे तपः कृतम्।
तत्पुण्यपरिपाकेन मुमुक्षा जायते सताम्।।१४।।(३७१)

एवं प्रश्नमुत्थाप्य तदुत्तरं वक्तुमाह **अत्रेति। अत्र** अज्ञानभूमिकाख्यः ज्ञानभूम्यवतरणकारणप्रश्न इत्यर्थः, **उत्तरं** प्रतिवाक्यम्, उच्यते इति शेषः, तदेवाह **निष्कामेति। विष्णोः** जगद्व्यापकस्य परमात्मनः, साकारस्य विष्णुरूपस्य वा **शिवस्य वा** सुखरूपस्य अहन्तादिसाक्षिणः त्वंपदस्य वा, **निष्कामा** निर्गतः कामो हेतुः यस्याः सा तथोक्ता, तदभावपक्षद्योतकः वाशब्दः। **सकामा वा** काम इच्छाविषयभोगानां तेन सहिता वा, **सप्रेम** प्रेम स्नेहः, तेन सहितं यथा तथा, **हृदये** अन्तःकरणे, **भक्तिः** भजनानुरागवती वृत्तिः, **जाता** उत्पन्ना चेत् तत्तदेव इत्यर्थः। **मुमुक्षाकारणं** मुमुक्षायां हेतुः भवति, **हि** प्रसिद्धम् एतन्नारदादिषु इत्यर्थः।।१३।।(३७०)

स्थानभेदेनापि कृतस्य विशिष्टतपसो मोक्षेच्छाहेतुत्वमाह **कदाचिदिति। कदाचिद्** इह निष्कामत्वेन इह जन्मनि, जन्मान्तरे वा, **शुद्धभावेन** निष्कामतया, **गंगातीरे** उपलक्षणमेतत्, कस्मिंश्चिद् गंगाद्युपलक्षिते पुण्यस्थाने, **तपः** शीतोष्णादिसहिष्णुतया स्वस्ववर्णाश्रमोचितकर्मानुष्ठानं, **कृतं** आचीर्णं, **तत्पुण्यपरिपाकेन** तस्य पुण्यस्य तपःपुण्यस्य, परिपाकः फलदाने प्रवृत्तिः, तेन, **सतां** शुद्धान्तःकरणानां, **मुमुक्षा** मोक्षेच्छा, **जायते** उत्पद्यते।।१४।।(३७१)

संस्कार होते हैं, उसकी वासनायें भी वैसी ही हुआ करती हैं। संसार के संस्कारवाले पुरुष को मोक्ष की इच्छा ही किस प्रकार हो सकती है? मोक्ष में तो किसी तरह का विषय (सुख का साधन) नहीं होता, और विषयों के बिना सुख भी नहीं मिलता, इसलिये मूढ अविवेकी पुरुषों को पहले-पहल मुमुक्षा ही किस प्रकार हो सकती है? (अर्थात् यह प्राणी अज्ञानभूमिकाओं में से ज्ञानभूमिकाओं में क्योंकर उतर पड़ता है)।।१०-१२।।

विष्णु या शिव की जब सकाम या निष्काम भक्ति प्रेमपूर्वक हृदय में बैठ जाती है तो बस यही मुमुक्षा का कारण बन जाती है। विषयों का उपार्जन करते-करते मनुष्य के मार्ग में कभी-कभी ऐसी दुःसाध्य कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं कि जिनका हटाना मनुष्य-शक्ति के बाहर होता है। उस समय किसी की सहायता की आवश्यकता हुआ करती है। तब किसी और सहारे को न देखकर जब मनुष्य परमेश्वर की सकाम भक्ति करने लगता है, और उस भक्ति के प्रभाव से जब उसके कार्य सिद्ध हो जाते हैं तब तो और भी अधिक श्रद्धा के उत्पन्न हो जाने के कारण जो निष्काम रूप से प्रेमसहित भक्ति करने लग पड़ता है, उसका यह भक्तिरूप थोड़ा-सा भी उपकार

विदुषां वीतरागाणाम् अन्नपानादिसेवया।
संगत्या प्रणयेनापि मुमुक्षाऽऽकस्मिकी भवेत्।।१५।।(३७२)
तदुक्तम्
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।१६।।(३७३)

कारणान्तराणि आह **विदुषामिति। वीतरागाणां** वीतो रागो विषयस्नेहो येषां तेषां, **विदुषां** विवेकिनां, ज्ञानिनाम् इत्यर्थः। **अन्नपानादिसेवया** अद्यते तदन्नं यवगोधूमादिकं, सिद्धम् अन्नं वा, पीयते तत्पानं जलादिकं, ते आदिनी येषां दर्शनसंभाषणादीनां ते तथोक्ताः तेषां सेवा अंगीकारः तया, तेषामेव **संगत्या** समागमेन, **प्रणयेनापि** नमस्कारेण च, **आकस्मिकी** अकस्माद् भवाऽऽकस्मिकी, कारणाननुसन्धानपूर्विका इत्यर्थः। **मुमुक्षा** मोक्षविषयिणी इच्छा, **भवेत्** स्यात्।।१५।।(३७२)

आकस्मिकमोक्षेच्छोत्पत्तौ गीतापि प्रमाणमस्ति इत्याह **तदिति। तद्** आकस्मिकमोक्षेच्छाजन्म, गीतायां भगवद्गीतायाम्, **उक्तं** कथितं, केन वाक्येन इत्याशंक्य तद्वाक्यं पठति **मनुष्याणामिति। मनुष्याणाम्** अधीतवेदवेदांगः तदर्थज्ञः शमादिगुणवान् पापभीरुः युवा दृढः संकल्पितविषयप्राप्तिमान् बलवांश्च, एतादृशस्य सप्तद्वीपवती पृथिवी राज्यं धनधान्यसमृद्धिमद् यदि स्यात् तर्हि स मनुष्य इत्युच्यते, तादृशानां मनुष्याणां, **सहस्रेषु** सहस्रसंख्येषु बहुसंघेषु मध्ये, **कश्चित्** कोऽपि विरलः, **सिद्धये** मुक्त्यर्थं, **यतति** निष्कामकर्मादिविचारान्तेषु सम्यक् प्रवर्त्तते, **यततामपि** तादृशयत्नं कुर्वतामपि बहूनां मध्ये, **कश्चिद्** विरलः सिद्धो मुक्तो भवति, तादृशानां मध्ये **कश्चिद्** विरलो, **माम्** आत्मानं यथार्थभूतं, **तत्त्वतः** तात्त्विकरूपेण, **वेत्ति** जानाति। अस्मिन्नर्थे श्रुतिरपि 'श्रवणायापि बहुभिः यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः' इति, अन्यापि 'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्' इति।।१६।।(३७३)

भगवान् को सहन नहीं होता, उसकी भक्ति का बदला उसको स्वात्मरूप बनाकर चुकाने के लिये भगवान् आतुर हो जाते हैं और तब उस भक्त के हृदय में मुमुक्षा को उत्पन्न कर देते हैं।।१३।।

गंगा के किनारे या किसी अन्य पुण्यक्षेत्र में इस जन्म वा पूर्वजन्म में स्ववर्णाश्रमविहित कर्मानुष्ठान से (उसके बदले के रूप में) शुद्धान्तःकरणवाले लोगों को मुमुक्षा उत्पन्न हो ही जाती है।।१४।।

वीतराग ज्ञानियों की अन्नपानादि की सेवा, दर्शन, संभाषण, समागम किंवा नमस्कारादि से अचानक भी मुमुक्षा उत्पन्न हो जाती है।।१५।।

गीता में भी कहा है (शास्त्रीय ज्ञान तथा शास्त्रीय कर्म करने की योग्यता रखनेवाले) हजारों मनुष्यों में से कोई एक ज्ञान की उत्पत्ति के लिये प्रयत्न करता है। ऐसे उन यतमान साधकों में भी कोई-कोई ही मुझ ईश्वर को तत्त्वरूप से जान पाता है।।१६।।

तथा च वासिष्ठे

चलार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवाप्रवेशवत्।
अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान्।।१७।।(३७४)
सोपास्तीनां कर्मणां तु चित्तशुद्धिः फलं मतम्।
वेदनेच्छा वेदनं वा चित्रा सत्कर्मणां गतिः।।१८।।(३७५)

वासिष्ठवाक्यमपि प्रमाणयितुम् आह **तथा चेति। तथा च** तथैव, **वासिष्ठे** वासिष्ठनाम्नि ग्रन्थे, उक्तमिति शेषः, कथितमित्यर्थः। केन वाक्येन इत्याशंकायां तद्वाक्यं पठति **चलेति। चलार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवाप्रवेशवत्** चलौ चञ्चलौ यावर्णवौ-अर्णसा जलेन वातो गच्छतः तौ अर्णवौ तरंगौ, पृषोदरादित्वात् सलोपः, तयोः युगं युग्मं, तस्य च्छिद्रं मध्यवर्त्याकाशं, तत्र स्थितो यः कूर्मः कमठः, तस्य कच्छपस्य उभयपार्श्वे बहुकालं निरन्तरं, तरंगकृतताडनेन विह्वलत्वे ग्रीवाप्रवेशो ग्रीवा कण्ठः, तदुपलक्षिततदाद्यंगप्रवेशो, यथा जायते तद्वत्, **पुमान्** पुरुषार्थी, **अनेकजन्मनाम्** अनन्तजन्ममरणोपलक्षितसुखदुःखानां स्पर्शेन खिन्नः तदन्तःकरणबाह्यकरणानि स्वस्वविषयेभ्यो व्यावर्त्य, **विवेकी** आत्मानात्मविवेकवान्, **जायते** भवति।।१७।।(३७४)

निष्कामत्वेन कृतानाम् उपास्तिसहितानां कर्मणामपि मोक्षहेतुभूतज्ञानेच्छाकारणत्वम् आह **सोपास्तीनामिति। सोपास्तीनाम्** उपासनासहितानां, **कर्मणां** स्वस्ववर्णाश्रमोचितक्रियाणां, **तु** अन्यफलेषु सत्स्वपि तद्विलक्षणं, **चित्तशुद्धिः** चित्तस्य अन्तःकरणस्य, शुद्धी रागादिमलविसर्जनम् एव, **फलं** मुख्यप्रयोजनं, **मतम्** इष्टं, ज्ञेयम्। अन्तःकरणस्य अतीव मलविसर्जने सति तेषाम् एव कर्मणां **वेदनेच्छा** वेदनं ज्ञानं, तस्य इच्छा स्पृहा, जिज्ञासा इत्यर्थः, तदेव फलं भवति, ततोऽपि अतिशयान्तःकरणशुद्धौ सत्यां तेषामेव कर्मणां, **वेदनं वा** ज्ञानमेव फलं भवति। ननु बन्धहेतूनां कर्मणां मुक्तिकारणं ज्ञानं कथं फलं स्याद् इत्याशंक्य आह **चित्रेति।** सत्कर्मणां काम्यानां निष्कामानां वा **सत्कर्मणां** विध्युक्तकर्मणां, **गतिः** फलं, **चित्रा** आश्चर्यरूपा, अस्ति कर्कट्यादिषु काम्यतपसोऽपि मुक्तिहेतुज्ञानलाभः श्रूयते वासिष्ठे, दाशूरेपि मौढ्यग्रस्तत्वेऽपि वह्न्याराधनेन तद्दत्तकदम्बवृक्षस्थित्या तत्रैव कर्म कृत्वा अन्तःकरणशुद्ध्या ज्ञानं जातम् इत्यादि च, तस्मादुपास्तयः कर्माण्यपि मुमुक्षाकारणानि भवन्ति इत्यर्थः।।१८।।(३७५)

लहरों के बीच में बैठा हुआ कछुवा लहरों के उन थपेड़ों से दुःखी होकर जैसे अपनी गरदन सिकोड़ लेता है, ऐसे ही यह जीव भी अनेक जन्मों के अनन्त जन्म-मरण और उनमें भोगे हुए अनेक सुख-दुःखों से त्रस्त होकर, जब अन्त में उन सब विषयों को छोड़कर कछुवे की तरह अन्तर्मुख हो जाता है, तब कहीं विवेक की उत्पत्ति होती है।।१७।।

उपासनासहित अपने वर्णाश्रमविहित कर्मों का अनुष्ठान करने से यद्यपि सांसारिक अन्य फल भी प्राप्त होते हैं, परन्तु उनका मुख्य फल तो चित्तशुद्धि ही होता है। उन

वेदान्तैरपि जिज्ञासोः तस्मात् कर्मोररीकृतम्।
श्रद्धा चित्तस्य शान्तिश्च दान्तिश्चोपरमस्तथा।
मुमुक्षा साधनानां हि संपत्प्रथमभूमिका।।१६।।(३७६)
गुरूपसदनं पूर्वं कर्त्तव्यं हि मुमुक्षुणा।
गुरुमेवाभिगच्छेच्च विज्ञानार्थमिति श्रुतिः।।२०।।(३७७)

साम्प्रदायिकैः वेदान्तेषु कर्मणः अंगीकृतत्वादपि कर्मणो मुमुक्षाहेतुत्वं ज्ञेयमित्याशयेन आह **वेदान्तैरपीति**। यतो ज्ञानसाधनं कर्म, **तस्मात्** कारणात्, **वेदान्तैरपि** उपनिषदादिभिः, ज्ञानप्रधानफलप्रतिपादकैरपि ग्रन्थैः, **जिज्ञासोः** ज्ञानेच्छोः, अन्तःकरणशुद्ध्या ज्ञानेच्छादार्ढ्याय **कर्म** स्वस्ववर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तिकं प्रायश्चित्ताख्यम्, **उररीकृतम्** अंगीकृतम्, अतोऽपि ज्ञानेच्छाहेतुत्वं कर्मणः सिद्धम् इति भावः।

एवं मुमुक्षाकारणानि प्रदर्श्य इदानीं तदारोहणाय तत्साधनभूतां सम्पदं प्रथमम् आह **श्रद्धेति**। **श्रद्धा** गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः, तथा **चित्तस्य** अन्तःकरणस्य, **शान्तिः** निर्वासनत्वं, **च** पुनः, **दान्तिः** बाह्येन्द्रियाणां निग्रहः, **च** पुनः, **उपरमः** सर्वविषयेषु विरसता, **तथा** तद्वत्, मुमुक्षाभूमिरुत्तरभूमीनां तथा इयमपि **मुमुक्षा साधनानां** जिज्ञासाख्यभूमेः साधनानां कारणभूतानां, **सम्पत्** प्राप्तिः, **प्रथमभूमिका** जिज्ञासायाः प्रथमसाधनभूता तदारोहणार्थं वेदिका ज्ञेया, **तु**पदेन उक्तसर्वसाधनेभ्य एतस्या आवश्यकत्वं सूचितम्।।१६।।(३७६)

ततोऽपि अन्तरंगमावश्यकं साधनमाह **गुरूपसदनमिति**। **पूर्वं** प्रथमं, **मुमुक्षुणा** मोक्षेच्छुना, **गुरूपसदनं** गुरोः वेदान्तवक्तुः, **उपसदनं** सेवकतया समीपस्थानं, **कर्त्तव्यं** कार्यं, **हि** श्रुतौ प्रसिद्धमेतत्, तामेव श्रुतिम् अर्थतः पठति **गुरुमिति**। **विज्ञानार्थं** ज्ञानप्राप्त्यर्थं, **गुरुम्** उक्तलक्षणं देशिकम् एवेति, तं विना ज्ञानं न स्यादिति सूचितम्। **अभिगच्छेत्** शरणं भूयाद्, **इति** एवं, **श्रुतिः** (मु. उ. १.२.१२) अस्ति इति शेषः।।२०।।(३७७)

कर्मों का अनुष्ठान करते-करते जब चित्त अत्यन्त पवित्र हो जाता है तब उन्हीं कर्मों के प्रताप से उनके फलस्वरूप आत्मज्ञानेच्छा उत्पन्न हो जाती है। क्रमशः अन्तःकरण के और अधिक परिमार्जित होने पर तो उनसे साक्षात् ज्ञानरूपी फल ही उपलब्ध होता है। कामनापूर्वक किंवा निष्कामभाव से किये गये सत्कर्मों की गति ऐसी ही आश्चर्यकारक है (जो कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, उन्हीं से मनुष्य को ज्ञानरूपी परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार उपासनाओं तथा कर्मों से मुमुक्षा उत्पन्न हो जाती है। इसलिये मुख्यतया ज्ञान का ही प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तशास्त्र ने जिज्ञासु के लिये [अन्तःकरण को शुद्ध करके ज्ञानेच्छा को दृढ करने के प्रयोजन से स्ववर्णाश्रमोचित नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित्त] कर्मों को स्वीकार किया है)।।१८।।

तल्लक्षणानि

मोक्ष एव ममाऽस्त्वीश मास्तु संसारदर्शनम्।
इति यः सुदृढो भावो मुमुक्षालक्षणं हि तत्।।२१।।(३७८)
पुण्यक्षेत्रेषु या बुद्धिः पुण्यतीर्थेषु या रुचिः।
मोक्षधर्मेषु या श्रद्धा मुमुक्षालक्षणं हि तत्।।२२।।(३७९)
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते।
चिन्तयंस्तस्य तात्पर्यं मुमुक्षालक्षणं हि तत्।।२३।(३८०)

एवं मुमुक्षारोहणे हेतूंस्तत्साधनानि उक्त्वा इदानीं जिज्ञासाभूमिकारूढलक्षणनिरूपणेन जिज्ञासालक्षणानि वक्तुमाहतस्या जिज्ञासाया, **लक्षणानि** चिह्नानि, उच्यन्ते इति शेषः। तानि एव आह नवभिः **मोक्ष इति।** हे **ईश** हे अन्तर्यामिन्, **मम** मे, मोक्षेच्छोः, **मोक्ष एव** मुक्तिरेव केवलम्, **अस्तु** भवतु, **संसारदर्शनं** संसारस्य संसारकारणस्य अज्ञानस्य, तत्कार्यस्य विक्षेपस्यापि दर्शनं प्रतीतिः, **मास्तु** मा भवतु, **इति** एवं प्रकारेण, **सुदृढः** अनवच्छिन्नः, **यो** यत्प्रकारको, **भावः** अन्तःकरणप्रीतिः, सोऽस्तु भवतु इति यत्प्रार्थनं, **तद् मुमुक्षालक्षणं** मुमुक्षाया जिज्ञासाभूमेः, लक्षणं चिह्नं, ज्ञेयम्।।२१।।(३७८)

लक्षणान्तरमाह **पुण्यक्षेत्रेषु इति। पुण्यक्षेत्रेषु** पुण्यानि पवित्राणि, यानि क्षेत्राणि कुरुक्षेत्रादीनि, तेषु, **या बुद्धिः** निश्चयविशिष्टान्तःकरणप्रीतिः। किञ्च **पुण्यतीर्थेषु या रुचिः** पुण्यानि पवित्राणि, यानि तीर्थानि पुष्करादीनि, तेषु या रुचिः प्रीतिः। किञ्च **मोक्षधर्मेषु** मोक्षस्य मुक्तेः, ये साधनभूता धर्मा निष्कामधर्मा गुरुसेवनादिविवेकान्ता वा तेषु, **श्रद्धा** विश्वासो, **या** प्रसिद्धा, **तत् हि** तदपि मुमुक्षालक्षणं ज्ञेयम्।।२२।।(३७९)

अथ अन्यदपि आह **यत इति। यतः कुतश्चिद्** यत्र कुत्रापि मिलितानि, ततः ततोऽपि, **ज्ञानशास्त्राणि** वेदान्तशास्त्रगतग्रन्थान्, **आनीय** संगृह्य, **अवेक्षते** अवलोकयति, **तस्य** ग्रन्थस्य, **तात्पर्यम्** अर्थं, **चिन्तयन्** विचारयन् सन् तिष्ठति, **तद्** एतद्, **हि** प्रसिद्धं, **मुमुक्षालक्षणं** जिज्ञासाभूमिकायाः चिह्नं ज्ञेयम्।।२३।।(३८०)

वेदान्त तथा गुरु के वाक्यों में विश्वास, चित्त की शान्ति, बाह्येन्द्रियों का निग्रह, सब विषयों में विरसता तथा मुमुक्षा के साधनों का उपार्जन, यह ज्ञान की प्रथम भूमिका कहाती है।।१९।।

मुमुक्षु को उचित है कि सबसे प्रथम वेदान्तवक्ता गुरु के समीप (अन्तेवासी धर्म को ग्रहण करके) उपस्थित हो। श्रुति ने कहा हैज्ञानप्राप्ति के लिये ज्ञानवक्ता गुरु की ही शरण में जाना चाहिये।।२०।।

अब जिज्ञासा के चिह्न बतलाते हैंहे अन्तर्यामी परमात्मन्! अब तो मुझे केवल मुक्ति ही मिलनी चाहिये। अब मुझे इस संसार का कभी भी दर्शन (भान) न हो। इस प्रकार दृढ निश्चय हो जाना ही मुमुक्षा का चिह्न है।।२१।।

महतापि प्रयत्नेन कुर्यात् पण्डितसंगतिम्।
संस्थापयित्वा मूर्धानं तेषां चरणपंकजे।।२४।।(३८१)
प्रश्नान् मनोगतान् पृच्छेत् स्वाज्ञानं च प्रकाशयेत्।
तेषामुत्तरवाक्यानां तात्पर्यं हृदि भावयेत्।।२५।।(३८२)
नाधर्मो रोचते यस्य, यस्य धर्मे सदा रुचिः।
काम्यधर्मे न च श्रद्धा मुमुक्षालक्षणं हि तत्।।२६।।(३८३)

अन्यानि अपि लक्षणानि आह **महतेति। तेषां** विदुषां, **चरणपंकजे** चरणः अंघ्रिरेव, पंकजं कमलं, तस्मिन्, पंकजपदेन यथा भ्रमरः कमले आसक्तः तथायं मुमुक्षुः गुरुचरण आसक्तः भवेदिति सूचितम्। अत्र **मूर्धानं** शिरः, **संस्थापयित्वा** समर्प्य, **महतापि** अखण्डेनैव, **प्रयत्नेन** पौरुषेण, विघ्नानविगणय्य प्रयत्नः कार्य इति विशयः[1], **पण्डितसंगतिं** पण्डितानां विवेकिनां, संगतिं सह वासं, **कुर्यात्** कर्त्तव्यः, मुमुक्षूणां सर्वदैव गुरुसेवा विहिता इति भावः।।२४।।(३८१)

किञ्च **प्रश्नानिति। मनोगतान्** मनसि स्थितान्, **प्रश्नान्** प्रष्टव्यार्थान्, **पृच्छेत्** कुर्यात्, इत्यर्थः, **च** पुनः, **स्वाज्ञानं** स्वस्य आत्मनः अज्ञानं, **प्रकाशयेत्** विवेकिनाम् अग्रे प्रकटयेत्, ततः **तेषां** विवेकिनाम्, **उत्तरवाक्यानां** प्रतिवाक्यानां, **तात्पर्यम्** अर्थं, **हृदि** अन्तःकरणे, **भावयेद्** विचारयेद्, इदमपि मुमुक्षालक्षणं ज्ञेयम्।।२५।।(३८२)

अन्यच्च **नेति। यस्य** पुरुषस्य, **अधर्मः** अविहिताचरणरूपः, **न रोचते** न प्रियो भवति। किञ्च **यस्य** पुरुषस्य, **धर्मे** श्रुतिस्मृत्युदिताचारलक्षणे, **सदा** सर्वदा, सम्पद्यापदि च, **रुचिः** प्रीतिः अस्ति। किञ्च **काम्यधर्मे** ऐहिकपारलौकिकविषयसाधनभूते श्रुतिस्मृत्युदिताचारे, **न च** नैव, **श्रद्धा** विश्वासः, अनेनैव अहं सुखी कृतार्थश्च स्यामिति मतिः इत्यर्थः, **तत्** एतद्, **हि** प्रसिद्धं मुमुक्षालक्षणं ज्ञेयम्।।२६।।(३८३)

पुण्य क्षेत्रों तथा पुण्य तीर्थों में प्रीति, मोक्ष के साधनभूत निष्काम धर्मों में विश्वास, जहाँ कहीं मिलें वहीं से लाकर ज्ञान शास्त्रों का विचार तथा उनके तात्पर्य का चिन्तन, ये भी मुमुक्षा के चिह्न बताये गये हैं।।२२-२३।।

मुमुक्षु को चाहिये कि बड़े भारी प्रयत्न से विवेकी पुरुषों का संग करे। तब उनके चरणों में अपना सिर झुका कर अपने मनोगत प्रश्नों को पूछे। (जिस प्रकार रोगी अपनी दुर्बलता तथा रोग के कारण आदि को वैद्य के सामने प्रकट करता है इसी तरह) अपने अज्ञान को उन गुरुओं के सामने स्पष्ट खोल कर कह दे (जिससे कि वे उसके प्रतिकार की विधियाँ बता सकें) फिर जो कुछ वे उत्तर दें, उनके तात्पर्य को बार-बार हृदय में विचार किया करे।।२४-२५।।

जिस पुरुष की अधर्म में रुचि न होती हो, किन्तु (सम्पत्ति या आपत्ति दोनों समय)

---

[1] आशयः।

रागद्वेषमदक्रोधलोभमत्सरवृत्तिषु।
स्वभावाद् ग्लानिमाप्नोति मुमुक्षालक्षणं हि तत्।।२७।।(३८४)

तत्र श्लोकः

प्रेक्षितुं न विजानाति प्रेक्षणे कुरुते मनः।
लज्जां जहाति नैवेयं वयःसन्धिरयं किल।।२८।।(३८५)

रागेति। रागद्वेषमदक्रोधलोभमत्सरवृत्तिषु रागः स्त्र्यादिषु स्नेहो, द्वेषः तेषु एव प्रतिकूलेषु अप्रीतिः, मदः देहाद्यहन्तया स्वोत्कृष्टत्वबुद्धिः, क्रोधो रोषः, लोभः तृष्णा, मत्सरः परोत्कर्षासहनम्, एतासु वृत्तिषु, **स्वभावात्** सहजतयैव न तु दोषदृष्ट्या, **ग्लानिं** वैरस्यम्, **आप्नोति** याति, **तद्** एतद्, **हि** प्रसिद्धं, **मुमुक्षालक्षणं** ज्ञेयम्।।२७।।(३८४)

एतल्लक्षणबोधेन शृंगारश्लोकं वक्तुमाह **तत्रेति। तत्र** मुमुक्षालक्षणनिरूपणे, **श्लोकः** अस्ति इति शेषः, जातित्वादेकवचनं, श्लोकौ स्त इत्यर्थः तमेवाह **प्रेक्षितुमिति। इयं** सन्निकृष्टा, पुरो दृश्यमाना काचित् नायिका, पतिं स्वेष्टं भर्तारं, **प्रेक्षितुं** द्रष्टुं, **न विजानाति** न वेत्ति, **मनश्च** संकल्पविकल्परूपा वृत्तिः, **प्रेक्षणे** अवलोकने, **कुरुते** प्रेरयति। मनोभिलषिंतपतिदर्शने दृशोऽप्रवृत्तौ हेतुमाह **लज्जामिति। लज्जां** त्रपां, **नैव जहाति** नैव त्यजति, तदेतल्लक्षणेन लक्षितः **अयं** पुरो दृश्यमाननायिकायाम् आरूढो, **वयःसन्धिः** बाल्ययौवनाख्यवयसोः सन्धिः मध्यं, **किल** इति निश्चयेन ज्ञातव्यः, इदमेव लक्षणं मुमुक्षारूढबुद्धौ योज्यं, तथाहि प्रेक्षितुं वेदान्तशास्त्रं तत्प्रतिपाद्यम् अर्थं जीवब्रह्मैक्यरूपं द्रष्टुं, न विजानाति न वेत्ति, मूढत्वाद् लज्जालुत्वाद् लोकहास्यादिशंकया वा न प्रवर्त्तते इत्यर्थः, मनः संकल्पविकल्परूपाम् अन्तःकरणवृतिं, प्रेक्षणे वेदान्तावलोकने, तद्वक्तृगुरुदर्शनेऽपि, कुरुते प्रेरयति, तर्हि कुतो न प्रवर्त्तते तत्र? इत्यत आह **लज्जामिति।** इयं मुमुक्षुमतिः प्रकृता, लज्जां त्रपां नैव जहाति नैव त्यजति तद् एतल्लक्षणवान् अयं दृश्यमानो वयःसन्धिः अज्ञानज्ञानलक्षितकालयोः सन्धिः मध्यं किल इति निश्चयेन ज्ञेयः।।२८।।(३८५)

केवल धर्मानुष्ठान में ही प्रीति रहती हो, काम्यधर्मों में जिसे श्रद्धा न रही हो अर्थात् उनसे सुखी किंवा कृतार्थ होने की भावना जिसकी नष्ट हो चुकी हो, राग (स्त्र्यादिप्रेम) द्वेष, मद (देहादि में अहंकार के कारण अपने को ही सर्वोत्कृष्ट समझना) क्रोध, लोभ तथा मत्सर (परवृद्धि का असहन) इन भावों में जिसको स्वभाव से ही ग्लानि उत्पन्न हो गई हो, यह भी मुमुक्षु का चिह्न कहाता है।।२६-२७।।

यह कोई नायिका अपने प्रिय पति को दृष्टि (निगाह) भर कर देखना तो नहीं जानती, परन्तु उसे देखने के लिये इसके मन में बार-बार संकल्प-विकल्प उठ रहे हैं (जो लज्जा इसके पति को अतृप्तनेत्रों से देखने में बाधक हो रही है उस) लज्जा को भी यह नहीं छोड़ती, यह अवस्था उस नायिका की बाल्य तथा यौवन काल की सन्धि कहाती है। ज्ञान अवस्था का सन्धिकाल कहाता है।।२८।।

चलिता स्वामिगेहाय वधूः खिद्यति रोदिति।
इदमत्र समाधानं पदमग्रे दधाति यत्।।२६।।(३८६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे भूमिकाभेदभास्करे प्रथमभूमिकानिर्णयाख्यं द्वितीयं प्रकरणम्।।

तर्हि स सन्धौ एव स्थिरो भवतु उत्तरत्र प्रवृत्तः स्याद् न वा इति सन्दिहानं प्रति आह **चलितेति। वधूः** वयःसन्धिमती स्त्री 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इति कोशः, **स्वामिगेहाय** स्वामिनः पतेः, गेहं गृहं, तद्गन्तुं, **चलिता** पितृगृहाद् बहिः निःसृता सती, **खिद्यति** खिन्ना भवति, **रोदिति** अश्रुपातं करोति, यदा तदा इत्यध्याहार्यं, तदा अग्रे चलति वा नेति सन्देहे। **अत्र** अस्मिन् संशये, **यत् पदम्** अंघ्रिम् **अग्रे** पुरतो, **दधाति** धत्ते, तद् **इदं** प्रत्यक्षं, **समाधानं** प्रत्युत्तरं संदेहनिवर्त्तकत्वात् ज्ञेयम्। तथा वधूः वधयति बन्धयति आत्मानं सा वधूः बुद्धिः, स्वामिगेहाय स्वामिनो जीवस्य, गेहं निवासस्थानं निर्विकारम् आत्मरूपं, गन्तुं चलिता पितृगृहात् पालकत्वात् पिता मोहः, तस्य गेहं कार्यरूपं देहत्रयं तत्कारणं महामोहश्च तस्मात् चलिता चलायमाना सति खिद्यते पूर्वस्नेहसंस्कारात् खिन्ना भवति, रोदिति विरक्ततया रजःप्रधानां रागरूपां वृतिं च स्वस्याः त्यजति, अत्र उत्तरत्र ज्ञानभूमिकासु आरोहति वा नवेति सन्देहे पदं यत् पद्यते अनेन इति पदं स्थानं स्थितिम् इत्यर्थः। अग्रे तु उत्तरभूमिकासु क्रमेण दधाति धरति, तदिदं प्रत्यक्षं समाधानं प्रत्युत्तरं सन्देहनिवर्त्तकं ज्ञेयम्।।२६।।(३८६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भूमिकाभेदभास्करार्थप्रकाशान्तर्गतज्ञानभूमिकार्थप्रकाशे प्रथमभूमिकाप्रकाशो द्वितीयः।।

मुमुक्षा की ओर को चली हुई बुद्धि का भी यही हाल होता है क्योंकि प्रारम्भ में वेदान्तप्रतिपाद्य अर्थ को जानने का सामर्थ्य उस बुद्धि में नहीं रहता। मूढता, लज्जालुता, तथा लोककृत हास्य की शंका आदि ही इस असामर्थ्य के कारण होते हैं। उसको वेदान्तवक्ता गुरु तथा वेदान्तादि शास्त्रों के कथनानुसार आत्मा के दर्शन करने को बार-बार संकल्प उठा करता है। जिस लज्जा आदि दोष के कारण अभेद ज्ञान में बाधा पड़ रही है, उस दोष को अभी यह बुद्धि छोड़ भी नहीं रही है, यही अज्ञान तथा ज्ञान-अवस्था का सन्धिकाल कहलाता है।

सद्योविवाहिता नववधू पतिगृह को जाने के लिये, पिता के घर से निकलते ही पूर्व प्रेमवश दुःखी होने और रोने पर भी रथ में बैठने के लिये पैर आगे को बढ़ाती ही चली जाती है। पैर आगे बढ़ाने से उसके माता-पिता का समाधान हो जाता है कि यह प्रसन्नतापूर्वक जा रही है। इसी प्रकार यह बुद्धिरूपी वधू जीवरूपी स्वामी के निर्विकार आत्मस्वरूप घर को जाने के लिये, अनादि काल से लेकर अब तक अपने पालनेवाले मोहरूपी पिता के तीनों देहों किंवा महामोहरूपी घर से निकलते ही पूर्वस्नेह के संस्कारों के कारण कभी-कभी खिन्न भी हो जाती है, रोदन भी करती है, परन्तु उत्तरभूमिकाओं

अथ द्वितीया

प्रकृतेर्लक्षणं त्वेतदिदं विकृतिलक्षणम्।
स्वरूपं पुरुषस्येदं तद्विचारस्य लक्षणम्।।१।।(३८७)
इदं सत्यमिदं मिथ्या त्विदं चेत्यमियं हि चित्।
इदं ब्रह्म त्वियं माया तद्विचारस्य लक्षणम्।।२।।(३८८)

एवं सविस्तारां सलक्षणां प्रथमभूमिकां निरूप्य इदानीं चतुस्त्रिंशच्छ्लोकैः द्वितीयां निरूपयितुमाह **अथेति। अथ** जिज्ञासानिरूपणानन्तरं, **द्वितीया** विचाराख्या भूमिका, निरूप्यते इति शेषः, तत्र तावद् द्वितीयभूमिकालक्षणानि आह पञ्चभिः **प्रकृतेरिति। प्रकृतेः** गुणसाम्यावस्थारूपायाः कारणभूतायाः प्रकृत्याख्यायाः, **लक्षणं** लक्षकं चिह्नम्, **एतदिदम्** इति विकृतिलक्षणात् पुरुषलक्षणाच्च विविच्य एतदिति प्रत्यक्षतया अनुभवति, तथा **विकृतिलक्षणं** विकृतेः कार्यवर्गस्य, लक्षणं चिह्नम् अपि, इति **इदम्** एतदिति प्रकृतिलक्षणात् पुरुषलक्षणाच्च विविच्य एतदिति प्रत्यक्षतया अनुभवनं, तथा **पुरुषस्य** असंगोदासीनस्य आत्मनः, **स्वरूपं** स्वेन आत्मना रूप्यते प्रकाशासंगरूपं चिह्नम् **इदम्** एतदिति प्रकृतिलक्षणाद् विकृतिलक्षणाच्च विविच्य साक्षात्करणं, **तद्** उक्तं **विचारस्य लक्षणं** चिह्नं, ज्ञेयम्।।१।।(३८७)

अन्यदपि आह **इदमिति। सत्यं** कालत्रयाबाध्यम् आत्मस्वरूपम्, **इदम्** इति सदसती विविच्य सतो विलक्षणत्वेन साक्षात्करणं, तथा **मिथ्या** प्रकृतिविकृतिजातं सतो विविच्य **इदम्** एतदिति साक्षादसत्त्वेन अनुभवनं, तथा **चेत्यं** चेतनाविषयजातं प्रकृतिविकृतिरूपम्, **इदम्** इति चेतनतो विविच्य इदम् इति साक्षात्करणं, **चिद् हि** चेतनापि असंगकूटस्थस्वरूपा, **इयम्** एषा इति, चेत्याद् असद्रूपाद् विविच्य विलक्षणत्वेनानुसन्धानं, तथा **ब्रह्म** देशकालवस्तुभिरपरिच्छिन्नं सच्चिदानन्दलक्षणम्, **इदम्** एतदिति साक्षात्करणं, तथा **इयं माया** माया तु अघटितघटनासमर्था शक्तिरपि, इयम् एषा इति, ब्रह्मतो विविच्य साक्षाद् अनुभवनं, **तद्** एतद्, **विचारस्य लक्षणं** ज्ञेयमिति पूर्ववत्।।२।।(३८८)

की ओर को बराबर बढ़ती चली जाती है, इसी से उसके आचार्य को उसके ब्रह्मप्राप्ति के विषय का सन्देह नष्ट हो जाता है।।२९।।

जिज्ञासा नाम की प्रथम भूमिका का निरूपण करने के अनन्तर अब विचार नाम की दूसरी भूमिका का निरूपण किया जाता है।

जो अधिकारी प्रकृति तथा विकृति के लक्षणों को पृथक्-पृथक् जानता तथा असङ्ग उदासीन पुरुष के प्रकाश किंवा असङ्ग रूप को पहचानता है यही विचार का लक्षण कहाता है।।१।।

तीनों कालों में अबाधित सत्य आत्मा का स्वरूप यह है, (प्रकृति-विकृतिरूप) मिथ्या पदार्थ यह है, चेतना का विषय यह है, असंग कूटस्थस्वरूप चेतन वस्तु यह है, (देशकाल तथा वस्तुकृत परिच्छेदरहित सच्चिदानन्दस्वरूप) ब्रह्म यह है तथा (अघटित घटनाओं को उत्पन्न करने में समर्थ) माया यह है, इस प्रकार साक्षात् जान लेना विचार का लक्षण कहाता है।।२।।

कस्मिन्निदं कुतश्चेदं किमिदं केन वा कृतम्।
कथमेतद्विलीयेत तद्विचारस्य लक्षणम्।।३।।(३८९)
क ईश्वरश्च को जीवः का मुक्तिः किन्तु बन्धनम्।
किं द्वैतं कथमद्वैतं तद्विचारस्य लक्षणम्।।४।।(३९०)

किञ्च **कस्मिन्निति। इदं** दृश्यं कार्यकारणजातं **कस्मिन्** आधारे अस्ति, सति वा असति? नाद्यः सदसतोः आधाराधेयत्वायोगाद्, न हि खवृक्षस्य व्यावहारिकसत्खम् आधारं दृष्टं श्रुतं वा उपलभ्यते। न च असति, असतो निरात्मकस्य व्यावहारिकसदाधारत्वायोगाद् अतो जगदिदं निराधारकत्वेन दृश्यमानमपि मिथ्यैव इति निश्चयः। तथा **इदं** दृश्यं, **कुतः** कारणाद् उत्पन्नं, किं सत उत असतः? न तावद् आद्यः, असतो दृश्यस्य सत्कार्यत्वासम्भवाद्। नापि द्वितीयः, असतः शून्यात्मकस्य व्यावहारिकसत्त्वेन प्रतीयमानस्य दृश्यस्य कारणत्वायोगात्। किञ्च जगतः असत्कार्यत्वे त्वसदसदिति प्रतीतिः स्याद्, न हि जगदसदसदिति प्रतीयते अतो जगतोऽसत्कार्यत्वं नेति निश्चयः। तथा **किमिदं** इदं दृश्यं, किं सदुतासद्? न सद् उत्पत्तिलयवत्त्वात्, सतो हि उत्पत्तिलयवत्त्वासम्भवाच्च, यतः श्रुतिरपि असत्त्वं वदति 'अतोऽन्यदार्त्तम्' इति अतश्च अपवदति श्रुतिः, 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति, अतो न सद्। नापि असद्, असतः शशशृंगादेः उत्पत्त्यादिमत्त्वस्य अदृष्टत्वाद् जगतः तु उत्पत्तिस्थितिलया दृश्यन्ते सत्सदिति प्रतीतिविषयं च इदम् अतो नासत्। सदसत्त्वपक्षस्य विरुद्धत्वात् नोभयत्वमिति निश्चयः। तथा **केन वा** कर्त्रा, **कृतम्** इदं दृश्यजातम् उत्पादितम्। तथाहिइदं सत्कर्तृकम् उत असत्कर्तृकं? न तावत् सत्कर्तृकम्, असतः कार्यस्य सत्कर्तृकत्वायोगाद् न हि शशशृंगधनुषः सद्धनुष्कारकर्तृकत्वं दृष्टम्। नापि असत्कर्तृकं, व्यावहारिकसत्प्रतीतिविषयस्य जगतः असत्कर्तृकत्वे असदसदिति प्रतीतिविषयत्वसम्भवाद्, न च दृश्यम् असदसदिति प्रतीयते, अतो नासत्कर्तृकत्वं जगत इति निश्चयः। **एतद्** इदं जगत्, **कथं** केन उपायेन, **विलीयेत** विनश्येत, कर्मणा उत योगेन अथवा ज्ञानेन? न तावत्कर्मणा मिथ्याभूतस्य जगतः कर्मनाश्यत्वायोगाद् न हि रज्जुसर्पो दण्डादिताडनरूपकर्मणा विनाशितो दृष्टः अतो न कर्मनाश्यं जगद्। न तावद् योगेन योगस्यापि कर्मसहायत्वेन द्वैतविनाशकत्वासम्भवात्, क्वचिद् योगेन विनष्टत्वेन प्रतीतौ अपि बीजसत्त्वाच्च। तस्मात् परिशेषात् ज्ञानेनैव नश्येद् इति निश्चयः। अथवा इदं दृश्यं सदाधारकं रज्जुसर्पादिरज्ज्वाधारत्ववत् तथा इदं दृश्यं सद् उत्पन्नं रज्जूत्पन्नरज्जुसर्पवत्। तथा इदं सद् उत असद् इत्येवं विचार्यमाणे उत्पत्त्यादिमत्त्वेन असदेव इति निश्चयः, तथा असत्कर्तृकत्वे अत्यन्तासत्त्वात् सत्कर्तृकमेव इन्द्रजालिककर्तृकेन्द्रजालवद्, इदं कथं विलीयेत इति विचार्यमाणे ज्ञानेनैव इति निश्चयः। तदेतद् इति व्याख्यातम्।।३।।(३८९)

किञ्च **क इति।** ईशनादिशक्तिमान् **ईश्वरः क** इति सन्दिह्य विचार्य चेशनादि शक्तिमान्

यह जगत् किसमें है? किस कारण से यह उत्पन्न हुआ है? यह जगत् कैसा है? इसे किसने बनाया है? यह क्योंकर विलीन हो सकेगा? ऐसे-ऐसे विचारों का उठने लगना विचार कहाता है।।३।।

नित्यानित्यविवेकेन नित्यवस्तुनि वस्तुता।
अनित्ये तुच्छताबुद्धिः तद्विचारस्य लक्षणम्।।५।।(३६१)
एवमभ्यासयोगेन विदुषां मनसा सह।
जायते ब्रह्मवादो यः सा तु प्रौढविचारणा।।६।।(३६२)

सर्वज्ञः सर्वकरणान्तर्यामी विद्योपाधिको निमित्तकारणम् इत्यादिलक्षणैः लक्षितः पुरुषविशेषः इति निश्चयः। **जीवश्च क** इति संदिह्य अविद्योपाधिकः किञ्चिज्ज्ञादिलक्षणवान् कूटस्थ-साक्षिचिदात्मसहितो बुद्धिस्थः चिदाभासः जीव इति निश्चयः। तस्य च **का मुक्तिः** मोक्षः कः किंस्वरूपमिति सन्दिह्य कूटस्थरूपेण ब्रह्माभिन्नं यथा भवति तथा स्थितिरेव मुक्तिरिति निश्चयः। तथा **बन्धनं तु** बन्धनमपि, **किं** किंरूपम्, एवं सन्दिह्य उक्तात्मरूपविपर्ययेणावस्थानं बन्धनमिति निश्चयः। तथा **किं द्वैतं** द्वैतं किंरूपम् इति सन्दिह्य पृथक्सत्त्वाभावाद् असद्रूपमिति निश्चयः। तथा **अद्वैतं** द्वैतरहितमात्मस्वरूपं, **कथं** केन प्रकारेण, अस्ति इति सन्दिह्य सर्वदा द्वैतानुत्पत्तिमत्त्वाद् असंगत्वाच्च आत्मरूपं द्वैतास्पृष्टमिति निश्चयः, **तद्** एतद् **विचारस्य लक्षणं** ज्ञेयम्।।४।।(३६०)

नित्येति। नित्यानित्यविवेकेन नित्यम् आत्मस्वरूपम्, अनित्यम् अनात्मस्वरूपं प्रकृतिविकृत्यादि तयोः विवेकः विवेचनं, तेन, **नित्यवस्तुनि** नित्यं त्रिकालाबाध्यं, यद्वस्तु आत्मस्वरूपं तस्मिन्, **वस्तुता** सत्यत्वप्रतीतिः, ततः **अनित्ये** अनात्मनि मायायां तत्कार्ये जगति च, **तुच्छताबुद्धिः** तुच्छत्वम् उदासीनविषयत्वं तस्य बुद्धिः निश्चयः, **तद्** एतद्, **विचारस्य लक्षणं** ज्ञेयं पूर्वमेव व्याख्यातम्।।५।।(३६१)

प्रौढविचारलक्षणमाह **एवमिति। विदुषां** विवेकिनाम्, **एवम्** उक्तरीत्या, **अभ्यासयोगेन** अभ्यासः पुनःपुनः आवर्त्तनं, तस्य योगः सम्बन्धः, तेन, कृत्वा **मनसा सह** अन्तःकरणेन समं, **यो ब्रह्मवादः** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं ब्रह्म तस्मिन् वादः पश्यंत्याख्यवाचा सम्भाषणं, **जायते** भवति, **सा तु** सा च, **प्रौढविचारणा** प्रौढा दृढा, विचारणा विचारो, ज्ञेया।।६।।(३६२)

ईश्वर कौन है? जीव कौन है? मुक्ति क्या है? बन्धन कैसा होता है? द्वैत क्या है? अद्वैतपद कैसे मिलता है? ये विचार उठें तो समझो विचार आ गया।

जब कोई अधिकारी इन निर्णयों पर पहुँच जाता है तो ये ही विचार के चिह्न कहाते हैं।।४।।

नित्य तथा अनित्य पदार्थों को पृथक्-पृथक् भले प्रकार जानकर नित्य आत्मवस्तु को ही सत्य समझ लेना, तथा जगत् के अनात्मपदार्थों में उदासीनता धारण कर लेना विचार का लक्षण कहाता है।।५।।

विवेकी पुरुषों को इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते-करते मन के साथ जब ब्रह्म के विषय में बातचीत होने लगती है (जब यही एक धुन चित्त पर सवार हो जाती है) तो यही दृढ विचार कहाता है।।६।।

स्वयंप्रकाशरूपोऽयं पृष्टः कोऽसीति संवदेत्।
अहमज्ञो न जानामि मामहं कोऽहमित्युत।।७।।(३६३)
आत्मभानादृते नाहमज्ञ इत्युक्तिसम्भवः।
आत्मानमेव नो वेत्ति तर्ह्ययं जड एव हि।।८।।(३६४)

तामेव शिष्यबुद्धिरोहाय उदाहरति स्वयमित्यादिभिः केवलं ब्रह्म तिष्ठति इत्यन्तैः अष्टाविंशतिभिः श्लोकैः **स्वयमिति। अयं** जीवः, **स्वयंप्रकाशरूपो** वस्तुतः स्वतः अन्यप्रकाशनिरपेक्षतया, प्रकाशरूपः प्रकाश एव रूपं मूर्तिः यस्य स तथोक्तोऽपि, केनचित् ज्ञानिना प्रसंगेन त्वं **कोऽसीति** त्वं किंरूपोऽसि इति एवं, **पृष्ट** आक्षिप्तः सन्, **माम्** आत्मानम्, **अहं** जीवोऽहम्, अहमित्येवं सर्वदा व्यप्रियमाणः **कः** किंरूपः, किं देहरूप **उत** इन्द्रियरूपः किंवा प्राणरूपः अथवा मनोरूपो किंवा बुद्धिरूपः किं वा अहंकाररूपः किं वा अज्ञानरूपः, एवं निश्चयेन **न जानामि, इति** अतः हेतोः, **अहम् अज्ञः** अज्ञानमेव इति, **सम्वदेत्** प्रतिवचनं दद्यात्।।७।।(३६३)

तत्र प्रतिवचने विचारो यथा कर्त्तव्यः तथाह **आत्मभानादिति।** देहादिनिरासक्रमेण बुद्धिपर्यन्ते सर्वस्मिन् निरस्तेऽपि आत्मज्ञानाभावेन 'अहमज्ञ' इत्युक्तौ **आत्मभानादृते** अहंकारारोपाधिष्ठानम् आत्मा तस्य भानात् प्रकाशनाद् ऋते, आत्मभानं वर्जयित्वा, **अहमज्ञ** आत्मनि आरोपितस्य अज्ञानविशिष्टस्य अहमः स्फूर्तिः **न** स्यात् तां विना च तद्विषयकाज्ञोऽहम् **इत्युक्तिः** भाषणं, तस्याः **सम्भवः** सम्भावना, **न** भवति इत्यर्थः। 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति श्रुत्या वचनविषयज्ञानं विना वाचकशब्दानुच्चारस्य प्रतिपादितत्वादिति भावः। ननु केवलात्मज्ञानाभावेऽपि अज्ञानभानेन तद्विशिष्टाहंपदवाच्यात्मज्ञानेन वा अज्ञोऽहम् इत्येवं प्रतीतिसम्भवात् तया च अज्ञोऽहम् इत्युक्तिः सम्भवेदिति आशंक्य आत्मभाने अंगीकृतेऽपि तेन आत्मनो जडत्वेन घटादिवद् अज्ञाहंभावस्यापि प्रकाशकत्वासम्भवात् प्रकाशाभाव इत्याशयेन आह **आत्मानमिति। आत्मानमेव** अज्ञानम् अहंकारञ्च त्यक्त्वा केवलमात्मानं, **नो वेत्ति** न जानाति, इति चेत्? **तर्हि** तस्मिन् पक्षे हि अपि, **अयम्** आत्मा, **जड एव** अभानरूप एव, केवलं भवेद्, **हि** प्रसिद्धमेवेदं स्वतोऽभानरूपेषु घटादिषु।।८।।(३६४)

इष्टापत्तिः जगदभावेन इत्याशंक्य जगदान्ध्यप्रसंगेन दूषयति **जडत्वादिति। एवं च** आत्मन एव अभाने अंगीकृते सति, **जडत्वाद्** अभानरूपत्वाद् आत्मा, **घटादीनि** घटो जडत्वेन प्रत्यक्षः कुम्भ आदिः प्रथमो येषां पटादिवस्तूनां तानि वस्तूनि, **कथं** केन प्रकारेण, **प्रकाशयेत्**

वस्तुतः यह जीव स्वयंप्रकाशस्वरूप ही है परन्तु यदि कोई ज्ञानी उससे पूछे कि तू कौन है! तेरा क्या रूप है। तो उसको वह उत्तर देता है कि 'मैं कौन हूँ यह मैं नहीं जानता इसलिये मैं तो अज्ञानी हूँ' यही उत्तर दे बैठता है।।७।।

यदि उसको आत्मभान भी न माना जायगा तो उसका 'मैं अज्ञ हूँ' यह कहना ही ठीक नहीं हो सकेगा। वह आत्मा को सर्वथा ही नहीं जानता ऐसा यदि कहोगे तो उसको भी घटादि की तरह जड ही मानना होगा।।८।।

जडत्वाच्च घटादीनि कथमेव प्रकाशयेत्।
तस्मादयं स्वमात्मानं जानात्येवेति निर्णयः।।६।।(३६५)
अथात्मानमसौ वेत्ति परन्तु न हि वेत्ति यत्।
विशेषं स्वगतं तस्मात् स्वरूपज्ञानवानयम्।।१०।।(३६६)
अत्र ब्रूमो विशेषोऽत्र नास्त्यवाच्ये तु चिद्घने।
निर्विशेषस्वरूपेऽत्र विशेषं यदि वेत्ति सः।।११।।(३६७)

प्रकाशितानि कुर्यात्, न कथमपि इत्यर्थः। जडस्य घटादेः पटादिप्रकाशकत्वाभाववत्त्वस्य प्रात्यक्ष्यात्, तद्वद् आत्मनोऽपि अभानरूपत्वेन जडत्वे जगदान्ध्यप्रसंग इति भावः। अतो भानमेव सर्वदात्मनः अंगीकार्यम् इति सिद्धान्तयति **तस्मादिति। तस्मात्** कारणात्, **अयं** जीवः, **स्वं** स्वीयम्, **आत्मानं** स्वरूपं, **जानाति एव** वेत्ति एव, **इति** एवं, निश्चयः **निर्णयः,** अस्ति, इत्येवं सिद्धान्तः।।६।।(३६५)

ननु सर्वदा आत्मभाने सिद्धे अहमज्ञ इत्युक्तिवाच्यस्याहमज्ञ इति स्फुरणस्य का गतिः इत्याशंक्याह **अथेति। अथ** अतः कारणाद्, **असौ** आत्मा, **आत्मानं** स्वस्वरूपं, **वेत्ति** जानाति, **परन्तु** तथापि, **न वेत्ति** न जानाति इति, **हि** प्रसिद्धं, **यत्** तत्, **स्वगतं** स्वस्मिन्नेव स्थितं, **विशेषं** स्वयंप्रकाशचिद्रूपापेक्षया परप्रकाश्याचिद्रूपत्वाद् विशेषरूपम् अज्ञानम् अस्ति, **तस्मात्** तेन कारणेन, **अयम्** आत्मा, **स्वरूपज्ञानवान्** स्वस्य आत्मनो रूपम् असंगाद्वितीय-स्वप्रकाशचिन्मात्रं तस्याज्ञानं तद्वान् भवति, स्वस्मिन् अज्ञानमारोप्याज्ञानवान् इव प्रतीयते इति भावः।।१०।।(३६६)

अत्रेति। अत्र आत्मनि अज्ञानस्फूर्तौ, **ब्रूमः** कथयामः, **अत्र** आत्मनि चिद्घने सघनचिन्मात्रस्वरूपे, **अवाच्ये** वाचाम् अविषये, 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते', 'यद्वाचानभ्युदितम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः, कल्पयितुरभावात् कल्पितस्य अवास्तवत्वाच्च, **विशेषः** कल्पिताज्ञानस्वरूपः, **नास्ति** न विद्यते, **तु** पदेन अत्यन्तासत्त्वं सूचितम् अज्ञानस्य। ननु अज्ञानस्य कल्पितत्वं कथं निश्चेयं तत्राह **निर्विशेषेति। निर्विशेषस्वरूपे** निःशेषं गतो व्यावृत्तो विशेषः अज्ञानस्वरूपः यस्मात् स तथोक्तः,स एव स्वम् असाधारणं रूपम् आकृतिः यस्य तस्मिन्, **अत्र** आत्मनि, **स** आत्मा, **विशेषम्**

वह आत्मा जड हो तो घटादि जड पदार्थों को किस प्रकार प्रकाशित कर सकेगा (लोक में देखते हैं कि जड कहे जानेवाले घटादि, दूसरे जड पदार्थों का प्रकाश नहीं कर सकते) ऐसी अवस्था में यही सिद्धान्त मानना चाहिये कि यह जीव अपने स्वरूप को जानता ही है।।६।।

इन सब कारणों से यही मानना होगा कि यह आत्मा अपने स्वरूप को जानता हुआ भी अपने विशेष स्वरूप को नहीं जानता (अपनी विशेषताओं को नहीं पहचानता) है। इसका कारण यह है कि उस आत्मा में अज्ञान आ गया है इसलिये यह अपने असङ्ग, अद्वितीय, स्वप्रकाश, चिन्मात्ररूप विशेषता को भूलकर अज्ञानी-सा हो गया है।।१०।।

वेद्यत्वात् कल्पितः स्वस्मिंस्तेन किं तद्विचारणैः।
निर्विशेषतया ज्ञातो निर्विशेषस्वरूपवान्।।१२।।(३६८)
पूर्णबोधस्तर्हि जातो जिज्ञासैव निरर्थिका।
किञ्जातीयः किंगुणोऽसौ किञ्चेष्टो नाम तस्य किम्।।१३।।(३६६)

अज्ञानस्वरूपं, **यदि** तर्हि, **वेत्ति** जानाति तर्हि।।११।।

वेद्यत्वादिति। स विशेषः **स्वस्मिन्** आत्मनि, अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति तल्लक्षणसत्त्वात्, **कल्पित** आरोपितः, तत्र हेतुः **वेद्यत्वाद्** वेदनविषयत्वात्, तथा चायं प्रयोगः-अयं विशेष आरोपित, आधारात् पृथगसत्वे सति वेदनविषयत्वात्, मानोरथिकपुरवद्, अयम् आत्मा अनारोपितो, विद्यमानत्वे सति अवेद्यत्वात्, मनोरथकर्तृवत्, **तेन** अज्ञानस्य कल्पितत्वेन, **तद्विचारणैः** तस्य मिथ्याभूतस्य विशेषस्य विचारणैः, किमस्य कारणं किं चास्य स्वरूपं किं च अस्य कार्यम् इत्यादिविचारैः, **किं** किं फलं, न किमपि इत्यर्थः। तत्र बाधदृष्टिरेव कर्त्तव्या न विचारः कर्त्तव्य इति भावः। ननु निर्विशेषात्मज्ञानमेव विचारस्य फलमस्तु? तत्राह **निर्विशेषतयेति**। यदि यर्हि, **निर्विशेष-स्वरूपवान्** निर्गतो विशेषः अज्ञानरूपो यस्मात् तत् स्वरूपं यस्य असाधारणं रूपं तदेव अस्य अस्तीति तद्वान्, सदैव निवृत्ताविद्य इत्यर्थः। आत्मा **निर्विशेषतया** निवृत्ताज्ञानरूपत्वेन, **ज्ञात** उक्तविचारेण साक्षात्कृतः चेत्।।१२।।(३६८)

तर्हि तदानीमेव, **पूर्णबोधः** परिपूर्णं ज्ञानं, **जात** उत्पन्नः, ततश्च **जिज्ञासा** निर्विशेषात्मज्ञानेच्छा, यया विशेषविचारः अपेक्ष्यते सैव, **निरर्थिका** निष्फलैव, अतो विशेषविचारो निरर्थक एव इति भावः। ननु निर्विशेषात्मज्ञानम् आत्मनः अस्ति न वेति शंकायां तत् तादृशम् आत्मभानं स्पष्टीकर्तुं तज्जात्यादि प्रश्नम् उत्थापयति **किंजातीय इति**। **असौ** आत्मा, **किंजातीयः** का जातिः यस्य आत्मनः स तथोक्त, आत्मनः का जातिरित्यर्थः। तथा **असौ** आत्मा, **किंगुणः** के गुणा यस्य स तथोक्त, आत्मनो गुणाश्च क इति द्वितीयः प्रश्नः। तथा असौ आत्मा, **किंचेष्टः** काः चेष्टा यस्य स तथोक्त, आत्मनः चेष्टाश्च का इति तृतीयः प्रश्नः। तथा **तस्य** आत्मनो, **नाम** अभिधानं, **किम्** इति चतुर्थः प्रश्नः।।१३।।(३६६)

इस पर हमारा कहना है कि अवाच्य चिद्घन और निर्विशेषस्वरूप आत्मा में विशेष (अज्ञान) तो है ही नहीं, यदि कोई किसी विशेष (अज्ञानरूप) को देखता या जानता है तो वह प्रतीत होनेवाला विशेष वेद्य होने से कल्पित ही होगा, उस (के स्वरूप तथा कार्य) का विचार करने से क्या लाभ होना है! (तब तो केवल बाध दृष्टि कर लेने मात्र से ही कार्य सिद्ध हो जायगा, उसका विचार करना आवश्यक नहीं रहेगा)।।११।।

यदि तो निर्विशेषस्वरूप वाले अविद्यारहित को निर्विशेष किंवा अविद्यारहित रूप से जान लिया जाय तब तो कहना होगा कि उसी समय उसे पूर्ण ज्ञान हो गया। ऐसी अवस्था में भी विशेष-विचार निरर्थक ही हो जाता है।।१२।।

किंप्रकारः किमाकारः किंविकारश्च पृच्छसि।
न जातिर्निर्गुणस्यास्य निश्चेष्टो नाम तस्य न।।१४।।(४००)
निष्प्रकारो निराकारो निर्विकारः स निश्चितः।
सच्चिदानन्दरूपेण जिज्ञास्य इति चेद्‌ वदेत्‌।।१५।।(४०१)

तथा **किंप्रकारः (इति)**। असौ आत्मा **किंप्रकारः** कः प्रकारः प्रकृतिः स्वभावो यस्य स तथोक्त, आत्मनः का प्रकृतिः इति पञ्चमः। तथा **किमाकारः** क आकार आकृतिः यस्य स तथोक्त, आत्मन आकारश्च क इति षष्ठः प्रश्नः। तथा किंविकारश्च को विकारो विकृतिः यस्य स तथोक्त, आत्मनः कार्यमपि किम्‌ इति सप्तमः प्रश्नः। एवं यदि त्वं **पृच्छसि** प्रश्नान्‌ करोषि, यदि तर्हि, त्वं शृणु इति शेषः। अस्य **निर्गुणस्य** निर्गता निवृत्ता गुणा यस्मात्‌ स तथोक्तः तस्य, अत एव **अस्य** आत्मनो, **जातिः** नित्यमेकम्‌ अनेकवृत्तिसामान्यम्‌ इत्येवं लक्षणलक्षिता जातिः, **न** न विद्यते, गुणवद्वस्तुनिष्ठत्वात्‌ जातेः आत्मनि गुणस्य जातेश्च अभाव इत्याशयः, तथा गुणजातिरहितत्वादेव **निश्चेष्टो** निर्गता निवृत्ता चेष्टा व्यापारो यस्मात्‌ स तथोक्तः, अत एव **तस्य** आत्मनो, **नाम** अभिधानं, **न** नास्ति, नाम्नः क्रियावद्‌वस्तुनिष्ठत्वाद्‌ आत्मनि क्रियाभावेन नाम्नः अपि अभाव इति भावः।।१४।।(४००)

निष्प्रकार इति। गुणजातिक्रियारहितत्वादेव आत्मा स **निष्प्रकारो** निर्गतः प्रकारः क्रिया यस्मात्‌ स तथोक्तः, अस्ति, अत एव **निराकार** आकृतिहीनः, अत एव **निर्विकारो** विकाररहितः, **स** आत्मा, **निश्चितः** निर्णीत उपनिषत्सु इत्यर्थः। अतो जात्याद्यभावाद्‌ आत्मनः तद्वैशिष्ट्याभाववत्त्वं तेन च तद्विशिष्टात्मज्ञानाभावे अपि केवलात्मज्ञानस्य विद्यमानत्वेन जिज्ञासायाः नैरर्थक्यं सिद्धमिति भावः। ननु सामान्येन आत्मनि ज्ञातेऽपि सच्चिदानन्दलक्षणैः ज्ञातत्वाभावात्‌ जिज्ञासायाः सार्थक्यम्‌ अस्तु इति प्रश्नम्‌ उत्थापयति-**सदिति**। आत्मा **सच्चिदानन्दरूपेण** सत्‌ कालत्रयाबाध्यं, चिद्‌ ज्ञानरूपम्‌, आनन्दः सुखम्‌, एतत्त्रयम्‌ अभिन्नं स्वरूपं यस्य तेन लक्षणेन, **जिज्ञास्यो** ज्ञानेच्छाविषयः कर्त्तव्यः, एवं च जिज्ञासायाः सार्थकता **इतिचेद्‌ वदेद्‌** ब्रूयात्‌ चेत्‌ तर्हि।।१५।।(४०१)

उस आत्मा की जाति क्या है? उसमें गुण कौन-से हैं? उसकी चेष्टायें कौन-सी हैं? उसका नाम क्या है? उसका स्वभाव (प्रकृति) और आकार कैसा है? उससे उत्पन्न हुए विकार (पदार्थ) कौन-कौन से हैं? यदि तू ये प्रश्न करे तो सुन।।१३।।

(गुणवाले पदार्थ में जाति हुआ करती है) उस आत्मा में कोई गुण नहीं इसीलिये उसकी कोई जाति भी नहीं। वह आत्मा निश्चेष्ट किंवा निर्व्यापार है। किन्हीं क्रियाओं किंवा व्यापारों के कारण नाम पड़ा करते हैं इसीलिये उसका नाम भी कुछ नहीं होता। (जाति गुण क्रिया तथा नाम से रहित होने से ही) उपनिषदों में उस आत्मा को निष्प्रकार (निःस्वभाव) निराकार तथा निर्विकार निश्चित कर दिया है।।१४।।

अस्य विवरणम्

सच्चिदानन्दरूपेण ज्ञात एवायमेव हि।
अयमात्मा स्वमात्मानं सद्रूपेण न वेत्ति किम्।।१६।।(४०२)
अहमस्मीति जानाति नाहमस्मीति तद्वद।
अहमस्मीति जानाति पश्चाद् विज्ञेय आत्मनः।।१७।।(४०३)
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च यतते स्वयम्।
तस्मात् सद्रूपतायां तु नास्त्येवाज्ञानमात्मनः।।१८।।(४०४)

सच्चिदानन्दरूपेणेति। अयम् आत्मा, **सच्चिदानन्दरूपेण** सद् विद्यमानत्वं, चिद् ज्ञानम्, आनन्दः सुखम्, एतद्रूपम् आकारो, यस्य स तथोक्तः, तेन रूपेण, **ज्ञात एव** अनुभूत एव, **हि** इति निश्चयः। **अस्येति। अस्य** प्रतिज्ञातार्थस्य, **विवरणं** विस्तारः, क्रियते इति शेषः। तदेव निरूपयति **अयमिति।** हे शिष्य **अयं** प्रत्यगात्मा, स्वीयम् आत्मानं स्वरूपं, **सद्रूपेण** विद्यमानरूपत्वेन, **न वेत्ति किं** न जानाति, किमिति प्रश्नः सिद्धान्तिनः।।१५-१६।।(४०१-४०२)

नेति चेत् तत्र पृच्छति सिद्धान्ती **अहमिति।** हे शिष्य **अहं** सामान्याहन्त्वावच्छिन्नः प्रत्यगात्मा, **अस्मि** विद्यमान, **इति** एवं, **जानाति** वेत्ति वा, **नाहम् अस्मीति** अहमविद्यमान एव, **इति** एवं, जानाति **तत्** त्वं पृष्टं, वद ब्रूहि, एतत् पृष्टं विचार्य निश्चित्य ब्रूहि इत्यर्थः। विचार्यमाणे च किं निश्चीयते? तदाह **धर्म इति।** पूर्वं प्रथमम्, **अहम्** आत्मा, अस्मि विद्यमान, इति एवं, वेत्ति **जानाति, पश्चाद्** अनन्तरम्, **आत्मनः** स्वस्य, **विज्ञेय** इदन्तया स्फूर्तिविषये, **धर्मे** श्रुतिस्मृत्युदिते स्ववर्णाश्रमोचिते परलोकसाधनभूते कर्मणि, **च** पुनः, **अर्थे** द्रव्यादिसाधनभूते नीत्यादौ, **च** पुनः, **काम** इन्द्रियभोगजन्यसुखसाधने विवाहादिकर्मणि, **च** पुनः, **मोक्षे** मुक्तिसाधनभूते गुरुसेवाश्रवणादिकर्मणि, आत्मा **स्वयं, यतते** यत्नं करोति, आत्मनः सत्त्वज्ञानाभाव आत्मनः कस्मिन्नपि कर्मणि प्रवृत्तिः न स्यादिति भावः। उक्तमर्थमुपसंहरति **तस्मादिति। तस्मात्** कारणाद्, आत्मनः स्वस्य, **सद्रूपतायां** सत् कालत्रयाबाध्यं, रूपं स्वभावो, यस्य तस्य भावः तत्ता, तस्यां विषये, स्वस्य आत्मनः **अज्ञानम्** अस्फुरणं, न विद्यते **तु नास्त्येव,** इति निश्चयः।।१७-१८।।(४०३-४०४)

यदि कहा जाय किं (आत्मा सामान्यरूप से ज्ञात होने पर भी) सत् चित् तथा आनन्द रूप से जिज्ञासा का विषय होगा सो भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने स्वरूप को सच्चिदानन्दरूप से ही तो अनुभव किया करते हैं।।१५-१६।।

आत्मा अपने आपको सच्चिदानन्दरूप से जानता है यह बात अगले सन्दर्भ से खोलकर दिखाई जाती हैक्या यह आत्मा अपने आपको सद्रूप (विद्यमानरूप) से नहीं जानता है? यदि यह कहा जाय कि नहीं जानता तो बताओ वह अपने आपको 'मैं हूँ' ऐसा जानता है या 'मैं नहीं हूँ' ऐसा जानता है? विचार करने पर यही निश्चित होता है कि प्रथम 'मैं हूँ' 'मैं विद्यमान हूँ' इस प्रकार अपने आपको जानने के पश्चात् ही

चेतनोऽहं विजानामि घटादीनीति यो वदेत्।
स्वस्य चिद्रूपतायां तु तस्याज्ञानं न विद्यते।।१६।।(४०५)
सर्वं प्रियं स्वकामाय तस्मात् प्रियतमः स्वयम्।
तेनात्मनस्तु सा युक्ता स्पष्टैवानन्दरूपता।।२०।।(४०६)
तेनात्मनस्तु सा व्यक्ता सच्चिदानन्दरूपता।
तस्मात् स्वयंप्रकाशेऽस्मिन् सच्चिदानन्दरूपिणि।।२१।।(४०७)

एवमात्मनः स्वसद्रूपताविषयं ज्ञानं प्रसाध्य इदानीं चिद्रूपताविषयं ज्ञानं साध्यते **चेतन इति। य** आत्मा, **घटादीनि** घटः कुम्भ आदिः येषां पटादिवस्तूनां तानि, **अहम्** अहन्त्वावच्छिन्नः कुटस्थ आत्मा, **विजानामि** सामान्यतया कूटस्थरूपेण, विशेषतया तत्सहितचिदाभासरूपेण वेद्मि, **इति** अतो हेतोः, **चेतनोऽहं** चैतन्यस्वरूपोऽहम् अस्मि, **इति वदेत्** एवं ब्रूयात्, **तस्य** आत्मनः, **स्वस्य** स्वस्वरूपभूतायां, राहोः शिर इतिवद् अभेदे षष्ठी। **चिद्रूपतायां** चिन्मात्रस्वरूपत्वविषये, **अज्ञानम्** अभानं, **न तु विद्यते** नैवास्ति, स्वचिद्रूपतास्फूर्त्तिं विना अहं जानामि इति वागुच्चार एव न सम्भवति 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति श्रुत्या वाच्यज्ञानं विना वचनोच्चारासम्भवस्य प्रतिपादितत्वादिति भावः।।१६।।(४०५)

एवमात्मनः सच्चिद्रूपत्वभानं प्रसाध्य इदानीम् आनन्दरूपत्वभानं प्रसाध्य दर्शयति **सर्वमिति। सर्वं** स्त्रीपुत्रादिविषयजातं, **स्वकामाय** स्वस्य आत्मनो भोक्तृभावेन कल्पितस्य, कामाय काम्यते इति कामो भोगः, तस्मै तदर्थं, **प्रियम्** इष्टं भवति, सर्वविषयजातं भोक्तृशेषं न तु भोग्यशेषो भोक्ता इति भावः। तथा च श्रुतिः 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इति। **तस्माद्** आत्मार्थमेव सर्वस्य प्रियत्वात्, **स्वयम्** आत्मा, **प्रियतमः** अतिशयितः प्रिय अस्ति इति निश्चयः, **तेन** श्रुतियुक्त्यनुभवसिद्धेन प्रियतमत्वेन अतिप्रेमविषयत्वेन, सुखस्यैव आगोपालं लोके प्रियत्वप्रसिद्धेः, **आत्मनः** स्वस्य, **आनन्दरूपता** सुखरूपता, **स्पष्टैव** व्यक्तैव, अनुभूयते। आनन्दरूपत्वज्ञानमपि आत्मनः अस्ति एव इति भावः।।२०।।(४०६)

अपने विज्ञेय धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के लिये प्रयत्न किया करता है। यदि उसे अपने आत्मा की सत्ता का ज्ञान न हो तो कोई किसी काम में प्रवृत्त ही क्योंकर हो! इसलिये आत्मा को अपनी सद्रूपता के विषय में कोई सन्देह नहीं है यह बात तो निश्चित हो गई।।१६-१८।।

जो आत्मा 'मैं चेतन हूँ, घटपटादि वस्तुओं को जानता हूँ' इस प्रकार कहता है, क्या उसको कभी अपनी चिद्रूपता के विषय में कोई संदेह हो सकता है?।।१६।।

सब कुछ अपने लिये होने से प्रिय होता है इसलिये कहते हैं कि स्वयं तो वह प्रियतम होना ही चाहिये। जब कि सब लोग सुख को ही प्रिय समझते हैं तो इससे आत्मा की सुखरूपता तो अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। यों आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता यहाँ तक स्पष्ट हो चुकी। अब जिज्ञासा का क्या काम रहा?।।२०।।

आकाशे नीलिमा यद्वत् तोयं मरुमरीचिषु।
जले च नैल्यमन्येन चेतनेन प्रकल्पितम्।
अज्ञानं चित्स्वरूपेण स्वयं स्वस्मिन् प्रकल्पितम्।।२२।।(४०८)

मोहस्यापि स्वभावोऽयं विश्वरूपेण भासनम्।
विद्यया नाशिते मोहे तत्स्वभावो न भासते।।२३।।(४०९)

उपसंहरति **तेनेति। तेन** आत्मनः सच्चिदानन्दरूपत्वज्ञानसत्त्वेन, **आत्मनः** आत्मसम्बन्धिनी, **सा तु** सापि, **सच्चिदानन्दरूपता** सत् कालत्रयाबाध्यं, चिद् ज्ञानम्, आनन्दः सुखम्, एतत् त्रयम् अभिन्नं रूपं यस्य स तथा, तस्य आत्मनः भावः तत्ता, **व्यक्ता** भाता, अतो जिज्ञासाया निरर्थकत्वं सिद्धम् इति भावः। तस्मात् कारणात् सच्चिदानन्दस्वयंप्रकाशात्मनि अज्ञानस्य असम्भवेन आरोपितत्वं सिद्धमित्याह सदृष्टान्तं द्वाभ्यां **तस्मादिति। तस्मात्** सच्चिदानन्दरूपेण भासमानत्वात्। **स्वयंप्रकाशे** अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वं स्वप्रकाशत्वम्, इत्युक्तलक्षणस्वप्रकाशलक्षणवति, **सच्चिदानन्दरूपिणि** सद् अबाध्यं, चिद् ज्ञानम्, आनन्दः सुखम्, एतत्त्रयम् अभिन्नं रूपं विद्यते यस्य तस्मिन्, **अस्मिन्** प्रकाशमाने आत्मनि।।२१।।(४०७)

आकाश इति। चित्स्वरूपेण चित् ज्ञानमेव, स्वम् असाधारणं, रूपम् आकृतिः, यस्य तेन आत्मना, **स्वयम्** आत्मना एव आरोपकर्त्रा, **स्वस्मिन्** आत्मनि एव आधारे, **अज्ञानं** ज्ञानविरुद्धं व्यावहारिकभावरूपाभानं, **प्रकल्पितम्** आरोपितं; तत्र दृष्टान्ता **अन्येन** भिन्नेन आरोपिताद्, अत्यन्तविविक्तेन इत्यर्थः **चेतनेन** ज्ञानवता पुरुषेण, **आकाशे** अवकाशरूपे द्रव्ये वियत्संज्ञके, **नीलिमा** नीलत्वं, **यद्वद्** यथा, तथा **अन्येन** चेतनपुरुषेण, **मरुमरीचिषु** मरुर्धन्वा नाम देशविशेषः तस्मिन्, ये मरीचयः सूर्यकिरणाः, तेषु, तोयं जलम्, आरोपितं, यद्वत् तथा, **अन्येन** चेतनपुरुषेण, **जले** स्वतः शुक्लरूपे तोये, **नैल्यं** नीलत्वं, **प्रकल्पितम्** आरोपितं, यद्वत्, तद्वद् इति योज्यम्।।२२।।(४०८)

तस्य चान्यथा स्फूर्तिहेतुकत्वमाह **मोहस्येति।** यद् **विश्वरूपेण** विश्वं जगत्, तदेव रूपम् आकारः, तेन, **भासनं** प्रकाशनं तद्, **अयं** प्रत्यक्षो, **मोहस्यापि** अज्ञानस्यैव, **स्वभावः** स्वरूपमस्ति। तस्य लयः तर्हि कथं स्यात्? तत्राह **विद्ययेति। मोहे** अज्ञाने, **विद्यया** ज्ञानेन, **नाशिते** नाशं प्रापिते सति, **तत्स्वभावः** तस्य मोहस्य अज्ञानापरपर्यायस्य, स्वभावः स्वरूपं, जगद्रूपेण अन्यथा भासनं, **न भासते** न प्रतीतो भवति, निमित्तापाये नैमित्तिकस्यापि अपायाद् इति भावः।।२३।। (४०९)

इसलिये (यही मानना होगा कि) सच्चिदानन्दरूप इस स्वयंप्रकाश, आत्मा में आकाश में दूसरों की कल्पित नीलिमा की तरह या मरुभूमि की सूर्यकिरणों में अन्यों से कल्पित जल की तरह अथवा श्वेत जल में परिकल्पित नीलता की तरह ज्ञानैकस्वरूप आत्मा ने अज्ञान पदार्थ की कल्पना कर डाली है।।२१-२२।।

जीवचैतन्यभास्यानां वृत्तीनां प्रलये लयः।
वृत्तीनां प्रलयादेव न भासन्तेऽत्र वृत्तयः।।२४।।(४१०)
तत्पुनर्जीवचैतन्यं यथापूर्वं हि वर्तते।
न पुनर्वृत्तिभासात्मा जीवस्तत्र विनश्यति।।२५।।(४११)
आत्मचैतन्यभास्यस्य मोहस्य प्रलये तथा।
मोह एव निवर्तेत यथापूर्वं लसत्यसौ।।२६।।(४१२)

एतदेव सदृष्टान्तं निरूपयति द्वाभ्याम् **जीवेति**। यथा इति अध्याहार्यं, **जीवचैतन्यभास्यानां** जीवनामकम् आधारभूतकूटस्थचैतन्यसहितं बुद्धिप्रतिबिम्बितं यत् चैतन्यं तस्य भास्याः प्रकाश्याः, तासां **वृत्तीनां** कामादिसर्ववृत्तीनां, **प्रलये** अन्तःकरणस्य कारणरूपे अज्ञाने लये सति, अज्ञानमात्राकारेण स्थितौ सत्याम् इत्यर्थः। **लयः** नाशः भवति, **अत्र** प्रलये, **वृत्तीनां** कामादिवृत्तीनां, **प्रलयात्** नाशादेव, **वृत्तयः** कामादिका, **न भासन्ते** न प्रकाशन्ते।।२४।।(४१०)

तत्पुनरिति। तत् तत्र, **पुनः** पश्चात्, **जीवचैतन्यम्** अधिष्ठानसहितबुद्धिस्थचिदाभासरूपं चैतन्यं, **यथापूर्वं** प्रथमं वृत्तिव्यवहारकाले, **यथा** स्थितं तथैव, **वर्त्तते** वर्त्तमानमस्ति, **हि** प्रसिद्धमेतद् विद्वत्सु, **पुनः** पश्चादपि, **वृत्तिभासात्मा** वृत्तीनां प्रकाशक आत्मा, **तत्र** वृत्तिलये सति, **न विनश्यति** न नष्टो भवति।।२५।।(४११)

दार्ष्टान्तिकमाह **आत्मेति। आत्मचैतन्यभास्यस्य** आत्मचैतन्यप्रकाश्यस्य, **मोहस्य** अज्ञानस्य, **प्रलये** प्रकर्षेण लये नाशे सति, **तथा** तद्वत्, **मोह एव** अज्ञानमेव केवलं, **निवर्त्तेत** निवृत्तं भवेद्, **असौ** स आत्मा सच्चिन्मात्रस्वरूपो, **यथापूर्वं** मोहस्थितिकाले यथा स्थितः तथैव, **लसति** प्रकाशते।।२६।।(४१२)

ननु बोधेन मोहे विनाशितेऽपि बोधः शिष्टः स्यात् तेन चात्मनः सद्वितीयत्वं भवतु इत्याशंक्य तन्नाशो भवेदिति सदृष्टान्तमाह **दीपेति द्वाभ्याम्। दीपप्रभायां** दीपस्य प्रकाशे, क्रमेण युगपद् वा, **श्वेतकृष्णपटौ** श्वेतः शुक्लः, कृष्णः श्यामः, तौ च तौ पटौ वस्त्रे, **आयातौ** प्राप्तौ, **तौ** च

अज्ञान का तो यह स्वभाव ही है कि वह जगद्रूप से प्रतीत हुआ करता है। विद्या से इस अज्ञान का नाश कर डालें तो अज्ञान का स्वरूप यह जगत् भी प्रतीत होना बन्द हो जाता है।।२३।।

प्रलय अर्थात् कारणरूप अज्ञान में अन्तःकरण का लय हो जाने पर जीवचैतन्य से प्रकाशित होने वाली (कामादि) वृत्तियों का भी लय हो जाता है। वृत्तियों के प्रलय हो जाने से ही वृत्तियों का भास रुक जाता है। परन्तु वृत्तियों का प्रकाशक वह जीव चैतन्य तो पहले जैसा ही रहता है। वृत्तियों का प्रकाशक वह बेचारा जीव तब नष्ट नहीं हो जाता।।२४-२५।।

दीपप्रभायामायातौ श्वेतकृष्णपटौ यथा।
तौ तया काशितौ पश्चात् तन्नाशे सा यथास्थिता।।२७।।(४१३)
आत्मभायां समायातौ मोहबोधौ यथाक्रमात्।
तया प्रकाशितौ पश्चाद् तन्नाशे सा यथा स्थिता।।२८।।(४१४)

तावेव, **तया** दीपप्रभया, **काशितौ** प्रकाशितौ, तदापि दीपप्रभा अस्ति, **तन्नाशे** तयोः श्वेतकृष्णपटयोः, नाशे अन्यत्र नयने तया दाहेन नाशे वा जाते सति, **पश्चाद्** अनन्तरमपि, **सा** दीपप्रभापि, यथापूर्वं प्रथमं **यथा** यद्वत् तथा तथा एव स्थिता।।२७।।(४१३)

आत्मेति। आत्मभायाम् आत्मनः आत्मचैतन्यस्य, भा प्रकाशः, तस्यां, **समायातौ** काकतालीयन्यायेन प्राप्तौ, **क्रमात्** क्रमेण, **मोहबोधो** मोहः अज्ञानं, बोधश्च ज्ञानं, तौ च मोहबोधौ, **तया** आत्मप्रभया, **प्रकाशितौ** भासितौ, तदापि आत्मभा **यथा** स्थिता तथैव, **तन्नाशे** तयोः मोहबोधयोः, नाशे लये सति, **पश्चात्** तु अनन्तरमपि, **यथा** यद्वत्, मोहबोधयोः प्रकाशसमये **स्थिता** तद्वत् मोहबोधनाशसमयेऽपि स्थिता इत्यर्थः। यथा अग्निः दाह्यं काष्ठादि दग्ध्वा स्वयमपि नश्यति तथा बोधोऽपि स्वविरुद्धम् अज्ञानं विनाश्य स्वयमपि नश्यति एव, ततश्च आत्माऽशेष-सम्बन्धरहितः प्रकाशते इति भावः।।२८।।(४१४)

एवं द्वितीयभूमिकालक्षणनिरूपणप्रसंगेन विचारस्वरूपं फलपर्यन्तं प्रदर्श्य इदानीं द्वितीयभूमिकाभ्यासफलं निरूपयति चतुर्भिः **वेदान्त इति। वेदान्तसंप्रदायेन** वेदान्तस्य उपनिषदादेः, संप्रदायः तदर्थानुसन्धानं तेन, तदनुकूल आचारः तेन च, **इत्यादिचिन्तने** इत्येवम् उक्तलक्षणं चिन्तनमादि यस्य तस्मिंश्चिन्तने अर्थविचारे, **कृते** पुनः पुनः अभ्यासिते सति, **असम्भावनया** उक्तार्थस्य असम्भावना अनंगीकारः तया, **युक्ता** सहिता, **विपरीतत्वभावना** असंगाद्वितीयकूटस्थात्मनि सर्ववेदान्त-प्रमाणसंसिद्धेऽपि विपरीतत्वेन ससंगसद्वितीयसविकारजीवरूपत्वेन, भावना प्रतीतिः या अस्ति।।२९।।(४१५)

ठीक इसी प्रकार आत्मचैतन्य से प्रकाशित होनेवाले अज्ञान के (ज्ञान द्वारा) विलीन हो जाने पर भी वह सच्चिन्मात्रस्वरूप आत्मा तो वैसा का वैसा ही प्रकाशित होता रहता है, वहाँ तो केवल वह अज्ञान ही नष्ट हो जाता है।।२६।।

दीपक के प्रकाश में श्वेत और कृष्ण दो वस्त्र लाये जाते हैं, वह प्रकाश उन दोनों विरुद्ध रंगवाले वस्त्रों को प्रकाशित कर देता है, जब वे दोनों कपड़े वहाँ से हटा दिये जाते हैं, तब वह प्रकाश फिर जैसा का तैसा ही रह जाता है। इसी प्रकार अनादि काल से लेकर यह अखण्ड आत्मज्योति जगमगा रही है, उसके सामने अचानक ही कभी अज्ञान आ जाता है और कभी ज्ञान आ जाता है, वह उन दोनों को प्रकाशित कर देती है, कालचक्र से वह मोह तथा वह ज्ञान दोनों नष्ट हो जाते हैं, वह आत्मज्योति तो फिर भी पहले जैसी निर्विकार ही शेष रह जाती है।

वेदान्तसंप्रदायेन कृत इत्यादिचिन्तने।
असम्भावनया युक्ता विपरीतत्वभावना।।२६।।(४१५)
सा नश्यति द्वितीयायां प्रज्ञातैक्ष्ण्यं च वर्धते।
'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' सा बुद्धिस्तस्य जायते।।३०।।(४१६)
सक्षारैरग्निसंस्कारैर्विहिते हेमशोधने।
श्यामिका क्षयमायाति केवलं हेम तिष्ठति।।३१।।(४१७)

सेति। **सा** विपरीतभावना, **द्वितीयायां** विचाराख्यायां, **नश्यति** नष्टा भवति, **च** पुनः, **प्रज्ञातैक्ष्ण्यं** प्रज्ञा बुद्धिः, तस्याः तैक्ष्ण्यम् अज्ञानभेदनसामर्थ्यं, **वर्धते** वृद्धं भवति। अत्रार्थे श्रुतिमपि प्रमाणयति **दृश्यते इति**। **अग्र्यया** अग्रे भवा अग्र्या, सूक्ष्मा इत्यर्थः, तया बुद्ध्या मत्या **दृश्यते** साक्षादनुभूयते, आत्मा इति शेषः। **सा** श्रुत्युक्ता, **बुद्धिः** मतिः, **तस्य** द्वितीयभूम्यारूढस्य, **जायते** उत्पन्ना भवति।।३०।।(४१६)

विचारफलं सदृष्टान्तमाह द्वाभ्याम् **सक्षारैरिति**। **सक्षारैः** क्षारद्रव्यसहितैः, **अग्निसंस्कारैः** अग्निकृतदाहादिसंस्कारैः, **हेमशोधने** हेम्नः सुवर्णस्य, शोधने शुद्धौ, **विहिते** कृते सति, **श्यामिका** कृष्णता, **क्षयं** नाशम्, **आयाति** प्राप्नोति, ततः **केवलं** शुद्धं, **हेम** सुवर्णं, **तिष्ठति** अवशिष्टं भवति, यथा तथा इत्यध्याहार्यम्।।३१।।(४१७)

सतर्कैरिति। तथा तद्वत्, **सतर्कैः** तर्कसहितैः, **बोधसंस्कारैः** बोधस्य विवेकस्य, दृढाभ्यासजन्यैः संस्कारैः वासनारूपैः, **ब्रह्मशोधने** ब्रह्मणः असंगसच्चिदानन्दापरिच्छिन्नरूपस्य आत्मनः, शोधने विवेचने, **विहिते** कृते सति, **अविद्या** कार्यकारणरूपाऽज्ञानापरपर्याया, **क्षयं** नाशम्, **आयाति** प्राप्नोति, ततश्च **केवलम्** असंगाद्वितीयकूटस्थात्मस्वरूपं, **ब्रह्म** देशकाल-वस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **तिष्ठति** अवशिष्टं भवति। इदमेव द्वितीयभूमिकाभ्यास-फलमिति भावः।।३२।।(४१८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भूमिकाभेदभास्करार्थप्रकाशे ज्ञानद्वितीय-भूमिकानिर्णयार्थप्रकाशः तृतीयः।

जिस प्रकार अग्नि सब ईंधन को जलाने के पश्चात् स्वयं भी नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि अपने विरोधी भावरूपी अज्ञान को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है फिर वही आत्ममात्र शेष रह जाता है।।२७-२८।।

वेदान्त सम्प्रदाय के अनुकूल इस प्रकार बार-बार विचार करने पर इस (जीवब्रह्मैक्यरूपी) अर्थ की असम्भव बुद्धि नष्ट हो जाती है (अर्थात् वह इसे अंगीकार कर लेता है) साथ ही इस असंग, अद्वितीय आत्मा को ससंग और सद्वितीय समझना भी छोड़ देता है अर्थात् उसकी विपरीतभावना भी नष्ट हो जाती है। उसकी बुद्धि में तीक्ष्णता आने लगती है (जिससे अज्ञान का नाश करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है)। श्रुति ने भी कहा है कि "सूक्ष्म बुद्धि से उस आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है"। इस द्वितीय भूमिका वाले पुरुष को वैसी सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त हो जाती है।।२६-३०।।

सतर्कैर्बोधसंस्कारैः विहिते ब्रह्मशोधने।
अविद्या क्षयमायाति केवलं ब्रह्म तिष्ठति।।३२।।(४१८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे भूमिकाभेदभास्करे द्वितीयभूमिकानिर्णयाख्यं तृतीयं प्रकरणम्।।

अथ तृतीयभूमिकानिर्णयः

भूमिकाद्वितयाभ्यासात् तृतीया तनुमानसा।
मननापरपर्याया भवेत् तल्लक्षणं शृणु।।१।।(४१९)

एवंलक्षणां द्वितीयभूमिकां निरूप्य इदानीं सलक्षणां तृतीयभूमिकाम् एकादशश्लोकैः निरूपयितुं प्रतिजानीते **अथेति। अथ** द्वितीयभूमिकानिरूपणानन्तरं, तृतीया तृतीयभूमिका निरुप्यते इति शेषः। तत्रादौ पूर्वभूमिकाभ्यासहेतुकां तत्प्राप्तिमाह। **अथ तृतीयभूमिकानिर्णयः। भूमिकेति। भूमिकाद्वितयाभ्यासात्** भूमिकयोः जिज्ञासाविचाराख्ययोः, द्वितयं युग्मं, तस्य अभ्यासात्, पुनः पुनः आवर्त्तनलक्षणाद्, **मननापरपर्याया** मननमिति अपरः अन्यः पर्यायो नाम यस्याः सा तथोक्ता, एतन्नाम्नी, **तृतीया** पूर्वद्वयापेक्षया तृतीया भूमिका, **भवेत्** स्यात्, **तल्लक्षणं** तृतीयभूमिकाया लक्षणं चिह्नं **शृणु** अवधारय।।१।।(४१९)

तदेव प्रतिज्ञातं चिह्नं दर्शयति **सान्धकारेति। यद्वद्** यादृक्, **सान्धकारगृहस्थस्य** अन्धकारेण तमसा, सहितं युक्तं, यद् गृहं मन्दिरं, तस्मिन् स्थः स्थितो, बहिर्देशादागत्य दीप्तचक्षुष्टया स्थितः, तस्य पुरुषस्य, **चिरं** बहुकालं, तत्रैव स्थित्वा **पर्यालोचनया** सर्वतोऽवलोकनेन, **सूक्ष्मः** पूर्वं दृष्ट्यगोचरः, **अर्थः** घटादिपदार्थो, **भासते** दृश्यते, **तथा** तद्वत्, **तृतीयायां** तृतीयभूमिकायां मनननाम्न्यां, प्रथमद्वितीयभूमिकाभ्यासेन तृतीयायां प्रविष्टस्य तत्र चिरं स्थित्वा, **मुनेः** मननवतः पुरुषस्य, पर्यालोचनया मननेन, सूक्ष्मः पूर्वं वृत्तेः स्थूलत्वात् तदगोचरः अर्थः तत्त्वंपदयोः अर्थो वाच्यो लक्ष्यश्च भागलक्षणया जीवब्रह्मैक्यलक्षणो, भासते अनुभवारूढो भवति।।२।।(४२०)

जब कि सोने को सुहागा आदि क्षार डालकर अग्नि में तपाकर शुद्ध कर लिया जाता है तब उसकी मलिनता नष्ट होकर केवल शुद्ध सुवर्ण ही शेष रह जाता है। इसी प्रकार अनुकूलतर्कसहित ज्ञान के दृढ संस्कारों से, असंगसच्चिदानन्द ब्रह्म पद के शुद्ध (विविक्त) हो जाने पर, यह अविद्या नटी मर जाती है। इस भूमिकावाले की दृष्टि में तब केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है।।३१-३२।।

जिज्ञासा तथा विचार नाम की पहली दो भूमिकाओं के अभ्यास करने से 'तनुमानसा' नाम की तृतीय अवस्था स्वयमेव आने लगती है जिसको 'मनन' भी कहा जा सकता है उसका लक्षण सुन लो।।१।।

सान्धकारगृहस्थस्य पर्यालोचनया चिरम्।
सूक्ष्मोऽर्थो भासते यद्वत् तृतीयायां तथा मुनेः।।२।।(४२०)
बालस्य शूद्रकल्पस्य गायत्र्या उपदेशतः।
यथा द्विजत्वमायाति तथा जात्यन्तरं मुनेः।।३।।(४२१)
दृष्ट्वा लोकस्थितिं लोलां सविस्मय इव स्थितः।
अन्तरेव विषीदेत तृतीयालक्षणं हि तत्।।४।।(४२२)

मुनेः जात्यन्तरप्राप्तिरूपं तृतीयारूढस्य चिह्नं सदृष्टान्तमाह **बालस्येति। बालस्य** द्विजातिभवार्भकस्य, **शूद्रकल्पस्य** शूद्रतुल्यस्य, **गायत्र्या** गायन्तम् आवर्तयन्तं पुरुषं त्रायते या सा गायत्री त्रिपदा चतुर्विंशत्यक्षरा तस्या, **उपदेशत** उपदेशेन, सार्वविभक्तिकस्तसिः, **यथा** यद्वद्, **द्विजत्वं** द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जातो द्विजः तस्य भावस्तत्त्वं, द्विजत्वरूपं जात्यन्तरमित्यर्थः **आयाति** प्राप्नोति, **तथा** तद्वद्, **मुनेः** तृतीयभूमिकारूढस्य, मुनित्वरूपं **जात्यन्तरं** द्वितीया जातिरित्यर्थः, जायते इति शेषः। इदमपि तृतीयारूढस्य चिह्नं ज्ञेयम्।।३।।(४२१)

लक्षणान्तरमाह **दृष्ट्वेति। लोकस्थितिं** लोकानां दृश्यपदार्थानां, स्थितिं गतिं, **लोलां** क्षणपरिणामिनीं, **दृष्ट्वा** अवलोक्य, **सविस्मय इव** विस्मय आश्चर्यं, तेन सहित इव **स्थितो** वर्तमानः। सर्वपदार्थानां नित्यपरिणामित्वात् तेषां परिणामेन वास्तवाश्चर्यरहितोऽपि साश्चर्यवद् वर्तमान इति भावः। अतः **अन्तरेव** अन्तःकरण एव, केवलं श्रवणादिसाध्यफल-प्राप्तिपर्यन्तं शरीरादिस्थैर्याविश्वासेन, **विषीदेत** विषण्णो भवेत् **तद्धि** तत्प्रसिद्धं विवेकिषु, **तृतीयालक्षणं** तृतीयायाः तनुमानसाया लक्षणं चिह्नं ज्ञेयम्, एतत् पूर्वत्र उत्तरत्र च योज्यम्।।४।।(४२२)

अन्धेरे घर में बैठा हुआ मनुष्य जब बहुत काल तक घर में ढूँढता है तो फिर उसे सूक्ष्म वस्तुएँ भी दीखने लगती हैं। तृतीय भूमिका में भी मुनि की यही अवस्था होती है।

जब मनुष्य (बाहर प्रकाश में से आकर) किसी अन्धेरे घर में कुछ पदार्थ लेने के लिये प्रवेश करता है तो उसको थोड़ी देर चुपचाप खड़ा रहना पड़ता है, जब आँखों में भरी हुई बाहर की ज्योति धीरे-धीरे निकल जाती है तब चारों ओर देखने पर वे सूक्ष्म पदार्थ भी दीखने लगते हैं (जो कि पहले उसकी दृष्टि में नहीं आते थे) इसी प्रकार कुछ काल पर्यन्त प्रथम, द्वितीय भूमिका के अभ्यास के अनन्तर तृतीय भूमिका में चिरकाल तक ठहरने पर मनन करने से जीव-ब्रह्मैक्यरूपी सूक्ष्म अर्थ भी उस अधिकारी को भासने लग पड़ता है। इसकी आँखों में से संसार की चकाचौंध (जो कि आत्मदर्शन में विघ्न कर रही थी) निकल जाती है।।२।।

दिनं गतं गता रात्रिर्गतमायुर्गतं वयः।
कदा स्थास्यामि निष्ठायां यत्र मोहो न बाधते।।५।।(४२३)
गतेऽह्नि शोचति मुहुर्गतेनाह्ना किमर्जितम्।
गतायां च तथा रात्रौ किं मे रात्र्यानयार्जितम्।।६।।(४२४)

अन्यच्च **दिनमिति। दिनं** दिनमिदं, **गतम्** अतीतं, तथा **रात्रिः** इयं रात्रिः निशा, गता अतीता, तथा **आयुः** जीवनं, **गतं** नष्टं, तथा **वयः** तारुण्यं गुरुसेवादिसाधनेषु क्षमं तदपि **गतं** नष्टं, **यत्र** यस्याम् अवस्थायां, **मोहः** अज्ञानं **न बाधते** न व्यथयति तज्जन्यं दुःखं च न व्यथयति, तस्यां **निष्ठायां** स्थितौ, अहं **कदा** कस्मिन् समये, **स्थास्यामि** स्थितो भविष्यामि, एवं सदा चिन्तयति तदपि तृतीयालक्षणं ज्ञेयम्।।५।।(४२३)

अन्यदपि **गत इति। अह्नि** दिने, **गते** व्यतीते सति, **गतेन** अतीतेन, **अह्ना** दिवसेन, मोक्षेच्छुना मया मोक्षसाधनं **किमर्जितम्** किं सम्पादितं, न किमपि इत्यर्थः। एवं विचार्य **मुहुः** पुनः पुनः, **शोचति** शोकं करोति, तथा **गतायां** यातायां, **रात्रौ** निशि सत्याम्, **अनया** एतया, **रात्र्या** निशीथिन्या, मया मुमुक्षुणा, **किमर्जितं** किं सम्पादितं, न किमपि इत्यर्थः,। एवं मुहुः पुनः पुनः, शोचति शोकं करोति, तृतीयालक्षणं हि तद् इति च योज्यम्।।६।।(४२४)

जब तक बालक का यज्ञोपवीत संस्कार तथा वेदारम्भ नहीं होता तब तक वह शूद्रतुल्य रहता है परन्तु गायत्री का उपदेश करते ही उसमें द्विजत्वरूपी दूसरी जाति उत्पन्न हो जाती है, इसी प्रकार तृतीय भूमिका में आ जाने पर मुनि में मुनित्व रूपी दूसरी जाति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् वह मुनि हो जाता है।।३।।

वह मुनि संसार की चंचल स्थिति को देखकर चकित-सा रह जाता है। उसके मन में (केवल एक ही) विषाद रहने लगता है (कि कहीं ज्ञानपरिपाक से प्रथम ही मेरा यह शरीर नष्ट न हो जाय)। यही तनुमानसा नाम की तृतीय भूमिका का लक्षण कहलाता है।।४।।

तृतीय भूमिकारूढ पुरुष को सदा यही चिन्ता रहती है कि यह दिन भी व्यर्थ गया, यह रात्रि भी निष्फल गयी, यह युवावस्था भी व्यर्थ चली गयी, अब तो यह जीवन भी व्यर्थ ही जा रहा है, मुझे ऐसी निष्ठा अर्थात् ऊँची अवस्था कब प्राप्त होगी जब कि मुझे यह अज्ञान दुःखी न कर सकेगा।।५।।

तृतीय भूमिकावाला मुनि दिन के बीतने पर शोक करता है कि ओह! इस पिछले दिन मैंने (परमार्थ के लिये) कुछ भी नहीं कमाया, रात के बीतने पर वह फिर शोक करने लगता है कि ओह! मेरी पिछली रात भी तो निष्फल ही गई है (उसमें भी तो मोक्ष की तरफ मैं एक पैर भी नहीं बढ़ा सका हूँ)।।६।।

अनिषिद्धेषु भोगेषु प्राप्तेष्वपि यदृच्छया।
निषिद्धानिव तान् पश्येत् सा स्थितिः तनुमानसा।।७।।(४२५)
बहिर्मुखजनस्तुत्या लज्जते निन्दितो यथा।
परमार्थिजनस्तुत्या प्रसादमधिगच्छति।।८।।(४२६)

तत्र श्लोकः

अस्यै तु पतिरात्मानं दातुमुत्कण्ठितः सदा।
आदातुं न विजानाति नित्यमुत्कण्ठितापि सा।।९।।(४२७)

अन्यच्चापि **अनिषिद्धेषु इति। अनिषिद्धेषु** शास्त्रलोकाविरुद्धेषु, **भोगेषु** भुज्यन्ते इति भोगा, भोग्यविषयाः तेषु, **यदृच्छया** पूर्वकर्मानुसारेण, **प्राप्तेषु अपि** लब्धेषु सत्सु अपि, **तान्** भोगान्, **निषिद्धान् इव** निषिद्धाः शास्त्रलोकविरुद्धाः तान्, इव तद्वत्, **पश्येद्** अवलोकयेद्, यस्यां स्थित्यां, **सा स्थितिः** सावस्था, **तनुमानसा** तनुमानसानाम्नी तृतीया भूमिका ज्ञेया।।७।।(४२५)

तथान्यच्च **बहिरिति। बहिर्मुखजनस्तुत्या** बहिर्बाह्यविषयेषु भोजने मुखमिव भोगे प्रवृत्तबाह्येन्द्रियः तादृशो जनः पुरुषः, तस्य स्तुतिः प्रशंसनं, तया बहिर्मुखजनकृतया स्वस्तुत्या वा, **यथा निन्दितः** सन् निन्दास्पदीभूतो यद्वद् लज्जते, तद्वद् **लज्जते** त्रपते, **परमार्थिजनस्तुत्या** परमः कार्यकारणातीत आत्मैव अर्थो विषयः सत्यतया यस्य सेव्यः अस्ति तस्य तादृशजनस्य स्वकृतयान्यकृतया वा स्वस्यैव अन्यतादृशजनेन कृतया वा स्तुत्या स्तवनेन, **प्रसादं** प्रसन्नताम्, **अधिगच्छति** अधिकं यथा प्राप्नोति। तदिदमपि तृतीयालक्षणं ज्ञेयम्।।८।।(४२६)

एवं तृतीयालक्षणानि उक्त्वा शृंगारश्लोकेनापि तानि निरूपयितुमाह **तत्रेति। तत्र** तृतीयभूमिकालक्षणनिरूपणे, **श्लोकः** शृंगाररसिकः श्लोको, जातित्वादेकवचनमस्ति।

तानेव उदाहरति **अस्या इति। पतिः तु** पाति इति पतिः भर्ता अपि, **अस्यै** नायिकाया, **आत्मानं** आत्मा देहः, तं, तत्कृतं भोगमित्यर्थः, **दातुम्** अर्पितुं, **सदा** नित्यम्, **उत्कण्ठित** उद्युक्तो वर्त्तते, तथापि **सा** पत्नी, **नित्यं** सर्वदा, **उत्कण्ठितापि** उद्युक्तापि, लज्जाद्याधिक्याद् **आदातुम्** अंगीकर्त्तुं, **न विजानाति** न वेत्ति, यथा, तथा प्रस्तुते अर्थेऽपि योज्यं पाति इति पतिः स्वसच्चिदानन्ददानेन पालक एव बुद्धेः, अस्यै मोक्षेच्छावत्यै तृतीयारूढायै बुद्ध्यै आत्मानं

'तनुमानसा' भूमिका में जाने पर अधिकारी की ऐसी कुछ अवस्था हो जाती है कि जो भोग प्रारब्धवश उसे प्राप्त होते हैं जिनको भोगने को न शास्त्र ही निषेध करता है और न लोकाचार से ही वे बुरे समझे जाते हैं, तो भी वह उन्हें निषिद्ध-सा समझता है (ऐसी उदार स्थिति जब आ जाये तो समझ लेना कि 'तनुमानसा' आ गयी)।।७।।

बहिर्मुख लोग जब उस मुनि की बड़ाई करते हैं तो वह उसे निन्दा-सी समझ कर लज्जित होता है, परमार्थी लोगों की स्तुति से ही उसको प्रसन्नता का लाभ होता है।।८।।

सौभाग्यकामिनी नारी नायको रतिदायकः।
परन्तु मुग्धभावेन किञ्चित्कालं विलम्बनम्।।१०।।(४२८)

सच्चिदानन्दासंगकूटस्थस्वरूपम्, आत्मभावम् इत्यर्थः, दातुम् अर्पितुं, सदा नित्यं, उत्कण्ठितः उद्युक्तोऽस्ति, परन्तु सा मननवती बुद्धिः, नित्यं सदा, उत्कण्ठितापि उद्युक्तापि, आदातुम् आत्मभावम् अंगीकर्तुं, लोकैषणादिभिः अवरुद्धा सती न विजानाति न वेत्ति निःशंकतया। इदमपि तृतीयालक्षणं ज्ञेयम्।।९।।(४२७)

ननु उभयत्रापि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः परस्परम् उत्कण्ठितत्वं कुतो निश्चीयते तत्राह **सौभाग्येति। नारी** स्त्री, **सौभाग्यकामिनी** लोके हि दम्पत्योः परस्परं भोगसुखमेव सौभाग्यनाम्ना प्रसिद्धं, तत्कामयितुं शीलम् अस्या सा तथोक्ता, अस्ति, तथा **नायको** नीयन्ते प्राप्यन्ते, पत्न्या भोगा अस्मात् स नायकः पुरुषो, **रतिदायको** रतेः भोगसुखस्य, दायको दानशीलः अस्ति, अतः परस्पररागवत्त्वेन एव परस्परम् इच्छा अस्ति इति ज्ञायते इति भावः। तर्हि कुतो न रतिस्तत्राह **परन्त्विति। परन्तु** उभयोरिच्छायां सत्यामपि, **मुग्धभावेन** मुग्धस्य मौढ्यस्य, भावो विद्यमानत्वं, तेन, **किञ्चित्कालं** किञ्चित्कालपर्यन्तम्, **विलम्बनं** विलम्बो भवतीति ज्ञेयम्। प्रस्तुते तु न रातीति नरो, वैराग्यादिसम्पन्नः पुरुषः, तस्येयं नारी प्रपञ्चविरक्ता बुद्धिः, सा सौभाग्यकामिनी सु शोभनं, भगम् ऐश्वर्यम् असंगाद्वितीयरूपं, तत्कामयितुं शीलम् अस्याः सा तथोक्ता, अस्ति, तथा नायको नयति प्रापयति, ब्रह्मभावं स नायको जीवोपाधिबुद्धेः ब्रह्मभावप्रापको विवेको, रतिदायको रतेः जीवब्रह्मैक्यभावेन सुखस्य, दायको दाता, अस्ति। परन्तु एवं साधनसम्पन्नबुद्धौ विद्यमानायां विवेके च विद्यमाने सति, मुग्धभावेन मुग्धं मौढ्यं, तस्य भावः सत्त्वं, तेन, किञ्चित् कालं किञ्चित् कालपर्यन्तं, यावत् प्रतिबन्धक्षयम् इत्यर्थः। विलम्बनं विलम्बः अस्ति, प्रतिबन्धक्षये जीवब्रह्मैक्यानुभवजन्य-सुखाविर्भावः स्यादिति भावः।।१०।।(४२८)

अब शृंगार रस के तीन श्लोकों द्वारा तृतीय भूमिकारूढ पुरुष के अद्भुत लक्षण बताये जाते हैं।

उसका पति उसको अपना आपा देने को सदा उत्सुक रहता है, उधर वह वधू भी उत्कण्ठित तो है परन्तु वह बिचारी उस (पति) को स्वीकार करना नहीं जानती।

इस प्रकार तृतीय भूमिकारूढ पुरुष की अवस्था रहती है। इस तृतीय भूमिका तक चढ़ी हुई मोक्षेच्छावाली बुद्धि ही स्त्री है, सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही उसका पति है, वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को इस बुद्धि के भोग के लिये देना चाहता है, उधर इस मुमुक्षु बुद्धि को भी सदा इसके पाने की ही उत्कण्ठा लगी रहती है, परन्तु संसार के लोकैषणा आदि बन्धनों से रुक-रुककर यह बुद्धि उस सच्चिदानन्द का भोग नहीं ले सकती।।९।।

इदमेव कथं नु स्यादिति क्लिश्यति चात्मना।
भूयः कटाक्षकलहं करोति स्वामिना सह।।११।।(४२६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे भूमिकाभेदभास्करे तृतीयभूमिकानिर्णयाख्यं चतुर्थं प्रकरणम्।।

ननु उभयत्र मौढ्यमेव सुखप्रतिबन्धकमिति कुतो निश्चेयं तत्राह **इदमेवेति**। इयं नायिका **इदमेव** इदं मनोभिलषितं, पत्या सह भोगसुखमेव, **कथं** कीदृक्, **स्याद्** भवेत्, **नु इति** वितर्कयति, च पुनः, **इति** एवं वितर्क्य, **आत्मना** अन्तःकरणेन, **क्लिश्यति** तत्प्राप्त्यभावेन क्लिष्टा भवति, तत्रैकमत्येन उभयोः केवलसुखप्राप्तिसम्भवे सति सुखेच्छायां च सत्यां विरुद्धमतित्वेन दुःखानुभवनं मौढ्यकारणकमेव इति भावः। ननु सुखेच्छायां सत्यामपि विरुद्धमतित्वम् अस्ति इति एतत् कुतोऽवगम्यते इत्याशंक्याह **भूय इति**। इयं नायिका **स्वामिना** पत्या, **सह** समं, **भूयः** पुनः पुनः, **कटाक्षकलहं** कटाक्षः स्नेहपूर्वकं नेत्रप्रान्तेन अवलोकनं, कलहश्च अप्रीत्या विरुद्धवचनं च, तयोः समाहारो भूयः कटाक्षकलहं, **करोति** क्रियमाणा दृश्यते लोके, अतः सुखसाधने सम्भोगे विद्यमाने सति सुखेच्छायां च सत्यां दुःखजनकाचारो मौढ्यविलसितमेव इति भावः। प्रकृते तु इयं साधनसम्पन्ना मुमुक्षुबुद्धिः, इदमेव आत्मसुखं प्रपञ्चजन्यदुःखरहितं केवलं सुखं, कथं कीदृक्, स्याद् भवेद्, इति एव, नु वितर्कयति, च पुनः, आत्मना अन्तःकरणेन, क्लिश्यति क्लिष्टा भवति, तत्साधनेषु क्लेशं करोति इत्यर्थः। भोगेच्छया मोक्षसुखसाधनेषु क्लेशवती, आत्मसुखेच्छया च तेषु विरज्ज्यात्मसुखप्राप्तीच्छावती च पुनः पुनः भवति इति केवलात्मसुखेच्छायां सत्यामपि कादाचित्कत्वपराधीनत्वदुःखमिश्रितत्वादिदोषदुष्टवैषयिकसुखस्य अत्यन्तत्यागेन केवलस्वाधीनदुःखरहितसत्यैकसुखाननुभवो मौढ्यं विना अनुपपन्न इति भावः। ननु अत्र मौढ्यमस्ति इति एतत् कुतो निश्चेयं तत्राह **भूय इति**। इयं मुमुक्षुबुद्धिः, स्वामिना स्वपालकेन आत्मना, सह समं, भूयः पुनः पुनः, कटाक्षः सप्रेमसूक्ष्मदृष्ट्यावलोकनं 'दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इति श्रुतेः, कलहश्च वर्तमानप्रतिबन्धहेतुककुतर्केण विरुद्धवचनोच्चारः तयोः समाहारः भूयः कटाक्षकलहं, कदाचिद् आत्मावलोके रमणं कदाचिद् विरुद्धवाद इति भावः। करोति कुर्वती दृश्यते, तदिदं मौढ्यं विना अनुपपन्नम् इति, मौढ्यमेवात्र कारणं निश्चेयमिति भावः।।११।।(४२६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भूमिकाभेदभास्करार्थप्रकाशे ज्ञानतृतीयभूमिकानिर्णयार्थप्रकाशश्चतुर्थः।।

स्त्री को भी सौभाग्य की इच्छा है और पति भी उसे भोग-सुख देने को तैयार है। फिर भी मुग्धता के कारण कुछ विलम्ब स्वभावतः हो ही जाता है।

यहाँ पर वैराग्यादि-सम्पन्न पुरुष की प्रपंच से विरक्त हुई बुद्धि ही स्त्री है, उसको असंग अद्वितीय स्वरूप को प्राप्त करके सौभाग्य पा लेने की बड़ी इच्छा है, विवेक ही यहाँ पर नायक पुरुष है, वह भी यह चाहता ही है कि बुद्धि को किसी तरह जीव-ब्रह्म की एकतारूपी रति प्राप्त हो जाय। इस प्रकार साधन-सम्पन्न बुद्धि तथा विवेक इन दोनों के होने पर भी, जब तक ज्ञान के प्रतिबन्धक पापों का सर्वथा नाश नहीं हो जाता, तब तक विलम्ब हुआ ही करता है।।१०।।

अथ चतुर्थभूमिकानिर्णयः

तृतीयभूमिकाभ्यासाद् नाशमेति रजस्तमः।
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्याद् निदिध्यासनरूपिणी।।१।।(४३०)

एवं सलक्षणां तृतीयभूमिकां प्रतिपाद्य इदानीं चतुर्थभूमिकाम् अष्टादशश्लोकां निरूपयितुमाह **अथेति। अथ** तृतीयभूमिकानिरूपणानन्तरं, **चतुर्थी** चतुर्थभूमिका सत्त्वापत्तिनाम्नी, निरूप्यते इति शेषः। तत्र तावत् पूर्वभूमिकाभ्यासेन रजस्तमोनाशेन सत्त्ववृद्ध्या चतुर्थी प्राप्यते इत्याह **तृतीयेति। तृतीयभूमिकाभ्यासात्** तृतीयाया मननापरपर्यायायाः तनुमानसाख्यभूमिकाया, अभ्यासात् पुनः पुनः आवर्त्तनलक्षणाद्, **रजो** रजोगुणः, **तमः** तमोगुणः, तत्कार्येण रागमौढ्यरूपेण सहैव, **नाशं** लयम्, **एति** प्राप्नोति, यदा तदा इति अध्याहार्यम् **निदिध्यासनरूपिणी** निदिध्यासनं निश्चयः, ध्यानं वा, तदेव रूपं स्वभावो, यस्याः सा तथोक्ता, **सत्त्वापत्ति**नाम्नी, **चतुर्थी** भूमिका, **स्याद्** भवेत्, प्राप्ता स्याद् इत्यर्थः।।१।।(४३०)

पति के भोग से न मालूम कैसा सुख होता होगा यही विचार कर उसके न मिलने पर उसका अपने पति के साथ बार बार कटाक्ष कलह चलता है अर्थात् पति के साथ बार-बार दो-दो आँखें होती ही हैं।

प्रकरण में तो साधन-सम्पन्न मुमुक्षुबुद्धि (प्रपंचदुःख से रहित केवल) आत्मसुख न मालूम कैसा आनन्ददायक होता होगा, यह विचार कर दुःखी होती रहती है, अर्थात् आत्मसुखसाधनों में क्लेश को अनुभव करती है। भाव यह है कि जब उसे भोगेच्छा होती है तब तो मोक्षसुखसाधनों से क्लेश मानती है और जब उसे आत्मसुखेच्छा उत्पन्न होती है तो भोगसाधनों से विरक्त हो जाती है। ये दोनों अवस्थायें बार-बार साथ-साथ ही चलती रहती हैं। वह मुमुक्षुबुद्धि मूढता के कारण वैषयिक सुखों को सर्वात्मना त्याग नहीं सकती इसलिये आत्मसुख की इच्छा होने पर भी आत्मसुख का अनुभव उसे नहीं हो पाता। परन्तु उस मुमुक्षुबुद्धि में सुखप्राप्ति की इच्छा के विद्यमान होने का यही एक चिह्न है कि वह अपने स्वामी आत्मदेव की तरफ को प्रेमभरी दृष्टि से बार-बार निहारती तो है, मूढता के कारण कभी-कभी विरुद्ध विचार भी उसमें उदय होते ही रहते हैं।।११।।

तनुमानसा नाम की तृतीय भूमिका के अभ्यास से जब रज, तम (और इनके कार्य राग तथा मूढता) नष्ट हो जाते हैं तब निदिध्यासन (निश्चय) रूपिणी 'सत्त्वापत्ति' नामक चतुर्थ भूमिका स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।।१।।

अत्र आक्षेपपरिहारः

भोगार्थमेव देवत्वं प्राप्ता देवा न मुक्तये।
मुमुक्षाविरहात् तेषां सत्त्वापत्तिर्न मुक्तिकृत्।।२।।(४३१)
देवेष्वपि तथा शक्रकुबेरवरुणादयः।
ये मुमुक्षां गताः तेषां मुक्तिप्राप्तिः किमद्भुतम्।।३।।(४३२)

अथ लक्षणानि

एकान्ते मुक्तिगाथानां गानं रोदनमेव च।
रोमाञ्चो गद्गदः कण्ठे सत्त्वापत्तेस्तु लक्षणम्।।४।।(४३३)

ननु सत्त्वापत्तेः मुक्तिहेतुत्वे देवानां तदापन्नानां कुतो न मुक्तिरित्याशंक्य परिहरति **अत्रेति। अत्र** मुक्तिसाधनभूतसत्त्वप्राप्तौ सत्यामपि देवानां मुक्त्यभावे शंकायाम्, **आक्षेपपरिहार** आक्षेपस्य आशंकायाः, परिहार उत्तरम् उच्यते इति शेषः। प्रतिज्ञातं परिहारमेव आह द्वाभ्याम् **भोगार्थमिति। देवा** अमरा, **भोगार्थमेव** भुज्यन्ते इति भोगा, विषयाः, तदर्थं तदिच्छया एव केवलं, **देवत्वं** सत्त्वगुणप्रधानम् अमरत्वं, **प्राप्ता** याता, **न मुक्तये** नैव मुक्त्यर्थम्, अतो **मुमुक्षाविरहाद्** मोक्तुम् इच्छा मुमुक्षा, तस्या विरहाद् वियोगात्, **तेषां** देवानां, **सत्त्वापत्तिः** सत्त्वस्य सत्त्वगुणस्य आपत्तिः प्राप्तिः, **मुक्तिकृद्** मोक्षदा, **न** नैव भवति इत्यर्थः।।२।।(४३१)

एवं मोक्षेच्छाव्यतिरेकेण सत्त्वापत्तेः मुक्तिकारणत्वाभावं प्रतिपाद्य इदानीं मुक्तीच्छान्वयेन तस्या एव मोक्षहेतुत्वमपि दर्शयति **देवेष्वपीति। देवेषु अपि** सत्त्वापत्तिमत्सु अपि अमरेषु, **तथा** मुक्तीच्छावन्त इत्यर्थः। **शक्रकुबेरवरुणादयः** शक्र इद्रः, कुबेरो वित्तेशो, वरुणः जलेश, आदयो मुख्या येषु ते तथोक्ता, **ये** ये ये इत्यर्थः। **मुमुक्षां** मोक्षेच्छां, **गताः** प्राप्ताः सन्ति, **तेषां** देवानां सत्त्वापत्तिमताम् अपि, **मुक्तिप्राप्तिः** मुक्तिलाभो जातः, अतः तत्र **किमद्भुतं** किमाश्चर्यं, सप्तम्यन्तपाठे मुक्तिलाभविषये इत्यर्थः, न किमपि आश्चर्यम् इत्यर्थः, तस्मात् मुक्तीच्छापूर्वकसत्त्वापत्तेः मुक्तिकारणत्वं, न भोगेच्छापूर्विकाया इति भावः।।३।।(४३२)

यदि कोई पूछे किसत्त्वापत्ति होने पर भी देवता मुक्त क्यों नहीं हुए? तो इसका उत्तर दिया जाता हैसत्त्वगुणप्रधान देवपद को उन लोगों ने केवल भोगों के लिए प्राप्त किया है, मुक्ति के लिये नहीं, मुमुक्षा न होने से उनकी सत्त्वापत्ति उन्हें मोक्ष नहीं दिला सकती।।२।।

देवों में भी जिन शक्र, कुबेर, वरुण आदि को मुमुक्षा उत्पन्न हो गयी, वे शक्रादि देवलोग तो मुक्ति को प्राप्त हो ही गये हैं इसमें आश्चर्य ही क्या है!

अर्थात् मुक्ति की इच्छा रखते हुए सत्त्वापत्ति यदि हो जाय तो मुक्ति मिल सकती है। भोगेच्छा रखते हुए यदि सत्त्वापत्ति होगी तो भी उससे मुक्ति का लाभ न हो सकेगा।।३।।

स्वमतमाह

वेदान्ताः सम्यगभ्यस्ता अथ ध्येयो महेश्वरः ।
प्राप्तातिसौरभे भृंगे रसपानं गुणाधिकम् ।।५ ।।(४३४)
नित्योऽस्मि शुद्ध एवास्मि क्वाज्ञानं क्व च बन्धनम् ।
एवमादिचमत्कारः सत्त्वापत्तेस्तु लक्षणम् ।।६ ।।(४३५)

एवं सत्त्वापत्तिप्राप्तिं सहेतुकां साक्षेपपरिहारां निरूप्य इदानीं तल्लक्षणनिरूपणं प्रतिजानीते **अथेति। अथ** इतः परं, सत्त्वापत्तिप्राप्तिक्रमनिरूपणानन्तरम् इत्यर्थः, **लक्षणानि** सत्त्वापत्तेः चिह्नानि, निरूप्यन्ते इति शेषः, तानि एव आह पञ्चभिः **एकान्ते इति। एकान्ते** निर्जनस्थाने, स्थित्वा इति शेषः, **मुक्तिगाथानां** मुक्तिः मोक्षः, तस्याः तत्साधनभूत-वैराग्यादेश्च प्रतिपादिका गाथा ग्रन्थविशेषाः, तासां, **गानं** पठनं, तस्मिंश्च मध्येमध्ये, स्वस्य मुक्त्यभावस्मरणेन **रोदनम्** अश्रुपातो, मध्ये मध्ये **रोमाञ्चो** रोमोत्थानं, **कण्ठे** च गले, **गद्गदः** अस्पष्टाक्षरोच्चारः, इदं सर्वं **सत्त्वापत्तेस्तु** सत्त्वापत्तिनाम्न्याः चतुर्थभूमिकाया, **लक्षणं** चिह्नं, ज्ञेयम् ।।४ ।।(४३३)

इदं च परमतेन लक्षणमुक्तमिति सूचयति **स्वमतमिति। स्वमतं** स्वस्य ग्रन्थकारस्य, मतम् इष्टं, सत्त्वापत्तेः चिह्नम् **आह** कथयति। तदेवाह **वेदान्ता इति**। मुमुक्षुः एवं विचारयति मनसि **वेदान्ता** उपनिषत्सूत्रभाष्यादयः, **सम्यग्** पूर्वापराविरोधेन, **अभ्यस्ताः** पुनः पुनः अवलोकिता, **अथ** इतः परं, मया मुमुक्षुणा, **महेश्वरः** सर्ववेदान्तनिर्णीतजीवब्रह्मैक्यलक्षणलक्षित आत्मेश्वरत्वाधिष्ठानरूपत्वाद् ईश्वरतत्वं, **ध्येयः** ध्यातव्यः, वेदान्तग्रन्थाभ्यासं परित्यज्य तत्प्रतिपाद्यात्मरूपमेव चिन्तनीयमिति भावः। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह यथा **प्राप्तेति। प्राप्तातिसौरभे** प्राप्तं लब्धम्, अतिसौरभम् अतिगन्धवत्केसरस्थानं, येन तस्मिन्, **भृंगे** भ्रमरे, **रसपानं** रसस्य तदन्तर्गतमधुनः, पानं प्राशनं, **गुणाधिकं** गुणेन तृप्तिहेतुत्वेन इष्टतया चाधिकम् उत्कृष्टम् ।।५ ।।(४३४)

अन्यदपि सत्त्वापत्तेः लक्षणमाह **नित्य इति**। अहं **नित्यः** सद्रूपः, **अस्मि** भवामि, अहंकारादिशरीरान्तलक्षणाद् अनित्याद् भिन्नमात्मानं लक्ष्यीकृत्य अहम् अविनाशी अस्मीति चिन्तयति इत्यर्थः। तथा **शुद्ध एवास्मि** शुद्धः मायाऽविद्यादिमलरहितो, निश्चयेन अहं भवामि स्वस्य

किसी निर्जन स्थान में बैठकर मुक्तिगाथाओं का पठन करते करते (उनको पढ़ने से अपने शरीर-बन्धन को स्मरण कर-करके) कभी रोने लगना, कभी रोमांच होना तथा कभी कण्ठ का गद्गद हो जाना ये, चतुर्थभूमिका के लक्षण कहलाते हैं।।४ ।।

ग्रन्थकार अपने मत से सत्त्वापत्ति का चिह्न बताता हैमुमुक्षु बार बार यही विचार करता है कि मैंने वेदान्तों का अभ्यास तो भले प्रकार कर लिया, अब मुझे ग्रन्थाभ्यास छोड़कर महेश्वर (ईश्वरों के भी ईश्वर) का ध्यान करना चाहिये, क्योंकि भ्रमर को पुष्प का सुगन्ध ले चुकने के बाद रसपान ही अधिक आनन्ददायक होता है।।५ ।।

यथा निजकथास्तद्वच्छृणोत्युपनिषत्कथाः।
यथान्यस्य कथाः तद्वच्छृणोति जनसंकथाः।।७।।(४३६)
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यहंकारचेतसाम्।
निरीक्ष्य विविधाश्चेष्टा आस्ते विस्मितवन्मुनिः।।८।।(४३७)

स्वयंप्रकाशरूपत्वात् मायाऽविद्ययोः जडासत्त्वरूपत्वेन च असंगत्वाद् आत्मनः शुद्धत्वं निश्चिनोति, तथा **क्व** कुत्र, **अज्ञानं** मोहः, अस्ति, न क्वापि इत्यर्थः। तथाहि अज्ञानम् आत्मनि विद्यते वा अज्ञाने, उत जगति? नाद्य आत्मनः सच्चिदानन्दघननिर्विकारनिरंशत्वेन अज्ञानाधिष्ठानत्वायोगाद्, उभयोः विरुद्धत्वेन प्रकाशतमसोरिव आधाराधेयत्वासिद्धेः, प्रत्युत नाशकत्वाच्च। नापि द्वितीयः स्वस्य स्वाधारत्वासम्भवाद्, असत्त्वेनापि उभयोराधाराधेयत्वाभावाच्च। न च तृतीयः अपि, जगतः अज्ञानकार्यत्वेन तदाधारत्वायोगाद्, न हि कारणभूताया मृदो मृत्कार्यो घट आधारो दृष्टः, कार्यस्य-उत्पत्त्यादिमत्त्वेन उत्पत्तेः प्राग् अभावात्, कारणस्य अनुत्पन्नत्वेन, सत्त्वान्न कार्यकारणयोराधाराधेयत्वमिति भावः। किञ्च **क्व च बन्धनं** बद्ध्यते अनेन इति बन्धनं, बन्धसाधनं द्वैतं, तत्कारणस्य अज्ञानस्याऽसत्त्वे क्व कुत्र, न कुत्रापि अस्ति इत्यर्थः। अतो नित्यमुक्तः **शुद्धः** अज्ञानाद्यस्पृष्ट **एव** अहमस्मीत्यर्थः, **एवमादिचमत्कारः** एवं इत्येवंरूप आदिः प्रमुखो यस्य तथाभूतश्चमत्कारः स्वस्फुरणं, सत्त्वापत्तेः सत्त्वापत्तिनाम्न्याः चतुर्थभूमेः लक्षणं चिह्नं, ज्ञेयम्।।६।।(४३५)

अन्यच्चापि लक्षणमाह **यथेति। यथा** यद्वद्, **निजकथा** अन्यकृताः स्वगुणख्यापका वार्त्ताः, स्वस्तुतिप्रियः पुरुषः हर्षाविर्भावपूर्वकं **शृणोति** अवधारयति, **तद्वत्,** सत्त्वापत्त्यारूढः पुरुष **उपनिषत्कथा** उप समीपे निषण्णं वाच्यलक्ष्यभावेन ध्येयं, लक्ष्यं च श्रेयो ब्रह्मसुखं यासु ता उपनिषदः, तासां कथा वार्ता, आत्मतत्त्वप्रकाशिका वार्त्ता इत्यर्थः, **शृणोति** अवधारयति। किञ्च **यथेति। यथा** यद्वद्, **अन्यस्य** परस्य, शत्रोरित्यर्थः। **कथाः** तद्गुणख्यापका वार्त्ता अप्रीत्या शृणोति, **तद्वत्** तथा, **जनसंकथा** जनस्य जन्मनः सम्बन्धिनीः कथा लौकिकीः पुराणादिषु अपि धर्माधर्मादिकथा अवतारादिचरित्राण्यपि संसारोत्कर्षबोधिनीः वार्त्ता अपि अप्रीत्या **शृणोति** अवधारयति, इदमपि सत्त्वापत्तेः लक्षणं ज्ञेयम्।।७।।(४३६)

अन्यदपि चतुर्थीलक्षणमाह **देहेन्द्रियेति। देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यहंकारचेतसां** देहस्य अन्नमयाख्यस्य स्थूलदेहस्य, जन्ममरणबाल्यतारुण्यवार्धक्यस्थूलकृशव्याधिगौरकार्ष्ण्यादयः, इन्द्रियाणां करणानां, बधिरत्वाबधिरत्वकाणत्वाकाणत्वान्धत्वानन्धत्वादिरूपाः, मनसः चेष्टाः संकल्पविकल्पाध्यासादयः, प्राणस्य श्वासादयः, बुद्धेः चेष्टा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिनिश्चयादयः, अहंकारस्य कर्तृत्वाकर्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादिरूपाः, चेतसः स्मरणास्मरणप्रत्यभिज्ञाऽप्रत्यभिज्ञानुभवाननुभवादिरूपा, **विविधा** अनेकप्रकारा, एताः **चेष्टाः** क्रिया, **निरीक्ष्य** अवलोक्य, **विस्मितवद्** आश्चर्यवान् इव **आस्ते** वर्तते इदमपि चतुर्थीलक्षणं ज्ञेयम्।।८।।(४३७)

मैं तो नित्य हूँ, मैं तो शुद्ध ही हूँ, मेरा वह अज्ञान कहाँ चला गया, उस अज्ञान का पुत्र बन्धन भी अब कहाँ है इस प्रकार की अन्तःस्फूर्ति सत्त्वापन्न पुरुष को बार-बार हुआ करती है।।६।।

ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वजन्ममृत्युजरादिकान्।
भावानन्यस्य जानाति तदन्यं भावमात्मनः।।६।।(४३८)
मोहजालाद्विनिर्गत्य जालादिव विहंगमः।
खेचरत्वमनुप्राप्तो धन्यतामनु विन्दति।।१०।।(४३९)

अथ अन्यदपि लक्षणमाह **ज्ञत्वेति। ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वजन्ममृत्युजरादिकान्** ज्ञत्वं ज्ञानेन्द्रियसहितस्य बुद्ध्य व स्थितचिदाभासस्य, कर्तृत्वं कर्मेन्द्रिय सहितस्य बुद्ध्यवस्थितचिदाभासस्य, भोक्तृत्वम् आनन्दमयोपहितचिदाभासस्य, जन्ममृत्युजरादिकाः स्थूलदेहस्य, तत्र तादात्म्यापन्नस्य चिदाभासस्य वा, एतान् सर्वान्, **भावान्** विकारान्, **अन्यस्य** स्वात्मतो विविक्तस्य चिदाभासस्य, **जानाति** वेत्ति, **आत्मनः** स्वस्य, **भावं** स्वरूपं, **तदन्यं** तेभ्य उक्तेभ्यो विकारेभ्यः, अन्यं विलक्षणं जन्ममृत्युजराकर्तृत्वभोक्तृत्वज्ञत्वादिरहितं, जानाति वेत्ति अनुभवति इत्यर्थः।।६।।(४३८)

अन्यच्चापि लक्षणमाह **मोहजालादिति।** जालाद् आनायाद्, **विहंगमः** पक्षी **विनिर्गत्य** विमुच्य, **अनु** पश्चात् **खेचरत्वम्** आकाशगामित्वं, **प्राप्तः** सन् लब्धः सन्, **अनु** पश्चाद्, **धन्यतां** कृतकृत्यतां, **विन्दति** प्राप्नोति, **इव** यथा; तथा अयं सत्त्वापन्नः, मोहजालाद् मोह आत्माज्ञानं, स एव स्वनाशहेतुत्वाद् जालमिव जालं तस्माद्, विनिर्गत्य विमुच्य, अनु पश्चात्, खेचरत्वं सर्वद्वैतशून्यत्वोपलक्षित ब्रह्माभेदवद् आत्मानुभवितृत्वं, प्राप्तः लब्धः सन्, अनु पश्चाद्, धन्यतां कृत्यकृत्यत्वरूपां निरंकुशां तृप्तिं, विन्दति प्राप्नोति इत्यर्थः। इदमपि चतुर्थी लक्षणं ज्ञेयम्।।१०।।(४३९)

जिस प्रकार (संसारी) लोग (खुशामदियों के मुख से) अपनी गुणस्तुति सुनते सुनते हर्षाविर्भाव से फूलने लगते हैं, इसी प्रकार यह चतुर्थभूमिकावाला पुरुष आत्मतत्त्व का प्रकाश करने वाली उपनिषद्वार्ताओं को सुन-सुनकर हर्ष निर्भर हो जाता है। अपने शत्रु के गुण-कीर्तन को जिस प्रकार लापरवाही से लौकिक लोग सुनते हैं, इसी प्रकार वह भी अपनी जन्मगाथाओं को बड़ी उपेक्षा दृष्टि से सुना करता है।।७।।

वह मुनि तो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त की नाना चेष्टाओं को देख देखकर चकित-सा बैठा रह जाता है कि यह सब क्या हो रहा है?।।८।।

सत्त्वापन्न पुरुष ज्ञत्व, कर्तृता, भोक्तृता तथा जन्म, मृत्यु, जरा आदि विकारों को अपने से भिन्न चिदाभास के ही जानता है। अपने स्वरूप को तो वह इन सब विकारों से रहित ही निश्चय किये रहता है।।६।।

भाग्यवश किसी जाल से छूटकर आकाश में स्वच्छन्द उड़ने में जो आनन्द या जो कृतकृत्यता किसी पक्षी को प्राप्त होती है, यह सत्त्वापन्न पुरुष भी उसी तरह अज्ञानरूपी मोहजाल से छूटकर धन्यता को अनुभव करने लगता है।।१०।।

दरिद्र इव संप्राप्य निधानं विस्मयं गतः।
ईश्वरानुग्रहो जात इति नृत्यति हृष्यति।।११।।(४४०)
विषयैः शब्दसंस्पर्शगन्धरूपरसैर्न यः।
प्रियैरपि भवेत् तादृक् सात्त्विकानन्दमागतः।।१२।।(४४१)
व्यतिरिक्तमिवात्मानं पश्यन् भावेषु सन्नपि।
चाण्डालीमिव यो मायां न स्पृशन् दूरवत् स्थितः।।१३।।(४४२)

अन्यच्चापि सत्त्वापत्तेः लक्षणमाह **दरिद्र इवेति। निधानं** निधीयते द्रव्यम् अस्मिन् इति निधानं, द्रव्यपूर्णं भाण्डं, **संप्राप्य** उपलभ्य, **विस्मयम्** आश्चर्यं, **गतः** प्राप्तः, **दरिद्र इव** निर्धनः पुरुष इव, गर्वः प्राप्त इत्यर्थः। तथा तद्वत्, मुनिः सत्त्वापन्न आत्मानन्द एव निधानं निधीयन्ते आध्रियन्ते सर्वाणि सुखानि जगन्ति च यस्मिन् इति निधानं, परमानन्दस्वरूपम् आत्मानं, प्राप्य उपलभ्य, विस्मयम् आश्चर्यं, गतः प्राप्तः सन्, **ईश्वरानुग्रहो जात** ईश्वरस्य ईशनादिशक्तियुक्तस्य गुरोः, अनुग्रहः प्रसादः, मयि जात उत्पन्न, **इति** एवं मत्वा, **नृत्यति** नृत्यं करोति, **हृष्यति** हर्षं प्राप्नोति एतदपि सत्त्वापन्नस्य लक्षणं ज्ञेयम्।।११।।(४४०)

अन्यदपि च लक्षणमाह **विषयैरिति। यः** पुरुषः, **प्रियैरपि** मौढ्यावस्थायाम् इष्टैरपि, **शब्दसंस्पर्श-गन्धरूपरसैः** शब्दश्च आकाशगुणत्वेन प्रसिद्धः, संस्पर्शश्च वायुगुणो, रूपञ्च तेजोगुणो, गन्धश्च पृथिवीगुणो, रसश्च जलगुण, एतन्नामकैः विषयैः गोचरैः, **तादृग्** यादृक् पूर्वं हर्षखेदादिविकारवान् स्थितः तादृक् तद्वत्, **न भवेत्** न स्यात्, तत्र हेतुमाह **सात्त्विकानन्दमिति। सात्त्विकानन्दं** सत्त्वगुणोपाधिकम् आनन्दं सुखम्। **आगतः** प्राप्तः। इदमपि सत्त्वापन्नस्यैव लक्षणं ज्ञेयम्।।१२।।(४४१)

अन्यदपि लक्षणमाह **व्यतिरिक्तमिति। यः** पुरुषः, **भावेषु** पदार्थेषु, स्वान्वयाभावे तेषाम् असत्त्वाद् व्यवहारायोग्यत्वाद् व्यवहारकाले तेषु सन्नपि अस्तिभातिप्रियरूपेण नामरूपात्मकेषु तेषु विद्यमानोऽपि अनुवृत्तोपि इत्यर्थः, **आत्मानं** तेषु अनुवृत्तं सच्चिदानन्दरूपं, भावानाम् असत्त्वात् ततः पृथक्त्वस्यापि तथात्वाद्, **व्यतिरिक्तमिव** पृथगिव, **पश्यन् सन्** पश्यमानः, **चाण्डालीमिव** नटरज्जुगतचाण्डालीं तत्स्थकृत्रिमब्राह्मणीम् इव, **मायाम्** अविद्यापरपर्यायां, **न स्पृशन्** स्पर्शमकुर्वाण

किसी निधि को पाकर जिस प्रकार कोई दरिद्र चकित हो जाता है, नाचने और प्रसन्न होने लगता है इसी प्रकार सब सुखों के निधान परमानन्दस्वरूप आत्मा का दर्शन करके आश्चर्य से पूर्ण होने के अनन्तर 'ओ हो! ईश्वर का अपार अनुग्रह मुझ पर हो गया है' यह समझ कर वह मुनि कभी तो नाचने लगता है और प्रसन्न हो जाता है।।११।।

इस सत्त्वापन्न पुरुष को ऐसा उत्तम आनन्द आता है कि वैसा आनन्द प्यारे से प्यारे शब्दादि विषयों से भी आ ही नहीं सकता।।१२।।

औदासीन्येन यः पश्येत्स्वप्नाभं जागरे जगत्।
सत्त्वापत्तिपरीपाकलक्षणं तदुदाहृतम्।।१४।।(४४३)

अत्र श्लोकः

भावः सम्यक्परीज्ञातो ग्रहणेऽपि मनः कृतम्।
आदानमवशिष्टं हि कृत्वा भूषणमात्मनः।।१५।।(४४४)

एव, **दूरवद्** आत्मसत्तान्वयाभावे मायातत्कार्ययोः निर्वाहायोगाद् मायायां तत्कार्ये चान्वितोऽपि तयोः मिथ्यात्वेन ततो दूरत्वस्यापि सत्त्वाभावाद् दूर इव, **स्थितो** विद्यमानोऽस्ति। इदमपि चतुर्थीलक्षणं ज्ञेयम्।।१३।।(४४२)

सत्त्वापत्तेः परीपाकस्य लक्षणमाह **औदासीन्येनेति। यो** विशिष्टः पुरुष, **औदासीन्येन** उदासीनः अनासक्तः, तस्य भाव औदासीन्यम् अनासक्तत्वं, तेन, **जागरे** जागरावस्थायामेव, किं पुनः स्वप्नावस्थायां वक्तव्यमित्यर्थः, **जगत्** त्रिपुटीरूपं विश्वं, **स्वप्नाभं** स्वप्नस्य आभा इव आभा कान्तिः यस्य तत्तया, स्वप्नोत्थितपुरुषस्य स्मृतिविषयं स्वप्नजगद् इव इत्यर्थः, **पश्येद्** अवलोकयेत्, तदेतदुक्तं **सत्त्वापत्तिपरीपाकलक्षणं** सत्त्वापत्तेः चतुर्थभूमेः परिपाकः स्थैर्येण उत्तरभूमिकासु परिणामयोग्यत्वं, तस्य लक्षणं चिह्नम् **उदाहृतं** कथितं, मुनिभिरिति शेषः ।।१४।।(४४३)

इदानीं सत्त्वापत्तेरेव लक्षणं स्फुटं बोधयितुमाह **अत्रेति। अत्र** चतुर्थीलक्षण बोधने, शृंगारश्लोकः अस्ति, अत्रापि जातित्वादेकवचनं, श्लोकाः सन्ति इत्यर्थः, तानेव क्रमेण आह **भाव इति। भाव** आशयः, **सम्यग्** यथार्थं, **परिज्ञातः** परीक्षित, उभयोः आशय उभाभ्यां ज्ञात इत्यर्थः, **आत्मनः** शरीरस्य, **भूषणम्** अलंकारं, **कृत्वा** विधाय, ततो **ग्रहणेऽपि** परस्परम् अंगीकारेऽपि, **मनः** संकल्परूपम् अन्तःकरणं, **कृतं** प्रवर्त्तितं, परन्तु कयाचिच्छंकया **आदानं** केवलम् अंगीकरणम्, **अवशिष्टम्** उर्वरितं यथा, तथा मुमुक्षुबुद्ध्या निदिध्यासनवत्या भावः सत्ता आत्मन इत्यर्थः, सम्यक् संशयविपर्ययरहितं यथा, तथा परिज्ञातः अवलोकितः, तत आत्मनो बुद्धेः, साधनचतुष्टयमेव भूषणम् अलंकरणं, कृत्वा विधाय, ग्रहणेऽपि आत्मत्वांगीकारेऽपि, मनः संकल्परूपमन्तःकरणं, कृतं प्रेरितं, तथापि आदानम् आत्मभावांगीकरणमेव केवलम्, अवशिष्टं केनचित् प्रतिबन्धेन उर्वरितम्, एतच्च चतुर्थभूमिस्थितपुरुषबुद्धिलक्षणं ज्ञेयम्।।१५।।(४४४)

चतुर्थ भूमिका वाला मुनि भावों में रहता हुआ भी उनसे अपने आपको पृथक्-सा देखता रहता है, वह माया के स्पर्श से अपने आपको ऐसा बचाता है जैसे कोई ब्राह्मण आदि चाण्डाली के स्पर्श से बचते हों।।१३।।

जब चतुर्थभूमिकारूढ मुनि जाग्रत् अवस्था में भी उदासीन (निष्प्रयोजन) होकर इस जगत् को इस प्रकार देखने लगा हो जैसे कोई स्वप्नकाल के जगत् को तुच्छ समझ कर देखता हो, तब वह उसकी परिपाकावस्था कही जायगी।।१४।।

अहं त्वनूढा तरुणी न कस्यापि परिग्रहः।
एनमेव वरिष्यामि पतिं को वा हसिष्यति।।१६।।(४४५)

तमेव परीक्षाविषयं भावं विशदयति **अहं त्विति। तरुणी तु** यौवनापन्नापि, **अहम् अनूढा** न केनापि विवाहिता, विवाहविधिपूर्वं नांगीकृता अस्मि, मम मे, केनापि पुरुषेण सह **परिग्रहः** परिगृह्यते हस्तः अस्मिन्निति परिग्रहो विवाहो, जातो नेति **एनमेव** मम मनःप्रियं पुरोवर्त्तिनमेव, नान्यं पतिं, मम पालनक्षमं पुरुषं, **वरिष्यामि** विधिपूर्वकं परिणेष्यामि, अनेन सह परिणयने जाते सति, मां मा, **को वा** पुरुषः, **हसिष्यति** हासं करिष्यति, विधिपूर्वकं परिणयने जाते उपहासाभावेन निःशंकं भोगसुखं स्यादिति भावः। यथा, तथा मुमुक्षुबुद्धिरपि निश्चिनोति तमेव निश्चयमाह अहमिति। तरुणी तु यौवनसंपन्ना, मोक्षसुखानुभवे क्षमेत्यर्थः। अनूढा न मोहादिभिः वरैः परिणीता, तैः अस्पृष्टा इत्यर्थः। अहं मोक्षेच्छावती बुद्धिरात्माकारा अस्मि स्थितवती, अत एव न कस्यापि अहंकारादेः परिग्रहः सत्त्वेन अंगीकारः, मयि अस्ति इति शेषः। अतः स्वतः स्थातुम् अशक्यत्वाद् एनमेव पुरो दृश्यमानमेव पतिं स्वचित्सुखदानेन पालकम् आत्मानं, वरिष्यामि अभिन्नत्वेन-अंगीकरिष्यामि, 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येवं महावाक्यविचारलक्षणवेदोक्तविधिना अनुभविष्यामि इति भावः। अत्र महावाक्यप्रमाणेन अहं ब्रह्मेति स्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वसाक्षात्करणे मां, को वा हसिष्यति न कोऽपि हसिष्यति। विधिपूर्वकं श्रुत्यादिप्रामाण्येन ब्रह्माहंभावे अंगीकृते सति नोपहासास्पदं भवेदिति निश्चयः, सत्त्वापन्नबुद्धिलक्षणमेव इति भावः।।१६।।(४४५)

चतुर्थी के लक्षणों को शृंगार श्लोकों से बताया जाता हैस्त्री पुरुष ने परस्पर का भाव भी भले प्रकार जान लिया, शरीर को सजाकर परस्पर अंगीकार करने का संकल्प भी कर लिया, अब तो केवल किसी शंका के कारण अंगीकार करना ही शेष रह गया है।

प्रकृत में इसी प्रकार मुमुक्षाबुद्धि ने आत्मा के भाव (सत्ता) को भले प्रकार जान लिया, साधनचतुष्टयरूपी अलंकार भी पहन लिये, आत्मत्वाङ्गीकार करने का निश्चय भी कर लिया अब तो किसी प्रतिबन्ध के कारण केवल अङ्गीकार करना ही शेष रह गया है।।१५।।

मेरा तो अभी तक किसी से विवाह नहीं हुआ, मैं तो अब युवती भी हो गई, अभी तक मैं किसी की भी नहीं हूँ, मैं तो इसको ही वरण करूँगी, इसके साथ विधिपूर्वक विवाह करने पर फिर मुझपर कौन हँसेगा! (अर्थात् विधिपूर्वक विवाह करने पर हँसी भी न होगी और शंकारहित भोगसुख भी प्राप्त होगा)।

मुमुक्षाबुद्धि की भी ऐसी ही अवस्था होती है, वह भी मोह आदि किसी वर से अस्पृष्ट होती है, मोक्ष सुख का अनुभव कर सकने की योग्यतारूप यौवन भी उस बुद्धि में होता है, वह किसी अहंकारादि के वश में आई हुई नहीं होती, परन्तु बिना किसी

हतः कामी कटाक्षेण कयाचिन् मृगचक्षुषा।
व्यसनित्वमवाप्नोति तथायं मुक्तिकान्तया।।१७।।(४४६)
गुञ्जद्भृंगिध्वनिं श्रुत्वा गुञ्जन् कीटो यथा विले।
ब्रह्मास्मीति तथैवायं भवितुं ब्रह्म गुञ्जति।।१८।।(४४७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे भूमिकाभेदभास्करे ज्ञानचतुर्थभूमिकानिर्णयाख्यं पञ्चमं प्रकरणम्।।

पुनरपि सत्त्वापन्नबुद्धिलक्षणमेवाह **हत इति**। यथा **कामी** स्त्रीकामवान् पुरुषः, **कयाचिद्** अतीवसुन्दर्या, **मृगचक्षुषा** मृगस्य हरिणस्य, चक्षुरिव चक्षुः नेत्रं, यस्याः सा तथोक्ता, तया कान्तया, **कटाक्षेण** नेत्रप्रान्तेन **हतः** ताडितः सन्, **व्यसनित्वं** तत्प्राप्त्यभावेन विह्वलत्वं, विरहव्यथावत्त्वम् इत्यर्थः। **अवाप्नोति यथा** यद्वत्, **तथा** तद्वद्, **अयं** प्रकृतः सत्त्वापन्नः पुरुषो, **मुक्तिकान्तया** मुक्तिः मोक्ष एव कमनीयत्वात् कान्ता, तया कयाचिद् अनिर्वचनीयया, मृग्यते शोध्यते ब्रह्मसुखं येन तन्मृगम् एतादृशं चक्षुः ब्रह्मावलोकनसाधनभूता वृत्तिः यस्याः सा तथोक्ता तया, कटाक्षेण कटति आवृणोति ब्रह्मसुखमिति कटं तच्च तदक्षं नेत्रं च तेन, हतः प्राप्तः सन्, अहं ब्रह्मास्मि इति विद्धः सन्नित्यर्थः, व्यसनित्वं मुक्तिसुखानुभवे अत्यासक्तत्वम्, अवाप्नोति प्राप्नोति इत्यर्थः, इदमपि सत्त्वापन्नस्यैव लक्षणं ज्ञेयम्।।१७।।(४४६)

ननु सत्त्वापन्नस्य मुक्तिसुखानुभवे अत्यासक्तिः कुतो ज्ञेया? तत्राह **गुञ्जदिति**। **यथा** यद्वत्, **कीटः** क्रिमिः, **विले** मृदादिनिर्मिते छिद्रे, स्थितः सन् **गुञ्जद्भृंगिध्वनिं** गुञ्जन् गुञ्जारवं कुर्वाणो, यो भृंगी भ्रमरविशेषः, तस्य ध्वनिं रवं, बहिर्देशात् **श्रुत्वा** श्रवणेन अवधार्य, स्वयं क्रिमिः **गुञ्जन्** गुञ्जारवं कुर्वन् सन्, तिष्ठति, **तथा** तद्वद् **अयं** प्रकृतः सत्त्वापन्नः पुरुषः, स्वदेहरूपे विले, स्थित्वा, तद्बहिःस्थितस्य गुरुभ्रमरस्य, **अहं ब्रह्मास्मि इति** जीवब्रह्मैक्यलक्षकं महावाक्यरूपं ध्वनिं श्रुत्वा श्रवणादिना निश्चित्य एव, **ब्रह्मभवितुं** स्वयमपि गुरुरूपब्रह्माभिन्नभावं प्राप्तुं, 'ब्रह्मास्मि'इत्येवं **गुञ्जति** वाक्यावृत्तिरूपं गुञ्जारवं सर्वदैव करोति इत्यर्थः।।१८।।(४४७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भूमिकाभेदभास्करार्थप्रकाशे ज्ञान-चतुर्थ-भूमिकानिर्णयार्थप्रकाशः पञ्चमः।।

पवित्र आधार के ऐसी वृत्ति का स्थिर रहना महा कठिन हो जाता है, इसलिये वह इस सच्चिदानन्दरूप आत्मा को ही अभेदरूप से अंगीकार करने को तैयार रहती है। श्रुति के बताये हुए आत्मतत्त्व को साक्षात् करने पर उसे कौन हँस सकता है?।।१६।।

किसी मृगाक्षी सुन्दरी के कटाक्षों से जिस प्रकार कामी विह्वल हो जाता है और वह उसका व्यसनी बन जाता है इसी प्रकार यह सत्त्वापन्न पुरुष भी मुक्तिरूपी स्त्री के ब्रह्माभेदरूपी कटाक्षों से विद्ध होकर मुक्तिरूपी सुख का व्यसनी बन जाता है (फिर उसे मुक्ति सुख के अतिरिक्त और सुख अच्छे नहीं लगते)।।१७।।

अथ पंचमी भूमिका

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसक्तिस्तु पंचमी।
सुषुप्तिप्रथमावस्था साक्षात्कारनवांकुरा।।१।।(४४८)
साऽपरोक्षा नैव निशा शृणु तस्यास्तु लक्षणम्।
प्रथमः स्वचमत्कारः स्वरूपानन्दलक्षणम्।।२।।(४४९)

एवं सलक्षणां सविस्तरां चतुर्थभूमिकां निरूप्य इदानीं पञ्चमभूमिकानिर्णयाख्यं द्वाविंशतिश्लोकं प्रकरणं निरूपयितुम् आह **अथेति। अथ** चतुर्थभूमिका निरूपणानन्तरं, **पञ्चमी** पञ्चमीभूमिका, निरूप्यत इत्यर्थः। तत्र तावत् सहेतुकां तत्प्राप्तिमाह **दशेति। दशाचतुष्टयाभ्यासाद्** दशानां भूमिकानां, चतुष्टयं चतुष्कं, तस्य अभ्यासः पुनः पुनः तासु चित्तस्थिरीकरणं, तस्माद् हेतोः, **तु** पदेन पूर्वाभ्यो वैलक्षण्यमस्याः सूचितम्। **असंसक्तिः** असंसक्तिनाम्नी, **सुषुप्तिप्रथमावस्था** सुषुप्तेः विद्वन्निद्रारूपायाः तुरीयाख्यायाः, प्रथमा शिथिलाख्या वक्ष्यमाणावस्थारूपा, अतः **साक्षात्कारनवांकुरा** साक्षात्कारः प्रत्यक्षानुभवः, तस्य नवः तत्कालोत्पन्नः, अङ्कुर उद्गमो, यस्यां सा तथोक्ता, **पञ्चमी** पञ्चमभूमिका, लभ्यते इति शेषः, प्राप्यते इत्यर्थः।।१।।(४४८)

तल्लक्षणनिरूपणप्रतिज्ञापूर्वकं तल्लक्षणानि आह **सेति। तस्यास्तु** तस्या अपि, **लक्षणं** लक्षणानीत्यर्थः। जातित्वादेकवचनं, **शृणु** अवधारय। तानि एवाह **सा** भूमिः, **अपरोक्षा** न परोक्षं ब्रह्म यस्यां सा तथोक्ता, अत एव **नैव निशा** विषयरूपद्वैतप्रकाशाभावेन निशात्वेन निशात्वेऽपि स्वप्रकाशब्रह्मापरोक्ष्याद् नैव रात्रिः सा पञ्चमभूमिरित्यर्थः। **प्रथमः** प्रथम आद्यः, **स्वचमत्कारः** स्वस्य आत्मनः, चमत्कारः अनुभवः, इदमपि लक्षणं पञ्चम्या ज्ञेयं, **स्वरूपानन्दलक्षणं** स्वेनैव रूप्यते प्रकाश्यते इति स्वरूपो, य आनन्दः सुखं, तल्लक्ष्यते अनेन इति स्वरूपानन्दलक्षणं चिह्नं, स्वरूपसुखलक्षकत्वमपि पञ्चमभूमेः लक्षणमित्यर्थः।।२।।(४४९)

भृंगी की ध्वनि को सुनकर वह कीड़ा भी गुंजारने लगता है और गुंजारता हुआ ही वह उसी की सूरत का बन जाता है। इसी प्रकार यह सत्त्वापन्न पुरुष स्वदेहरूपी बिल में ठहर कर उस देह के सामने बैठे गुरुरूपी भ्रमर के 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य की ध्वनि को सुनकर मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकार आवृत्तिरूप में गुंजारने लगता है।।१८।।

चारों भूमिकाओं का अभ्यास करने से असक्ति नाम की पाँचवी अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था को सुषुप्ति की प्रथम अवस्था अर्थात् शिथिल निद्रा माना गया है। इस अवस्था में से साक्षात्कार रूपी नये अंकुर का जन्म होता है।।१।।

उस अवस्था के लक्षण सुनो! उस अवस्था के आते ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। (इस अवस्था के आने पर विषयरूपी द्वैत का प्रकाश बन्द हो जाता है इस अर्थ में रात्रि के तुल्य होने पर भी इसमें ब्रह्म का प्रत्यक्ष हुआ रहता है) इसलिये उसे रात्रि नहीं कहा जा सकता। इसके आते ही आत्मचमत्कार का प्रथमानुभव हो जाता है। यह अवस्था आत्मानन्द का चिह्न कहलाती है।।२।।

ब्रह्मत्वसंस्मृतिः सैव सैव जीवत्वविस्मृतिः।
तदेवाज्ञानमरणममृतत्वं तदेव हि।।३।।(४५०)
आविर्भूता तु सा नैव नाविर्भूतत्वभाक् पुनः।
कथं भूयो भ्रमत्येष भ्रान्तिरेव गता यदि।।४।।(४५१)
यथा वर्तुलपाषाणा गिरेः शिखरतश्च्युताः।
ध्वंसंत्येव न तिष्ठन्ति विकाराः तद्वदत्र हि।।५।।(४५२)

लक्षणान्तराणि आह **ब्रह्मत्वसंस्मृतिरिति। सैव** पञ्चमभूमिकैव, **ब्रह्मत्वसंस्मृतिः** स्वस्य यत्पारमार्थिकं ब्रह्मत्वं तस्य संस्मृतिः दृढस्मरणं, पञ्चम्या लक्षणं ज्ञेयं। **जीवत्वविस्मृतिः** स्वस्मिन्नारोपितं यज्जीवत्वं तस्य विस्मृतिः अननुसन्धानमपि, **सैव** पञ्चमी भूमिरेव, ज्ञेया, आरोपितस्य जीवत्वस्य मिथ्यात्वेन तद्विस्मृतेरपि मिथ्यात्वाद् विस्मृतिः इव विस्मृतिरिति व्याख्येयं, सा पञ्चमी भूमिका इत्यर्थः। तथा **तदेव** पञ्चमी एव, **अज्ञानमरणम्** अज्ञानस्य महामोहस्य, मरणं नाशः, तदपि, पञ्चम्या लक्षणं ज्ञेयम्। **अमृतत्वं** मोक्षः, **तदेव हि** तदज्ञानमरणनाम्ना प्रसिद्धमेव विवेकिनाम्। एतच्चापि पञ्चमीलक्षणं ज्ञेयम्।।३।।(४५०)

अन्यदपि लक्षणमाह **आविर्भूतेति। सा** साक्षात्काररूपा पञ्चम्यवस्था, **तु** सर्वाभ्यो विलक्षणा, **आविर्भूता** प्राकट्यं प्राप्ता सती, **पुनः** पश्चाद् व्यवहारेण व्यवधाने सत्यपि, **नाविर्भूतत्वभाक्** नाविर्भूतत्वम् अनाविभूर्तत्वं, भजते तच्छीला, नैव भवेद्, इदमेव पूर्वाभ्यो वैलक्षण्यरूपं पञ्चम्या लक्षणमिति भावः। तदारूढवैलक्षण्यनिरूपणद्वारापि तल्लक्षणमाह **भूय इति। एष** पञ्चम्यारूढो जातसाक्षात्कारः पुरुषो, **यदि** यर्हि, तस्य **भ्रान्तिः** भ्रमो, **गतैव** निवृत्तैव, यतः, अतः **भूयो** पुनः, न **भ्रमति** भान्तिमान्न भवति, एतदपि पञ्चम्या लक्षणं ज्ञेयम्।।४।।(४५१)

अन्यदपि लक्षणमाह **यथेति। वर्त्तुलपाषाणाः** कपित्थादिवद् वर्त्तुलाकाराः, पाषाणा अश्मानो, **गिरेः** पर्वतस्य, **शिखरतः** शृंगात्, **च्युता** अधः पतिताः सन्तः, **ध्वंसन्त्येव** अधोधः पतन्त्येव, **न तिष्ठन्ति** मध्ये मध्ये स्थिरा न भवन्ति, यथा यद्वत्, **तद्वत्** तथा, **विकारा** रागद्वेषादयः, **अत्र** पञ्चम्यारूढे पुरुषे, च्युता ग्रन्थिभेदेन स्वात्मनोऽभिन्नत्वेन अन्तःकरणे स्थिता निर्बलाः सन्तः, क्रमेण ध्वंसन्त्येव नश्यन्त्येव, न तिष्ठन्ति न स्थिरा भवन्ति, एतदपि पञ्चम्या लक्षणं ज्ञेयम्।।५।।(४५२)

इस पंचम अवस्था के आने पर पारमार्थिक ब्रह्मत्व की दृढ स्मृति उत्पन्न हो जाती है, अपने में आरोपित जीवत्व का उस समय विस्मरण हो जाता है, इस अवस्था के आने पर महामोह का नाश हो जाता है। इसी को अमरपद किंवा मोक्ष कहा गया है।।३।।

इस अवस्था का जब एक बार आविर्भाव हो जाता है तब संसार का व्यवहार करते हुए भी फिर इसका अभिभव कभी नहीं होता (अर्थात् फिर इस वृत्ति के नष्ट होने का डर नहीं रहता, फिर यह वृत्ति साधक को स्वयं ही नहीं छोड़ती) क्योंकि इसका भ्रम जब एक बार निवृत्त हो गया है तो फिर उसे भ्रान्ति उत्पन्न ही कैसे हो?।।४।।

मुनिरर्धकटाक्षेण यं विकारमवेक्षते।
सद्यः पतत्यसौ पृथ्व्यां नोत्तिष्ठति यथा पुनः।।६।।(४५३)
अविगीते न तुष्येत्तु विगीते न विषीदति।
विस्मरत्यखिलं कार्यं रमते स्वात्मनात्मनि।।७।।(४५४)

ननु स्वस्माच्च्युतानामपि विकाराणां कुतो न स्थानं? तत्राह **मुनिरिति। मुनिः** मननशीलो जातसाक्षात्कारः, **अर्धकटाक्षेण** ईषद्विवेकवृत्त्या, **यं** मुनिवृत्तिगोचरं, यं यं **विकारं** कामादिकं विकारम्, **अवेक्षते** पश्यति, **असौ** विकारः, **पृथ्व्यां** प्रथयति आत्मानम् अनेकरूपेण इति पृथ्वी क्षेत्रशब्दवाच्या बुद्धिः, तस्यां, **सद्यः** तत्कालमेव, **पतति** पतितो भवति, क्षेत्रे एव स्थितो भवति इत्यर्थः, **यथा पुनः** यथा यद्वत्, पूर्वमात्मनि प्रतीयमान उत्थितः अभूत् तथा पुनः भूयः, स्वात्मसाक्षात्कारानन्तरं, **नोत्तिष्ठति** नोदितः भवति, प्रारब्धशेषपर्यन्तं प्रतीयमानोऽपि बुद्धावेव प्रतीयते नात्मनि प्रतीयते इति भावः, तदुक्तं विद्यारण्यस्वामिभिः

'अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम्।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः'।।इति।।

गीतायामपि

'पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्'

इत्यादिना, 'गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्त्वा न सज्जते' इत्यन्तेनोक्तम् एतदेव।।६।।(४५३)

अन्यदप्याह **अविगीते नेति।** अयं पञ्चम्यारूढः पुरुषः, **अविगीते** विगीतं विरुद्धं वचनं लौकिकं शास्त्रीयं वा, तन्न विद्यते यस्मिन् वाक्ये तस्मिन् उच्चारिते सति, **न तुष्यन्** न सन्तुष्टो भवेत्, **तु** पुनः, **विगीते** केनचिद् लोकशास्त्रविरुद्धे वचने उच्चरिते सति, **न विषीदति** न खिद्यति, **अखिलं** संपूर्णं, **कार्यम्** अवश्यकर्तव्यं, **विस्मरति** न अनुसन्धत्ते, **स्वात्मना** अन्तःकरणसाक्ष्यभिन्नेन अन्तःकरणेन, **आत्मनि** ब्रह्माभिन्नकूटस्थे, **रमते** क्रीडति, इदमपि पञ्चमीलक्षणं ज्ञेयमिति भावः।।७।।(४५४)

पर्वत के शिखर पर से गिरे हुए गोल पत्थर जिस प्रकार बीच में कहीं नहीं रुकते और गिरते ही गिरते नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार पंचमभूमिका वाले पुरुष के रागद्वेषादि विकार उस ज्ञानी का ग्रन्थिभेद हो जाने के कारण निर्बल होकर नष्ट ही हो जाते हैं (फिर वे विकार उस ज्ञानी में कभी भी स्थिर नहीं रह सकते)।।५।।

जिस कामादि विकार को यह मुनि अर्धकटाक्ष (ईषद्विवेकवृत्ति) से भी देख लेता है वह विकार बुद्धिरूपी पृथिवी पर उसी समय गिर पड़ता है। फिर वह विकार (पहले की तरह आत्मा का धर्म बनकर) उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रारब्धभोग तक प्रतीत होनेवाले भी वे विकार उस ज्ञानी को बुद्धि में ही प्रतीत होते हैं।।६।।

गीता भी कहती है 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते'। ज्ञानी पुरुष यह समझ कर संसार में सक्त नहीं होते कि ये बुद्धि इन्द्रिय आदि अपने-अपने विषयों में व्यवहार कर रहे हैं, मुझ आत्मा का तो इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

भूताविष्ट इवाकस्माद् वर्णाश्रमविधिक्रमम्।
प्रेरितः पूर्वसंस्कारैः करोति न करोत्यपि।।८।।(४५५)
यथैव लौकिकज्ञाने प्रमाणं चक्षुरादयः।
ब्रह्मज्ञानस्य विषये तथैवोपनिषन्मता।।९।।(४५६)

ननु तर्हि अखिलकार्यविस्मरणे सति कर्माचरणं विना देहः कथं वर्तेत तत्राह **भूताविष्ट इति। भूताविष्ट इव** यथाभूताविष्टः भूतः पिशाच, आविष्टः प्रविष्टः, यस्मिन् स तथोक्तः, स पुरुषः, **अकस्माद्** अनुसन्धानरहितोऽपि तत्क्षणमेव, **पूर्वसंस्कारैः** पूर्वं प्रथमं, यानि कृतानि कर्माणि तेषां ये संस्कारा वासनाविशेषाः, तैः, कृत्वा **प्रेरितः** नोदितः सन्, **वर्णाश्रमविधिक्रमं** वर्णाश्च ब्राह्मणादय, आश्रमाश्च ब्रह्मचारिप्रभृतयः, तेषां विधिः वेदकृतं प्रेरणं 'ब्रह्मचर्यमामरणान्तं द्वादशवार्षिकं वा आचरेत्, संध्यामुपासीत' इत्यादिरूपः, तस्य क्रमम् आचरणं, **करोत्यपि** कर्तारं विना कर्म निर्वाहायोगात् तत्कृतं कर्म प्रतीयमानमपि, **न करोति** भूतावेशेन तदनुसन्धानाभावाद् न तत्कर्तृकं तत्कर्म इति भावः। तथा तद्वत्, पञ्चम्यारूढो जातसाक्षात्कारः, पूर्वसंस्कारैः पूर्वमज्ञानावस्थायां कृतानि यानि स्वस्मिन् पारमार्थिककर्तृत्वनिश्चयेन कृतानि कर्माणि तेषां संस्कारा वासनाः तैः, कृत्वा, प्रेरितो नोदितः सन्, अकस्मात् पूर्वापरानुसन्धानरहितः, तत्क्षणमेव इत्यर्थः। वर्णाश्रमविधिक्रमं स्ववर्णाश्रमोचितवेदप्रेरणानुकूलं कर्म, करोत्यपि कर्तृत्वं विना कर्म निर्वाहायोगात् तत्कर्तृकं कर्म प्रतीयमानमपि, न करोति कर्तृत्वस्य बाधितत्वाद् असंग आत्मनि च तदयोगात् कर्मणोपि असत्त्वाच्च तस्मिंस्तत्कर्म च तत्कर्तृत्वं चोभयमपि न सम्भाव्यमिति भावः। एतदपि पञ्चमीलक्षणं ज्ञेयम्।।८।।(४५५)

पुनश्च लक्षणान्तरमाह सार्धेन **यथैवेति। यथा** यद्वत् **लौकिकज्ञाने** लोके भवा लौकिका घटादयो दृश्यपदार्थाः तेषां ज्ञानं प्रतीतिः तस्मिन्, **चक्षुरादयः** चक्षू रूपप्रकाशसाधनं नेत्रगोलकस्थमिन्द्रियं, तदादि येषां त्वगादीनां ता वृत्तीः, **प्रमाणं** प्रमाभूतमेव अस्ति, **तथा** तद्वद्, **ब्रह्मज्ञानस्य विषये** ब्रह्मणो देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितस्य आत्मनो, ज्ञानं भानं, राहोः शिर इति वद् अभेदे भेदव्यपदेशो, ब्रह्मस्वरूपमेव ज्ञानमिति भावः, तस्य विषये तत्सम्बन्ध्यर्थवर्णने तज्ज्ञाने च, **उपनिषद्** उप समीपे, निषण्णं स्थितं वाच्यत्वेन लक्ष्यत्वेन च ब्रह्मस्वरूपभूतं सुखं यस्यां सोपनिषत्, तत्त्वमसि इत्यादि-वाक्यरूपा, तज्जन्यं ज्ञानं च प्रमेयत्वेन ब्रह्मणः प्रकाशकं मानं, **मता** अंगीकृता, मुनिभिः इति शेषः।।९।।(४५६)

लोगों को प्रसन्न करनेवाली बातों से तो उसे कुछ प्रसन्नता नहीं होती, तथा रुष्ट करनेवाले प्रसंग से उसे कुछ विषाद भी नहीं होता। संसार के संपूर्ण कार्यों को वह भूल जाता है, वह तो अपने आप से अपने आप में ही रमण करने लगता है और आत्माराम हो जाता है।।७।।

यह ज्ञानी भूताविष्ट की तरह वर्णाश्रमविहित कर्मों को पूर्वसंस्कारों की प्रेरणा से करता तो है परन्तु अपनी दृष्टि में कर्तृत्व के बाधित हो जाने से वह वस्तुतः कुछ भी नहीं करता।।८।।

यत्साक्षित्वात् प्रमाणानि तानि कस्तत्र संशयः।
विधिकिंकरतां त्यक्त्वा ह्यकिञ्चित्करतां गतः।
अकिञ्चनत्वमापन्नो न चिन्तयति किञ्चन।।१०।।(४५७)
संलग्नेऽप्यातपे भानोः हिमाचलशिलेव यः।
बहिरन्तश्च संपूर्णः शीतलत्वं न मुञ्चति।।११।।(४५८)

यदिति। तानि लौकिकानि चक्षुरादीनि, वैदिकं ब्रह्मणि विषय उपनिषद् उपनिषद्-वाक्यजातं, तज्जन्यं ब्रह्मविषयकं ज्ञानं चैतानि, स्वतो जडत्वासत्त्वाभ्यां तेषां प्रामाण्याभावाद् **यत्साक्षित्वाद्** यस्य पञ्चम्यारूढस्य ब्रह्मभिन्नत्वसाक्षात्कारवतो ब्रह्मरूपत्वात् तस्यैव साक्षित्वात् प्रकाश्यत्वेन, **प्रमाणानि** प्रमेयप्रकाशकानि भवन्ति, आत्मचैतन्य-कृतमेव प्रामाण्यं तेषु न स्वत इति भावः। **तत्र** अन्यप्रमाणनिरपेक्षतया स्वतः प्रमाणभूत आत्मस्वरूपे पञ्चम्यारूढपुरुषे, **संशयः** सन्देहः, **कः** किंरूपः, न कोऽपि इत्यर्थः। इदं निःसंशयत्वमपि पञ्चमीलक्षणं ज्ञेयम्। अन्यदपि आह **विधिकिंकरतामिति।** अयं पञ्चम्यारूढो, **विधिकिंकरतां** विधेः वेदाज्ञायाः, किंकरो दासः, तस्य भावः तत्ता तां, **त्यक्त्वा** अनादृत्य, **अकिञ्चित्करतां** न किञ्चित् करोति इति अकिञ्चित्करः, तस्य भावः तत्ता तां, **गतः** प्राप्तः। तत्र हेतुमाह **अकिञ्चनत्वमिति। अकिंचनत्वं** 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुत्या निषेधितं यत्किञ्चनपदवाच्यं द्वैतं यत्र तद् अकिञ्चनं तेन सर्वद्वैतनिषेध-विधितया लक्षितं ब्रह्म ग्राह्यं तस्य भावः तत्त्वं ब्रह्मत्वम्, **आपन्नः** प्राप्तः, **किञ्चन** द्वैतं तन्निषेधं वा किमपि, **न चिन्तयति** न स्मरति, इदमपि पञ्चमीलक्षणं ज्ञेयम्।।१०।।(४५७)

अन्यच्चापि तदाह **संलग्नेपीति। हिमाचलशिलेव** यथा हिमं तुषारः, तस्य अचलः पर्वतो, हिमवान् गिरिः, तस्य शिला बृहत्पाषाणो, हिमपाषाण इत्यर्थः। सा **भानोः** सूर्यस्य, **आतप** उष्णे, **संलग्नेऽपि** स्पृष्टे सत्यपि, **बहिः** बाह्यदेशे, **अन्तश्च** गर्भे, **संपूर्णः** व्याप्तं, **शीतलत्वं** शैत्यं, **न मुञ्चति** न त्यजति। तथा यः पञ्चम्यारूढः पुरुषः स सूर्य इव तापकः अहंकारः तस्य भातत्वाद् भानुः आसमंतात् तापयति इति आतपः दुःखं तस्मिन्, संलग्नेऽपि स्वस्मिन् प्रतीते सत्यपि, बहिः दृश्यकोटौ, अन्तश्च द्रष्टृकोटौ, संपूर्णं परिपूर्णं, शीतलत्वं दुःखरहितसुखमात्रत्वं, मुञ्चति न त्यजति। एतच्चापि पञ्चमीलक्षणं ज्ञेयम्।।११।।(४५८)

लौकिक पदार्थों के ज्ञान के लिये चक्षुरादि इन्द्रियाँ जैसे परमावश्यक हैं इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के लिये उपनिषद्विचार ही परमावश्यक माना गया है।।९।।

पंचमभूमिकारूढ पुरुष को अपने आत्मा की इस शुद्ध स्थिति में कुछ भी सन्देह, नहीं रहता कि ये लौकिक चक्षुरादि तथा वैदिक उपनिषदादि प्रमाण मेरे साक्षीपने से ही प्रमेय का प्रकाशन करने में समर्थ हो रहे हैं। वह तो विधि की दासता को छोड़कर अकिंचित्कर हो जाता है। (क्योंकि उसे तो आत्मा के अकर्तृत्व का दृढ निश्चय प्राप्त हो चुकता है) इस प्रकार वह अकिंचन ब्रह्मपने को प्राप्त होकर किसी का भी चिन्तन नहीं करता।।१०।।

स्फटिकः स्फटिकत्वज्ञः सलिलं सलिलत्ववित्।
गगनं गगनत्वज्ञं यदि स्यात् सा दशा चितः।।१२।।(४५९)
बुधो यथा न मुह्येत नानारंगगृहेष्वपि।
तथा मुह्यति नात्मायं नानारंगगृहेष्वपि।।१३।।(४६०)

अन्यदपि लक्षणमाह **स्फटिक इति। स्फटिकः** स्फटिकाश्मा, **स्फटिकत्वज्ञः** स्वस्मिन् स्फटिकत्वं निर्मलत्वं रागाद्यस्पृष्टत्वं तज्जानातीति स तथोक्तो, **यदि** यर्हि, **स्याद्** भवेत्। तथा **सलिलं** जलं, **सलिलत्ववित्** स्वस्मिन् यत्सलिलत्वं नैल्यास्पृष्टत्वं तरंगादिविकारोद्भवेपि निर्विकाररूपत्वं च तत् वेत्ति इति तत्तथोक्तं, **यदि** यर्हि, **स्याद्** भवेत्। तथा **गगनम्** आकाशं, **गगनत्वज्ञं** स्वस्मिन् यद्गगनत्वं नीलिमाकटाहाद्याकारैः अस्पृष्टत्वं तत् जानाति इति तत्तथोक्तं, **यदि** यर्हि, **स्याद्** भवेत्। तर्हि **सा दशा** अवस्था, **चितः** पञ्चम्यारूढस्य पुरुषस्य चेतनाया ज्ञेया, अभूतोपमया निरुपमत्वं द्योतितं पञ्चम्यारूढपुरुषचेतनायाः। एतदपि पञ्चम्या रूपमुक्तम्।।१२।।(४५९)

ननु तर्हि नानाविधसुखदुःखेषु, सत्सु कथं मोहो न स्यात् पञ्चम्यारूढस्य इत्याशंक्य तस्मिन् मोहाभावं दृष्टान्तेन सम्भावयति **बुध इति। बुधः** चतुरः पुरुषो **नानारंगगृहेष्वपि** नाना अनेकविधा ये रंगा रंजकद्रव्याणि येषु तथाविधेषु गृहेषु गेहेषु दर्पणादिभिः मार्गादिविस्मारकेषु वसन्नपि **न मुह्यति** मोहं न प्राप्नोति **यथा तथा** तद्वत् **अयं** पञ्चम्यारूढो यत **आत्मा** एव परिपूर्णः पुरुषः अतः **नानारंगगृहेष्वपि** नाना अनेकविधा, रंगा रंजका अतिग्रहापरपर्याया विषयाः, तैः युक्तेषु गृहेषु गृह्यन्ते विषया यैः तेषु इन्द्रियेषु व्यवहारदृष्ट्या वर्तमानोऽपि, **न मुह्यति** तत्सत्यत्वनिश्चयेन स्वात्मानं न विस्मरति, इदमपि पञ्चम्या लक्षणं ज्ञेयम्।।१३।।(४६०)

हिमालय की बृहत् शिला जिस प्रकार सूर्य के ताप के लगने पर भी बाहर और भीतर परिपूर्ण हुई अपनी शीतलता को नहीं छोड़ती, इसी प्रकार पंचम भूमिकावाला पुरुष अहंकाररूपी सूर्य के दुःखरूपी ताप लगने पर भी अन्दर बाहर सुखरूप से संपूर्ण होने के कारण अपनी शीतलता किंवा संपूर्णता को कभी नहीं छोड़ता।।११।।

स्फटिक पत्थर को यदि अपने निर्मलत्व का भान होता, जल को यदि अपने शीतल रूप का ज्ञान होता, आकाश को यदि अपने असंग रूप की प्रतीति होती तो इन उदाहरणों से उस पंचमभूमिकावाले पुरुष की दशा को बताया जा सकता था। (अर्थात् अभूतोपमा से वह तो निरुपम ही है)।।१२।।

नाना रंगोंवाले घर में रहता हुआ भी चतुर पुरुष जिस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार नाना प्रकार के ग्रहों (इन्द्रियों) में व्यवहारदृष्टि से रहता हुआ भी यह ज्ञानी पुरुष अपने सत्यस्वरूप को कभी नहीं भूलता। वह इन इन्द्रियों के धोखे में कभी नहीं आता।।१३।।

योगी क्रीडति निद्राति हसत्यपि वदत्यपि।
बहिर्मुखैरपि जनैः पिशाचैरिव शंकरः।।१४।।(४६१)
न प्राप्तपरमार्थस्य तुलामर्हति वासवः।
वासवस्तत्पदाकांक्षी न स वासवताप्रियः।।१५।।(४६२)
वह्निपक्वं यथा मांसं पूर्ववत् स्थितमस्थिषु।
संसक्तमप्यसंसक्तं स्वशरीरे तथा मुनिः।।१६।।(४६३)

ननु तर्हि बहिर्मुखजनसंगं त्यक्त्वा पञ्चम्यारूढ आत्मानुसन्धानानुकूलेषु तत्त्ववित्सु गुहादौ वा वसेद् इत्याशंक्य एकान्तवासो, विद्वत्सु वासो, मूढजनवासश्च सम एव तस्य इति सदृष्टान्तमाह **योगीति। योगी** जीवब्रह्मैक्यज्ञानवान् पञ्चम्यारूढः पुरुषो, **बहिर्मुखैरपि** बहिर्मुखा मूढाः, तैः सह, अपिशब्दाद् विद्वद्भिरपि, **जनैः** पुरुषैः सह, **क्रीडति** रमते, कदाचिद् **निद्राति** तैरेव सह निद्रासुखमपि अनुभवति, तथा **हसत्यपि** तैः सह हास्यादिकं करोति, तथा **वदत्यपि** तैः साकं भाषणमपि करोति, एतादृशव्यवहारे तेन कृतेपि तस्य योगित्वं न नश्यति इति भावः। तत्र दृष्टान्तः **पिशाचैरिवेति। शंकरः** सकलजगदानन्दकरः शिवः, यथा **पिशाचैः** भूतप्रेतादिभिः सह क्रीडादिकं कुर्वन्नपि जगदानन्दस्वभावाद् न च्यवति तद्वद् इत्यर्थः।।१४।।(४६१)

ननु पञ्चम्यारूढे किं सुखमस्ति येन ब्रह्मेन्द्रादिपदप्रापककर्मत्यागेन तत्रैव आसक्तो भवेत् तत्राह **नेति। वासव** इन्द्रः, उपलक्षणमेतद् ब्रह्मादीनामपि, **प्राप्तपरमार्थस्य** प्राप्तो लब्धः, परमः अतिश्रेष्ठः, अर्थः तत्त्वं, येन स तथोक्तः, जातसाक्षात्कार इत्यर्थः। तस्य **तुलां** तुलनां, **नार्हति** योग्यो न भवति। कुत इत्यत आह **वासव इति। वासव** इन्द्रः, **तत्पदाकांक्षी** तस्य पञ्चम्यारूढस्य, पदं पञ्चमीभूमिकास्थितिरूपं, तस्य आकांक्षी इच्छावान्, अस्तीति शेषः। **स** जातसाक्षात्कारः पञ्चम्यारूढः पुरुषः **वासवताप्रियः** वासव इन्द्रः तस्य भावः तत्ता, इन्द्रपदम् इत्यर्थः, उपलक्षणमेतद् ब्रह्मादिपदानां, सा प्रिया यस्य स तथोक्तः, न न भवति ब्रह्मादिपदसुखस्य आत्मानन्दकणत्वेन असत्त्वेन च ज्ञानीच्छाविषयत्वाभावः, ज्ञानिप्राप्तसुखे तु पारमार्थिकत्वेन ब्रह्मेन्द्रादिकामनाविषयत्वमिति भावः।।१५।।(४६२)

जैसे शंकर भगवान् पिशाचों के साथ क्रीडा करते हुए भी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते इसी प्रकार योगी भी बहिर्मुख लोगों के साथ खेलता भी है, सोता भी है, हँसता भी है तथा संभाषण भी करता रहता है (परन्तु इससे उसका योगित्व नष्ट नहीं हो जाता)।।१४।।

जिस पुरुष को परमार्थ पा गया है उसकी बराबरी इन्द्र भी नहीं कर सकता। क्योंकि इस पंचमभूमिकावाले पुरुष के पद को इन्द्र भी प्राप्त करना चाहता है परन्तु उसे तो इन्द्र बनने की कभी स्वप्न में भी इच्छा नहीं होती।।१५।।

तत्र श्लोकाः

इयं पराङ्मुखीभूय पतिं प्रत्यगवेक्षते।
प्रेमप्रसन्नया दृष्ट्या ह्यस्या यौवनमागतम्।।१७।।(४६४)

ननु ज्ञानिनां प्रारब्धशेषे देहधारणस्य प्रतीयमानत्वात् कथं देहराहित्यं, तस्मिंश्च सति कर्मफलेच्छाभावेन कर्मण्यप्रवृत्तौ तां विना देहनिर्वाहः कथं स्यादित्याशंक्य, दृष्टान्तेन तत्सम्भावयति **वह्निपक्वमिति। वह्निपक्वं** वह्निः अग्निः, तस्मिन् पक्वं पाचितं सत्, **मांसं** पिशितं, **यथा** यद्वद्, **अस्थिषु** अस्थिनि तत्सन्धौ च, **पूर्ववद्** अपक्वावस्थायामिव, **स्थितं** वर्त्तमानमपि, न स्थितं नैव तिष्ठति, कुत इत्यत आह **संसक्तमिति,** तत् मांसं **संसक्तमपि** अस्थिसंलग्नमपि, दृश्यमानत्वाद्, **असंसक्तं** न संसक्तं नैव संलग्नं वृद्ध्यादिपरिणामस्य अदृश्यमानत्वात्, **तथा** तद्वत्, **मुनिः** जातसाक्षात्कारवान् पञ्चम्यारूढः, **स्वशरीरे** स्वस्य आत्मनः, शरीरं देहः, तस्मिन्, आसक्तोऽपि देहाभिमानाभावे देहचलनाद्ययोगाद् आसक्त इव प्रतीयमानोऽपि, नासक्तः बाधितत्वेन अहंकारादेः आसक्तो न भवति, पूर्ववद् अविद्यावस्थायामिव, लोकवद् व्याप्रियमाणत्वात् स्वशरीरे स्थितोऽपि विद्यमानोऽपि तद्दृष्ट्या बाधितत्वाद् न स्थितो नैव विद्यमानः। इदमपि पञ्चमीलक्षणं ज्ञेयम्।।१६।। (४६३)

उक्तपञ्चमीलक्षणानुभवायैव शृंगारश्लोकैस्तु तल्लक्षणं निरूपयितुं प्रतिजानीते **तत्रेति। तत्र** पञ्चमीलक्षणबोधने, **श्लोकाः** सन्ति। तानेव उदाहरति **इयमिति। इयं** पुरोदृश्यमाना काचित् नायिका, **पराङ्मुखीभूय** पतिसन्मुखं पृष्ठं कृत्वा, **प्रेमप्रसन्नया** प्रेम्णा स्नेहेन, प्रसन्ना मुदिता तया, **दृष्ट्या** नेत्रेण, **पतिं** स्वभर्त्तारं, प्रत्यक् पृष्ठतः यथा तथा **अवेक्षते** पश्यति, अतः अनेनैव लक्षणेन **अस्याः** पुरोवर्तिन्या नायिकाया, **यौवनं** तारुण्यं, पत्या सह भोगक्षमं वयः इत्यर्थः। **आगतम्** आरूढमिति लक्ष्यते यथा, तथेदमपि प्रकृते योज्यं तद् यथाइयं पञ्चम्यारूढबुद्धिः, इयं प्रकृता, पतिं पाति रक्षतीति पतिः आत्मा स्वसत्सुखदानेन बुद्धिपालक इत्यर्थः, तं, पराङ्मुखीभूय अहंकारादिशरीरान्तेषु सन्मुखत्वेन व्यवहारावस्थायाम् आत्मानं पृष्ठतः कृत्वापि, प्रेमप्रसन्नया दृष्ट्या प्रेम्णा निरतिशयस्नेहेन, आत्मविषयकस्नेहेन इत्यर्थः, प्रसन्ना रागादिहीनत्वेन निर्मला, तया, दृष्ट्या दृश्यत आत्मा अनया सा दृष्टिः प्रत्यगात्मविषयान्तःकरणवृत्तिः, तया, पाति स्वमिति पतिः आत्मा तं, प्रत्यगन्तर्मुखं यथा तथा अवेक्षते अवलोकयति, यदा तदा इत्यध्याहार्यम्, यदा यस्मिन् काले, तदा तस्मिन् समये, हि प्रसिद्धम् अस्या विवेकिनां दृश्यमानाया 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारप्रमावृत्तेः, यौवनं स्वात्मसुखानुभवसामर्थ्यवत् स्वरूपम्, आगतं प्राप्तम्, इति ज्ञेयम्। यद्वा स्वात्मना सह मिश्रणामिश्रणेन आत्मानुसन्धानपूर्वकव्यवहारक्षमत्वं प्राप्तमित्यर्थः। युमिश्रणामिश्रणार्थक-धातुप्रकृतिकत्वादिति भावः।।१७।।(४६४)

अस्थि-सन्धियों किंवा अस्थियों में लगा हुआ मांस बटलोई आदि में पकाने पर फिर उन हड्डियों में लगा तो रहता है परन्तु पहले की तरह चिपटा नहीं रहता। इसी प्रकार यह पंचम भूमिकावाला मुनि अपने देह में आसक्त-सा तो दिखा करता है परन्तु अहंकारादि का बाध कर देने से वस्तुतः पहले की तरह आसक्त नहीं रहता।।१६।।

न खेलति वयस्याभिः शिथिला गृहकर्मणि।
रहः पश्यति चिह्नानि प्राप्ता प्राणपतेः सुखम्।।१८।।(४६५)

अन्यच्च लक्षणान्तरमपि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोक्त्याह **नेति**। यदा इत्यध्याहार्यम् यदा यस्मिन् काले इयं नायिका **वयस्याभिः** क्रीडासहायाभिः समानवयस्काभिः कन्याभिः सह **न खेलति** न क्रीडति तथा **गृहकर्मणि** गृहस्य मन्दिरस्य कर्म लेपनसंमार्जनादिकं तस्मिन् **शिथिला** मन्दा भवति तथा **रहः** एकान्ते **चिह्नानि** यौवनलक्षणानि स्तनादीनि भोगजन्यानि नखरादीनि वा **पश्यति** अवलोकयति तदा तस्मिन् काले **प्राणपतेः** पत्युः सकाशात् **सुखं** शर्म, **प्राप्ता** लब्धवती इति ज्ञायते। एवं पञ्चम्यारूढमतावपि योज्यम्। तथाहिइयं पञ्चम्यारूढा बुद्धिः, यदा यस्मिन् काले, वयस्याभिः आत्मक्रीडासहायाभिः शान्तिदान्त्यादिभिः समानवृत्तिरूपसखीभिः सह प्रयोजनसिद्धौ ताभिः सह क्रीडाया निष्फलत्वाद् न खेलति न क्रीडति, तथा गृहकर्मणि गृह्यते स्वात्मतया अंगीक्रियते इति गृहं शरीरं, तस्य कर्म स्वस्ववर्णाश्रमविहितक्रिया वैदिकं, लौकिकं च भोजनादिकं, तस्मिन्, शिथिला अहंकारस्य बाधितत्वाद् मन्दं मन्दं प्रवर्त्तमाना भवति। **ग्रहकर्मणीति** पाठे ग्रहा इन्द्रियाणि तेषां कर्माणि श्रवणादीनि तेषु जातित्वादेकवचनं, शिथिला 'नान्योतोस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुत्या आत्मनः पृथक्त्वस्य द्रष्टृत्वादिषु बाधितत्वाद् अनादरवतीत्यर्थः। नायिका पक्षे तु ग्रहेऽति पाठे ग्रहाणाम् इन्द्रियाणां यत्कर्म वचनादानादि कर्मेन्द्रियाणाम्, अन्यवार्त्ताश्रवणादि ज्ञानेन्द्रियाणां, तस्मिन्, शिथिला पतिसंभोगसुखानुसन्धाने सक्ततया मन्दादरेत्यर्थः। तया रह एकान्ते स्थित्वा इति शेषः। चिह्नानि स्वात्मनि स्थैर्यास्थैर्यन्यूनत्वाधिकत्वादिलक्षणानि, स्वात्मनो वा लक्षणानि सच्चिदानन्दादीनि, पश्यति साक्षाद् अनुभवति, तदा तस्मिन् काले, प्राणपतेः प्राणस्य बुद्धेः जीवनस्य पतिः पालक आत्मा तस्य, सुखम् आनन्दं, प्राप्ता लब्धेति ज्ञेया। एतदपि पञ्चम्या लक्षणं ज्ञेयम्।।१८।।(४६५)

यह नायिका पति की ओर से मुँह फेर कर उधर से ही प्रेमभरी दृष्टि से अपने पति को देखती है, यह इसके यौवन (भोगसमर्थ अवस्था) के आने का चिह्न है।

प्रकृत में यह पंचम्यारूढ बुद्धि ही नायिका है, व्यवहार-काल में अहंकारादि शरीरान्त पदार्थों में संसक्त हो जाना ही आनन्ददायक आत्मा की ओर से 'मुँह फेर लेना' है, परन्तु व्यवहार करते हुए भी अन्तर्मुख होकर आत्मचिन्तन करते रहना ही 'उधर से देखना' कहलाता है। यही उस बुद्धि की प्रौढावस्था आ जाने का चिह्न है। स्वात्मसुख के अनुभव करने की सामर्थ्य ही उसका 'यौवन' अथवा प्रौढावस्था कहलाती है।।१७।।

जब कि यह नायिका अपनी समानवयस्क कन्याओं के साथ खेलना बन्द कर देती है, अपने घर के संमार्जन तथा लेपनादि कामों में भी ढील करने लगती है, और एकान्त में अपने यौवन के चिह्नों को देखा करती है, तब यही अनुमान होता है कि इसको प्राणपति का भोगसुख प्राप्त हो चुका है।

न वेषो विहितः कश्चिन्न वा वचनचातुरी।
किन्तु प्रेमातिसातत्याद्बालया लालितो हरिः।।१९।।(४६६)

ननु शारीरः सन्न्यासादिवेषः 'संन्यासयोगाद्' इत्यादिश्रुतिषु श्रूयते, तत्कुतः तत्कर्मण्यनादरो ज्ञानिबुद्धेः इत्याशंक्याह **न वेष इति। बालया** राधया, **कश्चित्** कोऽपि, **वेषः** शृंगारः, **न विहितः** हरिप्रीत्यर्थं न धृतः, तथा **वचनचातुरी** वचनानां वाक्यानां, चातुरी कुशलता, **न विहिता** न कृता इत्यर्थः। **किन्तु** किं तर्हि कृतम्, इत्याशंकायाम् आह **प्रेमेति। प्रेमातिसातत्यात्** प्रेम्णः स्नेहस्य, अतिसातत्यं नैरन्तर्यं सन्ततप्रवाहवत्त्वं, तस्मादेव केवलं, तया राधया, **हरिः** भक्तदुःखहरणशीलः श्रीकृष्णः, **लालितः** क्रीडितो, वशीकृत इत्यर्थः,। अतः शरीरवेषेण पाण्डित्येन वा न भगवान् वशीभवति किन्तु प्रेम्णैव केवलं वशः स्यादिति भावः। प्रकृतेऽपि इदं योज्यम्। तद् यथाबालया बालः केशः, तद्वद् अतिसूक्ष्मया 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इति श्रुतेः पञ्चम्यारूढबुद्ध्या, वेषः संन्यासादिः, कश्चित् कोऽपि, न विहित आत्मसाक्षात्काराय न धृतः, तथा वचनचातुरी वचनानां वाक्यानां, चातुरी पाण्डित्यं, न वा नैव कृता, **किन्तु** किं तर्हि कृतम्, इत्येपक्षायाम् आह **प्रेमेति।** प्रेमातिसातत्यात् प्रेम्णः निरतिशयस्नेहस्य, अतिसातत्यं निरन्तरप्रवाहः तस्मादेव कारणात् केवलं, तया बुद्ध्या, हरिः हरति सर्वं द्वैतमिति हरिः आत्मा, लालितो वशीकृतः, अतो नाश्रमवेषपाण्डित्यादिकमात्मज्ञाने हेतुरिति भावः।।१९।।(४६६)

अत एवालंकारादीनां स्वरूपप्राप्त्यभावे वैय्यर्थ्यमेवेत्याह **नेति। वधूः** स्त्री 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इति अनेकार्थः, **अलंकृता** भूषणैः भूषितापि, पत्या सह रमणाभावात् **न सौभाग्यवती**

प्रकृत में यह पंचम भूमिकारूढ बुद्धि ही नायिका है। शान्ति, दान्ति, तितिक्षा, उपरति आदि इसकी समवयस्क कन्यायें हैं। आत्मसुखरूप अपने प्रयोजन का लाभ हो जाने पर अब निष्फल समझ कर इसने उनके साथ खेलना बन्द कर दिया है। स्ववर्णाश्रमविहित कर्म तथा भोजनादिक ही इस शरीररूपी घर के संमार्जन तथा लेपन आदि कर्म माने गये हैं, उनमें अब यह ढीलढाल करती ही रहती है। दूसरों की बात आदि बड़ी लापरवाही से सुनती है। एकान्त निर्जनस्थान में बैठ कर अपनी आत्मविषयक स्थिरता किंवा अस्थिरता अथवा आत्मा के ही सत्, चित् तथा आनन्द आदि लक्षणों को विचारा करती है। तब यही अनुमान होता है कि इस पंचम्यारूढ बुद्धि को अवश्य ही आत्मसुख प्राप्त हो चुका है।।१८।।

बाला राधादेवी ने न तो कुछ शृंगार ही बनाया और न वाणी का कौशल ही दिखाया, किन्तु केवल लगातार प्रेम की झड़ी से श्रीकृष्ण को वश में कर लिया था।

प्रकृत में पंचम भूमिकारूढ सूक्ष्मबुद्धि ही बाला है। संन्यास धारण कर लेना ही उसका शृंगार है। पाण्डित्योपार्जन करना ही उस वाणी का कौशल है। सो उसने ये दोनों उपार्जन नहीं किये हैं। किन्तु केवल गाढ स्नेह के निरन्तर प्रवाह से ही आत्मस्वरूप हरि को वश में कर लिया है। किंवा साक्षात् कर लिया है।।१९।।

नालंकृता नो कुलीना न विदग्धा न सुन्दरी।
यस्यां तु रमते स्वामी सा सौभाग्यवती वधूः।।२०।।(४६७)

सौभाग्यं पतिभोगपुत्रादिजन्यं सुखं विद्यते यस्यां सा तादृशी नैव भवति, अलंकृतायामपि विधवायां व्यभिचारेण पुरुषभोगजन्यसुखे सत्यपि पुत्र जन्यसुखाभावान्न सौभाग्यवत्त्वं व्यभिचाररहितायाञ्च तस्याम् उभयाभावात् तदभावः प्रसिद्ध एव, सधवायां च अलंकृतायां सत्यामपि पत्युः प्रेमाभावेन तत्र तद्रमणाभावाद् न सौभाग्यवत्त्वम् उभयत्र उभयप्रेमाभावे च परस्परभोगेन अपि तदभावः प्रसिद्ध एव, अतः **स्वामी तु** पतिरेव, **यस्यां** भार्यायां, तत्प्रेम्णा वशीकृतः सन्, **रमते** क्रीडति, **सा सौभाग्यवती** सौभाग्यं पतिपुत्रादिजन्यं सुखं विद्यते यस्यां सा तादृश्यस्तीति ज्ञेया। तथा **कुलीना** सत्कुलभवा, श्रेष्ठकुलोद्भवेत्यर्थः, **न सौभाग्यवती** न सौभाग्यसम्पन्ना भवति, तथा **विदग्धा** चतुरा स्त्री, न सौभाग्यवती भवति, यस्यां त्विति व्याख्यातं तत्सर्वत्रैव योज्यम्। तस्माद् अलंकारकुलवैदग्ध्यसुन्दरत्वादयो गुणा न सौभाग्ये हेतवो भवन्ति किन्तु प्रियस्नेहेन स्वस्मिंस्तद्रमणमेव सौभाग्यकारणमिति भावः। एवं प्रकृतेऽपि योज्यम् तद् यथावधयति बन्धयति इति वधूः बुद्धिः, सालंकृता शृंगारादिरसज्ञानवती संन्यासादिवेषपूर्वं शान्त्यादिवृत्तिभिः वा भूषिताऽपि न सौभाग्यवती सु शोभनं, भगम् ऐश्वर्यादिषट्कं, तद्विद्यते यस्यां सा तथोक्ता, षडैश्वर्यवती मुक्ता न नैव भवति लोके तद्वत्त्वेऽपि तद्वत्त्वाभावदर्शनात्। तथा वधूः बुद्धिः कुलीना कौ क्षेत्रे, लीना नष्टा, क्षेत्राकारत्वाद् नष्टा इत्यर्थः। यद्वा श्रेष्ठकुलजत्वाभिमानवती न सौभाग्यवती सौभाग्यसम्पन्ना मुक्तत्वेन षडैश्वर्यवती न भवति इत्यर्थः। तथा विदग्धा लौकिकपाण्डित्यादिगुणवत्यपि वधूः बुद्धिः न सौभाग्यवती इति पूर्ववत्। तथा सुन्दरी निर्मलत्वेन सुन्दरत्वाभिमानेन वा युक्तापि वधूः बुद्धिः न सौभाग्यवती भवति। तर्हि का सौभाग्यवती इत्यपेक्षायामाह **यस्यां त्विति**। स्वामी बुद्धिपालकः सच्चिदानन्दानेन बुद्धिसाक्षी कूटस्थः, **तु** पदेन बुद्धेः विलक्षणत्वम् आत्मनः सूचितम्। यस्यां बुद्धितो वैलक्षण्येन निरतिशयस्नेहवत्यां बुद्धौ, रमते सहजसुखरूपेण आविर्भवति, सा वधूः इति आवर्तनीयं वाक्यभेदात्, सा वधयति हिंसति सर्वं द्वैतमिति वधूः बुद्धिः अद्वैतात्माकारा मतिः, सौभाग्यवती षड्गुणैश्वर्यवती मुक्ता नित्यतृप्तिमतीत्यर्थः भवति तस्माद् आत्मसुखाविर्भावाभावे अलंकारादिकं सर्वं व्यर्थमेव इति भावः।।२०।।(४६७)

गहनों से सजी हुई, श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुई, चतुर किंवा सुन्दरी होने से ही स्त्रियाँ सौभाग्यवती नहीं हो जाती हैं, सौभाग्यवती तो वही होती है जिसमें कि स्वामी रमण करता हो।

प्रकृत में यदि बुद्धिरूपी वधू शृंगारादि रसों को भी जानती हो, संन्यास आदि वेष किंवा शान्ति आदि वृत्तियों से सजी भी हो, श्रेष्ठकुलोत्पन्न भी हो, लौकिकपाण्डित्यवाली भी हो, निर्मल भी हो, तो भी उसे आत्मदर्शनरूप सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु जिस निरतिशयप्रेमवाली बुद्धि में वह आत्मदेव अपने सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप को देकर अपने स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाते हैं, अद्वैत का साक्षात् करनेवाली वही बुद्धिरूपी वधू नित्यतृप्त किंवा मुक्त हो जाती है।।२०।।

यस्मिन्देशे सिता नास्ति तद्देश्यो वेत्ति किं सिताम्।
स एव वेद माधुर्यं येनैवास्वादिता सिता।।२१।।(४६८)
तृष्णां विहाय तुच्छेभ्यो मुनिर्निःशल्यतां गतः।
स्वरसायनतृप्तात्मा दिनानुदिनमेधते।।२२।।(४६९)

इति श्रीनरहरिकृते बोधसारे भूमिकाभेदभास्करे पञ्चमभूमिकानिर्णयाख्यं षष्ठं प्रकरणम्।।

स्वरूपसुखानुभवं विना स्वरूपज्ञानाभावे दृष्टान्तमाह **यस्मिन्निति। यस्मिन्देशे** यत्र जनपदे, **सिता** खण्डं, **नास्ति** न विद्यते, **तद्देश्यः** तस्मिन् देशे भवः पुरुषः **सितां** खण्डं, **वेत्ति किं** जानाति किं, नैव जानातीत्यर्थः। तर्हि को जानाति। तमाह **स एवेति। येनैव** पुरुषेण, **सिता** खण्डम् **आस्वादिता** भक्षिता, **स एव** खण्डास्वादक एव, नान्यो, **माधुर्यं** मधुरतां, **वेद** जानाति, यथा, तथा आत्मसुखाननुभवी नात्मसुखं वेत्ति तदनुभव्येव आत्मसाक्षात्कारवान् इति भावः।।२१।।(४६८)

पुनश्च पञ्चम्यारूढलक्षणमाह **तृष्णामिति। मुनिः** मननवान् पञ्चम्यारूढः पुरुषः, **तुच्छेभ्यः** तुच्छान् विषयान्, भोक्तुं या तृष्णा इच्छा तां, **विहाय** परित्यज्य **निःशल्यताम्** अन्तर्वासनाः शल्यमिव दुःखहेतुत्वात् शल्यं, तन्निर्गतं यस्मात् स निःशल्यः, तस्य भावः तत्ता, ताम्, **गतः** प्राप्तः सन्, **स्वरसायनतृप्तात्मा** स्वम् आत्मरूपं, रसानां मानुषानन्दादि-हिरण्यगर्भानन्दान्तानां सुखानाम्, अयनं स्थानं, लयाधारं वा, सनत्कुमारेण नारदाय उक्तं छान्दोग्ये 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति श्रुत्या भूमाशब्दवाच्यम् आत्मसुखं, तेन तृप्तः सुखित, आत्मा अन्तःकरणं, यस्य स तथाभूतः सन्, **दिनानुदिनं** पूर्वपूर्वदिनाद् उत्तरोत्तरदिन इत्यर्थः, इदं चोपलक्षणं लवक्षणादेः इत्यर्थः, **एधते** वर्धते। इदमपि पञ्चम्यारूढलक्षणं ज्ञेयम्।।२२।।(४६९)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भूमिकाभेदभास्करार्थप्रकाशे ज्ञानपञ्चम-भूमिकानिर्णयार्थप्रकाशः षष्ठः।।

जिस देश में मिसरी [चीनी] ही नहीं होती उस देश के मनुष्य मिसरी को क्या जानें कि वह कैसी होती है? किन्तु जिसने मिसरी की डली चखी हो वही उसकी मधुरता जान सकता है। इसी प्रकार जिसने आत्मसुख को कभी अनुभव ही नहीं किया, वह बेचारा आत्मसुख को क्या जान सकता है? उसे तो वही जान सकता है जिसने कभी आत्मसुख का भोग लिया हो।।२१।।

यह पंचमभूम्यारूढ जातसाक्षात्कार मुनि तुच्छ विषयों की भोगाभिलाषाओं कोजो कि पहले उसके हृदय में शल्य की तरह गड़ी रहती थींछोड़ देने से अब निःशल्य हो गया है। अब तो वह आत्मरसायन का उपभोग कर लेने से तृप्त होकर प्रतिदिन बलवान् होता चला जा रहा है।।२२।।

अथ षष्ठी भूमिका

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् पदार्थाऽभाविनी भवेत्।
षष्ठी घनसुषुप्तिः स्यात् महादीक्षेति सा भवेत्।।१।।(४७०)
महानिद्रेति सा प्रोक्ता यस्यामानन्दघूर्णिता।
पदार्थविस्मृतिः सैव प्रोक्ता परिणतिश्च सा।।२।।(४७१)

एवं पञ्चमभूमिकां सलक्षणां सविस्तरां निरूप्य, इदानीं नवश्लोकां षष्ठीं भूमिकां निर्णेतुमाह **अथेति। अथ** पञ्चमभूमिकानिरूपणानन्तरं, **षष्ठी** षष्ठी **भूमिका,** निरूप्यते इति शेषः। सहेतुकं तज्जन्म आह **भूमिकेति। भूमिकापञ्चकाभ्यासाद्** भूमिकानाम् उक्तलक्षणानां, पञ्चकं, तस्य अभ्यासः तत्र तत्र चेतसः स्थिरीकरणं, तस्माद् हेतोः, **षष्ठी** भूमिका, **पदार्थाभाविनी** पदानि नामानि, अर्था रूपाणि, तेषाम् अभावो विद्यते यस्यां सा तथोक्ता, नामरूपपारमार्थिका-स्फुरणवतीत्यर्थः, **भवेत्** स्यात्, तस्या नामान्तरैः सहोत्पत्तिं निरूपयति सार्धेन **घनेति। सा** सैव इत्यर्थः, **घनसुषुप्तिः** घना पदार्थास्फुरणेन निबिडा, सुषुप्तिः निद्रा नाम्नी, **स्याद्** भवेत्, तथा **सा** सैव षष्ठी भूमिका, **महादीक्षा** महती दीक्षा अज्ञत्वनिरासेन ज्ञानित्वसंस्काररूपा, यस्यां सा तथोक्ता, एतन्नाम्नी सा; स्याद् **भवेत्**।।१।।(४७०)

महानिद्रेति। सा षष्ठी भूमिका, **महानिद्रेति** पञ्चम्याः शिथिलनिद्रात्वापेक्षया महती गाढा, अत्यन्तविषयास्फूर्त्या सुषुप्तिः महानिद्रेति नाम्नी, **प्रोक्ता** कथिता, ग्रन्थान्तरे इति शेषः। तथा **यस्याम्** षष्ठभूमिकायाम्, **आनन्दघूर्णिता** आनन्दस्य सुखस्य, घूर्णिता व्याप्तिरस्ति, आनन्दमात्रस्फूर्त्या सर्वदुःखास्फूर्तिः तस्यां भवति इत्यर्थः। तथा **सैव** षष्ठ भूमिकैव, **पदार्थविस्मृतिः** पदानि नामानि, अर्था रूपाणि, तेषां विस्मृतिः अभानं यस्यां सा तथोक्ता, एतन्नाम्नी भवेत्, **सा** च षष्ठी भूमिकैव, **परिणतिः** आत्मनि परिणामात् परिणतिनाम्नी, **प्रोक्ता** कथिता, मुनिभिः इति शेषः।।२।।(४७१)

पूर्व पाँच भूमिकाओं का अभ्यास करते करते अन्त में ''पदार्थाभाविनी'' नामक छठी भूमिकाजिसमें कि नाम रूप का पारमार्थिक स्फुरण समाप्त हो जाता है प्राप्त हो जाती है। उसको ज्ञानी की गाढनिद्रा किंवा 'महादीक्षा' भी कहा जाता है।।१।।

(पंचमी भूमिका को शिथिल निद्रा कहा गया है) यह छठी भूमिका तो विषयों की स्फूर्ति के सर्वथा बन्द हो जाने के कारण 'महानिद्रा' कहलाती है। इस अवस्था में सर्व दुःखों की प्रतीति बन्द होकर केवल आनन्दमात्र की ही व्याप्ति रह जाती है। इस ही अवस्था में आकर मुनि लोगों को पदार्थों (नाम तथा रूप) का विस्मरण हो जाता है। इसके आने पर सब कुछ आत्मरूप में परिणत हो जाने के कारण इस अवस्था को 'परिणति' भी कहते हैं।।२।।

तल्लक्षणानि

नरवाहनसंरूढाः सुप्ता एव यथा नृपाः।
चलन्ति तद्वत् स्वानन्दे सुप्त एव चलत्यसौ।।३।।(४७२)
ध्यानाध्वरविधौ यस्य पशवश्चक्षुरादयः।
स्वयमेवोपतिष्ठन्ति रन्तिदेवमखे यथा।।४।।(४७३)

तल्लक्षणानि वक्तुमाह **तदिति। तल्लक्षणानि** तस्याः षष्ठभूमिकाया, लक्षणानि चिह्नानि, उच्यन्ते इति शेषः, तान्येवाह सप्तभिः **नरेति। सुप्ता एव** निद्रिता एव, **नरवाहनसंरूढाः** नरैः उह्यते प्राप्यते देशान्तरम् इति नरवाहनं शिविकादिकं, तस्मिन् संरूढा आरूढा, **नृपा** राजानः, **यथा चलन्ति** गच्छन्ति, अगच्छति राज्ञि यथा गमनं व्यवह्रियते, **तद्वत्** तथा, **असौ** षष्ठ्यारूढः पुरुषः, **स्वानन्दे** भूमानन्दे स्थित्वा प्रपञ्चे सुप्तः सन् निद्रित एव नराद्यभिधे शरीरे स्थितः सन् अहंकारादिभिः कृत्वा चलति इत्युपलक्षणं व्यापृणोति इत्यर्थः। इदं च षष्ठ्यारूढलक्षणं ज्ञेयम्।।३।।(४७२)

अन्यदपि लक्षणमाह **ध्यानेति। यथा** यद्वद्, **रन्तिदेवमखे** रन्तिदेवस्य राज्ञो, मखे पशव अज्ञाः स्वयमेवोपस्थिताः, एतच्च पुराणेषु प्रसिद्धम्। रन्तिदेवनामा राजा इक्ष्वाकुवंशोद्भवः कश्चिद् दयाशीलः तं च ऋषयो यज्ञैः याजयितुं प्रवृत्ताः तेन च तन्नांगीकृतं हिंसाभयात्। तदा ब्राह्मणैः तव हिंसा न स्याद् यथा तथा कुर्म इति प्रतिज्ञाय ततो ब्राह्मणैः स्वयमेव पशवः पशुवधार्थम् अभिमन्त्रिते शस्त्रे स्वस्वशिरो यथा च्छेत्स्यन्ति तथा अभिमन्त्रिताः, तैः च ततः स्वयमेव स्वस्वशिरांसि छित्वा तत्तद्देवताभ्यः स्वस्वशरीराणि अर्पितानि इति। तथा **यस्य** षष्ठ्यारूढस्य पुरुषस्य, **ध्यानाध्वरविधौ** ध्यानम् आत्मचिन्तनं तदेव अध्वरो यज्ञः तस्य विधिः विधानं क्रिया तस्मिन्, **चक्षुरादयः** चक्षुः नेत्रगोलकस्थं रूपज्ञानसाधनम् इन्द्रियं, तदादि येषां ते, **पशवो** बहिर्मुखत्वात् पशव इव पशवः, **स्वयमेव** प्रत्याहारादिप्रयत्नं विनैव **उपतिष्ठन्ति** स्वस्वदेवतासु दिगादिषु लीना भवन्ति इत्यर्थः, 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु' इति श्रुतेः, इदमपि षष्ठीलक्षणं ज्ञेयम्।।४।।(४७३)

पालकी पर चढे हुए धनी लोग जिस प्रकार सोते हुए ही चलते-फिरते रहते हैं, इसी प्रकार यह षष्ठ्यारूढ पुरुष स्वानन्द का अनुभव करता हुआ संसार के विषय में सुप्त-सा रहता है (इसकी शरीररूपी पालकी को इसके अहंकारादि भृत्य ही चलाते रहते हैं)।।३।।

पुराणों के वर्णन के अनुसार इक्ष्वाकुवंश का रन्तिदेव राजा बड़ा ही दयाशील था। ऋषियों ने उससे यज्ञ कराना चाहा, उसने यज्ञ में पशुहिंसा के भय से स्वीकार नहीं किया। तब उन ऋषियों ने ऐसा विधान किया था कि पशु आमन्त्रित होते ही अपने अपने अंगों को काटकर उन उन देवताओं को भेंट दे गये थे। इसी प्रकार यह षष्ठ्यारूढ पुरुष भी आत्मध्यानरूपी यज्ञ करता रहता है, इन्द्रियरूपी पशु उस यज्ञ में

पूर्णे बोधे समुत्पन्ने मनोबुद्धीन्द्रियादयः।
अपूर्णाः पूर्णतां यान्ति का वाच्या तस्य पूर्णता।।५।।(४७४)
तत्सर्वममृतं तस्य यत् खादति पिबत्यपि।
यत्र तिष्ठति सा काशी स जपो यत्प्रजल्पति।।६।।(४७५)

अन्यदपि आह **पूर्ण इति। मनोबुद्धीन्द्रियादयः** मनश्च संशयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिरूपा, बुद्धिश्च निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिरूपा, इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि शब्दादिज्ञानकरणानि कर्णादिगोलकस्थानि तानि आदीनि येषां देहादीनां ते सर्वेपि आविद्यकत्वात् स्वतः **अपूर्णा** अपि पूर्णतां विद्यया अविद्यानाशे सति तेषाम् अपि आत्मत्वात् **पूर्णताम्** आनन्दरूपत्वेन अन्यसुखनिरपेक्षतां, **यान्ति** प्राप्नुवन्ति। कस्मिन् सति इत्यत आह **पूर्ण इति। पूर्ण** आनन्दघनत्वेन परिपूर्णे, **बोधे** ज्ञाने, **समुत्पन्ने** सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन उत्पन्ने उदिते सति, तर्हि तदा, **तस्य** सर्वदा परिपूर्णस्य आत्मत्वात् षष्ठ्यारूढस्य पुरुषस्य, पूर्णे बोधे, समुत्पन्ने सति, **पूर्णता** आनन्दघनान्यसुखनिरपेक्षता, **का वाच्या** किं कथनीया, इदं च षष्ठ्यारूढलक्षणं ज्ञेयम्।।५।।(४७४)

पुनः अन्यल्लक्षणमाह **तदिति। स** षष्ठ्यारूढः पुरुषः, **यद्** अन्नादिकं, **खादति** भक्षति, यद् अपि जलादिकं **पिबति** प्राश्नाति, तद् भक्ष्यं पेयं च **सर्वमपि** सकलमपि, **तस्य** षष्ठ्यारूढस्य ज्ञानिनः इत्यर्थः, 'यदश्नाति तदस्य हविः' इति श्रुत्या ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञे भक्ष्यस्यैव हविष्ट्वप्रतिपादनात् तस्य च यज्ञशिष्टत्वेन 'यज्ञशिष्टामृतभुज' इति भगवता गीतायाम् अमृतत्वप्रतिपादनाच्च अमृतं भवति, अमृतस्य च भोजनेन अमृतत्वप्राप्तिप्रसिद्धेः ज्ञानिनश्च बाधितत्वेन खानपानयोः आत्मदृष्ट्यावलोकितयोः भोक्तुः अपि आत्मत्वात् मरणशून्यत्वेन अमृतत्वं भक्ष्यस्य तद् भोजनेन अमरत्वमपि आत्मनः प्रसिद्धमेवेति भावः। ननु च तस्य सर्वेषामिव मुक्त्यर्थं काश्यां गमनं विहितमेव अतः तत्कर्तव्यमेव इत्याशंक्य आह **यत्रेति। स** षष्ठ्यारूढो, **यत्र** यस्मिन् स्थाने, **तिष्ठति** वसति, **सा** तदेव स्थानं, **काशी** वाराणसी, जायते इति शेषः, तस्य षष्ठ्यारूढस्य ज्ञानित्वेन 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति स्मृतेश्च, क्षेत्रज्ञस्य तत्साक्षिणश्च एकत्वप्रतिपादनाच्च साक्षिब्रह्मणोः एकत्वस्य

अपनी भेंट लेकर प्रत्याहारादि प्रयत्न के बिना ही उपस्थित होते रहते हैं (वे ज्ञानी के ध्यान यज्ञ में कोई विघ्न नहीं करते। उसके ध्यान यज्ञ में अपनी इच्छा से ही अपनी भेंट चढ़ा देते हैं)।।४।।

आनन्द से परिपूर्ण यह आत्मज्ञान जब उदय होता है तब अपूर्ण भी ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा देहादि स्वभावतः ही पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं (अर्थात् बाह्यसुख की ओर से निरपेक्ष हो जाते हैं) तब उस सर्वदा परिपूर्ण षष्ठ्यारूढ पुरुष में पूर्णता उत्पन्न हो जाय, (वह आत्मसुख से अतिरिक्त अन्य सुखों में निरपेक्ष हो जाय) इसका तो कहना ही क्या है!।।५।।

संचारस्तीर्थसंचारः समाधिः शयनं मुनेः।
यं पश्यति स विश्वेशः शृणोत्युपनिषच्च सा।।७।।(४७६)

सिद्धान्तितत्वाद् ईश्वरत्वं तद्वासत्वेन तत्संगेन च अन्येषामपि ज्ञानप्राप्त्या मुक्तिहेतुत्वाद् ज्ञानिवासस्थानस्य काशीत्वमिति भावः। तथा **स** षष्ठ्यारूढो, **यत्** लौकिकं वैदिकं वा, **प्रजल्पति** सहजं भाषते स तत्सर्वमपि वचनजातं **जपो** भवति जपस्य अन्तःकरणशुद्ध्या ज्ञानप्रदत्वप्रसिद्धेः ज्ञानिभाषणस्यापि सर्वेषां स्वस्य च अन्तःकरणशोधनेन विवेकजनकत्वेन साफल्याद् जपत्वमिति भावः।।६।।(४७५)

ननु ज्ञानिना तीर्थयात्रादिकं त्ववश्यं कर्त्तव्यम् इत्याशंक्य आह **सञ्चार इति**। तस्य षष्ठ्यारूढस्य ज्ञानिनः **सञ्चारः** स्वाभाविकं गमनं, **तीर्थसञ्चारः** तीर्थानां पुष्करादीनां शुद्धिकारणानां सञ्चारो गमनं भवति, ज्ञानिनो ब्रह्मरूपत्वेन ईश्वरत्वात् सर्वतीर्थानां च ईश्वरचरणस्थितिकत्वप्रसिद्धेःज्ञानीश्वरचरणस्थिततीर्थानां गमनं ज्ञानिगमनेनैव भवति इति भावः। यद्वा ज्ञानिनात्मसुखपरिपूर्णत्वेन निरपेक्षत्वाद्

'निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः'।।इति।।

श्रीभागवते ज्ञानिगमनानुगमनं स्वस्य भगवता एव उक्तम् अतः ज्ञानिगमने भगवच्चरणस्थितसर्वतीर्थसंचारः सम्भाव्य इति भावः। ननु तर्हि मा करोतु ज्ञानी तीर्थगमनं, समाधिस्तु चित्तविक्षेपपरिहाराय कर्त्तव्य एव तस्य इत्याशंक्य आह **समाधिरिति**। **मुनेः** मननवतः षष्ठ्यारूढस्य, **शयनं** निद्रापि, मननेनैव जाग्रदवस्थायां सर्वद्वैतजातस्य बाधितत्वात् जाग्रतीवात्मसुखस्फूर्तेः सत्त्वाद् द्वैतास्फुरणस्यैव लोके समाधित्वप्रसिद्धेः निद्रा **समाधिः** भवति किं पुनः जाग्रत्स्वप्नसमाधीनां तस्य

वह षष्ठ्यारूढ पुरुष जो खाता या जो पीता है, वह सब अमृत हो जाता है। वह जहाँ बैठ जाता है, वहीं काशी हो जाती है। वह जो कुछ बोलता है, वही जप होता है।

वह मुनि एक बड़ा भारी ज्ञानयज्ञ कर रहा है। वह जो अन्नादि खाता और जलादि पीता है वह उस यज्ञ के हवि हैं, अमृत हैं क्योंकि उनके भोजन से अमर किंवा जन्म-मरण के बन्धन से रहित होता जा रहा है। वह षष्ठ्यारूढ पुरुष जहाँ कहीं रहता है वही स्थान काशीधाम हो जाता है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" षष्ठ्यारूढ पुरुष ज्ञानी होने से ब्रह्म है, वह तो साक्षात् ईश्वर है, उसका जहाँ वास होता है, वहीं काशी होती है। जो पुरुष उसके संसर्ग में पहुँच जाता है, उसको भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसलिये ज्ञानी का वासस्थान ही काशी माना जाता है। वह जो कुछ स्वभाव से बोल उठता है वही जप होता है, क्योंकि जप से जिस प्रकार अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान प्राप्त होता है, उसी प्रकार उस ज्ञानी के भाषण को सुनकर ही श्रोताओं के अन्तःकरण शुद्ध हो जाते हैं और विवेक का उदय हो जाता है, इसलिये उसका बोलना जप के तुल्य माना गया है।।६।।

पीयते प्रेम पीयूषं श्लिष्यते परमा कला।
भुज्यते परमानंदः योगिना न स भोगिना।।८।।(४७७)

समाधित्वं भवति इति वक्तव्यमिति भावः। ननु ज्ञानिवासस्य विश्वेश्वरवासाभावे तत्र कथं काशीत्वं तत्राह **यमिति।** ज्ञानी **यं** पटघटपृथिव्यादिकं यं यं पदार्थं, **पश्यति** अवलोकयति, **स** पदार्थो, नामरूपयोः बाधितत्वात् तद्दृष्टेरपि बाधितत्वाच्च स्वात्मनो विश्वेश्वररूपत्वेन सर्वत्र सर्वदैवावलोकनाद् **विश्वेशो** विश्वस्य ईश्वर आत्मा जगदीश्वरो, भवति, एवं च ज्ञानिनः सर्वत्र सर्वदैव विश्वेश्वरदर्शनात् तद्वासस्थानस्य काशीत्वं निःसन्देहं सम्भाव्यमिति भावः। ननु ज्ञानिनस्तु उपनिषच्छ्रवणं विहितम् अतः तत्कर्तव्यमेव इत्याशंक्याह **शृणोतीति।** ज्ञानी यां वाणीं लौकिकीं वैदिकीं तिरश्चां वा **शृणोति** अवधारयति, **सा चोपनिषद्** उप समीपे तस्मिन् तस्मिन् वाक्ये ध्वनौ वा तच्छ्रवणे तच्छ्रोतर्यपि निषण्णं त्रिपुटीनामरूपबाधपर्यवशेषेण स्थितं ब्रह्म यत्र सा तथोक्ता भवति, ज्ञानिनः सर्वत्र मनुष्यादिपतंगान्तजाते तत्साक्षित्वेन ब्रह्मात्मन एव प्रतीतेः ज्ञानिश्रोत्रगतशब्दमात्रस्योपनिषत्त्वमिति भावः।।७।।(४७६)

ननु तर्हि ज्ञानिनः सर्वत्रानादरेपि प्रेमलक्षणभक्तिस्तु कर्त्तव्यैव तेन इत्याशंक्याह **पीयते इति। योगिना** जीवब्रह्मैक्यज्ञानवता षष्ठ्यारूढपुरुषेण **प्रेम पीयूषं** प्रेमात्मविषयकः निरतिशयस्नेहः तदेव सुखरूपत्वेन नित्यतृप्तिहेतुत्वात् पीयूषमिव पीयूषम् अमृतं **पीयते** प्राश्यते 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतिदृष्ट्या नामरूपात्मकप्रपञ्चस्य सर्वशब्दवाच्यस्य बाधितत्वात् लोकदृष्ट्या सर्वत्र यत्प्रेम पीयते तत्तद्दृष्ट्या ब्रह्मात्मविषयमेवेति सर्वदैव योगिनः प्रेमामृतसेवनं सिद्धमिति सम्भाव्यमिति भावः। ननु ब्रह्माकारा वृत्तिस्तु कर्त्तव्यैव इत्याशंक्य आह **श्लिष्यते इति। योगिना परमा कला** परं कार्यकारणातीतं ब्रह्म भाति साक्षाद् अभिन्नतया विषयीकरोति सा परमा ब्रह्मविषया, कला शुद्धसत्त्वान्तःकरणवृत्तिः 'अहं ब्रह्मास्मि'इत्येवंरूपा, **श्लिष्यते** आलिङ्ग्यते, यावद्वृत्तीनां सर्वविषयबाधेन ब्रह्मण एव शेषितत्वात् सर्ववृत्तीनां ब्रह्मविषयतया ब्रह्माकारत्वाद् योगिनः षष्ठ्यारूढस्य ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहः सर्वदैव सिद्ध इति न तत्कर्तव्यता तस्य इति भावः। ननु तर्हि ब्रह्मसुखानुभवस्तु कर्तव्य एव इत्याशंक्य आह **भुज्यते इति। योगिना परमानन्दः** परमो निरतिशय आनन्दः सुखं, **भुज्यते** अनुभूयते, सर्वसुखानां ब्रह्मप्रतिबिम्बत्वेन ब्रह्माभिन्नत्वाद् नामरूपात्मक-

ज्ञानी स्वभाव से जहाँ जाता है वही उसका तीर्थगमन हो जाता है (ज्ञानी ब्रह्मरूप होने से ईश्वर है, ईश्वर के चरण जहाँ पड़ते हैं वहीं तीर्थ बन जाते हैं)। उस मुनि को सदा आत्मसुख का भान तथा सम्पूर्ण द्वैत का अभान रहता है इसलिये उसका शयन भी समाधि ही होती है। ज्ञानी जिस घटपटादि पदार्थ को देखता है वही पदार्थ आत्मरूप होने से विश्वेश्वर हो जाता है। वह ज्ञानी जिस किसी लौकिक या वैदिक वाणी को सुनता है, वही उपनिषद् हो जाती है (क्योंकि वह उस वाणी के साक्षीरूप से ब्रह्म को ही देखा करता है। उपनिषदों का काम भी ब्रह्मदर्शन कराना ही है।।७।।

संप्राप्ते परमानन्दे न शोचति गतं वयः।
भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वमानन्दतां गतम्।।९।।(४७८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे भूमिकाभेदभास्करे ज्ञानषष्ठभूमिकानिर्णयाख्यं सप्तमं प्रकरणम्।।

अथ सप्तमी

ततः षष्ठीमतिक्रम्य तुरीयां याति सप्तमीम्।
महाकक्षेति सैवोक्ता सैव गूढसुषुप्तिका।।१।।(४७९)

सर्वपदवाच्यस्य प्रपञ्चस्य बाधितत्वात् च ज्ञानिना यत्सुखम् अनुभूयते तद्ब्रह्मसुखमेव इति षष्ठ्यारूढस्य सदैव परमानन्दानुभवाद् न तत्प्रयासः पृथगपेक्षित इति भावः। भोगिषु तु तत्त्यागेन तत्कर्त्तव्यतादृढत्वाय तदभावमाह **नेति। स** परमानन्दो, **भोगिना** भोग्यसत्त्वनिश्चयपूर्वक-स्वभोक्तृसत्त्वप्रतीतिमता पुरुषेण, **न भुज्यते** नैवानुभूयते, तस्य तु प्रपञ्चसुखदुःखानुभव एव न ब्रह्मसुखानुभव इति भावः।।८।।(४७७)

ननु षष्ठ्यारूढस्य परमानन्दनित्यानुभवसत्त्वे किं लक्षणं तत्राह **संप्राप्त इति।** षष्ठ्यारूढः पुरुषः **परमानन्दे** निरतिशयभूमाख्यसुखे, **सम्प्राप्ते** लब्धे सति, **गतम्** अतीतं, **वय** आयुः, सफलत्वात् तस्य, **न शोचति** न धिक्करोति, इदमेकं चिह्नम्, द्वितीयं त्वाह **भूतमिति। भूतम्** अतीतं जन्मदि, **भवद्** वर्तमानं, **भविष्यच्च** भाव्यमपि, **सर्वं** सुखदुःखादिकारणं फलभूतसुखदुःखाभ्यां सह **आनन्दतां** सुखरूपतां, **गतं** प्राप्तं, न तु तस्य सुखदुःखादि किंचिदपि सत्त्वेन प्रतीयते इति भावः।।९।।(४७८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भूमिकाभेदभास्करार्थप्रकाशे षष्ठीनिर्णयार्थप्रकाशः सप्तमः।।

एवं षष्ठीं सलक्षणां निरूप्य इदानीं नवश्लोकां सप्तमीं निरूपयितुमाह **अथेति। अथ** षष्ठीनिरूपणानन्तरं, **सप्तमी** सप्तमी भूमिका, निरूप्यते इति शेषः। तत्र तावत् षष्ठ्यारूढस्य षष्ठ्युल्लंघनपूर्वं सप्तमीप्राप्तिमाह **तत इति। ततः** षष्ठ्यारोहणानन्तरं, **षष्ठीं** पदार्थाभाविनीनाम्नीं भूमिकाम्, **अतिक्रम्य** उल्लंघ्य, योगी **तुरीयां** व्यावहारिकजाग्रदाद्यवस्थात्रयापेक्षया तुरीयां चतुर्थीं

जीव ब्रह्मैक्यज्ञानवाला योगी (सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखने के कारण) प्रेमरूपी अमृत का पान करता रहता है। वह सदा ही परमब्रह्म को आलिङ्गन किये रहता है। वह तो परमानन्द का सदा ही भोग लेता रहता है। संसारासक्त पुरुष तो उस निरतिशय आनन्द का भोग ले ही नहीं सकते (वे तो प्रपंच के सुख दुःख का ही अनुभव करते रहते हैं, उन्हें उस परमानन्द की कल्पना भी कभी नहीं होती)।।८।।

षष्ठ्यारूढ पुरुष निरतिशय सुख के प्राप्त हो जाने पर अपनी व्यतीत आयु पर शोक नहीं करता, उसके तो भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल (तथा इनमें प्राप्त होनेवाले सुख दुःख) सब ही आनन्दरूप हो जाते हैं।।९।।

योगनिद्रेति सा प्रोक्ता परा काष्ठेति सा स्मृता।
अनुत्तरं च सहजं स्वरूपस्थितिरित्यपि।।२।।(४८०)
मौनमेवावलम्बन्ते यस्यां हरिहरादयः।
सा तु वर्णयितुं शक्या न केनापि कदाचन।।३।।(४८१)

सर्वज्ञानभूमीनां तुर्यत्वापेक्षया तु तुरीयातुरीयां पूर्वज्ञानभूमिषट्कापेक्षया **सप्तमीं याति** प्राप्नोति तस्या एव नामान्तराणि स्मारयति **महाकक्षेति। सैव** सप्तम्येव, **महाकक्षा** महती निरावरणात्मप्राप्तौ कक्षा द्वारभूता, अतः महाकक्षा इत्येवं नाम्नी ग्रन्थान्तरे, **उक्ता** कथिता, **सैव** सप्तम्येव, **गूढसुषुप्तिका** गूढा आच्छन्ना, सुषुप्तिका अल्पसुषुप्तिः यस्यां सा तथोक्ता, अतः गूढसुषुप्तिः इति नाम्नी ग्रन्थान्तरे, **उक्ता** कथिता।।१।।(४७९)

योगनिद्रेति। सैव सप्तम्येव, **योगनिद्रा इति** एवं नाम्ना पुराणेषु, **उक्ता** कथिता, तथा **सा** सप्तम्यवस्था **परा** श्रेष्ठा, **काष्ठा** स्थितिः, **इति** एवं नाम्ना, **स्मृता** चिन्तिता, मुनिभिः इति शेषः, **सहजं** स्वाभाविकम्, **अनुत्तरं** नोत्तरं प्रति वाक्यं यस्मिंस्तथोक्तं, सहजानुत्तरनाम्न्यपि सैव उच्यते इत्यर्थः, तथा **स्वरूपस्थितिः** स्वेनैव रूप्यते प्रकाश्यते इति स्वरूपा सा चासौ स्थितिः अवस्था, **इति** एवं नाम्ना अपि सा उक्ता कथिता।।२।।(४८०)

अत एव अस्या निरूपणाविषयत्वरूपं लक्षणमाह **मौनमिति। यस्यां** सप्तमभूमिकायाम्, आरूढाः सन्तो **हरिहरादयः** हरिः विष्णुः, हरः शिव, आदी प्रमुखौ येषां ब्रह्मेन्द्रप्रभृतीनां ते सर्वेऽपि, **मौनमेव** मननफलभूतं स्वप्रकाशात्मस्वरूपं चिन्मात्रमेव केवलम्, **अवलम्बन्ते** आश्रयन्ते, न तु वागादिव्यापारं किञ्चिदपि कुर्वन्तीति भावः। कुत इत्यत आह **सा त्विति। सा तु** सा सप्तमी भूमिका, तुपदेन अस्याः पूर्वभूमिकाभ्यो वैलक्षण्यं, श्रेष्ठत्वं च सूचितम्, तदेवाह **केनापि** सर्वविदयोनिना ब्रह्मणापि, इदं चोपलक्षणं हरिहरादीनां, **कदाचन** कस्मिन्नपि काले, **वर्णयितुं** वर्णनविषयी कर्तुं, **न शक्या** न संभाव्या, इदं च लक्षणं सप्तम्या ज्ञेयम्।।३।।(४८१)

'पदार्थाभाविनी' नाम की षष्ठी भूमिका को अतिक्रमण कर चुकने के बाद योगी तुरीय अवस्था को प्राप्त हो जाता है। जाग्रत्, स्वप्न आदि की अपेक्षा तो यह तुरीय तथा पूर्व छः अवस्थाओं की अपेक्षा यह सप्तमी अवस्था कहलाती है। निरावरण आत्मा की प्राप्ति के लिये द्वारभूत होने से उसको 'महाकक्षा' भी कहा जाता है। कोई कोई उसे 'गूढसुषुप्तिका' भी कहते हैं।।१।।

यही 'योगनिद्रा' कहलाती है। इसी को 'श्रेष्ठस्थिति' कहते हैं। इसके उत्तर कोई अवस्था न होने से यही 'अनुत्तर' अवस्था कही जाती है। यही आत्मा की स्वाभाविक अवस्था मानी गयी है (इसके प्रादुर्भूत होने पर कृत्रिम जीवभाव नष्ट हो जाता है, इसी से) इसको 'स्वरूपस्थिति' भी कहते हैं।।२।।

चिदंगे कोमले लग्नो दैवादज्ञानकण्टकः।
तं बोधकण्टकेनायं विनिवार्य सुखं स्थितः।।४।।(४८२)
अमृतजलधौ यस्मिन् वार्ता न मीनतरंगयोः
न च परिचयः पारावारस्थितेरपि कुत्रचित्।
समरसपरब्रह्मानन्द-प्रणुन्नविकल्पनः
सहजगलितद्वैतज्वालः स भाति महामुनिः।।५।।(४८३)

सप्तम्यारूढस्य बोधेपि निरपेक्षरूपत्वे लक्षणान्तरमाह **चिदंग इति। कोमले** ईषदपि अज्ञानकण्टकासहे, **चिदंगे** चिन्मात्ररूपे अंगे स्वरूपे, **दैवात्** काकतालीयतः, **अज्ञानकण्टकः** अज्ञानमेव दुःखप्रदत्वात् कण्टक इव कण्टको, **लग्नः** स्पृष्टः, **अयं** सप्तम्यारूढः पुरुषो, **बोधकण्टकेन** बोधः तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं संशयविपर्ययरहितम् 'अहं ब्रह्मास्मि'इत्याकारकम् अपरोक्षं ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यविषयं, स एव अज्ञानलक्षणकण्टकनिष्कासनोपयोगात् कण्टकसादृश्यात् कण्टकः तेन, **तम्,** अज्ञानकण्टकं, **विनिवार्य** निष्कास्य, **सुखं** यथा भवति तथा **स्थितः** तिष्ठति इत्यर्थः, सप्तम्यारूढस्याज्ञानमिव ज्ञानमपि अनादरणीयम् एतदपि लक्षणान्तरं सप्तम्यारूढस्य इति भावः।।४।।(४८२)

इदानीं सप्तम्यारूढस्य स्थितिं वर्णयति त्रिभिः वृत्तैः **अमृतेति**। यथा कस्मिंश्चिद् **यस्मिन्** विलक्षणे प्रलयवृद्धे, **अमृतजलधौ** अमृतमिव मिष्टं, जलम् उदकं, धीयते ध्रियते यस्मिन्निति अमृतजलाधिः तस्मिन्, **मीनतरंगयोः** मीनः मत्स्यः, तरंग ऊर्मिः, तयोः, **वार्ता** वृत्तान्तः समुद्रस्य अगाधत्वेन नास्ति, **च** पुनः, **कुत्रचित्** कस्मिन्नपि भागे तस्मिन् समुद्रे, **पारावारस्थितेरपि** पारा परतरा, अवारा अर्वाचीना स्वदृग्गोचरा, स्थितिः स्थानं, तस्याः, **परिचयः** अपि अनुभवोपि, **न च** नैव विद्यते, केवलं तत्र **समरसपरब्रह्मानन्दप्रणुन्नविकल्पनः** सम एकरूपो, रसः सुखं, यत्र स चासौ परं कार्यकारणातीतं ब्रह्म देशादिभिः अपरिच्छिन्नं भूमापरपर्यायं तद्रूप आनन्दश्च सुखं, तेन कृत्वा प्रणुन्नं निवारितं, बाधितमित्यर्थः, विकल्प्यते विपरीतत्वेन भाव्यते अनेन इति विकल्पनम् अज्ञानं कारणकार्योभयरूपं येन स तथाविधः, विकल्पनमित्यत्र करणे ल्युड्, अत एव **सहजगलितद्वैतज्वालः** सहजं स्वभावेनैव, गलिता नष्टा, द्वैतं नानात्वमेव, ज्वालेव तापहेतुत्वाज्ज्वाला यत्र स तथोक्तः, **स** पुराणादौ प्रसिद्धो, **महामुनिः** ब्रह्मा, **भाति** प्रकाशते, स्वयमेव इत्यर्थः।

विष्णु या शिव आदि से यदि इस सप्तमी भूमिका के लक्षण पूछे जायँ तो वे भी मौन ही कर जायँ। फिर भला सामान्य अल्पशक्ति मनुष्यों में तो उसके वर्णन करने का सामर्थ्य ही कहाँ?।।३।।

बस, इतना ही कहा जा सकता है कि इस चैतन्यस्वरूप कोमल आत्मा में काकतालीय न्याय से अचानक एक अज्ञानरूपी दुःखप्रद कण्टक लग गया था, इस सप्तम भूम्यारूढ मुनि ने उस अज्ञानरूपी कण्टक को (''कण्टकेनैव कण्टकम्'' काँटे से ही काँटे को निकालना चाहिये, इस न्याय के अनुसार 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस) बोधरूपी कण्टक की सहायता से निकाल डाला है। इसीलिये अब वह मौज कर रहा है।।४।।

बंधध्वंसमभीप्सुना सुमनसा जिज्ञासया तीव्रया
ज्ञाते ब्रह्मणि बाधिताक्षविषये बोधे चमत्कुर्वति।
स्वान्तर्मन्तृविमानमान्यविवृतिव्यावृत्तिनिर्भंगको
भाति ज्ञानसुखात्मकः स्वयमयं योग्यापगानां पतिः।।६।।(४८४)

प्रस्तुतार्थे तु यथा अमृतं सुखमेव समुद्रे जलमिव पूर्णं धीयते ध्रियते यत्र सः अमृतजलधिः इति मुनिविशेषणम्, यद्वा अमृतं सुखं, जडम् अचलं, स्थितमित्यर्थः, डलयोरभेदात्, धीयते ध्रियते अस्मिन्निति स तथोक्तः, स्थिरसुखाधारत्वेनोपलक्षित इत्यर्थः। **यस्मिंश्च** महामुनौ, **मीनतरंगयोः** मीनो मीयते आव्रियते इति मीनः जीवः शिष्यभावापन्नः, तरन् तारकं वाक्यजातं गायति उपदिशति इति तरंगः महावाक्योपदेष्टा वेदोच्चारकश्च ईश्वरः गुरुभावापन्न ईश्वरश्च इत्यर्थः, तयोः, **वार्ता** कथनं, **न** न विद्यते, **च** पुनः, यस्मिन् **कुत्रचित्** कस्मिन्नपि काले देशे वा, **पारावारस्थितेः** पारा कारणरूपा निर्गुणा वा, अवारा कार्यरूपा सगुणा वा, या स्थितिः अवस्था, तस्याः, **परिचयो** भानमपि, **न च** न विद्यते, तत्र हेतुः **समरसपरब्रह्मानन्द-प्रणुन्नविकल्पनः** सम एकरूपः, रसः सुखं, यस्मिन् स चासौ परब्रह्मानन्दः कार्यकारणहीनं भूमशब्दवाच्यं सुखं तेन कृत्वा प्रणुन्नं विकल्पनं विकल्पकारणमज्ञानं येन स तथोक्तः, अत एव **सहजगलितद्वैतज्वालः** सहजं स्वाभाविकं यथा तथा गलिता नष्टा, द्वैतं, भेद एव तापकत्वात् ज्वालेव ज्वाला यस्मिन् **स** सप्तम्यारूढो, **महामुनिः** मुनिश्रेष्ठो, **भाति** प्रकाशते, इदं च सप्तमीलक्षणं ज्ञेयम्।।५।।(४८३)

किञ्च **बन्धेति। बन्धध्वंसं** बन्धयति अवरोधयति नित्यमुक्तमपि आत्मानमिति बन्धः अज्ञानं, तस्य ध्वंसो नाशः तम्, अभीप्सते इति अभीप्सुः इच्छावान् तेन, **सुमनसा** साधनसंपन्नं यन्मनः तेन कर्त्रा, **तीव्रया** दृढया, **जिज्ञासया** ज्ञानेच्छया करणभूतया, **ब्रह्मणि** अपरिच्छिन्नात्मवस्तुनि, **ज्ञाते** साक्षाद् अनुभूते सति, ततो **बाधिताक्षविषये** बाधिता निरस्ता, अक्षविषया इन्द्रियगोचरा, यस्मिन् स तथोक्त, तस्मिन् **बोधे** ज्ञाने, चमत्कुर्वति सर्वदा प्रकाशमाने सति, **स्वान्तः** स्वे अन्तःकरणे, **मन्तृविमानमान्यविवृतिव्यावृत्तिनिर्भंगकः** मन्ता अधिष्ठानसहितबुद्धिस्थचिदाभासः

वह सप्तम भूमिकारूढ पुरुष अमृत का समुद्र हो जाता है, इस अद्भुत ज्ञानिसमुद्र में (द्वैतभाव के नष्ट हो जाने के कारण) मीन किंवा तरंग का प्रसंग भी नहीं रहता (यहाँ पर मीन का अभिप्राय जीव से (क्योंकि मीयते आव्रियते मीनो जीवः) और तरंग का अभिप्राय गुरु से (क्योंकि 'तरं तारकं महावाक्यं गायति उपदिशति तरंगो' महावाक्योपदेष्टा गुरु है) इस अमृतसागर में पारावार का भी कुछ भान नहीं रहता, क्योंकि सर्वत्र समरूप ब्रह्मानन्द के प्राप्त हो जाने से (पारावार को बतानेवाला) उसका विकल्पन अर्थात् अज्ञान ही नष्ट हो जाता है। इसीलिये अज्ञानकाल में उसको बाँध रखनेवाला द्वैतरूपी जाल भी गल जाता है। अब तो उस मुनिरूपी समुद्र की कुछ वर्णनातीत ही आभा हो गयी है।।५।।

वाचा मौनमयी गतिः स्थितिमयी निद्रामयो जागरो
निद्रा बोधमयी निशा दिनमयी नक्तंमयो वासरः।
कर्म ब्रह्ममयं जगत्सुखमयं किञ्चिन्न किञ्चिन्मयं
दुर्लङ्घ्यं गुणवर्त्म लंघितवतो वार्त्ता कथं वर्ण्यताम्।।७।।(४८५)

प्रमाता, विपरीतं मन्यते अनेन इति विमाना मतिः, करणे घञ्, मान्यं मन्तव्यम्, एतत्त्रिपुटीरूपाया विवृतिः भ्रान्तिः, तस्या व्यावृत्तिः निवृत्तिः, तया कृत्वा निर्भंगकः निस्तरंगः, विक्षेपरहित इत्यर्थः, अत एव **ज्ञानसुखात्मको** ज्ञानं बोधः, तदभिन्नं सुखम् आनन्दः, स एव आत्मा स्वरूपं यस्य स तथोक्तः, **स्वयं** स्वतः सिद्धः, **अयं** सप्तम्यारूढः, **योग्यापगानां** योगिनः अत्र पूर्वभूमिकाषट्कस्थिता ग्राह्याः ते एव अपगा नद्य इव नद्यः तेषाम् उत्तरोत्तरभूमिकासु वृत्तेः नदीव सन्ततगमनवत्त्वाद् नदीत्वं तासां, **पतिः** पालकः आत्मत्वात् सर्वेषां पालकत्वं सप्तम्यारूढस्य स उक्तलक्षणो, **भाति** स्वयं प्रकाशरूपेण विराजते।।६।।(४८४)

किञ्च **वाचेति। दुर्लङ्घ्यं** दुःखेन अतियत्नेन, लङ्घितुं योग्यं दुर्लङ्घ्यं, **गुणवर्त्म** गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वर्त्म मार्गं, **लङ्घितवतः** अतिक्रान्तवतः सप्तम्यारूढस्य **वार्त्ता** वृत्तान्तः, **कथं** केन प्रकारेण, **वर्ण्यतां** वर्णनीया न केनापि प्रकारेण वर्णनीया। उक्तम् अवर्णनीयत्वमेव विशदयति **वाचेत्यादिविशेषणैः**। तस्य **वाचा** वाणी, **मौनमयी** मौनरूपा भवति, 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुत्या सर्वशब्दवाच्यप्रपञ्चस्य बाधितत्वाद् वक्तृवचनवाच्यरूपप्रपञ्चमिथ्यात्वेन 'यद्वैतन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वाद् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत्' इति श्रुत्या वचनस्य वक्तुः स्वरूपत्वप्रतिपादनात् ततः पृथगसत्त्वप्रतिपादनाच्च वाच्यस्यापि पृथगसत्त्वाच्च वागभावेन लोके प्रतीयमानाया वाचोपि पारमार्थिकत्वाभावाच्च तस्या मौनत्वं सिद्धमिति भावः। तथा **गतिः** गमनं लोके प्रतीयमानापि, **स्थितिमयी** स्थैर्यरूपा भवति, 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादिश्रुत्या पादराहित्येपि गमनवत्त्वप्रतिपादनात् पादराहित्येन गमनं यत्प्रतीयते तत् पारमार्थिकं न भवति इत्यतः गमनेऽपि स्थैर्यं संभाव्यमिति भावः। तथा तस्य **जागरो** जागरणमपि, **निद्रामयः** निद्रारूपो भवति, लोके निद्रावस्थायां सर्वत्रिपुटीलयप्रसिद्धेः सप्तम्यारूढस्य त्रिपुटीमिथ्यात्वप्रतीत्या जागरस्यापि निद्रात्वमिति भावः। तथा तस्य **निद्रा** सुषुप्तिरपि, **बोधमयी** जागररूपा

अपने (अज्ञानरूपी) बन्ध को नष्ट कर डालने की इच्छा से जब किसी साधनसंपन्न अधिकारी को तीव्र जिज्ञासा के प्रादुर्भाव हो जाने पर, अनन्त आत्मवस्तु का साक्षात् अनुभव मिल जाता है, बाह्य विषयों का भान बन्द कर देने वाले ज्ञान की ज्योति जगमगा उठती है, तब अपने अन्दर के 'यह प्रमाण है, यह प्रमाता है, यह प्रमिति है' इत्यादि सभी भ्रम एक पद में ही निवृत्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त योगी रूपी नदियों का पति (समुद्र) वह सप्तमीभूमिकावाला मुनि इन सब बातों के परिणामस्वरूप निस्तरंग तथा ज्ञानसुखस्वरूप होकर चमकने लगता है।।६।।

भवति, सुखमहम् अस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम् इति उत्थितस्मरणान्यथानुपपत्त्या अज्ञानबोधस्य तत्र सत्त्वात् तद्विषयाज्ञानस्य च सत्त्वात् तत्र ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपत्रिपुट्या विद्यमानत्वेन जाग्रल्लक्षणसत्त्वात् निद्राया जागरत्वमिति भावः। तथा तस्य **निशा** रात्रिः, **दिनमयी** दिवसरूपा भवति, लोकदृष्ट्यान्धकारसत्त्वेऽपि निशायां सप्तम्यारूढस्य प्रकाशं विना अप्रकाशप्रतीत्यनुपपत्त्या तत्प्रकाशकप्रकाशवत्त्वेन रात्रेः दिनत्वमिति भावः। तथा तस्य **वासरो** दिवसो **नक्तंमयो** रात्रिमयो भवति, व्यवहारस्य मिथ्यात्वेन तत्प्रतीतेरपि पारमार्थिकत्वाभावे तत्प्रकाशस्यापि तथात्वाद् अन्धकारस्वरूपरात्रित्वं दिनस्य सम्भाव्यमिति भावः। तथा तस्य **कर्म** क्रियापि, **ब्रह्ममयं** निष्क्रियब्रह्मरूपं भवति, कर्त्तृकरणकार्यरूपत्रिपुट्याः सप्तम्यारूढदृष्ट्या पारमार्थिकत्वाभावाद् निष्क्रियब्रह्मरूपत्वं कर्मणः सिद्धमिति भावः। यद्वा

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' इति भगवदुक्तया कर्तृहविरग्नितदर्पणफलेषु नामरूपबाधेन पर्यवशेषितब्रह्मरूपधारणया त्रिपुट्यभावेन ब्रह्मरूपत्वप्रतिपादनात् कर्मण एव समाधित्वप्रतिपादनानुसन्धानेन सप्तम्यारूढस्य कर्मणोऽपि निष्क्रियब्रह्मरूपत्वमिति भावः। तथा तस्य **जगद्** लोकप्रसिद्धं दुःखमयं जगद् विश्वं, **सुखमयं** सुखस्वरूपं ब्रह्मैव भवति, सप्तम्यारूढदृष्ट्या जगतो मिथ्यात्वानुसन्धानेन तत्र प्रतीयमानस्यापि दुःखस्य अत्यन्तासत्त्वाच्च जगद्गतसुखस्य च केवलब्रह्मसुखाभिन्नत्वानुसन्धानेन च जगतः सुखमयत्वं सिद्धमिति भावः, तथा तस्य **किञ्चिद्** दृग्विषयजातमेव, **न किञ्चिन्मयं** न किञ्चिद् दृगगोचर आत्मा तन्मयं तद्रूपं भवति, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुत्या बाधसामानाधिकरण्यस्य ब्रह्मेदंशब्दयोः प्रतीयमानत्वाद् दृग्गोचरस्य सर्वपदवाच्यस्य जगतः अत्यन्तासत्त्वेन दृश्यं जगदेवादृश्यं ब्रह्मेति भावः, एवं च सप्तम्यारूढवार्त्ताया वर्णनस्य विरुद्धत्वेन प्रतीयमानत्वाद् वर्णनासंभव इति भावः।।७।।(४८५)

जिसकी वाणी मौनरूप हो जाती है, जिसकी गति स्थितिरूप हो रहती है, जिसका जागना निद्रारूप होता है, जिसकी नींद बोधरूप बन जाती है, जिसके लिये रात भी दिनरूप हो जाती है, जिसकी दृष्टि में यह दिन भी रात्रि हो जाता है, जो कर्मों को ब्रह्मरूप समझने लगता है, जो जगत् को सुखमय जान लेता है, जो किसी को कुछ भी नहीं समझता, इस प्रकार अनुल्लंघनीय गुणों के राज्य को लाँघकर पार चले जानेवाले मुनि की महत्ता को हम कैसे बता दें!

यह संसार जिन सत्त्व आदि गुणों के आवर्त में फँसकर दिनरात चक्कर खाता हुआ उनका पार नहीं पा रहा है, उन सत्त्वादिगुणों को पलक मारते ही पार कर जानेवाले उस सप्तम्यारूढ मुनि के असंसारी चरित्र का वर्णन इन संसारी शब्दों से सफलता के साथ क्योंकर किया जाय। क्योंकि वर्णन करने वाले शब्द भी इन्हीं सत्त्वादि गुणों के मिश्रण से बने हैं। उन बेचारों के पास इनकी हद से पार गये हुए मुनि की बात को

जानने का साधन ही क्या है? उसका चरित्र तो वर्णन की शैली से बिलकुल ही विरुद्ध प्रतीत होने लगता है। शब्दों की इसी अपूर्णता और असामर्थ्य को देखकर ही श्रुति ने 'नेति नेति' करके उसके वर्णन का ठीक ही उपक्रम किया है। देखो तो सही, जिसको हम लोग बोल-चाल की भाषा में बोलना कहते हैं वह तो उसका 'मौन' हैअर्थात् यदि हम बोलते हैं तो वह मौन कर जाता है। जिस आत्मसन्तोष को संसारी लोग बोलकर उपार्जन करना चाहते हैं वह तो उसे मौनसाधन से प्राप्त हुआ करता है। अज्ञानी अवस्था में शब्दव्यवहार करना बोलना कहलाता है, ज्ञानावस्था के प्राप्त होने पर तो मौन रहना ही बोलना कहलाता है। अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो हम संसारी लोग भी अपनी संसारवासनाओं को बाहर निकाल फैंकने के लिये ही तो बोलते हैं। उसके परिणामस्वरूप कुछ क्षण के लिये वासनाओं से रहित हो जाने पर हमें भी मौनावस्था प्राप्त हो जाती है। आनन्द तो हमें भी तभी प्राप्त होता है। परन्तु हम अभागे लोगों को इस उत्तम 'मौन' की अवस्था का भान नहीं होता।

वह सप्तमीभूमिकावाला मुनि तो बिना किसी साधन के ही उस भूमानन्द का भोग केवल मौन होकर ले लेता है। संसारी लोग भी सुख किंवा दुःख का अनुभव करते समय मौन किंवा निःशब्द हो गये होते हैं। उसके बाद अपने अनुभव को दूसरों पर प्रकट करने के लिये शब्द अथवा संकेतादि का सहारा लेते हैं, यही 'बोलना' कहलाता है। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि में तो दूसरा कुछ रहता ही नहीं। वह तो सबको आत्मस्वरूप जानता है। तब भला वह अपने आत्मानुभव को किन शब्दों से प्रकट करे और किस पर प्रकट करे! इसलिये ब्रह्मानुभव लेते हुए उसे तो मौन ही रहना होगा। मौन रहना ही समता का चिह्न है और ब्रह्म भी सर्वत्र मौन होकर समरूप से विराज रहा है। निष्कर्ष यही है कि समब्रह्मरूप को विषम वाणी के द्वारा प्रकट ही किस प्रकार किया जा सकता है! इसलिये कहा है कि 'न किंचिच्चिन्तनादेव तस्य सिद्धिरवाप्यते' अर्थात् कुछ न सोचने से ही उसके दर्शन होते हैं। उस समय मन, वाणी आदि सब वक्ता के स्वरूप हो जाते हैं। इसी मौन में से जब जब इच्छा उत्पन्न होती है, तब तब सब वाणियों और मनों का उदय हुआ करता है। इसलिये ये संसारी वाणियाँ तो अपारमार्थिक हैं, असली वाणी तो यह मौन ही है।

शरीरमात्र पर अभिमान रखनेवाले हम लोग अपने से भिन्न पदार्थों की प्राप्ति के लिये आना जाना आदि नाना प्रकार की क्रियायें किया करते हैं। भेदाध्यास के रहते हुए अपनी अपूर्णता को बाह्य विषयों की सहायता से पूर्ण करने के ये सब प्रयत्न आवश्यक ही होते हैं। सप्तमीभूमिका तक पहुँचा हुआ वह मुनि अपने इस शरीर-

परिच्छेद को छोड़कर व्यापक ब्रह्म ही स्वयं हो जाता है (अर्थात् वह अपनी व्यापक स्थिति को साक्षात् कर लेता है) बस यही उसकी गति है। फिर चाहे इसे स्थिति कहा जाय किंवा गति ही कह दिया जाय। हम लोगों की गति गमनादिरूप है, उसकी गति तो सर्वत्र स्थिति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसीलिये श्रुति कहती है "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" अर्थात् उसके हाथ नहीं परन्तु सकल संसार को ग्रहण किये हुए है, पैर नहीं परन्तु अत्यन्त वेगशाली पदार्थों से भी परे रहने से अत्यन्त तेज दौड़नेवाला माना जाता है।

हम लोग तो जागरण अवस्था में अनेक प्रकार के व्यवहार करते हैं परन्तु सोते समय हमें किसी का भी भान नहीं रहता। उस मुनि को जागरण काल में भी हमारी नींद की तरह इस भेद का भान शेष नहीं रहता। यों वह मुनि जागता हुआ भी सोता रहता है।

जिसे हम लोग उसकी निद्रा कहते हैं वह भी ज्ञानमय होती है क्योंकि उसे 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' अर्थात् निद्रा में ब्रह्मभाव हो जाता है ऐसा निश्चय रहता है। अथवावह जब आँख बन्द करके लोगों को सोता सा दीख पड़ता है वह तो उस समय भी गहरा आत्मानुसन्धान ही करता रहता है। इस प्रकार वह सोता हुआ भी जागता है।

संसारी लोग रात्रि में प्रकाश न रहने के कारण अपने कामकाज बन्द कर देते हैं यह मुनि तो नित्य प्रकाशस्वरूपता को प्राप्त हो जाता है। जो आत्मज्योति उस रात्रि के अन्धकार को भी प्रकाशित करती रहती है उसके प्रताप से उसे रात्रि में भी दिन-सा ही निकला रहता हैअर्थात् उस स्वयंज्योति मुनि का आत्मनिरीक्षण रात को भी चलता ही रहता है। यों उसकी रात्रि दिनमय होती है।

यह जो हम संसारी लोग व्यवहार कर रहे हैं यह सब कालान्तर में अपने कारण में लय हो जानेवाला है। इसीलिये इसको 'मिथ्या' कहते हैं, इसको सत्य नहीं कहा जाता क्योंकि सत्य तो त्रिकालाबाधित वस्तु को ही कह सकते हैं, इस व्यवहार की प्रतीति भी इसीलिये मिथ्या है। उस समय का सूर्य प्रकाश आदि भी मिथ्या है। इस प्रकार जिसको हम प्रकाशमान समझते हैं वह दिन भी उस मुनि की दृष्टि में अन्धकारमय होता है।

जिस निष्क्रिय ब्रह्मरूप को उसने प्राप्त किया है उसमें कर्तादि भाव कुछ भी नहीं है। इस मुनि के भी उनके प्रति पारमार्थिक विचार नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ अन्य सब पदार्थ ब्रह्ममय हो जाते हैं वहाँ उसके कर्म का तो कहना ही क्या? अर्थात् उसके कर्म भी ब्रह्मरूप ही होते हैं।

अत्यन्तहीनो बलपौरुषाभ्याम्
अकिंचनो यो गलितााभिमानः।
तेनैव नीता रिपवो विनाशम्
न ये हतास्तात महेन्द्रमुख्यैः।।८।।(४८६)

इदानीं सप्तम्यारूढस्य प्रतापनिरूपणेन तल्लक्षणमाह **अत्यन्तेति**। लोके तावद् बलवान् धनी साभिमानी शत्रून् नाशयति अत्र त्विदमाश्चर्यं, **यः** पुरुषो, **बलपौरुषाभ्यां** बलं शरीरदार्ढ्यं, पौरुषम् उद्योगः, ताभ्याम्, **अत्यन्तहीनो** अत्यन्तरहितः, पुनश्च **अकिञ्चनो** निष्किञ्चनः, पुनश्च **गलिताभिमानो** गलितो नष्टः, अभिमानो यस्य स तथोक्तः यः अस्ति, **तेनैव** नान्येन पुरुषेण, **रिपवः** शत्रवः, **विनाशं** लयं, **नीताः** प्रापिताः। इदम् आश्चर्यं सप्तम्यारूढे अस्ति इति भावः। ननु बलादिहीनेन ये नाशिताः शत्रवः ते निर्बला एव भवेयुः इत्याशंक्याह **नेति**। हे **तात** हे शिष्य **ये** शत्रवः कामादयः **महेन्द्रमुख्यैः** महेन्द्रो मघवा मुख्यो आदिः येषु ते तथोक्ताः तैः, **न हता** न मारिताः, प्रत्युत तैः कामादिशत्रुभिः एव इन्द्रादयो जित्वा स्ववशे स्थापिताः तादृशाः प्रबला अपि शत्रवः सप्तम्यारूढेन पौरुषादिहीनेनापि नाशिता इति भावः।।८।।(४८६)

जबकि उसकी दृष्टि में जगत् ही मिथ्या है तब जगत् का दुःख भी मिथ्या ही हो जाता है। सत्य तो केवल ब्रह्म ही है। उस ब्रह्म के सुखमय होने से जिसे हम बड़ा दुःख समझते हैं उसे वह सुखरूप ब्रह्म ही समझता है। जबकि वह दुःख को सुखमय समझता है, तब सुखों को ब्रह्मरूप समझने की तो बात ही क्या है? इस प्रकार हम लोगों की दृष्टि में यह जो सुख-दुःखमय जगत् प्रतीत हो रहा है उस समदृष्टि मुनि के विचार में वह सब सुख(ब्रह्म)मय ही हो जाता है।

हम लोगों को कर्तृकरणादि रूप में, सुखदुःखादि रूप में किंवा स्थिति-गति रूप में यह जो विषमता प्रतीत हो रही है, यह सब कुछ उस सर्वत्र समरूप ब्रह्म को देखनेवाले, सर्वदा मूल कारण पर ही दृष्टि रखनेवाले सप्तम्यारूढ मुनि की दृष्टि में कुछ भी नहीं होता। जैसे जौहरी सोना खरीदता हुआ सोने के कटक कुण्डल आदि किसी भी भेद को नहीं देखता, वह तो केवल सुवर्णमात्र पर दृष्टि रखता है, उसी का मोल तोल करता है, इसी प्रकार उसकी दृष्टि भी सर्वदा ब्रह्म ही में रहती है, जो कि सबका मूल कारण है। वह मुनि तो इस संसाररूपी वणिग्वीथि (बाजार) का एक उत्तम जौहरी है।।७।।

जिन कामादि शत्रुओं को इन्द्रादि भी नाश नहीं कर सके उन दुर्दान्त कामादि शत्रुओं को, शरीर से अत्यन्त निर्बल, तथा पुरुषार्थहीन, अकिंचन, तथा अभिमान-रहित इस मुनि ने परास्त कर डाला है, यह एक आश्चर्य तो देखो।।८।।

ब्रह्मविद् ब्रह्मविद्यायां भवान्यां पुत्रतां गतः।
निजांगे लालयत्येनं परमात्मा सदाशिवः।।६।।(४८७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे भूमिकाभेदभास्करे ज्ञानसप्तमभूमिकानिर्णयाख्यं अष्टमं प्रकरणम्।।

अथ भूमिकाशास्त्रार्थनिर्णयः

भूमिकात्रितयं जाग्रत् चतुर्थी स्वप्न उच्यते।
तावती साधकावस्था तारतम्येन योगिनाम्।।१।।(४८८)

रूपकेण सप्तम्यारूढस्थितिं बुद्ध्यारोहाय आह **ब्रह्मविदिति। ब्रह्मविद्** ब्रह्म देशतः कालतः वस्तुतश्च अपरिच्छिन्नं वस्तु, वेत्ति जानाति, स तथाभूतः पुरुषः, **ब्रह्मविद्यायां** ब्रह्मणो देशादिपरिच्छेदरहितस्य वस्तुनो, विद्या ज्ञानम्, एतन्नाम्न्याम् इत्यर्थः, **भवान्यां** पार्वत्त्यां, **पुत्रतां** पुत्रभावं, **गतः** प्राप्तो, यदा तदा इत्यध्याहार्यम् **परमात्मा** कार्यकारणातीत आत्मा, **सदाशिवः** सर्वदैव सुखरूपत्वात् शंकर, **एनं** ब्रह्मविदं, सप्तम्यारूढमित्यर्थः, **निजांगे** निजं स्वीयम् अंशत्वाद्, अंगं शबलं ब्रह्म, तस्मिन्, अभेदेन **लालयति** प्रीत्या खेलयति।।६।।(४८७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भूमिकाभेदभास्करार्थप्रकाशे सप्तमभूमिकानिर्णयार्थप्रकाशः अष्टमः।।

एवं सप्तविधां सलक्षणां ज्ञानभूमिं प्रतिपाद्य इदानीं तासां निर्णयाय भूमिकाशास्त्रार्थनिर्णयाख्यं सप्तदशश्लोकं प्रकरणं वक्तुं प्राह **अथेति। अथ** सप्तभूमिकानिरूपणानन्तरं, **भूमिकाशास्त्रार्थनिर्णयः** भूमिकानां पूर्वोक्तसप्तभूमीनां, शास्त्रार्थः शासकवाक्यार्थः, तस्य निर्णयो निश्चयः, निरूप्यते इति शेषः, तमेवाह **भूमिकेति**। पूर्वं जिज्ञासा-विचारा-तनुमानसाख्यं

ज्योंही यह सप्तमीभूमिकावाला ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्या नाम की भवानी का पुत्र हो जाता है (जिस प्रकार नन्हा बालक एक क्षण भी मातृदर्शन के बिना नहीं रह सकता, इसी प्रकार ज्योंही यह अपने शरीर आदि के योगक्षेम की तरफ से भी उदासीन होकर सर्वदा आत्मनिरीक्षण करने लगता है) त्यों ही परमात्मा सदाशिव इस ब्रह्मज्ञानी का पालन अपने अंग (विराट् हिरण्यगर्भ किंवा अन्तर्यामी) के द्वारा कराने लगते हैं। (कोई ग्वाला यदि किन्हीं गौओं को चराना छोड़ दे तो भी उन गौओं का स्वामी उन्हें नहीं छोड़ देता, वह उनका दूसरा कोई प्रबन्ध करता है। इसी प्रकार ये सब व्यष्टि शरीर उस विराट् की गौओं के तुल्य हैं। अहंभाव के कारण इन शरीरों की रक्षा का भारी बोझ हम शरीरधारियों ने व्यर्थ ही अपने ऊपर ले लिया है। जब कोई साधक इस शरीर में से अहंभाव हटा लेता है, और इसकी सेवाशुश्रूषा से मुँह मोड़ बैठता है, और यदि इस शरीर का प्रारब्ध भी शेष रहा होता है, तो वह सदाशिव परमात्मा इसके पालन-पोषण की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर ले लेता है, इसकी रक्षा का कोई दूसरा

पञ्चमीं तु समारभ्य सिद्धावस्थैव सा त्रिधा।
तिसृणामप्यवस्थानां दृष्टान्तोऽत्र निरूप्यते।।२।।(४८९)
सुषुप्तेः प्रथमावस्था तस्यां यत्सुखमाप्यते।
सुषुप्तेः या घनावस्था तस्यामपि तदेव हि।।३।।(४९०)

भूमिकात्रितयं भूमिकानाम् अवस्थानां, त्रितयं, **जाग्रत्** जागराख्यावस्था, **उच्यते** कथ्यते, तथा **चतुर्थी** सत्त्वापत्त्याख्या भूमिः, **स्वप्नः** स्वप्नावस्था, **उच्यते** कथ्यते, **तावती** चतुर्थभूमिपर्यन्ता, **योगिनां** जिज्ञासूनां, **तारतम्येन** न्यूनाधिकत्वेन, **साधकावस्था** साधकत्वरूपा अवस्था स्थितिरिति ज्ञेया।।१।।(४८८)

तत उत्तरावस्थासु सिद्धावस्थात्वं तारतम्येन दर्शयति **पञ्चमीमिति। पञ्चमीम्** असंसक्तिनाम्नीं भूमिकां, **समारभ्य** सम्यग् अंगीकृत्य, उत्तरा **सिद्धावस्थैव** सिद्धस्थितिरेव ज्ञेया आत्मापरोक्ष्यात् **सा** सिद्धावस्था, **त्रिधा** त्रिप्रकारा, ज्ञेया, तद्भेदस्वरूपं दर्शयितुं दृष्टान्तनिरूपणं प्रतिजानीते **तिसृणामिति। तिसृणां** त्रिसंख्यानामपि, **अवस्थानां** भूमिकानाम्, **अत्र** अस्मिन् प्रकरणे, **दृष्टान्तो** युक्त्यपरपर्याय, उदाहरणमित्यर्थः, **निरूप्यते** कथ्यते।।२।।(४८९)

प्रतिज्ञातमेव दृष्टान्तमाह द्वाभ्याम् **सुषुप्तेरिति। सुषुप्तेः** लोकप्रसिद्धनिद्राया, या **प्रथमा** शिथिला **अवस्था** स्थितिः, **तस्याम्** अवस्थायां, **यत्सुखं** यत्प्रकारकं सुखम्, **आप्यते** लभ्यते, **तदेव** तत्सुखमेव, **सुषुप्तेः** निद्राया, **या घनावस्था** निविडा स्थितिरस्ति, **तस्यामपि** अवस्थायाम्, **आप्यते** प्राप्यते, **हि** प्रसिद्धम् इदं लोके इत्यर्थः।।३।।(४९०)

प्रबन्ध कर देता है, अब तक वह हमारे मन के द्वारा इस शरीर का प्रबन्ध कर रहा था। अब उस तत्त्व की ओर से किन्हीं लोगों के मन में उन्हें भोजनाच्छादनादि देने और उनकी सेवा कर देने की अन्तःप्रेरणा हो जाती है, यों उनकी शरीरयात्रा ईश्वर के द्वारा चलती जाती है)।।९।।

जिज्ञासा, विचारा तथा तनुमानसा नाम की पहली तीन अवस्थायें जाग्रत् कहलाती हैं। सत्त्वापत्ति नाम की चतुर्थी भूमिका को 'स्वप्न' कहा गया है। साधक योगियों की ये चारों अवस्थायें मिलकर न्यूनाधिकरूप से साधकावस्था ही कहलाती है।।१।।

पंचमी भूमिका से लेकर (सब भूमिकाओं में ही आत्मसाक्षात्कार रहता है इसलिये इन) अगली तीनों को ही सिद्धावस्था कहा जायगावह सिद्धावस्था तीन प्रकार की होती है। अब उन तीनों भूमिकाओं के उदाहरण कहे जाते हैं।।२।।

लौकिक सुषुप्ति की प्रथम शिथिलावस्था में जो सुख होता है, घनसुषुप्ति (कुछ गहरी सुषुप्ति) में भी उतना ही सुख प्रतीत होता है।।३।।

सुखं घनसुषुप्तौ तत्सुखं गाढसुषुप्तके।
तुर्यायामपि सप्तम्यामानन्दानुभवः समः।।४।।(४६१)
तथा य एव पञ्चम्यां षष्ठ्यामपि स एव हि।
तुर्यायामपि सप्तम्यां ब्रह्मानन्दः स एव हि।।५।।(४६२)
अभ्यासतारतम्येन तारतम्ये चिरस्थितौ।
अपरोक्षानुभूतेस्तु तारतम्यं मनाग् न हि।।६।।(४६३)

सुखमिति। यत् **सुखं** शर्म, **घनसुषुप्तौ** घना निविडा, सुषुप्तिः निद्रा, तस्याम् अस्ति, **तत्सुखम्** एव आनन्दः, **गाढसुषुप्तके** गाढं दृढं, यत्सुषुप्तकं निद्रा, तस्मिन् अस्ति, अतः त्रिविधसुप्तौ शिथिलघनगाढत्वभेदेन त्रिप्रकारायामपि निद्रायाम्, **आनन्दानुभव** आनन्दस्य सुखस्य, अनुभवः प्रतीतिः, **सम** एव, स्याद् भवेद्, यथा यद्वत्।।४।।(४६१)

दार्ष्टान्तिके योजयति **तथेति। तथा** तद्वद्, **य एव** विद्वत्प्रत्यक्षो ब्रह्मानन्दो भूमशब्दवाच्यं सुखं, **पञ्चम्याम्** असंसक्तिनाम्न्यां पञ्चमभूमिकायाम् अस्ति, **स एव हि** असौ एव ब्रह्मानन्दः, **षष्ठ्यामपि** पदार्थाभाविनीनाम्न्याम् अपि अवस्थायाम् अस्ति, हि प्रसिद्धं, तथा यो ब्रह्मानन्दः षष्ठ्याम् अस्ति **स एव हि** असौ एव प्रसिद्धो ब्रह्मानन्दः, **तुर्यायां** तुर्याख्यायां सप्तमभूमिकायाम् अपि अस्ति, अतः तिसृषु अपि अवस्थासु ब्रह्मानन्दस्तु एक एव इति भावः।।५।।(४६२)

ननु आनन्दस्य एकत्वे कुतो भूमिभेदः? तत्राह **अभ्यासेति। अभ्यासतारतम्येन** अभ्यासः विवेकावृत्तिरूपः, तस्य तारतम्यं न्यूनाधिकभावः, तेन, **चिरस्थितौ** चिरं बहुकालं, या स्थितिः अवस्थानम् आनन्दाकारता तस्यां, तारतम्ये सतीत्यर्थः, **अपरोक्षानुभूतेः** अपरोक्षा प्रत्यक्षा, या अनुभूतिः अनुभवः, तस्या, **मनाग्** ईषदपि, **तारतम्यं** न्यूनाधिक्यं, **न हि** नैव विद्यते।।६।।(४६३)

उस घनी निद्रा में जो सुख होता है, घोर निद्रा में भी वैसा ही सुख होता है। इस प्रकार (शिथिल, घन तथा गाढ) इन तीनों प्रकार की निद्रा में आनन्दानुभव एक ही प्रकार का माना गया है।।४।।

जो ब्रह्मानन्द पंचम भूमिका में होता है, पदार्थाभावनी नाम की षष्ठी भूमिका में भी वही आनन्द होता है तथा जो ब्रह्मानन्द षष्ठी में होता है, तुर्या नाम की सप्तमी भूमिका में भी वही आनन्द पाया जाता है।।५।।

अभ्यास (विवेक की आवृत्ति) की न्यूनाधिकता के कारण केवल ऐसा तो होता है कि कोई सिद्ध अधिक काल तक आनन्दाकार रहता है तथा कोई न्यून काल तक। परन्तु प्रत्यक्षानुभव में तो किसी प्रकार की भी न्यूनाधिकता नहीं होती।।६।।

नास्वादिता सिता यावत् तावन्नास्वादितैव सा।
एकदास्वादिता चेत्सा नैव नास्वादिता भवेत्।।७।।(४६४)
जाता चेत्सा तु जातैव जातु नाजाततां भजेत्।
कथं भूयो भ्रमत्येष भ्रान्तिरेव गता यदि।।८।।(४६५)

अथ कश्चिद् विशेषः

तुरीया प्रथमाभासे विद्युदाभासलक्षणा।
ततश्चञ्चलदीपाभा ततो निश्चलदीपवत्।।९।।(४६६)

अपरोक्षानुभूतेः न्यूनाधिक्याभावे दृष्टान्तमाह **नेति। सिता** श्वेतखण्डं, **यावत्** यत्कालपर्यन्तं, **नास्वादिता** न भक्षिता भवति तावत् तत्कालपर्यन्तं सा सिता श्वेतखण्डं नास्वादिता नैव भक्षिता, **भवेत्** स्यात्। **सा** सिता, **एकदास्वादिता** एकस्मिन् समये एकवारमपि, आस्वादिता खादिता, **स्यात् चेद्** भवेद् यदि, यर्हि **नास्वादिता** न भक्षिता, **नैव भवेत्** न स्यात्, एकदैव भक्षितायां तस्यां बहुवारं वा भक्षितायां च स्वादस्यैकरूपत्वं यथा यद्वत्।।७।।(४६४)

दार्ष्टान्तिकमाह **जातेति।** तथा **सा तु** अपरोक्षानुभूतिश्च, **जाता चेद्** उत्पन्ना यदि स्यात् तर्हि **जातु** कदाचिदपि, **अजातताम्** अनुत्पन्नतां, **न भजेत्** न व्रजेत्। कुतः इत्यत आह **कथमिति। एष** पञ्चम्यारूढो जातसाक्षात्कारो जीवो, **यदि** यर्हि, **भ्रान्तिरेव** केवलं भ्रमोऽपि, **गता** निवृत्ता, तर्हि **भूयः** पुनः, **कथं** केन प्रकारेण, **भ्रमति** विक्षप्यते, न कथमपि इत्यर्थः।।८।।(४६५)

एवम् अपरोक्षानुभवस्य एकरूपतां तस्मिंश्च सति पुनः भ्रान्त्यभावं च प्रदर्श्य इदानीं तत्र उपाधिकृतविशेषं दर्शयितुमाह **अथेति। अथ** इदानीम् अपरोक्षानुभूतौ, **कश्चित्** कोऽपि, **विशेषो** भेदो अस्ति, स उच्यत इति शेषः। तमेव विशेषं दर्शयति सार्धाभ्याम् **तुरीयेति। तुरीया** जाग्रदाद्यवस्थात्रयाऽपेक्षया अपरोक्षानुभूतिः पञ्चम्यादिभूमिकात्रयरूपा तुरीया चतुर्थी ज्ञेया, सा **प्रथमाभासे** प्रथमः पञ्चमभूमिकायाम्, आभासः अनुभवः, तस्मिन्, **विद्युदाभासलक्षणा** विद्युतः तडित, आभासः प्रकाशः, स एव लक्षणं चिह्नं, यस्या सा तादृशी

मिसरी को जब तक खाया नहीं तब तक ही वह अनास्वादित रहती है, परन्तु यदि कोई एक बार भी उसे खा लेता है तब वह अनास्वादित कभी नहीं रह सकती। (एक बार खाने किंवा बार-बार खाने में स्वाद तो एकसा ही रहता है)।।७।।

इसी प्रकार यदि एक बार प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाय तब वह कभी भी अनुत्पन्न (नष्ट) नहीं हो सकता। जब कि पंचम भूमिका में आते ही भ्रम निवृत्त होकर साक्षात्कार हो जाता है तब वह ज्ञानी फिर भ्रान्ति में किस प्रकार पड़ सकता है।।८।।

जब प्रथम ही प्रथम तुरीया का साक्षात्कार होता है तब वह विद्युत् की चमक की तरह कुछ ही क्षण ठहरता है। अभ्यास करते-करते छठी भूमिका के आने पर वायु से

सूर्यप्रभावच्च ततः सप्तमी चिरवर्त्तिनी।
उदयास्तविहीना सा दिनपक्षर्त्तुवत्सरम्।।१०।।(४६७)
पुष्कला निश्चला पूर्णा परमानन्दसुन्दरी।।११।।(४६८)
येषां ध्यानकलायां च लीयन्ते गुणपंक्तयः।
येषां कृपाकटाक्षेण सद्यो मुक्तिरवाप्यते।।१२।।(४६९)

ज्ञेया। **ततः** अनन्तरं, षष्ठभूमिकाया आरम्भे, **चञ्चलदीपाभा** चञ्चलो वायुचालितः, यो दीपः तस्य आभा इव आभा कान्तिः यस्याः सा तादृशी भवति। **ततः** तदनन्तरं, षष्ठ्यामेव परिणामेन **निश्चलदीपवत्** सा अपरोक्षानुभूतिः निश्चलः स्थिरो यो दीपः तद्वत् तस्य प्रभा इत्यर्थः, सा भवति।।६।।(४६६)

सूर्येति। ततः अनन्तरं, सप्तम्यां सा अपरोक्षानुभूतिः **सूर्यप्रभावत्** सूर्यस्य आदित्यस्य, प्रभा प्रकाशः, तद्वत् तत्तुल्या भवति, **च** पुनः, **सप्तमी** तुर्याख्याऽपरोक्षानुभूतिः, **चिरवर्तिनी** चिरं वर्तितुं शीलम् अस्याः सा तथोक्ता भवति, बहुकालस्थिरा इत्यर्थः, **सा** च सप्तम्यऽपरोक्षानुभूतिः परिणता सती, **दिनपक्षर्त्तुवत्सरं** दिनं दिवसः, पक्षश्च शुक्लकृष्णभेदेन पञ्चदशदिनसमूहात्मकः, ऋतुश्च मासद्वयात्मको वसन्तादिः, वत्सरश्च द्वादशमासात्मकः प्रभवादिः काल, एतेषां समाहारद्वन्द्वैकवद्भावः, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया तेषु इत्यर्थः।।१०।।(४६७)

निश्चला स्थिरा इत्यर्थः, अत एव **पुष्कला** परिपुष्टा, **पूर्णा** सर्वत्र परिपूर्णा, तथा **परमानन्दसुन्दरी** परमानन्दो निरतिशयसुखं तेन सुन्दरी, सर्वेषां कमनीया।।११।।(४६८)

एवम् अपरोक्षानुभवे तारतम्यं प्रदर्श्य इदानीम् अपरोक्षानुभववतां सामर्थ्यं निरूपयति **येषामिति। येषाम्** अपरोक्षानुभविनां जिज्ञासुभिः अन्यैः कृतं यद् ध्यानं कलांशः तस्यां, **गुणपंक्तयो** गुणानां सत्त्वरजस्तमसां, तत्कार्याणां कामादीनां च, पंक्तयः समूहा, **लीयन्ते** लीना भवन्ति, तथा **येषाम्** अपरोक्षानुभववतां **कृपाकटाक्षेण** कृपया दयया, यः कटाक्षः नेत्रैकदेशेन अवलोकनं तेन, जिज्ञासूनां **सद्यः** तत्कालमेव, **मुक्तिः** मोक्षः, **अवाप्यते** प्राप्यते, इदमपि उत्तरभूमित्रयारूढलक्षणं ज्ञेयम्।।१२।।

हिलते हुए दीपक की तरह उस (साक्षात्कार) की अवस्था होती है। षष्ठी अवस्था में उसकी स्थिति निवास स्थान पर रखे हुए शान्त दीपक-सी हो जाती है।।६।।(४६६)

उसके अनन्तर सप्तमी अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। तब वह प्रत्यक्षानुभव सूर्य के प्रकाश के समान बहुत काल तक स्थिर रहने लगता है। दिन पर दिन, पक्ष पर पक्ष, ऋतु पर ऋतु, तथा वर्ष पर वर्ष बीतने लगते हैं, परन्तु फिर इस अवस्था का कभी उदय किंवा अस्त नहीं होता। फिर तो उस ज्ञानी की यही अवस्था स्थिर हो जाती है, पुष्कल हो जाती है, तथा पूर्ण हो जाती है। उसकी यह अवस्था निरतिशय सर्वातिशायी तथा सुखरूप होने से नितान्त ही कमनीय हो जाती है।।१०-११।।

पञ्चमीमथवा षष्ठीं सप्तमीं वा समाश्रिताः।
न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि।।१३।।(५००)
पूर्वावस्थाचतुष्के ये स्थिता देहं विहाय ते।
पुनः देहान्तरं प्राप्य ब्रह्माभ्यासं प्रकुर्वते।।१४।।(५०१)

पञ्चम्यादिभूमित्रयारूढस्य पुनः जन्माभावमाह **पञ्चमीमिति।** ये पुरुषाः **पञ्चमीम्** असंसक्तिनाम्नीं भूमिकाम्, **अथवा** यद्वा, **षष्ठीं** पदार्थाभाविनीनाम्नीं, **सप्तमीं वा** तुर्याख्यां सप्तमभूमिकां वा, **समाश्रिता** आश्रित्य स्थिताः सन्ति, **तेषां** पुरुषाणां, **कल्पकोटिशतैरपि** कल्पानां ब्रह्मदिनानां ब्रह्मायुष्यरूपाणां महाकल्पानां वा शतानि अनन्तानि तैः व्यतीतैरपि, **पुनरावृत्तिः** पुनः पश्चाद्, मुक्तेरनन्तरम्, आवृत्तिः जन्ममरणरूपा संसृतिः, **न** न भवति।।१३।।(५००)

एवम् उत्तरावस्थात्रये स्थितानां सिद्धावस्थात्वं मुक्तत्वं च प्रतिपाद्य इदानीं पूर्वावस्थाचतुष्कस्थितानामपि मरणादिना केनचित् प्रतिबन्धेन तत्त्वज्ञानानुत्पत्तौ मुक्त्यभावेऽपि जन्मान्तरे पूर्ववदभ्यासेन मुक्तिप्राप्तिमाह सार्धेन **पूर्वेति। ये** मुमुक्षवः, **पूर्वावस्थाचतुष्के** पूर्वाः प्रथमा, या अवस्था भूमयो जिज्ञासाविचारातनुमानसासत्त्वापत्त्याख्याः तासां चतुष्कं चतुष्टयं तस्मिन्, केनचित् प्रतिबन्धेन तत्त्वसाक्षात्कारालाभेन **स्थिता** वर्त्तमाना भवन्ति, **ते** पुरुषा **देहं** शरीरं, **विहाय** त्यक्त्वा, **पुनः** भूयः, **जन्मान्तरम्** अन्यत् जन्म, **प्राप्य** लब्ध्वा, **ब्रह्माभ्यासं ब्रह्मगामिनो** ब्रह्मप्राप्ता

'तच्चिन्तनं तत्कथनम् अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः।।'

इत्युक्तलक्षणं ब्रह्मप्राप्तिसाधनभूतं यत्नं, **प्रकुर्वते** प्रकर्षेण अनुशीलयन्ति।।१४।।(५०१)

ननु पूर्वभूमिकाचतुष्कस्थितानाम् अन्यजन्मनि मोक्षो भवति इति स्वकपोलकल्पितमित्याशंक्य आह **योगभ्रष्टा इति। ते** पूर्वभूमिकाचतुष्कस्थिता, **योगभ्रष्टा** योगभ्रष्टनामका, **उच्यन्ते** कथ्यन्ते, गीतादौ इति शेषः। तथा च गीता

'प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।।' इति

ते च श्रुतिषु **क्रमेण** उत्तरोत्तरलोकप्राप्तिक्रमेण ब्रह्मगामिनो ब्रह्मप्राप्ता भविष्यन्ति इत्युक्ताः। तथा च श्रुतिः

जिन प्रत्यक्षानुभव करनेवाले मुनियों का थोड़ा-सा भी ध्यान करने से अन्य जिज्ञासुओं के सत्त्वादिगुण (तथा कामादि विकार) नष्ट हो जाते हैं, अथवा जो ध्यान की पलक मारते ही गुणों से उत्पन्न सब संसार को लीन कर लेते हैं, जिनकी दयादृष्टि होते ही जिज्ञासु लोग तत्क्षण मुक्त हो जाते हैं, वे पाँचवीं, छठी, अथवा सातवीं भूमिकावाले मुनि लोग कभी भी फिर इस जन्ममरणरूपी संसार में नहीं आते।।१२-१३।।

योगभ्रष्टास्त उच्यन्ते क्रमेण ब्रह्मगामिनः।
योगिनो योगसिद्धाश्च दत्ताद्या जनकादयः।।१५।।(५०२)
ईश्वरानुग्रहं प्राप्ता अर्वाचीनाश्च केचन।
स्वरूपानुभवं प्राप्ता मुक्तास्ते सर्व एव हि।।१६।।(५०३)

'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' इति।।

एवं पूर्वभूमिकाचतुष्टयस्थितानां जन्मान्तरे मुक्तिं सम्भाव्य इदानीं सिद्धानपि कांश्चिद् उत्तरभूमित्रयारूढानुदाहृत्य दर्शयति **योगिन इति।** ब्रह्मादयस्तु स्वत एव **योगिनो** योगशब्दवाच्य-जीवब्रह्मैक्यज्ञानवन्तः, स्वत एव इत्यर्थः। तथा **दत्ताद्या** दत्तनामा अत्रिपुत्र आद्यः मुख्यो येषां ते तथोक्ताः, तथा **जनकादयः** जनको मैथिलः स आदिः मुख्यो येषां ते तथोक्ताः, ते सर्वे **योगसिद्धा** योगेन हठादिना वा तत्फलभूतजीवब्रह्मैक्यज्ञानेन वा सिद्धा मुक्ता, जाता इत्यर्थः।।१५।।(५०२)

तथा **ईश्वरेति। केचन** कतिचित् पुरुषा, **अर्वाचीनाः च** इदानीन्तना अपि, **ईश्वरानुग्रहम्** ईश्वरस्य ईशनादिशक्तियुक्तस्य, अनुग्रहम् अनुग्रहः कृपा तदुपलक्षितं सद्गुरुप्राप्ति-सच्छास्त्रसेवनरूपं, **प्राप्ता** लब्धाः, तत्प्राप्त्या मोक्षं प्राप्ता इति भावः, तदुक्तम्

'यावन्नानुग्रहः साक्षाद् जायते परमेश्वरात्।
तावन्न सद्गुरुः कश्चित् सच्छास्त्रमपि नो लभेद्' इति।।

सर्व एव ते उक्ताः समस्ता अपि, पञ्चम्यादिभूमित्रयारूढा इत्यर्थः, **मुक्ता** मोक्षं प्राप्ता भवन्ति, **हि** विद्वत्सु एतत् प्रसिद्धम् इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह **स्वरूपेति। स्वरूपानुभवं** स्वस्य आत्मनः, रूपं सच्चिदानन्दघनत्वं, तस्यानुभवः साक्षात्कारः, तं, **प्राप्ता** लब्धा, अतो मुक्ता इत्यर्थः।।१६।।(५०३)

प्रथम चार भूमिकाओं में से ही जो अधिकारी शरीर छोड़ कर चले जाते हैं, वे दूसरा देह धारण करने के अनन्तर फिर भी ब्रह्माभ्यास ही करने लगते हैं।।१४।।

इन ही प्रथम चार भूमिकावालों को (गीता आदि में) योगभ्रष्ट कहा है। वे क्रम से (ब्रह्मलोकपर्यन्त उत्तरोत्तर लोकों को प्राप्त होते होते अन्त में) ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। ब्रह्मा आदि योगी तथा दत्तात्रेय, जनक आदि योगसिद्ध लोग प्रथम चार भूमिकाओं का अभ्यास करते करते दूसरे जन्मों में स्वतः ही इन अन्तिम तीन भूमिकाओं को प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं।।१५।।

आज-कल भी बहुत-से अधिकारी लोग ईश्वर के अनुग्रह से इन भूमिकाओं को प्राप्त होकर मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं क्योंकि उन्होंने सच्चिदानन्दघनस्वरूप का साक्षात् कर लिया है।।१६।।

सुषुप्तौ केचिदाश्वस्ताः केचिद्घनसुषुप्तके।
केचिद् गाढसुषुप्तौ च सर्वेषाममृतं समम्।।१७।।(५०४)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे भूमिकाभेदभास्करे भूमिकाशास्त्रार्थनिर्णयाख्यं नवमं प्रकरणम्।।

अथ अवस्थाव्यवस्था।

अथावस्थाव्यवस्थाख्यं किञ्चित् प्रकरणं शृणु।
यस्मिन् परीक्षिते सम्यक् परीक्ष्यं नावशिष्यते।।१।।(५०५)

एवं सिद्धान् प्रदर्श्य इदानीं तेषां भूमिकासत्त्वेऽपि मुक्तेः एकरूपत्वं दर्शयति **सुषुप्ताविति। केचित्** सनत्कुमारनारदप्रभृतयः, व्यवहारीव कदाचित् प्रवृत्तत्वात् **सुषुप्तौ** शिथिलसुषुप्त्याख्यायां पञ्चम्याम् इत्यर्थः, **आश्वस्ता** विश्वस्ताः, इयमेव परा काष्ठा इति निश्चित्य तत्रैव स्थिता इति भावः। **केचिद् घनसुषुप्तके** केचिद् व्यासबृहस्पतिप्रमुखाः परेच्छया वासनोद्बोधेन व्यवहारे प्रवर्तमाना दृश्यन्ते अतः ते घनसुषुप्तके निविडसुषुप्तौ, षष्ठ्याम् इत्यर्थः, **आश्वस्ताः** कृतार्थत्वं निश्चित्य स्थिता इत्यर्थः। तथा **केचिद्** ब्रह्मविष्णुप्रभृतयः परमार्थतो व्यवहाराप्रवृत्तेः **गाढसुषुप्तौ** गाढा दृढा, सुषुप्तिः निद्रा, परकृतबोधेन अपि व्युत्थानानर्हा सप्तमी भूमिः तस्याम्, **आश्वस्ता** विश्वस्य स्थिताः। अयं भावःपञ्चम्यारूढानां कदाचित् स्वत एव प्रपञ्चसत्त्वदृष्ट्या व्यवहारप्रवृत्तिः, षष्ठ्यारूढानां परकृतबोधनेन प्रपञ्चसत्त्वबुद्ध्या कदाचिद् व्यवहारप्रवृत्तिः, सप्तम्यारूढानां तु स्वतः परतोऽपि प्रपञ्चसत्त्वबुद्ध्या व्यवहाराप्रवृत्तिरिति भेदः, मिथ्यात्वबुद्ध्या तु सर्वेषां व्यवहारप्रवृत्तिः तुल्या एव इति, तथा सत्यपि **अमृतं** मोक्षसुखं, **सर्वेषां** भूमित्रयस्थितानां, **समम्** एकरूपमस्ति, अतः पञ्चम्यादिभूमित्रयं सिद्धावस्थैव इति भावः।।१७।।(५०४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ भूमिकाभेदभास्करार्थप्रकाशे सप्तमभूमिकानिर्णयार्थप्रकाशः नवमः।।

इनमें से बहुत से शिथिलसुषुप्ति में ही ठहर गये, बहुत से घनसुषुप्ति तक पहुँचकर रह गये, कुछ तो गाढसुषुप्ति तक जा पहुँचे, परन्तु मोक्षसुख तो तीनों को एकसा ही मिला (इससे तीनों सिद्धावस्था हुई)।

पंचम भूमिकावाले कभी-कभी स्वतः ही प्रपंच को सत् समझकर प्रवृत्त हो जाते हैं, षष्ठी भूमिकावाले दूसरे के उठाने पर प्रपंच को विद्यमान समझकर व्यवहार में प्रवृत्त हुआ करते हैं, सप्तमवाले तो स्वतः या परतः किसी प्रकार भी प्रपंच को विद्यमान नहीं समझते, इसलिये व्यवहार में प्रवृत्त ही नहीं होते।।१७।।

(हे शिष्य) इसके अनन्तर 'अवस्था-व्यवस्था' नामक एक प्रकरण सुनो जिस प्रकरण को विचार कर चित्त में बैठा लेने के पश्चात् अन्य कुछ भी परीक्षणीय पदार्थ शेष नहीं रहेगा।।१।।

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तिश्च तथा मूढसमाधिता।
मूर्च्छा मृत्युः तुरीयञ्चेत्यवस्थाः सप्त कीर्तिताः।।२।।(५०६)
जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तिश्च व्यक्ता मूढसमाधिता।
मूर्च्छा मृत्युः तुरीयं च व्यक्ता नित्यानुभूतितः।।३।।(५०७)

एवं ज्ञानाज्ञानभूमीश्चतुर्दश सलक्षणाः प्रदर्श्य इदानीं प्रदर्शितमेव पूर्वप्रकरणार्थं विशदीकर्तुं प्रकरणान्तरेण अवस्था व्यवस्थापयितुं च अवस्थाव्यवस्थाभिधं षट्त्रिंशच्छ्लोकं प्रकरणं प्रवक्तुमाह **अथेति। अथ** भूमिकाभेदभास्करनिरूपणानन्तरम्, **अवस्था-व्यवस्था** अवस्थानां वक्ष्यमाणानां जाग्रदादीनां व्यवस्था व्यवस्थितिः मर्यादा इत्यर्थः, तन्निरूपकत्वाद् अवस्थाव्यवस्थाख्यं प्रकरणमिति भावः, निरूप्यते इति शेषः। प्रतिज्ञातमेव प्रकरणं निरूपयितुं तच्छ्रवणे शिष्यं प्रेरयति **अथेति।** हे शिष्य त्वम् **अथ** अतः परं, **किञ्चित्** स्वल्पं, संक्षिप्तमित्यर्थः, **अवस्थाव्यवस्थाख्यम्** अवस्थानां वक्ष्यमाणलक्षणानां व्यवस्था मर्यादा अस्ति यस्यामिति अर्श आद्यच्, अत एतदाख्यम् एतन्नामकं, **प्रकरणं** मया वक्ष्यमाणं, **शृणु** अवधारय, ननु एतच्छ्रवणे किं फलं तत्राह **यस्मिन्** प्रकरणे, **सम्यग्** यथार्थं, **परीक्षिते** अवलोकिते सति, पुनः पुनः दृढं विचार्य धृते सति इत्यर्थः, **परीक्ष्यम्** अवलोकनीयम् अन्यत्, **नावशिष्यते** अवशिष्टं न विद्यते, सर्वत्र परीक्ष्यवस्तुनः एतत्-प्रतिपाद्यवस्तुमात्रत्वादिति भावः।।१।।(५०५)

प्रतिज्ञातप्रकरणनिरूपणायैव तत्प्रतिपाद्या अवस्था नामसंख्याभ्यां निर्दिशति **जाग्रदिति। जाग्रत्** जागरनाम्नी एकावस्था, **स्वप्नः** स्वप्ननाम्नी द्वितीया, तथा **सुषुप्तिः** सुप्तिनाम्नी तृतीया, **तथा** तद्वत्, **मूढसमाधिता** मूढसमाधिनाम्नी चतुर्थी, तथा **मूर्च्छा** मूर्च्छानाम्नी पञ्चमी, तथा **मृत्युः** मरणम् एतन्नाम्नी च षष्ठी, तथा **तुरीयं** च तुर्यनाम्नी सप्तमी, **इति** एवं प्रकारेण, **अवस्था** अन्तःकरणस्थितयः, **सप्त** सप्तसंख्याः, **कीर्तिता** कथिता, विद्वद्भिः इति शेषः।।२।।(५०६)

ता एव विशदयति **जाग्रदिति। जाग्रद्** इन्द्रियैः अर्थोपलब्धिः जागरितम् इत्युक्तलक्षणावस्था, **स्वप्नो** लीनेषु इन्द्रियेषु जागरसंस्कारजो विषयाभासः स स्वप्न इत्युक्तलक्षणा स्वप्नावस्था, **सुषुप्तिश्च** निद्रा विषयाभानरूपा, एताः तिस्रोऽवस्थाः सर्वत्रोक्तत्वात् सर्वानुभवसिद्धत्वाच्च व्यक्ताः सर्वेषाम् आबालगोपं प्रकटा एव भवन्ति, अतः तन्निरूपणं न क्रियते इत्यर्थः। **मूढसमाधिता** मूढसमाधिनाम्नी अवस्था, **मूर्छा** 'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः' इति सूत्रोपदर्शिता मूर्छावस्था, **मृत्युः** मरणावस्था, **तुरीयं च** तुर्याख्यावस्था च, एताः चतस्रोऽवस्था **नित्यानुभूतितः** नित्यानुभवरूपेण आत्मचैतन्येनैवं, **व्यक्ताः** प्रकाशिता भवन्ति इति ज्ञेयाः।।३।।(५०७)

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति मूढसमाधि, मूर्च्छा, मृत्यु तथा तुर्य (अन्तःकरण की) ये सात अवस्थायें होती हैं।।२।।

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें तो नित्यप्रति सबके अनुभव में आती ही हैं (अतः इनका निरूपण व्यर्थ है)। मूढसमाधि, मूर्च्छा, मृत्यु तथा तुरीय ये चारों अवस्थायें भी नित्यानुभूतिस्वरूप आत्मचैतन्य से ही प्रकाशित होती हैं।।३।।

उक्तं मूढसमाधानं भवप्रत्ययसंज्ञकम्।
पुराऽसंप्रज्ञात नामसमाधेः भेदवर्णने।।४।।(५०८)
तत्समाधिस्थिता जित्वेन्द्रादीन् स्वर्गेशतां ययुः।
मृत्युर्मूर्च्छा प्रसिद्धेति तुरीयमभिधीयते।।५।।(५०९)
वेदान्तसम्प्रदायेन निदिध्यासनदार्ढ्यतः।
परमात्मनि चित्तस्य लयस्तु तुर्यमुच्यते।।६।।(५१०)

मूढसमाध्यवस्था तु पूर्वम् एव उक्ता अतो नोच्यत इत्याह **उक्तमिति। पुरा** योगदीक्षाचिन्तामण्याख्यप्रकरणे, **असंप्रज्ञातनामसमाधेः,** असंप्रज्ञातसमाधेः **भेदवर्णने** भेदनिरूपणप्रसंगे, **भवप्रत्ययसंज्ञकं** भवस्य संसारस्य प्रत्ययोनुभवो बीजरूपेण अस्मिन् अस्तीति भवप्रत्यय इत्येवं संज्ञा नाम यस्य तत्तथोक्तं, **मूढसमाधानं** मूढसमाधिः, **उक्तं** कथितम्, अतः पुनः नोच्यते इति भावः।।४।।५०८)

तदेवं बीजरूपेणावस्थानं प्रपञ्चस्य तत्स्थव्यवहारोदाहरणेन विशदयति अर्धेन **तदिति। तत्समाधिस्थिताः** स एव भवप्रत्ययनामा समाधिः तत्समाधिः, तस्मिन् स्थिताः स्थिरीभूता ये हिरण्यकशिप्वादयः ते, समाधिव्युत्थानानन्तरम् इन्द्रो मरुत्वानादिः प्रथमो येषाम् अग्नियमादीनां तं तथोक्ताः तान्, **जित्वा** युद्धे पराभूय, **स्वर्गेशतां** स्वर्गस्य ईशताम् ईश्वरत्वं, **ययुः** प्रापुः, अतो मूढसमाधौ बीजरूपेण संसारप्रत्ययो विद्यते इति भावः। ननु तर्हि मृत्युमूर्च्छे एव निरूप्येताम् इत्याशंक्य ते अपि प्रसिद्धत्वाद् मुमुक्षूणाम् अनादरणीयत्वाच्च न निरूप्येते इत्याशयेन आह **मृत्युरिति। मृत्युः** मरणं, **मूर्च्छा** अर्धमृतिनाम्ना **प्रसिद्धा** अनुभूता एव, **इति** अतो हेतोः, ते अपि परित्यज्य प्रथमं मुमुक्षूणाम् आदरणीयत्वात् **तुरीयं** तुर्याख्यैव अवस्था, **अभिधीयते** निरूप्यते इत्यर्थः।।५।।(५०९)

प्रतिज्ञातामेव तुर्यावस्थां निरूपयति **वेदान्तेति। वेदान्तसंप्रदायेन** वेदान्तस्य उपनिषदादिग्रन्थस्य संप्रदायः परिपाटी तेन, तदनुकूलतया इत्यर्थः। **निदिध्यासनदार्ढ्यतः** निदिध्यासनस्य अखण्डैकब्रह्मविषयप्रत्ययावृत्तिरूपस्य, दार्ढ्यतः दृढत्वेन, **परमात्मनि** कार्यकारणातीत आत्मनि **चित्तस्य** अन्तःकरणस्य **लयः** तद्रूपेणावस्थानं यत् तत् **तु** तदेव, **तुर्यं** तुरीयनामकम्, **उच्यते** कथ्यते, विद्वद्भिः इति शेषः।।६।।(५१०)

'योगदीक्षाचिन्तामणि' नामक प्रकरण में असंप्रज्ञात समाधि के भेद का वर्णन करते हुए २०६ श्लोक में भवप्रत्यय नामक मूढसमाधि का वर्णन आ चुका है। (उसमें बीजरूप से संसार का अनुभव रहता है)।।४।।

भवप्रत्यय नामक समाधि को सिद्ध करनेवालों (हिरण्यकशिपु आदि) ने इन्द्र आदि को वश में कर लिया था और स्वर्ग पर अधिकार जमा लिया था (इसी से कहते हैं कि इस मूढसमाधि में बीजरूप से संसारप्रत्यय रहता ही है) मृत्यु और मूर्च्छा भी प्रसिद्ध हैं इसलिये अब केवल मुमुक्षुओं के उपयोग में आनेवाली तुरीयावस्था का ही निरूपण किया जाता है।।५।।

तत्र प्रश्नः

तत्र साक्षात्कृतं ब्रह्म मूलाविद्याविनाशकृत्।
स्वप्नजागरयोः तुल्यः संसाराडम्बरो मुने।।७।।(५११)
तर्हि केन विशेषेण संज्ञाभेदस्तयोर्वद।

अत्रोत्तरम्

जानीहि प्रथमं तात भेदं विस्मृति-बोधयोः।।८।।(५१२)

तस्मिंश्च सति किं फलं तदाह **तत्रेति। तत्र** तुर्यावस्थायां, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृत-परिच्छेदशून्यं वस्तु, स्वस्मिन्नेव **साक्षात्कृतं** स्वाभिन्नम् अनुभूतं सत्, **मूलाविद्याविनाशकृत्** मूलाविद्या स्वस्य ब्रह्मणश्च ऐक्याज्ञानं मूलाविद्या, तस्या विनाशः क्षयः, तस्य कृत् कर्तृ भवति इति फलं तुर्यप्राप्तौ ज्ञेयम्। एवं संक्षेपतः अवस्थाः सप्तापि प्रदर्श्य इदानीं ता एव विस्तरतो वक्तुं प्रश्नावतरणं प्रतिजानीते **तत्रेति। तत्र** अवस्थासु मध्ये, **प्रश्न** अनुयोगः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **स्वप्नेति।** हे **मुने** मननशील हे गुरो, **संसाराडम्बरः** संसाररूपं घटाटोपः, **स्वप्नजागरयोः** स्वप्ने स्वप्नावस्थायां च, जागरे च जाग्रदवस्थायां, **तुल्यः** सम एव, सुखदुःखप्रतीतिः समा एव उभयत्र इति भावः।।७।।(५११) **तर्हि इति। तर्हि** तदा, **केन विशेषेण** केन वैलक्षण्येन, **तयोः** स्वप्नजागरयोः, **संज्ञाभेदः** संज्ञयोः अभिधानयोः, भेदः पृथक्त्वं, तत्कारणं **वद** ब्रूहि, इति प्रश्नार्थः।

अस्य उत्तरं वक्तुमाह **अत्रेति। अत्र** उक्तप्रश्ने, **उत्तरं** प्रतिवाक्यं, उच्यते इति शेषः। तदेवाह **जानीहीति।** हे **तात** हे शिष्य, त्वं **प्रथमं** पूर्वं, **विस्मृतिबोधयोः** विस्मृतिश्च विस्मरणं बोधश्च ज्ञानं तयोः, **भेदं** पृथक्त्वं, **जानीहि** विद्धि, **पश्चाद्** अनन्तरं, **स्वप्नजागरयोः** स्वप्नश्च जाग्रद्विषय-वासनावासितबुद्धौ विषयानुभवाभासलक्षणः, जागरश्च जागृतिः इन्द्रियैः अर्थोपलब्धिः जागरितमिति उक्तलक्षणा तयोः, **भेदं** पृथक्त्वं, **ज्ञास्यसि** वेत्स्यसि, अतः पूर्वं **तं** विस्मृतिबोधभेदं, **शृणु** अवधारय।।८।।(५१२)

उपनिषदों में प्रतिपादित परिपाटी के अनुकूल निदिध्यासन (ब्रह्म के अखण्ड-चिन्तन) के दृढ हो जाने पर जब चित्त परमात्मा में लीन हो जाता है तब उसको 'तुर्य' कहा जाता है। उसके प्राप्त होने पर जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तब (द्वैतप्रतीति का मूलकारण) मूलाज्ञान ही नष्ट हो जाता है।।६।।

इन अवस्थाओं के विषय में शिष्य प्रश्न करता है कि हे मुने! स्वप्न तथा जागरणकाल में यह संसाररूपी घटाटोप तो तुल्य ही है (अर्थात् दोनों अवस्थाओं में सुख-दुःख-प्रतीति तो समान ही होती है) तब किस विशेषता के कारण एक को जागरण और दूसरी को स्वप्न कहा जाता है।।७।।

हे शिष्य, इस प्रश्न का उत्तर सुनोपहले तुम विस्मरण तथा बोध के भेद को जान लो, फिर स्वप्न तथा जागरण के भेद को स्वयं ही जान जाओगे।।८।।

स्वप्नजागरयोर्भेदं पश्चाद् ज्ञास्यसि तं शृणु।
विस्मृतिः यन्न भासेत बोधो मिथ्यात्वनिश्चयः।।९।।(५१३)
जागरानन्तरं निद्रा तत्र स्वप्नो यदा भवेत्।
स्वप्ने स्याज्जागराभानं न तु जागरबोधनम्।।१०।।(५१४)
जागरोऽयं तु मिथ्येति बुद्धिः स्वप्ने न वर्तते।
किन्तु जागरविस्मृत्या स्वप्ने स्वप्नार्थदर्शनम्।।११।।(५१५)

एवं शिष्यं निरूप्यमाणभेदश्रवणे संमुखीकृत्य इदानीं प्रतिज्ञातमेव भेदं दर्शयति **विस्मृतिरिति। यत्** पदार्थजातं किमपि, **न भासेत** न प्रतीयेत, सा **विस्मृतिः** विस्मरणं, ज्ञेया। तथा **मिथ्यात्वनिश्चयः** पदार्थानां मिथ्यात्वस्य असत्त्वस्य, निश्चयः अध्यवसायः, स, **बोधो** ज्ञानमिति उच्यते। इदमेव विस्मृतिबोधयोः वैलक्षण्यं ज्ञेयमिति भावः। एवं विस्मृतिबोधवैलक्षण्यं प्रदर्श्य इदानीं प्रस्तुतजाग्रत्स्वप्नयोः भेदं दर्शयति **जागरेति। जागरानन्तरं** जागरो जागृतिः, तस्या अनन्तरं पश्चाद्, **निद्रा** सुषुप्तिः भवतीति स्पष्टमेव आबालगोपं, **तत्र** तस्यां सुषुप्तौ, **यदा** यस्मिन् काले, **स्वप्नः** प्रातिभासिकविषयस्फुरणरूपो, **भवेत्** स्यात्, तदा तस्मिन् काले, **स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां, **जागराभानं** जाग्रद्दशाया अभानं विस्मृतिः, भवेत् **स्यात्, जागरबोधनं** जागरस्य जाग्रदवस्थाया, बोधनं भानं, जागरमिथ्यात्वनिश्चय इत्यर्थः, **न तु भवेत्** नैव स्यात्।।९-१०।।(५१३-५१४)

एतदेव स्पष्टमाह **जागर इति। अयं** प्रत्यक्षतया दृश्यमानो, **जागरो** जागृतिप्रपञ्चः, **मिथ्या** भ्रान्तिरूप, **इति** एवं प्रकारा, **बुद्धिः** निश्चयरूपा अन्तःकरणवृत्तिः, **स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां, **नतु** नैव, **वर्त्तते,** नैव विद्यते इत्यर्थः। **किन्तु** किं तर्हि, **स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां, **जागरविस्मृत्या** जागरस्य जागरणस्य, विस्मृतिः अभानं, तया, **स्वप्नार्थदर्शनं** स्वप्ने स्वप्नावस्थायां ये प्रातिभासिका अर्थाः तेषां दर्शनं प्रतीतिः, अस्ति विद्यते, जाग्रन्मिथ्यात्वनिश्चयाभावः जागराभानं च स्वप्ने जागृतितः वैलक्ष्यण्यं ज्ञेयमिति भावः।।११।।(५१५)

जबकि किसी भी पदार्थ की प्रतीति न हो तब वह 'विस्मृति' कहलाती है। पदार्थों को मिथ्या समझ लेना 'बोध' कहलाता है (यही विस्मृति तथा बोध की विलक्षणता है)। जागरण के पश्चात् निद्रा आती है, उस निद्रा में जब स्वप्नदर्शन होता है तब जाग्रत् अवस्था की विस्मृति तो हो जाती है, परन्तु उसका बोध (किंवा मिथ्यात्व-निश्चय) नहीं होता।।९-१०।।

"यह जाग्रत्प्रपंच मिथ्या है" इस तरह का कोई भी विचार स्वप्न देखते समय नहीं रहता। किन्तु उस समय जागरण को भूलकर, स्वप्न के प्रातिभासिक पदार्थ ही दीखते रहते हैं (स्वप्न में जागृति से यही विलक्षणता है कि उसमें जाग्रत् प्रपंच मिथ्या प्रतीत नहीं होता, तथा वह भासता भी नहीं)। यही स्वप्न का अपना स्वरूप है। अब तुम जागरण के स्वरूप को हमसे सुनो।।११।।

स्वप्नस्यैतन्निजं रूपं जागरस्याधुना शृणु।
स्वप्नस्यानन्तरं तात जागरो हि यदा भवेत्।।१२।।(५१६)
स्वप्नमिथ्यात्वबुद्ध्यात्मस्वप्नबोधस्तदा भवेत्।

अन्यच्च

स्वप्ने तु यादृशी तात भवेज्जागर विस्मृतिः।।१३।।(५१७)
जागरे तादृशी नास्ति स्वप्नसंसारविस्मृतिः।
जागरे स्मर्यते स्वप्नः तस्य मिथ्यात्वदर्शनम्।।१४।।(५१८)

उक्तं जाग्रतः स्वप्नस्य वैलक्षण्यं निगमयति **स्वप्नस्येति। एतद्** इदम् उक्तलक्षणं, **स्वप्नस्य** स्वप्नावस्थाया, **निजं** स्वीयं, **रूपं** ज्ञेयम्। एवं जाग्रद्दशातः स्वप्नस्य वैलक्षण्यं प्रदर्श्य इदानीं जागरस्यापि स्वप्नतो वैलक्षण्यं श्रोतुं शिष्यम् अभिमुखीकरोति **जागरस्येति।** हे शिष्य **अधुना** इदानीं, **जागरस्य** जागरणस्य स्वरूपं, **शृणु** श्रोतव्यम्। प्रतिज्ञातमेव जाग्रत्स्वरूपनिरूपणं करोति **स्वप्नस्येति।** हे **तात** हे शिष्य, **स्वप्नस्य** स्वप्नावस्थाया, **अनन्तरं** पश्चाद्, **यदा** यस्मिन् काले, **हि** प्रसिद्धो, **जागरो** जागरणं, **भवेत्** स्यात्।।१२।।(५१६)

स्वप्नेति। तदा तस्मिन् समये, **स्पप्नमिथ्यात्वबुद्ध्या** स्वप्नस्य सविषयस्वप्नावस्थाया, मिथ्यात्वम् असत्त्वं, तस्य बुद्धिः निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः, तया, **आत्मस्वप्नबोध** आत्मनः स्वप्नद्रष्टुः, स्वस्यैव स्वप्नावस्थाया बोधो ज्ञानं, **भवेत्** स्यात्। जागरे स्वप्नाविस्मरणं स्वप्नबोधश्च इति स्वप्नतो जागरस्य वैलक्षण्यं सिद्धमिति भावः। अन्यदपि वैलक्षण्यं वक्तुम् आह **अन्यच्चेति। अन्यच्च** लक्षणान्तरमपि, उच्यते इति शेषः। तदेवाह **स्वप्ने त्विति।** हे **तात** हे शिष्य, **स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां, **जागरविस्मृतिः तु** जागरविस्मृतिः जागराभानमपि, **यादृशी** यद्वद्, **भवेत्** स्यात्।।१३।।(५१७)

जागर इति। जागरे जाग्रदवस्थायां, **स्वप्नसंसारविस्मृतिः** स्वप्ने स्वप्नावस्थायां यः प्रतीयमानः संसारः सुखदुःखजन्ममरणादिरूपः, तस्य विस्मृतिः अभानं, **तादृशी** तद्वद्, **नास्ति** विद्यते, इदं च वैलक्षण्यं स्पष्टमेव इति भावः। अन्यदपि वैलक्षण्यान्तरमाह **जागर इति। जागरे** जागरावस्थायां, **स्वप्नः** सविषया स्वप्नावस्था, **स्मर्यते** अनुसन्धीयते, **तस्य** स्वप्नस्य, **मिथ्यात्वदर्शनं** मिथ्यात्वस्य असत्त्वस्य, दर्शनं भानम्, अस्तीति शेषः।।१४।।(५१८)

हे शिष्य, स्वप्नावस्था के समाप्त हो जाने पर जब मनुष्य जागता है, तब वह अपने स्वप्नबोध को मिथ्या ही समझता रहता है (अर्थात् जाग्रत् अवस्था में स्वप्न की विस्मृति नहीं होती किन्तु उसका बोध (मिथ्यात्वनिश्चय) हो जाता है)।।१२।।

स्वप्न तथा जाग्रत् के दूसरे लक्षण बताते हैंहे शिष्य, स्वप्न देखते हुए जिस प्रकार जागरण का विस्मरण हो जाता है, वैसी जागरणकाल में स्वप्न के संसार (सपने के सुख दुःख जन्ममरणादि) की विस्मृति नहीं होती। दूसरी बात यह है कि जागरणकाल

स्वप्ने न स्मर्यते जाग्रन्न तन्मिथ्यात्वदर्शनम् ।
अनेनातिविशेषेण स्वप्नजागरयोर्भिदा ।।१५।।(५१९)

अथ प्रश्नान्तरम्

ननु मूढसमाधौ च मूर्च्छामृत्युसुषुप्तिषु ।
तुरीये च न दृश्यश्रीः तर्हि तेषां भिदा कुतः ।।१६।।(५२०)

अत्रोत्तरम्

सिद्धिकामनया यैस्तु तप उग्रं कृतं महत् ।
देहोऽपि विस्मृतस्तैस्तु क्रिमिकीटादिभक्षितः ।।१७।।(५२१)

स्वप्न इति। यथा तथा इति अध्याहार्यम् **स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां, **जाग्रत्** सविषया जाग्रदवस्था, **न स्मर्यते** नानुसन्धीयते, **तन्मिथ्यात्वदर्शनं** तस्या जाग्रदवस्थाया, मिथ्यात्वम् असत्त्वं, तस्य दर्शनम्, अपि इति अध्याहार्यं, **न** नैव विद्यते। उक्तं स्वप्नजाग्रद्भेदनिरूपणम् उपसंहरति **अनेनेति**। **अनेन** उक्तेन, **अतिविशेषेण** त्रिप्रकारेणापि अतिवैलक्षण्येन, **स्वप्नजागरयोः** स्वप्नश्च उक्तलक्षणा स्वप्नावस्था, जागरश्च जागृतिः, तयोः, **भिदा** भेदः, सिद्ध इति भावः ।।१५।।(५१९)

एवं सप्तावस्थासु मध्ये पूर्वम् अवस्थाद्वयं भेदेन प्रदर्श्य इदानीम् उत्तराः पञ्चापि अवस्था भेदेन प्रदर्शयितुं प्रश्नोत्थापनम् अवतारयति **अथेति**। **अथ** पूर्वावस्थाद्वयभेदज्ञानानन्तरं, **प्रश्नान्तरम्** अन्यो द्वितीयः, प्रश्नः अनुयोगः, प्रश्नान्तरं, पूर्वप्रश्नापेक्षया द्वितीयः प्रश्न इत्यर्थः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **नन्विति**। **ननु** इति शंकायाम्, इयं ममाशंका जाता, **मूढसमाधौ** पूर्वोक्तलक्षणे मूढसमाधाने भवप्रत्ययनामके, पुनः **च, मूर्च्छामृत्युसुषुप्तिषु** मूर्छा च अर्धमृतिरूपा, 'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः' इति सूत्रोपदर्शिता, मृत्युश्च प्राणादिवियोगेन देहपतनरूपः प्रसिद्धः सर्वेषु, सुषुप्तिश्च अन्तःकरणेन्द्रियादीनां कारणाज्ञानमात्ररूपेण अवस्थानं, निद्रापरपर्याया, तासु, **तुरीये च** तुर्यावस्थायामपि, **दृश्यश्रीः** दृश्यस्य त्रिपुटी रूपप्रपञ्चस्य, श्रीः शोभा, **न** न विद्यते, दृश्याभानं पञ्चावस्थासु अपि तुल्यमिति। तदा **तर्हि, तेषां** मूर्च्छादितुर्यान्ताऽवस्थालक्षणानां, **भिदा** भेदः, **कुतः** कुतः कारणादस्ति, वैलक्षण्याभावात् न कुतोऽपि भेदः सम्भवति इति भावः ।।१६।।(५२०)

एवं प्रश्नं निरूप्य उत्तरं वक्तुं प्रतिजानीते **अत्रेति**। **अत्र** द्वितीये प्रश्ने इत्यर्थः, **उत्तरं** प्रतिवाक्यम्, उच्यते इति शेषः। तदेवाह **सिद्धीति**। **यैस्तु** संसाररसिकैः हिरण्यकशिप्वादिभिः,

में स्वप्न के पदार्थ भी स्मरण रहते हैं परन्तु उनको उस समय मिथ्या समझा जाता है। इस तरह स्वप्नकाल में न जाग्रत् की स्मृति ही रहती है और न उनको मिथ्या ही समझा जाता है, इन विशेषताओं से स्वप्न तथा जाग्रत् का भेद हो जाता है।।१३-१५।।

अब प्रश्नान्तर किया जाता हैमूढसमाधि, मूर्च्छा, मृत्यु, सुषुप्ति तथा तुरीय इन पाँचों अवस्थाओं में ही दृश्य का भान नहीं रहता तब फिर इनके परस्पर भेद का कारण क्या है?।।१६।।

नेयं मूर्च्छा न रोगोऽयं न मृत्युर्जीवनादयम्।
सुषुप्तानन्दविरहान्न सुषुप्तिरिति स्फुटम्।।१८।।(५२२)
स्वरूपलाभविरहाद् मूढत्वान्न तुरीयकम्।
दृश्यभानं तु नास्त्यासु तावता न कृतार्थता।।१६।।(५२३)

सिद्धिकामनया सिद्धीनाम् इन्द्रादिपदप्राप्तिरूपाणां, कामना इच्छा, तया, **महद्** बहु, **उग्रं** त्रैलोक्यसन्तापकं, **तपः** शीतोष्णादिक्लेशसहनेन ब्रह्माराधनरूपं, **कृतम्** आचीर्णं, **तैस्तु** उक्तैः हिरण्यकशिप्वादिभिः, **देहोऽपि** कायोऽपि, **विस्मृतः** न ज्ञातः। ननु तैः देहो विस्मृत इति कुतो निश्चितं तत्राह **क्रिमिकीटेति। क्रिमिकीटादिभक्षितः** क्रिमयश्च पिपीलिकाः, कीटाः तद्विशेषा एव, ते आदयो येषां ते तथोक्ताः, तैः भक्षितो जग्धः, स न ज्ञातः, अत एव तेषां भानं देहे नास्ति इति निश्चीयते इति भावः।।१७।।(५२१)

नेति। इयं विस्मृतिः तपःपूर्विका, अतो **मूर्च्छा** अर्धमृत्याख्यावस्था, **न** न भवति। कुतो न मूर्च्छात्वम् अस्याः तत्राह **नेति। अयं** तपःक्लेशः, **रोगो** व्याधिः, **न** न विद्यते। ननु अस्या मूर्च्छात्वं मास्तु मृत्युत्वं कुतो न स्याद् इत्याशंक्य आह **नेति। इयं** विस्मृतिः, **मृत्युः** मरणं, **न** न भवति। कुतो नास्या मृत्युत्वं तत्राह **जीवनात्** प्राणधारणादित्यर्थः, प्राणवियोगस्यैव मृत्युत्वप्रसिद्धेः इति भावः। ननु अस्य समाधेः मूर्च्छात्वं मृत्युत्वं च मा भूतां सुषुप्तत्वम् अस्तु तत्राह **सुषुप्तेति। सुषुप्तानन्दविरहात्** सुषुप्तं निद्रा, तस्मिन् यः आनन्दः सुखमस्ति, उत्थितस्य पुरुषस्य सुखमहम् अस्वाप्सम् इति स्मृत्यन्यथानुपपत्त्या अनुमेयं यत्सुखं तेन, विरहात् वियोगाद्, **न सुषुप्तिः** न निद्रा, सुप्तौ हि सर्वैः सुखम् अनुभूयते अतः तद्रहितत्वाद् न अस्य सुषुप्तित्वमिति भावः। **इति** एतत्, **स्फुटं** प्रकटमस्ति, अत्र न कस्यापि सन्देह इति भावः।।१८।।(५२२)

ननु अस्या विस्मृतेः मास्तु सुषुप्तित्वं, तुर्यत्वम् अस्तु इत्याशंक्य आह **स्वरूपेति।** इयं विस्मृतिः, **तुरीयकं** तुरीयावस्थापि, **न** न भवति। ननु अस्याः कुतो न तुर्यत्वं तत्राह **स्वरूपेति। स्वरूपलाभविरहात्** स्वरूपस्य स्वप्रकाशचिन्मात्रस्वभावस्य आत्मनो, लाभः साक्षाद् अनुभवः, तेन विरहो वियोगः, तस्माद् हेतोः, स्वप्रकाशात्मलाभ एव तुर्यशब्दवाच्यः सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धः, अतः परिशेषात्, **मूढत्वात्** च मूढभावाद्, अस्या विस्मृतेः मूढसमाधित्वं सिद्धमिति ज्ञेयम्। अयं भावः मौढ्यशेषेण तपःक्लेशेन च देहादिविस्मृतिः मूढसमाधिः इति उच्यते। रोगादिपीडापूर्विका देहादिविस्मृतिः मूर्च्छा, प्राणादि-वियोगपूर्विका देहादिविस्मृतिः मृत्युः इति उच्यते। सुखानुभवपूर्विका मौढ्यविशिष्टा देहादिविस्मृतिः सुषुप्तिः उच्यते, स्वयं प्रकाशात्मलाभपूर्विका मौढ्यहीना तुर्येति विवेकः। ननु मूढसमाध्यादितुर्यान्तावस्थापञ्चके दृश्यभानाभावमात्रेणैव मौढ्यशेषेऽपि मुक्तिसिद्धिः कुतो न इत्याशंक्य तदर्धांगीकारेण शेषं समाधत्ते **दृश्यभानमिति। आसु तु** उक्तपञ्चावस्थास्वपि, **दृश्यभानं** दृश्यस्य जगतः, भानम् अनुभवो, **नास्ति** न विद्यते, सत्यमेतत्, परन्तु **तावता** दृश्यभानाभावमात्रेण एव केवलं, **न कृतार्थता** कृतकृत्यत्वलक्षणा नित्यतृप्तिः, न भवेत्।।१६।।(५२३)

व्युत्थानानन्तरं तेषां संसारोऽपि यदास्थितः।
यदात्मदर्शनं नास्ति संसारोऽबाधितस्ततः।।२०।।(५२४)

कुत इत्यत आह **व्युत्थानेति। तेषां** मूढसमाध्यादिसुषुप्त्यन्तावस्था-चतुष्कस्थितानां, **व्युत्थानानन्तरं** तत्तदवस्थातो व्युत्थानं देहादिव्यापारप्रवृत्तिः, तस्माद् अनंतरं पश्चात्, **संसारोऽपि** सुखदुःखजन्ममरणादिरूपा संसृतिरपि, **यद्** यतः कारणाद्, **आस्थितः** अभिव्याप्यान्तःकरणं, स्थितःविद्यमान, इत्यर्थः, दृश्यते इति शेषः। ननु मूढसमाध्यादिसुषुप्त्यन्तासु अवस्थासु इव व्युत्थानानन्तरं दृश्यप्रतीतिः तुर्येऽपि समानैव इति पूर्वावस्थाचतुष्कतुर्ययोः को विशेषो येन तुर्यस्य मुक्तिरूपत्वम् अन्यासां न इत्युच्यते इत्याशंक्य; व्युत्थानकाले संसारप्रतीतौ समायामपि दृश्यसंसार-बाधिताबाधितत्वलक्षणं तयोः वैलक्षण्यं दर्शयति **यदिति। यद्** यतः कारणात्, मूढसमा-ध्यादिसुषुप्त्यन्तावस्थाचतुष्क **आत्मदर्शनम्** आत्मनः सच्चिदानन्दघनस्य स्वस्य, दर्शनं ज्ञानं, **नास्ति** न विद्यते, **ततः** तस्मात् कारणात्, तासु अवस्थासु, **संसारो** जन्मादिरूपः, **अबाधितः** असत्त्वदृष्ट्या नावलोकितः, स्थितो वर्त्तत इति शेषः। अतः पूर्वावस्थाचतुष्के संसारभानाभावमात्रेण न तु सिद्धिः, तुर्ये च तत्सत्त्वेऽपि बाधितत्वाद् व्युत्थानादौ तदसत्त्वस्य प्रतीयमानत्वेन सर्वदैव संसाराभाने सति मुक्तिसिद्धिः इति भावः।।२०।।(५२४)

जिन हिरण्यकशिपु आदियों ने सिद्धियों की कामना को लेकर उग्र तप किया, वे लोग अपने तप की उग्रता के कारण अपने देह को भी भूल गये थे, क्योंकि उनके देह को कीड़ों ने खा लिया था। यह अवस्था मूर्छा भी नहीं थी, रोग भी नहीं था, प्राण-धारण रहने से इसे मृत्यु भी नहीं कहा जा सकता, निद्रा का आनन्द भी उस समय नहीं रहता इसलिये इस अवस्था को सुषुप्ति भी नहीं कह सकते। उनके इस देहविस्मरण में स्वप्रकाशचिन्मात्र आत्मा का साक्षात्कार भी नहीं होता प्रत्युत मूढता बनी रहती है, इसलिये इसे तुरीयावस्था भी नहीं कहा जा सकता। सारांश में इसको मूढसमाधि ही कहते बनता है (तात्पर्य यह है कि मूढता के शेष रहते तपःक्लेश से देहादि को भूल जाना 'मूढसमाधि' है। रोगादि के कारण देह को भूल जाना 'मूर्छा' है। प्राणादि के निकल जाने से देह को भूल जाना 'मृत्यु' है। सुखानुभव भी होता रहे और अज्ञान भी शेष रहे उस अवस्था में देह को भूलना 'सुषुप्ति' कहाती है। स्वयंप्रकाश आत्मा के दर्शन हो जाय और मूढता सर्वथा नष्ट हो जाय उस अवस्था को 'तुर्या' कहते हैं।) इन चारों अवस्थाओं में दृश्य का भान तो बन्द हो जाता है परन्तु इतने मात्र से कृतार्थता (नित्यतृप्ति) की प्राप्ति तो नहीं हो जाती।।१७-१९।।

व्युत्थान के अनन्तर देह-व्यापार में लगने पर उन लोगों को फिर भी संसार का वैसा ही भान होने लगता है, क्योंकि इन चारों अवस्थाओं में आत्मा के दर्शन नहीं होते

कथयाम्यत्र दृष्टान्तं सावधानमनाः शृणु।
स्वप्ने तु विस्मृतं जाग्रज्जाग्रत्स्वप्ने न बाधितम्।।२१।।(५२५)
तस्मादनन्तरं जाग्रत् स्वप्नस्य च यथास्थितम्।
जागरे बाधितः स्वप्नस्तेन मिथ्यात्वमागतः।।२२।।(५२६)
तथा मूढसमाधौ तु विस्मृतं सकलं जगत्।
व्युत्थानानन्तरं पश्चाद् यथापूर्वमवस्थितम्।।२३।।(५२७)

उक्तार्थे दृष्टान्तकथनं प्रतिजानीते **कथयामीति।** अहं, **अत्र** उक्तार्थे, दृष्टान्तम् उपमानं **कथयामि** निरूपयामि, त्वं **सावधानमना** अवधानम् उक्तार्थावधानं, तेन सह वर्तते इति सावधानम् उक्तार्थग्रहणक्षमं, मनः अन्तःकरणं यस्य स तथाभूतः सन्, **शृणु** अवधारय। प्रतिज्ञातमेव दृष्टान्तं सार्धेन आह **स्वप्ने त्विति। स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां, **जाग्रत्** जागर-व्यापारजातं, **विस्मृतं तु** विस्मृतमपि, अभातमपि इत्यर्थः, लयावस्थया अभातं तत् **जाग्रत्** जागरणं **स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां, **न बाधितं** नासत्त्वेन निश्चितम्।।२१।।(५२५)

तस्मादिति। तस्मात् कारणात्, **स्वप्नस्य** स्वप्नावस्थाया, **अनन्तरं** पश्चाद्, **यथा स्थितं** यथा यद्वत्, पूर्वं जाग्रदवस्थायां, स्थितं वर्तमानं, तथा तद्वत्, **जाग्रत्** जागरणं, स्थितं विद्यते एव इति सिद्धं, सर्वलोकप्रत्यक्षमिदम् इति भावः। किञ्च **जागर इति। स्वप्नः** स्वप्नव्यवहारो, **जागरे** जाग्रदवस्थायां, **बाधितः** असत्त्वेन ज्ञातः अस्ति, **तेन** कारणेन, **मिथ्यात्वम्** असत्त्वम्, **आगतः** प्राप्तो, भासमानोऽपि असन्नेव स इत्यर्थः, यथेति शेषः।।२२।।(५२६)

दार्ष्टान्तिकमाह द्वाभ्याम् **तथेति। तथा** तद्वत्, **मूढसमाधौ तु** उक्तलक्षणे भवप्रत्ययनाम्नि समाधानेऽपि, **सकलं** सम्पूर्णं, **जगद्** विश्वं, **विस्मृतम्** अभातमपि न बाधितम्, असत्त्वबुद्ध्या न निश्चितं, यत इत्यध्याहार्यम्। अतो हेतोः **पश्चात्** समाध्युत्थानानन्तरं, **यथापूर्वं** यथा यद्वत्, पूर्वं प्राक् समाधेः स्थितं, **तथा** तद्वत्, सत्यतयैव, **अवस्थितं** बीजरूपेण समाध्यवस्थायामपि स्थितमित्यर्थः उपलक्षणमेतत् मूर्च्छामृत्युसुषुप्तीनामपि।।२३।।(५२७)

इसलिये संसार पहले की तरह ही अबाधित रहता है (संसार का भान न होने मात्र से किसी को सिद्धि प्राप्त नहीं होती किन्तु उसका बाध कर देने से सिद्धि प्राप्त होती है तभी मुक्ति मिलती है)।।२०।।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त बताया जाता है उसे सावधान होकर सुनो। देखो, स्वप्न देखते समय जाग्रत् (के व्यापार) को भूल तो जरूर जाते हैं परन्तु उस समय उसको बाधित (असत्य) नहीं समझा जाता। इसीलिये स्वप्न के अनन्तर जाग्रत् तो फिर वैसा का वैसा ही तैयार रहता है। इसके विपरीत स्वप्नव्यवहार जाग्रत्काल में बाधित हो जाता है (अर्थात् उसे असत्य समझा जाता है) इसीलिये उसे मिथ्या कह दिया गया है।।२१-२२।।

तुरीये बाधितं विश्वं तस्मान्मिथ्यात्वमागतम्।
व्युत्थानेऽपि मुनेस्तात तन्मिथ्यैव न वास्तवम्।।२४।।(५२८)
रज्जुसर्पं यथा दृष्ट्वा कश्चिद् देशान्तरं गतः।
यदा पुनः समायाति तदा तस्माद् बिभेत्यसौ।।२५।।(५२९)
नायं सर्प इति ज्ञात्वा यदि देशान्तरं गतः।
यदा पुनः समायाति तदा तस्माद् बिभेति न।।२६।।(५३०)

किञ्च **विश्वं** जगत् समस्तत्रिपुटीरूपं, **तुरीये** तुर्यावस्थायां, **बाधितं** मिथ्यात्वनिश्चितम् अस्ति, **तस्मात्** कारणात्, **तद्** विश्वं, **मिथ्यात्वम्** असत्त्वम्, **आगतं** प्राप्तं, यतः कारणाद्, अतः तद्विश्वं, **व्युत्थानेऽपि** समाधितः व्युत्थाने जागरणे जाते सत्यपि, **तद्** विश्वं प्रतीयमानमपि, **मिथ्यैव** असदेव, **न वास्तवं** नैव सत्यं, भवेदिति ज्ञेयम्, अतः तुर्यारूढानां सर्वदैव तुर्यास्थितिः सिद्धा इति भावः।।२४।।(५२८)

उक्तार्थमेव द्रढयितुं दृष्टान्तान्तरमाह द्वाभ्याम् **रज्जुसर्पमिति। यथा कश्चित्** पुरुषः देवदत्ताद्यभिधो, **रज्जुसर्पं** रज्जुविवर्त्तं भुजंगं, **दृष्ट्वा** अवलोक्य, तत्रैव विचारम् अकृत्वैव **देशान्तरं** स्थानान्तरं, **गतः** प्राप्तः। स **यदा** यस्मिन् समये, **पुनः** भूयः, **समायाति** आगच्छति, **तदा** तस्मिन् समये, **तस्माद्** रज्ज्वावर्तसर्पाद् **असौ** देवदत्ताद्यभिधः पुरुषः, **बिभेति** भीतिं प्राप्नोति।।२५।।(५२९)

नायमिति। स देवदत्ताद्यभिधः पुरुषः रज्जुसर्पभ्रान्तिस्थले स्थित्वा दीपादिकमानीय रज्जुं दृष्ट्वा **अयं** मद्दृष्टिगोचरः, **सर्पः** सर्पो, **न** भवति, किन्तु रज्जुरेव इयम्, **इति** एवं, ज्ञात्वा अनुभूय, **यदि** यर्हि, **देशान्तरम्** अन्यस्थानं, **गतः** प्राप्तः, तत्र च कार्यं कृत्वा **यदा** यस्मिन् समये, **पुनः** भूयः, **समायाति** आगच्छति, **तदा** तस्मिन् काले, सर्पस्य बाधितत्वात् मिथ्यात्वेन अवलोकितत्वात् मिथ्यात्वेनापि स्मृतिम् आयाते सर्पे प्रतीयमाने सत्यपि **तस्मात्** सर्पाद्, **न बिभेति** भयं न प्राप्नोति, यथा यद्वत्।।२६।।(५३०)

इसी प्रकार मूढसमाधि के प्राप्त होने पर जगत् का विस्मरण तो हो जाता है (परन्तु जगत् की बाधा नहीं होती) इसीलिये उन लोगों की समाधि के अनन्तर फिर वैसा का वैसा ही संसार खड़ा हो जाता है। तुरीयावस्था में तो संसार का बाध हो जाता है (विस्मृति नहीं होती) इसीलिये वह जगत् उसकी दृष्टि में मिथ्या हो जाता है, इसी कारण तुरीय से व्युत्थान हो जाने के अनन्तर भी वह जगत् मिथ्या ही रहता है।।२३-२४।।

यदि कोई मनुष्य अंधेरे में रज्जुसर्प को देखकर स्थानान्तर को चला जाता है, तो फिर लौटकर भी वह उस रज्जुसर्प से पहले की तरह डरने ही लगता है। परन्तु यदि उस सर्प-भ्रान्ति को (दीपक आदि की सहायता से) दूर करके 'यह साँप नहीं है' ऐसा निश्चय करने के पश्चात् स्थानान्तर को जाता है, तब तो फिर वहाँ से लौटने पर भी उसको उससे भय नहीं लगता।।२५-२६।।

तथा मूढसमाधानाद् गतः संसारविस्मृतिम्।
यदा व्युत्थानमाप्नोति तदा संसारजं भयम्।।२७।।(५३१)
यदि विद्वत्समाधानाद् गतः संसारविस्मृतिम्।
यदा व्युत्थानमाप्नोति बाधितत्वाद् बिभेति न।।२८।।(५३२)
यदि विस्मरणादेव मुक्तिर्भवति देहिनः।
सुषुप्तिः जायते नित्यं तया मुक्तो न किं भवेत्।।२९।।(५३३)

दार्ष्टान्तिकमाह द्वाभ्याम् **तथेति। तथा** तद्वत्, **मूढसमाधानाद्** मूढत्वपूर्वकं यत्समाधानं भवप्रत्ययसंज्ञकं, तस्माद् हेतोः, **संसारविस्मृतिं** संसारस्य जन्ममरणादिरूपप्रपञ्चस्य, विस्मृतिं विस्मरणम्, अभानमित्यर्थः, **गतः** प्राप्तः भवति, स पुरुषः **यदा** यस्मिन् समये, **व्युत्थानं** प्रपञ्चस्फुरणरूपं जागरणं ततः समाधेः, **आप्नोति** आयाति, तदा इति अध्याहार्यम्, **तदा** तस्मिन् काले **संसारजं** संसारात् जन्ममरणादिरूपात्, जातं, **भयं** भीतिं प्राप्नोति।।२७।।(५३१)

किञ्च **यदीति।** स पुरुषः **यदि** यर्हि, **विद्वत्समाधानात्** ज्ञानपूर्वं यत्समाधानं समाधिः तस्माद् हेतोः, **संसारविस्मृतिं** संसारस्य जन्ममरणसुखदुःखादिरूपस्य प्रपञ्चस्य, **विस्मृतिम्** अभानं, **गतः** प्राप्तः भवति। स च **यदा** यस्मिन् समये, ततः समाधेः **व्युत्थानं** प्रपञ्चस्फुरणरूपं जागरणम्, **आप्नोति** आयाति, तदा इति अध्याहार्यं, तदा तस्मिन् समये प्रपञ्चस्य पूर्वसंस्कारेण प्रतीतावपि, **बाधितत्वाद्** असत्त्वेन निश्चितत्वात्, **न बिभेति** भयं न प्राप्नोति।।२८।।(५३२)

ननु प्रपञ्चविस्मरणादेव कृतार्थता न बाधितत्वेन अवलोकनाद् इति आग्रहं कुर्वाणं प्रति आह **यदीति। यदि** इति सम्भावनायां, **देहिनः** देहाभिमानिनो जीवस्य, **विस्मरणादेव** प्रपञ्चभानाभावादेव केवलं ज्ञानं विना, **मुक्तिः** मोक्षः, भवेदिति सम्भाव्यते, तर्हि तदा, **नित्यं** सर्वदैव, **सुषुप्तिः** निद्रा, **जायते** भवति, तत्र प्रपञ्चविस्मृतिसत्त्वेऽपि विना बोधतया सुषुप्त्या **मुक्तो** मोक्षं प्राप्तो, **न किं भवेत्** कुतः न भवेत्, न स्याद्। यदि विस्मृत्यैव कृतार्थता स्यात् तर्हि अलं गुरुसेवादिप्रयत्नैः इति भावः।।२९।।(५३३)

इसी तरह मूढसमाधि से संसार की विस्मृति किंवा अभान हो जाने पर फिर जब कभी व्युत्थानावस्था आती है, तब फिर संसार का (सुखदुःखादि रूप) भय उनको पूर्ववत् हो ही जाता है, परन्तु यदि किसी को ज्ञानपूर्वक समाधि से संसार की विस्मृति होती है तब तो व्युत्थानावस्था आने पर (किंवा पूर्व-संस्कारवश प्रपंच की प्रतीति होने पर) भी असत्त्वनिश्चय के कारण फिर वह (सुखदुःखरूप) भय को प्राप्त नहीं होता।।२७-२८।।

यदि ज्ञान के बिना केवल संसार को भूल जाने मात्र से कोई मुक्त हो सकता तब तो साधारण लोग भी सुषुप्तिकाल में नित्य ही संसार को भूल जाते हैं, उन्हें मुक्ति की प्राप्ति क्यों नहीं होती?।।२९।।

तस्मात् तुरीया सर्वासामुत्तमा च विलक्षण।
षडप्यवस्था एतस्याः कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।३०।।(५३४)
आब्रह्मकल्पं गरुडो यदि धावेत् सवेगतः।
न चाप्नोति तथाप्येनं दूराद् दूरतरैव सा।।३१।।(५३५)
श्रद्धा यद्यस्ति वेदान्ते तीव्रा यदि मुमुक्षुता।
ध्यानाभ्यासः तथा गाढः सर्वत्र सुलभैव सा।।३२।।(५३६)

तस्मादिति। तस्मात् कारणात्, **सर्वासां** सर्वावस्थानां मध्ये, **तुरीया** तुर्यावस्था, **उत्तमा** श्रेष्ठा, **विलक्षणा** लक्षणैरपि भिन्नास्ति। तदेवोक्तं तुर्यश्रैष्ठ्यं पुनः द्रढयति **षडपीति। षडपि** षड्संख्याका अपि, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामृत्युमूढसमाध्याख्या **अवस्था, एतस्याः** तुरीयायाः, **षोडशीं** षोडशसंख्याकां, **कलाम्** अंशं, **नार्हन्ति** नाप्नुवन्ति, अतः तुर्यावस्था सर्वावस्थासु श्रेष्ठा इति ज्ञेया।।३०।।(५३४)

सा च श्रद्धादिसाधनैः विना कर्मभिः तत्साध्येषु लोकेषु न लभ्यते इत्याशयेन आह **आब्रह्मेति। गरुडः** वैनतेय, **आब्रह्मकल्पं** ब्रह्मणो विरिञ्चेः, कल्पं नाशम् अभिव्याप्येति आब्रह्मकल्पं द्विपरार्धकालपर्यन्तम् इत्यर्थः, **सवेगतः** स्वसंभ्रमेण सह, **धावेत्** शीघ्रं गच्छेद्, **यदि** यर्हि, **तथापि** तर्हि अपि, **सा** तुर्यावस्था, **एनं** गरुडं, **न चाप्नोति** नैव प्राप्नोति, च पुनः, **दूराद्दूरतरैव** दूरतोऽपि दूरा भवति विना ज्ञानादिसाधनैः न प्राप्यते इति भावः।।३१।।(५३५)

तर्हि कैः साधनैः प्राप्यते इत्याशंक्य तानि दर्शयति **श्रद्धेति।** कस्यापि पुरुषस्य **वेदान्ते** वेदान्तशास्त्रे, **श्रद्धा** विश्वासरूपान्तःकरणवृत्तिः, **यदि स्याद्** भवेत् तथैव तद्वदेव, **तीव्रा** अनवच्छिन्ना दृढा इत्यर्थः, **मुमुक्षुता** मोक्षेच्छुत्वं, **यदि** तर्हि, **स्याद्** भवेत्, **तथा** तद्वद्, **गाढः** दृढः, निरन्तर इत्यर्थः, **ध्यानाभ्यासः** ध्यानं विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयात्मप्रत्ययप्रवाहरूपं, तस्मिन् अभ्यासः पुनः पुनः आवर्त्तनरूपः, **यदि** यर्हि, **स्याद्** भवेत्, तर्हि **सा** तुर्यावस्था, **सर्वत्र** स्ववासस्थाने अन्यत्र ब्रह्मलोकादिनरकान्तस्थानेष्वपि। यद्वा **सर्वत्र** स्वस्य जाग्रदादिषडवस्थासु अपि इत्यर्थः। **सुलभा** एव सुखेन लब्धुं शक्या इत्यर्थः, स्वरूपत्वादिति भावः।।३२।।(५३६)

इसलिये तुरीयावस्था इन सब अवस्थाओं से श्रेष्ठ भी है और विलक्षण भी है। पूर्व की छओं अवस्थायें तो इस अवस्था के सोलहवें भाग जितनी भी नहीं हैं।।३०।।

(श्रद्धा आदि साधनों के बिना तो) द्रुतगामी गरुड यदि अपने पूरे वेग से ब्रह्मकल्पपर्यन्त लम्बे काल तक भी (इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये) दौड़ लगाये तो भी यह तुरीयावस्था उसे प्राप्त नहीं हो सकती। यह तो इतने परिश्रम के बाद भी अभी तक दूर से भी दूर बनी रहती है। परन्तु यदि किसी पुरुष को वेदान्तों में श्रद्धा हो, तीव्र मुमुक्षा हो, ध्यान का गाढ अभ्यास हो, तब तो यह अवस्था सब जगह सुलभ हो जाती है।।३१-३२।।

मृत्युमूर्च्छासुषुप्तिश्च न तपस्तेन निष्फलाः।
रूढमूढसमाधानं तप उग्रं महाफलम्।।३३।।(५३७)
विद्या विद्वत्समाधिस्तु तेन मोक्षप्रदो हि सः।
सप्तानामप्यवस्थानाम् एवंरूपा व्यवस्थितिः।।३४।।(५३८)

उक्तावस्थासु मध्ये तिसृणां निष्फलतामाह **मृत्युरिति। मृत्युः** मरणावस्था, पीडादिना देहाद्यज्ञानरूपा मूर्च्छावस्था, **सुषुप्तिश्च** निद्रापि, लोकप्रसिद्धा, एताः तिस्रः अवस्था **न तपः।** तप इत्युपलक्षणं पारलौकिककर्माद्यभावेन ऐहिकसुख-साधनकर्माद्यभावाच्च, **तेन** कारणेन, **निष्फला** निष्प्रयोजना भवन्ति, अतः तासु अतीवानादरः कर्तव्य इति भावः। सांसारिकफलेप्सुभिः तु मूढसमाधौ एव आदरो विधेयो न मुमुक्षुभिः इत्याशयेन आह **रूढेति। रूढमूढसमाधानं** रूढं प्राप्तं, मूढत्वपूर्वकं समाधानं समाधिः, **उग्रं** शापानुग्रहसामर्थ्यजनकम्, अतः **महाफलं** महत् श्रेष्ठं फलं राज्यादिकं यस्मात् तत् तथोक्तं, **तपः** तपो भवति, अतः तत्र सांसारिकफलेप्सुभिः एव आदरो विधेयो न मुमुक्षुभिः इति भावः।।३३।।(५३७)

मुमुक्षुभिः तुर्यायामेवादरो विधेय इत्याशयेन तुर्यास्वरूपं तत्फलं च निरूपयति **विद्येति। विद्वत्समाधिस्तु** विदुषां ज्ञानिनां, समाधिः समं ब्रह्म आधीयते साक्षात्क्रियते अस्मिन्निति समाधिः, तुर्यावस्था, **तु** पदेन मूढसमाधेः अस्यातिवैलक्षण्यं सूचितम्। **विद्या** ज्ञानमेवास्ति, **स** विद्वत्समाधिः, **तेन** विद्यारूपत्वेन, **मोक्षप्रदो** मोक्षस्य मुक्तेः, प्रदो दाता, भवति, **हि** प्रसिद्धम् एतद् विद्वत्सु। अतो मुमुक्षुभिः अत्रैव आदरो विधेय इति भावः। उक्तम् अवस्थानिर्णयम् उपसंहरति **सप्तानामिति।** हे शिष्य, **सप्तानामपि** सप्तसंख्याकानामपि, **अवस्थानां** स्थितीनां, **व्यवस्थितिः** व्यवस्था, मर्यादा इत्यर्थः। **एवंरूपा** एवम् ईदृशं, रूपं स्वरूपं, यस्याः सा तथोक्ता ज्ञेया।।३४।।(५३८)

मृत्यु, मूर्च्छा तथा सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें तप नहीं हैं इसलिये ये तीनों अवस्थायें तो अत्यन्त निष्फल मानी गई हैं। सांसारिक फल चाहनेवाले लोग जब मूढसमाधि को सिद्ध कर लेते हैं तब उसका महाफल प्राप्त होता है, उससे राज्यादि भी प्राप्त हो सकते हैं। इस मूढ समाधान को उग्र अवस्थाओं में माना गया है क्योंकि उससे शाप देने किंवा अनुग्रह करने का सामर्थ्य भी उत्पन्न हो जाता है (इसलिये वह मुमुक्षुओं के काम की नहीं है)।।३३।।

ज्ञानी लोगों की समाधि तुर्या तो ज्ञानरूप ही है, ज्ञानरूप होने से ही वह मोक्ष सरीखा उत्तम फल देने में समर्थ हो गयी है (मुमुक्षुओं को तो इसी का आदर करना चाहिये)। सातों अवस्थाओं की मर्यादा को हमने खोलकर दिखा दिया है।।३४।।

सप्तावस्था इमाः सन्ति चित्तस्यैव चितेस्तु न।
अवस्थाभवनं चित्तम् अवस्थासाक्षिणी तु चित्।।३५।।(५३९)
अवस्थानां व्यवस्थेयं यदि भूयो विभाव्यते।
अवस्थानां तदा साक्षी साक्षात् प्रत्यक्षमीक्षते।।३६।।(५४०)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे अवस्थाव्यवस्थानिर्णयाख्यं पञ्चदशं प्रकरणम्।।

एवं सप्तापि अवस्था निरूप्य इदानीम् एतत् सप्तावस्थानिरूपणं सप्तावस्थावच्च तत्साक्षिचिन्मात्रज्ञानार्थं निरूपितमिति द्योतयति **सप्तेति। इमा** निरूपिताः, **सप्त** सप्तसंख्या, **अवस्था** भूमयः, **चित्तस्यैव** अन्तःकरणस्यैव, **सन्ति** विद्यन्ते, **चितेस्तु** अवस्थासाक्षिचिन्मात्रस्य आत्मवस्तुनः, **तु** पदेन आत्मनः अन्तःकरणात् महद्वैलक्षण्यं सूचितं, **न** नैव सन्ति। कुतः इत्यत आह **अवस्थेति। अवस्थाभवनम्** अवस्थानां जाग्रदादितुरीयान्तानां स्थितीनां, भवनं क्षेत्रं गृहं वोत्पादकत्वाद् निवासत्वाच्च, **चित्तम्** अन्तःकरणम् अस्ति, **चित्** चैतन्यं, तद्विलक्षणा अस्ति। तदेव वैलक्षण्यमाह **अवस्थेति। अवस्थासाक्षिणी** अवस्थानां सप्तानां भूमीनां, साक्षिणी अव्यवधानेन प्रकाशिका अस्ति।।३५।।(५३९)

एतत्प्रकरणाभ्यासफलमाह **अवस्थानामिति। यदि** यर्हि, **इयं** निरूपिता, अवस्थानां सप्तसंख्याकानां स्थितीनां, **व्यवस्था** व्यवस्थितिः, मर्यादा इत्यर्थः, **भूयः** पुनः पुनः, **विभाव्यते** विचार्यते, **तदा** तर्हि, **अवस्थानां** जाग्रदादीनां सप्तावस्थानाम्, एतद्विचारकः **साक्षी** साक्षादव्यवधानेन प्रकाशकः चिन्मात्ररूपोऽहम् अस्मि इति, **साक्षात्** प्रत्यक्षमेव स्वयं **प्रत्यक्षम्** अपरोक्षं यथा तथा **ईक्षते** पश्यति, जानाति इत्यर्थः। अतो मुमुक्षुभिः सर्वदा एव इयं विचार्या इति भावः।।३६।।(५४०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ अवस्थाव्यवस्थार्थप्रकाशः पञ्चदशः।।

एवम् अवस्थाव्यवस्थां निरूप्य इदानीं तत्फलभूतचिन्मात्रस्वरूपे अवस्था-तत्साक्षिणि मनःस्थिरतासिद्ध्यै मुनीन्द्रदिनचर्यामिषेण तत्स्वरूपं निरूपयिष्यन् मुनीन्द्रदिनचर्याख्यं सार्धद्वयाशीत्युत्तरशतश्लोकं प्रकरणम् आरभते। तत्र च अवान्तरप्रकरणानि जागरण-शौच-प्रातःस्मरण-स्नानकाल-स्नान-वस्त्रधारण-पवित्रादिधारण-आचमन-प्रातःसंध्या-प्राणायाम-अर्घदान-गायत्री-जप उपस्थान-सहोमांगहोम-यज्ञशालादि-प्रायाश्चित्त-अग्न्युद्धरणहोमाहुत्यन्त-ब्रह्मयज्ञतर्पण-देवपूजा-

उपर्युक्त सातों अन्तःकरण की ही अवस्थायें हैं। सब अवस्थाओं के साक्षी चिन्मात्र आत्मा से इन अवस्थाओं का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि इन अवस्थाओं का निवासभवन चित्त ही है चैतन्य तो (दीपक की तरह) इन अवस्थाओं का साक्षिमात्र है।।३५।।

उक्त अवस्थाओं की मर्यादा को यदि बार-बार विचारा जाय तो इन जाग्रदादि अवस्थाओं का साक्षी प्रत्यक्ष दीखने लग पड़ता है।।३६।।

अथ मुनीन्द्रदिनचर्या

विचित्राक्षरविन्यासैः पवित्रार्थकथारसैः।
पावयामि निजां वाणीं मुनीन्द्रदिनचर्यया।।१।।(५४१)
गौरीं महेश्वरः प्राह चिदानन्दमयीं स्थितिम्।
वदामि तन्मतच्छायां दिनचर्यापदेशतः।।२।।(५४२)

देवपूजोपयुक्तशास्त्रार्थ-पञ्चमहायज्ञ-उपयज्ञ-दान-मध्याह्नसंध्या-वैश्वदेव-बलिदान-भोजन-ताम्बूलग्रहण-वामकुक्षिशयन-पुराण-सायंसंध्या-रात्रिकृत्य-दिनचर्याफलनिर्णयाख्यानि क्रमेण त्रिचतुर्द्वि-पञ्चदश-पञ्च-एक-चतुर्दश-सप्त-एक-त्रि-एक-एक-एक-एक-एक-द्वि-सार्द्ध द्वासप्तति-द्वि-द्वित्रीणि श्लोकानि क्रमेण उपन्यस्तानि। तत्र तावत् तां मुनीन्द्रदिनचर्यां प्रतिज्ञातां निरूपयितुं प्रतिजानीते **अथेति। अथ** अवस्थाव्यवस्थानिरूपणानन्तरं, **मुनीन्द्रदिनचर्या** मुनयो मननवन्तः, तेषाम् इन्द्राः श्रेष्ठाः, तेषां दिनं वक्ष्यमाणम् अहः, तस्य सम्बन्धिनी चर्या आचारः, मुनिसम्बन्धिदिवसे मुनीनामेव आचारः इत्यर्थः, निरूप्यते इति शेषः। एवं प्रकरण-निरूपणं प्रतिज्ञाय इदानीं मुनीन्द्रदिनचर्यानिरूपणे स्वप्रयोजनम् आह **विचित्रेति। अहं विचित्राक्षरविन्यासैः** विचित्रा अक्षराणां विन्यासा वर्णस्थापना, येषु पदेषु तैः, तथा **पवित्रार्थकथारसैः** पवित्रः अर्थः यासां कथानां ताः तथोक्ताः कथाः, तासां कथानां रसा सुखविशेषाः, यत्र विद्यन्ते तथाभूतैः, पदैः युक्तया इति शेषः। **मुनीन्द्रदिनचर्यया** मुनीन्द्रा मुनिश्रेष्ठाः पञ्चमभूमिकाद्यारूढाः, तेषां दिनं स्वात्मनः साक्षात्प्रकाशरूपं, तत्र या चर्या आचारः, तया, तत्प्रतिपादकेन प्रकरणेन इत्यर्थः, **निजां** स्वीयां, **वाणीं** भाषां, **पावयामि** पवित्रां करोमि। एतदेव स्वप्रयोजनमिति भावः।।१।।(५४१)

एवं स्वप्रयोजनमभिधाय इदानीम् एतत्प्रकरणस्य प्रामाण्याय एतत्संप्रदायज्ञानाय च गौरीमहेश्वरसंवादेन एतत्प्राकट्यं दर्शयति **गौरीमिति। महेश्वरो** महान् ब्रह्मादिषु अतिश्रेष्ठः, स चासौ वा ईश्वरः सर्वनियन्ता, सदाशिव इत्यर्थः, **गौरीं** पार्वतीं प्रति, **चिदानन्दमयीं** चित् चेत्यरहितं चिन्मात्रं, तदभिन्नो य आनन्दः, तद्रूपां स्थितिम् अवस्थां, प्राधान्ये मयट्, **प्राह** उक्तवान्, अहमपि अत्र प्रकरणे, **दिनचर्यापदेशतः** दिनस्य मुनीन्द्रसम्बन्धिदिवसस्य, चर्या मुनीन्द्राणामेव आचारः, तस्या अपदेशः व्याजं, तेन कृत्वा, सार्वविभक्तिकः तसिः, **तन्मतच्छायां** तस्य शिवस्य, यन्मतं चिदभिन्नसुखनिरूपकाभिप्रायः, तस्यच्छायाम् अंशमात्रम् इत्यर्थः। **वदामि** कथयामि। अत एतत् प्रकरणनिरूप्यार्थस्य प्रामाण्यमिति भावः।।२।।(५४२)

अब मैं विचित्र अक्षरों से युक्त पवित्र कथाओं से मिश्रित मुनीन्द्र लोगों की दिनचर्या के वर्णन के मिष से अपनी वाणी को पवित्र करता हूँ।।१।।

महादेव ने पार्वती से चिदानन्दमयी स्थिति का वर्णन किया है। मुनीन्द्र लोगों की दिनचर्या (आचार) के वर्णन करने का मिष लेकर मैं भी अब उसी का अंशतः वर्णन करूँगा।।२।।

यस्मिञ्जागरणे प्राप्ते पुनर्निद्रा न जायते।
सुमंगलं मुनींद्राणां प्रातर्जागरणं हि तत्।।३।।(५४३)

इति बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां प्रातर्जागरणनिर्णयाख्यं प्रथमं प्रकरणम्।।

इदानीं मुनीन्द्राणां दिनचर्यां निरूपयितुं मुनीन्द्र-दिनबोधनाय तत्प्रातर्जागरणं लक्षयति **यस्मिन्निति**। लौकिकार्थः तावद् **यस्मिन्** प्रसिद्धे लौकिके **जागरणे** इन्द्रियैरर्थोपलब्धिः जागरितमित्युक्तलक्षणे जागरिते, **प्राप्ते** लब्धे सति, **पुनः** भूयः तद्दिने **निद्रा** सुषुप्तिः इन्द्रियैः सह अन्तःकरणस्य कारणाज्ञानमात्रस्थितिः सुषुप्तिः इत्युक्तलक्षणा, **न जायते** न भवति तदुक्तलक्षणं **मुनीन्द्राणां** श्रेष्ठकर्मशास्त्रज्ञानिनां, विधिनिषेधज्ञानवताम् इत्यर्थः। **प्रातः जागरणं** सूर्योदयात्प्रागुपलक्षिते प्रातः प्रभाते, जागरणं जागृतिः ज्ञेयं, **हि** प्रसिद्धमेतत् सर्वजनेषु इत्यर्थः।

प्रकृतेऽर्थे तु **यस्मिन्** प्रपञ्चप्रसिद्धविलक्षणे, **जागरणे** स्वस्वरूपस्फुरणलक्षणे जागरिते, 'यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्येन्योकाः' इति श्रुतेः।

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः'।। इति स्मृतेश्च।।

प्राप्ते लब्धे सति, सोऽहमिति स्वात्मन्यनुसंहिते सति इत्यर्थः। **पुनः** भूयः, **निद्रा** स्वरूपास्फुरणरूपा सुप्तिः, लोकप्रसिद्धा निद्रापि, **न जायते** न प्रादुर्भवति, सत्त्ववती न भवति इत्यर्थः। **मुनीन्द्राणां** मननशीलेषु श्रेष्ठानां, पञ्चम्याद्यारूढानामित्यर्थः। **सुमंगलं** शोभनं मंगलं मोक्षरूपं यत्र तदुक्तलक्षणं **प्रातर्जारणं** चिदादित्योदयोपलक्षिताहं ब्रह्मास्मीति वृत्तौ भवं प्राभातिकं जागरणं जागृतिः भवति, **हि** एतद् विद्वत्सु प्रसिद्धमित्यर्थः।।३।। (५४३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे प्रातर्जागरणार्थप्रकाशः प्रथमः।।

मुनि लोगों का प्रभात जागरण तो वही कहलाता है जिस जागरण के एक बार उदय हो जाने पर फिर (आत्मविस्मरणरूपी) निद्रा का कभी उदय ही नहीं होता। जिसके आने पर मुनि लोगों को मोक्षरूपी मंगल प्राप्त हो जाता है।

चैतन्य सूर्य के उदय होने पर 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस वृत्ति का उदय हो जाना ही मुनि लोगों का प्रभातकाल जागरण होता है। 'यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति, यो जागार तमयं सोम आहतवाहमस्मि सख्ये न्योकाः', ब्रह्मविद्या-नामक जागरणरूपी महाभाग्य जिसको प्राप्त होता है, ऋचाएँ उसकी कामना करती हैं, साम उसकी स्तुति करते हैं और सोम भी उसके सख्य में अपना सौभाग्य समझता है।।३।।

अथ शौचनिर्णयः

देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यहंकारचेतसि।
अशुचावात्मभावोसावशुचित्वस्य कारणम्।।१।।(५४४)
साक्षित्वभावनातोयैस्तथा वैराग्यमृत्स्नया।
गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः।।२।।(५४५)

एवं मुनीन्द्राणां जागरणं निर्णीय इदानीं तेषामेव शौचं निर्णेतुं मुनीन्द्रशौचनिर्णयाख्यं चतुःश्लोकं प्रकरणम् आरभते। तत्रादौ मुनीन्द्राणां शौचं प्रदर्शयितुम् अशौचकारणमाह **देहेति। देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यहंकारचेतसि** देहश्च कायः, इन्द्रियाणि च श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि पञ्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धज्ञानकरणानि, वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि पञ्च वचनादानगमनविसर्गानन्दाख्यक्रियासाधनानि, मनश्च संशयरूपान्तःकरणवृत्तिः, बुद्धिश्च निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः, अहंकारश्च एतेषु तादात्म्यभ्रमरूपान्तःकरणवृत्तिः, चेतश्च स्मृतिप्रत्यभिज्ञानुभवकरणरूपान्तःकरणवृत्तिः, एतेषां समाहारे द्वन्द्व एक-वद्भाव एकवचनान्तप्रयोगः, एतस्मिन् समूह आविद्यकत्वेन मलिनत्वाद् **अशुचौ** अशुद्धे, य **आत्मभाव** आत्मानं विस्मृत्यात्मनः सत्तां तत्र आरोप्य तस्मिन् आत्मप्रतीतिः, **असौ** सः अनात्मनि आत्मभावः, **अशुचित्वस्य** परमशुद्धात्मनि अशुद्धतायाः, **कारणं** निमित्तं भवति, अतः शौचम् अपेक्षितम् इति भावः। लोके तावद् देहे विण्मूत्रादिना मलिनद्रव्येण लिप्ते सति अशुचित्वं यत्प्रतीयते। इन्द्रियेषु च अशुचिशब्दादिश्रवणादिना अशुचित्वस्फूर्त्या अशुचित्वम्। मनसि प्राणे च तेषाम् अशुचित्वसंकल्पादिना-अशुचित्वम्। बुद्धौ च तेषाम् अशुचित्वनिश्चय एव अशुचित्वम्। अहंकारे च तेषु आत्मतादात्म्येन अहमशुचिः इति अशुचित्वम्। चेतसि तु तेषाम् इदमेव सर्वमशुचित्वस्य कारणं भवति अत एव एतदनुसन्धानाभाव आबालगोपम् आशौचविध्यभावोऽपि दृश्यते इति भावः।।१।।(५४४)

एवम् अशुचित्वकारणं निरूप्य इदानीं शौचं विधत्ते **साक्षित्वेति।** यथा लोके निर्मलोदकेन शुद्धमृदा च मलमूत्रादिधावनपूर्वकं तद्गन्धनिवृत्तिपर्यन्तं गुदहस्तपादादिप्रक्षालनरूपं शौचम् आलस्यं परित्यज्य क्रियते, तद्वद् अत्र **अतन्द्रितः** अनलसो भूत्वा इति शेषः, आलस्यं परित्यज्य प्रवर्त्तमान इत्यर्थः, एतादृशो मुनिः **साक्षित्वभावनातोयैः** देहादिचित्तान्तेषु यत्साक्षित्वं साक्षाद् अव्यवधानेन प्रकाशयितृत्वं स्वस्य तस्य भावना चिन्तनम्, अखण्डसच्चिदानन्द आत्माहम् इति अनुसन्धानम् इत्यर्थः, तदेव सर्वमलक्षालकत्वात् तोयानि जलानि तैः, कृत्वा **तथा** तद्वद्, **वैराग्यमृत्स्नया** विगतो रागो यस्मात् स विरागः, ब्रह्मलोकान्तसर्वविषयेषु विरसः, तस्य भावो वैराग्यं, देहादिचित्तान्तेषु अनात्मपदार्थेषु विरसत्वमित्यर्थः, तदेव तेषु स्वस्य वासनारूपगन्धनिवर्त्तकत्वात् मृत्स्ना प्रशस्ता मृत्तया, 'प्रशस्ता तु मृत्स्ना च मृत्तिका' इत्यमरसिंहः। **गन्धलेपक्षयकरं** गन्धस्य अहंकारचित्तादिदेहान्तेषु अनात्मभूतेषु वासना एव गन्धवत्

देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त आदि अशुचि पदार्थों को आत्मा मान लिया जाता है, तब इस परम शुद्ध आत्मा में अशुद्धता उत्पन्न हो जाती है।।१।।

एवंविधेन विधिना यत्सर्वं मंगलार्जनम्।
एतदेव मुनीन्द्राणां प्रातःशौचं विशुद्धिकृत्।।३।।(५४६)

तदाश्रयद्रव्यस्मारकत्वाद् गन्धः, तस्य लेपः संबन्धः, स्वस्मिन् तेषां साक्षिभूते पूर्वकालिकतादात्म्याध्याससंस्कारेण स्फुरणात् तद्वत्त्वप्रतीतिरूपः, तस्य क्षयः नाशः, तस्य करं कारकमिति शौचविशेषणं, **शौचम्** अनात्मभूतदेहादिचित्तान्तपदार्थानां सत्त्वपूर्वकस्फूर्तिनिरासरूपं, शुद्धात्मस्फूर्तिरूपं वा, **कुर्यात्** सम्पादयेद्। यद्वा **गन्धलेपक्षयकरमिति** क्रियाविशेषणं, तस्मिंश्च पक्षे गन्धलेपक्षयकरं यथा भवति तथा शौचं सम्पादयेद् इत्यर्थः।।२।।(५४५)

एवं पादादिप्रक्षालनरूपशौचवत् मुनीनां पूर्वाङ्गभूतं शौचं निरूप्य इदानीं मंगलपदार्थदर्शनस्पर्शनलक्षणशौचवच्छौचं मुनिसम्बन्धि दर्शयति अर्धेन **एवमिति। एवंविधेन** उक्तप्रकारेण विधिना शौचानुष्ठानेन, **यद्** यादृशं, **सर्वं** सर्वशब्दवाच्यं द्वैतजातं, व्यवहारकाले समाधिकाले च तद्बाधेन ब्रह्मैव प्रतीयते तत् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतिदृष्ट्या ब्रह्मैवेति, **मंगलार्जनं** मंगलस्य शुभस्य अर्जनं सम्पादनमेव ज्ञेयम्। उक्तं शौचम् उपसंहरति **एतदेवेति। मुनीन्द्राणां** श्रेष्ठमुनीनां, पञ्चम्यादिभूमिकारूढानाम् इत्यर्थः। **विशुद्धिकृद्** देहादिमलनिरासकत्वाद् अत्यन्तशुद्धिकारकं, **प्रातःशौचं** लौकिकप्रातःशौचवत् प्रातः ज्ञानसूर्योदयोपलक्षित-पञ्चम्यारोहणलक्षणे प्रातःकाले, शौचं शुद्धिकारणं कर्म, **एतदेव** उक्तलक्षणमिदमेव ज्ञेयं नान्यल्लोकप्रसिद्धं गुदहस्तपादादिप्रक्षालनरूपं दर्पणधेनुसूर्यादिदर्शनरूपं मंगलार्जनरूपं वा तत्तु लौकिकमात्रम् इति भावः।।३।।(५४६)

साक्षित्वभावनारूपी जलों से तथा वैराग्यरूपी मिट्टी से विषयवासनारूपी गन्ध और लेप को हटानेवाला शौच सावधान होकर कर लेना चाहिये।

मुनि को (भी) बड़ी सावधानता से देहादि पदार्थों के साक्षी अपने अखण्ड सच्चिदानन्द आत्मा का निरन्तर अनुसन्धान करते रहना चाहिये कि मैं तो इन देहादियों का प्रकाशक हूँ, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी को साक्षित्व-भावना कहते हैं। मुनि की शुद्धि के लिये तो ऐसे ही जल की आवश्यकता है। क्योंकि इसी से सम्पूर्ण मल धुल जाते हैं। इसी प्रकार देहादि अनात्म पदार्थों में प्रतिक्षण अपने वैराग्य को जगाते रहना चाहिये। इस वैराग्यरूपी मिट्टी से माँजने पर अनादिकाल की विषयवासनायें जो कि मलगंध की तरह चित्त में बस गयी हैं निवृत्त हो जायेंगी।।२।।

उस ज्ञानी का प्रातः शौच भी कुछ विचित्र ही होता है वह तो ऊपर कही विधि से सब भेदभाव को भूलकर केवल सर्वानुगत सर्वानुस्यूत ब्रह्म के ही दर्शन करता है (यही उसका मंगलार्जन कहलाता है) यही मुनि लोगों का विशुद्धि करनेवाला प्रातः शौच कहलाता है।।३।।

ज्ञानयोगप्रसन्नानां मुमुक्षा मुखमुच्यते।
श्रद्धाजलेन तच्छुद्धिर्मुखप्रक्षालनं हि तत्।।४।।(५४७)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां प्रातःशौचनिर्णयः द्वितीयः।।

अथ प्रातःस्मरणम्

प्रातः स्मरन्ति मुनयो देवस्य सवितुर्महः।
वरेण्यं तद्धियः साक्षि तदेवास्मीति संततम्।।१।।(५४८)

एवं हस्तपादादिप्रक्षालनशौचवत् शौचं मंगलपदार्थदर्शनस्पर्शनं च मुनीनां निरूप्य इदानीं मुखप्रक्षालनं मुनीनाम् आह **ज्ञानयोगेति**। लोके तावत् प्रसिद्धमुखस्यैव प्रसिद्धजल-दन्तमार्जन-चूर्णादिना शुद्धिः प्रसिद्धा, ज्ञानिनां तु एतद्विलक्षणा, **ज्ञानयोगप्रसन्नानां** ज्ञानमेव जीवब्रह्मैक्यप्रमारूपं महावाक्यजन्यं ज्ञानमेव, जीवब्रह्मयोगकारणत्वाद् योगः, तस्मिन् तेन वा प्रसन्नानां शुद्धान्तःकरणानां, वैराग्यपूर्वकतदभ्यासनिष्ठानामित्यर्थः, **मुमुक्षा** तीव्रा मोक्षेच्छा, प्रथमभूम्यारूढचित्तवृत्तिरेव **मुखं** भोजनसाधनं मुखमिव 'चेतो मुख' इति श्रुतेः, मुक्तिसुखभोजन-साधनत्वात् मुखम्, **उच्यते** कथ्यते, विद्वद्भिः इति शेषः। एवं ज्ञानिनां मुखं प्रदर्श्य इदानीं मुनीन्द्राणां तत्प्रक्षालनमाह **श्रद्धेति**। **श्रद्धाजलेन** मुमुक्षाख्यभूम्युत्तरभूमिका विचारणादिकाः तदभ्यासे श्रद्धा विश्वासः, सैव मोक्षेच्छा-निवृत्तिक्रमेण मोक्षप्राप्त्या अत्यन्ततत्प्रक्षालकत्वाद् जलमिव जलं, तेन, **तच्छुद्धिः** तस्य मुमुक्षाख्यमुखस्य, शुद्धिः मलनिवृत्तिः, भवति इति शेषः, नित्यमुक्तत्वनिश्चयेन स्वस्मिन् मुक्तीच्छाभाववत्त्वं भवति इत्यर्थः, **तद्** उक्तलक्षणं, **मुखप्रक्षालनं** मुखधावनं, **हि** ज्ञानिषु प्रसिद्धं ज्ञेयम्, प्रसिद्ध-मुखप्रक्षालनं तु व्यवहारयोग्यतामात्रापादकम् इति भावः।।४।।(५४७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे शौचनिर्णयार्थप्रकाशः द्वितीयः।।

एवं मुनीन्द्राणां प्रातःशौचं निर्णीय इदानीं तेषामेव प्रातःस्मरणं निर्णेतुं प्रातःस्मरणनिर्णयाख्यं प्रकरणं पञ्चश्लोकम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** प्रातःशौचनिर्णयानन्तरं, **प्रातःस्मरणं** मुनीन्द्राणामेव प्रातः प्रभाते ज्ञानसूर्योदयात् प्रागुपलक्षिते पञ्चमभूम्युदये तदारूढवृत्तौ, स्मरणं चिन्तनं, कथ्यते इति शेषः। लोके हि देवताग्रहपुण्यकर्मपुरुषादिस्मरणं क्रियते यथा, तथा मुनीनामपि स्मर्त्तव्येष्टदेवतास्वरूपं निरूपयिष्यन् तत्स्मरणाय श्लोकानुदाहरति, तत्रादौ गायत्र्यर्थद्वारा

वैराग्यपूर्वक ज्ञानयोगाभ्यास से ही प्रसन्न रहनेवाले ज्ञानी लोगों का मुख तो मुमुक्षा होती है, श्रद्धारूपी जल की सहायता से इस मुमुक्षारूपी मुख को वे बार-बार धोते रहते हैं (जिसका स्वभावतः यह परिणाम होता है कि उस मुमुक्षा में वे धुलते-धुलते मोक्ष ही शेष रह जाता है। श्रद्धापूर्वक विचारादि करते-करते मोक्षेच्छा में से इच्छा के निवृत्त हो जाने पर उन्हें अपने नित्यमुक्तत्व का निश्चय हो जाता है) यही ज्ञानियों का मुखप्रक्षालन कहलाता है।।४।।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
यदेकं केवलं ज्ञानं तदेवाहमहं हि तत्।।२।।(५४६)

तत्प्रतिपाद्यसर्वजगत्कारणत्वाद्युपलक्षितब्रह्माभिन्नात्मस्मरणमनुसन्धापयति **प्रातरिति। मुनयः** पञ्म्याद्यारूढा, जातसंस्कारा इत्यर्थः, **प्रातः** स्वात्मसूर्योदयोपलक्षितकालात् प्राक्कालः प्रातःकालः, तस्मिन्, पञ्चम्यारोहणसमये इत्यर्थः। **सवितुः** मायोत्पादनशीलस्य सर्वजगत्कारणस्य इत्यर्थः, **देवस्य** स्वतो द्योतमानस्य, स्वयं प्रकाशस्य इत्यर्थः। तस्य चिन्मात्ररूपस्य आत्मनः तच्छुतिभिः परोक्षत्वेन निर्दिष्टं **वरेण्यं** वरणम् अंगीकारः, तद्योग्यं सुखरूपत्वात् सर्वजनप्रार्थनाविषयम् इत्यर्थः। **महः** चिद्रूपत्वात् प्रकाशरूपं तेज इव तेजःकर्मभूतं, **धियः** समष्टिबुद्धेः, **साक्षि** अव्यवहितप्रकाशकं, **तदेव** सर्वजगत्प्रकाशकत्वादिलक्षणैः उपलक्षितमेव, अतः सर्वबुद्धिसाक्षित्वात् तस्य स्वस्य च व्यष्टिबुद्धि-साक्षित्वेन साक्षिमात्रत्वस्य उभयत्र ऐक्यात् तत्पदलक्ष्यं ब्रह्मचैतन्यमेव अहम्पदलक्ष्यं कूटस्थचैतन्यम्, **अस्मि** भवामि, **इति** एवं प्रकारेण, **स्मरन्ति** अनुसन्दधति इति विद्वत्पक्षेऽर्थः।

उपासनापक्षे तु **मुनयः** उपासनाशास्त्रद्वारोपासनाज्ञानवन्त इत्यर्थः। **प्रातः** सूर्योदयात् प्रागुपलक्षिते प्रभाते, तद् 'येन सूर्यज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना' इति श्रुत्या तमोबाधनसर्वजगत्प्रकाशकत्वादिगुणविशिष्टं निरूपितं, **वरेण्यं** सर्वैः व्यवहारिजनैः व्यवहारोपयोगितया एष्टव्यं यतः **धियः साक्षि** धियो ज्ञानेन्द्रियविशेषस्य चक्षुषः, साक्षि साक्षाद् अव्यवधानेन प्रकाशकं, **सवितुः** सूर्यस्य, **देवस्य** प्रकाशरूपस्य, **महः** तेजः, **तदेव** उक्तलक्षणमेव तेजोऽहं चक्षुःक्रियाभिमानी द्रष्टा चक्षुषः पृथगसत्त्वेन द्रष्टुरपि तथात्वात् सूर्यतेजोमात्ररूपद्रष्टाहम् **अस्मि** भवमि, **इति** एवं, **स्मरन्ति** चिन्तयन्ति, तेषां फलं सूर्यत्वप्रप्तिरूपं श्रुतिषु उक्तम्। ज्ञानिनान्तु पूवोक्तलक्षणेन स्मरणेन ब्रह्मत्वप्राप्तिरूपं फलं च भवति इति ज्ञेयम्।।१।।(५४८)

इदानीं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्ये अवस्थात्रये अभिन्नत्वेन लक्षिते अहम्पदलक्ष्ये अहम्पदवाच्यचिदाभासैक्यानुसन्धानलक्षणं प्रातःस्मरणं विदुषामाह **अन्वयेति। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु** जाग्रच्च इन्द्रियैरर्थोपलब्धिः जागरितम् इत्युक्तलक्षणा जागरावस्था, स्वप्नश्च जाग्रद्दृष्टश्रुतानुभूतविषयसंस्कारवासनावासितबुद्धौ प्रपञ्चाभासरूप इत्युक्तलक्षणा स्वप्नावस्था, सुषुप्तिश्च जाग्रत्स्वप्नविषयाकारवृत्तिभिः सहैव बुद्धेः लयेन कारणाज्ञानमात्रात्मतया स्थितिः इत्युक्तलक्षणा निद्रा, एतासु तिसृषु अवस्थासु, अन्वयः अनुवृत्तिः ज्ञानस्य, व्यतिरेकः व्यावृत्तिः अवस्थानां परस्परं, ताभ्यां, कृत्वा ज्ञानं विना अवस्थाप्रकाशाभावात् ज्ञानस्य अन्वयः अवस्थासु अन्योन्यस्याम् अवस्थाऽभावदर्शनादवस्थानां

ये पंचम्याद्यारूढ मुनि लोग तो ज्ञान का उषःकाल होने पर (जब कि इनको ज्ञान-सूर्य की लालिमा दिखाई देने को होती है तब) निरन्तर इसी ज्ञानगायत्री का स्मरण किया करते हैं, इस संपूर्ण जगत्प्रपंच के कारण बने हुए, स्वयंप्रकाशमान देव का, वेदादि में वर्णित वरण करने योग्य सुखस्वरूप वह तेज (जिसके लिये प्रतिक्षण लालायित रहते हुए भी समस्त प्राणी दुर्भाग्यवश उसे नहीं जान पाते, जो कि समष्टि तथा सम्पूर्ण व्यष्टि बुद्धियों का एकमात्र साक्षी है) वह मैं ही तो हूँ।।१।।

ज्ञानमस्ति तदेव अवस्थात्रयेण तद्गतत्रिपुटीभिश्च अस्पृष्टत्वाद् अभिन्नम् अत एव सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहितं ज्ञानं कूटस्थचैतन्यम् अस्ति **तदेव** उक्तलक्षणं कूटस्थचैतन्यमेव, **अहम्** अहम्पदवाच्यो देहद्वयविशिष्टः चिदाभासः, **अस्मि** भवामि, उपाधिविविक्तस्य चिदाभासस्य कूटस्थज्ञानाभिन्नत्वम् उभयोः लक्षणैक्यादिति भावः। अन्वयमुखेन उक्तं कूटस्थचिदाभासयोः ऐक्यं व्यतिरेकमुखेनापि आह **अहमिति। अहम्** अहम्पदवाच्यःचिदाभासः, **तत्** कूटस्थचैतन्यम्, **अस्मि** भवामि, **हि** एतद् चिदाभासकूटस्थचिदात्मनोः ऐक्यं यदुक्तं तद्विद्वत्सु श्रुतिषु अपि प्रसिद्धमिति द्योतितं हिपदेन।

'न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये'।।

इत्यादिश्लोकैः अयमेव अर्थो विद्वद्भिः प्रदर्शितः। श्रुतयश्च

'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते'।।

इत्यादयश्च अस्मिन्नर्थे अनुसन्धातव्याः।।२।।(५४६)

इदानीं ज्ञानाज्ञानादिसर्वप्रपञ्चप्रकाशयितृत्वेन तस्मिन्नेव ज्ञाने ब्रह्मलक्षणसम्भावनेन स्वस्मिन्नहम्पदवाच्ये चिदाभासे तदभिन्नत्वानुसन्धानरूपं विदुषां प्रातः स्मरणमाह **ज्ञानाज्ञाने इति। ज्ञानाज्ञाने** ज्ञानं च घटपटादिप्रतीतिरूपम्, अज्ञानं च पटाद्यभानरूपं, ते उभे, **तद्विषयौ च**

जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में अन्वयव्यतिरेक से जो एक केवल ज्ञान सिद्ध होता है वही (सर्वानुगत) ज्ञान मैं हूँ, मैं ही वह ज्ञान हूँ।

तात्पर्य यह है कि जागरण का ज्ञान, स्वप्न का ज्ञान तथा सुषुप्ति का ज्ञान इनमें से जागरण, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूपी तीनों उपाधियों को निकाल दिया जाय तो केवल ज्ञान ही शेष रह जाता है। जागरणज्ञान होते समय स्वप्न तथा सुषुप्ति का ज्ञान नहीं होता, स्वप्नज्ञानकाल में जागरण तथा सुषुप्ति के ज्ञान नहीं होते। परन्तु ज्ञान तो सदा ही रहता है। जागरण आदि अवस्थायें आती जाती रहती हैं, ज्ञान तो समान रूप से बना रहता है। ज्ञान में स्वभावतः कोई भेद नहीं है। सब कालों में रहनेवाले इसी ज्ञान को ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इसे श्रुति में ब्रह्मतत्त्व कहा है, यही अनन्त ज्ञान 'मैं हूँ' परन्तु अपने अविवेक से देहों को साथ लेकर चिदाभास बन रहा हूँ। यदि मैं ज्ञानस्वरूप इन अवस्थाओं का मध्यवर्ती न होता तो इन जड अवस्थाओं का प्रकाश ही कैसे हो पाता? इन तीनों अवस्थाओं के बदलते रहने पर भी माला के पुष्पों में सूत्र की तरह जो एक केवल ज्ञान अनुगत हो रहा है वही अनुगत ज्ञान मैं हूँ, मैं ही तो वह ज्ञान हूँ। (ज्ञान के अतिरिक्त मेरा और रूप ही क्या है?)।।२।।

ज्ञानाज्ञाने तद्विषयौ तदहंकार एव च।
प्रकाश्यन्ते येन भूम्ना तदहं ह्यहमेव तत्।।३।।(५५०)

तयोः ज्ञानाज्ञानयोः विषयौ ज्ञानविषयो ज्ञानप्रकाश्यो ज्ञातघटः, अज्ञानविषयः अज्ञानावृतः अज्ञातघटः तौ च, च पुनः, **तदहंकारः** तयोः ज्ञानाज्ञानयोः अहंकारः ज्ञानी अहम् अज्ञानी अहम् इति अपि, एते सर्वे **येन** स्वयंप्रकाशत्वेन प्रसिद्धेन, **भूम्ना** व्यापकेन चैतन्येन, **प्रकाश्यन्ते** प्रकाशिता भवन्ति, ज्ञानाज्ञानयोः तत्सन्धौ च ज्ञाताज्ञातविषययोः तत्सन्धौ च ज्ञानाज्ञानाहम्भावयोः तत्सन्धौ च तेषां सर्वेषां प्रकाशयितृत्वेन विद्यमानत्वात् सत्त्वं ज्ञात्रादित्रिपुटीनां तत्सन्धौ च भानरूपेण अनुवृत्तत्वाद् व्यपकत्वं च तस्य ज्ञेयम्। **तद्** भूमाख्यं चैतन्यम्, **अहम्** अहम्पदवाच्यं साधिष्ठानम् आभासचैतन्यं, समष्ट्यहम्पदवाच्यचैतन्यतल्लक्ष्य-सर्वजगत्प्रकाशकचैतन्ययोः ऐक्येन तस्य व्यष्ट्यहंकारादि-साक्षिचैतन्यस्य च प्रकाशमात्रलक्षणैक्याद् अभिन्नत्वं साक्षिचैतन्याहम्पदवाच्य-चैतन्ययोरपि उपाधिनिरासेन वास्तवम् अभिन्नत्वमिति भावः, अस्मि। अन्वयमुखेन उक्तं व्यतिरेकमुखेन आह **अहमिति। अहमेव तद्** अहम्पदवाच्याभिन्नः तल्लक्ष्यः कूटस्थमात्रं, **तद्** भूमाख्यचैतन्यम् अस्मि, **हि** प्रसिद्धम् इदं विदुषाम् इत्यर्थः।।३।।(५५०)

ज्ञान तथा अज्ञान, ज्ञान और अज्ञान के विषय तथा उन ज्ञान-अज्ञान का अहंकार ये सब पदार्थ जिस भूमा चैतन्य से प्रकाशित हो रहे हैं वही मैं हूँ, मैं ही वह हूँ।

दीपक की अखण्डज्योति की तरह आत्मज्योति सदा सर्वत्र तथा सर्वरूप होकर विद्यमान है। सर्वत्र सम है। उसमें कभी कभी विषमता प्रतीत होने लगती हैअर्थात् उस आत्मज्योति की चुम्बक पत्थर की सी निश्चेष्ट सहायता से ज्ञान और अज्ञान, ज्ञान और अज्ञान के विषय, तथा ज्ञान और अज्ञान के (मैं ज्ञानी हूँ, मैं अज्ञानी इस प्रकार के) अहंकार प्रतीत होने लगते हैं। ये जिस व्यापक चैतन्य से प्रकाशित होते हैं वह तो मैं हूँ ही, और मैं ही वह हूँ। तात्पर्य यह है किएक क्षण ऐसा होता है कि हमें बाह्य विषय का ज्ञान होता है, एक क्षण ऐसा होता है कि हमें किसी बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं रहता इन ज्ञान और अज्ञान की दोनों अवस्थाओं का प्रकाश (भान, या प्रतीति कुछ भी कहो) केवल आत्मज्योति की ही सहायता से हो रहा है। इतना ही नहीं, ज्ञान और अज्ञान की इन दोनों अवस्थाओं के बीच में एक क्षण भर ऐसा समय भी रहता है जब कि हमें ज्ञान किंवा अज्ञान कुछ भी नहीं रहता। वह ज्ञानाज्ञान की सन्धि कहलाती है। उस समय क्या आत्मज्योति बुझ जाती है? नहीं, उस समय भी आत्मज्योति रहती ही है। उसी ने तो उस सन्धि को भी प्रकाशित किया है। इसी प्रकार ज्ञाताज्ञात विषय तथा इनकी सन्धि, ज्ञानाज्ञान का अहंकार तथा इनकी सन्धि को जो व्यापक चैतन्य प्रकाशित कर रहा है, वही मैं हूँ। ध्यान देने योग्य बात

विश्वश्च तैजसः प्राज्ञो नास्म्यहं सत्स्वरूपतः।
यतस्ते तु प्रकाश्यन्ते तदहं नास्मि चेतरत्।।४।।(५५१)

इदानीं शरीरत्रयतदभिमानित्रयप्रकाशककूटस्थचैतन्यस्य शरीरत्रयनिरासेन तत्स्थचिदाभासस्य च ऐक्यानुसन्धानरूपं विदुषां प्रातःस्मरणमाह **विश्व इति। विश्वः** स्थूलदेहतादात्म्यापन्नो जाग्रदभिमानी विश्व इत्युच्यते, सोऽहं नास्मि न भवामि, तथा **तैजसः** तेजोमयान्तःकरणरूपलिंगशरीरतादात्म्यापन्नः स्वप्नाभिमानी तैजस इच्युच्यते, सोऽहं नास्मि न भवामि, तथा **प्राज्ञश्च** कारणशरीराभिमानी अहम् अज्ञ इत्यनुभववान् प्राज्ञ इत्युच्यते, स च सोऽपि **अहं नास्मि न** भवामि। तत्र हेतुमाहसदिति। **सत्स्वरूपतः** सत् कालत्रयाबाध्यं, स्वं स्वीयं, रूपं यस्य स तथोक्तः, यद्वा सत्कालत्रयाबाध्यं स्वं स्वतः सिद्धं, स्वयमेव रूप्यते इति रूपः प्रकाशो यस्य स तथोक्तः तादृशरूपत्वात् मम, अतः अहं ते न भवामि इति योज्यं। विश्वादीनाम् अन्योन्यस्मिन् व्यावृत्तत्वात् तत्सन्धौ च तेषाम् अभावात् तदसत्त्वं मम तु तज्ज्ञत्वेन तेषु अनुस्यूतत्वात् सन्धौ च सन्धिप्रकाशकत्वेन विद्यमानत्वात् सत्त्वमिति उभयोः वैलक्षण्यस्य अनुभूयमानत्वात् ते अहं न भवामि इति भावः। प्रकाश्यप्रकाशकत्वरूपं वैलक्षण्यमपि अनुसन्धत्ते **यत इति। ते** विश्वतैजसप्राज्ञा उक्तलक्षणा, **यतः** यस्मात् निर्विकारचैतन्यात्, **प्रकाश्यन्ते** प्रकाशिता भवन्ति, सर्वदेहादिज्ञानविलक्षणं चैतन्यं ब्रह्म विश्ववैश्वानरयोः तदुपाध्योः समष्टिव्यष्टिस्थूलदेहयोश्च वनवृक्षयोः तदवच्छिन्नाकाशयोश्च ऐक्यमिव ऐक्यात्, तैजसहिरण्यगर्भयोश्च तदुपाध्योरपि समष्टिव्यष्टिलिङ्गशरीरयोः वनवृक्षयोः तदवच्छिन्नाकाशयोः ऐक्यवद् ऐक्यात्, तथा प्राज्ञेश्वरयोः तदुपाध्योः समष्टिव्यष्टिकारणशरीरयोरपि तथा ऐक्यात्, प्राज्ञादीनां प्रकाशक-चैतन्यस्यैव वैश्वानरादीनामपि प्रकाशकत्वाद् ब्रह्मत्वम्, अतो ब्रह्माभिन्नं **तद्** विश्वादिप्रकाशकं कूटस्थचैतन्यम्, **अहम्** अहम्पद-वाच्यार्थनिरासेन, **अस्मि** भवामि, **इतरत्** कूटस्थचैतन्याद् इतरद् भिन्नं, चिदाभासरूपं विश्वादिरूपं वा तदुपाधिजातं वा तद्भिन्नं ब्रह्म वा ततश्च भिन्नं कूटस्थचैतन्यं वा ब्रह्मप्रकाश्यम् ईश्वरादिचैतन्यं तदुपाधिभूतं समष्टिशरीरत्रयं वा अहं नास्मि, किन्तु सच्चिदानन्दाखण्डैकरस एव अहम् अस्मीति भावः। पाठान्तरे व्यतिरेकेण अहम्पदलक्ष्यकूटस्थस्य तत्पदलक्ष्यब्रह्मणः चाभेदोऽनुसन्धातव्यः।।४।।(५५१)

यह है किवह चैतन्य जब समष्टि अहं बनता है तब तो उससे सकल जगत् का प्रकाश होने लगता है, व्यष्टि अहं बनने पर वही केवल अहंकारादि को प्रकाशित कर सकता है। इस प्रकार उपाधियों के भेद से इतना-सा भेद प्रतीत होने पर भी प्रकाशकता तो दोनों में समान ही है, वह दोनों में अनुगत है। उपाधि का त्याग कर दें तो उपहित दोनों ज्ञान एक ही हैं। वही ज्ञान आत्मा है, वही मैं हूँ।।३।।

न तो मैं विश्व हूँ, न मैं तैजस हूँ, न मैं प्राज्ञ हूँ। ये तो सब असत् पदार्थ हैं। ये आज हैं, कल को नष्ट हो जायेंगे। मैं तो सत्स्वरूप हूँ। मैं सदा इसी रूप में बना रहता हूँ। ये तीनों जिससे प्रकाशित हो रहे हैं वही मैं हूँ। इन प्रकाश्य पदार्थों में से तो मैं कोई-सा भी नहीं हूँ।

ज्ञानाज्ञानप्रपञ्चेऽस्मिन् ज्ञानाज्ञानेन नाशिते।
यत्सच्छिष्टं परं ब्रह्म ह्यहं तन्नेतरत् स्मरेत्।।५।।(५५२)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां प्रातः स्मरणनिर्णयः तृतीयः।।

इदानीं ज्ञानाज्ञानप्रपञ्चतल्लयसाक्षित्वेन सर्वदा स्वसच्चिद्रूपत्वानुसन्धानरूपं विदुषां प्रातः स्मरणमाह **ज्ञानेति**। **अस्मिन्** चैतन्यात्मनो मम प्रकाश्यत्वेन प्रत्यक्षे, **ज्ञानाज्ञानप्रपञ्चे** ज्ञानं च साभासान्तःकरणवृत्तिरिति उक्तलक्षणम्, अज्ञानं च ज्ञानविरोधिभावरूपम् अज्ञानमिति उक्तलक्षणं, तयोः प्रपञ्चः ज्ञाताज्ञातरूपः, तस्मिन् **ज्ञानाज्ञानेन** ज्ञानं च साभासान्तःकरणवृत्तिरूपं, तेन, अज्ञानं च चिदाभासव्यक्तिहीनं ज्ञानविरोधिभावरूपं, तेन च, समाहारे एकवद्भावो, **नाशिते** नाशं प्रापिते सति, ज्ञानाज्ञानयोः परस्परं विरोधात् ज्ञानेन साज्ञानाज्ञातप्रपञ्चलयः, अज्ञानेन सज्ञानतत्प्रपञ्चलय इति विवेकः, तदा घटादिज्ञानाज्ञान-भावाभावावस्थायां घटादिभावाभावावस्थायां दीप इव **यद्** अनिर्वचनीयं चित्स्वरूपं, **शिष्टम्** उर्वरितं तत्, **सत्** कालत्रयाबाध्यम् तदुक्तलक्षणम्, **अहम्** अहंकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपः अहम्, अस्मि, अहंकारसाक्षिचैतन्यस्य अहंकारप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य च घटावच्छिन्नाकाशस्य तत्स्थजलप्रतिबिम्बिताकाशस्य च ऐक्यवत् च ऐक्यस्य पारमार्थिकत्वाद् इति भावः। अन्वयोक्तं व्यतिरेकेणापि दर्शयति **हीति**। अहम् अहंवृत्तिप्रतिबिम्बितः चिदाभासः तदुपाध्यहंकारासत्त्वेन आभासस्य च पृथगसत्त्वेन तत्सद्रूपं ब्रह्माभिन्नं कूटस्थचैतन्यमेव, अस्मि भवामि, **इतरत्** कूटस्थचैतन्याद् अन्यत् किमपि, **न** नास्ति, सत्यं न भवति इत्यर्थः। इत्येवं **स्मरेद्** अनुसन्दध्याद्, **हि** एतत् कूटस्थचैतन्य-चिदाभासचैतन्ययोः ऐक्यं विद्वत्सु प्रसिद्धमिति ह्यर्थः।।५।।(५५२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे प्रातःस्मरणनिर्णयार्थप्रकाशः तृतीयः।।

जाग्रत्काल में स्थूल देह के साथ तादात्म्य करने पर मुझे विश्व कहा जाता है, स्वप्नकाल में लिंगशरीर के साथ तादात्म्य करने से तैजस कहा जाता है, सुषुप्तिकाल में अज्ञान के साथ तादात्म्य हो जाने पर प्राज्ञ कहा जाता है, परन्तु मैं विश्व, तैजस किंवा प्राज्ञ कुछ भी नहीं हूँ। देखो, जाग्रत्काल में तैजस तथा प्राज्ञ नहीं होते परन्तु मैं रहता हूँ। स्वप्नकाल में विश्व तथा प्राज्ञ नहीं होते, मैं फिर भी होता हूँ। सुषुप्तिकाल में विश्व तथा तैजस नहीं होते, मैं तो वहाँ भी रहता हूँ। मैं तो इन तीनों अवस्थाओं के संधिकाल में भी रहता हूँ। जब कि ये तीनों ही अवस्थायें नहीं होती उस समय मुझको 'तुरीय' कहा जाता है। ये विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ जिस निर्विकार चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं वही मैं हूँ। मैं विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ, वैश्वानर हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर, व्यष्टि स्थूल, लिंग तथा कारण, समष्टि स्थूल, लिंग, कारण कुछ भी नहीं हूँ। देखो, ये सब ही पदार्थ आने जाने वाले किंवा काल पाकर नष्ट हो जाने वाले हैं। आत्मज्योति कभी बुझने वाली वस्तु नहीं है। वह तो नित्य निर्विकार व्यापक सच्चिदानन्दैकरस है, वही मैं हूँ।।४।।

अथ स्नानकालनिर्णयः

अरुणकिरणग्रस्तां प्राचीम् अवलोक्य स्नायादिति वचनात् स्नानम्।।१।।(५५३)

तथाहि

नश्यन्त्यां मोहनिद्रायामन्धकारे गलत्यथ।
आरोहति विचाराद्रिशिखरे ज्ञानभास्करे।।२।।(५५४)

एवं मुनीन्द्राणां प्रातःस्मरणं निरूप्य इदानीं तेषामेव स्नानकालनिर्णयपूर्वकं स्नानविधिं निर्णेतुं द्विश्लोकं स्नानकालनिर्णयाख्यं प्रकरणम् आरभते। तत्र तावत् स्नानकाल एव स्नानकर्तव्यतावश्यतायां बौधायनस्मृतिम् उदाहरित **अरुणेति। अरुणकिरणग्रस्ताम्** अरुणस्य सूर्यसारथेः, किरणाः कराः, तैः ग्रस्तां व्याप्तां, **प्राचीं** पूर्वां दिशम्, **अवलोक्य** प्रदर्श्य, **स्नायात्** स्नानं कुर्याद्, **इति** एवं, बौधायन **वचनात्, स्नानं,** कुर्याद् इति शेषः।।१।।(५५३)

तथा मुनीनां स्नानयोग्यम् अरुणोदयकालं निर्णेतुम् आह **तथाहीति। तथाहि** स एव स्नानकालः प्रदर्श्यत इत्यर्थः। तमेवाह **मोहनिद्रायामिति**। लौकिकार्थे तावत् सर्वप्रपञ्चविस्मारकत्वात् स्वात्मविस्मारकमोह इव निद्रायां सुप्तौ, **नश्यन्त्यां** नाशं प्राप्नुवत्यां सत्यां, **अथ** अनन्तरम्,

ज्ञान और अज्ञानमय यह प्रपंच जब (सुन्दोपसुन्दन्याय से) ज्ञान और अज्ञान से (आपस में ही) मार काट डाला जायगा, तो जो सत्पदार्थ शेष रहेगा वही परब्रह्म नामक तत्त्व होगा। वही परब्रह्म तत्त्व मैं हूँ। मैं उस तत्त्व से भिन्न नहीं हूँ। यह बात सदा ही याद रखने की है।

मुझ चैतन्य से प्रकाश पानेवाला यह प्रपंच स्वभाव से दो रूप धारण किया करता है। पहले को ज्ञान तथा दूसरे को अज्ञान कहते हैं। जाग्रत् तथा स्वप्न में तो यह प्रपंच ज्ञानरूप हो जाता है तथा सुषुप्तिकाल आते ही अज्ञानरूप को धारण कर लेता है। जिस समय हमें ज्ञान होता है (अर्थात् जब हम जाग्रत् या स्वप्नावस्था में विषयों का दर्शन कर रहे होते हैं) तब वह ज्ञान उस सुषुप्ति काल के अज्ञानप्रपंच को नष्ट कर देता है। इसके विपरीत जब हमें अज्ञान होता है (अर्थात् जब हम घोर निद्रा में पड़े होते हैं) तब वह अज्ञान हमारे जाग्रत् तथा स्वप्नकाल के ज्ञानप्रपंच को नष्ट कर डालता है, उस समय जो सत् (त्रिकाल में भी बाधित न होनेवाला) तत्त्व शेष रह जाता है उसे ही परब्रह्म कहते हैं, वही मैं हूँ। उस कूटस्थ चैतन्य से भिन्न मैं कुछ भी नहीं हूँ यही अनुसन्धान करता रहे।।५।।

बोधायन स्मृति में कहा है किप्राची दिशा में जब कुछ प्रकाश चमकने लगे तब स्नान करना चाहिये।।१।।

दिक्षु किंञ्चित्प्रकाशासु दिङ्मोहे गलिते सति।
संदेहकौशिके नष्टे जाते प्रागरुणोदये।।३।।(५५५)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां स्नानकालनिर्णयश्चतुर्थः।।

अन्धकारे अन्धं स्वात्मदर्शनहीनं करोति इति अन्धकार आत्मदर्शनवृत्तिचक्षुर्हीनकर्ता इत्यर्थः, तस्मिंस्तादृशे अज्ञाने, **गलति** नश्यति सति, तथा **ज्ञानभास्करे** ज्ञानमेव सर्वप्रपञ्चप्रकाशकत्वाद् भास्करः सूर्य इव भास्करः सूर्यः तस्मिन्, **विचाराद्रिशिखरं** विचारो विवेक एव अद्रिः इव अभ्यासेन स्थिरीभूतत्वात् पर्वतः, यद्वा विचार आत्मानात्मविवेक एव अत्ति इति सर्वानात्मनाशकत्वाद् अद्रिः तस्य शिखरं पञ्चमषष्ठसप्तमभूमिकारूपं शृंगम्, **आरोहति** आरोहणं कुर्वति सति, यद्वा विचाराख्यस्य अद्रेः अभ्यासेन स्थिरीभूताया द्वितीयभूमिकायाः शिखरमिव तृतीयचतुर्थभूमिकाख्यमिति व्याख्येयं ततः परं साक्षात्काराद् इति भावः।।२।।(५५४)

किञ्च **दिक्ष्विति**। लौकिकार्थः तावद् **दिक्षु** पूर्वादिदिशासु, **किञ्चित्** स्वल्पं यथा भवति, तथा **प्रकाशासु** प्रकाशो विद्यते यासु तथाभूतासु सतीषु, ततो **दिङ्मोहे** दिग्भ्रमो, **गलिते** नष्टे सति, ततः **सन्देहकौशिके** सन्देहः संशय इव अमंगलरूपः, कौशिक उलूकः, तस्मिन्, **नष्टे** नाशं प्राप्ते सति, गमनाशक्ततया क्वापि लीने सति इत्यर्थः। **प्रागरुणोदये** प्राग् सूर्योदयात् पूर्वम्, अरुणस्य सूर्यसारथेः, उदये उर्ध्वागमने, **जाते** भवति सति इत्यर्थः।

प्रकृते तु **दिक्षु** दिश्यते ब्रह्माऽऽभिरिति ब्रह्मानुभवकारणभूता दिशो गुरूपदेशपूर्वकमहावाक्यजन्याहं ब्रह्मास्मि इति प्रमारूपा वृत्तयः तासु, **किञ्चित्प्रकाशासु** किञ्चित् स्वल्पः, प्रकाशः अलौकिकः ब्रह्मापारोक्ष्यरूपो, यासु, तासु पञ्चम्यारूढवृत्तिषु सत्सु इत्यर्थः। अत एव **दिङ्मोहे** दिश्यते ब्रह्म आभिः ता दिशः प्रमारूपा वृत्तयः, तासां मोह आत्मब्रह्मैक्यास्फूर्तिरूपः, तस्मिन् **गलिते** नष्टे सति। यद्वा **दिक्षु** अन्तःकरणवृत्तिषु **किञ्चिद्** ब्रह्मस्फुरणरूपासु सतीषु इत्यर्थः। **दिङ्मोहे** लौकिकं पूर्वादिदिग्ज्ञानं मोहकार्यत्वात् मोहः भ्रम एव इत्यर्थः, तस्मिन्, **गलिते** नष्टे सति।

उपासनापक्षे तु विवेकः पूर्वा दिग्, अविवेकः पश्चिमा दिग्, उभयत्र चिदादित्योदयास्तप्रतीतेः कर्मज्ञानं दक्षिणा दिग्, उपासनाज्ञानम् उत्तरा दिक्, पितृलोकदेवलोकप्राप्तिसाधनत्वात् ‘कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक’ इति श्रुतेः, एतज्ज्ञानेन लोकप्रसिद्धदिग्ज्ञानमेव दिग्भ्रमः तस्मिन् नष्टे सतीत्यर्थः। ततः **सन्देहकौशिके** सन्देहःसंशयः निर्विकारः, निर्विकारोऽपि ब्रह्माभिन्नो वा भिन्न इत्यादिरूपः स एव कौशिक इव अन्धकारचारित्वाद् अमंगलरूपत्वाच्च उलूकः तस्मिन्, **नष्टे** निवृत्ते सति। उपासनापक्षे तु तत्तदुपास्यज्ञानगतसंशय एव उलूकः अमंगलरूपत्वात् ततः **प्रागरुणोदये** चित्सूर्योदयात् प्रागुपलक्षितकाले अरुणोदयः यथा सूर्योदयोपलक्षकः तद्वत् चित्सूर्योदयोपलक्षणभूतायां पञ्चम्यारूढबुद्धौ, किञ्चित् साक्षात्कारप्रकाशोदये सति। उपासनापक्षेपि उपास्यविषये किञ्चित् प्रकाशे आविर्भूते सति इति योज्यम्।।३।।(५५५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे स्नानकालनिर्णयार्थप्रकाशः चतुर्थः।।

एवं मुनीनां स्नानकालं निर्णीय इदानीं तेषामेव स्नानं निर्णेतुं स्नाननिर्णयाख्यमेकश्लोकं प्रकरणम् आरभते **अथेति**। **अथ** स्नानकालनिर्णयानन्तरं, **स्नाननिर्णयः** स्नानस्य अवगाहनस्य, निर्णयः विचारः क्रियते इति शेषः। तमेवाह **ज्ञानेति**। लौकिकपक्षे तावद् उक्तलक्षण-प्रसिद्धारुणोदयकाले गत्वा इति शेषः। **शुद्धे** निर्मले, **ज्ञानगंगाह्रदे** ज्ञानमिव 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति स्मृतेः, 'ॐ अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' इति श्रुतौ च ज्ञानस्य शुद्धत्वम् उक्तम् द्रष्टव्यम्। गंगायास्तु पापनिवर्तकत्वं प्रसिद्धमेव पुराणादौ स्वतः पवित्ररूपत्वात् पवित्रकारकत्वाच्च गंगा भागीरथी अस्ति, तस्या ह्रदः अगाधजलावयवः, तत्र **नखशिखावधि** नखानि अंघ्रिकरजानि, शिखा च चूडा, ते अवधी मर्यादे, यस्यां क्रियायां भवतः तत् तथा, आनखमाशिखम् इत्यर्थः, **मग्नः** सदेहं जले प्रविष्टः सन्, **यः** कर्मविशेषज्ञानवान् कर्मकर्त्ता कश्चित् पुरुषो, **मूलमन्त्रेण** मूलं स्मृतिपुराणादीनां श्रुतिः, तद्रूपमन्त्रेण अक्षरसमूहात्मकवाक्येन 'इमं मे गंगे' इत्यादिकेन गायत्रीरूपेण मन्त्रेण वा 'गंगागंगे'त्यादयः पुराणोक्ताश्च मन्त्रा ग्राह्याः तैः, जातित्वादेकवचनं, **सर्वदैव** सर्वकालमेव, प्रतिदिनम् इत्यर्थः। **स्नाति** अवगाहते, **स** पुरुषो, **निर्मलः** शुद्धः अस्ति इति ज्ञातव्यः।

प्रकृते तु **यः** पञ्चमभूम्याद्यारूढो मुनीन्द्रः, **शुद्धे** ज्ञातृज्ञानज्ञेयाख्य-त्रिपुटीरूप-मलरहिते, **ज्ञानगंगाह्रदे** ज्ञानं महावाक्यजन्यम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति अपरोक्षं, तदेव सर्वाविद्यादिमलनिवर्तकत्वाद् गंगा इव गंगा सन्ततप्रवृत्तं, तस्या ह्रदः अगाधजल स इव निर्विकल्पाख्यः समाधिः तस्मिन्, **नखशिखावधि** न विद्यन्ते खानि इन्द्रियाणि तज्जन्यज्ञानानि तद्विषयाश्च तेषामपि इन्द्रियमात्रत्वात् खमात्रत्वं, शिखा वक्ष्यमाणा अथर्वशीर्षार्थरूपा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा **मग्नः** आत्माकारताम् आपन्नः सन्, **मूलमन्त्रेण** 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोऽहम्' ॐकारादिमन्त्रैः, जातित्वादेकवचनं, सर्वजगत्कारणभूतब्रह्मतत्त्वप्रतिपादकत्वाद् एषां मूलमन्त्रत्वं, तेन च तदर्थानुसन्धानपूर्वं स्वस्य ब्रह्मभावानुसन्धानेन इत्यर्थः, **स्नाति** अवगाहते, तत् स्वात्मसुखमेव अनुसन्धत्ते इत्यर्थः।

अब मुनियों के स्नान का समय बताया जाता है(आत्मा को भुलाकर प्रपंचरूपी सपना दिखानेवाली) अज्ञाननिद्रा जब नष्ट हो जाय, (आत्मदर्शन को रोक रखनेवाला अज्ञानरूपी) अन्धकार भी जब नष्ट होने को तत्पर हो, ज्ञानरूपी सूर्य जब दृढ विचाररूपी उदय पर्वत पर चढ़ने की तैयारी कर रहा हो, जब (अन्तःकरण की वृत्तिरूपी) दिशाओं में कुछ ब्रह्मस्फूर्तिरूपी अलौकिक प्रकाश की झलक दिखाई पड़ने लगे, दिग्भ्रम (दिशाओं के होने का भ्रम) भी जब नष्ट होने को उद्यत हो रहा हो (मैं देह से भिन्न हूँ किंवा अभिन्न हूँ? भिन्न होने पर भी सविकार हूँ किंवा निर्विकार हूँ? निर्विकार होने पर भी मैं ब्रह्म से भिन्न हूँ किंवा अभिन्न हूँ? आत्म-विषय में इत्यादि) सन्देहरूपी अन्धकारविहारी तथा अमगंलरूप उलूक जब कहीं जा छिपे हों, तब चित्सूर्योदय से प्रथमकाल में अगले प्रकरण में बताई हुई स्नान-विधि को करे।।३।।

अथ स्नाननिर्णयः

ज्ञानगंगाह्रदे शुद्धे मग्नो नखशिखावधि।
यः स्नाति मूलमंत्रेण सर्वदैव स निर्मलः।।१।।(५५६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां स्नाननिर्णयः पञ्चमः।।

स ज्ञानी, **सर्वदैव** सर्वकालमपि, **निर्मलः** अविद्यादिमलरहित एव अस्ति इति निश्चेतव्यम्। उपासनापक्षे तु **यः** कोऽपि उपासकः, **शुद्धे** सिद्धिकामनारूपमलहीने, **ज्ञानगंगाह्रदे** ज्ञानम् अत्र परोक्षमुपास्यब्रह्मविषयं, तदेव सन्ततम् उपास्य-ब्रह्मविषयसन्मुखप्रवाहवत्त्वेन गंगा इव तस्या ह्रदः अगाधजलवत् स्थिरीभूतत्वाद् ह्रद इव ध्यानरूपेण परिणतं तस्मिन्, **नखशिखावधि** प्रत्यक्षनखशिखापर्यन्तं यथा भवति तथा **मग्नो** लीनः सन्, स नखशिखदेहास्फुरणवान् जातः सन् इत्यर्थः। यद्वा न न विद्यन्ते खानि इन्द्रियाणि शिखाश्च अथर्वशीर्षज्ञानरूपा यस्मिन् तत् नखशिखं तदवधि सीमा यस्मिन् कर्मणि तत् यथा भवति, तथा मग्नो लीनः सन्नित्यर्थः, **मूलमन्त्रेण** सोऽहमिति मन्त्रेण, **सर्वदैव** नित्यमेव, **स्नाति** अवगाहते, ध्यानेन ध्येयाकारः भवति इत्यर्थः। **स** उपासको, **निर्मलः** शुद्ध, एव ज्ञेयः।।१।।(५५६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे स्नाननिर्णयार्थप्रकाशः पञ्चमः।।

एवं मुनीन्द्राणां स्नानं निर्णीय इदानीं तेषामेव वस्त्रधारणनिर्णयपूर्वकं पूर्वाभिमुखस्थितिं निर्णेतुं वस्त्रधारणनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** स्नानानन्तरं, **वस्त्रधारणं,** निर्णीयते इति शेषः। तदेवाह **अथेति। अथ** स्नानानन्तरं, **मुनिः**मननशीलः, मुनीन्द्र इत्यर्थः। **भक्तिप्रसादाख्ये** भक्तिः प्रेमलक्षणा वृत्तिः, प्रसादः रागादिराहित्येन निर्मलत्वं, ते आख्ये आह्वे, ययोः ते तथोक्ते, ते यथा ज्ञानसाधने तथा कर्मसाधने इत्यर्थः। **अंशुके** वस्त्रे, **परिधाय** परिधानं कृत्वा, **यत्र** यस्यां दिशि, **उदयः** सूर्याविर्भावो भवति, **सा एव** नान्या, **पूर्वा** प्राची, **काष्ठा** दिग् भवति, **तस्याश्च** प्राच्याश्च, **सन्मुखः** अभिमुखो भवेत्।

प्रकृते तु **अथ** उक्तलक्षणस्नानानन्तरं, **मुनिः** मननवान्, पञ्चम्याद्यारूढ इत्यर्थः। भक्तिः प्रेमलक्षणा जीवब्रह्मैक्यविषयान्तःकरणवृत्तिः, प्रसादश्च रागादिमलनिवृत्तिपूर्वकद्वैतास्फुरणलक्षणा चित्तस्थिरता, ते आख्ये आह्वे, ययोः ते, **अंशुके** वस्त्रे, **परिधाय** सन्धाय, **यत्र** वृत्तौ, **उदयः** चित्सूर्योदयः चिन्मात्रस्वरूपात्माविर्भावो भवति, **सैव** सा वृत्तिरेव, **पूर्वा** प्रथमा, **काष्ठा** स्थितिः, अवस्था इत्यर्थः। **तस्याश्च** स्थितेः, **सन्मुखः** अभिमुखो भवेदित शेषः।।१।।(५५७)

निरन्तर बहनेवाली ज्ञानरूपी गंगा के निर्विकल्प समाधिरूपी ह्रद में नखशिख समेत ऐसी डुबकी लगानी चाहिये कि देहाभिमान नष्ट हो जाय, जगत् के मूल का निर्देश करनेवाले (ओम्, सोहं, किंवा अहं ब्रह्मास्मि) इन मूलमन्त्रों का चिंतन करते हुए जो महापुरुष ऐसा (आत्मानुसन्धानरूपी) स्नान करता है वह तो सदा ही निर्मल है।।१।।

अथ वस्त्रधारणम्

अथ भक्तिप्रसादाख्ये परिधायांशुके मुनिः।
यत्नोदयः सैव पूर्वा काष्ठा तस्याश्च सन्मुखः।।१।।(५५७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां वस्त्रधारणनिर्णयः षष्ठः।।

एवं मुनीनां वस्त्रधारणनिर्णयं निरूप्य इदानीं पवित्रादिधारणं निर्णेतुं पवित्रादिधारणनिर्णयाख्यं सार्धद्विश्लोकं प्रकरणम् वक्तुमाह **अथेति। अथ** वस्त्रधारणनिर्णयानन्तरं, **पवित्रादिधारणं** पवित्रमादि मुख्यं येषां तिलकादीनां ते पवित्रादयः, तेषां धारणम् अंगीकरणं, तन्निर्णीयते इति शेषः। तत्रादौ कुशनिर्माणमाह **पवित्रा इति।** तत्र तावत् लौकिकपक्षे **पवित्राः** शुद्धिकारणत्वात् स्वतः पूताः, तथा **सूक्ष्मशास्त्रार्थाः** शस्त्राण्येव शास्त्राणि, स्वार्थे अण्, सूक्ष्माणि सूक्ष्मधाराणि क्षुरादीनि तेषाम् अर्थः प्रयोजनं येभ्यो जायते ते तथोक्ताः, क्षुरादिभ्यः छेदनमिव कुशेभ्यः अपि जायमानत्वाद् इत्यर्थः, अत एव **तीक्ष्णाग्राः** तीक्ष्णानि तीव्राणि, अग्राणि येषां ते तथोक्ता, **हरिताश्च** हरितवर्णाश्च, एतादृशा ये प्रसिद्धा भवन्ति ते, **एते कुत्सितस्य** पापस्य विघ्नादिरूपस्य अमंगलस्य, **शातना** छेदका, यतो भवन्ति, अतः **कुशा इति** एवं नाम्ना, **निरूपिताः** कथिताः।

प्रकृते तु **पवित्रा** अज्ञानसंशयादिनिवृत्तिपूर्वक-वेदान्ताविरोधेन निर्णीतत्वात् पूता इत्यर्थः, **सूक्ष्मशास्त्रार्थाः** सूक्ष्माणि सूक्ष्मार्थानि शास्त्राणि तेषां स्थूललौकिकदृगगोचरत्वात् सूक्ष्मा ये शास्त्राणाम् अर्था उपदेशकवाक्यानां निर्णीतार्थाः तेषां तात्पर्यरूपा इत्यर्थः, अत एव **तीक्ष्णाग्राः** तीक्ष्णानि तीव्राणि अज्ञानभेदने समर्थानि, अग्राणि तात्पर्यपर्यवसानानि, येषां ते तथोक्ताः, तथा **हरिताश्च** हरिता नवीनाः, सदा बुद्धौ स्फुरिता इत्यर्थः, त **एत** उक्तलक्षणाः, **कुत्सितस्य** बन्धकत्वाद् अशुभस्य संसारस्य, **शातना** नाशका यतो भवन्ति, अतः ते शास्त्रार्था एव **कुशा इति** एवं नाम्ना, **निरूपिताः** कथिता ज्ञेया, नान्ये लौकिकाः कुशा इत्यर्थः।।१।।

इति *श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यायां वस्त्रधारणनिर्णयार्थप्रकाशःषष्ठः।।*

उपर्युक्त प्रकार का स्नान करने के पश्चात् मुनि भक्ति (आत्मविषयक प्रेम) तथा प्रसाद (चित्त की स्थिरता) नाम के दो कपड़े पहन कर जिस किसी वृत्ति में (चैतन्यरूपी सूर्य का) उदय हो अर्थात् जिस वृत्ति में चिन्मात्रस्वरूप आत्मा के दर्शन हों उसी वृत्ति को पूर्वदिशा समझे। मुनि को उचित है कि उस पवित्र वृत्ति की ओर को ही अपना ध्यानरूपी मुख फेर दे।।१।।(५५८)

अज्ञान तथा संशयादि को हटाने में समर्थ होने से पवित्र, अज्ञान को वेधन करने में समर्थ होने तक पहुँचने के कारण तीक्ष्णाग्रवाले हरित कुशाओं की तरह सदा ही नये रूप से बुद्धि में स्फुरित होनेवाले, अशुभ संसाररूपी बन्ध को काटनेवाले शास्त्रों के गम्भीर तात्पर्यरूपी ये शास्त्रार्थ ही इस दिनचर्या के असली कुशा कहलाते हैं।।१।।

अथ पवित्रादिधारणनिर्णयः

पवित्राः सूक्ष्मशास्त्रार्थाः तीक्ष्णाग्रा हरिताश्च ये।
शातना कुत्सितस्यैते कुशा इति निरूपिताः।।१।।(५५८)

तत्पवित्रकरो भूत्वा मुनिः सव्येन वर्त्मना।
वेदान्तसूत्रं यत्सूत्रं यस्याथर्वशिखा शिखा।।२।।(५५९)
जिज्ञासा दीर्घतिलको ब्रह्मकर्म समारभेत्।।३।।(५६०)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां पवित्रादिधारणनिर्णयः सप्तमः।।

यदर्थं कुशनिर्णयः कृतः तदाह **तदिति। तत्पवित्रकरः** तेषां कुशानां, पवित्रे करयोः हस्तयोः, यस्य स तथोक्तः, तथाविधो **भूत्वा, मुनिः** कर्मज्ञानी, **सव्येन वर्त्मना** वामस्कन्धतो दक्षिणकुक्षौ स्थितेन, **वेदान्तसूत्रं** यथा ज्ञानसाधनं, तद्वत् कर्मसाधनं, **सूत्रं** यज्ञोपवीतं, तत्सूत्रं धृत्वा, तथा तद्वद्, **अथर्वशिखा** अथर्वशीर्षवत् शिखा, **शिखा** चूडा, कर्मठपक्षे अयमर्थः। प्रकृते तु **मुनिः** ज्ञानी, पञ्चम्याद्यारूढ इत्यर्थः। **तत्पवित्रकरः** तैश्च उक्तैः शास्त्रार्थरूपैः कुशैः, पवित्रौ वेदान्तार्थाविरुद्धौ, करौ सांख्ययोगाख्यौ हस्तौ, यस्य वेदान्तनिष्ठावतः ज्ञानिनः स, तादृशो **भूत्वा, सव्येन वर्त्मना** अद्वैततात्पर्यरूपेण, शंकरोक्तरीत्या इत्यर्थः। **यत्** प्रसिद्धं, **वेदान्तसूत्रं** वेदान्ता उपनिषदः, तेषां सूत्राणि उपनिषदर्थसंग्राहकाणि व्यासप्रणीतानि शारीरकसूत्राणि, जातौ एकवचनं, तदर्थधारणमेव यज्ञोपवीतधारणम् इत्यर्थः। शिखामाह **यस्येति। यस्य** ज्ञानिनः, अथर्वशिखा अथर्वशीर्षाणां मन्त्राणाम् अर्थः, **शिखा** चूडा अस्ति।।२।।(५५९)

तिलकनिर्णयमाह **जिज्ञासेति।** कर्मिपक्षे **जिज्ञासा** ज्ञानेच्छेव, **दीर्घतिलकः** दीर्घः तिलको यस्य स तथोक्तः, **ब्रह्मकर्म** ब्रह्म वेदः, तदुक्तं कर्म संध्यादि कर्म, **समारभेत्** कुर्याद्। ज्ञानिपक्षे **जिज्ञासा** आत्मज्ञानेच्छैव, **दीर्घतिलको** दीर्घो लम्बायमानः, तिलको यस्य स तथोक्तः, **ब्रह्मकर्म** 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इति स्मृत्युक्तं कर्म, **समारभेत्** कुर्याद् इत्यर्थः।।३।।(५६०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकर विरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यायां पवित्रादिधारणनिर्णयार्थप्रकाशः सप्तमः।।

उन (शास्त्रार्थरूपी) कुशाओं से अपने (सांख्ययोग नामक) दोनों हाथों को (वेदान्तानुकूल) पवित्र करके, (अद्वैतरूपी) सव्य पद्धति से वेदान्तसूत्ररूपी यज्ञोपवीत को धारण करे। अथर्व शीर्ष आदि गुह्य मंत्र ही उस ज्ञानी की शिखा कहे जाते हैं। अर्थात् उन गुह्य मन्त्रों का पाठरूपी शिखाबन्धन करे। ज्ञानी पुरुष को जिज्ञासारूपी लम्बा तिलक भी लगाना चाहिये। इतना करने के अनन्तर (स्मृति में बताये 'ब्रह्मार्पणम् ब्रह्महविः' आदि पद्धति से) ब्रह्मकर्म को प्रारम्भ कर दे।।२-३।।

अथाचमननिर्णयः

जडं करतले कृत्वा समुद्रमिव कुंभजः।
यदाचामति योगीन्द्रः तदाचमनमुत्तमम्।।१।।(५६१)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् आचमननिर्णयः अष्टमः।।

एवं पवित्रादिधारणं निर्णीय इदानीं मुनीनाम् आचमनं वक्तुम् आचमननिर्णयाख्यं प्रकरणम् एकश्लोकम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** पवित्रादिधारणनिर्णयानन्तरम्, **आचमनं** मुनीन्द्राणाम् आचमनम् आचामो, निर्णीयते इति शेषः। तदेवाह **जडमिति। योगीन्द्रः** युज्यते संयोगं प्राप्यते कर्मफलेन स योगः कर्म, स येषाम् अस्ति इति योगिनः, तेषाम् इन्द्रः तेषु श्रेष्ठ इत्यर्थः, कर्मठो, **जडं** डलयोरभेदात् जलं, **करतले** करस्य हस्तस्य, तलम् उपरिभागः, तस्मिन् **कृत्वा** सन्धार्य, **कुम्भजः** कुम्भात् कलशात्, जातः कुंभजः अगस्त्यः, **समुद्रं** सागरमिव, **यत्** प्रसिद्धम्, **आचामति** पिबति, **तत्** तादृशम्, **आचमनम्** आचाम, **उत्तमं** श्रेष्ठम् इत्यर्थः। प्रकृतेर्थे तु **योगीन्द्रो** योगो जीवब्रह्मैक्यं तज्ज्ञानं च तद् येषाम् अस्ति ते योगिनः प्रथमादिचतुर्थ्यन्तभूमिकासु आरूढाः, तेषाम् इन्द्रः तेषु श्रेष्ठ इत्यर्थः, पञ्चम्याद्यारूढः जातसाक्षात्कार इति भावः। जडं 'तदेतत् जडं मोहात्मकं मायामात्रम्' इति श्रुतेः, मायारूपं तत्कार्यं च, **करतले** करोति आत्मानात्मविवेचनम् इति करः सांख्यं, स एव त्याज्यद्वैतत्यागसाधनत्वाद् हस्त इव इत्यर्थः, तस्य तलमिव तलं करोपरितनभागः, तद्वत् पुरुषोऽपि सांख्यहस्तोपरितनभागत्वात् करतलं तस्मिन्, **कृत्वा** तद्भोग्यत्वेन जगतः 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इति श्रुतेः, स्वप्नपदार्थभोक्तरि स्वप्नपदार्थजातमिव तदभिन्नत्वेन आलोक्य इत्यर्थः। **कुम्भजः** अगस्त्यः, **समुद्रं** सागरमिव पुरुषमात्रावशेषं यथा भवति तथा **यद्** यादृशं मुनिप्रत्यक्षम्, **आचामति** पिबति, **तत्** तादृशम्, **आचमनम्** आचाम, **उत्तमं** श्रेष्ठम् इत्यर्थः। **जगत्करतले**इति पाठे कर्मठपक्षे गच्छति व्रजति पुनः पुनः स्वक्रियायाम् इति जगत्, तल्लक्षणः करः हस्तः, तस्य तले जलमिति अध्याहार्यम्। ज्ञानिपक्षे तु 'अम्भो मरीचीः मरमाप' इति श्रुतेः, जलकार्यत्वप्रतिपादनात् कार्यकारणयोः अभेदाच्च जगदेव जलम्, अन्यत्तु पूर्ववत्।।१।।(५६१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यायां आचमननिर्णयार्थप्रकाशः अष्टमः।।

अब योगीन्द्रों की आचमनविधि बतायी जाती हैजिस प्रकार अगस्त्य मुनि ने इतने बड़े समुद्र का आचमन कर डाला था इसी प्रकार इस जडप्रपंच को आचमनीय जल की तरह (आत्मानात्म-विवेकरूपी) हथेली पर रखकर उसका आचमन कर लिया जाय (अर्थात् इस जड जगत् को अपने से अभिन्न समझकर अपने में ही लय कर दिया जाय) तथा इस लय चिन्तन के द्वारा केवल स्वयं ही शेष रहा जाय। जब इस दृश्यमान जड संसार का कोई भी चिह्न शेष न रह जाय तो यही योगीन्द्र का उत्तम आचमन हो।।१।।

अथ प्रातःसन्ध्यानिर्णयः

अथोपयुक्तः क्रियते प्रातःसन्ध्याविनिर्णयः ।
मनोजन्म जगज्जन्म मनोनाशो जगल्लयः ।।१।।(५६२)
तस्योन्मेषनिमेषाभ्याम् उदयप्रलयौ यतः ।
समाध्यभ्यासशीलस्य पूर्वसंस्कारकारणात् ।।२।।(५६३)

एवं मुनीनाम् आचमनं निरूप्य इदानीं मुनीनां प्रातःसन्ध्यां निर्णेतुं प्रातःसंध्यानिर्णयाख्यं सार्धत्रिश्लोकं प्रकरणम् आह **अथेति। अथ** आचमननिर्णयानन्तरं, **प्रातः संध्यानिर्णयः** प्रभाते या संध्या तस्य निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। तमेव प्रतिजानीते **अथेति अर्धेन। अथ** आचमननिर्णयानन्तरम्, **उपयुक्तः** प्रातः सन्ध्योपयोगी, **प्रातःसन्ध्याविनिर्णयः** मुनीनां प्रातःप्रभाते, या संध्या कर्म, तस्या विनिर्णयो विचारः, **क्रियते** निरूप्यते इति, उभयत्रापि एक एवार्थः। प्रतिज्ञातामेव मुनीनां प्रातः संध्यां निर्णेतुं प्रातःसंधिमाह **मन इति।** कर्मठानां तु प्रातःसन्धिः स्पष्ट एवेति तम् उपेक्ष्य मुनीनामेव तं निर्णीय दर्शयति **मनोजन्मेति। मनोजन्म** मनसः संकल्पविकल्पात्मकान्तःकरणवृत्तेः, जन्म आविर्भावः, स एव तत्संकल्पितस्य जगतो जन्म आविर्भावः मनःकल्पितस्य जगतः मनोमात्रत्वात्, मनोजननमेव जगज्जननमिति भावः। अन्वयमुखेन उक्तं व्यतिरेकमुखेनापि आह **मनोनाशः** मनसः संकल्पविकल्परूपांतःकरणवृत्तेः, नाशो लयः, स एव **जगल्लयः** जगतो विश्वस्य, लयः नाशः, सुषुप्त्यादौ मनोलये सति सर्वप्रपञ्चलयदर्शनात्, जाग्रति च मनस उदयेनैव सर्वप्रपंचोदयदर्शनात् च इति भावः।।१।। (५६२)

तत्र हेतुमाह **तस्येति। यतो** हेतोः **तस्य** मनसः **उन्मेषनिमेषाभ्याम्** उन्मेषः संकल्परूपेण प्रपञ्चसन्मुखत्वं, **निमेषश्च** संकल्पत्यागेन प्रपञ्चविमुखत्वं ताभ्यां, जगतः **उदयप्रलयौ** उदयः उत्पत्तिः, प्रलयः नाशः, तौ भवतः, अतो मनस आविर्भावे जगत आविर्भावः तल्लये च तल्लय इति भावः। तत्र समाधिरूपप्रपञ्चलयस्य जाग्रदादिरूपप्रपञ्चोद्भवस्य च मनोलयमनोजन्मनोः संधिरेव संध्याकालो मुनीनाम् इत्याह **समाधि इति। समाध्यभ्यासशीलस्य** मनोजन्ममनोलयसाक्षिचैतन्याकारपरिणामः मनसः समाधिः, तस्य यः अभ्यासः पुनः पुनः तत्र वृत्तेः स्थिरीकरणं, तदेव शीलं स्वभावो यस्य, तस्य पुरुषस्य मनसो वा **पूर्वसंस्कारकारणात्** पूर्वं प्राग् यत्प्रपञ्चाकारवृत्तित्वं, तस्य संस्कारो वासनारूपः, स एव कारणं निमित्तं व्युत्थाने, तस्माद् हेतोः।।२।।(५६३)

अब मुनियों का उपयोगी प्रातःसन्ध्या-निर्णय कथन करते हैं।।१।।

मन का जन्म ही जगत् का जन्म है एवं मन का नाश ही जगत् का लय होना है, क्योंकि मन के उन्मेष (संकल्प) और निमेष (संकल्पों से विमुखता) से ही जगत् के उत्पत्ति और प्रलय होते रहते हैं।।२।।

यदुत्थानं समाधानात् स सन्धिः सन्धिरत्र हि।
तत्रापि प्राप्ततत्त्वानां गुरूणामुपदेशतः।।३।।(५६४)
'निद्रादौ जागरस्यान्ते निद्रान्ते जागरोदये।
लयो भवति चित्तस्य कार्यं तत्रात्मचिन्तनम्' इति।।
खण्डितं नानुसन्धानं सा सन्ध्येत्युच्यते बुधैः।।४।।(५६५)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां मुनीन्द्रप्रातःसन्ध्यानिर्णयःनवमः।।

अथ प्राणायामनिर्णयः

शरीराभ्यन्तरो वायुः प्राणापान इतीरितः।
स एव गतिभेदेन संज्ञादशकमागतः।।१।।(५६६)

यदिति। समाधानात् समाधितः, **यत्** प्रसिद्धम्, **उत्थानं** प्रपञ्चे जागरणं जायते, **स** प्रपञ्चलयस्य प्रपञ्चाविर्भावस्य च मनोलयस्य मनआविर्भावस्य च वा मध्यरूपो, **सन्धिः** सम्यग् धीयते चिन्त्यते निरुपाधित्वेन आत्मा यत्र स सन्धिशब्दवाच्यः कालः, **अत्र** मुनीन्द्र-संध्याकर्मणि विहितः कालः, **संधिः** संधिनामको ज्ञेयः, **हि** प्रसिद्धश्च अयं शास्त्र उक्तः। तथोक्तम् एवं संधिम् उक्त्वा संध्यामाह **तत्रापीति। गुरूणां** महावाक्यार्थद्वारा स्वस्मिन् ब्रह्मत्वोपदेष्टॄणाम्, उपदेशतः उपदेशेन, सार्वविभक्तिकस्तसिः, **प्राप्ततत्त्वानां** प्राप्तं लब्धं, तत्त्वम् अनारोपितात्मस्वरूपं, यैः ते तथोक्ताः तेषां, **तत्रापि** उत्थाने जातेऽपि।।३।।(५६४)

अनुसंधानं स्फुरणं, स्वात्मस्फुरणम् इत्यर्थः, **न खण्डितं** न भग्नं, यदि तर्हि, **सा** स्वात्मानुसन्धानरूपा, **संध्या** इति प्रपञ्चसाक्षिणः प्रपञ्चोद्भवस्य च सन्धिभवत्वात् स्वात्मानुसन्धानवृत्तेः सन्ध्यात्वम्, **इति** एवं, **बुधैः** विवेकिभिः, **उच्यते** कथ्यते।।४।।(५६५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यायां मुनीन्द्रप्रातःसन्ध्यानिर्णयार्थप्रकाशः नवमः।।

एवं मुनीन्द्राणां सन्ध्यां निर्णीय इदानीं तेषामेव प्राणायामं निर्णेतुं प्राणायामनिर्णयाख्यं षोडशश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** प्रातःसन्ध्यानिरूपणानन्तरं, **प्राणायामो** मुनीन्द्राणां प्राणायामः, निर्णीयते इति शेषः। तमेव निर्णयमाह **शरीरेति। शरीराभ्यन्तरः** शरीरस्यवपुषः अभ्यन्तरः शरीरावच्छिन्नो, **वायुः** मारुतः, **प्राणापानः** प्रकर्षेण अनिति जीवयति देहेन्द्रियादिसंघातं

समाधि (मन की उत्पत्ति और मनोनाश के प्रकाशक चैतन्य के आकार का ही मन को कर देने) का अभ्यास करने वाले पुरुष का जब कि पहले संस्कारों की प्रबलता के कारण समाधि से व्युत्थान हो जाता है। (अर्थात् जब आत्मनिरीक्षण बन्द होकर प्रपंच की स्फूर्ति (प्रतीति) होने लगती है) यही इस दिनचर्या में (मनोलय और मनोजन्म की किंवा प्रपंचलय तथा प्रपंच के जन्म की) सन्धि होती है। मुनि लोगों को उस समय में सन्ध्या का अनुष्ठान करना चाहिये।।३।।

ऊर्ध्वाधोगतिमुख्यं द्विरूपं तस्य गतिद्वयम्।
ऊर्ध्वं गच्छन्भवेत् प्राणस्त्वपानः स्यादधश्चलन्।।२।।(५६७)
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
अनयोः शृंखला देहे तेन जीवो न निश्चलः।।३।।(५६८)

स प्राणः,अपानिति निःसृत्य बहिःपारयति[1] देहेन्द्रियादिसंघातं सः अपानः, **इति** एवं नाम्ना, **ईरितः** कथितः। ननु शारीरस्य वायोः दशविधत्वं तत्र तत्र शास्त्रेषु दृष्टं तत्कथम् अत्र द्वैविध्यमेव उच्यते? तत्राह **स एवेति। स एव** प्राणापानाख्यः शारीरो वायुरेव, **गतिभेदेन** गतिः गमनं, तस्या भेदेन ऊर्ध्वाध इत्यादिस्थानैः चलनभिन्नत्वेन, **संज्ञादशकं** संज्ञानां नाम्नां, दशकं दशत्वम्, **आगतः** प्राप्तः, प्राणापानव्यानोदानसमान-नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजयाख्यां प्राप्तः इत्यर्थः।।१।।(५६६)

ननु तर्हि अत्र द्वैविध्यमेव कुत उक्तं? तत्राह **ऊर्ध्वाध इति। तस्य** शारीरस्य वायोः, ऊर्ध्वं च अधश्च ऊर्ध्वाध ऊर्ध्वाधश्च ते गती च गमने ते मुख्ये प्रधाने यस्य तत् तथोक्तं, **गतिद्वयं** गत्योः गमनयोः, द्वयं युग्मं, **द्विरूपं** द्वयो रूपयोः समाहारः द्विरूपम्, अस्तीति शेषः। ननु कया गत्या किं नाम तस्य इत्यत आह **ऊर्ध्वमिति। ऊर्ध्वम्** उपरि, **गच्छन्** चलन् सन्, स शारीरो वायुः, **प्राणः** प्राणनामा, **भवेद्** उपरितनभागे नासाग्रसमवर्त्तिषोडशान्तस्थाने चलन् प्राणो भवेद् इत्यर्थः, तथा स एव शारीरो वायुः, **अधः** षोडशान्ताद् अधो हृदयकमलान्तं, **चलन्** गच्छन् सन्, **अपानः** अपाननामा, **स्याद्** भवेत्।।२।।(५६७)

ननु प्राणरूपेण अपानरूपेण वा शरीर एव कुतः तिष्ठति, बहिः कुतो न गच्छति? तत्राह **अपान इति। अपानः** अधोगत्युपलक्षितः शारीरो वायुविशेषः, **प्राणम्** ऊर्ध्वगमनशीलं शारीरं वायुं, **कर्षति** आकर्षति, ततः **प्राणः** प्राणनामा वायुः, **अपानम्** अपाननामानं वायुं, **च** अपि, **कर्षति** आकर्षति। ननु अधऊर्ध्वगतिमतोः वाय्वोः परस्परम् आकर्षणं परस्परकृतं कथं सम्भवति इत्याशंक्य आह **अनयोरिति। अनयोः** प्राणापानयोः, **देहे** शरीरे, **शृंखला** शृंखला इव परस्परं बन्धनं

अनुभवी गुरुओं के उपदेश से आत्मतत्त्व का दर्शन कर लेनेवाले लोगों का जब समाधि से व्युत्थान हो जाय, तब भी जब कि आत्मस्वरूप की स्फूर्ति बन्द नहीं हो तो इसी को विवेकी लोग मुनियों की सन्ध्या कहते हैं।।४।।

शरीर के अन्दर का वायु प्राण तथा अपान कहलाता है, परन्तु गतिभेद से उसी वायु के (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय ये) दश नाम हो गये हैं।।१।।

उस प्राण की दो गति ही मुख्य हैं एक ऊर्ध्वगति दूसरी अधोगति। ऊपर (अन्दर) को जाता हुआ वह प्राण कहलाता है तथा नीचे बाहर को जाता हुआ अपान हो जाता है।।२।।

---

[1] मारयतीति वा पाठः।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
चित्ते चले चलः प्राणो निश्चले निश्चलो भवेत्।।४।।(५६९)

ग्रन्थिः इत्यर्थः, अस्ति इति शेषः। तयोः परस्परं शृंखलासत्त्वे चिह्नम् आह **तेनेति। तेन** प्राणापानशृंखलासत्त्वेन, **जीवो** जीवोपाधिः चित्तं, **न निश्चलो** न स्थिरो भवति, अतः प्राणापानयोः बन्धनम् अस्तीति निश्चेतव्यम् इति भावः। अतः प्राणापानावरोधं विना चित्तस्थैर्यं न स्याद् इति भावः।।३।।(५६८)

तत्रापि मतभेदमाह **चल इति। वाते** प्राणवायौ, **चले** चञ्चले सति, **चित्तम्** अन्तःकरणं जीवोपाधिभूतं, **चलं** चञ्चलं, **भवेत्** स्यात् तस्मिन्नेव प्राणवायौ **निश्चले** स्थिरे सति, **चित्तम्** अन्तःकरणं, **निश्चलं** स्थिरं, **भवेत्** स्यात्, इति केषांचिद् मतम्। तथा केषांचिन्मते **चल इति। चित्ते** जीवोपाधिभूते अन्तःकरणे, **चले** संकल्पविकल्परूपेण चलायमाने सति, **प्राणः** शरीरावच्छिन्नो वायुः, **चलः** चञ्चलः, **भवेत्** स्यात्, तस्मिन्नेव जीवोपाधिभूते अन्तःकरणे **निश्चले** संकल्पविकल्पत्यागेन स्थिरीभूते सति, स एव शारीरो वायुः, **निश्चलः** स्थिरो, भवेत् स्याद्, इत्येवं केषांचिन्मतं ज्ञेयम्।।४।।(५६९)

मतभेदमेव किञ्चित् स्पष्टीकुर्वन्नाह **कश्चिदिति। कश्चित्** कोऽपि, हठयोगी इत्यर्थः, **प्राणजयेनैव** प्राणः शरीराभ्यन्तरो वायुः, तस्य जयः स्थैर्येण स्वाधीनीकरणं, तेनैव केवलं, **मनोनिश्चलतां** मनसः अन्तःकरणस्य, निश्चलतां स्थैर्यं, **भजेत्** प्राप्नुयात्, तथा **कश्चिद्** अन्यः, सांख्यः पातञ्जलश्च इत्यर्थः, **मनोजयेनैव** मनसः अन्तःकरणस्य, जयः स्थैर्यसम्पादनं, तेनैव केवलं, **प्राणनिश्चलतां** प्राणस्य शरीरावच्छिन्नस्य वायोः, निश्चलतां स्थिरत्वं, **भजेत्** प्राप्नुयात्।।५।। (५७०)

अन्यदपि मतमाह **कश्चिदिति। कश्चिद्** कोऽपि, मुनिः मननवान् वेदान्तीत्यर्थः, **द्वयजयेनैव**

(आरा खेंचनेवाले दो काष्ठ शिल्पियों के समान) प्राण को तो अपान खींचता है तथा अपान को प्राण नामक वायु खींचता रहता है। इस देह में इन दोनों की परस्पर शृंखला (के समान एक ग्रन्थि) लग रही है इसी के कारण यह जीव कभी निश्चल नहीं हो पाता है। (अभ्यास के द्वारा इस शृंखला को नष्ट कर डालने से ही जीव निश्चल हो सकता है। इसी से चित्त की स्थिरता के लिये प्राणापान को रोकना आवश्यक होता है)।।३।।

जब प्राण चलता है तो चित्त चंचल हो जाता है। प्राण के निश्चल हो जाने पर चित्त स्वयमेव निश्चल हो जाता है। दूसरे कहते हैं कि काम क्रोधादि के समय चित्त में जब संकल्प विकल्प उठने लगते हैं तब प्राण भी चंचल हो जाता है (अर्थात् तीव्रगति से चलने लगता है) तथा मन के निश्चल हो जाने पर (जब कि वह अपने संकल्प विकल्पों को छोड़कर स्थिर हो जाता है तब) प्राण स्वयं ही निश्चल हो जाता है।।४।।

कश्चित् प्राणजयेनैव मनोनिश्चलतां भजेत्।
कश्चिन्मनोजयेनैव प्राणनिश्चलतां भजेत्।।५।।(५७०)
कश्चिद् द्वयजयेनैव मनोनिश्चलतां भजेत्।
इति योगगतिज्ञानां त्रिविधा योगिनां गतिः।।६।।(५७१)
प्राणद्वारा मनः साध्यं मतं हि हठयोगिनाम्।
मनसैव मनः साध्यमिति विज्ञानयोगिनाम्।।७।।(५७२)

द्वयं मनःप्राणयोः द्वयं युग्मं, तस्य जयः स्वाधीनीकरणस्थैर्यसम्पादनम् इत्यर्थः, तेनैव निश्चलतां स्वात्मनि स्थैर्यं, **भजेत्** प्राप्नुयाद्। उक्तं मतभेदम् उपसंहृत्य निगमयति **इति इति। इति** एवं प्रकारा, **योगगतिज्ञानां** योगस्य जीवब्रह्मैक्यज्ञानस्य, गतिः प्राप्तिः, तां जानन्ति विदन्ति ते तथोक्ताः, तेषां, **योगिनां** योगवतां, **गतिः** गमनं, योगप्रापकं साधनम् इत्यर्थः, **त्रिविधा** त्रिप्रकारा, अस्ति इति शेषः। अन्तःकरणशुद्धिद्वारा जीवब्रह्मैक्यकारणं त्रिप्रकारं ज्ञेयम् इति भावः।।६।।

ननु एतानि केषां मतानीति ज्ञानापेक्षायाम् आह **प्राणद्वारेति। प्राणद्वारा** प्राणावरोधनद्वारभूतेन प्राणायामादिरूपेण हठेन, **मनः** स्वान्तं, **साध्यं** स्थिरत्वेन स्वाधीनं कार्यं, **हि** एतद्, **हठयोगिनां** हठयोगवतां, **मतं** निश्चितम्, अस्ति इति शेषः। तथा **मनसैव** विवेकरूपेण मनोंशेनैव केवलं, **मनः** संकल्पविकल्परूपः मनोंऽशः, **साध्यं** संकल्पविकल्पलयेन स्थिरं कार्यम्, **इति** एवंरूपं, **मतं** निश्चितं, **विज्ञानयोगिनां** पातञ्जलसांख्यादीनाम् अस्ति। तत्र केवलविवेकेनैव मनःस्थैर्यं न भवति किन्तु प्राणावरोधेनैव योगिषु एव तत्स्थैर्यस्य दृश्यमानत्वाद् इति हठमतं, केवलप्राणायामादिना

किन्हीं (हठयोगियों) के विचार में प्राण को वश में करने से ही मन की निश्चलता हो जाती है। किन्हीं (सांख्य तथा पातंजल) के मतानुसार अन्तःकरण को जीत लेने से ही प्राण निश्चल हो जाता है। किन्हीं (राजयोगियों वेदान्तियों) के मतानुसार तो प्राण तथा मन दोनों ही को जीतने से मन (आत्मविषय में) निश्चल हो जाता है, इस प्रकार योग की गति को जाननेवाले योगियों के साधन तीन प्रकार के देखे जाते हैं।।५-६।।

प्राणायाम के द्वारा मन को स्वाधीन करना चाहिये ऐसा मत हठयोगियों का है। पातंजल तथा सांख्य तो ऐसा मानते हैं कि (मन के दो अंश हैं एक विवेकरूप दूसरा संकल्पविकल्परूप, उनमें) विवेकरूप मनोंश की सहायता से संकल्पविकल्परूपी, मनोंश को वश में कर लिया जाय।

(हठयोगियों का तात्पर्य यह है कि केवल विवेक से मन की स्थिरता नहीं हो सकती, किन्तु प्राणावरोध से ही मन स्थिर हो सकता है। मन की स्थिरता केवल हठयोगी ही कर सकते हैं। इसके विपरीत सांख्य तथा योग का भाव यह है किकेवल प्राणायाम से यदि प्राण को वश में करके मन को रोक भी लिया जायगा तो भी मूढमन

मनःप्राणद्वययुजस्ते तु श्रेष्ठतराः स्मृताः।
चेच्छुष्कहठिनो मूढाः ते भण्डा न तु योगिनः।।८।।(५७३)
ते त्वर्धयोगिनः प्रोक्ता क्षुद्रसिद्ध्यर्थयोगिनः।
पिंगलेडा सुषुम्णा च मुख्यास्तिस्रस्तु नाडिषु।।९।।(५७४)

कृतेऽपि प्राणावरोधे मनोमौढ्यावशेषाद् बीजरूपेण मनोऽवशिष्टमिति सुप्तिमूर्छादिषु इव न मनोलयरूपः पुरुषार्थः सिद्ध्यति इति विवेकेनैव केवलं मन्तव्यमिथ्यात्वप्रतीतौ दृढतरायां सत्यां मनसः शैथिल्येन क्रमाद् लयरूपपुरुषार्थः सिद्ध्येदिति ज्ञानिनां मतमिति विवेकः।।७।।(५७२)

वेदान्तमतमाह **मनःप्राणेति। ये तु** उक्तोभयविलक्षणा इति तु-पदार्थः। तदेव वैलक्षण्यम् आह **मन इति। मनःप्राणद्वययुजः** मनश्च अन्तःकरणं, प्राणश्च शारीरो वायुः, तयोः द्वयं युग्मं, तद् युञ्जन्ति लीनं स्वात्मनि कुर्वन्ति इति ते तथोक्ताः, **ते श्रेष्ठतरा** अतिश्रेष्ठा इत्यर्थः, **स्मृता** उक्ता, मुनिभिरिति शेषः, विनैव गुरुदीक्षां स्वबुद्ध्या हठे प्रवृत्तान् निन्दति **चेद् इति। मूढा** हठक्रियाज्ञानशून्या, गुरुशिक्षारहिता इत्यर्थः, अत एव **शुष्कहठिनो** निष्फलहठाभ्यासरताः **चेद्** यदि भवन्ति, तर्हि **ते** शुष्कहठाभ्यासिनो, **भण्डा** हठक्रियाविनोदिन एव ज्ञेया, **तु** पुनः, **ते योगिनो** हठयोगाभ्यासिनो **न** न भवन्ति, हठमिषेण ते लोकवञ्चका ज्ञेया इति भावः।।८।।(५७३)

इदानीं सिद्ध्यनादरेण मुक्तौ आदरं विधातुं सिद्धिकामेन हठे प्रवृत्तानां क्षुद्रत्वं दर्शयति **ते त्विति। ये तु** तुपदेन गुरुशिक्षया हठाभ्यासिषु पूर्वेभ्यः श्रैष्ठ्यं सूचितं, **क्षुद्रसिद्ध्यर्थयोगिनः** क्षुद्राः तुच्छाः परकायप्रवेशाकाशगमनादिका मोक्षविघ्नभूता या सिद्धयः, ता एवार्थः प्रयोजनं, तस्मै तत्प्राप्तुं, योगिनो योगाभ्यासिनो भवन्ति, ते, **अर्धयोगिनः** अलौकिकसिद्धिकारणयोगवत्त्वाद् योगिनोऽपि प्रधानफलभूतमोक्षाभावात् तेषां क्षुद्रत्वाच्च अर्धयोगिनः, **प्रोक्ताः** कथिता, मुमुक्षुभिः तत्र आदरो न कर्तव्य इति भावः। अत्र पतञ्जलिरपि आह'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' इति। अस्यार्थःयाः सिद्धयः अन्तर्धानादयः ते समाधौ मुक्तौ, उपसर्गा विघ्नभूता भवन्ति। ननु समाधौ

बीजरूप से शेष रह ही जायगा। जैसा कि सुषुप्ति किंवा मूर्च्छा में शेष रह जाता है। इसलिये ऐसा मनोलय कर लेना कोई पुरुषार्थ नहीं होगा। किन्तु विवेक करते करते जब मन्तव्य पदार्थ पूरी तरह मिथ्या प्रतीत होने लगेंगे तब मन स्वतः ही शिथिल होकर लीन हो जायगा। ऐसे मनोलय को ही पुरुषार्थ कहा जा सकता है क्योंकि इस प्रकार लीन हुआ मन फिर उत्पन्न नहीं होगा)।।७।।

जो तो मन तथा प्राण दोनों को ही (लय-चिन्तन के द्वारा सर्वकारण) आत्मा में लीन कर लेते हैं वे (राजयोगी) ही सब में श्रेष्ठ योगी कहलाते हैं। शुष्क हठी (गुरु से योगविद्या को सीखे बिना पुस्तकें देखकर क़िंवा किसी योगविद्या को न जानने वाले से ही कुछ सुनकर जो लोग हठयोग का अभ्यास करते हैं वे) लोग तो योगविद्या के विदूषक हैं योगी नहीं।।८।।

इडा वामा पिंगलान्या सुषुम्णा मध्यवर्तिनी।
वामदक्षिणमार्गेण सदा वहति मारुतः।।१०।।(५७५)
यदा द्वावपि रुध्येते प्राणमार्गौ सुयोगिना।
तदान्यत् सर्पवत् प्राणो रन्ध्रमाविशति स्वयम्।।११।।(५७६)

अन्तःकरणलये सति कथं सिद्ध्यनुभवः तत्राह्व्युत्थान इति। समाधितो व्युत्थानेन प्रपञ्चोद्भवे सति य एव सिद्धयः सिद्धिशब्दवाच्यः अर्थ इत्यर्थः, स एव विघ्नभूतो ज्ञेय इति, अतः सिद्ध्यादरं परित्यज्य मुक्तिहेतुकं योगम् अभ्यसितुं योगांगभूतं प्राणायामं निरूपयिष्यन् तदुपोद्घातत्वेन नाडीभेदमाह **पिंगला इति। नाडिषु** द्वासप्ततिसहस्रसंख्यासु देहान्तर्वर्तिनीषु नाडिषु मध्ये **मुख्याः** प्रधानाः **तिस्रस्तु** त्रिसंख्याका नाड्यो भवन्ति, तदधीनत्वात् सर्वासाम् इति भावः। तु पदेन द्वासप्ततिसहस्रनाडीभ्यः तिस्रः अतिविलक्षणा इति सूचितम्। ता एव नामतो निर्दिशति **पिंगला इति। पिंगला** पिंगलानाम्नी एका, **इडा** इडानाम्नी द्वितीया, **सुषुम्णा च** सुषुम्णानाम्नी अपि तृतीया भवति।।९।।(५७४)

स्थानतोऽपि ता निर्दिशति **इडेति। वामा** वामभागे प्रवर्तमाना, **इडा** इडानाम्नी ज्ञेया, **अन्या** दक्षिणा दक्षिणभागे प्रवर्तमाना नाडी, **पिंगला** पिङ्गलानाम्नी भवति, तथा **मध्यवर्तिनी** मध्ये प्रवर्तमाना नाडी, **सुषुम्णा** सुषुम्णानाम्नी ज्ञेया। यदर्थं नाडीभेद उक्तः तमाह **वामेति। मारुतः** शारीरो वायुः **वामदक्षिणमार्गेण** वामः सव्यो, दक्षिणः अपसव्यो, मार्गो नाडीच्छिद्रं, तेन, इडापिङ्गलानाडीभ्याम् इत्यर्थः, **सदा** नित्यं, **वहति** चलति।।१०।।(५७५)

तर्हि सुषुम्णायां कदा चलति इत्यत आह **यदेति। सुयोगिना** सम्यग् योगाभ्यासवता पुरुषेण, **द्वावपि** इडापिंगलानामानौ उभौ अपि, **प्राणमार्गौ** प्राणस्य शरीरावच्छिन्नस्य वायोः, मार्गौ पन्थानौ, **रुद्ध्येते** रुद्धौ भवतः, **यदा** यस्मिन् काले, **तदा** तस्मिन् काले, **प्राणः** शारीरो वायुः, **सर्पवद्** यथा सर्पः सर्वेषु च्छिद्रेषु रुद्धेषु सत्सु तदन्यत् सूक्ष्ममपि च्छिद्रं प्रविशति, तद्वद्, **अन्यद्** इडापिंगलाभ्यां भिन्नं, **रन्ध्रं** छिद्रं तृतीयं सुषुम्णाख्यं, **स्वयं** स्वतः एव, **आविशति** प्रविशति, इडापिंगलारोधनमेव अपेक्षितं न तु ततोऽन्यः सुषुम्णायां वायोः प्रवेशने प्रयत्नः अपेक्षित इति भावः।।११।।(५७६)

अपने गुरु से हठयोग की दीक्षा लेकर भी जो लोग केवल परकायप्रवेश, आकाशगमन तथा अन्तर्धान आदि क्षुद्र सिद्धियों के लिये योगसाधन करते हैं वे लोग अर्धयोगी कहलाते हैं।।९।।

(देह की बहत्तर हजार) नाडियों में इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्णा ये तीनों मुख्य नाडियाँ हैं। वामभाग में रहनेवाली इडा या (चन्द्र नाडी) कहलाती है, दाहिने भाग में रहनेवाली नाडी पिङ्गला (सूर्य नाडी) कहलाती है तथा मध्यभाग में रहनेवाली नाडी को सुषुम्णा (किंवा ब्रह्म [मोक्ष] नाडी) कहते हैं। शरीर का वायु स्वभावतः ही वाम तथा दाहिने भाग से चला करता है जब कि योगाभ्यासी अपने योगाभ्यास से प्राण के दोनों

स्थिता कुण्डलिनी मूले जीवशक्तिरनुत्तमा।
तामुत्थाप्य तया सार्धं सुषुम्णां प्राण आविशेत्।।१२।।(५७७)
सुषुम्णावाहिनि प्राणे ब्रह्मरन्ध्रं गते सति।
तत्र निश्चलतां याते मनो निश्चलतां व्रजेत्।।१३।।(५७८)

सुषुम्णाप्रवेशनक्रममेव आह **स्थितेति। मूले** मूलाधाराख्यचक्रे, गुदस्थाने इत्यर्थः। **अनुत्तमा** न विद्यते उत्तमा श्रेष्ठा यस्याः सा तथाभूता, अतिश्रेष्ठा इत्यर्थः, **जीवशक्तिः** जीवस्य साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्य इत्यर्थः, शक्तिः सामर्थ्यरूपा, **कुण्डलिनी** कुण्डलिनीनाम्नी, जाग्रदादिमोक्षपर्यन्तजीवसंसारजनयित्रीत्यर्थः, **स्थिता** वर्तमाना, अस्ति इति शेषः। अस्तु, किं तत इत्यत आह **तामिति। प्राणः** शारीरो वायुः प्राणायामाभ्यासेन अवरुद्धः, **तां** कुण्डलिनीम्, **उत्थाप्य** अन्तर्मुखीं कृत्वा, जीवस्य यत्पारमार्थिकं शिवस्वरूपं तदभिमुखीं कृत्वा इत्यर्थः, **तया** जीवशक्त्या **सार्धं** सह, **सुषुम्णां** ब्रह्मनाडीम्, **आविशेत्** प्रवेशं कुर्याद्। एवं प्राणस्य सुषुम्णाप्रवेशक्रमो ज्ञेयः।।१२।।(५७७)

ततः किमित्यत आह **सुषुम्णेति। प्राणे** प्राणवायौ, **सुषुम्णावाहिनि** सुषुम्णा ब्रह्मनाडी तस्यां वाहिनि प्रवेशवति सति, ततः तया नाड्या **ब्रह्मरन्ध्रं** भ्रमरगुहानामकं स्थानं प्रति, **गते** प्राप्ते **सति,** ततश्च **तत्र** ब्रह्मरन्ध्रे, **निश्चलतां** स्थिरतां, **याते** प्राप्ते सति, ततो **मनः** संकल्पविकल्पात्मकं जीवोपाधिभूतम्, अन्तःकरणं, **निश्चलतां** स्थैर्यं, **व्रजेत्** प्राप्नुयात्।।१३।।(५७८)

मार्गों को रोक देता है, तब सब छिद्रों के बन्द हो जाने पर वह प्राणवायु (घबराये हुए) साँप की तरह इन दोनों मार्गों से भिन्न सुषुम्णा नामक तीसरे छिद्र में अपने आप ही प्रवेश कर जाता है।।१०-११।।

मूलाधार चक्र में एक सर्वोत्तम जीवशक्ति निवास करती है जिसको कुण्डलिनी कहते हैं उसको उठाने के अनन्तर उसी को साथ लेकर वह प्राणवायु सुषुम्णा नाम की ब्रह्मनाडी में प्रवेश कर जाता है।।१२।।

उस (ब्रह्मनाडी) सुषुम्णा में प्रवेश करने के अनन्तर जब वह प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है, तब वहाँ पहुँचते ही वहाँ की अलौकिक शीतलता पाने पर निश्चल हो जाता है, उसका यह प्रभाव होता है कि संकल्पविकल्परूपी मन भी स्वतः ही निश्चल हो जाता है।

जब कोई योगी पूर्वोक्त अभ्यास करता है तो प्राणायाम तथा आसन आदि की गरमी से यह कुण्डलिनी शक्ति जागती है और जगते ही प्राण के साथ सुषुम्णा में प्रवेश कर जाती है। वह सुषुम्णा नाडी शरीर के वामदक्षिण भागों के बीचोंबीच होकर ब्रह्मरंध तक गई है। उसी सुषुम्णा मार्ग से यह शक्ति प्राण के साथ ही ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है। ब्रह्मरन्ध्र में परम शिव निवास करते हैं। यह शक्ति मूलाधार में रहती

मनो यदि निरुध्येत केवलं ज्ञानयोगिना।
प्राणापानौ नश्यतस्तु मनोनाशेन तत्क्षणात्।।१४।।(५७९)
तस्मात् सिद्धान्त एवैको हठविज्ञानयोगिनोः।
शास्त्रोक्तमिति विज्ञाय निर्णयं प्राणचेतसोः।।१५।।(५८०)
प्राणायामं मुनिः कुर्यात् मनोलयसमन्वितम्।।१६।।(५८१)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां प्राणायामनिर्णयो दशमः।।

एवं हठक्रमेण मनोलयप्रकारम् उक्त्वा इदानीं ज्ञानक्रमेणापि तमाह **मन इति। ज्ञानयोगिना** ज्ञानयोगाभ्यासवता, **केवलं** प्राणोपाधितः विविक्तं सद्, **यदि** यर्हि, विवेकेन **मनः** संकल्पविकल्पात्मकम् अन्तःकरणं संकल्पविकल्परूपांशं संत्यज्य **निरुध्येत** अवरुन्ध्यात् तर्हि तदा, **मनोनाशेन** संकल्पविकल्पांशमनसः नाशेन लयेन, **तत्क्षणात्** सद्य एव, **प्राणापानौ** प्राणापाननामानौ वायू, **नश्यतो** नष्टौ भवतः, निद्रामूर्च्छादौ मनोलये सति प्राणापानप्रवाहस्य विद्यमानत्वेऽपि बाधादर्शनाद् इति मनोलयेनैव तयोः नाश इति भावः।।१४।।(५७९)

एवम् उभयमतं निरूप्य इदानीं मुमुक्षुग्राह्यं वेदान्तमतमाह **तस्मादिति। हठविज्ञानयोगिनोः** हठयोगज्ञानयोगाभ्यासवतोः, **तस्मात्** मनोलयस्यैव उभयत्र साध्यत्वाद् हेतोः, **सिद्धान्तो** निश्चय, **एक एव** सम एव भवति, **इति** एवं, **शास्त्रोक्तं** वेदान्तशास्त्रोक्तं, **प्राणचेतसोः** शरीरावच्छिन्नस्य वायोः मनसश्च, **निर्णयं** सिद्धान्तं, **विज्ञाय** ज्ञात्वा।।१५।।(५८०)

है। इस विधि से जब ये दोनों मिलते हैं तो इसे ही 'शिवशक्तिसमायोग' कहा गया है। हठयोग से मनोलय करने की विधि यही है।।१३।।

सांख्ययोग प्रक्रिया से (विवेक के द्वारा) केवल मन को ही रोका जायगा तो मनोनाश हो जाने से प्राण तथा अपान नामक वायु तत्क्षण ही नष्ट हो जायेंगे (निद्रा तथा मूर्च्छा में भी मनोलय तो होता है परन्तु वहाँ विवेक से संकल्पविकल्परूप मन लीन नहीं होता इसलिये प्राणापान चलते रहते हैं) इस प्रकार हठयोगी तथा विज्ञानयोगी ये दोनों मनोलय को ही साध्य बताते हैं इसलिये इन दोनों का अन्तिम सिद्धान्त एक ही है।।१४।।

मुनियों को उचित है कि वे वेदान्त शास्त्र में कहे हुए प्राण तथा मन के निर्णय को जानकर प्राणावरोध भी करें, और साथ ही मनोलय का अभ्यास भी किया करें।

केवल प्राणायाम करने से प्राण स्थिर तो हो जाता है परन्तु विवेक न होने के कारण मन के बीज का नाश नहीं होता इसलिये मन पहले की तरह बना ही रहता है। यदि केवल विवेक से मन को नष्ट कर दिया जाय और उसके दूसरे साथी प्राण को जीवित छोड़ दिया जाय तो भी प्राणावरोध न होने से वह फिर मन को उत्पन्न कर ही देता है। इसलिये मन के मैल को हटाने के लिये प्राणायाम आवश्यक है। प्राणस्थैर्य के

अथार्घदानम्

पूर्णाञ्जलिमयास्त्र्यर्घा भावनागांगवारिणा।
सर्वपापविशुद्ध्यर्थं प्रदेयाः कर्मसाक्षिणे।।१।।(५८२)

प्राणायाममिति। मुनिः मननवान् सन् विवेकपूर्वकम् इत्यर्थः, **प्राणायामं** प्राणानां शारीरवायूनाम्, आयामम् अवरोधनं, **मनोलयसमन्वितं** मनसः संकल्पविकल्पात्मकवृत्तेः, लयः नाशः, तेन समन्वितं सहितं, यथा भवति, तथा **कुर्यात्** क्रियताम् इत्यर्थः, केवलप्राणायामेन प्राणस्थैर्येऽपि विवेकाभावेन बीजनाशाभावात् मनोनाशाभावः, केवलविवेकेन मेनोनिरोधे प्राणायामभावात् पुनः पुनः तदुदयात् मनोनाशाभाव इति मनोमलनिवृत्त्यै प्राणायामोपेऽक्षितः ततो विवेकेन उत्पन्नेन मनोलयः भवति इति निश्चयोऽयं मुमुक्षुभिः ग्राह्य इति भावः।।१६।।(५८१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे प्राणायामनिर्णयार्थप्रकाशः दशमः।।

एवं प्राणायामनिर्णयम् अभिधाय इदानीं मुनीनाम् अर्घदानं निर्णेतुम् अर्घदाननिर्णयाख्यं प्रकरणं त्रिश्लोकम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** प्राणायामनिर्णयानन्तरम् **अर्घदानम्** अर्घाणां दानं समर्पणं निर्णीयते इति शेषः। तत्र लौकिकार्घदाने तु प्रसिद्धजलपूर्णेनाञ्जलिना प्रसिद्धेन एव त्रयोऽर्घा दीयन्ते। ज्ञान्यर्घदाने तु जलं किम्, अञ्जलिश्च कः, प्रयोजनं च किं, कस्मै देयश्च तत्सर्वमाह **पूर्णेति।** मुनिना **पूर्णाञ्जलिमयाः** पूर्णं ब्रह्म तदेव जलस्थानीयं रसरूपत्वाद् 'रसो वै स' इति श्रुतेः, अञ्जलिश्च उभयकरसंहतिरूपः प्रसिद्धो लोके, अत्र तु वक्ष्यमाणसांख्ययोगाख्यकरयोः अविरोधज्ञानरूपोऽञ्जलिः पूर्णस्य ब्रह्मणोञ्जलिः सांख्ययोगयोः अविरोधबोधरूपः तन्मयाः तत्प्रचुरा 'एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इति भगवदुक्तत्वात्। संख्यामाह **त्र्यर्घा इति।** त्रिसंख्याका अर्घा। जलमाह **भावनेति। भावनागांगवारिणा** सांख्ययोगयोः अविरोधस्य भावना चिन्तनं, तदेव गांगं वारि गंगाजलं, तेन। फलमाह **सर्वेति। सर्वपापविशुद्ध्यर्थं** सर्वं सर्वपदवाच्यं द्वैतमेव पापं दुःखकारणत्वात्, तस्य विशुद्धिः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुत्यर्थबोधेन सर्वपदवाच्यद्वैत-बाधनाद् ब्रह्मत्वप्रतीतिरूपा, तदर्थं तादृशप्रयोजनाय। देवतामाह **प्रदेया इति।** कर्मसाक्षिणे लोके तावत् सूर्याय अर्घो दीयते, एते त्वर्घाः **कर्मसाक्षिणे** कर्मणः क्रियाया, साक्षिणे साक्षात्प्रकाशकाय चिदादित्याय **प्रदेयाः** समर्प्याः।।१।।(५८२)

अनन्तर उत्पन्न हुए विवेक से जो मनोलय होगा वही स्थायी मनोलय होगा, वैसा मनोलय ही मोक्ष का साधन हो सकता है। यही इस विषय में विशेष ज्ञातव्य बात है।।१५-१६।।

प्राणायाम के पश्चात् मुनि लोगों की अर्घदानविधि बताई जाती हैपूर्ण ब्रह्म ही "रसो वै सः" इस श्रुति के अनुसार मुनि के अर्घदान में जल होता है। सांख्य तथा योग को परस्पर अविरोधी समझने से ही सांख्ययोगरूपी हाथों की अंजलि बन जाती है।

इदं दृश्यमहं द्रष्टा प्रथमोऽर्घो मनीषिणाम्।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या द्वितीयोऽर्घस्ततः परः।।२।।(५८३)
नेदमस्त्यहमेवास्मि तृतीयोऽर्घः परात्परः।
एवंविधार्घदानेन चिदादित्यः प्रसीदति।।३।।(५८४)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अर्घदाननिर्णय एकादशः।।

प्रतिज्ञातम् अर्घत्रित्वं स्पष्टयति सार्धेन **इदमिति। इदम्** अहंकारादिदेहान्तं त्वम्पदलक्ष्यकूटस्थचैतन्यभास्यं, तथा देहादिमायान्तं सर्वं तत्पदलक्ष्यब्रह्मचैतन्यभास्यं, तयोः ब्रह्मचैतन्यकूटस्थचैतन्ययोः घटाकाशमहाकाशयोरिव वास्तवाभेदात् सर्वं ब्रह्माभिन्नकूटस्थस्य मम **दृश्यं** प्रकाश्यम् अस्ति, **अहं** ब्रह्माभिन्नः कूटस्थः अहं, तस्य सर्वस्य दृश्यजातस्य **द्रष्टा** भासकः अस्मि इत्येवं बोधो **मनीषिणां** विवेकिनां, **प्रथम** आद्यः, **अर्घो** ज्ञेयः। द्वितीयं दर्शयति **ब्रह्मेति। ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु भूमशब्दवाच्यं, **सत्यं** कालत्रयेऽपि अबाधितत्वात् परमार्थरूपम् अस्ति, **जगत्** चञ्चलस्वभावं मायातत्कार्यं चान्योन्यस्मिन् व्यावृत्तत्वात् **मिथ्या** असत्यम् इत्येवं बोधः, **ततः** प्रथमाद् अर्घात्, **परः** अन्यः, द्वितीय इत्यर्थः। **अर्घः** अर्घ्यम् अस्ति इति ज्ञेयः।।२।।(५८३)

एवं द्वितीयम् अर्थं निरूप्य इदानीं तृतीयम् अर्घं निरूपयति **नेदमिति। इदं** सर्वं दृश्यजातं, **नास्ति** नैव विद्यते, किं तु **अहमेव** ब्रह्माभिन्नः कूटस्थचैतन्यरूपः त्वम्पदलक्ष्य एव केवलम्, **अस्मि** भवामि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुतेः द्वैतजातस्य बाधितत्वाद् इति भावः। इति एवं बोधः

गीता में भी कहा है कि ''एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'' अर्थात् सांख्य और योग को जो एक समझ सकता है वही तत्त्वज्ञानी है। पूर्ण ब्रह्मरूपी जल की सांख्ययोग की एकार्थतारूपी अंजलि बनाकर, भावनारूपी गंगाजल से भरकर, (सर्व दुःखों के मूलकारण द्वैतरूपी) सर्व पापों को हटाकर, (ब्रह्मताप्रतीतिरूपी) विशुद्धि के लिये, समस्त कर्मों के साक्षी चिदादित्य को, तीन ही अर्घ देने चाहिये। (अधिक अर्घ देने की कोई आवश्यकता नहीं होती)।।१।।

अहंकार से लेकर इस देह तक तथा इस देह से लेकर अनादि माया तक यह सभी संसार मेरा दृश्य है तथा मैं कूटस्थ इसका एकमात्र द्रष्टा (प्रकाशक) हूँ, ज्ञानियों का तो यही 'पहला अर्घ' कहलाता है। ब्रह्म ही केवल सत्य पदार्थ है, यह जगत् तो अवास्तव ही है, ऐसी विचारमाला ही चिदादित्य को दिया हुआ 'दूसरा अर्घ' कहलाता है।।२।।

यह दृश्य संसार वास्तव में कुछ है ही नहीं किन्तु सर्वत्र केवल मैं ही मैं हूँ, यही ज्ञानियों का 'तीसरा अर्घ' कहलाता है। ऐसे अर्घों के देने से (उसके साथ अपना अभेद समझने से) चैतन्य सूर्य निर्मल होकर चमकने लगता है (साक्षात्कार बढ़ने लगता है)।

अथ गायत्रीजपनिर्णयः

अखण्डमण्डलाकारं देवं ज्योतिर्मयं स्मरन्।
उपदेशात् सदाऽऽवृत्तिरिति वेदान्तसूत्रतः।।१।।(५८५)
तिष्ठेज्जपेच्च गायत्रीमष्टोत्तरशतत्रयम्।
गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्री तेन सा स्मृता।।२।।(५८६)

परात् द्वितीयात् **परः** अन्यः तृतीयः अर्घः अर्घ्यं ज्ञेयम्। फलमाह **एवमिति। एवंविधार्घदानेन** एवंविधानाम् उक्तलक्षणानाम्, अर्घाणाम् अर्घ्यानां, दानेन आत्मनः पृथगसत्त्वनिर्णयरूपसमर्पणेन, **चिदादित्यः** चेत्यरहितः चिन्मात्र आत्मैव आदित्यः सूर्यः सर्वजगत्प्रकाशकत्वात्, **प्रसीदति** निर्मलं सन् स्वयं प्रकाशते।।३।।(५८४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे अर्घदाननिर्णयार्थप्रकाश एकादशः।।

एवं मुनीन्द्राणाम् अर्घदानं निर्णीय इदानीं तेषामेव गायत्रीजपं निर्णेतुं गायत्रीजपनिर्णयाख्यं चतुःश्लोकं प्रकरणं वक्तुकाम आह **अथेति। अथ** अर्घदाननिर्णयानन्तरं, **गायत्रीजपो** मुनीन्द्राणां गायत्र्या गायत्रीमन्त्रस्य जपः, निर्णीयते इति शेषः। तमेवाह **अखण्डेति।** मुनिः **अखण्डमण्डलाकारम्** अखण्डम् एकरसं, मण्डलं बिम्बम्, आकार आकृतिः, यस्य स तथोक्तः, तं देवं, **ज्योतिर्मयं** चिन्मात्रस्वरूपं, **देवं** स्वप्रकाशमात्मानं, **स्मरन्** अनुसन्दधानः सन्, **तिष्ठेद्** आसीत्। अत्र प्रमाणमाह **उपदेशादिति। 'उपदेशात्सदावृत्तिः' इति वेदान्तसूत्रतः** उपदेशाद् उपदेशाद् आरभ्य, सदा नित्यम्, आवृत्तिः आवर्तनम्, उपदिष्टार्थस्य जीवब्रह्मैक्यरूपस्य अनुसन्धानपूर्वकम् उपदेशवाक्यजातस्य पुनः पुनः श्रवणाद्यावर्त्तनम् इत्यर्थः, कर्त्तव्येति शेषः। इति एवं वेदान्तसूत्रप्रामाण्याद् हेतोः, **गायत्रीं** च जपाख्यां, **जपेद्** आवर्तयेद्, जपसंख्यामाह **अष्टोत्तरशतत्रयम्** अष्टौ अष्टौ च उत्तराणि अधिकानि येषु शतेषु तेषां त्रयं त्रिकं यथा तथा जपःचतुर्विंशत्यधिकानि त्रिशतानीत्यर्थः उपलक्षणमेतत् षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याया अजपायाः, नित्यं गायत्रीजपस्य चतुर्विंशत्यधिकत्रिशतसंख्याकस्य नित्यकर्मत्वेन पापनिवृत्तिफलकत्वाद्, अजपाया अपि षट्शताधिकैकविंशतिसहस्राया अपि आत्मानुसन्धायकत्वेन अन्तःकरणशोधकत्वात् सर्वद्वैतरूपपापनिवृत्त्या सर्वदुःखनिवर्तकत्वाद् नित्यकर्मत्वाच्च चतुर्विंशत्यधिकत्रिशतसंख्यगायत्रीजपस्य षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रजपस्य च साम्यत्वम् आत्मानुसन्धायकत्वेन अजपाया एव जाप्यत्वं मुनीन्द्राणाम्। ननु अजपाया गायत्रीत्वं कुत इत्यत आह **गायन्तमिति। गायन्तम्** आत्मानुसन्धानपूर्वकं स्वम् उच्चरन्तं, **यस्माद्** यतः कारणात्, **त्रायते** रक्षति, **सा** अजपा, **तेन** कारणेन, **गायत्री** गायत्रीनाम्नी, **स्मृता** उक्ता, मुनिभिः इति शेषः।।१-२।।(५८५-५८६)

सदा एकरस बिम्ब ही जिसका स्वरूप है ऐसे चिन्मात्ररूप स्वयंप्रकाश आत्मा को सदा ही स्मरण करता रहे। वेदान्त में कहा है कि 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' जिस दिन गुरुमुख से आत्मज्ञान का उपदेश प्राप्त हो तब से लेकर नित्य ही जीव-ब्रह्म की एकता

अन्तर्यामिस्वरूपेण सर्वधीवृत्तिनोदकम्।
सवितृमण्डले ध्येयं गायत्र्यर्थपरं महः।।३।।(५८७)
चतुर्विंशत्यक्षरया गायत्र्या ब्रह्मविद्यया।
चतुर्विंशतितत्त्वानां लयकृद् ब्राह्मणः शुचिः।।४।।(५८८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां गायत्रीजपनिर्णयो द्वादशः।।

ननु गायत्र्यर्थस्य अजपार्थस्य च भिन्नत्वात् कथम् अजपाया गायत्रीत्वम् इत्याशंक्य गायत्र्यर्थम् अजपायां सम्भावयितुं गायत्र्यर्थं तावदाह **अन्तर्यामीति। अन्तर्यामिस्वरूपेण** 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि 'यः सर्वेषु तिष्ठन् सर्वान् यमयति' श्रुत्या सर्वान्तर्यामी उक्तः स स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तं तेन, कृत्वा **सर्वधीवृत्तिनोदकं** सर्वपदवाच्यं यद् अद्वैतजातं, तदाकारा या धीवृत्तयः बुद्धिवृत्तयः, तासां नोदकं प्रेरकं, **गायत्र्यर्थपरं** 'तत्सवितुः' इति प्रसिद्धगायत्रीमन्त्रार्थतात्पर्यभूतं, **महः** तेजः, सर्वप्रकाशकं चिन्मात्रम् इत्यर्थः, **सवितृमण्डले** सवितुः मायातत्कार्यप्रसवितुः शबलाख्यस्य जगत्कारणभूतस्य ब्रह्मणो, मण्डले बिम्बभूते चिन्मात्रे, ततः पृथगसत्त्वाद् बिम्बभूतमेव तद् **ध्येयं** चिन्तनीयम्। अजपायामपि तदहंशब्दवाच्यस्य तच्छब्दवाच्यस्य च परोक्षप्रत्यक्षादि-विरुद्धांशत्यागेन भागलक्षणया लक्षितं जीवब्रह्मैक्यं लक्षयन्त्यां गायत्र्यर्थवत्त्वेन गायत्रीत्वं संभाव्यमिति भावः।।३।।(५८७)

ननु द्व्यक्षराया अजपाया गायत्रीत्वे लोकप्रसिद्धगायत्र्यां चतुर्विंशत्यक्षरपाठगौरवं किमर्थम् इत्याशंक्य आह **चतुर्विंशति इति। चतुर्विंशत्यक्षरया** चतुर्विंशतिसंख्यानि अक्षराणि वर्णा यस्यां सा तथोक्ता तया, **ब्रह्मविद्यया** ब्रह्मोपासनांगमन्त्ररूपया, यद्वा ब्रह्मज्ञानार्थवत्त्वाद् ब्रह्मविद्यात्वं **गायत्र्याः** तथा **चतुर्विंशतितत्त्वानाम्** अष्टौ प्रकृतयः षोडशविकाराश्च इति एवं चतुर्विंशतिसंख्यानां सांख्योक्ततत्त्वानां, **लयकृत्** नाशकृत्, प्रकृतितत्कार्यलये कृते सति पुरुषस्य असंगसच्चिदानन्द-ब्रह्मलक्षणवत्त्वज्ञानेन स्वस्यापि ब्रह्माभिन्नत्वज्ञाने सति **ब्राह्मणो** ब्रह्मविद् भवति, अत एव स **शुचिः** निर्मलः, जायते इति शेषः। इदमेव प्रयोजनं चतुर्विंशत्यक्षरप्रयोगे ज्ञेयम्।।४।।(५८८)

का बार बार अनुसन्धान करता ही रहे। प्रतिदिन तीन सौ चौबीस बार गायत्री का भी जप किया करे। यह गायत्री अपने गानेवाले का त्राण करती है। उसे (भयरूपी द्वैतसागर में डूबने से) बचाती है। इसीलिये गायत्री कहलाती है।।१-२।।

जो अन्तर्यामी सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियों का प्रेरक है, जो कि गायत्री का प्रतिपाद्य मुख्य अर्थ है, जो कि सर्वप्रकाशक चिन्मात्र तेज है उसी तेज का चिन्तन सकल जगदुत्पादक अन्तर्यामी के बिम्बरूपी मण्डल में करना चाहिये। (अर्थात् उपाधियों को त्याग कर उपहितमात्र में ही सदा ज्ञानी की दृष्टि रहनी चाहिये)।।३।।

चौबीस अक्षरोंवाली गायत्रीरूप ब्रह्मविद्या के द्वारा सांख्य के चौबीस तत्त्वों का लय कर देनेवाला (और इस प्रकार अपने आप को ही सर्वबाधावशेष असंग ब्रह्म जान

अथोपस्थाननिर्णयः

मुनिः प्रसार्य सरलौ प्रलम्बौ सपवित्रकौ।
सांख्ययोगौ निजौ बाहू उपतिष्ठेत भास्करम्।।१।।(५८६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारर्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे गायत्रीजपनिर्णयार्थप्रकाशो द्वादशः।।

एवं गायत्रीजपनिर्णयं निरूप्य इदानीं मुनीन्द्राणाम् उपस्थानं निर्णीय प्रदर्शयितुम् उपस्थाननिर्णयाख्यं द्विश्लोकं प्रकरणं कथयन् आह **अथेति। अथ** गायत्रीजपनिर्णयनिरूपणानन्तरम्, **उपस्थाननिर्णयः,** क्रियते इति शेषः, तमेव निरूपयितुं हस्तौ निर्णीय दर्शयति **मुनिरिति।** लोके तावत् प्रसिद्धौ एव करौ प्रसिद्धकुशपवित्रसहितौ उपरि लम्बायमानौ कृत्वा प्रसिद्धसूर्यसन्मुखं स्थित्वा 'मित्रो जनान् पातयति' इत्यदि मन्त्रैः उपस्थानं क्रियते। अत्र तु हस्तादिविशेषसहितम् उपस्थानविशेषम् आह **मुनिः** मननशीलः, ज्ञानी इत्यर्थः। **सरलौ** प्रकृतितत्कार्यसत्त्वजीवानेकत्वेश्वरताटस्थ्यरूपविरोधत्यागेन वेदान्तानुकूलौ, **प्रलम्बौ** जीवब्रह्मैक्यबोधपर्यन्तौ, **सपवित्रकौ** उक्तसर्वसूक्ष्मशास्त्रार्थरूपकुशपवित्रसहितौ, **सांख्ययोगौ** सांख्यशास्त्रयोगशास्त्राख्यौ, **निजौ** आत्मीयौ, **बाहू** हस्तौ अनात्मत्यागस्य आत्मग्रहणस्य च साधनत्वात् **प्रसार्य** वेदान्तादरेण तयोः आदरशैथिल्येन शिथिलौ कृत्वा इत्यर्थः, **भास्करं** भा जगत्प्रकाशः, तस्य करं कर्त्तारं, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः चिदात्मानम् इत्यर्थः, **उप** समीपे पारमार्थिकात्मस्वरूपेण व्यावहारिकचिदाभासस्य बाधितत्वदृष्ट्या व्यवहारनिर्वाहकत्वात् समीपवर्तित्वम् इति ज्ञेयम्। **तिष्ठेत** स्थितिं कुर्यात्।।१।।(५८६)

लेनेवाला) ब्राह्मण निर्मल हो जाता है। (लय करने योग्य इन चौबीस तत्त्वों के अनुसार ही गायत्री छंद चौबीस अक्षरों का होता है)।।४।।

अब गायत्री जप के अनन्तर उपस्थान का निर्णय बताया जाता है

मुनि को उचित है कि (विरोधहीन सूक्ष्म शास्त्रतात्पर्यरूपी) कुश-पवित्रों को अपने लम्बे (जीवब्रह्म की एकता किंवा आत्मज्ञान पर्यन्त फैल सकनेवाले) हाथों में पहनकर, अपने सांख्ययोग नाम के दोनों हाथों को (अनात्मत्याग तथा आत्मग्रहण के लिये) प्रथम तो पूरा फैला दे। फिर (वेदान्त में श्रद्धा के कारण) उन दोनों को ही सरल किंवा शिथिल (ढीला) छोड़ दे, अर्थात् उनमें विशेष प्रयत्न फिर न करे। उसके पश्चात् जगद्भासक चैतन्य सूर्य का अगले श्लोक में कही विधि से उपस्थान किया करे। "उपतिष्ठेत भास्करं" इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"। उसी आत्मज्योति के प्रकाश को लेकर ही सूर्यादि पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं। इस श्रुति के कहे अनुसार सत्यस्वरूप चिदात्मारूपी भास्कर के समीप पहुँचे, अर्थात् व्यावहारिक चिदाभास की बाधा करके परमार्थभूत आत्मा का ही चिन्तन निम्नविधि से किया करे।।१।।

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाश हेतवे।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरिञ्चिनारायणशंकरात्मने।।२।।(५९०)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् उपस्थाननिर्णयः त्रयोदशः।।

मन्त्रमाह **नम इति। सवित्रे** मायायाः तत्कार्यस्य च जनकाय इति तटस्थलक्षणलक्षिताय इत्यर्थः। स्वरूपलक्षणेन लक्षयति **जगदिति। जगदेकचक्षुषे** जगतः द्वैतजातस्य, एकं मुख्यं, चक्षुः दर्शनसाधनभूतं चक्षुरिव चक्षुः चिन्मात्रं, तस्मै, जगत्प्रकाशकाय इत्यर्थः। पुनः तटस्थलक्षणेन लक्षयति **जगदिति। जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे** जगतो द्वैतजातस्य, प्रसूतिः उत्पत्तिः, स्थितिः स्थानं, नाशो लयः, तेषां हेतुः कारणं, तस्मै, यं विना जगदुत्पत्तिस्थितिलया न भवन्ति इत्यर्थः, पूर्वत्र मायातत्कार्ययोः अधिष्ठानत्वेन कारणत्वम् अत्र तु उपादानकारणत्वमिति विवेकः, अत एव **त्रिगुणात्मधारिणे** त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमोभिधाः तान् आत्मनि धारयति इति तच्छीलाय, अत एव **विरिञ्चिनारायणशंकरात्मने** विरिञ्चिः ब्रह्मा, नारायणः विष्णुः, शंकरः रुद्रः, तेषाम् आत्मने अन्तर्यामिरूपिणे, यद्वा विरिञ्चिः ब्रह्मा, नारायणो विष्णुः, शंकरो रुद्रः, त्रयाणां गुणानां रजःसत्त्वतमसाम् अभिमानिनः त एव आत्मानः देहा यस्य तथाविधाय इत्यर्थः। अत एव **त्रयीमयाय** त्रयी वेदत्रयी, तन्मयाय तद्योनित्वेन सर्वज्ञत्वादिलक्षणलक्षिताय, यद्वा त्रयी वेदत्रयी, तन्मयाय वेदत्रयप्रतिपाद्याय इत्यर्थः, तथाहि सूत्रं 'शास्त्रयोनित्वाद्'।।२।।(५९०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाश उपस्थाननिर्णयार्थप्रकाशः त्रयोदशः।।

एवम् उपस्थाननिर्णयं निरूप्य इदानीं होमांगसहितं होमं निर्णेतुं सहोमांगहोमनिर्णयाख्यं सार्धचतुर्दशश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** उपस्थाननिर्णयानन्तरं, **सहोमांगहोमनिर्णयो** होमस्य हवनस्य, अंगानि यज्ञशालाप्रायश्चित्तादीनि, तैः सहितस्य होमस्य हवनस्य, निर्णयः सिद्धान्तः, क्रियते इति शेषः। तत्रादौ इतिकृत्यम् आह **एवमिति। एवम्** उक्तप्रकारेण, **विधिना** विधानेन, **प्रातःसन्ध्याविधिं** प्रातः कालीना सा सन्ध्या उक्तलक्षणा

सविता अर्थात् माया तथा माया के कार्यों को किंवा इस सकल जगत् को ही उत्पन्न करनेवाले, जगत् के एकमात्र चक्षु अर्थात् एकमात्र प्रकाशक, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, तथा प्रलय के मूल कारण, सत्त्वादि तीन गुणों को धारण करनेवाले, ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश के भी अन्तर्यामी किंवा इनके रूप में यदातदा प्रकट होनेवाले, त्रयीमय अर्थात् तीनों वेदों में वर्णित और तीनों वेदों का उत्पादक होने से सर्वज्ञत्वादि लक्षणवाले आत्मदेव को हमारा नमस्कार हो।।२।।

अब उपस्थान के निर्णय के पश्चात् होम के यज्ञशाला तथा प्रायश्चित्तादि अंगों का निर्णय किया जाता है

अथ सहोमांगहोमनिर्णयः

एवं समाप्य विधिना प्रातःसंध्याविधिं मुनिः।
होमस्यावसरं ज्ञात्वा यज्ञशालां ततो विशेत्।।१।।(५६१)
यज्ञशाला भूमिका स्यात् तृतीया तनुमानसा।
सव्यार्हान्सव्यतः कुर्यादसव्यार्हानसव्यतः।
संचरेत तथा नैव प्रायश्चित्तीयते यथा।।२।।(५६२)

सन्ध्याख्या क्रिया, तस्या विधिम् अनुष्ठानं, **समाप्य** समाप्तं कृत्वा, **मुनिः** मननवान्, **होमस्य** वक्ष्यमाणलक्षणहोमस्य, **अवसरं** समयं, यत्र काले अहंताममते बाधकत्वेन स्फुरतः तं कालमित्यर्थः। **ज्ञात्वा** अवगत्य, **ततः** अनन्तरं, **यज्ञशालाम्** इज्यते पूज्यते आत्मा अनेन इति यज्ञः समाधिः, तस्य शाला स्थानं वक्ष्यमाणम्, **आविशेत्** प्रविशेत्। लौकिकपक्षे तु **मुनिः** कर्मकाण्डविवेकवान्, **एवम्** अनेन प्रकारेण, **विधिना** विधानेन, **प्रातःसन्ध्याविधिं** प्रातः कालीना या संध्या सन्धिभवा क्रिया, तस्या विधिम् अनुष्ठानं, **समाप्य** समाप्तं कृत्वा, **ततः** संध्याकर्मानन्तरं, **होमस्य** गार्हपत्यहोमस्य, **अवसरं** समयं, सूर्योदयकालम् इत्यर्थः, **ज्ञात्वा** अवलोक्य, **यज्ञशालां** यज्ञस्य यजनस्य, शालां गृहं, **विशेत्** प्रविशेत्। प्रकृते तु यज्ञशाला वक्षमाणा ज्ञेया।।१।।(५६१)

लोके तावत् प्रसिद्धा यज्ञशाला अत्र तु विशिष्टां तामेव आह अर्धेन **यज्ञशालेति। तृतीया भूमिका** भूमिः तनुमानसा **तनुमानसा** तनुमानसानाम्नी, तनवः सूक्ष्मा, मानसा मनोधर्माः संकल्पविकल्प-रागद्वेषेच्छाकामादयः यत्र इति तन्नाम्नी इत्यर्थः, **यज्ञशाला** ज्ञानियज्ञस्य शाला विशिष्टं गृहं, **स्याद्** भवेत्, तां प्रविशेद् इति पूर्वत्रान्वयः। ततः किं कुर्याद् इत्यतः आह **सव्यार्हानिति।** लोके तावद् अयमर्थः **सव्यार्हान्** सव्ये वामांगे, अर्हान् योग्यान् पदार्थान् होमसामग्रीभूतान्, **सव्यतः** सव्ये वामभागे, **कुर्यात्** स्थापयेत्, तथा **असव्यार्हान्** असव्ये अपसव्ये दक्षिणभाग इत्यर्थः, अर्हान् योग्यान् पदार्थान् होमसामग्रीभूतान्, **असव्यतः** असव्ये अपसव्ये दक्षिणभाग इत्यर्थः, उभयत्र सप्तम्यन्तात् तसिः, **यथा** येन प्रकारेण, **प्रायश्चित्तीयते** प्रायश्चित्ती भवति, **तथा** तेन प्रकारेण, **नैव सञ्चरेत** नैव वर्तेत इत्यर्थः। प्रकृते तु **सव्यार्हान्** अद्वैतं मोक्षसाधनत्वात्

इस प्रकार प्रातःकाल की सन्ध्याविधि को समाप्त करने के अनन्तर मुनि को उचित है कि (जब अहन्ता और ममता का बाध होने लगे तब) होम का सुअवसर जानकर वक्ष्यमाण यज्ञशाला में (आत्मपूजन के लिये) प्रवेश करे।।१।।

(जिस अवस्था के आने पर मनोधर्म संकल्प तथा रागद्वेषादि सूक्ष्म पड़ जाते हैं वह) तनुमानसा नामक तृतीया भूमिका ही ज्ञानी के यज्ञ की यज्ञशाला कहलाती है। (लौकिक यज्ञशाला में जाकर दक्षिण भाग में स्थापनीय होम-साम्रगी को दक्षिण भाग में रखना और वाम भाग में रखने योग्य को वाम भाग में रखना होता है, ऐसी सावधानी से यज्ञ करना पड़ता है कि विधिभ्रेश होकर प्रायश्चित्त का भागी न बने) इस

अथ कर्मातिपातः स्याद् दुर्गत्वाद् ब्रह्मकर्मणः।
प्रायश्चित्तविधिं ज्ञात्वा तच्च सद्यः समाचरेत्।।३।।(५६३)

सव्यं तत्र अर्हान् योग्यान् विवेकादीन्, **सव्यतः** अद्वैतात्मस्वरूपप्राप्तिसाधनत्वाद् आत्मनः पृथक्सत्त्वरहितत्वाच्च अद्वैत आत्मनि **कुर्यात्** स्थापयेद्, अद्वैतात्मवत्तानपि इष्टत्वेन अंगीकुर्याद् इति भावः, तथा **असव्यार्हान्** असव्ये अपसव्यवत् पितृलोकप्राप्तिकारणत्वेन कर्मनिर्वाहकं द्वैतं तत्र अर्हान् योग्यान् यज्ञादिधर्मान् साधनैः सहितान् **असव्यतः** अपसव्ये द्वैतरूपसंसारे कुर्यात् तत्कारणत्वेन विभाव्य तत्र उपेक्षां कुर्याद् इत्यर्थः, एवं साधनानि द्वैताद्वैतोपयोगेन विविच्य **यथा** येन प्रकारेण, **प्रायो** बहुशः, **चित्तीयते** चित्तं द्वैतकार्यसाधनरतम् अन्तःकरणं, तस्याचरणमिव आचरणं क्रियते यथा, **तथा** तेन प्रकारेण, **नैव सञ्चरेत्** संप्रवर्तेत, केवलाद्वितीयात्मप्राप्ति साधनेषु विवेकादिषु एव प्रवर्तेत इति भावः।।२।।(५६२)

तथापि पूर्ववासनया कदाचित् चित्तस्य चित्तधर्मेषु प्रवृत्तौ सत्यां तन्निवर्त्तकचित्तधर्मांगीकाररूपं प्रायश्चित्तं विधत्त **अथेति। अथ** अथापि चित्तधर्मेषु चेतः प्रवृत्तौ रुद्धायामपि इत्यर्थः। **ब्रह्मकर्मणो** ब्रह्मस्वरूपभूतकर्मणः, समाधिरूपस्य इत्यर्थः, **दुर्गत्वाद्** दुःसाध्यत्वात् **कर्मातिपातः** कर्मणो ब्रह्मस्वरूपभूतस्य कर्मणः, समाधेः इत्यर्थः, अतिपातो नाशः, प्रपञ्चव्युत्थानरूप इत्यर्थः, **स्याद्** भवेत्, तदा **प्रायश्चित्तविधिं** प्रायः बहुशः, चित्तविधिं चित्तनाशविधिं वक्ष्यमाणं, **ज्ञात्वा** अवलोक्य, निश्चित्य इत्यर्थः, **तच्च** तदपि, चित्तधर्मनिवर्त्तक-चित्तधर्मविशेषांगीकरणरूपं प्रायश्चित्तम् इत्यर्थः, **सद्यः** तत्कालमेव, न उपेक्षया विलम्बः कर्त्तव्य इति भावः, **समाचरेत्** कुर्वीत। लौकिकार्थः तावद् **अथ** अथापि, सावधानतया प्रवृत्तौ सत्याम् अपि इत्यर्थः, **ब्रह्मकर्मणो** ब्रह्म वेदः तदुक्तस्य कर्मणो, **दुर्गत्वाद्** दुःसाध्यत्वात्, **कर्मातिपातः** कर्मणः क्रियाया, अतिपातो विघातः, **स्याद्** भवेत्, तदा **प्रायश्चित्तविधिं** प्रायश्चित्तानां कर्मातिपात-जन्यदोषनिवर्तककर्मणां, विधिं प्रकारं, **ज्ञात्वा** निश्चित्य, **तच्च** प्रायश्चित्तमपि, **सद्यः** तत्कालं, **समाचरेत्** कुर्वीत, न तु उपेक्षां कुर्यादिति भावः।।३।।(५६३)

ज्ञानियज्ञ में भी यज्ञशाला में घुसने के बाद ज्ञानी को चाहिये कि मोक्ष के साधन विवेकादियों को अद्वैतात्मा की तरह इष्ट समझे यही उनको दक्षिण स्थान में रखना कहलाता है तथा जन्ममरणादि गति देनेवाले यज्ञादि साधनों को द्वैतरूप संसार की प्राप्ति का कारण समझकर वाम भाग में रखेअर्थात् उन्हें त्याज्य समझ ले। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत के साधनों का पूर्ण विचार करता हुआ योगी ऐसा आचरण करे कि (प्रायः नैव चित्तीयते यथा) जिससे अधिकता से (ज्यादातर) चित्त के आचरण की तरह आचरण करनेवाला न हो जाय अर्थात् प्रति समय द्वैत संसार-विषयक चित्त की वृत्तियाँ ही न करता रहे (किन्तु केवल आत्मप्राप्ति के साधनों में ही प्रवृत्त रहे)।।२।।

समाधिरूपी ब्रह्मकर्म के अति दुःसाध्य होने के कारण यदि कभी कर्मातिपात (किसी कारण से समाधि से व्युत्थान) हो जाय तो प्रायश्चित्त अर्थात् आगे बतायी हुई

'कर्मातिपाते प्रायश्चित्तं तत्कालमि'ति वचनात् प्रायश्चित्तानि।।४।।(५६४)

अथ प्रायश्चित्तानि

क्षमयैव जयेत् क्रोधं सत्येनैवानृतं जयेत्।
अश्रद्धां श्रद्धया जित्वा दानैः कृपणतां जयेत्।।५।।(५६५)

सद्यः प्रायश्चित्तकर्तव्यतायां बोधायनस्मृतिम् उदाहरति **कर्मेति। कर्मातिपाते** कर्मणो विघाते सति, **प्रायश्चित्तं** कर्मातिपातजन्य-दोषनिवर्तककर्मरूपं, **तत्कालं** तदानीमेव, कर्तव्यमिति शेषः, **इति वचनाद्** इति एवं, बोधायनवाक्याद् हेतोः।।४।।(५६४)

लौकिकप्रायश्चित्तविलक्षणानि मुनीनां प्रायश्चित्तानि वक्तुमाह **अथेति। अथ** प्रायश्चित्तकर्त्तव्यतायां प्रमाणनिरूपणानन्तरं, **प्रायश्चित्तानि** मुनीनां कर्मातिपातजन्यदोषनिवर्त्तकानि चित्तधर्मांगीकरणरूपाणि, उच्यन्ते इति शेषः। तानि एव आह **क्षमयैति। क्षमयैव** क्षान्त्यैव केवलं नान्येन उपायेन, **क्रोधं** कोपं, **जयेत्** नाशयेत्, तथा **अश्रद्धां** गुरुवेदान्तवाक्येषु अश्रद्धारूपं कर्मातिपातजं दोषं, **श्रद्धया** गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासेनैव, **जयेत्** नाशयेत्, तथा **दानैः** उदारचित्ततया; सत्पात्रसमर्पितैः अर्थैः कृत्वा, **कृपणताम्** अनुदारतारूपं समाधिरूपब्रह्मकर्मातिपातजं दोषं, **जयेत्** नाशयेत्।।५।।(५६५)

चित्त के नाश की विधि को जानकर तत्क्षण ही प्रायश्चित कर ले। उपेक्षा या देर कदापि न करे। (क्योंकि 'प्रमादे जम्भृते माया' प्रमाद करने से अज्ञान की बेल बढ़ने लगती है)।।३।।

कर्म के विघात हो जाने पर तत्काल ही प्रायश्चित्त करे ऐसा बौधायन मुनि का वचन है।

अब लौकिक प्रायश्चित्तों से विलक्षण मुनियों के प्रायश्चित्त बताये जाते हैं।।४।।

क्रोध को क्षमा से ही जीते, अनृत को सत्य से ही विजय करे, अश्रद्धा को श्रद्धा से ही पराजित करे, तथा कृपणता को दान से ही परास्त कर दे।

यदि क्रोध के उत्पन्न हो जाने से आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का भंग हो तो उसे क्षमा से ही नाश करना चाहिये, सत्य से अनृत का संशोधन करना चाहिये। गुरु या वेदान्त वाक्यों में यदि अश्रद्धारूपी विघ्न उत्पन्न हो तो उसे विश्वास से विजय करे। सत्पात्रों को दान देने में उदार होकर कृपणता किंवा अनुदारता को नष्ट करे। समाधिरूप ब्रह्मकर्म के अतिपात हो जाने पर इस विधि से प्रायश्चित्त किया करे)।।५।।

इतीमे सेतुसामोक्ताः चत्वारः सेतवो दृढाः।
उपलक्षणमेवैतदन्यानपि तथा जयेत्।।६।।(५९६)
उत्थानेन जयेत् निद्रां कामं संकल्पवर्जनात्।
सन्तोषेण जयेल्लोभं मोहं बोधदृशा जयेत्।।७।।(५९७)

अत्रोक्तेर्थे प्रमाणतां साधयति अर्धेन **इतीति। इति** एवम् **इमे** एते **चत्वारः** चतुःसंख्या **दृढा** बलिष्ठाः **सेतवो** मार्गाः, **सेतुसामोक्ताः** सेतवो मार्गाः, तत्प्रतिपादकं साम 'सेतूंस्तर' इत्यादिगीतिरूपं, तस्मिन् उक्ताः कथिता, ज्ञेयाः, अत एतद् अप्रामाणिकं न मन्तव्यमिति भावः। ननु एते किञ्चत्वार एव? न इत्याह **उपलक्षणमिति।** एतत् चतुःसेतुनिरूपणम् उपलक्षणम् उपलक्षकम् अन्येषामपि एवं निश्चेतव्यं **तथा** तथासति उपलक्षणत्वे सति इत्यर्थः, **अन्यानपि** कर्मातिपातजान् दोषान्, **जयेत्** निवारयेत्।।६।।(५९६)

तानेव दर्शयति **उत्थानेन इति। उत्थानेन** उत्थानं निद्रानिवृत्त्यै स्थानान्तरगमनादिकं तेन, **निद्रां** सुषुप्तिं, **जयेत्** नाशयेत्। तथा **संकल्पवर्जनात्** संकल्पस्य गुणबुद्ध्या चिन्तनरूपस्य, वर्जनं त्यागः, तस्मात्, **कामं** मनसः अभिलाषरूपां वृत्तिं, **जयेत्** नाशयेत्। तथा **लोभं** लोभरूपां वृत्तिं, **सन्तोषेण** सन्तोषः अलंबुद्धिः तया, **जयेत्** नाशयेत्। तथा **बोधदृशा** बोधो ज्ञानं, सैव दृग् दृष्टिः, स्वात्मस्मृतिः इत्यर्थः, तया, **मोहम्** आत्मसाक्षात्कारसाधनानवधानरूपं, स्वात्मविस्मृतिरूपं वा, **जयेत्** नाशयेत्।।७।।(५९७)

'सेतूँस्तर' इस सामवेद में कर्मातिपात को पार करने के लिये ये ही चार दृढ सेतु बताये गये हैं, इसी प्रकार और भी दोषों को विजय करे। साम में कहा है कि "हाउ सेतूँस्तर दुस्तरान् दानेनादानं हाउ अक्रोधेन क्रोधं हाउ श्रद्धयाऽश्रद्धां हाउ सत्येनानृतं हाऊ" दुस्तर सेतुओं को पार करोः कृपणता को दान से, क्रोध को क्षमा से, अश्रद्धा को विश्वास से तथा अनृत को सत्य से पार करो।।६।।

नींद को आसन से उठ कर टहल कर जीते, काम को संकल्प-परित्याग से विजय करे, लोभ को सन्तोष से हरा दे, मोह को आत्मस्मरणरूपी ज्ञानदृष्टि से जीत ले, मद मत्सर आदि को सर्वभूतात्मभावना से नष्ट कर दे, और भी जो दोष उत्पन्न हों उन सबको नित्यानित्य-विचार से परास्त कर डाले।

यदि समाधि का अभ्यास करते हुए निद्रा के कारण समाधिकर्म का अतिपात हो जाय तो कुछ टहल कर उसका निवारण कर दे। यदि मन में कोई अभिलाषा उत्पन्न हो तो संकल्प को त्याग कर उसे विजय करे। सन्तोष से लोभ को विजय करे, मोह को (जिससे कि आत्मसाक्षात्कार में बाधा पड़ती हो) आत्मस्मरणरूपी बोधदृष्टि से नष्ट कर दे। मुझ में ही सकल गुण सबसे अधिक हैं ऐसा विचार 'मद' कहलाता है, दूसरे

मदमत्सरमुख्यांश्च सर्वभूतात्मभावनात्।
अन्यानपि जयेद् दोषान्नित्यानित्यविचारणात्।।८।।(५६८)
लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत्।।६।।(५६६)

मदेति। मदमत्सरमुख्यांश्च मदः सर्वगुणैः स्वस्मिन् आधिक्यबुद्धिः, मत्सरः परोत्कर्षासहनं, तौ मुख्यौ येषां कामादीनां ते तथोक्ताः, तानपि, **सर्वभूतात्मभावनात्** सर्वाणि समस्तानि, यानि भूतानि पृथिव्यादीनि तत्कार्याणि च, तेषु आत्मनः अस्तिभातिप्रियरूपेण स्वस्य भावनं नाम चिन्तनं नामरूपासत्त्वप्रतीतिपूर्वकं सच्चिदानन्दरूपेण चिन्तनं ततः, तेन इत्यर्थः, **जयेत्** नाशयेत्। तथा **अन्यानपि** उक्तदोषेभ्यः अतिरिक्तानपि दोषान् स्वसाक्षात्कारविघ्नरूपान्, **नित्यानित्यविचारणात्** नित्यम् आत्मरूपं, सच्चिदानन्दरूपेण सर्वत्र नामरूपात्मकेषु स्थितम्, अनित्यं च अनात्मरूपम्, असज्जडरूपं दुःखरूपं च माया तत्कार्यं च, अनयोः विचारणाद् विविच्य दर्शनात्, **जयेत्** नाशयेत्। **आत्मानात्मविचारणात्** इति पाठेऽपि स एवार्थः।।८।।(५६८)

लय इति। लये सुषुप्तौ लीने सति, **चित्तं** मनः, **प्रबोधयेद्** योगेन समाधौ निरुध्यमानं चेतो विषयेभ्यो व्यावृत्तमपि लयाभिमुखं चेत् तदानीम् उत्थापनप्रयत्नेन, यद्वा लयकारणनिरासेन तत्सम्यग् उत्थापयेद्, लयकारणानि पातञ्जल उक्तानि 'लयहेतवो निद्राशेषः अजीर्णबह्वशनश्रमा' इति। अस्यार्थः, लयस्य लयाभिमुखस्य चेतसो, लयसन्मुखत्वे हेतवः कारणानि, निद्राशेषो निद्राया अपूर्णता। अजीर्णं भक्षितान्नस्य उदरे परिपाकाभावः द्वितीयः। बह्वशनं स्वाहाराद् अधिकान्नभक्षणं तृतीयः। श्रमश्च चतुर्थः। इति एवंरूपाः चत्वारः हेतवो भवन्ति तन्निवारणेन जाग्रदभिमुखं कृत्वा ततः समाधौ निरुन्ध्याद् इति भावः। ततो लयाद् उत्थापितं चित्तं यदि विक्षिप्तं स्यात् नित्यं जाग्रद्विषयप्रतीत्यभ्यासवशात् कामभोगेषु **विक्षिप्तं** विक्षेपं प्राप्तं भवेत्, चञ्चलं भवेदित्यर्थः, तर्हि

की वृद्धि को न सहना 'मत्सर' कहलाता है, इन दोनों को तथा काम क्रोधादिकों को विजय करने का सर्वोत्तम साधन यह है कि जिनको देखकर मद मत्सर आदि उत्पन्न होते हों उन सबमें आत्मभावना करे (अर्थात् जब कि आत्मा एक ही है तब ये भी तो मैं ही हूँ। फिर इनसे मद मत्सर करना तो अपने आत्मा से ही मद मत्सर करना होगा। इस प्रकार इन मद मत्सर आदि को विजय किया करे)। इन दोषों के अतिरिक्त आत्मसाक्षात्कार में और भी जो विघ्न आया करें, उन सबको नित्यानित्य पदार्थों के विचार से नष्ट करता रहे।।७-८।।

चित्त का लय होने लगे तो उसे जगाना चाहिये, चित्त विक्षिप्त होने लगे तो उसे फिर-फिर शान्त करना चाहिये, इस समय चित्त में कषाय हो रहा है यह भी चतुर साधक को पहचानना ही चाहिये। एवं जब मन समता में आ जाय तो उसे फिर हिलाना-डुलाना नहीं चाहिये।

पुनः भूयोऽपि शमयेद्, विवेकिप्रत्यक्षभोग्यवस्तुस्थितसर्वप्रकारदुःखानुसन्धानेन शास्त्रार्थानु-सन्धानेन जन्मादिविकाररहिताद्वितीयात्मानुसन्धानेन वा भोग्यावस्तुत्वनिश्चयेन वा **शमयेद्** निर्वासनं कुर्यात्, ततश्च तच्चित्तं **सकषायं** कषायः तीव्रचित्तदोषः तीव्ररागद्वेषादिवासना तया ग्रस्तं यदि भवेत् तर्हि तद्, **विजानीयात्** कदाचित् समाधिस्थितमिव लयविक्षेपशून्यं दुःखैकाग्रम् अवतिष्ठते तादृशं चित्तं विजानीयात्, समाहितचित्ताद्विविच्य जानीयाद् इत्यर्थः। असमाहितम् इदमिति निश्चित्य कषायप्रतीकारं कुर्यादिति भावः। तथा **समप्राप्तं** समं ब्रह्म 'समं सर्वेषु भूतेषु' इत्यादिस्मृतेः, तत्प्राप्तं तदाकारं यदि भवेत्, तर्हि तच्चित्तं कषायलयग्रस्तत्वभ्रमेण ततो **न चालयेत्** न चलितं कुर्यात्, समे ब्रह्मणि चित्ते स्थापिते सति तत्रैव स्थिरं तत् कुर्याद् इति भावः।।६।।(५६६)

समाधि करते-करते जब कि मन विषयों में जाना बन्द कर देता है तब कभी कभी निद्रा आने लगती है यही लय कहलाता है, उस समय (निद्रा आने के कारणों को हटाकर) चित्त को ललकार कर जगाना चाहिये। पूरी नींद न सोने, पेट में अजीर्ण रहने, अधिक भोजन तथा श्रम करने से योगाभ्यास करते हुए निद्रा आ जाती है। इन कारणों को हटाकर मन को जागृत करके फिर ध्यान में लगा दे। निद्रा से जगाए हुए चित्त में यदि अनादिकाल के अभ्यास से विक्षेप उत्पन्न हो जाए (किंवा काम-भोगों में चित्त घूमने लगे) तो उसको विषयों के दोष दिखाकर किंवा सर्वदुःखहीन सकल-सुखसागर आत्मा के दर्शन का लोभ देकर (इस प्रकार के विचारों से) शान्त करे कि हे मन! इन भोग्य पदार्थों में अनन्त दुःख भरे पड़े हैं। ये भोग तो विष मिले हुए भोजन के तुल्य हैं। इनके चिन्तन से तुझे क्या प्राप्त होना है? तुझे तो जन्मादिविकाररहित अद्वितीय सत्यस्वरूप आत्मवस्तु का ही चिन्तन किंवा अनुसन्धान करना चाहिये। इस प्रकार लय और विक्षेप को जीत लेने पर भी समाधि करते हुए कभी यह होता है कि वैसे तो चित्त समाहित सा प्रतीत हुआ करता है, परन्तु उस चित्त को रागद्वेषादि की सूक्ष्म वासनायें व्याप्त किये रहती हैं। तब चित्त अन्दर ही अन्दर खिन्न किंवा प्रसन्न-सा रहता है उस समय अत्यन्त खेद या अतिप्रसन्नता से भी मनोलय हो जाता है, परन्तु वह समाधि नहीं है। उसको समाहित चित्त से पृथक् पहचान लेना चाहिये कि यह चित्त इस समय समाधि में नहीं है। ऐसी पहचान हो जाने पर उस रागद्वेषादिवासना का प्रतीकार करे। ऐसा न हो कि समाधि के भ्रम से उस कषायावस्था में ही ठहरा रहे। इस प्रकार ब्रह्म में विषमता को उत्पन्न करनेवाले लय विक्षेप और कषायों से बचकर ज्यों ही वह मन समरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाय (अर्थात् जब चित्त ब्रह्माकार हो जाय) तो फिर उसे वहाँ से न हटाना चाहिये क्योंकि वह परमगति को प्राप्त हो चुका है।।६।।

नास्वादयेद्रसं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।
विशेदेकाग्रया बुद्ध्या सिद्धिमेवमवाप्नुयात्।।१०।।(६००)

ततोऽपि किं कार्यमित्यत आह **नेति। तत्र** समे ब्रह्मणि चेतसि स्थापिते सति परमानन्दाविर्भावः स्यात् तत्र तस्मिन् परमानन्दाविर्भावे सति, **रसम्** आनन्दं, **नास्वादयेत्** नानुभूयाद् 'रसो वै स' इति श्रुतेः। ननु 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' इति स्मृतेः।

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।'। इति श्रुतेश्च,

समाधौ आविर्भूतस्य ब्रह्मानन्दस्य श्रुतिस्मृतिभ्यां बुद्धिग्राह्यत्वम् उक्तं, भवता तु तद्विरुद्धं बुद्ध्यग्राह्यत्वं कथमुच्यते इति चेत्? नायं दोषः, समाधिविरोधिव्युत्थानकारणभूतवृत्तिविषयक-सुखास्वादनिषेधाद्, यथा ग्रीष्मदिनेषु मध्याह्ने जाह्नव्यादिनदीजलनिमग्नेनापि अनुभूयमानं शैत्यसुखं तदा वक्तुम् अशक्यं पश्चात् ततो निःसृतेन उच्यते, यथा वा सुषुप्तौ अविद्यावृत्तिभिः अतिसूक्ष्माभिः अनुभूयमानमपि स्वरूपसुखं तदानीं सविकल्पेन अन्तःकरणेन ग्रहीतुम् अशक्यमपि प्रबोधकाले तु स्पष्टं तत्परामृशति, तथा समाधौ वृत्तिरहितेन संस्कारमात्रशेषतया सूक्ष्मेण चित्तेन सुखानुभवः श्रुतिस्मृतिविवक्षितः, अस्माभिस्तु महद् इदं समाधिसुखम् अन्वभूवमिति व्युत्थितस्य स्मृतिविषयः सविकल्पो रसास्वादशब्देन आनन्दः अभिहितः स च प्रतिषिध्यते, अतो न विरोधः। एतदभिप्रायं विशदयितुम् आह **निःसंग इति। प्रज्ञया** प्रकृष्टं सविकल्पकं ज्ञानं प्रज्ञा तया **निःसंगः** संगः सम्बन्धः तद्रहितः, **भवेत्** स्याद्, यद्वा धृतिगृहीता बुद्धिः प्रज्ञा तया, निःसंगः समाधि-सुखनिरूपणाद्यासक्तिरहितो, भवेत् स्यात् इत्यर्थः। यद्वा प्रज्ञया समाधिरूपवृत्त्या, निःसंगः तात्त्विकसम्बन्धहीनः शुद्धचिन्मात्रः, भवेद् इत्यर्थः, एतदभिप्रायेणापि आह **विशेदिति। एकाग्रया** एकं स्वगतादिभेदरहितम्, अग्रं पर्यवसानं यस्याः सा तथोक्ता स्वलयेन ब्रह्ममात्ररूपया इत्यर्थः, **बुद्ध्या** निश्चयात्मिकया अन्तःकरणवृत्त्या, **विशेत्** लीनो भवेद्, ब्रह्माकारो भवेद् इत्यर्थः। ततः किं? तत्राह **सिद्धिमिति। एवं** प्रकारेण, **सिद्धिं** मुक्तिम्, **अवाप्नुयात्** प्राप्नुयात्, नान्यथा उक्तलक्षण-ब्रह्मकर्मफलसिद्धिः इति भावः।।१०।।(६००)

मन जब समता में पहुँच जाय तो यहाँ सुखास्वाद लेने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये अपितु बुद्धि के सहारे से निःसंग रहने का प्रयत्न करना चाहिये। एकाग्र बुद्धि के सहारे से यों ही आत्मधाम में घुसते चले जाना चाहिये। ऐसा करेगा तो सिद्धि को पाकर ही छोड़ेगा।

'उस समय आनन्द का आस्वादन न करे', इसे यों समझेंगरमी के दिनों में गंगा के शीतल जल में डुबकी लगाये हुए जिस शैत्यसुख को स्नान करनेवाला पुरुष अनुभव करता है उस सुख को जल से बाहर निकलने पर ही कहा जा सकता है। गोता लगाये हुए उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। किंवा जैसे सोते हुए पुरुष को अविद्या-वृत्तियों से जिस निद्रासुख का अनुभव होता है उसे क्या वह जाग्रत्काल के सविकल्प अन्तःकरण से कभी वर्णन किंवा ग्रहण कर सकता है? उसका स्मरण किंवा वर्णन तो

उद्धृते गार्हपत्याग्नौ तत्तत्संस्कारसंस्कृते।
सत्यरूपः स्वयं यज्वा श्रद्धा पत्नी पतिव्रता।।११।।(६०१)

एवं होमविघातकानि प्रायश्चित्तानि निरूप्य इदानीं होमांगेतिकर्तव्यतामाह **उद्धृत इति। गार्हपत्याग्नौ** वक्ष्यमाणे गार्हपत्यनामन्यग्नौ, **उद्धृते** वक्ष्यमाणलक्षणे उद्धरणेन, उद्धृते बहिः निष्कासिते सति, ततः **तत्तत्संस्कारसंस्कृते** ते ते तच्छुद्धिकारणभूताः संस्कारा जीवस्य ये विवेकिप्रसिद्धाः शान्त्यादयः, तै संस्कृते शोधिते सति, जीवरूपे अग्नौ, **सत्यरूपः** त्वंपदलक्ष्यः शुद्धजीवः, **स्वयम्** आत्मा, **यज्वा** होमकर्त्ता भवति, **पतिव्रता** पत्युः आत्मनो व्रतं स्वसुखचित्सन्मात्रस्थितिरूपं व्रतं यस्याः सा तथोक्ता, **श्रद्धा** गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासरूपा वृत्तिः, सा **पत्नी** यज्वपत्नी भवति।।११।।(६०१)

जागने पर ही हो सकता है, इसी प्रकार समाधि काल में भी चित्तवृत्ति बन्द हो जाती है और संस्कारमात्र चित्त सूक्ष्मावस्था में रह जाता है। वह सूक्ष्मचित्त ही उस समाधिकाल में सुखानुभव करता है। उस सुख को 'ओ हो! मैं तो बड़ा भारी सुख अनुभव करता हूँ' इस प्रकार वृत्ति की चादर ओढा कर एकदेशी तथा क्षणकालिक बना लेना न चाहिये। ऐसा करने से तो उस सुख की पूर्णता ही नष्ट हो जायगी। वह सुख अपूर्ण किंवा खण्डित हो जायगा। उस समय तो प्रत्येक विवेकी को प्रज्ञा से निःसंग रहना चाहियेअर्थात् उस आनन्द के विषय में सविकल्प ज्ञानों को उत्पन्न न होने देना चाहिये। अथवा उस समाधिसुख को अनुभव करना किंवा मानस शब्दों के साँचे में उसे ढालने के जैसे छोटे भाव उदय नहीं होने देने चाहिये। उस समय उस समाधिरूप वृत्ति से असंग होकर केवल अपने सर्वसम्बन्धहीन शुद्ध चिन्मात्र आत्मरूप का ध्यान करना चाहिये, क्योंकि समाधि भी तो चित्त का ही एक धर्म होता है। इस विधि से प्रत्येक अभ्यासी उस अवस्था में असंग रहने का प्रयत्न करे। उस निश्चयात्मक एकाग्र बुद्धि की सहायता से ब्रह्म में प्रतिदिन अधिकाधिक प्रविष्ट किंवा लीन होता चला जाय। उसके इस महान् आत्मत्याग को देखकर पतिव्रता बुद्धि भी अपने चिदाभास के साथ ही ब्रह्म में लीन हो जाती है। इस विधि के अनुसार पूर्वोक्त ब्रह्मकर्म की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।।१०।।

गार्हपत्य नामक अग्नि को बाहर निकालने पर तथा उन उन (शम, दम उपरति आदि) संस्कारों से शुद्ध कर लिये जाने पर, सत्यस्वरूप वह शुद्ध जीव ही होमकर्ता होता है। (सुखमात्र आत्मा का सदा स्मरण रखनेवाली) पतिव्रता श्रद्धा ही उस होम करनेवाले की पत्नी कहलाती है।।११।।

गृहं देहः पतिर्जीवश्छादितो मोहभस्मना।
जीवस्य गार्हपत्याग्नेः तदुद्धरणमुत्तमम्।।१२।।(६०२)
द्वे आहुती जुहोत्येते अग्निहोत्रविधानतः।
ममतां प्रथमं हुत्वाऽहन्तां च जुहुयात् ततः।।१३।।(६०३)

लोके तावद् गार्हपत्यः अग्निः प्रसिद्ध एव, अत्र तु गार्हपत्यशब्दनिरुक्त्या तं विशिष्टं लक्षयति **गृहमिति। देहः** शरीरं, **गृहं** गृह्यत आत्मभ्रान्त्यांगीक्रियते इति गृहं मन्दिरं, **जीवो** जीवयति शरीरमिति जीवः, यद्वा जीवति प्राणान् धरति इति जीवः, **पतिः** पाति रक्षति इति पतिः शरीरस्य जीवकत्वात् प्राणधारकत्वाच्च अस्ति, स **मोहभस्मना** मोहः अज्ञानं, जीवाग्न्याच्छादकत्वाद् भस्मेव भस्म तेन, आच्**छादित** आवृतो भवति, **तत्** ततो मोहभस्मतः, **जीवस्य** जीवरूपस्य, **गार्हपत्याग्नेः** शरीरगृहपालकस्य तत्प्रकाशत्वाच्च अग्नेः। यद्वा तत्त्वज्ञानेन शरीरगृहदाहकत्वेन अग्नेः तस्य च सत्त्वसमर्पणेन पालकस्य च, **उद्धरणम्** उद्धार, **उत्तमं** श्रेष्ठम् अतिश्रेष्ठम् इत्यर्थः नान्यत् लौकिकम् अग्न्युद्धरणं श्रेष्ठमिति भावः।।१२।।(६०२)

द्वे आहुती जुहोतीति। श्रुतिप्रामाण्येन लौकिके गार्हपत्याग्नौ द्वे आहुती प्रक्षिप्येते अतः अत्रापि एतत्प्रामाण्येन एतदाहुतिद्वयविलक्षणम् आहुतिद्वयम् आह **द्वे इति। अग्निहोत्रविधानत** उक्तलक्षणेन अग्निहोत्रविधानेन, **एते** वक्ष्यमाणे, **द्वे** द्विसंख्ये, **आहुती,** मुनिः मननवान् **जुहोति** प्रक्षिपति। ते एव अर्धेन दर्शयति **ममतामिति। प्रथमम्** आदौ, **ममतां** ममत्वं, **हुत्वा** प्रक्षिप्य, **ततः** अनन्तरम्, **अहन्तां च** अहन्त्वमपि, **जुहुयात्** प्रक्षिपेद्, बुद्ध्यादौ शरीरान्तेषु आत्मनः तादात्म्यबुद्धिं त्यजेदित्यर्थः।।१३।।(६०३)

यह देह ही घर है, जीव ही इसका गृहपति है, उस पर मोहरूपी भस्म जम गयी है। उस भस्म को यदि कोई हटा दे और उस जीवरूपी अग्नि को देख ले तो बस यही जीवरूपी गार्हपत्याग्नि का बढिया उद्धरण हो जाय।

यह शरीर ही गृह कहलाता है क्योंकि इसे ही लोगों ने आत्मा के धोखे में ग्रहण कर रक्खा है। अपनी सत्ता देकर इस शरीररूपी गृह का पालक होने से वह जीव गृहपति कहलाता है। अचानक ही वह जीवरूपी अग्नि मोहरूपी भस्म से ढक-सा गया है। उस जीवरूपी गार्हपत्य अग्नि को मोहरूपी राख में से निकाल लेना ही उत्तम उद्धरण कहलाता है। (तत्वज्ञान से इस शरीररूपी घर को जला डालने के कारण उस जीव को अग्नि माना गया है)।।१२।।

अग्निहोत्र की विधि के अनुसार मुनि तो केवल दो ही आहुतियाँ अपनी गार्हपत्याग्नि में हवन करता है। प्रथम तो ममता का होम कर देता है उसके अनन्तर अहन्ता का होम कर डालता है।।१३।।

हुते चेदाहुती एते सर्वमेतद्धुतं भवेत्।
श्रद्धापत्नीसमेतानां मुमुक्षागृहवासिनाम्।।१४।।(६०४)
अग्निहोत्रमिदं नित्यमकृत्य प्रत्यवैति यत्।।१५।।(६०५)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां होमांगसहितहोमनिर्णयः त्रयोदशः।।

अथ ब्रह्मयज्ञनिर्णयः

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
इति पञ्चांगुलिमयो यमनामा तु सत्करः।।१।।(६०६)

ननु एतद् आहुतिद्वयं जीवस्वरूपे गार्हपत्याग्नौ प्रक्षिप्यते चेत् ततः किं फलं भवेत् तत्राह **हुते चेदिति। एते** उक्तप्रकारे, **आहुती हुते चेद्** उक्तलक्षणे गार्हपत्याग्नौ प्रक्षिप्ते यदि, ततः तर्हि, **एतत् सर्वं** दृश्यमानं सर्वं जगद्, **हुतम्** अग्नौ उक्तलक्षणे प्रक्षिप्तं, **भवेत्** स्याद्। ननु इदम् अग्निहोत्रं न क्वापि उक्तम् इत्याशंक्य तैत्तिरीयकोपनिषदि 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी'- त्यादिनोक्तत्वात् मैवम् इत्याह **श्रद्धेति। श्रद्धापत्नीसमेतानां** गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासबुद्धिरेव श्रद्धा, सैव पत्नी भार्या, तया समेतानां संयुक्तानां **मुमुक्षागृहवासिनां** मुमुक्षा मोक्षेच्छा, सैव गृहं मन्दिरं, तत्र वस्तुं वासं कर्तुं शीलं येषां तेषां 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिः। **इदम्** एतद्, उक्तविधम् इत्यर्थः, **अग्निहोत्रम्** अग्निहोत्राख्यं कर्म कार्यम् अवश्यकर्तव्यं विहितम् इत्यर्थः, **यद्** इदं प्रसिद्धं ज्ञान्यग्निहोत्रम् **अकृत्य** परित्यज्य, **प्रत्यवैति** प्रत्यवायी भवति, अतः अग्निहोत्रम् इदं **नित्यं** कर्तव्यमिति भावः।।१४-१५।।(६०४-६०५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकर विरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे होमांगसहितहोमनिर्णयार्थप्रकाशः त्रयोदशः।।

एवं होमनिर्णयं परिसमाप्य इदानीं ज्ञानिनां ब्रह्मयज्ञं निर्णेतुं ब्रह्मयज्ञनिर्णयाख्यं प्रकरणं पञ्चश्लोकम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** होमनिर्णयानन्तरं, **ब्रह्मयज्ञो** विदुषां ब्रह्मयज्ञो, निरूप्यते इति शेषः। तत्र तावद् लौकिकब्रह्मयज्ञे प्रसिद्धहस्तयोः सम्पुटीकरणं विहितं, तद्वद् अत्र ज्ञानिविहित ब्रह्मयज्ञे लौकिकहस्त-विलक्षणहस्तयोः लौकिकसम्पुटीकरणविलक्षणं सम्पुटीकरणमाह **अहिंसेति। अहिंसा** हिंसात्यागः, **सत्यं** सत्यवचनादिग्रहः, यद्वा असद्वस्तुत्यागेन सद्वस्तुग्रहः, **अस्तेयं** स्तेयं चौर्यं, तत्त्यागः, **ब्रह्मचर्यपरिग्रहौ** ब्रह्मचर्यम् अष्टांगमैथुनत्यागरूपम्, अपरिग्रहश्च योगप्रतिकूल-

यदि उक्त प्रकार की दो आहुतियाँ उक्त प्रकार की गार्हपत्य अग्नि में डाल दी जायँ तो हम समझते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् ही उस अग्नि में भस्म हो जाय (फिर तो उस मुनि की पवित्र दृष्टि में केवल आत्मचैतन्य ही शेष रह जाय)। श्रद्धारूपी पत्नी के साथ मुमुक्षारूपी मंदिर में निवास करनेवाले मुनियों के (नित्यकर्म) ज्ञानाग्निहोत्र का वर्णन यहाँ तक किया गया। इस अग्निहोत्र को न करें तो ज्ञानी लोग भी पातकी हो जाते हैं।।१४-१५।।

शौचं संतोषः स्वाध्यायस्तप ईश्वरधारणा।
इति पञ्चांगुलिमयो नियमो नाम सत्करः।।२।।(६०७)

विषयासंग्रहः, एतेषां फलानि अपि सूत्रितानि पतञ्जलिना 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः,' 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्,' 'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं,' 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः,' 'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोध' इति पञ्चयम-फलानि क्रमेण प्रतिपादितानि। **इति** एवं, **पञ्चांगुलिमयः** पञ्च पञ्चसंख्या अंगुलयः तन्मयः तत्प्रचुरः, **यमनामा** यमान् नामयति स्वांगमुख्यत्वेन प्रकटयति इति यमनामा सांख्याख्यः, **सत्करः** सन् मोक्षार्थोपयोगी करो हस्तो यमानां सांख्य एव प्रधानत्वात्, **तु** पदेन लौकिकहस्ततः अस्य हस्तस्य वैलक्षण्यं सूचितम्।।१।।(६०६)

द्वितीयं करं निर्दिशति **शौचमिति। शौचं** बाह्यंस्नानादि, आन्तरं रागादित्यागरूपमुभयं, **सन्तोषो** यथालब्धेषु भोगेषु अलंबुद्धिः, **स्वाध्यायः** स्वात्मनिरूपकवेदांतग्रन्थानां विचारपूर्वकः पाठः, **तपः** स्वस्ववर्णाश्रमविहितकर्माचरणनिमित्तं शीतवातादिक्लेशसहनरूपं, स्वरूपप्राप्तिसाधननिमित्तं क्लेशसहनम् इति च द्विविधम्, **ईश्वरधारणा** सर्वत्र अस्तिभातिप्रियरूपेण सच्चिदानन्देश्वरप्रतीतिरूपा तद्व्यतिरिक्तनामरूपासत्त्वनिश्चयपूर्विका, **इति** एवं **पञ्चांगुलिमयः** पञ्च पञ्चसंख्या अंगुलय इव अंगुलयः करशाखाः, तन्मयः तत्प्रधानो, **नियमो नाम** नियम इति प्रसिद्धः योगे नियमानां प्राधान्यात् नियमप्रधानांगैः उपलक्षितः योग इत्यर्थः। **सत्करः** सन् मोक्षरूपार्थसाधनभूतः करो हस्तः अस्ति। एतेषामपि फलानि सूत्रितानि पतञ्जलिना 'शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः', 'सत्त्वशुद्धिः सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च' इति, 'संतोषाद् अनुत्तमसुखलाभः', 'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः,' 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः', 'समाधिसिद्धिः ईश्वरप्रणिधानाद्' इति क्रमेण नियमानां फलानि ज्ञेयानि।।२।।(६०७)

एवम् अंगुलिभिः उपलक्षितौ हस्तौ निर्णीय तयोः सम्पुटीकरणं विशिष्टमाह **सम्पुटीकृत्येति। मुनिः** ज्ञानी, **नियमसंयमौ** नियमाः पञ्च प्रोक्ताः तदुपलक्षितो योगः संयमश्च उक्तपञ्चयमोपलक्षितश्च सांख्यः तौ, **द्वौ** द्विसंख्यौ, **हस्तौ** करौ द्वैतत्यागाद्वैतग्रहणसाधनौ, **सम्पुटीकृत्य** अन्योन्यानुकूल्येन अखण्डैकरसवस्तुपर्यवसितौ कृत्वा, साक्षाद् वाच्यार्थत्यागेन प्रत्यक्षं यथा भवति तथा **ब्रह्मस्तुतिमयं**

अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा योगप्रतिकूल विषयों का असंग्रह इन पाँच अंगुलियोंवाला मोक्ष के लिये उपयोगी यम नाम का मोक्षदायक प्रथम हाथ कहलाता है। शौच, सन्तोष, अध्यात्म विषयक ग्रन्थों का स्वाध्याय, तप (स्ववर्णाश्रमविहित कर्मों का अनुष्ठान तथा आत्म-प्राप्ति के लिये क्लेश सहन) तथा ईश्वर-धारणा (अस्ति, भाति और प्रिय इन तीनों रूपों का सब पदार्थों में दृष्टिगोचर होना) पाँचों अंगुलियों के समान इन पाँचों से मिलकर बना हुआ नियम नाम का दूसरा मोक्षोपयोगी हाथ कहलाता है।।१-२।।

(द्वैतत्याग तथा अद्वैतग्रहण के साधन) नियम और संयम नाम के इन दोनों हाथों को (इस प्रकार) मिलाकर कि जिससे ये दोनों एक-दूसरे की सहायता करते हुए

संपुटीकृत्य हस्तौ द्वौ मुनिर्नियमसंयमौ।
ब्रह्मस्तुतिमयं साक्षाद् ब्रह्मयज्ञं समाचरेत्।।३।।(६०८)

तदुक्तं पातञ्जले

'स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
योगस्वाध्यायसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते' इति।।४।।(६०९)

ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपस्य, स्तुतिः प्रशंसा, यत्र वाक्ये तन्मयं तत्प्रधानं, वाक्यार्थावृत्तिरूपं, **ब्रह्मयज्ञं** ब्रह्म इज्यते अनेन इति ब्रह्मयज्ञो वेदान्तपाठः तं, **चरेत्** कुर्यात्।।३।।(६०८)

ननु ईदृशब्रह्मयज्ञनिरूपणे किं प्रमाणम् इत्याशंक्य आह **तदिति। तद्** ब्रह्मयज्ञरूपं कर्म, **पातञ्जले** पतञ्जलिप्रणीते योगशास्त्रे, **उक्तं** कथितं। केन वाक्येन इत्यपेक्षायां तद्वाक्यम् उदाहरति **स्वाध्यायादिति। स्वाध्यायात्** स्वस्य आत्मनः, अध्यायः प्रतिपादको ग्रन्थः वेदान्तशास्त्रं तत्पाठः कर्तव्यः; तस्मिंश्चित्तस्य औदासीन्यम् आलक्ष्य ततः **योगं** चित्तवृत्तिनिरोधम्, **आसीत** अभ्यसेत्, तत्रापि चित्तस्य औदासीन्यम् आलक्ष्य **योगाद्** योगाभ्यासात् चित्तं निवर्त्य **स्वाध्यायं** स्वस्य आत्मनः प्रतिपादकं शास्त्रम्, **आमनेद्** विचारयेत्, कामादिवृत्तीनाम् अवसरं न दद्यादिति भावः। एवं कृते किं स्यात् तदाह **योगेति। योगस्वाध्यायसंपत्त्या** योगश्चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणः स्वाध्यायश्च विचारपूर्वकं वेदान्तपाठः तयोः सम्पत्त्या सिद्ध्या, सम्पादनेन इत्यर्थः, **परमात्मा** कार्यकारणातीत आत्मा अखण्डैकरस आत्मा, **प्रकाशते** स्वयमेव प्रकाशितो भवति, **इति** इत्थं पातञ्जले प्रोक्तम् अस्ति इत्यर्थः।।४।।(६०९)

एतस्य विद्वद्ब्रह्मयज्ञस्य फलमाह **वेदेति। वेदशास्त्रपुराणेषु** वेदः स्वतः प्रमाणत्वेन अन्यप्रमाणनिरपेक्षः अपौरुषेयवाक्यकदम्बरूपः, शास्त्राणि मुनिप्रणीतानि वेदार्थप्रतिपादकानि वेदान्तमीमांसादीनि, पुराणानि च व्यासादिप्रणीतानि भागवतादीनि सेतिहाससयुक्तिकवेदशास्त्रार्थ-

अखण्डैकरस आत्मवस्तु को प्राप्त करा सकें) सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्रशंसा करनेवाले वाक्यों का अनुशीलन करता रहे। यही ब्रह्मयज्ञ कहलाता है।।३।।

इस ब्रह्मयज्ञ को पतंजलि मुनि ने अपने योगशास्त्र में भी प्रतिपादन किया है किअभ्यासी को प्रथम अध्यात्मशास्त्र का पाठ करना चाहिये या प्रणवादि का जप करना चाहिये। जब उससे चित्त हटने लगे तब चित्तवृत्तियों का निरोध करना प्रारम्भ करे। वहाँ भी यदि कालान्तर में चित्त उदासीन हो जाय किंवा किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न हो जाय तो उस उदासीनता तथा सन्देह को हटाने के लिये फिर उन्हीं अध्यात्मग्रन्थों का अनुशीलन किंवा अभीष्ट मन्त्र का जप करने लगे। इस प्रकार पर्याय से कभी चित्तवृत्ति को रोकने और कभी स्वाध्याय करने से अखण्ड एकरस आत्मा स्वयं ही दर्शन दे देता है।।४।।

वेदान्तादि शास्त्रों तथा पुराणादियों के विचारपूर्वक पढ़ने पर उनसे पृथक् पृथक्

वेदशास्त्रपुराणेषु यद्यत्पुण्यफलं स्मृतम्।
सर्वस्मादपि संप्रोक्तं ब्रह्मयज्ञफलं महत्।।५।।(६१०)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां ब्रह्मयज्ञनिर्णयः पञ्चदशः।।

अथ तर्पणनिर्णयः

देवर्षिपितृभूतेभ्यो दत्तो येन जलाञ्जलिः।
ब्रह्मैवास्मीतिमन्त्रेण तर्पणं तत्सुतर्पणम्।।१।।(६११)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां तर्पणनिर्णयः षोडशः।।

संग्राहकाणि इत्यर्थः, तेषु विचारपूर्वं पठितेषु सत्सु, **यद्यत्** तत्र तत्र उक्तं पुण्यफलं पवित्रकारकं फलं प्रयोजनं, **स्मृतं** कथितं, तस्मात् **सर्वस्मादपि** फलात् समूहीभूताद् **ब्रह्मयज्ञफलम्** एतस्य विद्वद्विहित-ब्रह्मयज्ञस्य फलं प्रयोजनम् आत्मप्राप्तिरूपत्वात्, **महत्** श्रेष्ठं, **संप्रोक्तं** कथितम्, अतः अयमेव ब्रह्मयज्ञः कर्तव्यः विद्वद्भिः इति भावः।।५।।(६१०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकर विरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे ब्रह्मयज्ञनिर्णयार्थप्रकाशः पञ्चदशः।।

एवं मुनीनां ब्रह्मयज्ञं निरूप्य इदानीं तत्प्रसंगात् तेषामेकश्लोकं तर्पणनिर्णयाख्यं प्रकरणं निरूपयन्नाह **अथेति। अथ** ब्रह्मयज्ञनिर्णयनिरूपणानन्तरं, **तर्पणनिर्णयः** तर्पणस्य मुनीन्द्रतर्पणस्य, निर्णयो निश्चयः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **देवर्षीति। देवर्षिपितृभूतेभ्यः** यथा लोके देवर्षिपितृभूतेभ्यः जलाञ्जलिः दीयते तद्वद् अत्रापि देवा इन्द्रियाधिष्ठातारः समष्टिव्यष्टिरूपा, ऋषयश्च ब्रह्मादयः, पितरश्च अग्निष्वात्तादयः स्वपितरश्च भूतानि वियदादीनि भौतिकाः प्रेतादयश्च सर्वे प्राणिनः तेभ्यो, **ब्रह्मैवास्मीतिमन्त्रेण** अहं सच्चिदानन्दलक्षणस्य उभयोः अविशिष्टत्वाद् ब्रह्म अस्मि भवामि नान्यः अहंपदवाच्यो जीवोस्मीति अर्थानुसन्धानपूर्वकम् अनेन मन्त्रेण, कृत्वा **जलाञ्जलिः** जडस्य जडभागस्य, उभयोः पदयोः वाच्यांशस्य विरुद्धस्य आधेयाधारत्वेन सम्बन्धरूपः अञ्जलिः सांख्ययोगहस्तयोः एकार्थपर्यवसानरूपः अञ्जलिः, **दत्तः** समर्पितः, स्वसम्बन्धं परित्यज्य देवर्षिपितृभूतसम्बन्धत्वेन अनुभूतः इत्यर्थः, तन्निषेधस्यापि तत्सम्वन्धवत्त्वमेव इति भावः, **तद्** एतद् अज्ञानिनां परोक्षमपि ज्ञानिनां तु अपरोक्षम् इत्यर्थः, **तर्पणं** तृप्तिजनकं कर्म **सुतर्पणं** नित्यतृप्तिजनकं नान्यद् नित्यतृप्तिजनकम् अतः विद्वद्भिः एतदेव कर्तव्यम् इति भावः।।१।।(६११)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे तर्पणनिर्णयार्थप्रकाशः षोडशः।।१६।।

जितने पुण्यफल प्राप्त होते हैं आत्मप्राप्तिरूपी फलवाले ब्रह्मयज्ञ से तो उन सबसे बड़ा फल प्राप्त हो जाता है।।५।।

ब्रह्मयज्ञ के निरूपण के पश्चात् अब मुनीन्द्र का तर्पण बताया जाता हैयदि कोई मुनीन्द्र 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस महामन्त्र से (इन्द्रियों के अधिष्ठाता) देव, (ब्रह्मादि) ऋषि, (अग्निष्वात्तादि) पितर, स्वपितर (आकाशादि) भूत तथा सम्पूर्ण प्राणियों के उपभोग

अथ देवपूजाचतुर्दशी

मायाशक्तिविलासतो नगणितब्रह्माण्डभाण्डोदरे।
क्रीडाकौतुकसंभ्रमात्मकमपि प्रत्यक्प्रकाशात्मकम्।।
ध्यात्वा किंचिदचिन्त्यचिद्घनरसं स्वानंदसत्ताद्वयम्।
सिद्धांतस्वरसेन पूजनविधिं वक्ष्यामि विश्वात्मनः।।१।।(६१२)

एवं तर्पणं निरूप्य इदानीं देवपूजां वक्तुं देवपूजानिर्णयाख्यं चतुर्दशश्लोकं प्रकरणं निरूपयन्नाह **अथेति। अथ** तर्पणनिरूपणानन्तरं, **देवपूजाचतुर्दशी** देवपूजायाः चतुर्दशी चतुर्दशश्लोकसमाहाररूपं प्रकरणं, निरूप्यते इति शेषः। तत्र तावद् ज्ञानिनां पूजां निरूपयितुं तत्पूज्यदेवतातत्त्वानुसन्धानं कृत्वा पूज्यपूजानिरूपणं प्रतिजानीते **मायेति। मायाशक्तिविलासतः** मायानाम्नी शक्तिः जगज्जननसामर्थ्यरूपा तस्या विलासतो विलासरूपे, सप्तम्यन्तात् तसिल्, **नगणित-ब्रह्माण्डभाण्डोदरे** नगणितानि अनन्तानि यानि ब्रह्माण्डरूपाणि भाण्डानि पात्राणि तेषाम् उदरे जठरे, **क्रीडाकौतुकसंभ्रमात्मकमपि** क्रीडायां विलासे, यत् कौतुकम् आश्चर्यं, तस्य संभ्रमः आवेशः, स एव आत्मा स्वरूपं यस्य तत् तादृशमपि, लौकिकदृष्ट्या तादृशं प्रतीतमपि इत्यर्थः, **प्रत्यक् प्रकाशात्मकं** प्रत्यक्सर्वप्रकाशकत्वेन अन्तश्चित्प्रकाशः स आत्मा स्वरूपं यस्य तत् तथोक्तम्, अस्मि इति शेषः, तदेव किञ्चित् सत्त्वासत्त्वादिना केनापि प्रकारेण निर्देशानर्हम् **अचिन्त्यचिद्घनरसं स्वानन्दसत्ताद्वयं** न चिन्त्यः चिन्तनस्य ध्यानस्य विषयो भवितुम् अर्हः स च असौ चिदेव चिन्मात्रं, तद्रूपेण घनः सघनो निविड इत्यर्थः, रसः सारो, यत्र स तादृश आनन्दः स्वरूपभूत आनन्दः, तस्य सत्ता भावः, तया अद्वयं भेदरहितम् इष्टदेवतास्वरूपं, **ध्यात्वा** चिन्तयित्वा, तदेव अहम् इति अनुभूय इत्यर्थः, अहं **सिद्धान्तस्वरसेन** सिद्धान्तः सर्ववेदान्तलक्ष्यो यः स्वरस आत्मस्वरूपसुखं तेनैव केवलं, **विश्वात्मनः** सर्वात्मशिवस्य, **पूजनविधिं** पूजनस्य अर्चनस्य, विधिं प्रकारं, **वक्ष्यामि** कथयिष्यामि।।१।।(६१२)

के लिये सम्पूर्ण जडभाग को अंजलि के रूप में मिलाकर दे दे, (अर्थात् सांख्ययोग नामक दोनों हाथों को ब्रह्मरूपी एक अर्थ में पर्यवसान (गतार्थ) करके छोड़ दे। तो यह उत्तम तर्पण ही ज्ञानी की नित्यतृप्ति कर सकता है।।१।।

तात्पर्य यह है कि मुनीन्द्र यह समझ लेता है कि यह जड भाग तो देव, ऋषि, पितर तथा भूतों का है जो कि द्वैतसागर में डूबे हुए हैं, वे ही इसे बहुत उच्च मानते हैं। मुझ अद्वैत आत्मा का तो इस जड भाग से कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिये मैं तो इस जड भाग की अंजलि इन्हीं को दिये देता हूँ।

माया जैसी बड़ी शक्ति जिस अनन्त के अज्ञात एक देश में विलास कर रही है, विलास करने के कौतुकावेश में आकर अगणित ब्रह्माण्डरूपी बर्तनों को ही जिसने अपनी क्रीडाभूमि बना लिया है, (इतने उत्पात और प्रपंच करने के अनन्तर भी) जो प्रत्यक्प्रकाश स्वरूप ही है अर्थात् सबका अन्तर्यामी होकर सबका प्रकाशक और

सेव्यः श्रीगुरुवेदवाक्यजनितश्चिद्बोध आवाहनं।
सर्वव्यापकताविनिश्चयमतिः पूर्णं पवित्रासनम्।।
त्वत्तो नान्यदवैमि किंचिदिति तत्पुण्याम्बु पादोदकं।
त्वय्येवास्त्वचला ममेश मतिरित्यर्घोस्तु ते सुन्दरः।।२।।(६१३)

एवं प्रकारनिरूपणं प्रतिज्ञाय इदानीं विशिष्टमावाहनं लक्षयति **सेव्य इति। श्रीगुरुवेदवाक्यजनितः** श्रीगुरोः वैराग्याद्यैश्वर्य-युक्तस्य गुरोः दैशिकस्य, उपदेशवाक्यैः वेदवाक्यैः कृत्वा, जनित उत्पन्नः, **चिद्बोधः** चिन्मात्ररूपस्य आत्मनः, बोधो ज्ञानं, **सेव्यः** अंगीकार्यः, सः अंगीकारः एव अत्र ज्ञानिपूजायाम् **आवाहनम्** आवाहनरूपोपचारः भवति इति शेषः। एवम् आवाहनम् उक्त्वा आसनमाह **सर्वेति। सर्वव्यापकताविनिश्चयमतिः** तस्यैव आत्मशिवस्य सर्वत्र व्यापकता अस्तिभातिप्रियरूपेण विद्यमानता, तस्या विनिश्चयः अध्यवसायः, तद्रूपा मतिः मननरूपा अन्तःकरणवृत्तिः, **पूर्णं** तत्र स्थातुः देवस्य आत्मशिवस्य योग्यं, **पवित्रासनं** पवित्रं निर्मलम्, आसनं ज्ञेयम्। पाद्यमाह **त्वत्त इति। त्वत्तः** सच्चिदानन्दरूपादात्मनः **अन्यद्** भिन्नं, **किञ्चित्** किमपि, **न अवैमि** न जानामि, **इति** एतद् यज्ज्ञानं तदेतस्यां पूजायां **पुण्याम्बु** अन्तःकरणोपाधिमलनिवर्तकत्वात् पुण्यं पवित्रम्, अम्बु जलं, **पादोदकं** पादाभ्याम् अंघ्रिभ्याम् उदकं जलं, पाद्यम् इत्यर्थः, ज्ञेयम्। अर्घ्यमाह **त्वयि इति।** हे **ईश** हे शिव, **मम** अन्तःकरणावच्छिन्नस्य साधिष्ठानचिदाभासस्य, **मतिः** मननरूपा वृत्तिः, **त्वय्येव** उपाधिं निरस्य अखण्डैकरसे भवतु केवलम्, **अस्तु** स्याद्, **इति** एवंप्रकारा प्रार्थनारूपा वृत्तिः, **सुन्दरः** सुखजनकत्वात् कमनीयः, **ते** स्वात्मशिवार्थम् **अर्घः** अर्घ्यम्, **अस्तु** भवतु।।२।।(६१३)

शुद्ध अनन्त चैतन्यस्वरूप ही है (जिसने अपनी प्रत्यक् प्रकाशता में लेशमात्र भी विकार नहीं आने दिया है) जो अचिन्त्य है, जो चिद्घन है अर्थात् जो नमक के ढेले की तरह ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, इधर-उधर, तथा अन्दर-बाहर केवल चैतन्य से ही परिपूर्ण रहता है, जिसको सदा ही स्वात्मानंद प्राप्त हुआ रहता है, जो कभी भी अपने अद्वैतस्वरूप से च्युत नहीं होता, मैं अपने उसी इष्ट देव का (अतिगम्भीरभाव से नहीं किन्तु) लेशमात्र ध्यान करके (जिससे कि इस ग्रन्थ-निर्माणरूपी द्वैत का निर्वाह कर सकूँ, यदि मैं गहरा ध्यान करूँगा तो इस ग्रन्थ का निर्माण नहीं कर सकूँगा) वेदान्त सिद्धान्त के अनुकूल उस जगदात्मा शिव की पूजनविधि का (यत्किंचित्) वर्णन करूँगा।।१।।

आचार्य के उपदेश तथा श्रुति वाक्यों के श्रवण से उद्बुद्ध हुए चैतन्यरूप आत्मा का जब अंगीकार कर लिया जाता है, तो ऐसा अंगीकार ही ज्ञानिपूजा में 'आवाहन' नाम का उपचार कहलाता है। सब पदार्थों में उसी शिवात्मा को व्यापक समझ लेना

शीतोष्णं कटुतिक्तमम्लमधुरं क्षारं विचित्रं रसैः।
यत्तस्यास्य समत्वभावमधुना पर्कः कृतश्चेद् यदि।।
मुख्योऽयं मधुपर्क उत्तमरसस्तेनामुना सादरम्।
पूज्यानामपि पूज्य एष परमो देवः सदा पूज्यताम्।।३।।(६१४)

मधुपर्कमपि विशिष्टमाह **शीतोष्णमिति। रसैः** सुखविशेषैः, **शीतोष्णं** शीतं शीतगुणवद्, उष्णं च तापकं, समाहारे एकवद्भावः। तथा **कटुतिक्तं** कटु कषायरसवत्, तिक्तं तीक्ष्णरसवद्, **अम्लमधुरम्** अम्लम् अम्लरसवद्, मधुरं मधुररसवद् गुडादिकम्, अत्रापि समाहारैकवचनं। **क्षारं** क्षाररसवद् **यत्** पदार्थजातं तदाकारम् अन्तःकरणं च, **विचित्रं** विचित्ररसवत् प्रतीयते, **तस्य** उक्तस्य अनेकरससहितस्य अन्तःकरणस्य, **अस्य** साक्षिणः मम प्रकाश्यस्य, **समत्वभावमधुना** समत्वम् अस्तिभातिप्रियरूपेण समत्वात् नामरूपयोरपि पृथगसत्त्वाच्च सर्ववस्तुनः तदाकारान्तःकरणस्य च समत्वं, तस्य भावो भावना, तदेव उत्कृष्टपारमार्थिकरसरूपत्वात् मधु तेन, **पर्कः** लेपः स्वात्मशिवे, **कृतः** सम्पादितः, **यदि चेद्** यदि भवेत् तर्हि **अयं** विवेकिनां प्रसिद्ध, **उत्तमरस** उत्तम उद्गतं निवृत्तं तमः अज्ञानं तत्कृतम् आवरणं च यस्मात् तथाभूतो रसः सुखं यत्र, अत एव **मुख्यः** प्रधानो, **मधुपर्कः** मधुना पर्को लेपो भवति, **तेन** उक्तलक्षणेन, **अमुना** मम साक्षिणः प्रत्यक्षेण मधुपर्केण, **पूज्यानामपि** पूज्याः सर्वजगत्पूज्या ब्रह्मादयः तेषामपि, **पूज्यः** पूजा परिचर्या तदर्ह, **एष** प्रत्यक् परोक्षरहितः ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मरूपः, **परमः** कार्यकारणरहितो, **देवः** चित्स्वरूप आत्मा, **सदा** सर्वावस्थासु, निरन्तरम् इत्यर्थः, **पूज्यतां** पूज्यः।।३।।(६१४)

ही उस देव के बैठने के लिये पूर्ण तथा निर्मल ‘आसन’ कहलाता है। हे सच्चिदानन्दरूप आत्मदेव! मुझे तो तुमसे अन्य कुछ भी नहीं भासता (सब जगह तुम ही तुम नजर आ रहे हो) ऐसा दृढ निश्चय ही इस पूजा में देव के पैर धोने का पवित्र पादोदक (पवित्र जल) है। (इस जल से धोने से अन्तःकरण के सभी मल निवृत्त हो जाते हैं)। हे शिव! मैं चाहता हूँ कि यह मेरी मननरूपी वृत्ति (जो मुझको सदा ही तुमसे अलग रखती चली आ रही है) केवल अखण्डैकरस तुममें ही सदा के लिये लीन हो जाय! (मैं तुमरूप ही हो जाऊँ!) इस प्रकार की प्रार्थनायें ही तुम आत्मशिव के लिये सुख-जनक सुन्दर ‘अर्घ्य’ कहलाता है।।२।।

नाना प्रकार के विषयों के कारण अनेक तथा चित्रित रसवाले अन्तःकरण में समत्वभावनारूपी मधु मिलाकर यदि मधुपर्क तैयार किया जाय तो उत्तम रस से परिपूर्ण यह मधुपर्क ही मुख्य ‘मधुपर्क’ कहलाता है। सर्वलोकपूज्य ब्रह्मादिक भी जिसकी पूजा करते हैं, पूज्यों के भी पूज्य उस आत्मदेव को सदा ही ऐसे उत्तम मधुपर्क से पूजते रहना चाहिये।

सर्वांगीणसुखावहं मुहुरहो यज्जन्मनो मज्जनम्।
शुद्धे बोधसुधाम्बुधौ शुचितरे स्नानं विशुद्धिप्रदम्।।
आभानं स्फुरति द्वितीयमिव यत् तत्सर्वमाचम्यताम्।
इत्युक्तो गुरुभिस्तदेष विधृतश्चित्ते स एवाचमः।।४।।(६१५)

एवं मधुपर्कं निरूप्य स्नानमाह **सर्वांगीणेति। यत्** प्रसिद्धं ज्ञानिनां, **जन्मनः** जन्मकारणाद् अज्ञानात् तत्कार्यात् जीवत्वाच्च, निःसृत्य इति शेषः। **शुद्धे** कार्यकारणातीते शुचितरे, अन्तःकरणस्य अतीवशोधकत्वात् स्वतश्च मायाविद्यामलरहितत्वाच्च अतीव शुद्धे 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति स्मृतेः, **बोधसुधाम्बुधौ** बोधो जीवात्मैक्यज्ञानं महावाक्यजन्यम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति साक्षात्काररूपं, स एव सुधा अमृतं सुखरूपं जलस्थानीयं, तस्य अम्बुधिः समुद्र इव आधारः स्वरूपानन्दः, तस्मिन्, **स्नानम्** अवगाहनं, **मुहुः** भूयो भूयः, तत् **सर्वांगीणसुखावहं** सर्वं सर्वपदवाच्यं द्वैतं, तदेव अंगं शरीरं, तत्र भवं सर्वांगीणं यत्सुखं, तस्य आवहं प्रापकं, द्वैतजातेऽपि आत्मसुखप्रतीतिकारकम् इत्यर्थः, **अहो** इति आश्चर्ये, स्याद् भवेद्, **विशुद्धिप्रदम्** अन्तःकरणमलनिवृत्त्या अत्यन्तशुद्धिकरं भवति।

आचमनमाह **आभानमिति। द्वितीयमिव** आत्मभानाद् अन्यदिव, **यत्** प्रसिद्धम् **आभानम्** आईषद् भानं चिदाभासरूपं जगत्प्रकाशकं, **स्फुरति** भासते, **तत्सर्वम् आचम्यतां** तत्सकलमपि प्राश्यताम्,. आत्मनः पृथग् नास्ति इति एवं बाध्यताम् इत्यर्थः। **इति** एवं प्रकारेण, **गुरुभिः** महावाक्यार्थोपदेष्टृभिः, **उक्त** उपदिष्टः, **तदेष** उक्तलक्षण उपदेशः, **चित्ते** चेतसि, **विधृतः** अंगीकृतः, स एव अस्यां पूजायाम् **आचाम** आचमनं भवति।।४।।(६१५)

यह मन सदा ही स्वभाव से शीत उष्ण, मान अपमान, हानि लाभ आदि नाना प्रकार के सुखदुःखद्वन्द्वों के रूप में परिणत होता रहता है। उन मन और उसके साक्षी को मिलाकर समता की भावना साधक को करना चाहिये। क्योंकि अस्ति भाति तथा प्रियरूप से वह जगदात्मा सब में समरूप से विद्यमान है। शीतोष्णादि द्वन्द्व भी उस आत्मा से भिन्न नहीं है। क्योंकि कार्य कभी भी कारण से भिन्न नहीं होता। इस प्रकार की भावना करने से जगत् के सम्पूर्ण विषय और उन विषयाकारों में परिणत मन भी समता को प्राप्त हो जायंगे। मानापमानादि विषमतायें भी वैसे आत्मचिन्तन से नष्ट हो जायंगी। आनन्ददायक ब्रह्मरूपता भी तभी प्राप्त हो सकेगी। गीता में कहा है कि'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म में कुछ भी विषमता नहीं है। वह तो सर्वदा सर्वत्र तथा सब वस्तुओं में सम है। करते करते जब ये विचार मधु के समान आनन्ददायक प्रतीत होने लगें तब उससे स्वात्मशिव का चिन्तनरूपी लेप लिया जाय तो वह 'मधुपर्क' कहाता है। इसी को मुनियों का उत्तम रस भी कहते हैं।।३।।

श्रद्धा निर्ममता विरागशुचिता निःसंगता पूर्णता।
भक्तिप्रेमरसप्रसादपरमानन्दादयो ये गुणाः।।
वस्त्रालंकरणानि तत्र विदुषा देयानि विश्वम्भरे।
सोऽहंभावमनोहरेण विधिना यद्‌ यद्‌ यथा रोचते।।५।।(६१६)

वस्त्राणि अलंकारांश्च आह **श्रद्धेति। श्रद्धा** गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासबुद्धिः, **निर्ममता** ममत्वराहित्यं, **विराग-शुचिता** विरागेण वैतृष्ण्येन सहिता शुचिता अन्तःकरणनिर्मलत्वं, **निःसंगता** अलिप्तत्वं, **पूर्णता** व्यापकत्वनिश्चयः, **भक्तिप्रेमरसप्रसादपरमानन्दादयः** भक्तिः साकार-ध्यानसेवादिरतिः, प्रेमरसो निरतिशयसुखात्मविषयकनिरतिशयस्नेहसुखं, प्रसादः प्रसन्नता, परमानन्द आत्मसुखानुभव एतदादयो, **ये** योगिषु प्रसिद्धा, **गुणाः** सत्त्वगुणवृत्तयः सन्ति, ते सर्वे **विदुषा** ज्ञानानि, **वस्त्रालंकरणानि** वस्त्राणि अलंकाराश्च, **तत्र** तस्मिन् **विश्वम्भरे** जगदाधारे आत्मनि, **यद्‌ यद्‌** वस्त्रं वा अलंकरणं वा तदन्यत् किमपि सुगन्धादि द्रव्यं वा, **यथा** यद्वद्, **रोचते** प्रियं भवति, तत् तत् तथा, **सोऽहंभावमनोहरेण** स इति परोक्षः परमात्मा, अहम् अहम्पदलक्ष्यः प्रत्यक्ष आत्मा, तयोः प्रत्यक् परोक्षतात्यागेन भागलक्षणया लक्षितम् अखण्डैकरसात्मानुभवपूर्वकं तदर्थ-प्रतिपादकेन सोऽहमितिमन्त्रेण, मनोहरेण मनःप्रीतिकरेण, **विधिना** विधानेन, **देयानि** समर्प्याणि।।५।।(६१६)

स्वरूपानन्दरूपी पवित्रतम ज्ञानसुखसमुद्र में बार-बार अवगाहन करने से जो सर्वाङ्गीण सुख प्राप्त होता है वह तो कुछ अद्भुत ही विशुद्धिकारक स्नान कहाता है। यदि अभ्यास करते हुए जगत् का भान करानेवाला चिदाभास कभी परात्मा किंवा आत्मसत्ता से पृथक् होकर भासने लगे (अपना कल्पनाजाल फैलाने लगे और व्युत्थान करा दे) तो उस सबका आचमन कर जाओ (अर्थात् स्वरूपसुखसमुद्र में उसको लय कर डालो, आत्मा से पृथक् कुछ नहीं है इस ब्रह्मास्त्र से उस आभास का वध कर डालो)। यदि किसी के आचार्य लोग इस रहस्य को किसी को समझा दें और वह भी इस बात को अपने चित्त में पूर्णतया धारण कर ले तो इस पूजा में यही बढिया 'आचमन' कहा जाता है।।४।।

गुरुवेदान्तवाक्यों में श्रद्धा, निर्ममता, वैराग्यपूर्वक अन्तःकरण की निर्मलता, निःसंगता, व्यापकतानिश्चय, भक्ति, सर्वाधिक प्रिय आत्मा ही में स्नेह, प्रसन्नता, तथा आत्मसुखानुभव आदि जो जो सात्त्विक वृत्तियाँ हैं, ज्ञानी को उचित है कि आत्मा का अनुभव कराने के कारण मनोहर 'सोहं' इस मंत्र से उन सबको अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विश्वेश्वर को विधिपूर्वक समर्पण कर दे।।५।।

अद्वैतप्रतिपत्तिरात्मविषया सा सामरस्याञ्चिता।
गात्रालेपनचारुचन्दनमिदं देवस्य देयं प्रियम्।।
शान्तिः क्षान्तिरलोलता सरलता निर्मत्सरत्वादयः।
शास्त्रार्था यदि न क्षताश्च वितुषाः शुद्धास्त एवाक्षताः।।६।।(६१७)
संफुल्लैर्निजभावशुद्धकुसुमैः सद्वासनासुन्दरैः।
संपूज्यो हि महेश्वरः सुमनसां सा धन्यता वर्णिता।।
कर्मज्ञानमयो यदिन्द्रियगणः क्षिप्तो विरागानले।
देवस्यास्य दशांगदाहसुरभिः धूपः सदा वल्लभः।।७।।(६१८)

चन्दनमाह **अद्वैतेति। आत्मविषया** आत्मा ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा विषयो गोचरो यस्या सा तथोक्ता, **अद्वैतप्रतिपत्तिः** अखण्डैकरसात्मानुभूतिः, **सा** उक्तलक्षणा, **सामरस्याञ्चिता** सामरस्यं द्वैताद्वैतभेदनिरासेन एकरस्येनाञ्चिता युक्ता चेद् भवति तर्हि, **इदम्** उक्तलक्षणं विद्वत्प्रत्यक्षं, **गात्रालेपनचारु** गच्छति लयमिति गा जगद्दृष्टिः तां त्राति रक्षति इति गात्रं सच्चिदानन्दघनं, तस्यालेपनं लक्ष्यलक्षकत्वेन किञ्चित् सम्बन्धार्हं, तेन चारु सुन्दरं, चन्दनम् आह्लादकं, **देवस्य** चित्स्वरूपस्य, **प्रियम्** इष्टं, **देयं** समर्पणीयम्। अक्षतानाह **शान्तिरिति। शान्तिः** अन्तःकरणनिर्वासनता, **क्षान्तिः** सहनता, **अलोलता** अन्तःकरणस्य स्थैर्यं, **सरलता** निष्कापट्यं, **निर्मत्सरत्वादयः** निर्मत्सरत्वम् ईर्ष्यारहितत्वम्, आदि प्रथमं येषां ते अक्रोधादयः ते, **शास्त्रार्थाः** शास्त्राणां वेदान्तादीनाम्, अर्थाः तात्पर्याणि, **यदि** यर्हि, **न क्षता** वेदान्तानुकूल्येन अखण्डम् अनुसन्धिताः स्युः चेत् तर्हि **त एव** अत्र अस्यां पूजायां **वितुषा** भेदतुषरहिता, अत एव **शुद्धा** निर्मला, **अक्षता** अबाधितत्वाद् अक्षता ज्ञेयाः।।६।।(६१७)

पुष्पाणि आह **संफुल्लैरिति। संफुल्लैः** प्रसन्नतासहितैः, **सद्वासनासुन्दरैः** सत आत्मस्वरूपस्य वासनाः संस्काराः, ताभिः सुन्दरैः शोभायमानैः, **निजभावशुद्धकुसुमैः** निजः स्वीय आत्मीयः, भावः तादात्म्यं, तेन शुद्धैः निर्मलैः, कुसुमैः पुष्पैः, **सुमनसां** सुष्ठु शोभनं, मनः अन्तःकरणं, येषां

अखण्ड एकरस आत्मा का आत्मविषयक अद्वैतानुभव यदि सदा एकस्वरूप ही रहता चला जाय तो बस इसी को (सच्चिदानन्दघन) आत्मस्वरूप पर दूर से लगाने योग्य चन्दन कहा जायगा। इस तरह का यह चन्दन चित्स्वरूप आत्मदेव को बड़ा प्यारा होगा, इसलिये इस चन्दन को उस आत्मदेव को समर्पण कर देना चाहिये। शान्ति (वासनाराहित्य सहनशीलता) अन्तःकरण की स्थिरता, सरलता, निर्मत्सरता (परेर्ष्याविमुखता) तथा अक्रोधादि गुणों की जिनका वेदान्तादि में प्रतिपादन किया गया है पूर्णरूप से आराधना की गई हो (किंवा विकार के कारणों के आने पर भी यदि ये गुण खण्डित नहीं हो सके हों) तो ये ही गुण इस पूजा के तुषरहित शुद्ध अक्षत कहाते हैं।।६।।

यस्मिन्नुज्ज्वलिते न तिष्ठति तमो बाह्यं न चाभ्यन्तरम्
सोऽयं ज्ञानमयः प्रकाशपरमो दीपः समुज्ज्वाल्यताम् ।
यद्भक्ष्यं प्रियमस्य यस्य परमा तृप्तिर्भवेद् भक्षणे
द्वैतं तत्तु निवेदनीयममितं नैवेद्यमत्युत्तमम् ।।८।।(६१९)

तेषां निर्मलमनसाम् इत्यर्थः, **महेश्वर** ईश्वरत्वारोपाधिष्ठानं ब्रह्म, **सम्पूज्यः** सम्यक् पूजनीयः, **सा** सैव, **धन्यता** कृतकृत्यता, **वर्णिता** कथिता, शास्त्रेषु इति शेषः। धूपमाह **कर्मेति। कर्मज्ञानमयः** कर्म क्रिया, ज्ञानं शब्दादिविषयो बोधः, तन्मयः तज्जनको, **यदिन्द्रियगणो** यः प्रसिद्ध, इन्द्रियाणां करणानां, गणः समूहो, दशेन्द्रियाणि इत्यर्थः, **विरागानले** विरागो वैतृष्ण्यं, तदेव अनलः अग्निः, तस्मिन्, **क्षिप्तः** समर्पितः, चेत् तर्हि सोऽयं प्रसिद्धो ज्ञानिनाम् **अस्य** प्रत्यगात्मनः, **देवस्य** चिन्मात्ररूपस्य, **दशांगदाहसुरभिः** दशानां दशसंख्यानाम्, अंगानाम् अवयवानाम्, इन्द्रियरूपाणाम् इत्यर्थः, दाहः दहनं, नाश इत्यर्थः, तेन सुरभिः सुगन्धिः, सदात्मवासनावत्त्वाद्, **धूपः** धूपरूपोपचारः, **सदा** नित्यं, **वल्लभः** प्रियो भवति।।७।।(६१८)

दीपमाह **यस्मिन्निति। यस्मिन्** ज्ञानरूपे दीप, **उज्ज्वलिते** सति प्रज्वालिते सति, **बाह्यं** ब्रह्मविषयं, जगत्पदार्थविषयं च, **तमः** अज्ञानं, **न तिष्ठति** न स्थितिं प्राप्नोति, **आभ्यन्तरं च** प्रत्यगात्मविषयम्, अहंकारादिविषयं च, **तमः** अज्ञानं, **न तिष्ठति** न स्थितिं प्राप्नोति, **स** उक्तलक्षणो ज्ञानिप्रत्यक्षः अयं **प्रकाशपरमः** प्रकाशेन श्रेष्ठः, 'यस्य भासा सर्वमिदं विभति, येन सूर्यः तपति तेजसेद्ध' इत्यादिश्रुतेः, **ज्ञानमयो** ज्ञानरूपो, **दीपो** दीपयति प्रकाशयति स्वात्मानमिति दीपः, **समुज्ज्वाल्यतां** प्रज्वाल्यताम्। नैवेद्यमाह **यदिति। अस्य** विद्वत्प्रत्यक्षस्य देवस्य चिन्मात्ररूपस्य आत्मनो, **यत्** प्रसिद्धं, **भक्ष्यं** भक्षितुं योग्यं, **प्रियम्** इष्टं भवति, **यस्य** भक्ष्यस्य, **भक्षणे** भोजने कृते सति, **अस्य** देवस्य, **परमा तृप्तिः** निरंकुशाख्या तृप्तिः, **भवेत्** स्यात्, **तत्तु द्वैतं** तदुक्तलक्षणं द्वैतं सर्वं जगत् **तु** पदेन अज्ञानिपूजानैवेद्याद् अतिविलक्षणत्वम् अस्य नैवेद्यस्य सूचितम्, **अमितम्** अपरिमितम्, अनन्तम् इत्यर्थः, एतमेव अत्र पूजायां **निवेदनीयं** समर्पणीयं, **नैवेद्यं** नैवेद्यरूपोपचारम्, **अत्युत्तमम्** अतिश्रेष्ठं, वदन्ति मुनय इति शेषः।।८।।(६१९)

शुद्धान्तःकरण वाले पुरुषों को तो सत् आत्मवस्तु की वासना के कारण ही जिनको सुन्दरता प्राप्त हुई है, तथा प्रफुल्लता के कारण ही जिनको विकास का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, ऐसे भावशुद्धि किंवा आत्मतादात्म्यरूपी पुष्पों से महेश्वर की पूजा करनी चाहिये (अर्थात् महेश्वर के साथ अपने तादात्म्य का दृढ निश्चय कर डालना चाहिये) ऐसी अद्भुत पूजा को ही शास्त्र में निर्मल मन वालों की कृतकृत्यता (धन्यता) कहा गया है। इसके अनन्तर अपने ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों को वैराग्यरूपी अग्नि में झोक डालने से जो दशाङ्गदाह की सुगन्धवाला धूप उठता है (जिससे कि द्वैतजाल के भस्म हो जाने तथा केवल सदात्मा के शेष रह जाने की सूचना मिल जाती है) वह धूप तो इस देव को सदा ही प्यारा लगता है।।७।।

पश्चादाचमनीयमत्र विहितं सद्यो विशुद्धिप्रदं
सन्तोषामृतमेव पूजनविधौ पानीयमानीयताम्।
यन्मैत्र्यादिचतुष्टयं मुनिमते पातञ्जले वर्णितं
ताम्बूलं वदनप्रसादजनकं देवाग्रतः स्थाप्यताम्।।९।।(६२०)

आचमनीयमाह **पश्चादिति। अत्र** अस्मिन्, **पूजाविधौ** आत्मशिवस्य पूजाविधाने, **विहितं** योग्यं, **सद्यः** तत्कालमेव, **विशुद्धिप्रदं** विशुद्धी रागादिराहित्येन निर्मलता तां, प्रददाति प्रयच्छति तत् तथोक्तं, **सन्तोषामृतमेव** सन्तोषो विषयेषु अलम्बुद्धिः, तदेवामृतं सुखरूपत्वात् जलं, तदेव **आचमनीयम्** आचमनाय हितं, **पानीयं** च प्राशने हितं च, आत्मसुखलाभे सति विषयसुखेच्छाऽभावात्, पूर्णकामत्वाच्च, विषयेषु दुःखदर्शनाधिक्याच्च विषयालम्बुद्धिः सन्तोषशब्दार्थः, **आनीयतां** स्वात्मशिवे समर्प्यताम्। ताम्बूलमाह **यदिति। मुनिमते** मुनीनां योगिनां मते विवेकिनां च मते मान्ये चित्तवृत्तिनिरोधद्वारा ब्रह्मप्रापकत्वात्, **पातञ्जले** पतञ्जलिप्रोक्ते शास्त्रे, **यत्** प्रसिद्धं, **मैत्र्यादिचतुष्टयं** मैत्री स्वसमेषु मित्रता, आदिः यासां करुणामुदितोपेक्षाणां तासां चतुष्टयं चतुष्कं, **वर्णितं** कथितं तत् तदेव, तत्र च करुणा दया स्वन्यूनेषु जिज्ञासुषु, मुदिता प्रसन्नता स्वाधिक्यदर्शने, उपेक्षा उदासीनता स्ववाक्ये अश्रद्धालुषु मूढेषु, **वदनप्रसादजनकं** वदनं मुखम् आत्मानन्दभोजनसाधनं शुद्धचेतः 'चेतोमुखः' इति श्रुतेः, तस्य प्रसादो निर्मलत्वेन शोभायमानत्वं, तस्य जनकम् उत्पादकं, लोकेऽपि ताम्बूलभक्षणस्य मुखशोभाकारित्वप्रसिद्धेः, तदेव **ताम्बूलं, देवाग्रतः** देवस्य आत्मशिवस्य, अग्रतः अग्रभागे, **स्थाप्यताम्** अर्प्यताम्, आनन्दानुभवाकारवृत्तिनैर्मल्यम् आत्मशिवस्य सदास्फुरणविषयं यथा तथा क्रियतामिति भावः।।९।।(६२०)

जिस ज्ञानरूपी दीपक के जल उठने पर बाह्य (ब्रह्म किंवा जगद्विषय में) तथा आन्तर (जीवात्मा तथा अहंकारादि के विषय में) कोई भी अज्ञान शेष नहीं रह जाता, प्रकाश के कारण श्रेष्ठ ज्ञानरूपी ऐसा 'दीपक' ही इस देव की पूजा के लिये जलाना चाहिये। उससे अन्दर और बाहर दोनों जगह का अन्धकार नष्ट हो जायगा। जिस द्वैत को यह चिन्मात्र आत्मा बड़ी रुचि से भक्षण करता है, जिसे निगल चुकने (खा लेने) पर इस आत्मदेव की बड़ी ही तृप्ति होती है, उस अपरिमित अनन्त द्वैत को ही 'नैवेद्य' रूप में अर्पण कर देना चाहिये। यह नैवेद्य इस पूजा में अति उत्तम उपचार माना गया है)।।८।।

नैवेद्य के पश्चात् इस आत्मशिव की पूजा में तत्काल पवित्र करनेवाले आचमनीय का विधान किया गया है। सन्तोषरूपी अमृत को ही 'आचमनीय' जल की जगह लाना चाहिये (आत्मसुख मिलने पर स्वभावतः विषयेच्छा उत्पन्न नहीं होती। उस आत्मा के पूर्णकाम होने तथा विषयों में अधिक दुःख होने से विषयों के प्रति जो अलंबुद्धि उत्पन्न हो जाती है उसे ही 'सन्तोष' कहते हैं) आनन्द का भोग लेने में समर्थ, शुद्धचित्तरूपी

यस्मिन्नुज्ज्वलिते न तिष्ठति तमो बाह्यं न चाभ्यन्तरम्
सोऽयं ज्ञानमयः प्रकाशपरमो दीपः समुज्ज्वाल्यताम्।
यद्भक्ष्यं प्रियमस्य यस्य परमा तृप्तिर्भवेद् भक्षणे
द्वैतं तत्तु निवेदनीयममितं नैवेद्यमत्युत्तमम्।।८।।(६१६)

तेषां निर्मलमनसाम् इत्यर्थः, **महेश्वर** ईश्वरत्वारोपाधिष्ठानं ब्रह्म, **सम्पूज्यः** सम्यक् पूजनीयः, **सा** सैव, **धन्यता** कृतकृत्यता, **वर्णिता** कथिता, शास्त्रेषु इति शेषः। धूपमाह **कर्मेति। कर्मज्ञानमयः** कर्म क्रिया, ज्ञानं शब्दादिविषयो बोधः, तन्मयः तज्जनको, **यदिन्द्रियगणो** यः प्रसिद्ध, इन्द्रियाणां करणानां, गणः समूहो, दशेन्द्रियाणि इत्यर्थः, **विरागानले** विरागो वैतृष्ण्यं, तदेव अनलः अग्निः, तस्मिन्, **क्षिप्तः** समर्पितः, चेत् तर्हि सोऽयं प्रसिद्धो ज्ञानिनाम् **अस्य** प्रत्यगात्मनः, **देवस्य** चिन्मात्ररूपस्य, **दशांगदाहसुरभिः** दशानां दशसंख्यानाम्, अंगानाम् अवयवानाम्, इन्द्रियरूपाणाम् इत्यर्थः, दाहः दहनं, नाश इत्यर्थः, तेन सुरभिः सुगन्धिः, सदात्मवासनावत्त्वाद्, **धूपः** धूपरूपोपचारः, **सदा** नित्यं, **वल्लभः** प्रियो भवति।।७।।(६१८)

दीपमाह **यस्मिन्निति। यस्मिन्** ज्ञानरूपे दीप, **उज्ज्वलिते** सति प्रज्वालिते सति, **बाह्यं** ब्रह्मविषयं, जगत्पदार्थविषयं च, **तमः** अज्ञानं, **न तिष्ठति** न स्थितिं प्राप्नोति, **आभ्यन्तरं च** प्रत्यगात्मविषयम्, अहंकारादिविषयं च, **तमः** अज्ञानं, **न तिष्ठति** न स्थितिं प्राप्नोति, **स** उक्तलक्षणो ज्ञानिप्रत्यक्षः अयं **प्रकाशपरमः** प्रकाशेन श्रेष्ठः, 'यस्य भासा सर्वमिदं विभति, येन सूर्यः तपति तेजसेद्ध' इत्यादिश्रुतेः, **ज्ञानमयो** ज्ञानरूपो, **दीपो** दीपयति प्रकाशयति स्वात्मानमिति दीपः, **समुज्ज्वाल्यतां** प्रज्वाल्यताम्। नैवेद्यमाह **यदिति। अस्य** विद्वत्प्रत्यक्षस्य देवस्य चिन्मात्ररूपस्य आत्मनो, **यत्** प्रसिद्धं, **भक्ष्यं** भक्षितुं योग्यं, **प्रियम्** इष्टं भवति, **यस्य** भक्ष्यस्य, **भक्षणे** भोजने कृते सति, **अस्य** देवस्य, **परमा तृप्तिः** निरंकुशाख्या तृप्तिः, **भवेत्** स्यात्, **तत्तु द्वैतं** तदुक्तलक्षणं द्वैतं सर्वं जगत् **तु** पदेन अज्ञानिपूजानैवेद्याद् अतिविलक्षणत्वम् अस्य नैवेद्यस्य सूचितम्, **अमितम्** अपरिमितम्, अनन्तम् इत्यर्थः, एतमेव अत्र पूजायां **निवेदनीयं** समर्पणीयं, **नैवेद्यं** नैवेद्यरूपोपचारम्, **अत्युत्तमम्** अतिश्रेष्ठं, वदन्ति मुनय इति शेषः।।८।।(६१६)

शुद्धान्तःकरण वाले पुरुषों को तो सत् आत्मवस्तु की वासना के कारण ही जिनको सुन्दरता प्राप्त हुई है, तथा प्रफुल्लता के कारण ही जिनको विकास का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, ऐसे भावशुद्धि किंवा आत्मतादात्म्यरूपी पुष्पों से महेश्वर की पूजा करनी चाहिये (अर्थात् महेश्वर के साथ अपने तादात्म्य का दृढ निश्चय कर डालना चाहिये) ऐसी अद्भुत पूजा को ही शास्त्र में निर्मल मन वालों की कृतकृत्यता (धन्यता) कहा गया है। इसके अनन्तर अपने ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों को वैराग्यरूपी अग्नि में झोक डालने से जो दशाङ्गदाह की सुगन्धवाला धूप उठता है (जिससे कि द्वैतजाल के भस्म हो जाने तथा केवल सदात्मा के शेष रह जाने की सूचना मिल जाती है) वह धूप तो इस देव को सदा ही प्यारा लगता है।।७।।

पश्चादाचमनीयमत्र विहितं सद्यो विशुद्धिप्रदं
सन्तोषामृतमेव पूजनविधौ पानीयमानीयताम्।
यन्मैत्र्यादिचतुष्टयं मुनिमते पातञ्जले वर्णितं
ताम्बूलं वदनप्रसादजनकं देवाग्रतः स्थाप्यताम्।।९।।(६२०)

आचमनीयमाह **पश्चादिति। अत्र** अस्मिन्, **पूजाविधौ** आत्मशिवस्य पूजाविधाने, **विहितं** योग्यं, **सद्यः** तत्कालमेव, **विशुद्धिप्रदं** विशुद्धी रागादिराहित्येन निर्मलता तां, प्रददाति प्रयच्छति तत् तथोक्तं, **सन्तोषामृतमेव** सन्तोषो विषयेषु अलम्बुद्धिः, तदेवामृतं सुखरूपत्वात् जलं, तदेव **आचमनीयम्** आचमनाय हितं, **पानीयं** च प्राशने हितं च, आत्मसुखलाभे सति विषयसुखेच्छाऽभावात्, पूर्णकामत्वाच्च, विषयेषु दुःखदर्शनाधिक्याच्च विषयालम्बुद्धिः सन्तोषशब्दार्थः, **आनीयतां** स्वात्मशिवे समर्प्यताम्। ताम्बूलमाह **यदिति। मुनिमते** मुनीनां योगिनां मते विवेकिनां च मते मान्ये चित्तवृत्तिनिरोधद्वारा ब्रह्मप्रापकत्वात्, **पातञ्जले** पतञ्जलिप्रोक्ते शास्त्रे, **यत्** प्रसिद्धं, **मैत्र्यादिचतुष्टयं** मैत्री स्वसमेषु मित्रता, आदिः यासां करुणामुदितोपेक्षाणां तासां चतुष्टयं चतुष्कं, **वर्णितं** कथितं तत् तदेव, तत्र च करुणा दया स्वन्यूनेषु जिज्ञासुषु, मुदिता प्रसन्नता स्वाधिक्यदर्शने, उपेक्षा उदासीनता स्ववाक्ये अश्रद्धालुषु मूढेषु, **वदनप्रसादजनकं** वदनं मुखम् आत्मानन्दभोजनसाधनं शुद्धचेतः 'चेतोमुखः' इति श्रुतेः, तस्य प्रसादो निर्मलत्वेन शोभायमानत्वं, तस्य जनकम् उत्पादकं, लोकेऽपि ताम्बूलभक्षणस्य मुखशोभाकारित्वप्रसिद्धेः, तदेव **ताम्बूलं, देवाग्रतः** देवस्य आत्मशिवस्य, अग्रतः अग्रभागे, **स्थाप्यताम्** अर्प्यताम्, आनन्दानुभवाकारवृत्तिनैर्मल्यम् आत्मशिवस्य सदास्फुरणविषयं यथा तथा क्रियतामिति भावः।।९।।(६२०)

जिस ज्ञानरूपी दीपक के जल उठने पर बाह्य (ब्रह्म किंवा जगद्विषय में) तथा आन्तर (जीवात्मा तथा अहंकारादि के विषय में) कोई भी अज्ञान शेष नहीं रह जाता, प्रकाश के कारण श्रेष्ठ ज्ञानरूपी ऐसा 'दीपक' ही इस देव की पूजा के लिये जलाना चाहिये। उससे अन्दर और बाहर दोनों जगह का अन्धकार नष्ट हो जायगा। जिस द्वैत को यह चिन्मात्र आत्मा बड़ी रुचि से भक्षण करता है, जिसे निगल चुकने (खा लेने) पर इस आत्मदेव की बड़ी ही तृप्ति होती है, उस अपरिमित अनन्त द्वैत को ही 'नैवेद्य' रूप में अर्पण कर देना चाहिये। यह नैवेद्य इस पूजा में अति उत्तम उपचार माना गया है)।।८।।

नैवेद्य के पश्चात् इस आत्मशिव की पूजा में तत्काल पवित्र करनेवाले आचमनीय का विधान किया गया है। सन्तोषरूपी अमृत को ही 'आचमनीय' जल की जगह लाना चाहिये (आत्मसुख मिलने पर स्वभावतः विषयेच्छा उत्पन्न नहीं होती। उस आत्मा के पूर्णकाम होने तथा विषयों में अधिक दुःख होने से विषयों के प्रति जो अलंबुद्धि उत्पन्न हो जाती है उसे ही 'सन्तोष' कहते हैं) आनन्द का भोग लेने में समर्थ, शुद्धचित्तरूपी

निष्कामोत्तमधर्मसंभ्रमजुषां जन्मावलीनां फलं
भक्तिः सा परमेश्वरस्य पदयोरावेदनीया मया।
सर्वस्वं मम तत्किलेति स मया क्लृप्तस्य पूजाविधेः
पूर्णत्वाय निवेदितो निजमनश्चिन्तामणिर्दक्षिणा।।१०।।(६२१)

फलार्पणमाह **निष्कामेति। निष्कामोत्तमधर्मसंभ्रमजुषां** निष्कामाः कामनारहिता, अत एव उत्तमाः श्रेष्ठाः, ये धर्मा नित्यनैमित्तिककर्माणि, तेषु संभ्रमः प्रीत्युल्लासः, तं जुषन्ते सेवन्ते, ताः तथोक्ताः, तासां, **जन्मावलीनां** जन्मनाम् आवल्यः पंक्तयः, तासां, **फलं** फलरूपा, अनन्तजन्मनां फलभूता इत्यर्थः, **भक्तिः** ईश्वरचरणविषयकप्रेमरूपा वृत्तिः, **सा** सैव फलरूपत्वेन, **परमेश्वरस्य** परम ईश्वरत्वाधिष्ठानरूपेण अतिश्रेष्ठः, ईश्वरो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा, तस्य, **पदयोः** आरोपापवादद्वयाधिष्ठानत्वेन कल्पितांशयोः, **आवेदनीया मया** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासरूपेण पूजकेन आवेदनीया समर्पणीया, तत्रैव सा द्रष्टव्या नात्मनि इति भावः। दक्षिणामाह **सर्वस्वमिति। मम** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्य पूजकस्य मे, तत् सर्वविवेकिषु प्रत्यक्षं मनः, **सर्वस्वं** सर्वजगद्रूपं स्वं धनं, **किल** निश्चयेन, **निजमनश्चिन्तामणिः** निजं स्वीयं, मनः संकल्पविकल्पान्तःकरणवृत्तिरूपं, तदेव चिन्तामणिः चिन्तनद्वारा फलप्रदत्वात्, **स मया क्लृप्तस्य** कल्पितस्य, **पूजाविधेः** स्वात्मशिवपूज़ाविधानस्य, **पूर्णत्वाय** समाप्तिसिद्ध्यर्थम्, अन्यथा पूजाविधानासमाप्तिरेव इति भावः। **दक्षिणा** दक्षिणोपचारः, **निवेदितः** समर्पितः।।१०।।(६२१)

मुखमण्डल पर प्रसन्नता और सुन्दरता को उत्पन्न करने वाले, मैत्री करुणा मुदिता तथा उपेक्षा नामक चारों भावों को ही, जिनका कि मुनिसंमत पातंजल दर्शन में विस्तार सहित वर्णन आया है, ताम्बूल समझ कर आत्मशिव के आगे रख देना चाहिये।

अपने समान ज्ञानियों से मित्रता, अपने से न्यून जिज्ञासुओं पर दया, अपने से अधिक ज्ञानी को देखकर प्रसन्नता, अपने कथन पर विश्वास न लाने वालों की उपेक्षा करते हुए अपने आत्मा को प्रसन्न रक्खे। ऐसे ताम्बूलों को खाने से आत्मा के आनन्द को भोगने के साधन चित्तरूपी मुखपर अत्यन्त शोभा आ जाती है। तात्पर्य यह है कि आत्माकारवृत्ति निर्मल होती चली जाय और सदा ही आत्मस्फूर्ति बनी रह सके, वैसा प्रयत्न बारम्बार करता रहे।।९।।

जिन अनेक जन्मों में बड़े उल्लास के साथ निष्काम-भाव से उत्तमोत्तम धर्मों का मैंने पालन किया, उन अनन्त पवित्र जन्मों के फलरूप में मुझे जो यह ईश्वरभक्ति प्राप्त हुई है उसे मैं फिर परमेश्वर के ही (आरोप और अपवादरूपी कल्पित) चरणों में निवेदन (करके एक सर्वस्वयोग) कर रहा हूँ। क्योंकि यह भक्ति तो मेरी अनेक जन्मों

यावन्त्येव भुवां रजांस्यगणितब्रह्माण्डकोटिस्पृशां
तावद्भी रजसां गणैर्गणयितुं शक्या गुणा यस्य न।
त्वं तादृग्गुणवांस्तथापि मुनिभिर्यन्निर्गुणः स्तूयसे
तत्किं स्तौमि महेश हे शिव भवद्रूपं विदूरं धियाम्।।११।।(६२२)

स्तुतिमाह **यावन्तीति। अगणितब्रह्माण्डकोटिस्पृशां** ब्रह्मणो वस्तुतो ब्रह्मरूपस्य जीवस्य जन्मकारणभूतानि पक्षिणाम् अण्डानि इव अण्डानि ब्रह्माण्डानि, तेषां कोटयः कोटिसंख्या, अमितानि अण्डानि इत्यर्थः, ताः स्पृशन्ति इति ताः तथोक्ताः, तेषु ब्रह्माण्डेषु स्थिता इत्यर्थः, तासाम्, **भुवां** पृथ्वीनां, **यावन्त्येव** यावत्संख्याकान्येव, **रजांसि** धूलीकणाः सन्ति, **तावद्भिः** तावत्परिमितैः, **रजसां** धूलीकणानाम्, **गणैः** समूहैः, **गणयितुं** गणनां कर्तुं, **यस्य** स्वात्मशिवस्य, **गुणा** जगदुत्पादनादिधर्मा, **न शक्याः** शक्या न भवन्ति, **हे महेश** हे ईश्वरत्वाधिष्ठानभूत, **त्वं तादृग्गुणवान्** तादृशा ये गुणाः सत्त्वरजस्तमोविकाराः ते विद्यन्ते यस्मिन् त्वयि तथाविधः त्वम्, असि वर्तसे, **तथापि** तव ईदृशगुणवत्त्वे सत्यपि, **मुनिभिः** मननशीलैः, विवेकिभिः इत्यर्थः, **यद्** यतः कारणात्, **निर्गुणः** गुणास्पृष्ट एव, **स्तूयसे** प्रतिपाद्यसे अनुभूयसे, **तत्** ततः कारणाद्, **हे शिव** हे सुखात्मन्, अहं परिच्छिन्नः जीवो, **धियां** बुद्धिवृत्तीनां **विदूरम्** अगोचरं, **भवद्रूपम्** उभयमपि तव स्वरूपं, **किं स्तौमि** किं वर्णयामि वचनविषयत्वाभावाद् इति भावः।।११।।(६२२)

की पवित्र कमाई का सार होने से मेरा सर्वस्व ही है। (अब तो इस याग की दक्षिणा देने को भी मेरे पास कुछ शेष नहीं रहा है, 'हतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' दक्षिणारहित यज्ञ अपूर्ण ही रहता है अतः) इस अपनी पूजाविधि की पूर्णता करने के लिये अपने मनरूपी चिन्तामणि को ही मैं दक्षिणारूप में निवेदन कर रहा हूँ। (मन को दे देने से अनन्तकाल से खोयी हुई मेरी पूर्णता मेरे हाथ लगेगी)।।१०।।

अनगिनत करोड़ों ब्रह्माण्डों में जितने भू-भाग हैं यदि उन सबकी धूलि बना दी जाय और उन धूल के कणों को गिन लिया जाय तो भी उन सब धूलिकणों से तेरे सब गुण गिनती में नहीं आ सकेंगे, इतनी गणना करने पर फिर भी तेरे गणनीय अनन्त गुण शेष रह ही जायँगे। हे परमशिव आत्मदेव! तुम्हारे इतने अनन्त अपरिमित गुणशाली होते हुए भी जब कि मुनिलोग भी निर्गुण भाव से ही तुम्हारा स्तवन करने लगते हैं तो मैं समझता हूँ कि तेरे गुणों का पार न पाकर ही मुनियों ने तेरी निर्गुण स्तुति प्रारम्भ की है। ऐसी अवस्था में मैं ही तुम्हारी स्तुति करने का व्यर्थ प्रयास क्यों करूँ? हे महेश! फिर मैं ही तेरे बुद्धियों के अगोचररूप की क्या स्तुति करूँ? (क्योंकि यदि मैं तुम्हारे गुणों को गिनने लगूँ तो वे गिने ही नहीं जा सकते, फिर यदि तुम्हें निर्गुण समझूँ तो स्तुति ही कैसी? इस विवशता को देखकर मैं तो मौन हुआ जाता हूँ। मैं तो समझता हूँ कि मौन को आलिंगन देने से ही तुम्हारी यथार्थ स्तुति हो जायगी)।।११।।

श्वेतं श्याममिति प्रकाशयति चेदर्कः स किं श्यामताम्।
श्वेतत्वं च दधाति तद्वदितरो मुग्धेषु बुद्धेषु यः।।
द्वैताद्वैतविकल्पजालकलनातीताय शुद्धात्मने।
जाग्रत्स्वानुभवप्रकाशमहसे देवाय तस्मै नमः।।१२।।(६२३)
संप्राप्यापि पदारविन्दपदवीमद्वैतविद्यावताम्।
एतावन्तमनेहसं न तु वयं लीनाः सदा ब्रह्मणि।।
मुक्तानामपि मोहतः समरसत्वद्भावपूर्णात्मनाम्।
अस्माकं ह्यपराध एव परमःक्षतव्य एवं प्रभो।।१३।।(६२४)

नमस्कारमाह **श्वेतमिति। स** आकाशस्थः, **अर्कः** सूर्यः, सामान्यरूपेण प्रकाश्यप्राणिनेत्रस्थविशिष्टरूपेण च **श्वेतं** शुक्लं सुधारूप्यादिद्रव्यम् इदं शुक्लम्, **इति** एवं, **प्रकाशयति** व्यक्तीकरोति, **चेद्** यदि, तथा **श्यामं** नीलं कज्जलादिद्रव्यं श्यामम्, **इति** एवं, **प्रकाशयति** व्यक्तीकरोति, **चेद्** यदि, तर्हि **स** आकाशस्थः चक्षुष्ठः वा सूर्यः, **श्यामतां** नीलत्वं, **श्वेतत्वं च** शुक्लत्वम् अपि, **दधाति** धरति, **किं** नैव दधाति इत्यर्थः। चक्षुष्ठः सूर्योऽपि परमार्थतः श्वेतत्वं श्यामत्वं वा न दधाति चक्षुष्ठसूर्यस्यापि आकाशस्थसूर्यमात्रत्वात् किं पुनः आकाशस्थसूर्यो न दधाति इति वक्तव्यम् इति भावः। **तद्वत्** तथा, **मुग्धेषु** अज्ञानिषु, **बुद्धेषु** ज्ञानिषु, **इतरो** भिन्नः, ज्ञानाज्ञानयोः सामान्यप्रकाशरूपोऽपि इदं ज्ञानम् अज्ञानम् इति विशेषप्रकाशकतया स्थितोऽपि य आत्मास्ति स सामान्यप्रकाशकरूपो विशेषप्रकाशकरूपो वा ज्ञानाज्ञानाभ्यां तद्वद्भ्यां च भिन्नः अस्ति ज्ञान्यज्ञानित्वे चिदाभासेऽपि परमार्थतः न स्तः किं पुनः वक्तव्यं न चिदात्मनि इति भावः। **य** एवंभूतः, **तस्मै द्वैतविकल्पजालकलनातीताय** द्वैतं कल्पितं जगद्, अद्वैतं तन्निषेधकं कल्पितं शबलं ब्रह्म, तयोः विकल्पः सच्चिदानन्दलक्षणलक्षितात्मविपरीतत्वेन कल्पना तदेव जालम् आवरकत्वात्, तस्य कलना कल्पना, तस्या अतीताय मुक्ताय, अत एव **शुद्धात्मने** मायातत्कार्यास्पृष्टरूपाय, **जाग्रत्स्वानुभवप्रकाशमहसे** जाग्रद्वत् प्रकाशमानः स्वः असाधारणः अनुभवो यत्र तत् तथोक्तं तथाभूतं प्रकाशरूपं महः तेजः यस्य तस्मै, **देवाय** चिन्मात्रस्वरूपाय आत्मशिवाय, **नमः** नमस्कारः अस्तु, स्वात्मनः चिदाभासस्य पृथक्त्वाभाव एव नमस्कारः कल्पनीय इति भावः।।१२।।(६२३)

श्वेत किंवा कृष्ण पदार्थ को प्रकाशित करनेवाला सूर्य क्या कहीं उनके अनुसार ही श्वेत अथवा कृष्ण ही हो जाता है? इसी प्रकार जो आत्मा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों से भिन्न तथा दोनों का समानरूप से प्रकाशक है, जिसमें द्वैताद्वैत की कुछ भी कल्पना नहीं है, जो परमशुद्ध है, जिसका तेज जाग्रत् काल के अनुभव के समान ही प्रकाशमान है, उसको हमारा ऐक्यभावना रूपी नमस्कार हो। यही ज्ञानियों का 'नमस्कार' कहाता है।।१२।।

आत्मैवायमनन्तचिद्घनरसो नित्यं विमुक्तः स्वयम्
को बन्धः किमु बन्धनं कथमसौ बद्धो विमुक्तः कथम्।
सानन्दाश्रु सगद्गदं सपुलकं चिद्बोधपूजाविधौ
देवस्यास्तु मदीयविस्मयमयः संपूर्णपुष्पाञ्जलिः।।१४।।(६२४)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां देवपूजानिर्णयः सप्तदशः।।

क्षमापनमाह **संप्राप्येति। अद्वैतविद्यावताम्** अद्वैतं भेदरहितम् आत्मवस्तु, तस्य विद्या ज्ञानं, सा येषां विद्यते ते तथोक्ताः तेषां, ज्ञानिनाम् इत्यर्थः, **पदारविन्दपदवीं** पदं पादः, स एव अरविन्दः कमलं, सैव पदवी पद्धतिः मोक्षस्य मार्गभूता, तां, **संप्राप्यापि** उपलभ्यापि, **वयम् एतावन्तम् अनेहसं** कालं, **ब्रह्मणि** अखण्डैकरसे सच्चिदानन्दे, सर्वदैव निरन्तरं, **न तु** नैव, **लीनाः** तदाकारा न जाता इत्यर्थः। ननु तर्हि द्वैतादर्शनाभावे मुक्तिसुखानुभवो न स्यात् तत्राह **मुक्तानामिति। मोहतः** अज्ञानात्, **मुक्तानामपि** मोक्षं प्राप्तानामपि, ज्ञानमात्रेण अज्ञाननिवृत्तेः मोक्षसिद्धिस्तु जातैव इति भावः। ननु तर्हि द्वैतरूपदुःखानिवृत्तौ वैषयिकसुखेच्छया परमसुखानुभवो न स्याद् इत्याशंक्य आह **समरसेति। समरसत्वद्भावपूर्णात्मनां** समः सदा एकरूपो, रसः सुखं यत्र तांदृशो यः त्वद्भावः त्वत्स्वरूपत्वं, तेन पूर्णात्मनां नित्यतृप्तमन्तःकरणं येषां, तादृशानाम् अस्माकं ज्ञानेन बाधिते द्वैते प्रतीयमाने अपि अबाधिताद्वैतसुखानुभवो भवति एव इति भावः, **अस्माकं** त्वत्पूजकानां, साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासरूपाणाम् इत्यर्थः, **हि** प्रसिद्धः, एषः अयमेव, **परमः** अतिश्रेष्ठः, **अपराधः** अन्यायः, हे **प्रभो** हे समर्थ हे शिव, त्वया **क्षन्तव्य एव** क्षम्यतामेव प्रारब्धक्षयपर्यन्तं विद्यमानस्य द्वैतजातस्य तत्क्षये क्षयसम्भवात् क्षयपर्यन्तं सहनमेव उचितमिति भावः।।१३।।(६२४)

पुष्पाञ्जलिमाह **आत्मैवायमिति। अयम्** अधिष्ठानसहितो बुद्धिस्थः चिदाभासः, साक्षिणो मम प्रत्यक्ष आत्मनः परमार्थतः अभिन्नत्वाद् **आत्मैव** सच्चिदानन्दलक्षणः प्रत्यगभिन्नः परमात्मैव, **अनन्तचिद्घनरसः** यतः अनन्ता देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहिता, चित् चेतना, तया घनो निविडो, यो रसः सुखं, तद् यस्मिन् विद्यते स तथोक्तः, अर्शआद्यच्, अथवा घनः निविडः, रसः सुखरूपः, अत एव **स्वयं** स्वतः, **नित्यं** सर्वदा, **विमुक्तो** बन्धनरहितः अस्ति, अतः अस्य **को बन्धः** कीदृशः अवरोधः, अनन्तत्वादेव बन्धासिद्धेः न कोऽपि बन्ध इत्यर्थः, बन्धकारणाभावादपि बन्धाभावमाह **किमु इति। बन्धनं** बध्यते अनेन इति बन्धनं बन्धसाधनं रज्ज्वादीव गुणाः

हे आत्मदेव! अद्वैताचार्यों के मोक्षमार्गदर्शक चरणों को प्राप्त होकर यद्यपि हमारा अज्ञान नष्ट हो चुका, तेरे समरस तादात्म्य की प्राप्ति से पूर्णता का लाभ भी हो गया, फिर भी अभी तक हम लोग सदा के लिये ब्रह्म में लीन नहीं हो सके है, हे प्रभो! यही हमरा महापराध है। हमारे इस परमापराध को आप क्षमा कीजिये (हमारे प्रारब्ध भोग की समाप्ति तक तो कृपा करके इसे सह ही लीजिये। यही ज्ञानियों का 'क्षमापन' कहाता है)।।१३।।

अथ देवपूजोपयुक्तशास्त्रार्थनिर्णयः

त्यक्त्वा मोहमयीं पूजां पूजां बोधमयीं कुरु।
चन्दनैरर्चनीयोऽयं न तु पंकेन शंकरः।।१।।(६२६)

तत्कार्यं वा, **किमु** किमस्ति, न किमपि इत्यर्थः, धर्म्यत्यन्तासत्त्वेन धर्मासत्त्वाद् इति भावः। अतः **असौ** आत्मा, **कथं** केन प्रकारेण, **बद्धो** न केनापि प्रकारेण बद्ध इत्यर्थः, अतः **असौ** आत्मा, **विमुक्तो** बन्धरहितः, **कथं** केन प्रकारेण, न मुक्तोऽपि इत्यर्थः, बन्धसापेक्षत्वात् मुक्तेः मोक्षोऽपि आत्मनि नैव वास्तव इति भावः। एवं **मदीयविस्मयमयो** मम साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासरूपस्य पूजकस्य, विस्मय आश्चर्यानुभवः, तन्मयः तेन प्रचुरः अन्तःकरणवृत्तिसमूह एव, **चिद्बोधपूजाविधौ** चित् चिन्मात्रम् आत्मैव, तस्य बोधो ज्ञानमेव, पूजाविधिः पूजाप्रकारः, तस्मिन् **सानन्दाश्रु** आनन्दस्य आत्मसुखानुभवस्य, अश्रु जलं, तेन सह यथा भवति तथा, तथा **सगद्गदं** गद्गदः कण्ठावरोधेन अक्षरशैथिल्यं तेन सहितं यथा भवति तथा, तथा **सपुलकं** पुलको रोमाञ्चः, तेन सहितं यथा भवति तथा, अस्य **देवस्य** सदैव प्रत्यक्षस्य आत्मशिवस्य, **सम्पूर्णपुष्पाञ्जलिः** सम्पूर्णाय पूजापूर्णतायै, पुष्पाञ्जलिः सांख्ययोगाख्यहस्तयोः एकार्थानुकूल्यरूप उक्तवृत्तिपुष्पाणाम् अञ्जलिरिव अञ्जलिः, **अस्तु** भवतु।।१४।।(६२५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे देवपूजानिर्णयार्थप्रकाशः सप्तदशः।।

एवं देवपूजां निरूप्य इदानीं देवपूजाज्ञानसिद्ध्यै देवपूजोपयुक्तशास्त्रार्थं निर्णेतुं देवपूजोपयुक्तशास्त्रार्थनिर्णयाख्यं सप्तश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ,** देवपूजानिर्णयानन्तरं **देवपूजोपयुक्त-शास्त्रार्थनिर्णयो** देवस्य चिन्मात्रस्वरूपस्य आत्मनः, पूजा उक्तलक्षणार्चा, तस्याम् उपयुक्त उपयोगी, यः शास्त्रार्थः सिद्धान्तः, तस्य निर्णयः विचारः, क्रियत इति शेषः, तत्र तावदज्ञानपूजात्यागेन ज्ञानपूजैव अंगीकार्येत्याह **त्यक्त्वेति।** हे शिष्य त्वं **मोहमयीम्** अज्ञानप्रचुरां

यह चिदाभास तो परमार्थ दृष्टि से आत्मा ही है, यह चैतन्य से परिपूर्ण और सुखस्वरूप ही है, यह तो स्वभाव से ही सकल बन्धनों से रहित और अनन्त ही है, फिर भला इस अनन्त का बन्धन ही क्या, और इस अनन्त को बांधने के लिये बांधने की सामग्री भी क्या! ऐसी अवस्था में तात्त्विक विचार करने पर वही तो समझ में नहीं आता कि यह आत्मा बद्ध भी कैसे हुआ और मुक्त भी कैसे हुआ! यही सब बातें विचारते विचारते इस आत्मदेव का पूजक मैं जब विस्मय के समुद्र में डूब जाता हूँ तब इस चैतन्यमात्र आत्मा की ज्ञानरूपी पूजा करते करते आँखों में आँसू भर आते हैं, कण्ठ गद्गद हो जाता है, तथा शरीर में रोमांच हो जाते हैं। इससे मैं तो ऊपर के इन विस्मयकारी भावों को ही सम्पूर्णपुष्पाञ्जलि के रूप में आत्मदेव को अर्पण किये देता हूँ।।१४।।

परिचीय पुरा देवं देवपूजापरो भव।
देवे परिचयो नास्ति वद पूजा कथं भवेत्।।२।।(६२७)
तावत् पूजां न मनुते यावत् परिचयो न हि।
जाते परिचये देवः पूजामपि न कांक्षति।।३।।(६२८)

पूजां लोकप्रसिद्धां परिचर्यां, **त्यक्त्वा** विसृज्य, **बोधमयीं** बोधो ज्ञानं तत्साधनं वा अद्रोहादिकं गीतोक्तं, तन्मयीं तत्प्रधानां, **पूजाम्** अर्चां, **कुरु** विधीयताम्। कुत इत्यत आह **चन्दनैरिति। अयं** प्रत्यक्षो ज्ञानिपूज्यः, **शंकरः** स्वयं सुखरूपः समस्तजगदानन्दकरः च अस्ति, अतः **चन्दनैः** आनन्दानुभवरूपैः वृत्तिविशेषैः **अर्चनीयः** पूजनीयः, भवता इति शेषः। **न तु पंकेन** अज्ञानकार्यत्वाद् दुःखरूपत्वाच्च पंकेन स्वस्वरूपलेपकारणभूतेन लोकप्रसिद्धचन्दनादिद्रव्यार्पणरूपपूजनेन, न तु नैव पूज्यः, अतः अज्ञानपूजां त्यक्त्वा ज्ञानपूजैव अंगीकार्या इति भावः। चन्दनैः इत्यत्र चदिधातोः करणे ल्युट्।।१।।(६२६)

ज्ञानाभावे देवपरिचयाभावेन पूजैव न स्याद् इत्याह **परिचीयेति।** हे शिष्य त्वं, **पुरा** प्रथमं, **देवं** चिन्मात्ररूपम् आत्मानं, **परिचीय** ज्ञात्वा, ततो **देवपूजापरो** देवपूजायां परो रतः सन्, **भव** तिष्ठ। ननु देवपूजा देवपरिचयाभावे सति कुतो न स्याद् इत्याशंक्य आह **देव इति। देवे** पूज्ये चिदात्मनि, **परिचयो** ज्ञानं, **नास्ति** न विद्यते चेत्, **पूजा** अर्चा, **कथं** कीदृशी, स्याद् **भवेत्,** तद् **वद** कथय, परिचयाभावे देवस्य पूजैव न स्यादिति भावः।।२।।(६२७)

कुतः परिचयाभावे पूजा न स्यात् तत्राह **तावदिति। देवः** चिन्मात्र आत्मा, **यावत्** यत्कालपर्यन्तं, **परिचयः** ज्ञानं, **न हि** न विद्यते, **तावत्** तत्कालपर्यन्तं, कृतामपि **पूजाम्** अर्चां, **न मनुते** नैव अंगीकरोति। तर्हि ज्ञात्वैव तं देवं, पूजाकर्तव्या तत्राह **जात इति। देवः** चिन्मात्र आत्मा, **परिचये** अनुभवे, **जाते** उत्पन्ने सति, **पूजामपि** अर्चामिव, **न कांक्षति** नेच्छति, स्वस्य सुखरूपत्वप्रतीतौ सत्यां तत्सुखप्रतीतिप्रतिपक्षत्वाद् दुःखरूपस्य पूज्यपूजकभावस्य अनंगीकारादेव तत्साध्यपूजेच्छाभाव इति भावः।।३।।(६२८)

मोहमयी पूजा को छोड़कर तुम्हें तो ज्ञानमयी पूजा ही करनी चाहिये। वह शंकर तो स्वयं सुखरूप है इसीलिये (आनन्दाकारवृत्तिरूपी) चन्दनों से उसकी पूजा करो (स्वस्वरूप को ढक देने वाले लौकिक चन्दन की) कीच से उसकी पूजा करना ठीक नहीं है।।१।।

पहले देव को पहचान तो लो, तब फिर देवपूजा की तैयारी करो। अभी तक तो देव से तुम्हारा परिचय भी नहीं हुआ है तो बताओ पूजा कैसे हो सकेगी? (हो सकता है कि देव के धोखे में किसी अन्य को ही पूज बैठो)।।२।।

जब तक परिचय नहीं हो जाता तब तक तो यह आत्मदेव पूजा को स्वीकारता ही नहीं। और जब देव से परिचय हो जाता है, तब फिर वह पूजा की परवाह ही नहीं करता।।३।।

पक्षद्वयेपि पश्यामि पूजां देवस्य दुर्घटाम्।
पूज्यपूजकता न ज्ञे मूर्खस्त्वज्ञानसूतकी।।४।।(६२९)
न जाने क्व पलायन्ते धूपदीपाक्षतादयः।
अस्माकं देवपूजायां देव एवावशिष्यते।।५।।(६३०)

ननु तर्हि ज्ञाने पूजाऽसम्भवाद् अज्ञानपूजैव कर्त्तव्येत्याशंक्याह **पक्षद्वय इति।** हे शिष्य अहं, **पक्षद्वयेऽपि** पक्षयोः ज्ञानाज्ञानपक्षयोः, द्वयं युग्मं, तस्मिन्, **देवस्य** चिन्मात्रस्य आत्मनः, **पूजाम्** अर्चां, **दुर्घटां** दुःसंपादां, **पश्यामि** जानामि। कुत उभयपक्षेऽपि पूजायाः दुःसंपादत्वं? तत्राह **पूज्यपूजकता** पूजितुं योग्यः पूज्यः पूजार्ह ईश्वरभावः, पूजति अर्हति स पूजकः जीवभावः पूजाकर्ता, तयोः भावः सत्ता, **न** नास्ति, अतो ज्ञानवति पूजाऽभावः सिद्ध इति भावः। **मूर्खस्तु** अज्ञानी तु, **अज्ञानसूतकी** अज्ञानं ज्ञानविरोधिभावरूपं तदेव सूतकम् आशौचं विद्यते अस्य स तथोक्तः, सूतकिनः पूजानिषेधः कर्मकाण्डे प्रसिद्ध एव, **तु** शब्देन अज्ञानिनो ज्ञानितः अतीव वैलक्षण्यं सूचितमिति ज्ञेयम्।।४।।(६२९)

ज्ञानिविहितदेवपूजायां धूपदीपादीनामपि अपेक्षा नास्ति इत्याह **नेति। अस्माकं** नो, ज्ञानिनाम् इत्यर्थः। **देवपूजायां** देवस्य चिदात्मशिवस्य, पूजा अर्चा, तस्यां, क्रियमाणायां सत्याम् इत्यर्थः, धूपदीपाक्षतादयः 'कर्मज्ञानमयो यदिन्द्रियगण' इति अत्रोक्तलक्षणः धूपो लौकिकोपि, दीपश्च 'यस्मिन् उज्ज्वलिते न तिष्ठति तम' इति अत्रोक्तलक्षणो लोकप्रसिद्धोऽपि, अक्षताः 'शान्तिः क्षान्तिः अलोलता सरलता' इति अत्रोक्तलक्षणा लोकप्रसिद्धा अपि, आदयो मुख्या येषां नैवेद्यादीनाम् उक्तलक्षणानां लोकप्रसिद्धानामपि ते तथोक्ताः, ते **क्व** कुत्र, **पलायन्ते** गच्छन्ति इति, अहं **न जाने** नैव जानामि, तर्हि सर्ववृत्तीनां शून्यत्वे शून्यपरिशेषः स्यात्? न इत्याह **अस्माकमिति।** सर्वोपचाराभावेऽपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इति वृत्तेः विषयभूतो **देव एव** केवलं चिन्मात्र आत्मा, **अवशिष्यते** अवशिष्टो भवति।।५।।(६३०)

आत्मदेव की पूजा को तो मैं दोनों ही अवस्थाओं में दुर्घट (असम्भव) समझता हूँ। क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि में तो (ईश्वर पूज्य और मैं जीव पूजक ऐसा) पूज्यपूजकभाव किंवा द्वैतभाव ही नहीं रहता और मूर्ख को तो अज्ञानरूपी सूतक लगा रहता है (जिससे उस बिचारे को पूजा का अधिकार ही नहीं होता)।।४।।

हमारी पूजा में से धूप दीप अक्षत आदि न जाने कहाँ भाग जाते हैं। उसमें तो केवल देव ही देव शेष रह जाते हैं।

हम ज्ञानी लोग जब अपने चिदात्मशिव की पूजा (समाधि) का प्रारम्भ करने लगते हैं और पूजने के लिये पहले प्रकरण में वर्णित धूप दीप अक्षत तथा नैवेद्यादि पूजा की सामग्री लाकर रखते हैं, तो न जाने यह सब धूप दीप नैवेद्य आदि कहाँ भाग जाते हैं। हम तो तब आश्चर्य भरे नेत्रों से देखते हैं कि उन सबके स्थान में केवल चिन्मात्र देव ही शेष रह गये हैं।।५।।

देवानुसंधानधिया विस्मृते पूजनक्रमे।
पूजायां जायते विघ्नः पूर्णपूजाफलं हि तत्।।६।।(६३१)
आनन्दघनगोविन्दपूजनारम्भकर्मणि।
बोधे स्फुरति मोहात्मा यजमानः पलायितः।।७।।(६३२)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां देवपूजोपयुक्तशास्त्रार्थनिर्णयः अष्टादशः।।

अन्यत्र लोकप्रसिद्धपूजायां पूजाक्रमविस्मृतिस्तु विघातायैव भवति अत्र तु सैव पूजाफलरूपा इति आह **देवेति। देवानुसन्धानधिया** देवः चिन्मात्रस्वरूप आत्मा, तस्य अनुसन्धानं तद्विषयकविजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपं, तद्रूपा धीः बुद्धिः, तया, **पूजनक्रमे** पूजनस्य उक्तलक्षणस्य, उक्तलक्षणे क्रमे, **विस्मृते** विस्मृतिविषये जाते सति, **पूजायाम्** उक्तपूजाकल्पनायां, **विघ्नो** विघातो, **जायते** भवति, **हि** प्रसिद्धमेव सर्वेषाम् एतत्, **तत्** विघ्नरूपं लोकदृष्ट्या यत् तत् **पूर्णपूजाफलं** पूर्णब्रह्मसाक्षात्काररूपत्वात् पूर्णं, पूजाया उक्तलक्षणायाः पूजायाः, फलं प्रयोजनं, ज्ञेयम्। लौकिक्या अपि तत् ज्ञेयं तस्मिंश्च सति नोभयविधपूजायां प्रयासः कार्य इति भावः।।६।।(६३१)

ननु भवदुक्तपूजाधिकारिणि विदुषि 'पूज्यपूजकता न ज्ञे' इत्यनेन उभयभावो निषिद्धिः तथा 'त्यक्त्वा मोहमयीं पूजामि'त्यत्र बोधमयपूजने प्रवर्तितव्यं न अज्ञानपूजायामिति, अतः पूर्वापरविरोधः, अतः अस्यां पूजायां पूज्यपूजकत्वाभावे कथं पूजायां प्रवृत्तिः ज्ञानिनः स्याद् इत्याशंक्य, प्रारम्भे जिज्ञासायां सत्याम् अज्ञानानाशेन पूज्यपूजकत्वसम्भवात् तत्र प्रवृत्तिः, पूर्णे ज्ञाने अज्ञानांशस्य निवारितत्वात् पूज्यपूजकत्वाभावो ज्ञानिनि सम्भवति अतो न विरोध इत्याशयेन आह **आनन्देति। आनन्दघनगोविन्दपूजनारम्भकर्मणि** आनन्दो निरतिशयसुखं 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' इति श्रुतौ यद् भूमशब्दवाच्यं सुखं, तेन घनो निविडो, निश्छिद्र इत्यर्थः, स तादृश एव गोविन्दो 'धियो यो नः प्रचोदयाद्' इति गायत्र्याः तृतीयपादे बुद्धिप्रेरकत्वेन निर्दिष्टः स्वसत्त्वदानेन गां बुद्धिं

देव के रूप का विचार करने की बुद्धि ज्यों ही की जाती है त्यों ही पूजा का क्रम याद नहीं रहता। यही पूजा में एक बड़ा विघ्न हो जाता है। परन्तु यह विघ्न ही हमारी पूर्ण हुई पूजा का फल माना जाता है।

लौकिक पूजा करते समय यदि कोई पूजा के क्रम को भूल जाता है तो उसकी पूजा का विघात हो जाता है। परन्तु हमारा ब्रह्माकार होकर पूर्ण हो जाना और पूजा के क्रम में इस अद्भुत प्रकार से विघ्न पड़ जाना ही हमारी पूर्ण पूजा का सर्वोत्तम फल कहाता है। यदि किसी की पूजा पूर्ण हो जाती है तो यही समझना पड़ता है कि वह पूर्ण पूजा को करवाना ही नहीं जानता। किसी के सौभाग्य से यदि किसी की पूजा में ऐसा दिव्य विघ्न उपस्थित होने लगे तो फिर उसे दोनों प्रकार की पूजा का प्रयास नहीं उठाना चाहिये।।६।।

अथ पञ्चमहायज्ञाः

ज्ञाननिष्ठा क्षमा सत्यं विवेकः परिपूर्णता।
एते पञ्च महायज्ञाः संमता ब्रह्मवेदिनाम्।।१।।(६३३)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां पञ्चमहायज्ञनिर्णयः एकोनविंशः।।

विन्दति रक्षति इति धातूनाम् अनेकार्थत्वाद्-गोविन्दो बुद्धिसाक्षी ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा, तस्य पूजनं पूजा, आरभ्यते प्रक्रियते अस्मिन् तच्च तत्कर्म क्रिया तस्मिन्, **बोधे** केवलात्मज्ञाने, **स्फुरति** प्रकाशमाने सति, **मोहात्मा** मोहः अज्ञानं तत्कार्यरूपो भ्रमश्च, आत्मा स्वरूपं, यस्य स तथोक्तः, **यजमानः** पूजको जीवभावः, **पलायितो** गतो, नष्ट इत्यर्थः, अखण्डैकरसात्मशिवपूजारम्भे केवलबोधस्फुरणेन अज्ञानरूपस्वकारणनाशेन तत्कार्यभूतपूजकलयसम्भवात् लौकिकपूज्यपूजकलयोऽपि सम्भाव्य इति भावः।।७।।(६३२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे देवपूजोपयुक्तशास्त्रार्थनिर्णयार्थप्रकाशः अष्टादशः।।

अथ पञ्चमहायज्ञनिर्णयः

एवं ज्ञानिनां देवपूजां सशास्त्रार्थां निर्णीय, इदानीं तेषामेव पञ्चमहायज्ञान् निर्णेतुं पञ्चमहायज्ञनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** देवपूजोपयुक्तशास्त्रार्थनिर्णयानन्तरं, **पञ्च** पञ्चसंख्या, **महायज्ञाः** महान्तः श्रेष्ठा, यज्ञाः क्रतवो, निर्णीयन्त इति शेषः। तानेवाह **ज्ञाननिष्ठेति। ज्ञाननिष्ठा** ज्ञाने भागत्यागलक्षणया महावाक्यजन्याऽहं ब्रह्मास्मि इतिसाक्षात्काररूपे, निष्ठा सहजप्रीतिः एकः। क्षमा सुखदुःखादिद्वन्द्वानां सहनता द्वितीयः। सत्यं सत्यप्रतिज्ञा सत्यभाषणादि च तृतीयः। **विवेको** विविच्येते आत्मानात्मपदार्थौ अनेन इति विवेकः विचारः चतुर्थः। परिपूर्णता सर्वत्र स्वपरिपूर्णत्वनिश्चयः पञ्चमः। **एते** इमे, **पञ्च** पञ्चसंख्याः, **महायज्ञाः** श्रेष्ठा यज्ञा, **ब्रह्मवेदिनां** ब्रह्मज्ञानिनां, **संमता** इष्टा ज्ञातव्याः।।१।।(६३३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पञ्चमहायज्ञनिर्णयार्थप्रकाश एकोनविंशः।।

आनन्दमय गोविन्द की पूजा के आरम्भ करने पर जब बोधरूपी सूर्य का उदय होता है तो क्या देख पड़ता है कि अज्ञानी यजमान वहाँ से भाग गया।

आनन्द से परिपूर्ण गोविन्द (बुद्धिप्रेरक) की पूजा का प्रारम्भ करते ही ज्यों ही बोधदिवाकर का उदय होता है किंवा आत्मज्ञान की स्फूर्ति होने लगती है, त्यों ही पूजा में ऐसा दिव्य तथा स्पृहणीय विघ्न आता है कि यह भ्रमात्मक अज्ञानी यजमान किंवा पूजनीय-भाव ही जो अज्ञानवश अब तक अपने आपको पूजक समझ रहा था, वहाँ से भाग जाता हैअर्थात् अज्ञान अंश के हटते ही मैं पूजक यह पूज्य ऐसा भेदभाव ज्ञानी में नहीं रहता। वह तो सर्वत्र परिपूर्ण आत्मवस्तु स्वयं ही हो रहता है।।७।।

अथोपयज्ञनिर्णयः

एतस्यां दिनचर्यायां प्राप्ते पर्वणि पर्वणि।
मध्ये मध्ये चोपयज्ञाः कर्तव्या दीक्षितेन हि।।१।।(६३४)
यत्पुरोडशतां याति कालखण्डं मनःपशोः।
कर्त्तव्यास्तादृशा यज्ञा देवेन्द्रप्रीतिहेतवे।।२।।(६३५)

अथोपयज्ञनिर्णयः

एवं ज्ञानिनां पञ्चमहायज्ञान् निरूप्य इदानीं तेषाम् उपयज्ञान् निर्णेतुम् उपयज्ञनिर्णयाभिधं त्रिश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** पञ्चमहायज्ञनिरूपणानन्तरम्, **उपयज्ञा** नैमित्तिका यज्ञाः क्रतवः, निरूप्यन्ते इति शेषः। तत्र तावत् ज्ञानिनाम् उपयज्ञ कर्तव्यतां विधत्ते **एतस्यामिति। एतस्याम्** उक्तलक्षणायां विवेकिप्रत्यक्षायां, **दिनचर्यायां** मुनीन्द्रदिनव्यवहृतौ, **पर्वणि पर्वणि** उक्तलक्षणदिनव्यवहार-तद्विरुद्धव्यवहारयोः सन्धौ सन्धौ, **प्राप्ते** लब्धे सति, **मध्ये मध्ये** तद् अन्तरेऽन्तरे च, **उपयज्ञा** नैमित्तिका यज्ञा, **दीक्षितेन** गुरूपदेशसरूपदीक्षावता मुमुक्षुणा, **कर्तव्याः** कार्या, **हि** एते चोपयज्ञा ज्ञानिषु प्रत्यक्षाः।।१।।(६३४)

तानेव विशिष्टान् दर्शयति **यदिति। मनःपशोः** संकल्पविकल्परूपान्तःकरणपशोः। वक्ष्यति हि

'चित्ताहंकृतिबुद्धिमानसमयैः युक्तं चतुर्भिः पदैः।
छित्वान्तःकरणं पशुं परशुना बाधेन तीक्ष्णेन यः।।'

इत्यादि, **कालखण्डं** कालस्यापि मनसा कल्पितत्वात् मनःपशुसम्बधिकाल एव, खण्डं शकलम्, अंश इत्यर्थः, **यत्पुरोडाशतां** येषा ज्ञानियज्ञानां तेषामपि ज्ञानरूपत्वात् पुरोडाशतां पुरोडाशः यजमानभक्षणीयो हुतशेषः, तस्य भावः तत्ता, तां, **याति** प्राप्नोति, वक्ष्यति हि'कालेन भक्षितं विश्वं कालो बोधेन भक्षित' इत्यादिना, **तादृशाः** तादृग्लक्षणवन्तो, **यज्ञाः** क्रतवो, **देवेन्द्रप्रीतिहेतवे** देवानाम् इन्द्रियतदधिष्ठातृतद्विषयरूपाणां चैतन्यानाम्, इन्द्रः अन्तःकरणावच्छिन्नः साधिष्ठानः चिदाभासः, तस्य प्रीतिः सन्तोषः, नित्यतृप्तिः इत्यर्थः, तस्या हेतवे तदर्थं, **कर्तव्याः** कार्या, मुमुक्षुभिः इति शेषः।।२।।(६३५)

अब पाँच महायज्ञों का निर्णय कहा जाता हैज्ञाननिष्ठा अर्थात् आत्मज्ञान में स्वाभाविक प्रीति, क्षमा अर्थात् सुख दुःखादि द्वन्द्वों का सहन, सत्य का पालन, विवेक अर्थात् आत्मानात्मविचार, परिपूर्णता अर्थात् सर्वत्र अपने आत्मा के पूर्ण होने का निश्चय, ब्रह्मवादियों को ये ही पाँच महायज्ञ प्यारे लगते हैं।।१।।

अब नैमित्तिक यज्ञों का निर्णय करते हैं

मुनियों की इस दिनचर्या में पर्वकाल आने पर आत्मज्ञान में दीक्षित पुरुष को उचित है कि बीच-बीच में उपयज्ञों अर्थात् नैमित्तिक यज्ञों का अनुष्ठान भी यदा तदा करता रहे।।१।।

एकीकृत्य सुपर्णौ द्वौ चीयते चेत्सुपर्णचित्।
जीयते तन्मुनीन्द्रेण शतस्याग्निचितां फलम्।।३।।(६३६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां उपयज्ञनिर्णयो विंशः।।

तादृशा इत्युक्त्या तेषां लक्षणज्ञानम् अपेक्षितमिति तल्लक्षणज्ञानाय ज्ञानिविहितसुपर्णचयनलक्षणं तत्फलं चान्ययज्ञलक्षणानि ज्ञातुम् आह **एकीकृत्येति। द्वौ** उभौ, **सुपर्णौ** व्यावहारिकदृष्ट्या द्वित्वेन प्रतीतौ, सु शोभनौ पर्णौ पक्षौ ययोः तौ सुपर्णौ जीवस्य धर्माधर्मौ इष्टानिष्टगतिसाधनत्वात् पक्षौ, ईश्वरस्य तु जगत्पालनादि प्रवृत्तिसाधनं मायाख्यः एकः। द्वितीयः स्वरूपस्थितिसाधनभूतो ज्ञानरूप इति विवेकः, सुपर्णत्वं च हंसत्वम् अनयोः श्रुत्या उपासनार्थम् उक्तं; तथा च श्रुतिः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन्नयो ऽभिचाकशीति' इति। एतौ **एकीकृत्य** उभयोः विरुद्धांशत्यागेन चिन्मात्रत्वस्य उभयोः अविशिष्टत्वाद् एकत्वं संपाद्य, अनयोः एकत्वं च तदुत्तरश्रुत्या एवोक्तत्वात् पारमार्थिकमिति निश्चित्येत्यर्थः। तथा च तदुत्तरमन्त्रः 'एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश। स इदं विश्वम्भुवनं विचष्ट' इत्यादि। समुद्र इति वाचो नाम, वाक्प्रतिपाद्यत्वाद् वाङ्मात्रं जगद् इत्यर्थः, **चीयते** एकीभावेन अवलोक्यते मुनिना, **चेद्** यदि, तर्हि **सुपर्णचित्** सुपर्णचयननामा यज्ञो, जायत इति शेषः, **तत्** तर्हि, **मुनीन्द्रेण** मननवत्सु श्रेष्ठेन उक्तलक्षणसुपर्णचयनकृता पुरुषेण, **शतस्याग्निचिताम्** अग्निचितां लोकप्रसिद्धानाम् अग्निचयनानां शतकस्य **फलं** पुण्यं **जीयते** प्राप्यते।।३।।(६३६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे उपयज्ञनिर्णयार्थप्रकाशो विंशः।।

यह हमारा मनरूपी पशु जिस किसी कालखण्ड की कल्पना करे और जब कि वह भी ज्ञानरूप होने से इस हमारे ज्ञानियज्ञ का पुरोडाश (यजमानभोज्य हुतशेष पदार्थ) बन जाय (अर्थात् जब कि "कालो बोधेन भक्षितः" के अनुसार यह आत्मबोध उस काल को भक्षण कर ले) तो इन्द्रियरूपी देवों के अधिष्ठाता इस देवेन्द्र आत्मचैतन्य की नित्यतृप्ति के लिये मुमुक्षुओं को ऐसे उपयज्ञ करते रहना चाहिये।।२।।

ईश्वर और जीव कहाने वाले दोनों पक्षियों को (भागत्यागलक्षणा से) एक बनाकर किंवा एकत्व को ही पारमार्थिक समझकर यदि एकीभाव से जान लिया जाय तो यही सुपर्णचयन नामक यज्ञ कहाता है। इस एक यज्ञ को करने पर ही उस मुनीन्द्र को सैकड़ों अग्निचयनों का फल प्राप्त हो जाता है।

इस संसार में जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी हैं उनमें जीव को सुख किंवा दुःख दिलानेवाले जीव के धर्मा-धर्म नाम के दो पंख कहाते हैं। ईश्वर के तो जगत्पालनादि कराने वाले तथा स्वरूपस्थिति को प्राप्त कराने वाला माया और ज्ञानरूपी दो पंख हैं। ये दोनों ही चेतन होते हैं। इनमें से यदि परस्पर विरुद्ध अंश का त्याग कर दिया जाय

अथ नित्यदानम्

समाधितीर्थे मुनिना ग्रहणे चंद्रसूर्ययोः।
दत्तमात्मसमं हेमं पात्राय परमात्मने।।१।।(६३७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां नित्यदाननिर्णयः एकविंशः।।

अथ मध्याह्नसन्ध्या

दर्शनस्पर्शनघ्राणरसनश्रवणादिषु।
यश्चैतन्यचमत्कारो मुनेर्माध्याह्निकं तु तत्।।१।।(६३८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां मध्याह्नसन्ध्यानिर्णयः द्वाविंशः।।

एवम् उपयज्ञान् निर्णीय इदानीं नित्यदानं निर्णेतुं नित्यदाननिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** उपयज्ञनिरूपणानन्तरं, **नित्यदानं** मुनीनां नित्यदानं, निर्णीयते इति शेषः। तदेवाह **समाधितीर्थ इति।** लोके तावत् नित्यदानं कांस्यपात्रसुवर्णघृतादिकं दीयते तत् प्रसिद्धमेव तदपि देशकालतीर्थभेदेन निमित्तभेदेन च पुण्यप्रदं तारतम्येन भवति। तीर्थभेदेन पुष्करादिनिमित्तेन, देशभेदेन कुरुक्षेत्रादौ, कालभेदेन संक्रन्तिग्रहणदौ, निमित्तभेदेन पुत्रजन्मादौ दानं च तुलादिकं श्रोत्रियाय पात्राय दीयते इति प्रसिद्धम्। अत्र तु तत्सर्वम् अलौकिकं, तद् यथा **मुनिना** मननवता, ज्ञनिना इत्यर्थः, **समाधितीर्थे** सम्यग् आधीयते चिन्त्यते ब्रह्म यस्मिन् स समाधिः, यद्वा समं ब्रह्म आधीयते लक्ष्यते अस्मिन् इति समाधिः, यद्वा समा ब्रह्माकारा आधय मानसदुःखानि अस्मिन् इति समाधिः, स एव तीर्थः सर्वमलनिवर्तकत्वात् तस्मिन्। निमित्तमाह **ग्रहण इति। चन्द्रसूर्ययोः** चन्द्रः चन्दयति आह्लादयति इति चन्द्र आत्मसुखानुभवः, सूर्यः प्रकाशकत्वाद् आत्मस्वरूपस्य सूर्यो विवेकः, तत्फलरूपः अनात्मबाधः तयोः ग्रहणे अंगीकारे कृते सति, यद्वा चन्द्रः अपानः सूर्यः प्राणः 'अपानः चन्द्रमाः प्रोक्तः प्राणः सूर्यः प्रकीर्तित' इति उक्तेः तयोः, **ग्रहणे** ग्रहणं वशीकारः तस्मिन् सति इत्यर्थः। पात्रमाह **परमात्मन इति। परमात्मने** परः कार्यकारणातीत आत्मा ईश्वरः तस्मै, **पात्राय** पात्रभूताय, ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मैव अत्र पात्रं ज्ञेयम्। देयमाह **दत्तमिति। आत्मसमं** आत्मनः प्रत्यगात्मनः, समं सदृशं चिदाभासरूपं, **हेमं** सुवर्णवत् तेजोरूपं, प्रकाशबहुलम् इत्यर्थः। **दत्तं** समर्पितं तदभिन्नम् अनुभूतमित्यर्थः।।१।।(६३७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां मुनीन्द्रदिनचर्यायां नित्यदाननिर्णयार्थप्रकाश एकविंशः।।

तो केवल चिन्मात्र शेष रह जाय। इस विधि से इन दोनों सुपर्णो को यदि एकरूप में देख लिया जाय तो यही 'सुपर्णचयन' नाम का यज्ञ हो।।३।।

जबकि सूर्य तथा चन्द्र (नामक वायुओं) पर (वशीकाररूपी) ग्रहणकाल आजाय तो मुनि को उचित है कि समाधि जैसे शुभ तीर्थ में पहुँचते ही परमात्मा जैसे योग्य पात्र को पाते ही सुवर्ण के समान (दीप्त) अपने आत्मा (जैसे बहुमूल्य पदार्थ) को दान कर दे। (अर्थात् अपने आपको उस परमात्मा से अभिन्न अनुभव कर ले। यही ज्ञानी का 'नित्यदान' है)।।१।।

अथ वैश्वदेवः

आत्मा विश्वस्य देवोऽयं विश्वेन हविषेज्यते।
तत्कर्म वैश्वदेवाख्यं सर्वसूनानिवृत्तये।।१।।(६३९)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां वैश्वदेवनिर्णयः त्रयोविंशः।।

एवं नित्यदानम् उक्त्वा मध्याह्नसन्ध्यां निर्णेतुं मध्याह्नसंध्यानिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथ मध्याह्नसन्ध्या। अथेति**। **अथ** नित्यदाननिर्णयानन्तरं **मध्याह्नसंध्या** अह्नो दिनस्य मध्यं मध्याह्नं तस्य सन्धिस्तत्र भवा मध्याह्नसन्ध्या मध्याह्नसन्ध्याख्या क्रिया निर्णीयत इति शेषः। तामेवाह **दर्शनेति। दर्शनस्पर्शनघ्राणरसनश्रवणादिषु** लौकिकं माध्याह्निकं प्रसिद्धमेव, इदं तु अलौकिकं ज्ञानभास्करोदयाद्युपलक्षितस्य ज्ञान्यह्नो मध्यता तीव्रप्रकाशोपलक्षितः कालः तदा च दर्शनं चक्षुर्द्वारानिर्गतान्तःकरणवृत्त्या नीलपीतादिरूपसाक्षात्कारः, स्पर्शनं त्वक्द्वारा- निर्गतान्तःकरणवृत्त्या शीतोष्णमृदुकाठिन्यादिस्पर्शनसाक्षात्कारः, घ्राणं घ्राणद्वारानिर्गतान्तःकरणवृत्त्या सुगन्धदुर्गन्धादिविषयसाक्षात्कारः, रसनं रसनद्वारानिर्गतान्तःकरणवृत्त्या मधुरकटुतीक्ष्णादि-रससाक्षात्कारः, श्रवणं श्रोत्रद्वारानिर्गतान्तःकरणवृत्त्या शब्दविषयसाक्षात्कार, एतानि आदीनि प्रथमतो येषां तेषु आदिपदेनात्र वचनादानादिकर्मेन्द्रिय-व्यापारा ग्राह्याः, तेषु विद्यमानेषु व्यवहारकाले सत्सु अपि **यः** सर्वत्रिपुटीबाधपूर्वः यः प्रसिद्धो योगिषु, **चैतन्यचमत्कारः** चैतन्यस्य चिदात्मनः सामान्यरूपेण चमत्कारः स्फुरणं भवति, **तत्** तदेव, **मुनेः** मननवतो, ज्ञानिनः इत्यर्थः, **माध्याह्निकं** मध्यस्थज्ञान- भास्करोपलक्षितदिवसमध्यभवं कर्म ज्ञेयमिति शेषः।।१।।(६३८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे मध्याह्नसन्ध्यानिर्णयार्थप्रकाशो द्वाविंशः।।

एवं मध्याह्नसंध्यां निर्णीय इदानीं मुनीनां वैश्वदेवाख्यं कर्म निर्णेतुं वैश्वदेवनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणं वक्तुमाह **अथेति। अथ** मध्याह्नसंध्यानिरूपणानन्तरं, **वैश्वदेवो** वैश्वदेवाख्यं कर्म, निर्णीयते

दर्शन स्पर्शन घ्राण रसन तथा श्रवण आदियों में जब किसी मुनि को चैतन्य का चमत्कार दीख पड़ने लगा हो तो यही मुनि का 'माध्याह्निक' है।

जब चक्षु से नीलपीतादिरूपों का साक्षात्कार हो, त्वगिन्द्रिय से शीत, उष्ण, कोमल, कठोर आदि का प्रत्यक्ष हो, घ्राण से सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि का ज्ञान हो, रसना से मधुरादि रसों की प्रतीति हो, श्रोत्र से भले-बुरे शब्द सुनाई पड़ें, कर्मेन्द्रियों के वचन आदान आदि व्यापार प्रवृत्त होने लगें तो इन सब अवस्थाओं में समान्यरूप से चैतन्य की स्फूर्ति तो होती ही है परन्तु यदि कोई ज्ञानी इस बात को समझ भी ले तो यही ज्ञानी के दिन का मध्याह्न कहाता है, उस समय इन सब व्यवहारों की उपेक्षा करके इन सब व्यवहारों में समानरूप से रहने वाले केवल चिदात्मा के चैतन्य की स्फूर्ति को ही सर्वत्र देखते रहना मुनि का 'माध्याह्निक' कर्म है।।१।।

अथ बलिदानम्

नवद्वारां पुरीमेतामाश्रितेभ्यो दयालुना।
भूतेभ्योऽपि बलिर्देयः खानपानादिलक्षणः।।१।।(६४०)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां बलिदाननिर्णयः चतुर्विंशः।।

इति शेषः, तमेवाह **आत्मेति। अयं** विवेकिषु अस्मदादिषु प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वरहितत्वेन स्वयं प्रकाशमानः प्रत्यक्ष, **आत्मा** प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **विश्वस्य** समस्तस्य जगतो, **देवः** चिन्मात्ररूपेण प्रकाशकः, स **विश्वेन** समस्तजगता, **हविषा** होमद्रव्येण, **इज्यते** हूयते, **तत्** समस्तजगद्धोमद्रव्येण आत्मपूजनरूपं, **कर्म** क्रिया, **वैश्वदेवाख्यं** विश्वदेवाख्यं विश्वदेव आत्मा तस्य इदं विश्वदेवसम्बन्धि इत्यर्थः, 'तस्य इदम्' इति तद्धितोऽण्, वैश्वदेव आख्या आह्वा यस्य तत् तथोक्तं ज्ञेयम्। यद्वा विश्वदेवाय आत्मने हितमिति व्याख्येयं 'तस्मै हितम्' इति तद्धितोऽण्। फलमाह **सर्वेति। सर्वसूनानिवृत्तये** 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति' श्रुतिदृष्ट्या सर्वपदवाच्यस्य द्वैतस्य या सूना हिंसा तन्निवृतये तत्परिहाराय भवति इति प्रयोजनं दर्शितम्, यद्वा सर्वदोषपरिहाराय इति प्रसिद्ध एवार्थः।।१।।(६३६)

इति श्रीनरहरिविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यायां वैश्वदेवनिर्णयार्थप्रकाशः त्रयोविंशः।।

एवं वैश्वदेवं निर्णीय इदानीं तेषामेव बलिदानं निर्णेतुं बलिदाननिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** वैश्वदेवनिर्णयानन्तरं, **बलिदानं** बलेः भूतबलेः, दानं समर्पणं, निर्णीयत इति शेषः, तदेव लौकिकबलिदानविलक्षणं मुनीनां बलिदानं दर्शयति **नवद्वारामिति। एतां** सर्वजनप्रत्यक्षां, **नवद्वारां** नव नवसंख्यानि द्वाराणि च्छिद्राणि यस्यां सा तथोक्ता, द्वे श्रोत्रच्छिद्रे, द्वे नयनच्छिद्रे, द्वे नासाच्छिद्रे, एकं मुखच्छिद्रम् इत्युपरि सप्त, एकं गुदच्छिद्रम्, एकं शिश्नच्छिद्रमिति द्वे अधः, एवं नवद्वाराणि ज्ञेयानि, **पुरीं** नगरीं 'नवद्वारे पुरे देही'ति गीतोक्ताम् **आश्रितेभ्य** आश्रित्य स्थितेभ्यो, **भूतेभ्योऽपि** वियदादिभ्यो भूतेभ्यः, अपिशब्दात् तत्कार्येभ्य इन्द्रियेभ्यो, **दयालुना** दयावता पुरुषेण, एतानि भूतानि किम् एतैः मम इति नोपेक्षा कर्त्तव्या तेषां तद्ग्रासदानाभावे तत्क्षोभेण वृत्तिस्थैर्यं न स्याद् इति भावः। **खानपानादिलक्षणः** खानम्. अन्नादेः भक्षणं, पानं च जलादेः प्राशनं, ते आदिनी येषाम् इन्द्रियभोगादीनां श्रवणाद्यनुकूलानां तानि एव लक्षणानि यस्य स तथोक्तो, **बलिः** पूजा, **देयो** दातुं योग्यः।।१।।(६४०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकर विरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे बलिदाननिर्णयप्रकाशः चतुर्विंशः।।

यह स्वयंप्रकाश आत्मा सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक होने से 'देव' कहाता है। (कोई इस बात को समझे या न समझे परन्तु) इस सकल जगद्रूप हवि से उसी का यजन किया जा रहा है। इस प्रकार (समस्त जगत् को आत्मपूजा की सामग्री बना देने से) 'वैश्वदेव' कर्म सिद्ध हो जाता है। इसके करने से सर्वसूनानिवृत्ति अर्थात् सर्वदोषपरिहार होता है।।१।।

अथ भोजनविधिः

गुरुभिश्च सतीर्थ्यैश्च शिष्यैश्च सहितस्तथा।
सुरसं चारु भोक्तव्यं ज्ञानपीयूषमुत्तमम्।।१।।(६४१)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां भोजनविधिनिर्णयः पञ्चविंशः।।

अथ ताम्बूलग्रहणनिर्णयः

सत्यं प्रियं च पथ्यं च ब्रह्मचर्चात्मकं वचः।
ताम्बूलग्रहणं कार्यं वदनं येन राजते।।१।।(६४२)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां ताम्बूलग्रहणनिर्णयः षड्विंशः।।

एवं मुनीनां भूतबलिं निर्णीय इदानीं तेषामेव भोजनविधिनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** बलिदाननिर्णयानन्तरं **भोजनविधिः** मुनीनां भोजनस्य विधिः विधानं, निर्णीयते इति शेषः। तमेव निर्णीय दर्शयति **गुरुभिरिति।** लोके हि पितृभिः पितृव्यैश्च स्वपुत्रैः भ्रातृभिश्च सह मिष्टान्नं भुज्यते तद्वद् अत्रापि **गुरुभिः** स्वस्य महावाक्योपदेष्टृभिः पितृस्थानीयैः, **सतीर्थ्यैश्च** समानम् एकं, तीर्थं गुरुः, येषां ते तथोक्ता, गुरुबन्धव इत्यर्थः, तैरपि पितृव्यस्थानीयैः इत्यर्थः, चकारात् स्वसतीर्थ्याः स्वगुरुबन्धवोऽपि स्वभ्रातृस्थानीया ग्राह्याः। **तथा** तद्वत्, **शिष्यैश्च** स्वशिष्यैः पुत्रस्थानीयैः, **सहितो** युक्तः सन्, मुनिना **सुरसं** सुष्ठु शोमनो, रसः सुखं, यत्र तत् तथोक्तं 'रसो वै स' इति श्रुतेः, **उत्तमं** श्रेष्ठं उद्गतं निरस्तं तमः अज्ञानलक्षणं यतः तत् तथोक्तं, **ज्ञानपीयूषं** ज्ञानं महावाक्यजन्यं जीवब्रह्मैक्यविषयकम् अपरोक्षं, तदेव पीयूषम् अमृतम् इव मरणनिवर्त्तकत्वाद् 'अहं ब्रह्मास्मीति' साक्षात्काररूपम् इत्यर्थः, नित्यतृप्तिजनकत्वात् मोक्षसाधनत्वाच्च अमृतत्वं ज्ञानस्य इति भावः। **चारु** सप्रेम संशयविपर्ययादिरहितं यथा तथा **भोक्तव्यम्** अनुभाव्यम् इदमेव विदुषां भोजनं नान्यदिति भावः।।१।।(६४१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकर विरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे भोजनविधिनिर्णयार्थप्रकाशः पञ्चविंशः।।

इस नौ द्वार वाली देहरूपी नगरी में आकर ठहरे हुए आकाश आदिभूतों (तथा भूतों से बने हुए इन्द्रियों) को भी दयालु मुनि खान-पान आदि बलि देता रहे।

भोजनादि न देने से इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो जायंगी तो ब्रह्माकारवृत्ति ही न रह सकेगी, इसलिये झूठे वैराग्य में आकर भूखे प्यासे मरना ठीक नहीं होता। श्रवण मनन आदि में सहायक और भी भोग इन्द्रियों को दे देने से कुछ हानि नहीं होती। यही मुनियों का 'बलिदान' कर्म है।।१।।

मुनि को उचित है कि ब्रह्मविद्या के अपने आचार्य, अपने गुरुभाई तथा अपने शिष्यों सहित उत्तमरसस्वरूप श्रेष्ठ ज्ञानामृत का अनुभव किया करे। यही ज्ञानी का 'भोजन' है।।१।।

अथ वामकुक्षिशयननिर्णय

यावच्छरीरपतनं प्राचीनैः कर्मभिः कृतौ।
योगक्षेमौ न चिन्त्यौ हि निर्योगक्षेम आत्मवान्।।१।।(६४३)

एवं मुनीन्द्राणां भोजनविधिं निर्णीय इदानीं तेषामेव ताम्बूलग्रहणं निर्णेतुं ताम्बूलग्रहणनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** भोजनविधिनिर्णयानन्तरं, **ताम्बूलग्रहणनिर्णयः** ताम्बूलस्य ग्रहणं सेवनं, तस्य निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। तदेव ज्ञानिनाम् अलौकिकं ताम्बूलं दर्शयति **सत्यमिति। सत्यं** प्रामाणिकं; केवले सत्यवचसि अप्रियता च सम्भवति अतः तां निराकरोति **प्रियं चेति। प्रियं च** परोक्षतया प्रियम्। सत्यप्रिये वचसि परिणामे दुःखमपि क्वचिद् दृश्यते अतः तदपि निराकरोति **पथ्यं चेति।** पथ्यं च दुःखपरिणामहीनम्। एतद् विशेषणविशिष्टवाक्यं स्पष्टं निर्दिशति **ब्रह्मचर्चात्मकमिति।** ब्रह्मचर्चात्मकं ब्रह्मणो देशकालवस्तुकृत-परिच्छेदहीनस्य आत्मनः, चर्चा वाच्यार्थतया निरूपणं यत्र तदात्मा स्वरूपं यस्य तत् तथोक्तं, **वचो** वचनं, ब्रह्मणः सद्रूपत्वात् तन्निरूपकवचसः सत्यत्वं, तथा ब्रह्मणः सुखरूपत्वात् तत्प्रतिपादकवचसः प्रियत्वं, तथा ब्रह्मणः परिणामहीनत्वात्तत्प्रतिपादकवचसो दुःखपरिणामहीनत्वं, तादृशं वचनमेव, **ताम्बूलग्रहणं** ताम्बूलस्य ग्रहणं सेवनं, **कार्यं** मुनिभिः कर्त्तव्यम्। ननु ब्रह्मचर्चात्मकवचसः कुतः ताम्बूलत्वम् इत्याशंक्य, वदनशोभाकारित्वस्य उभयत्र साम्याद् इत्याशयेन आह **वदनमिति। येन** उक्तलक्षणताम्बूलग्रहणेन **वदनं** मुखं **राजते** शोभते। यद्वा 'चेतो मुख' इति श्रुतेः ब्रह्मसुखानुभवकरणरूपान्तःकरणवृत्तिः प्रमाख्यैव भोजनसाधनं मुखमिव ब्रह्मसुखामृतभोजनसाधनत्वाद् वदनं, राजते स्वयं प्रकाशतया शोभते इत्यर्थः, अतः अत्र विदुषाम् इदमेव ताम्बूलग्रहणम् उचितमिति भावः।।१।।(६४२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे ताम्बूलग्रहणनिर्णयार्थप्रकाशः षड्विंशः।।

ब्रह्मचर्चारूपी सत्य प्रिय तथा पथ्य वचनों को बोलना ही ताम्बूलभक्षण कहाता है ऐसा ही ताम्बूल ज्ञानी लोग खायें इससे ज्ञानियों के मुख की शोभा बढ़ती है।

लौकिक सत्य तो समयभेद किंवा देशभेद से असत्य भी हो जाते हैं, लौकिक प्रिय पदार्थ भी समय पाकर अप्रिय हो जाते हैं, लौकिक पथ्यों की भी यही अवस्था है। देशकालादि की हद में न आने वाले ब्रह्म की चर्चा ही निरपेक्ष सत्य, निरपेक्ष प्रिय तथा निरपेक्ष पथ्य कहाती है। सद्रूप ब्रह्म का निरूपण करने से वह सत्य है, सुखस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादक होने से वह प्रिय है, इस चर्चा का कभी भी दुःखरूपी परिणाम नहीं निकलता इसलिये वह पथ्य मानी गयी है। ऐसे वचनों को बोलना ही मुनियों का 'ताम्बूलसेवन' कहाता है।।१।।

अब मुनियों के विचित्र वामकुक्षिशयन का प्रतिपादन किया जाता है

समाधिशयने शुभ्रे सुखनिद्रां विधाय च।
क्षणं विश्रम्य तत्पश्चात् पुराणश्रवणं चरेत्।।२।।(६४४)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां वामकुक्षिशयननिर्णयः सप्तविंशः।।

एवं मुनीनां ताम्बूलग्रहणं निर्णीय इदानीं प्रसंगप्राप्तं तेषाम् एवं विशिष्टं वामकुक्षिशयनं निर्णेतुं वामकुक्षिशयननिर्णयाख्यं द्विश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** ताम्बूलग्रहणनिर्णयानन्तरं, **वामकुक्षिशयननिर्णयः** वामे सव्ये भागे कुक्षिः तम् अधः कृत्वा यत् शयनं निद्रा मुनिविहिता विशिष्टा तन्निर्णयः तस्य विचारः, क्रियते इति शेषः, तत्र तावदादौ शयनार्थं निश्चिन्तता अपेक्षिता अतः तन्निर्णयं करोति **यावदिति। हि** यतः कारणाद्, **योगक्षेमौ** योगः अप्राप्तपदार्थानां प्राप्तिरूपः, क्षेमश्च प्राप्तपदार्थपरिरक्षणरूपः, तौ द्वौ अपि, **यावच्छरीरपतनं** यावत्कालं शरीरपतनं शरीरस्य देहस्य, पतनं पातो भवति, तावत् तत्कालपर्यन्तं, शरीरनाशावधि इत्यर्थः। **प्राचीनैः** पूर्वजन्मभवैः, **कर्मभिः** एतच्छरीरारम्भकैः प्रारब्धाख्यैः कर्मभिः, **कृतौ** सम्पादितौ, इति एवं निश्चित्य तौ नानुसन्धातव्यौ, किन्तु **आत्मवान्** आत्मा प्रत्यगात्मा ब्रह्माभिन्नः चिन्त्यतया विद्यते यस्य स तथाविधो भूत्वा, **निर्योगक्षेमो** योगक्षेमचिन्तारहितो, भवेद् इति शेषः। इयमेव निश्चिन्तता वक्ष्यमाणशयनोपयोगिनी नान्येति भावः।।१।।(६४३)

एवं शयनोपयोगिनीं निश्चिन्ततां निर्णीय इदानीं शयनोपयोगि-सामग्रीनिर्णयपूर्वकं शयनं निर्णीय दर्शयति **समाधीति।** लोके तावत् **शुभ्रे** निर्मलवस्त्रैर्निर्मिते श्वेते, **समाधिशयने** समाधिः ध्येयाकारान्तःकरणवृत्तिपरिणामः स यथा सुखसाधनभूतः तद्वद् यत् शयनं शेते अस्मिन् इति शयनं पर्यंकः तस्मिन्। यद्वा समा आधयः मानसव्यापारा यत्र भवन्ति तथाभूते शयने पर्यंके, **सुखनिद्रां** सुखाय निद्रा सषुप्तिः तां, **विधाय** कृत्वा, **च** पुनः, **तत्** ततः, **पश्चाद्** अनन्तरं, **क्षणं** क्षणकालं, **विश्रम्य** यावदालस्यक्षयं तत्र पर्यंके विश्रामं कृत्वा इत्यर्थः, **पश्चाद्** अनन्तरं, **पुराणश्रवणं** पुराणानां भागवतादीनां श्रवणं, **चरेत्** कुर्यात्।

प्रकृते तु शुद्धे **शुभ्रे,** निर्विकल्प इत्यर्थः, **समाधिशयने** समाधिरेव शयनं पर्यंकः तस्मिन्, **सुखनिद्रां** भूमशब्दवाच्यसुखस्वरूपां निद्रां प्रपञ्चास्फूर्तिरूपां सुप्तिं, **विधाय** कृत्वा, **च** पुनः, **तत्** तत उत्थाने तत्र **क्षणं** क्षणपरिमाणकालं, **विश्रम्य** विश्रामं कृत्वा, **पश्चाद्** अनन्तरं, **पुराणश्रवणं** पुराणानां भारतादीनां, श्रवणं वक्ष्यमाणलक्षणं श्रवणमिति उपलक्षणं मननादीनां, **चरेत्** कुर्यात्।।२।। (६४४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे वामकुक्षिशयननिर्णयार्थप्रकाशः सप्तविंशः।।

यह वर्तमान ज्ञानिदेह जब तक रहेगा तब तक इस शरीर को बनाने वाले पूर्वजन्म के कर्मों के प्रताप से इसके उपयोगी भोग प्राप्त होते ही रहेंगे और उनकी रक्षा भी इस शरीर के प्रारब्धानुकूल होगी ही, इसलिये उन योगक्षेमों की चिन्ता को छोड़कर केवल आत्मपरायण हो जाय। (इस प्रकार शयनोपयोगी निश्चिन्तता को पहले उत्पन्न कर लेना चाहिये। जिससे कि निश्चिन्त होकर समाधिनिद्रा का भोग ले सके)।।१।।

अथ पुराणश्रवणनिर्णयः

अष्टादशाध्यायमयी यत्र गीता निरूपिता।
सर्वोपनिषदां तत्त्वं तन्महाभारतं शृणु।।१।।(६४५)

एवं वामकुक्षिशयनं निर्णीय इदानीं ततः अत्र विहितं पुराणश्रवणं निर्णेतुं पुराणश्रवणनिर्णयाख्यं सार्द्धद्विसप्ततिश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** वामकुक्षिशयननिर्णयानन्तरं, **पुराणश्रवणनिर्णयः** पुराणानां भारतादीनां, श्रवणं वक्ष्यमाणलक्षणं, तस्य निर्णयः विचारः, क्रियते इति शेषः, मुनिभिः कथं पुराणादि श्रोतव्यं तन्निर्णीयते इत्यर्थः। तत्र तावत् प्रसिद्धानि अस्मिन् समये भारतभागवतरामायणानि अतः तेषाम् एव प्रथमं निर्णयः क्रियते। तत्र च तावत् सर्वधर्मसंग्रहत्वाद् भारतमेव प्रथमं निर्णीयते चतुर्भिः श्लोकैः तदेव प्रतिजानीते **अथेति। अथ** पुराणश्रवणनिर्णय-प्रतिज्ञानन्तरं, **भारतश्रवणनिर्णयो** भारतस्य भारताख्यशास्त्रस्य श्रवणं तस्य निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः, तत्र तावत् जिज्ञासूनां श्रोतव्यतया विहितं भारतम् अभिनीय दर्शयति **अष्टादशेति।** यत्र यस्मिन् अर्थे जीवब्रह्मैक्यरूपे **अष्टादशाध्यायमयी** अष्टौ च दश च अष्टादश अष्टादशसंख्या ये अष्टादशपर्वस्थानीया अध्यायाः तन्मयी तन्मुख्या, **गीता** श्रीभगवता अर्जुनाय शिष्याय गीता कथिता अतः गीतानाम्नी वाक्यसंहतिरूपा, **निरूपिता** कथिता, सा च **सर्वोपनिषदाम्** उप समीपे निषण्णं श्रेयो मोक्षरूपं यासु ता उपनिषदः सर्वाः समस्ता या उपनिषदः

'ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयं च च्छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश' ।इति।।

दशसंख्याका उक्ताः तासां, **तत्त्वं** तात्पर्यरूपमस्ति, **तद्** उक्तलक्षणं, **महाभारतं** भारतः अर्जुनः तदर्थं निरूपितत्वात् महतो मोक्षरूपार्थस्य प्रतिपादकत्वाच्च महाभारतं, **शृणु** श्रोतव्यं, त्वया इति शेषः।।१।।(६४५)

(अन्तःकरण की ध्येयाकार वृत्ति को समाधि कहते हैं उस) समाधिरूपी निर्विकल्प बिस्तर किंवा पलंग पर लेटकर, आत्मसुखरूपी नींद लेकर कुछ देर (समाधि से उत्पन्न हुई उदासीनता के निवृत्त होने तक) विश्राम करके पुराणादि का श्रवण मनन आदि करे।।२।।

मुनि को भारतादि पुराणों का श्रवण किस दृष्टिकोण से करना चाहिये यह बताया जाता है

जिस महाभारत में सभी उपनिषदों की सारभूत, अठारह अध्यायवाली गीता का निरूण किया गया है, केवल उतना ही महाभारत मुमुक्षु लोगों को सुनना चाहिये।।१।।

भारते व्यासमुनिना कथानां विस्तरः कृतः।
कथामात्रमिदं विश्वमिति तेन प्रकाशितम्।।२।।(६४६)
समाप्ते भारते ग्रन्थे शान्तिपर्व निरूपितम्।
तदुक्तं सर्वशास्त्राणां शान्तौ परिसमापनम्।।३।।(६४७)
नानाख्यानैः महारम्या मोक्षधर्मा निरूपिताः।
तदुक्तं सर्वधर्माणां मोक्षधर्माः परा मताः।।४।।(६४८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां पुराणश्रवणनिर्णयान्तर्गतः भारतश्रवणनिर्णयः प्रथमः।।

ननु शतसहस्रसंख्ये भारते गीतैव श्रोतव्या चेद् भारतकर्त्रा व्यासेन इतिहासैः कुतो विस्तारः कृत इत्याशंक्याह **भारत इति। भारते** भारतनाम्नि ग्रन्थे, **व्यासमुनिना व्यासनाम्ना विवेकिना, कथानां** कथनीयार्थानां, **विस्तरो** विस्तारेण वर्णनं, **कृतः** उक्तः, **तेन** कथाविस्तारेण कृतेन **इदं** सर्वेषां प्रत्यक्षं **विश्वं** जगत् **कथामात्रं** कथा कथनं वाक् तन्मात्रं 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति श्रुतेः, **इति** एवं, **प्रकाशितं** सर्वेषाम् अनुभवगोचरं कृतम्। सर्वस्य भारतस्य अनेकराजमुनीतिहास-निरूपकत्वाद् अनेकेषां राजमुन्यादीनां तत्र तत्र वर्णनीयार्थाश्रितानाम् इदानीं दृग्विषयत्वाभावाच्च तेषां कथनमात्रत्वेन जगतोऽपि तल्लक्षणवत्वाद् वाङ्मात्रत्वं निश्चित्य मुमुक्षुभिः तत्रादरं परित्यज्य गीताश्रवणे एवादरः कर्तव्य इति इमम् अर्थं बोधयितुं कथाविस्तरः कृत इति भावः।।२।।(६४६)

किञ्च भारतान्ते रचितेन शान्तिपर्वाख्यप्रकरणेनापि इदमेव सूचितम् इत्याह **समाप्त इति। भारते** भारतनाम्नि ग्रन्थे, **समाप्ते** ग्रथ्यते शास्त्रार्थः अनेन इति ग्रन्थः शास्त्रं, तस्मिन् समाप्तिमुपसन्ने सति व्यासमुनिना शान्तिपर्वाख्यं प्रकरणं निरूपितं, **तत्** तेन शान्तिपर्वरचनेन, **सर्वशास्त्राणां** सर्वेषां समस्तानां शास्त्राणाम् उपदेशकग्रन्थानां, **शान्तौ** वासनालयात्मनि मोक्षे, **परिसमापनं** तात्पर्यपर्यवसानम्, **उक्तं** कथितं, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति स्मृतेः, अतो भारत-विस्तारश्रवणे आदरं परित्यज्य शान्तिसाधनज्ञानप्रतिपादकगीताश्रवण एव आदरः विधेय इति भावः।।३।।(६४७)

भारत में व्यास मुनि ने कथाओं का इतना विस्तारपूर्वक वर्णन करके यह बात सिद्ध की है कि यह सब संसार केवल कथामात्र ही है।

इसलिये मुमुक्षुओं को इस जगत् को वाणीमात्र जानकर इसकी लिप्सा छोड़ देनी चाहिये।।२।।

भारत ग्रन्थ की समाप्ति पर व्यास मुनि ने शान्तिपर्व का निरूपण किया है, जिसको सबसे अन्त में रखने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सच्छास्त्र शान्ति (मोक्ष) का प्रतिपादन करके किंवा वासनालयात्मक मोक्ष को प्राप्त कराकर कृत-कृत्य हो जाते हैं।।३।।

अथ भागवतश्रवणनिर्णयः

वृत्तिगोपीजनैः क्रीडन् ब्रह्मचर्यं न मुञ्चति।
यत्रान्तरात्मा गोपालस्तद् भागवतमुत्तमम्।।१।।(६४९)

ननु भारते तत्र तत्र वर्णधर्मा आश्रमधर्मा राजधर्मादयः चोक्ता दृश्यन्ते तत्कथं तच्छ्रवणं परित्यज्य गीता एव श्रोतव्या इति अभिधीयते? तत्राह **नानेति। मोक्षधर्मा** मुक्तिसाधनभूता धर्मा निष्कामधर्मा, भारते तत्र तत्र व्यासेन, **नानाख्यानैः** अनेकैः इतिहासैः, **महारम्या** अतिरमणीया, **निरूपिताः** कथिताः **तत्** तेन मोक्षधर्मविस्तारनिरूपणेन, **सर्वधर्माणां** समस्तानां धर्माणां मध्ये, **मोक्षधर्मा** मुक्तिसाधनभूता धर्माः, **पराः** श्रेष्ठा, मम इति अध्याहार्यं, मम धर्मनिरूपणकर्त्तुः, **मता** निश्चिता, इति एवम्, **उक्तम्** कथितं, व्यासेन इति ज्ञेयम्। अतो मोक्षधर्मप्रतिपादकत्वाद् अपि गीतैव श्रोतव्या नान्यत्र भारतश्रवण आदरः कर्तव्य इति भावः।।४।।(६४८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतो भारतश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशः प्रथमः।।

एवं भारतश्रवणनिर्णयम् अभिधाय इदानीं मुनीन्द्राणां भागवतश्रवणं निर्णेतुं भागवतश्रवणनिर्णयाख्यं पञ्चश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** भारतश्रवणनिर्णयनिरूपणानन्तरं, **भागवतश्रवणनिर्णयो** भागवतस्य ब्रह्मणे भगवता प्रोक्तस्य प्रतिपादकत्वाद् भागवताभिधस्य शास्त्रस्य 'तेन प्रोक्तम्' इत्यण्, यद्वा भगवत इदं भागवतं 'तस्येदम्' इत्यण् भगवत्स्वरूपनिरूपकत्वाद् भगवत्सम्बन्धिशास्त्रस्य, श्रवणं कर्तव्यतया विहितं, तस्य निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। तत्र तावद् दशमः श्रोतव्यतया प्रधानः श्रीभागवतमाहात्म्य उक्तः। तत्रापि रासपञ्चाध्याय्याः प्राधान्यम् अतः तत्र गोपीभिः सह भगवतः क्रीडा निरूपिता तस्याः तात्पर्यमाह **वृत्तिगोपीजनैरिति। यत्र** भागवते भगवत्प्रतिपादिते ज्ञानशास्त्रे, **वृत्तिगोपीजनैः** वृत्तयः अन्तःकरणवृत्तयः, ता एव गोपस्य सर्वेन्द्रियपालकस्य अहंकारस्य स्त्रियः, तासां वृत्तिगोपीनां, जनाः समूहाः, तैः सह, **क्रीडन्** रममाणः सन् अपि, **अन्तरात्मा** सर्वभूतभौतिकप्रकाशत्वेन सर्वान्तर्यामिरूप आत्मा ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा, **गोपालो** गा बुद्धिवृत्तीः पालयति इति स्वसच्चित्सुखदानेन रक्षति इति गोपालः साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासो, ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्माभिन्नः चिदाभास इत्यर्थः, 'नान्योतोस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुतेः, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' इत्यादिस्मृतेश्च, अन्तरात्मैव गोपालः नान्य इति भावः। **ब्रह्मचर्यं** ब्रह्मणि तत्पदलक्ष्ये जगत्कारणे अभिन्नत्वेन चरितुं स्थातुं शीलत्वं, **न मुञ्चति** न त्यजति,

अनेक तथा अद्‌भुत कथाओं के मिश्रण से अति मनोहर रूप में जगह जगह व्यासदेव ने मोक्षधर्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। बीच-बीच में जहाँ तहाँ इस प्रकार मोक्षधर्मों का अतिरमणीय रूप में वर्णन करके उन्होंने यह प्रकट किया है कि समस्त धर्मों की अपेक्षा मैं मोक्षधर्मों को ही श्रेष्ठ मानता हूँ।।४।।

बालानां भक्षिका भीमा पूतना दुष्टवासना।
कृष्णेन रुधिरं पीत्वा प्रापिता सापि तत्पदम्।।२।।(६५०)

व्यवहारसमये सर्वान्तःकरणवृत्तिसम्बद्धोऽपि परमार्थतः तदस्पृष्टो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मैव चिदाभासः समष्टिव्यष्टिरूपः सिद्धान्तित इति भावः। **तद्** उक्तलक्षणार्थप्रधानमेव, **भागवतं** भगवता ब्रह्मण उक्तं ज्ञानशास्त्रम्, **उत्तमम्** उद्गतं निवृत्तं तमो यस्मात् तत् तथोक्तं, ज्ञेयम्। अतः तदेव श्रोतव्यतया विहितं ज्ञानिनामिति भावः। लौकिकार्थः तावद् **यत्र** भगवद्गुणवर्णनप्रधाने शास्त्रे, **अन्तरात्मा** सर्वान्तर्यामी परमात्मैव **गोपालो** भूत्वा, **वृत्तिगोपीजनैः** सर्वं गृहकृत्यं परित्यज्य रासक्रीडायां वृत्ताः प्रवृत्ता अतो वृत्तयश्च ता गोप्यो गोपस्त्रियः तासां जनाः समूहाः तैः सह, **क्रीडन्** रममाणः सन्नपि, **ब्रह्मचर्यं** ब्रह्मचारिधर्मं, जितेन्द्रियत्वम् इत्यर्थः, **न मुञ्चति** न त्यजति, **तद्** उक्तार्थप्रधानं, **भागवतं** भगवद्गुणवर्णनं शास्त्रम्, **उत्तमं** श्रेष्ठं ज्ञेयं, नान्यद् देवीभागवतादिकमिति भावः।।१।।(६४९)

एवं रासक्रीडातात्पर्यम् उक्त्वा पूतनावधनिरूपणतात्पर्यमाह **बालानामिति।** तत्रादौ मुनिग्राह्यः अर्थः निरूप्यते **बालानाम्** अज्ञाततत्त्वानाम्, अविवेकिनाम् इत्यर्थः, **भक्षिका** भक्षणकर्त्री, **भीमा** तेषामेव भयजनयित्री, **पूतना** पूतं पवित्रं रागादिहीनम् अन्तःकरणं नाशयति रागादिभिः मलिनीकरोति इति पूतना 'अन्येषु अपि दृश्यते' इति नशेर्डो डित्वात् टिलोपः, एतादृशी **दुष्टवासना** दुष्टा विषयैः मलिना वासना सूक्ष्मा विषयेच्छासंस्काररूपा वृत्तिः अस्ति या सापि उक्तमलैः अत्यन्तं मोक्षायोग्यापि **कृष्णेन** ब्रह्माभिन्नेन सुखस्वरूपेण चिदात्मना तदभिन्नस्य अनुसन्धानवता चिदाभासेन इत्यर्थः। तदुक्तं

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते'।। इति।।

रुधिरं तस्या आवरणं स्वस्मिन् यत् तत् **पीत्वा** प्राश्य, स्वस्मिन् कालत्रयेऽपि असत्त्वम् आवरणस्य अनुसंधाय इत्यर्थः, **तत्पदं** तद्ब्रह्माभिन्नम् आत्मरूपं पदं स्वरूपं, **प्रापिता** तत् स्वरूपत्वेन संपादिता, प्रत्यगात्मनः पृथगसत्त्वात् तस्याः सा तन्मात्रत्वेन अवलोकिता।

लौकिकार्थस्तु **दुष्टवासना** दुष्टा बालघातविषया वासनेच्छा यस्याः सा तथोक्ता, अत एव **बालानाम्** अर्भकाणां, **भक्षिका** भक्षणकर्त्री, **भीमा** भयंकरा, **पूतना** पूतनानाम्नी राक्षसी, तस्या **रुधिरम्** असृक्, **पीत्वा** प्राश्य, **कृष्णेन** गोपालेन, **सापि** एतादृशीदुष्टापि, **तत्पदं** तत्कृष्णाख्यं पदं स्वरूपं, **प्रापिता** स्वस्मिँल्लीना कृता इत्यर्थः।।२।।(६५०)

इस सकल जगत् को (साक्षिरूप से) प्रकाशित करनेवाला बुद्धिवृत्तियों का पालक यह आत्मा व्यवहार के समय अन्तःकरण की वृत्तिरूपी गोपियों से रमण करता हुआ भी यदि परमार्थ में ब्रह्मदृष्टि को रख रहा है (अर्थात् इतना गम्भीर ब्रह्मचर्यपालन करता है) तो ऐसे ब्रह्मचर्य का निरूपण करनेवाला ग्रन्थ ही उत्तम भागवत है, 'देवी भागवत' आदि नहीं।।१।।

अबलानां स्वनाथानाममृतत्वाय विष्णुना।
ताडितः कालसर्पोऽपि सर्वमानन्दितं जगत्।।३।।(६५१)

कालियदमनस्यापि तात्पर्यमाह **अबलानामिति। अबलानां** नास्ति सामर्थ्यं कस्मिन् अपि कार्ये स्वतो येषां ते तथोक्ताः, तेषाम्, अत एव **स्वनाथानां** स्वयमात्मैव नाथः स्वामी पालको येषां ते तथोक्ताः, तेषां, स्वसच्चित्सुखदानेन पालितानां चिदाभासानाम् इत्यर्थः, **अमृतत्वाय** अमृतत्वं मोक्षः तदर्थम्, अमृतत्वं प्रापयितुम् इत्यर्थः, **विष्णुना** सामान्यरूपेण व्यापकेन प्रत्यगात्मना, **कालसर्पोऽपि** कलयति क्षोभयति जगदिति कालः, सर्पति गच्छति सर्वत्र इति कालसर्पः गुणक्षोभकत्वेन मृत्युरूपेण च सर्वत्र विद्यमानत्वात् स तादृशरूपोऽपि, **ताडितो** दण्डितः, स्वस्मात् पृथगसत्त्वबुद्ध्या बाधित इत्यर्थः, यदा तदा इति अध्याहार्यं, तदा **सर्वं** समस्तं, **जगद्** विश्वं देहाद्यहंकारान्तम् आन्तरं बहिश्च ईश्वरपर्यन्तम्, **आनन्दितम्** आनन्दः सुखं सञ्जातः अस्य तद् आनन्दितं सुखितम् इत्यर्थः, 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतज्' इति इतज्, आत्मज्ञानेन आत्मनो मृत्योः पृथगसत्त्वे निश्चिते सति परमानन्दो जीवानां स्यादिति कालियदमनतात्पर्यं ज्ञेयम् इति भावः।

लौकिकार्थस्तु **अबलानां** निर्बलानां, स्वयं कृष्ण एव नाथः स्वामी येषां तेषां वत्सगोगोपालानाम्, **अमृतत्वाय** मरणनिवृत्तये, **विष्णुना** श्रीकृष्णेन, **कालसर्पोऽपि** कालः श्यामः, सर्पो भुजंगोऽपि, कालियनामा सर्प इत्यर्थः, **ताडितो** दण्डितो यदा तदा **सर्वं** यमुनाजलजीवि, **जगत्** प्राणिजातम्, **आनन्दितं** सुखितम्।।३।।(६५१)

प्रथमभूमिकावाले नवाभ्यासियों किंवा अज्ञानियों को खा डालने वाली, उन्हें डराने वाली, उनके रागद्वेषादिरहित अन्तःकरणों को रागादि से मलिन करने वाली विषयवासनाओं जैसी अपवित्र तथा क्रूर वृत्ति को भी, कृष्ण अर्थात् सुखस्वरूप चिदाभास ने इसका रुधिर पीकर (अर्थात् अपने को ढकने वाले आवरण को तीनों कालों में असत् समझ कर) इसे भी आत्मपद परं पहुँचा दिया।

नवाभ्यासी मुमुक्षु बालकों को डसने वाली भयंकर दुष्टवासनारूपी पूतना नामक राक्षसी का खून पीकर उस दुष्टवासना को भी जब कोई आत्मपद को प्राप्त करा दे तभी भागवत का सच्चा पूतनावध हो।।२।।

निर्बल (असहाय) तथा स्वाश्रित मुमुक्षुओं को अमृतत्व प्राप्त कराने के लिये आत्मारूपी विष्णु ने कालरूपी सर्प को मारा तथा इस दुःखमय जगत् को आनन्द से भरपूर कर डाला।

सकल जगद्व्यापक विष्णु के सत्तादि सामर्थ्य से ही जिन सामर्थ्यहीन चिदाभासों को बल प्राप्त हुआ है, उस विष्णु से ही जिनका पालन होता है, अपने आश्रित उन सब जीवों को मोक्षसुख प्राप्त कराने के प्रयोजन से उस विष्णुरूपी गुरु ने जब से

ब्राह्मणा इव ता गावस्तीरस्था वन्यवृत्तयः।
मोहाजगरनिर्गीर्णा गोविन्देन समुद्धृताः।।४।।(६५२)

अघासुरवधतात्पर्यमाह **ब्राह्मणा इति**। यथा **ब्राह्मणा** ब्रह्मविदः **तीरस्थाः** प्रपञ्चनदीपारततं निर्विकारस्वरूपं तत्र स्थिताः, **वन्यवृत्तयो** वन्यं सम्भजनीयं जीवब्रह्मैक्यं तदाकारा वृत्तयः अहं ब्रह्मास्मीत्येवंरूपा येषां ते तथोक्ताः, ते कदाचित् **मोहाजगरनिर्गीर्णा** मोहो जीवब्रह्मैक्याज्ञानं मूलाज्ञानं तेन निर्गीर्णा गिलिता, यदा भवन्ति तदा **गोविन्देन** स्वासंगसच्चिदानन्ददात्रा प्रत्यगात्मना, **समुद्धृता** मोहाजगरोदरात् पुनः निष्कास्य जीवब्रह्मैक्यनिश्चये स्थापिता भवन्ति। तद्वत् **ता** ब्रह्मवित्सम्बन्धिन्यो, **गावो** वृत्तयो, वन्यं सेव्यं ब्रह्मसुखं तत्र वृत्तिः प्रवृत्तिः यासां ता, **मोहाजगरनिर्गीर्णा** मोहः अज्ञानं, स एव सर्वजगद्ग्रसनशीलत्वाद् अजगरः महासर्पः, तेन निर्गीर्णा आवृता यदि भवन्ति तर्हि **गोविन्देन** बुद्धेः स्वासंगसच्चित्सुखत्वदात्रा प्रत्यगात्मना, **समुद्धृता** मोहसर्पोदरात् निष्कास्य स्वस्मिन् स्थिरीकृताः भवन्ति इति अघासुरवधतात्पर्यं ज्ञेयम्।

लौकिकार्थस्तु यथा **ब्राह्मणा** ब्रह्मजिज्ञासवः तपस्विनः **तीरस्था** गंगादितटस्था **वन्यवृत्तयो** वने भवं वन्यं कन्दमूलादिकं, वृत्तिः जीविका, येषां ते तथोक्ता, **मोहाजगरनिर्गीर्णा** मोहः अज्ञानं, तदेव अजगरो महासर्पः, तेन निर्गीर्णा गिलिता, ते **गोविन्देन** तेषां बुद्धिसाक्षिणा प्रत्यगात्मना, **समुद्धृता** मोहाद् निष्कास्य स्वानुसन्धाने स्थापिता भवन्ति। तथा **ता** व्रजस्था, **गावो** धेनवः, **तीरस्था** तीरं यमुनातटं तत्रस्था, **वन्यवृत्तयो** वने भवं वन्यं तृणपर्णादिकं वृत्तिः जीविका यासां ताः तथोक्ता, मोहवद्बहुग्रासेन अजगरसर्पेण अघासुरेण निर्गीर्णा गिलिताः ते **गोविन्देन** गोपालेन, **समुद्धृताः** तदुदरात् निष्कास्य जीवायिता इत्यर्थः।।४।।(६५२)

(सबको क्षुब्ध करने और सबको खा डालने वाले) कालसर्प का वध कर दिया है अर्थात् जब से उसको भी आत्मरूप ही समझ लिया है तब से देहादि अहङ्कारान्त तथा ईश्वर पर्यन्त यह सकल जगत् आनन्दित हो गया है।।३।।

गोविन्द ने जैसे गंगादितीर-निवासी, कंदमूलफलाशी ब्राह्मण तपस्वियों को मोहजाल में से निकाल कर ईश्वरपरायण बनाकर उनका उद्धार किया था। इसी प्रकार यमुना तट पर तृणपर्णादि चुगनेवाली अजगर अघासुर से निगली हुई गायों को उसके पेट में से निकाल कर उन्हें जीवित किया था।

तीरस्थ अर्थात् प्रपंचरूपी नदी के तट पर बैठे हुए वन्यवृत्ति अर्थात् सदा ही आत्मचिन्तन में लगे हुये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों का, जिनको कि मोहरूपी अजगर ने निगल रक्खा था, आत्मारूपी गोविन्द ने उद्धार कर डाला।

इस प्रपंचरूपी भयावह नदी के पार तीर पर निवास करने वाले, सदा ही स्वीकरणीय जीवब्रह्मैक्याकारवृत्ति रखने वाले ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों को जिस प्रकार गोविन्द ने मूलाज्ञानरूपी अजगर के पेट में से निकाल कर जीव-ब्रह्म की एकता का निश्चय

स मूर्त्तिमानहंकारः कंसो नाम महाबलः।
स्वयमुत्पत्य कृष्णेन धृत्वासौ विनिपातितः।।५।।(६५३)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां पुराणश्रवणनिर्णयान्तर्गतो भागवतश्रवणनिर्णयः द्वितीयः।।

अथ रामायणश्रवणनिर्णयः

आभासरेणुभिस्तद्वज्जडं देहादि चेतति।
अहिल्यापि शिला यद्वद्रामस्य पदपांसुभिः।।१।।(६५४)

कंसवधतात्पर्यमाह **स इति**। यः प्रसिद्धो भागवते **कंसो नाम** कंसनाम्ना वर्णितो, **महाबलो** तथोक्तः स कं सुखं स्यति खण्डयति इति व्युत्पत्या, **मूर्तिमान्** आकारवान्, **अहंकार** एव ज्ञेयः। **असौ** अहंकारः, **स्वयम्** आत्मनैव कृष्णेन ब्रह्माभिन्नेन परमानन्दरूपेण, **उत्पत्य** अहंकाराद् उड्डीय अखण्डसच्चिदानन्दरूपो भूत्वा, **धृत्वा** स्वात्मनि कल्पितनिश्चयेन सन्धार्य, **विनिपातितो** मारितो, बाधित इत्यर्थः। लौकिकार्थस्तु यो भागवते प्रसिद्धः **कंसो नाम** कंसनाम्ना प्रसिद्धो, **महाबलो** महत् सहस्रगजानां बलं सामर्थ्यं यस्य स तथोक्तः, **स** कंसो, **मूर्तिमान्** साकारः, **अहंकार** एव ज्ञेयः, स **कृष्णेन** वासुदेवेन, **स्वयं** स्वत एव, **उत्पत्य** उड्डीय, **असौ** कंसो, **धृत्वा** केशेषु संगृह्य, **विनिपातितो** मारितः। एवम् अन्यलीलानामपि तात्पर्यम् उन्नेयम्।।५।।(६५३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतो भागवतश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशो द्वितीयः।।

कराया, इसी प्रकार उन ब्रह्मज्ञानियों की ब्रह्मसुखाकारवृत्तिरूपी गायें जब जब अज्ञानरूपी अजगर के पेट में समा जाती थीं और ब्रह्माकारवृत्ति बन्द हो जाती थी, तब-तब उनको भी मोहरूपी सर्प के विकराल मुख में से निकालकर अपनी तरफ लगा लिया था। भागवत के अघासुर वध का यही तात्पर्य समझना चाहिये।।४।।

महाबल अर्थात् सहस्र हाथियों के बराबर बल रखनेवाले कंस कोजो मानों साक्षात् अहंकार ही शरीर धारण करके आ गया थाकृष्ण ने उछल कर बाल पकड़ कर मार डाला।

कंस नाम के महाबलशाली शरीरधारी अहंकार को आत्मारूपी कृष्ण ने स्वयं ही उछल कर (किंवा अहंकार के पंजे में से निकल कर) पकड़ कर मार डाला। (अपने रूप में कल्पित समझ लिया) इस प्रकार इस अहंकार की (बाधारूपी) मृत्यु का प्रसंग आ गया। भागवत के कंसवध का यही तात्पर्य है।।५।।

अब रामायणश्रवण का तात्पर्य बताया जाता है

वानरो यत्प्रसादेन संतीर्णः क्षारसागरम्।
नरः किं तत्प्रसादेन न तरेद्भवसागरम्।।२।।(६५५)

एवं भागवतश्रवणं निर्णीय इदानीं रामायणश्रवणं निर्णेतुं रामायणश्रवणनिर्णयाख्यं पञ्चश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** भागवतश्रवणनिर्णयानन्तरं, **रामायणश्रवणनिर्णयो** रामायणस्य रामचरितस्य श्रवणं तस्य निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। आत्मनोऽन्यस्य सर्वस्य जडत्वे चिदाभासानामपि तथात्वावैशिष्ट्यात् 'तदेतज्जडं मोहात्मकं मायामात्रम्' इति श्रुतेः चिदाभासानामपि जडत्वेन देहादिजगतः प्रकाशकत्वासम्भवाद्, आत्मनस्तु असंगत्वेन देहादिप्रकाशकत्वायोगाच्च कथं प्रकाशकं विना प्रकाश्यनिर्वाह इति शंकापनोदाय, अहिल्योद्धारलीला कृतेति द्योतनाय तत्रादौ अहिल्योद्धारण-तात्पर्यमाह **आभासेति। यद्वद्** यथा, **रामस्य** दाशरथेः, **पदपांसुभिः** पदयोः अंघ्रोः, पांसुभिः धूलीकणैः, **शिलापि** गौतमशापेन शिलीभूतापि, **अहिल्या** अहिल्यानाम्नी गौतमस्त्री, **चेतिता** चेतनीकृता, **तद्वत्** तथा, रामस्येति पुनर्योज्यं, **रामस्य** रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः अधिकरणे घञ् योगिनां हृदि वा रमते असौ रामः सुखस्वरूप आत्मा इत्यर्थः। तस्य **आभासरेणुभिः** आ ईषद् भासन्ते प्रकाशन्ते इति आभासाः, चिदाभासा इत्यर्थः। त एव रेणव इव वायुरूपोपाधिना आकाशप्रसरणोपलक्षिता इव हृदयाकाशप्रसरणशीलत्वाद् धूलीकणाः तैः, आत्मनः अन्यस्य सर्वस्य जडत्वनिर्णयाद् **देहादि** सर्वं, **जडं** स्वतोऽप्रकाशरूपं, जडैरपि आभासैः **चेतति** स्वस्वविषयं प्रकाशयति, एवं सम्भाव्यम् इति भावः।।१।।(६५४)

एवम् अहिल्योद्धरणतात्पर्यम् उक्त्वा हनूमत्कृतसमुद्रोल्लंघन-तात्पर्यमाह **वानर इति। यत्प्रसादेन** यस्य रामस्य, प्रसादो दया, तेन कृत्वा, **वानरो** वा विकल्पेन नरोऽर्धमृगार्धनराकार इत्यर्थः, स हनूमान्, **क्षारसागरं** क्षारजलपूर्णं सगरपुत्रैश्च संवर्धितं समुद्रं, **संतीर्णः** सम्यक्तीर्त्वा परतीरं गतः तेनेदं सूचितं **नरो** न राति आदत्ते सम्यक्त्वबुद्ध्या विषयानिति नरो वैराग्यादिसाधनसम्पन्नः चिदाभासो वेदान्तश्रवणाधिकारी जीव इत्यर्थः स, **तत्प्रसादेन** तस्य रामस्य, आत्मन इत्यर्थः, प्रसादः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतिदृष्ट्या सर्वशब्दवाच्यद्वैतबाधेन सर्वस्य ब्रह्मत्वे सिद्धे रामेऽपि प्रत्यगात्मनि तद्ब्रह्मत्वं पूर्वमेव सिद्धमिति निश्चय एव प्रसादः, तेन कृत्वा, **भवसागरं** संसारसमुद्रं, **न तरेत्, किं** किन्तु तरेदेव इत्येवं सम्भावनाजननाय हनूमत्कृतसमुद्रोल्लंघनं निरूपितमिति भावः।।२।।(६५५)

गौतम मुनि के शाप से शिला बनी हुई अहिल्या जिस प्रकार राम के चरणों की धूल लगने से जीवित हो गई थी इसी प्रकार राम (सुखस्वरूव आत्मा) के चिदाभासरूपी कणों की सहायता से ये स्वतःप्रकाशहीन जड देहादि भी चेतन से प्रतीत होने लगते हैं। (यही अहिल्योद्धार का तात्पर्य है)।।१।।

जिस राम की दयादृष्टि से वानर (अर्थात् आधा मृगाकार और आधा मनुष्याकार) भी लम्बे खारे समुद्र को पारकर गया, तब क्या वह नर अर्थात् वैराग्यादिसम्पन्न अधिकारी जिस को वेदान्तादि सुनने का पूर्ण अधिकार है उस राम की प्रसन्नता से

प्राह रामस्तरन्सिन्धुं शिलारूपेण सेतुना।
संसारसिन्धुतरणं निर्विकल्पसमाधिना।।३।।(६५६)
शान्तिसीता समानीता निहतो मोहरावणः।
आत्मारामेण रामेण तद्रामायणमुत्तमम्।।४।।(६५७)

एवं हनूमत्कृतसमुद्रोल्लंघनतात्पर्यम् उक्त्वा सेतुनैव समुद्रतरणतात्पर्यमाह **प्राहेति। रामो** दाशरथिः, **शिलारूपेण** शिलाः पाषाणा एव रूपम् आकारो यस्य स तथोक्तः, तेन, **सेतुना** वारिबन्धेन, **सिन्धुं** समुद्रं, **तरन्** लंघमानः सन्, **प्राह** उक्तवान्। किम् उक्तवान्स्तदाह **संसारेति। संसारसिन्धुतरणं** संसारो भवः, स एव सिन्धुः समुद्रः, तस्य तरणम् उत्तारो, **निर्विकल्पसमाधिना** निर्गताः निवृत्ताः विपरीता विविधाश्च कल्पाः कल्पना यत्र स तथाभूतः समाधिः असंप्रज्ञातनामा, तेन, भवेत् स्याद् इति ज्ञेयम्।।३।।(६५६)

सीतानयनरावणवधरामायणानां तात्पर्यमाह **शान्तिसीतेति।** शान्तिः निर्वासना ब्रह्मसुखानुभूतिरूपा अन्तःकरणवृत्तिरेव, सीता सीतयति तापत्रयनिवृतिं करोतीति सीता, तालव्यादिः, दन्त्यादिश्चायं शब्दः, **समानीता** अंगीकृता, रामेण इति शेषः, तथा तेनैव **मोहरावणो** मोहो मूलाज्ञानं जीवब्रह्मैक्यास्फुरणरूपं, स एव रावणो दशेन्द्रियदशमुखो, **निहतो** मारित, **आत्मारामेण** आत्मन्येव असंगसच्चिदानन्दरूप आरभते आक्रीडते इति आत्मारामः तेन, **रामेण** 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' इति श्रुत्युक्तलक्षणो रामो, रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामो, योगिनां च हृदि रमते स रामो, 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः ज्ञानिनो ब्रह्मरूपत्वप्रतिपादनाद् ब्रह्मणश्च सर्वयोगिनाम् आरामत्वप्रसिद्धेश्च सर्वयोगिशुद्धहृदयारामत्वाद् ज्ञानिरामेण मोहरावणं विनाश्य शान्त्याख्यसीतानयनं यत्राभिहितं **तत्** तादृशार्थदिव, **रामायणं** सर्वयोग्यारामभूतस्य ब्रह्मात्मनः, अयनं प्रापकं, मार्गभूतमित्यर्थः, **उत्तमं** श्रेष्ठं ज्ञेयं, नान्यल्लौकिकार्थवद् रामायणं श्रेष्ठमित्यर्थः।।४।।(६५७)

संसाररूपी समुद्र को पार न हो जायगा? (इस सम्भावना को दिखाने के लिये ही रामायण में हनूमान् वानर के समुद्रोल्लंघन का वर्णन है)।।२।।

पत्थर के पुल से समुद्र को पार करके (प्रकारान्तर से) राम ने लोगों को यह दिखाया है कि यदि तुम संसाररूपी समुद्र को पार करना चाहते हो तो निर्विकल्पसमाधि में पहुँचो और पत्थर जैसे निर्विकार हो जाओ।।३।।

योगियों के शुद्धहृदय में रमण करने वाले ज्ञानीरूपी राम ने शान्तिरूपी सीता को स्वीकार किया, (दशेन्द्रियरूपी दशमुखों वाले) मोहस्वरूप रावण को मारा, उस राम का जिसमें वर्णन हो वही उत्तम रामायण है।

यदि कोई आत्मप्रेमी मुमुक्षु शान्ति (निर्वासनता) रूपी सीता को अङ्गीकार कर ले, अज्ञानरूपी रावण को मार डाले तो बस यही सर्वश्रेष्ठ रामायण हो जाय।।४।।

रमन्ते योगिनो यस्मिन् रमते योगिनां हृदि।
तारकं ब्रह्म रामाख्यं रमतां हृदये मम।।५।।(६५८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां पुराणश्रवणनिर्णयान्तर्गतः रामायणश्रवणनिर्णयः तृतीयः।।

अथाष्टादशविद्यास्थाननिर्णयः

तदुक्तं याज्ञवल्क्यस्मृतौ

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।१।।(६५६)

एवं रामायणाभिप्रायमुक्त्वा तमेवार्थं सम्भावयितुं रामशब्दार्थं स्पष्टमाह **रमन्ते इति। योगिनो** जीवब्रह्मैक्यज्ञानवन्तो योगाभ्यासवन्तश्च, **यस्मिन्** ब्रह्मणि, **रमन्ते** क्रीडन्ति, तदेव **योगिनां** जीवब्रह्मैक्यज्ञानिनां, **हृदि** चेतसि, सर्वदा **रमते** क्रीडति, समाधिमतां च समाधिसमये रमते क्रीडति तत् **तारकं** ब्रह्म तारकः प्रणवः तद्वाच्यं देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यम् आत्मवस्तु, **रामाख्यं** प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म, उक्तार्थवत्त्वेन राम इत्याख्या यस्य तत्तथोक्तं ज्ञेयं, तद् **मम** मे, ब्रह्मात्मन इत्यर्थः, **हृदये** अन्तःकरणे, **रमतां** क्रीडतु, इति प्रार्थना।।५।।(६५८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतो रामायणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशस्तृतीयः।।

एवं रामायणतात्पर्यमभिधाय इदानीम् अष्टादशविद्यास्थानतात्पर्यं निर्णेतुम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयाख्यं सार्द्धसप्तषष्टिश्लोकं प्रकरणमारभमाण आह **अथेति। अथ** रामायणश्रवणनिर्णयानन्तरम् **अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयः** अष्ट च दश च अष्टादश यानि विद्यास्थानानि ज्ञानाश्रयभूतानि शास्त्राणि, तेषां निर्णयो विचारः, क्रियत इति शेषः। तत्र तावत् प्रथमं निरूपयिष्य-माणाष्टादशविद्यास्थानज्ञापिकां याज्ञवल्क्यस्मृतिं निरूपयितुमाह **तदिति। तद्** विद्यास्थाना-नामष्टादशत्वं **याज्ञवल्क्यस्मृतौ** याज्ञवल्क्यस्य स्मृत्याख्ये वाक्ये **उक्तं** कथितं, तामेव स्मृतिम् उदाहरति **पुराणेति। पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः** पुराणानि भागवतादीनि, न्यायो न्यायशास्त्रं गौतमप्रणीतं, मीमांसा कर्मकाण्डार्थनिर्णायको जैमिन्यादिरचितो ग्रन्थकदम्बः, धर्मशास्त्रं मन्वादिभिः संग्राहितो धर्मनिर्णायकः स्मृतिवाक्यकदम्बः, अंगानि षट् शिक्षाकल्प-व्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिषाख्यानि। तत्र पुराणं पञ्चलक्षणमित्युक्तेः सर्गप्रतिसर्गवंश-मन्वन्तरतद्वंश्यानुचरितनिरूपकाणि पञ्चलक्षणानि, न्यायः षोडशपदार्थविवेचको ग्रन्थः, एतैः मिश्रिता युक्ता, **वेदाः** चत्वारः अपौरुषेयवाक्यकदम्बरूपाः स्वतः प्रमाणभूता

जिस ब्रह्म में योग के (नये) अभ्यासी लोग सदा ही रमण (क्रीडा) करते रहते हैं, (समाधि के सिद्ध हो जाने पर तो) जो राम योगियों के हृदय में (स्वयं ही) क्रीडा करने लगता है वह राम नाम का तारक ब्रह्मतत्त्व मेरे हृदय में सदा ही क्रीडा किया करे।

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं चार्थशास्त्रकम्इति।।२।।(६६०)

तत्र प्रथमं पुराणनिर्णयः

न घना प्रीतिरुत्पन्ना पुराणपुरुषे यदि।
तदाष्टादशभेदेन पुराणश्रवणेन किम्।।१।।(६६१)

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्याः, एवं **चतुर्दश** चत्वारश्च दश च चतुर्दशसंख्यानि, **विद्यानां** ज्ञानानां, **धर्मस्य च** धर्मस्यापि, **स्थानानि** आधारभूतानि, मन्दिराणि इत्यर्थः, ज्ञेयानि इति शेषः।।१।।(६५९)

तथा **आयुर्वेद** आयुषो ज्ञानसाधनं चिकित्साशास्त्रं, **धनुर्वेदो** धनुषोपलक्षितसर्वशस्त्रास्त्रप्रयोगज्ञानसाधनं शास्त्रं, **गान्धर्वं** गानज्ञानसाधनं शास्त्रम्, **अर्थशास्त्रकं च** अर्थानां द्रव्यादीनां प्राप्तिज्ञानसाधनं शास्त्रं नीत्याख्यमेवं चत्वारि पूर्वचतुर्दशभिः सहितानि एतानि चत्वारि मिलित्वा अष्टादश भवन्तीति ज्ञेयानि।।२।।(६६०)

अथ पुराणनिर्णयः

एवमष्टादश विद्यास्थानानि अभिधाय इदानीं तानि क्रमेण निर्णेतुं प्रथमं पुराणनिर्णयाख्यं द्विश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **तत्रेति। तत्र** निरूपयिष्यमाणेषु अष्टादशविद्यास्थानेषु, **प्रथमम्** आदौ, **पुराणनिर्णयः** पुराणानां भागवतादीनां, निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः, तमेवाह **नेति। यदि** यर्हि, **पुराणपुरुषे** जरादिविकारहीनः सर्वजगतः प्राक्कालीनः पुरुषः परिपूर्णो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा तस्मिन्, **घना** निविडा, **प्रीतिः** प्रेमा, **नोत्पन्ना** न जाता चेत् **तदा** तर्हि, **अष्टादशभेदेन** अष्टादशसंख्याभेदभिन्नेन, **पुराणश्रवणेन** पुराणानां भागवतादीनां श्रवणेन कृतेनापि, **किं** फलं, न किमपीत्यर्थः, पुराणश्रवणं तत्प्रतिपाद्याखण्डैकरसे ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि प्रेमोत्पादनार्थं, तदभावे ईश्वरे वा, अतः तदभावे पुराणश्रवणं कृतमपि निष्फलप्रयास एवेति भावः।।१।।(६६१)

अब अठारह शास्त्रों का विचार किया जाता है

(सर्ग प्रतिसर्ग आदि को बताने वाले भागवतादि) पुराण (गौतमप्रणीत) न्यायशास्त्र, (जैमिनि की) मीमांसा, (मन्वादि) धर्मशास्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, ये चौदह शास्त्र तो धर्म और ज्ञान को जानने के लिये बनाये गये हैं। चिकित्साशास्त्र, धनुर्वेद, गानशास्त्र तथा अर्थशास्त्र ये चार शास्त्र और भी हैं। इन चारों को मिलाकर अठारह शास्त्र कहाते हैं।।१-२।।

पुराण अर्थात् जरा आदि विकारों के वश में न आने वाले पुरुष अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म का घन अर्थात् गहरा प्रेम यदि किसी के मन में उत्पन्न नहीं हुआ तो अठारह पुराणों के सुनने से क्या फल सिद्ध हुआ।।१।।

पुराणोऽपि न जीर्णो यः स पुराणस्तु न श्रुतः।
कायः पुराणतां प्राप्तः पुराणश्रवणेन किम्।।२।।(६६२)

इति बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां अष्टादशविद्यास्थानेषु पुराणनिर्णयः प्रथमः।।

अथ न्यायशास्त्रनिर्णयः

यदात्मतत्त्वे विमले विश्रान्तिरचला भवेत्।
स एव न्याय इत्युक्तः शेषं त्वन्यायलक्षणम्।।१।।(६६३)
अचिन्तनं पदार्थानां न्यायं न्यायविदो विदुः।
अन्यायमार्गरसिकः स कथं न्यायशास्त्रवित्।।२।।(६६४)

पुराणश्रवणशब्दार्थप्रतिपादनेनापि तमेवार्थं द्रढयति **पुराणोऽपीति। यः** पुराणेषु प्रतिपादितः, **पुराणोऽपि** सर्वजगत्कारणत्वेन जगतः प्राक्कालीनोऽपि, **न जीर्णो** जरादिविकारैः न विकृतः, **स तु पुराणो** लौकिकपुराण विलक्षणो, **न श्रुतः** पुराणश्रवणेन न वृत्तिगोचरीकृतः, किञ्च पुराणश्रवणं कुर्वतः तव **कायः** शरीरं, **पुराणतां** जीर्णतां, **प्राप्तो** यातः, तर्हि **पुराणश्रवणेन** अष्टादशभेदभिन्नपुराणानां श्रवणेन कृतेन, **किं** फलं सम्पादितं, न किमपि सम्पादितमित्यर्थः।।२।।(६६२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः पुराणनिर्णयार्थप्रकाशः प्रथमः।।१।।

एवं पुराणनिर्णयम् अभिधाय इदानीं क्रमप्राप्तं न्यायशास्त्रं निर्णेतुं न्यायशास्त्रनिर्णयाख्यपञ्चश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** पुराणनिर्णयानन्तरं, **न्यायशास्त्रनिर्णयो** न्यायशास्त्रस्य मुनिविहितस्य, निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। तमेव वेदान्तानुकूलं न्यायं लक्षयति **यदिति। यद्** येन या विवेकिनां प्रत्यक्षा **विमले** निर्मले, मायाविद्यादिमलरहित इत्यर्थः, **आत्मतत्त्वे** आत्मस्वरूपे तत्त्वे अनारोपिते वस्तुनीत्यर्थः। **अचला** स्थिरा, **विश्रान्तिः** विश्रामरूपा वृत्तिः, **भवेत्** स्यात्, **स एव** आत्मविश्रान्तिसाधनभूत एव, **न्याय इत्युक्तो** न्यायनाम्ना कथितो, विद्वद्भिरिति शेषः, **शेषं तु** तद्व्यतिरिक्तं न्यायशास्त्रम्, **अन्यायलक्षणम्** आत्मविश्रान्तिविघातकत्वाद् अन्यायस्य अपराधस्य, लक्षणं चिह्नं, ज्ञेयम्, अतः तन्मुमुक्षुभिः नांगीकार्यमिति भावः।।१।।(६६३)

सबसे पुराना होकर भी जो कभी जीर्ण (जरा आदि विकारों को प्राप्त) नहीं होता, पुराणों को सुनकर भी यदि ऐसे पुराणपुरुष क़ो किसी ने न समझा और इतने ही में उसका यह परिणामी शरीर पुराना हो गया तो फिर ऐसे पुराणश्रवण से भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा।।२।।

जब कि (अभ्यासक्रम के बढ़ने पर) विवेकी लोगों को निर्मल आत्मस्वरूप में स्थिर विश्राम मिलने लगे तो उसी को विद्वान् लोग सच्चा न्याय कहते हैं। इस प्रसिद्ध न्याय-शास्त्र को तो आत्मविश्रान्ति का विघातक होने से अन्याय किंवा अपराध ही समझना चाहिये।।१।।

स्वयं यत्तार्किकः प्राह तर्कोऽनिष्टप्रसञ्जनम्।
तत्तार्किकस्य तर्केण कथमिष्टं प्रसज्यते।।३।।(६६५)
न तर्कितं परं ब्रह्म मेधया तीक्ष्णतर्कया।
तदा कुतार्किकस्यास्य तर्ककर्कशता वृथा।।४।।(६६६)

ननु षोडशपदार्थविवेचकत्वेन आत्मविश्रान्तिफलकत्वान्न्यायशास्त्रस्य कथमन्यायत्वम् इत्याशंक्योक्तन्यायविदां तत्षोडशपदार्थचिन्तनमनिष्टमेव केवलात्मविश्रान्तिरेवेष्टेत्यन्यायत्वं तस्य इत्याशयेन आह **अचिन्तनमिति। न्यायविद** उक्तन्यायविदो वेदान्तानुकूलन्यायवेत्तार इत्यर्थः, **पदार्थानां** नामरूपमात्राणां षोडशपदार्थानाम्, **अचिन्तनम्** अस्मरणम्, अन्यानन्तरितमात्मस्फुरणमित्यर्थः, **न्यायं** नीतिं, **विदुः** जानीयुः। ननु तर्हि षोडशपदार्थविवेचनप्रधानन्यायशास्त्राभ्यासिनामेव न्यायशास्त्रवेत्तृत्वं कुत उच्यते लोके इत्याशंक्याह **अन्यायेति। स** षोडशपदार्थविवेचकन्याय-शास्त्राभ्यासी, **अन्यायमार्गरसिकः** अनात्मपदार्थनिर्णायकत्वाद् आत्मविश्रान्त्यभावाच्च अन्यायस्य अपराधस्य मार्गः प्राप्तिसाधनभूतः षोडशपदार्थविवेकः तत्र रसिकः रसज्ञः, अतः **कथं न्यायशास्त्रविद्** न्यायोपदेशकग्रंथज्ञः, कथं केन प्रकारेण भवति, नैव स न्यायशास्त्रवेत्तेत्यर्थः।।२।।(६६४)

किञ्च तेषां विरुद्धभाषित्वादपि तेषां मतं मुमुक्षुभिः नैव मन्तव्यमित्याह **स्वयमिति। यद्** यतः कारणात्, **तार्किकः** तर्कं वेत्ति स तार्किको गौतमः, **स्वयं** तर्कशास्त्रप्रणेतापि, **तर्कोऽनिष्टप्रसञ्जनम्** 'अनिष्टप्रसञ्जनवान् तर्क' इति तर्कलक्षणप्रतिपादकं सूत्रं, **प्राह** कथितवान्, **तत्** ततः कारणात्, **तार्किकस्य** इदानींतनतर्काभ्यासवतः, कृतेन **तर्केण** अनुमानेन, श्रुतिविरुद्धतर्केण इत्यर्थः, **इष्टं** मुमुक्षूणां मोक्षाख्यं प्रियं, सुखमित्यर्थः, **कथं** केन प्रकारेण, **प्रसज्यते** प्रसक्तं भवति, न कथमपीत्यर्थः, अतः श्रुतिविरुद्धं तर्कं परित्यज्य श्रुत्यर्थानुकूलतर्क एव आदरो विधेय इति भावः।।३।।(६६५)

ननु श्रुतिविरुद्धतर्कस्यैव कुतः त्याज्यत्वमित्याशंक्य; अनात्मगोचरत्वेन निष्फलश्रमत्वादित्याशयेनाह **नेति**। तार्किकेण **तीक्ष्णतर्कया** तीक्ष्णः अज्ञानभेदने तीव्रः, तर्कः अनुमानं, यस्याः सा तथोक्ता तया, **मेधया** धारणावत्या बुद्धिवृत्त्या, **परं ब्रह्म** कार्यकारणातीतं देशकालवस्तुकृत-

कोई भी पदार्थ बीच में याद न आए और निरन्तर आत्मचिन्तन की धारा बहने लगे, सकल पदार्थों के (इस) अचिन्तन को ही न्यायज्ञ लोग सच्चा न्याय कहते हैं। अन्यायमार्ग के रसिक उस नैयायिक को न्यायशास्त्री क्योंकर कहा जाय।।२।।

इसके अतिरिक्त तार्किक तो स्वयं ही अनिष्ट की प्रसक्ति (प्राप्ति) को तर्क कहता है। फिर भला यह कैसे सम्भव हो कि उस तार्किक के तर्कों (अनुमानों) से इष्ट अर्थात् मुमुक्षु लोगों का प्रिय आत्मसुख (किंवा मोक्ष जैसा दुर्लभपद) हाथ आ जाय? (अनिष्टप्रसक्ति से इष्टप्राप्ति असंभव है)।।३।।

षोडशापि पदार्थस्ते त्वया तार्किक तर्किताः।
तर्को नावस्थितस्तर्हि तर्कातीते मनः कुरु।।५।।(६६७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थान-निर्णयान्तर्गतो न्यायशास्त्रनिर्णयः द्वितीयः।।

अथ वैशेषिकादिनिर्णयः

अथ तर्कप्रसंगेन निर्णयः क्रियतेऽधुना।
वैशेषिकस्य सांख्यस्य तथा पातञ्जलस्य च।।१।।(६६८)

परिच्छेशून्यम् आत्मवस्तु, **तर्कितं न** तर्कगोचरं न कृतं यदा **तदा** तर्हि, **अस्य** षोडशपदार्थविवेचकस्य लोकप्रसिद्ध-तार्किकस्य, **कुतार्किकस्य** कुत्सितस्य तर्काभ्यासिनो, **वृथा** व्यर्थं, निष्फलेत्यर्थः, **तर्ककर्कशता** तर्के अनुमाने, कर्कशता कठोरता ज्ञेया।।४।। (६६६)

ननु षोडशपदार्थविवेचकस्य तर्कस्य कुतो नैष्फल्यमित्याशंक्य षोडशपदार्थविवेचनेऽपि तर्कानवस्थादोषसत्त्वादित्याह **षोडशेति।** हे **तार्किक** हे तर्कज्ञ, **त्वया** तर्काभिनिवेशवता भवता, **ते** तर्कशास्त्रे प्रतिपादिताः, **षोडश** षोडशसंख्याः, **पदार्थाः** तत्त्वानि, **तर्किता अपि** तर्कविषयीकृता यद्यपि, तथापि **तर्कः** अनुमानं, **नावस्थितः** अवस्थितिं न प्राप्तो यदि **तर्हि** तदा तादृशतर्कं परित्यज्य **मनः** चित्तं, **तर्कातीते** तर्कागोचरे आत्मनि विषये, **कुरु** स्थापय, मननवदन्तःकरणं तर्काभ्यासपरित्यागेन आत्मविषयमननेनात्मनि लीनं कुरुष्व इति भावः।।५।।(६६७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयप्रसञ्जिततर्कशास्त्रार्थप्रकाशो द्वितीयः।।

एवं न्यायशास्त्रनिर्णयमभिधाय इदानीं तत्प्रसंगाद् वैशेषिकसांख्यपातञ्जलानां निर्णयमभिदधान आह **अथेति। अथ** न्यायशास्त्रनिर्णयानन्तरं, **तर्कप्रसङ्गेन** तर्कस्य तर्कशास्त्रस्य, प्रसङ्गेन प्रसंगाद्, **अधुना** इदानीं, **वैशेषिकस्य** षट्पदार्थविवेचनप्रधानस्य शास्त्रस्य, तथा **सांख्यस्य** सम्यक्ख्यायन्ते प्रकथ्यन्ते तत्त्वानि प्रकृत्यादीनि अस्मिन्निति सांख्यं तस्य, यद्वा तत्त्वानां संख्या पञ्चविंशतिषड्विंशत्यष्टाविंशत्याद्याः तत्प्रतिपादकत्वात् संख्यं संख्या अस्मिन् सन्तीति व्युत्पत्या

तीक्ष्ण अर्थात् अज्ञान का नाश करने में समर्थ तर्क करने वाली मेधा से यदि परब्रह्म की तर्कणा न कर ली तो हम समझते हैं, कि इस कुतार्किक की तर्क शास्त्र में प्रवीणता वृथा ही रही।।४।।

हे तर्कशास्त्रिन्, तुम अभी तक सोलह पदार्थों का ही अन्वेषण कर चुके हो। परन्तु तुम्हारा यह तर्क तो आज तक भी चरमावस्था को पाकर अवस्थित नहीं हो पाया है। (अभी तो न जाने कितने पदार्थ तर्कशास्त्रियों को अन्वेषण करने शेष रह गये हैं)। इसीलिये ऐसे अनिश्चित तर्क को छोड़कर तर्कातीत (तर्क की हद में न आनेवाले) आत्मतत्त्व में अपने मन को लय कर दो किंवा लगा दो।।५।।

तत्र प्रथमं वैशेषिकनिर्णयः

सविशेषाः पदार्था ये तत्र वैशेषिकः कृती।
निर्विशेषं परं ब्रह्म तत्र वैशेषिकस्य किम्।।१।।(६६९)
मुक्तं साधर्म्यवैधर्म्यैस्तत्त्वज्ञानं हि मुक्तये।
साधर्म्यवैधर्म्यकृतं तत्त्वज्ञानं न मुक्तये।।२।।(६७०)

मतुबर्थे अर्श आद्यच्, ततः स्वार्थे अण्, **तथा पातञ्जलस्य च** तद्वत् पतञ्जलिप्रोक्तस्य योगशास्त्रस्य, **निर्णयो** विचारः, **क्रियते** निरूप्यते, एतेषां तर्कस्य चाङ्गाङ्गित्वात् तर्कप्रसंगात् एतन्निर्णयः कथ्यते इति भावः।।१।। (६६८)

तत्रादौ अष्टश्लोकं वैशेषिकनिर्णयाख्यं प्रकरणं वक्तुकाम आह **तत्रेति। तत्र** प्रतिज्ञातेषु मध्य, आदौ **प्रथमं, वैशेषिकनिर्णयो** वैशेषिकस्य विशेषनिरूपणप्रधानस्य शास्त्रस्य, निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः, तत्रादौ सविशेषपदार्थनिरूपण एव कुशलो वैशेषिको न निर्विशेष-ब्रह्मनिरूपणे इत्याह **सविशेषा इति। ये** संसारे प्रसिद्धाः, **सविशेषा** विशेषेण वैलक्षण्येन सह वर्त्तमानाः, **पदार्थाः** पदानि नामानि, अर्थाः तद्वाच्यानि रूपाणि, **तत्र** तत्रैव तेषु पदार्थेषु, **वैशेषिको** वैशेषिकशास्त्राभिनिवेशवान् कणादाद्यः पुरुषः **कृती** कृतकृत्यो भवेदिति शेषः नान्यत्र ब्रह्मणि इत्यर्थः। कुतो ब्रह्मणि वैशेषिकाविषयत्वं? तत्राह **निर्विशेषमिति**। अस्माकं मुक्त्यर्थिनां त्विष्टं **परं** कार्यकारणत्वधर्मरहितं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितम् आत्मवस्तु, **निर्विशेषं** निर्गतो निवृत्तो विशेषो भेदो यतः तत् तथोक्तमस्ति, अतः **तत्र** तस्मिन् ब्रह्मणि विषये, **वैशेषिकस्य** वैशेषिकशास्त्रस्य तज्ज्ञस्य वा, **किं** किं कार्यं, न किमपि कार्यं तत्र तस्येत्यर्थः।।१।।(६६९)

ननु तत्त्वज्ञानं वैशेषिके निरूप्यते, भवतोऽपि इष्टं तत्त्वज्ञानं अतो वैशेषिकस्य सप्रयोजनत्वमस्तु इत्याशंक्याह **मुक्तमिति। साधर्म्यवैधर्म्यैः** सह वर्त्तते धर्मैः तत्सधर्मं, तस्य भावः साधर्म्यं, विगतो धर्मो यस्मात् तद्विधर्मं, तस्य भावो वैधर्म्यं धर्मरहितत्वं, तैः, **मुक्तं** हीनं, **तत्त्वज्ञानं** तत्त्वस्य अनारोपितस्य आत्मतत्त्वस्य, ज्ञानं वेदनं, **हि** प्रत्यक्षं तद्विवेकिनां, **मुक्तये** मोक्षाय, मुक्तिं प्राप्तुं साधनं भवति, **साधर्म्यवैधर्म्यकृतं** साधर्म्येण वैधर्म्येण च कृतम् उत्पादितम्, यत् **तत्त्वज्ञानं** साधर्म्यवैधर्म्यविशिष्टतत्त्वानां षट्पदार्थानां, ज्ञानं वेदनं, **मुक्तये** मोक्षाय, **न** न भवति, अतो वैशेषिकमते मुमुक्षुभिः आदरो न कर्तव्य इति भावः।।२।।(६७०)

तर्कशास्त्र के प्रसंगवश अब वैशेषिक सांख्य तथा योग शास्त्र का भी विचार किया जाता है।।१।।

'विशेष' नामक धर्मवाले पदार्थों का विवेचन कर लेने पर वैशेषिक अपने आपको कृतकृत्य समझ बैठता है। परन्तु (उसे यह तो पता ही नहीं कि मुक्ति के कामियों की चाह का मुख्य केन्द्र) ब्रह्म तो निर्विशेष (सकल विशेषों से रहित) है उसमें तो इस बिचारे वैशेषिक की पहुँच ही नहीं है।।१।।

श्रुतिः सर्वपदार्थानां विस्मृत्या मुक्तिमाह यत्।
तर्हि सर्वपदार्थानां चिन्तनैः किं प्रयोजनम्।।३।।(६७१)
कथं साधर्म्यवैधर्म्ये तत्त्वज्ञानस्य कारणम्।
न च साधर्म्यवैधर्म्यमद्वये परमात्मनि।।४।।(६७२)
पदार्थानां विवेकेन परमात्मा प्रकाशते।
इति चेद् वदसि प्राज्ञ तर्हीदं मम संमतम्।।५।।(६७३)

वैशेषिकमते मुमुक्षुभिः अनादरणीयत्वे हेत्वन्तरमाह **श्रुतिरिति। यद्** यतः कारणात्, **श्रुतिः** वेदवाक्, **सर्वपदार्थानां** सर्वपदवाच्यानां द्वैतजातवस्तूनां, नामरूपाणाम् इत्यर्थः। **विस्मृत्या** अननुसन्धानेन, **मुक्तिं** मोक्षम्, **आह** वदति, **तर्हि** तदा, **सर्वपदार्थानाम्** अस्माकं श्रुतिप्रामाण्यानां मुमुक्षूणां सर्वपदवाच्यद्वैतवस्तुजातानां, वैशेषिकनिरूपितपदार्थानाम् इत्यर्थः। **चिन्तनैः** विचारैः, **किं प्रयोजनं** किं फलं, न किमपि इत्यर्थः, अतो वैशेषिकमतस्य मुमुक्षूणां प्रयोजनाभावाद् अनादरणीयत्वमेव निश्चितमिति भावः।।३।।(६७१)

ननु साधर्म्यवैधर्म्ययोः तत्त्वज्ञानकारणत्वात् तत्प्रतिपादकत्वेन वैशेषिकस्य सप्रयोजनत्वम् अस्तु इत्याशंक्य अस्मदीयतत्त्वे साधर्म्यवैधर्म्याभावाद् वैशेषिकस्य अप्रयोजनत्वमित्याशयेन आह **कथमिति। साधर्म्यवैधर्म्ये** साधर्म्यं सह धर्मधर्मिभाववत्त्वं, वैधर्म्यं तद्रहितत्वं चैते उभे, **तत्त्वज्ञानस्य** मोक्षसाधनभूतस्य पारमार्थिकतत्त्वज्ञानस्य, **कारणं** हेतुः, **कथं** केन प्रकारेण भवतः, न कथमपि इत्यर्थः। कुत इत्यत आह **न चेति। अद्वये** न विद्यते द्वयं भेदो यत्र तस्मिन् तथाभूते, **परमात्मनि** कार्यकारणातीत आत्मवस्तुनि, **साधर्म्यवैधर्म्यं** सहधर्मवत्त्वं समानधर्मवत्त्वं च, वैधर्म्यं धर्मरहितत्वं विरुद्धधर्मवत्त्वं च, तयोः समाहार एकवद्भावः, **न च** अस्ति नैवास्ति, अतो वेदान्तप्रतिपाद्ये ब्रह्मणि साधर्म्य-वैधर्म्याभावान्न वैशेषिकस्य तत्र सप्रयोजनत्वमिति भावः।।४।।(६७२)

ननु आत्मतत्त्वविवेचनोपयोगितयैव षट्पदार्थविवेचनमस्माभिः क्रियते अतः सप्रयोजनत्वं वैशेषिकस्य अस्तु? इत्याशंक्य; तदाऽस्मदानुकूल्याद् वैशेषिकसिद्धान्तभङ्गेऽस्माकम् इष्टमेव तदित्याशयेन आह **पदार्थानामिति। पदार्थानां** वैशेषिकप्रतिपादितानां षट्पदार्थानां नामरूपात्मकानां,

साधर्म्य और वैधर्म्य से रहित तत्त्वज्ञान ही मुक्ति का कारण होता है। साधर्म्यविधर्म्यवाले तत्त्वज्ञान से मुक्ति नहीं मिलेगी। (मुक्ति तो साधर्म्यवैधर्म्यहीन अनारोपित आत्मतत्त्व के ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है।।२।।

सकल पदार्थों के भूल जाने से मुक्ति का लाभ होता है ऐसा श्रुति में बार-बार कहा है तब वैशेषिक के बताये हुए सकल पदार्थों के विचार से क्या फल हाथ लगेगा!।३।।

अद्वय आत्मवस्तु में तो साधर्म्य-वैधर्म्य का निशान भी नहीं है फिर भला साधर्म्य-वैधर्म्य का ज्ञान पारमार्थिक तत्त्वज्ञान का कारण किस तरह हो सकता है (मुक्ति किस तरह मिल सकती है)।।४।।

बद्धमुक्तव्यवस्थायां नानात्मानो न वस्तुतः।
नानात्मानो व्यवस्थान इत्याह मुनिगौतमः।।६।।(६७४)
कल्पनागौरवं दोषः कल्पनालाघवं गुणः।
इति यत्तार्किकैरुक्तं तदेव मम रोचते।।७।।(६७५)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां अष्टादशविद्यास्थानान्तर्गतः वैशेषिकनिर्णयः तृतीयः।।

विवेकेन विवेचनेन भिन्नत्वज्ञानेन, **परमात्मा** कार्यकारणत्वहीन आत्मा, **प्रकाशते** स्फुटं प्रतीतो भवति, अतो वेदान्तानुकूल्याद् वैशेषिकमतम् अंगीकार्यम्, **इति** एवं, वदसि कथयसि, चेद् यदि, **तर्हीदं मतं** मम मुमुक्षोः, **संमतम्** इष्टमेव, न त्वयं वैशेषिकसिद्धान्तः किन्तु अस्मदीय एवेति भावः।।५।।(६७३)

ननु वैशेषिकैः तार्किकैश्च नानात्मत्वं प्रतिपाद्यते वेदान्तिभिस्तु तद्विरुद्धमैकात्म्यमतः कथमविरोध इत्याशंक्य; व्यवहारदशायां बद्धमुक्तव्यवस्थायै नानात्मत्वस्य तैः अंगीकृतत्वाद्, वेदान्तिभिरपि व्यावहारिकनानात्मत्वस्य मायिकस्यांगीकृतत्वात् पारमार्थिकमैकात्म्यमुभाभ्यामपि सिद्धान्तितमतो न विरोध इत्याशयेनाह **बद्धमुक्तेति। बद्धमुक्तव्यवस्थायां** बद्धानां मुक्तानां च व्यवस्था मर्यादा, तस्यां निमित्तभूतायां सत्यां, तन्निमित्तमित्यर्थः। **नानात्मानो** नाना अनेके, आत्मानो जीवाः सन्ति, **वस्तुतः** परमार्थतो, **न** अनेके सन्तीत्यर्थः। इति एवं तार्किकाणां वैशेषिकाणां च मतं तद्वेदान्तिनाम् अपि अनुकूलमिति भावः। ननु तार्किक-वैशेषिकयोर्मते बद्धमुक्तव्यवस्थायामेव नानात्मत्वं न परमार्थत इति कुतो ज्ञातं भवता इत्याशंक्य; गौतमप्रणीतसूत्रादेव इत्याशयेन गौतमसूत्रोदाहरणेन गौतमाशयं प्रदर्शयति **नानात्मान इति। नानात्मानो** नाना बहवो, आत्मानो जीवाः सन्ति, **व्यवस्थाने** व्यवस्थानं व्यवस्था, बद्धमुक्तानां मर्यादा इत्यर्थः, तस्मिन्, तन्निमित्तमित्यर्थः। 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इतिवद् निमित्ते सप्तमी, **इति** एवं, **मुनिगौतमो** मुनिः मननवान्, गौतमनाम ऋषिः, **आह** प्रोक्तवान्, अतोऽस्माभिः ज्ञातमिति भावः।।६।।(६७४)

किञ्च तेषां मते कल्पनालाघवं साध्यते तदपि तेषां कल्पनागौरवमेव सिद्ध्यति। वेदान्ते तु मायांगीकारे कल्पनालाघवं सिद्ध्यति अतः तेषामपि मायातत्त्वांगीकार इष्ट एवेति वेदान्तांगीकारः कर्तव्य इत्याशयेनाह **कल्पनेति। कल्पनागौरवं** कल्पनानां गौरवमाधिक्यं, **दोषः** अचातुरी, **कल्पनालाघवं** कल्पनानां लाघवं न्यूनत्वं, **गुणः** चातुर्यम्, **इति** एवं, **यत्** प्रसिद्धं, **तार्किकैरुक्तं**

पदार्थों के विवेक से (आत्मानात्मविवेक में सहायता मिलती है तब उससे) परमात्मा का प्रकाश (ज्ञान) हो जाता है यदि ऐसा वैशेषिक का कहना हो तो यह तो हम मानते ही हैं।।५।।

यह व्यावहारिक बद्धमुक्तव्यवस्था देखकर ही उन्होंने अनेक आत्मा मान लिये हैं गौतम मुनि का कहना है कि "बद्धमुक्त की व्यवस्था बैठाने के लिये हमें आत्माओं को नाना मानना चाहिये"।।६।।

न्यायशास्त्रविद्भिः कथितमेव केवलं न तु अंगीकृतं मायांगीकारं विना तन्न न सिद्ध्यति इति भावः। **मम** तु मायातत्त्वांगीकर्तुः, **तदेव** कल्पनालाघवमेव, **रोचते** इष्टं भवति, अतः तर्कवैशेषिकमतादरं परित्यज्य वेदान्त एव आदरो विधेय इति भावः।।७।।(६७५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतो वैशेषिकनिर्णयार्थप्रकाशः तृतीयः।।

अथ सांख्यनिर्णयः

असंख्याः सांख्य तत्त्वानां संख्याः संख्यातवानसि।
किं सांख्यसंख्यया ब्रह्म संख्यातीतं विचिन्तय।।१।।(६७६)

एवं वैशेषिकनिर्णयमभिधाय इदानीं प्रसंगप्राप्तं सांख्यनिर्णयाख्यं चतुःश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथेति। अथ** वैशेषिकनिर्णयानन्तरं, **सांख्यनिर्णयः** सांख्यस्य सांख्याभिधशास्त्रस्य, निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। तत्र तावत् प्रथमं संख्यातीतस्य ब्रह्मणः केवलतत्त्वसंख्यामात्रनिर्णायकसांख्यविषयत्वाभावात् सांख्यस्य निष्फलश्रमत्वं देशयति **असंख्या इति।** हे **सांख्य** सम्यक् ख्यायन्ते प्रकथ्यन्ते तत्त्वानि अस्मिन् तत्सांख्यं तद्वेत्ति अधीते वा सांख्यः तस्य सम्बोधने हे सांख्य! त्वं **तत्त्वानां** प्रकृतिपुरुषादीनाम्, **असंख्या** न विद्यन्ते संख्या गणना यासां ताः **तथोक्ताः, संख्या** गणनाः पञ्चविंशति-षड्विंशत्यादिरूपाः, **संख्यातवान्** निरूपितवान्, **असि** विद्यसे, तर्हि **सांख्यसंख्यया** सांख्यशास्त्रनिरूपितया संख्यया गणनया, **किम्** अस्माकं मुमुक्षूणां किं फलं, न किमपि फलमित्यर्थः। अतः सांख्यस्यापि निष्फलश्रमत्वात् सांख्यादरं परित्यज्य ब्रह्मचिन्तने प्रवर्तितव्यमिति सांख्यं प्रेरयति **ब्रह्मेति।** त्वं **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितम् आत्मवस्तु, **विचिन्तय** स्मर। ननु सांख्यविचारेणापि ब्रह्मैव चिन्त्यते इति चेद्? नेत्याह **संख्यातीतमिति। संख्यातीतं** सांख्योक्तसंख्यया विषयीकृतं न भवति ब्रह्म अतः सांख्यस्य निष्प्रयोजनश्रममात्रत्वात् तत् त्यक्त्वा परं ब्रह्मैव चिन्तनीयमिति भावः।।१।।(६७६)

कल्पनाओं की अधिकता मूर्खता तथा कल्पनाओं की न्यूनता ही चतुरता है। तार्किकों की सिर्फ एक यही बात मुझे पसंद आई है।

(परन्तु यह केवल उनके कहने की ही बात है, इसके अनुसार उनका आचरण नहीं है, उन्होंने अनेक पदार्थों की कल्पना कर डाली है। माया को स्वीकार किये बिना कल्पनालाघव बन ही नहीं सकता। मायावादी को तो यही कल्पनालाघव पसन्द है। मायावाद को स्वीकार करने पर कल्पना तो स्वयमेव न्यून हो जाती है)।।७।।

हे सांख्य! तैने तो (प्रकृति पुरुषादि) तत्त्वों की असंख्य गिनतियाँ गिन डाली हैं! उन संख्याओं से क्या होगा? हे सांख्यमतानुयायिन्! आ, तू भी संख्यातीत ब्रह्म का चिन्तन कर।।१।।

तत्त्वज्ञानं त्वया प्रोक्तं तत्त्वज्ञानं मतं मम।
तत्त्वातीतस्य विज्ञानं तत्त्वज्ञानं हि मुक्तये।।२।।(६७७)
पुरुषस्य परीक्षार्थं मया संख्या निरूपिता।
सांख्य एवं यदि प्राह तर्हीदं मम संमतम्।।३।।(६७८)
पुरुषान्नपरं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।
पुरुषं पश्य रे सांख्य संख्यया किं प्रयोजनम्।।४।।(६७९)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थानान्तर्गतः सांख्यनिर्णयः चतुर्थः।।

ननु तत्त्वज्ञानं मोक्षसाधनत्वेन भवतामपीष्टं सांख्यं च तत्त्वज्ञानप्रतिपादकं तत्कुतः सांख्यं नांगीक्रियते भवद्भिरित्याशंक्याह **तत्त्वज्ञानमिति।** हे सांख्य **त्वया** भवता, **तत्त्वज्ञानं** तत्त्वानां प्रकृतिपुरुषादीनां, ज्ञानं बोधनं, **प्रोक्तं** कथितं, **मम** मे मुमुक्षोः, **तत्त्वज्ञानं** तत्त्वबोधनमेव, **मतम्** इष्टं, तथापि त्वत्प्रतिपादितं तत्त्वज्ञानम् न मोक्षसाधनम्। तर्हि तत्कीदृशं मोक्षसाधनं तत्त्वज्ञानं? तत्राह **तत्त्वातीतस्येति। तत्त्वातीतस्य** तत्त्वेभ्यो भवदुक्तप्रकृतिपुरुषादितत्त्वेभ्यः, अतीतस्य भिन्नस्य, तत्त्वास्पृष्टस्य इत्यर्थः। **विज्ञानम्** अनुभवः, **तत्त्वज्ञानं** तत्त्वस्य अनारोपितस्वरूपस्य जीवब्रह्मैक्यलक्षणस्य, ज्ञानं बोधनम् अस्माकम् इष्टं, तदेव **मुक्तये** मुक्त्यर्थं भवति न त्वत्प्रोक्तं मुक्तये तत्त्वज्ञानं भवतीत्यर्थः। अतः तद् नांगीक्रियते अस्माभिः इति भावः।।२।।(६७७)

ननु तत्त्वविवेचनं पुरुषज्ञानार्थम् अस्माभिः कृतमित्याशंक्यांगीकरोति **पुरुषस्येति। पुरुषस्य** प्रकृतिविकृतिविलक्षणस्यासंगस्यात्मनः; तदुक्तम्

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'।।इति।।

परीक्षार्थं ज्ञानार्थं, **मया** सांख्यशास्त्रप्रणेत्रा, **संख्या** तत्त्वानां प्रकृत्यादीनां पञ्चविंशतिषड्विंशत्याद्या, **निरूपिता** प्रतिपादिता **एवम्** अनेन प्रकारेण, **यदि** यर्हि, **सांख्यः** सांख्यशास्त्रप्रणेता कपिलः, तदध्ययनवान् तज्ज्ञो वा अन्यः कोऽपि, **प्राह** वक्ति, **तर्हि** तद्, **इदं** वचनं, सांख्यापसिद्धान्तापातेन त्वंपदार्थशोधनमात्रोपयोगितया च **मम** मुमुक्षोः, **संमतम्** इष्टं भवति, भवान् सांख्यसिद्धान्तं परित्यज्य वेदान्त आगत इति भावः।।३।।(६७८)

हे सांख्य, तू भी तत्त्वज्ञान की चर्चा करता है, मैं भी तत्त्वज्ञान को ही मानता हूँ, परन्तु तू पहले यह तो समझ ले कि तत्त्वातीत अर्थात् तत्त्वों से बहिर्भूत (अस्पृष्ट) ब्रह्म का ज्ञान ही सच्चा तत्त्वज्ञान कहाता है वही मुक्ति को दिला सकता है। (तेरे बताये तत्त्वों के ज्ञान से मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं हो सकता)।।२।।

पुरुष की पहचान के लिये मैंने संख्याओं का प्रतिपादन किया है ऐसा यदि सांख्यानुयायियों का कहना हो तो इस बात से हम मुमुक्षु लोग सहमत हैं। (परन्तु

अथ पातञ्जलनिर्णयः

योगसिद्धिप्रसक्तोऽयं पातञ्जलपरिश्रमः।
कलाकौशलमेवेदं न स्वरूपस्थितिर्हि सा।।१।।(६८०)

तत्रैव अभिनिवेशो न कर्तव्य इत्याह **पुरुषादिति। पुरुषाद्** असंगसच्चिदानन्दपरिपूर्णरूपाद् आत्मनः, **परं** श्रेष्ठं, **किञ्चित्** किमपि, **न** न विद्यते, सैव **काष्ठा** सर्वसुखावधिरूपा **सा** उक्तलक्षणा, **परा** उत्कृष्टा, **गतिः** स्थितिः ज्ञेया, **रे** संख्यायाम् अभिनिवेशित्वाद् नीचसम्बोधनं, त्वं **पुरुषं** परिपूर्णरूपम् आत्मानं **पश्य** अवलोकय, तं त्यक्त्वा **संख्यया** तत्त्वानां गणनया, **किं प्रयोजनं** किं फलं, न किमपि इत्यर्थः। अतः संख्याभिनिवेशेन व्यर्थश्रमो न कर्त्तव्य इति भावः।।४।।(६७९)

एवं सांख्यनिर्णयमभिधाय इदानीं पातञ्जलयोगं निर्णेतुं पातञ्जलनिर्णयाख्यं दशश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** सांख्यनिर्णयानन्तरं, **पातञ्जलनिर्णयः** पतञ्जलिना प्रोक्तं पातञ्जलं शास्त्रं, तस्य निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। पातञ्जलमित्यत्र 'तेन प्रोक्तम्' इति सूत्रेण अण्। तत्रादौ योगसिद्धिप्रसक्त्या श्रमहेतुत्वे मुमुक्षूणाम् आदरं त्याजयितुं पातञ्जलस्य तदर्शयति **योगसिद्धीति। अयं** पतञ्जलिप्रोक्तो योगाख्यः परिश्रमः सर्वकालं श्रम एव यतो **योगसिद्धिप्रसक्तो** योगानां धारणाविशेषाणां सिद्धय आकाशगमनाद्याः तासु प्रसक्तः अत्यासक्तः अतः **पातञ्जलपरिश्रमः** पातञ्जले पतञ्जलिप्रोक्ते शास्त्रे परिश्रम एव केवलं ज्ञेयो, न तत्रोक्तसाधनैः मोक्ष इति भावः। तर्हि किं तत्रत्यसाधनैः भवति इत्याशंक्याह **कलेति। इदं** पातञ्जलं, **कलाकौशलमेव** कलासु योगसिद्धिषु, कौशलं कुशलत्वं, चातुर्यमात्रं केवलमित्यर्थः, **सा** कुशलता, **न स्वरूपस्थितिः** स्वस्यात्मनो रूपं तस्य स्थितिः, तदाकारा स्थितिरित्यर्थः, न भवति, **हि** एतद्विवेकिनां प्रसिद्धम्।।१।।(६८०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः सांख्यनिर्णयार्थप्रकाशः चतुर्थः।।

इससे सांख्य का अपसिद्धान्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में सम्पूर्ण सांख्य का त्वंपदार्थ को समझाने में ही उपयोग समझना चाहिये)।।३।।

पुरुष अर्थात् परिपूर्ण आत्मा से श्रेष्ठ कुछ भी पदार्थ इस संसार में नहीं है वह ही सम्पूर्ण सुखों की अन्तिम भूमिका (हद) है, वही परागति अर्थात् ज्ञानप्राप्य सर्वोत्तम स्थिति है। हे सांख्य! अपने इस संख्या के झगड़े को छोड़कर परिपूर्ण आत्मदेव के दर्शन कर। इस गणना से तेरे हाथ क्या लगता है!।४।।

पतंजलि मुनि का यह योग तो केवल श्रममात्र है क्योंकि यह आकाशगमनादि सिद्धियों में फँसा देता है। यह तो एक प्रकार की कलाकुशलता है। इस परिश्रम से किसी को आत्मस्थिति किंवा स्वरूपस्थिति का लाभ नहीं हो सकता।।१।।

रे योगसिद्ध जीवानां कायव्यूहो न दुर्लभः।
विदेहमुक्तता सिद्धिः कायव्यूहो न सिद्धये।।२।।(६८१)
हे योगसिद्ध जानासि परकायप्रवेशनम्।
परं तु नैव जानासि परकायप्रवेशनम्।।३।।(६८२)

कायव्यूहसिद्धिप्रसक्त्या योगाभ्यासप्रसक्तं प्रत्याह **रे योगसिद्धेति। रे योगसिद्ध** रे इति नीचसम्बोधने योगसिद्धिप्रसक्तत्वाद् नीचत्वं हे योगसिद्धयासक्त! **जीवानां** जीवत्वं प्राप्तानां, **कायव्यूहः** कायानां देहानां, व्यूहः समूहो, **न दुर्लभो** न दुष्प्राप किन्तु सुलभ एवेत्यर्थः। ननु योगाभ्यासेन विना जीवानां कायव्यूहो दुर्लभ एवेति चेद्? न; भ्रमजन्यस्वाप्नमानोरथिप्रपञ्चादावनन्तदेहानां तदीयत्वेन दर्शनाद्, जाग्रत्प्रपञ्चस्यापि विचारदृष्ट्या हिरण्यगर्भस्वप्नत्वात्तैजसहिरण्यगर्भयोरभिन्नत्वस्य पारमार्थिकत्वात्, स्वप्नत्वस्य तुल्यत्वे कायव्यूहत्वसिद्धेः सुलभत्वं कायव्यूहस्य जीवानामिति भावः। ननु तर्हि तत्र तत्र वेदान्ते तत्त्वज्ञानात् सिद्धिरवाप्यत इति उच्यते तत्कथं सिद्धिः निन्द्यते भवद्भिरिति चेत्? तत्राह **विदेहति। विदेहमुक्तता** देहरहितत्त्वेन ब्रह्मरूपतया स्थितिरेव, **सिद्धिः** सिद्धिशब्देनाभिहिता वेदान्ते, **कायव्यूहः** शरीरसमूहधारणेनानेकभोगभोगो, **न सिद्धये** मुक्तये न भवतीति तत्र तत्र वेदान्ते निश्चितमिति भावः।।२।।(६८१)

एवं कायव्यूहसिद्धिं विदूष्येदानीं परकायप्रवेशरूपां सिद्धिं दूषयन् परकायप्रवेशसिद्धीच्छया योगाभ्यासासक्तं प्रत्याह **हे योगसिद्धेति। हे योगसिद्ध** हे योगधारणया सिद्धंमन्य! त्वं **परकायप्रवेशनं** परेषाम् अन्यप्राणिनां, कायेषु देहेषु, प्रवेशनं प्रवेशयुक्तिं, **जानासि** वेत्सि। तथापि अयम् अभिमान एव तव। परकायप्रवेशनं नैव वेत्सि। कुत इत्यत आह **परंत्विति। परन्तु** तथापि, त्वं **परकायप्रवेशनं** परं परमात्मानं कायति वक्ति भागलक्षणया उपदिशति इत्यर्थः। तत्परकायं महावाक्यजातं तत्त्वमस्यादिरूपं तस्मिन् दृढमोक्षेच्छया प्रवेशनं तदर्थावगाहनं यद्वा परकायेन महावाक्योपदेशेन प्रवेशनं प्रवेशः अर्थाद् आत्मनि इति अवगन्तव्यं तद्, **नैव जानासि** नैव वेत्सि इति मन्ये अहम्।।३।।(६८२)

हे योगसिद्ध! कायव्यूह अर्थात् एक समय में अनेक जीवित देह धारण कर लेना (और उनसे एक काल में अनेक स्थानों में अनेक भोग भोगना) यह कौन कठिन काम है और असली सिद्धि तो विदेह मुक्ति ही है। कायव्यूह से सिद्ध नहीं मिलती।

जहाँ तू अभी तक एक देह में बद्ध था वहाँ अब अनेक देहों में बद्ध हो गया। सोचकर देख, यह सिद्धि नहीं, यह तो बन्ध हुआ। सिद्धि तो विदेह मुक्ति ही है।।२।।

हे योगसिद्ध! तू परकायप्रवेश (दूसरे जीवों के मृत किंवा जीवित शरीरों में प्रवेश करने की युक्ति) तो जानता है परन्तु सच्चे अर्थों में परकायप्रवेश (अर्थात् परब्रह्म के सच्चिदानन्दरूप शरीर में प्रवेश कर जाना किंवा उसमें लीन हो जाना) तुझे नहीं आता (इस हमारे परकायप्रवेश से तुझे सच्ची शान्ति मिल जाती)।।३।।

भूतादयोऽपि जानिन्त परकायप्रवेशनम्।
सा सिद्धिर्नैव बन्धः सा यद्धि कायप्रवेशनम्।।४।।(६८३)
अवश्यं मरणं तर्हि कीदृशी चिरजीविता।
जन्ममृत्युजराध्वंसि त्वं विज्ञानामृतं पिब।।५।।(६८४)

ननु मास्तु महावाक्यद्वारा आत्मनि प्रवेशनम् अन्यशरीरप्रवेशरूपा सिद्धिस्तु वर्त्तते एव मम इत्याशंक्याह **भूतादय इति। भूतादयो** भूताः पिशाचा आदयो मुख्या येषां ते रोगज्वरादयोऽपि आदिशब्देन ग्राह्याः ते परकायप्रवेशनं परेषामन्यप्राणिनां कायेषु प्रवेशनं प्रवेशयुक्तिं **जानन्ति** विन्दन्ति तद्र्योनिप्रापकेन क्षुद्रकर्मणापि तादृशयोनिप्राप्त्या सा स्यादेव अतः तदर्थं महांश्चित्तावरोधयोगरूपः प्रयासो नैवापेक्षितोऽतः तयैव न कृतार्थता इति भावः। ननु परकायप्रवेशरूपा सिद्धिः योगफलमेव अतः कुतो भवद्भिः निन्द्यते इति चेत्? तत्राह **सेति। यत्** प्रसिद्धं, **कायप्रवेशनं** काये शरीरे प्रवेशनं प्रवेश इति, **सा** कायप्रवेशरूपा नैव सिद्धिः नैव मुक्तिः भवति किन्तु सा परकायप्रवेशरूपा, **बन्धो** बन्धनमेव भवति, **हि** प्रसिद्धमिदं सर्वशास्त्रेषु विवेकिषु च, अतः परकायप्रवेशसिद्धि-साधनभूतयोगधारणासक्तिं परित्यज्य मोक्षसाधनभूते वेदान्तश्रवणादावेव प्रवर्तितव्यमिति भावः।।४।।(६८३)

एवं परकायप्रवेशादरं परित्याज्य चिरजीवितसिद्धिकारणभूतयोगधारणासक्तं प्रत्याह **अवश्यमिति।** हे योगसिद्ध, यत्र चिरजीवने **अवश्यं** निश्चयेन, **मरणं** मृत्युः भवति, **तर्हि** तदा, सा **चिरजीविता** बहुकालं जीवनता, **कीदृशी** कथं सिद्धा, न कथमपि इत्यर्थः। यथा जन्मतो मरणान्तं रुग्णस्य समाशतं जीवनमपि न तज्जीवनत्वेन गृह्यते विवेकिभिः, ऐहिकपारलौकिकभोगसाधनकर्माचरणाशक्त्या मरणतुल्यत्वात्, तथा मरणभीत्या योगधारणायां स्थितः सन् चिरजीवित्वं साधितं तत्रापि अन्ते अवश्यं मरणे सिद्धे निरन्तरं तत्प्रतीत्या तद्भयेन निरन्तरं धारणायामेव स्थितस्य ऐहिकभोगसाधनव्यवहारे प्रवृत्त्ययोगेन भोगाभावाद्, योगधारणायाश्च चिरजीवित्वसिद्धिफलकत्वे चरितार्थत्वात् तस्या अन्यलोकभोगफलकत्वाभावाच्च, तदन्यधर्मादिसाधनाचरणासिद्धेश्च पारलौकिकभोगाभाववत्त्वं, तस्या मोक्षसाधनश्रवणाद्यनुष्ठानासिद्धेश्च एतादृशचिरजीवित्वस्य चिररुग्णत्वसाम्यात् चिरमरणमेव तदिति ज्ञात्वा तस्मिंस्तद्धारणायां च अनादरो मुमुक्षुभिः कर्तव्य इति भावः। ननु तर्हि मरणनिवृत्तेरेव मोक्षत्वाद् मोक्षस्य च भवतामपि इष्टत्वात् चिरजीवित्वं भवतामपि इष्टम् अतः कुतो निन्द्यते तत्राह **जन्मेति। त्वं** भवान्, **जन्ममृत्युजराध्वंसि** जन्म

(तुम्हारे जैसा तुच्छ) परकायप्रवेश तो भूत पिशाच आदि किंवा ज्वर मूर्छादि रोग भी जानते हैं। (इन क्षुद्रयोनियों को प्राप्त कराने वाला कोई थोड़ा-सा पाप कर लेने पर ये योनियाँ किसी को भी प्राप्त हो सकती हैं और इस प्रकार यह सिद्धि थोड़े ही प्रयत्न से मिल सकती है। इतने तुच्छ कार्य के लिये चित्तनिरोधरूपी बड़ा प्रयास क्यों किया जाय?) यह परकायप्रवेश कोई सिद्धि नहीं यह तो (दो शरीरों का दुहरा) बन्धन है।।४।।

परचित्तस्थितं वस्तु त्वया ज्ञातं ततश्च किम्।
स्वचित्तसंस्थितं वस्तु परं ब्रह्म विलोकय।।६।।(६८५)

सदद्वैतानृतद्वैतयोः-अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यारोपरूपम् अन्योन्यधर्मारोपरूपं चेति लक्षितं जन्म, तथा मृत्युरपि विवेकेन सदद्वैतानृतद्वैतयोः विवेचनेन पृथक्त्वावलोकनरूपं मरणमिति लक्षितो मृत्युः, लोकप्रत्यक्षे जन्ममरणे वा, जरा वार्धक्यं, तेषां विध्वंसि नाशकं, **विज्ञानामृतं** विज्ञानं जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्काररूपं, तदेवोभयलक्षणमरणनिवर्त्तकत्वाद् अमृतमिवामृतं मोक्षरूपं, तदेव अस्माकम् इष्टं तत्त्वं, **पिब** प्राशय, अंगीकुरु इत्यर्थः। मुमुक्षूणाम् इष्टो मरणनिवृत्तिरूपो मोक्षो ज्ञानेनैव साध्यः स एव अत्यन्तमरणनिवृत्तिरूपः परमपुरुषार्थरूपः न तु एकदेशिकया कयाचिद् योगधारणया चिरजीविताऽतस्तदादरं परित्यज्य मुमुक्षुभिः वेदान्तश्रवणादिषु एव आदरः कर्तव्य इति भावः।।५।। (६८४)

एवं चिरजीवितसाधनभूतयोगधारणां विदूष्य इदानीं परचित्तस्थितवस्तुज्ञानरूपसिद्धिसाधन-धारणारतं प्रत्याह **परेति। त्वया** हे योगिन् भवता धारणावता, **परचित्तस्थितं** परेषाम् अन्यप्राणिनां चित्तानि अन्तःकरणानि तेषु स्थितं चिन्त्यतया वर्त्तमानं, **वस्तु** पदार्थजातं, **ज्ञातम्** अवबुद्धं, **ततश्च** ततो ज्ञानादपि तव, **किं** किं फलं, न किमपीत्यर्थः। परमात्मनः अन्यत् कल्पितं चित्तं तत्रत्यं वस्त्वपि कल्पितम् अतः तत् सर्वेषमपि अस्ति अतः तावन्मात्रेण कृतार्थता नैव मन्तव्या तदर्थं महान् योगरूपः प्रयासश्च नैव कर्तव्य इति भावः। तर्हि किं कर्तव्यमिति अत आह **स्वेति। स्वचित्तसंस्थितं** स्वस्य चित्तम् अन्तःकरणं तत्र संस्थितं, **वस्तु** सत्यरूपं, **परं ब्रह्म** कार्यकारणत्वरहितं देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यात्मस्वरूपं, **विलोकय** साक्षात् पश्य, स्वतः पृथक्तया भ्रान्तिसिद्धं समष्टिव्यष्ट्यन्तःकरणं तत्र स्थितभ्रमरूपजगद्विषयकज्ञानस्यापि भ्रमरूपत्वाद् अस्माकं तेनापि प्रयोजनम् नास्ति तर्हि तदेकदेशव्यष्ट्यन्तःकरणस्थपरचित्तस्थितवस्तुज्ञानरूपसिद्ध्या प्रयोजनं नास्तीति किं

हे योगसिद्धि! यदि (मृत्यु के डर से योगधारणा में बैठ कर) तू कुछ अधिक समय तक जी भी गया तो भी कभी तो मरना ही होगा। इससे तेरी निरर्थक चिरजीविता से तैने क्या लाभ उठाया? यदि सच्चे, कल्याण की इच्छा हो तो जन्म मृत्यु तथा वार्धक्य को समूल नष्ट करने वाले विज्ञानामृत का पान करलो (उसी से सच्ची चिरजीविता मिलेगी)।

यदि कोई रोगी पुरुष सौ वर्ष जी जाय परन्तु लौकिक पारलौकिक कोई भी कार्य न कर सकने से जैसे उसका जीना मरणतुल्य है ऐसा ही तेरा चिरजीवन भी निरर्थक ही है। उससे न तो तुझे सांसारिक भोग ही मिलेंगे और न मुक्ति ही प्राप्त होगी; तेरा योग तो तुझे चिरजीवी बना कर कृतकृत्य हो जायगा। योगधारण में बैठे रहने से तू अगले जन्मों के लिये पुण्यों का उपार्जन भी न कर सकेगा और मोक्ष के साधन श्रवण आदि भी न कर सकेगा।।५।।

निकटस्थस्यात्मनश्चेन्न स्याच्छ्रवणदर्शनम्।
का सिद्धिः सा तु या सिद्धिर्दूरश्रवणदर्शनम्।।७।।(६८६)
भवन्ति वायसादीनामपि खेचरतादयः।
सिद्धिभिर्नैव सिद्ध्येत सिद्धिभिः किं प्रयोजनम्।।८।।(६८७)

वक्तव्यम्, अतः तदादरं परित्यज्य स्वचित्तबाधेन स्वचित्तस्थितब्रह्मसाक्षात्कारसाधनेषु वेदान्तश्रवणादिषु एव आदरो मुनिभिः कर्त्तव्य इति भावः।।६।।(६८५)

इदानीं दूरश्रवणदर्शनाख्यसिद्धिसाधनभूतधारणाभ्यासरतं प्रति आह **निकटेति**। अत्यन्तान्याव्यवहितत्वाद् **निकटस्थस्य** अतिसमीपवर्तिन, **आत्मनः** स्वात्मनः स्वात्मवस्तुनः, **श्रवणदर्शनं** श्रवणमिति उपलक्षणं मनननिदिध्यासनयोः, तद्द्वारा दर्शनं च साक्षात्कारः, तयोः समाहार एकवद्भावः, **न स्यात् चेद्** न भवेद् यदि, तर्हि **या तु** योगशास्त्रे प्रसिद्धा, **दूरश्रवणदर्शनं** दूरस्थपुरुषाद्युच्चारितशब्दानां श्रवणं, तथा दूरस्थितपदार्थानां दर्शनम् अवलोकनं चेति, **सिद्धिः** विभूतिः अस्ति, **सा का** न सा **सिद्धिः,** गणनार्हेत्यर्थः। दूरश्रवणदर्शनरूपसिद्ध्योः अनात्मविषयत्वेन मिथ्यात्वात् तदभ्यासस्य च व्यर्थश्रमत्वात् तदादरं परित्यज्य आत्मविषयकवेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनेषु एव प्रयत्नःकर्तव्यो नान्यत्र इति भावः।।७।।(६८६)

एवं दूरश्रवणदर्शनाख्ये सिद्धी प्रत्याख्याय इदानीम् आकाशगमनाख्यसिद्धीच्छया तत्साधनभूतयोगधारणाभ्यासासक्तं प्रति आह **भवन्तीति। खेचरतादयः** खेचरता आकाशगतित्वमादिः येषाम् अन्तर्धानप्रभृतीनां ताः तथोक्ताः, ताः सिद्धयो, **वायसादीनामपि** वायसः काक आदिः येषां श्येनभासगरुडादीनां तेषामपि विना योगधारणां, **भवन्ति** प्राप्नुवन्ति, काकादीनामपि विना योगधारणाम् आकाशगमनसिद्धेः, अपि शब्दाद् भूतादीनामपि विना योगधारणाम् अन्तर्द्धानादिसिद्धेः प्रत्युत तेषां योनिप्राप्तेरविहितकर्मफलत्वेन तुच्छत्वाद् न तत्रादरो मुमुक्षुभिः विधेय इति भावः। एवमेव सर्वसिद्धीनामपि निष्प्रयोजनत्वं दर्शयति **सिद्धिभिरिति। सिद्धिभिः** पातञ्जलोक्ताभिः आकाशगमनादिरूपसिद्धिभिः, **नैव सिद्ध्येत** नैव निश्चयेन मुच्यते, मुमुक्षूणाम् अस्माकं **सिद्धिभिः** परकायप्रवेशादिरूपाभिः सिद्धिभिः, **किं प्रयोजनं** किं फलं, न किमपि इत्यर्थः।।८।। (६८७)

यदि तुमने (योगबल से) दूसरों के चित्त की बातों को भी जान लिया तो भी उससे क्या (महाफल सिद्ध) होगा? उसके लिये इतने बड़े योगरूपी पुरुषार्थ की आवश्यकता ही क्या? (तुम्हारा परम हित तो इसी में है कि) तुम अपने ही चित्त में रहने वाले ब्रह्म का दर्शन करलो (उससे तुम्हें कुछ शान्ति का लाभ हो)।।६।।

सबसे अधिक समीपवर्ती आत्मा का ही यदि श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर लिया जाय तो दूरश्रवण और दूरदर्शन ये कुछ सिद्धि नहीं हैं, ये तो व्यर्थ परिश्रम हैं।।७।।

न सिद्धिर्योगसिद्धिर्हि बलवीर्यादिसिद्धिकृत्।
'एतेन योगः प्रत्युक्त' इति वेदान्तभाषितम्।।९।।(६८८)
सिद्धिरात्मपरिज्ञानमन्तरायास्तु सिद्धयः।
इति चेद् योगवित् प्राह मतमस्माकमेव तत्।।१०।।(६८९)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतः पातञ्जलनिर्णयः पञ्चमः।।

ननु योगसिद्धिरेव मुक्तिः सा तु भवतामपि इष्टा अतः कुतः सा निन्द्यत इत्याशंक्याह **नेति। हि** यस्मात् कारणाद् **योगसिद्धिः** योगधारणाभिः या सिद्धिः जायते सा, **न सिद्धिः** न मुक्तिः, वेदान्ते मुक्तिरेव सिद्धिपदेनोक्ता, न आकाशगमनादिरूपोक्ता सिद्धिशब्देन इत्यर्थः। सा योगसिद्धिस्तु योगधारणया या सिद्धिः जाता सा **बलवीर्यादिसिद्धिकृद्** बलं च शरीरदार्ढ्यं, वीर्यं च शुक्रभूयस्त्वं प्रतापभूयस्त्वं च, ते आदिनी येषाम् अन्तर्धानोध्वरितस्त्वादीनां, तेषां सिद्धिः प्राप्तिः, तस्याः कृत् कर्त्री भवति, न तु मुक्तिकृद् इत्यर्थः। अतो मुमुक्षुभिः तत्रासक्तिः नैव कार्या इति भावः। ननु योगप्रत्याख्यानं स्वकपोलकल्पितत्वाद् अप्रमाणम् इत्याशंक्य तत्र श्रीबादरायणसूत्रं प्रमाणयति **एतेन इति।** 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' **एतेन** सांख्यप्रत्याख्यानेन, **योगो** योगसिद्धान्तः, **प्रत्युक्तः** प्रत्याख्यातो, न पृथक् प्रयासः कर्त्तव्य इति भावः। **इति** एवं, **वेदान्तभाषितं** वेदान्ते उपनिषदर्थसंग्राहके शारीरकसूत्रेषु मध्ये, भाषितं कथितम्, अस्ति इति शेषः। अतो योगमतखण्डनमिदं मुमुक्षुभिः प्रमाणपूर्वकम् अस्ति इति ज्ञेयम् इति भावः।।९।।(६८८)

खेचरता अर्थात् आकाशगमनादि सिद्धियाँ तो (योगधारणा के बिना ही) पक्षियों को भी प्राप्त होती हैं इन सिद्धियों की प्रसक्ति से जन्ममरण से छुटकारा प्राप्त नहीं हो सकता तो फिर ये सिद्धियाँ निरर्थक ही हैं।

(कुछ थोड़ा-सा पापकर्म करके काक आदि बनकर भी जो खेचरता प्राप्त की जा सकती है उसको ही यदि तुमने योग जैसी अमूल्य तथा दुर्लभ वस्तु की सहायता से सिद्ध कर पाया है तो हम कहेंगे कि इन सिद्धियों से क्या? ऐसी बन्धक सिद्धियों से मुक्ति का परम पद किसी को हाथ आनेवाला नहीं है, ये सिद्धियाँ तो ऐन्द्रजालिक लोगों के काम आने वाली हैं)।।८।।

योगधारणा से जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनमें शरीर के बल वीर्य प्रताप आदि तो बढ़ जाते हैं परन्तु उनसे मुक्ति जैसी पवित्र वस्तु सिद्ध होनी असम्भव है इसी अभिप्राय से व्यासमुनि ने वेदान्तशास्त्र में योग का खण्डन किया है किंवा योगविषय के प्रयास को निषिद्ध बताया है।।९।।

अथ मीमांसानिर्णयः

कष्टं कर्मेत्ययं न्यायो मतो मीमांसकस्य चेत्।
आत्मनः क्लेशभागित्वं तेनैवांगीकृतं तदा।।१।।(६९०)

ननु आत्मज्ञानमेव सिद्धिपदवाच्यं योगशास्त्रे प्रतिपादितम् अन्यसिद्धयः तत्साधनभूता धारणाविशेषाच्च तत्तज्ज्ञानपूर्वकं तत्त्यागाय एव इत्याशंक्य एतच्च मतं वेदान्तानुकूल्याद् अस्माकमिष्टमेव इति योगसिद्धान्तापहतिरित्याशयेनाह **सिद्धिरिति। आत्मपरिज्ञानम्** आत्मनो ब्रह्माभिन्नस्य प्रत्यगात्मनः, परिज्ञानं बोधः, स एव **सिद्धिः** सिद्धिशब्देनोक्तः, **सिद्धयस्तु** तदन्याऽऽकाशगमनादिरूपाः सिद्धयः, **अन्तराया** आत्मज्ञानस्य विघ्नरूपाः सन्ति, अतः ताः तत्र तज्ज्ञानपूर्वं तत्त्यागायैव अभिहिता इति भावः। **इति** एवं, **योगविद्** योगतात्पर्यवेत्ता कश्चित्, **प्राह** वक्ति, **चेद्** यदि, तर्हि इदं तदा इदं **मतं** मम वेदान्तिनः संमतम् इष्टं न तु योगसिद्धान्तः स इति भावः।।१०।।(६८९)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयप्रकाशान्तर्गतः पातञ्जलनिर्णयार्थप्रकाशः पञ्चमः।।

एवं पातञ्जलनिर्णयम् अभिधाय इदानीं मीमांसानिर्णयम् अभिधातुं मीमांसानिर्णयाख्यं सप्तश्लोकं प्रकरणमभिधास्यन्नाह **अथेति। अथ** पातञ्जलनिर्णयानन्तरं, **मीमांसानिर्णयो** मीमांसाया निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। तत्र तावत्प्रथमं तन्मताग्राह्यत्वज्ञापनाय तन्मौढ्यं दर्शयति **कष्टमिति। कष्टं कर्मेत्ययं** कर्म क्रिया, कष्टं दुःखरूपम् अस्तीति शेषः, अयम् उक्तः प्रत्यक्षो, **न्यायः** सिद्धान्तो, **मीमांसकस्य** मीमांसाशास्त्रज्ञस्य जैमिनेः, **मत** इष्टः, **चेद्** यदि भवेत्, **तदा** तर्हि, **आत्मनः** स्वस्य कर्मकर्तृत्वाभिनिवेशवतः, **क्लेशभागित्वं** दुःखभोक्तृत्वं, **तेनैव** मीमांसकेनैव कोशकारक्रिम्यादिनेव, **अंगीकृतं,** भवेदिति शेषः। सर्वशास्त्रेषु सुखस्यैव इष्टत्वेन प्रतिपादनात् सर्वजनेषु सुखस्यैव इष्टत्वेन अनुभूयमानत्वाच्च अहो मीमांसकस्य अतीव मौढ्यं सिद्धं यतः कर्मणो दुःखरूपत्वं निश्चित्य तस्यैव इष्टत्वेन अंगीकरणमिति। तत् तस्यापि मूर्खत्वम् अन्येषामपि तद्वचनविश्वासेन तत्र प्रवृत्तानामपि मूर्खत्वमेवेति न तत्रादरो मुमुक्षुभिः कर्त्तव्य इति भावः।।१।। (६९०)

सच्ची सिद्धि तो आत्मबोध ही है। (आकाशगमन अन्तर्धानादि) सिद्धियाँ तो सच्ची सिद्धि के विघ्न हैं। उन विघ्नों से बचने के लिये (साधकों की जानकारी के लिये) योग में सिद्धियों का वर्णन किया गया है, ऐसा यदि योगी लोग कहें तो यह हमें सम्मत है।।१०।।

यज्ञादि कर्म बड़े कष्टसाध्य (दुःखरूप) हैं यह मन्तव्य यदि मीमांसक का हो तो उसने स्वयं ही (प्रकारान्तर से) कर्म करनेवाले को क्लेश का भागी मान लिया ।।१।।

मीमांसकः सत्यमाह कष्टं कर्मेति कर्मवित्।
तर्हि तस्यापि जिज्ञास्यं ब्रह्मानिष्टनिवृत्तये।।२।।(६६१)
कर्मणा संभवेज्जन्म जन्मना कर्मसंभवः।
तर्हि कर्मजडस्यास्य जन्ममुक्तिः कथं भवेत्।।३।।(६६२)

ननु तर्हि कष्टं कर्मेति वदतः कोऽभिप्राय इत्याशंक्याह **मीमांसक इति। मीमांसको** मीमांसाशास्त्रप्रणेता जैमिनिः **कष्टं कर्मेति** कर्म क्रिया, कष्टं दुःखमेव केवलम् अस्ति, इति एवम्, **आह** कथितवान् यत् तत् **सत्यं** तथ्यम् एव, नानृतमित्यर्थः। यतोऽसौ जैमिनिः **कर्मवित्** कर्मणः क्रियाया वेत्ता ज्ञाता अस्ति, कर्मारम्भकाले दुःखं प्रसिद्धमेव सर्वेषां फलं च दुःखरूपं जन्ममरणरूपं तत्र भोगानामपि अप्राप्तौ तत्प्राप्तौ च तद्रक्षणन्यूनत्वनाशस्वतोन्यभोगाधिक्यदर्शनादिभिः दुःखमेव इति तत्र आदरो न कर्त्तव्य इति अयमाशयो जैमिनेरिति भावः। तर्हि तदा कर्मणो दुःखरूपत्वे ज्ञाते सति **तस्य** मीमांसकस्यापि, मुमुक्षूणां किं वाच्यम् इति अपेरर्थः; **अनिष्टनिवृत्तये** अनिष्टस्य निवृत्तये नाशाय, परमानन्दप्राप्त्या सर्वदुःखानि नाशयितुमित्यर्थः, ब्रह्म भूमशब्दवाच्यं परमानन्दरूपं ब्रह्म केवलं, नान्यत्कर्म वा तत्फलं च वा, **जिज्ञास्यं** जिज्ञासितुं योग्यम्, अस्ति इति शेषः। अतो मुमुक्षुभिः कर्ममीमांसायां नैवादरः कर्त्तव्य इति भावः।।२।।(६६१)

ननु कर्मणो विषयजन्यसुखसाधनत्वेन इष्टत्वं स्वतो दुःखरूपत्वेऽपि अस्तु अतः तत्र आदरो विधेय एव इत्याशंक्य जन्ममरणादिरूपकर्मफलस्य अतीव दुःखरूपत्वेन सर्वजनेषु अनुभूयमानत्वाद् विषयाणामपि तत्फलभूतानां दुःखग्रस्तत्वेन दुःखरूपत्वाच्च, स्वतोपि दुःखरूपत्वात् कर्मणो नादरविषयता इत्याशयेन आह **कर्मणेति। कर्मणा** विहितनिषिद्धादिरूपया क्रियया, **जन्म** जननं, मरणस्यापि एतदुपलक्षणं, **संभवेत्** स्यात्, ततश्च **जन्मना** धृतेन, **कर्मसम्भवः** कर्मणां विहितनिषिद्धादिरूपाणां क्रियाणां, संभव उत्पत्तिः, भवतीति शेषः। **तर्हि** जन्ममरणरूपदुःखफलत्वेन, कर्मणः स्वतोऽपि दुःखरूपत्वे सिद्धे तत्रैव अभिनिवेशवतो मीमांसकस्य मौर्ख्यस्य अतिशयात् **कर्मजडस्य** कर्मणि

कर्म को जानने वाले जैमिनि मुनि ने ठीक ही कहा है कि कर्म केवल दुःखरूप है। हमारी सम्मति में तो सर्वदुःखों के नाश (तथा परमानन्द की प्राप्ति) के लिये मीमांसकों को भी परमानन्दस्वरूप एक ब्रह्म ही जानने की चीज है (इसलिये मुमुक्षुओं को कर्ममीमांसा की कुछ आवश्यकता नहीं)।

यज्ञादि कर्म के आरम्भ में दुःख तो प्रसिद्ध ही है। उसका फल जन्ममरणरूप दुःख, जीवन में भी भोगों की अप्राप्तिरूप दुःख, प्राप्त होने पर भी उनकी रक्षारूपी दुःख, भोगों की न्यूनतारूपी दुःख, भोगों का नाश हो जाना दुःख, किसी को अपने से अधिक भोगसम्पन्न देखकर ईर्ष्यारूपी दुःख, इस प्रकार कर्म तो सर्वथा दुःखस्वरूप ही है। जैमिनि का गूढ तात्पर्य तो यही प्रतीत होता है कि लोग ऐसे कर्मों को छोड़ दें।।२।।

मुक्तिप्राधान्यमेवास्ति बोधप्राधान्यवादिनाम्।
जन्मप्राधान्यमेवास्ति कर्मप्राधान्यवादिनाम्।।४।।(६६३)
यः स्वयं कर्मजाड्येन यज्ञेष्वनधिकारतः।
निष्काममशुचिप्रायं जगाद स कथं शुचिः।।५।।(६६४)

इष्टानिष्टज्ञानशून्यत्वेन प्रवृत्तस्य, **अस्य** मीमांसकस्य, **जन्ममुक्तिः** जन्ममरणरूपाद् दुःखाद्, मुक्तिः मोक्षः, **कथं** केन उपायेन, **भवेत्** स्यात्, न केनापि इत्यर्थः।।३।।(६६२)

ननु कर्मणो जन्मफलकत्वं कुतो ज्ञातम् इत्याशंक्य ज्ञानकर्मणोः मोक्षजन्मफलकत्वस्य सिद्धान्तितत्वाद् इत्याशयेन आह **मुक्तीति। बोधप्राधान्यवादिनां** बोधस्य जीवब्रह्मैक्यज्ञानस्य, प्राधान्यं मुक्तिहेतुत्वाद् मुख्यत्वं वदितुं शीलं येषां ते तथोक्ताः तेषां 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (पा.सू. ३। २। ७८।)' इति णिनिः, तेषां **मुक्तिप्राधान्यं** मुक्तेः मोक्षस्य, प्राधान्यं मुख्यत्वम्, **अस्ति** विद्यते, न तु जन्मप्राधान्यम् इत्यर्थः। तथा **कर्मप्राधान्यवादिनां** कर्मणः क्रियायाः, प्राधान्यं मुख्यत्वं, ये वदन्ति तच्छीलानाम्, अत्रापि णिनिः, तेषां **जन्मप्राधान्यं** जन्मनो जननस्य, प्राधान्यं मुख्यत्वम्, **अस्ति** विद्यते।।४।।(६६३)

ननु मीमांसकैः यज्ञाद्यनधिकारिणां निष्कामकर्मणि ज्ञाने वा अधिकार इत्युच्यते। तथाहि
'ये काणबधिरा मूका अन्धपङ्ग्वादयश्च ये।
तेषां निष्कामकर्माणि ज्ञानं वापि विधीयते'।।

इत्यादिना? इत्याशंक्य आह **य इति। स्वयं** मीमांसकः, **कर्मजाड्येन** कर्मणि क्रियायां यज्जाड्यं मौढ्यं तेन कृत्वा अन्धादीनां **यज्ञेषु** सोमचयनादिषु, **अनधिकारतः** अधिकाराभावाद्, व्यङ्गत्वेन **निष्कामं** कामनारहितम्, **अशुचिप्रायं** स्वतः प्रायशः अशुद्धम् अन्धाद्यधिकारेण तदित्येवं, **जगाद** कथितवान्, **स** कर्मजडः, **कथं** केन प्रकारेण, **शुचिः** शुद्धः स्याद्, न कथमपि इत्यर्थः। अन्तःकरण-शोधककर्मणि अनादरेण न कथमपि शुद्धो भवेदिति भावः।।५।।(६६४)

(विहित और निषिद्ध) कर्मों के करने से जन्म और मरण होते ही रहेंगे। जन्म मिलने पर फिर (विहित या निषिद्ध) कर्म हो ही जाते हैं ऐसी अवस्था में अपने भले बुरे को न पहचानने वाले कर्म के अन्धभक्त का जन्ममरणरूप दुःख से छुटकारा कैसे होगा।।३।।

जो लोग बोध को प्रधानता देते हैं उनकी दृष्टि में मुक्ति ही मुख्य है। परन्तु जो लोग कर्म की प्रधानता मानते हैं उनके मत में तो जन्ममरणरूपी यह संसार ही सब कुछ होता है।।४।।

मीमांसक लोग अपनी कर्मजडता के वश में आकर जिन अंगहीन पुरुषों को अंगहीन होने से कर्म में अधिकार नहीं होता, उनके लिये निष्काम धर्मों को बताते तथा निष्काम धर्मों को अशुद्ध कह डालने का दुःसाहस भी कर बैठते हैं। कर्म के जडभक्त

शुद्धिकृत्कामनिर्मुक्तं कर्म मीमांसितं वदेत्।
तत्काम्यकर्ममीमांसा केवलं कष्टरूपिणी।।६।।(६६५)
कर्मभिश्चेतसः शुद्धिः शुद्ध्या विज्ञानमाप्यते।
इति चेत् कर्मठः प्राह तर्हीदं मम संमतम्।।७।।(६६६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतः मीमांसानिर्णयः षष्ठः।।

ननु कर्मणाम् अन्तःकरणशोधकत्वाद् अस्माभिरपि तत्रैव सर्वेषां रुचिम् उत्पादयितुं तदाग्रहः क्रियते इत्याशंक्य, एतदस्मदनुकूलमेव इत्याशयेन कष्टं कर्मेति न्यायस्य केवलकाम्यकर्मविषयत्वं सिद्धान्तयति **शुद्धिकृदिति। कामनिर्मुक्तं** कामनावर्जितं, **कर्म** वर्णाश्रमविहितं कर्म, **शुद्धिकृद्** अन्तःकरणशोधकं भवति, अतः तदेव अस्माभिः **मीमांसितं** विचारितमिति, **वदेद्** ब्रूयात् चेत् **तत्** तर्हि, **केवलं** निष्कामकर्मवर्जिता, **काम्यकर्ममीमांसा** काम्यकर्माभिशंसकं शास्त्रं, **कष्टरूपिणी** दुःखरूपैव सिद्धा। काम्यकर्माणि ज्योतिष्टोमपुत्रेष्ट्यादीनि पारलौकिकैहलौकिकसुखसाधनभूतानि ज्ञेयानि तेषां मीमांसा विचारप्रक्रिया; अतः तदादरं परित्यज्य मुमुक्षुभिः अन्तःकरणमलनिवृत्तिमात्रसाधनं कर्म नित्यनैमित्तिकरूपम् अंगीकार्यम् इति भावः।।६।।(६६५)

निष्कामकर्मणः अन्तःकरणशुद्धिद्वारा मोक्षसाधनज्ञानप्रापकत्वप्रतिपादनेन वेदान्तानुकूल्यं प्रतिपादयति **कर्मभिरिति। कर्मभिः** स्वस्ववर्णाश्रमविहिताभिः क्रियाभिः, **चेतसः** अन्तःकरणस्य, **शुद्धी** रागादि-मलनिवृत्त्या विचारयोग्यत्वरूपा निर्मलता, जायते इति शेषः। तया च **शुद्ध्या** अन्तःकरणमलनिवृत्त्या, **विज्ञानं** जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्काररूपमहं ब्रह्म अस्मीति ज्ञानम्, **आप्यते** प्राप्यते, **इति** एवं, **कर्मठो** मीमांसकः, **प्राह** वदति, **चेद्** यदि, **तर्हि** तदानीम्, **इदं** भाषणम्, **मम** मे वेदान्तिनः, **संमतम्** इष्टं, जातमिति शेषः। अस्माकं वेदान्तिनामेव अयं सिद्धान्तो न तु मीमांसासिद्धान्तः। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इत्यादिश्रुतेः, 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय' इत्यादिस्मृतेश्च इति भावः।।७।।(६६६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतो मीमांसानिर्णयार्थप्रकाशः षष्ठः।।

वे मीमांसक लोग किस प्रकार शुद्ध हो सकते हैं? (क्योंकि वे तो अन्तःकरणशोधक कर्मों में श्रद्धा ही नहीं रखते। ऐसी अवस्था में वे उनका आचरण कैसे करेंगे और शुद्ध कैसे होंगे?)।।५।।

अन्तःकरण के शोधक, कामनारहित, तथा वर्णाश्रमविहित कर्मों का ही हमने विचार किया है, ऐसा यदि मीमांसक लोग कहें, तो उनके इस मत से शेष मीमांसा का भाग जिसमें काम्यकर्मों का निरूपण किया गया है केवल दुःखरूप रह जाता है। (उस भाग को छोड़ कर अन्तःकरण को शुद्ध करनेवाले नित्य नैमित्तिक कर्म ही मुमुक्षु को करने चाहिये)।।६।।

अथ धर्मशास्त्रनिर्णयः

धर्मशास्त्रविचारेण मोक्षधर्मो महाफलः।
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।।१।।(६८७)

एवं मीमांसानिर्णयम् अभिधाय इदानीं धर्मशास्त्रं निर्णेतु धर्मशास्त्रनिर्णयाख्यं द्विश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** मीमांसानिर्णयानन्तरं, **धर्मशास्त्रनिर्णयो** धर्मशास्त्रस्य निर्णयो विचारः, क्रियत इति शेषः, तत्र तावद् धर्मशास्त्र-विचारेणापि फलबाहुल्याद् अनायासेन कर्तुं शक्यत्वाद् अकरणे प्रत्यवायाभावाच्च मोक्षधर्मस्यैव श्रैष्ठ्यं दर्शयति **धर्मशास्त्रेति। धर्मशास्त्रविचारेण** धर्मशास्त्रस्य धर्मप्रतिपादक-शास्त्रस्य, विचारेण विवेकेन कृतेन, **मोक्षधर्मो** मोक्षसाधनभूतो निष्कामधर्मो, **महाफलो** महद् बहु, मोक्षरूपं फलं प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः अस्ति, अतः तस्य श्रेष्ठत्वमिति भावः। निष्कामधर्मस्य श्रैष्ठ्ये हेत्वन्तरमाह **नेति। इह** मोक्ष-साधनभूते धर्मे, **अभिक्रमनाशः** अभिक्रमस्य पौर्वापर्यक्रमस्य, नाशो विघातः, अभिक्रमनाशजन्यो दोष इत्यर्थः। **नास्ति** न विद्यते, अन्यत्र काम्यधर्मेषु क्रमविधाते धर्मनाशः अतः ततः अस्य श्रैष्ठ्यम् इति भावः। हेत्वन्तरमपि आह **प्रत्यवाय इति**। इह इति अनुवर्तनीयम्, इह मोक्षधर्मे, **प्रत्यवायः** अकरणे दोषो, **न विद्यते** नैवास्ति इत्यर्थः। तथा च गीतायामपि भगवतोक्तम्

'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयाद्।' इति।

अतः अत्रैव आदरो मुमुक्षुभिः विधेय इति भावः।।१।।(६८७)

(स्ववर्णाश्रमविहित) कर्मों के अनुष्ठान से चित्त (के रागादि मल निवृत्त होकर उस) में शुद्धि (अर्थात् आत्मविचार कर सकने की योग्यता) आ जाती है उससे विज्ञान जैसी पवित्र वस्तु का लाभ होता है; यदि मीमांसक का यह कहना हो तो यह तो हमारा ही सिद्धान्त है।

उपनिषद् में कहा ही है कि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' गीता में भी कहा है कि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'। वेदानुवचन यज्ञ, दान और स्ववर्णाश्रमविहित कर्मों से अपने चित्त को पवित्र करके उस परब्रह्म को जानना चाहते हैं। जनकादि राजर्षि लोग कर्मों के द्वारा चित्त को शुद्ध करने के अनन्तर ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।।७।।

धर्मशास्त्र का पूर्वापर विचार करने पर हमें तो मोक्ष (का साधन निष्काम) धर्म ही महाफल अर्थात् मोक्ष जैसा सर्वश्रेष्ठ फल देनेवाला प्रतीत हुआ है (काम्यधर्मों की तरह) पूर्वापरक्रम का विघात हो जाने से इसमें धर्म का नाश नहीं होता। (किसी दिन इस धर्म का पालन न कर सकने पर) पाप भी कुछ नहीं लगता।।१।।

तथा च याज्ञवल्क्यः

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयमेव परो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।।२।।(६६८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थान-निर्णयान्तर्गतः धर्मशास्त्रनिर्णयः सप्तमः।।

अथ श्रौतस्मार्त्तनिर्णयः

श्रवणं श्रौतमित्युक्तं स्मरणं स्मार्त्तमुच्यते।
श्रवणं मननं चेति श्रौतस्मार्त्तविनिर्णयः।।१।।(६६६)

अस्मिन्नर्थे याज्ञवल्क्यवाक्यं प्रमाणयितुमाह **तथा चेति। तथा च** तथैव, **याज्ञवल्क्यो** याज्ञवल्क्यनामा मुनिः, आह इति शेषः। केन वाक्येन इत्याशंक्य तद्वाक्यम् उदाहरति **इज्येति। इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्** इज्या यागक्रिया, आचारः स्वस्ववर्णाश्रमोचित-धर्मानुष्ठानं, दमो बाह्येन्द्रियाणां स्वाधीनता, अहिंसा सर्वभूतेषु दयालुता, दानं सत्पात्रेषु विधिपूर्वकं द्रव्यादेः समर्पणं, स्वाध्यायः स्वशाखोक्तव्रतपूर्वकं स्वशाखापाठ, एतन्नामकानि यानि कर्माणि तेषां मध्ये, **परः** श्रेष्ठो, **धर्मो** विहितकर्मरूपः, **अयमेव**। अयं क इत्यतः स्पष्टं दर्शयति **यदिति। यद्** विवेकिषु प्रत्यक्षं, **योगेन** जीवात्मैक्यज्ञानेन, **आत्मदर्शनम्** आत्मनो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मनो, दर्शनं दृश्यते ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा अनेन इति दर्शनं साक्षात्कारो भवति सोऽयम् इत्यर्थः। अन्तःकरणमलनिवृत्तिद्वारा ज्ञानोत्पादको निष्कामधर्म एव श्रेष्ठ इति भावः।।२।। (६६८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यानिर्णयार्थप्रकाशे धर्मशास्त्रनिर्णयार्थप्रकाशः सप्तमः।।

एवं धर्मशास्त्रनिर्णयम् अभिधाय इदानीं तत्प्रसंगाद् श्रौतस्मार्तनिर्णयं वक्तुं श्रौतस्मार्तनिर्णयाख्यं द्विश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** धर्मशास्त्रनिर्णयानन्तरं, प्रसंगप्राप्तो धर्मशास्त्रनिर्णयप्रसंगेन प्राप्तो वर्णनायागतः, **श्रौतस्मार्त्तनिर्णयः** श्रौताख्यकर्मणः स्मार्त्ताख्यकर्मणश्च निर्णयो विचारः, क्रियत इति शेषः। तमाह **श्रवणमिति। श्रवणं** शारीरकप्रथमाध्यायोक्त-श्रुतिसमन्वयेन सर्ववाक्यानां तात्पर्यभूतब्रह्मचिन्तनपूर्वकं वेदान्तश्रवणमेव श्रौतनामकं कर्म इति एवम् उक्तम् कथितं मुनिभिरिति शेषः। **स्मरणं** श्रुत्युक्तार्थानुचिन्तनमेव स्मार्त्तं कर्म इति एवम् उच्यते कथ्यते विवेकिभिरिति शेषः।

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कियज्ञ, आचार (वर्णाश्रम धर्मों का पालन) दम, अहिंसा, दान, तथा स्वाध्याय इन सब धर्मों में परमधर्म तो यही है कि योग के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार कर लिया जाय।।२।।

श्रुतं श्रीगुरुवक्त्रेभ्यः स्मृतमेव न विस्मृतम्।
श्रौतस्मार्तमिदं येषां श्रौतस्मार्त्तविदो हि ते।।२।।(७००)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतः श्रौतस्मार्त्तनिर्णयार्थप्रकाशः अष्टमः।।

अथाङ्गानि

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च।
ज्योतिषं च षडंगानि तेषामेष विनिर्णयः।।१।।(७०१)

इति अतो हेतोः श्रवणं मननं च सर्ववेदान्तवाक्यानाम् आदिमध्यावसानेषु अखण्डैकरसे तात्पर्यावधारणलक्षणं श्रवणं, मननं च श्रुतार्थस्य युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानलक्षणं शारीरकद्वितीयाध्यायोक्तं मननमपि कर्त्तव्यमिति अयं **श्रौतस्मार्त्तविनिर्णयः** श्रौतस्मार्त्ताख्यकर्मणो विनिर्णयो विवेकः सिद्धान्त इत्यर्थः, ज्ञेय इति शेषः।।१।।(६९९)

प्रकारान्तरेणापि आह **श्रुतमिति। श्रीगुरुवक्त्रेभ्यो** वैराग्यादिसम्पत्तिमन्तो ये गुरवो महावाक्योपदेष्टारः, तेषां वक्त्रेभ्यो मुखेभ्यः, **श्रुतं** श्रवणेन विषयीकृतं, तदेव श्रौतं ज्ञेयं, तत् **स्मृतमेव** सर्वदानुसन्धत्तमेव, **न विस्मृतं** विस्मरणविषयं नैव कृतं, तदेव स्मार्त्तं ज्ञेयम्। **इदं** श्रवणस्मरणरूपं, **श्रौतस्मार्तं** श्रौतस्मार्त्ताख्यं कर्म, **येषां** विवेकिनाम् अस्ति, **हि ते** विवेकिन एव प्रसिद्धाः, **श्रौतस्मार्त्तविदः** श्रौतस्मार्त्ताख्यकर्मवेत्तारो भवन्ति नान्ये।।२।।(७००)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः श्रौतस्मार्त्तनिर्णयार्थप्रकाशः अष्टमः।।

एवं श्रौतस्मार्त्तनिर्णयम् अभिधाय इदानीम् अङ्गानि निर्णेतुम् अङ्गनिर्णयाख्यं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** श्रौतस्मार्त्तनिर्णयानन्तरम्, **अङ्गानि** निर्णीयन्ते शिक्षादीनि अङ्गानि विचार्यन्ते इत्यर्थः। तत्रादौ अङ्गानि संगृह्य दर्शयति **शिक्षेति। शिक्षा** शिक्षानामकं पाणिनिकृतम् एकं, तथा **कल्पः** कल्पनामकं श्रुत्यर्थानां कर्मोपासनादिरूपाणां प्रतिपादकं द्वितीयं, तथा **व्याकरणं** शब्दशास्त्रं तृतीयं, तथा **निरुक्तं** निरुक्तनामकं यास्करचितं वेदनिघण्ट्वर्थसंग्राहकं चतुर्थं, तथा **च्छन्द एव च** च्छन्दो नामकं वैदिकलौकिकच्छन्दोलक्षणज्ञापकं शास्त्रं पिङ्गलनागनिर्मितं पञ्चमं, तथा **ज्योतिषं च** ज्योतिषनामकं यज्ञार्थकालप्रतिपादकं पञ्चसम्वत्सरमयमित्यादिवाक्यकदम्बरूपं षष्ठम्, एतानि **षट्** षट्संख्यानि, **अङ्गानि** वेदस्यावयवरूपाणि, **तेषाम्** अङ्गानाम्, **एषो** वक्ष्यमाणो विचारो ज्ञेयः।।१।।(७०१)

वेदान्तों को सुनना श्रौत कर्म कहाता है। (श्रुति से प्रतिपादित) उसी अर्थ का अनुचिन्तन करते रहना ही स्मार्त कर्म कहाता है। इस प्रकार श्रौत और स्मार्त का तात्पर्य श्रवण और मनन से ही है।।१।।

हम तो श्रौत और स्मार्त कर्मों का मर्मज्ञ उसे ही समझते हैं कि जो गुरुमुख से आत्मा का श्रवण कर ले और फिर कभी भी उसको विस्मरण न होने दे।।२।।

अथ शिक्षानिर्णयः

शुद्धो विदेहभावेन शिक्षितः शिक्षया यया।
सा शिक्षा यदि न प्राप्ता शिक्षया शिक्षितं किमु।।२।।(७०२)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतः शिक्षानिर्णयः नवमः।।

तत्रादौ शिक्षानिर्णयाख्यम् एकश्लोकं शिक्षां निर्णेतुं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** अङ्गनिरूपणप्रतिज्ञानन्तरं, **शिक्षानिर्णयः** शिक्षायाः शिक्षातात्पर्यस्य निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **शुद्धेति। यया** विवेकिप्रसिद्धया, **शिक्षया** महावाक्योपदेशरूपया, **शिक्षित** उपदिष्टः सन्, **विदेहभावेन** देहात्यन्तासत्त्वज्ञानेन, **शुद्धो** देहाद्यस्पृष्टो भवति प्राणी, **सा शिक्षा** स उपदेशो, **यदि** यर्हि, **न प्राप्ता** न लब्धा गुरुतः, तर्हि तदा, **शिक्षया** पाणिन्युक्तया शिक्षया, यत् **शिक्षितं** वर्णस्वरस्थानादि ज्ञातमपि तत्, **किमु** अतितुच्छं तदिति भावः।।२।।(७०२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः शिक्षानिर्णयार्थप्रकाशो नवमः।।

एवं शिक्षानिर्णयं निरूप्य इदानीं कल्पं निर्णेतुं कल्पनिर्णयाख्यं द्विश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** शिक्षानिर्णयानन्तरं, **कल्पसूत्रनिर्णयः** कल्पसूत्राणां निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। तत्र तावत् सर्वकल्पनाधारभूतं निःशेषविकल्परहितं न ज्ञातं चेत् तत्र कल्पितविषयनिर्णायककल्पसूत्राणां निरर्थकतामाह **कल्पानामिति। कल्पानां** कल्प्यन्ते निरूप्यन्ते कर्माणि उपासनानि च यैः ते कल्पाः, तेषां, कल्पाभिधसूत्राणां कल्पनानां च आधारत्वेन कल्पितत्वात्, **प्रथमः** पूर्वः, कारणभूत इत्यर्थः। **कल्प** आत्मा, **निर्विकल्पं** निर्गता विकल्पा विपरीतनामजात्यादिकल्पना यतः कर्माणि यथा भवन्ति तथा **इदम्** इति साक्षाद् **न** वेत्ति **चेद्** न जानाति यदि। यद्वा सर्वकल्पनाधारभूत आत्मैव निर्विकल्पं ब्रह्म तदिदमिति साक्षान्न कृतं चेद् यदि इत्यर्थः।

सर्वकल्पनाधारभूतं ब्रह्मैव निर्विकल्पपदेनोक्तम्, अहमादिकल्पनाधारभूतः प्रत्यगात्मा प्रथम-कल्पपदाभ्याम् उक्तः, तयोः कल्पितं सर्वं जगद् इदमिति पदेनोक्तं, तत्र 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'अतोन्यदार्त्तम्' इत्यादिश्रुतिभ्यो द्वैतजाते बाधितदृष्टिं कृत्वा 'तत्त्वमसि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यः तत्त्वमादिपदार्थभूतयोः शोधितयोः शुद्धजीवेश्वरयोः प्रत्यक्षपरोक्षत्वादिविरुद्धांशत्यागेन चिन्मात्रस्वरूपत्वेन ऐक्यम् अनुभूय यावत्प्रारब्धम् आभासमात्रत्वेन दृश्यमानं जगज्जातं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतिदृष्ट्या सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिः न कृता चेद् यदि

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग हैं अब इनका विचार किया जाता है।।१।।

(जिस महावाक्योपदेशरूपी गुह्य) शिक्षा को पाकर प्राणी देहादिबन्धन से रहित होकर शुद्ध हो जाता है उस शिक्षा को यदि किसी ने प्राप्त नहीं किया तो इस (वर्णस्वरादि के स्थान आदि बतानेवाली पाणिनि की) शिक्षा से क्या सीखा।।२।।

अथ कल्पसूत्रनिर्णयः

कल्यानां प्रथमः कल्पो निर्विकल्पमिदं न चेत्।
विकल्पसङ्कल्पमयैः कल्पसूत्रैः किमर्जितम्।।१।।(७०३)
कल्पको येन कल्पेन ब्रह्मभूयाय कल्पते।
स कल्पो नैव क्लृप्तश्चेत् कल्पसूत्रं निरर्थकम्।।२।।(७०४)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतः कल्पसूत्रनिर्णयो दशमः।।

इत्यर्थः। तर्हि तदा **विकल्पसङ्कल्पमयैः** विकल्पसङ्कल्पप्रचुरैः, **कल्पसूत्रैः** कल्पाभिधैः सूत्रैः, **किमर्जितं** किं सम्पादितं, न किमपि इत्यर्थः। तैः प्रतिपादितस्य अवस्तुत्वादिति भावः।।१।।(७०३)

ननु कल्पविचारो विहितः तत्किं निन्द्यते भवता इत्याशङ्क्य मुमुक्षूणां ब्रह्मभावकल्पस्यैव विहितत्वात् तदभावे निरर्थकत्वं कल्पाभ्यासस्य इत्याशयेन आह **कल्पक इति। कल्पकः** कल्पनाकुशलो, **येन कल्पेन** अहं ब्रह्मास्मि इति अहं-ब्रह्मशब्दार्थयोः शुद्धजीवब्रह्मणोः भागलक्षणया प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वरूप-विरुद्धांशत्यागेन चिन्मात्रैक्यलक्षणलक्षितसाक्षात्करणरूपकल्पेन कल्पनारूपेण, पृथक्त्वस्य कल्पितत्वाद् अपृथक्त्वस्यापि कल्पितत्वमिति भावः। **ब्रह्मभूयाय** ब्रह्मभावम् अंगीकर्तुं, **कल्पते** योग्यो भवति, स उक्तलक्षणः, कल्पः **कल्प्यते** ब्रह्मभावोऽनेन इति **कल्पः** 'अहं ब्रह्मास्मि' इति साक्षात्काररूपः, **क्लृप्तः** प्राप्तो, **नैव चेद्** न विद्यते यदि, तर्हि **कल्पसूत्रं** कल्पसूत्रनामकं वाक्यजातं, **निरर्थकं** व्यर्थं ज्ञेयम्। कल्पसूत्रप्रतिपादितेऽर्थे मुमुक्षुप्रयोजनाभावात् तत्र तैः न अभिनिवेशः कर्त्तव्य इति भावः।।२।।(७०४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्याप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः कल्पसूत्रनिर्णयार्थप्रकाशो दशमः।।

एवं कल्पनिर्णयम् अभिधाय इदानीं व्याकरणं निर्णेतुं व्याकरणनिर्णयाख्यं त्रिश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** कल्पनिर्णयानन्तरं **व्याकरणनिर्णयो** व्याकरणस्य व्याकरणशास्त्रस्य, निर्णयः तात्पर्यविचारः, क्रियते इति शेषः। तत्र तावद् महावाक्यार्थज्ञानाय महावाक्यस्थपदानामर्थस्य च व्युत्पत्तये व्याकरणाभ्यासः अभिहितः, तदभावे च स व्यर्थ इत्याह **पदव्युत्पत्तिरिति। महावाक्यार्थबुद्धये** महान्ति श्रेष्ठानि, यानि वाक्यानि 'तत्त्वमसि' इत्यादीनि, तेषाम् अर्थः तात्पर्यं, तस्य बुद्धिः बोधः, तस्मै तदर्थम् इत्यर्थः। **पदव्युत्पत्तिः** पदानां 'तत्त्वमसि' इत्यादीनां व्युत्पत्तिः

कर्म और उपासनाओं को बताने वाले कल्पसूत्रों का किंवा सकल कल्पनाओं का प्रथम कारण जो यह निर्विकल्प आत्मचैतन्यरूपी कल्प है उसको यदि किसी ने साक्षात् नहीं कर लिया तो हम समझते हैं कि विकल्प और संकल्पों से परिपूर्ण कल्पसूत्रों को जानने से ही क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ।।१।।

कल्पनाकुशल मनुष्य जिस कल्पना से ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है वह (तारक) कल्प यदि किसी ने प्राप्त न किया तो यह कल्पसूत्र निरर्थक ही है।।२।।

अथ व्याकरणनिर्णयः

पदव्युत्पत्तिरन्वेष्या महावाक्यार्थबुद्धये।
स एव यदि न ज्ञातस्तर्हि व्याकरणेन किम्।।१।।(७०५)
येनेदं व्याकृतं विश्वं तदेव व्याकृतं न चेत्।
बृहन्नो वेत्ति यत्तर्हि तद्धि व्याकरणेन किम्।।२।।(७०६)

ज्ञानम्, **अन्वेष्या** अन्वेष्टव्या, पदबोधोपयोगितयैव केवलं व्याकरणम् अध्येतव्यमिति भावः। **स एव** महावाक्यार्थ एव, **यदि** यर्हि, **न ज्ञातः**, तदा **व्याकरणेन** व्याकरणशास्त्रेण, तदध्ययनेन इत्यर्थः। **किं** कृतमिति शेषः, न किमपि कृतम् इत्यर्थः। महावाक्यार्थज्ञानाभावे व्याकरणाध्ययनप्रयासो व्यर्थ एव इति भावः।। १।।(७०५)

व्याकरणपदनिरुक्त्यापि तमेवार्थं द्रढयति **येनेति। येन** ब्रह्मणा, **इदं** विश्वं ज्ञानविषयभूतं प्रत्यक्षं जगद्, **व्याकृतं** विविधाकारवत् कृतं, **तदेव** तद् ब्रह्मैव, **व्याकृतं** जगद्विपरीताकारेण अखण्डसच्चिदानन्दरूपं साक्षाद् ज्ञातं, **न चेद्** न यदि तर्हि; उक्तमेव अर्थं स्पष्टमाह **बृहदिति। बृहद्** ब्रह्म, **यद्** यदा, **नो वेत्ति** न जानाति, **तर्हि** तदा, **व्याकरणेन** व्याकरणशास्त्राभ्यासेन, **किं** कृतमिति शेषः, न किमपि कृतमित्यर्थः। यद्वा किं फलं, न किमपि इत्यर्थः। अतः पदव्युत्पत्तिपर्यन्तमेव व्याकरणाभ्यासो विहितः ततो वेदान्तश्रवणादिप्रयास एव कार्यो मुमुक्षुभिः इति भावः।।२।।(७०६)

ननु महावाक्यार्थोपयोगितया महावाक्यपदव्युत्पत्तिः तत्प्रयोजनतयैव व्याकरणोपयोगश्चेत् तत्र अन्येऽपि शब्दाः कुतः साधिता इत्याशंक्य प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थज्ञानद्वारा तेषां पदार्थानां स्वरूपेण हेयत्वज्ञानेन तांस्त्यक्त्वा महावाक्यश्रवणादिषु प्रवृत्त्यर्थमित्याशयेनाह **यत इति**। यस्मादेव व्याकरणाद् **शास्त्रात्, परिनिष्पन्नैः** उत्पन्नैः, **शब्दैः** नामभिः, **मुहुर्मुहुः**, वारं वारं, **हेयोपादेयौ** अनात्मत्वेन हेयः त्याज्यो मायातत्कार्यरूपः प्रपञ्चः, आदेयश्च आत्मा कूटस्थासङ्ग इत्यादिशब्दानाम् अर्थभूतः तौ, **न विज्ञातौ** न बुद्धौ यदि, **तर्हि** तदा, **व्याकरणेन** व्याकरणशास्त्राभ्यासेन, **किं** किं फलं भवति, न किमपि इत्यर्थः। अतो व्याकरणस्य अनन्तशब्दसाधकत्वेऽपि महावाक्यपदसाधनपरता एव इति मुमुक्षुभिः तदधीत्य महावाक्यार्थनिष्ठैव विधेया न व्याकरणाध्ययनाभिनिवेशः कार्य इति भावः।।३।।(७०७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतो व्याकरणनिर्णयार्थप्रकाश एकादशः।।

महावाक्यों का अर्थज्ञान हो जाने के लिये ही (व्याकरण द्वारा) पदों का ज्ञान कर लेना आवश्यक होता है यदि उन महावाक्यों के अर्थ को ही किसी ने नहीं समझा तो व्याकरण पढने का प्रयास निरर्थक ही रहा।।१।।

जिस (परब्रह्म) ने प्रत्यक्ष दीखने वाले इस सकल जगत् के विविध आकारों का निर्माण किया है, यदि उसी बृहत् तत्त्व को किसी ने न जाना हो (अर्थात् यदि किसी को उस ब्रह्म के दर्शन न मिले हों) तो व्याकरण शास्त्र के अभ्यास से भी मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा।।२।।

यतस्तु परिनिष्पन्नैः शब्दैः शास्त्राद् मुहुर्मुहुः।
हेयादेयौ न विज्ञातौ तर्हि व्याकरणेन किम्।।३।।(७०७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतो व्याकरणनिर्णय एकादशः।।

अथ निरुक्तनिर्णयः

निरुक्तं चिदवस्थानं निरुक्तं बोधनं चितः।
तन्निरुक्तं न चेद्वेद निरुक्तस्य किमुक्तिभिः।।१।।(७०८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतो निरुक्तनिर्णयो द्वादशः।।

एवं व्याकरणनिर्णयम् अभिधाय इदानीं निरुक्तं निर्णेतुं निरुक्तनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** व्याकरणनिर्णयानन्तरं, **निरुक्तनिर्णयो** निरुक्तस्य यास्कप्रणीतस्य 'समाम्नायः समाम्नात' इत्यादि वाक्यकदम्बरूपस्य निरुक्ताख्यग्रन्थस्य, निर्णयो मुमुक्षुग्राह्योविचारः, क्रियते इति शेषः। तामेव निरुक्तशब्दनिरुक्तिम् आह **निरुक्तमिति। चिदवस्थानं** चितः चिन्मात्ररूपस्य आत्मनो, **अवस्थानं** स्थितिः, **निरुक्तं** निर्गतं निवृत्तम्, उक्तं भाषणं, यस्मात् तन्निरुक्तं, वचनाविषयम् इत्यर्थः, अस्तीति शेषः, तथा **चितः** चिन्मात्ररूपस्य आत्मनो, **बोधनं** बोध्यते अनेन इति बोधनम् उपदेशः तन्निरुक्तं वागविषयं 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'यद्वाचाऽनभ्युदितम्', 'अवचो नैव प्रोवाच स ह तूर्ष्णी बभूव' इत्यादिश्रुतेः। **तद्** उक्तविधं, **निरुक्तं** चिदवस्थानं चिद् अवबोधनरूपं, **न वेद** न वेत्ति, **चेद्** यदि, तर्हि **निरुक्तस्य** यास्ककृतनिरुक्ताभि-धग्रन्थस्य, **उक्तिभिः** भाषणैः, **किं** किं फलं मुमुक्ष्णां, न किमपिं इत्यर्थः। अतोऽन्यविषयकनिरुक्तादरं परित्यज्य आत्मज्ञानविषयकनिरुक्तवाक्यश्रवणाद्येव आवर्तनीयम् इति भावः।।१।।(७०८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतो निरुक्तनिर्णयार्थप्रकाशो द्वादशः।।

जिस शब्दशास्त्र से सिद्ध हुए शब्दों (किंवा नामों) की सहायता से हेय (प्रपंच) तथा उपादेय (कूटस्थ असंग आत्मा) को न जान लिया तो व्याकरण शास्त्र के अभ्यास से मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ।।३।।

चिन्मात्ररूप आत्मा की स्वरूपस्थिति नामक अवस्था को निरुक्त कहते हैं (क्योंकि उस अवस्था का वर्णन उक्ति [वचनों] के बाहर की बात होती है) चिन्मात्ररूप आत्मा का उपदेश भी निरुक्त कहाता है (क्योंकि वहाँ से वाणियाँ लौट आती किंवा उसका वर्णन करने में असमर्थ रह जाती हैं, उस अवस्था में पहुँच कर चुपचाप हो जाना पड़ता है)। उक्त दोनों प्रकार के निरुक्तों को यदि किसी ने न जाना तो इस (यास्कमुनि-प्रणीत) निरुक्त की उक्तियों से मुमुक्षुओं का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा।।१।।

अथ च्छन्दोनिर्णयः

तच्छन्दो यदि न ज्ञातं स्वछन्दो येन खेलति।
यरस्तजभ्नमोपेतैश्छन्दोभिः किं प्रयोजनम्।।१।।(७०६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतछन्दोनिर्णयः त्रयोदशः।।

एवं निरुक्तनिर्णयं कृत्वा च्छन्दोनिर्णयं कर्त्तुं छन्दोनिर्णयाख्यमेकश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** निरुक्तनिर्णयानन्तरं, **छन्दोनिर्णयः** छन्दःशब्दवाच्यस्य अर्थस्य निर्णयो विचारः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **तदिति। तद्** जीवन्मुक्तेषु प्रसिद्धं, **छन्दः** स्वाभाविकव्यवहाररूपं सहजवर्त्तनं, **न ज्ञातं** न विदितं, **यदि** यर्हि; तत्किं **येन** स्वच्छन्दचारित्वेन, **स्वच्छन्दः** स्वाधीनः सन्, **खेलति** क्रीडति, तद् इति योज्यम्। तर्हि **यरस्तजभ्नमोपेतैः** 'लघ्वादिसमन्वितं यकाराख्यम्' इति पिंगलसूत्रोक्तलक्षणलक्षितो यो यगणः, तथा रो रगणो 'लघुमध्यमं तु रेफम्' इत्युक्तलक्षणः, सः सगणः 'सकारमन्ते गुरुनिबद्धम्' इति उक्तलक्षणः, तः तगणो 'लघ्वन्त्यं हि तकारम्' इत्युक्तलक्षणः, जो जगणः 'जकारमुभयोर्लघुं विजानीयाद्' इत्युक्तलक्षणः, भो भगण 'आदिगुरुं च भकारम्' इत्युक्तलक्षणः, नो नगणो 'नकारमिह पैङ्गले त्रिलघुम्' इत्युक्तलक्षणः, मो मगणः 'त्रिगुरुं विद्धि मकारम्' इत्युक्तलक्षणः, एतैः उक्तलक्षणैः गणैः उपेतानि युक्तानि तैः **छन्दोभिः** आर्यादिवृत्तादिविशेषोपलक्षितैः छन्दःशब्दवाच्यैः पद्यविचारैः इत्यर्थः, **किं प्रयोजनं** किं फलं मुमुक्षूणां, न किमपि इत्यर्थः, छन्दःशास्त्रादरं परित्यज्य मुमुक्षुभिः वेदान्तश्रवणादिषु एव आदरो विधेय इति भावः।।१।।(७०६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतश्छन्दोनिर्णयार्थप्रकाशः त्रयोदशः।।

एवं छन्दोनिर्णयम् अभिधाय इदानीं ज्यौतिषं निर्णेतुं ज्यौतिषनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** च्छन्दोनिर्णयानन्तरं, **ज्यौतिषनिर्णयो** ज्यौतिषस्य ज्यौतिषशास्त्रस्य, निर्णयो मुमुक्षुविहितो विचारः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **ज्योतिषेति। येन** विदुषां प्रत्यक्षभूतेन, **ज्योतिषा** स्वयंप्रकाशरूपेण, चिदूरूपेण 'तदेव ज्योतिषां ज्योतिः' 'आत्मैवास्य ज्योतिः भवति' इत्यादि श्रुतिभ्यः, **सूर्यादि** सूर्य आदित्य आदिर्यस्य अग्निचन्द्रवागूरूपस्य ज्योतिषः तत्तथोक्तं **ज्योतिः** व्यवहारप्रकाशसाधनं सूर्यादिरूपं **भाति** प्रकाशते सूर्यादीनां ज्योतिष्ट्वे श्रुतयस्तावत् 'सूर्य एव अस्य ज्योतिर्भवति, चन्द्रमा एव अस्य ज्योतिर्भवति, अग्निरेव अस्य ज्योतिर्भवति, वागेव अस्य ज्योतिर्भवति' इत्यादयः, **तद्** आत्मरूपं ज्योतिः, **येन** ज्यौतिषशास्त्रेण, **न वेत्ति** न जानाति,

जीवन्मुक्त लोग जिस स्वच्छन्द अर्थात् स्वाभाविक समभावरूप स्थिति में पहुँच कर (अबोध बच्चों की तरह) सहज बर्ताव करने लगते हैं (जिस स्थिति के प्रताप से स्वाधीनता का उत्तमोत्तम आनन्द मिल जाता है) स्वच्छन्दता को सिखाने वाले उस छन्द को यदि किसी ने न जाना तो यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण, नगण और मगण वाले (आर्या आदि) छन्दों के विचार से मुमुक्षुओं का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा।।१।।

अथ ज्यौतिषनिर्णयः

ज्योतिषा येन सूर्यादि ज्योतिर्भाति न वेत्ति तत्।
यदि येन तदा तेन ज्योतिर्ग्रन्थेन किं कृतम्।।१।।(७१०)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतः ज्यौतिषनिर्णयः चतुर्दशः।।

अथ वेदः तत्रादावृग्वेदनिर्णयः

यः परानन्ददः स्वात्मा तं त्वा वयं यजामहे।
इत्याहुतो न विश्वात्मा ऋचा हौत्रेण किं तदा।।१।।(७११)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतऋग्वेदनिर्णयः पञ्चदशः।।

यदि यर्हि, तदा तर्हि, **तेन** लोकप्रसिद्धज्योतिषा सूर्यादिर्निरूपणप्रधानेन ज्योतिर्ग्रन्थेन ज्योतिषशास्त्रेण **किं कृतं** किं सम्पादितं, न किमपि इत्यर्थः। तत्साध्यस्य सर्वार्थस्य अनात्मत्वाद् इति भावः। सूर्यादिज्योतिष आत्मज्योतिःप्रकाश्यत्वे श्रुतयस्तावत् 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' 'आत्मनैव ज्योतिषास्ते' इत्याद्याः।।१।।

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतो ज्यौतिषनिर्णयप्रकाशः चतुर्दशः।।

अथ वेदाः

एवम् अङ्गानि निर्णीय अङ्गिनो वेदान् निर्णेतुमाह **अथेति। अथ** अङ्गनिर्णयानन्तरं, **वेदा** ऋगाद्याश्चत्वारो वेदाः, निर्णीयन्त इति शेषः। तेषु आदौ ऋग्वेदं निर्णेतुम् ऋग्वेदनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **तत्रेति। तत्र** वेदनिर्णये, **आदौ** प्रथमम्, **ऋग्वेदनिर्णय** ऋगुपलक्षितमन्त्रसमूहस्य वेदस्य ज्ञानसाधनभूतस्य, निर्णयो मुमुक्षूपयोगी विचारः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **य इति। यो** विवेकिषु प्रसिद्धः, **परानन्ददः** परो निरतिशयो, य आनन्दः सुखं, तं ददाति यच्छति, स तथोक्तः, 'एष ह्येवानन्दयाति' इति श्रुतेः, **स्वात्मा** स्वरूपभूत आत्मा अस्ति इति, **तम्** उक्तलक्षणं, **त्वा** त्वाम् आत्मरूपं, **यजामहे** इदं-ममास्पदसर्वविषयाहुत्या पूजयामः, **इति** एवं विश्वात्मा विश्वस्य जगत, आत्मा स्वरूपभूतो, **न आहुतः** सर्वजगदाहुत्या न तर्पितो, यदि यर्हि, **तदा** तर्हि, **ऋचा** ऋगुपलक्षितेन 'इत्थं भूतलक्षणे' इति तृतीया। हौत्रेण हौत्राख्याकर्मणा, **किं** किं फलं मुमुक्षूणां, न किमपि इत्यर्थः। सर्वर्ग्वेदमन्त्राणाम् आत्मज्ञानमेव फलम् अतः अन्यकर्मप्रतिपादकमन्त्रान् अनादृत्य आत्मज्ञानप्रतिपादकमन्त्रसमूह एव आदरो विधेय इति भावः।।१।।(७११)

इतिश्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गत ऋग्वेदनिर्णयार्थप्रकाशः पञ्चदशः।।

जिस स्वयंप्रकाश ज्योतिःस्वरूप आत्मदेव की कृपा से लौकिक सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा वाणी आदि ज्योतियाँ भी प्रकाशित होती हैं वह पवित्र आत्मस्वरूप ज्योति जिस

अथ यजुर्वेदनिर्णयः

लोहिता धवला कृष्णा प्रजाहेतुरजा यदि।
नोपालब्धा ब्रह्मसत्रे यजुषाऽऽध्वर्यवेण किम्।।१।।(७१२)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गत यजुर्वेदनिर्णयः षोडशः।।

एवम् ऋग्वेदं निर्णीय इदानीं यजुर्वेदं निर्णेतुं यजुर्वेदनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान अह **अथेति। अथ** ऋग्वेदनिर्णयानन्तरं, **यजुर्वेदनिर्णयो** यजुर्वेदस्य निर्णयो मुमुक्षूणाम् उपयोगी विचारः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **लोहितेति। लोहिता** रक्ता रजोगुणवती इत्यर्थः। **धवला** शुक्ला सत्त्वगुणवती इत्यर्थः। **कृष्णा** श्यामा तमोगुणवती इत्यर्थः। एतैः गुणैः जगज्जननप्रकाशावरणस्वभावेति भावः। **प्रजाहेतुः** प्रजायन्ते उत्पाद्यन्ते इति प्रजा महदाद्याः प्रकृतिविकृतिरूपाः, तासां हेतुः कारणभूता, जगज्जनयित्रीत्यर्थः। **अजा** मायात्वादेव अनुत्पन्ना गुणसाम्यावस्थारूपा शक्तिः **ब्रह्मसत्रे** ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यम् आत्मवस्तु व्यापकं, तदेव सत्रमिव सत्रं सर्वसत्रफलरूपत्वाद्; ब्रह्मरूपं सदात्मवस्तु त्रायते रक्ष्यते अस्मिन् इति सत्त्रं 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' इत्यादिना उक्तलक्षणं तस्मिन् इति वा। **नोपालब्धा** लौकिकयज्ञे प्रसिद्धा अजेव न हिंसिता, 'सर्वं खल्विति' 'नेह नानास्ति' इत्यादिश्रुतिदृष्ट्या न बाधिता इत्यर्थः। **यदि**, तर्हि तदा, **यजुषा** यजुर्मन्त्रैः निर्वाहितेन, **आध्वर्यवेण** अध्वर्युकृतेन कर्मणा, किं किं फलं, न किमपि इत्यर्थः।।१।।(७१२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः यजुर्वेदनिर्णयार्थप्रकाशःषोडशः।।

एवं यजुर्वेदं निर्णीय इदानीं सामवेदं निर्णेतुं सामवेदनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान अह **अथेति। अथ** यजुर्वेदनिर्णयानन्तरं, **सामवेदनिर्णयः**, सामवेदस्य गीतिप्रधानस्य वेदस्य, ज्योतिर्ग्रन्थ से न जानी जा सके तो बताओ (केवल लौकिक ज्योतियों को बताने वाले) ज्योतिष शास्त्र ने भी मुमुक्षुओं का क्या उपकार किया।।१।।

जिस स्वात्मदेव को विवेकी लोग परमानन्द का देनेवाला बताते हैं उस तुझ आत्मदेव का (संसार के सम्पूर्ण विषयों की आहुति देकर (हम मुमुक्षु लोग) यजन करते हैं। यदि इस प्रकार की सर्वाहुति से उस जगदन्तरात्मा को किसी ने तृप्त न कर पाया तो उस हौत्र कर्म से (जिसमें ऋचाओं की ही प्रधानता है) मुमुक्षुओं का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? मुमुक्षु के लिये तो केवल आत्मज्ञान का प्रतिपादन करने वाली ऋचायें ही उपयोगी हो सकती हैं)।।१।।

लोहिता (रजोगुणवाली) धवला (सत्त्वगुणवाली) कृष्णा (तमोगुणवाली) (तथा इसी क्रमानुसार जगत् की उत्पत्ति प्रकाश और आवरण करने वाली) जगज्जननी अजा माया को, यदि किसी ने ब्रह्मसत्र में नष्ट किंवा बाधित न कर डाला हो तो यजुर्वेद के मन्त्रों से निष्पन्न हुए आध्वर्यव कर्म से ही मुमुक्षु का क्या उद्धार होगा।।१।।

अथ सामवेदनिर्णयः

छान्दोग्येनोपनिषदा प्रेमगद्गदया गिरा।
साम्ना गीतं न चेद् ब्रह्म सामौद्गात्रेण किं तदा।।१।।(७१३)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गत-सामवेदनिर्णयः सप्तदशः।।

निर्णयो विचारो मुमुक्षुग्राह्यः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **छान्दोग्येनेति। छान्दोग्येन** छान्दोग्यनाम्ना, **उपनिषदा** उप निषण्णं समीपे स्थितं विचारद्वारा श्रेयो मुक्तिरूपं यस्यां सा उपनिषत् तया, आविष्टलिंगत्वेन विशेषणविशेष्यभावः। तदुक्तम्

लिङ्गसंख्याविभेदेऽपि विशेषणविशेष्यता।
विभक्तिः पुनरेकैव विशेषणविशेष्ययोः।।
आविष्टलिङ्गं तत्प्रोक्तम्' इति।

प्रेमगद्गदया गिरा प्रेम्णा निरतिशयस्नेहेन कृत्वा, **गद्गदया** अवरुद्धकण्ठनिःसृतया, गिरा वाण्या **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदहीनम् आत्मवस्तु, **गीतं** गानविषयीकृतं, **न चेद्** न यदि, **तदा** तर्हि **सामौद्गात्रेण** सामप्रोक्तेन औद्गात्राख्यकर्मणा, **किं** किं फलं भवेद्, न किमपि इत्यर्थः। अतः अनात्मविषयकं सर्वं साम परित्यज्य आत्मविषयकमेव साम श्रोतुं मन्तुं निदिध्यासितुं गातुम् आदरो विधेयः मुमुक्षुभिरिति भावः।।१।।(७१३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः सामवेदनिर्णयार्थप्रकाशः सप्तदशः।।

एवं सामवेदनिर्णयम् अभिधाय इदानीम् अथर्ववेदं निर्णेतुम् अथर्ववेदनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** सामवेदनिर्णयानन्तरम् **अथर्वणवेदनिर्णयः** अथर्वणवेदस्य अथर्वणनाम्नो वेदस्य, निर्णयः मुमुक्षूपयोगी विचारः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **आथर्वणीति। आथर्वणी** अथर्वणवेदोद्भवा **ब्रह्मविद्या, पिप्पलादमुखाच्च्युता** पिप्पलफलानि अत्ति भक्षयति इति पिप्पलादः, एतेन वैराग्यातिशयो ध्वनितः, तस्य मुखाद् वदनाद्, च्युता निःसृता, अनेन मुमुक्षुभिः अत्यादरणीयत्वं ध्वनितम्। **ब्रह्मविद्या** ब्रह्मणो देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितस्य आत्मवस्तुनः, विद्या ज्ञापिका, ब्रह्मज्ञानप्रतिपादयित्रीत्यर्थः। **हृदये** अन्तःकरणे, **चमत्कृता** आविर्भूता, **न चेद्** न यदि, **तर्हि** तदा, **अथर्वभिः** अन्यैः अथर्वणप्रयोगैः, **किं फलं** किं प्रयोजनम्, न किमपि

छान्दोग्य उपनिषद् के द्वारा प्रेमगद्गदवाणी से यदि किसी ने ब्रह्म का ज्ञान न किया तो सामवेदविहित औद्गात्र कर्म से भी मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? (मुमुक्षुओं को तो अनात्मविषयक साम को छोड़कर केवल आत्मविषयक साम का ही गान करना चाहिये)।।१।।

अथ अथर्वणवेदनिर्णयः

आथर्वणी ब्रह्मविद्या पिप्पलादमुखाच्च्युता।
चमत्कृता न हृदये किं फलं तर्ह्यथर्वभिः।।१।।(७१४)

इति नरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतः अथर्ववेदनिर्णयः अष्टादशः।।

अथ आयुर्वेदनिर्णयः

ज्ञानामृतं न चेत् पीतम् अमृतत्वं न साधितम्।
मृत्युरेव पुनः प्राप्त आयुर्वेदो निरर्थकः।।१।।(७१५)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतः आयुर्वेदनिर्णय एकोनविंशः।।

इत्यर्थः। ब्रह्मज्ञानेतरविषयप्रतिपादकम् अथर्वणवाक्यसमूहम् अनादृत्य ब्रह्मज्ञानविषयकाथर्वणवाक्यसमूहश्रवणादिषु एव प्रवृत्तिः मुमुक्षुभिः कर्त्तव्या इति भावः।।१।।(७१४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः अथर्ववेदनिर्णयार्थप्रकाशः अष्टादशः।।

एवं वेदनिर्णयम् अभिधाय इदानीम् आयुर्वेदं निर्णेतुम् आयुर्वेदनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणं वक्तुकाम आह **अथेति। अथ** अथर्वणवेदनिर्णयानन्तरम्, **आयुर्वेदनिर्णय** आयुषो वेदस्य ज्ञानस्य ज्ञानसाधनस्य चिकित्साशास्त्रस्य इत्यर्थः, निर्णयः मुमुक्षूपयोगी सिद्धान्तः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **ज्ञानामृतमिति। ज्ञानामृतं** ज्ञायते ब्रह्म अनेन इति ज्ञानं महावाक्यजन्यं साक्षात्काररूपम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारं तदेव अमृतं पीयूषं जरामरणादेः निवर्तकत्वात् तत्, **पीतं** प्राशितं, **न** नास्ति, **चेद्** यदि, तर्हि तदा, **अमृतत्वं** न मृतं ब्रह्म तस्य भावः तत्त्वं, **न साधितं** न सम्पादितं स्यात्, तदा तर्हि, **पुनः** भूयो, **मृत्युरेव** मरणमेव, **प्राप्तो** लब्धः, तदा **आयुर्वेदः** आयुषः साधनभूतं यज्ज्ञानं तत्प्रतिपादको ग्रन्थो, **निरर्थको** व्यर्थ इत्यर्थः। अत आयुर्वेदादरं परित्यज्य मोक्षसाधनभूतज्ञानसाधनवेदान्तश्रवणादिषु आदरो मुमुक्षुभिः कर्त्तव्य इति भावः।।१।।(७१५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकररचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः आयुर्वेदनिर्णयार्थप्रकाश एकोनविंशः।।

पिप्पलादमुनि की कही हुई, आथर्वणी ब्रह्मविद्या का यदि किसी के हृदय में चमत्कार (प्रकाश) न हुआ तो अनात्मविषयक अथर्वण प्रयोगों से मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा।।१।।

यदि किसी ने (जरामरणादि को हटाने वाले) ज्ञानरूपी अमृत का पान न किया और अमृतत्व को सिद्ध न कर पाया हो और अन्त में मृत्यु के ही वश में फँसना पड़ गया हो तो (ऐसी दयनीय परिस्थिति) में आयुर्वेद (शास्त्र के अभ्यास) का क्या प्रयोजन हुआ।।१।।

अथ धनुर्वेदनिर्णयः

प्रणवेनैव धनुषा प्रबोधेन शरेण च।
लक्ष्यं ब्रह्म न चेद्विद्धं धनुर्वेदो निरर्थकः।।१।।(७१६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतो धनुर्वेदनिर्णयः विंशः।।

एवम् आयुर्वेदं निर्णीय इदानीं धनुर्वेदं निर्णेतुं धनुर्वेदनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** आयुर्वेदनिर्णयानन्तरं, **धनुर्वेदनिर्णयः** धनुषो धनुरुपलक्षितस्य शस्त्रास्त्रसमूहस्य, वेदः प्रेरणाकर्षणादिज्ञानप्रतिपादकं शास्त्रं, तस्य निर्णयो मुमुक्षुसंमतः सिद्धान्तः क्रियत इति शेषः। तमेवाह **प्रणवेनेति। प्रणवेनैव** ॐकारेणैव, **धनुषा** बाणासनेन करणेन, **प्रबोधेन** ज्ञानेन 'ॐइत्येतदक्षरमिदं सर्वं भूतं भवद्भविष्यच्च सर्वमोंकार एव' इत्यादिमाण्डूक्योपनिषदुक्तप्रकारज्ञानरूपेण, **शरेण च** सायकेनापि बाह्यकरणेन तस्य बोधस्य प्रणवद्वारकत्वात् प्रवणस्य धनुष्ट्वं, ज्ञानस्य च शरत्वं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यम् आत्मवस्तु, **लक्ष्यं** लक्षितुं योग्यं, तस्य बोधबाणस्य लक्षणावृत्त्या विषयत्वाद् वेधार्हम् उच्यते श्रुत्या इति शेषः, कथ्यते। तथा च श्रुतिः

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेद्।'। इति।।

लक्ष्यं लक्षणावृत्त्या बोधविषयं, ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यम् अखण्डसच्चिदानन्दरूपं वस्तु, **विद्धं** वेधितं, बुद्धम् इत्यर्थः, **न** नास्ति, **चेद्** यदि, तर्हि तदा, **धनुर्वेदो** धनुरुपलक्षितं सर्वशस्त्रास्त्रप्रयोगाकर्षणज्ञानप्रतिपादकं शास्त्रं, **निरर्थको** निष्प्रयोजन इत्यर्थः। तत्र मुमुक्षुविषयाभावाद् इति भावः।। १।।(७१६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयप्रकाशान्तर्गतो धनुर्वेदनिर्णयार्थप्रकाशः विंशः।।

एवं धनुर्वेदनिर्णयम् अभिधाय इदानीं गान्धर्वनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् निरूपयिष्यन्नाह **अथेति। अथ** धनुर्वेदनिर्णयानन्तरं, **गान्धर्वनिर्णयो** गान्धर्वस्य गानज्ञानप्रतिपादकस्य शास्त्रस्य, निर्णयः सिद्धान्तो मुमुक्षुग्राह्यः, क्रियते इति शेषः। तमेवाह **आत्मेति। गान्धर्वेण** गान्धर्वकर्मभूतेन, **स्वरेण** जातित्वाद् एकवचनं, निषादादिस्वरैः कृत्वा, **कलेन** मधुरेण, **गीतेन** गानेन, **आत्मा** सच्चिदानन्दलक्षणो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा, **गन्धर्ववत्** यथा गन्धर्वा गायन्ति तद्वद्, **गीतो** गीतेन लक्ष्यीकृतो, **न** नास्ति, **चेद्** यदि, तदा **गान्धर्वेण** गान्धर्ववेदाभ्यासेन, **किमु कृतं** किं सम्पादितं, न किमपि इत्यर्थः। आत्मनो व्यतिरिक्तविषयस्य गान्धर्वस्य निष्प्रयोजनत्वात् तदादरं परित्यज्य आत्मविषयकगान्धर्ववेदमात्र आदरो विधेय इति भावः।।१।।(७१७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशे अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतो गान्धर्वनिर्णयार्थप्रकाश एकविंशः।।

अथ गान्धर्ववेदनिर्णयः

आत्मा कलेन गीतेन गान्धारेण स्वरेण हि।
न चेद् गन्धर्ववद् गीतो गान्धर्वेण कृतं किमु।।१।।(७१७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतो गान्धर्ववेदनिर्णय एकविंशः।।

अथ अर्थशास्त्रनिर्णयः

अनर्थाः सर्व एवार्थाः सदर्थः परमार्थदृक्।
परमार्थो न लब्धश्चेद् अर्थशास्त्रं निरर्थकम्।।१।।(७१८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायाम् अष्टादशविद्यास्थाननिर्णयान्तर्गतः अर्थशास्त्रनिर्णयो द्वाविंशः।।

एवं गान्धर्वनिर्णयम् अभिधाय इदानीम् अर्थशास्त्रं निर्णेतुम् अर्थशास्त्रनिर्णयाख्यम् एकश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** गान्धर्वनिर्णयानन्तरम्, **अर्थशास्त्रनिर्णयः** अर्थस्य धनादेः, साधनभूतज्ञानप्रतिपादकं शास्त्रं ग्रन्थः, तस्य निर्णयो मुमुक्षुविहितः सिद्धान्तः क्रियते इति शेषः। तमेवाह **अनर्था इति। सर्वे** लोकप्रसिद्धा धर्मार्थकामाख्या **अर्था, अनर्था एव** दुःखास्पदत्वाद् अर्थशून्या एव केवलं ज्ञेयाः। कस्तर्हि अर्थ इत्यत आह **सदर्थ इति। परमार्थदृक्** परमः कार्यकारणरहितो, योऽर्थः सद्रूप आत्मा, तस्य दृक् ज्ञानं, तदेव **सदर्थः** संश्च असौ अर्थश्च कालत्रयाबाध्यः अर्थः सुखरूपत्वात् प्रयोजनरूपः ज्ञेयः। स **परमार्थः** सच्चित्सुखात्मरूपः अर्थः, **न लब्धः** न प्राप्तः, **चेद्** यदि, तर्हि **अर्थशास्त्रम्** अर्थप्राप्तिसाधनबोधकं शास्त्रं, नीत्याख्यं शास्त्रम् इत्यर्थः, **निरर्थकम्** अर्थशून्यं ज्ञेयम्। अत आत्मरूपार्थान्यार्थप्राप्तिसाधनबोधकार्थशास्त्र आदरं परित्यज्य मोक्षाख्यार्थप्राप्तिसाधनभूतज्ञानोपदेशके वेदान्तशास्त्रे एव आदरो विधेयो मुमुक्षुभिः इति भावः।।१।।(७१८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे पुराणश्रवणनिर्णयार्थप्रकाशेऽष्टादशविद्यास्थाननिर्णयार्थप्रकाशान्तर्गतः अर्थशास्त्रनिर्णयार्थप्रकाशः द्वाविंशः।।

प्रणव (ओंकार) रूपी धनुष पर ज्ञानरूपी बाण चढ़ा कर अपने ब्रह्मरूपी (अन्तिम) लक्ष्य का यदि किसी ने वेध न कर डाला हो तो इस लौकिक धनुर्वेद से मुमुक्षु का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा।।१।।

गान्धर्व स्वरों में सुमधुर गानों से गन्धर्वों की तरह यदि किसी ने अपने सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मदेव का गान न किया तो इस (अनात्मविषयक) गान्धर्व वेद के अभ्यास में वृथा समय खोने से क्या।।१।।

संसार के (धर्म, अर्थ तथा काम नामक) सम्पूर्ण पदार्थ (दुःखास्पद होने से) अनर्थ ही होते हैं, परमार्थ ब्रह्म का ज्ञान ही सत् अर्थ कहाता है। यदि किसी को उसी परमार्थ का लाभ न हुआ तो यह लौकिक अर्थशास्त्र निरर्थक ही है। मुनि को उचित है कि पुराणश्रवण करके सायंसन्ध्या करने के लिये उद्यत हो जाय।।१।।

अथ सायंसन्ध्यानिर्णयः

इत्थं ज्ञानविनोदेन वेदशास्त्रकुतूहलैः ।
दिवसं सकलं यातं सायंसन्ध्या समागता ।।१।।(७१९)
एवमेव कियत्कालं व्यवहारावलोकिनः ।
पुनः समाधौ सन्धानं सायंसन्ध्या हि सा स्मृता ।।२।।(७२०)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां सायंसन्ध्यानिर्णयः ।।

एवं पुराणनिर्णयं सविशेषं निरूप्य इदानीं मुनीनां सायंसन्ध्यानिर्णयाख्यं द्विश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति । अथ** पुराणश्रवणनिर्णयानन्तरं, **सायंसन्ध्यानिर्णयो** मुनीनां सायंकालीना या सन्ध्या सन्ध्याख्यं कर्म, तस्या निर्णयः सिद्धान्तो, मुमुक्षुविहितः, क्रियत इति शेषः । तत्र तावत् पूर्वोक्तदिनाचाराचरणेन उक्तलक्षणदिनस्यान्ते सायं कालप्राप्तिमाह **इत्थमिति । इत्थम्** उक्तप्रकारेण, **ज्ञानविनोदेन** ज्ञानरूपेण विनोदेन परिहासेन उपलक्षितं **वेदशास्त्रकुतूहलैः** वेदानाम् ऋगादीनां, शास्त्राणां न्यायादीनां, कुतूहलैः उक्तलक्षणैः कौतुकैः कृत्वा, **सकलं** समस्तं, **दिवसं** दिनं, **यातं** व्यतीतं, ततश्च **सायंसन्ध्या** सायंकालीना सन्ध्या, तदुपलक्षितः काल इत्यर्थः, **समागता** प्राप्ता ज्ञेया ।।१।।(७१९)

तत्र मुनीनां सायंसन्ध्यां निर्णीय दर्शयति **एवमेवेति । एवमेव** अनेन उक्तप्रकारेणैव, **कियत्कालं** यावद् अस्मिन् उक्तलक्षणे विनोदे रुचिः तावत्पर्यन्तं कालं, **व्यवहारावलोकिनः** उक्तलक्षणं व्यवहारम् अवलोकयितुं शीलम् अस्य स तथोक्तः तस्य मुनेः **पुनः** भूयः, **समाधौ** समाधिविषयकं **सन्धानं** स्मरणं, यद् हि विदुषाम् अनुभवविषया सा उक्तलक्षणा, सायंकालीना सन्ध्या, **स्मृता** कथिता मुनिभिः इति शेषः। उक्तलक्षणव्यवहारोपसंहारात् सायंकालत्वं तस्य उपसंहारस्य, उक्तलक्षणदिनसमाधिरात्र्योः सन्धिभवत्वाद् अनुसन्धानस्य सन्ध्यात्वं ज्ञेयम् इति भावः ।।२।।(७२०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यायां सायंसन्ध्यानिर्णयार्थप्रकाश एकोनत्रिंशः ।।

इस प्रकार ज्ञानरूपी विनोद करते करते वेद और शास्त्रों का कुतूहल देखते देखते (व्यवहाररूपी) सम्पूर्ण दिन व्यतीत हो चुका और सायंसन्ध्या आ गयी ।।१।।

जब तक उक्त प्रकार के विनोद में रुचि रहे तब तक व्यवहारावस्था में रहने वाला वह मुनि फिर जब कभी समाधि का स्मरण करने लगता है तो यही मुनियों की सायंसन्ध्या कहाती है।

उस समाधि का स्मरण करते ही उक्त प्रकार के व्यवहार का उपसंहार हो जाने से उसे सायंकाल कहते हैं। व्यवहाररूपी दिन तथा समाधिरूपी रात्रि की सन्धि पर होने से उसे 'सन्ध्या' कहा जाता है।।२।।

अथ निशाव्यवहारनिर्णयः

यातेऽथ व्यवहारनाम्नि दिवसे भुक्ते च सन्ध्यासुखे
जातायां निशि निश्चलेन मनसा दत्वा कपाटार्गलाः।
पीत्वा संप्रति शुद्धबोधमधुरं क्षीरं यथेष्टं युवा
पर्यंके सुसमाधिनामनि मुहुः काञ्चिद् भुनक्ति प्रियाम्।।१।।(७२१)

एवं सायंसन्ध्यां निर्णीय इदानीं मुनीनां निशाकृत्यं निर्णेतुं निशाव्यवहारनिर्णयाख्यं द्विश्लोकं प्रकरणं निरूपयिष्यन्नाह **अथेति**। **अथ** सायंसन्ध्यानिर्णयानन्तरं, **निशाव्यवहारो** निशायां रात्रौ, यो व्यवहारो व्यवहृतिः, कृत्यम् इत्यर्थः निर्णीयत इति शेषः। तमेवाह द्वाभ्याम् **याते इति**। **व्यवहारनाम्नि** व्यवह्रियतेऽस्मिन्निति व्यवहार उक्तलक्षणः तदेव नाम यस्य तस्मिन्, **दिवसे** अहनि, **याते** व्यतीते सति, **अथ** अनन्तरं, **सन्ध्यासुखे** पूर्वोक्तज्ञानिव्यवहार उदासीनतया उपसंहृते, अनन्तरं पूर्वोक्तज्ञानिव्यवहारोपलक्षितदिवसस्य समाध्युपलक्षितरात्रेश्च सन्धिभवं यत्पूर्वम् उक्तं सन्ध्याख्यं कर्म तस्य सुखं वासनानन्दापरपर्यायं तस्मिन्, **भुक्ते** अनुभूते सति, इदमेव सायंभोजनं मुनीनामित्यर्थः। ततो **निशि** पूर्वोक्तव्यवहारार्हपदार्थस्फुरणलक्षणायां रात्रौ, समाधिरूपायां रात्रौ इत्यर्थः। **जातायां** प्राप्तायां सत्याम्, आविर्भावोन्मुखायां सत्याम् इत्यर्थः। **निश्चलेन** स्थिरीभूतेन, **मनसा** चेतसा, कपाटार्गलाः कं सुखं पाटयन्ति खण्डयन्ति इति कपाटानि इन्द्रियाणि, तेषाम् अर्गलाः शृङ्खलावद् रोधकत्वात् प्रत्याहारलक्षणाः शृङ्खला, **दत्वा** प्रदाय, प्रत्याहारं कृत्वा इत्यर्थः। इदमेव कपाटबन्धनं मुनीनां ज्ञेयम्। **संप्रति** तात्कालिकं, तात्कालिकस्यैव दुग्धस्य वैद्यके पौष्टिकत्वोक्तेः वक्ष्यमाणबोधलक्षणस्य पयसोपि तत्कालभवस्यैव मुक्तिहेतुत्वोक्तेश्च संप्रति इति उक्तम्। **शुद्धबोधमधुरं** शुद्धो मायाविद्याख्यमलरहितो, यो बोधश्चिद्घनः, आत्मैव सुखरूपत्वाद् मधुरं मिष्टं, त्रिविधमायारहितं शुद्धात्मस्वरूपसुखमेव इत्यर्थः। **क्षीरं** स्वानुसन्धनवतां क्षरति स्रवत्यात्मसुखमिति क्षीरं पयो, **यथेष्टम्** आ तृप्तिः यथा भवति तथा निःसंशयसाक्षात्कारेण नित्यतृप्तिपर्यन्तम् इत्यर्थः। **पीत्वा** प्राश्य,'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यनुभवमपि स्वस्मिन् विलीयेत्यर्थः। **युवा** यौवनसम्पन्नः, आत्मनि स्थैर्योत्साहशक्तिमान् इत्यर्थः। मुनिः मननवान्, ज्ञानी इत्यर्थः। **सुसमाधिनामनि** सुशोभनो निर्विकल्पाख्यः समाधिः स एव नाम वाचकम् अभिधानं यस्य स तथोक्तः तस्मिन्, **पर्यङ्के** मञ्चे, परितः सर्वतो अङ्कः चिह्नं सच्चिदानन्दरूपं यत्र स्फुरति तत्र इत्यर्थः। **काञ्चिद्** अनिर्वचनीयां सत्त्वेन तावन्न निर्वक्तुं शक्या 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'अतोऽन्यदार्तम्' इत्यादिश्रुतिभिः विद्वदनुभवेन च शक्तिमतः पृथगसत्त्वस्य शक्तेः अनुमितत्वेन च बाधितत्वस्य सर्वत्र शास्त्रेषु दृश्यमानत्वात्; न चासत्त्वेन, कार्यरूपेण तत्कारणरूपेण चानुभूयमानत्वात्; सत्त्वासत्त्वयोश्च परस्परं विरुद्धत्वात् काञ्चिद् इत्युक्तम्। **प्रियां** सुखरूपत्वाद् इष्टां, प्रीतिविषयाम् इत्यर्थः। **भुनक्ति** अनुभवति, आत्मनः सच्चिदानन्दरूपां शक्तिमेव अनुभवति इति भावः।।१।।(७२१)

युवा अर्थात् आत्मचिन्तन में अपूर्व उत्साहवाले मुनि को चाहिये कि व्यवहारकाल नामक दिन के व्यतीत हो जाने पर, और सन्ध्यासुख (उदासीनता से मिलने वाले सुख) का भोग ले लेने पर, जब कि समाधि नामक निशाकाल प्राप्त होने को हो तो अपने

तन्वङ्गीं तरुणीं विलासरसिकां चित्ते चमत्कारिणीम्
जाते प्रेमणि नित्यमेव सुखदामानन्दलीलामयीम्।
खेलन्तीमुरसि प्रियां निजकलामालिङ्ग्य तत्सङ्गमाद्
भोगीन्द्रत्वमुपागतः सुखनिधिर्योगीन्द्रचूडामणिः।।२।।(७२२)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां निशाव्यवहारनिर्णयः त्रिंशः।।

तामेव विशेषणैः निरूपयन् प्राप्तं भोगित्वं मुनौ निवारयति **तन्वङ्गीमिति। तन्वङ्गी** तनु सूक्ष्मम् अङ्गं स्वरूपं यस्या बुद्ध्याद्यगोचराकाराम् इत्यर्थः। **तरुणीम्** आत्मपुरुषेच्छानुरूपजगदुत्पादने स्वात्मसुखानुभवे वा सामर्थ्यवयोन्वितां, **विलासरसिकां** विलासे प्रपञ्चनिर्माणरूपे तल्लयेन स्वात्मात्रपरिशेषरूपे वा, रसिकां रसवतीम्, अत **एव** चित्ते स्वात्मपुरुषोपाधिभूते चेतसि, **चमत्कारिणीं** चिदाभासचमत्कारिणीं परमार्थस्वात्मरूपाविर्भावलक्षणचमत्कारकारिणीं, **प्रेमणि** स्नेहे, **जाते** स्वात्मशक्तिप्रियायां स्वात्मपुरुषचित्तस्नेहे उत्पन्ने सति इत्यर्थः। **नित्यमेव** सर्वदैव **सुखदाम्** आनन्ददात्रीम् **आनन्दलीलामयीम्** आनन्दः सुखं तद्रूपा लीला क्रीडा तन्मयीं तद्रूपां, **खेलन्तीं** क्रीडन्तीं, **निजकलां** निजां स्वीयां, कलाम् अंशरूपां, **प्रियां** सुखरूपत्वाद् इष्टाम् **उरसि** परमार्थतः स्वाभिन्ने व्यवहारदृष्ट्या तत्कल्पितैकदेशलक्षणे स्वाङ्गविशेषे, **आलिङ्ग्य** परिरभ्य, स्वाभिन्नाम् अवलोक्य इत्यर्थः। **तत्सङ्गमात्** तस्या उक्तलक्षणमायाशक्तेः,सङ्गमाद् लौकिकदृष्ट्या संयोगाद्, **भोगीन्द्रत्वं** भोगिनः आनन्दमयकोशोपाधिका व्यष्टिजीवाः, तेषाम् इन्द्रत्वम् ईश्वरत्वं, प्रेरकत्वमित्यर्थः। **उपागतः** प्राप्तोऽपि, **योगीन्द्रचूडामणिः** योगिनो जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्कारवन्तो जीवन्मुक्ता, बाधितप्रपञ्चा इत्यर्थः, तेषाम् इन्द्रा जीवन्मुक्तश्रेष्ठा ब्रह्मादीश्वरान्ताः, तेषामपि आधारशुद्धब्रह्मरूपत्वाद् चूडामणिरिव भवति इति ज्ञेयः। उभयत्र हेतुः **सुखनिधिः** सुखानां वैषयिकमानुषादिसुखानां बिम्बभूतसुखरूपत्वाद् निधिः समुद्र इव अतः भोगीन्द्रत्वं योगीन्द्रचूडामणित्वं चोभयमपि एकत्र सम्भाव्यमिति भावः।।२।।(७२२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यायां रात्रिकृत्यार्थप्रकाशः त्रिंशः।।

स्थिरचित्त की सहायता से इन्द्रियरूपी दशों कपाटों पर (प्रत्याहाररूपी) अर्गला डाल दे (यही ज्ञानी का कपाटबन्धन कहाता है)। कपाट बन्द करके माया तथा अविद्यादि मलों से रहित चैतन्यघन आत्मसुखरूपी मधुर दुग्ध को यथातृप्ति पीकर, निर्विकल्प समाधि नामक सच्चिदानन्द शय्या पर लेटकर सच्चिदानन्दरूपिणी किसी अनिर्वचनीय प्रियतमा का (जो कि सदा ही उस मुनि के हृदयभवन में क्रीडा किया करती है तथा अतिशत आनन्द देती रहती है) भोग लिया करे।।१।।

वह योगीन्द्रों का चूडामणि तन्वंगी (पतली, बुद्धि आदि के अगोचर होने से सूक्ष्म आकारवाली) तरुणी (युवती, जिन की अवस्था स्वात्मसुख का अनुभव करने योग्य हो

अथ मुनीन्द्रदिनचर्याविचारफलनिरूपणम्

मुनीन्द्रदिनचर्येयं चिन्तनीया दिने दिने।
न चिराच्चिन्तनेनास्या नरो निश्चिन्ततां व्रजेत्।।१।।(७२३)
साध्यसाधनसंबन्धफलसंस्कारयुक्तिभिः।
ज्ञातायां सम्यगेतस्यां ज्ञातव्यं नावशिष्यते।।२।।(७२४)

एवं मुनीन्द्राणां रात्रिकृत्यं निर्णीय इदानीं मुनीन्द्रदिनचर्या-फलं निर्णेतुं मुनीन्द्रदिनचर्या फलनिरूपणाख्यं त्रिश्लोकं प्रकरणं वक्तुकाम आह **अथेति। अथ** रात्रिकृत्यनिर्णयानन्तरं **मुनीन्द्रदिनचर्याफलनिरूपणं** मुनीन्द्रदिनचर्यायाः फलस्य प्रयोजनस्य,निरूपणं प्रतिपादनं, क्रियते इति शेषः। तदेवाह **मुनीन्द्रेति**। हे शिष्य **इयं** निरूपिता **मुनीन्द्रदिनचर्या** मुनीनां मननवतां मध्ये, य इन्द्राः श्रेष्ठाः, तेषां दिनचर्या आह्निकनिरूपणप्रकरणं, **दिने दिने** प्रत्यहं, नित्यमेव इत्यर्थः। **चिन्तनीया** विचारणीया भवता अन्यैरपि मुमुक्षुभिः। ननु अस्या विचारणेन किं फलम्? तत्राह **नेति। नरो** न राति आदते विषयानिति नरो वैराग्यादि-साधनसंपन्नः पुरुषः, **अस्या** मुनीन्द्रदिनचर्यायाः **चिन्तनेन** विचारेण, **न चिराद्** शीघ्रमेव निश्चिन्ततां स्वात्मनि स्थिरतां, **व्रजेत्** प्राप्नुयात् ।।१।। (७२३)

एतत्प्रकरणविचाररीतिनिरूपणपूर्वकम् अस्या विचारे विशिष्टं फलं निर्दिशति **साध्येति। साध्यसाधनसम्बन्धफलसंस्कारयुक्तिभिः** साध्यम् अखण्डैकरसं ब्रह्मतत्त्वं, साधनानि अस्मिन् प्रकरणे उक्तानि रूपकैः प्रातःशौचादिपदवाच्यब्रह्माकारवृत्तिरूपाणि, संबन्धश्च तासां वृत्तीनां तत्साध्यस्य ब्रह्मणश्च साध्यसाधनरूपो लक्ष्यलक्षकरूपो वा, फलं च समाध्युत्थानसमयेपि उक्तलक्षणव्यवहारेण ब्रह्मात्माविस्मृतिरूपं, संस्कारश्च अन्तःकरण एतत्प्रकरणनिरूपितवृत्त्यनुसन्धानेन ब्रह्मात्माभेदवासनारूपः, युक्तिश्च ब्रह्मात्मनि चेतसः स्थिरीकरणरूपा अविरोधशब्दवाच्या, एताभिः साधनभूताभिः सह, **एतस्यां** मुनीन्द्रदिनचर्याख्यप्रक्रियायां, **ज्ञातायां** विचारितायां सत्यां, **ज्ञातव्यं** विचारणीयम्, अन्यत् किमपि शास्त्रं, **नावशिष्यते** अवशिष्टं न भवति, सर्वमपि ज्ञातं भवति इत्यर्थः। एतत्प्रकरणविचारस्य सर्वशास्त्रविचारफलरूपत्वादिति भावः।।२।। (७२४)

चुकी हो) विलाश (प्रपंचरचनारूपी विलास अथवा प्रपंच को लय करके आत्ममात्र शेष रख लेना रूपी विलास) की परम रसिका, चित्त में चमत्कार (आत्मरूप का आविर्भावरूपी अथवा चिदाभासरूपी चमत्कार) करने वाली, एक बार प्रेम उत्पन्न हो जाने पर फिर सदा ही आनन्द को देते रहने वाली, आनन्दलीला के रूप में प्रतीत होने वाली (योगी के) हृदयभवन में खेलती हुई अपनी ही कला (अंश) सुखरूपिणी प्रिया को (छाती के समान अपने कल्पित एकदेश में) अपने से अभिन्नदर्शनरूपी आलिंगन करके उसके संगम से भोगीन्द्र बनकर सुख का निधि हो जाता है।।२।।

मुनीन्द्रदिनचर्येयं मुनीन्द्रैरपि दुर्वचा।
मम वाचालतां तत्र क्षम्यतां पार्वतीपतिः।।३।। (७२५)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मुनीन्द्रदिनचर्यायां मुनीन्द्रदिनचर्याविचारफलनिर्णय एकत्रिंशः।।

इदानीं मुनीन्द्रदिनचर्याया मुनीन्द्रवागगोचरत्वनिरूपणपूर्वकं स्वस्य तत्र वाचाटत्वं क्षमापयति **मुनीन्द्रेति। इयं** मदुक्ता, **मुनीन्द्रदिनचर्या** मुनयो मननशीलाः प्रथमादि-चतुर्थान्तभूमिकास्थिताः, तेषु मध्य इन्द्राः श्रेष्ठाः पञ्चम्यादिसप्तम्यन्तभूमिकासु स्थिताः, तेषां दिनचर्या आह्निकनिरूपणाख्या प्रकरणरूपा, **मुनीन्द्रैरपि** श्रेष्ठमुनिभिरपि, **दुर्वचा** निरूपयितुम् अशक्या अस्ति। ननु तर्हि भवता कथं निरूपिता? तत्राह **ममेति। तत्र** मुनीन्द्रदिनचर्यानिरूपणे, **मम** तन्निरूपणासमर्थस्य मे, **वाचालतां** वाचाटत्वं, **पार्वतीपतिः** पार्वत्याः पतिः स्वामी शिवः, **क्षम्यतां** सहतु, पार्वतीपतिः इत्यनेन पूर्वजन्मनि सत्या दक्षकन्यायाः स्वपितृदक्षाध्वरगमननिवारणजनितकोपेन स्वस्मिन् सतीकृतं वाचाटत्वम् अनुभूयापि इह पार्वतीजन्मनि पर्वतस्य जाड्याधिक्येन तत उत्पन्नायाः पार्वत्या अपि जाड्याधिक्यस्य अनुमेयत्वात् तन्मूलकस्य वाचाटत्वस्यापि आधिक्येन अनुमेयस्य सत्त्वात् तत् तादृशवाचालायाः पार्वत्या अङ्गीकाराद् शिवे वाचालत्वक्षमावत्त्वाधिक्यम् अस्ति अतो मद्वाचालत्वं क्षन्तुं योग्यः शिव एव इति भावः।।३।। (७२५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मुनीन्द्रदिनचर्यार्थप्रकाशे मुनीन्द्रदिनचर्या-फलनिरूपणार्थप्रकाश एकत्रिंशः।।

एवं मुनीन्द्रदिनचर्या निरूप्य इदानीम् आत्मनः सर्वधर्मैः अलिप्तत्वं साक्षात्कारयितुं जिज्ञासूनां निरञ्जनपञ्चाशत्काख्यं पञ्चाशच्छ्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** मुनीन्द्रदिनचर्या-

मुमुक्षुकों को इस मुनीन्द्रदिनचर्या का प्रतिदिन विचार करते रहना चाहिये। इसके चिन्तन से शीघ्र ही निश्चिन्तता (आत्मस्थिरता) को प्राप्त कर लेता है।।१।।

जब कोई अधिकारी मुनीन्द्र लोगों की इस दिनचर्या के साध्य (अखण्ड एकरस ब्रह्मभाव), साधन (प्रातः शौचादिरूप में बतायी ब्रह्माकार वृत्तियाँ), सम्बन्ध (साध्य-साधन रूप), फल (व्यापार करते हुए भी ब्रह्मात्मस्मृति), संस्कार (ब्रह्मात्माभेदवासना) तथा युक्ति (चित्त को ब्रह्म में स्थिर करने वाला अविरोध) नामक अंगों को भली प्रकार जान लेता है तो फिर उसे और कुछ भी जानने योग्य बात शेष नहीं रहती। (सकलशास्त्रों को विचार कर जो परिणाम निकल सकता है वह सब केवल इस प्रकरण के विचार से ही प्राप्त हो सकता है)।।२।।

मुनीन्द्र लोगों की दिनचर्या का तात्त्विक वर्णन सफलता के साथ तो मुनीन्द्र लोग भी नहीं कर सकते। फिर भी मैंने जो उसके वर्णन करने का दुःसाहस किया है, वह सदाशिव आत्मदेव मेरी इस वाचालता को क्षमा करें।।३।।

अथ निरञ्जनपञ्चाशत्कम्

यत्र प्रमाणं वेदान्ता अनुभूतिस्तथा सताम्।
देवो निरञ्जनः सोयं बोधसारे निरूप्यते।।१।।(७२६)
अहमज्ञो न जानामि मामहं कोहमित्युत।
अज्ञानप्रभवो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।२।।(७२७)

निरूपणानन्तरं, **निरञ्जनपञ्चाशत्कम्** अज्यते अनेन इति अञ्जनम् उपाधिः माया सर्वसम्बन्धकारणत्वात्, स निर्गतो निवृत्तो यस्मात् स निरञ्जनो निरुपाधिक आत्मा, तस्य पञ्चाशत्कं पञ्चाशतां पञ्चाशद् श्लोकानां समूहः पञ्चाशत्कं, समूहे कन्। अस्य प्रकरणस्य तत्प्रतिपाद्यात्मनश्च निरूप्यनिरूपकाभावरूपः सम्बन्धः अतः अस्य प्रकरणस्य अभिधानमपि निरञ्जनपञ्चाशत्कं, तन्निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ अत्र एतत्प्रकरणस्य प्रामाण्यसिद्धये प्रामाण्यहेतुज्ञापनपूर्वं निरूपयितव्यप्रकरणविषयनिरूपणं प्रतिजानीते **यत्रेति। यत्र** यस्मिन् देवे, **वेदान्ता** वेदशिरोभागा उपनिषद इत्यर्थः। **प्रमाणं** प्रमा अस्ति, **तथा** तद्वत्, **सतां** सदर्थं मोक्षं प्राप्तानां जीवन्मुक्तानाम् इत्यर्थः। **अनुभूतिः** अनुभवो, यत्र देवे प्रमाणम् अस्ति। उक्तद्विविधप्रमाणसिद्धः **सोऽयं** मद्बुद्धिवृत्तिप्रत्यक्षो, **देवः** चिन्मात्रस्वरूप आत्मा, **निरञ्जन** उपाधिरहितः, **अत्र** अस्मिन् प्रकरणे, **विविच्य** सर्वोपाधिभ्यः पृथक्कृत्य, **प्रदर्श्यते** मुमुक्षूणाम् अनुभवगोचरो यथा भवति तथा प्रकर्षेण निरूप्यते इत्यर्थः।।१।। (७२६)

तत्र तावद् आदौ अज्ञत्वाभिमानरूपोपाधेः आत्मानं विविच्य दर्शयति **अहमिति। अहम्** अहमवच्छिन्नः चिदाभासः, **अहं कः** अहं चिद्रूपोऽचिद्रूपो वा, ससंगः निःसङ्गो वा, जीवो ब्रह्म वा, **इति** अपि, **मां** मा, न **जानामि** न वेद्मि, अतः **अहमज्ञः** अहमज्ञानी अस्मि इति अनुभवरूपो **भावः** पदार्थः, **अज्ञानप्रभवः** अज्ञानं ज्ञानविरुद्धं भावरूपम् अज्ञानमिति लक्षणलक्षिताद् अविद्यापरपर्यायात्, प्रभव उत्पतिः यस्य स तथोक्तः अस्ति, **आत्मा** ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा, अज्ञानस्य तज्जन्याहंकारस्य अहम् अज्ञ इति भावस्य च प्रकाशकत्वात् ताभ्यां भिन्नो, **निरञ्जनः** स्वयंप्रकाशरूपत्वाद् अज्ञानतत्कार्यरूपोपाधेः आत्मनि असम्भवाद् निरुपाधिकः, अत एव **शुद्धो** मायाऽविद्यामलरहितः तत्साक्षित्वरूपमलरहितश्च अस्ति, एवं सर्वदा चिन्तनीयमिति भावः।।२।। (७२७)

जिस देव के होने में वेदान्त प्रमाण हैं, जीवन्मुक्त महात्माओं का अनुभव भी जिसके होने का साक्षी है (मैंने स्वयं भी जिसका स्वाद चखा है) उस सर्वोपाधिविहीन चिन्मात्ररूप आत्मदेव के स्वरूप का निरूपण इस प्रकरण में किया जायगा। (टीकानुसार अंतिम चरण है 'विविच्याऽत्र प्रदर्श्यते'।)।।१।।

मैं कौन हूँ? यह कुछ भी मैं नहीं जानता इसलिये अज्ञानी हूँ। ऐसे भाव अज्ञान के कारण उदय हुआ करते हैं। वह निरंजन स्वतःप्रकाश सर्वोपाधिविहीन शुद्ध आत्मा माया तथा अविद्या आदि से सर्वथा रहित रहने वाला तत्त्व है।।२।।

यदियं ब्रह्मविषया जीवस्य ध्येयतामतिः ।
स हि भ्रान्तिमयो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ।।३।।(७२८)

एवम् अज्ञानतदहंकाराभ्यां विविच्य आत्मानं दर्शयित्वा जीवस्य ब्रह्मविषयकध्येयत्वभ्रमोपाधेः आत्मानं विविच्य दर्शयति **यदिति। यद्** या ध्यानिषु। प्रत्यक्षा, **इयं** साक्षिचैतन्यप्रकाश्या, **ब्रह्मविषया** ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं ब्रह्म शबलं, तद्विषयो ध्येयं यस्याः सा तथोक्ता, **जीवस्य** प्राणोपाधिकस्य साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्य, जीवसम्बन्धिनीत्यर्थः। **ध्येयतामतिः** ध्यानविषयत्वनिश्चयरूपा वृत्तिः अस्ति तस्याः साक्षिप्रकाश्यत्वाद् ब्रह्मणो अविषयत्वे सति विषयत्वेनाङ्गीकाराच्च तस्मिन्नेव परमार्थतो ब्रह्मस्वरूपे सति जीवत्वनिश्चयाच्च **स** उक्तो, **भावः** पदार्थो, **भ्रान्तिमयो** भ्रन्तिरेव केवलमस्ति, अतः तत्साक्षी **आत्मा** ब्रह्माभिन्नो प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** अज्यते अनेन इति अञ्जनम् उपाधिः उक्तभ्रान्तिरूपः स निर्गतो निवृत्तो यस्मात् स तथोक्तः, अत एव **शुद्धो** निर्मलो, भ्रान्तिसाक्षित्वमलरहित इत्यर्थः, अस्तीति शेषः, विद्यते एवं निश्चेतव्यम् इति भावः।।३।। (७२८)

एवम् उक्तलक्षणं भ्रान्तेः आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं गुणत्रयात् तत्कृतबन्धनात् तदभिमानाच्च आत्मानं विविच्य दर्शयति **त्रिभिरिति। अहम्** अन्तःकरणस्य आन्तरा वृत्तिः अहमिति तद्विषयः अहं तद्वेद्यो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा परमार्थतः सन्नपि अन्तःकरणविषयत्वेन प्रतीयमानः सः अहं, **त्रिभिः** त्रिसंख्याकैः, **गुणैः** सत्त्वरजस्तमोभिधैः, **निबद्धो** बन्धनं प्राप्तः अस्मि, अतः सत्त्वगुणबद्धत्वाद् अहं ज्ञानी इति प्रतीतिः अहं शमवान् जितेन्द्रियः विरक्तः मुमुक्षुः इत्यादि प्रतीतिश्च स्वस्मिन् करोति। रजोगुणबद्धत्वाद् अहं कामी कर्त्ता लोभी इत्यादिप्रतीतिं स्वस्मिन् करोति। तमोगुणबद्धत्वाद् अहम् अज्ञानी क्रोधी स्तब्धः इत्यादिप्रतीतिं स्वस्मिन् करोति इति, अतः त्रिगुणबद्धत्वमिति भावः। अत एव **संसारे** सम्यक् सरति प्रसरति इति संसारः प्रपञ्चः अज्ञानतत्कार्यरूपः तस्मिन्नेव, **संसरामि** वर्त्ते, **अहं** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासः जन्ममरणादिसंसारम् अंगीकरोमि इत्यर्थः। **इत्याद्याः** एवमादय, **भावा** साक्षिदृश्याः पदार्थाः, **प्राकृताः** प्रकृतिसम्भवाः,

जोकि यह जीव ब्रह्म को अपना ध्येय मान बैठता है यह भी एक बड़ी भ्रान्ति है (क्योंकि आत्मदर्शन हो जाने पर विद्वान् को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं तो अब तक अपने अज्ञान के कारण ही उस ब्रह्म को अपनी ध्यानवृत्ति का विषय बना डालने का निष्फलोद्योग कर रहा था, मुझे तो आज यह मालूम हुआ है कि वह ब्रह्म कभी भी किसी का विषय नहीं होता। मैं तो अपने अज्ञान के कारण ही आज तक उस एक ही ब्रह्म में जीवत्व-ईश्वरत्व आदि भेददर्शनरूपी अपराध कर रहा था। इस भ्रान्तिपिशाची ने मुझे तो अपने ही स्वरूप के दर्शन आज तक नहीं होने दिये थे। ओहो, अब यह मालूम होकर मुझे स्वस्थता प्राप्त हुई है कि यह सब कुछ भ्रान्ति ही थी) आत्मा में तो कभी भ्रान्ति नहीं होती वह तो सर्वोपाधिविहीन और शुद्ध से भी शुद्ध है।।३।।

त्रिभिर्गुणैर्निबद्धोऽहं संसारे संसराम्यहम्।
इत्याद्याः प्राकृता भावाः आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४।।(७२९)
मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
अन्तःकरणजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।५।।(७३०)

प्रकृतेः त्रिगुणात्मकत्वात् तेषां धर्माणां च गुणकार्यत्वम् इति ज्ञेयम्। **आत्मा** तत्साक्षी **निरञ्जनः** प्रकृतितद्गुणतद्बन्धनतद्बद्धोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** तत्साक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयम्।।४।। (७२९)

एवं प्रकृतितद्गुणतत्कृतबन्धनतद्बद्धोपाधिभ्य आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीम् अन्तःकरणचतुष्टयरूपोपाधेरपि तं विविच्य दर्शयति **मन इति। मनः** संकल्पविकल्पात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः। **बुद्धिः** निश्चयरूपा अन्तःकरणवृत्तिः, **अहंकारः** तयोः आत्मतादात्म्यप्रतीतिरूपा अन्तःकरणवृत्तिः। **चित्तं च** अनुभवप्रत्यभिज्ञास्मृतिधर्मरूपा अन्तःकरणवृत्तिः, **इति** एवं **चतुष्टयं** चतुष्कं यदस्ति तत् स **भावः** पदार्थः, अन्तःकरणं पञ्चभूतसत्त्वगुणभागकार्यरूपं द्रव्यं तस्माद् जात उत्पन्नः अन्तःकरणविकृतिरूपः ज्ञेय, **आत्मा** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** अन्तःकरणतद्वृत्तिचतुष्कोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** तत्साक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयम्।।५।। (७३०)

तीन गुणों से बंधा हुआ मैं संसार में फंस रहा हूँ (जन्म-मरण से मेरा छुटकारा नहीं होता है। सत्त्वगुण से बंधकर मैं ज्ञानी शमवान् जितेन्द्रिय विरक्त तथा मुमुक्षु बन जाता हूँ; रजोगुण से बंधकर कामी कर्ता अथवा लोभी हो जाता हूँ; तमोगुण के वश में आकर अज्ञानी क्रोधी आदि बन बैठता हूँ।) इस प्रकार के सम्पूर्ण भाव प्राकृतिक कहाते हैं। इनका साक्षी निरंजन आत्मदेव तो प्रकृति के गुण, किंवा प्रकृति के बन्धन में कभी भी नहीं आता। वह तो सदा ही शुद्ध बना रहता है।।४।।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चारों अन्तःकरण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं आत्मा तो शुद्ध और निरंजन ही है।

जब मन संकल्पविकल्पात्मक होने लगे, बुद्धि किसी पदार्थ का निर्णय करने लग जाय, अहंकार किसी धर्म का गर्व करता हुआ प्रतीत हो, चित्त किसी अनुभव प्रत्यभिज्ञा, स्मृति आदि करने में फंस जाय और निरन्तर इसी प्रकार की वृत्तियाँ उदय होने लगें, तो तुरन्त ही यह विचारना चाहिये कि ये सब भाव अन्तःकरण के धर्म हैं, जोकि पाँचों भूतों के सात्त्विक भागों से बना है। भ्रान्ति से जिसमें ये सब प्रतीत हो रहे हैं वह आत्मा तो अन्तःकरण किंवा उसकी इन चारों वृत्तियों से सर्वथा रहित है, वह तो अत्यन्त शुद्ध है।।५।।

यच्च संकल्प्यते पूर्वं संकल्प्य च विकल्प्यते।
एते मनोभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।६।।(७३१)
इदमित्थमिदं नेत्थमिति निश्चीयते तु यत्।
स हि बुद्धिमयो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।७।।(७३२)

एवम् अन्तःकरणचतुष्टयोपाधेः आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं मनोवृत्तिभ्योपि तं विविच्य दर्शयति **यच्चेति**। **यत्** सर्वेषु प्रसिद्धं, **पूर्वं** प्रथमतः, **संकल्प्यते** इदं समीचीनमिति सम्यक्तया चिन्त्यते तत् **संकल्प्य** सम्यक्तया विचिन्त्य, **विकल्प्यते च** विपरीतत्वेन असमीचीनत्वेन चिन्त्यते अपि, एते उक्ताः संकल्पविकल्परूपा, **भावा** विकारा, **मनोभवा** मनसो मनोनाम्न्या अन्तःकरणवृत्तेः, भवा उत्पन्ना, मनोवृत्तय इत्यर्थः, ज्ञेयाः। **आत्मा** ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** मनस्तद्वृत्त्युपाधिभिन्नः, तदस्पृष्ट इत्यर्थः। अत एव **शुद्धः** मनस्तद्वृत्तिसाक्षित्वमलरहितः अस्ति इति अनुसन्धेयम्।।६।।(७३१)

एवं मनोवृत्तिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं बुद्धिवृत्तिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **इदमिति**। **इदं** घटादि द्रव्यं पुरो दृश्यमानम्, **इत्थम्** एतादृशं घटादिरूपमेव तथा **इदं** रज्ज्वादि द्रव्यं **नेत्थं** नेतादृशं सर्पादिरूपं नैव भवति, **इति** एवं, **यत्** प्रसिद्धं, **निश्चीयते** निश्चयेन ज्ञायते, **स हि** स उक्तो, हि प्रसिद्धो, **भावो** विकारो, **बुद्धिमयो** बुद्धिजन्यः, अस्ति इति ज्ञेयम्। **आत्मा** तत्साक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** निर्गतं सर्वदा निवृत्तम्, अञ्जनं बुद्धितद्वृत्त्युपाधिः, यस्मात् स तथाभूतः, अत एव **शुद्धः** तत्साक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयम्।।७।। (७३२)

इदानीम् अहंकारवृत्तिभ्योपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **ज्ञत्वेति**। **ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्ववध्यघातकतादयः** ज्ञत्वं ज्ञानेन्द्रियव्यापारकर्तृत्वाभिमानित्वं, कर्तृत्वं कर्मेन्द्रियव्यापारकर्तृत्वाभिमानित्वम्, एतदुभयं विज्ञानमयाभिमानजन्यं, भोक्तृत्वम् अहं भोक्ता इत्येवम् अभिमानित्वम्, एतद्

जिस पदार्थ को हम पहले अच्छा समझ रहे थे, कुछ काल पश्चात् उसी को बुरा समझने लगते हैं। ऐसे परिवर्तनशील संकल्पविकल्परूपी भावों को मन की वृत्तियाँ जान लेना चाहिये। आत्मा तो मन तथा मनोवृत्तियों से सर्वथा अस्पृष्ट रहता है। (ज्ञान के कारण ही हम आत्मा को मनन करने वाला मान बैठते हैं। वह तो परम शुद्ध है)।।६।।

यह पदार्थ जैसा दीखता है वैसा ही है, यह पदार्थ जैसा (सर्परूप) दीखता है वैसा नहीं है (किन्तु रज्जुरूप है) यह जो इस प्रकार निश्चय किया जाता है यह भाव तो बुद्धि के कारण उत्पन्न हुआ है। बुद्धि के साक्षी आत्मा से इस बुद्धिवृत्तिरूपी अञ्जन (मल) का सम्बन्ध कभी नहीं होता। वह तो (सदा ही पद्मपत्र की तरह) अत्यन्त निर्लेप ओर शुद्ध बना रहता है।।७।।

ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्ववध्यघातकतादयः।
अहंकारभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।८।।(७३३)
स्मृतिः पूर्वानुभूतस्य प्रत्यभिज्ञा च तादृशी।
एते चित्तभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।९।।(७३४)

आनन्दमयकोशाभिमानवृत्तिः, वध्यः अहम् एतस्य वधार्ह इत्येवं स्थूलशरीराभिमानित्वं घातकता घातकोऽहम् एतस्य इत्यभिमानः तस्य भावः तत्ता, आदिर्येषां ते तथाभूताः ते सर्वेऽपि, **भावा** विकारपदार्थो, अहंकाराद् उद्भव उत्पतिः येषां ते तथाभूता ज्ञेया। **आत्मा** अहंकारतद्वृत्तिसाक्षी प्रत्यक्चैतन्यरूपो, **निरञ्जनः** अहंकारतद्वृत्त्युपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** तत्साक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।८।। (७३३)

इदानीं चित्तवृत्तिरूपोपाधिभ्य आत्मानं विविच्य दर्शयति **स्मृतिरिति। पूर्वानुभूतस्य** पूर्वं पूर्वकाले कदाचिद्, अनुभूतः अनुभवगोचरः कृतः यः पदार्थः, तस्य घटादिपदार्थस्य, **स्मृतिः** स्मरणं, **तादृशी** तद्वत्, **प्रत्यभिज्ञा च** अनेकवृत्तिविषयाणाम् अनेकवृत्तीनाम् एकविषयत्वपूर्वकम् एकवृत्तित्वप्रतीतिः इति लक्षणलक्षिता सा प्रत्यभिज्ञाख्या वृत्तिः, एताभ्याम् अनुभवाख्या वृत्तिरपि ग्राह्या, **एते** स्मृत्यादयो, **भावाः** पदार्था, विकारा इत्यर्थः। **चित्तभवा** चित्तात् चित्ताख्याया अन्तःकरणवृत्तेः, भव उत्पत्तिः येषां ते तथोक्ता ज्ञेया। **आत्मा** चित्ततद्वृत्तिसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** चित्ततद्वृत्तिरूपोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** चित्ततद्वृत्तिसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसंधेयम्।।९।। (७३४)

एवम् अन्तःकरणचतुष्टयतद्वृत्त्युपाधिभ्य आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं शरीरत्रयतदभिमानिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **य इति। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु** जाग्रति इन्द्रियैरर्थोपलब्धिः जागरितम् इत्युक्तलक्षणायां जाग्रदवस्थायां, स्वप्ने च जाग्रदवस्थावत् सर्वेन्द्रियेषु सुप्तौ लीनेषु सत्सु जाग्रत्संस्कारजः प्रत्ययः स स्वप्न इत्युक्तलक्षणायां स्वप्नावस्थायां च, सुषुप्तौ च सर्वेन्द्रियाणां

ये ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता वध्य या घातक आदि सब भाव (विकार) मूलतः अहंकार से उत्पन्न हुए हैं। प्रत्यक्चैतन्यरूपी आत्मदेव तो अहंकाररूपी अंजन (मल) से सर्वथा रहित रहता है (उसका तो किसी काल में भी अहंकार किंवा उसकी वृत्तियों से किसी प्रकार का तात्त्विक सम्बन्ध नहीं हुआ) वह अत्यन्त शुद्ध है।।८।।

पूर्वकाल में अनुभव किये हुए पदार्थों के स्मरण को 'स्मृति' कहते हैं। पहले और पिछले दोनों ज्ञान जब एक विषयक हो जाते हैं, तो वह 'प्रत्यभिज्ञा' (पहचानना) कहाती है। ये सब विकार चित्त नामक अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न हुए हैं। चित्तवृत्ति के साक्षी प्रत्यगात्मा में चित्तवृत्तिरूपी मल का सम्बन्ध कभी नहीं होता। वह तो सदा ही शुद्ध बना रहता है।।९।।

ये विश्वतैजसप्राज्ञा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
अवस्थाभेदजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।१०।।(७३५)
निद्रालस्यं प्रमादश्च परिमोहो विषादकः।
एते तमोभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।११।।(७३६)

सुषुप्त्यवस्थायां क्रमेण **ये** प्रसिद्धा लोके च शास्त्रे च तत्तदवस्थाभिमानिनो, **विश्वतैजसप्राज्ञा** विश्वश्च जाग्रदभिमानी विश्वाभिधः, तैजसश्च स्वप्नावस्थाभिमानी तैजसनामा, प्राज्ञश्च सुषुप्त्यभिमानी प्राज्ञनामकः, सन्ति ते सर्वेपि एते **अवस्थाभेदजा** अवस्थानां जाग्रदाद्यवस्थानां ये भेदा वैलक्षण्यानि सन्ति तेभ्यः जाता उत्पन्ना, **भावा** विकारा ज्ञेयाः। एषां भिन्नत्वप्रतीताववस्थावैलक्षण्यमेव, तदभावे तदभावदर्शनादिति भावः। **आत्मा** तत्साक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** अवस्थात्रयतदभिमानिविश्वादित्रयोपाध्यतीतः, अतः एव **शुद्धः** तत्साक्षित्वमलास्पृष्टः, अस्ति इत्यनुसन्धेयः।।१०।। (७३५)

एवम् अवस्थात्रयतदभिमानिविश्वादित्रयरूपोपाधेः आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं तमस्तद्वृत्तिरूपोपाधिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **निद्रेति। निद्रा** सुषुप्तिः, **आलस्यं** कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः अनुत्साहपूर्वम् उपेक्षा, तत्र **प्रमादश्च** कर्त्तव्यास्फूर्तिः तद्विपरीतस्फूर्तिः वा, **परिमोहः** केवलास्फुरणमेव हिताहितयोः, **विषादको** विपरीतकृत्यं कृत्वा अनुखेदः, **एते** प्रसिद्धा लोकेषु **भावा** विकाराः, ते **तमोभवाः** तमसः तमोगुणाद्, भव उत्पत्तिः, येषां ते तथोक्ता ज्ञेयाः। **आत्मा** तमस्तद्भवविकारसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** तमस्तद्विकारोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** तमस्तद्विकारसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।११।। (७३६)

सत्त्वगुणतद्वृत्तिभ्योऽपि तं विविच्य दर्शयति **शम इति। शमः** श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्य इन्द्रियव्यावृत्तिरिति लक्षणलक्षितः शान्तिनामको भावः अन्तःकरणस्य। विविच्येते आत्मानात्मानावनेनेति

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के अभिमानी क्रम से 'विश्व' 'तैजस' तथा 'प्राज्ञ' कहाते हैं। परन्तु ये सब भाव अवस्था की विलक्षणता के कारण उत्पन्न हुए हैं। अवस्था की इस विलक्षणता के हट जाने पर यह भेदप्रतीति भी बन्द हो जाती है। आत्मा तो इन तीनों अवस्थाओं तथा इनके तीनों अभिमानियों से पृथक् है। वह शुद्ध है, निरंजन है।।१०।।

निद्रा, आलस्य (अनुत्साहपूर्वक कर्त्तव्याकर्त्तव्य की उपेक्षा), प्रमाद (कर्त्तव्य का अज्ञान तथा अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझना), परिमोह (कुछ भी ज्ञान न होना) तथा विषाद (विपरीत कार्य करके पश्चात्ताप) ये सब भाव तमोगुण के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। तम तथा तमोविकारों का साक्षी आत्मदेव तो इन समस्त मलों से असंपृक्त और शुद्ध है।।११।।

शमो विवेकः सौम्यत्वं प्रकाशश्च प्रसन्नता।
एते सत्त्वमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।१२।।(७३७)
लोभश्चञ्चलताक्षाणामारंभः कर्मणामपि।
एते रजोभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।१३।।(७३८)

विवेको विचारः, **सौम्यत्वं** विक्षेपरहितता, **प्रकाशश्च** पदार्थानां यथावत्स्फुरणरूपः अन्तकरणविकारः, **प्रसन्नता** क्षोभराहित्येन आत्मसुखस्फुरणम्, **एते** विवेकिषु दृश्यमाना, **भावाः** पदार्थविकाराः, **सत्त्वमयाः** सत्त्वस्य सत्त्वगुणस्य, विकारा ज्ञेयाः, **आत्मा** सत्त्वगुणतद्वृतिसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** सत्त्वतद्विकाररूपोपाधिरहितः, अतः **शुद्धः** सत्त्वतद्विकाराणां मायाकार्यत्वात् तत्साक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।१२।।(७३७)

इदानीं रजोगुणतद्विकारोपाधिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **लोभ इति। लोभः** प्राप्तेषु अपि विषयेषु सत्सु अपरितृप्तिरूपा वृत्तिः, **अक्षाणाम्** इन्द्रियाणां, **चञ्चलता** स्वस्वविषयेषु अस्थैर्यं, **कर्मणां** व्यापाराणाम्, **आरम्भः अपि** आरम्भोत्साहः अपि, **एते** व्यवहारे प्रसिद्धा **भावा** अन्तःकरणविकारपदार्था, **रजोभवा** रजोगुणाद् भव उत्पतिः येषां ते तथोक्ता ज्ञेयाः। **आत्मा** रजोगुणतद्विकारसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** रजोगुणतद्विकारोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्धः** रजोगुणतद्विकारसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।१३।। (७३८)

एवं गुणत्रयतद्विकारोपाधिभ्य आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं कर्तृत्वतदभिमानतत्कल्पितभावोपाधिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **विधिरिति। विधिश्च** विधीयते प्रवर्त्यते अनेनेति विधिः स्वविहितकर्मणि प्रवर्तकं शास्त्रवाक्यं 'ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत' 'क्षत्रियो राजसूयेन' 'वैश्यः सोमेन' इत्यादिरूपं, तथा **प्रतिषेधश्च** प्रतिषिध्यते निवार्यते अनेन इति प्रतिषेधः अविहितकर्मतो निवर्तकं वाक्यं 'ब्राह्मणं न हन्याद्' इत्येवंरूपं, **धर्माधर्मौ** धर्मश्च स्ववर्णाश्रमविहितः अधर्मश्च तद्विपरीतः तौ, तथा **शुभाशुभे** शुभं च धर्मफलं पुण्यम्, अशुभं च अधर्मफलं पापम्, एते प्रसिद्धा **भावा** विकाराः, **कर्तृत्वभाविताः** स्वस्मिन् यदध्यस्तं कर्तृत्वं

शान्ति, आत्मानात्मविचार, सौम्यत्व (विक्षेपराहित्य) प्रकाश (पदार्थ-ज्ञान) तथा प्रसन्नता (आत्मसुख की स्फूर्ति) आदि भाव सत्त्वगुण के विकार हैं। सत्त्वगुण तथा सात्त्विक वृत्तियों का साक्षी आत्मा तो इन सब सात्त्विक मलों किंवा परिवर्तनों से असंपृक्त रहता है। वह तो परम शुद्ध है।।१२।।

लोभ (विषयों के प्राप्त हो जाने पर भी तृप्ति न होना), इन्द्रियों की चंचलता तथा कार्यों में उत्साहये सब रजोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं। रजोगुण और रजोगुण के विकारों का साक्षी प्रत्यगात्मा तो निरंजन अर्थात् रजोगुण और उसके विकारों से सर्वथा रहित और शुद्ध ही है।।१३।।

विधिश्च प्रतिषेधश्च धर्माधर्मौ शुभाशुभम्।
कर्तृत्वभाविता भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।१४।।(७३९)
कृतिः कार्यं च करणं तत्र चेष्टाः पृथग्विधाः।
कर्तृत्वस्यानुगा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।१५।।(७४०)

तेन सह कृतेन स्वयं भाविताः सन्ति इति ज्ञेयम्। **आत्मा** अध्यस्तकर्तृत्वतत्कल्पितभावसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** कर्तृत्वतत्कल्पितधर्मोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** कर्तृत्वतत्कल्पितसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।१४।। (७३९)

इदानीं क्रियातत्करणादिरूपोपाधिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **कृतिरिति। कृतिः** क्रिया गमनादिरूपा, **कार्यं** क्रियाविषयः, करेण तृणं छिन्नमित्यत्र च्छिदिक्रियाव्याप्तं तृणं, **करणं** च तत्रैव च्छिदिक्रियासाधनं कररूपम्, एतद्विकारजातं, **पृथग्विधं** पृथग् भिन्ना, विधा प्रकारो यस्य तत् तथाभूतं, **तत्र** तेषु सत्सु पृथग्विधाः पृथग्विधा प्रकारो यासां ताः तथोक्ताः **चेष्टाः** स्थानगमनागमनोत्थानादिरूपाः सन्ति, ते एते सर्वे **भावा** विकाराः **कर्तृत्वस्य** स्वस्मिन् अध्यस्तं यत्कर्तृत्वं तस्य, **अनुगा** अनु पश्चाद्, गच्छन्ति इति अनुगाः, कर्तृत्वोपजीविन इत्यर्थः, सन्ति इति ज्ञेयाः। **आत्मा** कर्तृत्वतदनुवृत्तभावसाक्षी प्रत्यगात्मा **निरञ्जनः** कर्तृत्वतदनुसारिभावोपाधिभ्यो भिन्नः, अत एव **शुद्धः** कर्तृत्वतदनुगभावसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।१५।। (७४०)

एवं कर्तृत्वभोक्तृत्वतज्जन्यभावोपाधिभ्य आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं पञ्चभूतोपाधिभ्यः तं विविच्य दर्शयितुं तद्गुणभूतशब्दादिविषयोपाधिभ्यः तं विविच्य दर्शयति **शब्द इति। शब्द** आकाशगुणत्वेन प्रसिद्धः, **स्पर्शो** वायुगुणत्वेन प्रसिद्धः सामान्यरूपः, **रूपं** च तेजोगुणत्वेन प्रसिद्धं सामान्यरूपं, रसो जलगुणत्वेन प्रसिद्धः सामान्यरूपः, **पञ्चमः** पञ्चसंख्यापूरको, **गन्धश्च** पृथ्वीगुणत्वेन प्रसिद्धः सामान्यः, एते सर्वे, **भावा** विकाराः, **पञ्चभूतोद्भवाः** पञ्चसंख्यानि यानि भूतानि वियदादीनि तेभ्यः उद्भव उत्पत्तिः येषाम् ते तथोक्ता ज्ञेयाः, **आत्मा** तत्साक्षी

विधि (अपने वर्ण तथा आश्रम के कर्मों का विधान करने वाला शास्त्र) प्रतिषेध (निन्दित कर्मों का निषेध करने वाला शास्त्र) धर्म और अधर्म, शुभ और अशुभ आदि सम्पूर्ण विकार अपने में कर्तृत्व की भावना उत्पन्न हो जाने पर ही उत्पन्न हुआ करते हैं। आत्मा तो निरंजन अर्थात् कर्तृत्व के कारण कल्पना किये हुए अन्य सम्पूर्ण धर्मों से सर्वथा विहीन और शुद्ध ही है।।१४।।

क्रिया, कार्य, क्रिया का साधन तथा इन सब की नानाप्रकार की चेष्टायें ये सब बातें आत्मा में कर्तृत्व का अभ्यास होने के पश्चात् हुआ करती हैं। आत्मा तो कर्तृत्व और कर्तृत्व के अनुगत सकल विकारों से रहित और परम शुद्ध है।।१५।।

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
पञ्चभूतोद्भवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।१६।।(७४१)
आकाशमनिलस्तेजस्तोयमुर्वी च पञ्चमी।
पञ्चभूतमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।१७।।(७४२)
श्रोत्रं त्वङ्नयनं जिह्वा गंधग्राहश्च पञ्चमः।
ज्ञानेन्द्रियमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।१८।।(७४३)

प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** शब्दाद्युपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** तत्साक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।१६।। (७४१)

एवं शब्दाद्युपाधिभ्यो विविच्य आत्मानं दर्शयित्वा इदानीं तदाधारभूतपञ्चभूतोपाधिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **आकाशमिति। आकाशं** वियद्, **अनिलः** वायुः, **तेजः** अग्निः, **तोयं** जलं, **पञ्चमी** पञ्चसंख्यापूरका, **उर्वी च** धरा च, एते सांख्ये लोकेषु च प्रसिद्धा, **भावा** विकाराः, **पञ्चभूतमयाः** पञ्चसंख्यानि यानि भूतानि वियदादीनि तन्मयाः तद्रूपाः, सन्ति इति ज्ञेयाः। **आत्मा** पञ्चभूतसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** पञ्चभूतोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** पञ्चभूतसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।१७।। (७४२)

एवं पञ्चभूतोपाधिभ्य आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं तत्कार्यत्वेन प्रसिद्धज्ञानेन्द्रियोपाधिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **श्रोत्रमिति। श्रोत्रं** श्रूयते ज्ञायते शब्दः अनेन इति श्रोत्रम् आकाशकार्यम् आकाशगुणभूतशब्दज्ञानकरणं, **त्वग्** रोमकूपेषु स्थितं कार्यं वायोः तद्गुणस्पर्शज्ञानकरणं, **नयनं** नीयते प्राप्यते रूपम् अनेन इति नयनं तेजःकार्यम् तद्गुणरूपज्ञानकरणं, **जिह्वा** मुखस्थं जलकार्यं तद्गुणरसज्ञानकरणं, **पञ्चमः** एतेषां चतुर्णां पञ्चसंख्यापूरको, **गन्धग्राहश्च** गृह्यते अंगीक्रियते अनेन इति ग्रहो, गन्धस्य पृथ्वीगुणत्वेन प्रसिद्धस्य ग्रहो ग्रहणकरणभूतो ग्रह एव ग्राहः स्वार्थे अण्। यद्वा गन्धं गृह्णाति इति गन्धग्राहः कर्मणि अण्, गन्धज्ञानकरणम् इत्यर्थः। एते सर्वे, **ज्ञानेन्द्रियमया** ज्ञानक्रियाकरणभूतानि ज्ञानेन्द्रियाणि तन्मयाः तद्रूपा, **भावा** विकाराः सन्ति, **आत्मा** पञ्चज्ञानेन्द्रियसाक्षी प्रत्यगात्मा, निरञ्जनः पञ्चज्ञानेन्द्रियरूपोपाध्यतीतः, अत एव शुद्धः पञ्चज्ञानेन्द्रियसाक्षित्वमलरहितः अस्ति इति अनुसन्धेयः।।१८।। (७४३)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये सब विकार पाँचों भूतों के कारण उत्पन्न हुए हैं, इन सबके साक्षी निरंजन आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो इन सब उपाधियों से रहित और परम शुद्ध है।।१६।।

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये सब पाँच भूत कहाते हैं, इन सब के साक्षी निरंजन आत्मदेव से इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है।।१७।।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ कहाती हैं, इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव से इनका कोई भी तात्त्विक सम्बन्ध नहीं है।।१८।।

वाक्पाणिपादौ पायुश्च तथोपस्थश्च पञ्चमः।
कर्मेन्द्रियमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।१९।।(७४४)
ध्वनिर्वर्णविभेदा य आहतानाहतादयः।
शब्दभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।२०।।(७४५)

एवं पञ्चभूतकार्यभूतकर्मेन्द्रियोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **वागिति। वाग्** उच्यते अनया सा वाक्शब्दोच्चारक्रियाकरणं, **पाणिपादौ** पाणिश्च हस्तगोलकस्थम् आदान-क्रियात्यागक्रिययोः करणं, पादश्च पादगोलकस्थं गमनागमनादिक्रियाकरणं, **पायुश्च** गुदस्थं मलोत्सर्गक्रियाकरणं, **तथा पञ्चमः** पञ्चसंख्यापूरकः, **उपस्थश्च** शिश्नभगगोलकस्थं मैथुन-क्रियातज्जन्यसुखप्राप्ति-क्रिययोः करणम्, एते सर्वे, **भावा** विकाराः **कर्मेन्द्रियमया** कर्माणि क्रियाः तत्करणभूतानि इन्द्रस्य इमानि इन्द्रियाणि साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्य भोक्तुः सम्बन्धीनि इन्द्रियाणि, तन्मयाः तद्रूपा, **भावा** विकारा ज्ञेयाः, **आत्मा** पञ्चकर्मेन्द्रियसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** कर्मेन्द्रियोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** पञ्चकर्मेन्द्रिय-साक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।१९।। (७४४)

एवं दशेन्द्रियोपाधित आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं तद्विषयेभ्योऽपि तं विविच्य दर्शयति पञ्चभिः। तत्रादौ शब्दतद्भेदोपाधिभ्य आत्मानं विविच्य दर्शयति **ध्वनिरिति। ध्वनिः** अव्यक्तनादो मध्यमावाग्रूपो ये च **वर्णविभेदा** ये प्रसिद्धा वर्णनामकचटतपादयः तेषां विभेदाः संयुक्तवर्णाद्याः स्कस्तादयः च **आहतानाहतादय** आहता भेर्यादिजनिता, अनाहताश्च स्वत उत्पन्ना, पञ्चभूतोद्भवाः कर्णस्य पिधाने कृते सति श्रूयमाणाः त आदयः प्रथमा येषां ते तथोक्ताः, आदिपदेन मेघादिजनिताः शब्दा ग्राह्याः, सर्वे **ते** एते लोके अनुभूयमानाः, **शब्दभेदमयाः** शब्दस्य आकाशगुणत्वेन प्रसिद्धस्य, यो भेदः पार्थक्यं, तन्मयाः तद्रूपा ज्ञेयाः। **आत्मा** शब्दतद्भेदसाक्षी कूटस्थः, **निरञ्जनः** शब्दतद्भेदविकारोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** शब्दतद्भेदविकार-साक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।२०।। (७४५)

एवं शब्दतद्भेदरूपोपाधेः आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं मध्यमाशब्दवाच्य-ध्वनिभेदज्ञापनपूर्वकं ततोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **निषादेति। निषादर्षभगान्धारषड्ज-मध्यमधैवता** निषादो निषादनामक एकः, **ऋषभो** ऋषभनामको द्वितीयः, **गान्धारो** गान्धरनामकः

वाणी, हस्त, पाद, पायु तथा उपस्थ ये सब कर्मेन्द्रियाँ कहाती हैं। आत्मा तो इन सब से पृथक् होने के कारण परम शुद्ध है।।१९।।

ध्वनि (अव्यक्तशब्द) क, च, ट, त, प आदि वर्ण, भेरी आदि के आहत शब्द, तथा पाँच भूतों के अनाहत शब्द, ये सब शब्द के ही रूपान्तर हैं। शब्द तथा शब्दों के रूपान्तरों का साक्षी कूटस्थ निरंजन आत्मदेव तो परम शुद्ध है। (उसमें ये शब्दादि कोई विकार नहीं होते)।।२०।।

निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः ।
स्वरभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ।।२१।।(७४६)
शीतोष्णमृदुकाठिन्यतीक्ष्णरूक्षादिभेदतः ।
स्पर्शभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ।।२२।।(७४७)
रक्तं पीतं सितं कृष्णं हरितं चित्रमित्यपि ।
रूपभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः ।।२३।।(७४८)

तृतीयः, **षड्जः** षड्जनामकः चतुर्थः, **मध्यमो** मध्यमनामकः पञ्चमः, **धैवतो** धैवतनामा षष्ठः, अनुक्तोऽपि पञ्चमनामा सप्तमः, एते, **भावा** विकाराः, **स्वरभेदमयाः** स्वरः अव्यक्तनादः, तस्य भेदः पार्थक्यं, तन्मयाः तद्रूपा ज्ञेयाः। **आत्मा** तत्साक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** स्वरतद्भेदोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** स्वरतद्भेदसाक्षित्वमलरहितः अस्ति इति अनुसन्धेयः।।२१।। (७४६)

एवं स्वरतद्भेदोपाधित आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं वायुगुणभूतस्पर्शतद्भेदोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **शीतेति। शीतोष्णमृदुकाठिन्यतीक्ष्णरूक्षादिभेदतः** शीतः शीतलः, उष्णः तापको, मृदुः कोमलः, काठिन्यः कर्कशः, तीक्ष्णो दाहको, रूक्षः शुष्कः, एते आदयो येषां ते तथोक्ता, ये भेदा भेदवन्तः स्पर्शाः सार्वविभक्तिकस्तसिः, ते सर्वे **भावा** विकाराः, **स्पर्शभेदमयाः** स्पर्शस्य वायुगुणत्वेन प्रसिद्धस्य सामान्यस्पर्शस्य, ये भेदाः पञ्चीकृतत्वेन अनेकत्वं तन्मयाः तद्रूपा ज्ञेयाः, **आत्मा** स्पर्शतद्भेदसाक्षी प्रत्यगात्मा निरञ्जनः स्पर्शतद्भेदरूपोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्धः** स्पर्शतद्भेदसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।२२।। (७४७)

इदानीं रूपभेदतोऽपि तं विविच्य दर्शयति **रक्तमिति। रक्तं** शोणितं, **पीतं** हरिद्राभं, **सितं** श्वेतं, **कृष्णं** नीलं, **हरितं** पालाशं, **चित्रं** किर्मीरम्, **इति** एवम्, **अपिशब्दाद्** अन्यदपि, एते **भावा** विकारा, **रूपभेदमया** रूपस्य तेजोगुणत्वेन प्रसिद्धस्य सामान्यरूपस्य, यो भेदः पृथक्त्वं तेजसः पञ्चीकृतत्वेन तद्गुणस्यापि पृथक्त्वं तन्मयाः तद्रूपा ज्ञेयाः। **आत्मा** तत्साक्षी कूटस्थो, **निरञ्जनो** रूपतद्भेदोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्धो** रूपतद्भेदसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।२३।। (७४८)

निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत तथा पंचम ये सब भाव अव्यक्तनाद के ही रूपान्तर हैं। इन सब का साक्षी निरंजन प्रत्यगात्मा तो परम शुद्ध है।।२१।।

शीत, उष्ण, कोमल, कठिन, दाहक तथा रूक्ष आदि सब स्पर्श के ही अवान्तर भेद हैं। इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव में इनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।।२२।।

लाल, पीला, श्वेत, कृष्ण हरा तथा चितकबरा ये सब सामान्यरूप के ही अवान्तर भेद हैं। इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव में इनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।।२३।।

कटुः कषायो मधुरो लवणोऽम्लश्च तिक्तकः।
रसभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।२४।।(७४६)
चित्राः परिमलामोदसौरभासौरभादयः।
गन्धभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।२५।।(७५०)

इदानीं रसभेदोपाधितोऽपि तं विविच्य दर्शयति **कटुरिति। कटुः** कटुत्वविशिष्टः, **कषायः** कषायरसः, **मधुरो** मिष्टरसः, **लवणः** क्षाररसः, **अम्लश्च** अम्लरसः, **तिक्तकः** तिक्तरसश्च, एते सर्वे **भावा** विकारा, **रसभेदमया** रसस्य जलगुणत्वेन प्रसिद्धस्य सामान्यरसस्य जलस्य पञ्चीकृतत्वेन भेदः पृथक्त्वं तन्मयाः तद्रूपा ज्ञेयाः, **आत्मा** तत्साक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** रसतद्भेदविकारोपाध्यतीतः, अत एव शुद्धः रसतद्विकारसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।२४।। (७४६)

इदानीं गन्धतद्भेदरूपोपाधितोऽपि तं विविच्य दर्शयति **चित्रा इति। परिमलामोदसौरभासौरभादयः** परिमलो जनमनोहरो गन्धः, आमोदो दूरगामी गन्धः, सौरभः सुगन्धः, असौरभः दुर्गन्धः एते आदयः प्रथमा येषां ते तथोक्ताः, **चित्रा** विचित्ररूपाः। यद्वा **चित्रापरिमलेतिपाठे** चित्रगन्धोपि व्यञ्जनादीनां ग्राह्यः, अपरिमलश्च सामान्यसुगन्धः। एते **भावा** विकारा, **गन्धभेदमया** गन्धः पृथ्वीगुणत्वेन प्रसिद्धः सामान्यः तस्य यो भेदः पञ्चीकृतत्वेनानेकत्वं तन्मयाः तद्रूपा ज्ञेयाः। **आत्मा** गन्धतद्भेदविकारसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** गन्धतद्विकारोपाधितो भिन्नः, अत एव **शुद्धो** गन्धतद्विकारसाक्षित्वमलरहितः अस्ति इति ज्ञेयः।।२५।। (७५०)

एवं पञ्चभूततद्गुणोपाधित आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं पञ्चीकृतभूतजन्यस्थूलदेहयोनिभेदोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **जरायुजेति। जरायुजाण्डजस्वेदसंभवोद्भिज्जकादयो** जरायुजा गर्भोपरिवेष्टनजालं जरायुः तस्माज्जाताः, अण्डजा अण्डेभ्यो जाताः पक्ष्यादयः, स्वेदसंभवाः स्वेदो घर्मः तस्मात् सम्भवो जन्म येषां ते तथोक्ता यूकामत्कुणादयः, उद्भिज्जका उद्भिद्य पृथिवीं जाता उत्पन्नाः ते उद्भिज्जकाः, एते आदयो येषां ते तथोक्ताः, एते **भावा** विकारा **योनिभेदभवा** योनेः कारणस्य यो भेदः पार्थक्यं तस्माद् भवा उत्पन्ना ज्ञेयाः, **आत्मा** योनितद्भेदतदुद्भवदेहसाक्षी प्रत्यगात्मा **निरञ्जनो** योनितद्भेदतदुद्भवदेहाद्युपाधिरहितः अत एव **शुद्धः** तत्साक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।२६।। (७५१)

कड़वा, कसैला, मीठा, नमकीन, खट्टा तथा तीखा ये सब सामान्यरस के ही अवान्तर भेद हैं। इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव में इनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं हुआ है। वह तो परम शुद्ध है।।२४।।

परिमल (जनमनोहारि गन्ध), आमोद (दूरगामी गन्ध), सुगन्ध तथा दुर्गन्ध आदि विचित्र गन्ध (पंचीकरण के कारण) सामान्य गन्ध के ही रूपान्तर हो गये हैं। इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव में इनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।।२५।।

जरायुजाण्डजस्वेदसंभवोद्भिज्जकादयः।
प्राणिभेदमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।२६।।(७५१)
ससुरासुरगन्धर्वयक्षरक्षोनरादयः।
जीवजातिमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।२७।।(७५२)
शैववैष्णवसावित्रशाक्तगाणपतादयः।
इष्टदैवतजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।२८।।(७५३)

तत्र योनिभेदोत्पन्नेषु मध्ये प्राणिषु नीचत्वेन अण्डजानुपेक्ष्य जरायुजभेदोद्भवोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **ससुरेति। ससुरासुरगन्धर्वयक्षरक्षोनरादयः** सुरैः देवैः सहिताः ससुरा, असुरा दैत्याः, गन्धर्वा देवगायकाः, यक्षाः किंनराः, रक्षांसि राक्षसाः, नरा मनुष्याः, आदयः प्रथमा येषां ते, सर्वे **भावाः** विकारा **जीवजातिमया** जीवानां कल्पितदेहजातिरूपा ज्ञेयाः। **आत्मा** जीवतत्कल्पितदेहजातिसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** जीवतत्कल्पितदेहजात्युपाध्यस्पृष्टः, अत एव **शुद्धो** जीवतत्कल्पितदेहजातिसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।२७।। (७५२)

एवं स्थूलजातिरूपोपाधित आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीं स्थूलदेह उपास्यभेदेन कल्पितजात्युपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **शैवेति। शैववैष्णवसावित्रशाक्तगाणपतादयः** शैवाः शिवोपासकाः, वैष्णवा विष्णूपासकाः, सावित्रा सूर्योपासकाः, शाक्ताः शक्त्युपासकाः, गाणपता गणेशोपासकाः, एते आदयो मुख्या येषां ते तथोक्ताः ते, एते **इष्टदैवतजा** इष्टं प्रियं यद् दैवतं देवता ततो जाता उत्पन्नाः ते तथोक्ता, **भावा** विकारा ज्ञेयाः, **आत्मा** इष्टदैवततदुपासनतत्कर्तृरूपोपाधिसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जन** इष्टदैवततदुपासकोपाधिरहितः,अत एव **शुद्धः** इष्टदैवततदुपासकसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।२८।। (७५३)

जरायुज, अण्डज, (पक्षी आदि) स्वेदज (यूका मत्कुण आदि) तथा उद्भिज्ज (वृक्ष आदि) ये सब प्राणियों के ही अवान्तर भेद हैं इन सब के साक्षी आत्मा में तो इन भेदों का किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। (वह तो सम्पूर्ण योनियों में सदा एकरस ही रहता है इसीलिये) वह परम शुद्ध है।।२६।।

सुर, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा मनुष्य आदि सब भाव जीवों की (कल्पित) देहजातियों के ही अवान्तर भेद हैं। इन सब के साक्षी आत्मा में तो इनका किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं है (वह तो इन सम्पूर्ण जातियों में सदा एकरस रहता ही है)। इसीलिये परम शुद्ध है।।२७।।

शैव, वैष्णव, सावित्र (सूर्योपासक), शाक्त तथा गणेश के उपासकये सब भेद अपने अपने इष्टदेवताओं के कारण उत्पन्न हो गये हैं। इन सब भेदों के साक्षी निरंजन आत्मा में इनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है।।२८।।

वासिष्ठगार्ग्यशाण्डिल्यभार्गवांगीरसादयः ।
गोत्रप्रवरजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः । ।२९ । ।(७५४)
पौराणिकच्छान्दसिकज्योतिर्विद्भिषगादयः ।
विद्यावृत्तिभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः । ।३० । ।(७५५)

एवम् उपास्यतज्जन्यविकारोपाधित आत्मानं विविच्य दर्शयित्वा इदानीम् ऋषितत्कुलतद्गोत्रप्रवरोपाधिभ्य आत्मानं विविच्य दर्शयति **वासिष्ठेति । वासिष्ठगार्ग्यशाण्डिल्य-भार्गवांगीरसादयो** वासिष्ठो वसिष्ठस्य गोत्रापत्यं पुमान् वासिष्ठो, वसिष्ठकुलजत्वाद् वसिष्ठगोत्र इत्यर्थः। गार्ग्यो गर्गस्य गोत्रापत्यं पुमान् गार्ग्यो, गर्गकुलोद्भवत्वाद् गार्ग्य इत्यर्थः । शाण्डिल्यः शाण्डिल्यकुलोत्पन्नः। भार्गवो भृगोः गोत्रापत्यं पुमान् भार्गवो, भृगुकुलोत्पन्नत्वाद् भार्गव इत्यर्थः । आंगिरसो अंगिरसो गोत्रापत्यं पुमान् आंगिरसः, अंगिरः कुलोत्पन्न इत्यर्थः । एते **भावा** विकारा **गोत्रप्रवरजा** गोत्राणि प्रवराश्च तेभ्यो जाता उत्पन्ना विज्ञेयाः । **आत्मा** गोत्रप्रवरतदुत्पन्नभावसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** गोत्रप्रवरतज्जभावोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्धः** गोत्रप्रवरतदुत्पन्नभावोपाधिसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः । ।२९ । । (७५४)

इदानीं विद्यातद्वृत्तिभावोपाधिभ्योऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **पौराणिकेति। पौराणिकच्छान्दसिकज्योतिर्विद्भिषगादयः** पौराणिकः पुराणानि अधीते वेत्ति वा पौराणिकः पुराणविद्योपजीवी, छान्दसिकः छन्दो वेदम् अधीते वेद वा स च्छान्दसिको वेदोपजीवी, उभयत्र 'तदधीते तद्वेद' इति तद्धितष्ठक् 'ठस्येक' इति इकः । ज्योतिर्विद् ज्योतिः ज्योतिःशास्त्रं वेत्ति इति ज्योतिर्विद् ज्योतिःशास्त्रोपजीवी, भिषग् वैद्यो वैद्यविद्योपजीवी, एते आदयो मुख्या येषां शिल्पशास्त्रीत्यादीनां ते तथोक्ताः, ते सर्वे **भावा** विकारा, **विद्यावृत्तिभवा** विद्या ज्ञानसाधनभूतशास्त्राणि, यद्वा विद्याः पुराणाद्याः ताभ्यो या वृत्तिः जीविका ततो भवा उत्पन्ना ज्ञेयाः । **आत्मा** विद्यातद्वृत्तितज्जन्यभावानां साक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** विद्यातद्वृत्तितज्जन्यभावोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धो** विद्यातद्वृत्तिसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः । ।३० । । (७५५)

इदानीं यागजन्यभावोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **प्राच्येति । प्राच्यौदीच्याद्याः** प्राच्या यज्ञे प्राग्दिग्द्वाराधिकारिणः, औदीच्या उदग्द्वाराधिकारिणः, प्रतीच्याः पश्चिमद्वाराधिकारिणः,

वसिष्ठगोत्रोत्पन्न, गर्गगोत्रोत्पन्न, शाण्डिल्यकुलोत्पन्न, भृगुकुलोत्पन्न तथा अङ्गिरः कुलोत्पन्न आदि भाव गोत्र और प्रवर के कारण उत्पन्न हुए हैं। इन सबके साक्षी निरंजन आत्मदेव से इनका कोई सम्बन्ध नहीं; वह तो परम शुद्ध है। ।२९ । ।

पौराणिक, छान्दसिक, ज्योतिर्विद् तथा भिषक् आदि भिन्न भाव भिन्न-भिन्न विद्याओं और भिन्न-भिन्न वृत्तियों (व्यवसाय) के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी निरञ्जन आत्मदेव को तो ये भाव कभी स्पर्श भी नहीं करते। वह तो परम शुद्ध है। ।३० । ।

प्राच्यौदीच्यप्रतीच्याद्या दाक्षिणात्यादयः परे।
यागभेदोद्भवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।३१।।(७५६)
चित्रकृल्लेखकस्तक्षा वाचकः पाठकः परे।
क्रियाभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।३२।।(७५७)

एत आद्याः प्रथमा येषां ते तथोक्ताः, **परे** अन्येऽपि **दाक्षिणात्यादयो** दाक्षिणात्या दक्षिणद्वाराधिकारिणः, आदयः प्रमुखा येषां ते तथाभूताः ते, एते सर्वे, भावा विकारा यागभेदभवा यागो यज्ञः तन्निमित्तको यो द्वारभेदः तस्माद् भवो जन्म येषां ते तथाभूताः ज्ञेयाः। **आत्मा** यागतद्द्वारतद्भेदतज्जभावसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** यागतद्द्वारनिमित्तोद्भवभावोपाध्यस्पृष्टः, अत एव **शुद्धः** यागादिविकारसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।३१।। (७५६)

इदानीं क्रियातज्जन्यभावोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **चित्रकृदिति। चित्रकृद्** चित्रक्रियोपजीवी, **लेखको** लेखक्रियोपजीवी, **तक्षा** काष्ठतनूकरणादिक्रियोपजीवी, **वाचको** वचनक्रियोपजीवी, **पाठकः** पठनक्रियोपजीवी, **परे** अन्येऽपि, गन्ता स्थाता इत्यादयो ग्राह्याः। एते **भावा** विकाराः, **क्रियाभेदभवाः** क्रियाणां कृतीनां यो भेदः पार्थक्यं तस्माद् भवा उत्पन्नाः ज्ञेयाः। **आत्मा** तत्तत्क्रियातत्तत्कर्तृतत्तद्भेदसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** क्रियातत्कर्तृतद्भेदोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्धः** क्रियातत्कर्तृतद्भेदसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।३१।। (७५७)

इदानीं शरीरसुन्दरताजन्यविकारोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शनति **हेमगौरेति। हेमगौरविशालाक्षसिंहसंहननादयो** हेमगौरो हेम सुवर्णं तद्वद् गौरः पीतवर्णः, 'पीतो गौरो हरिद्राभ' इत्यमरः, विशालाक्षो विशाले आकर्णान्तं विस्तीर्णे अक्षिणी नेत्रे यस्य स तथोक्तो, विशालनयन इत्यर्थः। सिंहसंहननः सिंहो मृगेन्द्रः तद्वत् संहननं गमनं यस्य स तथोक्तः। यद्वा सिंहवत् संहननम् उच्चस्कन्धोच्चवक्षस्थलत्वादिरूपं सौन्दर्यं यस्य स तथोक्तः। एते आदयो मुख्या येषां ते तथोक्ताः **भावा** विकाराः, **कायसौन्दर्यजाः** कायस्य देहस्य यत्सौन्दर्यं कमनीयत्वं तस्माद् जाता उत्पन्ना ज्ञेयाः। **आत्मा** शरीरतत्सौन्दर्यतज्जविकारसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** शरीरतत्सौन्दर्यतदुत्पन्न-

यज्ञशाला के पूर्वद्वाराधिकारी प्राच्य, उत्तराद्वाराधिकारी औदीच्य, पश्चिमद्वाराधिकारी प्रतीच्य, तथा दक्षिणद्वाराधिकारी दाक्षिणात्य कहाते हैं। ये सब भाव यज्ञ के द्वारभेद के कारण उत्पन्न हुए हैं, इनके साक्षी निरंजन आत्मदेव से इनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध ही है।।३१।।

चित्रकार, लेखक, तथा, वाचक तथा पाठक आदि भाव नाना प्रकार की क्रियाओं के कारण हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किस प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है; वह तो परम शुद्ध ही है।।३२।।

हेमगौरविशालाक्षसिंहसंहननादयः।
कायसौन्दर्यजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।३३।।(७५८)
मूकान्धपङ्गुबधिरकाणकञ्जाक्षकादयः।
कायवैरूप्यजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।३४।।(७५९)
पातालं वसुधा स्वर्गो महस्तपो जनादयः।
लोकभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।३५।।(७६०)

विकारोपाध्यस्पृष्टः, अत एव **शुद्धः** शरीरतत्सौन्दर्यतदुत्पन्नभावसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।३३।।(७५८)

इदानीं शरीरविरूपत्वतज्जन्यभावोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **मूकेति**। **मूकान्धपंगुबधिरकाणकञ्जाक्षकादयः** मूको गतवाग्, अन्धः चक्षुर्हीनः, पंगुः पादरहितो, बधिरः श्रोत्रहीनः, काणो गतैकनेत्रः, कञ्जाक्षको विडालाक्षः, **केकरतेति** पाठे तिर्यङ्नेत्रः, एते आदयः प्रथमभूता येषां कुब्जादीनां ते तथोक्ताः, त एते सर्वे **भावा** विकाराः **कायवैरूप्यजा** कायस्य देहस्य, यद्वैरूप्यम् असौन्दर्यं तस्माद् जाता ज्ञेयाः। **आत्मा** शरीरतद्वैरूप्यतदुत्पन्नविकारसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** शरीरतद्वैरूप्यतज्जभावोपाध्यस्पृष्टः, अतः **शुद्धः** शरीरतद्वैरूप्यतदुत्पन्नभावसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।३४।।(७५९)

सप्तलोकोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **पातालमिति**। **पातालम्** अधोभुवनं, **वसुधा** नरलोकः, **स्वर्गो** देवलोकः, **महो** महर्लोकः, **तपः** तपोलोकः, **जनो** जनलोकः, आदिः प्रथमो, येषां सत्यगोलोकादीनां ते तथोक्ताः, **लोकभेदभवा** लोकानां स्थानानां यो भेदः पृथक्त्वं तस्माद् भव उत्पत्तिः येषां ते तथाभूता, **भावा** विकारा ज्ञेयाः, **आत्मा** लोकतद्भेदसाक्षी कूटस्थो, **निरञ्जनो** लोकतद्भेदोपाध्यतीतः, अतः **शुद्धो** लोकतद्भेदसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।३५।।(७६०)

सुवर्ण की तरह गौर वर्ण, विशाल नयन, सिंह के समान पुष्ट अथवा सुन्दर शरीरवाला आदि सब भाव शरीर की सुन्दरता (कमनीयता) के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है वह तो परम शुद्ध है।।३३।।

मूक, अन्ध, पंगु (पादरहित), बधिर, काण तथा बिडालाक्ष आदि सब विकार शरीर की कुरूपता के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।।३४।।

पाताल (अधोभुवन), वसुधा (मनुष्यलोक), स्वर्ग (देवलोक), महर्लोक, तपोलोक, तथा जनलोक आदि भाव स्थानभेद के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।।३५।।

सिंहव्याघ्रवराहर्क्षहरिणप्लवगादयः।
पशुभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।३६।।(७६१)
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रादयः परे।
धातुभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।३७।।(७६२)

इदानीं स्थूलदेहोपलक्षितं यत्पशुत्वं तद्भेदोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **सिंहेति। सिंहव्याघ्रवराहर्क्षहरिणप्लवगादयः** सिंहः केसरी, व्याघ्रः शार्दूलः, वराहः सूकरः, ऋक्षो भल्लूकः, हरिणो मृगः, प्लवगो वानरः, एते आदयः प्रथमा येषां ते तथोक्ताः, एते सर्वे **भावा** विकाराः, पशुः पशुत्वं तस्य भेदो भिन्नत्वं तस्माद् भवा उत्पन्ना ज्ञेयाः। **आत्मा** पशुतद्भेदसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** पशुत्वतद्भेदोद्भवविकारोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्धः** पशुत्वतद्भेदोद्भवसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।३६।। (७६१)

इदानीं धातुतद्भेदोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **त्वगिति। त्वक्** त्वचा, **असृग्** रुधिरं, **मांसम्** आमिषं, **मेदः** त्वगन्तरस्थितशुक्लत्वगाकृतिः, **अस्थि** शरीरशुक्तयः, **मज्जा** अस्थिलग्नः सूक्ष्मत्वगाकृतिः, **शुक्रं** रेतः एते आदयो मुख्या येषु ते तथोक्ताः, **परे** अन्येऽपि, **भावा** विकारा, **धातुभेदभवा** धातूनां शरीरधारकाणां त्वगादीनां यो भेदः पृथक्त्वं तस्माद् भवा उत्पन्ना ज्ञेयाः, **आत्मा** धातुतद्भेदसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** धातुतद्भेदोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्धो** धातुतद्भेदतज्जविकारसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।३७।। (७६२)

इदानीं शरीरवायुतद्भेदोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **प्राण इति। प्राणः** प्रकर्षेण अनिति जीवयति शरीरेन्द्रियादिकं स प्राण एतन्नामको वायुः, अपानः अपानिति शरीरेन्द्रियादिकं परित्यज्य गच्छति। यद्वा शरीरादिकं तर्पयति सः अपानो वायुः। समानः समं यथा भवति तथा आनयति प्रापयति सर्वशरीरनाडीषु भक्षितम् अन्नपानादिकं स समान एतन्नामको वायुः, **च** अपि **उदानव्यानौ** च उदान उदूर्ध्वम् अनिति इति उदान उत्क्रमणवायुः, व्यानश्च विशेषेण अनिति सर्वं शरीरं व्यापको भूत्वा जीवयति सर्वशरीरमिति व्यानः, **ते** एते **पञ्च** पञ्चसंख्याकाः, **उदानो व्यानश्च पञ्चम** इति पाठे पञ्चसंख्यापूरको व्यानोपि इति व्याख्येयम्, एते **भावा** विकाराः **प्राणभेदभवाः** प्राणः शारीरो वायुः, तस्य यो भेदः पृथक्त्वं, तस्माद्भवा उत्पन्नाः, **आत्मा**

सिंह, शार्दूल, सूकर, भालू, हरिण तथा बन्दर आदि भाव पशुभेद के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।।३६।।

त्वचा, रुधिर, मांस, मेद (त्वचा के अन्दर सफेद खाल-सा एक पदार्थ), अस्थि (हड्डी), मज्जा (हड्डी पर लगी हुई सूक्ष्म त्वचा के समान एक पदार्थ) तथा वीर्य ये सब विकार, धातुओं के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी प्रत्यगात्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।।३७।।

प्राणापानसमानाश्चोदानव्यानौ च पञ्च ते।
प्राणभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।३८।।(७६३)
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः।
उपप्राणमया भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।३९।।(७६४)
ज्वरापस्मारकुष्ठानि वातपित्तकफादयः।
धातुवैषम्यजा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४०।।(७६५)

पञ्चप्राणवृत्तितद्भेदसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** पञ्चप्राणतद्भेदोपाध्यस्पृष्टः, अतः एव **शुद्धः** पञ्चप्राणतद्भेदसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।३८।। (७६३)

इदानीम् उपप्राणतद्भेदोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **नाग इति। नागो** नागनामा वायुः नेत्रोन्मीलनकरः 'नाग उन्मीलनकर' इत्युक्तेः, **कूर्मश्च** कूर्मनामा वायुः निमीलनकरः 'कूर्मः स्यात् तु निमीलने' इत्युक्तेः, **कृकरः** क्षुत्करो वायुः, 'क्षुत्करस्तु कृकर' इत्युक्तेः **देवदत्तो** देवदत्तनामा जृम्भणकरो वायुः, 'देवदत्तस्तु जृम्भणे' इत्युक्तेः, **धनञ्जयः** पोषणकरो वायुः, मृतं शरीरं संव्याप्य गते प्राणेऽपि तिष्ठति धनञ्जयः, इत्युक्तेः, एते **भावा** विकारा, **उपप्राणभवा** उपप्राणा प्राणानुसारिणः ततो भवा उत्पन्ना ज्ञेयाः, **आत्मा** उपप्राणतद्भेदसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** उपप्राणतद्भेदोपाध्यतीतः अतः **शुद्ध** उपप्राणतद्भेदसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।३९।। (७६४)

इदानीं ज्वरादिरोगोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **ज्वरेति। ज्वरापस्मारकुष्ठानि** ज्वरः तापरोगः, अपस्मारो मूर्छारोगः, कुष्ठं चाष्टादशभेदभिन्नश्वेतकुष्ठादिकं, **वातपित्तकफादयो** वातो वायुः, पित्तं पित्तनामधातुः, कफः श्लेष्मा, आदयो मुख्या येषां ते तथोक्ताः, एते **भावा** विकारा **धातुवैषम्यजा** रेतआदिधातूनां वैषम्यं क्षोभो वातपित्तकफरूपः ततश्च जाता ज्ञेयाः। **आत्मा** धातुतद्वैषम्यतदुत्पन्नविकारसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** धातुतद्वैषम्यतदुत्पन्नरोगरूपोपाध्यस्पृष्टः, अत एव **शुद्धो** धातुतद्वैषम्यतज्जरोगसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।४०।। (७६५)

प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान ये सब पाँचों भाव प्राणभेद के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।।३८।।

नाग (नेत्रों को खोलने वाला वायु), कूर्म (नेत्रों को बन्द करने वाला वायु), कृकर (भूख लगाने वाला वायु), देवदत्त (जंभाई लाने वाला वायु) तथा धनञ्जय (शरीर का पोषण करने वाला वायु) ये सब भाव उपप्राणों के कारण उत्पन्न हुए हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।।३९।।

पिंगलेडा सुषुम्णा च गान्धारी हस्तिकादयः।
नाडीभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४१।।(७६६)
उत्क्रान्तिगत्यागतयो याः स्वर्गनरकप्रदाः।
लिंगभेदोद्भवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४२।।(७६७)

इदानीं नाडीभेदोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **पिंगलेति। पिंगला** दक्षिणनासापुटे प्रवहती नाडी पिंगलाख्या, **इडा** वामनासापुटे प्रवहती नाडी इडाख्या, अन्या **सुषुम्णा च** क्षणं वामनासापुटे क्षणं दक्षिणनासापुटे प्रवहती नाडी सुषुम्णाख्या, **गान्धारी** गान्धारी नाम्नी नाडी, **हस्तिका** एतन्नाम्नी नाडी, आदिः प्रथमा यासां ताः तथोक्ता, एते सर्वे **भावा** विकारा, **नाडीभेदभवा** नाडीनां पिंगलादिनाडीनां भेदः पृथक्त्वं तस्माद् भव उत्पत्तिः येषां ते तथोक्ता ज्ञेयाः। आत्मा नाडी-तद्भेदोद्भवविकारसाक्षी प्रत्यगात्मा, निरञ्जनो नाडीतद्भेदोपाधिशून्यः, अत एव **शुद्धो** नाडीतद्-भेदसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।४१।। (७६६)

इदानीं गतितद्भेदतदुद्भवविकारोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **उत्क्रान्तीति। उत्क्रान्तिगत्यागतय** उत्क्रान्तिः उदानगत्या शरीरपरित्यागसन्मुखता, गतिः लोकान्तरं प्रति गमनम्, आगतिः नरक इह लोके वा आगमनम्, एता, **याः** शास्त्रेषु प्रसिद्धाः, **स्वर्गनरकप्रदाः** स्वर्गस्य स्वर्गसुखस्य, नरकस्य नरकदुःखस्य च, प्रदा दात्र्यः, ते, **एते भावा** विकारा, **लिंगभेदोद्भवा** लिंगशरीरस्य यो भेदः सत्त्वादिगुणोद्रेकेण पूर्वपूर्वगृहीतभावत्यागपुरःसरम् अन्यभावांगीकरणरूपः तस्माद् उद्भवा उत्पन्ना ज्ञेयाः। **आत्मा** लिंगतद्भेदतदुद्भवभावसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** लिंगतद्भेदतदुद्भवोपाधिशून्यः, अत एव **शुद्धो** लिंगतद्भेदतदुद्भवसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।४२।। (७६७)

ज्वर, मूर्च्छा, कुष्ठ तथा वात, पित्त, कफ आदि विकार धातुओं की विषमता के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनसे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो परम शुद्ध है।।४०।।

पिङ्गला, इडा, सुषुम्णा, गान्धारी तथा हस्तिक आदि भेद नाडियों की पृथक्ता के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।।४१।।

उत्क्रान्ति (शरीरत्यागतत्परता), गति, (लोकन्तरगमन) तथा आगति, जिनसे कि स्वर्ग और नरकादि की प्राप्ति होती है यह सब विकार लिंगभेद अर्थात् गुणों की न्यूनाधिकता के कारणजब कि लिंगशरीर पहले भावों को त्यागकर दूसरे नये भावों को ग्रहण किया करता है तबउत्पन्न हुआ करते हैं। इन सब के साक्षी आत्मा का तो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है; वह तो परम शुद्ध है।।४२।।

ब्राह्मणक्षत्रियो वैश्यः शूद्र इत्येवमादयः।
वर्णभेदभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४३।।(७६८)
ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुरिति क्रमात्।
आश्रमप्रभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४४।।(७६९)

इदानीं वर्णतद्भेदोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **ब्राह्मण इति। ब्राह्मणो** ब्रह्मवृत्त्युपजीविकः। क्षत्रेण क्षत्रं वा चरति **क्षत्रियः** क्षत्रधर्मेण प्रवर्त्तते क्षत्रकर्म वा आचरति इत्यर्थः, क्षत्रधर्मोपजीवी इत्यर्थः। **वैश्यो** विशा वैश्यवृत्त्या चरति स वैश्यो, वैश्यवृत्त्युपजीवी इत्यर्थः। **शूद्रः** शूद्रवृत्त्युपजीवी, **इति एवम्** एते च **आदयो** येषां ते तथोक्ता, **भावा** विकाराः, आदिपदेन सूततक्षचर्मकारसुवर्णकाराद्या ग्राह्याः, **वर्णभेदभवा** वर्णानां गुणकृतस्वभावानां यो भेदः पृथक्त्वं तस्माद् भवा उत्पन्ना ज्ञेयाः। **आत्मा** वर्णतद्भेदतदुद्भवविकारसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** वर्णतद्भेदतदुद्भवविकारोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्धो** वर्णतद्भेदतज्जविकारसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।४३।। (७६८)

इदानीं आश्रमभेदोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **ब्रह्मचारीति। ब्रह्मचारी** ब्रह्मचर्यव्रतनिष्ठः, स च उपकुर्वाणो नैष्ठिकश्च द्विविधोऽपि। **गृही** गृहस्थधर्मवान्, **वानप्रस्थो** वानप्रस्थधर्मवान्, **भिक्षुः** संन्यासी, **इति** एवं, **क्रमात्** क्रमेण ज्ञेयाः। ते **भावा** विकारा, **आश्रमप्रभवा** आश्रम्यते अस्मिन्निति आश्रमः तस्मात् प्रभवा उत्पन्ना ज्ञेयाः। **आत्मा** आश्रमतद्भेदसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जन** आश्रमतद्भेदरूपोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्ध** आश्रमतद्भेदसाक्षित्वमलहीनः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।४४।। (७६९)

इदानीं पाखण्डतद्भेदतदुपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **कापालिका इति। कापालिका** एककर्णे अस्थिकुण्डलधारिणो मुण्डमालां च विधृतवन्तो विशिष्टवेषाः प्रसिद्धाः, **क्षपणकाः** परमारणक्रियानिष्ठाः संन्यासधर्मरहितसंन्यासवेषधारिणः, **स्वेच्छाचाराः** स्वस्य इच्छयैव आचारो येषां ते वेदविहितान्यवेषाचारधारिणः कञ्चुकाचारिणः, इति प्रसिद्धाः। **दिगम्बरा** माध्यमिकनामानो नास्तिकाः, ते एते सर्वे **भावा** विकाराः **पाखण्डप्रभवाः** पापस्य दुःकृतस्य खण्डं चिह्नं तस्मात् प्रभव उत्पत्तिः येषां ते तथोक्ता ज्ञेयाः। **आत्मा** पाखण्डतद्भेदोद्भवविकारसाक्षी प्रत्यगात्मा,

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि सब भाव वर्णभेद के कारण उत्पन्न हुए हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है; वह तो परम शुद्ध है।।४३।।

ब्रह्मचारी (उपकुर्वाण तथा नैष्ठिक), गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी, ये चारों भाव आश्रम का परिवर्तन करने पर उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है, वह तो परम शुद्ध है।।४४।।

कापालिकाः क्षपणकाः स्वेच्छाचारा दिगम्बराः।
पाखण्डप्रभवा भावा आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४५।।(७७०)
ममता संमता मूढैर्न मता समतास्थितैः।
सोऽप्यहन्ताभवो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४६।।(७७१)
अहन्ताममते धीमन्नुभे मातृसुते अपि।
ते परस्परकुट्टिन्यौ तदेकामपि मा स्पृश।।४७।।(७७२)

निरञ्जनः पाखण्डतद्भेदतदुद्भवविकारोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** पाखण्डतद्भेदतदुद्भवविकारसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।४५।। (७७०)

इदानीं ममत्वनिर्ममत्वाभ्यां तदभिमानतोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **ममतेति। मूढैः** मूर्खैः, **ममता** ममत्वरूपो भावः सा, **संमता** इष्टीकृता, **समतास्थितैः** समतायां समत्वे गुणसाम्यरूपायां प्रकृतौ इत्यर्थः। **स्थितैः** अमूढैः **न मता** नेष्टीकृता, **सोऽपि** ममत्वेष्टीकरणानिष्टीकरणरूपोऽपि, **भावो** विकारः **अहन्ताभवो** अहन्ताया अहंकाराद्भव उत्पत्तिः यस्य स तथोक्तो ज्ञेयः। **आत्मा** ममत्वाममत्वसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनो** ममत्वनिर्ममत्वरूपोपाध्यतीतः, अत एव **शुद्धो** ममत्वनिर्ममत्वसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।४६।। (७७१)

ननु तर्हि ममता एव त्याज्या अहन्तायां को दोषो येन असौ त्यज्यते तत्राह **अहन्तेति। हे धीमन्** हे विवेकिन्, **उभे** द्वे, **अहन्ताममते** अहंकारममकारत्वे, **मातृसुते अपि** अहंकृतिः ममताया माता तस्याः तत उद्भवाद् ममतापि अहंकृतेः माता तस्या अपि तत उद्भवाद् एवम् अन्योन्यसुतात्वमपि उभयोः ज्ञेयम्। तथापि **ते अहन्ताममते परस्परकुट्टिन्यौ** अन्योन्ययोः कुट्टिन्यौ दूतिके स्तः, तत् तस्मात् कारणाद् उभयोः मध्य **एकामपि** अहन्तां ममतां वा, **मा स्पृश** मा अंगीकुरु, एकांगीकारे उभयोः अपि अंगीकारः स्यादिति भावः।।४७।। (७७२)

कापालिक (एक कान में हड्डी का कुण्डल, किंवा गले में मुण्डमाला पहनने वाले), क्षपणक (बौद्ध साधु), स्वेच्छाचारी तथा दिगम्बर ये सब भाव पाखण्ड के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबके साक्षी आत्मा का तो इनके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है वह तो परम शुद्ध है।।४५।।

मूढ अर्थात् संसार के पामर लोगों को ममता बड़ी प्यारी लगती है। परन्तु जो लोग समता में स्थित हो जाते हैं उन्हें फिर उस ममता से किसी प्रकार भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु इन दोनों प्रकार के भावों की उत्पत्ति तो अहंकार के कारण ही हुआ करती है। इन सब भावों के साक्षी आत्मदेव का तो इन (ममत्व और समत्व) से किसी प्रकार का भी तात्त्विक सम्बन्ध नहीं है वह तो परम शुद्ध है।।४६।।

हे धीमन्! ये दोनों अहन्ता और ममता एक दूसरे की माता भी हैं, और पुत्री भी हो जाती हैं। इतना ही नहीं, ये दोनों आपस की कुट्टिनी (दूतिका) का काम भी कर

सर्वे भावाः प्रलीयन्ते यस्मिन् भावे समुद्गते।
सोऽपि बोधमयो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४८।।(७७३)
यत्र बोधमयो भावो नास्ति भावे समुद्गते।
स हि शून्यमयो भाव आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।४६।।(७७४)

इदानीं सर्वभावलयोपलक्षितबोधरूपोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **सर्वे इति। यस्मिन्** विद्वत्प्रसिद्धे, **भावे** विकारे, **समुद्गते** सति समुत्पन्ने सति, **सर्वे** समस्ता, **भावा** विकाराः, **प्रलीयन्ते** नाशं प्राप्नुवन्ति, **सोऽपि** सर्वलयलक्षणलक्षितोऽपि, **भावो** विकारो, **बोधमयो** ज्ञानस्वरूपो ज्ञेयः। **आत्मा** सत्त्वतत्कार्यबोधसाक्षी प्रत्यगात्मा, **निरञ्जनः** सत्त्वतत्कार्यरूपबोधोपाधिशून्यः, अत एव **शुद्धः** सत्त्वतत्कार्यबोधसाक्षित्वमलरहितः।।४७।। (७७३)

इदानीं बोधतद्विषयजगदभावोपलक्षितशून्यरूपोपाधितोऽपि आत्मानं विविच्य दर्शयति **यत्रेति। यत्र** यस्मिन् प्रत्यक्षे, **भावे** विकारे, **समुद्गते** उत्पन्ने सति, **बोधमयो** ज्ञानरूपो, **भावो** विकारो, **नास्ति** न विद्यते, बोधमयाभावग्रहणेन तद्विषयभूतजगदभावोऽपि ग्राह्यः। जगद् अपि नास्ति न विद्यते, **सोऽपि** बोधतद्बोध्यजगदभावोपलक्षितो, **भावो** विकारः, शून्यरूपो ज्ञेयः। **आत्मा** शून्यसाक्षी कूटस्थः चिन्मात्रस्वरूपो, **निरञ्जनः** शून्यत्वोपाधिरहितः, अत एव **शुद्धः** शून्यसाक्षित्वमलरहितः, अस्ति इति अनुसन्धेयः।।४६।। (७७४)

ननु तर्हि देहादिसमस्तजगत्पदार्थानां तद्भावाख्यस्य शून्यस्य च तद्बोधस्यापि प्रतीयमानस्य सर्वस्य अनात्मत्वेन निषेधे कृते सति तद्रहितः तदन्यश्च आत्मा क इत्याशंक्याह **शून्याशून्ये इति। यस्मिन्** विद्वत्प्रत्यक्षे, **भावे समे** एकरूपे भावे पारमार्थिकसद्रूप आत्मानि, **शून्याशून्ये** शून्यं जगदभावरूपम्, अशून्यं च जगद्भावरूपं, ते उभे द्वे अपि, **समतां गते** समताम् एकरूपतां, गते प्राप्ते, भवतः **स भावः** शून्याशून्योभयसाम्यप्रकाशको भावः, **प्राज्ञः** प्रकर्षेण ज्ञः प्रज्ञः प्रज्ञ एव प्राज्ञः, सर्वज्ञ इत्यर्थः। स्वार्थे अण् प्रज्ञशब्दात् कर्त्तव्यः,

लेती हैं। इसीलिये बुद्धिमान् को उचित है कि इनमें से किसी एक को भी स्वीकार न करे। क्योंकि एक को स्वीकार करते ही दूसरी को भी स्वीकार करना ही पड़ता है।।४७।।

जिस (लोकोत्तर) भाव के उदय होने पर अन्य सम्पूर्ण भाव विनष्ट हो जाते हैं वह भाव (विकार) भी तो बोध के कारण ही उत्पन्न हुआ है। उसके साक्षी आत्मदेव का तो उसके साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है; वह तो परम शुद्ध है।।४८।।

जिस भाव के उदय होने पर अन्त में ज्ञानरूप विकार भी नहीं रह जाता, वह विकार भी तो अन्ततः शून्यरूप ही हो जाता है। उस शून्य का भी साक्षी आत्मा तो वैसे सम्पूर्ण मलों से सर्वथा रहित रहता है इसलिये परम शुद्ध है।।४६।।

शून्याशून्ये समे यस्मिन् भावे च समतां गते।
स भावस्त्वमसि प्राज्ञ आत्मा शुद्धो निरञ्जनः।।५०।।(७७५)
निरञ्जनस्य देवस्य पञ्चाशत्कविचारतः।
निरञ्जनस्य देवस्य निरञ्जनपदं व्रजेत्।।५१।।(७७६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे निरञ्जनपञ्चाशत्कं सप्तदशः।।

अथ यमुनाष्टकम्

उज्ज्वला मधुरा शीता पवित्रा यमुनेव चित्।
विविच्य दृष्टा हि मया श्यामिका याऽत्र स भ्रमः।।१।।(७७७)

ततश्च प्राज्ञशब्दः सर्वज्ञवाचकः सिद्धः। **आत्मा** स्वयं सद्रूपेण सर्वत्र सन्ततो व्यापक इत्यर्थ। **निरञ्जनः** शून्याशून्यतत्साम्यलक्षणोपाधिरहितः, अतः **शुद्धः** शून्याशून्यतत्साम्यसाक्षित्वमलरहितो, यः स **त्वमसि** त्वत्प्रकाश्यत्वेन सर्वपूर्वोक्तोपाध्यनुभवाद् भवान् एव आत्मा इत्यर्थः। 'न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्ततत्त्वमिहेष्यताम्' इत्युक्तत्वाद् 'नासदासीन्नो सदासीद्' इति श्रुत्या सदसतोः निषिद्धत्वात् तत्साम्यस्यापि तदुपेक्षितत्वसिद्धेः तत्प्रकाशकमात्मस्वरूपं पारमार्थिकं निश्चेतव्यमिति भावः।।५०।। (७७५)

इदानीं एतत्प्रकरणविचारफलमाह **निरञ्जनस्येति। निरञ्जनस्य** उपाधिरहितस्य, **देवस्य** चिन्मात्ररूपस्य आत्मनः, **पञ्चाशत्कविचारतः** पञ्चाशतां पञ्चाशत्संख्यानां श्लोकानां समूहः पञ्चाशत्कं, समूहे कन्प्रत्ययः, एतत्प्रकरणस्य विचारतो विवेकाद्, **निरञ्जनस्य** उपाधिरहितस्य, केवलस्य इत्यर्थः। **देवस्य** चिन्मात्रस्वरूपस्य आत्मनो, **निरञ्जनपदं** निरुपाधिकं यत्पदं स्वरूपं तद्, **व्रजेत्** प्राप्नुयात्।।५१।। (७७६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ निरञ्जनपञ्चाशत्कप्रकाशः सप्तदशः।।

जिस भाव के समता को प्राप्त हो जाने पर शून्य और अशून्य दोनों एक समान हो जाते हैं, हे विद्वन्, वही भाव तुम हो, वही आत्मा तुम हो; तुम शुद्ध और निरंजन पदार्थ हो।

जबकि किसी विद्वान् को सम एकरूप किंवा परमार्थसद्रूप आत्मा के दर्शन होने लगते हैं तो उस समय जगत् का होना और न होना ये दोनों ही भाव उसके लिये एकरूप हो जाते हैं। हे प्राज्ञ! हे सब कुछ जाननेवाले विद्वान्! तेरे जिस समभाव के उदय होने पर शून्य और अशून्य जैसे दो विरोधी भाव नहीं रह जाते, तू तो वही परम शुद्ध भाव है।।५०।।

निरंजन देव की महिमा का वर्णन करने वाले इन पचास श्लोकों को विचारने से सर्व उपाधियों से रहित केवल चैतन्यमात्रस्वरूप आत्मदेव के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त हो सकता है।।५१।।

एवं निरुपाधिकमात्मस्वरूपं सर्वोपाधिभ्यो विविच्य दर्शयित्वा इदानीं तस्यैव लक्षणैर्लक्षितानि लक्षणानि तैः लक्षयितुं यमुनासादृश्येन तदेव निरूपयिष्यन् यमुनाष्टकाख्यम् अष्टश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** निरञ्जनपञ्चाशत्कनिरूपणानन्तरं, **यमुनाष्टकं** यमुनाष्टकाख्यं प्रकरणं, निरूप्यते इति शेषः, तत्र तावद् आदौ यमुनाचितोः समानधर्मनिरूपणे सादृश्यं प्रदर्शयति **उज्ज्वलेति। उज्ज्वला** निर्मलजला, **पवित्रा** पवित्रयति जनान् सा पवित्रा स्वतश्च पवित्रा, **मधुरा** मिष्टजला, **शीता** शीतलगुणा, **यमुना इव** यथा यमुना कालिन्दी नदी, तथा **चित्** चेतनापि, **उज्ज्वला** निर्मला मायाऽविद्यादिमलरहिता, **मधुरा** सुखरूपत्वाद्, मिष्टा इति यावत्, **शीता** तापत्रयनिवर्तकत्वात् शीतलगुणा, **पवित्रा** पवित्रयति रागादिरहितं करोति अन्तःकरणं स्वाविर्भावेन इति पवित्रा अस्ति इति शेषः। ननु यमुना इव चिद् अस्ति इति कुतो ज्ञातं? तत्राह **विविच्येति। हि** यस्मात् कारणाद्, **मया** तव त्वत्स्वरूपोपदेशकेन, **विविच्य** सर्वोपाधितो विवेचनेन पृथक्कृत्य, **दृष्टा** अनुभूता, एवं च सर्वैरपि मदन्यैः सर्वोपाधितो विविच्य एव एतादृशी ज्ञातुं शक्या इति भावः। ननु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः उज्ज्वलत्वधर्मे समाने प्रतीयमाना श्यामिका कुतस्त्या? तत्राह **श्यामिकेति। या** प्रत्यक्षा सर्वेषां, **श्यामिका** नीलता, नैल्यम् इत्यर्थः। **अत्र** यमुनायां चिति च, यमुनायां नीलत्वं चिति तु अज्ञानरूपं नैल्यम् इति विवेकः। **स भ्रमः** सा भ्रान्तिरेव इति निश्चेतव्यम्। अतो यमुनाचितोः साम्याद् यमुनादृष्टान्तेन चिति तल्लक्षणलक्षितानि लक्षणानि योज्यानि इति भावः।।१।। (७७७)

मैंने विवेकपूर्वक देख लिया है कि यह चित्, यमुना की तरह उज्ज्वल भी है, मधुर भी है, शीतल भी है और पवित्र भी है, इसमें जो श्यामिका (अज्ञानान्धकार) दीखती है वह तो कोरा भ्रम ही है।

जिस प्रकार यमुना उज्ज्वल, मधुर शीतल और पवित्र है इसी प्रकार यह चिति भी (माया और अविद्यादि से रहित होने के कारण) उज्ज्वल है, (सुखरूप होने से) मधुर है, (तीनों तापों को हटाने से) शीतल है, और (इसका आविर्भाव होने पर चित्त के रागादि मल निवृत्त हो जाते हैं इसी से) यह पवित्र भी कहाती है। मैंने तो सब उपाधियों को हटाकर उस शुद्ध चैतन्य के साक्षात् दर्शन किये हैं। तुम भी चाहो तो मेरी तरह इसके दर्शन पा सकते हो। युक्ति तो वही है कि माला के मोतियों को हटाकर जैसे सूत्र के दर्शन होते हैं, इसी प्रकार सब संकल्पविकल्पों को इधर-उधर हटाकर आत्मचैतन्य के दर्शन करने का प्रयत्न करो, सबके हट जाने के पश्चात् सबका देखने वाला जो तत्त्व शेष रह जाता है वही तो यह चैतन्य है जिसकी हम यमुना से तुलना कर रहे हैं। जैसे यमुनां का जल उज्ज्वल होने पर भी उसमें जो नीलिमा प्रतीत होती है वह तो भ्रम किंवा उपचार से है इसी प्रकार हमारी इस शुद्ध चिति में जो कि यह अज्ञान प्रतीत होता है वह भी भ्रम ही है। यह निश्चय कर लो।।१।।

यत्त्वं वदसि चिद्रदेवी नीरूपा तूज्ज्वला कथम्।
तया प्रक्षालितं पश्य निर्मलं हृदयं मम।।२।।(७७८)
यत्त्वं वदसि चिद्रदेवी नीरसा मधुरा कथम्।
आस्वादयन्ति तां नित्यं रसिकाः शंकरादयः।।३।।(७७९)

एवं यमुनाचितोः उज्ज्वलत्वादिगुणैः सादृश्यं प्रतिपाद्य इदानीं स्थूणानिखननन्यायेन तदेव द्रढयितुम् आक्षिप्य समाधत्ते चतुर्भिः। तत्रादौ उज्ज्वलत्वम् आक्षिप्य समाधत्ते **यदिति**। हे शिष्य **त्वं** भवान्, **यद्** यस्मात् कारणात्, चिद्रदेवी चिन्मात्रस्वरूपा देवी स्वयं प्रकाशमाना, **तु** दृष्टान्तीकृतयमुनाविलक्षणा। तदेव वैलक्षण्यं स्पष्टमाह **नीरूपेति**। **नीरूपा** निर्गतं रूपं यस्या सा तथोक्ता अस्ति, तत् ततः कारणाद्, **उज्ज्वला** स्वच्छा, **कथं** केन प्रकारेण स्याद्, इति एवं, वदसि पृच्छसि, तर्हि त्वं **तया** चिता, **प्रक्षालितं** स्वाविर्भावेन धौतं, **मम** मे, **हृदयम्** अन्तःकरणं, **निर्मलं** मलरहितं, रागादिहीनम् इत्यर्थः। **पश्य** अवलोकय। तथा च अयं प्रयोगःचिद् उज्ज्वला भवितुर्महति, मदन्तःकरणनिर्मलकारित्वाद्, यन्नैवं न तदेवं यथा मलिनजलादि तथा च तन्नान्य-मलनिवर्त्तकमपि भवति अतः तद् उज्ज्वलमपि न भवति इत्यादिः।।२।। (७७८)

एवम् उज्ज्वलत्वं प्रसाध्य इदानीं चिति मधुरत्वम् आक्षिप्य समाधत्ते **यदिति**। हे शिष्य **यद्** यस्मात् कारणात्, **त्वं** भवान्, **चिद्रदेवी** चेत्यरहितचिन्मात्ररूपा स्वयं प्रकाशमाना, **नीरसा** निर्गतो रसो रस्यते इति रसो मधुरत्वादिरसो वैषयिकसुखम् इत्यर्थः, यस्याः सा तथोक्ता, रसनेन्द्रियरहितत्वाद् वा नीरसा रसज्ञानरहिता अस्ति, तत् ततो हेतोः, सा **मधुरा** मिष्टा, **कथं** केन प्रकारेण ज्ञेया, इति एवं, **वदसि**, तर्हि शृणु। **रसिका** रसं जानन्ति ते रसिकाः, **शंकरादयः** शंकरः सुखकरः शिव, आदिः प्रथमो येषां विष्णुब्रह्मादीनां ते सर्वे, **तां** चितिं, **नित्यं** सर्वदा, **आस्वादयन्ति** अनुभवन्ति, अतः ते जगत्सुखप्रदा ज्ञेयाः। सुखप्रदत्वे हेतुः स्वानन्दानुभवः, तेन च सुखरूपत्वे सुखप्रदत्वमपि, सुखप्रदत्वात् सुखरूपत्वाच्च रसिकत्वं तेषु विष्ण्वादिषु, रसिकत्वेन च तेषां स्वयं प्रकाशचिन्मात्रात्मरूपे रमणं चिति सुखरूपत्वं निश्चाययति इति भावः। अत्रापि अयं प्रयोगः, चिद् मधुरा भवितुमर्हति रसिकशंकरादिप्रीतिविषयत्वाद् यन्नैवं न तदेवं यथा दुःखं तद् रसिकप्रीतिविषयं न भवति अतः तत्सुखरूपमपि न भवति इति।।३।। (७७९)

अगर तुम पूछो कि नीरूप वह चिद्देवी उज्ज्वल कैसे है तो हम (अनुभव के आधर पर) कहते हैं कि उससे धोये हुए मेरे निर्मल हृदय को ही देख लो, मैं तो इसी से उसको निर्मल समझा हूँ। जैसे मैला जल किसी वस्त्र को निर्मल नहीं कर सकता इसी प्रकार यदि वह उज्ज्वल न होती तो मेरे मैले अन्तःकरण को इतना पवित्र कैसे कर सकती।।२।।

अगर तुम पूछो कि उस नीरस चिद्देवी को मधुर क्यों कहते हो तो सुनोशंकर आदि जैसे रसिक लोग सदा उसका स्वाद लेते रहते हैं इसी से हम उसे मधुर कहते हैं। रसिक होने पर भी जब वे लोग स्वयंप्रकाश चैतन्य में रमण करते हैं, तो चैतन्य में मधुरता का अनुमान हमें भी करना ही पड़ता है।।३।।

यत्त्वं वदसि चिद्देवी निःस्पर्शा शीतला कथम्।
पश्य तस्याः प्रसादेन गतं तापत्रयं मम।।४।।(७८०)
यत्त्वं वदसि चिद्देवी निर्गुणा पावनी कथम्।
तत्पवित्रीकृतान् पश्य कचदत्तशुकादिकान्।।५।।(७८१)

एवं मधुरत्वं सम्भाव्य इदानीं शीतलत्वमपि आक्षिप्य सम्भावयति **यत्त्वमिति**। हे शिष्य **यद्** यस्मात् कारणात्, **त्वम्** आक्षेपको भूत्वा, **चिद्देवी** चेत्यरहितचिन्मात्ररूपा देवी स्वयंप्रकाशरूपेण द्योतमाना, **निःस्पर्शा** त्वगिन्द्रियरहितत्वेन स्पर्शगुणरहिता अस्ति, तत् ततो हेतोः, **शीतला** शैत्यगुणवती, **कथं** केन प्रकारेण सम्भाव्या, इति एवं, **वदसि** कथयसि, यदि तर्हि शृणु **तस्याः** चितेः **प्रसादेन** आविर्भावलक्षणेन अनुग्रहेण, **मम** मे, **तापत्रयम्** आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकानां तापानं दुःखानां, त्रयं त्रिकं, **गतं** नष्टं, त्वं **पश्य** अवलोकय, त्वगिन्द्रियविषयत्वाभावेऽपि चिति शीतलत्वम् अन्तःकरणतापत्रयनिवर्तकत्वानुपपत्त्याख्यलक्षणलक्षितलक्षणया सम्भाव्यमिति भावः। अत्रायं प्रयोगः चिद् शीतला भवितुमर्हति अस्पर्शत्वे सति चेतस्तापनिवर्तकत्वाद् यन्नैवं न तदेवं यथा जलादि द्रव्यं तच्च अस्पर्शत्वे सति चेतस्तापनिवर्त्तकं न भवति अतः पारमार्थिकं शीतलमपि न भवति। एवं च आत्मचिदेव पारमार्थिकी शीतला अन्यत्तु प्रातिभासिकं शीतलं ज्ञेयम्।।४।। (७८०)

एवं शीतलत्वं सम्भावयित्वा पवित्रत्वमपि आक्षिप्य सम्भावयति **यदिति**। हे शिष्य **त्वं** पृच्छको भूत्वा, **चित्** चेत्यरहितचिन्मात्रा **देवी** द्योतमाना, स्वयंप्रकाशा इत्यर्थः। **निर्गुणा** गुणरहिता अस्ति, **यद्** यतः, अतः पावनी पावनत्वस्यापि गुणत्वात् सा पावनी पावनं पवित्रकरणरूपो गुणः सः अस्या अस्ति इति **पावनी, कथं** केन प्रकारेण सम्भाव्या, इति एवं **वदसि** ब्रूषे, चेत् तर्हि, त्वं **तत्पवित्रीकृतान् तया** एव चिता स्वाविर्भावेन पवित्रीकृतान् मायाऽविद्यारागादिमलनिरासेन शुद्धीकृतान्, **कचदत्तशुकादिकान्** कचो बृहस्पतेः पुत्रः, दत्तः अत्रेः पुत्रः, शुको व्यासपुत्रः, एते आदयो मुख्या येषाम् आर्षभादीनां ते तथोक्ताः तान्, त्वं **पश्य** अवलोकय। अत्रायं प्रयोगः चित् पावनी भवितुमर्हति निर्गुणत्वे सति अन्येषां पावनत्वाद् यन्नैवं न तदेवं यथा वाय्वादिः स निर्गुणत्वे सति अन्यपावको न भवति अतः स्वतोऽपि पावनो न भवति अतः चिदेव परमार्थतः पावनी वाय्वादिषु यत् पावनज्ञानं तद् भ्रान्तमेव इति भावः।।५।। (७८१)

यह जो तुम कहते हो कि वह स्पर्शविहीन चिद्देवी शीतल कैसे हो सकती है? तो सुनो, जबसे उस चिद्देवी का मेरे हृदय में आविर्भाव हुआ है तभी से उसकी कृपा से मेरे (आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) तीनों प्रकार के ताप (दुःख) सर्वथा नष्ट हो गये हैं।।४।।

यह जो तुम कहते हो कि वह चिद्देवी निर्गुण है तो फिर पावनी (पवित्र करने वाली) कैसे है? तो इसका उत्तर सुनो! उस (चित् के आविर्भाव) से पवित्र हुए कच (बृहस्पति का पुत्र) दत्त (अत्रि का पुत्र) शुक (व्यास का पुत्र) तथा आर्षभादि के चरित्र को तो

अथ शिष्यः पृच्छति

गुरो लाक्षणिकैरेव किं लक्षयसि लक्षणैः।
लक्षणैर्लक्षय स्वामिंस्तल्लक्ष्यं लक्ष्यते यथा।।६।।(७८२)

अत्रोत्तरम्

लक्ष्ये लक्षणवल्लक्ष्यमिह लक्ष्ये न लक्षणम्।
विलक्षणमिदं लक्ष्यं लक्षणैवात्र लक्षणम्।।७।।(७८३)

अतः परं शिष्यप्रश्नमवतारयितुमाह **अथेति। अथ** अनन्तरं, **शिष्यः पृच्छति** प्रश्नं करोति, तमेव प्रश्नम् उदाहरति **गुरो इति।** हे **गुरो** गृणाति हितम् उपदिशति इति गुरुः तस्य संबोधने हे गुरो हे दैशिक, **लाक्षणिकैरेव** लक्षणैः लक्षणया बोधितैः एव केवलं, **लक्षणैः** चिह्नैः, तद् आत्मरूपं, **लक्ष्यं** लक्षणैः बोद्धुं योग्यं वस्तु, **किं** कुतो, **लक्षयसि** बोधयसि, हे **स्वामिन्** हे गुरो, **तद्** आत्मस्वरूपं, **लक्ष्यं** लक्षणैः ज्ञाप्यं वस्तु, **लक्षणैः** चिह्नैः, **यथा** यद्वद्, **लक्ष्यते** ज्ञायते, तथा तद्वद्, **लक्षय** बोधय।।६।। (७८२)

अस्य प्रश्नस्य उत्तरं दातुम् आह **अत्रेति। अत्र** अस्मिन् प्रश्ने, **उत्तरं** प्रतिवाक्यम्, उच्यते इति शेषः, तदेवोत्तरम् उदाहरति **लक्ष्य इति। लक्ष्ये** अन्यलक्षणैः बोध्ये वस्तुनि, **लक्षणवद्** यथा लक्षणानि सन्ति तद्वद्, **इह** आत्मस्वरूपे लक्ष्ये, लक्षणैः बोध्ये वस्तुनि, **लक्षणं** चिह्नं **न लक्ष्यं** न लक्षितुं योग्यम्। कुत इत्यत आह **विलक्षणमिति। इदम्** आत्मस्वरूपं, **लक्ष्यं** लक्षणया बोद्धुं योग्यं वस्तु, **विलक्षणम्** अन्यलक्ष्यविपरीतलक्षणवद् लक्षणहीनं चास्ति, निर्गुणत्वाद् अरूपत्वात् स्वप्रकाशत्वाच्च, अतो **लक्षणैव** केवलं भागलक्षणैव, **अत्र** अस्मिन् लक्ष्ये, **लक्षणं** बोधाय चिह्नं भवति, नान्यद्, अन्यलक्ष्ये तु लक्षणसंभवात् परप्रकाश्यत्वाच्च लक्षणं संभवति एव इति भावः।।७।।(७८३)

देखो (उक्त दृष्टान्तों से यही मानना पड़ता है कि यह चिद्देवी निर्गुण भी है और परमपावनी भी है)।।५।।

हे गुरो! तुम आत्मस्वरूप के लक्षणों को भी लक्षणावृत्ति से क्यों बता रहे हो (बताओ तो सही ऐसे हेर फेर से बताने पर वह गुहाहित आत्मवस्तु हम लोगों को क्योंकर ज्ञात हो सकेगी? अजी! क्या किसी को अरण्य के परतीर भेजना हो तो टेढ़ामेढ़ा मार्ग बताना हितकर होगा!) मुझे तो आप उस आत्मदेव के सीधे से सीधे लक्षण बताने की कृपा कीजिये। जिससे कि मैं उस लक्ष्य को सुगमता के साथ समझ सकूँ।।६।।

उत्तर हैः संसारिक लक्ष्यों में लक्षणों की तरह इस लक्ष्य में लक्षण को लक्ष्य मत करो (मत टटोलो) यह लक्ष्य तो बड़ा ही विलक्षण है, इसमें तो लक्षणा ही लक्षण है।

पयस्यमलगम्भीरे श्यामिका भ्रान्तिरूपिणी।
ब्रह्मण्यमलगम्भीरेप्यविद्या भ्रान्तिरूपिणी।।८।।(७८४)

इति श्रीनरहरिविरचिते बोधसारे यमुनाष्टकम्।।

अथ शिलाधेनुषट्कम्

अनन्तकोटिचन्द्राणां चन्द्रिकाभिः कृता किमु।
आह्लादरूपिणी दृष्टा मया धेनुः शिलामयी।।१।।(७८५)

एवं प्रश्नं समाधय इदानीं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः श्यामिकापदवाच्यम् अपि अर्थं बोधयंस्तन्निषेधति **पयसीति। अमलगम्भीरे** अमलं च तद्गम्भीरं चागान्धं तस्मिन्, **पयसि** जले, **श्यामिका** कालिमा, या प्रदृश्यते सा **भ्रान्तिरूपिणी** भ्रान्तिः भ्रम एव रूपं स्वरूपं यस्याः तथाभूता अस्ति इति ज्ञातव्या, न तु सा वास्तवीत्यर्थः। श्यामत्वभासने हेतुः अगाधत्वं तदसत्त्वसम्भवे हेतुः निर्मलत्वमिति विवेकः। दार्ष्टान्तिकेऽपि आह **ब्रह्मणि इति। अमलगम्भीरे** न विद्यते मलः अविद्यादिरूपः यस्मिन् तदमलं गम्भीरं च अनन्तत्वाद् अगाधम्, एतादृशे विशेषणद्वयवति, **ब्रह्मणि** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्ये आत्मनि, **अविद्यापि** अज्ञानमपि, **भ्रान्तिरूपिणी** भ्रान्तिः भ्रमः एव रूपं स्वरूपं यस्याः सा तथाभूता अस्ति, न तु वास्तवीत्यर्थः। अत्रापि चेत्यरहितचिन्मात्रानन्तत्वम् अविद्याप्रतीतौ हेतुः, निर्मलस्वप्रकाशचिन्मात्रत्वम् अविद्याऽसत्त्वे हेतुः इति विवेकः। अतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसाम्यं सिद्धमिति भावः।।८।। (७८४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ यमुनाष्टकप्रकाशः अष्टादशः।।

हे शिष्य! सुनो सांसारिक लक्ष्य पदार्थों के जैसे कोई न कोई लक्षण हुआ करते हैं उस तरह इस लक्ष्य आत्मवस्तु का कोई भी बताने योग्य लक्षण ढूंढना या पूछना नहीं चाहिये। जब किसी पदार्थ में कोई गुण किंवा आकार रहता है तो उन्हीं को उसका लक्षण कहने लगते हैं, परन्तु इसमें तो कोई गुण या आकार नहीं है साथ ही लक्ष्य पदार्थ का घटादि की तरह परतः प्रकाश्य होना भी आवश्यक होता है। इसके विपरीत आत्मवस्तु तो सर्वथा निर्गुण निराकार तथा स्वतःप्रकाश्य और स्वसंवेद्य है। फिर भला इस आत्मा का लक्षण ही क्या हो? यह अलौकिक लक्ष्य तो सर्वलक्षणों से विहीन है। इसको तो केवल भागलक्षणा से ज्यों त्यों करके थोड़ा बहुत जाना जा सकता है। इसलिए लक्षणावृत्ति से ही आत्मा के लक्षणों को समझना पड़ता है।।७।।

निर्मल और गम्भीर जलों में जो काला-या नीलापन दिखाई पड़ता है वह भ्रम होता है। ठीक इसी प्रकार निर्मल तथा गम्भीर ब्रह्म में जो अविद्या प्रतीत होती है, वह भी भ्रमरूप ही है।

एवं यमुनासादृश्येनात्मस्वरूपं निरूप्य इदानीं तदेव पुनः शिलाधेनुरूपेण निरूपयन् शिलाधेनुषट्काख्यं प्रकरणं षट्श्लोकम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** यमुनाष्टकनिरूपणानन्तरं, **शिलाधेनुषट्कं** शिलाधेनोः षट्कं षण्णां श्लोकानां समूहरूपं प्रकरणं, निरूप्यते इति शेषः, तत्र तावद् आदौ शिलाधेनोः स्वस्य साक्षात्कारोऽस्ति इत्याह **अनन्तेति। अनन्तकोटिचन्द्राणाम्** अनन्ता अपरिमिताः, कोटयः कोटिसंख्या, ये चन्द्रा निशाकराः, तेषाम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डापेक्षया चन्द्राणामपि अनन्तकोटित्वं ज्ञेयं, तेषां **चन्द्रिकाभिः** ज्योत्स्नाभिः उपादानभूताभिः, **कृता** निर्मिता, **किमु** किमिति उत्प्रेक्षा। चन्द्रिकाकार्यत्वोत्प्रेक्षणे निमित्तमाह **आह्लादरूपिणीति** आह्लादो हर्ष एव रूपम् आकारो यस्याः सा तथोक्ता, **शिलामयी** शिलारूपा, चेत्यरहितचिन्मात्ररूपत्वात् चितेः जडशिलासादृश्यं ज्ञेयम्। **धेनुः** धिनोति प्रीणाति जगदिति धेनुः सकलजगदानन्दकरत्वाद् धेनुत्वम्, 'एष ह्येवानन्दयाति' इति श्रुतेः, **मया** तत्स्वरूपनिरूपणकर्त्रा, **दृष्टा** साक्षाद् अनुभूता, अतो मत्कृततन्निरूपणे अप्रामाण्यं न शंकनीयमिति भावः।।१।। (७८५)

अगाध होने के कारण ही जल में नीलापन मालूम पड़ने लगता है परन्तु उसे उछालकर देखने पर जबकि उसकी निर्मलता का भान होता है तो हम उस नीलिमा को भ्रान्ति समझ लेते हैं। फिर चाहे वह हमें नीलापन दीखता भी रहे। इसी प्रकार (अविद्यादि मलों से रहित होने से) निर्मल और (अनन्त होने से) अतिगम्भीर ब्रह्म में यह जो अज्ञान मालूम होता है वह तो भ्रम ही है वह वास्तविक नहीं है। उस ब्रह्मतत्त्व को जब हम ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा उछालकर देखेंगे तो मालूम हो जायगा कि उसमें अविद्या नहीं है, अभी अभी जो विचार हम करते हैं वे सब अविद्या की गोद में बैठकर करते हैं, जब हम ब्रह्म की गोद में पहुँचकर विचार करेंगे तो मालूम होगा कि अविद्या है ही नहीं। सूर्य में जैसे अन्धकार नहीं रहता इसी प्रकार ब्रह्म में अविद्या को रहने को जगह ही नहीं है। जब कोई सूर्य में खड़ा हो सके तो उसे अन्धकार दीखे ही नहीं, जब कोई ब्रह्मतत्त्व में दृष्टि जमा सके तो उसे अविद्या दीखे ही नहीं। यह सब बखेड़ा तो उसमें दृष्टि न जमने तक का ही है। उसकी अनन्तता के कारण ही उसमें कहीं कहीं अज्ञान किंवा अविद्या की प्रतीति होने लगती है। परन्तु जब समाधिभावना के द्वारा उसकी निर्मलता, असङ्गता, अकर्तृता आदि का बोध हो जाता है तो उस अविद्या कि प्रतीति को भ्रान्त ही समझना पड़ जाता है।।३।।

मैंने (समाधि के समय) परमाह्लादरूपिणी शिलामयीधेनु को देखा है। वह तो देखने में ऐसी मालूम पड़ती थी मानों अनन्तकोटि चन्द्रमाओं की चांदनियों से उसे बनाया गया हो।।१।।

न धावति न हन्त्येव न खादति पिबत्यपि।
स्वभावनिर्मला सेयं हृष्टिपुष्टिमती स्थिता।।२।।(७८६)
रोमरेखासु विभ्रान्ताः तस्या ब्रह्माण्डकोटयः।
अपर्यन्ता स्थिता धेनुः सा काश्मीरशिलामयी।।३।।(७८७)

ननु धेनुत्वे तस्या धावनखानपानाद्यपेक्षा लोकधेनोरिव स्यादित्याशंक्य तां वारयति अर्धेन **नेति। न धावति** न गच्छति, 'अपाणिपाद' इति श्रुतेः, पादरहितत्वाद् गन्तव्यदेशाभावाच्च, तथा **न हन्त्येव** नैव हिंसति, हिंस्यस्य अन्यस्य अभावात् कर्तृत्वस्यापि बाधितत्वाच्च, **न खादति** न भक्षति, आनन्दरूपत्वेन नित्यतृप्तत्वाद् भोज्यद्वैतासत्त्वाच्च, अपि च निर्विकारत्वेन भोक्तृत्वविकारासम्भवाच्च, **न पिबति अपि** आनन्दरूपत्वेन नित्यतृप्तत्वादेव न पानाद्यपेक्षा इति भावः। **स्वभावनिर्मला** स्वभावेनैव स्वत एव निर्मला शुद्धा, अत एव नित्यं सर्वदैव, हृष्टिपुष्टिमती हृष्टिः हर्षः, पुष्टिः पुष्टत्वं, तद्वती, **स्थिता** तिष्ठति इति ज्ञेया।।२।। (७८६)

कामधेनोः विश्वामित्रदण्डाय निःसृतानि रोमभ्यः सैन्यानीति पुराणेषु प्रतापः श्रूयते यः ततोऽपि अस्याम् आधिक्यं प्रतापस्य दर्शयति **रोमरेखास्विति। तस्याः** शिलाधेनो **रोमरेखासु** रोमकूपेषु **ब्रह्माण्डकोटयो** ब्रह्माण्डानां त्रिलोकानां, कोटयः अपरिमितकोटिकोटिसमूहा, **विभ्रान्ता** विपरीततया विशिष्टरूपेण च भ्रान्ता भ्रमरूपाः, तिष्ठन्ति इति शेषः, शबलब्रह्मणामत्र रोमरेखास्थानीयत्वं तत्रैव ब्रह्माण्डानां कल्पितत्वादिति भावः। तस्या महत्त्वमपि अन्यसामान्यधेनुकामधेनुभ्योऽपि अधिकं दर्शयति **अपर्यन्ता इति। सा** उक्ता, **धेनुः** सर्वप्राणितर्पणकर्त्री गौः **अपर्यन्ता** न विद्यते परितः

न यह दौड़ती है, न किसी को मारती है, न कुछ खाती है, न कुछ पीती है, यह तो स्वाभाव से ही निर्मल है, कुछ न खा पी कर भी वह मोटी ताजी बनी रहती है। उस अद्भुत धेनु की महिमा का वर्णन कहाँ तक करूँ? वह तो लौकिक धेनु की तरह न चलती है, न सींगों से मारती है, न घास फूंस खाती है और न पानी ही पीती है। हमारी वह कामधेनु सर्वत्र परिपूर्ण हो रही है उसको कहीं भी पहुँचना नहीं है, इसीसे उसे पैरों की आवश्यकता नहीं है। इसलिये वह चलती नहीं। अपने से भिन्न मारने योग्य दूसरा पदार्थ न होने तथा कर्तृत्व धर्म से रहित होने के कारण उसने मारना सीखा ही नहीं। स्वयं आनन्दरूप होने, नित्य तृप्त होने, खाने योग्य द्वैत (चीज़) के न रहने तथा भोक्तापन जैसे सर्वविकारों से हीन होने के कारण खाना तो उसने कभी जाना ही नहीं, आनन्दरूप तथा नित्यतृप्त होने से वह कुछ पीती भी नहीं। वह तो स्वभाव से ही निर्मल है इसीलिये वह सदा ही हृष्ट पुष्ट रहती है। कमजोर होना या निर्बल होना किंवा किसी प्रकार का भी परिवर्तन आने देना जैसे विषम भावों को तो वह क्षणमात्र भी सहन नहीं करती।।२।।

आयान्ति यान्ति धावन्ति नृत्यन्ति च हसन्ति च।
प्रतिबिम्बा जीवरूपास्तस्याः सा तु यथा स्थिता।।४।।(७८८)
नीरसापि सुधामिष्टा निर्गुणापि प्रिया सताम्।
नीरूपाप्यतिकान्ता सा मया दृष्टा न तु श्रुता।।५।।(७८९)

अन्तः परिच्छेदो यस्याः सा तथोक्ता, अनन्ता इत्यर्थः। **स्थिता** तिष्ठति, सा च **काश्मीरशिलामयी** काश्मीरे उत्पन्ना शिला स्फटिकाख्या तन्मयी तद्रूपा इत्यर्थः, अस्ति इति शेषः। स्वच्छत्वेन चेत्यरहितचिन्मात्रत्वाद् ज्ञानाभावेन च काश्मीरशिलारूपत्वं निरूपितमिति भावः।।३।। (७८७)

तस्याः स्फटिकमयत्वं यदुक्तं तत्प्रयोजनमाह **आयान्ति इति। तस्याः** काश्मीरशिलामयधेनोः, **जीवरूपा** जीवाकृतयः, **प्रतिबिम्बा** आभासा, **आयान्ति** आगच्छन्ति, **यान्ति** गच्छन्ति, **धावन्ति** त्वरितं वेगेन गच्छन्ति अपि **च** पुनः, **नृत्यन्ति** हर्षेण नटवद् अनन्तरूपैः नृत्यं कुर्वन्ति, **च** पुनः, **हसन्ति** वैषयिकसुखोद्भवे सुखित्वाभिमत्या हास्यमपि कुर्वन्ति, एवंविधजीवविविधाकारेषु प्रतीयमानेषु अप्रतीयमानेषु च सत्सु अपि अनेकविधप्रतिबिम्बेषु प्रतीयमानेषु अपि स्फटिक इव सा तु काश्मीरशिलाधेनुश्च **यथा स्थिता** यथा पूर्वं निर्विकारा तथैव स्थिता तिष्ठति।।४।। (७८८)

(उस शिलाधेनु के विस्तृत साम्राज्य का वर्णन कहाँ तक किया जाय) उसके एक-एक रोमकूप में करोड़ों करोड़ों ब्रह्माण्ड (त्रिलोकियाँ) चक्कर खा रहे हैं। (लौकिक धेनुओं के समान सब प्राणियों का तर्पण करने वाली) इस धेनु का कहीं भी पर्यन्त (समाप्ति, किनारा) नहीं है। वह तो काश्मीर के (स्फटिक) पत्थर के समान अत्यन्त शुद्ध है। (उसमें किसी प्रकार के रागमलादि का सम्पर्क नहीं है।।३।।

उस धेनु के जीवरूपी प्रतिबिम्ब आते हैं, जाते हैं दौड़ते हैं, नाचते हैं, और हँसते हैं परन्तु वह तो वैसी की वैसी ही बनी रहती है।

यदि स्फटिक की शिला के पास कोई देहधारी आता, जाता, दौड़ता, नाचता किंवा हँसता है तो उसमें उसी के अनुरूप आकृतियाँ बनी-सी दिखाई देने लगती हैं। परन्तु उसमें वस्तुतः कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार उस कश्मीर शिलामयी आत्मधेनु के जीवरूपी प्रतिबिम्ब (आभास) कभी आते हैं, कभी चले जाते हैं, कर्म की तीव्र गति के प्रभाव में आकर कभी तेजी से दौड़ते हैं, कभी बहुरूपिये की तरह अनन्तरूप धारण करके नाचने लगते हैं और जब कभी क्षुद्र वैषयिक सुख मिल जाता है तो अपने को धन्य समझकर अन्तस्तल तक न पहुँचने वाली श्मशान की सी रौद्र हँसी हँस भी लेते हैं। परन्तु क्या इन क्रियाओं किंवा इन विकारों का लेशमात्र भी प्रभाव उस आत्मधेनु पर पड़ता है? नहीं, वह तो सदा ही पहिले की तरह निर्विकार बनी रहती है।।४।।

ननु पाषाणमयत्वे नीरसत्वं स्यादित्याशंक्य स्थूलदृष्ट्या नीरसत्वेऽपि तस्या रसरूपत्वम् अस्ति इति आह **नीरसेति। नीरसापि** यद्यपि रसः सुखं वैषयिकषड्विधो रसश्च निर्गतो निवृत्तो यस्याः सा तथोक्ता अस्ति, तथापि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतिभिः सुखरूपत्वप्रतिपादनात्, सुखरूपत्वादेव **सुधामिष्टा** सुधा अमृतं तद्वद् मिष्टा मधुरा अस्ति, तथा **निर्गुणापि** निर्गता निवृत्ता गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपाः तत्कार्याणि च सुशीलत्वादयो यस्यां सा तथोक्ता अस्ति यद्यपि **सतां** तत्स्वरूपनिश्चयवताम् 'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इति श्रुतेः। **प्रिया** प्रीतिविषया, इष्टा इत्यर्थः, भवति इति शेषः। तथा **नीरूपापि** निर्गतं रूपं यस्याः सा तथोक्ता, निराकारा इत्यर्थः, अस्ति यद्यपि, तथापि **सा** धेनुः **अतिकान्ता** अत्यन्तकमनीया भवति प्रीतिविषयत्वाद् अतिकमनीयत्वमपि सुखरूपत्वादेव ज्ञेयम्। ननु एतादृशी धेनुः भवता दृष्टा वा श्रुता? श्रुता चेद् वञ्चकैः मिथ्याभ्रामितत्वेन तद्वचनजन्यं ज्ञानं ग्लावप्लववाक्यवद् भ्रान्तमेव अतोऽप्रामाण्येन अग्राह्यं स्याद् इत्याशंक्य, आद्यानंगीकारेणैव द्वितीयमवष्टभ्य आह **मयेति। मया** त्वदुपदेशकेन, **दृष्टा** साक्षाद् अनुभूता, **न तु श्रुता** केवलश्रुतस्याऽपि शिलाप्लववाक्यजन्यज्ञानस्य भ्रान्तत्ववद् भ्रान्तत्वं निवारयितुं दृष्टत्वं मयि अंगीकार्यम् इत्युभयोः ग्रहणम् इति अनवद्यमिति भावः।।५।। (७८६)

वह नीरस होने पर भी सुधा की तरह मीठी है, निर्गुण होने पर भी सत्पुरुषों को बड़ी प्यारी है, नीरूप होने पर भी बड़ी मनोहारि (सुन्दर) है। उसे मैंने स्वयं देखा है, सुनी हुई बातें नहीं कर रहा हूँ।

जिस आत्मधेनु के विषय में मैं यह सब कुछ कह रहा हूँ यह कोई मेरी कानों सुनी बात नहीं है जिससे कि इसकी सत्यता में सन्देह किया जा सके। इसका तो समाधिकाल में मैंने स्वयं ही अनुभव किया है। उसकी अभूतपूर्व महिमा का कहाँ तक वर्णण करूँ? यह आत्मधेनु तो सर्वथा नीरस (वैषयिक मघुर अम्ललवणादि छः प्रकार के रसों से रहित) होने पर भी सुधा के समान मधुर है "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, रसो वै सः" जो सबसे बड़ा हो वही सुख है अल्प किंवा परिच्छिन्न पदार्थों में सुख नहीं है। सोचने पर ज्ञात होता है कि क्षणिक सुख दुःख ही है। सुख का अभाव ही कुछ दुःख नहीं है, किन्तु थोड़ा सुख भी दुःख ही है। क्योंकि उस सुख के समाप्त होने पर निश्चय ही अधिक दुःख प्राप्त होता है, भोगते समय भी उसके नाश की चिन्ता भी कुछ कम दुःख नहीं देती। विज्ञान और आनन्द ही तो ब्रह्म है, असली रस तो वही है (वैषयिक रस तो रसाभास हैं)। वह आत्मधेनु यद्यपि अत्यन्त निर्गुण कहाती है तथापि साक्षात् करने वाले महापुरुषों को वह अत्यन्त प्यारी होती है (वे लोग तो **'निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना'** आधा निमेष भी ब्रह्ममयी वृत्ति किये बिना नहीं रह सकते) सर्वथा नीरूप (निराकार) होने पर भी वह आत्मधेनु

स्रवन्तीममृतं नित्यं जिह्वया ब्रह्मविद्यया।
वत्सः शिलामयो भूत्वा पिब धेनुं शिलामयीम्।।६।।(७६०)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे शिलाधेनुषट्कम्।।

ननु अन्यधेनुदुग्धपानवत् तद्दुग्धपानेच्छोः मम कथं तल्लाभः स्याद् इत्याशंक्य आह **स्रवन्तीम् इति**। हे शिष्य त्वं भवान् **शिलामयः** शिलावत्समकूटस्थचिद्रूपः तत उभयोः जात्यैक्येन **वत्स** इव धेनोः साजात्येन वत्सो यथा तथा **भूत्वा** ब्रह्मधेनुबालत्वं स्वस्मिन् संपाद्य इति भावः। **ब्रह्मविद्यया** स्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वज्ञानरूपया **जिह्वया** रसनया तात्त्विकसुखरसानुभवकरणत्वाद् ब्रह्मविद्याया रसनारूपत्वं ज्ञेयम्। **अमृतं** सुखं यत् पयःस्थानीयं **नित्यं** सर्वकालमपि **स्रवन्तीं** दुहन्तीं, **शिलामयीं** शिलावत्समरूपां ब्रह्मरूपाम् इत्यर्थः। **पिब** प्राश्नीहि अनुभव इत्यर्थः।।६।। (७६०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ शिलाधेनुषट्कार्थप्रकाश एकोनविंशः।।

अत्यन्त कमनीय हो रही है। क्योंकि वह तो स्वयं ही सुखस्वरूप है। (संसार के गुणों से सर्वथा नवीन प्रकार की उस आत्मधेनु का वर्णन कहाँ तक किया जाय। उसका वर्णन करने में मानवी भाषा की अपूर्णता तो बार-बार ही बेड़ियों का काम किया करती है। क्योंकि संसार में नीरस भी हो और मीठा भी हो, निर्गुण भी हो और प्रिय भी हो, नीरूप भी हो और कमनीय भी हो, ये सब विरुद्ध-सी बातें एक में देखने को नहीं मिलतीं। मानवी भाषा ने तो क्षुद्र वस्तुओं का ही वर्णन करना सीखा है। यह आत्मधेनु तो अपने अनुकूल तथा विरुद्ध सब ही पदार्थों में सम होकर तद्रूप रहने में बड़ी ही सिद्धहस्त है। जो बात हमारे शब्दसागर में असम्भव कही जाती है उसे सम्भव कर दिखाना तो इसके वाम हस्त का कौशल है। इसमें आश्चर्य भी क्या है! इसी गुण पर मोहित होकर तो वेदों ने इसके बन्दीपने को स्वीकार किया है। संसार के सम्पूर्ण तपों को इसी गुण का तो प्रबल लोभ समाया हुआ है। सम्पूर्ण लम्बे ब्रह्मचर्यो का प्राप्य पद भी तो यही है। तुमने अभी तक उसका दर्शन नहीं किया है इसी से तुमको ये सब बातें नवीन-सी प्रतीत हो रही हैं)।।५।।

हे शिष्य! तुम शिलामय वत्स बनकर अपनी ब्रह्मविद्यारूपी जिह्वा से सदा अमृत को बरसाती हुई उस शिलामयी धेनु का दुग्धपान कर डालो।

हे शिष्य! यदि तू उस आत्मधेनु का दुग्धपान करना चाहता है तो इस देहादि के अभिमान को छोड़ कर, कूटस्थ चिद्रूप धारण करके उस जैसा ही शिलामय (कूटस्थ चिद्रूप) वत्स बन जा तथा अपनी ब्रह्मविद्यारूपी जिह्वा से (क्योंकि तात्त्विक सुखरूप रस का अनुभव इसी से मिल सकता है) प्रत्येक समय दुग्ध-समान अमृत (आनन्द) को बरसाती हुई शिलामयी ब्रह्मधेनु को पी डाल अर्थात् उसका अनुभव करले।।६।।

अथ निद्रापञ्चकम्

न सन्ति यस्यां निद्रायां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।
अवस्थात्रयरूपिण्यः सर्वद्वन्द्वविवर्जनात्।।१।।(७६१)
गुणातीततया तत्र तमोलेशो न विद्यते।
स्वयंप्रकाशरूपत्वाद् अप्रकाशोपि नास्ति हि।।२।।(७६२)

एवं शिलाधेनुरूपकेण आत्मस्वरूपं निरूप्य इदानीं तदेव निद्रारूपकेण निरूपयितुं निद्रापञ्चकाख्यं पञ्चश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** शिलाषट्कनिरूपाणनन्तरं **निद्रापञ्चकं** निद्राया निरूपकं पञ्चकं पञ्चश्लोकानां समूहरूपं प्रकरणं निरूप्यते इति शेषः। तत्र तावद् लौकिकनिद्राया एतत्प्रकरणे वर्णयिष्यमाणनिद्राया वैलक्षण्यं दर्शयितुम् आह **नेति। यस्यां** विद्वदनुभवगम्यायां **निद्रायां** सुषुप्तौ सर्वप्रपञ्चलयाधारत्वाद् ब्रह्मैव निद्रारूपेण प्रतिपादितम् अत्र ज्ञेयम्। **अवस्थात्रयरूपिण्यः** अवस्थाः स्थितयः तासां त्रयं त्रिकं तदेव रूपम् आकृतिः यासां ताः तथोक्ता **जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयो** जाग्रच्च इन्द्रियैः विषयोपलब्धिः जागरितमिति उक्तलक्षणा जाग्रद् एतन्नाम्नी एका, स्वप्नश्च जाग्रत्संस्कारवासनावासितबुद्धौ जाग्रत्संस्कारजः प्रत्ययः स्वप्न इत्युक्तलक्षणा स्वप्नावस्था द्वितीया, सुषुप्तिश्च अज्ञानमात्रविषया तदावृतसुखविषया च इति लक्षणलक्षिता निद्रा च तृतीया, एता **न सन्ति** न विद्यन्ते तत्र हेतुः **सर्वद्वन्द्वविवर्जनात्** सर्वाणि समस्तानि यानि द्वन्द्वानि सुखदुःखादीनि तेषां विवर्जनाद् अत्यन्ताभावात्।।१।। (७६१)

ननु निद्रात्वे तस्याः तामसत्वं स्यात्? तत्राह **गुणातीततयेति। तत्र** उक्तनिद्रायां **गुणातीततया** तस्या गुणातीतत्वात् **तमोलेशः** तमसः तमोनाम्नो गुणस्य लेशः अंशः **न विद्यते** नैवास्ति। ननु मास्तु अस्यां तमः तथापि निद्रात्वेन अस्याम् अन्यसुप्तौ जगदप्रकाश इव अप्रकाशः स्यात् तत्राह **स्वयंप्रकाशरूपत्वाद् इति।** निद्रायाः तस्याः **स्वयंप्रकाशरूपत्वाद्** अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वं

यह आत्मनिद्रा ऐसी विचित्र निद्रा है किइसके आने पर कोई भी द्वन्द्व नहीं रहता किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थायें भी नहीं रहतीं।

यह आत्मनिद्रा कुछ ऐसी विलक्षण नींद है कि इसके आविर्भाव होने पर सुखदुःख आदि सारे द्वन्द्व तथा संसार की समस्त चिन्तायें भाग जाती हैं। पर उसके साथ ही इस आत्मनिद्रा में यह एक अद्‌भुत विलक्षणता रहती है कि उस समय न तो जाग्रत् (इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण) रहती है, न स्वप्नावस्था (जाग्रत् के संस्कारों वाली बुद्धि में जाग्रत् के संस्कारों से उत्पन्न ज्ञान की अवस्था) ही होती है और न उस समय सुषुप्ति (अज्ञान से ढके हुए सुख अनुभव करनेवाली तथा अज्ञानमात्र को विषय करने वाली अवस्था) ही होती है। यही कारण है कि उस समय सम्पूर्ण द्वन्द्वों का भान भी नहीं रहता।।१।।

यत्प्राप्तये महापुण्यास्तपस्यन्ति तपस्विनः।
विचारयन्ति विद्वांसो वेदान्तवचनानि च।।३।।(७६३)
सुखभोगः फलं नात्र सैवानन्दस्वरूपिणी।
पुरुषार्थस्वरूपत्वान्न कालक्षेपरूपिणी।।४।।(७६४)

स्वप्रकाशत्वम् इति उक्तलक्षणः स्वयंप्रकाश एव रूपं यस्याः सा तथोक्ता तस्या भावः तत्त्वं तस्मादेव हेतोः अन्यनिद्रायां च वेद्यत्वं प्रत्यक्षसिद्धम् अतः परप्रकाश्यत्वेन तस्यां स्वप्रकाशाभावः अस्ति। अत्र तु स्वप्रकाशत्वादेव अप्रकाशोपि नास्ति अपिशब्दाद् दृश्यत्वमपि नास्ति **हि** विदुषाम् एतद् अनुभवसिद्धम् इत्यर्थः।।२।। (७६२)

ननु तर्हि निद्रात्वेन अस्याः प्राप्तिः सहजा निष्फला च स्यात्? तत्राह **यत्प्राप्तये इति। महापुण्या** महद् बहु अन्तःकरणशोधकं पुण्यं पवित्रं कर्म येषां ते तथोक्ता अत एव **तपस्विनः** तपसि रताः पुरुषा **यत्प्राप्तये** यस्या निद्रायाः प्राप्तिः लाभः तस्यै तदर्थं **तपस्यन्ति** तपः कुर्वन्ति तेषां विवेकिनां यत् तपआद्यनुष्ठानं तदुक्तलक्षणनिद्रालाभाय एव इति भावः। किञ्च **विद्वांसो** विवेकिनो **वेदान्तवचनानि च** वेदान्ता वेदशिरोभागा उपनिषदः इत्यर्थः तेषां वचनानि वाक्यानि तानि अपि **विचारयन्ति** जीवब्रह्मैक्यतात्पर्यतया अवलोकयन्ति अतः अस्याः सुलभत्वं निष्फलत्वं च न मन्तव्यमिति भावः।।३।। (७६३)

ननु अन्यनिद्रायामपि सुखभोगः फलमस्ति तद्वद् अत्रापि अतः कः अस्यां विशेष इत्याशंक्याह **सुखभोग इति**। हे शिष्य **अत्र** अस्यां निद्रायां **सुखभोगः** सुखस्य आनन्दस्य भोगः अनुभवः **फलं** प्रयोजनं **न** न विद्यते किन्तु **सैव** सा उक्तलक्षणा निद्रा एव **आनन्दस्वरूपिणी** आनन्दः सुखम् एव असाधारणं रूपं यस्याः सा तथोक्ता अस्ति लौकिकनिद्रायां च अज्ञानावृतसुखानुभवः तत्र अनुभवित्रनुभवानुभाव्यरूपत्रिपुट्या विद्यमानत्वात् तस्य खण्डित्वेन वृत्तिविषयत्वेन च अपारमार्थिकत्वम्, अस्यास्तु सुखरूपत्वात् त्रिपुटीरहितत्वाच्च आनन्दरूपत्वं पारमार्थिकमिति भावः। ननु अन्यनिद्राया

(लौकिक निद्राओं में तमोगुण की प्रधानता रहती है परन्तु) इस आत्मनिद्रा में तो उस (तम का लेश भी नहीं है। क्योंकि यह तो एक त्रिगुणातीत निद्रा है। (लौकिक निद्रा की तरह) इसमें अप्रकाश भी नहीं रहता क्योंकि यह एक स्वतः प्रकाश निद्रा है।।२।।

महापुण्यशाली तपस्वी लोग इस आत्मनिद्रा को पाने के लिये ही बड़े-बड़े तपों का अनुष्ठान करते हैं। इसी को ढूँढ निकालने के लिये विवेकी लोग उपनिषदादि वेदान्तों को बार-बार मनन करते हैं। (इस आत्मनिद्रा को सुलभ मान लेना जिस प्रकार हितकर नहीं होता इसी प्रकार इसको निष्फल समझने से भी किसी का कल्याण नहीं होता किन्तु बड़ी श्रद्धा से इसकी प्राप्ति का उद्योग लगातार करते रहना चाहिये)।।३।।

इव अस्याः कालक्षेपमात्रत्वं स्याद् इत्याशंक्य अस्यां तन्निवारणपूर्वं विशेषं दर्शयति **पुरुषार्थेति।** हे शिष्य इयं सुषुप्तिः **पुरुषार्थस्वरूपत्वात्** पुरुषार्थो मोक्षस्वरूपः स एव स्वरूपम् आत्मा यस्याः तस्याः भावः तत्ता ततो हेतोः अन्यनिद्रावत्, **कालक्षेपरूपिणी** कालस्य समयस्य क्षेपः अतिक्रमणं तदेव रूपं यस्याः सा तथोक्ता **न** न विद्यते।।४।। (७६४)

यह आत्मनिद्रा तो स्वयं आनन्दस्वरूप ही है इससे किसी अन्य सुखभोग की आशा करना ठीक नहीं है। स्वयं पुरुषार्थरूप होने से इसमें नींद की तरह व्यर्थ ही कालक्षेप नहीं होता।

आम पर जो फल लगता है उस फल का कोई फल नहीं होता क्योंकि वह तो स्वयं फलस्वरूप ही है। इसी प्रकार लौकिक सुखानुभवों की तरह किसी विशेष सुखभोग को इस आत्मनिद्रा का फल कदापि न समझना चाहिये। यह आत्मनिद्रा तो स्वयं ही आनन्दस्वरूपिणी है।।४।।

यह आत्मनिद्रा शुद्धान्तःकरणों को तो सुलभ है, विषयात्माओं को यह बड़ी दुर्लभ है, विष्णु आदियों को यह स्वभाव से बनी रहती है। यह निद्रा मामूली पदार्थ नहीं है यह तो महाफल है।

जिन लोगों को परिमार्जित शुद्धबोध की प्राप्ति हो गयी है उन पर तो यह आत्मनिद्रा सहज ही अपना पूर्ण प्रभाव जमा लेती है। किन्तु जिन लोगों का मन दिनरात विषयभूमियों में ही घूमता रहता है उनको तो यह अवस्था कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। जिन देवताओं की उपाधि में शुद्ध सत्त्व गुण की प्रधानता है उन ब्रह्मा विष्णु महेश आदियों को स्वभाव से सदा यह योगनिद्रा बनी ही रहती है। इस योगनिद्रा को मामूली निद्रा समझ कर इसकी उपेक्षा न करनी चाहिये। संसार के सम्पूर्ण कर्मों, सारी उपासनाओं तथा सम्पूर्ण ज्ञानों का अन्तिम फल भी तो यही योगनिद्रा है।

क्या मालूम कि संसार के क्षुद्र विषयभोगों से भी क्षणकाल के लिये यही आत्मनिद्रा प्राप्त हो जाती हो, और तभी आनन्द का अनुभव होना संभव हो गया हो। परन्तु उस समय बालक जैसे अपने हाथ लगी बहुमूल्य वस्तु की मानता करना नहीं जानता ऐसे ही हम अज्ञानी लोग उसके लोकोत्तर आनन्द से वंचित रह जाते हों? भाग्यहीन कुत्ता जिस प्रकार जल में गले तक डूब जाने पर भी जीभ से 'चप चप' करके ही पानी पीता है इसी प्रकार हम बहिर्मुख लोग उस अगाध अवस्था का दर्शन पाकर भी अपनी बाह्यवासनारूपी रस्सियों से बलात् बाहर खेंच लिये जाते हों और इसके सुखद अनुभव से वंचित रह जाते हों। हम सांसारिक लोगों ने तो मैले की गाड़ियों की तरह विषयरूपी कूड़ों पर ही जाना सीखा है। उन कूड़ों की सम्पत्ति को बढ़ाना ही तो हमारे इस अमूल्य जीवन का क्षुद्र लक्ष्य हो गया है। परन्तु जब तक इस आत्मनिद्रा को प्राप्त नहीं

सुलभा शुद्धबोधानां दुर्लभा विषयात्मनाम्।
सहजा माधवादीनां सा निद्रा तु महाफलम्।।५।।(७६५)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे निद्रापञ्चकम्।।

ननु तर्हि अन्यनिद्रेव साधारणतया सर्वेषां तत्प्राप्तिः कुतो न इत्याशंक्य तस्या दुष्प्रापत्वनिरूपणपूर्वकं तत्प्राप्तौ अपि विशेषं दर्शयति **सुलभेति**। हे शिष्य **शुद्धबोधानां** शुद्धो भागत्यागलक्षणया विरुद्धांशत्यागेन शुद्धात्मविषयको यो बोधः स शुद्धबोधो ज्ञानं येषां तेषां पुरुषाणां **सा** निद्रोक्तलक्षणा **सुलभा** सुखप्रापा अस्ति। किंच **विषयात्मनां** विषयेषु भोग्यबुद्ध्या जगत्पदार्थेषु आत्मा मनो येषां ते तथोक्ताः तेषां **सा** निद्रा **दुर्लभा** दुष्प्रापा अस्ति, किंच **माधवादीनां** माधवो लक्ष्मीपतिः आदिः मुख्यो येषाम् ते तथोक्ताः शिवादयः तेषां **सा** उक्तलक्षणा निद्रा **सहजा** स्वाभाविकी तेषां शुद्धसत्त्वोपाधित्वात् सा **निद्रा** तत्प्रकृतिरेव अत एव सैव योगनिद्रा इति नाम्ना शास्त्रेषु कथ्यते अतः सर्वप्रकारेण **सा** उक्तलक्षणा **तु** लोकनिद्राविलक्षणा **महाफलं** सर्वकर्माणां सर्वोपासनानां च ज्ञानस्यापि फलभूता इयम् अतो महाफलरूपा ज्ञेया।।५।। (७६५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ निद्रापञ्चकार्थप्रकाशो विंशः।।

किया जायगा, चिरशान्ति कभी भी प्राप्त नहीं हो सकेगी। **'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति। ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानि। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'** यदि सम्पूर्ण आकाश को चमड़े की तरह लपेट डालना सम्भव हो सकेगा तो आत्मदेव का दर्शन पाये बिना दुःखों का अन्त हो जायगा। परमात्मा को जानकर ही संसार के कठिन बन्धनों से छुटकारा मिल सकता है। केवल एक यही मार्ग उत्तम तथा शान्त सुख को पाने का है। आगे पीछे सभी प्राणियों को इसी मार्ग से होकर जाना है। बुद्धिमान् मनुष्य जिस काम को शीघ्र कर डालते हैं, करना तो मूर्ख लोगों को भी वही पड़ता है परन्तु भेद केवल इतना ही है कि वे लोग लाखों ठोकरें खाकर पीछे से उस काम को किया करते हैं। दो मनुष्य अपनी-अपनी अलग-अलग सवारियों पर बैठे हुए जा रहे थे। सायंकाल के समय में रास्ते में एक नगर आया जिसके बीच में होकर निकलना दोनों को आवश्यक हो गया। वहाँ चुंगी भी लगती थी। अगला गाड़ी वाला तो तुरन्त चुंगी देकर नगर को पार कर गया और अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया। पिछले ने चुंगी देना न चाहा और वहाँ से अपनी गाड़ी को बचाकर दूसरे रास्ते की तलाश में सारी रात भटकता फिरा कि किसी तरह शहर से बचकर निकल जाय। ढूँढते-ढूँढते फिर उसी रास्ते में आ पड़ा और दिन निकलते ही क्या देखता है कि वह तो उसी चुंगीघर के सामने आ पहुँचा है जहाँ से बचने के लिये रात भर उसने बड़े परिश्रम से रास्ता टटोला था। फिर भी उसको चुंगी देकर ही उस नगर को पार करना पड़ा और अपने उद्दिष्ट स्थान तक पहुँच

अथ अनुभवनवकम्

स्वानन्दबोधगुरुभिर्गुरुभिर्निरुक्तं
स्वानन्दबोधघनमेव मम स्वरूपम्।
स्वानन्दबोधघनया कलया कयाचित्
स्वानन्दबोधघनमेव मयानुभूतम्।।१।।(७६६)

एवं निद्रारूपकेण आत्मास्वरूपस्थितिं निरूप्य इदानीं स्वानुभवं निरूपयितुं परमकृपयानुभवनवकाख्यं नवश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** निद्रापञ्चकनिरूपणानन्तरम् **अनुभवनवकम्** अनुभवस्य आत्मानुभवस्य निरूपकं नवकं नवानां श्लोकानां समूहरूपं प्रकरणं समूहे कन्, निरूप्यते इति शेषः। तत्र तावद् आदौ गुरोः अनुभवस्य स्वस्वरूपस्य स्वानुभववृत्तेः स्वानुभवविषयस्य च ऐक्यरूप्यं स्वानुभूतं शिष्यनिश्चयाय निरूपयति **स्वानन्देति। स्वानन्दबोधगुरुभिः** स्व आत्मस्वरूपो य आनन्दः सुखं "यो वै भूमा तत्सुखम्" इति श्रुत्युक्तः तदभिन्नो यो बोधो ज्ञेयरहितं ज्ञानं तेन गुरवः श्रेष्ठाः तैः गुरुभिः मद्धितोपदेशकैः **निरुक्तं** महावाक्यद्वारा भागत्यागलक्षणया उपदिष्टम् कथम् इत्यत आह **स्वानन्देति। स्वानन्दबोधघनमेव** स्व आत्मस्वरूपो य आनन्दः सुखं निरतिशयानन्द इत्यर्थः तदभिन्नो यो बोधः चेत्यरहितश्चिन्मात्रः तेन घनं निविडं निश्छिद्रम् इत्यर्थः केवलं **मम** मे **स्वरूपं** स्वम् असाधारणं रूपम् आकृतिः यस्य तत् तथोक्तम् एवम् उपदिष्टम् इति योज्यम् ततो गुरूपदिष्टरीत्यैव मया त्वद्गुरुरूपेण **स्वानन्दबोधघनया** स्व आत्मरूपो य आनन्दः सुखं तदभिन्नो यो बोधो ज्ञानं तेन घना निविडा तया **कयाचित्** सत्त्वेन असत्त्वेन वा केनापि निर्देष्टुम् अशक्यया **कलया** अन्तःकरणवृत्त्या तद् मम मे स्वरूपम् असाधारणाकारः **स्वानन्दबोधघनमेव** स्व आत्मस्वरूपो य आनन्दः सुखं तदभिन्नो यो बोधो ज्ञानं निरतिशयसुख- स्वरूपचैतन्यम् इत्यर्थः तेन घनं निश्छिद्रम् अखण्डैकरसम् इत्यर्थः। **अनुभूतं** साक्षात्कृतम्।।१।। (७६६)

सका। इसीलिये माता के समान प्राणियों पर प्रेम करने वाली उपनिषदें बड़ी प्रेममयी वाणी से जीवों को उपदेश कर रही हैं कि भाई, इस आत्मतत्त्व को जाने बिना सुख की आशा मृगतृष्णा की तरह एक दुराशा ही है। इसके सिवाय तो इस दुःखसागर को पार करने का दूसरा मार्ग ही नहीं है।।५।।

आत्मानन्द के परिज्ञान के कारण गुरु बने हुए मेरे गुरुओं ने मुझे स्वानन्दज्ञानघन ही मेरा रूप बताया था और स्वानन्दज्ञानमयीवृत्ति से मैंने भी जब अनुभव किया तो उसे इसी रूप का पाया।

आत्मानन्द का बोध हो जाने के कारण ही जिनको गुरुता प्राप्त हो सकी है ऐसे मेरे आत्मविद्या के आचार्य ने मुझे मेरे रूप में और आत्मरूप निरतिशयानन्द में लेशमात्र भी भेद नहीं बताया। किन्तु उससे पृथक् ज्ञेय पदार्थ न होने से ज्ञानमात्र ही मेरा वास्तविकरूप महावाक्य के द्वारा (भागत्याग लक्षणा से) उन्होंने मुझे बतलाया है।

श्रद्धाभक्तिभृतां विशेषविदुषां शिक्षावतां योगिनां
मिथ्यावस्तुनि वस्तुतां विजहतां त्यागे गते गाढताम्।
सत्ये सत्यतया स्फुरत्यविरतं चित्ते चमत्कारिणि
स्वैरं स्फूर्जति निर्विकल्पपरमानन्दस्वरूपो हरिः।।२।।(७६७)

ननु एतादृग् अनुभवः कथम् अन्येषां मादृशानां स्याद् इत्याशंक्याह **श्रद्धेति। श्रद्धाभक्तिभृतां** श्रद्धा च गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासरूपान्तःकरणवृत्तिः। भक्तिश्च 'श्रवणं स्मरणं विष्णोरर्चनं पादसेवनं स्तवनं कीर्त्तनं ध्यानं सख्यमात्मनिवेदनम्' इति नवलक्षणलक्षितान्तःकरणवृत्तिः। यद्वा 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'

'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।' ।इति।।

शाण्डिल्यसूत्रभागवतवचनाभ्यां लक्षिता पराभक्तिः अत्र ग्राह्या। ते उभे बिभ्रति धारयन्ति ते तथोक्ताः तेषाम् अत एव **विशेषविदुषां** कर्मभक्तिज्ञानेषु मध्ये यो विशेष आधिक्यं पूर्वस्मात् पूर्वस्माद् उत्तरोत्तरे श्रैष्ठ्यम् इत्यर्थः तद्विदन्ति जानन्ति ते तथोक्ताः तेषाम्। तत्र हेतुः **शिक्षावतां** गुरुतः शिक्षां प्राप्तानां न तु स्वमत्यैव अयथार्थज्ञाने प्रवृत्तानाम् इत्यर्थः। अत एव गुरूपदेशक्रमेणैव **मिथ्यावस्तुनि** मिथ्याभूते द्वैतपदार्थे, **वस्तुतां** सत्यत्वमतिमित्यर्थः। **विजहतां** विशेषेण त्यागं कुर्वतां ततश्च तस्मिन् **त्यागे** जगदसत्त्वप्रत्ययलक्षणे त्यागे **गाढतां** दृढत्वं **गते** प्राप्ते सति **योगिनाम्** उक्तलक्षणयोगाभ्यासिनां **चमत्कारिणि** आत्मस्फुरणलक्षणचमत्कारवति **चित्ते** अन्तःकरणे, **सत्ये** सत्यात्मरूप आत्मनि, **सत्यतया** सत्त्वरूपेण अर्थाद् असद्रूपे जगति असद्रूपेण च **अविरतं** विरामरहितं यथा भवति तथा निरन्तरम् इत्यर्थः **स्फुरति** प्रकाशमाने सति तस्मिन्नेव चित्ते, **निर्विकल्पपरमानन्दस्वरूपो** निर्गता निवृत्ता विकल्पा विपरीता विविधा वा कल्पना यतः स तथाभूतो यः परमो निरतिशयः आनन्दः सुखं स एव स्वम् असाधारणं रूपम् आत्मा यस्य स तथोक्तः, अत एव **हरिः** सर्वद्वैतहरणशीलो अद्वैतानन्दरूप इत्यर्थः, **स्वैरं** स्वेच्छयैव, **स्फूर्जति** प्रकाशते श्रद्धाद्युपायैः अन्तःकरणे शोधिते अन्तःकरणे स्वप्रकाशनित्यसिद्धात्मसाक्षात्कारो जात इव प्रतीयते न तु जायते वास्तवसाधननिरपेक्षत्वात् स्वसिद्धौ इति भावः।।२।। (७६७)

उनकी बतायी विधि को ध्यान में रखकर स्वानन्दरूपी बोध से परिपूर्ण अपने अन्तःकरण की वृत्ति करने पर मैंने भी यह अनुभव किया कि मेरा असाधारण किंवा वास्तविक सच्चा स्वरूप तो अखण्ड एकरस ज्ञान तथा अन्यनिरपेक्ष आनन्द ही है। यों जब मैंने अपने गुरु के अनुभव को, उसके बताये हुए मेरे स्वरूप को, अपने अनुभव के विषय आत्मदेव को तथा अपने अनुभव की वृत्ति को एक ही पाया तो अब मैं उस संदेहरहित आत्मवस्तु का उपदेश तुझे भी करने लगा हूँ। तुम्हें श्रद्धापूर्वक उसका मनन करना चाहिये।।१।।

तृष्णां संहर संहरेन्द्रियचयं संहृत्य सर्वाः क्रियाः
चेतः संहर संहरान्यधिषणां खादप्यणुस्त्वं भव।
अन्तः संप्रविशात्मधामनि मनागासादिते तत्पदे
सर्वाज्ञानकपाटभञ्जनपटुर्भावः स्थिरः स्थास्यति।।३।।(७६८)

ननु एतादृशोऽनुभवो मम केनोपायेन स्यादित्याशंक्य तानेव उपायान् दर्शयति **तृष्णामिति**। हे शिष्य त्वं **तृष्णां** प्राप्तेषु अप्राप्तेषु अपि पदार्थेषु अतृप्तिरूपां वृत्तिं, संहर संरोधय ततः इन्द्रियचयम् इन्द्रियाणां दशसंख्यानां श्रोत्रादीनां, चयः समूहः, तं संरोधय प्रत्याहारं कुरु इत्यर्थः। ततश्च सर्वाः समस्ताः, क्रिया इन्द्रियव्यापारान् **संहृत्य** अवरुध्य। ततश्च **चेतः** अन्तःकरणं **संहर** संरोधय। ततश्च **अन्यधिषणाम्** अन्यद् द्वैतं तत्सत्त्वविषयां निश्चयरूपां वृत्तिं, संहर नाशय, लीनां कुरु इत्यर्थः। ततः **त्वम्** एतेषु अभिमन्ता भवान् **खादपि** अभिमन्तव्यविषयलयेन आकाशाद् अपि आकाशस्य धर्मद्वयवत्त्वेन स्थूलत्वं तस्मादपि, **अणुः** सूक्ष्म एकरूपत्वाद् इत्यर्थः। **भव** असि। तत **आत्मस्वरूपे धामनि** स्थाने, **अन्तः** तन्मध्ये, तदभेदेन इत्यर्थः। **संप्रविश** लीनो भव इत्यर्थः। ततो **मनाग्** ईषत्, **तत्पदे** तस्मिन्नात्मरूपे पदे स्वरूप, **आसादिते** प्राप्ते सति, **सर्वाज्ञानकपाटभञ्जनपटु** सर्वं समस्तं, यद् अज्ञानं तदेव कपाटमिव आत्मदर्शनविरोधकत्वात् कपाटपट्टमिव तस्य भञ्जनम् उद्घाटनं तस्मिन् पटुः कुशलो भावः स्वरूपस्फूर्तिलक्षणः पदार्थः, **स्थिरो** निश्चलः, **स्थास्यति** स्थितो भविष्यति।।३।।(७६८)

जिनमें श्रद्धा और भक्ति है, जो विशेष ज्ञानी हैं, जिन्हें शिक्षा (दीक्षा) मिल चुकी है, जो योगाभ्यास करते हैं, जिन्होंने मिथ्या पदार्थों को सत्य समझना छोड़ दिया है, जिनका त्याग पक चुका है, जिनके चमत्कारी चित्त में सत्य पदार्थ (ब्रह्म) ही सदा सत्य प्रतीत होने लग पड़ा है उनके ऐसे चित्त में निर्विकल्प परमानन्दस्वरूप हरि आकर स्वच्छन्द विहार करने लगते हैं।

जबकि अपने आचार्य तथा वेदान्तवाक्यों में बार-बार विश्वास के भाव उदय होते हों, ईश्वर में सर्वोत्कृष्ट अनुराग की भावनायें प्रबल हो उठी हों, कर्म, भक्ति तथा ज्ञान में उत्तरोत्तर की विशेषता का पूरा निश्चय हो चला हो, योगमार्ग में गति हो गई हो, आचार्यों की बतायी पद्धति से सांसारिक मिथ्या द्वैत पदार्थों में से सत्यभावना का समूल नाश होने लगा हो, जगत् के असत्य (अस्थायी) पदार्थों का (मिथ्यात्वनिश्चयरूपी) त्याग अत्यन्त दृढ हो गया हो, (योगाभ्यासी लोगों के) आत्मस्फूर्तिरूपी चमत्कारवाले चित्त में स्पष्टरूप से जबकि सत्य आत्मपदार्थ ही सदा सत्य प्रतीत होने लगा हो तो फिर सर्वाधिक आनन्दस्वरूप अद्वैतानन्दरूप हरि अपनी इच्छा से ही उस पवित्र अन्तःकरण में प्रकाशित हो उठता है।।२।।

पहले तृष्णा का संहार करो, फिर इन्द्रियों की टोली को वश में करो जब बाह्य व्यापार सब बन्द हो जाये तो मन को भी रोको, अन्य की भावना उत्पन्न होती हो तो उसे भी रोको यों तुम आकाश से भी सूक्ष्म हो रहो और इस प्रकार पतले पड़ कर अन्दर आत्मधाम में घुस बैठो। जब वह धाम तुम्हें जरा भी दीख पड़ेगा तो तुम्हारे अन्दर एक ऐसा पवित्र भाव स्थिर हो जायगा जो कि तुम्हारे समस्त अज्ञानरूपी किवाड़ों को तोड़-मोड़ कर ही छोड़ेगा।

हे शिष्य! पहले तो तुम इस तृष्णा को रोको, अपनी दशों इन्द्रियों को अपने अधिकार में रक्खो और इन्द्रियों के सम्पूर्ण व्यापारों को रोककर इस मन को भी व्यर्थ मनोराज्य मत करने दो। (इस मन को प्रारब्ध भोग के उपयोगी विचार के लिये कभी थोड़ा-सा सोच लेने देना इस मार्ग का विरोधी नहीं है)। उसके अनन्तर इस सकल जगत् (द्वैत) के विचारों का भी संहार कर डालो और अन्त में तो आकाश से भी सूक्ष्म बन बैठो।

(जब तुम संकल्प को भी छोड़ दोगे तो आकाश से भी सूक्ष्म हो सकोगे) उसके पश्चात् तो कुछ संकल्प न करने से ही काम न चलेगा। ऐसी सिद्धि तो पत्थर आदि अचेतनों को भी प्राप्त रहती है। किन्तु अभेद-भावना को लेकर अपने आत्मधाम में बेधड़क होकर प्रवेश कर जाओ। तब तुम्हारे अभ्यास का प्रारम्भकाल होने के कारण तुम्हें उस परम पद का थोड़ा-सा दर्शन मिलेगा, परन्तु उस थोड़े-से दर्शन का भी इतना अद्भुत प्रभाव होगा कि एक ऐसा भाव तुम्हारे अन्दर सदा के लिये ठहर जायगा कि जिसके अमित पराक्रम से आत्मदर्शन में रुकावट डालने वाले अनादिकाल के अज्ञानरूपी किवाड़ स्वयमेव खुल पड़ेंगे।।३।।

हे साधो! तुम इतने अधिक आदर से मुझसे समाधि का क्रम क्यों पूछते हो। देखो, मेरे अन्दर जब से बोधदीपक जला है और उसे आत्मस्नेह की घनी दशा मिली है तब से मेरा मोहान्धकार तो भाग गया और प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र फैल गया है। अब तो वृत्तियों के झुण्ड के झुण्ड दीपक पर पतंग की तरह नष्ट होने के लिये मेरे उस बोध दीपक पर आ-आकर पड़ रहे हैं।

हे शिष्य! तुम समाधि की सिद्धि को बड़े आदर से देखते हो। इसीलिये मुझसे भी निर्विकल्प समाधि की प्रक्रिया पूछना चाहते हो। समाधि के लिये मुझे तो कोई भी साधन करना नहीं पड़ता। वह तो मुझे स्वभाव से ही होती है। ऐसी अवस्था में मैं बताऊँ भी क्या? बिना किसी साधन के समाधि होने का कारण मैं तुम्हें स्पष्ट समझाये देता हूँ। वैसा तुम करोगे तो तुम्हें भी स्वभाव से समाधि होने लगेगी। उसके लिये किसी साधन की अपेक्षा न रहेगी। ध्यान देकर सुनोः जब से मुझे ब्रह्मविद्या

किं मां पृच्छसि सादरेण मनसा साधो समाधिक्रमं
नूनं निर्गतमेव मोहतिमिरं जातः प्रकाशो महान्
आत्मस्नेहघनां दशामुपगते बोधप्रदीपे मयि
द्रागुड्डीय पतन्ति वृत्तिनिवहा नष्टुं पतंगा इव।।४।।(७९६)

ननु भवद्भिः समाधिः केनोपायेन सम्पादितः तम् उपायं वद इति अपेक्षायाम् आह **किमिति**। हे **साधो** हे समाधिसाधनेच्छो, त्वं भवान् **सादरेण** समाधिसाधनादरवता, **मनसा** अन्तःकरणेन **समाधिक्रमं** क्रम्यते साध्यते अनेन इति क्रमः साधनजातं समाधेः मम निर्विकल्पसमाधेः क्रमं साधनम् उपायम् इत्यर्थः। **किं पृच्छसि** किमर्थं पृच्छसि, समाधिसाधनसिद्धेः साधकेच्छापेक्षत्वाद् मयि तु तत्सहजत्वात् तदिच्छाभावेन तदभावे तत्पृच्छैव अयुक्ता इति तत्कथनमपि मयि नैव सम्भाव्यम् इति भावः। ननु भवत्समाधौ सहजत्वे तदसम्भवः स्यात् तदेव कथंसम्भवं तत्राह **नूनमिति। मोहतिमिरं** मोहो जीवब्रह्मैक्याज्ञानमेव तिमिरं तमो,**नूनं** निश्चयेन, **निर्गतमेव** नष्टमेव, तथा **महान्** निरावरणः **प्रकाशः** प्रकाश्यते ज्ञायते अनेन इति प्रकाश आत्मविषयकं निरावरणं ज्ञानमित्यर्थः **जात** उत्पन्नः। ननु भवति प्रकाशोत्पत्तौ तिमिरनाशे च किं निमित्तम् इत्याशंक्य निमित्तं दर्शयितुं रूपकम् आह **आत्मेति। मयि** अहंपदवाच्ये साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासे **बोधप्रदीपे** बोधो ज्ञानं तत्स्वरूपे प्रदीपे दीपकरूपे। **आत्मस्नेहघनाम्** आत्मनि ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि यः स्नेहो निरतिशयं प्रेम तेन तैलस्थानीयेन घनां निविडार्द्रां **दशाम्** अवस्थां वर्तिस्थानीयाम् **उपगते** आरूढ आश्रिते सति इत्यर्थः। **वृत्तिनिवहा** वृत्तीनाम् अन्तःकरणवृत्तीनां निवहाः समूहाः **पतंगा इव** शलभादयो यथा किञ्चिद् उड्डीय नष्टुं दीपे पतन्ति, तथा **द्राग्** ईषद् यावत्प्रारब्धक्षयं विद्यमानस्य वृत्तिसमूहचाञ्चल्यस्य 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्य' इति श्रुत्या क्षाणिकत्वोक्तेः ईषत्कालेन ईषत्त्वम्; **उड्डीय** उत्पत्य, **नष्टुं** नाशाय, **पतन्ति** प्राप्नुवन्ति अतो मत्समाधेः सहजत्वाद् न साधनापेक्षा इति त्वत्प्रश्नः अनुपपन्न एव इति भावः।।४।। (७९६)

का उपदेश हुआ है तभी से मेरा आत्मविषयक अज्ञानान्धकार तो नष्ट हो ही गया था और मेरे प्रकाश को व्यापक न होने देने वाले सम्पूर्ण आवरण भी नष्ट हो गये। मुझे तो तभी से महान् प्रकाश (आत्मा के विषय का निरावरण, नग्न, ज्ञान) हो गया है। उस प्रकाश में मुझे इतना अधिक प्रेम हो गया है कि मैं दिनरात उसी का दर्शन करने में तल्लीन रहता हूँ। इस गहरे आत्मप्रेमरूपी स्नेह (तेल) के कारण मेरा बोधरूपी दीपक सदा ही अखण्ड रीति से जलता रहता है। जलते हुए दीपक पर जिस प्रकार रात्रि के समय पतङ्ग आ-आकर जलते मरते रहते हैं इसी प्रकार उस मेरे बोधरूपी दीपक पर ये वृत्ति अथवा संकल्पविकल्परूपी पतङ्ग उड़ उड़ कर पड़ते रहते हैं। यह तो उन सबको जला जला कर अकेला शेष रहता चला जाता है। मैं तो द्रष्टा किंवा साक्षी बनकर यह सब खेल देखा करता हूँ। केवल आत्म-परायण होने मात्र से ही मुझे तो

सदा समाधि बनी रहती है। जैसे विधवा स्त्रियाँ ही तप किया करती हैं इसी प्रकार समाधि का अभ्यास तो केवल उन्हें ही करना पड़ता है जिन्हें आत्मानन्द जैसी पवित्र वस्तु का लाभ नहीं होता, वे मन को रोकने के लिये प्राणायाम तथा अन्य कठिन तपश्चर्या जैसे कठिन उपाय करके जैसे तैसे मूढसमाधि कर लेते हैं। वे अपने मन को इस प्रकार रोकते हैं जैसे कि डण्डे की मार से किसी पशु को सीधा कर लिया जाय। उतने काल तक उन्हें सुख मिल तो जाता है क्योंकि उस समय उनके चित्त का विषय-विषय्याकार परिणाम होना बन्द हो जाता है। परन्तु यह सुख वास्तविक सुख नहीं है। जैसे कि रात्रि के समय प्राणी जिन दुःखपरिपूर्ण कामों को छोड़ कर सोता है, प्रातःकाल उठकर फिर उनको जैसे का तैसा पाता है इसी प्रकार उस मूढसमाधि से उठने पर उनका संसार वैसा ही बना रहता है। आत्मज्ञान हो जाने के कारण जिनका अज्ञान नष्ट हो जाता है वे तो समाधि से पहले किंवा पीछे अथवा समाधि में एक से ही रहते हैं। उनको फिर किसी प्रकार का विक्षेप नहीं रहता। उनके मन को आत्मानन्द का ऐसा लोभ लग जाता है कि फिर वह कभी छूट ही नहीं सकता। इस रीति से मन को वश में करना किंवा समाधि लगाना ऐसा है जैसा कि हरी घास दिखाकर किसी पशु को वश में कर लेना। यदि तुम चाहोगे तो तुम्हें भी इसी प्रकार स्वयमेव सहज समाधि होने लगेगी।।४।।

घी गाढ़ा हो गया हो अथवा पिघला हुआ हो वह घी ही रहता है इसी प्रकार असल में तो वही अद्वय सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। परन्तु जब उस अद्वय चैतन्य का कहीं विशेष घनीभाव होकर चमत्कृत रूप हो जाता है तो उसे चित्त कहने लगते हैं परन्तु वह चित्त भी अद्वितीय चैतन्य ही तो होता है। क्योंकि अब मुझे इस तत्त्व का साक्षात्कार हो चुका है सो उस घनीभूत चित्त को फिर लय कर (के फिर चैतन्यमात्र शेष रख) ने का योग का बताया हुआ जो प्रत्याहार का परिश्रम है उसे भी मैं अब छोड़ चुका हूँ।

हे साधो! चाहे तो ठण्डक लगने से घी जमकर गाढ़ा हो जाय, अथवा गरमी लगने से पिघल कर पतला हो जाय तो भी वह घृत ही रहता है, जमने किंवा पिघलने से वह कुछ और नहीं हो जाता। जैसे जमे हुए घी को घी ही कहते हैं इसी प्रकार पिघले हुए घी को घी ही कहा जाता है। उसके घृतपने में किसी प्रकार का भेद नहीं आता। इसी प्रकार साधारण चैतन्यस्वरूप आत्मा सर्वत्र विद्यमान है जब उसका घनीभावरूपी चमत्कार हो जाता है तब वह चित्त कहाने लगता है। जमे और पिघले हुए घी की तरह प्रतीति का भेद हो जाने पर भी वही चैतन्य चित्त हो गया है यों तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर अब से मैंने योग की बतायी विधि के अनुसार चित्त के लय के साधन प्रत्याहारों में परिश्रम करना भी निःसंशय होकर छोड़ दिया है। वह तो मेरे लिये अब

गाढं वाऽस्तु विलीनमस्तु न घृतं साधो घृतत्वाद्गतं
चैतन्यस्य चमत्कृतिः किल तथा चित्तं तदेवाद्वयम्।
तस्माच्चित्तलयस्य साधनमसौ तत्त्वे तु साक्षात्कृते
प्रत्याहारपरिश्रमोपि स मया संत्यक्त एवाधुना।।५।।(८००)

ननु निर्विकल्पसमाधेः अष्टांगसाधनसाध्यत्वात् साधनानां च भवत्सु अदृश्यमानत्वात् तैः विना कथं तत्सिद्धिः सम्भाव्या भवत्सु इत्याशंक्य अनुपयोगित्वं साधनानां स्वस्मिन् दर्शयति **गाढमिति**। हे **साधो** साध्नोति समाधिसाधनानि इति साधुः तस्य सम्बोधने हे साधो **घृतं** सर्पिः **गाढं** दृढम् **अस्तु** भवतु शीतयोगेन घनीभूतमस्तु इत्यर्थः। **वा** यद्वा **विलीनम्** उष्णयोगेन रसीभूतम् अस्तु तद्घृतं **घृतत्वात्** सर्पिष्ट्वाद् **न गतं** न निवृत्तं घृतभावाद् अन्यभावं न प्राप्तं तद्गुणस्य उभयत्रापि एकरूपत्वेन अनुभवाद् गाढघृते लीनघृते वा घृतप्रतीते एकरूपाद् न घृतत्वहानिः इति भावः। यथा यद्वत् **तथा** तद्वत् **चैतन्यस्य** चैतन्यरूपस्य आत्मनः **चमत्कृतिः** घनीभावरूपः चमत्कारः **चित्तं** मनः अस्ति अतः प्रतीतौ भेदे प्रतीयमानेपि वास्तवं घृतत्वं घृतद्वये अभिन्नम् इव **तदेव** तच्चैतन्यमेव चित्तम् अतः **अद्वयं** भेदरहितं ब्रह्मचैतन्यमेव अस्ति **तस्मात्** कारणाद् असौ असन्निकृष्टो मत्तो दूरे वर्त्तमान इत्यर्थः। **चित्तलयस्य** योगमतेन सद्रूपस्य चित्तस्य मनसो यो लयो नाशः स्वरूपप्रतीत्यभावरूपः तस्य **साधनं** साधनभूतः अतो **मया** आत्मयाथार्थ्यज्ञानवता, **तु** पदेन योगिज्ञानात् स्वज्ञानस्य अतीव वैलक्षण्यम् अस्ति इति सूचितम्। **तत्त्वे** चित्तस्य पारमार्थिके रूपे, **साक्षात्कृते** अपरोक्षतया अनुभूते सति, **प्रत्याहारपरिश्रमोऽपि** प्रत्याहारःस्वस्वविषयेभ्य इन्द्रियपरावृत्तिरूपः, प्रत्यहारोपलक्षितानि ध्यानादीनि अपि ग्राह्याणि **स** परिश्रमः साधनकाले रक्षणकाले नाशकाले फलकाले च सर्वदा श्रमो दुःखरूप एव, अतः **स** योगसाधनसमूहः, **अधुना** इदानीं **सन्त्यक्त** एव सम्यग् निःसंशयं विसृष्ट एव, निष्प्रयोजनत्वात् तस्येति भावः।।५।। (८००)

सर्वथा निष्प्रयोजन सिद्ध हो चुका है। जब कि चित्त भी चैतन्य ही है तो मैं उस बिचारे को क्यों लय करूँ।।५।।

विद्वान् गुरु के अनुग्रह से जब से स्वाभाविक आनन्द आना प्रारम्भ हुआ है और साधकों ने उदास होकर जैसे-जैसे योगविषयक परिश्रम को छोड़ा है तैसे-तैसे आश्चर्य की बात देखो किन चाही हुई गाढ निद्रा के समान बलात् ही मुनियों की प्यारी गहरी समाधि होने लग पड़ी है।

जब कि हम साधकों पर आत्मसाक्षात्कार करने वाले आचार्य लोगों ने कृपा की तथा स्वाभाविक आनन्द की प्राप्ति होने लगी तो अवस्था बिलकुल बदल गयी साधकावस्था में पहले हम लोग योगशास्त्र की बताई विधि से लोहकार की भस्त्रा (धौंकनी) की तरह जो श्वासों को खैंचते फैंकते रहते थे, किंवा प्रत्याहारादि अनेक कष्टसाध्य परिश्रमों में अपना अमूल्य समय काटा करते थे, अब इन सबकी तरफ से

उदासीन होकर धीरे-धीरे जितना-जितना उधर का उद्यम छोड़ते जाते हैं, उसी प्रमाण से इच्छा के न रहने पर भी बलात् आई हुई गहरी नींद की तरह वह निरोध नाम की गहरी समाधि बिना ही किसी प्रयत्न किये जबरदस्ती-सी करती हुई उमड़ी पड़ती है। इस समाधि का व्यास आदि मुनि बड़ी चाह से आदर करते थे। बिना साधनों की ऐसी अपूर्व अवस्था प्राप्त हो जाने में आश्चर्य ही क्या है। जैसे निद्रा को कोई चाहता नहीं किन्तु वह न चाहने पर भी स्वभाव से और जबरदस्ती आती है इसी प्रकार आत्मज्ञान हो जाने पर कोई चाहे या न चाहे फिर भी यह समाधि स्वभाव से और जबरदस्ती आती ही है।

ब्रह्मज्ञानियों को ही नहीं, लौकिक लोगों को भी ये समाधियाँ स्वभाव से नित्य प्राप्त होती रहती हैं। जब कि हम अपनी वृद्धावस्था तक तीव्र अभिलाषा के साथ सन्तान के लिये अनेक उपाय करके सर्वथा निराश हो चुके हों और तब यदि अचानक ही पुत्रजन्म का सुसमाचार सुनाई पड़े तो उस समय प्रत्येक मनुष्य को समाधि होगी। जब हम बेधड़क होकर किसी मार्ग से जा रहे हों तब यदि अचानक किसी अत्यन्त गहरे गर्त्त में गिरने लगें या कोई अत्यन्त भयंकर हिंसक जन्तु दीख पड़े जिसका हम कुछ प्रतिकार न कर सकें तब चित्त में जो स्थिति उत्पन्न होती है वह भी समाधि कहायेगी। अत्यन्त हर्ष का किंवा अत्यन्त विषाद का समाचार सुन पड़े तो भी मन निर्विकल्प समाधि में पहुँच जायगा। कई बार तो इतनी गहरी अवस्था आ जाती है कि अत्यन्त हर्ष का समाचार सुनते ही एक दम प्राण चलने बन्द हो जाते हैं और मृत्यु तक हो जाती है। इसके अनेक उदाहरण लोक में सुनने में आते हैं। इस पर यदि यह प्रश्न किया जाय कि फिर ऐसी पवित्र अवस्था को पाकर भी ये सब लोग कृतकृत्य क्यों नहीं हो गये तो सुनो कियही अवस्था यदि उन्हें ज्ञानपूर्वक होती तो वस्तुतः ये लोग कभी मुक्त हो गये होते। यदि तुम एक बहुमूल्य रत्न को काँच समझकर अपने घर में रख लो तो उससे तुम्हारी दरिद्रता नष्ट नहीं होगी। केवल ज्ञानपूर्वक रखा हुआ रत्न ही तुम्हारी दरिद्रता को नष्ट करके तुम्हें कोटिद्रव्याधीश बना सकता है। ठीक यही बात इस समाधि के विषय में भी है।

जानने योग्य बात इतनी ही है कि संसार के सम्पूर्ण आनन्द तो आत्मानन्दरूपी समुद्र की छींटें हैं। जब कोई विषयरूपी ढेला उसमें फेंका जाता है तो एकाध छींट उछल पड़ती है, परन्तु वह जैसे समुद्र से पृथक् नहीं, वह कुछ ऊँचे उछलकर फिर समुद्र में ही जा पड़ती है उसी प्रकार ये विषयानन्द भी आत्मानन्द से पृथक् कोई चीज नहीं हैं। ये भी उसी आत्मानन्द समुद्र में लीन हो जाया करते हैं। धोखा यह होता है कि आत्मा के आनन्द को तो भूल डाला जाता है और विषयों में ही आनन्द मान लिया

जाता है। कस्तूरीमृग जैसे अपनी नाभि के सुगन्ध को जगह जगह तलाश करता फिरता है और अन्त में दौड़ता दौड़ता मर जाता है, ठीक इसी प्रकार अज्ञानी जीव आनन्द की तलाश में बाहर निकल कर (बहिर्मुख होकर) विषयरूपी बाघिनों के बीच में उस अपने आनन्द को तलाश करता फिरता है और उन्हीं से मार डाला जाता है। दैववश जब कभी उसे कोई विषय प्राप्त हो जाता है तब उसकी बुद्धि आत्मा में जाकर शान्त हो जाती है, तो क्षणभर आत्मानन्द का भोग ले लेती है। परन्तु 'विषयों में ही आनन्द है' ऐसी जो एक भ्रान्ति उसे बनी रहती है उसी के कारण फिर दूसरे आनन्द को पाने के हेतु विषयों की तलाश के लिये फिर-फिर बाहर निकलना पड़ जाता है। किसी के समझने किंवा न समझने से किसी पदार्थ का स्वरूप नहीं बदल जाता। भला कहीं कस्तूरीमृग के अपने उस गन्ध को बाहर से आने वाला समझने से वह सुगन्ध बाहर का हो जाता है! इसी प्रकार आनन्द को विषयों से आनेवाला समझने पर क्या वह आनन्द सचमुच विषयों में से ही आने लगता है? नहीं, नहीं, उसका आदि स्रोत तो उसका अपना आत्मा ही है। जिन पुरुषों को यह भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है, वे तो सदा ही उस आनन्दसमुद्र का भोग लेते हैं, जिसको कि विषयी आदमी सैकड़ों प्रयत्न करके, प्राणान्त विपत्तियाँ उठाकर, हजारों पापों की गठरी बांध कर भी क्षणभर के लिये ही भोग पाता है। इस भ्रान्ति का रहस्य तो यह है१. प्रथम हमें विषय प्राप्त होता है। २. दूसरे उसकी प्राप्ति होने पर हमारा चित्त अन्तर्मुख होता है। ३. तीसरे अन्तर्मुख होने के कारण उस शुद्ध चित्त में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। बस यही आनन्द है। अविचारी मूर्ख लोग तो विषय का प्राप्त होना और आनन्द का मिलना इन पहली और तीसरी अवस्था पर ही विचार करते हैं। "विषय के प्राप्त होने से चित्त का अन्तर्मुख होना" इस दूसरे परिवर्तन का तो उन्हें पता ही नहीं रहता। यदि उन्हें इस दूसरी अवस्था की प्रतीति हो जाती कि बीच में चित्त के अन्तर्मुख होने की भी एक अवस्था आती है तो उन्हें यह रहस्य भी सहज ही खुल जाता कि इच्छारहित अन्तर्मुख मन ही आनन्द दिला सकता है। फिर चाहे उस अन्तःकरण को उसकी इच्छा पूरी करके अन्तर्मुख किया जाय अथवा ज्ञान के सहारे से इच्छाओं को त्याग कर अन्तर्मुख कर डाला जाय। जिन लोगों को इस दूसरी अवस्था का ज्ञान हो जाता है, जो लोग आनन्द के आदिम स्रोत को पहचान जाते हैं, वे फिर धीरे-धीरे अपने सामर्थ्य के अनुसार विषयभूमियों में से हटते-हटते आत्मानन्दरूपी समुद्र में रात दिन डूबे रहने लगते हैं। इस रहस्य के हाथ लगने से फिर उसका मन कभी भी संसार की तरफ को नहीं

जाते विद्वदनुग्रहेण सहजानन्दागमे साधकैः
औदास्येन यथा यथा परिहृतः कष्टः स योगोद्यमः।
आश्चर्यं न मनीषितापि निविडा निद्रा यथेयं बलाद्
आयात्येव तथा तथा मुनिमतो गाढः समाधिक्रमः।।६।।(८०१)

ननु तर्हि साधनैः विना कथं समाधिलाभ इत्याशंक्य तस्यापि सहजत्वाद् निद्राद्यवस्थावद् अवस्थात्वाविशेषात् तदपेक्षाभावेऽपि मयि अवस्थान्तरवत् स प्राप्नोति एव इति मम तत्रापि अनादरः अस्ति इत्याशयेन आह **जात इति। विद्वदनुग्रहेण** विदुषां ज्ञानिनाम् आत्मसाक्षात्कारवताम् इत्यर्थः अनुग्रहः कृपा तेन **सहजानन्दागमे** सहजः स्वाभाविक आनन्दो निरतिशयं सुखं, तस्य आगमो लाभः तस्मिन् जाते उद्भूते सति, **साधकैः** पूर्वसाधकावस्थावद्भिः अस्माभिः, स योगशास्त्रोक्तो, **योगोद्यमो** योगः समाधिः तत्साधनभूत उद्यम उद्योगः **कष्टः** खेदरूप एव इति हेतोः, **औदास्येन** तत्साधनेषु तत्र च यद् औदास्यम् उदासीनत्वं तेन **यथा यथा** यावद् इत्यर्थः **परिहृत** उपेक्षितः तथा तथा इति आवृत्तिशेषेण उत्तरत्र योज्यं तावत् तावद् इत्यर्थः। **न मनीषितापि** मया अनीप्सितापि **निविडा** सघना **इयं** लोकप्रसिद्धा, **निद्रा** सुषुप्तिः, **बलात्** स्वयमेव **आयाति** प्राप्नोति **तथा** तद्वद् **मुनिमतो** मुनिभिः व्यासकपिलपतञ्जलिप्रभृतिभिः विवेकिभिः मत इष्टत्वेन आदृतो, **गाढो** दृढः, **समाधिक्रमः** समाधेः वेदान्तिमतस्वात्मरूपसमाधेः **क्रमः** प्रापकः साधनभूतः निरोधाख्यः समाधिः स्वयम् अयत्नमेव **बलाद्** हठाद् एव **आयाति** प्राप्नोति, एतद् **आश्चर्यम्** अवलोकय इति शेषः।।६।। (८०१)

चलता। क्योंकि कोई भी मनुष्य चक्रवर्ती राजा बनकर भीख माँगना पसन्द नहीं करता। यों उनको स्वभाव से समाधि रहने लगती है। जिस समाधि के लिये दूसरे योगियों को बड़े-बड़े व्यायाम करने पड़ते हैं, ज्ञान की महिमा से वह समाधि नींद की तरह स्वयं ही आती है और साधक को तन्मय करके छोड़ती है।।६।।

आत्मविषयक चिन्तन में मानों साक्षात् अमृत के सागर में ही सम्पूर्णतया डूबी हुई सूक्ष्म बुद्धि से जब उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मतत्त्व के दर्शन मिल जाते हैं, और संसार के पदार्थ तटस्थ बुद्धि से देखे जाने लगते हैं तब कहीं जाकर स्वाभाविक बोधघनता प्राप्त होती है।

जब अनात्मविषयों का चिन्तन कभी भी उत्पन्न न हो और धाराप्रवाहरूप से आत्मचिन्तन का प्रवाह बहने लगे तो उसे साक्षात् अमृत ही कहना चाहिये। उसे ही अगाध और अनन्त होने से समुद्र की उपमा दी जा सकती है। उस ध्यानामृतरूपीसमुद्र में डूबकर अन्दर बाहर ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण हो जाने के कारण ही अतिसूक्ष्म बनी हुई वह बुद्धि जब एक ऐसे तत्त्व का दर्शन कराती है कि जिसको बड़ी उत्सुकता से

ध्यानामृतार्णवनिमग्नसमस्तमूर्त्या तन्व्या धिया निगमिते निगमान्ततत्त्वे।
आलोकितेष्वथ तटस्थधियाऽखिलेषु भावेषु बोधघनता सहजाभ्युपैति।।७।।(८०२)

ननु भवतां सहजसमाधिः येनोपायेन जातः तम् उपायं ब्रूहि इत्याशंक्य फलसहितम् उपायं वदति **ध्यानेति। ध्यानामृतार्णवनिमग्नसमस्तमूर्त्या** ध्यानम् आत्मविषयकप्रवृत्तिप्रवाहः अनात्मविषयप्रत्ययानन्तरितः तदेव अमृतं समुद्रमग्नस्य सर्वत्र अमृतप्राप्तिरिव अमृतं ब्रह्मसुखं तत्प्रापकत्वाद् अमृतार्णवः तस्मिन् निमग्ना प्रविष्टा समस्ता संपूर्णा मूर्तिः आकारो यस्याः सा तथोक्ता तया अत एव **तन्व्या** सूक्ष्मया, **धिया** बुद्ध्या 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' इति श्रुतेः **निगमान्ततत्त्वे** निगमो वेदः तस्यान्ते वेदान्ते यन्निरूपितं तत्त्वमनारोपितस्वरूपं तस्मिन्, यद्वा निगमानां वेदानाम् अन्तः परिसमाप्तिः यस्मिन् तस्मिंस्तत्त्वे अनारोपितात्मस्वरूपे ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि इति यावद् **निगमिते** बोधिते साक्षाद् अनुभाविते सति, **अथ** अनन्तरमेव, **अखिलेषु भावेषु** पदार्थेषु, **तटस्थधिया** यथा तटस्थः पुरुषः स्वदृष्ट्या नदीप्रवाहपतितानि तृणकाष्ठयादोनरादीनि प्रतिबिम्बितान् वृक्षादीन् अपि पश्यति तथा माया नदीतटस्थस्वसाक्षात्कारधिया बुद्धिवृत्त्या आलोकितेषु साक्षाद्दृष्टेषु सत्सु **सहजा** स्वाभाविकी, **बोधघनता** बोधस्य आत्मनो, घनता निविडता, प्रपञ्चरहितत्वेन चिद्घनस्वरूपता इत्यर्थः। **अभ्युपैति** प्राप्नोति। यद्वा तटस्थधिया नद्यादितटस्थितवृक्षादिषु जलगतप्रतिबिम्बरूपेण द्विधाप्रतीयमानेषु अपि तद्विषयैकत्वनिश्चयवृत्तिः इव अनेकधा प्रतीयमानेऽपि आत्मनि एकत्वनिश्चयरूपया वृत्त्या इति योज्यम्।।७।।

(८०२)

वेदान्तों ने प्रतिपादन किया है, उसके दर्शन मिलते ही उस विद्वान् की अवस्था में आकाश पाताल का अन्तर हो जाता है। जिस प्रकार नदी के किनारे पर खड़ा हुआ पुरुष नदी में बहते हुए पदार्थों को निर्भय निर्मोह तथा निःसंकल्प होकर देखता रहता है, इसी प्रकार वह आत्मदर्शी भी इस मायानदी के तीर पर साक्षिभाव से खड़ा हो जाता है और इस मायानदी में बहने वाले पदार्थों को निःसंकल्प होकर देखा करता है। इस अवस्था के प्राप्त होते ही प्रपंच का ध्यान न रहने के कारण स्वाभाविक बोधरूपता प्राप्त हो ही जाती है।

अथवा जैसे नदी पर खड़े पुरुष को नदी के तीर पर खड़ा हुआ एक ही पेड़ प्रतिबिम्ब के कारण दो सा मालूम होता है परन्तु वह जल में प्रतिबिम्बित उस दूसरे वृक्ष को कल्पित समझ लेता है, इसी प्रकार अनेक रूप से प्रतित होने वाले आत्मा के विषय में एकत्वनिश्चय कर लेता है तो फिर चिन्तन का कोई भी विषय न रहने से, स्वाभाविक बोधरूपता प्राप्त हो जाती है अर्थात् निर्विकल्प समाधि होने लगती है। यदि इस रीति से तटस्थ बनकर तुम भी आत्मचिन्तन करोगे तो तुम्हें भी स्वभाव से ही समाधि होने लगेगी।।७।।

एषा मधुमती विद्या सर्वत्र मधुदर्शनात्।
स्वशरीरार्कवृक्षेऽपि दृष्टं यत्पुष्कलं मधु।।८।।(८०३)

एवं सहजसमाधेः प्राप्तिं ससाधनां निरूप्य इदानीम् एतस्या मधुमतीविद्यात्वं साधयति **एषेति। एषा** सहजसमाधिरूपा, **मधुमती विद्या** मधुमती नाम्नी विद्या उपासना ज्ञेया। कुत एतस्या मधुमतीत्वं तत्राह **सर्वत्रेति। सर्वत्र** सर्वपदार्थेषु, **मधुदर्शनाद्** मधुनो ब्रह्मसुखस्य, दर्शनात् साक्षात्काराद्। ननु अस्मात् सर्वत्र मधुदर्शनं जातमिति एतत्कुतो निश्चेयं तत्राह **स्वशरीरेति। यद्** यस्मात् कारणात् **स्वशरीरार्कवृक्षेऽपि** स्वस्य आत्मनः शरीरं स्वतो विशीर्णस्वभावम् अत एव दुःखदत्वाद् मरणप्रदत्वाच्च तापहेतुत्वाच्च वृश्चनीयत्वाच्च अर्कवृक्षः तस्मिन्नपि, **मधु** ब्रह्मसुखं, **पुष्कलम्** अत्यन्ततृप्तिकर्तृत्वाद् बहु, **दृष्टं** साक्षाद् अनुभूतम्, अतः सर्वपदार्थेषु तद्दृष्टम् एव इति अतो मधुमतीत्वम् एतस्याः सम्भाव्यमिति भावः। मधुमतीविद्याप्रतिपादको मन्त्रस्तावद् 'मधु वाता ऋताय ते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः मधुनक्तमुतोषसि मधुमत्पार्थिव ँ रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमानस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः' इति।

अस्यार्थःवाता वायवः शारीराः प्राणादयो विराट्शारीरा आवहप्रवहादय एते सर्वे पञ्चीकृता अपञ्चीकृताश्च आकाशकार्यरूपाः ते सर्वे ते तव ऋताय ऋतं ब्रह्म सुखं प्राप्तुं भवन्तु 'ऋत ँ सत्यं परं ब्रह्म' इति श्रुतेः। शाखान्तरे ऋतायते इति एकं पदं, तदा मधु ब्रह्मसुखरूपाः सन्त ऋतायते ऋतं सत्यमिव आचरन्ति इति तादृशा भवन्तु। तथा सिन्धवः समुद्रा मधु ब्रह्मसुखं क्षरन्ति स्रवन्तु लोडर्थे लङ्। अत्र सिन्धुशब्देन पञ्चीकृतजलराशिरूपा अपञ्चीकृतजलं च शारीराः कुक्षयश्च तदभिमानिन्यो देवता अपि ग्राह्याः। औषधीः ओषध्यो यवादिरूपा नः अस्माकं माध्वीः ब्रह्मसुखप्रदाः सन्तु भवन्तु आत्मसुखप्राप्तिपर्यन्तं शरीरस्य श्रवणाद्युपयोगित्वात् तादृशशरीरोपजीवनानुकूलतया निर्विघ्नप्राप्तिरेव धान्यानां मधुप्रदत्वं ज्ञेयमिति भावः। नक्तं रात्रिरपि मधु ब्रह्मसुखस्वरूपं भवतु ब्रह्मसुखप्राप्तिसाधनविचारादौ अनुकूलं नो भवतु इत्यर्थः। तथा उषसि उत उषस्यपि प्रभातेऽपि नः अस्माकं मधु ब्रह्मसुखं स्फुरतु इति शेषः। ब्रह्मसुखस्फुरणे अनुकूलता प्रभाते अस्तु इत्यर्थः। उषस इत्यपि शाखान्तरे पाठः, अर्थः स एव। पार्थिवं पृथिव्या इदं पार्थिवं पृथ्वीसम्बन्धि रजो रेणुः तज्जन्यं घटाद्यपि पृथिवी च मधुमद् मधु ब्रह्मसुखं विद्यते यत्र तथाभूतम् अस्तु ब्रह्मसुखभानपूर्वकं तत्सर्वं भातु वा ब्रह्मसुखसाधनं भवतु इत्यर्थः। न इति अनुवर्तनीयम्। तथा पिता पालकः सर्वप्राणिपालनशीलेत्यर्थः। द्यौः स्वर्गोऽपि मधु ब्रह्मसुखलक्षकं नः अस्माकम् अस्तु भवतु। द्यौः पदेन आकाशोऽपि ग्राह्यः तथा वनस्पतिः पुष्पं विना फलवान् अश्वत्थादिः वनोपलक्षितौषधीस्वामीचन्द्रोऽपि मधुमान् मधु सुखं विद्यते अस्मिन्निति मधुमान् ब्रह्मसुखविशिष्टः तत्प्रदश्च नः अस्माकम् अस्तु भवतु। सूर्यः तपनो ब्रह्मसुखप्रदो भवतु। तथा गावो धेनवो वाचश्च इन्द्रियाणि च बुद्धिश्च यज्ञश्च दिशश्च वज्रं बाणाश्च इत्यादिजातं सकलं नः अस्माकं ब्रह्मसुखानुसन्धानवतां माध्वीः ब्रह्मसुखानुरूपा भवन्तु प्रतीयन्तु। सर्वत्र प्रार्थनायां लोट्।।८।। (८०३)

यह सहज समाधि ही मधुमती विद्या है क्योंकि इसके अपूर्व प्रभाव से सब जगह

विष्णोर्मे दर्शनं भूयादेवमासीन्मनोरथः।
इदानीं कृपया विष्णोः सर्वं विष्णुमयं जगत्।।६।। (८०४)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे अनुभवनवकम् एकविंशम्।।

इदानीं स्वस्य अज्ञानावस्थातो ज्ञानावस्थायां स्थितस्य महद् अन्तरं दर्शयति **विष्णोरिति**। हे शिष्य पूर्वं ज्ञानप्राप्तिपूर्वकाले अज्ञानावस्थायाम् इत्यर्थः। **मे** मम **विष्णोः** व्यापकस्य परमात्मनो **दर्शनं** साक्षात्कारो **भूयाद्** भवतु **एवम्** इत्थं मे इति आवर्तनीयम्, मम **मनोरथः** अभिलाष **आसीद्** अभूत्, केवलाज्ञानवस्थायां तु विषयेषु एव इच्छा आसीत्, ततश्च तदर्थं कर्मोपासनाद्यनुष्ठानेन अन्तःकरणे किञ्चित् शुद्धे निष्कामपूर्वं तदनुष्ठानेन वेवेष्टि व्याप्नोति जगत् स विष्णुः गुरुः

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।' इति वृद्धवचनाद्। अत्रैव च
मदमोहाभिधक्रूरमधुकैटभजिष्णवे।
मोक्षलक्ष्मीनिवासाय नमः श्रीगुरुविष्णवे।।

इति च उक्तत्वाद् गुरोः व्यापकत्वं च सर्वत्र सर्वहितोपदेष्टृत्वसंभवेन ज्ञेयम्। **इदानीम्** अधुना ज्ञानप्राप्तौ सत्यां, **विष्णोः** जगद्व्यापकस्य गुरोः, कृपा दया तया, **सर्वं** समस्तं **जगद्** विश्वं **विष्णुमयं** विष्णुः व्यापक आत्मा गुरुश्च तन्मयं तद्रूपं दृश्यते इति शेषः, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं' 'विश्वं नारायण' इत्यादि श्रुतिद्वारा गुरोः उपदेशरूपकृपया वाचारम्भणश्रुत्युक्तयुक्त्या च पर्यालोचनेन कार्यस्य कारणव्यतिरिक्तसत्ताभावाद् जगतो ब्रह्ममात्रत्वं तदभिन्नगुरुदृष्ट्या च गुरुमात्रत्वं लोकप्रसिद्धविष्णुदृष्ट्या च विष्णुमात्रत्वं च साक्षात्कृतम् इत्यर्थः।।६।। (८०४)

इतिश्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ अनुभवनवकार्थप्रकाश एकविंशः।।

मधु ही मधु दीखने लगता है और तो क्या इस शरीररूपी अर्कवृक्ष में भी मधु के समान ब्रह्मसुख बड़ी भारी मात्रा में दीखने लग पड़ता है।

ऊपर बतायी विधि से जब स्वाभाविक समाधि होने लगे तो उसे ही 'मधुमती' नामक विद्या जानना चाहिये। क्योंकि इसके अप्रतिम प्रभाव से संसार के सकल पदार्थों में मधु के समान ब्रह्मसुख के साक्षात् दर्शन मिलने लगते हैं। और तो क्या, प्रतिक्षण सड़ने गलने वाले दुःखदायी और मृत्यु के विशेष प्रीतिपात्र इस प्रतिक्षण परिणामी देह में भी अत्यन्त तृप्तिकारक ब्रह्मसुख का अनुभव प्राप्त हो जाता है। सचमुच तब तो यह कहावत ही ठीक मालूम होने लगती है कि यदि अर्कवृक्ष में ही मधु मिल जाय तो मधु लेने पर्वत पर जाने का कष्ट क्यों उठाया जाय। यह अत्यन्त निकृष्ट मनुष्यदेह ही अर्कवृक्ष के समान है। जैसे अर्कवृक्ष किसी उपयोग में नहीं आता इसी प्रकार इस

देह का भी कुछ उपयोग नहीं है। यह तो जन्ममृत्यु के चक्कर में पड़ा हुआ घूमा करता है, एक पलक मारते ही नष्ट हो जाता है, अग्नि में रक्खा जाय तो भस्म ही हो जाय और यदि कोई खा डाले तो इसकी विष्ठा ही बन जाय, यदि कहीं वैसे ही पड़ा रह जाय तो सैकड़ों कीड़ों को पैदा करदे, और किसी को इसके पास होकर चलना भी असह्य हो जाय, ऐसा तो निरर्थक यह शरीर है, इसमें भी यदि किसी को अपने साक्षित्व का ज्ञान होकर आत्मदर्शन होने लगे तो उसे कृतकृत्य ही कहना चाहिये। तब तो यही कहा जायगा कि उसे तो अर्कवृक्ष में ही मधु मिल गया। इसी कारण से इस विद्या को 'मधुमती' कहा है। 'मधु वाता' इत्यादि प्रसिद्ध मन्त्र भी मधुविद्या का ही प्रतिपादन करने वाला है। इसका तात्पर्य यह है किइस हमारे व्यष्टि शरीर के प्राण आदि वायु तथा विराट् शरीर के आवह प्रवह आदि वायु हमें ब्रह्मदर्शन कराने में सहायता दें। शरीर के अन्दर या बाहर के पंचीकृत तथा अपंचीकृत दोनों प्रकार के जल हमारे लिये ब्रह्मसुख की वर्षा करें। जौ, गेहूँ आदि औषधियाँ भी हमें ब्रह्मसुख को देने वाली हों अर्थात् ब्रह्मसुख पाने के लिये श्रवण मनन तथा निदिध्यासन करने के प्रयोजन से जब तक इस शरीर के जीवित रहने की आवश्यकता है तब तक निर्विघ्नरूप से ये औषधियाँ हमें खाने को मिलती रहें। यह रात्रि भी हमारे आत्मविचार की सहायक होकर ब्रह्मसुख की प्राप्ति का साधन बन जाय। उषाकाल में भी हमें ब्रह्मसुख की स्फूर्ति होती रहे (ऐसी अनुकूल परिस्थिति रहे कि हमें उषाकाल में निश्चिन्त होकर ब्रह्मसुख की स्फूर्ति रह सके)। जिस पृथिवी पर हम रहते हैं उस पृथिवी का एक-एक कण किंवा उनके बने हुए समस्त पदार्थ और यह सब पृथिवी भी हमारे लिये ब्रह्मसुख वाली हो (अर्थात् ब्रह्मसुख के भान का साधन बन जाय)। वर्षा आदि के द्वारा सब जगत् का पालक यह द्युलोक तथा आकाश और अन्तरिक्ष आदि भी हमें ब्रह्मसुख को पहचानने में सहायता देते रहें। वट आदि वनस्पति तथा उन सबका अधिपति चन्द्रमा भी हमें ब्रह्मसुख का ज्ञान कराने वाला हो। सूर्य भी हमें ब्रह्मसुख को देने वाला हो। गौवें, वाणियाँ, इन्द्रियाँ, बुद्धियाँ, यज्ञ तथा दिशायें आदि सब ही कुछ हमारे लिये ब्रह्मसुखानुभव करने में अनुकूल हो जायँ। ऐसी कोई भी चीज न रहे जो हमारे पास तक ब्रह्मसुख का समाचार न लाती हो, संसार के प्रत्येक पदार्थ हमें ब्रह्मसुख की स्फूर्ति कराने वाले हो जायँ।।८।।

पहले मैं यह चाहा करता था कि किसी प्रकार विष्णु के दर्शन हों, अब तो विष्णु की कृपा से यह सब जगत् ही विष्णुमय प्रतीत होने लगा है।।९।।

जिस अपूर्व भाव के उदय हो जाने पर जगत् के सकल पदार्थ नहीं रहते, उस (सच्चिदानन्दरूप) भाव का जिस प्रकरण में वर्णन किया गया है अब तुम स्वरूपसुख

अथ विद्वत्प्रभावनवकम्

अभावो यत्र भावानां स भावो यत्र वर्णितः।
स्वभावसुखदं तात प्रभावनवकं शृणु।।१।। (८०५)

एवं स्वानुभवं निरूप्य इदानीं ज्ञानिनां प्रतापं वर्णयितुं विद्वत्प्रभावनवकाख्यं प्रकरणं नवश्लोकं निरूपयिष्यन्नाह **अथेति। अथ** इदानीं स्वानुभवनवकनिरूपणानन्तरं, **विद्वत्प्रभावनवकं** विदुषां विवेकिनां, प्रभावः प्रतापः, तस्य निरूपकं नवकं नवानां श्लोकानां समूहो नवकं विद्वत्प्रभावनवकाख्यं प्रकरणं, निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ तावद् एतत्प्रकरणनिरूपयिष्यमाणविषयम् अत्र निर्दिशति **अभाव इति। यत्र** यस्मिन् भावे, **भावानां** कार्यकारणरूपाणां जगद्गतपदार्थानाम्, **अभावः** अत्यन्तासत्त्वम् अस्ति, **स भावः** सच्चिदानन्दरूपो भावः पदार्थ आत्मा, **यत्र** प्रकरणे, **वर्णितो** निरूपतो, हे **तात** हे शिष्य, **स्वभावसुखदं** स्वभाव आत्मसत्ता, तदभिन्नं सुखं तत्प्रददाति इति तत् तथोक्तम्, **प्रभावनवकं** प्रभावस्य विद्वत्प्रतापस्य, निरूपकं नवकं नवश्लोकसमूहरूपं प्रकरणं, **शृणु** अवधारय।।१।। (८०५)

को देने तथा विद्वन्महिमा के वर्णन करने वाले उन नौ श्लोकों को सुन लो।।१।।

यह मुनि क्षुद्र कामादियों को पीछे छोड़कर बहुत दूर निकल चुका है। यद्यपि यह कभी-कभी इन्हें पीछे को मुँह फेर कर देख तो लेता है परन्तु ये कामादि अब उसे नहीं पा सकते (ये उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। अब इनका उस ज्ञानी पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता)।

यदि उस ज्ञानी को उसके प्रारब्ध भोगों के कारण कामक्रोधादि उत्पन्न हो जायें तथा कामक्रोधादि के विषयों की प्रतीति भी होने लगे, परन्तु वे कामादि किसी प्रकार भी उस ज्ञानी से सम्बद्ध नहीं हो सकतेक्योंकि कामादि एक प्रकार के विकार हैं, वह ज्ञानी तो निर्विकार सच्चिदानन्दरूप हो चुका है। यदि किसी प्रकार व्यावहारिक सम्बन्ध हो भी जाय तो भी प्रकाश और अन्धकार के समान विरुद्ध स्वभाव होने से पारमार्थिक सम्बन्ध होना कभी भी सम्भव नहीं होता। वह ज्ञानी तो इन क्षुद्र कामादि मायिक पदार्थों की स्वरूपस्थिति (असलियत) को पहचान कर इनसे पृथक् हो बैठा है। जैसे कि इन्द्रजाल (बाजीगरी) का खेल देखने वाले लोग चाहे अपना धनव्यय करके ही उसे देखें परन्तु उस खेल की हिंसाप्रतिहिंसाओं से वे सुखी किंवा दुःखी नहीं होते किन्तु निर्लेप और तटस्थ होकर देखते रहते हैं। वे देखने से पहले ही उसे मिथ्या समझ चुकते हैं। ठीक यही अवस्था ज्ञानी की रहती है। वह भी भोगने के पहले ही इन मायिक पदार्थों को अवस्तु समझ लेता है। बस फिर कभी खाते-पीते, खेलते-कूदते, स्त्रियों से रमण करते, रथों में यात्रा करते, कुटुम्बीजनों से बातचीत करते किसी भी अवस्था में उनमें लिप्त नहीं होता। जैसे आकाश जल से गीला नहीं होता तथा वायु से शुष्क नहीं होता वैसे ही ये ज्ञानी लोग संसार के सुखदुःखों से लिप्त नहीं होते। चकोर पक्षी जिस प्रकार दहकते हुए अङ्गारों को खा जाता है और उसका मुँह नहीं जलता इसी प्रकार इन कामादि विकारों से उसके मानस में दाह और अशांति उत्पन्न नहीं होती। इस समस्त त्रिभुवन में भी जिन कामादियों का मुकाबला करनेवाले नहीं

अयं विहाय कामादीन् क्षुद्रान् दूरगतो मुनिः।
पश्यत्यपि कदाचित् तान् न चैनं प्राप्नुवन्ति ते।।२।। (८०६)
न यान्ति नूनं तज्ज्ञस्य सम्मुखे द्वैतदृष्टयः।
दुष्टा दुष्टतया ज्ञाता दर्शयन्ति मुखं कथम्।।३।। (८०७)

इदानीं विदुषो विषयदर्शनेन कामाद्युत्पत्तौ सत्यामपि तदस्पर्शं ज्ञानिषु दर्शयन् कामादिविकाराणां शक्तितिरस्करणरूपं प्रतापं निरूपयति **अयमिति। अयं** यत्प्रतापवर्णनम् आरब्धं सोऽयं ज्ञानी **क्षुद्रान् कामादीन्** क्षुद्रान् तुच्छान् मायिकपदार्थविषयान्, कामादीन् कामः अभिलाष आदिः प्रथमो येषां ते तथोक्ताः तान्, क्रोधादीन् षड्रिपून्, **विहाय** परित्यज्य, **दूरगतो** दूर आराद्, गतः स्थितो, **मुनिः** मननं विवेकः अस्य अस्ति स मुनिः, प्रारब्धभोगकाले **तान्** विषयान् तद्विषयकान् कामादींश्च, **पश्यत्यपि** यद्यपि अवलोकयति, तथापि **ते** कामादयः तद्विषयाश्च, **एनं** ज्ञानिनं, **न च** नैव, **प्राप्नुवन्ति,** सम्बध्नन्ति, कामादीनां विकारत्वाद् असत्त्वाच्च विदुषो 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इति श्रुतेः निर्विकारसच्चिदानंदब्रह्मरूपत्वाद् उभयोः विरुद्धस्वाभाव्येन कामादिविकार-सम्बन्धो विवेकिनि पारमार्थिकः नैव संभवति एवं विद्वत्प्रभावो ज्ञेय इति भावः।।२।। (८०६)

इदानीं द्वैतादर्शनरूपं प्रतापं दर्शयति **नेति। तज्ज्ञस्य** तदात्मस्वरूपं जानातीति तज्ज्ञ आत्मयाथार्थ्यवेत्ता तस्य, **सम्मुखे** आत्मयाथार्थ्यवेदनरूपवृत्त्यग्रे इत्यर्थः, **द्वैतदृष्टयो** द्वैतं जगद्दृश्यते आभिः ता द्वैतदृष्टयो जगद्विषयका वृत्तय इत्यर्थः, **न यान्ति नूनं** निश्चयं न आगच्छन्ति, अत्र सन्देहो नैव कर्त्तव्य इति भावः। तत्र उपपत्तिमाह **दुष्टा इति। दुष्टाः** स्वत एव असत्त्वदुःख-प्रदत्वपरिणामादिभिः दोषैः दूषिता, अतो **दुष्टतया** दुष्टत्वेन, **ज्ञाता** अवगताः सन्तः ते विषया **मुखं** वदनं, **कथं** केन प्रकारेण, **दर्शयन्ति** न कथमपि इत्यर्थः। लोकेऽपि इदं दुष्टैः स्वदोषज्ञानिनाम् अग्रे स्वमुखदर्शनं न क्रियत इति प्रसिद्धमेवेति भावः।।३।। (८०७)

मिलते वे ही कामादि इस आत्मदर्शी विद्वान् के सामने मध्याह्न काल में सूर्य के सम्मुख जलते हुए दीपक की तरह सर्वथा हतवीर्य हो जाते हैं। वे इसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाते। बाली जिस प्रकार अपने सामने आये शत्रु का आधा बल खींच लेता था और उसे परास्त कर देता था उसी प्रकार यह ज्ञानी भी उन कामादियों में से आत्मसत्तारूपी बल को खेंच कर उन्हें निस्तेज कर डालता है। वर्षा और धूप जिस प्रकार चमड़े पर ही अपना प्रभाव रखते हैं आकाश का उनसे कुछ भी नहीं बिगड़ता इसी प्रकार ये कामादि तो चमड़े के साथ तादात्म्य रखने वाले अज्ञानी लोगों को ही कठपुतली की तरह नचाया करते हैं। ज्ञानी विद्वानों पर तो इनका प्रभाव कभी नहीं पड़ता।।२।।

ये द्वैतजगद्विषयक विचार आत्मस्वरूप को जानने वाले विद्वान् के सम्मुख कभी नहीं जाते। दुष्टों को जब यह समझ लिया जाता है कि ये दुष्ट हैं तो वे फिर अपना मुँह (उस जानने वाले को) कैसे दिखायें! (विषयों के असत्यत्व दुःखदातृत्व तथा परिणामित्व आदि दोष ज्ञानी को दीख जाते हैं अतः) वह इनमें नहीं उलझता।।३।।

माया मायेति विज्ञाता सर्वाकारविकारिणी।
गता कुत्राप्यनावृत्त्यै संस्थितो निर्मलो मुनिः।।४।। (८०८)
निर्जिता विषया नूनं चपेटाभिश्च ताडिताः।
नोपसर्पन्ति ते तस्मादस्मानेष हनिष्यति।।५।। (८०९)

इदानीं मायाया अपि ज्ञान्यग्रे स्थातुम् अशक्तिकत्वम् इति एवंविधं प्रतापं दर्शयति **मायेति। माया** प्रकृत्यपरपर्याया जगदुत्पादनशक्तिः सत्त्वासत्त्वादिवचनैः अनिर्वाच्या, **सर्वाकारविकारिणी** सर्वे समस्ता, य आकारा रूपाणि, त एव विकाराः परिणामरूपा विद्यन्ते यस्यां सा तथोक्ता, एवं लक्षणैः लक्षिता इयं **माया** अर्थशून्या सती प्रतीयमाना, **इति** एवं, **विज्ञाता** साक्षादनुभूता सती मुनिना इति शेषः। अत एव सा **कुत्रापि** क्वापि मिथ्यापदार्थलयस्थानस्यापि सत्त्वासत्त्वादिभिः अनिर्वचनीयतया कुत्रापि इति उक्तम्। **अनावृत्त्याय** पुनरनागमनाय, **गता** निवृत्ता, अतो **मुनिः** मननवान् ज्ञानी, **निर्मलो** मायाविद्यादिमलास्पृष्टः शुद्ध इत्यर्थः, **संस्थितः** तिष्ठति इत्यर्थः। लोकेऽपि दुष्टस्त्रिया दुष्टत्वे ज्ञाते सा लज्जया पुरःस्थातुम् अशक्ता सती विषादिभक्षणेन पुनरदर्शनरूपं मरणं प्रसिद्धं, तद्वद् अत्रापि इत्यर्थः।।४।। (८०८)

इदानीं विद्वत्समीपे विषयाणां प्रसरणाशक्तिनिरूपणमिषेण विद्वत्प्रतापं दर्शयति **निर्जिता इति। विषयाः** शब्दादयः तत्समूहरूपाश्च स्त्रीपुत्रधनगृहादयो, **नूनं** निश्चयेन ज्ञानिना, **निर्जिताः** पराभूताः कृताः, **च** पुनः, चपेटाभिः दोषदृष्टिरूपाभिः **चपेटाभिः, ताडिता** दण्डिताश्च मुनिभिः इति शेषः, यतो यस्मात् कारणात् **तस्मात्** कारणात्, **ते** विषया, **एष** मुनिः, **अस्मान्** नः, **हनिष्यति** मारिष्यति इति हेतोः, **नोपसर्पन्ति** न मुनिसमीपं गच्छन्ति, अयमपि मुनिप्रतापो विषयेषु भीतिरूपो ज्ञेयः।।५।। (८०९)

यह सकल जगद्रूप ही जिसका विकार है उस माया को जब माया समझ लिया जाता है तो फिर वह माया कहीं ऐसी जगह जा छिपती है कि फिर नहीं लौटती। फिर यह होता है कि वह मुनि तो निर्मल शेष रह जाता है।

वह मुनि माया, अविद्या आदि से रहित होकर स्वरूप में स्थित हो जाता है। लोक में भी देखते हैं कि जिस स्त्री की दुष्टता किंवा मिथ्याचार का भेद खुल जाता है फिर वह लज्जा से कभी भी सामने नहीं पड़ती और विष आदि खाकर मर भी जाती है।।४।।

जब कोई मुनि (शब्दस्पर्शादि) विषयों को जीत लेता है और उन्हें दोषदर्शनरूपी थप्पड़ों से दंड दे देता है तो फिर वे 'यह तो हमें जान से ही मार डालेगा' ऐसा विचार कर उसके पास तक नहीं फटकते (उसके हृदयभवन में नहीं घुसते)।।५।।

तुच्छ विषयों की तृष्णा को छोड़कर वह मुनि निःशल्य हो गया (उसने अपने हृदय में छुपे हुए तृष्णाशल्य को निकाल दिया) अब तो वह आत्मरसायन के पान से तृप्त होकर दिन प्रतिदिन वृद्धि कर रहा है।

अब तो यह मुनि तुच्छ विषयों की तृष्णा किंवा विषयवासनाओं को छोड़कर जो

तृष्णां विहाय तुच्छेभ्यो मुनिर्निःशल्यतां गतः।
स्वरसायनतृप्तात्मा दिनानुदिनमेधते।।६।। (८१०)
पूर्वां मां वल्लभां त्यक्त्वा रमते विद्ययाऽधुना।
इत्यविद्या लज्जितेव नायाति मम संमुखम्।।७।। (८११)

इदानीं तुच्छविषयतृष्णारूपशल्यनिराकरणेन स्वात्मानुभवे सति नित्यतृप्त्योत्तरोत्तरक्षणं स्वरूपे स्थैर्याधिक्यं ज्ञानिनां दर्शयन् तन्मिषेणापि ज्ञानिप्रभावं निरूपयति **तृष्णामिति**। **मुनिः** ज्ञानी,**तुच्छेभ्यः** तुच्छविषयेभ्यः, **तृष्णां** लोभवृत्तिं, **विहाय** परित्यज्य, **निःशल्यतां** शरीरे अवशिष्टं शस्त्रादिखण्डं शल्यं तद्वद् दुःखप्रदत्वाद् विषयवासनैव अवशिष्टा अन्तःकरणे शल्यपदेन ग्राह्या तद्रहिततां निर्वासनतां, **गतः** प्राप्तः सन्, अत एव **स्वरसायनतृप्तात्मा** स्व आत्मा स एव सुखं 'रसो वै स' इति श्रुतेः, तस्य अयनं प्राप्तिसाधनम् अखण्डाकाराकारिता प्रमारूपा वृत्तिः, तेन तृप्तः संतुष्ट, आत्मा अन्तःकरणं यस्य स तथाभूतः सन्। यद्वा स्वं आत्मैव रसानां हैरण्यगर्भ-सुखादिमानुषानन्दपर्यन्तानां वैषयिकसुखानाम् अयनम् आश्रयः, तेनैव तृप्तः सन्तुष्ट, आत्मा अन्तःकरणं यस्य इत्यर्थः। सन् **दिनानुदिनम्** एतदुपलक्षणं पूर्वपूर्वक्षणाद् उत्तरोत्तरक्षण इत्यर्थः। **एधते** वर्धते, अत्र स्वानुभवे स्थैर्यसंपादनरूपो ज्ञानिप्रभावो वर्णितो ज्ञेयः।।६।। (८१०)

इदानीं ज्ञानिनाम् अविद्याया अस्फुरणम् एव उत्प्रेक्षते **पूर्वामिति**। यथा काचित् स्त्री पूर्वं स्वपतिप्रियाऽनन्तरं तत्र दोषदर्शनेन अन्यां स्त्रियं विवहति ततः तया सहैव रमते च तां ज्ञात्वा स्वस्यां दोषदृष्ट्यानादरमपि ज्ञात्वा ततः तस्य पत्युः संमुखमपि लज्जया नायाति, तथा **पूर्वां** ज्ञानोदयात् पूर्वकाले, **वल्लभाम्** अतीवप्रियां, **माम्** अविद्याख्यां स्त्रियम्, **त्यक्त्वा** दोषदृष्ट्या परित्यज्य, **अधुना** इदानीं वेदान्तश्रवणादिविधिना ताम् अंगीकृत्य इदानीं, **विद्यया** विद्यानाम्न्या स्त्रिया सह माम् अनादृत्य, **रमते** क्रीडति **इति** हेतोः, **अविद्या** माया, **मम** मे, तद्दोषज्ञानिनि इत्यर्थः। **सन्मुखं** ब्रह्माकारवृत्तिदृष्टिविषयत्वं, **नायाति** न आगच्छति इव नागच्छति। किमु तत्र हेतुः? **लज्जिता** लज्जा त्रपा संजाता अस्याः सा तथोक्ता, एवम् अविद्याया अपि लज्जोत्पादनरूपः प्रभावो ज्ञानिनां ज्ञेयः।।७।। (८११)

कि उसके अन्तःकरण में शल्य की तरह दुःखदायी हो रही थीं, निःशल्य हो गया, वह अमृत के समान आत्मरसायन (आत्मरस की प्राप्ति की साधन, अखण्डाकारवृत्ति) के पान से तृप्त होकर, (अथवा मनुष्यसुख से लेकर हैरण्यगर्भसुखपर्यन्त समस्त वैषयिक सुखों के आश्रय आत्मा के दर्शन से ही तृप्त होकर) प्रतिदिन और प्रतिक्षण स्वानुभव की ओर बढ़ता जा रहा है। (अब उसके हृदय में गड़े हुए तृष्णाशल्य का घाव भी भर रहा है)। अर्थात् तुच्छ विषयों की तृष्णा ही एक प्रकार का दुःखदायी शल्य है, उसको जब यह ज्ञानी छोड़ देता है तो तुरन्त आत्मानुभव होने लगता है। आत्मानुभव होते ही उसे नित्यतृप्ति रहने लगती है, उसके प्रभाव से इस ज्ञानी को प्रत्येक उत्तर क्षण में स्वरूप में अधिकाधिक स्थिरता रहने लगती किंवा लम्बी समाधि होने लगती है। बस यही ज्ञानी का प्रभाव है।।६।।

ब्रह्म वक्तुं न जानाति यथात्यन्तजडो जनः।
तथैवात्यन्तबोधात्मा ब्रह्म वक्तुं न बुध्यते।।८।। (८१२)

इदानीम् अज्ञानिषु ब्रह्मवक्तृताशक्यतावद् ज्ञानिनामपि तद्वक्तृताशक्यतायामपि सत्याम् अवचनेनैव ब्रह्मवक्तृत्वरूपं प्रतापं प्रदर्शयति **ब्रह्मेति। यथा** यद्वद्, **अत्यन्तम्** अतिशयं, **जडो** मूर्खो **जनः** पुरुषो, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं सच्चिदानंदलक्षणं वस्तु कर्मभूतं, **वक्तुं** वचनेन प्रतिपादयितुं, **न जानाति** न वेत्ति, अज्ञत्वाद् विषयाज्ञाने तन्निरूपणाशक्तौ श्रुतिस्तावद् 'यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति' इति, अतो मनसा ज्ञातस्यैव वाचा निरूपयितुं शक्यत्वाद् अज्ञानां ब्रह्मनिरूपणासामर्थ्यमेव सिद्धम् इति भावः। **तथा** तद्वद्, **अत्यन्त-बोधात्मा** अत्यन्तम् अतीव, यो बोधो बुध्यते ज्ञायते जगद् अनेन इति बोधः चिन्मात्र आत्मा अन्तःकरणं यस्य स तथाविध, आत्माकारपरिणतान्तःकरणो ब्रह्माभिन्नस्वसाक्षात्कारवान् इत्यर्थः। **ब्रह्म** देशाद्यपरिच्छिन्नम् आत्मवस्तु, **वक्तुं** वचनद्वारा निरूपितुं, **न बुध्यते** न जानाति, बुधेः दिवादिपाठात् कर्तरि लटि 'दिवादिभ्य श्यन्' इति श्यनि च स्वरितेत्वाद् लटः तङ्, 'अवचनेनैव प्रोवाच' 'स ह तूष्णीं बभूव' इति श्रुतेः, अज्ञानिवद् ब्रह्मवक्तृत्वाभावेऽपि तूष्णींभावेनैव ब्रह्मवक्तृत्वशक्तिमत्त्वाद् ज्ञानिनो वचनाविषयत्वेऽपि ब्रह्मनिरूपणरूपः प्रभावो दर्शितः।।८।। (८१२)

'पहली प्यारी स्त्री को छोड़ कर विद्यानामक दूसरी स्त्री से रमण कर रहा है' इसलिये मानो लज्जित सी हुई वह अविद्या अब मेरे सम्मुख नहीं आती।।७।।

जिस प्रकार अत्यन्त मूर्ख मनुष्य ब्रह्म का वर्णन करना नहीं जानता, ठीक इसी प्रकार अत्यन्त ज्ञानी भी (वाणी से) ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकता।

जिस प्रकार अत्यन्त मूर्ख मनुष्य सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करना नहीं जानता इसी प्रकार जिसने अपने आपको ब्रह्माभिन्न जान लिया, जिसका चित्त आत्माकार में परिणत हो चुका वह भी आत्मा का वचनों के द्वारा प्रतिपादन नहीं कर सकता। 'अवचनेनैव प्रोवाच, स ह तूष्णीं बभूव, ब्रवीमि तु सोम्य त्वं तु न विजानासि उपशान्तोयमात्मा।' उसने बिना बोले अपने ज्ञानप्रभाव से आत्मा का वर्णन कर दिया। वह ब्रह्म का वर्णन करने के लिये चुपचाप हो गया। हे सोम्य! हम उस आत्मा का वर्णन मौन की भाषा में कर तो रहे हैं परन्तु तुम उसे समझ नहीं रहे हो। देखो, वह आत्मा शान्त है। उसका मौन जैसी शान्त भाषा में ही वर्णन किया जा सकता है। यदि अशान्त वाणी का आश्रय लिया जायगा तो शान्त ब्रह्म का वर्णन नहीं हो सकेगा, वाणी तो अशान्त तथा विषम पदार्थों का ही वर्णन कर सकती है। यदि आत्मा का जन्म मान लें और उसका नामकरण करना चाहें तो 'मौन' ही उसका राशिनाम निकलेगा, ऐसी परिस्थिति में ज्ञानी से भी आत्मा का वर्णन नहीं हो सकता।

अज्ञानी और ज्ञानी दोनों ही वाणी से ब्रह्म का वर्णन नहीं करते, परन्तु ज्ञानी में चुप रह कर भी ब्रह्म के वर्णन करने का सामर्थ्य रहता है। वह तो अपने प्रभाव से ही वाणी के अगोचर ब्रह्म का निरूपण कर सकता है।।८।।

नूनमालस्यदोषो हि शक्रस्यापि श्रियं हरेत्।
यथा यथाऽलसो ज्ञानी वर्धतेऽसौ तथा तथा।।६।। (८१३)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे विद्वत्प्रभावनवकं द्वाविंशः।।

अथ निर्वाणदशकम्

न शक्यं वक्तुमेवेदं तथापि कृपया तव।
कयाचित्कलया वत्स निर्वाणदशकं ब्रुवे।।१।। (८१४)

इदानीम् आलस्यस्य अविद्वत्सु कार्यघातकत्वेऽपि ज्ञानिषु प्राप्तव्याभावाद् अविघातकत्वं प्रत्युत केवलसहजसमाधेः द्वैतारुचिप्रतिपादनपूर्वकतद्विस्मृतिकारकत्वात् तस्य आत्मस्थितिवृद्धि-साधनत्वेन इष्टत्वं दर्शयति **नूनमिति। शक्रस्यापि** आलस्यवतः त्रैलोक्यराज्यं प्राप्तस्याऽपि इन्द्रस्य, अपिशब्दात् किमन्यस्य वक्तव्यम् इत्यर्थः। **श्रियं** सम्पदं, **हरेद्,** नाशयेद्, यः सोऽयं प्रसिद्ध आगोपालम्, **आलस्यदोषः** अलसस्य भाव आलस्यं कार्योपेक्षारूपा बुद्धिवृत्तिः तद्दोषो दूषणं, **नूनम्** अस्ति विद्यते अत्र संशयो नास्ति इत्यर्थः। तथापि **ज्ञानी** आत्मसाक्षात्कारवान्, **यथा यथा** पूर्वपूर्वकालाद् उत्तरोत्तरकालं यादृशः अलस आलस्यवृद्धिमान् भवति **तथा तथा** पूर्वपूर्वक्षणाद् उत्तरोत्तरक्षणम् **असौ** अलसः ज्ञानी, **वर्द्धते** स्वरूपस्थितिवृद्ध्युपलक्षितो भवति, अज्ञानिकार्यनाशकस्य आलस्यस्य ज्ञानिकार्यसाधकत्वसंपादनरूपोऽयं ज्ञानिप्रतापः अत्र दर्शितो ज्ञेयः।।६।। (८१३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ विद्वत्प्रभावनवकार्थप्रकाशो द्वाविंशः।।

एवं विद्वत्प्रभावनवकं निरूप्य इदानीं तेषामेव तात्त्विकं निर्वाणात्मरूपम् अन्येषां जिज्ञासूनाम् अवबोधयितुं निर्वाणदशकाख्यं दशश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** विद्वत्प्रभावन-

यह आलस्य इन्द्र की भी सम्पत्ति को नष्ट कर डालता है। परन्तु ज्ञानी ज्यों-ज्यों आलसी होता जाता है त्यों-त्यों बढ़ने लगता है। अधिकाधिक स्वरूप में स्थित होने लगता है।

ज्ञानियों को जो कुछ प्राप्तव्य था सो प्राप्त हो चुका क्योंकि उन्हें उस आत्मदेव के दर्शन हो चुके, उन्हें अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा। अब वे जितने अधिक आलसी बनेंगे उतनी ही उन्हें सहजसमाधि होगी, द्वैत में अरुचि होगी, द्वैत की विस्मृति होगी, और अन्ततः आत्मस्थिति में वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार अज्ञानियों के कार्यो का विघातक वह आलस्य भी ज्ञानियों के कार्यो का साधक बन जाता है। यह सब ज्ञानियों का प्रताप ही तो है।।६।।

हे शिष्य, निर्वाण अर्थात् अखण्डचिन्मात्र का निरूपण करने वाले जिस दशश्लोकी प्रकरण का मैं वर्णन करना चाहता हूँ, यद्यपि उसका वर्णन करने का सामर्थ्य वाणी में नहीं है, (क्योंकि मनुष्यों की क्षुद्र भाषा निर्वाण के भारी बोझ को नहीं संभाल सकती)। तो भी मुझे साधनसंपन्न अधिकारी देखकर जो मेरे अन्दर दया उत्पन्न हुई है केवल उसके वशंवद होकर किसी आत्मसाक्षात्कार वृत्तिरूपी कला (युक्ति) से मैं इस निर्वाणदशक का वर्णन करूँगा ही। (तुम अत्यन्त सावधान होकर उसे सुनो!)।।१।।

मोहनिद्रा न तत्रास्ति तेनायं जागरो महान्।
भावादयो न भासन्ते तेनायं नैव जागरः।।२।। (८१५)

वकनिरूपणानन्तरं, **निर्वाणदशकं** निर्वाणस्य निरुपाधिकेवलात्मरूपस्य निरूपकं दशकं दशश्लोकसमूहात्मकं प्रकरणम्, उच्यते इति शेषः, तत्रादौ निर्वाणात्मस्वरूपस्य वचनाविषयत्वेऽपि शिष्यकृपया एव केवलं स्वस्य तन्निरूपणे प्रवृत्तिः इति शिष्यं प्रत्याह **नेति**। हे शिष्य, **इदं** वक्ष्यमाणं मद्बुद्धिप्रत्यक्षं, **निर्वाणदशकं** निर्वाणस्य अखण्डचिन्मात्रस्वरूपस्य निरूपकं दशकं दशश्लोकसमूहात्मकं प्रकरणं, **वक्तुं** वचनेन प्रतिपादयितुं, **शक्यं** शक्तिविषयं, **नैव** अस्ति नैव विद्यते यद्यपि, **तथापि** वक्तुम् अशक्यत्वेऽपि **तव** ते, **कृपया** दयया, तव साधनसंपन्नत्वेन अधिकारित्वं यदस्ति तेन हेतुना मयि उत्पन्ना या दया तया इत्यर्थः। हे **वत्स** अनेन सम्बोधनेन गोः वत्स इव मत्कृपापात्रत्वमिति सूचितम्। **कयाचित्** सत्त्वेन असत्त्वेन सदसत्त्वेन वा केनापि निर्देशेन निर्देष्टुम् अशक्यया, **कलया** कलयति आत्मानम् इति कला आत्मसाक्षात्कारवृत्तिः तया, अहं निर्वाणात्मस्वरूपसाक्षात्कारवान् त्वदुपदेष्टा, **निर्वाणदशकं** निर्वाणात्मनो निरूपकं दशश्लोकसमूहरूपं प्रकरणं, **ब्रुवे** कथयामि।।१।। (८१४)

एवं सविषयं प्रकरणनिरूपणं प्रतिज्ञाय इदानीम् एतत्प्रकरणनिरूपयिष्यमाणात्मस्वरूपविषये जाग्रत्त्वं सम्भाव्य उत्तरार्धेन तन्निषेधति **मोहनिद्रेति**। हे शिष्य, **तत्र** निर्वाणात्मनि, **मोहनिद्रा** मोहः अज्ञानम् एव निद्रा सुषुप्तिः स्वरूपास्फोरकत्वात् सुषुप्तित्वं मोहस्य ज्ञेयम्, **नास्ति** न विद्यते, **तेन** मोहनिद्राभावहेतुना, **अयं** मद्बुद्धिगोचर, आत्मप्रकाशः प्रकृतो, **महान्** अखण्डो लोकप्रसिद्धजागरस्य निद्राभिः खण्डितत्वाद् अमहत्त्वम्, एतस्य तु मोहनिद्रादिभिः अखण्डितत्वाद् महत्त्वं, **जागरो** जागृतिः, अस्ति इति सम्भाव्यते। तत्र इति आवर्तनीयं, तत्र निर्वाणात्मस्वरूपे, **भावादयो** भावो घटादिपदार्थानां विद्यमानत्वं, स आदिः येषाम् अभावानां ते तथोक्ता, घटादिपदार्थभावाभावा इत्यर्थः। लौकिकजाग्रतीव **न भासन्ते** न प्रतीयन्ते **तेन** घटादिपदार्थभावाभावप्रत्ययाभावेन हेतुना **अयं** मद्बुद्धिप्रत्यक्षो आत्मप्रकाशो **जागरो** जागृतिः **नैवास्ति** नैव सम्भाव्यते।।२।। (८१५)

उस निर्वाणस्वरूप आत्मा में मोहरूपी निद्रा नहीं है इसलिये यह एक महान् जागरण है। परन्तु इसे जागरण भी कैसे कहें! क्योंकि इसमें घटादि पदार्थ तो प्रतीत ही नहीं होते। हे शिष्य, उस निर्वाणरूप आत्मा के स्वरूप को प्रकट न होने देने वाली मोहरूपी निद्रा कभी नहीं आती, इसलिये इस आत्मप्रकाश को एक प्रकार का लम्बा जागरण कहना चाहिये। लौकिक जागरण के बीच में जैसे निद्रा आ जाती है और उसे खण्डित करती रहती है वैसे मोहरूपी निद्रा से इस जागरण के कभी भी खण्ड नहीं होते। हाँ, एक बात तो है कि इस निर्वाण आत्मस्वरूप के प्राप्त हो जाने पर लौकिक जागरण की तरह घटादि पदार्थ तथा उनके अभावों की प्रतीति नहीं रहती, इसलिये तो इस आत्मप्रकाश का निरूपण करने के लिये जागरण शब्द पर्याप्त (काफी) नहीं

अपूर्वं भासते वस्तु तेन स्वप्नोयमुत्तमः।
दृश्यं न भासते तत्र तेन स्वप्नो न चैव सः।।३।। (८१६)
अभावात् सा पदार्थानां सुषुप्तिः सुखरूपिणी।
न जाड्यं न तमस्तत्र सुषुप्तिरपि नैव सा।।४।। (८१७)

इदानीं तत्रैव स्वप्नत्वं सम्भाव्य निषेधति **अपूर्वमिति**। तत्र इत्यावर्त्तनीयं, तत्र निर्वाणात्मस्वरूपे, **अपूर्वं** सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयं चमत्कारकारि, **वस्तु** पदार्थजातम् आत्मवस्तु वा, **भासते** प्रतीयते, **तेन** अपूर्ववस्तुभानस्वप्नलक्षणसत्त्वेन हेतुना, अयं मद्बुद्धिप्रत्यक्ष आत्मप्रकाश **उत्तमः** श्रेष्ठः स्वप्नः अस्ति विद्यते इति सम्भावनीयम्। एवं स्वप्नत्वं संभाव्य इदानीं तन्निषेधति **दृश्यमिति**। **यत्र** आत्मप्रकाशे, **दृश्यं** लौकिकस्वप्ने यथा दृश्यं भासते तथा दृश्यं दृष्टिविषयं घटादिविषयजातं, **न भासते** न प्रतीयते, **तेन** दृश्यभानाभावेन हेतुना, **स्वप्नः** स्वप्नावस्था, **न चैव** नैवास्ति हि इति प्रसिद्धं सर्वेषां स्वप्ने दृश्यभानमिति द्योतितम्।।३।। (८१६)

एवम् आत्मप्रकाशे स्वप्नत्वं निषेध्य इदानीं सुषुप्तित्वं सम्भाव्य निषेधति **अभावादिति**। **पदार्थानां** नामरूपात्मकानां घटपटादिपदार्थानां, **तत्र** निर्वाणात्मनि, **अभावाद्** अविद्यमानत्वात्, **सुखरूपिणी** सुखम् आत्मस्वरूपमेव आनन्दरूपं रूप्यते प्रकाश्यते अत्र इति सा तथोक्ता, सुखप्रतीतिरूपा इत्यर्थः। अत एव **सा** स्थितिः **सुषुप्तिः** निद्रा ज्ञेया। एवं निद्रात्वं संभाव्य इदानीं तदपि निषेधति **नेति**। **तत्र** आत्मनि, **जाड्यम्** अज्ञानं, **न** नास्ति। तत्र हेतुमाह **नेति**। **तत्र** आत्मस्वरूपे **तम** आवरणस्वरूपं तमोगुणतत्त्वं, **न** न विद्यते, अतः **सा** आत्मस्थितिः, **सुषुप्तिरपि** निद्रापि, **नैव** नास्ति एव।। ४।। (८१७)

हैअर्थात् जागरण शब्द इस परमपावनी अवस्था का पूरा अनुवाद नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था के आने पर फिर कभी अज्ञान का उदय न हो तथा सांसारिक पदार्थों की प्रतीति न हो वैसी अवस्था का वर्णन करने वाला कोई भी एक शब्द मानवी भाषा ने आज तक निर्माण नहीं कर पाया है क्योंकि मनुष्यभाषा को ऐसे शब्द की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी थी। इसीलिये उस अवस्था का साक्षात् वर्णन किसी भी वाचक शब्द से करना असम्भव ही है।।२।।

उस निर्वाण आत्मस्वरूप के प्राप्त होने पर एक अदृष्टपूर्व (चमत्कारी) पदार्थ के दर्शन मिल जाते हैं इसी से हम उस (आत्मदर्शन) को एक उत्तम स्वप्न कहते हैं। परन्तु उसे स्वप्न कहना भी ठीक नहीं क्योंकि उस आत्मप्रकाश के हो जाने पर (लौकिक स्वप्न की तरह) किसी भी दृश्य का भान नहीं रह जाता।।३।।

उस अवस्था के आने पर सर्व पदार्थों का अभाव हो जाता है इसलिये सुखरूप होने से उसे एक प्रकार की सुषुप्ति कहा जा सकता है। परन्तु उस समय जडता और अन्धकार दोनों ही नहीं रहते इसलिये उसे सुषुप्ति कहना भी तो ठीक नहीं है।

उस निर्वाणरूप आत्मा में नामरूपात्मक घटादि पदार्थ नहीं रहते इसीलिये वह

अवस्थात्रयनिर्मुक्तं तुरीयमिति कीर्तितम् ।
नैवैकद्वित्रिविज्ञानं तुरीयं किमपेक्षया ।।५ ।। (८१८)
जीवस्यैतन्निजं रूपं तेन जीवोयमुच्यते ।
जीवचेष्टा न तत्रास्ति तेन निर्जीवता स्फुटा ।।६ ।। (८१९)

अवस्थात्रयरहितत्वेन तुर्यत्वम् आत्मनि सम्भावयति **अवस्थेति**। तदात्मस्वरूपं यतः **अवस्थात्रयनिर्मुक्तम्** अवस्थानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यानां स्थानानां, त्रयं त्रिकं, तेन निर्मुक्तं हीनम् **इति** अतो हेतोः, **तुरीयं** चतुर्थम् अवस्थानं 'चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय' इति श्रुतेः, **कीर्तितम्** उक्तम्। एवं तुर्यत्वं सम्भाव्य इदानीं तदपि निषेधति **नैवेति**। यत्र आत्मस्वरूपे, **एकद्वित्रिविज्ञानम्** एकस्य द्वयोः त्रयाणां च एकत्वद्वित्वत्रित्वानाम् इत्यर्थः, विज्ञानम् अनुभवो, **नैव** अस्ति नास्त्येव, तत् **तुरीयं** चतुर्थं, **किमपेक्षया** कस्य अपेक्षा किमपेक्षा तया किमपेक्षया भवेद्, नैव भवेद् इत्यर्थः। संख्याया अन्योन्यसापेक्षत्वादिति भावः।।५।। (८१८)

इदानीं तत्र आत्मनि जीवत्वं सम्भावयति **जीवस्येति। एतत्** चतुरवस्थाप्रकाशकं चैतन्यं **जीवस्य** बुद्ध्यादिप्रतिबिम्बितं साधिष्ठानं प्राणाद्युपाधिमच्चैतन्यं जीव इति उच्यते 'जीव प्राणधारण' इति धातुप्रकृतित्वात् तस्य, **निजं** स्वीयं, **रूपं** स्वरूपम् अस्ति, **तेन** एतस्य जीवपारमार्थिकरूपत्वेन, **अयं** मद्बुद्धिप्रत्यक्ष आत्मप्रकाशो, **जीवो** जीवनाम, **उच्यते** कथ्यते। एवं जीवत्वं सम्भाव्य तद् इदानीं निषेधति **जीवेति। तत्र** आत्मनि, **जीवचेष्टा** जीवस्य प्राणोपाधिमच्चैतन्यस्य, चेष्टा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपा, **नास्ति** न विद्यते, **तेन** जीवचेष्टाभावेन हेतुना, **स्फुटा** प्रत्यक्षा, **निर्जीवता** जीवस्य भावो जीवता निर्गता निवृत्ता जीवता जीवभावो यस्याः सा तथोक्ता, जीवभावरहितत्वं भासते।।६।। (८१९)

अवस्था सुखस्वरूप हो जाती है और यों उसे सुषुप्ति कह सकते हैं। परन्तु उसे सुषुप्ति कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उस आत्मप्रकाश में जडता किंवा अज्ञान नहीं होता। जडता न होने से ही आवरणस्वरूप तमोगुण भी नहीं रहता। वह आत्मस्थिति ऐसी ही कुछ अद्भुत है कि कोई भी शब्द उसके वर्णन करने के लिये पूरा नहीं उतरता।।४।।

जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं से रहित हो उसे 'तुरीय' कहा जाता है परन्तु जब एकत्व, द्वित्व तथा त्रित्व का ज्ञान ही न हो तो बताओ कि तुरीय (चौथापन) किसकी अपेक्षा से हुआ? (क्योंकि संख्यायें तो एक-दूसरे की अपेक्षा से ही हुआ करती हैं। इसलिये उसे तुरीय कहना भी युक्तिसंगत नहीं है)।।५।।

इन चारों अवस्थाओं का प्रकाशक चैतन्य ही, इस जीव का वास्तविक स्वरूप है इसलिये इस (वर्णनीय आत्मप्रकाश) को 'जीव' कह सकते हैं। परन्तु उस (शुद्ध आत्मचैतन्य) में जीव की (कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि) चेष्टायें नहीं होतीं इसी से उस (आत्मचैतन्य) की निर्जीवता स्पष्ट हो जाती है फिर भला उसे जीव भी क्योंकर कहा जाय!।६।।

सच्चिदानन्दरूपत्वाद् ब्रह्म चेन्नापि तद् भवेत्।
यो वेद स तु न ब्रूते यो न वेद गिरास्य किम्।।७।। (८२०)
तस्माच्छ्रुतिः प्राह सत्यमवाङ्मनसगोचरम्।
यथानुभूतं मुनिभिः तथैवेदं न संशयः।।८।। (८२१)

ननु तदात्मरूपं ब्रह्मैव अस्ति इत्याशंक्य तदपि वाचाम् अविषयत्वाद् न शक्यते वक्तुम् इत्याह **सच्चिदिति**। **तद्** आत्मचैतन्यं, **सच्चिदानन्दरूपत्वात्** सत् कालत्रयाबाध्यं, चिद् ज्ञप्तिरूपम्, आनन्दः सुखम्, एतत्त्रयम् अभिन्नं रूपं यस्य तत्तथोक्तं तस्य भावः तत्त्वं तस्माद् हेतोः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानंद ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेः। ब्रह्मलक्षणस्य सच्चिदानन्दत्वप्रतिपादनाद् **ब्रह्म** भवति इति **चेद्** यदि ब्रूषे तर्हि **तदपि न भवेद्** न स्यात्। कुतः इत्यत आह **य इति**। **यः** कश्चित्, तद्ब्रह्म **वेद** जानति, तस्य ब्रह्मरूपत्वाद् ब्रह्मणश्च वागविषयत्वात् त्रिपुटेः बाधितत्वाच्च **स तु** ब्रह्मविद्, **न ब्रूते** ब्रह्मादिशब्दैः न प्रतिपादयति, तुशब्देन तस्य वक्तृत्वाद् भिन्नत्वं सूचितम्। किञ्च **यः** कोऽपि पुरुषो, न वेद न वेत्ति, **अस्य** अज्ञानिनः पुरुषस्य, **गिरा** वाचा, किं तद्वाच्यं भवति न भवति एव इत्यर्थः।।७।। (८२०)

अत्रार्थे श्रुतिं विद्वदनुभवं स्वानुभवं च प्रमाणयति **तस्मादिति**। हे शिष्य, **तस्माद्** ब्रह्मणः अनिर्वचनीयत्वात्, **श्रुतिः** 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिका वेदवाग् **अवाङ्मनसगोचरं** वाचो मनसश्च अगोचरम् अविषयं ब्रह्म यत **प्राह** कथितवती, तत्

सच्चिदानन्दरूप होने से यदि उस आत्मस्वरूप को ब्रह्म कहो तो भी ठीक नहीं है क्योंकि जो उसे जानता है वह तो उसके विषय में कुछ कहता नहीं तथा जो जानता ही नहीं उसके कहने से क्या?

वह आत्मचैतन्य तीनों कालों में अबाध्य चैतन्यरूप तथा सुखस्वरूप है इस प्रकार ब्रह्म के लक्षणों के उसमें मिलने से यदि तुम उसे ब्रह्म कहना चाहो तो भी कहना नहीं बनता। जो ब्रह्म को जानता है वह तो ब्रह्मरूप हो गया है। ब्रह्म तो वाणी का विषय कभी नहीं होता तथा उस ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय यह त्रिपुटी बाधित हो जाती है। फिर भला वह ब्रह्म आदि शब्दों से उसका प्रतिपादन ही क्योंकर कर सकता है? प्रतिपादन करते ही वह तो उससे भिन्न हो जायगा। यों ज्ञानी पुरुष उसके विषय में कुछ बोलता नहीं। जिस पुरुष को तो उसका ज्ञान ही नहीं हुआ हम उसका कहना ही क्योंकर प्रामाणिक मान लें।।७।।

ये (पूर्वोक्त) सब अनुपपत्तियाँ देखकर ही वेदों ने उसे वाणी और मन का अविषय कहा है सो ठीक ही किया। अपने अनुभवों के द्वारा मुनि लोगों ने भी उसे जैसा (मन और वाणी का अविषय) पाया है यह तो ठीक वैसा ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह मत करो। ग्रन्थकार का भाव यह है कि मेरे अनुभव ने भी उसी का अनुमोदन किया है; जो कोई करके देखेगा वह भी इसे ऐसा ही पायेगा।।८।।

एतदन्तः समाम्नाय एतदन्ता तपस्विता।
उपदेशोप्येतदन्त एतदन्ता विवेकिता।।९।। (८२२)
श्रोतव्यं श्रुतिवाक्येन सर्वं ब्रह्म त्वया श्रुतम्।
भवितव्यं यदि ब्रह्म तर्हि ब्रह्मैव भूयताम्।।१०।। (८२३)

इति श्रीनहरिकृतौ बोधसारे निर्वाणदशकं त्रयोविंशम्।।

सत्यं प्रमाणमेव, किञ्च **मुनिभिः** मननशीलैः, **यथा** यादृशं मनोवागगोचरत्वलक्षणलक्षितम्, **अनुभूतं** ज्ञातम्, **इदं** मद्बुद्धिप्रत्यक्षं ब्रह्म, **तथैव** तादृशम् एव अस्ति, अत्र **संशयः** सन्देहो, मम **न** विद्यते, मयापि तादृशम् एव अनुभूतम् इति भावः।।८।। (८२१)

इदानीम् एतदात्मस्वरूपमेव सर्ववेदान्तविषय इत्याह **एतदन्त इति**। हे शिष्य, **समाम्नायः** सम्यग् आम्नायते तत्त्वमस्मिन्निति समाम्नाय आत्मतत्त्वप्रतिपादको ग्रन्थसमूहो वेदान्त, **एतदन्त** एतदात्मस्वरूपम् अन्तः तात्पर्यम् अवसानं वा यस्य स तथोक्तः अस्ति, अत्रैव सर्ववेदान्तानाम् अवसानमित्यर्थः। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति श्रुतेः, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतेश्च। यद्वा एष आत्मा अन्तो लयाधिष्ठानं यस्य स तथोक्तो वाचोऽविषयत्वाद् 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः, अत्रैव सर्वे वेदा लीना भवन्ति वाचारम्भणमात्रत्वेन निरर्थका भवन्ति इत्यर्थः। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादिश्रुतेः, 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति स्मृतेश्च आत्मनः पृथक्सत्ताकत्वाभावाद् गुणानां गुणकार्याणां च प्रतिपादकस्य वाङ्मात्रस्य अर्थशून्यत्वप्रतिपादनात्। किञ्च **तपस्विता** तपो वर्णाश्रमधर्मनिष्ठतया शरीरे शीतोष्णादि क्लेशसहनं तत् तपो यस्य अस्ति इति तपस्वी तस्य भावः तत्ता, **एतदन्ता** एतद् आत्मस्वरूपं तज्ज्ञानं च अन्तः अवसानं फलरूपं यस्याः सा तथोक्ता अस्ति 'तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति' इति श्रुतेः, यत्फलका या क्रिया सा तत्सिद्धौ समाप्यत इति लोकप्रसिद्धेश्च तपःक्रियाया अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानप्राप्तिसिद्धौ अत्रैव अन्तः तस्या इति भावः। किञ्च **उपदेशोऽपि** गुरुकृतः तत्त्वमस्यादिवाक्योपदेश उपासनाद्युपदेशोऽपि, **एतदन्त** एतद् आत्मस्वरूपं तज्ज्ञानं च अन्तः फलरूपेण नाशरूपं यस्य स तथोक्तः अस्ति उपदेशविषयस्य आत्मनः तज्ज्ञानस्य वा प्राप्तौ उपदेशक्रियायां नैरर्थक्येन नाशरूपम् आत्मैव इति भावः। किञ्च **विवेकिता** विविच्येते आत्मानात्मानौ अनेन इति विवेकः सोऽस्मिन् विद्यते स विवेकी तस्य भावः तत्ता विवेकित्वं सा, **एतदन्ता** एतद् आत्मस्वरूपं तज्ज्ञानम् अन्तो नाशो यस्याः सा तथोक्ता अस्ति, विवेकस्यापि क्रियात्वात् तत्फलप्राप्तौ तस्या अप्रयोजनवत्त्वेन आत्मसाक्षात्कार एव नाशो ज्ञेय इति भावः, इति इदमेव तत्त्वज्ञानम् इति निश्चेतव्यम्।।९।। (८२२)

हे शिष्य, इस आत्मस्वरूप में आकर (पहुँचकर) वेद समाप्त हो जाते हैं, तपस्विता का अन्त हो जाता है, उपदेश बन्द हो जाते हैं और विवेकिता की इति हो जाती है।

हे शिष्य, आत्मतत्त्व के प्रतिपादन करने वाले वेदान्त इस आत्मरूप के प्राप्त होते ही समाप्त हो जाते हैं क्योंकि इसी पद को बताने के लिये उनका निर्माण हुआ है।

इदानीं सर्ववेदश्रवणं शिष्ये संपन्नमिति शिष्यं प्रत्याह **श्रोतव्यमिति**। हे शिष्य, **त्वया** भवता, **श्रुतिवाक्येन** श्रुतिरूपं यद्वाक्यं तेन, **श्रोतव्यं** श्रवणविषयत्वेन विहितं, **सर्वं** समस्तं, ब्रह्म देशादिपरिच्छेदशून्यमात्मवस्तु श्रुतं श्रवणेन अवगतम्, अतोऽनन्तरं यदि यर्हि त्वया **ब्रह्म** देशादिपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **भवितव्यं** भवितुं विहितं, चेत् **तर्हि**, ब्रह्मैव भूमैव, **भूयताम्** आस्यताम्।। १०।। (८२३)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ निर्वाणदशकार्थप्रकाशः त्रयोविंशः।।

इसका प्रतिपादन कर चुकने के अनन्तर कुछ प्रयोजन न रहने से उनका अन्त हो जाता है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' सकल वेद इसी पद का आम्नान कर रहे हैं मैं आपसे केवल उपनिषदों से जानने योग्य उसी आत्मतत्त्व को जानना चाहता हूँ। यह जो शीतोष्णादिकष्टसहनपूर्वक वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठानरूपी तप किया जाता है वह भी तो इस आत्मतत्त्व के ज्ञान होने तक ही है। 'तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति' सब तप भी तो इसी पद की प्राप्ति को कह रहे हैं। लोक में प्रसिद्ध है कि जो क्रिया जिस फल के उद्देश्य से की जाती है वह उसकी सिद्धि होने पर समाप्त हो जाती है। तपश्चरण का फललाभ से अन्त हो जाता है। सब तपों का मुख्य प्रयोजन यह आत्मदर्शन ही है। आचार्यो के बताये हुए उपासनादि उपायों तथा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का उपदेश भी तो इस आत्मस्वरूप के ज्ञान हो जाने पर समाप्त हो जाता है। उपदेश के विषय आत्मा अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर जब उपदेशक्रिया निरर्थक होकर नष्ट हो जाती है तब उस क्रिया का नाशस्वरूप यह आत्मा ही तो शेष रह जाता है। तात्पर्य यह कि निरन्वयविनाश तो कभी किसी का नहीं होता। जब कि आचार्य से किया हुआ उपदेश नष्ट हुआ तो उसके अन्वय के रूप में यह आत्मा अथवा आत्मज्ञान शेष रह गया। आत्मानात्मपदार्थों के विवेक करने का जो सामर्थ्य अथवा भाव है वह भी इस आत्मस्वरूप के दर्शन होने पर समाप्त हो जाता है। क्योंकि विवेक भी एक प्रकार की क्रिया ही है, उसका फल प्राप्त होने पर वह निष्प्रयोजन हो जाता है। तब यही कहना होगा कि आत्मसाक्षात्कार ही उसका नाश कहाता है। जब वेद बोलना बन्द कर दें, तप करने की आवश्यकता न रहे, उपदेश निष्प्रयोजन हो जायें, विवेक का भी कुछ प्रयोजन न दीख पड़े तो यह मान लो कि आत्मसाक्षात्कार हो गया। इन चारों के नष्ट हो जाने पर केवल आत्मदर्शन ही शेष रह जाता है।।९।।

हे शिष्य, अब तक तुमने श्रुति के वाक्यों की सहायता से श्रवण करने योग्य आत्मवस्तु का श्रवण तो कर लिया। अब यदि (तेरे सौभाग्य से) तुझे ब्रह्म (देशकाल के परिच्छेद से रहित आत्मवस्तु) होने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो गयी हो तो (अपना जैवरूप छोड़कर) ब्रह्म ही हो रहो।।१०।।

अथ बोधदीपपञ्चकम्

नाधारपात्रमादत्ते न च तैलमपेक्षते।
न वर्त्तिकामाश्रयते न धत्ते कज्जलं मनाक्।।१।। (८२४)

एवं निर्वाणात्मस्वरूपनिरूपकं निर्वाणदशकं निरूप्य इदानीं तदेव विलक्षणदीपकरूपेण निरूपयितुं बोधदीपपञ्चकाख्यं पञ्चश्लोकं प्रकरणम् आरभमाण आह **अथेति। अथ** निर्वाणदशकनिरूपणानन्तरं, **बोधदीपपञ्चकं** बोधो ज्ञानं स एव प्रकाशत्वाद् दीप इव दीपः तस्य निरूपकं पञ्चकं पञ्चश्लोकसमूहरूपं प्रकरणं, निरूप्यते इति शेषः। एतत्प्रकरणप्रतिपाद्यस्य दीपस्य लौकिकदीपाद् वैलक्षण्यं दर्शयति पञ्चभिः श्लोकैः। तत्रादौ लौकिकदीपस्येव आधारपात्रतैलवर्तिकज्जलाद्यपेक्षाभावरूपं लौकिकदीपाद् वैलक्षण्यं क्रमेण चतुर्भिः पादैः एतस्य दर्शयति **नाधारेति**। हे शिष्य, अयं बोधदीपो लौकिकदीप इव तैलसंग्रहार्थं मृण्मयपात्रमिव **आधारपात्रम्** आध्रियन्ते तैलं वर्तिका दीपश्च यस्मिन्निति आधारः तद्रूपं पात्रं लौकिकं मृण्मयादिपात्रं, **नादत्त** इति स्पष्टमेव। वस्तुतस्तु लौकिकदीपे तैलवर्त्तिदीपाधारभूतं मृण्मयादिपात्रमिव समष्टिव्यष्ट्यन्तःकरणमेव श्रुतिभिः प्रतिपादितम् आत्माश्रयरूपं तदेव विषयस्नेहस्य तैलस्थानीयस्य अहंकारस्य वर्त्तिस्थानीयस्य च आधारत्वात् पाति इति व्युत्पत्या बोधदीपरक्षकत्वेन लोके प्रतीतत्वाद् आधारपात्रमिव; तन्नापेक्षते स्वस्थित्यर्थं नेच्छति, बोधदीपस्य अनारोपितत्वेन सत्यत्वाद्, अन्तःकरणस्य तु आरोपितत्वेन मिथ्यात्वाच्च बोधदीपान्तःकरणयोः नाधाराधेयत्वं पारमार्थिकमिति न आधारपात्रापेक्षा स्वतः सिद्धस्वयंप्रकाश-बोधदीपस्य इति भावः। ननु तर्हि आधारपात्रापेक्षाभावेन आधारपात्रानंगीकारे दीपापेक्षितं तैलं तज्जीवनभूतं क्व स्थाप्यम् इत्याशंक्य; तदपेक्षापि एतस्य नास्ति इत्याह **न चेति**। हे शिष्य, अयं बोधदीपो लौकिकदीप इव **तैलं** तिलानां विकारः तैलम् इति उपलक्षणं घृतादिस्नेहानां तैलघृतादि स्नेहद्रव्यं दीपजीवनकारणं किमपि स्वस्य नित्यत्वात् स्वयंप्रकाशत्वाच्च, **नापेक्षते** स्वजीवनाय नेच्छति। वस्तुतस्तु बोधदीपस्य स्वतः स्वयंप्रकाशनित्यपूर्णस्वरूपत्वात् स्नेहविषयाणामपि मिथ्यात्वेन तैलस्थानीयस्य तत्स्नेहस्यापि मिथ्यात्वे सति बोधदीपजीवनहेतुत्वाभावाच्च न बोधदीपस्य विषयस्नेहतैलापेक्षा इति भावः। ननु तर्हि बोधदीपस्य तैलापेक्षाभावे कथं वर्त्तिकाश्रयेण तिष्ठेद् इत्याशंक्य तदपेक्षापि लौकिकदीपस्येव तस्य नास्ति इत्याह **नेति**। हे शिष्य, अयं बोधदीपो लौकिकदीप इव **वर्तिकां** कार्पासादिद्रव्यजन्यां सूत्रादिरूपां दशां, **नाश्रयते;** सत्यस्वयंप्रकाशरूपस्य प्रबोधदीपस्य, विकृतत्वेन मिथ्यारूपवर्त्तिकायाश्च आश्रयाश्रयित्वाभावाद् नाश्रितो भवति इति स्पष्ट एवार्थः। वस्तुतस्तु लौकिकदीपे तैलाकर्षणं वर्त्तिकयैव दीपकृतम् अनुभूयते यथा तद्वत् तैलस्थानीयस्य विषयस्नेहसम्बन्धस्य आत्मनि अप्रतीयमानत्वाच्च बोधदीपस्य अहंकारवर्त्याश्रयत्वं प्रतीतमपि अहंकारस्य कल्पितत्वेन मिथ्यात्वाद् बोधदीपस्य च तत्कल्पनाधारत्वेन अकल्पितत्वेन च सत्यत्वाच्च उभयोः नाश्रयाश्रयित्वं पारमार्थिकमिति नापेक्षा बोधदीपस्य वर्त्तिकाश्रयेण इति भावः। इदानीं कज्जलाभाववत्त्वेन लोकदीपतः अस्य बोधस्य वैलक्षण्यं दर्शयति **न धत्ते इति**। हे शिष्य, अयं बोधदीपः **मनाग्** ईषदपि **कज्जलं** कार्ष्ण्यं लौकिकदीप इव **न धत्ते** न धारयति,

न तापकर्त्ता कस्यापि वायुना न च कम्पते।
न विनाशमवाप्नोति तमः सर्वं निहन्ति च।।२।। (८२५)

कार्ष्ण्यजनकवर्तितैलादिद्रव्याभावादेव अस्य कज्जलाधारकत्वमिति स्पष्टार्थ एव। वस्तुतस्तु **कज्जलं** कुत्सितजलं डलयोरभेदाद् जडम् अविद्यातत्कार्यरूपं **मनाग्** ईषदपि, तत्त्वतो, **न धत्ते** न बिभर्ति, इति व्याख्येयम्।।१।। (७२४)

अन्यच्च वैलक्षण्यम् आह **न तापकर्तेति। कस्यापि** पुरुषस्य, **तापकर्त्ता** तापस्य कर्त्ता लौकिकदीप इव कारको, **न** भवति, स्वतः सुखरूपत्वेन तापत्रयरहितत्वाद् अन्येषामपि तापत्रयनिवर्त्तकत्वाच्चेति भावः। किञ्च **वायुना** पवनेन, **न च** नैव, **कम्पते** चलति, लौकिकदीप इव अत्र दीपे वायोः असत्त्वाद् अस्य स्थिरत्वाच्च न चञ्चलत्वमिति भावः। किञ्च अयं दीपो, **विनाशं** लयं, लौकिकदीप इव **न अवाप्नोति** न प्राप्नोति नित्यस्वरूपत्वाद् अस्य इति भावः। नाशसाक्षिणो नाशांगीकारे असाक्षिकस्य नाशस्य अपि असिद्धेः इति च भावः। किञ्च लौकिकदीपस्तु किञ्चिद् गृहैकदेशवर्ति तमो निहन्ति नाशयति न तु सर्वम्। अयं दीपस्तु **सर्वं** गृहान्तवर्ति बाह्यं च। वास्तवार्थे अन्तः प्रत्यक् चैतन्यावरकं **तमः** अज्ञानं बाह्यं च तत्त्वंपदार्थयोः ऐक्याज्ञानरूपं घटादिपदार्थाज्ञानरूपं च, **निहन्ति** नाशयति।।२।। (८२५)

यह बोधदीपक न तो आधारपात्र ही लेता है न तेल की अपेक्षा करता है न बत्ती का ही सहारा तकता है और न इसपर थोड़ा-सा कज्जल ही आता है।

यह बोधरूपी दीपक लौकिक दीपकों के समान तेल का संग्रह करने के लिये मिट्टी आदि के से किसी आधारपात्र को नहीं लेता। वैसे तो लौकिक दीपक में तेल बत्ती तथा दीपक का आधार जैसे मिट्टी का पात्र होता है इसी प्रकार समष्टि-व्यष्टि अन्तःकरण ही तेल के समान विषयरूपी स्नेह का तथा बत्ती के समान अहंकार का आधार है परन्तु इस बोधदीपक को उस अन्तःकरणरूपी आधारपात्र की वैसी अपेक्षा नहीं है जैसी लौकिक दीपक को अपने आधार की होती है। वह बोधदीपक लौकिक दीपक की तरह कोई आरोपित पदार्थ नहीं है, वह तो एक अनारोपित ही सत्य तत्त्व है। अन्तःकरण तो आरोपित होने से मिथ्या पदार्थ है। इन दोनों का आधाराधेयभाव यदि किसी अविचारशील को प्रतीत होता हो तो वह पारमार्थिक नहीं है। यही कारण है कि स्वतः सिद्ध स्वयंप्रकाश बोधरूपी दीपक को किसी आधारपात्र की अपेक्षा नहीं होती। हे शिष्य! इस पर यदि तुम यह कहो कि किसी आधारपात्र की यदि अपेक्षा नहीं है तो दीपक के जीवन के लिये आवश्यक दीपक का जीवनभूत तेल किस पात्र में रक्खा जायगा? तो उसका उत्तर यह है कियह अलौकिक बोधदीपक दीपक के जीवन के कारण तेल, घृतादि स्नेहद्रव्य की भी अपेक्षा नहीं करता। यह तो नित्य तथा स्वयंप्रकाश है इसको अपने जीवन के लिये भी किसी की अपेक्षा नहीं होती। यद्यपि यह बात अवश्य माननी होगी कि संसारी लोगों का जीवनरूपी दीपक विषयस्नेहरूपी

तेल के आधार पर ही चलता है परन्तु तत्त्वविचार करने पर यह दीपक स्वतः स्वयं प्रकाश तथा नित्य पूर्ण सिद्ध होता है। स्नेह के विषय तो सभी मिथ्या हैं फिर उनका स्नेह भी मिथ्या ही है इसलिये उनसे नित्य बोधदीपक के जीवन का धारण कैसे हो? यही कारण है कि बोधदीपक को विषयस्नेहरूपी तेल की भी अपेक्षा नहीं रहती। यदि कहो कि यदि इस बोधदीपक को तेल की अपेक्षा नहीं है तो फिर वह बत्ती के सहारे से ही कैसे रह सकता है? तो सुनो! वह दिव्य बोधदीपक लौकिक दीपकों के समान बत्ती का आश्रय भी नहीं तकता। क्योंकि कहाँ वह सत्य स्वयंप्रकाश बोधदीपक और कहाँ मिथ्या जड विकारी बत्ती? उनका परस्पर आश्रयाश्रयिभाव ही कैसे हो? जैसे लौकिक दीपक तेल का आकर्षण बत्ती के द्वारा करते हैं उसी प्रकार तेल के समान विषयस्नेह का सम्बन्ध आत्मवंस्तु से तो होता ही नहीं, इसलिये अज्ञानी लोगों को चाहे यह बोधदीपक अहंकाररूपी बत्ती के आश्रित जलता हुआ प्रतीत भी होता हो परन्तु कल्पित होने से मिथ्या अहंकार का तथा सब कल्पनाओं का आधार होने से एवं स्वयं अकल्पित होने से इस सत्यबोधदीपक का परस्पर पारमार्थिक आश्रयाश्रयिभाव कैसे हो? इसी से इस बोधदीपक को बत्ती का सहारा लेने की भी अपेक्षा नहीं होती। यह एक और अद्भुत विशेषता इस दीपक में पायी जाती है कि इस बोधदीपक पर लौकिक दीपकों की तरह थोड़ी-सी भी कृष्णता नहीं आती। कृष्णता पैदा करने वाली बत्ती तेल आदि द्रव्य ही उसमें नहीं होते। अविद्या तथा अविद्या के कार्यरूपी कज्जल को वह अपने में रखता ही नहीं।।१।।

यह दिव्य बोधदीपक किसी को ताप नहीं पहुँचाता, वायु के झोकों से काँपता नहीं, न कभी यह बुझता ही है। यह बोधदीपक सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट कर देता है।

लौकिक दीपक जिस प्रकार कभी-कभी गृहदाह आदि करके ताप पहुँचा देते हैं ऐसे यह अलौकिक बोधदीपक किसी को ताप नहीं पहुँचाता। यह तो स्वतः ही सुखरूप होने से तीनों प्रकार के तापों से रहित है तथा दूसरों के भी तीनों तापों को हटाने वाला है। फिर भला यह किसी को ताप कैसे पहुँचायेगा? वायु का झोका लगने से जिस प्रकार लौकिक दीपक काँपने लगते हैं इस प्रकार यह दिव्य दीपक विषयरूपी वायुओं के झोकों से कभी नहीं काँपता। यह तो अत्यन्त स्थिर है इसी से यह कभी चंचल नहीं होता। नित्यस्वरूप होने से यह दीपक और दीपकों के समान कभी नाश (लय) को भी प्राप्त नहीं होता। सकल संसार के नाश के पश्चात् तो यह बोधदीपक शेष रहता है, यह तो सम्पूर्ण नाशों का साक्षी है, इसका भी यदि नाश मानोगे तो उस नाश का साक्षी बताना होगा। बिना साक्षी का नाश देखा नहीं जाता। यह एक और अद्भुत विशेषता इस बोधदीपक में पायी जाती है कि लौकिक दीपक तो किसी घर के किसी एक भाग

एकरूपाः प्रकाशन्ते सर्वे भावा यदर्चिषा।
यदग्रे न प्रकाशेत च्छाया मायास्वरूपिणी।।३।। (८२६)
यश्चक्षुषामविषयो रूपाकारविवर्जितः।
मनसोऽप्यप्रकाश्यश्च रूपाकारप्रकाशकः।।४।। (८२७)

वैलक्षण्यान्तरमाह **एकरूपा इति**। **यदर्चिषा** यस्य दीपस्य, अर्चिषा ज्वालया, प्रकाशेन इत्यर्थः। **सर्वे** समस्ता, **भावाः** पदार्था, **एकरूपा** एकम् एकमेव रूपं येषां ते तथोक्ताः सन्तः, **प्रकाशन्ते** दीप्यन्ते, लौकिकदीपप्रकाशेन तु अनेकरूपा घटपटादयः प्रकाशन्त इति लौकिकदीपाद् अतिवैलक्षण्यम् अस्य इति भावः। अन्यदपि वैलक्षण्यान्तरमाह **यदग्र इति**। लौकिकदीपस्य पुरतोऽधः स्थिता च्छाया दृश्यते तद्वद् **यदग्रे** यस्य बोधदीपस्य, अग्रे पुरो देशे, **मायास्वरूपिणी** माया सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीया जगज्जननसामर्थ्यरूपा शक्तिरेव आत्मनः पृथगसत्त्वेन जगज्जननानुपपत्त्याख्ययुक्त्यानुमेया माया, सैव स्वम् असाधारणं रूपं विद्यते अस्याः सा तथोक्ता, **च्छाया** प्रतिभा, **न प्रकाशेत** नैव प्रतीयेत अतो लौकिकदीपाद् अस्य इदमपि वैलक्षण्यान्तरं ज्ञेयम्।।३।। (८२६)

अन्यदपि वैलक्षण्यं दर्शयति **य इति**। **यो** बोधदीपो, लौकिकदीप इव **चक्षुषां** लोकचक्षुरिन्द्रियाणाम् **अविषयो** विषयो गोचरो न भवति। कुत इत्यत आह **रूपेति**। **रूपाकारविवर्जितो** रूपं स्वरूपम् आकारश्च आकृतिः, ताभ्यां विवर्जितो हीनः, अतः चक्षुर्विषयो न भवतीति भावः। ननु चक्षुषोऽविषयत्वेऽपि स्वर्गादिवत् परोक्षत्वेन मनोविषयत्वम् अस्य अस्तु इत्याशंक्य आह **मनस इति**। आकाररहितत्वादेव **मनसोऽपि** अन्तःकरणस्यापि, **अप्रकाश्यः** प्रकाशाविषयो भवति स दीपः। ननु रूपाकाररहितत्वेन अस्य चक्षुर्मनसोः विषयत्वाभावे कथं सद्भावः अवगन्तव्य इत्याशंक्य आह **रूपेति**। अयं प्रकृतो दीपो, **रूपाकारप्रकाशको** रूपाणि नीलपीतादिभेदभिन्नानि, आकाराश्च आकृतयः, तेषां प्रकाशकः प्रकाशयिता अस्ति, सर्वरूपाकारज्ञानान्यथानुपपत्त्या अस्य दीपस्य सत्त्वम् अभ्युपगन्तव्यमिति भावः।।४।। (८२७)

के अन्धकार को ही नष्ट कर सकते हैं। यह हमारा दिव्य दीपक तो घर-बाहर के सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट कर देता है। (गूढार्थ यह है कि यह बोधदीपक जहाँ कहीं जलता है वहाँ के अन्दर के प्रत्यक्चैतन्य को ढकने वाले अज्ञान को तथा बाहर के तत्त्वं पदार्थों के ऐक्याज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट कर डालता है)।।२।।

इस बोधदीपक में लौकिक दीपक से एक और अत्यन्त विलक्षणता पायी जाती है कि इसकी ज्वाला से सब पदार्थ एकरूप ही दीखने लगते हैं। लौकिक दीपक जिस प्रकार घटपटादि को अनेक रूप में प्रकाशित किया करते हैं वैसे यह बोधदीपक नहीं करता, यह तो सबको एक (सच्चिदानन्द) रूप में ही दिखाता है। लौकिक दीपक के सामने अथवा उसी दीपक के नीचे जिस प्रकार अन्धकार देखा जाता है उस तरह इस बोधदीपक के सामने मायारूपी छाया (जिसकी कल्पना जगज्जनन की अन्यथा असिद्धि से कर ली गयी है) प्रतीत ही नहीं होती।।३।।

कदाचित् क्वचिदेवासौ तात केनापि हेतुना।
प्रवर्तते बोधदीपः सतां हृदयमन्दिरे।।५।। (८२८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे बोधदीपपञ्चकम् चतुर्विंशम्।।

वैलक्षण्यान्तरनिरूपणपूर्वकम् अस्य दीपस्य स्थानं दर्शयति **कदाचिदिति। कदाचित्** कस्मिन्नपि समये, लौकिकदीपवद् भूतवर्तमानभविष्यत्कालः परिच्छेदकः अस्य दीपस्य प्रवृत्तेः नास्ति, कालस्य अस्माद् दीपात् पृथक्सत्त्वाभावाद् इति भावः। **क्वचिदेव** कस्मिंश्चिद् आधारे, अस्य दीपस्य सर्वाधारत्वाद् आधारनिरपेक्षत्वाद् आधारस्य च कल्पितत्वेन अनिर्वचनीयत्वेन क्वचिद् इति उक्तम्। हे **तात** हे शिष्य, **केनापि हेतुना** केनापि कारणेन, अस्य दीपस्य सर्वहेतुत्वात् स्वतो निर्हेतुकत्वाच्च स्वतः परिपूर्णत्वेन प्रयोजनाभावाद् अपि न कारणं निश्चेतुं शक्यम् अतः केनापि इत्युक्तं कारणनियमाभावः अस्य इति भावः। **असौ** उक्तलक्षणो, **बोधदीपो** ज्ञानस्वरूपः सर्वजगत्प्रकाशकत्वाद् दीप इव दीपः, **सताम्** आत्मज्ञानवतां, जीवन्मुक्तानामित्यर्थः। **हृदयमन्दिरे** हृद् 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिश्रुतिभिः सर्वद्वैतबाधो द्वैतापवाद इत्यर्थः, तम् अयते प्रकाशयति इति हृदयं सर्वद्वैतबाधपूर्विका 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारा प्रमारूपा वृत्तिः, तदेव मन्दिरं गृहं तस्मिन्, **प्रवर्त्तते** तिष्ठति, एतदपि न पारमार्थिकम् उपलब्धिस्थानत्वेन उक्तं ज्ञेयम्।।५।। (८२८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ बोधदीपपञ्चकार्थप्रकाशः चतुर्विंशः।

रूप और आकार से रहित होने से जो आँखों को नहीं दीखता, मन से भी जो प्रकाशित नहीं होता, किन्तु फिर भी जो रूप तथा आकार दोनों को प्रकाशित किया ही करता है।

लौकिक दीपक के समान जो चक्षु से नहीं दीखता क्योंकि उसमें रूप अथवा आकार कुछ भी नहीं होता। उसको मन का विषय मानना भी उचित नहीं क्योंकि उसमें किसी प्रकार का भी आकार नहीं है। इसलिये वह बोधदीपक मन के प्रकाश (चिन्तन) का विषय भी नहीं हो सकता। रूप और आकार से रहित होने के कारण यद्यपि वह बोधदीपक चक्षु और मन का विषय नहीं होता है तो भी यह बोधदीपक सब नील पीत आदि रूपों तथा सम्पूर्ण आकारों का प्रकाशक होता ही है। (तात्पर्य यह है किसब रूपों और सब आकारों के ज्ञान इस अलौकिक ज्ञानदीपक की सहायता के बिना सिद्ध हो ही नहीं सकते। इसी अनुपपत्ति को देखकर उस दीपक की सत्ता का निश्चय कर लेना चाहिये)।।४।।

हे शिष्य! यह बोधदीपक तो कभी-कभी कहीं-कहीं और न मालूम किस कारण से, सत्पुरुषों के हृदयमन्दिर में अखण्ड रीति से जल उठा करता है। इस अलौकिक दीपक के जलने में किसी भी काल की मर्यादा नहीं है। लौकिक दीपक के समान किसी विशेष स्थान की भी यह अपेक्षा नहीं करता क्योंकि यह तो स्वयं ही सर्वाधार है।

अथोपदेशषोडशी

युक्त्यैव वृत्तिभिः पूर्णं रिक्तीकुरु मनोघटम्।
न कश्चिद् भविता तात ब्रह्मणा पूरणे श्रमः।।१।। (८२६)

एवं दीपरूपेण आत्मस्वरूपं निरूप्य इदानीं शिष्याय तदेव उपदेष्टुम् उपदेशषोडश्याख्यं षोडशश्लोकं प्रकरणम् अभिदधान आह **अथेति। अथ** बोधदीपपञ्चकनिरूपणानन्तरम्, **उपदेशषोडशी** उपदेशस्य आदेशस्य प्रतिपादिका षोडशी षोडशश्लोकानां समाहाररूपा, एतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यत इति शेषः। तत्र तावद् आदौ स्वरूपस्थिरतायां सम्पाद्यत्वबुद्ध्या शिष्यचित्ते तदनादरं लक्ष्यीकृत्य तत्र आदरं विधातुं तस्याः सुसंपाद्यत्वं संभावयति **युक्त्यैवेति**। हे **तात** हे शिष्य, **वृत्तिभिः** जगद्विषयचिन्तनरूपाभिः वृत्तिभिः **पूर्णं** भरितं **मनोघटं** मनः अन्तःकरणमेव, घटः कुम्भः, तं, **युक्त्यैव** अन्वयव्यतिरेकाख्ययुक्तिभिरेव, घटे घटाकारवृत्तौ च वृत्तितद्विषयसम्यक्त्वासम्यक्त्वरूपस्फुरणेन मनसोन्वयः, तत्रैव मनसि पटतद्वृत्त्योः व्यतिरेकः, एवं पटे तदाकारवृतौ च तत्सम्यक्त्वासम्यक्त्वस्फुरणरूपेण मनसोन्वयः, तत्रैव मनसि घटविषयकवृत्तेः व्यतिरेकः, एवम् अन्वयव्यतिरेकाख्ययुक्त्यैव, **रिक्तीकुरु** व्यवहारकाले अरिक्तमपि बुध्या रिक्तत्वं तस्य अनुभव, ततः तस्मिन् मनोघटे, **ब्रह्मणा** अपरिच्छिन्नेन आत्मवस्तुना आकाशस्थानीयेन, घट इव, **पूरणे** पूरणक्रियायां, तत्र घट आकाश इव सर्वदा स्थितत्वात् **कश्चित्** कोऽपि, स्वल्पोपि इत्यर्थः। **श्रमः** खेदो, **न भविता** नैव भविष्यति, अतो ब्रह्मणि चित्तस्थैर्यं सुकरमेव इति भावः।।१।। (८२६)

इसके जल उठने का कोई विशेष कारण भी निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। कई बार तो ऐसा देखा जाता है कि त्रिकाल सन्ध्या करने वाले देखते ही रह जाते हैं और साधारण से मनुष्य के हृदयमन्दिर में यह जल उठता है। उसके हृदय में क्यों नहीं जला, और के हृदय में क्यों जल उठा सो कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अपने अपने पुण्यों का परिपाक ही कुछ इस प्रकार का होता है, परन्तु इसके जल उठने का कारण स्पष्टरूप से खोज कर निकाला नहीं जा सकता। इस प्रकार का यह अद्भुत ज्ञानरूप सर्वजगत्प्रकाशक दीपक आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माओं के हृदयरूपी (ब्रह्माकारवृत्तिरूपी) मन्दिर में अखण्ड तौर पर जल उठता है (तुम्हें भी यदि अपने बोधरूपी दीपक को जगाने की इच्छा हो तो वैसे जीवन्मुक्त महात्माओं के सम्पर्क से ही उसे जगाकर अपने हृदयमन्दिर में स्थापित कर लो)।।५।।

हे शिष्य, तुम वृत्तियों से भरे हुए इस अपने मनरूपी घड़े को युक्ति के द्वारा खाली कर डालो, फिर ब्रह्म से भरने में तुम्हें कोई भी श्रम नहीं करना होगा। तुमने जगद्विषयक चिन्ताओं से इस अपने मनरूपी घट को ठसाठस भर रक्खा है। इस अपने मनोघट को किसी सद्गुरु की बतायी युक्ति से एक बार किसी तरह खाली कर डालो। जिस घट के चने आदि निकाल दिये जायें जैसे उसमें आकाश भरने का कोई उद्योग करना नहीं पड़ता, इसी प्रकार (घट में आकाश की तरह) उस मन में ब्रह्मरूप

त्यज चिन्तां महाबुद्धे भज निश्चिन्तततासुखम्।
त्वयार्जितामिमां चिन्तां वद कोऽन्यः परित्यजेत्।।२।। (८३०)

ननु चिन्तारूपवृत्तिभिः पूर्णं मनः कथं रिक्तं कार्यं तत्राह **त्यजेति**। हे **महाबुद्धे** महती अपरिच्छिन्ना ब्रह्माकारा बुद्धिः मतिः यस्य स तथोक्तः तस्य सम्बोधने हे महाबुद्धे, त्वं **चिन्तां** जगद्विषयकां चिन्तनरूपां वृत्तिं, **त्यज** जहि। ननु जगद्विषयकचिन्तावृत्तित्यागे मनसो जीवनोपायः क इत्याशंक्याह **भजेति**। हे शिष्य त्वं **निश्चिन्तततासुखं** निर्गता निवृत्ता, चिन्ता चिन्तनरूपा वृत्तिः यस्मात् तत् तादृशं त्रिपुटीरहितं ब्रह्मसुखं तस्य भावः तत्ता तज्जन्यं यत्सुखं विद्यानन्दापरपर्यायं, **भज** अंगीकुरु, अयमेव मनसो जीवनोपाय इति भावः। ननु चिन्तात्यागोऽतिदुष्करः स एव मम कथं स्यात् तत्राह **त्वयेति**। हे शिष्य, **त्वया** भवता, **अर्जितां** सम्पादिताम्, **इमाम्** प्रसिद्धां, **चिन्तां** जगद्विषयचिन्तनरूपां वृत्तिम् अतः ताम् **अन्यः** त्वत्तोन्यो भिन्नः, **कः** पुरुषः, **परित्यजेद्** जह्यात् तद्, **वद** ब्रूहि, न कोऽपि इत्यर्थः। लोकेऽपि अन्यसम्पादितगृहादेः अन्यत्याज्यत्वादर्शनाद् इति भावः।।२।। (८३०)

चैतन्य तो परिपूर्ण है ही। उसके भरने में तुम्हें यत्किञ्चित् भी परिश्रम नहीं होगा। तात्पर्य यह है किचित्त के स्थिर होने को दुःसंपाद्य समझ कर इसमें किसी को अनादर (लापरवाही) करना नहीं चाहिये। ब्रह्म में चित्त को स्थिर करना एक अत्यन्त सुकर बात है। फिर भी लोग अज्ञान के कारण इसे एक दुरारोह घाटी समझ कर छोड़ बैठते हैं। गीता में कहा है 'सुसुखं कर्तुम्' यह धर्म करने में आसान से भी आसान है। इतना आसान है कि कई साधकों को तो केवल इसकी आसानी (सुकरता) देखकर भरोसा भी नहीं होता, और वे चौंक जाते हैं। जब तक प्राणायाम, नेती धोती आदि कराकर उनके शरीर का तेल न निकाल लिया जाय तब तक वे आत्मज्ञानी का विश्वास ही नहीं करते।।१।।

हे महाबुद्धे! चिन्ता को छोड़ दे निश्चिन्तततासुख का भोग ले। तेरी कमायी हुई इस चिन्ता को भला बताओ कि दूसरा कौन छोड़ने आयेगा?

हे महाबुद्धे! इस जगद्विषयक चिन्ता को छोड़ो! देखो, इस जगत् में तुम्हारे किये कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं है। यह विचार भी मत करो कि जगद्विषयक चिन्ताओं को छोड़कर फिर इस मन के जीवन का सहारा क्या होगा और इस बिचारे जगत् का क्या बनेगा? तुम एक बार निश्चिन्तततासुख का भजन तो कर देखो! तब तो वह परमसुख ही तुम्हारे मन का जीवनोपाय हो जायगा। तुम्हारी उपार्जन की हुई इस चिन्ता को दूसरा कोई कैसे छोड़ सकता है? इस चिन्ता के त्याग का भार अपने मार्गदर्शकों पर मत डालो! यह काम तो तुम्हें स्वयं ही करना होगा।।२।।

हे शिष्य, तुम चिन्तारोग की भेषज (ब्रह्म) को स्मरण करो। (उससे ही तुम्हारा चिन्तारोग निवृत्त हो जायगा) या फिर इस चिन्तारोग को ही छोड़ दो।

चिन्तनीयं त्वया वस्तु चिन्तारोगस्य भेषजम्।
अथवा तात चिन्ताख्यं रोगमेव परित्यज।।३।। (८३१)
वर्धिता वर्धते चिन्ता त्यक्ता नश्यति सत्त्वरम्।
ईदृशेनापि रोगेण दुर्धियो मरणं गताः।।४।। (८३२)

ननु तर्हि चिन्तात्याग उपायो वक्तव्य इत्याशंक्य तमेव दर्शयति **चिन्तनीयमिति**। हे शिष्य, **त्वया** भवता, **चिन्तारोगस्य** चिन्ता जगद्विषयचिन्तारूपा वृत्तिरेव रोगो रुज्यते पीड्यते अनेन इति रोगः पीडाहेतुः व्याधिदुःखप्रदत्वात् तस्य निवर्तकत्वाद् **भेषजम्** औषधम् इव, **वस्तु** कालत्रयाबाध्यत्वात् पारमार्थिकं सद्रूपं ब्रह्म, **चिन्तनीयं** स्मरणीयं, तेन चिन्तारोगनिवृत्तेः स एव उपाय इति भावः। तदशक्तौ उपायान्तरमाह **अथवेति**। हे **तात** हे शिष्य, **अथवा** तदसम्भवे सति इत्यर्थः। त्वं **चिन्ताख्यं** चिन्ता इति आख्या आह्वा यस्य स तथोक्तः तं, **रोगमेव** व्याधिमेव केवलं, **परित्यज** सर्वदा असत्त्वबुद्ध्या पश्य, ततोऽपि स निवृत्तः स्यादिति भावः।।३।। (८३१)

ननु चिन्तारोगनिवर्त्तकम् आत्मवस्तुचिन्तनं कर्त्तुम् अशक्यं, चिन्तारोगत्यागोऽपि द्वितीय उपायः अस्वाधीनत्वाद् दुष्कर एव इत्याशंक्यमानं प्रत्याह **वर्धितेति**। **चिन्ता** जगद्विषयकस्मृतिरूपा वृत्तिः, **वर्धिता** वृद्धिं प्रापिता सती, **वर्धते** एधते, सा **त्यक्ता** हता सति, **सत्वरं** शीघ्रं, **नश्यति** नष्टा भवति, चिन्ताया वृद्धिक्षयोत्पत्त्यादिभावा न चिन्ताधीनाः चेत्यत्वेन जडत्वात् तस्याः, किं तु चेतनाधीना एव ते इति भावः। इदं च आगोपालं प्रसिद्धमेव। तथा सति, **ईदृशेनापि** स्वाधीनेनापि, **रोगेण** चिन्ताख्यव्याधिना, **मरणम्** असदाकाररूपं देहात्मत्वमेव मरणं नाशं प्राप्ता ये ते **दुर्धियो** विषयविदूषितमतयो ज्ञेयाः, यथा लोके प्रज्वलितगृहे स्वनिर्गमाय मार्गे सत्यपि धनपुत्रवस्त्रादि-लोभदूषितमतयः तत्रैव मरणं प्राप्नुवन्ति तद्वद् इति भावः।।४।। (८३२)

जगद्विषयक चिन्ता ही एक बड़ा भारी रोग कहाता है। कालत्रयाबाध्य पारमार्थिकसद्रूप ब्रह्म ही उस रोग को निवृत्त करने की महौषध कहाती है। बस चिन्तारोग की निवृत्ति के लिये तुम उसी का स्मरण किया करो। यदि तुमसे यह न हो सके तो फिर तुम चिन्ता नामक रोग को ही छोड़ दो। यह भी तो तुम्हारा अपना ही चिपटाया हुआ है।।३।।

यह चिन्ता बढ़ाने से बढ़ती है, छोड़ने पर झटपट नष्ट हो जाती है। न मालूम ऐसे स्वाधीन रोग से भी मूर्ख लोग क्यों मरते फिरते हैं!

इन जगद्विषयक चिन्ताओं को यदि बढ़ाते चले जाओ तो ये रबड़ की तरह बढ़ती चली जाती हैं, यदि चिन्ता करना छोड़ दो तो ये सहसा नष्ट भी हो जाती हैं। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि चिन्ता के वृद्धि, ह्रास आदि सब चिन्ता करने वाले के ही अधीन हैं। वह चाहे तो इन्हें बढ़ाये किंवा इन्हें नष्ट कर डाले। यह बात साधारण बुद्धि के मनुष्य भी समझ सकते हैं, परन्तु क्या किया जाय? किसी आग से जलते हुए घर में से अपने निकलने का मार्ग होने पर भी धन पुत्र तथा वस्त्रादि के लोभ से दूषित बुद्धि वाले लोग जिस प्रकार उसी जलते हुए घर में जल मरते हैं, वैसी ही दयनीय

कर्कशा कलहा कृत्या वन्ध्या नित्यममंगला।
त्यज्यतां कामना चण्डी भुज्यतां मुक्तिसुन्दरी।।५।। (८३३)

एवं चिन्तात्यागे स्वाधीनतां प्रदर्श्य इदानीं विषयलोभग्रस्तबुद्धेः तत्रापि अशक्तिम् आलक्ष्य तच्चिन्तायां दोषं दर्शयति **कर्कशेति। कर्कशा** अकोमलस्पर्शा तत्स्पर्शेन अन्तःकरणे दुःखानुभवात्, **कलहा** कलिरूपा कलहमूलत्वात्, **कृत्या,** मारिका स्वस्पृष्टपुरुषस्य मृतिहेतुत्वाद्, **वन्ध्या** निष्फला, सुखस्वरूपपुत्राजनकत्वात्, **नित्यं** सर्वदा, **अमंगला** न विद्यते मंगलं शुभं यस्याः सा तथोक्ता अभद्रहेतुत्वाद्, एतादृशी कामना इच्छारूपा, **चण्डी** क्रोधवती स्त्री, **त्यज्यतां** विसृज्यताम्। ततः किंकर्त्तव्यम् इत्यत आह **मुक्ति इति। मुक्तिसुन्दरी** मुक्तिः मोक्षरूपा सुन्दरी सुखरूपत्वात् कमनीयरूपा स्त्री, भुज्यतां भोक्तव्या। मुक्तिसुन्दरी इति विशेषणेन पूर्वाण्येव विशेषणानि विपरीततया अस्यामपि योज्यानि, तद्यथा, अकर्कशा सुखस्पर्शा, अकलहा कलहनिवर्तका, अकृत्या मृतिहेतुभूता न भवति, अवन्ध्या सुखपुत्रजनयित्री, नित्यं मंगला, शोभना, अकामना कामनानिवर्त्तका इति।।५।। (८३३)

परिस्थिति इस चिन्तानामक स्वाधीन रोग के कारण दुर्बुद्धि लोगों ने उत्पन्न कर ली है और मरण (असदाकाररूप देहात्मता) को प्राप्त हो गये हैं। हम तो समझते हैं कि यदि इस रोग की यह स्वाधीनता किसी के ध्यान में आ जाय तो वह चिन्तारोग-निवर्तक आत्मवस्तु का चिन्तन करे या फिर चिन्ता रोग का ही त्याग कर डाले।।४।।

कर्कश, कलहरूप, मारक, वन्ध्या तथा सदा अमङ्गलरूप इस इच्छारूपी चण्डी को छोड़कर मुक्ति सुन्दरी का भोग करो।

यह कामनारूपी चण्डी स्त्री बड़ी ही कर्कशा है। इसका स्पर्श होते ही अन्तःकरण में दुःख का अनुभव होने लगता है। यह कलहरूप है क्योंकि यह कामना ही संसार के सब झगड़ों की मूल हो रही है। इसे कृत्या (मारिका) कहते हैं क्योंकि इस कामना से स्पर्श पाया हुआ प्रत्येक पुरुष जन्ममरण के भँवर में फँस ही जाता है। ज्ञानी लोग इसे वन्ध्या मानते हैं, क्योंकि इस कामना ने सृष्टि के आदि से लेकर सुखरूप पुत्र को आज तक भी उत्पन्न नहीं कर पाया है, यह तो सदा ही अमङ्गला है इसके आ जाने पर फिर शुभ किंवा चैन के तो दर्शन ही दुर्लभ हो जाते हैं। सुखाभिलाषियों को उचित है कि ऐसी कामनाचण्डी को छोड़ दें तथा मुक्तिरूपी सुन्दरी का उपभोग करें। यह मुक्ति सुन्दरी तो बड़ी ही कोमलस्पर्शा, कलह को निवृत्त करने वाली, अमृता, अवन्ध्या (सुखरूप पुत्र को उत्पन्न करने वाली), नित्य मङ्गलरूपा तथा कामना को नष्ट करने वाली है। ऐसी परिस्थिति होने पर भी समझ में नहीं आता कि किस गुण के लोभी होकर हम लोग इन चिन्ताओं में फँस जाते हैं।।५।।

जब लोग तुम्हें झूठे को भी पण्डित कह देते हैं तो तुम बड़े हर्षोत्फुल्ल हो जाते (तथा बड़े सुखी होते) हो (इस प्रकार जब कि तुम्हें पण्डितनाममात्र से सुख होता है) तो फिर तुम मन, कर्म तथा वाणी से परमार्थ पण्डित (सच्चे पण्डित) ही क्यों न हो

जनैः पण्डित इत्युक्तः प्राप्नोषि परमं सुखम्।
मनसा कर्मणा वाचा भव पण्डित एव तत् ।।६।। (८३४)
नित्यमेव स्फुरद्रूपो ननु त्वं चित्स्वरूपतः।
स्फूर्त्तिमूर्त्तेस्तवैवेयं काचित् स्फूर्त्तिरिदं जगत्।।७।। (८३५)

मुक्तिसुन्दरीभोगो येन साधनेन साध्यते तत्पाण्डित्यं साधयितुं तत्रैव रुच्युत्पादनाय तत्र सुखाधिक्यं सम्भावयति **जनैरिति**। हे शिष्य, त्वं, **जनैः** लोकैः स्वतोऽपण्डितोऽपि मूढैः, **पण्डित इत्युक्तः** पण्डितो विद्वान्, इति एवम् उक्तः कथितः सन्, **परमम्** उत्कृष्टं **सुखं** शर्म, **प्राप्नोषि** प्राप्तो भवसि। किं तत इत्याह **मनसेति**। पण्डितनाममात्रेण सुखोत्पत्तेः अनुभूयमानत्वात् **तत्** ततः कारणाद्, **मनसा** अहं पण्डितो भवामि इति संकल्परूपेण अन्तःकरणेन, **कर्मणा** समदर्शनरूपक्रियया वाचा, समदृष्टिप्रतिपादकवचनेनाऽपि एभिः कृत्वा, **पण्डित एव** विद्वान् एव, **भव** भूयाः। पण्डितनाममात्रेण मूढजनैः कल्पितेनापि स्वस्मिंस्तदभावेऽपि तत्त्वनिश्चयेन भ्रान्तज्ञानेन सुखप्रतीतौ पारमार्थिकपाण्डित्यसंपादने स्वस्मिन् परमार्थसुखाविर्भावः स्याद् इत्यत्र कः सन्देह इति भावः।।६।। (८३४)

इदानीं विधिमुखेन प्रत्यक्षमेव बोधयति **नित्यमिति**। हे शिष्य, **त्वं** साधनसम्पन्नो बोधाधिकारी, **नित्यमेव** सर्वदैव, **स्फुरद्रूपः** स्फुरत् स्वयं प्रकाशमानं रूपम् आकृतिः यस्य स तथोक्तः असि। ननु मम स्वरूपं स्वयं प्रकाशमानम् इति कुतः सम्भाव्यम् इत्यत आह **चिदिति। चित्स्वरूपतः** चिन्मात्रस्वरूपत्वाद्। एवं स्वस्फूर्तिरूपत्वे हेतुम् उक्त्वा तत्र स्फूर्तिरूपत्वसम्भावनायैव जगत्स्फूर्त्यन्यथानुपपत्त्या स्फूर्तिरूपत्वमेव द्रढयति **स्फूर्तिमूर्त्तेरिति। स्फूर्तिमूर्त्तिः** स्फूर्तिः प्रकाश एव मूर्तिः आकृतिः यस्य तस्य, **तव** भवत, **इदं** दृश्यं, **जगद्** विश्वम्, **इयं** प्रत्यक्षा, **काचिद्** अनिर्वचनीया, **स्फूर्तिरिव** प्रकाश एव, त्वत्स्वरूपस्फूर्त्यभावे जगत्स्फुरणमेव न स्याद्, 'यद् एष आकाश आनन्दो न स्यात् को हि एव अन्यात् कः प्राण्याद्' इत्यादिश्रुतेः, आसमन्तात् काशते प्रकाशते इति आकाशः स्वयंप्रकाशमान इति व्युत्पत्या स्वयं प्रकाशत्वप्रतिपादनादिति भावः।।७।। (८३५)

जाओ। (पारमार्थिक पाण्डित्यसंपादन कर लेने पर तुमको परमार्थ सुख का आविर्भाव हो जायगा)।।६।।

हे शिष्य, चिन्मात्रस्वरूप होने से तू सदा ही स्वयंप्रकाशस्वरूप है। यह सब जगत् भी स्फूर्तिस्वरूप तेरी ही तो एक अनिर्वचनीय स्फूर्ति है। (यदि तेरी स्वरूपस्फूर्ति न होती तो जगत् का स्फुरण ही न हो पाता। 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्' यदि यह परमानन्दस्वरूप परमाकाश न होता तो भला किसका सामर्थ्य था कि कोई एक श्वास तक ले सकता। इसलिये कहा जाता है कि तुम ही स्वयंप्रकाशस्वरूप हो)।।७।।

प्रकाशस्वरूप मेरा स्वरूप तो प्रकाशमात्र ही है यह ज्ञात हो जाने पर (इस ज्ञान के प्रताप से) जब भ्रम नष्ट हो जाता है तब दूसरा कहाँ? संसार कहाँ ? माया कहाँ? तथा माया के किये (आवरण तथा विक्षेप आदि) कहाँ?

भास्वतो मम भामात्रमिति ज्ञाते भ्रमे गते।
क्व द्वितीयं क्व संसारः क्व माया तत्कृतं किमु।।८।। (८३६)
ज्ञत्वं कर्तृत्वभोक्तृत्वे जडचैतन्यदृष्टयः।
स्फुरणानि स्वकीयानि मणिर्भूत्वा विलोकय।।९।। (८३७)

ननु मम स्फूर्तिरूपत्वे मुक्त एव अहं किं मम ज्ञानेन इत्याशंक्य; ज्ञानं विना भ्रमनिवृत्तिः न इत्याशयेन आह **भास्वत इति। भास्वतः** प्रकाशस्वरूपस्य, **मम** मे, **भामात्रं** प्रकाशमात्रं स्वरूपमस्ति, **इति** एव, **ज्ञाते** बुद्धे सति, तेन च ज्ञानेन **भ्रमे** चिज्जडरूपे जगति स्वात्मतादात्म्यप्रतीतिरूपे भ्रमे भ्रान्तौ, **गते** निवृत्ते सति, ततो **द्वितीयम्** अज्ञानं जगत्कारणं, **क्व** कुत्र आत्मनि स्वयंप्रकाशे, नैव सम्भवति इत्यर्थः। स्वस्मिन्नपि असद्रूपत्वाद् न सम्भवति निराधारत्वाद् असत्त्वाच्च तन्नास्ति एव इति भावः। तदभावे च किं स्याद् इत्यत आह **क्वेति। संसारः** संसरणं तत्कारणस्यैव अज्ञानस्य अभावात् कारणं विना प्रतीयमानस्यापि संसारस्य वन्ध्यापुत्रादेः इव असत्त्वात् स, नात्मनि प्रकाशरूपे सम्भाव्य इति भावः। नापि स्वस्मिन्नपि सम्भवति, अतो निराधारत्वाद् असत्त्वाच्च न क्वापि इत्यर्थः। अतः तत्कारणरूपा मायापि नैव क्वापि सम्भवति इत्याह **क्वेति। माया** सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीया जगज्जननशक्त्यपरपर्याया कार्यासत्त्वेन तत्कारणभूतशक्तेरपि असत्त्वात् **क्व** कुत्र, न कुत्रापि इत्यर्थः। न कारणस्य कार्याधारत्वम् अनुत्पन्नत्वेन पृथगसत्त्वेन च कार्यस्य, नात्माधारत्वमपि, तस्याः सदसतोः आधाराधेयत्वायोगाद् यतः सा क्वापि न सम्भवति इति भावः, अत एव तत्कृतबन्धनस्यापि अभाव एव इत्याशयेन आह **तत्कृतमिति। तत्कृतं** तस्या मायायाः, कृतं कार्यम् आवरणविक्षेपादिकं बन्धनं, **किमु** किम् भवति, न किमपि इत्यर्थः। 'तुच्छमिदं रूपमस्य' इति श्रुत्या तुच्छत्वप्रतिपादनात् तुच्छमेव तन्नातिशयम् आत्मनि जनयितुं क्षममिति भावः।।८।।(८३६)

ननु स्वप्रकाशात्मनो जाड्यसहानुभूयमानत्वात् कथं चिन्मात्रज्ञानेन आत्मनि प्रतीयमानजाड्यनिरास इत्याशंक्य, सर्वत्र जडचैतन्ययोः उभयोरपि प्रतीयमानत्वात् तत्र चिन्मात्रात्मरूपविचिन्तनेन तदितरजडानादरे कृते जाड्यनिरासः स्यादित्याशयेनाह **ज्ञत्वेति। ज्ञत्वं कर्तृत्वभोक्तृत्वे जडचैतन्यदृष्टयो** ज्ञत्वं ज्ञानित्वं ज्ञानेन्द्रियवृत्तिमत्त्वम् इत्यर्थः, कर्तृत्वं कर्मेन्द्रियवृत्तिमत्त्वं, भोक्तृत्वं भोगक्रियाफलवत्त्वम्, एता अन्याश्च, **जडचैतन्यदृष्टयो** जडं जाड्यम् उपाधिः, चैतन्यं च चिदाभासरूपं,

मुझ प्रकाशस्वरूप का स्वरूप पूछो तो केवल प्रकाश ही है यह ज्ञात हो जाने पर अब जब कि इस पवित्र ज्ञान के प्रताप से मेरा भ्रम नष्ट हो गया (जिससे कि इस चिज्जडरूप देहादि जगत् में मेरी स्वात्मतादात्म्यप्रतीति जाती रही) तो फिर दूसरा (जगत् का कारण अज्ञान) कहाँ रहा (क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मा में वह अज्ञान कैसे ठहरता?) जब कि अज्ञान ही न रहा तो फिर उसका कार्य यह संसार भी कहाँ रहा? जब कि यह कार्य ही न रहा तो फिर इस कार्य से अनुमेय माया भी कहाँ रही? जब माया ही नहीं तो फिर उसका किया हुआ आवरण और विक्षेपरूपी जगद्बन्धन ही कहाँ ठहरता!।।८।।

परस्परमविज्ञाता जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।
त्वया तिस्रः स्त्रियो भुक्ताः तुरीयां सुन्दरीं भज।।१०।। (८३८)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि पुनस्तानि त्वमीक्षसे।
तुरीयं तव धामैव न तत्किमिति पश्यसि।।११।। (८३९)

तदुभयमिलिता दृष्टयो दृश्यन्ते अनुभूयन्ते स्वस्वविषया आभिः ता दृष्टयो वृत्तय इत्यर्थः, सन्ति, तासु वृत्तिषु **स्वकीयानि** स्वस्य चिद्रूपस्य आत्मनो धर्मभूतानि, **स्फुरणानि** ज्ञानानि एव केवलं तानि एव त्वं **मणिः** यथा माणिक्यादिः स्वयंप्रकाशः अन्यदीपादिप्रकाशापेक्षारहित एव स इव, भूत्वा चेत्यरहितः चिन्मात्रो **भूत्वा, अवलोकय** पश्य, जडं व्यावर्त्य सर्वत्र चिन्मात्ररूपं स्वात्मधर्ममेव अनुभवन् स्थितः चेत् स्वचिन्मात्रत्वानुभवो जाड्यनिरासश्च भवेदिति भावः।।९।। (८३७)

उक्तात्मचिन्मात्रे स्वात्मस्थैर्याय उपायं दर्शयति द्वाभ्याम् **परस्परमिति। त्वया** भवता, **परस्परम्** अन्योन्यत्र, **अविज्ञाता** नावलोकिता, **जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः** उक्तलक्षणा जाग्रदवस्था, स्वप्नोऽपि उक्तलक्षण, उक्तलक्षणा सुषुप्तिश्च एताः **तिस्रः** त्रिसंख्याकाः, **स्त्रियो** वनिता इव, **भुक्ता** अनुभूता, अत इदानीं **तुरीयां** तुर्याख्यां, **सुन्दरीं** कमनीयरूपां केवलसुखरूपत्वात् तामेव अन्या अनादृत्य, **भज** अनुभव।।१०।। (८३८)

ननु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः तिस्रः स्त्रियोनुभवगोचराः सर्वदैव भवन्ति अतः तत्रैव वृत्तिप्रवाह स्वाभाविकः, तुर्यायां तु स न स्वाभाविकः तस्या अनुभवागोचरत्वाद्; अतः तं स्वाभाविकम् अनुभवं परित्यज्य ताश्च परित्यज्य स्वाभाविकेन वृत्तिप्रवाहेन कथं सा अनुभाव्या स्याद्? इत्याशंक्य गृहस्थानां परस्त्रीभोगसुखे सुलभेऽपि नरकप्राप्तिहेतुत्वज्ञानेन तत्परित्यज्य स्वस्त्रीभोग-जन्यसुखस्य

जड तथा चैतन्य का योग हो जाने से जो कि ज्ञानित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा अन्य भी जो कोई वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं वे सब तेरे अपने ही तो स्फुरण हैं। तू तो मणि बनकर इन सबको देखा कर!

जो कि ज्ञानेन्द्रियों में वृत्ति हो जाने पर ज्ञानी, कर्मेन्द्रियों में वृत्ति होने पर कर्ता, भोग क्रिया का फल मिलने पर भोक्ता कहाने लगता है, ये सब वृत्तियाँ जड और चिदाभासरूप चैतन्य के मिश्रण से ही हो जाती हैं। परन्तु इन सब में जो स्फूर्ति है वह तुझ चिद्रूप आत्मा की अपनी ही तो स्फूर्ति है। तू तो मणि के समान स्वयंप्रकाश चिन्मात्रस्वरूप होकर इन सब वृत्तियों में अपने ज्ञानों को ही देखा कर। अर्थात् इन सब भानों में से जड भाग को पृथक् करके (उस जड भाग का अनादर करके) चिन्मात्र में तत्पर रहेगा तो जड भाग तो स्वयमेव नष्ट हो जायगा, तथा चिन्मात्र का स्पष्ट अनुभव तुझे होने लगेगा।।९।।

परस्पर को न जानने वाली जाग्रत् स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक तीन स्त्रियों का ही भोग तू अब तक लेता रहा है। अब तू (इन सबको छोड़कर) तुरीया नामक सुन्दरी का भोग कर (तब उस चिन्मात्र में तेरा आत्मा स्थिर हो जायगा)।।१०।।

मा धाव सुखहेतोस्त्वं धावतां न सुखं सखे।
सुखरूपे निजे रूपे सुखं तिष्ठ सुखी भव।।१२।। (८४०)

औचित्यं विहितत्वं पारलौकिकसुखहेतुत्वम् इव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यस्त्रीषु परस्त्रीत्वाद् दुःखहेतुत्वाच्च संसारनरकप्राप्तिकारणत्वाच्च तद्भोगसुखम् अनादृत्य तुरीयस्वस्त्री-भोगसुख एव आदरो वृत्तिरोधेन विहितत्वाद् मुक्तिसुखहेतुत्वाच्च विधेय इत्याशयेनाह **जाग्रदिति**। हे शिष्य **त्वं** भवान् **जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि** इन्द्रियैरर्थोपलब्धिः जागरितम् इत्युक्तलक्षणा जाग्रदवस्था, स्वप्नो जाग्रत्संस्कारवासनावासितबुद्धौ प्रातिभासिकविषयप्रतीतिः इत्युक्तलक्षणा स्वप्नावस्था, सुषुप्तं विषयेन्द्रियैः सह अन्तःकरणस्य तत्कारणाज्ञानमात्राकारेणावस्थानं सुषुप्तिः इत्युक्तलक्षणा सुषुप्त्यवस्था, एतानि परगृहिणीतुल्यानि प्रकृतिकार्यत्वप्राधान्यात्, **पुनः** वारं वारम्, **ईक्षसे** पश्यति, परस्त्रीतुल्यानां तेषां भोगः परस्त्रीभोग इव निन्द्यत्वात् त्याज्य एव अतः तत्र आसक्तिः किमर्थं तव इति भावः। किञ्च **तुरीयं** तुरीयावस्थानं, **तवैव** स्वयंप्रकाशसुखस्य प्राधान्याद् धाम निवासस्थानम् अस्ति, **तत्** तुरीयं **किमिति** किमर्थं, **न पश्यसि** नानुभवसि, तुर्यसुखभोगस्तु स्वस्त्रीभोग इव विहितत्वेन अनिन्द्यत्वात् सुखरूपत्वाच्च स एव अवश्यं कर्त्तव्य इति भावः।।११।। (८३९)

ननु सुखसाधनत्वेन प्रतीते द्वैतजात आसक्तिः योग्यैव इत्याशंक्य तत्रस्थस्य सुखस्य आभासमात्रत्वात् तुर्यस्थसुखस्य च पारमार्थिकत्वाच्च तत्र स्थैर्ये यत्सुखं तदेव सुखं नान्यत्र इत्याशयेन आह **मा धावेति**। हे शिष्य हे मित्र! अनेन सम्बोधने स्ववचने विश्वासः कर्त्तव्य इति सूचितं, **त्वं** भवान् **सुखहेतोः** सुखं शर्म तदेव हेतुः प्रयोजनं तस्मात् तन्निमित्तम् इत्यर्थः। **मा धाव** शीघ्रम् आगच्छ। कुत इत्यत आह **धावतामिति**। हे मित्र धावतां सर्वत्र शीघ्रं भ्रमतां न सुखं न शर्मेति स्पष्टमेव आगोपालम्, अतः तदर्थं न भ्रमितव्यमिति भावः। तर्हि किं कर्त्तव्यं येन सुखं स्यात् तत्राह **सुखरूप इति। सुखरूपे** सुखं शर्म एव रूपम् आकृतिः यस्य तत् तथोक्तं तस्मिन् **निजे** स्वीये रूपे आकारे **सुखं** यथा स्यात् तथा **तिष्ठ** वस ततश्च त्वं **सुखी** आनन्दी **भव** आस्व इति कृपया आशीर्वादः दत्तः गुरुणा इति ज्ञेयम्।।१२।। (८४०)

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थाओं को तो तुम बार-बार भोगते हो, परन्तु (स्वयंप्रकाशस्वरूप) तेरा निज धाम तो तुरीय ही है। उस तुरीय को ही तू क्यों नहीं भोगता? (तुरीय सुख-भोग ही स्वपत्नी-भोग के समान विहित होने से अनिन्द्य तथा सुखरूप हो सकता है। इसी लिये परस्त्रीतुल्य जाग्रदादि को छोड़ कर तुरीय को ही भोग लेना चाहिये, जिससे तुझे मुक्तिसुख की प्राप्ति हो सके)।।११।।

हे मित्र, तू सुख के लिये (इन जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं के विषयों में) दौड़ा दौड़ा मत फिर। देखो, दौड़ने वालों को सुख नहीं मिला करता। सुखस्वरूप अपने (तुरीय) रूप में सुखपूर्वक बैठो! और आनन्द को लूटो।।१२।।

अत्र श्लोकाः

वरयोग्यासि कल्याणि न स्थास्यसि वरं विना।
वरणीयो वरस्तादृग्यो भवेदजरामरः।।१३।। (८४१)

एवं शिष्यं स्वरूपे स्थिरतां कर्तुं प्रबोध्य इदानीं तत्रैव स्थिरं कर्तुं शिष्यम् अज्ञानामभिसारिकां नायिकां प्रकल्प्य स्वात्मानं दूतीरूपं च प्रकल्प्य शृंगारश्लोकैः प्रबोधयितुम् आह **अत्रेति**। अस्मिन्नेवार्थे स्वात्मनि स्थैर्यसंपादनबोधन इत्यर्थः। **श्लोकाः** शृंगाररसाभासाः श्लोकाः पद्यानि, सन्तीति शेषः तान्यत उच्यन्ते इति योज्यम्। तत्रादौ वरयोग्यवयसि स्त्रीणां वरं विना स्थितिः न भवति तद्वद् अधिकारिदेहप्राप्तौ ज्ञानेप्सूनामपि आत्मस्वरूपप्राप्तिं विना स्थानम् अनुचितमेव इत्याह अर्धेन **वरयोग्येति**। लौकिकार्थः तावद् हे **कल्याणि** हे शोभने, अनेन सम्बोधनेन मातृपितृकुलस्य वक्ष्यमाणोपदिष्टाचरणेन शोभनकारित्वे योग्यत्वं दूत्या नायिकायाम् अस्तीति नायिकायाः सूचितम्, त्वमिदानीं **वरयोग्या** वरः पतिः, तस्मिन् योग्या पुरुषेण सह भोगसुखे योग्यवयस्का, तरुणीत्यर्थः, **असि** विद्यसे, अतः पितृगृहे पूर्ववदितः परं **वरं विना** स्वं वृणुते अंगीकरोति असौ वरो भर्त्ता तं विना ऋते, पतिरहिता इत्यर्थः। **न स्थास्यसि** नैव स्थिता भविष्यसि, अत इतस्ततः केनचित् पुरुषेण सह रमणे मातृपितृकुलदूषणं स्याद् अतो भवत्या **तादृक्** तादृशगुणवान्, **वरः** पतिः, **वरणीयो** विवाहेन अंगीकर्त्तव्यः। कीदृग् गुणवान् इत्यत आह **य इति**। **यः** पतिः, **अजरामरो** न जरा वार्धक्यं यस्य स चासौ न विद्यते मरो मरणं यस्य स तथोक्तो, **भवेत्** स्याद्, वृद्धपुरुषविवाहे स्वकामापूरणेन परपुरुषेण रमणात् तदेव पूर्वोक्तम् उभयकुलदूषणं तन्मृतौ च तदेव इति पुरुषायुःपर्यन्तं वार्धक्यमरणरहितपतिवरणे पितृमातृकुलभूषणं स्वस्योभयकुलजानां च शोभनमपि स्यादिति भावः।

प्रकृतार्थस्तु हे **कल्याणि** कल्याणं मंगलम् अस्या विद्यते सा तथोक्ता तस्याः सम्बोधने हे कल्याणि, अनेन सम्बोधनेन त्वयि मंगलं भवितेति सूचितम्। त्वं भवती, इदानीं **वरयोग्या** वृणोति व्याप्नोति जगदिति वरं ब्रह्म त्वं तस्मिन् सर्वश्रेष्ठे योग्या अर्हा, **असि** भवसि, अतः **परं** ब्रह्मभावं **विना** ऋते, न **स्थास्यसि** नैव स्थातुं शक्ष्यसे, अत उपास्यब्रह्मभावं परोक्षत्वकृतकत्वादिदोषदुष्टं मा वृणु, **तादृग्वरः** तादृशगुणवान् वरः श्रेष्ठो ब्रह्मभावो, **वरणीयः** साक्षादहंब्रह्मास्मि इति गुरूपदेशपूर्वमहावाक्यार्थविचारद्वारा अंगीकार्यः। कीदृश इत्यत आह **य इति**। **यो** वरो ब्रह्मभावः, **अजरामरो** न विद्यते जरावार्धक्यविकारो यत्र स तथोक्तः अमरश्च न विद्यते मरो मरणं यत्र स तथोक्तः, जरामरणहीन इत्यर्थः, **भवेत्** स्यात् तादृश इत्यर्थः। ज्ञानेनैव ब्रह्मभावः अंगीकार्यो न तु उपासनेन, तस्य कृतकत्वेन विनाशित्वादिति भावः। अत्रोक्तं विद्यारण्यस्वामिभिः'ध्यानोपादानकं यत्तद् ध्यानाभावे विलीयते'।। इति।।१३।। (८४१)

प्रकृत तात्पर्यहे कल्याणि! अब तू वर (सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म) की प्राप्ति के योग्य हो गई है अब तेरी ऐसी अवस्था है कि तू वर के बिना (ब्रह्मभाव को प्राप्त किये बिना) नहीं रह सकती। इसलिये किसी ऐसे-वैसे वर को स्वीकार मत करना। तुझे तो अब ऐसे वर (ब्रह्मभाव) को स्वीकार करना चाहिये जो कि जरा और मरण से सर्वथा हीन हो।

न शृणोषि वरं यावत् तावत्ते कम्पते मनः।
पश्चान्महोत्सवैर्भद्रे स्वामिनं त्वं वरिष्यसि।।१४।। (८४२)

ननु भवदुपदिष्टवरवरणे मम मनः प्रवृत्तमपि पुनः पुनः ततो निवर्त्तते निश्चयेन तत्रैव न प्रवृत्तं भवति अतो मनसः तत्रैव प्रवृत्तौ क उपायो विधेय इत्याशंक्य; वैषयिकस्त्रीपुरुषभोगादिवार्ताश्रवणेनैव कामवृद्धेः प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तस्याश्च पुरुषभोगे प्रवर्त्तकत्वात् तादृशवार्ताश्रवणमेवोपाय इत्याशयेन आह **नेति**। हे भद्रे हे कल्याणि! यावद् यत्कालपर्यन्तं, त्वं भवती, **वरं** पतिं, पत्या सह सम्भोगवार्त्ताम् इत्यर्थः। पतिसम्भोगसुखज्ञामुखाद् न शृणोषि न श्रोत्रेण अवधारयसि, तावत् तत्कालपर्यन्तं, ते तव, मनः चित्तं, कम्पते चलति, तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं चाञ्चल्यं भजत इत्यर्थः। **पश्चात्** तच्छ्रवणानन्तरं, **महोत्सवैः** महान्तो दीर्घाः फलपर्यन्तमनवच्छिन्ना इत्यर्थः ये उत्सवाः संकल्परूपा उल्लासा इत्यर्थः तैः कृत्वा, **स्वामिनं** पतिं **वरिष्यसि** परिणेष्यसि, अतः तद्गुणतत्सम्भोगवार्त्ताश्रवणमेव पत्या सह भोगेच्छाजननेन तत्र प्रवर्त्तकत्वाद् उपायो नान्य इति भावो लोकप्रसिद्धेर्थे।

प्रकृतेर्थे तु ननु त्वदुपदिष्टवरब्रह्मभावांगीकरणे प्रवृत्तमपि मे मनः पुनः पुनः ततो निवर्त्तते तत्रैव दृढनिश्चयेन न प्रवर्त्तते अतः तत्र दृढनिश्चयेन तत्प्रवृत्तौ क उपाय इत्याशंक्य; 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्यादिश्रुत्या जीवब्रह्मैक्यज्ञानसाधनभूतविचाराधिकारिणः तत्प्राथमिकसाधनभूतत्वेन श्रवणविधानात् तज्ज्ञगुरुमुखात् श्रवणमेव उपायो नान्य इत्याशयेनाह **नेति**। हे **भद्रे** इति सम्बोधनेन वक्ष्यमाणोपायेन अवश्यं बत कल्याणं तव भावीति सूचितम्। त्वं **यावद्** यत्कालपर्यन्तं, **वरं** श्रेष्ठं, जीवब्रह्मैक्यं महावाक्यद्वारा गुरुमुखेन **न शृणोषि** न अवधारयसि श्रोत्रेण, **तावत्** तत्कालपर्यन्तं, **ते** तव, **मनः** अन्तःकरणं, **कम्पते** चलति, असम्भावनादिदोषैः चलायमानं भवति। **पश्चात्** श्रवणे कृते तत्परिपाकाद् अनन्तरं, **महोत्सवैः** अतीव हर्षैः, **स्वामिनं** स्वं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यगात्मानम् आमनोति उपदिशति असौ स्वामी महावाक्यार्थो गुरुवाक्यार्थो वा तं, **वरिष्यसि** अंगीकरिष्यसि, अखण्डैकरसम् आत्मानं ब्रह्माभिन्नम् अंगीकरिष्यसि इति भावः।।१४।। (८४२)

हे कल्याणि, अब तुम वरयोग्य युवती हो गयी हो, अब तुम पहले के समान भर्ता के बिना नहीं रह सकोगी, इसलिए तुमको ऐसे किसी वर को विवाह की पद्धति से स्वीकार कर लेना चाहिये कि जो अजर तथा अमर हो।

तात्पर्य यह है किजिस प्रकार युवावस्था आने पर वर के विना युवतियाँ नहीं रह सकतीं, इसी प्रकार अधिकारिदेह (जिस देह में आत्मज्ञान प्राप्त हो तथा जिस देह के बाद दूसरा शरीर मिलने का प्रसङ्ग ही न आये) के प्राप्त होने पर ज्ञानेच्छु लोग आत्मस्वरूप की प्राप्ति के बिना नहीं रह सकते।।१३।।

हे भद्रे, जब तक तू पति के भोगसुख की वार्ता को नहीं सुनती है तभी तक तेरा मन (प्रवृत्ति-निवृत्ति के बीच में टंग कर) काँप रहा है, पीछे तो तू महोत्सवों के द्वारा उसका वरण (स्वयमेव) कर ही लेगी।

परेण पुरुषेणाद्य रमस्व वचनान्मम।
सखि पश्चात् स्वतश्चित्तं कुरु यत्राधिकं सुखम्।।१५।। (८४३)

ननु पतिसम्भोगादिवार्तायां अश्रवणे इदानीं तद्भोगेच्छावत्या मया किंकार्यं तत्राह **परेणेति।** हे **सखि** हे मित्र, अनेन संबोधनेन स्ववचने विश्वासः कर्त्तव्य इति सूचितम्। त्वम् **अद्य** इदानीं तद्गुणश्रवणात् पूर्वं, वर्तमानसमये इत्यर्थः। **मम** त्वत्कल्याणेच्छोः मे, **वचनाद्** वाक्येन विश्वासं कृत्वा, **परेण** स्वमातृपितृकुलजेषु अतिपरिचयात् तदन्यकुलजत्वेन परिचयाभावात् अन्यतया मतेन पुरुषेण स्वपतिना सह, **रमस्व** क्रीडस्व, **पश्चाद्** अनन्तरं, **यत्र** पत्या सह रमणे वा भ्रात्रादिभिः सह रमणे, **अधिकम्** उत्कृष्टं, **सुखं** शर्म भवति, तत्**स्वतो** ज्ञात्वा, तत्र **चित्तं** मनः, **कुरु** कर्तव्यम्।

प्रकृतेऽर्थे तु स्वात्मसाक्षात्कारहेतुभूतदृढश्रवणाभावे ततः पूर्वं मया ब्रह्मसुखप्राप्तीच्छावता तत्प्राप्तये किं कर्त्तव्यं तत्राह **परेणेति।** हे **सखि** हे मित्र, अनेन संबोधनेन तव मद्वचने विश्वासः कर्त्तव्य इति सूचितम्। **अद्य** इदानीं ब्रह्माभिन्नस्वसाक्षात्कारहेतुभूतश्रवणात् पूर्वं, **मम** त्वद्गुरोः मे, **वचनाद्** वाक्याद्, मद्वचने विश्वासं कृत्वा इत्यर्थः **परेण** कार्यकारणातीतेन पुरुषेण परिपूर्णस्वरूपेण आत्मना सह, रमस्व क्रीडस्व, भूमशब्दवाच्यसुखरूपब्रह्मणा सह एकीभूय **रमस्व** इत्यर्थः। **पश्चाद्** अनन्तरं यत्र ब्रह्माभेदे भेदे वा, **अधिकम्** उत्कृष्टं, **सुखं** शर्म अस्ति तज्ज्ञात्वा अधिकं सुखं यत्र स्यात् तत्र **स्वतः** स्वयमेव **चित्तम्** अनुसन्धानरूपाम् अन्तःकरणवृत्तिं, **कुरु** स्थापय, स्वात्मसाक्षात्कारात् पूर्वं गुरुवचने विश्वास एव विहित इति भावः।।१५।। (८४३)

प्रकृतार्थहि शिष्य, जब तक तुम किसी आत्मसुख का आनन्द लेनेवाले सद्गुरु के मुख से इस जीवब्रह्मैक्यरूपी वर की महावार्ता को नहीं सुनते हो तभी तक तुम्हारा मन असंभावना किंवा विपरीतभावना आदि दोषों से चलायमान हो रहा है। श्रवण कर लेने पर तो उसका परिपाक हो जाने के अनन्तर अनन्त हर्षों के साथ इस ब्रह्माभिन्न अखण्ड एकरस प्रत्यगात्मा को स्वीकार कर ही लोगे (यदि ऐसे ब्रह्मरूप वर के वरने में मन दृढ निश्चय के साथ प्रवृत्त न होता हो तो सब से प्रथम आत्मदर्शी गुरु के मुख से उस आत्मा का श्रवण करना ही सर्वोत्तम उपाय है। उसी से तद्विषयक कामना की वृद्धि हो जाती है)।।१४।।

हे सखि, आज हमारे कहने सेपरपुरुष से (जो कि तुम्हारा पति होने वाला है) रमण तो करके देखो। पीछे से जहाँ अधिक सुख मिले वहीं अपने मन को ठहरा लेना। प्रकृतहे शिष्य! आत्मसाक्षात्कार कराने वाला श्रवण जब तक दृढ नहीं हो जाता तब तक मुझ हिताभिलाषी गुरु के कहने से पूर्ण पुरुष के साथ एक बार (एकीभावरूपी) क्रीडा तो करके देखो! फिर तुलना करने पर इन सांसारिक खण्ड सुखों तथा इस अलौकिक अखण्डसुख में से जहाँ भी तुझे अधिक सुख प्रतीत हो वहीं अपने चित्तकी वृत्तियों को लगा देना (स्वात्मसाक्षात्कार से प्रथम आचार्य के वचनों पर विश्वास करने से ही श्रेयस्कर मार्ग मिल सकता है)।।१५।।

यातं दिनं न पुनरेति नवं वयस्ते लज्जां विहाय भज तं रमणीयरूपम्।।
बाले परः पुरुष एष यदा समेतः स्वर्गेण किं किमु तदा नृसुखेन वा ते।।१६।।
(८४४)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे उपदेशषोडशी पञ्चविंशा।।

इदानीं मदुपदिष्टकार्यविलम्बेन आयुषो व्यर्थमेव व्ययो भवेद् अतः शीघ्रमेव पतिभोगे प्रतिबन्धभूतलज्जात्यागेन पत्या सह भोगं कर्तुं त्वरयति **यातमिति। हे बाले** स्वहिताज्ञानित्वाद् अज्ञे हे नवयौवने **यातम्** अतीतं, **दिनम्** अह इति उपलक्षणं क्षणलवादेः, **पुनः** भूयो, **नैति** नायाति। किञ्च **ते** तव, **नवं** नूतनं, **वयः** तारुण्यावस्था अस्ति, अतः तव लज्जाधिक्यमस्मिन् वयसि योग्यपुरुषभोगप्रतिबन्धकम् अतः तां **लज्जां** त्रपां, **विहाय** परित्यज्य, **रमणीयरूपं** रमणीयं सुन्दरं रूपं यस्य तं, सुन्दराकृतिमित्यर्थः **भज** अंगीकुरु। ननु पतिभोगे कः सुखातिशयो येन तत्र प्रवृत्तिः मया कर्त्तव्या इत्यत आह **बाल इति। परः** त्वन्मातृपितृकुलभिन्नकुलजत्वात् त्वत्परिचयाभावाच्च अन्यत्वेन मतः, **पुरुषो** नर, **एष** पुरोवर्ती पर्यङ्के त्वदिच्छया स्थितो, **यदा** यस्मिन् समये, **समेतः** त्वया सह मिलितो भवेत्, **तदा** तस्मिन् समये, **ते** तव, **नृसुखेन** सार्वभौमसम्पत्तिसुखेन, **किं** भवति, न किमपि इत्यर्थः। **वा** यद्वा **स्वर्गेण** स्वर्गसुखेनापि, **ते** तव, **किमु** किं भवति, न किमपि इत्यर्थः। ते उभे अपि पतिसम्भोगसुखाद् अतितुच्छे इत्यर्थः। अतः तव पतिसम्भोगजसुखेनैव कृतार्थता स्यादिति भावः।

प्रकृतार्थे तु इदानीं विलम्बनेन मुक्तिसुखानुभवं विना व्यर्थम् आयुर्व्ययो न कार्य इत्याशयेन आह **यातमिति**। दिनम् इति उपलक्षणं निमेषादेः, दिनं निमेषादिः कालो, यातं गतं, पुनः भूयो, नैति नायाति। किञ्च ते तव, वयधातोः गत्यर्थत्वाद् ये गत्यर्थाः ते ज्ञानार्था इत्युक्तेः वयो ज्ञानं, नवं नूतनं, कोमलमित्यर्थः। जातिकुलधर्मैषणावत्त्वात् संशयैः दूषितत्वाच्च ज्ञानस्य कोमलत्वमिति भावः। अतो लज्जां त्रपां लोकलज्जां, विहाय परित्यज्य, तं कार्यकारणातीतं, रमणीयरूपं रन्तुं योग्यं रमणीयं सुखस्वरूपत्वाद्, रूपम् आकृतिः यस्य तं तथोक्तं, भज सोऽहम् अस्मि इत्येवम् अभेदेन अंगीकुरु। ननु तादृशपरमात्मस्वरूपस्य सोऽहमिति अभेदेन अंगीकारे कः सुखातिशयो येन तत्रैव मया प्रवर्त्तितव्यं तत्राह **बाल इति**। हे बाले नवयौवने, पूर्णविवेकाऽभावाद् बालत्वं ज्ञेयम्। एष मदनुभवेन प्रत्यक्षः, परः कार्यकारणातीतः, पुरुषः परिपूर्ण आत्मा, यदा यस्मिन् काले, समेतः त्वया प्राप्तः अभिन्नत्वेन अंगीकृत इत्यर्थः। तदा तस्मिन् समये, ते तव, नृसुखेन 'युवा स्यात् साधुयुवा अध्यायक' इत्यादिकया 'स एको मानुष आनन्द' इत्यन्तया श्रुत्या प्रतिपादितेन मानुषसुखेन, किं किं प्रयोजनं, न किमपि इत्यर्थः। किञ्च, स्वर्गेण गन्धर्वानन्दादिहैरण्यगर्भानन्दान्तेन सुखेन 'ते ये शतं मानुषा आनन्दा' इत्यादिकया 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तया श्रुत्या प्रतिपादितेन शर्मणा, वा अपि किमु किं प्रयोजनं, न किमपि इत्यर्थः। सर्वसुखानाम् आत्मसुखप्रतिबिम्बत्वाद् आत्मसुखप्राप्तौ तेषां तुच्छत्वाच्च न तेषु अपेक्षादयो ज्ञानिनाम् इति भावः।।१६।। (८४४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ उपेदशषोडश्यर्थप्रकाशः पञ्चविंशः।।

हे बाले! देखो व्यतीत हुई आयु फिर लौट कर नहीं आती, अभी-अभी तुम्हारी नई

अथ ब्रह्मचर्चाविंशतिः

अर्चालक्षाधिका प्रोक्ता चर्चैव परमात्मनः।
अतः शिष्यप्रबोधाय ब्रह्मचर्चा निरूप्यते।।१।। (८४५)

एवमुपदेशषोडशीं निरूप्येदानीं शिष्यस्य ब्रह्मस्वरूपं बोधयितुं ब्रह्मचर्चाविंशत्याख्यं विंशतिश्लोकं प्रकरणमभिधास्यन्नाह **अथेति। अथ** उपदेशषोडशीनिरूपणानन्तरं, ब्रह्मचर्चाविंशतिः ब्रह्मणश्चर्चा कथनं यत्र विंशतौ सा तथोक्ता विंशतिः विंशतिश्लोकात्मकं प्रकरणं निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ ब्रह्मचर्चायां रुच्युत्पादनाय ब्रह्मचर्चामाहात्म्यनिरूपणपुरःसरं तन्निरूपणं प्रतिजानीते **अर्चेति। परमात्मनः** परः कार्यकारणातीतो य आत्मा तस्य, चर्चैव संवाद एव, **अर्चालक्षाधिका** अर्चानां पूजानां यल्लक्षं नियुतं ततोप्यधिकोत्कृष्टा लक्षशब्दोत्रानन्त्यपरोऽनन्तपूजनफलदात्रीत्यर्थः, **प्रोक्ता** कथिता 'क्षणमेकं क्रतुशतस्यापी'ति श्रुतेः; आत्मचिन्तनलक्षणस्यानन्तयज्ञफल-प्राप्तिकारणत्व-प्रतिपादनात्तच्चिन्तनं विना तत्कथनासम्भवस्य 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदती'ति श्रुत्या प्रतिपादनादिति भावः, यतः कारणादतो हेतोः **शिष्यप्रबोधाय** शिष्यस्य जिज्ञासोः प्रबोधाय ज्ञानाय, **ब्रह्मचर्चा** ब्रह्मणो देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितस्यात्मवस्तुनश्चर्चा संवादो वचनविलास इत्यर्थः, यत्र प्रकरणे सा निरूप्यते।।१।। (८४५)

उमर है इस लज्जा को छोड़कर उस सुन्दराकृति पुरुष को स्वीकार कर लो। हे बाले, पर-सा प्रतीत होने वाला यह पुरुष जब तुझे मिलेगा तो फिर सार्वभौम, संपत्तिरूपी नृसुख से किंवा स्वर्ग के सुख से भी क्या तेरी तृप्ति हो सकेगी।

प्रकृतहे शिष्य, मुक्तिसुखानुभव को किये बिना व्यर्थ ही अपनी आयु का व्यय मत करो! देखो गया हुआ काल फिर लौट कर नहीं आता है। तुम्हारा ज्ञान अभी अत्यन्त कोमल है क्योंकि जाति, कुल, धर्म, तथा एषणाओं के कारण किंवा संशय से दूषित होने के कारण अभी वह परिपक्व नहीं हो चुका है। इसलिये लोकलज्जा को छोड़कर उस सुखरूप आत्मतत्त्व को सोहंरूप में स्वीकार करलो। अभी तक तुम्हें इसके अपूर्व सुख का भान नहीं हुआ है। मैं अपने अनुभव से बताता हूँ कि जब इस पुरुष को तुम अभेद-दृष्टि से स्वीकार कर लोगे तब तुम्हें सर्वोत्तम मानुषसुख से तथा हिरण्यगर्भ के आनन्द पर्यन्त स्वर्ग सुखों से भी कुछ प्रयोजन नहीं रहेगा। तात्पर्यसंसार के सम्पूर्ण सुख आत्मसुख के ही प्रतिबिम्ब हैं, इसीलिये आत्मसुख के प्राप्त होने पर वे सब तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। यही कारण है कि ज्ञानी लोग फिर कभी उनकी अपेक्षा नहीं करते।।१६।।

परमात्मा का एक बार का संवाद ही लक्षाधिक बार किया हुआ पूजन माना गया है। इसलिये (जिज्ञासु) शिष्य के ज्ञान के लिये ब्रह्मचर्चा नामक प्रकरण का निरूपण किया जाता है।।१।।

आधारः सर्वभूतानां तस्याधारो न कश्चन।
निराधारस्वरूपं चेन्नास्ति ब्रह्म तदा क्वचित्।।२।। (८४६)
अधिष्ठानं विना कार्यं न तिष्ठति कदाचन।
सर्वाधिष्ठानरूपं हि कथं ब्रह्म न कुत्र चित्।।३।। (८४७)

तत्रादौ ब्रह्मणः सर्वाधारत्वनिरूपणपूर्वकं तन्निराधारत्वं वास्तवं दर्शयति **आधार इति**। **सर्वभूतानां** सर्वाणि समस्तानि यानि भूतानि वियदादीनि तत्कार्याणि च ब्रह्माण्डादिकीटकान्तानि प्राणिजातानि तेषां, **आधार** आध्रियतेऽस्मिन्नित्याधारोऽधिष्ठानं ब्रह्मास्ति, अधिकरणे घञ् **तस्य** सर्वाधारस्य ब्रह्मण, **आधारो**ऽधिष्ठानं सद्रूपब्रह्मणो भिन्नस्य असत्त्वाद् ब्रह्मणोपि आनन्त्येन आधेयत्वायोगाच्च, **कश्चन** कोपि, **न** न विद्यते। ननु ब्रह्मणो निराधारत्वे ब्रह्म क्वापि नेत्येवं प्रयोगः स्यात्ततश्च ब्रह्म क्वापि नास्तीत्यर्थत्वेन ब्रह्मणः शून्यत्वमायातमित्याशङ्कते **निराधारेति**। **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **निराधारस्वरूपं** निर्गतो निवृत्त आधारोऽधिष्ठानं यस्य तत्तादृशं स्वरूपं यस्य तत्तादृशाकारमस्ति, **चेद्** यदि स्यात्, **तदा** तस्मिन् पक्षे, **ब्रह्म** देशाद्यपरिच्छिन्नं वस्तु, **क्वचित्** कुत्रापि, **नास्ति** न विद्यते ब्रह्मणः शून्यत्वं सिद्धमिति भावः।।२।। (८४६)

न ब्रह्मणोऽसत्त्वं तत्कार्यस्य जगतो निरधिष्ठानत्वेनासत्त्वे सत्त्वभानानुपपत्तेरित्येव समाधत्ते **अधिष्ठानमिति**। हे शिष्य ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानस्यासत्त्वाङ्गीकारे**ऽधिष्ठानं** आधारं, **विना** ऋते, **कदाचन** कस्मिन्नपि काले, **कार्यं** लोकप्रसिद्धं घटादिरूपं, कल्पितं रज्जुसर्पादिकमपि स्वाधारं मृदादिकं रज्ज्वादिकं च वर्जयित्वेत्यर्थः, **न तिष्ठति** नैव स्थितिं प्राप्नोतीति लोके प्रसिद्धमेव, तर्हि तद् ब्रह्म सर्वाधारस्वरूपं सर्वस्य जगत आधारोऽधिष्ठानं स्वमसाधारणं रूपमाकारो यस्य तत्तथाभूतमस्ति तदसत्त्वे निरधिष्ठानस्य जगतोप्यसत्त्वेन भानं स्यात्तत्तु सदिति प्रतीयतेऽतो **ब्रह्म** देशाद्यपरिच्छिन्नं वस्तु, **कुत्रचित्** क्वापि, **न** नास्ति न विद्यते, **कथं** केन प्रकारेण, न कथमपि किं तु अस्ति एव इत्यर्थः।।३।। (८४७)

वह ब्रह्म सब आकाश आदि भूतों (तथा भूतों के कार्य ब्रह्माण्ड से लेकर कीटपर्यन्त समस्त प्राणिसमूह) का आधार है, उसका कोई भी अन्य आधार नहीं है यों जब वह निराधार स्वरूप ही हुआ तो यही कहना होगा कि 'ब्रह्म कहीं भी नहीं है'।।२।।

अधिष्ठान के बिना कहीं भी कोई कार्य स्थित नहीं होता ऐसी अवस्था में सर्वाधिष्ठानरूप ब्रह्म कहीं भी न हो यह कैसे हो सकता है?

यदि सर्वाधिष्ठान ब्रह्म को न मानोगे तो अधिष्ठान के बिना तो कभी भी कोई (व्यावहारिक घटादि या प्रातिभासिक रज्जुसर्प आदि) पदार्थ नहीं रह सकते। वे भी अपने मिट्टी तथा रज्जु आदि अधिष्ठानों (आधारों) की अपेक्षा करते ही हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि इस प्रतीयमान सकल जगत् का भी कोई-न-कोई आधार है ही। वह न हो तो यह सब जगत् असत्‌रूप से प्रतीत हो। इसलिए वह सर्वाधिष्ठान रूप ब्रह्म कहीं भी न हो, यह कैसे संभव है।।३।।

सर्वस्मात्तत्पृथग्ब्रह्म त्विति वक्तुं न शक्यते।
यदात्मकमिदं सर्वं सर्वस्मात्तत्पृथक् कथम्।।४।। (८४८)
सर्वस्मादपृथग्ब्रह्म वक्तुमित्यपि नार्हसि।
सर्वस्मात्पृथगेवेदमनुभूतं महर्षिभिः।।५।। (८४९)

ननु तर्हि जगदाधारत्वेन स्वतो निराधारत्वेन च जगतो वैलक्षण्यात्तद् ब्रह्म जगतः पृथगेवास्तु इति शङ्कते **सर्वस्मादिति। तद् ब्रह्म** सर्वाधारं स्वतो निराधारं चेत्येतैर्लक्षणैर्लक्षितं ब्रह्म देशकाल-वस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **सर्वस्मात्** समस्तजगतः, **पृथग्** भिन्नमस्तीति चेदिति **तु** एवमपि, **वक्तुं** कथितुं, **न शक्यते** नैव शक्यं जायते, कुत इत्यत आह **यदिति। इदं** एतत् **सर्वं** समस्तं जगद्, **यदात्मकं** यद्ब्रह्मैवात्मा स्वरूपं यस्य तत्तथोक्तमस्ति, तद्ब्रह्म ततो जगतः पृथक्त्वेन अविद्यमानात् **सर्वस्मात्** सर्वशब्दवाच्यात् समस्तजगतः **पृथग्** भिन्नं **कथं** केन प्रकारेण स्यान्न कथमपीत्यर्थः, वस्तुगतभेदसिद्धेस्तत्प्रतियोगिवस्तुसत्त्वसापेक्षत्वाद् ब्रह्मगतभेदासिद्धिर्जगतः पृथगसत्त्वादिति भावः।।४।। (८४८)

ननु तर्हि सर्वाभिन्नत्वाद् ब्रह्म सर्वरूपमस्त्विति शङ्कते **सर्वस्मादिति। सर्वस्मात्** समस्ताज्जगतो, **ब्रह्म** देशाद्यपरिच्छिन्नं वस्तु, **अपृथग्** अभिन्नं सर्वरूपमेवेत्यर्थः। अस्तु इति चेद्यदि वदसि तर्हि इत्येवमपि **वक्तुं** कथितुं **नार्हसि** योग्यो न भवसि, कुत इत्यत आह **सर्वस्मादिति। इदं** ब्रह्म **महर्षिभिः** महान्तोऽतिश्रेष्ठाः य ऋषयः सत्यवादिनस्तैः, **सर्वस्मात्** समस्ताज्जगतः स्वतोऽसत्त्वेन लक्षितात्, **पृथगेव** भिन्नमेव, सत्त्वेन **अनुभूतं** ज्ञातमतस्तत्सर्वरूपं वक्तुं न शक्यमिति भावः।।५।। (८४९)

ननु तर्ह्यात्मरूपं तद् ब्रह्मास्त्विति शङ्कते **आत्मरूपमिति**। हे शिष्य **इदं** प्रस्तुतं ब्रह्मात्मरूपमात्मैव रूपमाकारो यस्य तत्तथोक्तं, **वाच्यं** वक्तव्यमस्ति, चेद्यदीत्येवं **तर्को**ऽनुमानं, **त्वया** भवता, **कृतः** साधितो यदि **तर्हि** तदा, **अनात्मरूपं** न विद्यते आत्मा तात्त्विकं रूपमाकारो यस्य तत्तथोक्तं, **किं**

वह ब्रह्म सबसे पृथक् है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सब जगत् जब कि तदात्मक ही है (उसी आत्मा का विवर्त है) तो फिर वह (ब्रह्मात्मा) सबसे पृथक् कैसे हो?

स्वयं तो निराधार परन्तु अन्य सब का आधार वह ब्रह्मनामक वस्तु इस समस्त जगत् से भिन्न हो यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह सब जगत् भी तो ब्रह्मस्वरूप ही है फिर भला वह ब्रह्म उस सर्वजगत् से पृथक् कैसे हो सकता है।।४।।

यह ब्रह्मनामक वस्तु सब जगत् से अभिन्न हो (सर्वरूप ही हो) यह भी तुम्हें न कहना चाहिये। क्योंकि महर्षि लोगों ने तो इस ब्रह्म को इस सब असत् जगत् से पृथक् ही अनुभव किया है (ऐसी अवस्था में इस ब्रह्म को सर्वरूप कहना भी युक्तिसंगत नहीं होता)।।५।।

आत्मरूपमिदं वाच्यमिति तर्कस्त्वया कृतः।
अनात्मरूपं किं न्वस्ति स्वात्मरूपं यतस्त्विदम्।।६।। (८५०)
ज्ञानस्य ब्रह्म विषय इति वक्तुं न शक्यते।
ज्ञानस्वरूपं तद् ब्रह्म ज्ञानस्य विषयः कथम्।।७।। (८५१)

नु किं वस्तु निश्चितं वितर्कितं वा, **अस्ति** विद्यते हि प्रसिद्धं विवेकिनाम्। **इदं** प्रकृतं ब्रह्म देशाद्यनवच्छिन्नं बृहदात्मरूपमात्मा व्यापकं रूपमाकृतिर्यस्य तत्तथोक्तं स्यात्तद्वदेति शेषः, ब्रह्मणो व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यानात्मत्वेनासत्त्वात्तन्निषेधकात्मशब्दार्थयोरपि तथात्वान्नात्मशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मणो वास्तवं मन्तव्यमिति भावः।।६।। (८५०)

ननु तर्हि वेदान्ते 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते, ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः, तमेवं विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये' त्यादिश्रुतिशतैर्ब्रह्मज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वेन मुमुक्षूणां विहितत्वप्रतिपादनाद् ब्रह्मणो ज्ञानविषयत्वमस्त्विवति शङ्कते **ज्ञानस्येति। ब्रह्म** देशाद्यपरिच्छिन्नमात्मवस्तु, **ज्ञानस्य** ज्ञायते वेद्यतेऽनेनेति ज्ञानं साभासान्तःकरणवृत्तिरूपं तस्य, **विषयो** गोचरोऽस्तु, एवं वदसि चेद्यदि तर्हीति एवमपि **वक्तुं** कथितुं **न शक्यते** न युज्यते, कुत इत्यत आह **ज्ञानस्वरूपमिति। तत्** प्रकृतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **ज्ञानस्वरूपं** ज्ञानं चेतनं तदेव स्वमसाधारणं रूपमाकृतिर्यस्य तत्तथोक्तमस्ति, अतः **तद् ब्रह्म** ज्ञानस्य साभासान्तःकरणवृत्तिरूपचेतनस्य, **विषयो** गोचरो ज्ञेयमित्यर्थः। **कथं** केन प्रकारेण भवति, लोकेपि ज्ञानविषयो घटादिः स्वतो जडत्वेन प्रसिद्धो ब्रह्मणस्तु चिन्मात्रत्वेन स्वयंप्रकाशरूपत्वान्न ज्ञानविषयत्वमिति भावः।।७।। (८५१)

ननु तर्हि ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वमेवास्त्विवति शङ्कते **ज्ञानेति। ब्रह्म** प्रकृतं देशादिकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **ज्ञानस्वरूपं** ज्ञानं चेतनं तदेव स्वमसाधारणं रूपमाकारो यस्य तत्तादृशम् **अस्तु** भवतु, इत्येवं यदि यर्हि **मन्यसे** अंगीकुरुषे, तर्हि तदपि न सम्भवतीत्याह **ज्ञेयमिति। यत्र** ब्रह्मणि, **ज्ञेयमेव** ज्ञानविषयो जगदेव, **नास्ति** न विद्यते, **तस्य** ब्रह्मणो ज्ञेयविषयाभावात् ज्ञानत्वं ज्ञानरूपत्वं,

हे शिष्य, यदि तुम यह तर्क करो कि इस ब्रह्म को तो आत्मरूप कहना चाहिये तो यह बताओ कि संसार में अनात्मरूप (अवास्तविक स्वरूप) पदार्थ ही क्या है! जिसकी अपेक्षा इसको आत्मरूप कहा जाय। संसार के सकल पदार्थों का भी तात्त्विक रूप तो यह आत्मा ही है। फिर ब्रह्म को आत्मरूप कहकर किस विशेषता का प्रतिपादन किया गया।।६।।

("ज्ञानादेव तु कैवल्यं, ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः" इत्यादि श्रुतियों को देखकर) उस ब्रह्म को ज्ञान का विषय कहना युक्तिसंगत नहीं होता। क्योंकि उस ब्रह्म का असाधारण स्वरूप तो ज्ञान ही है फिर वह ज्ञान (वृत्तिरूप ज्ञान) का विषय क्योंकर हो? (लोक में देखा जाता है कि ज्ञान के विषय घटादि पदार्थ जड होते हैं, ब्रह्म तो चिन्मात्र स्वतः प्रकाशरूप है इसलिये वह ज्ञान का विषय (ज्ञेय) नहीं हो सकता।।७।।

ज्ञानस्वरूपमेवास्तु ब्रह्मेति यदि मन्यसे।
ज्ञेयमेव न यत्रास्ति ज्ञानत्वं तस्य कीदृशम्।।८।। (८५२)
ज्ञातृस्वरूपमेवास्तु ब्रह्मेति यदि कल्प्यते।
स्वयं प्रकाशरूपे हि ज्ञानस्याश्रयता कथम्।।९।। (८५३)
सर्वरूपमिदं ब्रह्म वक्तुं कः शक्नुयादिति।
सदैकरूपमेवेदं यतः शाश्वतमुच्यते।।१०।। (८५४)

कीदृशं कथं स्यादिति शेषः। ज्ञेयसापेक्षं ज्ञानं लोके प्रसिद्धं तर्हि ज्ञेयाभावे ब्रह्मणो ज्ञानरूपत्वं नैव सम्भवतीति भावः।।८।। (८५२)

ननु तर्हि तद् ब्रह्म ज्ञात्रेवास्त्विति शङ्कते **ज्ञात्रिति।** तत्प्रकृतं **ब्रह्म** देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं, वस्तु, **ज्ञातृस्वरूपं** ज्ञाता साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासो ज्ञानेन्द्रियैः सहितः स एव स्वमसाधारणं रूपमाकारो यस्य तत्तादृशं **अस्तु** भवतु, इत्येवं **यदि** यर्हि, **कल्प्यते** निरूप्यते, तर्हि तन्न भवति कुत इत्यत आह **स्वयमिति। हि** प्रसिद्धं विदुषाम् स्वयंप्रकाशरूपमवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वं स्वप्रकाशत्वमित्युक्तलक्षणं स्वयंप्रकाशं ज्ञानविषयत्वेनापरोक्षतया प्रकाशमानं रूपमाकृतिर्यस्य तस्मिन्ब्रह्मणि, **ज्ञानस्य** साभासान्तःकरणवृत्तिरूपस्य, **आश्रयता** आश्रयत्वं ज्ञानक्रियावत्त्वमित्यर्थः, **कथं** केन प्रकारेण सम्भाव्या सम्भावनार्हाः न कथमपीत्यर्थः।।९।। (८५३)

ननु तर्हि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ति श्रुतेः सर्वरूपत्वमेव भूयोप्यस्त्विति ब्रह्मणः शङ्कते **सर्वरूपमिति। इदं** प्रकृतं, **ब्रह्म** देशाद्यपरिच्छिन्नं वस्तु, **सर्वरूपं** सर्वमनेकरूपं जगदेव रूपमाकृतिर्यस्य तत्तथोक्तमस्तु भवतु, इति चेदित्येवं **वक्तुं** कथितुं, **कः** पुरुषः, **शक्नुयात्** समर्थो भवेन्न कोपीत्यर्थः। कुत इत्यत आह **सदेति**। इदं प्रकृतं ब्रह्म **सदा** नित्यमेव **एकरूपम्** एकं स्वगतसजातीयविजातीयभेदरहितं सच्चिदानन्दघनमस्ति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'ति श्रुत्या सर्वपदेदंपदयोर्वाच्यार्थांशपरित्यागेनाविरुद्धेन ब्रह्मपदार्थेन सह सामानाधिकरण्येनैक्यबोधनादिति भावः। कुत एकरूपत्वमित्यत आह **यत इति। यतः** कारणात् **शाश्वतं** इत्युच्यते कथ्यते नित्यस्यानेकत्वासम्भवादिति भावः।।१०।। (८५४)

यदि उस ब्रह्म को (ऊपर के विवेचन से) ज्ञानस्वरूप ही मान लिया जाय तथापि यह बात नहीं बनती। क्योंकि जिस ब्रह्म में ज्ञेय (ज्ञान का विषय जगत्) ही नहीं है वह ज्ञानरूप ही कैसे हो? (लोक में देखा जाता है कि ज्ञान को ज्ञेय पदार्थ की अपेक्षा रहती है, जब ज्ञेय ही नहीं हो तो फिर ब्रह्म को 'ज्ञान' यह नाम भी क्योंकर दे दिया जाय?)।।८।।

यदि (ज्ञानरूप की अनुपपत्ति को देखकर) उस ब्रह्म को ज्ञाता ही माना जाय तो भी ठीक नहीं। क्योंकि जो ब्रह्म स्वयंप्रकाश है वह ज्ञान (ज्ञानरूप क्रिया) का आश्रय कैसे हो।।९।।

एकरूपमिदं ब्रह्म न वक्तुमिति शक्यते।
निर्गुणं तत्परं ब्रह्म स्यादेकत्वं यतो गुणः।।११।। (८५५)
निर्गुणं तत्परं ब्रह्म नूनमेतदसांप्रतम्।
अनन्तेनैव गीयन्ते ह्यनन्ता एव तद्गुणाः।।१२।। (८५६)

ननु तर्ह्येकरूपत्वमेव तल्लक्षणमस्त्विति शङ्कते **एकरूपमिति। इदं** प्रकृतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **एकरूपं** एकमेकसंख्या रूपमाकृतिर्यस्य तत्तथोक्तं, अस्तु भवतु, इति चेत्? न। कुत इत्यत आह **वक्तुमिति। इति** एवं, **वक्तुं** कथितुं, **न शक्यते** नैव युज्यते। कुतः? इत्यत आह **निर्गुणमिति। तत्** प्रकृतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **परं** कार्यकारणातीतमत एव, **निर्गुणं** निर्गता निवृत्ता गुणा यस्मात्तत्तथोक्तमस्ति। अस्तु निर्गुणं, तस्यैकत्वं कुतो नेत्यत आह **स्यादिति। यतो** यस्मात्कारणाद्, **एकत्वं** एकस्य भाव एकत्वं, **गुणः स्याद्** गुणो भवेद् गुणकार्यमित्यर्थः, तार्किकैरपि संख्याया गुणेषु गृहीतत्वादिति। अतो नैकरूपं ब्रह्मेति वक्तुं युक्तमितिभावः।।११।। (८५५)

ननु तर्हि निर्गुणत्वमेव लक्षणमस्तु ब्रह्मण इति शङ्कते **निर्गुणमिति। तत्** प्रकृतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **परं** कार्यकारणाभ्यां परमतो **निर्गुणं** निर्गता निवृत्ता गुणाः सत्त्वरजस्तमोभिधा यस्मात्तत्तथाभूतमस्तु भवतु। गुणकार्याण्यप्येकत्वादीनि गुणशब्देन ग्राह्याणीति चेन्नेत्याह **नूनमिति। एतद्** ब्रह्मणो निर्गुणत्वप्रतिपादनं, **असांप्रतम्** असमंजसं, **नूनं** निश्चयेनास्ति, कुत इत्यत आह **अनन्तेनेति। अनन्तेनैव** न विद्यतेन्तो यस्य तेनैव शेषेणाहङ्कारेण वा वेदेन वा 'अनन्ता वै वेदा' इति वचनाद्वेदस्यानन्तत्वं, शेषस्य तु प्रसिद्धं नामैवानन्त इति, अहमस्त्वनन्तत्वं ज्ञानं विना नाशाभावदिति ज्ञेयम्, **तद्गुणाः** कीर्त्यादयो गुणकार्याणि सृष्ट्यादयश्च तस्य ब्रह्मणो गुणा, **अनन्ता एव** नान्तः संख्यापरिच्छेदो येषां ते तथोक्ता एव, **गीयन्ते** वर्ण्यन्तेऽतो निर्गुणत्वमपि ब्रह्मणो वक्तुमयुक्तमिति भावः।।१२।। (८५६)

इस ब्रह्म को सर्वरूप कहने का सामर्थ्य भी किसको है? यह तो सदा ही एकरूप रहता है। क्योंकि यह तो शाश्वत अर्थात् नित्य कहाता है (नित्य पदार्थ अनेक नहीं होते)।।१०।।

यदि फिर उस ब्रह्म को एकरूप मान लिया जाय तो भी ठीक नहीं। क्योंकि उस परब्रह्म को निर्गुण माना गया है। इस एकत्व की गणना तो गुणों में की जाती है (यदि उस ब्रह्म में एकत्वरूपी गुण माना जायगा तो फिर वह निर्गुण ही कैसे रह जायगा?)।।११।।

यदि फिर उस ब्रह्म को निर्गुण (सत्त्व रज तम गुणों से रहित) ही माना जाय तो यह भी एक अत्यन्त अयुक्त बात होगी। क्योंकि उसके अनन्त गुणों (तथा गुणों से बने हुए सृष्टि आदि अनन्त कार्यों) का वर्णन अनन्त स्वयं ही करता रहता है। फिर भला उसको निगुर्ण भी कैसे कहा जाय! (अनन्त शब्द से वेद अहंकार तथा शेष तीन

ब्रह्म नास्तीति को ब्रूयाद्भातीदं यस्य सत्त्वतः।
तर्ह्यस्ति ब्रह्मेत्यपि नो नातः सत्ता पृथग्यतः।।१३।। (८५७)
अस्वरूपमिदं ब्रह्म विद्वानिति कथं वदेत्।
स्वस्वरूपमिदं ब्रह्म प्रत्यक्षमनुभूयते।।१४।। (८५८)

ननु तर्हि केनापि लक्षणेन वचनाविषयत्वेऽवस्तुत्वेनासत्त्वमेव ब्रह्मणोस्तु इति शङ्कते **ब्रह्मेति। ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु वचनाविषयत्वात् **नास्ति** न विद्यते, इति चेन्नेत्याह **इतीति। इत्येवं** ब्रह्म नास्तीति वचनं, **कः** सन्नसन्वा पुरुषो, **ब्रूयात्** कथयेत्? सन्निति चेद्? न, ब्रह्मणोऽसत्त्वे तद्व्यतिरिक्तस्य वक्तुरप्यसत्त्वं स्यात् 'नान्योतोस्ति द्रष्टे' त्यादिश्रुत्या कर्तुर्ब्रह्मतो भिन्नसत्त्वाभावप्रतिपादनाद् अतो ब्रह्मभिन्नत्वेनासिद्धस्य वक्तुर्ब्रह्मासत्त्वेन तदसत्त्वस्यापि सिद्धेर्न तादृशवक्तुर्ब्रह्मासत्त्ववचनसिद्धिरिति भावः। द्वितीये तु स्पष्टैव सा, अतो ब्रह्मणोऽसत्त्ववचनं परास्तमेव। तदेव स्पष्टं निरूपयति **भातीति। यस्य** ब्रह्मणः, **सत्त्वतः** सत्यत्वेन **इदं** वक्तृवचनवाच्यादित्रिपुटीरूपं जगद्, **भाति** प्रकाशते, तदसत्त्वे वक्तुरेवासत्त्वापत्तिरिति भावः। ननु तर्हि घटोस्तीत्यत्र घटस्य सत्ताश्रयत्वमिव ब्रह्मास्तीति प्रयोगे ब्रह्मणोपि सत्ताश्रयत्वमेवास्तु इति शङ्कते **तर्हीति। तर्हि** तदा ब्रह्मासत्त्वासिद्धावित्यर्थः, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **अस्तीति** सत्ताश्रयमेवास्तु, इति चेन्नेत्याह **इतीति। इत्यपि** एवमपि ब्रह्मणः सत्ताश्रयत्वमपि, **नो** नास्ति। कुत इत्यत अह्न **न इति**। यतो यस्मात्कारणाद् **अतो** अस्माद्ब्रह्मणः **पृथग्** भिन्ना, **सत्ता न**, नास्ति अतो ब्रह्मणः सत्ताश्रयत्वं नेतिभावः।।१३।। (८५७)

ननु सत्तादिना केनापि रूपेण वचनाविषयत्वे ब्रह्मणः स्वरूपाभाववत्त्वेन शून्यतास्त्वित्याशङ्कते **अस्वरूपमिति। इदं** प्रकृतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **अस्वरूपं** न विद्यते स्वरूपमाकृतिर्यस्य तत्तथोक्तमस्तु इति चेन्नेत्याह **विद्वानिति। विद्वान्** ज्ञानी चेत्तर्हि, **इति** एवं, कथं केन प्रकारेण, **वदेद्** ब्रूयान्नैव वदेदित्यर्थः। अज्ञानी वदेच्चेत्तद्वाक्यस्योन्मत्तप्रलपित-तुल्यत्वेनाप्रामाण्यमेवेति न तद्विचारः कर्तव्यतया विहित इति भावः। ननु ब्रह्मस्वरूपमिति कुतो न ब्रूयात्तत्राह **स्वस्वरूपमिति। इदं** प्रकृतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **स्वस्वरूपं** स्वस्यात्मनः स्वमसाधारणं रूपमाकृतिः यस्य तत्तथोक्तं, यद्वाऽऽत्मनः स्वपदवाच्यस्य स्वं स्वीयमभिन्नमित्यर्थः, **रूपं** रूप्यते प्रकाश्यते जगदनेनेति रूपं प्रकाशो यस्य तत्तथोक्तं

का ग्रहण होता है 'अनन्ता वै वेदाः'। ज्ञान के बिना मुक्तिपर्यन्त नाश न होने से अहंकार को भी अनन्त कहा जाता है। शेष का अनन्त नाम तो कोषादि में प्रसिद्ध ही है)।।१२।।

जिसकी सत्ता से यह सब प्रतीत हो रहा है उस ब्रह्म को नही है यह कौन कहे? फिर ब्रह्म है यह भी कौन कहे? क्योंकि सत्ता भी तो उससे पृथक नहीं होती। यह सत्ता ही तो ब्रह्म है।।१३।।

स्वस्वरूपमिदं ब्रह्म चेदित्यप्ययथातथम्।
तत्र को नु स्वशब्दार्थो यत्स्वरूपमिदं भवेत्।।१५।। (८५६)

त्वंपदलक्ष्यप्रत्यगात्माभिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः। इत्येवं **प्रत्यक्षं** अपरोक्षतया ज्ञानिना, **अनुभूयते** साक्षाज्ज्ञायते, स ज्ञानीअस्वरूपं ब्रह्मेति कथं ब्रूयान्नैव ब्रूयादिति योज्यम्।।१४।। (८५८)

ननु तर्हि स्वस्वरूपत्वेनैव वचनविषयं ब्रह्म भवतु इति शङ्कते **स्वस्वरूपमिति। इदं ब्रह्म** प्रकृतं देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, ज्ञानिना स्वस्वरूपत्वेनानुभूयमानत्वात् **स्वस्वरूपं** स्वस्यात्मनः स्वरूपं स्वमभिन्नमसाधारणं रूपमाकृतिर्यस्य तत्तथोक्तं, तादृशरूपेणैव वचनविषयमस्तु भवतु इति चेन्नेत्याह **इतीति। इत्यपि** एवमपि, वचनं वाक्यं **अयथातथं** न यथातथं सत्यं तदयथातथं यथार्थं न भवतीत्यर्थः। कुतः इत्याशंक्य तदेव कथयितुं गुरुः पृच्छति **तत्र इति। तत्र** ब्रह्म स्वस्वरूपमिति वाक्ये **इदं** प्रकृतं ब्रह्म देशकालाद्यपरिच्छिन्नं वस्तु, **यत्स्वरूपं** यस्य स्वशब्दार्थस्य स्वरूपमसाधारणं रूपमाकारो भवेत्स्यात्स **स्वशब्दार्थः** स्वशब्दस्याऽर्थो वाच्यः पदार्थो, **को नु** ब्रह्म वा? तद्भिन्नो वा, नाद्यः पुनरुक्तिदोषापत्तेः, भिन्नश्चेत्तस्यासत्त्वेनैव वैय्यर्थ्यापत्तेः, अतः स्वशब्दार्थस्याभावात् स्वस्वरूपत्वेनापि ब्रह्मणो विषयत्वमयथार्थमेवेति भावः।।१५।। (८५६)

इस ब्रह्म का कोई स्वरूप ही नहीं है (अर्थात् वह शून्य है) विद्वान् पुरुष यह बात भी कैसे कहे? क्योंकि स्वस्वरूप इस ब्रह्म को तो वह विद्वान् प्रत्यक्ष अनुभव करता ही है।।१४।।

वह ब्रह्म स्वरूप है यह बात भी सर्वांश में माननीय नहीं होती, क्योंकि इस 'स्वस्वरूप' शब्द में स्वशब्द का अभिप्राय बताना चाहिये। जिसका कि इस ब्रह्म को स्वरूप कहा जाय।

वह स्वशब्दार्थ वस्तु क्या है? वह ब्रह्म ही है ? किंवा उससे भिन्न कोई पदार्थ है? यदि कहो कि वह ब्रह्म ही है तब तो पुनरुक्ति दोष होगा। उस अवस्था में उस वाक्य का अर्थ यह होगा कि ब्रह्म ब्रह्मस्वरूप है। यदि उससे भिन्न कोई पदार्थ मानोगे तो ब्रह्म से भिन्न सब पदार्थों के असत् होने से उस अवस्था में इस वाक्य का यह अर्थ होगा कि ब्रह्म असत्स्वरूप है। इस प्रकार स्वशब्द का कोई भी उचित अर्थ सिद्ध न होने से ब्रह्म को स्वस्वरूप कहना भी युक्तिसंगत नहीं ठहरता।।१५।।

यदि स्वशब्द का अर्थ परव्यावृत्ति कहो तो बताओ कि जिन अवस्थाओं में स्वपरभाव नहीं होता तो क्या वहाँ ब्रह्म ही नहीं रहता?

जिस मूर्च्छा, निद्रा तथा समाधि के काल में स्वशब्द का परव्यावृत्तिरूपी अर्थ तथा परशब्द का स्वव्यावृत्तिरूप अर्थ ये दोनों ही नहीं रहते, क्या उस समय ब्रह्म ही नहीं रहता है? विद्वानों का अनुभव इस बात में प्रमाण है कि निद्रा मूर्च्छा समाधि तथा स्वपरभाव के सन्धि के समय यह स्वपरभाव तो नहीं रहता, किन्तु इन सब अवस्थाओं

परव्यावर्त्तकं स्वत्वमिति चेत्तर्हि तद्वद।
यत्र स्वपरभावो न ब्रह्म किं तत्र नास्ति हि।।१६।। (८६०)
अहमेव परं ब्रह्म 'ब्रह्माहमि'ति च श्रुतेः।
कथं भवेदहंब्रह्माहन्ता यत्र न विद्यते।।१७।। (८६१)

इदानीं पूर्ववादी स्वशब्दार्थं साधयति **परेति। परव्यावर्तकं** परस्यान्यस्य व्यावर्त्तकं निषेधकं, **स्वत्वं** स्वशब्दार्थो भवतीत्येवं, **चेद्** यदि, वदसि, **तर्हि**, तदा, तस्मिन्पक्षे यदहं पृच्छामि **तद्** उत्तरं, **वद** कथय, तमेव प्रश्नमाह **यत्रेति। यत्र** यस्मिन्काले, **स्वपरभावो** मूर्च्छानिद्रासमाधिषु स्वस्य स्वशब्दस्य परव्यावृत्तिरूपः परस्य च स्वव्यावृत्तिरूपो भावोऽर्थसत्ता, **न** न विद्यते, तत्र काले निद्रादौ स्वपरार्थसन्धौ च **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदन्शून्यं वस्तु, **नास्ति किं** न विद्यते किं किन्तु विद्यते एवेत्यर्थः, **हि** प्रसिद्धमेतद्विदुषामित्यर्थः, मूर्च्छानिद्रासमाधिमृत्युस्वपरसन्धिसत्ताप्रकाशान्यथानुपपत्त्या तत्रापि ब्रह्मसत्त्वाभ्युपगमेन परव्यावर्त्तकस्य स्वशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वानुपपत्तिरिति भावः।।१६।। (८६०)

ननु तर्हि 'अहमस्मि ब्रह्माहमस्मी'त्यादिश्रुतिषु ब्रह्माहंशब्दयोः सामानाधिकरण्यस्योपलभ्यमानत्वादहमर्थत्वं ब्रह्मणोस्त्विति शङ्कते **अहमेवेति**। 'अहमस्मि, ब्रह्माहमस्मी'तिश्रुतावहंब्रह्मपदयोः सामानाधिकरण्यदर्शनाद् **अहमेव** अहंशब्दार्थ एव, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु प्रकृतं भवतु, इति चेन्न; कुत इत्यत आह **कथमिति। अहं** दृश्याहमर्थभूतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **कथं** केन प्रकारेण, **भवेत्** स्यान्न कथमपीत्यर्थः। अपरिच्छिन्नादृश्यसद्रूपपरिच्छिन्नदृश्यासद्रूपयोः परस्परविरोधादिति भावः, तदेव स्पष्टमाह **अहन्ता इति। यत्र** प्रकृते ब्रह्मणि, **अहन्ता** अहमो भावोऽहन्ताऽहंपदवाच्याहंकारसत्ता, **न विद्यते** नास्ति, अहं ब्रह्मेति श्रुतौ अहंपदवाच्यांशत्यागेन लक्ष्यांशस्य ब्रह्मत्वेन प्रतिपादनाद्यतोऽहमर्थबाधेन बाधसामानाधिकरण्यमस्ति न तु मुख्यार्थसामानाधिकरण्यमतो नाहन्ताया ब्रह्मरूपत्वमिति भावः।।१७।। (८६१)

को प्रकाश करनेवाला ब्रह्मतत्त्व तो इन अवस्थाओं में भी रहता ही है। इन अवस्थाओं के आने पर परव्यावृत्ति होती ही नहीं, फिर भला परव्यावर्तक स्वशब्द ब्रह्म का कथन किस प्रकार कर सकता है।।१६।।

"ब्रह्माहम्", इस श्रुति के अनुसार अहं ही को ब्रह्म कैसे माना जाय? क्योंकि उस ब्रह्म में तो अहन्ता ही नहीं रहती।

ब्रह्मशब्द अपरिच्छिन्न अदृश्य तथा सद्रूप अर्थ का बोध कराता है। इसके विपरीत अहं शब्द शरीरपरिच्छिन्न दृश्य तथा असद्रूप पदार्थ का बोध करा रहा है। इन दोनों का तो परस्पर अत्यन्त ही विरोध दिखाई देता है। उस ब्रह्म में अहन्ता (अहंकार की सत्ता) का तो सर्वथा ही अभाव है। तात्पर्य'अहंब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में अहंपद के

त्वमेव तत्परं ब्रह्म 'त्वं ब्रह्मे'ति श्रुतिर्जगौ।
त्वमेव तत्कथं ब्रह्म त्वंता यत्र न वर्त्तते।।१८।। (८६२)

ननु तर्हि त्वं ब्रह्मेति श्रुतेस्त्वमर्थत्वं स्वसन्निकृष्टस्वभिन्नस्वप्रत्यक्षलक्षणत्वमस्तु ब्रह्मण इति शङ्कते **त्वमेवेति**। यतः **'त्वं ब्रह्मे'ति श्रुतिः** त्वंपदार्थस्य स्वप्रत्यक्षस्वसन्निहितस्वभिन्नलक्षणस्य, **ब्रह्म**शब्दार्थस्य च देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यसच्चिदानन्दघनरूपस्य सामानाधिकरण्येनैक्यं, **जगौ** कथितवती, **तत्** ततः, **त्वमेव** त्वंपदार्थ एव स्वप्रत्यक्षस्वभिन्नस्वसन्निकृष्टत्वलक्षणलक्षितः पदार्थ एव, **ब्रह्म** देशाद्यपरिच्छिन्नं, **परं** कार्यकारणातीतं वस्तु भवेत् स्यादित्येवं शङ्कामङ्गीकृत्योत्तरमाह **त्वमेवेति। तत्** प्रकृतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **त्वमेव** त्वमर्थमेव स्वसन्निकृष्टस्वप्रत्यक्षस्वभिन्नत्वलक्षणमेव, **कथं** केन प्रकारेण भवेत्स्यान्न कथमपीत्यर्थः। स्वभिन्नदेशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यस्य ब्रह्मशब्दार्थस्य त्वमर्थस्य च स्वप्रत्यक्षस्वसन्निकृष्टस्वभिन्नत्वलक्षणलक्षितस्य देशादिपरिच्छिन्नजडरूपस्य परस्परं विरुद्धत्वेनैक्यानुपपत्तेरिति भावः, तदेव स्पष्टमाह **त्वन्ता इति। यत्र** प्रकृते ब्रह्मणि, त्वन्ता त्वंपदार्थस्य स्वसन्निकृष्टस्वभिन्नस्वप्रत्यक्षत्वरूपस्य भावः सत्ता, न **विद्यते** नास्ति, तत्रापि त्वंपदवाच्यांशबाधेन लक्ष्यांशभूतकूटस्थचिदात्मनो ब्रह्मणा सहैक्यप्रतिपादनमिति भावः।।१८।। (८६२)

वाच्यांश को छोड़कर केवल लक्ष्यांशमात्र को ब्रह्म कह कर अहमर्थ की बाधा कर दी जाती है। इसलिये वहाँ 'यह चोर स्थाणु है' इत्यादि वाक्यों के समान बाधसामानाधिकरण्य ही माना जाता है, मुख्यार्थसामानाधिकरण्य नहीं होता। ऐसी अवस्था में यह क्षुद्र अहन्ता भी ब्रह्मस्वरूप कैसे होगी।।१७।।

यद्यपि श्रुति ने 'त्वं ब्रह्म' यह कहा है, केवल इसी आधार पर त्वं ही को परम ब्रह्म मान लेना ठीक नहीं। क्योंकि उस ब्रह्म को त्वं ही क्योंकर कहा जाय? जिस उसमें त्वन्ता है ही नहीं।

(१) स्वप्रत्यक्ष, (२) स्वभिन्न तथा (३) स्वसन्निहित ये तीन अर्थ त्वं शब्द के कहे जाते हैं। इसके विरुद्ध देश काल तथा वस्तुकृत परिच्छेद से रहित सच्चिदानन्दघनरूप ब्रह्म का अर्थ माना जाता है। 'त्वं ब्रह्म' इस श्रुति ने इन दोनों का सामानाधिकरण्य कहा है। तब क्या इसके अनुसार त्वंशब्दार्थ ही ब्रह्म मान लेना चाहिये? ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि वह ब्रह्म त्वं भी कैसे हो? क्योंकि इन दोनों का परस्पर अत्यन्त विरोध देखा जाता है। फिर इन दोनों का ऐक्य ही कैसे हो? उस ब्रह्म में त्वन्ता का होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। श्रुति का तात्पर्य तो 'यह चोर स्थाणु है' इत्यादि वाक्यों की तरह बाधसामानाधिकरण्य में ही होता है। मुख्य सामानाधिकरण्य यहाँ पर भी नहीं होता।।१८।।

'तद्ब्रह्मे'ति श्रुतेर्वक्तुं तद्ब्रह्मेति न शक्यते।
अत्यन्ताव्यवधाने हि परोक्षमिव तत्कथम्।।१९।। (८६३)

ननु तर्हि 'तद्ब्रह्मे'ति श्रुतेस्तत्पदार्थस्यैव परोक्षत्वादिविशिष्टस्य ब्रह्मत्वमस्तु इति शङ्कते **तद् इति। 'तद्ब्रह्मे'ति श्रुतेः** तत्पदार्थस्य परोक्षत्वावच्छिन्नस्य ब्रह्मशब्दार्थस्य च देशाद्यपरिच्छिन्नस्य सामानाधिकरण्यस्य प्रतीयमानत्वेनैक्यप्रतीतेः, **तत्** तत्पदार्थः परोक्षत्वविशिष्ट एव, **ब्रह्म** ब्रह्मशब्दार्थो देशाद्यपरिच्छिन्नत्वलक्षणलक्षितोऽस्तु भवतु, **इति** चेत्? **न** इत्याह **इतीति। इति** एवं, **वक्तुं** कथितुं, **न शक्यते** न युज्यते। कुत इत्यत आह **अत्यन्तेति। हि** यस्मात्कारणाद्, **अत्यन्ताव्यवधाने** अत्यन्तमतिशयितमव्यवधानं व्यवधानाभावो यस्मिन् ब्रह्मणि तस्मिन् **परोक्षमिव** तत्पदवाच्यत्वं परोक्षवत्, **तत्** इति वाचकं पदं, **कथं** केन प्रकारेण युक्तं स्यान्न कथमपीत्यर्थः, ब्रह्मशब्दार्थस्य देशाद्यपरिच्छिन्नस्य तत्पदार्थस्य च परोक्षदेशपरिच्छिन्नस्य परस्परं विरोधात्तत्रापि वाच्यांशपरित्यागे बाधसामानाधिकरण्येन प्रयोगान्न तत्पदार्थब्रह्मणोः मुख्यं सामानाधिकरण्यमतो न तत्पदार्थस्य ब्रह्मपदार्थतेति भावः।।१९।। (८६३)

'तद्ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार उस ब्रह्म को तद् कहना भी ठीक नहीं होता। क्योंकि सदा अत्यन्त अव्यवहित रहने वाले उस ब्रह्म में परोक्षता कैसे हो?

तत् शब्द को परोक्षार्थक कहा जाता है, ब्रह्म शब्द का देशादि से अपरिच्छिन्न अर्थ प्रसिद्ध ही है। उन दोनों की एकता का बोध कराने से ब्रह्म को तत्पदार्थ ही मान लेना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। क्योंकि वह ब्रह्म सब के ही अत्यन्त अव्यवहित (समीप) होता है। फिर उसको परोक्ष (वाचक तत्पद का वाच्य) भी कैसे कहा जाय? क्योंकि ब्रह्मशब्दार्थ तथा तत्पदार्थ का परस्पर अत्यन्त विरोध है। तद्ब्रह्म इत्यादि श्रुतियों में भी तत्पद के वाच्यांश को छोड़कर ऊपर के विवेचन के समान बाधसामानाधिकरण्य ही देखा जाता है। तत्पदार्थ और ब्रह्म का मुख्य सामानाधिकरण्य कदापि सम्भव नहीं होता, इसलिये ब्रह्म तत्पदवाच्य भी कभी नहीं हो सकता।।१९।।

मोहनिद्रा के नष्ट हो जाने पर तथा मन के गल जाने पर जो कोई तत्त्व शेष रह गया है वही परब्रह्म है, परन्तु वहाँ मन, वाणी की पहुँच नहीं है। यही कारण है कि उसका कोई नाम भी रक्खा नहीं जा सकता।

प्रपंचरूपी स्वप्न का जो बीज कहाती है, स्वरूप का जिसने विस्मरण करा दिया है। जब किसी अधिकारी की ऐसी नींद का भंग हो जाय, और जबकि उसका मन भी गल चुका हो, तब यह जो विद्वानों के अनुभव में आने वाला (अज्ञानाभाव तथा मानसाभाव दोनों का साक्षी) एक तत्त्व शेष रह जाता है वही तो परब्रह्म कहाता है। वह तत्त्व क्योंकि स्वयंप्रकाश सद्रूप तथा निर्गुण है इसलिये उस तक मन तथा वाणी नहीं

नष्टायां मोहनिद्रायां गलिते मानसे मुनेः।
यच्छिष्टं तत्परं ब्रह्म मनोवाचामगोचरम्।।२०।। (८६४)
चर्चितुं योग्यया भूयस्त्वनया चर्चया बुधाः।
चर्चयन्तु परं ब्रह्म तुष्यन्तु च रमन्तु च।।२१।। (८६५)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे ब्रह्मचर्चाविंशतिः षड्विंशः।।

ननु तर्हि तद्ब्रह्म किंरूपं तत्कथयेत्याशङ्कायामाह **नष्टायामिति। मोहनिद्रायां** मोहोऽज्ञानमेव निद्रा स्वरूपविस्मृतिहेतुत्वात् प्रपञ्चस्वप्नबीजत्वाच्च सुषुप्तिस्तस्यां, **नष्टायां** विलीनायां सत्यां, तथा **मुनेः** मननवतो विवेकिन इत्यर्थः। **मानसे** मन एव मानसं तस्मिन्, **गलिते** नष्टे सति, **यद्** विद्वत्प्रत्यक्षं, **शिष्टं** अवशिष्टं, **तद्** अज्ञानमानसाभावसाक्षित्वेनोपलक्षितं तत्, **परं** कार्यकारणातीतं, **ब्रह्म** देशाद्यपरिच्छिन्नं वस्तु, अस्ति तच्च **मनोवाचां** मनसो वाचाञ्च, **अगोचरम्** अरूपत्वान्मनसो वाचश्चाविषयं स्वयंप्रकाशसद्रूपत्वाच्च निर्गुणत्वाच्चास्तीति निश्चेतव्यमिति भावः।।२०।। (८६४)

इदानीमेतत्प्रकरणविचारपूर्वं पाठकानाशीर्वादयति **चर्चितुमिति। बुधा** विवेकिनः, **चर्चितुं** संवादयितुं, **योग्यया** अर्हया, **अनया तु** सर्वमन्यत्कथनं परित्यज्यैतयैव केवलं, **चर्चया** ब्रह्मविषयककथनरूपप्रक्रियया, **तु**पदेनास्या लौकिकवैदिकसर्वचर्चाभ्यो वैलक्षण्यं सूचितम्, अत एवात्रादरो विधेय इत्याशयः। **भूयः** पुनः, **परं** कार्यकारणातीतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, अस्ति तच्च **चर्चयन्तु** अन्योन्यं संवादयन्तु, तेन संवादेन च **तुष्यन्तु** सन्तोषं प्राप्नुवन्तु, **रमन्तु च** अनेन संवादेनैव क्रीडन्तु।।२१।। (८६५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ ब्रह्मचर्चाविंशत्यर्थप्रकाशः षड्विंशः।।२६।।

पहुँचती। उसका प्रकाश करने में मन तथा वाणी की आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि वह तो स्वयंप्रकाशस्वरूप है। कुछ क्षण के लिये कल्पना कर लो कि आपकी मोहनिद्रा का भंग हो चुका है और आपका मन भी गल गया है। अब जो तत्त्व शेष रह गया है बस इसी को परब्रह्म समझ लो। परन्तु इस तत्त्व का निरूपण करने में कठिनाई यह है कि इसके मिल जाने पर इसका निरूपण करने वाले शब्दों का मिलना तथा शब्द संग्रह करने वाले मन को रहना दोनों ही असम्भव हो जाते हैं। इस तत्त्व का निरूपण करने के लिये शब्दशास्त्र कंगला हो जाता है।।२०।।

बुद्धिमान् पुरुषों को उचित है कि (और सब लौकिक वैदिक चर्चाओं को छोड़कर) चर्चा करने योग्य केवल इसी ब्रह्मविषयक चर्चा के द्वारा परब्रह्म के विषय में ही आपस में संवाद किया करें। (उस संवाद को ही परम पुरुषार्थ समझ कर) संतोष को प्राप्त हों तथा (कृतकृत्य होकर) इस संवाद में अपना मन लगायें।।२१।।

कोई यह शंका कर सकता है कि जब व्यवहारकाल में मुमुक्षु का अहंकार बना रहता है, तो उसके रहते हुए ब्रह्मात्मा में किसी की तदाकारवृत्ति कैसे हो? उसका

अथ स्वेच्छाचारचतुष्टयी

श्रोतव्या श्रीमता साधो नूनमेकाग्रचेतसा।
परमार्थस्य सर्वस्वं स्वेच्छाचारचतुष्टयी।।१।। (८६६)

एवं ब्रह्मचर्चां निरूप्येदानीं तत्रैव

नष्टायां मोहनिद्रायां गलिते मानसे मुने।
यच्छिष्टं तत्परं ब्रह्म मनोवाचामगोचरमिति।।

अनेन मोहमनसोर्लयसाक्षित्वेन लक्षणेन यल्लक्षयितुं तत्रैव तदाकारा वृत्तिर्व्यवहारे सति मुमक्षोरहंकारावशिष्टत्वेन न स्यादितीमामाशङ्कां शिष्यस्यालक्ष्य, ज्ञानोत्तरं यावत्प्रारब्धशेषमहंकारस्य विद्यमानत्वेपि क्रमतस्तदनादरेण स्वरूपप्रेमवृद्ध्या तन्नाशोपि स्यादित्यर्थं सम्भावयितुं तत्सत्त्वस्य् समाध्यविरोधित्वदर्शनाय **स्वेच्छाचारचतुष्टय्याख्यं** चतुःश्लोकं प्रकरणं वक्तुकाम आह **अथेति**। **अथ** ब्रह्मचर्चाविंशतिनिरूपणानन्तरं, **स्वेच्छाचारचतुष्टयी** स्वेच्छाचारप्रतिपादकं श्लोकचतुष्करूपं प्रकरणं निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ एतत्प्रकरणश्रवणं तच्छ्रैष्ठ्यनिरूपणपूर्वकमादरकर्त्तव्यतां विधत्ते **श्रोतव्येति**। हे **साधो** पूर्वोक्तब्रह्मणि चित्तस्थैर्यसाधक। अनेन संबोधनेनैतत्प्रकरणश्रवणेधिकारिता सूचिता, **श्रीमता** वैराग्यादिसाधनसंपद्वता त्वयाऽन्येनापि वा कर्त्रा, **एकाग्रचेतसा** एकं स्वगतसजातीयविजातीयभेदशून्यं ब्रह्माग्रे पुरोभागे विषयतया विद्यते यस्य तत्तथोक्तं तादृशेन चेतसान्तःकरणेन करणभूतेन, **परमार्थस्य** तात्त्विकार्थस्य, **सर्वस्वं** सर्वसंपद्रूपा, **स्वेच्छाचारचतुष्टयी** स्वेच्छाचारस्य निरूपिका चतुष्टयी चतुर्णां श्लोकानां समूहरूपा, एतदाख्यं प्रकरणमित्यर्थः, **श्रोतव्या** श्रवणविषया कर्त्तव्या।।१।। (८६६)

उत्तर यह है किआत्मदर्शन हो जाने पर जब तक किसी के प्रारब्धकर्म शेष रहते हैं, तब तक चाहे अहंकार बना भी रहे, परन्तु आत्मस्थिरता की क्रमवृद्धि के अनुसार वह ज्ञानी उस अहंकार का अनादर करने लगता है। तथा उस (ज्ञानी) का स्वरूपप्रेम बढ़ने लगता है, अन्त में क्रमानुसार उस अहंकार का नाश भी हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानी का अहंकार समाधि का विरोधी नहीं रहता। यही बात इस 'स्वेच्छाचारचतुष्टयी' में बतायी गयी है।

हे साधो, वैराग्य आदि सम्पत्ति वाले तुझ श्रीमान् को एकाग्रचित्त होकर परमार्थ का निष्कर्ष (सार) स्वेच्छाचारचतुष्टयी नाम का यह प्रकरण सुन लेना चाहिये।।१।।

अपने भर्ता को छोड़कर, पति के घर में रहकर ही, अपने पति को अपने प्रपंच से ठगकर, चतुरा नाम की कोई व्यभिचारिणी, जार के साथ रमण करती है।

अहंकार ही इस बुद्धि का पालक होने से पति कहाता है। उस अहंकार नाम के पति को छोड़ कर शरीररूपी अथवा इन्द्रियरूपी गृह में वास करती हुई, अपने पतिरूपी

निजं पतिं परित्यज्य गृहस्थैव प्रपञ्चती।
पत्या परेण रमते चतुराख्याभिचारिणी।।२।। (८६७)
अहङ्कारं पृथक्कृत्य तुर्यबुद्धिर्दिने दिने।
पत्या परेण रमते पुंश्चली परसङ्गिनी।।३।। (८६८)

प्रतिज्ञातमेव स्वेच्छाचारं रूपकेणाह **निजमिति**। व्यक्तार्थस्तावत् **निजं** स्वकीयं, **पतिं** भर्तारं, **परित्यज्य** विहाय, **गृहस्थैव** निजपतिनिर्मिते गृहे स्थिता सत्येव, **प्रपञ्चती** स्वपतिवञ्चनशीला, **चतुराख्या** चतुरेत्येवमाख्याऽऽह्वा यस्याः सा तथोक्ता चतुरानाम्नी काचिद्, **अभिचारिणी** व्यभिचारिणी स्त्री, **परेण** अन्येन पत्या जारेण सह, **रमते** क्रीडति। प्रकृतार्थे तु, **निजं** स्वीयं, **पतिं** पातीति पतिः 'पातेर्डतिः' बुद्धेः पालकत्वादहंकारस्य बुद्धेः पतित्वं तं, **परित्यज्य** विहाय, **गृहस्थैव** गृह्यते स्वात्मतयाङ्गी क्रियते इति गृहं शरीरं तत्र स्था स्थितैव, यद्वा गृहेष्विन्द्रियेषु स्थितैव, प्रपञ्चती स्वपतिरहङ्कारस्तद्वञ्चनपरा, चतुराख्या चतुरा तुर्या इत्याख्याऽऽह्वा यस्याः सा तथोक्ता, **अभितः** सर्वतः, **चरितुं** गन्तुं शीलमात्मन्यस्याः सा तथोक्ता बुद्धिस्तुर्यानाम्नी जीवन्मुक्तबुद्धिरित्यर्थः, **परेण** कार्यकारणातीतेन, **पत्या** पाति स्वसच्चित्सुखदानेन रक्षतीति पतिःब्रह्म भिन्नः प्रत्यगात्मा तेन सहैकी भूय **रमते** क्रीडतीति।।२।। (८६७)

किञ्च **अहङ्कारमिति। तुर्यबुद्धिः** तुर्येव जातिकुलाभिमानशून्या, **बुद्धिः** मतिर्यस्याः सा तथोक्ताऽत एव, **पुंश्चली** पुरुषेषु चलितुं गन्तुं शीलमस्याः सा तथोक्ता व्यभिचारिणीत्यर्थः, अत एवं **परसङ्गिनी** परस्यान्यपुरुषस्य सङ्गः सम्बन्धो भोगोऽस्या अस्तीति सा तथोक्ता, 'सुप्यजातावि'ति णिनिः, एतादृशी काचित्स्त्री, **अहङ्कारं** पितृमातृकुलजात्यभिमानं, **पृथक्कृत्य** स्वान्तःकरणान्निरस्य, **दिने दिने** प्रतिदिनं सर्वदेत्यर्थः। **परेण** अन्येन, पत्या पुरुषेण जारेणेत्यर्थः। सह रमते क्रीडति यथा। तद्वत्प्रकृतेपि, तद्यथा **तुर्यबुद्धिः** तुर्याख्या बुद्धिर्मतिः, **पुंश्चली** पुंसः पुरुषाद्देहाभिमानवतो अहंकार को धोखा देकर चतुरा (तुर्या=चतुर्थी) नामक जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धि, अपने सत् चित् तथा आनन्द का दान देकर पालन करने वाले कार्यकारणातीत प्रत्यगात्मारूप पर-पति के साथ रमण किया करती है। मूर्ख पति के समान उस अहंकार को इसके पररमण का ज्ञान तक नहीं होता।।२।।

परपुरुष का सङ्ग करने वाली स्त्री, अपने जात्यभिमान तथा मातृपितृकुलाभिमान की कुछ परवा न करके अहंकार (स्वाभिमान) को अपने अन्तःकरण में से निकाल कर, प्रतिदिन जार पुरुष के साथ रमण किया करती है।

इसी प्रकार तुर्याबुद्धिरूपी पुंश्चली (देहाभिमानी जीव से बचने वाली) होने के कारण परसङ्गिनी (कार्यकारणातीत ब्रह्माभिन्न प्रत्यगात्मा के साथ समागम करने वाली) होकर अहंकार को अलग रख कर अर्थात् देहाभिमान वर्णाभिमान आश्रमाभिमान कुलाभिमान तथा जात्यभिमान को अपने से पृथक् जानकर प्रतिक्षण ही परपति के साथ रमण करती है।।३।।

पश्चात्तु स्त्रीजितः सोपि प्रतिकर्त्तुमनीश्वरः।
अस्याः सम्भोगवेलायां गृहं सन्त्यज्य गच्छति।।४।। (८६६)

जीवादिति यावच्चलितुमात्मानं प्रति गन्तुं शीलमस्याः सा तथोक्ता, अत एव **परसङ्गिनी** परस्य कार्यकारणातीतस्य ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मनः सङ्गः समागमो विद्यते यस्याः सा तथोक्ता, अत एव **अहङ्कारं** देहवर्णाश्रमकुलजात्यभिमानं, **पृथक्कृत्य** आत्मनः स्वतश्च भिन्नत्वेनानुभूय, दिने दिने इत्युपलक्षणं प्रतिक्षणमित्यर्थः। **परेण** कार्यकारणातीतेन, **पत्या** पाति स्वसच्चित्सुखदानेन रक्षति बुद्धिमिति पतिः बुद्धिरक्षकः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, 'कोह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्, एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः, तेन सह **रमते** क्रीडति आत्मना सहैकीभूय स्वात्मसुखमनुभवतीति भावः।।३।। (८६८)

ननु स पुरुषः स्वस्त्रीं परपुरुषसङ्गात्कुतो न निवारयति तद्व्यभिचारं च कथमवलोकयति? तत्राह **पश्चादिति। सोपि** तदीयपतिरपि, **स्त्रीजितः** स्त्रिया भार्यया वशीकरणेन बलवत्परपुरूषाश्रयणेन वा जितः सामर्थ्यहीनः कृतः सन्, पश्चाद् अनन्तरं बलवतीं तां स्त्रियं, **प्रतिकर्तुं** ताडनादिना निवारयितुं, **अनीश्वरो** असमर्थो भवति, तु पुनः, अस्याः स्वस्त्रियाः, **सम्भोगवेलायां** सम्भोगस्य परपुरुषसङ्गस्य वेलायां समये, **गृहं** मन्दिरं, **सन्त्यज्य** विहाय, **गच्छति** याति न तु तदवलोकयतीति भावः। प्रकृतार्थे तु, सोपि अहङ्कारोपि, आत्मानुसन्धानरतां पूर्ववन्निवार्य स्वानुसन्धानवतीं कुतो न करोतीति चेत्तत्राह **पश्चादिति। सोपि** अहङ्कारोपि, **स्त्रीजितः** शब्दमात्ररूपया बुद्ध्या जितोऽसत्त्वेन तुच्छत्वेन चावलोकितः सन् वाचारम्भणश्रुत्या वाङ्मात्रत्वप्रतिपादनात् स्त्यायतेः शब्दार्थत्वात्तत्प्रकृतिकत्वाच्च स्त्रीशब्दस्य, तद्वाच्यतुर्यबुद्धेरपि वाङ्मात्रत्वं, **पश्चाद्** अनन्तरं, तां स्त्रियं शब्दमात्रां बुद्धिं **प्रतिकर्तुं** आत्मानुसन्धानान्निवारयितुं स्वानुसन्धानवतीं कर्तुमित्यर्थः, **अनीश्वरो** असमर्थो भवति प्रमाणजन्यज्ञानस्य भ्रमज्ञानेन बाधाशक्तेरिति भावः। **तु** पुनरस्याः तुर्याख्यबुद्धेः, **सम्भोगवेलायां** सम्भोगस्य स्वात्मानुसन्धानरूपभोगस्य वेला समयस्तस्मिन् विद्यमाने सति, **गृहं** 'शरीरं गृहमुच्यत' इत्याचार्योक्तेः, गृह्यते स्वात्मतयाङ्गीक्रियते इति गृहं शरीरं, तथात्रैव च 'गृहं देहः पतिर्जीव' इत्युक्तेश्च **सन्त्यज्य** परित्यज्य, **गच्छति** विलीनो भवति, अतस्तुर्याख्यबुद्धौ स्वात्मानुसन्धाने स्वेच्छाचारः सिद्ध इति भावः।।४।। (८६९)

पीछे से तो स्त्री से जीत लिया हुआ वह कुछ प्रतिकार न कर सकने पर, यह करता है कि इसके संभोग के समय घर को छोड़ कर चल देता है।

प्रकृतयदि पूछो, वह अहंकार आत्मानुसन्धान में लगी हुई अपनी बुद्धिरूपी स्त्री को पहले (अज्ञानवस्था) की तरह हटाकर अपना ही ध्यान क्यों नहीं कराता? तो उसका उत्तर है किवह अहंकार बुद्धिरूपी स्त्री से असत् तथा तुच्छ दृष्टि से देखा जाने के कारण पराजित होकर, उसको आत्मानुसन्धान से हटाने में असमर्थ हो जाता है। जब कि इस तुर्या नामक बुद्धि का (स्वात्मानुसन्धानरूपी) भोगकाल आता है तो वही अहंकार देहरूपी घर को छोड़ कर विलीन हो जाता है। फिर तो वह तुर्यानामक

ईदृशे व्यवहारे तु दाम्पत्यं वद कीदृशम्।
दिनैः कतिपयैरेव स्वेच्छाचारः प्रवर्त्तते।।५।। (८७०)

नन्वेतादृशे स्त्रीपुरुषव्यवहारेपि पत्युर्गृहत्यागाभावात्संसारजन्यसुखदुःखादिसत्त्वाच्च पूर्ववद्दंपतीभावः स्यादित्याशङ्क्याह **ईदृश इति। ईदृश** उक्तलक्षणे, व्यवहारे स्वस्त्रिया सह स्वगृहे वर्तने सत्यपि, **दाम्पत्यं** दम्पत्योर्जायापत्योर्भावः सत्ता कर्म वा दाम्पत्यं स्त्रीपुरुषसङ्गसुखमित्यर्थः, **कीदृशं** कथं स्यात्तत्, **वद** ब्रूहि, येन तदासक्तिर्भवेत्? सर्वदा तस्य दुःखमिश्रितत्वाद् दुःखमेवेति भावः। अतस्तदनासक्त्यैव **तु** पुनः, **कतिपयैरेव** कतिचित्सङ्ख्यैरेव, **दिनैः** दिवसैः, **स्वेच्छाचारः** सर्वलौकिकधर्ममनादृत्योभयोरपि स्वेच्छाचारः स्वेच्छा-पूर्वकमाचरणं यथेष्टाचार इत्यर्थः, **प्रवर्त्तते** शीघ्रमेव भविष्यतीत्यर्थः, वर्त्तमानसामीप्ये वर्तमानप्रयोगः। प्रकृतार्थे तु अहङ्कारस्य बुद्धेश्च विद्यमानत्वेपि तत्सम्बन्धेन क्वचित्संसारोद्भवोपि स्यादित्याशङ्क्याह **ईदृश इति। ईदृशे** अहङ्कारानादरेणात्मना सह रमणलक्षणे, **व्यवहारे** वर्त्तमाने सति, **दाम्पत्यं** जायते उत्पद्यते संसारोऽस्यामिति जाया बुद्धिः सा च पतिश्च बुद्धिपालकोहङ्कारस्तयोः कर्म संसारोद्भावनरूपं दाम्पत्यं, **कीदृशं** कथं, स्यात्तद् **वद** ब्रूहि, उभयोरन्योन्यसक्त्यभावे बुद्ध्या तत्तुच्छत्वे च विनिश्चिते न संसारोद्भव इति भावः, किञ्च **तु** पुनः, **कतिपयैरेव** कतिचित्सङ्ख्यैरपि, **दिनैः** दिवसैः, **स्वेच्छचारः** स्वेच्छयाऽऽचारो व्यवहारोऽहङ्कारस्य विधिनिषेधातीतत्वेन बुद्धेश्च तद्रोधकाहङ्कारौदास्य आत्मचिन्तननैरन्तर्यरूपः स्वेच्छापूर्वक एव **प्रवर्त्तते** भविष्यति।।५।। (८७०)

बुद्धि भी बेधड़क होकर स्वात्मानुसन्धान करने लगती है। क्योंकि उस काल में उसको आत्मानुसन्धान से रोकने वाला ही कोई शेष नहीं रह जाता।।४।।

(अपने ही घर में अपनी ही स्त्री के साथ) ऐसा व्यवहार होने पर भला दाम्पत्यसुख कैसे रह सकता है। (तथा क्योंकर उस दुःखमिश्रित दाम्पत्यसुख में किसी समझदार की आसक्ति हो सकती है! इस प्रकार अनासक्ति होते होते उसका परिणाम यह निकलता है कि) फिर कुछ ही दिनों में वे दोनों पति-पत्नी अपने सब लौकिक धर्मों (फर्जों-कर्तव्यों) को छोड़कर यथेष्टाचारी हो जाते हैं (और वह घर बिगड़ जाता है)।

प्रकृतअहंकाररूपी निज पति की कुछ परवाह न करके परमात्मा के साथ रमण होने पर अहंकार तथा बुद्धि का दाम्पत्य सुख कैसे रहे यह बताओ? तात्पर्यसंसार की उत्पत्ति का स्थान होने से बुद्धि को जाया कहा जाता है। बुद्धि का पालक अहंकार उसका लौकिक पति कहाता है। वे दोनों मिलकर संसारोद्भावनरूपी कर्म करते रहते हैं। परन्तु जब कि यह बुद्धि उस अपने लौकिक पति (अहंकार) की परवाह ही न करेगी तो भला दाम्पत्यसुख किस प्रकार स्थिर रह सकेगा? जब दोनों की परस्पर आसक्ति ही न रहेगी और बुद्धि उस अहंकार को एक तुच्छ पदार्थ समझ लेगी तो फिर संसार की उत्पत्ति ही कैसे होगी? इस सब का स्वाभाविक परिणाम यह निकलेगा कि फिर कुछ ही दिनों में स्वेच्छापूर्वक निरन्तर आत्मचिन्तन चलने लगेगाफिर संसार की उत्पत्ति की शंका को स्थान ही कहाँ मिलेगा।।५।।

स्वानुभवानां सत्यपि बाधिताहङ्कारे समाधिभङ्गो नास्तीत्यर्थः।।६।। (८७१)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे स्वेच्छाचारचतुष्टयी सप्तविंशः।।२७।।

इदानीम् एतत्प्रकरणतात्पर्यजिज्ञासुबुद्ध्यारोहाय स्पष्टमाह गद्येन **स्वानुभवानामिति। स्वानुभवानां** स्वः स्वीय आत्मविषयकोऽनुभवोऽनुभूतिः, यद्वा तस्याप्यात्मनः पृथगसत्त्वात् स्वात्मभूतोऽनुभवो येषामस्ति ते तथोक्तास्तेषां जीवन्मुक्तानां व्यवहारकाले, **बाधिताहङ्कारे** बाधितोऽसत्त्वेन निश्चितो योऽहङ्कारोऽहङ्कृतिस्तस्मिन्, **सत्यपि** विद्यमानेपि, **समाधिभङ्गः** समाधेः स्वात्माकारवृत्तिलक्षणस्य परपुरुषासक्तस्त्रीपरपुरुषसङ्गसुखाकारवृत्तेरिव स्नेहातिशयाद् **भङ्गो** नाशो, **नास्ति** न भवति इत्येवमर्थोऽस्य प्रकरणस्य ज्ञेयः।।६।। (८७१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ स्वेच्छाचारार्थप्रकाशः सप्तविंशः।।२७।।

एवं स्वेच्छाचारपञ्चकं निरूप्येदानीं ज्ञानिषु व्यवहारकालेऽहङ्कारसत्त्वेपि तस्य बाधितत्वेनाबाधकत्वं दार्शितमेव द्रढयितुं सदृष्टान्तमहङ्कारस्याबाधकत्वप्रदर्शनत्रय्याख्यं त्रिश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथेति। अथ** स्वेच्छाचारपञ्चकनिरूपणानन्तरं, **अहङ्काराबाधकत्व-प्रदर्शनत्रयी** अहङ्कारस्य अहंकृतेर्यदबाधकत्वमुक्तं तदेव प्रदर्श्यतेऽनया सा तादृशी त्रयी त्रयाणां श्लोकानां समाहारस्त्रयी एतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यत इति शेषः। तत्र तावदादौ दृष्टान्तमाह सार्धेन **भित्तीति। बालः** अव्युत्पन्नो डिम्भो, **भित्तिचित्रकृतं** भित्तौ कुड्ये यानि चित्राणि तेषु कृतं लिखितं, **सर्पं** भुजङ्गं, **दृष्ट्वा** अवलोक्य, **पलायते** ततः स्थानात्त्वरयाऽपसर्पति, यदा तदा **केनचिद्** अन्येन, **बालकेन** किञ्चिद्व्युत्पन्नेन पोतेन **अयं** भवद्दृष्टः, **चित्रसर्पः** चित्ररूपः सर्पो, भुजङ्गोऽस्तीत्युतेत्येवं प्रकारेण **उक्तं** कथितम्।।१।। (८७२)

तत इति। असौ बालः, **ततः प्रभृति** तं कालमारभ्य, **विद्वान्** सर्पमिथ्यात्वज्ञानवान् ततोन्यत्र सत्यसर्पे सर्पसत्त्वज्ञानवान्, **तेनैव** मिथ्यात्वेन ज्ञातेन चित्रसर्पेण, **सह एव** साकमेव, **खेलति** क्रीडति यथा। दार्ष्टान्तिकमाह **तथा इति**। तद्वत् तथा **मूढः** अज्ञानी, **आत्मस्थम्** आत्मनि प्रत्यगात्मनि **स्थम्** अधिष्ठितम्, **अहङ्कारम्** अहंकृतिं, **श्रुत्वा** शास्त्रोक्तं श्रवणेन निश्चित्य **पलायते** तद्भयेन समाधौ लीनो भवति।।२।। (८७३)

तत्रेति। तत्र अहङ्कारभाने तद्भये च, **सद्गुरुणा** सन्नहङ्कारादिजगन्मिथ्यात्वज्ञानपूर्वमात्मयाथार्थ्यज्ञानवान् यो गुरुर्महावाक्यद्वाराऽऽत्मयाथार्थ्यस्वरूपबोधकस्तेन, **इह** अहहङ्कारादिजगद्भाने, **चिदेव** चेतनमेव प्रत्यगात्मचैतन्यमेव केवलं, **अस्ति** विद्यते, **नेतरत्** तदन्यत्किमपि अहङ्कारादिकं

जिन महानुभावों को आत्मानुभव प्राप्त हो जाता है (किंवा अनुभव ही जिनका आत्मा हो जाता है) वे जीवन्मुक्त पुरुष जब व्यवहार में पड़ते हैं तब भी अहंकार को बाधित (असत्) समझे रहते हैं। (अपने गृहकार्य में लगे रहने पर भी परपुरुष में आसक्त स्त्री का परपुरुषप्रेम जिस प्रकार नष्ट नहीं होता इसी प्रकार) उस बाधित अहंकार के रहने पर भी उनका समाधि (स्वात्माकारवृत्ति में प्रेम की अधिकता) से व्युत्थान कभी नहीं होता।।६।।

अथाहङ्कारस्याबाधकत्वप्रदर्शनत्रयी

भित्तिचित्रकृतं सर्पं दृष्ट्वा बालः पलायते।
केन चिद्बालकेनोक्तं चित्रसर्पोयमित्युत।।१।। (८७२)
ततः प्रभृत्यसौ विद्वांस्तेनैव सह खेलति।
तथात्मस्थमहंकारं श्रुत्वा मूढः पलायते ।।२।। (८७३)
तत्र सद्गुरुणा प्रोक्तं चिदेवास्तीह नेतरत्।
ततः प्रभृत्यसौ विद्वांस्तेनैव सह खेलति।।३।। (८७४)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारेऽहङ्काराबाधकत्वप्रदर्शनत्रयी अष्टाविंशः।।२८।।

नास्तीत्येवं, प्रोक्तं कथितं, यदा तदा **ततः प्रभृति** तत्कालमारभ्य, **असौ** उक्तलक्षणो मूढः, पूर्वं स एव विद्वानहङ्कारादिमिथ्याज्ञानपूर्वमात्मयाथार्थ्यवेत्ता ज्ञान्यवस्थायां **तेनैव** अहङ्कारादिजगतापि **सह** साकं, बाधितत्वान्निःशङ्कं **खेलति** क्रीडति बाधिताहङ्कारस्य मुनौ बाधकत्वं नास्तीति भावः।।३।। (८७४)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तावहङ्काराबाधकत्वप्रदर्शनत्रय्यर्थप्रकाशोऽष्टाविंशः।।२८।।

अहंकार की अबाधकता को दिखाने वाले तीन श्लोकभित्ति के चित्रों में बने हुए साँप को देखकर अबोध बालक वहाँ से भाग जाता है, कोई समझदार बालक यदि उसे यह समझा दे कि यह तो चित्र का सर्प है तो वह उसे जान कर उसी से खेला करता है। इसी प्रकार आत्मा में स्थित अहंकार को देखकर उससे डरकर मूर्ख पुरुष (समाधि की ओर को) दौड़ता है। परन्तु जब कोई सद्गुरु उसे यह बता देता है कि (अहंकार कोई सत् पदार्थ ही नहीं है, यहाँ) केवल चित् ही एक सत्य पदार्थ है, फिर तो वह ज्ञानी होकर उसी अहंकार से खेलने लगता है।

अज्ञानी लोग आत्मा में स्थित अहंकार को देखकर उससे डर कर मूढसमाधि की ओर को भागा करते हैं। वे समझते हैं कि आँखें बन्द करके मन को सावधान कर लेने पर समाधि का सुख लेना ही प्रकृत सुख है। इसके लिये प्रयत्न करने पर कभी भी दुःख के दर्शन करने का प्रसङ्ग नहीं आता। तब क्या यही पारमार्थिक सुख नहीं है! ये ही सब बातें इस ज्ञानमार्ग में नवप्रविष्ट मुमुक्षु के हृदय में घूमा करती हैं। उसे जब कभी कोई दुःख चिन्ता किंवा रागद्वेषादि से कुछ कष्ट पहुँचता है त्यों ही वह अहंकार से डरकर समाधि की तरफ को दौड़ जाता है। परन्तु जब कोई सद्गुरु उसके इस अहंकार से उत्पन्न हुए भ्रम को पहचान जाता है, तो वह उसे यह जता देता है कि इस अहंकारादि के भान में केवल प्रत्यगात्मचैतन्य ही व्याप्त हो रहा है। अहंकारादि

अथ प्रश्नोत्तरमुक्ताफलद्वयम्

तत्र विषयवासनोवाच

अहिक्रीडा न कर्त्तव्या कर्त्तव्यं नात्मचिन्तनम्।
अहो जीव महामूढ मरणं ते भविष्यति।।१।। (८७५)

एवमहङ्काराबाधकत्वप्रदर्शनत्रयीं निरूप्येदानीमात्मचिन्तने स्वनाशभावनया तत्रानादरं जिज्ञासोरालक्ष्य तदभावं दर्शयितुं जीवविषयवासनासम्वादप्रतिपादकं प्रश्नोत्तरमुक्ताफलद्वयाख्यं प्रकरणं द्विश्लोकं निरूपयिष्यन्नाह **अथेति। अथ** अहङ्काराबाधकत्वप्रदर्शनत्रयीनिरूपणानन्तरं, कोई भी पदार्थ आत्मा से भिन्न होकर है ही नहीं। तब तो वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञाता हो कर उन्हीं अहंकारादि जगत्पदार्थों के साथ सर्वथा निःशंक होकर खेला करता है। फिर उसे यह इच्छा नहीं रहती कि मैं आँखों को बन्द करके किंवा मन को रोककर ही उस परमपद को पाऊँगा। तब तो उसे यह मालूम हो जाता है कि कोई कार्य कर लेने किंवा किसी प्रसंग को टाल देने से वह परमपद किसी के हाथ नहीं आ जाता। कहीं का जाना रोक देने किंवा कहीं एकान्त में चले जाने से वह परमपद किसी के अधिकार में नहीं आ जाता। यदि इन तुच्छ क्रियाओं से ही वह परमपद किसी के हाथ आता हो तो फिर उसे पूर्ण ही कैसे कहा जा सकता है? कौड़ी जितने आकार वाली आँखों को खोल देने, किंवा मन जैसी क्षुद्र वस्तु को खुला छोड़ देने से यदि उस परमपद का अन्तर्धान हो जाय तो फिर उसे पूर्ण कहना कदापि युक्तिसंगत नहीं होगा। जिसके एकचतुर्थांश में करोड़ों ब्रह्माण्ड भरे पड़े हैं, क्या भला वह परमपद किसी क्रिया से लुप्त हो सकता है? वह पद तो अपना निज स्वरूप ही है। सब आकारों का बाध करने पर बचा हुआ वह शुद्ध ज्ञान ही तो हमारा स्वरूपभूत परमपद है। वह किसी काल या क्रिया आदि की मर्यादा में बंधनेवाली वस्तु नहीं है। हमारे इस अहंकार तथा इससे उत्पन्न हुए अनेक कल्पनारूपी ईंधनों को यह आत्मरूपी अग्नि सदा ही आत्मरूप करती चली जा रही है। फिर क्या भला कभी भी ईंधन के देखने से अग्नि को भय हो सकता है! इसी प्रकार इस बाधित अहंकार के बने रहने पर भी उस ज्ञानी की मुनिवृत्ति का बाध नहीं होता। फिर तो उस ज्ञानी का मन जहाँ जहाँ जाता है उसको वहीं वहीं स्वयमेव समाधि होने लगती है। अज्ञानी लोगों की तरह उसके लिये समाधि कोई कर्तव्य पदार्थ नहीं रह जाती। क्योंकि यह समाधि तो आत्मा की स्वाभाविक स्थिति ही है।।१-३।।

यदि किसी मुमुक्षु को आत्मचिन्तन करते हुए अपने नाश की भावना उत्पन्न हो जाय और वह आत्मचिन्तन का अनादर करने पर उतारू हो जाय, तो उसकी शंका को हटाने के लिये जीव तथा विषयवासना के संवाद के रूप में उसका समाधान कहा जाता है

स जीव उवाच

अहिनानेन ये दष्टा अमरत्वं गता हि ते।
अस्यामृतमयी दंष्ट्रा तत्क्रीडाम्यमुनाहिना।।२।। (८७६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे प्रश्नोत्तरमुक्ताफलद्वयमेकोनत्रिंशः ।।२९।।

प्रश्नोत्तरमुक्ताफलद्वयं प्रश्नोनुयोगः, उत्तरं प्रतिवचनं, ते एव मुक्ताफले मौक्तिके तयोर्द्वयं युग्मम् एतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यत इति शेषः। तत्रादौ जीवं प्रति विषयवासनाप्रश्नं निरूपयितुमाह **तत्रेति। तत्र** आत्मनाशसम्भावनायां **विषयवासना** विषयाः शब्दस्पर्शादयस्तेषां वासनेच्छा, **उवाच** जीवं प्रतीति शेषः, कथयामास। किमुवाच तदाह **अहिक्रीडेति।** हे **महामूढ** हे महामूर्ख इति स्वेष्टनाशप्रतीत्याऽऽक्रन्दपूर्वकं संबोधनम्, **अहो जीव** अनेन संबोधनेन स्वजीवनहेतुत्वाज्जीवहितवक्तव्यता स्वस्य सूचिता, त्वया **अहिक्रीडा** अहिना सर्पेण स्वनाशकारणत्वात्सर्पसदृशेनात्मना सह क्रीडा रतिर्जीवनेच्छावता पुरुषेण सर्पेण साकं रतिरिव, **न कर्तव्या** न कार्या। तदेव स्पष्टमाह **आत्मचिन्तनमिति। आत्मनः** प्रत्यगभिन्न ब्रह्मणः, **चिन्तनं** स्मरणं, **न कर्तव्यं** न कार्यं, कुत इत्यत आह **मरणमिति। ते** तवोभयकरणेन, **मरणं** मृत्युः। **भविष्यति** भवेद् अत उभयमपि समानमतो न कार्यमित्याशयः।।१।। (८७५)

एवं प्रश्नमभिधायेदानीमुत्तरं वदन्नाह **स इति। स** उक्तरीत्या विषयवासनया पृष्टो जीवः, **उवाच** साधिष्ठानबुद्धिस्थश्चिदाभासः कथितवान्। किमुवाचेत्यत आह **अहिनेति। अनेन** आत्मस्वरूपेण, **अहिना** न हीयते नश्यतीत्यहिरविनाशिस्वरूपो जीवत्वनाशकत्वादहिरिव तेन, **ये** विरला, **दष्टा** भुक्ताः, **ते** पुरुषाः शुकादयः, **अमरत्वं** न विद्यते मरो मरणं यत्र तदमरं ब्रह्म तस्य भावस्तत्त्वं ब्रह्मत्वं, **गताः** प्राप्ता, ब्रहाभिन्ना जाता इत्यर्थः, **हि** प्रसिद्धमेतच्छ्रुतिषु विद्वत्सु च। **अथवा** न हिनस्ति नाशयतीति, **अहिः** जीवस्य जीवनहेतुत्वात् 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि' ति श्रुतेः, अन्यत्समानं; **तत्** तस्मात्कारणाद्, **अमुना** प्रत्यक्षेणाहिनाऽविनाशिस्वरूपेण मज्जीवनभूतेन चात्मना सह, **क्रीडामि** रमे। ननु सर्पदंशे मृत्युरेव भवतीति प्रसिद्धिस्तत् कथमेतदहिदंशेऽमरत्वप्राप्तिः सम्भाव्येत्याशङ्क्याह **अस्येति। अस्य** आत्मसर्पस्य, **दंष्ट्रा** दंशक्रियाकरणरूपा वृत्तिर्विवेकाख्या, **अमृतमयी**अमृतं मरणरहितं ब्रह्मात्मत्वमेव प्रधानं यस्यां सा तथोक्ताऽस्ति अत एतद्दंशेऽमरत्वप्राप्तिर्निश्चेतव्येति भावः।।२।। (८७६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ प्रश्नोत्तरमुक्ताफलद्वयार्थप्रकाश एकोनत्रिंशः।।२९।।

विषयों की इच्छा जीव से यों कहने लगीहे महामूर्ख जीव! तू साँप से खेल मत कर (सर्प के समान नष्ट कर डालने वाले आत्मा के साथ अपना नाता मत जोड़) उस प्रत्यगात्मा का चिन्तन मत कर। यदि तू आत्मचिन्तन करेगा (उसके साथ प्रेम जोड़ेगा) तो तेरा नाश हो जायगा। (इस आत्मसर्प के काट लेने पर तुझे ऐसी घोर मूर्छा आयेगी कि फिर तू कभी भी न उठ सकेगा और मर जायगा)।।१।।

अथ प्रश्नोत्तरचमत्कारत्रयी

यथापूर्वं न खेलन्ति यथापूर्वं हसन्ति न।
कैश्चित्कामादयः पृष्टाः भवन्तः किं हतप्रभाः।।१।। (८७७)

एवं प्रश्नोत्तरमुक्ताफलद्वयं निरूप्येदानीं पूर्वं ज्ञानिष्वहङ्कारस्याबाधकत्वमुक्तं तत्र ज्ञानिष्वहङ्कारस्य विद्यमानत्वे व्यवहारोपि स्यात् तस्मिंश्च सति पूर्ववत्कामादीनां बलं स्यादित्याशङ्क्य तां निराकर्तुं प्रश्नोत्तरचमत्कारत्रय्याख्यं त्रिश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथेति। अथ** प्रश्नोत्तरमुक्ताफलद्वयानन्तरं, **प्रश्नोत्तरचमत्कारत्रयी** प्रश्नश्चानुयोग उत्तरं च प्रतिवाक्यं तयोश्चमत्कारः कौतुकं विलास इत्यर्थः, तस्य प्रतिपादिका त्रयी श्लोकत्रयरूपा प्रक्रियैतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ मोहादीनां कामादीन्प्रति प्रश्नवचनमुदाहरति **यथापूर्वमिति**। भो कामादयो **भवन्तो यथापूर्वं** पूर्वकाले यथा यद्वत्खेलन्तः स्थितास्तथेदानीं, न खेलन्ति **न क्रीडन्ति**, किञ्च भवन्त इदानीं **हतप्रभा** हता नष्टा प्रभा येषां ते तथोक्ताः **किं** कुतः कारणादित्येवं **कैश्चिन्** मोहादिविकारैः, **कामादयः** कामोऽभिलाष आदिर्मुख्यो येषां ते, **पृष्टा** अनुयुक्ताः।।१।। (८७७)

कामादीनामिदानीं मोहादीन्प्रत्युत्तरं वदन्नाह **कामादय इति। कामादयः** कामोऽभिलाष आदिर्येषां क्रोधादीनां ते तथोक्तास्त, **ऊचुः** कथयामासुः। किमित्यत आह **अस्मानिति**। हे मोहादयो **या**

विषयवासना को उस ज्ञानी जीव ने यह उत्तर दियाइस साँप ने जिसको काटा वे सब अमर हो गये, इसकी दाढ़ में अमृत भरा हुआ है। इसलिये मैं तो इसी साँप से खेलता हूँ।

इस आत्मरूपी साँप ने जिस किसी भाग्यशाली शुकादि को काटा है, वे सब मरणरहित पद को प्राप्त हो गये (ब्रह्मीभूत हो चुके) हैं। मैं भी इस अविनाशिस्वरूप आत्मा के साथ ही रमण करता हूँ। इस आत्मसर्प की विवेकरूपी दंष्ट्रा में अमृत पद (ब्रह्मात्मता) भरा पड़ा है। इसके काट लेने पर अमर पद प्राप्त हो ही जायगा। साधक के बड़े भाग्यों के उदय होने पर ही इस आत्मसर्प से डसे जाने का शुभ प्रसंग आता है।।२।।

ज्ञानियों में अहंकार के रहने पर भी काम क्रोध आदि का बल नष्ट हो जाता है यह बात इस प्रकरण में बतायी गयी है।

एक बार किन्हीं (मोहादियों) ने कामादियों से पूछा कि अरे भाई, इसका क्या कारण है कि अब तुम पहले की तरह न तो खेलते ही हो और न पहले की तरह प्रसन्न ही रहते हो? किस कारण से अब तुम्हारी प्रभा नष्ट हो गयी है? (तुम्हारा तेज क्योंकर जाता रहा?)।।१।।

कामादय ऊचुः

अस्मान्पुष्णाति या नित्यं साऽस्माकं जननी मृता।
सुखलुब्धेन पित्रा नः काचिदन्या कृता वधूः।।२।। (८७८)
अस्मान्द्विष्यति सा नित्यं न पुष्णाति कदाचन।
दिनैः कतिपयैरेव गृहत्यागो भविष्यति।।३।। (८७९)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे प्रश्नोत्तरचमत्कारत्रयी त्रिंशः।।३०।।

अविद्या, **नित्यं** सर्वदा, **अस्मान्** कामादिविकारान्, **पुष्णाति** पालयति, **साऽस्माकं** कामादीनां, **जननी** माता, **मृता** नष्टा। ननु भवतां मातरि नष्टायामपि पितृतः पालनं भवतु? तत्राहुः **सुखलुब्धेनेति। नः** अस्माकं, **सुखलुब्धेन** सुखं स्त्रीभोगजन्यं लोके। परमार्थतस्तु विद्यासुखं तस्मिँल्लुब्ध आसक्तस्तेन, **पित्रा** अस्मत्पालनमनादृत्य पाति अस्मानिति पिता जनकोऽहङ्कारस्तेन, **काचिद्** अपूर्वाऽनिर्वचनीयेति यावद् **अन्या** द्वितीया विद्याख्या, वधूः स्त्री 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' त्यनेकार्थः, वधयति नाशयति सर्वमविद्याकृतं संसारमिति वधूर्विद्या **कृता** परिणीता संपादितेत्यर्थः।।२।। (८७८)

ननु सा भवतां पालनं कुर्यात्तत्राह **अस्मानिति। सा** सपत्नी माता, **अस्मान्** कामक्रोधादिविकारान्, **नित्यं** सर्वदैव, **द्विष्यति** द्वेष्टि दोषदृष्ट्याऽवलोकयतीत्यर्थः। किञ्च **सा** अविद्या, **अस्मान्** कामादीनविद्यापुत्रान्नः, **कदाचन** कस्मिन्नपि समये, **न पुष्णाति** नैव पालयति, किञ्चाऽतः **कतिपयैः** कतिचित्संख्यैः, **दिनैः** दिवसैः, अस्माकं कामादीनां **गृहत्याग** एव गृहं मन्दिरं शरीरं च तस्य त्यागो विसर्जनमपि, **भविष्यति** भवेद्विद्ययाऽविद्यानाशे कृतेप्यहङ्कारसत्त्वं कामादिपोषकं न भवति प्रत्युत विद्यासुखलोभेन तद्द्वेष एवातः क्रमेण कामादिविकारलय एव सम्भाव्य इति भावः।।३।। (८७९)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ प्रश्नोत्तरचमत्कारत्रय्यर्थप्रकाशस्त्रिंशः।।३०।।

कामक्रोधादियों ने उत्तर दियाजो हमें नित्य पालती थी वह हमारी (अविद्या) माता तो मर गयी, सुख के लोभी हमारे पिता ने दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया है। इससे वह अब हमारी परवाह (पालन) नहीं करती।।२।।

वह तो हमसे सदा द्वेष करती है। किसी समय भी हमारा गृहत्याग हो जायगा। हमारे पिता की वह नववधू हमारी विमाता हम कामादियों की तरफ सदा ही दोषदृष्टि से देखती है, तथा कभी भी हम अविद्यापुत्रों का पालन नहीं करती। इसका परिणाम यह होगा कि हम कामादियों को यह ज्ञानिशरीररूपी अपना घर ही छोड़ देना पड़ेगा। तात्पर्य है कि विद्या के प्रभाव से जब अविद्या का नाश हो जाता है फिर चाहे अहंकार बना भी रहे परन्तु फिर वह कामादियों का पोषण नहीं करता। प्रत्युत विद्यासुख के लोभ से उन कामादि के साथ उसको द्वेष ही हो जाता है। इस प्रकार पोषक न रहने पर क्रम से वे कामादि विकार स्वयमेव लीन हो जाते हैं।।३।।

अथ स्तनपानलीलाष्टकम्

श्रीगुरुरुवाच

उपमाता च माता च बाल! मातृद्वयं हि ते।
उपमातुः स्तनरसः कट्वम्लमधुतिक्तकः।।१।। (८८०)

एवं प्रश्नोत्तरचमत्कारत्रय्याहङ्कारसत्त्वेपि विद्वत्सु क्रमेण दृश्यमानकामादिनाशं सम्भावयित्वेदानीमहङ्कारसत्त्वेप्यहमवच्छिन्नस्य चिदाभासस्यापि विद्यायामेव रुचिमुत्पादयितुं स्तनपानलीलाष्टकाख्यमष्टश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथेति। अथ** प्रश्नोत्तरचमत्कारत्रयीनिरूपणानन्तरं, **स्तनपानलीलाष्टकं** स्तनयोः पानं स्तनपानं दुग्धपानमित्यर्थः, तद्रूपा लीला क्रीडा तस्याः प्रतिपादकमष्टकमष्टश्लोकसमूहरूपं प्रकरणं निरूप्यत इत्यर्थः।

तत्रादौ **श्रीगुरुः** वैराग्यादिस्वरूपसंपत्तिमान् हितोपदेष्टा, **उवाच** कथयामास। किं कथयामास? तत्राह **उपमातेति। हे बाल** हे पुत्र, **ते** तव, **हि** प्रसिद्धं, **मातृद्वयं** मात्रोर्जनन्योर्द्वयं युग्ममस्ति, ननु मातृत्वे समाने तयोर्भेदः किंनिबन्धनस्तत्राह **उपमातेति। उपमाता** च धात्री एका, **माता च** जननी च द्वितीया, पालकत्वेन मातृत्वे समानेऽपि पोषकत्वजनकत्वरूपवैलक्षण्येन भेदो ज्ञेय इति भावः। प्रकृतार्थे तु **हे बाल** हे मूढ, अनेन सम्बोधनेनोपमातृतुल्याविद्यास्तनरसतुल्यविषयरसासक्त्या मूढत्वं त्वयि विशिष्टमिति द्योतितं, **हि** प्रसिद्धं, **ते** तव साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्येत्यर्थः, **मातृद्वयं** मात्रोः परिच्छेदकारणरूपोपाध्योर्द्वयं द्विकमस्तीति ज्ञेयं। ननु परिच्छेदहेतुत्वं समानं, भेदहेतोर्वैलक्षण्याभावात्तदभावे च कथं तयोर्द्वित्वं सम्भाव्यं? तत्राह **उपमाता च इति। उपमाता च** उपमीयते परिच्छिद्यते, यद्वोपमीयत उपमाविषयीक्रियत आत्माऽनयेति उपमाताऽविद्या, **माता च** मीयते साक्षात्क्रियते जीवब्रह्मैक्यमनया सा माता विद्या च **चकारा**भ्यामत्यन्तं वैलक्षण्यं सूचितम्। एवं मातृभेदं प्रदर्श्येदानीं बालत्वादेवोपमातरि विशेषप्रीतिमालक्ष्य तत्राप्रीतिं, मातरि च प्रीतिं जनयितुमुपमातृस्तनरसस्वादं दर्शयति **उपमातुरिति**। हे बाल तव **उपमातुः** धात्र्याः, **स्तनरसः** स्तनयोः कुचयो रसो रस्यत आस्वाद्यत इति रसः पयः, **कट्वम्लमधुतिक्तकः** कट्वम्लमधु तीक्ष्णभक्षणात्कटुरम्लो मधुस्तिक्तश्चानेकरसोऽत एव चित्रद्वैतरसात्मकश्चित्रः अनेकरसो द्वैतरसो भिन्नास्वादरूपोऽस्ति।।१।। (८८०)

अहंकार के रहने पर भी विद्या में ही रुचि उत्पन्न करने के लिये इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है

हे बालक, तुझे पालने वाली दो मातायें हैं। एक उपमाता (धाय), दूसरी माता। तेरी उपमाता (धाय) के स्तनों का दूध कड़वा, खट्टा, मीठा तथा तीखा आदि बुरे स्वाद का है। उसके पान करने से वार्धक्य, निर्बलता, अकालमरण किंवा ऐसा मूढजीवन प्राप्त होगा कि जिससे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का उपार्जन नहीं कर सकोगे।

प्रकृत तात्पर्यअविद्यामाता के विषयरसरूपी दुग्धपान में फँसे हुए हे अज्ञानी

जरामरणसंसर्गी चित्रद्वैतरसात्मकः।
निजमाता तव तु या तन्माहात्म्यं वदाम्यहम्।।२।। (८८१)
सैव माता पिता सैव जगतामीश्वरी च सा।
सा गतिः सा परं तत्त्वं तत्परं नास्ति किञ्चन।।३।। (८८२)

स्वरूपं प्रदर्श्य फलमपि दर्शयति **जरेति। जरामरणसंसर्गी** जरा वार्धक्यं तत्सदृशं नैर्बल्यं वा मरणमपि अकालमरणं तत्सदृशं वा धर्मार्थकाममोक्षानुपयोगिमूढजीवनं वा ते संसृज्येते प्राप्येते अनेनेति स तथोक्तोऽस्मिन्नस्ति स तादृशो ज्ञेयः। प्रकृतार्थे तु हे बाल हे मूढ! त **उपमातुः** अविद्यायाः, **स्तनरसः** स्तन्यन्ते ध्वन्यन्ते नामभिः प्रतिपाद्यन्त इति स्तना इहलोकपरलोकभवा विषयास्तत्प्रापकसाधनप्रतिपादकानि शास्त्राणि च तेषां रसः सुखम्। तत्प्रतिपाद्यं च सुखं **कट्वम्लमधुतिक्तक** एवं कटुरम्लो मधुर्मधुरस्तिक्तकस्तीक्ष्ण, एवं **चित्रद्वैतरसात्मकः** चित्रमाश्चर्यरूपं यद्द्वैतं भेदस्तद्विशिष्टो यो रसः सुखमात्मा स्वरूपं यस्य स तथोक्तोऽस्ति। फलतोपि दोषं दर्शयति **जरा इति। जरा** वार्धक्यं,मरणं मृत्युः, ते संसृज्येते प्राप्येते अनेनेति स तथोक्तः सोऽस्मिन्नस्तीति स तथोक्तोऽस्ति, अतस्तदादरो नैव कार्य इति भावः। ननु मम मातुस्तर्हि किंस्वरूपं तद्वदेत्याशङ्क्याह **निजेति। तव** ते, **तु** शब्दोऽत्रोक्तोपमातृतोऽस्या वैलक्षण्यद्योतनार्थः, या त्वज्जातौ प्रसिद्धा **निजमाता** निजा स्वीया माता जनन्यस्ति, **तन्माहात्म्यं** तस्यास्त्वदीयमातुर्माहात्म्यं महत्त्वं **वदामि** कथयामि, **अहं** त्वदुपदेष्टा।

बालक! अविद्या तथा विद्या नाम की तुम्हारी दो माताएं हैं। इन दोनों ने ही तुम सर्वव्यापक को परिच्छिन्न (एक देश में कैद) कर रक्खा है। उनमें से पहली अविद्यारूपी उपमाता ने ही तुम्हारा परिच्छेद दृढ किया है। जिससे तुम्हें अपने साक्षात् स्वरूप का ज्ञान कभी नहीं होता। दूसरी विद्यारूपी माता है। वह यद्यपि परिच्छेद तो करती है परन्तु साथ ही तुम्हें तुम्हारे आत्मा का साक्षात्कार भी करा देती है। यही तो इन दोनों में बड़ा अन्तर है। तुम्हें उचित है कि अपनी उपमाता अविद्या के लोक परलोक के विषय रूपी स्तनों में से मिलनेवाले रस (सुख) को सर्वथा छोड़ दो। वह रस भोगने में अत्यन्त कड़वा, खट्टा, कभी-कभी मीठा, तथा अधिकतर तीखा ही होता है, उसको पान करने से जरा तथा मरण ये ही दो विषम फल हाथ लगते हैं।।१।।

हे बालक! यह जो तेरी अपनी माता है मैं उसकी महत्ता को तुझे समझाता हूँ। यही तो तेरी असली माता है। वह जननी ही तेरा पालनेवाला पिता है। सकल जगत् की ईश्वरी (सर्वाधिक पूज्य) भी तो यही माता है। बालकों की परमगति भी यही माता कहाती है। बालकों के लिये ब्रह्म के समान उपास्य होने से यह माता ही बालकों की अल्पदृष्टि में परम तत्त्व हो जाती है। अबोध बालकों के लिये उस माता से बढ़कर कोई भी पदार्थ संसार में नहीं होता।

उपमाता कुजातिस्ते माता तव सुजातिका।
तां कुजातिं परित्यज्य सुजातिं मातरं श्रय।।४।। (८८३)

तत्प्रतिज्ञातमेवाह **सैवेति। सैव** तव, **माता** जननी, इयं धात्री न जननीत्यर्थः, तथा तव **सैव** जनन्येव, **पिता** पालको जनक इत्यर्थः, **जगतां** सर्वेषामपि लोकानां, **ईश्वरी** धर्मशास्त्रे पूज्यत्वेन प्रतिपादिता, **सा** माता बालानां, **गतिः** शरणमस्ति, तथा सा माता **परं तत्त्वं** बालानामुपास्या परब्रह्मरूपाऽतो बालानां **तत्परं** ततो मातृतः परमन्यत्सेव्यं श्रेष्ठं, **नास्ति** न विद्यते, किञ्चन किमपि। प्रकृतार्थे तु **सैव** विद्यैव, **माता** मीयते साक्षादनुभूयते ब्रह्मानया सा माता, विद्यैव माता नान्येत्यर्थः। तथा **सैव** विद्यैव, **पिता** पालको मृत्युमुखरूपसंसाराद्रक्षकत्वादित्यर्थः। **च** पुनः, **जगतां** समस्तलोकानां, **ईश्वरी** ईश्वरोपाधित्वादीश्वररूपेण पूज्या, **सा** विद्यास्ति, **सा** विद्या **गतिः** मुमुक्षूणां शरणमस्ति, किं च **सा** विद्या, **परं** कार्यकारणातीतं, **तत्त्वं** अनारोपितं वस्तु अस्ति ब्रह्मेत्यर्थः। **तत्परं** ततो विद्यायाः परमन्यच्छ्रेष्ठं, **किञ्चन** किमपि, **नास्ति** न विद्यतेऽतोऽविद्यां परित्यज्य त्वया विद्यैवाश्रयणीयेति भावः।।२-३।। (८८१-८२)

भिन्नजातित्वादपि धात्रीत्याग उचित इति दर्शयन्धात्रीमात्रोर्जातिभेदमाह **उपमातेति। ते** तव, **उपमाता** धात्री, **कुजातिः** कुत्सिता नीचा जातिर्यस्याः सा कुजातिरस्ति, **तव** ते, **माता** जननी, **सुजातिका** सु शोभना जातिर्यस्याः सा तथोक्ता श्रेष्ठजात्युत्पन्नेत्यर्थः, अतस्त्वं **तां** उक्तलक्षणां, **कुजातिं** कुत्सितजातिं धात्रीं, **परित्यज्य** विहाय, **सुजातिं** उत्तमजातिं, **मातरं** जननीं, **श्रय** आश्रितो भव, अन्यथा कुजातिसम्पर्के बुद्धिमालिन्येनाधर्माचरणान्नरकपातः स्यादिति भावः। प्रकृतार्थे तु हे मूढ **ते** तव, **उपमाता** उपमीयते परिच्छिद्यतेऽनया सोपमाताऽविद्या, **कुजातिः** कुत्सितो जन्ममरणसुखदुःखादिमाञ्जायत उत्पद्यते यया सा कुजातिर्ज्ञेया, **तव** ते, **माता** मीयते साक्षादनुभूयते तत्त्वं यया सा तथोक्ता अहंब्रह्मेत्याकारा प्रमारूपा वृत्तिरित्यर्थः, **सुजातिका** सुष्ठु शोभनो जायते भूयते यया सा तथोक्ता ब्रह्मस्वरूपो जायते ययेति भावः, ज्ञेयाऽतस्त्वं मुमुक्षुः **कुजातिं** सुखदुःखजन्ममरणादियुक्तस्वोत्पादनकर्त्रीं, **तां** अविद्यां, **परित्यज्य** विहाय, **सुजातिं** स्वस्य ब्रह्मभावोत्पादनकर्त्रीं, **मातरं** मीयते साक्षात्क्रियते आत्मतत्त्वमनया तां विद्यां, **श्रय** आश्रितो भवाङ्गीकुर्वित्यर्थः, तथा च तव मोक्षोभवेदित्यर्थः।।४।। (८८३)

प्रकृतमाता अर्थात् ब्रह्म को जताने वाली विद्या ही सच्चे अर्थो में माता है। वह विद्या ही इस सकल जगत् का पालक पिता है क्योंकि मृत्युमुखरूपी संसार से इस जगत् की रक्षा उसी ने की है। सकल लोकों की ईश्वरी (किंवा ईश्वर के समान पूजनीया) भी वही विद्या है। मुमुक्षु लोगों की गति किंवा शरण भी वही है। वह विद्या ही पर (कार्यकारणातीत ब्रह्मनामक अनारोपित) तत्त्व कहाती है। उस विद्या से अन्य किंवा श्रेष्ठ कोई भी पदार्थ नहीं है। मुमुक्षु बालक अविद्या को छोड दें और विद्यामाता का ही आश्रय ले लें।।२-३।।

निजमातुःस्तनरसस्त्वद्वैतामृतवर्षणः।
जन्मरोगजराध्वंसी सकृत्पीतोपि मृत्युजित्।।५।। (८८४)

दुग्धगुणवैलक्षण्यतोपि धात्रीतो जनन्याः श्रैष्ठ्यमविद्यायाश्च विद्यायामपि श्रैष्ठ्यं दर्शयति **निजमातुरिति**। हे बाल **निजमातुः** निजा स्वीया या माता जननी तस्याः, **स्तनरसः** स्तनयोः कुचयो रस्यत आस्वाद्यत इति रसः पयः, **तुः** धात्रीदुग्धाज्जननीदुग्धस्यातिवैलक्षण्यद्योतकः, तदेवाह **अद्वैतामृतवर्षणो** 'यन्नदुःखेन सम्भिन्नमि' त्यादिस्मृतिप्रतिपादितस्य स्वर्गसुखस्य नित्यनिरतिशयनिरुपमत्वप्रतीतेरद्वैतं निरुपमं यदमृतं सुखं स्वर्गसुखमित्यर्थः, तस्य च धर्माधीनत्वाद्धर्मस्य च सुबुद्धिजन्यत्वात्सुबुद्धेश्च कुजातिसम्पर्कपरित्यागेन स्वमातृदुग्धपानजन्यत्वात् परम्परयाऽद्वैतामृतस्य स्वर्गसुखस्य वर्षणः प्रापकोस्ति। किञ्च **जन्मरोगजराध्वंसी** जन्मैव दुःखदत्वाद्रोगः कुबुद्ध्या निषिद्धाचरणेन रोगो जायते, जरा चाकालवार्धक्यं, तयोर्ध्वंसी नाशकोऽस्ति सुबुद्धिजनकत्वेन रोगजरानाशक इत्यर्थः। किञ्च **सकृत्पीतोपि** सकृदेकवारमपि पीतः प्राशितो, **मृत्युजित्** मृत्युलोकस्य मृत्योश्च निवर्त्तको भवति स्वजननीदुग्धपानस्य सुबुद्धिजनकत्वेन तद्द्वाराऽमरत्वप्रापकत्वात् मृत्युलोकमृत्युनिवर्त्तकत्वं ज्ञेयम्। प्रकृतार्थे तु **निजमातुः** स्वीयसाक्षात्कारकारणभूतविद्यायाः, **स्तनरसः** स्तन्येते ध्वन्येते अध्यारोपापवादौ यैस्ते स्तना उपनिषद्वाक्यानि तेषां रसः सुखं 'रसो वै स' इति श्रुतेर्वेदान्तप्रतिपाद्यं ब्रह्मसुखमित्यर्थः, **तु** पदेनाविद्यासुखाद् ब्रह्मसुखस्य वैलक्षण्यं सूचितं, सः **अद्वैतामृतवर्षणोऽद्वैतं** भेदरहितं यदमृतं सुखं तस्य वर्षणो वृष्टिकर्त्ता भवति, किञ्च **जन्मरोगजराध्वंसी** जन्म सदद्वैतानृतद्वैतयोः ऐक्यप्रतीतिरूपं तस्याऽत एव रोगवार्धक्ययोरपि नाशकः, किञ्च स रसः **सकृत्** अपि एकवारमपि, **पीतः** प्राशितः सन्, **मृत्युजित्** मरणनिवर्त्तको भवतीति ज्ञेयम्।।५।। (८८४)

नन्वेतावत्कालमेतयोर्भेदः कुतो न ज्ञातस्तत्राह **न इति**। उभयपक्षे भवता बालेन मुमुक्षुणा च

तेरी उपमाता (धात्री) एक ओछी जाति की है परन्तु तेरी माता एक श्रेष्ठ जाति की मानी जाती है। उस कुजाति को छोड़कर सुजाति माता का आश्रय ले ले। (नहीं तो कुजाति का सम्पर्क होने पर बुद्धि मलिन हो जायगी, अधर्माचरण में प्रवृत्ति होगी, तथा परिणाम में तुझे नरक का वास ही मिलेगा)।

प्रकृत मेंहे मूर्ख तुझ सर्वव्यापक को देहादि के परिच्छेद डालने वाली तेरी उपमाता अविद्या को कुजाति कहा जाता है। क्योंकि उसके पेट से जन्ममरण के चक्करों तथा सुख दुःख के द्वन्द्वों में फँसे हुए अज्ञानी बालकों का ही प्रसव होता है। परन्तु तेरी माता साक्षात् आत्मदर्शन कराने वाली है। प्रमारूप ब्रह्माकार वृत्ति को सुजाति कहा जाता है क्योंकि उसको पाकर सब ही सुन्दर ब्रह्मरूप हो जाते हैं। तुझ मुमुक्षु को उचित है कि सुख दुःख तथा जन्ममरणादि गतियों को देने वाली उस अविद्या माता को छोड़कर विद्या माता का ही आश्रय ले। तब ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।।४।।

न ज्ञातं मूढभावेन पूर्वमन्तरमेतयोः।
इदानीमन्तरं ज्ञात्वा निजमातुःस्तनं पिब।।६।। (८८५)
त्वया स्तने परित्यक्ते सा विदीर्य म्रियेत चेत्।
नश्येत् कुजातिसंसर्गो हितमेव तदा भवेत्।।७।। (८८६)

मूढभावेन मौढ्येन **पूर्वं** प्रथमं मदुपदेशात्प्रागित्यर्थः, **एतयोः** धात्रीमात्रोरविद्याविद्ययोश्च **अन्तरं** वैलक्षण्यं, **न ज्ञातं** न ज्ञानविषयीकृतं, **इदानीम्** अधुना, मदुपदेशेन कृत्वा **अन्तरं** भेदं, **ज्ञात्वा** साक्षात्कृत्वा, **निजमातुः** स्वीयजनन्या विद्यायाश्च, **स्तनं** स्तनस्थं दुग्धं स्तन्यत उपदिश्यते ब्रह्म येन स स्तनो ब्रह्मोपदेशकवाक्यसमूहस्तं च **पिब** प्राश्नीहि अङ्गीकुरु च। एवमुभयत्र योज्यम्।।६।।(८८५)

ननु मद्धात्र्या जीवनं मत्कृततत्स्तनपाननिमित्तकाऽन्नवस्त्रादिप्राप्त्या भवति, तत्स्तनपाने मया त्यक्ते तत्कथं स्यादिति तत्स्नेहेन तन्नाशमसहमानं प्रत्याह **त्वयेति**। हे बाल! **त्वया** भवता, **स्तने** धात्र्याः स्तने धात्रीस्तनपाने इत्यर्थः, **परित्यक्ते** विसृष्टे सति, **सा** धात्री, **विदीर्य** जीवनचिन्तया कृशीभूय म्रियेत मृतिं प्राप्नुयात्, **चेत्** यदि, तर्हि **कुजातिसंसर्गो** नीचजातिसंपर्को, **नश्येत्** नष्टो भवेत्, **तदा** तर्हि, धर्मेण स्वर्गादिसाधनबुद्धीच्छोस्ते **हितमेव**, इष्टमेव, **भवेत्** स्यात्। प्रकृतार्थस्तु **त्वया इति। त्वया** मुमुक्षुणाऽविद्यायाः, **स्तने** शब्दे कर्मादिप्रतिपादकवाक्यजाते, **परित्यक्ते** सर्वभावेन तत्फलवासनया सह विसृष्टे सति, **सा** अविद्या, **विदीर्य** कृशीभूय, **म्रियेत** नश्येत्, **चेद्** यदि, तर्हि। **कुजातिसंसर्गः** कुत्सितः संसारी जायते यया सा कुजातिरविद्या तद्वासना च तस्याः संसर्गः संपर्को, **नश्येत्** नष्टो भवेत्, **तदा** तर्हि, मुमुक्षुत्वात्तव **हितमेव** मोक्षरूपमिष्टमेव, **भवेत्** स्याद्, अविद्यानाशस्यैव मोक्षत्वप्रतिपादनादितिभावः।।७।। (८८६)

अपनी माता का दुग्ध अद्वैत तुल्य अमृत को वर्षाने वाला होता है। उसका पान करने से काल से पूर्व जन्म, रोग तथा जरा आदि नहीं आते। एक बार पीने पर ही वह मृत्यु अर्थात् मृत्यु के कारण रोगादिकों को जीत लेता है।

प्रकृतअपने आत्मसाक्षात्कार की कारण विद्यारूपी माता के (अध्यारोप तथा अपवाद को बताने वाले उपनिषद्वाक्यरूपी) स्तनों में से निकले हुए ब्रह्मसुखरूपी दुग्ध का पान करने से जब कि भेदरहित अमृतसुख की झड़ी लग जाती है तथा जन्मपरम्परा बन्द हो जाती है तो फिर रोग जरा आदि विकार कैसे आयेंगे? इस ब्रह्मसुखरूपी दुग्ध को एक बार भी पी लेने वाले मृत्यु के वश में कभी नहीं आते प्रत्युत वे मृत्यु को ही जीत लेते हैं।।५।।

(हमारे बताने से) प्रथम तुझ मुमुक्षु बालक ने मूढता के कारण धायी के तुल्य अविद्या तथा माता के तुल्य विद्या के भेद को नहीं पहचाना थाअब हमारे बताने के पश्चात् निजमातातुल्य विद्या के (ब्रह्मरूपी) दुग्ध को टपकानेवाले (उपनिषद्वाक्यरूपी) स्तनों का ही (अङ्गीकाररूपी) पान करले।।६।।

मायाब्रह्ममयस्तात किमर्थं वर्णसङ्करः।
मायामेव परित्यज्य शुद्धब्रह्ममयो भव।।८।। (८८७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे स्तनपानलीलाष्टकमेकत्रिंशम्।।३१।।

ननु कुजातिसम्पर्के मम का हानिरित्याशङ्क्य पूर्वमेव हानेरुक्तत्वाज्ज्ञानित्वेनाबाधकत्वं मत्वा वक्षि चेन्निष्फलत्वाच्च तदाश्रयस्येत्याशयेनाह **मायाब्रह्ममय इति**। हे **तात** हे पुत्र, **मायाब्रह्ममयो** माया कापट्यं ब्रह्म च ब्राह्मणकर्म तयोर्विकाररूपः सङ्करः अन्यजातिसंपृक्तब्राह्मणजातिरूप इत्यर्थः अत एव वर्णसङ्करो वर्णस्य ब्राह्मणवर्णस्य सङ्करो भ्रष्टत्वं, **किमर्थं** कस्मै प्रयोजनाय कर्त्तव्य इति शेषः। तर्हि किं कर्त्तव्यं? तत्राह **मायां इति**। **मायामेव** कापट्यं नीचयोनिजन्यसङ्कररूपं, **परित्यज्य** विहाय, सर्वभावेन **परित्यज्य शुद्धब्रह्ममयः** शुद्धमन्यजात्यसंपृक्तं, **ब्रह्म** ब्राह्मणजातिस्तन्**मयः** सा प्रधाना यस्य स तथोक्तो **भव** आस्व। प्रकृतार्थे तु **हे तात** हे शिष्य, **माया** जगत्कारणभूता सदसद्भ्यामनिर्वचनीया शक्तिः, **ब्रह्म** च देशाद्यनवच्छिन्नं प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, तयोर्विकारभूतो वर्णसङ्करो वर्णयोः शुद्धाशुद्धयोः सङ्करो मेलनं मालिन्यमित्यर्थः, **किमर्थः** कोऽर्थः प्रयोजनं यस्यां क्रियायां त्वया क्रियत इति शेषः, जीवनस्यान्यथासिद्धत्वात्तत्संपर्कस्य च दोषरूपत्वेन दुःखजनकत्वाच्चेति न कर्त्तव्य एव स इति भावः, अतो **मायामेव** जगज्जननशक्तिमेव, **परित्यज्य** विहाय, **शुद्धब्रह्ममयः** शुद्धं माययाऽस्पृष्टं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नं तन्मयस्तद्रूपो, **भव** स्याः, तथा सति उभयसंयोगरूपसंसारसङ्करो न स्यादिति भावः।।८।। (८८७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ स्तनपानलीलाष्टकार्थप्रकाश एकत्रिंशः।।३१।।

तुम्हारे स्तन छोड़ देने पर यदि वह सूखकर मर जायगी तो तुम्हारा कुजाति से सम्पर्क छूट जायगा, यह भी तुम्हारा हित ही होगा।

प्रकृतहे शिष्य! जब कि तुम मुमुक्षु अविद्या के, कर्मजाल का प्रतिपादन करने वाले स्तनरूपी शब्दों को, (उनकी फ़लवासनासहित) सर्वभाव से छोड़ दोगे, तब वह अविद्या क्षीण होकर यदि नष्ट हो जायगी, तो कुजाति अर्थात् कुत्सित संसारी लोगों को उत्पन्न करने वाली उस अविद्या का तथा उसकी वासनाओं का सम्पर्क नष्ट हो जायगा। तब तो यह सब तुम मुमुक्षु का अभिलषित स्वयमेव प्राप्त होगा क्योंकि अविद्या का नाश ही मोक्ष कहाता है।।७।।

हे तात! मायाब्रह्ममय वर्ण-संकर क्यों करते हो, माया को छोड़कर शुद्ध ब्रह्ममय ही हो जाओ?

इस सकल जगत् की क़ारण सदसदनिर्वचनीय शक्ति को माया कहते हैं। देशकाल आदि की मर्यादा में न आने वाला प्रत्यगभिन्न परमात्मा ब्रह्म कहाता है। हे शिष्य! तुम माया तथा ब्रह्म को मिलाकर शुद्ध और अशुद्ध वर्णों का परस्पर सांकर्य क्यों कर रहे

अथाश्चर्यचतुष्टयी

एवं स्तनपानलीलानिरूपणमिषेण मायातत्कार्ययो रुचिं परित्यज्य शुद्धब्रह्मणि रुचिमुत्पाद्येदानीं तत्रैव स्थैर्यसम्पादनाय तत्स्वरूपज्ञानमपेक्षितमिति तत्स्वरूपं निरूपयितुमाश्चर्यचतुष्टय्याख्यं चतुःश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथेति। अथ** स्तनपानलीलाष्टकनिरूपणानन्तरं, **आश्चर्यचतुष्टयी** आश्चर्यस्याश्चर्यरूपस्य ब्रह्मणो निरूपकत्वात्तत्सम्बन्धिनी चतुष्टयी चतुःश्लोकसमूहात्मकं प्रकरणं निरूप्यत इति शेषः। स्तदेव ब्रह्मण आश्चर्यरूपत्वं निरूपयति

अन्ध इति। अन्धः चक्षुर्हीनः, **सर्वं** घटादिजातं, **पश्यति** अवलोकयति। ननु विषयावलोकनमन्धस्य विरुद्धं कथं सम्भाव्यमिति चेद्? न, 'पश्यत्यचक्षुरि'ति श्रुत्या ब्रह्मणोऽचक्षुष्ट्वेपि अवलोकयितृत्व-प्रतिपादनात् तया च श्रुत्याऽचक्षुष्ट् वेप्रतिपादिते 'निष्कलं निष्क्रियमि'ति श्रुत्या च निरवयवत्वे च प्रतिपादिते तं विना जगदवलोकयितृत्वस्य 'नान्योतोस्ति द्रष्टे'त्यादिश्रुत्याऽसत्त्वप्रतिपादनाच्चैतन्यं विना जगदवलोकनासिद्धेश्चान्धस्य जगदवलोकयितृत्वमुक्तमविरुद्धं सम्भाव्यम्।

च पुनः, **पङ्गुः** पादहीनः, **पुरात्पुरं** पूर्वनगरात्पुरान्तरं, **याति** गच्छति। ननु पादहीने गतिः कथं सम्भाव्येति चेद्? न 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीते'त्यादिश्रुतेर्ब्रह्मणः पादराहित्येपि गतिमत्त्वप्रतिपादनात् 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तमि'ति श्रुत्या च निरवयवत्वप्रतिपादनाच्च निरवयवत्वेनापि ब्रह्मणः पादराहित्ये सिद्धे सत्यपि गतिमत्त्वप्रतिपादनाद् गन्तुरपि ब्रह्मणो भिन्नस्यासत्त्वप्रतिपादनात् पङ्गुत्वं गतिमत्त्वं च सिद्धम्। **पुरम्** अत्र शरीरं 'नवद्वारे पुरे देही'त्युक्तेः 'पुरमेकादशद्वारमि'ति श्रुतेश्च। **परात्परं** इति पाठे तु त्वंपदवाच्यार्थत्यागेन लक्ष्यार्थकूटस्थचिन्मात्ररूपिणो 'निष्कलमि'ति श्रुत्या निरवयवत्वप्रतिपादनात्पादराहित्येन पङ्गुत्वम्। स एवं ब्रह्मणोऽभिन्नत्वज्ञानात्स्वस्य परात्कारणादव्यक्ताख्यात् परं ततो भिन्नं तस्य कल्पितत्वात्तदस्पृष्टं च परमात्मरूपं **याति** प्राप्नोतीत्यर्थः। यद्वा लोकप्रसिद्ध-**पुरात्** नगरात् **पुरं** नगरं, **याति** प्राप्नोतीत्यर्थ एवास्तु तस्यापि गन्तुर्ब्रह्मणः पृथगसत्त्वेन ब्रह्मत्वाद् ब्रह्मणश्च 'निष्कलमि'ति निरवयवत्वप्रतिपादनाद् 'अपाणिपाद' इति श्रुत्या पादराहित्ये गतिमत्त्वप्रतिपादनात्पङ्गुत्वं गन्तृत्वं च सम्भाव्यमिति दिक्।

आश्चर्यान्तरमाह **जड इति**। जडः चैतन्यात्मनो विविक्तो जीवः, कार्याणि कर्तव्यतया विहितानि कर्माणि, **कुरुत** आचरति। चैतन्याद्भिन्नस्य जाड्यं प्रसिद्धमेव, तस्यैव कर्तृत्वमपि सर्वशास्त्रेषु

हो? इस विजातीय मेल को बिना किये भी तो तुम्हारा जीवन रह सकता है। यह मेल तो दोषरूप होने से दुःखों का ही जनक है। अतः इस सांकर्य को छोड़ देने में ही तुम्हारा कल्याण है। तुम माया को छोड़कर माया से अस्पृष्ट शुद्ध ब्रह्मरूप ही हो रहो। जिससे कि दोनों का संयोग न हो और फिर संसाररूपी संकर की उत्पत्ति ही न हो पाये।।८।।

ऊपर के प्रकरण से शुद्ध ब्रह्म में रुचि को उत्पन्न करके उसी में स्थिरता सम्पादन के लिये यह आवश्यक है कि उसके स्वरूप का ज्ञान कर लिया जाय। उसी के लिये आश्चर्यरूप ब्रह्म का निरूपण करने वाले इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है

अन्धः पश्यति सर्वं च पङ्गुर्याति पुरात्पुरम्।
जडः कार्याणि कुरुते नीरसो रसमश्नुते।।१।। (८८८)

प्रतिपादितं, तदधिकारेणैव सर्वशास्त्रविधानाच्चात्मनेपदप्रयोगेण च कर्मफलमपि तन्निष्ठमित्यपि सूचितम्। यद्वा, चेत्यरहितत्वेन चिदात्मन एव जडवत्त्वाज्जडत्वं, कर्मकर्तुरपि ततः पृथगसत्त्वप्रतिपादनाज्जडत्वं कर्मकर्तृत्वं च सम्भाव्यम्। अस्मिन्नपि पक्षे कर्तृत्वजाड्ये ब्रह्मण्येव सर्वाधिष्ठानत्वात्सम्भाव्ये इति भावः। यद्वा **जडो** मायातत्कार्यरूपः प्रपञ्चो ब्रह्मविष्णुरुद्रादिरूपः, **कार्याणि** कर्माणि उत्पत्त्यादीनि, **कुरुते** आचरति, 'तदेतज्जडं मोहमात्रमि'ति श्रुत्या मायाया जडत्वप्रतिपादनात्तत्कार्यस्यापि ब्रह्मादिप्रपञ्चस्य जडत्वं 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती'ति श्रुत्या तस्या एव कर्तृत्वप्रतिपादनादात्मनेपदेन च कर्मफलं तन्निष्ठमेवेति ब्रह्मणः कर्तृत्वभोक्तृत्वराहित्यं सूचितमिति भावः। यद्वा मायातत्कार्ययोरुभयोरपि जडत्वात्तस्यास्तत्कार्यजीवेश्वरयोरपि ब्रह्मणोऽभिन्नत्वाद्यद्यतो न भिन्नं तत्तदेवेति लोके शास्त्रे च प्रसिद्धेः परमात्मैव **जडः** तं विना कर्त्तारं कार्यनिर्वाहायोगात्स एव, **कार्याणि** आकाशादिब्रह्माण्डान्तानि तदादिपिपीलिकान्तानि च, **कुरुते** उत्पादयति। एवं जडे कार्यकारित्वमाश्चर्यमेवेति भावः।

आश्चर्यान्तरमाह **नीरस इति**। रस्यत आस्वाद्यतेऽनेनेति रसना तद्रहित आत्मा, **रसं** माधुर्यादिकं, **अश्नुते** अनुभवति,'नान्योतोऽस्ति द्रष्टे'त्यादिश्रुते रसयितुरात्मन पृथक्सत्त्वाभावप्रतिपादनाद् 'निष्कलमि'ति श्रुतेश्च निरवयवात्मत्वप्रतिपादनाच्च रसनारहितत्वेप्यात्मनो रसानुभवितृत्वं सम्भाव्यमिति भावः। यद्वा 'रसो वै स' इति श्रुते रसाः सुखानि विषयजन्यानि निर्गतानि निवृत्तानि यस्मात् स **नीरसः** ततोपि रसयितुः पृथगसत्त्वप्रतिपादनान्नीरसत्वं रसानुभवितृत्वं चात्मन्येव सम्भाव्यमिति भावः।।१।। (८८८)

अन्धा होकर भी सब कुछ देखता है, लंगड़ा हो कर भी एक नगर (शरीर) से दूसरे नगर (शरीर) तक जाता है, जड होकर भी, कर्तव्य कर्मों का आचरण करता है, नीरस (बेजुबान) होकर भी रसों को भोगता है।

यद्यपि उस ब्रह्म के चक्षु नहीं हैं तथापि वह सब किसी को देखता है क्योंकि उससे भिन्न तो अन्य कोई द्रष्टा ही नहीं है, ये चक्षुरादि तो देखने के साधनमात्र हैं असली द्रष्टा तो वह ही है। इसी अभिप्राय से कहा है कि "पश्यत्यचक्षुः" वह बिना आँखों के ही देखता है। उस ब्रह्म के यद्यपि पैर नहीं हैं तथापि वह एक नगर से दूसरे नगर तक किंवा एक शरीर से दूसरे शरीर तक पहुँच जाता है। जहाँ कहीं भी किसी को जाना हो वहाँ तो वह व्यापक होने के कारण पहले ही से विद्यमान रहता है। इसी अभिप्राय से उसको 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' कहा गया है अर्थात् उसके हाथ नहीं किन्तु ग्रहण करता है, पैर नहीं परन्तु खूब दौड़ता है। वह ब्रह्म जड होकर भी सब कार्य करता है। माया किंवा माया से उत्पन्न हुए सब कार्य जड कहाते हैं। ये ही सब जीवेश्वर का

निश्चेता निश्चिनोत्य[1]न्तं विरक्तो भोगमञ्चति।
सर्वस्पर्शविहीनोपि ब्रह्मसंस्पर्शमश्नुते।।२।। (८८६)

अन्यान्यप्याश्चर्याण्याह **निश्चेता इति**। **निश्चेता** निर्गतं निवृत्तं चेतोऽन्तःकरणं यस्मात्स तथोक्त आत्मा, सः **अत्यन्तं** अतिक्रान्तमन्तान्नाशादित्यत्यन्तं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म, **निश्चिनोति** निदिध्यासति स्वयम् 'अश्रोत्रममनस्कमि'ति श्रुत्याऽऽत्मनो निर्मनस्कत्वप्रतिपादनाद् आत्मनश्च मनसः पृथगसत्त्वाच्चात्मनो निर्मनस्कत्वं, तं विना च केवलमनसः पदार्थनिश्चयाऽशक्तेः निश्चेतस आत्मन एव परमार्थनिश्चायकत्वं सम्भाव्यमिति भावः, **अत्यर्थमिति** पाठे तु अर्थं सत्त्वमतिक्रान्तमसज्जगन्निश्चिनोति असत्त्वेन निश्चयविषयीकरोतीत्यर्थः। अन्यदपि आश्चर्यमाह **विरक्त इति**। विषयाणां मिथ्यात्वादात्मनः परिपूर्णत्वाच्च **विरक्तो** रागरहित आत्मा तं विना च भोक्तृत्वासिद्धेः स एव **भोगं** भुज्यते इति भोगस्तं सुखदुःखाद्यनुभवं, **अञ्चति** प्राप्नोति। अन्यदप्याश्चर्यमाह **सर्वेति**। **सर्वस्पर्शविहीनोपि** सर्वे समस्ता ये स्पर्शाः स्पृश्यन्ते काठिन्यादिविषया यैस्ते स्पर्शास्त्वगिन्द्रियाणि स्पृश्यन्ते त्वगिन्द्रियेणानुभूयन्त इति स्पर्शास्त्वग्विषयास्तैर्विहीनोपि रहितोपि आत्मेन्द्रियाणां विषयाणां चात्मनः पृथगसत्त्वात् सर्वस्पर्शविहीनत्वमात्मनः सम्भाव्यं, स **ब्रह्मसंस्पर्शं** ब्रह्मणा देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्येन वस्तुना संस्पर्शमैक्यं **अश्नुते** प्राप्नोति।।२।। (८८६)

रूप धारण करके इस सकल जगत् के कार्यों का निर्वाह कर रहे हैं। परन्तु ये जीवेश्वरादि भी क्या कभी ब्रह्म से भिन्न हो सकते हैं! क्योंकि ब्रह्म के साथ इनका अभेद है। इस कारण इसका तात्पर्य यह हो जाता है कि ये जड पदार्थ जो कुछ करते हैं वह सब ब्रह्म ही तो करता है। क्योंकि वह परमात्मा ही तो जड भी बन गया है। उसके बिना तो किसी भी कार्य का निर्वाह नहीं होता। वह अपने जड स्वरूप से आकाश से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त तथा ब्रह्माण्ड से लेकर पिपीलिकापर्यन्त सब छोटे बड़े कार्यों को उत्पन्न किया करता है। इस प्रकार जड में कार्य करने की आश्चर्यकारिणी शक्ति भरी पड़ी है। जिह्वारहित भी वह आत्मा माधुर्यादि रसों का अनुभव करता है। 'नान्योऽतोस्तिद्रष्टा' उससे भिन्न तो कोई द्रष्टा ही नहीं है। रसना तो केवल एक साधनमात्र होती है, उस रस को जानने वाला तो वही चेतन है। (अथवासर्वसुखविहीन होकर भी वह सम्पूर्ण रसों का अनुभव किया करता है क्योंकि उससे भिन्न और कोई भी अनुभविता नहीं होता)।।१।।

चित्तरहित होकर भी पदार्थों का निश्चय किया करता है, रागरहित होकर भी भोगों को भोगता है, सर्वस्पर्शविहीन होने पर भी ब्रह्मस्पर्श को प्राप्त हो जाता है।

---

[1] निश्चिनोऽत्यर्थं।

सर्वाहारी निराहारमुदरे धारयत्ययम्।
मुग्धो भुनक्ति पाण्डित्यं सिद्धान्तं वक्ति मौनवान्।।३।। (८९०)

आश्चर्यान्तराण्यप्याह **सर्वाहारीति। सर्वाहारी** सर्वस्य समस्तस्याहारः भोजनं विद्यते यस्य स तथोक्त आत्मा; पृथगसत्त्वमेव जगत आत्मनो भोजनम्। कालरूपेण वा भोजनं समस्तजगतः। सः **अयम्** आत्मा, **उदरे** जठरे, **निराहारं** निर्गतो निवृत्त आहारो भोजनं, यस्मात्तद्यथा तथा **धारयति** स्थापयति सर्वद्वैतस्य मिथ्यात्वात्तदाहारस्यापि तथात्वान्निराहारत्वं ज्ञेयं। सर्वाहारत्वे च श्रुतिः, 'यस्यब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स' इति। अन्यदपि आश्चर्यमाह **मुग्ध इति। मुग्धो** ज्ञेयस्यासत्त्वात्तद्विषयकज्ञानस्यापि तथात्वात्तदभाववत्त्वेन मुग्धत्वमात्मनो ज्ञेयं, स आत्मा **पाण्डित्यं** पण्डितस्य भावः पाण्डित्यं वैदुष्यं समदृष्टित्वलक्षणं, 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिन' इति भगवदुक्तेः, **भुनक्ति** पालयति अभ्यवहरति वा। अन्यदपि आश्चर्यमाह **सिद्धान्तं इति। मौनवान्** मौनी, **सिद्धान्तं** वाचां विषयो न इति सर्ववेदान्तसिद्धान्तस्तं, **वक्ति** ब्रूते, 'अवचनेनैव प्रोवाच, स ह तूष्णीं बभूवे'ति श्रुतेः। यद्वा वागिन्द्रियस्य मिथ्यात्वात्तद्रहितो मौनी आत्मा सः सिद्धान्तं सर्वशास्त्रसिद्धान्तनिर्णयं, वक्तुरपि ततः पृथगसत्त्वात् स एव वक्तीत्यर्थः।।३।। (८९०)

अन्तःकरण-रहित होकर भी वह आत्मा पदार्थों का निश्चय कर लेता है। 'अश्रोत्रमनस्कम्' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म को निर्मनस्क बताया गया है। आत्मा से पृथक् मन की कोई सत्ता नहीं होती इसलिये आत्मा को निर्मनस्क माना जाता है। उस आत्मा के बिना केवल जडीभूत मन में पदार्थ को निश्चय करने की शक्ति नहीं होती, इसलिये परमार्थ विचार करने पर वह निश्चित्त (चित्तरहित) आत्मा ही निश्चायक हो सकता है। संसार के सम्पूर्ण विषयों के मिथ्या होने से तथा आत्मा के परिपूर्ण होने से आत्मा में किसी प्रकार का राग उत्पन्न नहीं हो सकता। वह तो सदा ही पूर्ण विरक्त रहता है। परन्तु उस आत्मा के बिना तो भोक्तृत्व भी नहीं बनता। इसलिये विरक्त रह कर भी अन्ततः वही सुख-दुःखादि भोगों का अनुभव करने वाला होता है। काठिन्यादि विषयों का स्पर्श करने वाले सम्पूर्ण त्वगिन्द्रियों से रहित होने पर भी (क्योंकि सम्पूर्ण विषय तथा सकल इन्द्रियाँ उस आत्मा से पृथक् होकर कोई पदार्थ ही नहीं रहती) वह आत्मा ब्रह्म के साथ ऐक्यरूपी संस्पर्श को प्राप्त हो ही जाता है।।२।।

सर्वाहारी होने पर भी उसने अपने पेट में निराहारता को ही धारण कर रक्खा है। अबोध होने पर भी उसने पाण्डित्य की रक्षा कर रक्खी है। मौनी होकर भी उसने शास्त्रों के सिद्धान्तों का कथन कर डाला है।

निर्वैरो जयमाप्नोति निष्कामः पूर्णकामताम्।
सुप्तो जागर्त्ति विज्ञानी मृतोप्यमृतमश्नुते।।४।। (८६१)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसार आश्चर्यचतुष्टयी।।३२।।

कि चान्यदपि आश्चर्यमाह **निर्वैर इति**। समत्वात्स्वस्य द्वेष्यविषयमिथ्यात्वाच्च **निर्वैरो** निर्गतं निवृत्तं वैरं विरोधो यस्मात्स तथोक्त आत्मा, **जयं** सर्वोद्योगफलरूपं मोक्षम्, **आप्नोति** लभते। आश्चर्यान्तरमाह **निष्काम इति**। काम्यविषयाणामसत्त्वात्स्वस्य च पूर्णत्वा**न्निष्कामो** निर्गताः कामा यस्मात् स तथोक्तः स एव आत्मा, **पूर्णकामतां** पूर्णाः पर्याप्ताः कामा यस्य यस्मिन् वा स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्ता तामाप्नोति 'सर्वान्कामान् समश्नुत' इति श्रुतेः, आप्तकामत्वादपीत्यर्थः। किंच अन्यदपि आश्चर्यमाह **सुप्त इति। विज्ञानी** विज्ञानमात्मानुभवः स विद्यते यस्य स तथोक्तः पुरुषः, **सुप्तः** प्रपञ्चस्य बाधितत्वेन तद्विषयकज्ञानस्यापि बाधितत्वादज्ञानत्वेन सुप्तत्वं, स **जागर्ति** जाग्रद्विषयाननुभवति। यद्वा

वह आत्मा कालरूप होकर कालक्रम से इस समस्त जगत् को निगलता चला जा रहा है। परन्तु फिर भी क्या उसके पेट में इस भोजन ने कुछ आहार का काम दिया है? नहीं नहीं, उसने इस सकल जगत् का भोजन कर लेने पर भी अभी तक उसी निराहारता (उपवास) को ही धारण कर रक्खा है। "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" जिसके ब्रह्म और क्षत्रादि ओदन के समान हैं, मृत्यु जिसके शाक सूपादि के समान है अर्थात् मृत्यु में मिला-मिलाकर इन ब्राह्मण क्षत्रियादि सब जगत् को जो खाता चला जा रहा है वह जहाँ रहता है उसके निवास को कौन जानता है? इस श्रुति में उसको सर्वाहारी कहा गया है। जबकि सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ ही नहीं हैं तब उनका ज्ञान ही सत्य क्योंकर कहा जाय? इसलिये एक प्रकार से उस आत्मा को मुग्ध (अबोध) ही कहना होगा, परन्तु मुग्ध होने पर भी उसने अपने (समदृष्टिलक्षण) पाण्डित्य की तो रक्षा कर रक्खी है "शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण तथा श्वचाण्डाल आदि में भी जो समदृष्टि रखता है वही पण्डित कहाता है। मौनी रह कर भी उसने सकल वेदान्तों के सिद्धान्त का निरूपण कर डाला है। "अवचनेनैव प्रोवाच स ह तूष्णीं बभूव"आत्मस्वरूप के पूछे जाने पर बिना ही शब्दों के आत्मा का निरूपण शिष्यों के प्रति उसने कर दिया, वह सम्पूर्ण रूप से चुप हो गया क्योंकि उस आत्मा ने अनादि काल से लेकर अनन्त काल तक के लिये अति गम्भीर मौन को धारण कर रक्खा है। इसलिये जब चित्त में किसी प्रकार के भी संकल्प विकल्प न उठें, जब कि हम सैकड़ों योजन लम्बी स्फटिक शिला के

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेरि'ति भगवदुक्तेः।। प्रपञ्चे सुप्तत्वं स्वरूपे जाग्रत्त्वं चेति सुप्ते जाग्रत्त्वं संभाव्यं। यद्वा जाग्रदवस्थावत एव विश्वस्य स्वस्वरूपे सुप्तत्वात् प्रपञ्चे जागरणं चेति सुप्ते जागृतिसम्भवः सम्भाव्यः। यद्वा लोकदृष्ट्या सुप्तस्यैव जाग्रत्त्वं तत्रापि अज्ञानानन्दत्रिपुट्योः सत्त्वेन जाग्रल्लक्षणसद्भावादित्यर्थः। अन्यद् आश्चर्यमाह **मृतोपि इति। मृतोपि** जीवत्वनाशं प्राप्नोति, **अमृतं** न विद्यते मृतं मरणं यस्मिंस्तदमृतं, ब्रह्म **अश्नुते** प्राप्नोति, यद्वा लोकप्रसिद्धमरणवानपि स्वाधारं ब्रह्मैव प्राप्नोति, यद्वा इह लोके **मृतोपि** अन्यलोके, **अमृतं** सुधा, **अश्नुते** प्राप्नोति, पुण्येन कर्मणेत्यर्थः।।४।। (८९१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ आश्चर्यचतुष्टय्यर्थप्रकाशो द्वात्रिंशः ।।३२।।

समान अन्दर बाहर पूर्णतया स्वच्छ तथा निश्चेष्ट हो जायें, जब कि हमें जाग्रत् निद्रा आदि का विचार भी न रहे, ऐसे गम्भीर मौन कर लेने पर हीहम उस आत्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं।।३।।

निर्वैर होकर भी उसने विजय (सर्वोत्कृष्टता) का लाभ किया है, निष्काम होकर भी पूर्णकामता को प्राप्त किया है, आत्मानुभव वाला वह सो कर भी जागता रहता है। उसने मरकर ही अमरत्व को प्राप्त किया है।

वह आत्मा सब में समरूप से निवास करता है, तथा उसका द्वेष्य कोई भी नहीं है, इस प्रकार सर्वथा निर्वैर होने के कारण सम्पूर्ण उद्योगों के फल मोक्षरूपी विजय को वह प्राप्त हो जाता है। काम्य विषय कोई भी सत्य नहीं है तथा यह आत्मा पूर्ण है इन दोनों कारणों से सर्वथा निष्काम होने पर भी उसने पूर्णकामता को प्राप्त किया है। 'सर्वान् कामान् समश्नुते' उसने सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त किया है क्योंकि सब कामनाओं का आत्मभूत भी तो वह ही है। आप्तकाम होने से भी उसे पूर्णकाम कहा जाता है। आत्मानुभव वाला वह विज्ञानी पुरुष, प्रपंच तथा प्रपंचविषयक ज्ञान के बाधित हो जाने से, परिणाम में अज्ञानी होकर, सुप्त के समान रहने पर भी किंवा प्रपंच के विषय में सुषुप्त (ग़ाफिल) रहकर भी अपने आत्मचिन्तन में सदा ही जागता (होशियार) रहता है। इसके विपरीत, जाग्रत् अवस्था का अभिमानी वह विश्व तो अपने आत्मस्वरूप के विषय में सुप्त (ग़ाफिल) रहकर प्रपंचव्यवहार में ही जागता (होश में) रहता है। मोक्षार्थ किये हुए प्रयत्नों से जब उसका जीवत्व नष्ट हो जाता है तो परिणाम में मृत होकर भी अमृत ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।।४।।

अथ तुरीयतुलसीपत्रपूजा

तुरीयतुलसीपत्रैर्विष्णुपूजा निरूप्यते।
प्रेमप्रधानभावेन शृङ्गाररसरूपिणी।।१।। (८६२)

एवमाश्चर्यचतुष्टयीनिरूपणमिषेणाश्चर्यस्वरूपं ब्रह्म निरूप्येदानीं तत्साक्षात्कारवतः तुरीयबुद्धिवृत्तिभिः तत्पूजां निरूपयितुं तुरीयतुलसीपत्रपूजाख्यं षट्श्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथ इति। अथ** आश्चर्यचतुष्टयीनिरूपणानन्तरं, **तुरीयतुलसीपत्रपूजा** तुरीया जाग्रदाद्यपेक्षया चतुर्थ्यात्मसाक्षात्कारवती बुद्धिः सैव तुलसी विष्णोर्जगद्व्यापकस्यात्मनः प्रियत्वात्तस्याः पत्राणि विशेषभावगर्भवृत्तयः तैः पूजाऽर्चा तन्निरूपकत्वादस्य प्रकरणस्यापि एतदेव नाम निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ तन्निरूपणमेव प्रतिजानीते **तुरीय इति**। मया **प्रेमप्रधानभावेन** प्रेम्णः स्नेहस्य प्रधानो मुख्यो भावः सत्ता यत्र मयि तेन, मया **शृङ्गाररसरूपिणी** शृङ्गारः शुचिर्यो रसो रूप्यते प्रकाश्यतेऽस्यां सा तथोक्ता, **तुरीयतुलसीपत्रैः** तुरीया स्वात्मसाक्षात्कारवती बुद्धिः सैव तुलसीव **विष्णोः** जगद्व्यापकस्य विष्णोरात्मनः प्रियत्वात्तुलसी तस्याः पत्राणि वृत्तिविशेषास्तैः, **विष्णुपूजा** विष्णोर्जगद्व्यापकस्यात्मनः पूजाऽर्चा ध्यानमित्यर्थः। लौकिकपक्षे विष्णुः प्रसिद्धस्तुरीयेव मुक्तिदा सुखदा च तुलसी। शेषं समानम्।।१।। (८६२)

तत्र उभयलक्षणायां पूजायां, **गोपीवाक्यं** गोपस्य स्त्री गोपी तस्या वाक्यं वचनम्।

प्रकृतेर्थे गा इन्द्रियाणि पातीति गोपी बुद्धिस्तस्याः वाक्यं वचनं, यद्वा गां महावाक्यरूपां वाणीं पाति रक्षतीति गोपी बुद्धिस्तुर्यस्वरूपा तस्याः शान्त्यादिसखीः प्रति वाक्यं वचनमिदं वक्ष्यमाणं ज्ञेयमित्यर्थः। तद्वाक्यमुदाहृत्य दर्शयति **दृष्ट्या इति**। लोके तावदर्थो यः प्रसिद्धः **कामिनीजनमनोहरणः** कामिनीनां कृष्णेन सह भोगकामवतीनां गोपिकानां जनः समूहस्तस्य मनसो हरणो वशीकर्त्ता, **मुकुन्दो** मुक्तिप्रदः श्रीकृष्णो, **मया** राधाख्यया, **मधुरया** सूक्ष्मप्रेमभावगर्भितया सुखरूपया इत्यर्थः, **दृष्ट्या** दृशा, **अधुना** इदानीं, **अयं** मत्पुरोवर्ती, **कलितो** वशीकृतो, दृष्टश्च **तं** साक्षाद्दृष्टमेव श्रीकृष्णं, **हृदये** मनसि, **चिन्तयामि** स्मरामि, अतो मम मेऽतः परं **अस्मिन्** प्रत्यक्षे, **गृहे** वेश्मनि, तत्कृत्ये च **सुखं** शर्म, **न** विद्यते। तर्हि अतः परं किमिच्छसीति चेत्तत्राह **तस्मिन् वन इति**।

आत्मसाक्षात् करने वाले की तुरीय बुद्धिवृत्तियाँ जिस प्रकार की होती हैं तथा उनसे आत्मदेव का पूजन जिस प्रकार किया जाता है वह इस प्रकरण में बताया गया है। चतुर्थी आत्मसाक्षात्कारवती बुद्धि को ही तुलसी माना गया है। यह तुरीय तुलसी जगद्व्यापक परमात्मा को अत्यन्त प्रिय लगती है। विशेषभावगर्भित वृत्तियाँ ही ये तुलसी के पत्र कहाते हैं। इसी से प्रकरण का नाम 'तुरीयतुलसीपूजा' रक्खा गया है।

मुझ ग्रन्थकार में प्रेमभाव की अति प्रधानता है इसीलिये शृङ्गाररसरूपिणी, तुरीयरूपी तुलसी के पत्रों से विष्णु अर्थात् जगद्व्यापक आत्मा की पूजा अथवा ध्यान का निरूपण करता हूँ।।१।।

तत्र गोपीवाक्यम्

दृष्ट्या मया मधुरया कलितोऽधुनायं
यत्कामिनीजनमनोहरणो मुकुन्दः ।
तं चिन्तयामि हृदये न सुखं गृहेऽस्मिं
स्तस्मिन्वने भवतु तेन सहैव वासः । ।२ । । (८६३)

तस्मिन् यत्र दृष्टः स तत्रैव, **वने** वृंदावने, **तेन** श्रीकृष्णेन, **सहैव** साकमेव, **वासः** स्थितिः, **भवतु** अस्तु इति प्रार्थयामीत्यर्थः ।

प्रकृतार्थे तु यः प्रसिद्धः 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतिषु **कामिनीजनमनोहरणः** कामोभिलाष आत्मसुखविषयकः स यासु विद्यते ताः कामिन्य आत्मस्नेहवृत्तयस्तासां जनः समूहस्तस्य मन आत्मविषयकसंशयरूपान्तःकरणवृत्तिस्तस्य हरणः स्वविषयकनिश्चयोत्पादनेन नाशकोऽत एव **मुकुन्दो** मुक्तिप्रदः परमात्मा, **मया** तुर्याख्यया बुद्ध्या, **मधुरया** स्वात्मसुखानुभववृत्त्या सूक्ष्मया च, **दृष्ट्या** दृश्यते साक्षादनुभूयते आत्मा यया सा दृष्टिरहं ब्रह्मास्मीति प्रमारूपा वृत्तिस्तया **अयं** प्रत्यक्षपरोक्षत्वरहितो भागलक्षणया, **कलितो** ज्ञातः प्राप्तश्च, अतः **अधुना** इदानीं व्यवहारसमयेपीत्यर्थः, अहं तुर्या बुद्धिः **तं** ब्रह्माभिन्नं प्रत्यगात्मानमेव, **हृदये** हरति सर्वं द्वैतमिति हृदयमपवादस्तमयते प्राप्नोतीति तत्तथोक्तं सर्वद्वैतापवादावधिकान्तः-करणवृत्तिस्तस्मिन्, **चिन्तयामि** ध्यायामी, अत एव **अस्मिन्** प्रत्यक्षे, **गृहे** गृह्यते स्वात्मतयाङ्गी क्रियते इति गृहं शरीरं तन्निमित्तो व्यवहारश्च तस्मिन्, **सुखं** शर्म, मम **न** न विद्यतेऽत इतः परं **तस्मिन्** उपनिषदुक्ते वने वनषणसम्भक्तौइति प्रकृतिकत्वाद्वनशब्दस्य सम्भजने जीवब्रह्मैक्यचिन्तन इत्यर्थः, **मम** चिदाभासविशिष्टतुर्याख्यबुद्धेः, **तेन** प्रत्यगभिन्नपरमात्मना, **सहैव** साकमेव, **वासः** स्थितिः, **भवतु** अस्तु, इति प्रार्थयामीत्येवं भाव एवैकं पत्रमिति भावः । ।२ । । (८६३)

लौकिकार्थ में गोपी का वाक्यप्रकृत अर्थ में तुर्यरूपा बुद्धि अपनी शान्ति आदि सखियों के प्रति कहने लगी। कामिनियों के मन को वश में करने वाले मुकुन्द को मुझ राधा ने सूक्ष्म प्रेमभरी सुखगर्भित दृष्टि से अब देख पाया है। उस साक्षात् देखे हुए श्रीकृष्ण को ही मैं अपने हृदय में स्मरण करती रहती हूँ इस कारण से अब इस घर में (तथा इन गृहकृत्यों में) मुझे चैन नहीं मिलता, अब तो जी चाहता है कि किसी प्रकार उसी वन (वृन्दावन) में उन्हीं के साथ रहने का सौभाग्य मिले।

प्रकृतआत्मप्रेमविषयक वृत्तियों को आत्मा के विषय में सन्देह होने लगा था, परन्तु मुझ तुर्या नामक बुद्धि ने अपनी मधुर सूक्ष्म दृष्टि से (अपने स्वरूप का निश्चय कराकर सन्देह को नष्ट करनेवाले) उस परमात्मा को पहिचान लिया है। अब तो व्यवहार काल में भी मैं तुर्याबुद्धि अपने हृदय में उसी का सतत ध्यान किया करती हूँ। उसी लगन के कारण इस गृह अर्थात् शरीर तथा शरीर-सम्बन्धी व्यवहारों में अब मुझे चैन नहीं पड़ता। अब तो यही जी चाहता है कि किसी प्रकार मुझे, तुर्या बुद्धि को

गोपालिकास्मि चतुरा न च मे मनीषा
देहश्रिता विविधगोरसवासना मे।
किम्वा विधेयमिति चिन्तयती स्थिताहं
तावद्बलान्मिलित एव मया मुकुन्दः।।३।। (८६४)

एवं निजेच्छां सख्यग्रे प्रकटीकृत्य इदानीं कृष्णसंगात्पूर्ववृत्तान्तमनुस्मृत्य राधिका सख्यग्रे निरूपयति **गोपालिका इति**। अहं **गोपालिका** आभीरकुलोत्पन्ना ग्रामीणेत्यर्थः, **अस्मि** भवामि, तथासत्यपि **मे** मम, **मनीषा** बुद्धिः, **चतुरा** चातुर्यवती, **न** न विद्यते, तत्रापि **मे** मम, **विविधगोरसवासना** विविधोऽनेकप्रकारो दुग्धदधितक्रनवनीतादिरूपो गोरसस्तस्य वासना गन्धो, **देहश्रिता** देहे शरीरे श्रिताऽश्रिताऽस्ति, एते सर्वे दोषाः श्रीकृष्णचित्तरञ्जने प्रतिकूला एव मयि सन्ति अतः श्रीकृष्णचित्तरंजने मया **किं विधेयं** किं कर्तव्यं, **इति** एवं, **चिन्तयती** चिन्तां कुर्वती, **अहं** राधिका, यावत्कालं **स्थिता** स्थितवती **तावत्** तत्कालमेव **मुकुन्दो** मुक्तिप्रदो भक्तानां श्रीकृष्णो **मया** सह, **बलात्** स्वेच्छयैव, **मिलितः** प्राप्तः।

प्रकृतार्थे तु तुरीया बुद्धिः स्वात्मसाक्षात्कारात्पूर्ववृत्तान्तं स्वस्या अनुस्मरन्ती शान्त्यादिवृत्तीः प्रत्याह-**गोपालिका** इति। **अहं** बुद्धिः प्रपञ्चनिश्चयात्मिकावृत्तिः, **गोपालिका** गा इन्द्रियाणी पालयति रक्षति असौ गोपालोऽहङ्कारो मोहो वा तस्य स्त्री तद्भोगकरणत्वाद् गोपालिका, **अस्मि** भवामि मोहसंबद्धाऽहङ्कार-संबद्धा वेत्यर्थः, अत एव **मे** मम, **मनीषा** मतिः, **चतुरा** आत्मानात्मविवेचने कुशला, **न** न विद्यते, **च** पुनः, **मे** मम, **विविधगोरसवासना** विविधोऽनेकप्रकारो गवामिन्द्रियाणां रसः सुखं तस्य वासना इच्छा, **देहश्रिता** देहे लिङ्गदेहे श्रिता लग्नाऽस्ति, तिष्ठति एतादृश्यामात्मसाक्षात्कारप्रतिकूलसामग्र्यां मयि विद्यमानायां साध्ये स्वात्मसाक्षात्कारे मया किं वा विधेयं किं कर्त्तव्यमित्येवं, **चिन्तयती** विचारं कुर्वती, यावत्कालपर्यन्तं **स्थिता** स्थितवती, **अस्मि** **तावत्** तत्कालमेव, **बलात्** स्वयमेव, मुकुन्दो मुक्तिप्रदः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **मया** तच्चिन्तावत्या तुर्याख्यबुद्ध्या सह, **मिलित एव** प्राप्तः साक्षादनुभूत इत्यर्थः, इतीदं द्वितीयं पत्रं ज्ञेयम्।।३।। (८६४)

(उपनिषदों में प्रतिपादित) उसी (वननीय आत्मचिन्तनरूपी) वन में परमात्मा के साथ ही वास करने का सुअवसर हाथ लगे। ऐसा उदार भाव ही तुरीयतुलसीपूजा का प्रथम पत्र कहाता है।।२।।

'मैं गाँव की ग्वालन हूँ, मेरी बुद्धि भी (मीठी-मीठी बातें करने योग्य) चतुर नहीं है, मेरे देह में दधि दुग्ध तक्र घृतादि का बुरा गन्ध आ रहा है, फिर भला मैं उस श्री कृष्ण से मिलने का क्या उपाय करूँ (वे मुझे कैसे स्वीकारेंगे)' मैं राधिका खड़ी-खड़ी यह सब सोच ही रही थी कि इतने ही में अकस्मात् मुकुन्द की प्राप्ति हो गयी।

प्रकृततुरीया बुद्धि स्वात्मसाक्षात्कार से प्रथम के वृत्तान्त को याद करके शान्ति आदि वृत्तियों से कहने लगी किमैं प्रपंच को सत्य मानने वाली बुद्धि अहंकाररूपी

एकाकिनी बत गतास्मि वने निशीथे
कुञ्जे निलीय रमणस्य रसो गृहीतः ।
चित्रं भजामि कलयामि न तत्र हेतुं
सर्वाः प्रसन्नवदना यदिमा वयस्याः ।।४।। (८६५)

इदानीं स्वस्याः कृष्णेन सह रतिमदृष्टवतीनामपि सखीनां स्मितमुखान्यवलोक्य तत्र कारणं चानिश्चित्य विस्मितमुखी राधिका प्रियसखीं प्रत्याह **एकाकिनी इति**। हे सखि **एकाकिनी** एकलाऽहं राधिका, **निशीथे** अर्धरात्रे, 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वावि'त्यमरः, **वने** वृन्दावने, **गता** याताऽस्मि, **बत** हर्षेण, ततस्तत्र **कुञ्जे** लताद्यावृतस्थाने, 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः, **निलीय** अन्तर्धाय लोकदर्शनाविषयीभूयेत्यर्थः, **रमणस्य** रतिसुखदातुः श्रीकृष्णस्य, **रस** आनन्दो भोगसुखमिति यावद्, **गृहीतः** अङ्गीकृतः, **तत्र** श्रीकृष्णेन सह भोगसुखाङ्गीकारे, **यद्** यस्मात्कारणात्, इमा **एता** मत्पुरो दृश्यमानाः सर्वाः समस्ता, **वयस्या** मत्क्रीडासहायिन्यः सख्यः, **प्रसन्नवदनाः** प्रसन्नं हास्यशोभितं वदनं मुखं यासां तास्तथोक्ताः, सन्ति तं **हेतुं** कारणं, **न कलयामि** न जानामि, तासां मया सह गमनाभावे मत्कृतसम्भोगस्य तासामदर्शने च कुञ्जेन्तर्हितया मया कृष्णेन सह रतिसुखेऽङ्गीकृते चैतासां तज्ज्ञानं कथं संजातं, तज्ज्ञानाभावे च सत्यपि मां दृष्टवैव मुखे स्मितं दृश्यतेऽतोत्र हेतुनिश्चयाभावे केवलं **चित्रं** आश्चर्यं, **भजामि** सेवामि।

प्रकृतार्थे तु इदानीं तुरीया स्वस्या ब्रह्मणा सहैक्यसुखानुभवे तदननुभवित्रीणां शान्त्यादिवृत्तीनां प्रसन्नतां लक्ष्यीकृत्य तत्कारणं चानिश्चित्य विस्मितवती सविकल्पसमाधिवृत्तिं प्रत्याह **एकाकिनी इति**। हे सखि 'ओं खं ब्रह्मे'ति श्रुत्या ब्रह्मणः खाभिधानेन प्रतिपादनात्सह खेन वर्त्तते इति सखी ब्रह्मणा सह वर्तमाना वृत्तिः सविकल्पसमाध्याख्या तस्याः सम्बोधने हे सखि, **बत** इति तस्या एव कोमलसम्बोधनात्मकमव्ययं हर्षार्थकं वा, **एकाकिनी** असहायिन्यद्वितीयेत्यर्थः, भूत्वेत्यध्याहार्य, **वने** सम्भजनार्हे ब्रह्मणि वनधातोः सम्भजनार्थत्वात्तत्प्रकृतिको वनशब्दः, **निशीथे** गाढान्धकारतया विषयादर्शनमिव ब्रह्मण्यपि द्वितीयाऽदर्शनान्निशीथमिव **निशीथं** ब्रह्म तस्मिन्, **गता** प्राप्ता, **अस्मि** भवामि, 'या निशा सर्वभूतानामि'ति भगवदुक्तेः, ततः **कुञ्जे** कुं कुत्सितं मायां तत्कार्यं च जयति वशीकरोतीति कुञ्जमीश्वरतत्त्वं तस्मिन्, **निलीय** तदाकारतां प्राप्य, यद्वा कुं क्षेत्रं बुद्ध्यादिकं जयति स्ववशतया स्वस्वकार्ये प्रेरयतीति **कुञ्जं** ब्रह्माभिन्नं प्रत्यगात्मस्वरूपं तस्मिन् निलीय एकीभूय; कुः पृथ्वी सा यथा बीजस्यानेकरूपेणाविर्भूतिकारणा तद्वदात्मनानात्वप्रतीतिसाधना बुद्ध्यादिक्षेत्ररूपा कुशब्देन ग्राह्यात्र, **रमणस्य** रमयति सुखयति जगदिति रमणं ब्रह्म तस्य, 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिश्रुतेश्च **रस** आनन्दो 'रसौ वै स' इति श्रुतेः **गृहीतः** अङ्गीकृतोऽनुभूत इत्यर्थः, **तत्र** मम ब्रह्मसुखानुभवे, **यद्** यस्मात्कारणादेतासां शान्त्यादीनां लौकिकवृत्तीनां च मत्सहचारित्वाभावे सति मदनुभूतब्रह्मसुखस्य तासु प्रतीत्यभावे च सति **इमा** मम ब्रह्माकारायाः प्रकाश्यत्वेन दृश्यमाना **वयस्या** मत्समवयस्का, विवेकसमये एव मत्सहितानां शान्त्यादिवृत्तीनामुत्पत्तेः शान्त्यादिवृत्तयः सर्वाः समाप्ताः **प्रसन्नवदनाः**

प्रसन्नं निर्मलं रागादिहीनं वदनं 'चेतोमुख' इति श्रुतेः विषयभोगसाधनमग्रमेवात्र वदनं मुखं यासां तास्तथोक्ताः, सन्ति तं **हेतुं** कारणमहं तुर्याख्या बुद्धिः, **न कलयामि** न जानामि, किं च केवलं **चित्रं** आश्चर्यं, **भजामि** सेवामि, ममात्मसुखानुभवे सति मद्भिन्नानामेतासां कथमानन्दानुभवं इति विस्मयामि केवलं तद्धेतुं न जानामीत्येवं भावस्तुर्याख्यतुलस्यास्तृतीयं पत्रं ज्ञेयम्।।४।। (८६५)

गोपाल (इन्द्रियों का पालन करनेवाले) की स्त्री (भोगसाधन) हूँ। मोह किंवा अहंकार से मेरा दृढ सम्बन्ध बंधा हुआ है। यही कारण है कि आत्मानात्मविवेक करने में चतुर मनीषा (समझ) भी मुझ में नहीं है। मेरे लिंग शरीर में अनेक प्रकार के इन्द्रियसुखों की वासनायें भरी पड़ी हैं। जब कि मेरे अन्दर आत्मदर्शन के विपरीत इतनी सामग्री भरी हुई है फिर मुझे आत्मदर्शन के लिये क्या उपाय करना चाहिये? वह मुझे क्योंकर प्राप्त हो सकेगा? इसी गम्भीर विचार में मैं पड़ी थी कि इतने ही में वह परमात्मा मुझ तुर्याबुद्धि को अकस्मात् दर्शन दे गया। जब किसी अधिकारी के मन में इस प्रकार उपायान्वेषण की गहरी चिन्ता उत्पन्न हो गयी हो तो ऐसे उदार भाव ही इस तुलसी पूजा के द्वितीय पत्र कहाते हैं।।३।।

मैं अकेली राधिका अर्धरात्रि के समय उस वन में गयी थी, किसी कुंज में छिपकर अपने रमण का सम्भोग सुख भोगा था। यह बड़ा आश्चर्य है तथा इसका कोई भी कारण मुझे ज्ञात नहीं होता है कि ये मेरी सब सखियाँ (मेरे सम्भोगसुख को देखे बिना तथा मेरे साथ गये बिना भी) प्रसन्नवदन क्योंकर हो गयी हैं।

प्रकृततुरीया बुद्धि स्वयं ब्रह्मसुख का अनुभव लेकर, ब्रह्मसुख का अनुभव न करने पर भी शान्ति आदि वृत्तियों को प्रसन्न देखकर, उसके कारण को न पहचानने पर विस्मय में पड़ी हुई सविकल्प समाधि की वृत्तियों से यों कहने लगीकि हे सखिरूप सविकल्प समाधि की वृत्तियों! मैं तो अकेली होकर विषयों के न दीखने से निशीथ के समान सम्भजनीय ब्रह्म में गयी थी। (माया तथा माया के कार्यों को वश में करने वाले) ईश्वरतत्त्वरूपी कुंज में छिप कर (ब्रह्मरूपी) जगद्रमण के (आनन्दरूपी) रस का भोग किंवा ब्रह्मसुख का अनुभव मैंने अकेले ही किया था। ये शांति आदि तथा अन्य भी लौकिक वृत्तियाँ उस समय मेरे साथ नहीं थी, उन्हें मेरे अनुभूत ब्रह्मसुख की प्रतीति नहीं होनी चाहिये थी, परन्तु फिर भी ये मेरी समवयस्क (क्योंकि विवेक के उदय होते ही शान्ति आदि भी उदित हो जाती हैं इसीलिये वे समवयस्क वृत्तियाँ कहाती हैं) शान्ति आदि वृत्तियाँ सब की सब प्रसन्नमुख (रागादिहीनप्रवृत्ति वाली) देखी जाती हैं। इनकी प्रसन्नता का वह कारण ही तो मुझ तुर्या बुद्धि को ज्ञात नहीं होता,

ननु श्रीकृष्णभोगजन्यं सुखं कीदृशं तत्कथयेत्याशङ्क्य तस्यानिर्वचनीयत्वनिरूपणपूर्वकं चिह्नैरेव तन्निरूपयति **किम् इति। कस्य पुरतो** यस्याग्रे वर्णनीयं तस्य तदनुभवाभावान्न कस्याप्यग्रे वर्णनीयमित्यर्थः। तथा **कस्य वर्ण्यं** वचनविषयं भवेन्न कस्यापीत्यर्थः, अनुभवितृवक्त्रोः क्रियाभेदेन कर्तृभेदादन्यानुभूतस्यान्येन कथनाशक्तेरनुभवित्राऽनुभूतस्य सुखस्य वक्तुर्वचनविषयत्वासम्भवादिति भावः। **वर्णितेन** श्रीकृष्णसंभोगजन्यसुखवर्णनेन कृतेनापि, **किं** किं फलं, न किमपि फलमित्यर्थः। अतो **हे सखि** हे आलि, तत्सुखं **वर्णयितुं** वर्णनं कर्तुं, **न शक्यं** न सामर्थ्यविषयमतः **किं वर्णयामि** कथं वर्णयामि न कथमपि वर्णयामि इति यावद्। अत एव लक्षणेनैव तल्लक्ष्यमित्याशयेन श्रीकृष्णभोगसुखाविर्भावेऽस्यां लक्षणानि तत्कालीनान्याह **अङ्गानि इति। रतिनायकेन** रतिसुखस्य पुरुषाधीनत्वाद्रतेर्मैथुनसुखस्य नायकः स्वामी श्रीकृष्णस्तेन, **अधरे** अधरोष्ठे, **दष्टे**, चुम्बिते सति, ततो **रतिरसे** रतेर्मैथुनस्य रसः सुखं तस्मिन्नाविर्भूत इति शेषः, **मे** मम, **नीव्या** अधरवस्त्रबन्धेन, **सहैव** साकमेव, अङ्गानि हस्तपादादीनि, **विगलितानि** शिथिलानि जातानि, एतेनैव लक्षणेन श्रीकृष्णेन सह रतिसुखं जानीहि, न तु तद्वचनेन निरूपयितुं शक्यमिति भावः।

प्रकृतार्थेपि तुरीया बुद्धिः स्वसमीपवर्त्तिनीं सविकल्पसमाधिरूपां वृत्तिं प्रति ब्रह्मसुखानुभवस्यावर्णनीयत्वनिरूपणपुरःसरं तत्सुखं स्वानुभूतं स्वस्यां तच्चिह्नैर्लक्षयति **किमिति। कस्य पुरतो** न कस्यापीत्यर्थः, ब्रह्मसुखाकाराया मम द्वितीयाभावादिति भावः। तथा **कस्य** वक्तुः तत् सुखं **वर्ण्यं** वर्णनविषयं भवेन्न कस्यापीत्यर्थः, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मसुखस्य वागविषयत्वप्रतिपादनात् 'नान्योतोस्ति द्रष्टे' त्यादिश्रुत्या वक्तुरप्यतः पृथगसत्त्वप्रतिपादनाच्चेति भावः। अत एव **किं वर्णितेन** तद्वर्णनस्य प्रलापत्वादुपहासास्पदेन तद्वर्णनेन कृतेनापि किं फलं न किमपीत्यर्थः, व्यर्थश्रममात्रं तदिति भावः। अतो हे **सखि** तुर्यानुकूल्यान्मित्रत्वेन सविकल्पसमाधिमुद्दिश्य तुर्याख्यबुद्धिकृतं सम्बोधनं योज्यं; तत्सुखं **वर्णयितुं** वर्णनविषयीकर्तुं, **न शक्यं** न सामर्थ्यविषयमस्ति, अतः **किं वर्णयामि** इति उदासीनता वाक्प्रपञ्चे स्वस्याः दर्शिता, ब्रह्मसुखानुसन्धानविरोधितया वाक्प्रपञ्चस्येति दुःखरूपत्वेन निष्फलत्वेन चेतिभावः। अतस्तच्चिह्नैनैव दर्शयति **अङ्गानीति। रतिनायकेन** रते रमणस्य सुखस्येत्यर्थः, नायकेन स्वामिना ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मना, 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुत्या जगदानन्दयितृत्वप्रतिपादनात् सुखस्यात्माधीनत्वेनात्मनस्तत्स्वामित्वमिति भावः, **अधरे** 'मनसैवेदमाप्तव्यमि'त्यादिश्रुत्या वृत्तिव्याप्यत्वप्रतिपादनात्तस्या एव वृत्तेर्ब्रह्मणोऽधःस्थितत्वात्तुर्याख्यबुद्धेर्ममांशत्वेनाधरत्वं तस्मिन्; यद्वा धरतीति धरः प्रपञ्चधारकोऽविकेकांशस्तस्मिन् दष्टे सति नाशिते सति; वृत्तिपक्षे स्पृष्टे सतीत्यर्थः, स्वैक्ये सम्पादिते सतीति वा, ततो **रतिरसे** रते इसीलिये मैं तो केवल आश्चर्य में पड़ गयी हूँ। क्योंकि सुखानुभव तो अकेले मैंने ही किया है, मुझसे भिन्न इनको उस आनन्द का अनुभव कैसे हुआ! इसका कारण प्रतीत नहीं होता। यही आश्चर्य तुरीयतुलसीपूजा का तृतीय पत्र कहाता है। आत्मदर्शन होने पर शान्ति आदि सभी वृत्तियाँ अपने आप उज्ज्वल होती जाती हैं यही इस श्लोक का संक्षिप्त भाव है।।४।।

किं वर्णयामि पुरतः किल कस्य वर्ण्यं
किं वर्णितेन सखि वर्णयितुं न शक्यम्।
अङ्गानि मे विगलितानि सहैव नीव्या
दष्टेऽधरे रतिरसे रतिनायकेन।।५।। (८६६)

रमणस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मज्ञानलक्षणक्रीडाया रसे सुखे निरतिशयानन्द आविर्भूते सतीति शेषः, **मे** मम तुर्याख्यबुद्धेः, **नीव्या सहैव** अधरवस्त्रबन्ध इव 'वस आच्छादन' इति धातोः वस्त्रशब्दनिष्पत्तेस्तस्य च आच्छादनार्थत्वेन शरीरस्याप्यात्माच्छादकत्वेन वस्त्रसादृश्यात्तस्यात्मनश्च सम्बन्धहेतुत्वादहङ्कार एव नीवीसादृश्यान्नीवीशब्देनात्र ग्राह्यस्तेन **सहैव** साकमेव **अङ्गानि** अनुभवित्रनुभवानुभवितव्याख्यानि त्रिपुटीरूपाणि, **विगलितानि** नष्टानि, अन्यानि प्रसिद्धानि शरीराणि च नष्टानि अनेनैव लक्षणेन तत्सुखमनुमेयमिति भावः।।५।। (८६६)

उस रमणसुख को किसके आगे कहूँ? तथा कौन उसका वर्णन करे? वर्णन करने से फल भी क्या? वह तो वर्णन किया ही नहीं जा सकता (इसलिये मैं भी क्यों वर्णन करूँ?) देखो जब रतिनायक ने मेरा अधरचुम्बन किया तो मेरी नीवी के साथ-ही-साथ मेरे अंग भी ढीले पड़ गये थे।

प्रकृततुरीयाबुद्धि ब्रह्मसुखानुभव को अवर्णनीय बताकर अपने समीप रहने वाली सविकल्प समाधि की वृत्तियों से, चिह्नों के द्वारा उस स्वानुभूत सुख की कल्पना करवाती हैहे सखियों! जब मैं ब्रह्मसुखाकार हुई थी तब कोई दूसरा तो था ही नहीं। इसलिये किस अनुभवी के सामने उसका निरूपण करूँ? (किस अन्धे को चित्र दिखाने का निष्फल उद्योग करूँ?) किसी दूसरे ने तो उसे देखा ही नहीं। इसके अतिरिक्त उस ब्रह्मसुख का निरूपण शब्दों के द्वारा करने का सामर्थ्य भी किसमें है "यतो वाचो निवर्तन्ते" उसका निरूपण करने को चली हुई वाणियाँ जहाँ से असफल होकर ही लौट आती हैं, वर्णन नहीं कर सकतीं। "नान्योऽतोस्ति द्रष्टा" उस ब्रह्मसुख से भिन्न द्रष्टा भी तो और कोई है ही नहीं। फिर जबकि बोलने वाला भी वह ही है तो अपने आपको अपने से क्यों कर कहा जाय? फिर उसका वर्णनोद्योग भी क्योंकर किया जाय? उस वर्णन के प्रलापतुल्य होने से उपहास के अतिरिक्त और किसी फल की आशा भी क्योंकर की जाय? उसका वर्णन करना एक निष्फलोद्योग होता है। हे मुझ तुर्यावस्था के अनुकूल सविकल्प समाधिरूपी मित्रो! उस सुख का वर्णन तो किसी प्रकार किया ही नहीं जा सकता, फिर मैं भी उसका क्या वर्णन करूँ? मैं तो आत्मसुख का निरूपण वाणी के द्वारा करने की ओर से उदासीन हो गयी हूँ। यह वाग्व्यवहार ब्रह्मसुखानुभव का विरोधी है, तथा दुःखरूप होने से निष्फल भी होता है, इसलिये मैं अब केवल

नन्वेतदेव सुकृतं फलितं मदीयं
यत्कामिनीषु रसलंपट एष कृष्णः।
लक्ष्मीपतेरितरथा न भवेदकस्मा-
दस्मासु गोपवनितासु कथाप्रसङ्गः।।६।। (८६७)

इदानीं स्वस्याः कृष्णेन सह सम्भोगे पूर्वसुकृतमेव कारणं निश्चित्य सख्यग्रे निवेदयति **ननु इति। एतत्** कृष्णेन सह भोगफलकं, **मदीयं** ममेदं मदीयं मत्पूर्वकृतमित्यर्थः, **सुकृतमेव** पूर्वजन्मकृतं पुण्यकर्मैव, **फलितं** श्रीकृष्णभोगरूपेण परिणतं, **ननु** इति वितर्कयामि। कुत इत्यत आह **यद् इति। यद्** यस्मात्कारणाद्, **एष** मत्पुरोवर्त्ती, **श्रीकृष्णो** भूमानन्दरूपं ब्रह्मैवास्ति।

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।।

इत्युक्तेस्तस्य च निष्कामेष्वेव साक्षाद्दृश्यत्वोक्तेरस्माकं सर्वदा दृश्यमानः। किञ्च **कामिनीषु** कामवतीषु, **अस्मासु** प्राकृतस्त्रीषु, रसलम्पटो रसः सुखमस्मत्सम्भोगजन्यं सुखं तस्मिँल्लम्पटो लुब्धोऽस्ति तस्मात् कारणादिति योज्यम्। तदुक्तमेव व्यतिरेकेण द्रढयति **लक्ष्मीपतेः इति। इतरथा** अन्यथा अस्मत्सुकृतोदयाभाव इत्यर्थः, **लक्ष्मीपतेः** इति हेतुगर्भं विशेषणं; स्त्रीलुब्धत्वं [यदि] श्रीकृष्णे यदि सम्भाव्यं तर्हि सर्वस्त्रीरत्नं लक्ष्मीस्तस्या ब्रह्मादिप्रार्थनीयत्वं प्रसिद्धं तथा सति तस्यास्तेषु चाञ्चल्यं प्रसिद्धं, तस्या एव श्रीकृष्णे स्थैर्यं दृश्यते शास्त्रेषु [च] लक्ष्मीपतित्वं चास्य प्रसिद्धं, किञ्चास्य तस्यामुदासीनत्वादपि तत्स्थैर्यमिति। तस्य श्रीकृष्णस्य **अकस्माद्** विना साधनानुष्ठानं; तत्र हेतुः, **गोपवनितासु** गोपानामाभीराणां वनितासु स्त्रीषु, **अस्मासु** राधिकाद्यासु, **कथाप्रसङ्गः** कथायां वार्त्तायामपि प्रसङ्गः सम्बन्धो, **न भवेत्** न स्यात्, किं पुनः वक्तव्यं सम्भोगप्रसंगो न स्यादिति। तस्मात्पूर्वसुकृतमेव फलितमिति निश्चयः।

प्रकृतार्थे तु तुर्या बुद्धिःस्वस्या ब्रह्मैक्याकारवृत्तिजन्यसुखानुभवे पूर्वानन्तजन्मसम्पादितसुकृतमेव कारणं निश्चित्य सविकल्पसमाधिमेव पुरोवर्त्तिनीं लक्ष्यीकृत्य तदग्रे निवेदयति **ननु इति। एतत्** स्वस्या

संकेतों से ही तुम्हें बताये देती हूँ। सुनो! सकलसुखों के स्वामी जगदानन्ददायक उस आत्मा ने प्रपंच को धारण करने वाले धर नाम के अविवेकांश को जब नष्ट कर डाला, अथवा ब्रह्म से (अधः) उतर कर रहने वाले मुझ तुर्याबुद्धि के वृत्तिरूपी अधर को स्पर्श किया किंवा उस वृत्ति के साथ एकता का सम्पादन कर लिया, तो फिर मुझे आत्मरूपी पति के निरतिशयानन्द का आविर्भाव स्वयमेव हो गयाफिर तो मुझ तुर्याबुद्धि की, अहंकाररूपी नीवी भी खुल गयी और अनुभविता अनुभव तथा अनुभवितव्य नाम के मेरे तीनों अंग तथा तीनों शरीर भी कुछ समय के लिये अदृश्य हो गये। तब मुझे शरीरादि किसी का भी भान नहीं रहा। इस लक्षण से मेरे उस अलौकिक सुख की कल्पना कर लो। ऐसे लोकोत्तर भाव ही तुरीय तुलसीपूजा के चतुर्थ पत्र कहाते हैं।।५।।

जीवब्रह्मैक्य-सुखाप्तिरूपमिदं, **मदीयं** ममेदं मदीयं मयैवानन्तजन्मसु सम्पादितमित्यर्थः, **सुकृतं** पुण्यमेव सम्पादितं, **फलितं** जीवब्रह्मैक्यभावज्ञानरूपेण तत्सुखावाप्तिरूपेण च परिणतं, **ननु** इत्येवं निश्चिनोमि। कुत इत्यत आह **यद् इति। एष** मत्पुरः साक्षाद्दृश्यमानोऽयं कृष्णो ब्रह्मानन्दोऽस्ति।

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयौरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।।'

इत्युक्तेस्तस्य तु निष्कामेष्वेवानुभूयमानत्वप्रसिद्धेः **अस्मासु** अहंकारविशिष्टासु, अत एव **गोपवनितासु** गा बुद्धिवृत्तीरात्मसत्त्वारोपेण पातीति गोपो बुद्धिवृत्तिपालकोऽहंकारस्तस्य वनितास्तद्भजनरता वयं तुर्याया अपि अहंकारसम्बन्धत्वाद् गोपवनितात्वमन्यवृत्तिवदेव ज्ञेयं, वनधातोः सम्भजनार्थत्वाद् वनिताशब्दस्य च तत्प्रकृतिकत्वाच्चेति भावः, तत्रापि **कामिनीषु** प्रारब्धशेषपर्यन्तं लोकविषयेच्छावतीषु; निष्कामेष्वेव ब्रह्मसुखानुभवप्रतिपादनादिति भावः, यद्वा कामयितुं ब्रह्मसुखमर्थयितुं शीलं यासां ताः तथोक्ताः तासु स्वरूपसुखस्य नित्यप्राप्तत्वादपि तदिच्छापि तदनुभवे बाधिकैवेति तत्कामवतीष्वपि तत्साक्षात्कारो दुर्लभ इति भावः। तदेव व्यतिरेकेण द्रढयति **लक्ष्मीपतेः इति। इतरथा** अन्यथा अस्मत्सुकृतफलोदयोन्मुखताभावे सतीत्यर्थः, **लक्ष्मीपतेः** लक्ष्मीरत्र गुरुवाक्यस्थिता भद्रा ग्राह्या 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाची'ति श्रुतेस्तस्या मोक्षलक्ष्म्याः पतिः पालकः स्वामी परमात्मा तस्य मोक्षलक्ष्मीदातुः परमात्मनो गुरोश्च **अकस्मात्** शीघ्रं, **अस्मासु** तुर्यादिनाम्नीषु, **गोपवनितासु** बुद्धिवृत्तीरिन्द्रियाणि च पाति रक्षतीति गोपो महामोहो अहङ्कारो वा तं वनन्ति सम्भजन्तीति गोपवनिता अज्ञानवृत्तयोऽहङ्कारसंबद्धाश्च तादृशीषु प्रारब्धपर्यन्तं सर्ववृत्तिष्वपीत्यर्थः, **कथाप्रसङ्गः**, कथया वार्त्तया प्रसङ्गः, संबन्धो, **न भवेत्** न स्यात् तत्र किं वक्तव्यं साक्षादनुभवो न भवेदिति। अतोत्र सर्वदा सर्ववृत्तिषु अस्माकमात्मानुभवेऽस्मत्सुकृतमेव कारणमिति निश्चेतिव्यमिति भावः।।६।। (८६७)

क्योंकि हमें प्रत्यक्ष दीखने वाला यह कृष्ण हम मामूली स्त्रियों में रसाभिलाषी हो रहा है, यह हमारा कोई पूर्वजन्म का पुण्य विशेष ही है जो हमें श्रीकृष्ण का भोगरूपी फल दे गया है, मैं तो केवल यही समझती हूँ। यदि हमारे पुण्यों का उदय न होता तो लक्ष्मी जैसी उत्तम स्त्री के पति उस श्रीकृष्ण का, बिना किसी साधन का अनुष्ठान किये हम राधिकादि गोपस्त्रियों में तो बातचीत का भी प्रसंग नहीं आता।

प्रकृततुर्याबुद्धि को जो अपनी ब्रह्माकारवृत्ति से उत्पन्न हुए सुख का अनुभव हुआ तो उसमें वह पूर्व के अनन्तजन्मों में सम्पादित पुण्यों को ही कारण समझकर सविकल्प समाधि से यों कहने लगीकि यह आत्मसाक्षात्कार किंवा आत्मसुखप्राप्ति तो मेरे अनन्तजन्मों में सम्पादित पुण्यों का ही परिणाम है। क्योंकि यह कृष्ण नाम का ब्रह्मानन्द कामिनियों (सविकल्प समाधि की वृत्तियों) में से ही रस चखने का लोभी हो रहा है। यदि हमारे पुण्य न फले तो वे मोक्षरूपी लक्ष्मी के पति (परमात्मा या देशिक)

तुरीयतुलसीपत्रैर्वनमाली सुपूजितः।
अस्मिन् वने महामिष्टं यत्फलं तत्प्रयच्छति।।७।। (८६८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे तुरीयतुलसीपत्रपूजा त्रयस्त्रिंशा।।३३।।

इदानीमेतत्तुरीयतुलसीपत्रैरात्मानुसन्धानलक्षणे पूजने फलितमाह **तुरीया इति**। अधिकारिशरीरं प्राप्य पुरुषेण **तुरीयतुलसीपत्रैः** तुरीयमिव मोक्षफलदात्री तुलसी तस्याः पत्राणि दलानि तैः, कृत्वा **वनमाली** वनमालाऽऽपादलम्बिनीमाला स्रग्विद्यते यस्य स श्रीकृष्ण 'आपादलम्बिनीं मालां वनमालां विदुर्बुधा' इति कोशोक्तेः, **सुपूजितः** सुष्ठु प्रेम्णा पूजितोऽर्चितश्चेद्यदि तर्हीत्यध्याहार्यम्, **अस्मिन्** लोकप्रसिद्धे, **वने** कर्माद्युपासनान्तलक्षणे सम्भजने, **यन्महामिष्टं** प्रसिद्धमत्यन्तसुखरूपं, **फलं** सर्वजन्मकृतकर्मणामुपासनानां च फलत्वात्तदेव फलं प्रेमलक्षणं, तत् **प्रयच्छति** ददाति।

प्रकृतार्थे तु अधिकारिणा **तुरीयतुलसीपत्रैः** तुरीयाऽऽत्मसाक्षात्कारवती बुद्धिरेव तुलसीव विष्णुप्रियत्वादात्मप्रियत्वाच्च, तस्याः पत्राणीव तद्वृत्तय उक्तलक्षणास्तैः, **वनमाली** वनं तुर्यबुद्ध्याऽऽत्मानुसन्धानलक्षणं भजनं तेन मालाते शोभते इति, वनमाली तुर्यानुभूतः परमात्मा, सुपूजितो नैरन्तर्येणानुसन्धत्तश्चेत्तर्हि अस्मिन् काण्डत्रयवेदप्रसिद्धे, **वने** कर्मोपासनाज्ञानलक्षणे सम्भजने, **यद्** विवेकिप्रसिद्धं, **महामिष्टं** निरतिशयसुखस्वरूपं मोक्षाख्यं फलं, तत् **प्रयच्छति** ददाति।।७।। (८६८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविराचितायां बोधसारार्थदीप्तौ तुरीयतुलसीपत्रपूजार्थप्रकाशस्त्रयस्त्रिंशः।।३३।।

अकस्मात् (इतनी जल्दी) हम गोपवनिताओं (गोप नाम के अहंकार से सम्बद्ध तथा प्रारब्ध तक रहने वाली किन्हीं भी साधारणवृत्तियों) से भूलकर भी बातचीत न करते। साक्षात् अनुभव न करा देते इसका तो कहना ही क्या? फिर भी हमको सदा सब वृत्तियों में जो कि आत्मानुभव रहने लग पड़ा है उसका कारण हमारे पूर्वजन्मों के अनन्तपुण्य ही हैं।।६।।

तुरीयरूपी तुलसी के पत्रों से भली प्रकार पूजा हुआ वनमाली इस (कर्मोपासनारूपी रूखे) वन में से भी सबसे मीठा प्रेमरूपी फल दे देता है। अधिकारिशरीर को पाकर यदि कोई पुरुष तुरीय के समान मोक्षप्रद तुलसी के पत्रों से वनमाली अर्थात् (पैर तक लटकने वाली माला पहनने वाले) श्रीकृष्ण का प्रेम के साथ पूजन कर लेता है तो इस कर्मोपासनारूपी सम्भजन में जो अत्यन्त सुखरूप, (सब जन्मों में किये हुए कर्मों तथा उपासनाओं का) प्रेमरूपी मीठा फल है, वह वनमाली प्रसन्न होकर वही मिष्ट फल उस अधिकारी को दे देता है।

प्रकृतजब कोई अधिकारी तुरीय (आत्मसाक्षात्कार वाली बुद्धि) रूपी तुलसी के (उपरिवर्णित भावरूपी) पत्तों के तुल्य वृत्तियों के द्वारा, आत्मस्मरणरूपी भजन से ही शोभा पाने वाले परमात्मा को पूज लेता हैअर्थात् उसका निरन्तर चिन्तन करता

अथ हेतुमालाहीरावली

श्रुतिप्रामाण्यसिद्धेऽर्थे हेतुभिः किं तथापि हि।
अपूर्वरचनात्मत्वादलङ्कारो महान्यतः।।१।। (८६६)

एवमात्मानुसन्धानरूपां तुरीयतुलसीपत्रपूजां निरूप्य इदानीं ज्ञानवतां जन्माभावादिधर्माः शास्त्रेषु कथिताः तेषां हेतून् प्रतिपादयितुं तेषां बहुत्वेन च हीरकघटितमाला इव कण्ठशोभाकारित्वाद् हेतुमालाहीरावल्याख्यं द्वाविंशतिश्लोकं प्रकरणमारभमाण आह **अथ इति। अथ** तुरीयतुलसीपत्रपूजानिरूपणानन्तरं, **हेतुमालाहीरावली** हेतूनां कारणानां माला स्रगेव, **हीरावली** हीरकस्रगेतदाख्यं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यते इति शेषः। ननु ज्ञानिषु जन्माभावादिगुणाः श्रुत्युक्ताः सन्ति श्रुतीनां च सर्वप्रमाणशिरोमणित्वात् तदुक्तेर्थे प्रामाण्यमेवातः किन्तदर्थहेतुविचारेण इति आशङ्क्य आह **श्रुतीति। श्रुतिप्रामाण्यसिद्धे** श्रुतीनां स्वतः प्रमाणभूतानां वेदवाक्यानां प्रामाण्यं प्रामाणिकत्वं सर्वप्रसिद्धं तेन, चोक्ते कथिते **अर्थे** पदार्थ, आस्तिकानां सर्वेषामपि निश्चयारूढत्वाद्, हेतुभिः कारण- प्रश्नैस्तन्निरूपणैश्च, **किं** किं प्रयोजनं न किमपीत्यर्थः, **तथापि** हेतुनिरूपणस्य निष्प्रयोजनत्वेपि **हि** यतो, **अपूर्वरचनात्मत्वाद्** अस्य प्रकरणस्य **अपूर्वा** पूर्वाचार्यै र्निरूपितत्वाभावात् संग्रहेण नोक्ता **रचना** घटना यस्याः[1] सा तथाभूता आत्मा स्वरूपं यस्य प्रकरणस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादस्य प्रकरणस्य निरूपणेन साफल्यमस्तीति भावः। हेत्वन्तरमाह **अलङ्कार इति। यतः** कारणाद् इदं हेतुमालानिरूपणं तद्रचनं च कण्ठे धृते अधिकारिणां **महान्** अतिश्रेष्ठोऽ**लङ्कारो** भूषणं भवेद्, अतो अस्य निरूपणं सफलमेवेति भावः। **हेतुमाला निरूप्यते** इति वा पाठः, अतो हेतुमाला हेतूनां कारणानां माला स्रग् इव एतत् प्रकरणं निरूप्यते प्रतिपाद्यते इत्यर्थः।।१।। (८६६)

रहता है तो वह परमात्मा प्रसन्न होकर इस (कर्म, उपासना तथा ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले वेदरूपी) वन में जो महामिष्ट निरतिशयसुखरूप मोक्ष नाम का एक सुन्दर फल लगा रहता है उसी को दे बैठता है।।७।।

ज्ञानी पुरुषों में जन्मादि गतियों का अभाव होता है यह बात शास्त्रों में बतायी गयी है; उसका कारण क्या है यह बताने के लिये इस प्रकारण का आरम्भ किया गया है। ज्ञानियों को जन्मादि गति न मिलने के बहुत से कारण होते हैं। इसलिये हेतुमालारूपी हीरावली, किंवा हीरावली के समान पाठकों के कण्ठ को सुशोभित करने वाला प्रकरण आरम्भ किया जाता है

(आस्तिक लोगों की दृष्टि में) जो पदार्थ श्रुति के प्रामाण्य से ही सिद्ध हो चुका है उसमें कारण पूछना किंवा उत्तर देना यद्यपि निष्प्रयोजन होता है तथापि यह एक अपूर्व रचना है तथा जिज्ञासुओं के कण्ठ का एक बड़ा अलंकार है (इसलिये इस प्रकरण का बनना सार्थक ही है)।।१।।

---

[1] हेतुमालायाः।

जन्म नामासतः सत्ता जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
सद्रूपतामेव गतस्तेन जन्म न विद्यते।।२।। (६००)
प्राप्तवानमृतं ब्रह्म जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
अमृतं येन संप्राप्तं स मृतत्वं कथं व्रजेत्।।३।। (६०१)

तत्रादौ ज्ञानिषु जन्माभावकथनस्य हेतुं दर्शयति **जन्म इति। असतः** अहंकारादेः, **सत्ता** स्वात्मसत्तारोपेण सत्त्वप्रतीतिः स्वात्मतादात्म्यमित्यर्थः, **जन्म** जननं **नाम** प्रसिद्धमस्ति। तदुक्तं विद्यारण्यस्वामिभिः

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम्।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः।। इति।।

तथा सति **जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः अद्वैतात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथाभूतो, **मुनिः** मननवान्, **सद्रूपतां** सतो ब्रह्मणो रूपमाकारस्तस्य भावस्तत्ता तां, **गत एव तेन** हेतुना तस्य मुनेः **जन्म** सदसदैक्यप्रतीतिरूपं जननं, **न विद्यते** नास्तीति प्रतिपादितं श्रुतिभिरिति शेषः सर्वत्र कर्तव्यः।।२।। (६००)

इदानीं ज्ञानिषु मरणाभावप्रतिपादने हेतुं दर्शयति **प्राप्तवान् इति। अमृतं** न विद्यते मृतं मरणं यत्र तदमृतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, प्रत्यगभिन्नमात्मानमित्यर्थः, **प्राप्तवान्** लब्धवान्, अत एव **जातसाक्षात्कृतिः** जाता उत्पन्ना साक्षात्कृतिर्मरणरहितात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथोक्तो, **मुनिः** ज्ञानी, अस्ति अतो हेतोः **येन** मुनिना, **अमृतं** मरणरहितं ब्रह्म, **संप्राप्तं** लब्धं निःसंशयं अहम् इति स्वात्मत्वेनाङ्गीकृतमित्यर्थः, **स** मुनिः, **मृतत्वं** मरणभावं, **कथं** केन प्रकारेण, **व्रजेत्** प्राप्नुयात्।।३।। (६०१)

तत्रैव प्रकारान्तरेण हेत्वन्तरमाह **मृतिः इति। मृतिः** लोकप्रसिद्धा, **शरीरसन्त्यागः** शरीरस्य देहस्य सन्त्यागः सम्यक्त्यागो विसर्जनं प्रसिद्धा, तथा सति **जातसाक्षात्कृतिः** जातोद्भूता साक्षात्कृतिर्मरणरहितदेहाद्यतीतात्मसाक्षाकारो यस्य स तथोक्तो, **मुनिः** ज्ञानी, **शरीरं** देहं,

अविद्यामान की सत्ता को जन्म कहते हैं, जिस मुनि को साक्षात्कार हो गया वह तो स्वयं ही सद्रूप हो चुका। इसीलिये ज्ञानी का जन्म नहीं होता।

असत् अहंकारादि पदार्थों में आत्मा की सत्ता का आरोप कर लेने पर जब उनमें भी सत्त्वप्रतीति होने लगे तब उसको 'जन्म' कहते हैं। परन्तु जिस मुनि को अद्वैतात्मसाक्षात्कार हो गया हो वह तो सद्ब्रह्मरूप ही हो जाता है। फिर भला उस मुनि का (सत् और असत् की एकताप्रतीति रूपी) जन्म कहाँ रहा? यही कारण है कि श्रुति ने उसके जन्म का निषेध किया है।।२।।

आत्मसाक्षात् करने वाले मुनि ने अमृत ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है। जिसने अमृत को प्राप्त किया हो वह भला फिर मरण को कैसे प्राप्त हो।।३।।

मृतिः शरीरसंत्यागो जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
शरीरं त्यक्तवान्पूर्वं मृतस्य मरणं किमु।।४।। (६०२)
अहन्तया सहैवायं जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
कर्तृत्वमत्यजत्तस्मात्कर्मभिर्न स लिप्यते।।५।। (६०३)
स्वयमेव पवित्रात्मा जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
न च पुण्यैः पवित्रोऽसौ तेन पुण्यैर्न लिप्यते।।६।। (६०४)

पूर्वं लोकप्रसिद्धमरणात्प्रागेव **त्यक्तवान्** विसृष्टवान्, अतो हेतोः **मृतस्य** त्यक्तदेहस्य, **मरणं** मृत्युः, **किमु** किमिव कथमिव, न कथमपि भवति इत्यर्थः, अतो ज्ञानिनो मरणं नास्ति इति उक्तं ज्ञेयम्।।४।। (६०२)

इदानीं ज्ञानिषु कर्तृत्वाभावोक्तेर्हेतुं दर्शयति **अहन्तया इति। जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः, अहङ्कारातीतात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथोक्तो, **मुनिः** ज्ञानी, **अयं** प्रकृतः, **अहन्तया** सहैव अहङ्कारेण साकमेव, **कर्तृत्वं** कर्त्ता कर्मेन्द्रियैः सहितो विज्ञानमयः तस्य भावः तादात्म्यं, **अत्यजत्** त्यक्तवान्, **तस्माद्** हेतोः, स मुनिः **कर्मभिः** क्रियाभिः, **न लिप्यते** लिप्तो न भवति इति ज्ञेयम्।।५।। (६०३)

ननु कर्मभिर्ज्ञानिनां लेपो नास्तीत्युक्तं, तत्र पापजनकैः कर्मभिर्लेपो मा भूत्, पुण्यकर्मभिस्तु स्यादेव इत्याशङ्क्य, तैरपि ज्ञानिनां लेपो नास्तीति कथयन् तत्रापि हेतुं दर्शयति **स्वयमेव इति। जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिरात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथाभूतो, **मुनिः** ज्ञानी, **स्वयमेव** स्वत एव, **पवित्रात्मा** पवित्रः पावन आत्मा स्वरूपं यस्य स तथाभूतोऽस्ति, **असौ** ज्ञानी, **पुण्यैः** पुण्यकर्मभिः **पवित्र** पावनो, **न च** नैव भवेत्, **तेन** हेतुना, **पुण्यैः** पवित्रकर्मभिः, **न लिप्यते** न लिप्तो भवति, स्वतः पवित्रस्य ज्ञानिनो न पुण्यकर्मकृतपवित्रत्वलेप इति भावः।।६।। (६०४)

शरीर को भले प्रकार छोड़ देना ही मरण कहाता है। देहादिविहीन आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाले मुनि ने तो मरने से पहले ही इस शरीर को त्याग रक्खा है, फिर भला मेरे हुए का मरना ही क्या? (यही कारण है कि ज्ञानियों की मृत्यु नहीं होती। वे तो मौत से पहले ही मर चुकते हैं)।।४।।

आत्मा का साक्षात् करने वाले मुनि ने जब अहंकार को छोड़ा तभी (कर्मेन्द्रियों के साथ तादात्म्यरूपी) कर्तृत्व को भी छोड़ दिया। यही कारण है कि ज्ञानी लोग कर्मों से लिप्त नहीं होते।।५।।

आत्मदर्शन कर लेने वाला मुनि तो स्वयमेव पवित्रस्वरूप होता है। वह मुनि (अज्ञानियों के समान) पुण्यों से पवित्र नहीं होता। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष पवित्र कर्मों के बन्धन में भी नहीं आता। (स्वतः पवित्र ज्ञानी पर पुण्यकर्मों के कारण पवित्रता का बनावटी लेप नहीं चढ़ता)।।६।।

अत्यन्तशुद्धरूपोऽसौ जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
तत्करोति पवित्रं यत्तेन पापैर्न लिप्यते।।७।। (९०५)
सहजानन्दरूपत्वाज्जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
येन हृष्यति तन्नास्ति तस्मादेष न हृष्यति।।८।। (९०६)

ननु तर्हि पापैरेव लेपोस्तु ज्ञानिनस्तत्राह **अत्यन्तेति। जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिरात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथोक्तो, **मुनिः** ज्ञानी, **असौ** ज्ञानी, **अत्यन्तशुद्धरूपः** अत्यन्तमुत्कृष्टं शुद्धं निर्मलं रूपमात्मा यस्य स तद्विधोऽस्ति अतः, **यत्** प्रसिद्धं शास्त्रविहितं कर्म, **(पवित्रं)** शुद्धं निर्मलमस्ति, **तत्करोति** आचरति, **तेन** स्वतः शुद्धत्वेन हेतुना शुद्धकर्माचरणेन हेतुना च, **पापैः** किल्बिषैः, **न लिप्यते** न लिप्तो भवति, यद्वा पापकर्मानाचरणं हेतुः शुद्धत्वे शुद्धत्वं च पापालेपे हेतुर्ज्ञेयः।।७।। (९०५)

इदानीं ज्ञानिषु हर्षाभावोक्तेर्हेतुं दर्शयति **सहजा इति। सहजानन्दरूपत्वात्** सहजः स्वाभाविको य आनन्दो निरतिशयसुखं स एव रूपं यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद् हेतोः **जातसाक्षात्कृतिः जाता** उत्पन्ना साक्षात्कृतिरानन्दात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथोक्तो, **मुनिः** ज्ञानी, **येन** पदार्थेन, **हृष्यति** हर्षं प्राप्नोति, **तत्**पदार्थजातं, **नास्ति** न विद्यते, ज्ञानिदृष्ट्या 'नेह नानास्ति किञ्चने'त्यादिश्रुत्या द्वैतजातस्य समस्तस्य बाधितत्वादिति भावः, **तस्मात्** स्वतः सुखरूपत्वाद् अन्यस्य सुखकारणविषयस्यासत्त्वाद्धेतोश्च **एष** प्रकृतो ज्ञानी, **न हृष्यति** हर्षं नाप्नोति। स्वाभाविकानन्यरूपत्वं द्वैतासत्त्वं च हर्षाभावे हेतुद्वयं ज्ञेयम्।।८।। (९०६)

इदानीं ज्ञानिषु द्वेषाभावोक्तेर्हेतुं दर्शयति **न इति। जातसाक्षात्कृतेः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः स्वात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथाविधः तस्य मुनेः ज्ञानिनो, **अपकर्त्तुं** अपकारं कर्त्तुं, **क्षमः** समर्थः, **कश्चित्** कोपि, **न** न विद्यते, निर्विकारात्मस्वरूपत्वाज्ज्ञानिनः अपकर्त्तुः अपि पृथगसत्त्वाच्चापकर्तु-

आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाला वह ज्ञानी स्वयं भी अत्यन्त शुद्धात्मा होता है। वह स्वभाव से ही वह काम करता है जो कि पवित्र होते हैं, इस कारण वह पापों से लिप्त नहीं होता।।७।।

आत्मा का साक्षात्कार करने वाला मुनि स्वयमेव सहजानंदस्वरूप हो जाता है। उसकी दृष्टि में जिस पदार्थ को देखकर वह हृष्ट हो ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं रह जाता। यही कारण है कि वह ज्ञानी फिर कभी हर्ष को भी प्राप्त नहीं होता।

प्रथम तो ज्ञानी स्वयं ही सुखरूप हो जाता है, तथा सुख का कारण उससे भिन्न कोई अन्य विषय नहीं रहता। इन्हीं दोनों कारणों से फिर उसे अज्ञानियों की तरह हृष्ट होने का प्रसङ्ग ही नहीं आता। क्षुद्रविषयों की प्राप्ति से ज्ञानी लोगों को मूर्खों की सी प्रसन्नता नहीं होती।।८।।

नापकर्तुं क्षमः कश्चिज्जातसाक्षात्कृतेर्भवेत्।
अपकर्त्तुरभावेन स तु न द्वेष्टि कंचन।।६।। (६०७)
अप्राप्यमवशिष्टं किं जातसाक्षात्कृतेर्मुनेः।
हानिर्नास्ति ततो हेतोर्न शोचति कदाचन।।१०।। (६०८)
केनाप्येष प्रकारेण जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
ब्रह्म सर्वात्मकं प्राप्य न कांक्षति किमप्युत।।११।। (६०६)

रप्यात्मत्वाच्चेति भावः, अतः **अपकर्त्तुरभावेन** अपकारकारिणोऽसत्त्वेन हेतुना, **स तु** ज्ञानी तु, **कञ्चन** कमपि, **न द्वेष्टि** नाप्रियं मनुते।।६।। (६०७)

इदानीं ज्ञानिनां शोकाभावोक्तेर्हेतुं सोपपत्तिकं दर्शयति **अप्राप्यं इति। जातसाक्षात्कृतेः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः सर्वात्मसाक्षात्कारो यस्य तस्य मुनेः, **अप्राप्यं** न प्राप्तुं लब्धुं योग्यमप्राप्यम् **अवशिष्टम्** उर्वरितं, **किं** किं वस्तु अस्ति, न किमपीत्यर्थः; सर्वात्मप्राप्त्यैव सर्वप्राप्तिसिद्धेरिति भावः, अतो **हानिः** नाशो ज्ञानिनो, **नास्ति** न विद्यते, **ततः** तस्माद्, **हेतोः** कारणात्, **कदाचन** कस्मिन्नपि समये, **न शोचति** शोकं न करोति।।१०।। (६०८)

इदानीं ज्ञानिषु इच्छाऽभावोक्तेर्हेतुं दर्शयति **केनापि इति। एष** प्रकृतो, **जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः स्वात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथोक्तो, **मुनिः** मननवान्, **सर्वात्मकं** सर्वस्य द्वैतजातस्यात्मा तत्त्वं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **प्राप्य** लब्ध्वा, **केनापि प्रकारेण** केनापि हेतुना, **किमपि** किञ्चिदपि वस्तु, **न काङ्क्षति** नेच्छति।।११।। (६०६)

इदानीं ज्ञानिषु भयाभावोक्तेर्हेतुं दर्शयति **न हि इति। जातसाक्षात्कृतेः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः निर्भयात्मसाक्षात्कारो यस्य तस्य, **अन्यो** द्वितीयः, **कश्चित्** कोपि, **बलवान्** बली, **न**

आत्मा का साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी का अपकार कोई भी नहीं कर सकता (क्योंकि ज्ञानी तो स्वयं निर्विकार आत्मरूप होता है तथा अपकार करने वाला उससे पृथक् न होकर उस ज्ञानी का आत्मा ही हो जाता है इसीलिये) अपकर्ता के न होने से वह ज्ञानी किसी से द्वेष नहीं करता। अर्थात् किसी को अपना अप्रिय नहीं समझता।।६।।

जातसाक्षात्कृति मुनि को अप्राप्य वस्तु और रही ही क्या है? (क्योंकि सार्वात्म्य की प्राप्ति हो जाने के कारण उसको तो सब कुछ प्राप्त हो ही चुका है) इसलिये ज्ञानी की हानि भी कुछ नहीं हो सकती। यही कारण है कि ज्ञानी लोग कभी शोक नहीं करते।।१०।।

यह साक्षात्कारी ज्ञानी किसी भी रीति से जब सर्वात्मक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है तो फिर वह किसी भी पदार्थ की इच्छा तक नहीं करता।।११।।

न ह्यन्यो बलवान्कश्चिज्जातसाक्षात्कृतेर्भवेत् ।
यस्माद्बिभेति तन्नास्ति तस्मादेष बिभेति न । ।१२ । । (६१०)
यदस्य कार्यं परमं जातसाक्षात्कृतेर्भवेत् ।
तत्सर्वमेव संसिद्धं न तस्मात्स विषीदति । ।१३ । । (६११)
मान्यस्तु पद्मजादीनां जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः ।
मानितो यदि लोकेन स तु मानं न विन्दति । ।१४ । । (६१२)

भवेत् न स्याद्, हि प्रसिद्धमेतत्सर्वविवेकिषु, **यस्माद्** पुरुषाद् व्याघ्रादेर्वा, **बिभेति** ज्ञानी भयं प्राप्नोति तत्पुरुषजातं व्याघ्रादिकं वा, **नास्ति** न विद्यते, 'नेह नानास्ति किञ्चने'ति श्रुत्या सर्वस्य द्वैतजातस्य बाधितत्वादिति भावः, 'द्वितीयाद्वै भयं भवती'तिश्रुत्या द्वितीयस्य भयहेतुत्वप्रतिपादनाच्चात्मनोन्यस्य निर्बलत्वाच्चेति **तस्माद्** हेतोः **एष** ज्ञानी, **न बिभेति** न भयं प्राप्नोति । ।१२ । । (६१०)

इदानीं ज्ञानिषु विषादाभावोक्तेर्हेतुं दर्शयति **यद् इति । अस्य** प्रकृतस्य, **जातसाक्षात्कृतेः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः स्वात्मसाक्षात्कारो, **यस्य** तस्य **मुनेः** ज्ञानिनो, **यत्** सर्वशास्त्रेषु विद्वत्सु च प्रसिद्धं, **परमं** श्रेष्ठं मुख्यमित्यर्थः, **कार्यं** कर्त्तव्यं साध्यमित्यर्थः, **तत्** कार्यं, **सर्वं** समस्तमपि, **संसिद्धं** फलितमेव न तु अवशिष्टं किञ्चिदपि कार्यं अस्ति आत्मज्ञाने सर्वकर्मसमाप्तेः, तदुक्तं भगवता

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति ।

तस्मात्सर्वकर्मफलभूतज्ञानोत्पत्तेर्हेतोः **स** ज्ञानी **न विषीदति** विषादं न प्राप्नोति । ।१३ । । (६११)

इदानीं ज्ञानिषु मानाभावोक्तेर्हेतुं दर्शयति **मान्यस्तु इति । जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः ब्रह्मादिसामान्यात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथाविधो, **मुनिः** मननशीलो ज्ञानीत्यर्थः, **पद्मजादीनां** पद्मात् कमलात् जात उत्पन्नः पद्मजो ब्रह्मा स आदिर्मुख्यो येषां विष्ण्वादीनां तेषां, **मान्यस्तु** मानितुं योग्य एवास्ति स ज्ञानी, **लोकेन** सामान्यजनेन, **यदि** यर्हि, **मानितः** पूजितः तर्हि, **स तु** ज्ञानी तु, **मानं** पूज्यत्वाभिमानं, **न विन्दति** न प्राप्नोति नाङ्गीकरोतीत्यर्थः । यथा सूर्यस्य स्वतः प्रकाशरूपस्य लोकैः पूजायां दीपोज्ज्वलने कृतेऽपि तत्प्रकाशानङ्गीकार इव ज्ञानिन आत्मरूपत्वेन ब्रह्मादिमान्यत्वस्य स्वतः सिद्धत्वात् लोककृतपूजाऽन्यमानविकारानङ्गीकरणमिति भावः । ।१४ । । (६१२)

निर्भय आत्मरूप का साक्षात्कार कर लेने वाले उस ज्ञानी से दूसरा कोई भी बलवान् नहीं होता, जिससे वह ज्ञानी भयभीत हो वह तो दूसरा कोई है ही नहीं । यही कारण है कि ज्ञानी को भय नहीं लगता । ।१२ । ।

साक्षात्कारी मुनि का जो सर्वशास्त्रों में प्रसिद्ध आत्मसाक्षात्काररूपी परमश्रेष्ठ कार्य था वह तो सब सिद्ध हो गया, इसलिये वह ज्ञानी कभी विषाद नहीं करता । ।१३ । ।

मान्य एव सुरेन्द्राणां जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
न मानितो यदि जनैरपमानं न विन्दति।।१५।। (६१३)
उपकारापकरौ हि जातसाक्षात्कृतेर्मुनेः।
शक्यौ न केनचित्कर्त्तुं तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।।१६।। (६१४)

इदानीं ज्ञानिनोऽपमानाभावोक्तेरपि हेतुं दर्शयति**मान्य इति। जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः ब्रह्मादिमान्यात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथा भूतो, **मुनिः** ज्ञानी, आत्मत्वात् **सुरेन्द्राणां** सुराणां देवानां इन्द्रा ईश्वरा ब्रह्मादयः तेषां, **मान्य एव** पूज्य एवास्ति, अतो **यदि** यर्हि, **जनैः** सामान्यलोकैः, **न मानितो** न पूजितः, तर्हि सः **अपमानं** अनादरं, **न विन्दति** न प्राप्नोति।।१५।। (६१३)

इदानीं ज्ञानिषु शत्रुमित्रयोः समदृष्टित्वोक्तेर्हेतुं दर्शयति **उपकार इति। जातसाक्षात्कृतेः** जातोत्पन्ना शत्रुमित्रत्वरहितात्मसाक्षात्कृतिर्यस्य तस्य, **मुनेः** ज्ञानिनो, **हि** यस्मात् कारणात्, **उपकारापकारौ** उपकारः कस्मिंश्चिदपि कार्ये साहाय्यमपकारश्च कस्मिन्नपि कार्ये प्रतिकूलता तौ, **केनचित्** केनापि पुरुषेण, **कर्त्तुं** आचरितुं, **न शक्यौ** न सम्भाव्यौ, अतो ज्ञानी **मित्रारिपक्षयोः** मित्रं हितकारि अरिश्चाहितकर्त्ता शत्रुः तयोः पक्षौ अनुकूलप्रतिकूलाचरणरूपौ तयोः, **तुल्यः** समः।।१६।। (६१४)

इदानीं स्तुतिनिन्दाजन्यविकारानङ्गीकारोक्तेर्ज्ञानिषु हेतुं दर्शयति **गुण इति। जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः गुणदोषरहितात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथोक्तो, **मुनिः** ज्ञानी, **गुणदोषदशातीतं** गुणाश्चोत्तमाः शौचादयो दोषाश्चाशौचादयो दैवासुरप्रकृतिरूपास्तेषां दशा अवस्थाः शुचित्वाशुचित्वादिरूपाः ताभ्योऽतीतं विमुक्तम्, अत एव **परमं** कार्यकारणातीतं, **धाम** स्वरूपं,

आत्मा का साक्षात्कार करने वाला वह मुनि तो ब्रह्मा आदि के भी मान करने योग्य हो जाता है। उस ज्ञानी का यदि सामान्य लोग भी मान सत्कार करें तो भी वह ज्ञानी पूज्यत्व का अभिमान नहीं करता।

तात्पर्य यह है कि स्वतःप्रकाशरूप सूर्य की पूजा के लिये जबकि लोग दीपक जलाते हैं तो वह उनके प्रकाश को स्वीकार नहीं करता। वह उससे घटता बढ़ता नहीं है। इसी प्रकार आत्मरूप होने से ज्ञानी स्वतः ही ब्रह्मादियों का भी मान्य हो जाता है उसमें लोक की हुई पूजा से मानविकार उत्पन्न नहीं होता।।१४।।

वह मुनि तो सुरों के अधिष्ठाता ब्रह्मादियों का भी मान्य होता है, फिर यदि साधारण लोग उस ज्ञानी का मान न भी करें तो भी वह अनादर का अनुभव नहीं करता।।१५।।

(शत्रुत्वमित्रत्वरहित) आत्मा का साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी का किसी कार्य में सहायतारूपी अपकार कोई कर ही नहीं सकता। यही कारण है कि ज्ञानी लोग मित्र तथा शत्रु दोनों पक्षों में समान रहते हैं।।१६।।

गुणदोषदशातीतं जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
प्राप्तवान्परमं धाम तुल्यनिन्दास्तुतिर्हि सः।।१७।। (६१५)
गेहादिममता नास्ति जातसाक्षात्कृतेर्मुनेः।
तेनानिकेत इत्युक्तो यत्रसायंगृहो मुनिः।।१८।। (६१६)
अप्राप्तं प्राप्तवान्बोधं जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
स तु न क्षीयते तेन निर्योगक्षेम आत्मवान्।।१९।। (६१७)

प्राप्तवान् लब्धवान्, **हि** यतः कारणात् **स** ज्ञानी, **तुल्यनिन्दास्तुतिः** तुल्ये निरर्थकत्वेन समे निन्दा गर्हा स्तुतिश्च प्रशंसनं च यस्य स तथोक्तो भवति।।१७।। (६१५)

इदानीं ज्ञानिषु अनिकेतत्वोक्तेर्हेतुं दर्शयति **गेहादीति। जातसाक्षात्कृतेः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः स्वात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथोक्तः, तस्य **मुनेः** ज्ञानिनो, **गेहादिममता** गेहं गृहम् आदि मुख्यं येषु पुत्रदारादिषु तेषु ममता मदीयत्वाभिमानो, **नास्ति** न विद्यते, अतो **मुनिः** ज्ञानी, **यत्र** यस्मिन् स्थाने, **सायं** सायंकालो भवति तत्रैव इति अध्याहार्यं, **गृहो** गृहं मन्दिरं यस्य स तथोक्तो मतुबर्थेऽच्प्रत्ययः, भवति **तेन** हेतुना, **अनिकेतो** न विद्यते निकेतं गृहं यस्य स तथोक्त, **इति** एवं, **उक्तः** कथितः।।१८।। (६१६)

इदानीं ज्ञानिषु निर्योगक्षेमत्वोक्तेर्हेतुं दर्शयति **अप्राप्तम् इति। जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिर्निर्योगक्षेमात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथोक्तो, **मुनिः** ज्ञानी, **अप्राप्तं** न प्राप्तो लब्धः अप्राप्तः तत्स्वरूपत्वात्, **बोधं** ज्ञानं, **प्राप्तवान्** लब्धवान्, अप्राप्तप्राप्तेरेव योगशब्देन प्रतिपादनादिति भावः, **स तु** स बोधश्च, **न क्षीयते** न विनश्यति, **तेन** हेतुना, प्राप्तपरिरक्षणस्यैव क्षेमशब्दार्थत्वप्रतिपादनेनेत्यर्थः, **आत्मवान्** आत्मसाक्षात्कारवान्, **निर्योगक्षेमो** निर्गतौ निवृत्तौ योगक्षेमचिन्ते यस्य स तथाविधोऽस्ति।।१९।। (६१७)

वह जातसाक्षात्कार मुनि (शौचादि उत्तम) गुणों तथा (अशौचादि) दोषों की दशाओं से रहित जो परमधाम (स्वरूप) है उसको प्राप्त कर चुका है। अब उसकी दृष्टि में निन्दा और प्रशंसा सम हो गयी हैं।।१७।।

जातसाक्षात्कृति मुनि को गृह पुत्र स्त्री आदि में ममता (ये मेरे हैं ऐसा भाव) नहीं रहती, चलते-चलते जहां कहीं सायंकाल हो जाय वहीं उसका घर हो जाता हे, किंवा उस समय जो घर दिखाई पड़े वहीं उसके ठहरने का घर होता है, इसी कारण से मुनि को अनिकेत (बेघर का) कहा जाता है।।१८।।

आत्मसाक्षात्कार करने वाले मुनि ने अब तक अप्राप्त रहने वाले बोध को प्राप्त कर लिया है (यही उन ज्ञानी का अप्राप्तप्राप्तिरूपी योग हो गया) उस मुनि का यह बोध फिर कभी नष्ट नहीं होता (इसलिये प्राप्त परिरक्षणरूपी क्षेम भी हो गया) यही कारण है कि वह आत्मसाक्षात्कार वाला मुनि योगक्षेम की चिन्ता से रहित हो जाता है।।१९।।

समो यद्यपि सर्वत्र जातसाक्षात्कृतिर्मुनिः।
तथापि तत्स्तावकस्य मम स्तुतिफलं महत्।।२०।। (६१८)
हेतुमालामयी धार्या कण्ठे हीरावली बुधैः।
अपूर्वरचनात्मत्वादलङ्कारो महान्यतः।।२१।। (६१९)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे हेतुमालाहीरावली चतुस्त्रिंशः।।३४।।

ननु ज्ञानिनः स्तुतिनिन्दयोः समत्वे किं तत्स्तुत्या प्रयोजनं तव इत्याशङ्क्याह **सम इति। जातसाक्षात्कृतिः** जातोत्पन्ना साक्षात्कृतिः समात्मसाक्षात्कारो यस्य स तथाविधो, **मुनिः** ज्ञानी, **यद्यपि** यर्हि, अपि सर्वत्र स्तुतिनिन्दयोः सर्वपदार्थेषु च **सम** एकरूप एवाऽस्ति, **तथापि** तथा सत्यपि, **तत्स्तावकस्य** तस्य मुनेः स्तावकस्य स्तुतिकर्तुः, **मम** मे, स्तुतिफलं मत्कृतस्तवनस्य फलं पुण्यरूपं प्रयोजनं, **महत्** श्रेष्ठमस्ति मद्भावनयैव तत्सिद्धेः, तथा च श्रुतिः, 'उपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि'ति।।२०।। (६१८)

इदानीमस्य प्रकरणस्य प्रयोजनकथनपुरःसरं कण्ठे धारणं विधत्ते **हेतुमालामयी इति। बुधैः** विवेकिभिः, **हेतुमालामयी** हेतूनां कारणानां माला पङ्क्तिः तन्मयी तत्प्रचुरा, **हीरावली** वज्रमणिस्रगियं, **कण्ठे** गले, **धार्या** धर्तुं योग्यास्ति। कुत, इत्यत आह **अपूर्वेति**। यतः कारणाद् **अपूर्वरचनात्मत्वाद्** अपूर्वाऽत्याश्चर्यरूपा रचना घटना सैवात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथोक्ता तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद्, अयमेतत्प्रकरणरूपो **महान्** अतिश्रेष्ठोऽलङ्कारो भूषणं भवेद्, अत एव तस्याः कण्ठे धारणं विहितमिति भावः।।२१।। (६१९)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ हेतुमालाहीरावल्यर्थप्रकाशश्चतुस्त्रिंशः।।३४।।

सम आत्मा का साक्षात्कार करने वाला मुनि तो यद्यपि स्तुति तथा निन्दा आदि बातों में सम ही रहता है तो भी उस मुनि की स्तुति करने वाले मुझ को यह पुण्यरूपी स्तुतिफल प्राप्त होता है।

यही कारण है कि मैं उसकी स्तुति करता हूँ। क्योंकि 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' विदेहमुक्ति मिलने पर जब कि पाप पुण्य से ज्ञानी का संपर्क छूटता है तो उसके किए हुए पुण्य उसके सुहृदों को मिल जाते हैं तथा निन्दा करने वालों के भाग में उसके पाप आ जाते हैं।।२०।।

विवेकी पुरुषों को उचित है कि वे इस हेतुमाला से परिपूर्ण हीरावली को कण्ठस्थ कर लें। यह एक आश्चर्यमयी रचना होने से ज्ञानियों का एक बड़ा ही श्रेष्ठ अलंकार है।।२१।।

कैवल्यधाम पर लगे हुए अज्ञानरूपी कपाटों को खोलने के लिए कुंचिका के समान

अथ कैवल्यकुञ्चिका

कैवल्यकुञ्चिकां तात त्वं सम्यगवधारय।
उद्घाटय कपाटं च बोधरत्नं करे कुरु।।१।। (६२०)
दृष्ट्या श्रुत्याऽनुभूत्या वा यो यो भावः परिस्फुरेत्।
तं भावमविलम्बेन पञ्चधा शकलीकुरु।।२।। (६२१)

इदानीं श्रीगुरुः परमकारुणिकत्वेन जिज्ञासुजनोद्धारणाय तेषामेव कैवल्यपदप्राप्तये कैवल्यकुञ्चिकाख्यं द्वाविंशच्छ्लोकं प्रकरणमारभमाण आह **अथ इति**। हेतुमालाहीरावली-निरूपणानन्तरं, कैवल्यकुञ्चिका कैवल्यस्य मोक्षस्याऽज्ञानकपाटोद्घाटनाय करणत्वात्कुञ्चिकेव कुञ्चिका एतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ एतत्प्रकरणश्रवणे शिष्यं संमुखीकरोति **कैवल्येति। हे तात** हे शिष्य, **त्वं** भवान्, **कैवल्यकुञ्चिकां** कैवल्यस्य मोक्षस्य कुञ्चिकेव कुञ्चिका एतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, **सम्यग्** दृढं यथा भवति तथा, **अवधारय** शृणु भरेत्यर्थः। सम्यग्धृत्वा च किङ्कार्यं तदा आह **उद्घाटय इति। त्वं** तया कैवल्यकुञ्चिकया, **कपाटं** कं सुखं पाटयति आवृणोति तत्कपाटमज्ञानं, यद्वा कं सुखं पाटयति च्छिनत्ति तत्कपाटं अहंकारः तं, **उद्घाटय** निवारय, ततश्च **बोधरत्नं** बोधस्वरूपं रत्नं स्वयंप्रकाशरूपं ब्रह्म, **करे** हस्ते अपरोक्षमित्यर्थः, **कुरु** कर्त्तव्यमित्यर्थः।।१।। (६२०)

एवं शिष्यं संमुखीकृत्य तत्रादौ दृष्टश्रुतानुभूतेषु सर्वपदार्थेषु पञ्चधा शकलीकरणं विधत्ते **दृष्ट्या इति। दृष्ट्या** चक्षुषा, **श्रुत्या** श्रवणेन, **अनुभूत्या** अनुभवेन वा, **यो यो** घटः पटो वा पदार्थः, परिस्फुरेत् प्रकाशयेत्, **तं** तं तं इति आवृत्तिः कार्या, तं तं घटपटादिरूपं, **भावं** पदार्थं, अविलम्बेन स्मरणादिस्फुरणसमकालमेव, **पञ्चधा** पञ्चप्रकारं यथा भवति तथा, **शकलीकुरु** खण्डभावेन सम्पादय।।२।। (६२१)

तान्येव शकलानि पञ्च स्वयमेव कृत्वा दर्शयति **अस्ति इति। अस्ति** विद्यते इत्येवं शकलमेकं, **भाति** प्रकाशत इति द्वितीयं शकलं, **प्रियं** सुखमित्येवं तृतीयं, **रूपं** आकृतिरित्येवं चतुर्थं, **नाम** तु नामापि वाचकशब्द इत्येवं पञ्चमोंशः, **इति** एवं, **अंशपञ्चकं** अंशानां शकलानां

अत्यन्त उपयोगी प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इसकी सहायता से जब चाहो कैवल्य पद की प्राप्ति हो सकती है।

हे शिष्य, कैवल्य की चाबी के समान इस प्रकरण को खूब अच्छी तरह अपने जी में धारण करलो! इसकी सहायता से अज्ञानरूपी (किंवा अहंकाररूपी) कपाट को खोल डालो, तथा बोधरूपी रत्न के समान ब्रह्म को अपने काबू में कर लो।।१।।

चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा मानस अनुभव से जो जो पदार्थ तुमको ज्ञात होते हों, तुम उन उन पदार्थों को तुरन्त (दीखते, सुन पड़ते किंवा स्मरण आते ही) पाँच खण्डों में विभक्त कर दिया करो।।२।।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्।।३।। (६२२)
नामरूपे तु नैव स्तस्तत्र हेतुं वदाम्यहम्।
नाम तु व्यवहारार्थं कल्पितं न तु वास्तवम्।।४।। (६२३)

पञ्चकं पञ्चसमूहः। तत्रैवमंशपञ्चकं प्रदर्श्य इदानीं तेषु मायाब्रह्मणोः अंशान् विभज्य दर्शयति **आद्यं इति। आद्यं** आदौ प्रथमं भवम् आद्यं अस्ति भाति प्रियमिति, **त्रयं** त्रिकं, **ब्रह्मरूपं** ब्रह्मणो रूपं स्वरूपं ज्ञेयं ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वादिति भावः, **ततो** अनन्तरं, **द्वयं** द्विकं नामरूपसंज्ञं, **मायारूपं** मायायाः सदसद्रूपशक्ते रूपं स्वरूपम् अस्ति इति ज्ञेयम्।।३।। (६२२)

तत्र नामरूपाभ्यामस्पृष्टं ब्रह्म लक्षयितुं तयोरसत्त्वं दर्शयति **नामेति। नामरूपे तु** नाम सर्वपदार्थानामभिधानं रूपं च आकारः ते द्वे अपि तुपदेन ब्रह्मांशत्रयाद्विविक्तत्वं नामरूपयोः सूचितं ज्ञेयं, **नैव स्तः** सती नैव भवतः, कुत इत्याशङ्क्य तत्र हेतुनिरूपणं प्रतिजानीते **तत्र इति। तत्र** नामरूपासत्त्वे, **हेतुं** कारणं, **अहं वदामि** कथयामि। तत्र प्रतिज्ञाते नामरूपासत्त्वहेतुनिरूपणे प्रथमं नाम्नो असत्त्वहेतुं प्रदर्शयति **नाम तु इति। नाम तु** रूपतो विलक्षणं विविक्तं सदभिधानं, **व्यवहारार्थं** व्यवह्रियते व्याप्रियतेऽनेनेति व्यवहारो व्यापारः स एवार्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथाभूतं, **कल्पितं** आरोपितं कल्पनया स्थापितमित्यर्थः, अस्ति **न तु वास्तवं** नैव सत्यं, लोकेपि कल्पितस्य रज्जुसर्पादेः असत्त्वदर्शनादिति भावः।।४।। (६२३)

एवं नामासत्त्वे कल्पितत्वं हेतुं प्रदर्श्य तदेव द्रढयितुं तत्रैव हेत्वन्तरमाह **घट इति। घटो** घटपदवाच्यो मृद्विकारः पृथुबुध्नोदराकारो दृश्यमानो, **न घो** घकारो न न भवति, **च** पुनः, **टः** टकारवर्णरूपोपि न न भवति, अतो मृद्विकारे घकारटकारयोरदृश्यमानत्वात् तद्घटितनाम्नस्तत्र

अस्ति (पहला अंश) भाति (दूसरा अंश) प्रिय (तीसरा अंश) रूप अथवा आकृति (चौथा अंश) तथा वाचक शब्द (पाँचवाँ अंश) ये पाँच अंश (खण्ड) कहाते हैं। इन पाँचों में से पहले ('आस्ति भाति प्रिय' ये) तीन ब्रह्म के स्वरूप कहे जाते हैं (क्योंकि ब्रह्म ही सच्चिदानन्दस्वरूप होता है)। उसके पश्चात् (शेष रहे नामरूप नाम वाले) दोनों अंश माया के स्वरूप कहाते हैं।।३।।

नामरूप तो सत् नहीं हैं उसका कारण मैं बताता हूँ। क्योंकि नाम व्यवहार के लिये कल्पित कर लिया गया है, वह वास्तव नहीं है।

यदि नाम वास्तव होता तो घटादि की उत्पत्ति के साथ ही नाम भी उत्पन्न हुआ करता। प्राणियों ने व्यवहार की सुकरता के लिये भिन्न-भिन्न पदार्थों के भिन्न-भिन्न नाम रख डाले हैं। यदि नाम भी घट के समान ही सत् पदार्थ होता तो संसार में यह भाषाभेद ही न रह जाता। इससे कहते हैं कि नाम कल्पित हैं।।४।।

घटो न घो नापि च टस्तावुभौ यत्खमाश्रितौ।
घः कण्ठ्यष्टश्च मूर्धन्यस्तावुभावपि नैकदा।।५।। (६२४)

कल्पितत्वं निश्चेतव्यमिति भावः। तत्रैव हेत्वन्तरमाह **तावुभाविति। यद्** यस्मात् कारणात् तौ घकारटकारौ, **उभो** द्वौ, **खम्** आकाशम् **आश्रितौ** आश्रित्य स्थितौ, तयोर्वाग्रूपत्वाद् वाचः आकाशकार्यत्वाद् आकाशस्य अतिशून्यरूपत्वात् तयोः अपि तथात्वेन असत्त्वमितिभावः, तयोरपि स्वस्मिन्नेवासत्त्वेऽन्योन्योच्चारसमये व्यावृत्तत्वं दर्शयति **घ इति। घः** कवर्गीयो घवर्णः, **कण्ठ्यः** कण्ठे गले भवः कण्ठ्यः कण्ठस्थानजन्योऽस्ति, **टश्च** टकारोपि, **मूर्धन्यो** मूर्ध्नि भवो मूर्धास्थानोत्पन्न इत्यर्थः, अत एव **तौ** घकारटकारौ, **उभौ अपि** द्वौ अपि, **एकदा** एकस्मिन्समये, **न** न विद्येते तयोरन्योन्यत्राभावे विद्यमाने तद्घटितनाम्नोऽसत्त्वं स्वस्मिन्नपि सिद्धमिति भावः।।५।। (६२४)

उक्तं घटनामासत्त्वमन्यत्राप्यतिदिशति **एवम् इति। एवं** अनेन प्रकारेण, **सर्वाणि** समस्तानि ब्रह्मादिपिपीलिकान्तपदार्थानां, **नामानि** अभिधानानि कल्पितानि ज्ञेयानि। एवं नाम्नोऽसत्त्वं प्रदर्श्य इदानीं रूपस्यापि तथात्वं दर्शयितुं तच्छ्रवणे शिष्यमभिमुखीकरोति **रूपमिति। हे अङ्ग** हे शिष्य, त्वं इदानीं **रूपं** आकारं, विचारय वक्ष्यमाणविचारेण जानीहि। तमेव विचारमभिनीय दर्शयति **घट इति। घटस्तु** नाम्नो विविक्तो घटपदवाच्यो, **घटः** पृथुबुध्नोदराकारवान् दृश्यमानः पदार्थः, तस्य च तत्कारणभूतपृथिव्याः सकाशात् पृथगसत्त्वात् **पृथिवीरूपं** पृथिव्या भूमेरेव रूपं आकृतिरस्ति कार्यस्य कारणानन्यत्वादेवं सर्वत्र। **सा** पृथिवी, **जडा** अचिद्रूपा, अनेनाप्रकाशरूपेण रूपस्यासत्त्वमुक्तं

घट न तो 'घ' ही है और न 'ट' ही है, क्योंकि वे दोनों तो आकाश में आश्रित रहते हैं। इसके अतिरिक्त 'घ' कण्ठ से बोला जाता है तथा 'ट' को मूर्धा से बोलते हैं। वे दोनों भी तो कभी एक समय में इकट्ठे नहीं हो सकते।

नाम को असत् सिद्ध करने के लिये दूसरी युक्ति बतायी जाती है। घट (नाम की जो वस्तु हमें दीखती है वह) न तो 'घ' ही है और न 'ट' ही है। मिटटी के बने हुए इस पदार्थ में कहीं भी घकार या टकार नहीं दीखते। इसलिये 'घ' और 'ट' से मिलकर बने हुए 'घट' शब्द को उसमें कल्पित ही समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त वे 'घ' तथा 'ट' दोनों ही आकाश के आश्रित रहते हैं (तथा शब्दरूप होने से आकाश के गुण हैं)। उनमें से 'घ' कण्ठ से बोला जाता है तथा 'ट' को मूर्धा से बोलते हैं इसलिये ये दोनों भी तो एक काल में कभी इकट्ठे नहीं होते (एक दूसरे के उच्चारण के समय में एक दूसरे से व्यावृत्त रहते हैं, अर्थात् जब हम 'घ' बोलते हैं तो 'ट' नहीं होता, जब 'ट' बोलते हैं तो 'घ' नहीं रहता। फिर भला इन दोनों (एककालानवस्थायी) शब्दों से मिलकर बना हुआ 'घट' यह नाम ही सत् क्योंकर हो सकता है?)।।५।।

एवं नामानि सर्वाणि रूपमङ्ग विचारय।
घटस्तु पृथिवीरूपं सा जडा जलरूपिणी।।६।। (६२५)

सर्वरूपोपलक्षणमेतत्[1] सा पृथिवी, **जलरूपिणी** जलं उदकमेव रूपमस्याः सा तथोक्ता, जलकार्यत्वात् पृथिव्याः तत्कारणभूतजलव्यक्तिभिन्नव्यक्त्यभावो ज्ञेय इति भावः, भूमेर्जलकार्यत्वे श्रुतिः 'अद्भ्यः पृथिवी'ति।।६।। (६२५)

ननु जलस्य शुक्लरूपत्वं प्रतीयते तदेव पारमार्थिकमस्तु? नेत्याह **तेजस इति। तेजसो** अग्नेः सकाशात्, **जलं** उदकं, **उत्पन्नं** जातं अस्ति, तेजसो जलस्य पृथगसत्त्वं तत्कार्यत्वादिति भावः। तर्हि तेजस एव पारमार्थिकत्वमस्तु? तत्राह **तदिति। तत्** तेजो, **वायोः** सकाशाद्, **उत्पन्नं** सम्भूतं, तस्यापि वायुकार्यत्वाद्वायुव्यतिरिक्तं रूपं नास्तीति भावः, तर्हि वायोः एव पारमार्थिकत्वमस्तु? तत्राह **स च इति। स च** वायुरपि, **खोद्भवः** खाद् आकाशाद्, **उद्भव** उत्पत्तिर्यस्य स तथोक्तोऽस्ति तस्यापि शून्यरूपाकाशतः पृथक्सत्त्वं नास्तीति भावः। तर्हि आकाशस्यैव पारमार्थिकत्वम् अस्तु इति आशङ्क्य आह **खादीति। खादि** खं आकाशं आदि प्रथमं यस्य तत् खादि, **सर्वं** समस्तं जगद्, अहङ्काराद् अहङ्कारतत्त्वाद् उत्पन्नं इन्द्रियाणि विषया देवाश्च भूतानि सर्वपदेन ग्राह्याः ते सर्वे त्रिगुणात्माहङ्कारादुत्पन्ना अहङ्कारात्पृथक्सत्त्वं सर्वेषां नास्तीति भावः। तर्हि तस्यैव सत्त्वमस्तु? तत्राह **स चेति। स च** अहङ्कारोपि, **प्रकृतिसम्भवः** प्रकृतेः सर्वजगत्कारण-भूतपरमात्मशक्तेः सम्भव उत्पत्तिर्यस्य स तथोक्तोऽस्ति अहङ्कारस्यापि प्रकृतिकार्यत्वान्न तस्य ततः पृथक्सत्त्वमिति भावः।।७।। (६२६)

इसी प्रकार सब नामों को कल्पित जान लो। अब रूप (अथवा आकृति) का विचार करो। घट तो (कोई पदार्थ ही नहीं है, वह तो) पृथिवीस्वरूप है, वह जड पृथिवी जलरूप होती है।

इसी प्रकार ब्रह्माण्ड से लेकर चींटी पर्यन्त पदार्थों के नामों को कल्पित ही समझ लो। अब तुम आगे बतायी रीति से आकार का विचार करो। देखो, यह तुम्हें प्रत्यक्ष दीखने वाला घट अपने कारण पृथिवी से पृथक् कोई पदार्थ ही नहीं, यह तो पृथिवी का ही एक आकार है। कार्य-कारण में कोई भेद ही नहीं माना जाता। इसी प्रकार सब पदार्थों में जान लेना चाहिये। परन्तु वह पृथिवी भी तो जड होती है। जड पदार्थ का अपना तो कोई रूप नहीं होता, वे तो दूसरों का रूप लेकर ही प्रकाशित हुआ करते हैं। पृथिवी का भी यह दृश्यमान रूप सत् नहीं है। इस रूप को इस पृथिवी ने जहाँ से लिया है, वह तो जल है। इस कारण से यह तो जलरूपिणी है। अर्थात् यह पृथिवी जल से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं है। श्रुति में भी कहा है कि 'अद्भ्यः पृथिवी' जल में से पृथिवी की उत्पत्ति हुई है।।६।।

---

[1] रूपमात्रोपलक्षणम्।

तेजसो जलमुत्पन्नं तद्वायोः स च खोद्भवः।
खादि सर्वमहङ्कारात्स च प्रकृतिसम्भवः।।७।। (६२६)
गुणात्मा प्रकृतिर्माया माया मय्येव नास्ति सा।
नामरूपे ततो न स्तोऽथास्तीत्यादि विचारय।।८।। (६२७)

ननु तर्हि प्रकृतेरेव सत्त्वमस्तु? तत्राह **गुणात्मा इति**। गुणात्मा इति हेतुगर्भं विशेषणं **प्रकृतिः** सर्वजगदुपादानभूता परमात्मशक्तिः, गुणात्मा गुणाः सत्त्वरजस्तमोभिधाः त आत्मा स्वरूपं यस्याः सा तथोक्ताऽस्ति, तेषां च गुणानां अन्योन्यव्यावृत्तत्वेनासत्त्वात् **सा** प्रकृतिः, **माया** स्वतोऽसद्रूपत्वेन, **माया** अनिर्वचनीया, अतः **सा** त्रिगुणसाम्यावस्थारूपा प्रकृतिर्मिथ्याभ्रमरूपाऽतः सा सच्चिदानन्दरूप आत्मनि, **मयि नास्ति एव** नैव विद्यते ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि तस्या असत्त्वमेव इत्यर्थः। उक्तं नामरूपासत्त्वमुपसंहरति **नामरूपे तु इति। ततः** तस्मात् कारणात्, **नामरूपे** नामाभिधानं रूपं चाकारस्ते द्वे, **न स्तो** न विद्येते इति सिद्धमिति भावः। एवं नामरूपासत्त्वं निरूप्य इदानीं पूर्वांशत्रयविचारे शिष्यं प्रेरयति **अथ इति**। हे शिष्य त्वं **अथ** नामरूपासत्त्वविचारानन्तरम् **अस्तीत्यादि** अस्ति सत्ता इत्येवं विभाग आदिर्यस्य तत् तथोक्तमस्तीत्यादि त्रिकमित्यर्थः, **विचारय** विवेचय।।८।। (६२७)

तेज से जल उत्पन्न हुआ, वह तेज वायु से, वह वायु अकाश से, वे आकाशादि सब अहंकार से तथा वह अहंकार प्रकृति से उत्पन्न हुआ है।

वह जल भी (तेज का कार्य होने से) तेज से उत्पन्न हुआ है। जल में दीखने वाला रूप अथवा आकृति जल की अपनी नहीं, यह तो तेज की है। यही कारण है कि यह भी सत् रूप नहीं है। इसी क्रम से तेज भी पारमार्थिक नहीं है वह भी आकाश से उत्पन्न हुआ है, शून्यरूपी आकाश से पृथक् उसकी कोई सत्ता ही नहीं है। वह आकाश आदि सम्पूर्ण जगत् (जिसमें कि इन्द्रिय विषय, देवता तथा भूतों का समावेश हो गया है) त्रिगुणात्मक अहंकार से उत्पन्न हुआ है (अर्थात् अहंकार से भिन्न इसकी भी कोई सत्ता नहीं है)। वह अहंकार भी स्वतन्त्र नहीं है, वह भी तो सर्वजगत् के कारण परमात्मा की शक्ति सेजिसको प्रकृति भी कहते हैंउत्पन्न हुआ है। अर्थात् प्रकृति से भिन्न उस अहंकार की भी कोई सत्ता नहीं है।।७।।

(सत्त्व, रज, तम नाम तीन) गुणमयी प्रकृति माया कहाती है। वह तो मुझमें है ही नहीं। जब माया ही नहीं तो फिर उसके अवान्तर कार्य नामरूप भी नहीं हैं, यह तो सिद्ध हो चुका। हे शिष्य! अब तू अस्ति भाति तथा प्रिय का विचार कर!

सकल जगत् की उपादान वह परमात्मशक्ति नाम की प्रकृति क्योंकि सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से युक्त है, वे तीनों गुण परस्पर में एक दूसरे से भिन्न होते हैं, इसी से वे असत् हैं, उनके असत् होने से वह प्रकृति भी असद्रूप ही है। यही कारण है कि

अस्ति सत्ता भाति चिच्च प्रियमानन्दलक्षणम्।
सच्चिदानन्दरूपं तत्कैवल्यमवशिष्यते।।६।। (६२८)
समाधिस्तत्र कर्त्तव्यो ह्ययमर्थानुवेधितः।
अथ शब्दानुविद्धं तु समाधिं कथयामि ते।।१०।। (६२६)

तदेव शकलीकरणं स्वयमभिनीय दर्शयति **अस्ति इति। अस्ति सत्ता** इति एवं अंश एकः स ब्रह्मणः सत्ता ज्ञेया, **भाति** इति अंशः चिद् ब्रह्मणः चेतनता ज्ञेया, **प्रियं** च प्रियं इति अंशोपि, **आनन्दलक्षणं** ब्रह्मण आनन्दरूपत्वस्य लक्षणं चिह्नं ज्ञेयं, तत् सत्ता चितिः प्रियं च इति अंशत्रयं **सच्चिदानन्दरूपं** सत् कालत्रयाबाध्यं, चित् चेतनं, आनन्दः सुखं च इति त्रयं अभिन्नं रूपमाकृतिर्यस्य **तत्त**थोक्तं, **कैवल्यं** अखण्डैकरसं ब्रह्म, **अवशिष्यते** नामरूपबाधेन अवशिष्टमनुभूयते।।६।। (६२८)

इदानीं सच्चिदानन्दलक्षणस्य ब्रह्मणो नामरूपतो विवेचनं यदर्थमुक्तं तदाह **समाधिः इति। तत्र** सच्चिदानन्दरूपे ब्रह्मणि, **समाधिः** अन्तःकरणवृत्तेः सच्चिदानन्दमात्राकारः परिणामः, **कर्त्तव्यः** कार्यः, एवंलक्षणसमाधेः साध्यतां विधाय तद्भेदं दर्शयितुमुक्तसमाधेः अभिधानं आह **अयमिति। अयम्** उक्तलक्षणः समाधिः, **अर्थानुवेधितोऽर्थो** रूपं तेनानुविद्धत्वादर्थद्वारा वा अनुविद्धत्वादर्थानुविद्धनामा समाधिः ज्ञेयः। समाध्यन्तरं निरूपयितुं प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** अर्थानुविद्धसमाधिनिरूपणानन्तरं, **तु** ततो विलक्षणं, **शब्दानुविद्धं** शब्दद्वारानुविद्धः सिद्धः तं, **समाधिं** समाधानं, **ते** तव, **कथयामि** निरूपयामि, त्वं शृणु इति शेषः।।१०।। (६२६)

उसको माया (अनिर्वचनीय) कहा गया है। वह मिथ्यारूप प्रकृति मुझ सच्चिदानन्द आत्मा में है ही नहीं, अथवा यों कहना चाहिये कि उसकी कोई भी वास्तविक सत्ता नहीं है। इस विचार से यही निष्कर्ष निकलता है कि नाम तथा आकार नाम के कोई सत् पदार्थ इस लोक में हैं ही नहीं। ये तो सब अज्ञानमूलक व्यर्थ प्रतिभास हैं।।८।।

अस्ति अर्थात् सत्ता, भाति अर्थात् चेतनता, प्रिय अर्थात् आनन्दस्वरूप, यही तो इन तीनों अंशों का विवेचन है। (ऊपर कहे कारणों से नामरूप का बाध हो जाने के अनन्तर) सत् चेतन तथा आनन्दस्वरूप कैवल्य (अखण्डैकरस ब्रह्म) शेष रह जाता है।

कैवल्य का शेष रह जाना केवल ज्ञानियों के ही अनुभव में आने वाली बात है। सत् चित् तथा आनन्द ये तीनों मिलकर अभिन्न होकर ब्रह्म के रूप हैंपृथक् पृथक् ये ब्रह्म के लक्षण नहीं हैं। अर्थात् जो सत् भी हो चित् भी हो तथा आनन्द भी हो वही ब्रह्म है। जहाँ नित्यसत्ता है वहाँ ज्ञान अवश्य ही होगा, जहाँ ज्ञान है वहाँ तो आनन्द होगा हीवहाँ शोक होने का प्रसंग कभी भी नहीं आयेगा, जहाँ ज्ञान होगा वहाँ उसकी सत्ता अवश्य होगी, जहाँ आनन्द है वहाँ ज्ञान भी होगा और सत्ता भी होगी ही। इसी सब अभिप्राय से ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता है।।६।।

नित्य एवास्मि शुद्धोस्मि चिद्रूपोस्मि निरन्तरः।
सहजानन्दरूपोस्मि न मे माया न मे मलः।।११।। (६३०)

तमेवाह पञ्चभिः **नित्य इति**। अहम् अहम्पदलक्ष्यः कूटस्थचिद्रूपो **नित्यो** अविनाशी, **अस्मि** भवामि, 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा, नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां, नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्ममि' इत्यादिश्रुतिभ्यः, अन्यथा नाशस्यापि साक्षिनित्यचैतन्यापेक्षसिद्धिकत्वात् तदसिद्धेस्तस्यापि असिद्ध्याऽत्मनित्यत्वमङ्गीकार्यमिति भावः। किञ्च अहम् अहम्पदलक्ष्य आत्मा **शुद्ध एव अस्मि** भवामि, अत एव **चिद्रूपः** चिच्चैतन्यं रूपं स्वरूपं यस्य स तथोक्तोऽहमहंपदलक्ष्य आत्मा **अस्मि** भवामि, 'चेतनश्चेतनानामि'ति श्रुतेः, अचेतनस्य अहङ्कारादेः जगतः तत्प्रकाशकं मां विना प्रकाशानुपपत्तिरिति भावः। किञ्च **निरन्तरो** निर्गतं निवृत्तं अन्तरं भेदो यस्मात्स तथोक्तोऽखण्डैकरस इत्यर्थः, अहंपदलक्ष्य आत्माऽस्मि भवामि भेदकोपाधेरहङ्कारादिजगतः कालत्रयेप्यसत्त्वेनाखण्डैकरसत्व-

उस सच्चिदानन्द ब्रह्म में उपर्युक्त अर्थानुविद्ध समाधि करनी चाहिये। अब शब्दानुविद्ध समाधि का निरूपण तुम्हारे जानने के लिये करता हूँ।

क्षण क्षण में नष्ट होने वाले आकारों तथा उनके अनुसार ही परिवर्तनशील नामों की ओर से उदासीन होकर सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही एकचित्त होकर अर्थानुविद्ध समाधि किया करे। अर्थात् जब कभी किसी प्रिय पदार्थ का स्मरण आये, तो उसके नाम रूप को ऊपर बतायी युक्ति से पृथक् करले, उसमें केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म के ही अखण्ड दर्शन के अभ्यास को बढ़ाता चला जायये नामरूप तो अपने क्षणिक स्वभाव के अनुसार उत्पन्न होने और नष्ट होने वाले पदार्थ हैं। इनके न रहने पर भी इस पदार्थ के सच्चिदानन्द नामक तीनों अंश कभी नष्ट नहीं होते। इन तीनों में इन नामरूपों की तरह कभी भी परिवर्तन नहीं होता। यह अपरिवर्तनीय सच्चिदानन्द स्वरूप ही मैं हूँ। मेरे ही प्रकाश से इन नामरूपों का प्रकाश यदा तदा हो जाया करता है। जब कभी ये नामरूप आते हैं तब मैं ही इनको प्रकाशित कर देता हूँ। परन्तु मेरे अन्दर उस सूर्य के समान ही कोई भी विकार नहीं आता, जोकि मध्याह्नकाल में अपने बिल में से अकस्मात् निकले हुए सर्प को प्रकाशित कर देने पर भी स्वयं निर्विकार ही रहता है। मैं भी इसी प्रकार निर्विकार रह कर ही इन नामादियों को प्रकाशित किया करता हूँ। इनके विनष्ट हो जाने पर शेष रहा हुआ जो सच्चिदानन्द तत्त्व है वही मेरा वास्तविक स्वरूप है, जो कि आजकल अज्ञानकाल में मुझे कभी कहीं भी हाथ लगा करता है। फिर मैं उसी रूप को सदा ही अखण्डरूप में क्यों न बनाये रक्खूँ? ऐसा विचार करते-करते अन्तःकरणवृत्ति जब सच्चिदानन्द आकार में ढल जाती है, तो उसी को 'अर्थानुविद्ध समाधि' कहा जाता है।।१०।।

अस्मिन्नसति सत्ता हि चिद्रूपेण मयार्पिता।
उपसंहृत्य सत्तां तां स्वसत्तायामहं स्थितः।।१२।। (६३१)

मात्मन्यङ्गीकार्यमिति भावः। किञ्च **सहजानन्दरूपोस्मि** सहजः स्वाभाविको य आनन्दः सुखं निरुपाधिक आनन्द इत्यर्थः, स एव रूपं आकृतिर्यस्य स तथाभूतोऽहम् अहंपदलक्ष्य आत्माऽस्मि भवामि। **मे** मम प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपस्य, **माया** जगज्जननसामर्थ्यरूपा शक्तिः, **न** न विद्यते तस्या मत्तः पृथक्सत्त्वाभावादिति भावः। किञ्च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादि'त्यादिश्रुतेः अन्यथा जगज्जीवनानुपपत्तेः आनन्दरूपत्वमात्मनः सिद्धमिति भावः। आत्मानन्दाभावे जगज्जीवनानुपपत्तौ श्रुतिः 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्, एष ह्येवानन्दयाती'ति। अत एव **मे** मम, **मलो** रागादिरूपो, **न** न विद्यते, स तु अन्तःकरणस्यैव अविवेकिभिः आत्मनि व्यर्थमारोप्यते इति भावः।।११।। (६३०)

स्वस्य स्वाधीनकतया जगत्सत्ताप्रदातृतत्संहारकत्वाभ्यामैश्वर्यमनुसन्धत्ते **अस्मिन् इति।** एतावत्कालं **हि** प्रसिद्धाऽस्मिन्प्रत्यक्षे **असति** जगति, या **सत्ता** सद्रूपता, सा **चिद्रूपेण** चित् चेतनमेव रूपमात्मा यस्य तेन, **मयाऽर्पिता** आरोपिता आरोपस्य चेतनाधीनता लोके प्रसिद्धा इति भावः, अतः **तां सत्तां** नामरूपात्मकजगदध्यस्तां सत्तां, **उपसंहृत्य** जगतः पृथक्कृत्य, **अहं** सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा, **स्वसत्तायां** स्वा स्वात्मरूपा या सत्ता सद्रूपता तस्यामेव, **स्थितो** वर्त्तमानोऽस्मि।।१२।। (६३१)

मैं नित्य हूँ, शुद्ध हूँ, निरन्तर हूँ, सहजानन्दस्वरूप हूँ, मुझ में माया तथा मल नहीं है।

मैं कूटस्थ चैतन्यरूप सदा अविनाशी हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं निरन्तर (अर्थात् अखण्डैकरस) हूँ। मैं सदा स्वाभाविक (निरुपाधिक) आनन्दस्वरूप हूँ। मेरी आनन्दरूपता किसी भी स्त्रीपुत्रादि विषयों से सिद्ध होने वाली वस्तु नहीं है। वह तो मेरा अपना स्वाभाविक स्वरूप है। मुझ में माया भी नहीं है, मुझमें रागादिमल का कहीं चिह्न भी नहीं है। वह तो भ्रान्त लोगों ने व्यर्थ ही मुझमें आरोपित कर रक्खा है।।११।।

इस असत् जगत् को मुझ चिद्रूप ने ही अपनी सत्ता दे रक्खी थी। अब मैं अपनी सत्ता को इसमें से उपसंहार करके आत्मस्वरूप सत्ता में ही फिर स्थित हो गया हूँ।

ओ हो! इस असत् जगत् में मुझ चिद्रूप ने अब तक व्यर्थ ही अपनी सत्ता का आरोप लगा कर रक्खा था (क्योंकि संसार के सभी आरोप चेतन के अधीन होते हैं) अब तो इस व्यर्थ प्रयास को छोड़ कर, नामरूपात्मक इस तुच्छ जगत् में अध्यस्त की हुई अपनी सत्ता को (इस जगत् में से) निकाल कर मैं सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा फिर अपनी ही स्वात्मरूप सत्ता में स्थित हो गया हूँ। अब तो मैं किसी सिद्धहस्त मायावी के समान इस जगत् के क्षण-क्षण में होने वाले उत्पत्तिविनाशों को तटस्थ रहकर देख रहा हूँ। अब मैं देखता हूँ कि जब मैं तृणरूप में दी हुई अपनी सत्ता को वापिस खींचता

विकृत्या विकृतिर्नाहं प्रकृत्या प्रकृतिर्न च।
तथापि जातं मयि चेत्तर्हि जातमजातवत्।।१३।। (६३२)
उपसंहर विश्वात्मन्निति यावद्वदाम्यहम्।
उपसंहृतमेवेदं दृश्यते नैव तिष्ठति।।१४।। (६३३)

इदानीं आत्मनोऽसङ्गत्वं लक्ष्यीकरोति **विकृत्या इति। अहम्** अहंपदलक्ष्यश्चिदात्मा, **विकृत्या** विकारेण कार्येण इत्यर्थः, **विकृतो** विकारं प्राप्तो **न** नास्मि, पुनश्च प्रकृत्या कारणेन जगत्कारणेन व्याकृतेन वा, **प्रकृतिः** कारणमव्याकृतं वा अहमात्मा, **न** न भवामि, एवं विकाररहिते मयि प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि लोकदृष्ट्या जातं कार्यकारणरूपं द्वैतमुत्पन्नं **चेद्** यदि, **तर्हि** तदा, **यज्जातं** उत्पन्नं, उत्पद्यमानस्य आद्यन्तयोरसत्त्वेन मध्येपि असत्त्वात् **अजातवत्** न जातं तत्त्वत उत्पन्नं न तदजातं यन्मृगतृष्णाजलादि तद्वन्मिथ्या एव इत्यर्थः।।१३।। (६३२)

तस्याप्युपसंहारः स्वाधीन एवेत्याह **उपसंहर इति। हे विश्वात्मन्** विश्वस्यात्मा सत्ताप्रदः तस्य संबोधने हे विश्वात्मन् त्वं विश्वं जगद् **उपसंहर** लीनं कुरु, इति एवं **यावद्** यत्कालपर्यन्तं, **वदामि** कथयामि, अहमहंपदलक्ष्य आत्मा, तावत् तत्कालमेव **इदं** जगद्, **उपसंहृतमेव** लीनमेव, **दृश्यते** प्रतीयते, मदग्रे **नैव तिष्ठति** न स्थितिं प्राप्नोति। एतादृशी उत्पत्तिसंहारयोः स्वाधीनता मयि विद्यते इति भावः।।१४।। (६३३)

हूँ तो कैसे क्षणभर में यह जगत् नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। ओहो! कैसी आश्चर्य अवस्था है, कि इस उपसंहार के पश्चात् सर्वत्र आत्मसत्ता के अतिरिक्त अब और कुछ भी मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता।।१२।।

यद्यपि विकारों में मैं विकृत नहीं होता हूँ तथा जगत् के कारण अव्याकृतादि कारणों के कारण मुझमें कारणता भी नहीं आती है, फिर यदि लोक की दृष्टि में कार्यकारणरूपी द्वैत उत्पन्न भी हो गया हो तथापि वह मृगतृष्णा के जल के समान अजात के तुल्य ही तो है।

क्योंकि यह कार्यकारणरूपी द्वैत उत्पन्न होने से प्रथम भी न था, नष्ट होने के अनन्तर भी न रहेगा, केवल कुछ काल के लिये वर्तमान में प्रतीत होने लगा है। इसलिये वन्ध्यापुत्रादि के, स्वप्नकाल के रथादि के, किंवा मृगतष्णाजलादि के समान अजात ही है। फिर इन सब स्थितियों का जानकार मैं भला इस अजात जगत् की कौन-सी वस्तु के लिये अपने स्वरूपस्थिति जैसे असङ्ग परमपद को छोड़ दूँ? और क्यों इन अनित्य पदार्थों के मोल-तोल में अपना अमूल्य आयुष्य गवाऊँ।।१३।।

'हे विश्वात्मन्! इस बखेड़े का उपसंहार कर लीजिये' इतना जब मैं कहता हूँ कि इस जगत् को उपसंहृत ही पाता हूँ, यह फिर नहीं रहता।

इत्याद्युपनिषद्वाक्यपदतात्पर्यचिन्तया ।
शब्दानुविद्धनामा हि समाधिर्जायते मुनेः ।।१५।। (६३४)

ननु एतादृशशब्दानां स्वात्मानुसंधायकत्वेन शब्दानुविद्धसमाध्यनुकूलत्वेपि तेषां प्रामाणिकत्वाभावेन अश्रद्दधानस्य तन्न स्यादित्याशङ्क्य तेषां प्रामाणिकत्वोपपादनपूर्वं तदर्थचिन्तनेन उक्तसमाधिसिद्धिमाह**इति** **इति। इत्याद्युपनिषद्वाक्यपदतात्पर्यचिन्तया** इति एवमुक्तानि वाक्यानि आदीनि मुख्यानि येषां तानि उपनिषदां वाक्यानि उपनिषण्णं समीपे प्राप्तत्वेन स्थितं श्रेयो मोक्षरूपं यासु ता उपनिषदः स्वतः प्रमाणभूता वेदशिरोभूता ईशाद्यभिधाः श्रुतयः तासां वाक्यानि तेषां पदानि सर्वज्ञः सर्वान्तर्यामीत्यादीनि तेषां तात्पर्यमर्थोऽखण्डैकरस आत्मा तस्य चिन्तया ध्यानेन करणेन, **हि** प्रसिद्धः प्रकृतः, **शब्दानुविद्धनामा** शब्दानुविद्ध इति नामाभिधानं यस्य स तथाविधः, **समाधिः** वृत्तेः ध्येयाकारपरिणामरूपं समाधानं, **मुनेः** उक्तशब्दार्थमननवतो ज्ञानिनो, **जायते** भवति।।१५।। (६३४)

इस कल्पित संसार के विषय में, ज्यों ही मैं इस समस्त संसार को सत्ता का दान करने वाले अपने विश्वात्मा से कह देता हूँ, कि 'हे मेरे विश्वात्मन्! मेरी समाधि के हेतु उपयुक्त परिस्थिति को उत्पन्न करने के लिये कृपया अब अपने इस जगत् का उपसंहार (लय) तो कर लीजिये,' त्यों ही मैं क्या देखता हूँ कि यह जगत् कहीं रहता ही नहीं। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति तथा संहार दोनों ही मेरे अधीन हैं। जब कि मैं इस जगत् की ऐसी असारता को पहचान गया हूँ तो फिर मैं सकल जगत् के सारभूत इस आत्मदेव का ही निरन्तन चिन्तन क्यों न करूँ।।१४।।

ऊपर बताये प्रकार से उपनिषद्वाक्यों के तात्पर्य की चिन्ता करते-करते मुनि को शब्दानुविद्ध समाधि होने लगती है। मैं नित्य हूँ, शुद्ध हूँ, चिद्रूप हूँ, सहजानन्दरूप हूँ इत्यादि ऊपर कहे प्रकार से आत्मविषय में भावना करते-करते, जब सम्पूर्ण कामादि वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं, और विजातीय प्रत्ययों का प्रवाह बन्द होकर प्रत्यक्चैतन्य को विषय करने वाली विचारधारा बहने लगती है तो (ध्येयाकार में परिणामरूपी) यह शब्दानुविद्ध समाधि मुनि लोगों को स्वयमेव होने लगती है। वशिष्ठ मुनि ने इस समाधि का निरूपण इस प्रकार किया है कि'निरीहोस्मि निरंशोस्मि स्वस्थोस्म्यस्मि च निःस्पृहः। शान्तोहमर्थरूपोस्मि चिरायाहमलं स्थितः। मैं निरीह हूँ, निरवयव हूँ, निःस्पृह हूँ, शान्त हूँ, प्राप्तव्य अर्थों का स्वरूप भी मैं ही हूँ इसीलिये अब तो मैं अनन्तकाल के लिये पूर्ण होकर स्थित हो गया हूँ।' ।।१५।।

पहले अर्थानुविद्ध समाधि का निरूपण किया गया, उसके पश्चात् शब्दानुविद्ध समाधि भी बतायी गयी। इन दोनों समाधियों को दृढतापूर्वक अपने अधीन करके साधक को चाहिये कि अननुविद्ध समाधि में प्रवेश कर जाय।

अर्थानुवेधितस्तूक्तस्ततः शब्दानुवेधितः।
तावुभौ सम्यगभ्यस्य विशेन्निरनुवेधितम्।।१६।। (६३५)

एवं समाधिद्वयं ससाधनक्रमं निरूप्य इदानीं यदर्थं समाधिद्वयनिरूपणं तमुक्तसमाधिद्वयविलक्षणमुक्तसमाधिद्वयोपसंहारपूर्वकमाह **अर्थेति।** **तु** प्रथमं, **अर्थानुवेधितः** अर्थानुविद्धनामा समाधिः, **उक्तः** कथितः, **ततः** अनन्तरं, **शब्दानुवेधितः** शब्दानुविद्धनामा समाधिः, **उक्तः** कथितो, 'नाम तु व्यवहारार्थम्' इत्यादिना 'अयमर्थानुवेधित' इत्यन्तेन (श्लोक ४-१०) ग्रन्थसन्दर्भेण प्रथमः, द्वितीयस्तु 'अथ शब्दानुविद्धं तु' इत्यादिना 'समाधिर्जायते मुनेः' इत्यन्तेन ग्रन्थेनोक्तो (श्लौक १०-१५) ज्ञेयः, तौ उक्तलक्षणौ द्वौ समाधी, सम्यग् दृढं यथा भवति, तथा अभ्यस्य अभ्यासेन स्वाधीनीकृत्य, ततो **निरनुवेधितम्** अननुविद्धनामानं समाधिं, **विशेत्** प्रविशेत्।।१६।। (६३५)

उपर्युक्त दोनों प्रकार की समाधियों का अभ्यास करते-करते जब अधिकारी को स्वानुभव का आवेश आने लगता है तो ये दोनों समाधियाँ (नदी पार करने के अनन्तर नौका की तरह निष्फल होकर) स्वयमेव छूट जाती हैं। तब उस अधिकारी को एक गम्भीर मौनावस्था आती है। उस समय स्वानुभूतिरसावेश के कारण जो अलौकिक सुख बरसाने वाली दिव्य पराधीनता उत्पन्न होती हैजिसके उदय होने पर अन्दर बाहर कुछ भी ज्ञान नहीं रहता वही शान्तअवस्था अननुविद्ध किंवा 'निर्विकल्प समाधि' कहाती है। बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ज्ञानों किंवा संकल्पों के बन्द हो जाने पर स्वानन्दामृत के गहरे समुद्र में डूबे हुए उस भाग्यशाली को इस अननुविद्ध समाधि के लिये कोई भी उद्योग नहीं करना होता। उस अद्भुत अवस्था का प्रादुर्भाव होने पर जब कि वैषम्य को उत्पन्न करने वाले विकल्प निवृत्त हो चुकते हैं और निरवधि समता ही सर्वत्र छा जाती है, तब उस अधिकारी की वृत्ति अत्यन्त निश्चल होकर निरोध नाम के परिणाम को धारण कर लेती है। तब वह ज्ञानी वायुरहित प्रदेश में रक्खे हुए दीपक की निश्चेष्ट ज्वाला की तरह निश्चल हो चुकता है। इस अननुविद्ध समाधि का निरूपण योगवासिष्ठ में इस प्रकार किया गया है कि'अन्तः शून्यो बहिःशून्यःशून्यकुम्भ इवाम्बरे, अतःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे। मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव, भावनामखिलां त्यक्त्वा यदिष्टं तन्मयो भव। द्रष्ट्टदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज।। प्रशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः। जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा।।' आकाश में रक्खे हुए खाली घड़े के समान संसार की वासनाओं से अन्दर-बाहर सर्वथा खाली हो जाओ, समुद्र में डूबे हुए घड़े के समान अन्दर बाहर केवल

शर्कराद्वितयं धृत्वा प्रणवो लिख्यते यथा।
समाधिद्वितयं धृत्वा प्रणवार्थोपि लिख्यताम्।।१७।। (६३६)

पूर्वोक्तसमाधिद्वयस्य साधनत्वे निरनुविद्धसमाधेः साध्यत्वे च दृष्टान्तमाह **शर्करा इति। यथा** यद्वदनभ्यासवतो बालस्य प्रणवलेखने **शर्कराद्वितयं** शर्करयोः सूक्ष्मवर्तुलपाषाणयोर्द्वितयं युग्मं, **धृत्वा** स्थापयित्वा, **प्रणव** ॐङ्कारो, **लिख्यते** रेखाकारेण व्यक्ती क्रियते, **तथा** तद्वत् **समाधिद्वितयं** समाध्योरर्थानुविद्धशब्दानुविद्धसमाध्योर्द्वितयं युग्मं, **धृत्वा** अभ्यस्य, **प्रणवार्थोपि** प्रणवस्योङ्कारस्यार्थो लक्ष्यार्थो निरनुविद्धसमाधिरूपोऽपि, **लिख्यतां** ब्रह्माहमस्मीति स्वात्मसाक्षात्कारवृत्तौ अनुभूयताम्।।१७।। (६३६)

आत्मचैतन्य से परिपूर्ण हो रहो। अपने शुद्ध साक्षिरूप को बिगाड़कर कभी भी द्रष्टा किंवा दृश्यस्वरूप मत होने दो। इन सम्पूर्ण वासनाओं को छोड़ने के अनन्तर जो शुद्ध प्रियतम आत्मचैतन्य शेष रह जाता है केवल तन्मय ही हो जाओ। द्रष्टा दर्शन दृश्य तथा इनके सब संस्कारों को छोड़कर सविकल्प ज्ञानों के उदय होने से भी प्रथम प्रतीत होने वाले निर्विकल्प आत्मचैतन्य का भजन किया करो। इस प्रकार भजन करते-करते जब तुम्हारे सम्पूर्ण संकल्प शान्त हो जायेंगे और तुम पत्थर के समान अपनी स्वाभाविक निश्चेष्ट अवस्था में पहुँच जाओगे, जाग्रत् तथा स्वप्न से रहित होकर तुरीय धाम में प्रवेश कर लोगे,तब कहा जायगा कि तुमने स्वरूपस्थिति नाम के परमपद का लाभ कर लिया है।।१६।।

पत्थर के दो टुकड़े लेकर जैसे कोई (बालक) प्रणव लिखने का अभ्यास करता हो इसी प्रकार (साधक लोग) इन दोनों समाधियों को धारण करके प्रणवव्यक्ति को लिख डालें।

जिस प्रकार लेखनकला के नवाभ्यासी बालक खो जाने के डर सेकि एक खो जायगी तो दूसरी से लिखेंगेदो अथवा अनेक लेखनियों की सहायता से ओंकार आदि अक्षरों को लिखते हैं, इसी प्रकार नवाभ्यासी लोग उपर्युक्त अर्थानुविद्ध तथा शब्दानुविद्ध दोनों समाधियों का क्रम से अभ्यास करते-करते प्रणव के लक्ष्यार्थ निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करना सीखें। तात्पर्य यह है किअर्थानुविद्ध समाधि का अभ्यास करते-करते जब मन उकता जाय तो स्वाध्याय की सहायता से शब्दानुविद्ध समाधि करनें लगें, तथा शब्दानुविद्ध समाधि करते-करते जब मन उकता जाय तो अर्थानुविद्ध समाधि करने लगें। इस प्रकार क्रम-क्रम से मनोलय की मात्रा बढ़ते-बढ़ते प्रणव का अर्थ ब्रह्मव्यक्ति उन मुमुक्षु लोगों के मानस नेत्रों के सामने स्वयमेव प्रकट होने लग पड़ता है।।१७।।

पटोः प्रणवलेखेषु ते हि नावश्यके यथा।
समाधिद्वितयं तद्वत् प्रणवार्थपटोरपि।।१८।। (६३७)
निर्विकल्पसमाधाने निष्ठा सा बोधयोगिनः।
कपाटोद्घाटने हेतुरियं कैवल्यकुञ्चिका।।१६।। (६३८)

तस्मिंश्च सिद्धौ पूर्वसमाधिद्वयानुपयोगमपि दृष्टान्तेनाह **पटोः इति। पटोः** प्रणवलेखने कुशलस्य, **प्रणवलेखेषु** प्रणवस्योङ्कारस्य लेखा लेखनानि तेषु क्रियमाणेषु, **हि** प्रसिद्धे, **ते** शकरी, **नावश्यके** उपयोगिन्यौ न भवतो, **यथा** यद्वत्, तथा **तद्वत् प्रणवार्थपटोः** प्रणवस्य ओङ्कारस्यार्थोऽखण्डैकरसरूप आत्मा तस्मिन् कुशलस्य आत्मसाक्षात्कारवतो मुनेः **समाधिद्वितयमपि** समाध्योर्द्वितयं युग्ममपि, अर्थानुविद्धशब्दानुविद्धनामकं नावश्यकम् उपयोगि न भवति।।१८।। (६३७)

एतत्प्रकरणविचारस्य फलमाह **निर्विकल्प इति। इयं** मदुक्ता, **कैवल्यकुञ्चिका** कैवल्यकुञ्चिका नाम प्रकरणं, **कपाटोद्घाटने** कं ब्रह्म पाटयति आवृणोति इति कपाटं अज्ञानं तस्योद्घाटन उत्सादने हेतुः कारणं भवति अतोस्य नामापि **कैवल्यकुञ्चिकेति**। अज्ञाननिवर्त्तकत्वमनिष्टनिवृत्तिरूपं फलम् अभिधाय इदानीं इष्टप्राप्तिरूपं फलं प्रदर्शयितुं विशिनष्टि **निर्विकल्पेति। बोधयोगिनो** बोधो जीवब्रह्मैक्यज्ञानमेव योगः स्वात्मप्राप्तिसाधनं यस्य विद्यते तस्य, सोक्तलक्षणा कैवल्यकुञ्चिका **निर्विकल्पसमाधाने** निर्विकल्पकसमाधौ, निष्ठा स्थितिरेव फलतो ज्ञेया।।१६।। (६३८)

जब किसी बाललेखक को प्रणवादि अक्षरों के लिखने का पूर्णभ्यास हो जाता है तो फिर उन पत्थर की दोनों किंवा अनेकों लेखनियों की आवश्यकता उसे नहीं रहती। वह तो फिर सहसा ही पत्रादि पर लिख सकता है। इसी प्रकार प्रणव के अर्थ अखण्ड एकरस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने की कला जिस मुनि को सिद्ध हो जाती है तो उसके लिये ये अर्थानुविद्ध तथा शब्दानुविद्ध दोनों प्रकार की समाधियों का उपयोग नहीं रह जाता। वह तो फिर विहङ्गमवृत्ति से सहसा ही प्रणवव्यक्ति का उल्लेख अपने मानस नेत्रों के सामने करने लगता है।।१८।।

इस कैवल्यकुंचिका से अज्ञानरूपी कपाट खुल जाते हैं तथा यही पीछे से ज्ञानी की निर्विकल्प समाधि के रूप में परिणत हो जाती है। यह कैवल्यकुंचिका नाम का प्रकरण (ब्रह्म का आवरण करने वाले अज्ञानरूपी) कपाट को खोलने का कारण बन जाता है। इसीसे इसको कैवल्यकुंचिका कहते हैं (परन्तु यह तो इसका अनिष्टनिवृत्तिरूपी आधा ही फल हुआ। इसके धारण करने पर इष्टप्राप्तिरूपी दूसरा पूर्ण फल तो यह होता है कि) उस बोधयोगी के लिये यह उपर्युक्त प्रभाव दिखाने वाली कैवल्यकुंचिका ही फलतः निर्विकल्प समाधि में स्थिति हो जाती है (अर्थात् अभ्यास-क्रम के बढ़ते-बढ़ते अन्त में यह कैवल्यकुंचिका ही निर्विकल्पसमाधि के रूप में परिणत हो जाती है)।।१६।।

रहस्यं हि रहस्यानां निधीनां परमो निधिः।
युक्तीनां परमा युक्तिरियं कैवल्यकुञ्चिका।।२०।। (६३९)
वसिष्ठव्यासपद्धत्या शङ्कराचार्यमार्गतः।
सा पुनः शङ्कराचार्यैः करुणारसनिर्भरैः।।२१।। (६४०)
अर्पितानन्दबोधेभ्यस्तत्क्रमेण बुधैर्धृता।
अवधार्या विशेषेण सेयं कैवल्यकुञ्चिका ।।२२।। (६४१)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे कैवल्यकुञ्चिका।।३५।।

एतस्यम् माहात्म्यमाह **रहस्यम् इति। हि** प्रसिद्धेयं, **कैवल्यकुञ्चिका** कैवल्यकुञ्चिकानाम्नी प्रक्रिया, **रहस्यानां** गोप्यानां मध्ये, **रहस्यं** गोप्यमस्ति, तत्र हेतुः **निधीनां** निधीयन्ते स्थाप्यन्ते द्रव्याणि येषु ते तथोक्ता द्रव्यपूर्णभाण्डानि तेषां, मध्ये **परमः** श्रेष्ठो, **निधिः** द्रव्यपूर्णं भाण्डं सदात्मद्रव्यपूर्णत्वादतिश्रेष्ठो निधिः इत्यर्थः। किञ्च **युक्तीनां** युज्यते प्राप्यत आत्मा आभिः ता युक्तयो योगाः तेषां, मध्ये **परमा** श्रेष्ठा, **युक्तिः** योग, **इयं** कैवल्यकुञ्चिका ज्ञेया।।२०।। (६३९)

एतस्याः प्रामाण्याय परम्परागतत्वं दर्शयति **वसिष्ठ इति। वसिष्ठव्यासपद्धत्या** वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रो व्यासः पराशरपुत्रः तौ एव पद्धती मार्गौ ताभ्यां जातावेकवचनं, ततः **शङ्कराचार्यमार्गतः** शङ्कराचार्य एव मार्गः पन्थाः तस्माद् आगता प्राप्ता। केन क्रमेण? इत्यत आह **सेति। सा** शङ्कराचार्याद् आगता, पुनः तदनन्तरं, करुणारसनिर्भरैः करुणा दया सैव रसस्तेन निर्भरैः पूर्णैः, शङ्कराचार्यैः सर्वेषां कल्याणकर्तृभिराचार्यैः श्रीमदाचार्यैः।।२१।।(६४०)

अर्पिता इति। आनन्दबोधेभ्य आनन्दबोधनाम्ने शिष्याय, **अर्पिता** समर्पिता दत्ता इत्यर्थः, ततो **बुधैः** ज्ञानिभिः, **तत्क्रमेण** स उक्तो यः क्रमः तेन, आनन्दबोधात् क्रमेणेत्यर्थः, **धृता** प्राप्ता, **सा** परम्परया, मम प्राप्ता मया तुभ्यं **इयं** प्रत्यक्षा दत्ता हे शिष्य **सेयं कैवल्यकुञ्चिका विशेषेण** इति आदरेण त्वया, **अवधार्या** स्वाधीनीकर्त्तव्या।।२२।। (६४१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ कैवल्यकुञ्चिकार्थप्रकाशः पञ्चत्रिंशः।।३५।।

यह कैवल्यकुंचिका नाम की प्रक्रिया गोपनीयों का भी गोपनीय पदार्थ है। निधियों में श्रेष्ठ निधि है (क्योंकि इसमें सदात्मद्रव्य भरा पड़ा है) तथा योगों में यह सर्वोत्कृष्ट योग कहाता है। (इसी से इसको राजयोग कहते हैं)।।२०।।

वसिष्ठ तथा व्यासमुनि की परम्परा से शंकराचार्य के द्वारा यह कैवल्यकुंचिका प्राप्त हुई। करुणारस से परिपूर्ण शंकराचार्य ने अपने आनन्दबोध नामक शिष्य को इसका उपदेश किया। उसी परम्परा से ज्ञानी लोगों को भी इस विद्या की लब्धि हुई। (वहीं से हमने भी इस विद्या को प्राप्त किया)। हे शिष्य! तुम्हें उचित है कि बड़े आदरपूर्वक इस कैवल्यकुंचिका को तुम भी स्वाधीन करलो।।२१-२२।।

अथ बुद्धिप्रशंसा

व्यवहारस्य सर्वस्य बुद्धिर्मूलं यथा भवेत्।
तद्वत्तु परमार्थस्य निदानं बुद्धिरेव हि।।१।। (६४२)
यद् बुद्धमप्यबुद्धं तद् बुद्ध्या बुद्धं न चेत्तदा।
बुद्ध्या बुद्धं तु यद् बुद्धं तन्नाबुद्धं कदापि च।।२।। (६४३)

इदानीं मुमुक्षूणां मोक्षस्यैव इष्टत्वात् तस्य च ज्ञानाधीनत्वात् तज्ज्ञानं च यतो बुद्ध्यधीनमतो बुद्धौ आदरं विधातुं बुद्धिमाहात्म्यनिरूपकं बुद्धिप्रशंसानामकं चतुःश्लोकं प्रकरणमारभमाण आह **अथ इति। अथ** कैवल्यकुञ्चिकानिरूपणानन्तरं, **बुद्धिप्रशंसा** बुद्धेःमतेः प्रशंसा स्तुतिरेतन्नामकं प्रकरणं निरूप्यते इति शेषः, तत्र तावदादौ सर्वलौकिकवैदिकव्यवहारस्य कारणत्वं बुद्धेरेवाह **व्यवहारस्य इति। सर्वस्य** संसारमोक्षकारणभूतो यो व्यवहारस्तस्य, **बुद्धिरेव** मतिरेव मूलं कारणं, **यथा** यद्वद्, **भवेत् स्यात्, तद्वत्** तथा **परमार्थस्य** मोक्षाख्यस्यार्थस्य, **तु** अप्यर्थः, **निदानं** आदिकारणं, **बुद्धिरेव** मतिरेव, **हि** प्रसिद्धमेतद्विवेकिनाम्।।१।। (६४२)

ननु बोधरूपस्यात्मनो बुद्ध्यनपेक्षत्वात् कुतो बुद्धेः महत्त्वमित्याशङ्क्य बुद्धिबुद्धस्यैवात्मनो बुद्धत्वं नाबुद्धस्येति बुद्धेरेव महत्त्वमित्याशयेनाह **यदिति। यद्** आत्मचैतन्यं चिन्मात्रत्वाद्, बुद्धमपि बोधरूपमपि, बुद्ध्याऽज्ञानमात्रनिवृत्तिफलया अहं ब्रह्मास्मीति प्रमाख्यया वृत्त्या, **बुद्धं** अज्ञाननिरासेन साक्षादनावृतं, **बुद्धं** प्रकाशितं, **न चेत्** न विद्यते, यदि **तदा** तर्हि, तदात्मरूपं **अबुद्धं** अज्ञातं भवति, अज्ञातस्य आत्मनः संसृतिकारणत्वात् न मोक्षसिद्धिरिति भावः। एवं बुद्धस्याप्यात्मनो बुद्धत्वजननेन बुद्धेः श्रैष्ठ्यमभिधाय इदानीं बुद्धिवृत्तेः क्षणिकत्वेन बुद्धिवृत्तिनाशे तदुत्पन्नबुद्धत्वनाशादपि पुनरप्यात्मनि संसरणप्रसक्तिरित्याशङ्क्य तां निरस्यन् बुद्धिजन्यस्यात्मनि बुद्धत्वस्य नाशाभावनिरूपणेनापि तच्छ्रैष्ठ्यं दर्शयति**यत्त्विति। यत्तु** यज्ज्ञानिप्रत्यक्षं, **बुद्धं** आत्मचिन्मात्रं, बुद्ध्या **बुद्धं** बुद्ध्याऽज्ञाननिवृत्तिमात्रप्रयोजनयाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रमावृत्त्या **बुद्धं** आनावृतं प्रकाशितं, **चेत्** यदि, **तद्** अनावृतमात्माचिन्मात्रं, **अबुद्धं** अज्ञातं, **कदापि** कस्मिन्नपि समये, वृत्तिभावे तदभावे वा **न** भवेत् न स्याद्, एकवारं बुद्धिप्रकाशितस्य आत्मचैतन्यस्य सर्वदा प्रकाशमानत्वेनापि बुद्धेरेव महत्त्वं तज्ज्ञेयमित्याशयः।।२।। (६४३)

जिस प्रकार समस्त व्यवहार का मूल कारण बुद्धि होती है इसी प्रकार मोक्ष नाम के परमार्थ का भी मूल कारण बुद्धि ही होती है (इसलिये बुद्धिप्रशंसा नाम के प्रकरण का आरम्भ किया जाता है)।।१।।

ज्ञानस्वरूप भी जिसको यदि बुद्धि से न जान लिया जाय तो वह अबुद्ध ही बना रहता है, परन्तु वही (ज्ञानियों में प्रसिद्ध) आत्मचैतन्य यदि बुद्धि से एक बार प्रकाशित हो जाय तो फिर कभी भी अज्ञात नहीं हो पाता।

वह आत्मचैतन्य चिन्मात्रस्वरूप है इसलिये सदा ही बोधरूप होता है। परन्तु

अज्ञान को हटाने वाली 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की बुद्धिवृत्ति से यदि उसका साक्षात्कार न किया हो तो वह आत्मरूप सदा ही अज्ञात बना रहता है। उस अज्ञात आत्मा से मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। क्योंकि अज्ञात आत्मा तो संसार का कारण होता है। यों स्वयं ज्ञानस्वरूप आत्मा में बुद्धत्व को उत्पन्न करने वाली बुद्धि एक अति श्रेष्ठ पदार्थ मानी गयी है। यह बुद्धिवृत्ति जब नष्ट हो जायेगी तब इससे उत्पन्न हुआ बुद्धत्व भी नष्ट हो जायेगा, जिससे कि फिर इस आत्मा को संसार की प्राप्ति होगी, ऐसी शंका मत करो, क्योंकि ज्ञानियों के अनुभव में आने वाले जिस चिन्मात्र आत्मा को अज्ञान के हटाने वाली आत्माकारवृत्ति से एक बार भी प्रकाशित कर लिया जाता है, वह आत्मचैतन्य उस वृत्ति के रहने किंवा नष्ट हो जाने पर भी फिर अबुद्ध (अज्ञात) नहीं हो पाता। यह भी इस बुद्धि में एक अत्यन्त विशेषता है कियह एक बार जिस आत्मचैतन्य को प्रकाशित कर देती है, वह फिर सदा ही प्रकाशमान रहता है। उसके बुद्धत्व का फिर कभी नाश नहीं होता। तात्पर्य यह है किशुद्ध आत्मचैतन्य केवल साक्षिमात्र है, वह तो ज्ञान की तरह अज्ञान को भी प्रकाशित कर देता है। वह अज्ञान को हटाता नहीं है। अज्ञान को हटाना बुद्धिवृत्तियों का काम है। क्योंकि आत्मा तो निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप होता है। निर्विकल्पक ज्ञान से किसी का भी विरोध नहीं होता। यही कारण है कि निर्विकल्प ज्ञान से कोई भी अज्ञान दूर नहीं होता। सविकल्पक ज्ञान के आश्रय से नाना प्रकार के आकारों के प्रतीत होने के लिये वह तो केवल अधिष्ठानमात्र होता है। निर्विकल्पक ज्ञान को तो शुद्धज्ञान ही जान लेना चाहिये। जब कभी उसमें कोई विकल्प उत्पन्न होता है तो वह सविकल्प हो जाता है। इस प्रकार अज्ञान को भी सविकल्पक ज्ञान ही कहते हैं। इस सविकल्पक अज्ञान का विरोधी कोई दूसरा सविकल्प ज्ञान ही हो सकता है। आत्मस्वरूप को विस्मरण कराने वाला 'अज्ञान' कहाता है। सर्वत्र परिपूर्ण देश काल आदि की किसी मर्यादा में न आने वाले उस चैतन्य का जब हम किसी शरीर आदि में परिच्छेद कर डालते हैंजिसके प्रभाव से कि 'मैं' अमुक हूँ' तथा 'अमुक स्थान पर हूँ' ऐसा कहने लगते हैंतब यह सब अज्ञान की ही महिमा होती है। इस अज्ञान को जब तक हम किसी दूसरे सविकल्प ज्ञान से ही नष्ट न कर डालें तब तक हमारा यह सब संसार ज्यों का त्यों बना ही रहता है। इस संसार का कारण अज्ञान भी तब तक नहीं हटता, जब तक कि सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा के शुद्ध स्वरूप को न पहचान लिया जाय, किंवा आत्मा का सविकल्प ज्ञान ही न कर लिया जाय। इस आत्मस्वरूप का परोक्ष ज्ञान तो शास्त्र तथा सद्गुरु की

बुद्ध्या न बुद्धो यो बोधो द्वैतबोधबुधैरपि।
बुद्ध्या बुद्धमिमं विद्धि बुद्धिसाक्षितया बुधैः।।३।। (६४४)

इदानीम् अनात्मबुद्धावात्माप्रकाशे ज्ञबुद्धौ चात्मप्रकाशे च बुद्धेरेव हेतुत्वेन श्रैष्ठ्यमाह **बुद्ध्या इति। द्वैतबोधबुधैः** द्वैतस्य जगतो, **यो बोधो** ज्ञानं कर्मोपास्तिविषयं तस्मिन् ये बुधाः पण्डिताः तैः कर्तृभिः, **बुद्ध्या** कर्मोपास्तिनिर्णायकमत्या करणभूतया, यो विवेकिप्रत्यक्षो बोधश्चिन्मात्र आत्मा स, **न बुद्धोपि** न साक्षात्कृतोपि, तं **इमम्** आत्मानमात्मनि बोधरूपं, **बुधैः** ज्ञानिभिः, **बुद्धिसाक्षितया** बुद्धेः अहं ब्रह्मास्मीति वृत्तेः साक्षि अव्यवधानेन प्रकाशक आत्मा तस्य भावः सत्ता तया, **बुद्ध्या** मत्या एव, **बुद्धं** ज्ञातं, **विद्धि** जानीहि।।३।। (६४४)

इदानीं आत्मबोधे केनापि प्रकारेण आसाद्यमाने सत्यपि तत्र बुद्धेः कुशलतां दर्शयन् बुद्धेः श्रैष्ठ्यमाह **न बुद्धमपि इति। यत्** ज्ञानिप्रत्यक्षमात्मरूपं, **न बुद्धमपि** चेत्यरहितचिन्मात्ररूपत्वात्

सहायता से भी हो जाता है। 'परन्तु मैं ही ब्रह्म हूँ यह आत्मा ही तो ब्रह्म है' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञान तो समाधि का परिपाक होने पर ही उत्पन्न होता है। यही प्रत्यक्षज्ञान अज्ञान तथा अज्ञानजन्य संसार को नष्ट कर सकता है। यह महाफल, ज्ञानपूर्वक समाधि लेने से ही हाथ लगता है। अज्ञात आत्मा का प्रत्यक्ष तो संसार के सब लोगों को प्रतिदिन होता ही रहता हैजब कि वे किसी अत्यन्त दुःखदायक प्रसंग को देखते हैं तो अवाक् हो जाते हैं। वे उस समय निर्विकल्प चैतन्य की अवस्था में गये होते हैं। उनका कुछ काल के लिये देहादियों से सम्बन्ध भी छूट जाता है। परन्तु उपर्युक्त ब्रह्माकार बुद्धिवृत्ति से ज्ञात न होने के कारण वह आत्मतत्त्व उनके लिये अत्यन्त निरुपयोगी तथा अज्ञात ही बना रहता है। जैसे कि कोई रत्नपरीक्षक देखते ही रत्न को पहचान जाता है तथा उससे अपनी दरिद्रता को नष्ट कर लेता है इसी प्रकार यदि वैसी उत्कृष्ट बुद्धिवृत्ति किसी भाग्यशाली में जागृत हो गयी हो, तब तो वह पदे-पदे इस आत्मतत्त्व को पहचान कर परमानन्द समुद्र में डूब कर आनन्दित हो जाता है। एक बार इस बुद्धिवृत्ति से उसके स्वरूप को जान कर फिर कभी भी अज्ञान में फंसने का अशुभ प्रसंग नहीं आता।।२।।

द्वैतबोध में बड़े चतुर पुरुष ने भी जिस बोधरूप आत्मा को अपनी बुद्धि से नहीं जान पाया, उसी आत्मा को ज्ञानी पुरुषों ने आत्माकार बुद्धि के साक्षी रूप में अपनी बुद्धि से जान ही लिया है, यह बात तुम जान लो। (तात्पर्य यह है कि अनात्मज्ञ की बुद्धि में आत्मा के अप्रकाश तथा ज्ञानी की बुद्धि में आत्मा के प्रकाश होने का कारण होने से यह बुद्धि एक अति श्रेष्ठ पदार्थ है)।।३।।

न बुद्धमपि यद्बुद्धं यच्च बुद्धमबुद्धवत्।
बुद्धाबुद्धसमं बुद्ध्या बुद्धाबुद्धविलक्षणम्।।४।। (६४५)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे बुद्धिप्रशंसा षट्त्रिंशः।।३६।।

न ज्ञातमपि, **बुद्धं** ज्ञानस्वरूपमस्ति तस्य ज्ञानरूपत्वाभावे जगद्भानानुपपत्तेः तथा च श्रुतिः'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, को ह्येवान्यात्कः प्राण्यादि'ति। किञ्च **यच्च** यदपि आत्मरूपम् अबुद्धवद् बुद्धिविषयत्वाभावात् स्वयं प्रकाशमानत्वाच्च अविज्ञातमिव **बुद्धं** प्रकाशमानं, वस्तुतश्च बुद्धाबुद्धयोः ज्ञाताज्ञातयोः, **समं** सदैकरूपं, यद्वा बुद्धाबुद्धयोर्ज्ञान्यज्ञानिनोः समं निर्विशेषं, तथा च श्रुतिः

"यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति"।।

अत एव **बुद्धाबुद्धविलक्षणं** बुद्धं बुद्ध्या विषयीकृतम्, अबुद्धं बुद्ध्या न विषयीकृतं ताभ्यां विलक्षणं स्वयं प्रकाशमानं, बुद्ध्या मत्या, बुद्धं ज्ञातमतो बुद्धेरेव श्रैष्ठ्यमिति भावः।।४।। (६४५)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ बुद्धिप्रशंसार्थप्रकाशः षट्त्रिंशः।।३६।।

एवं बुद्धिप्रशंसां निरूप्य इदानीं जीवन्मुक्ते जगत्प्रतीतेरबाधकत्वप्रदर्शनाय रङ्गलीलात्रय्याख्यं त्रिश्लोकं प्रकरणमभिधास्यन्नाह **अथ इति**। बुद्धिप्रशंसानिरूपणानन्तरं, **रङ्गलीलात्रयी** रङ्गस्यलीला अनायासेन धारणरूपा तन्निरूपिका त्रयी त्रिश्लोकावयव एतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः,

अज्ञात होने पर भी जो ज्ञात ही होता है तथा ज्ञात होने पर भी जो अज्ञात के समान ही रहता है, जो कि बुद्ध और अबुद्ध दोनों में ही सम होता है तथा जो कि बुद्ध और अबुद्ध दोनों से ही विलक्षण होता है वह भी बुद्ध से जान ही लिया जाता है। यही बुद्धि की महिमा है।

जो आत्मरूप, अज्ञात कहाने पर भी सदा ज्ञानरूप ही होता है (क्योंकि यदि वह ज्ञानरूप न होता तो इस जड जगत् का भास ही कैसा होता?) साथ ही जो आत्मरूप बुद्ध किंवा ज्ञात होने पर भी बुद्धि का विषय न होने तथा स्वयंप्रकाश होने से सदा अबुद्ध (अज्ञात)-सा बना रहता है, परन्तु तत्त्वविचार करने पर तो जो कि ज्ञात तथा अज्ञात में सम (एकरूप) ही रहता है अथवा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में एक समान निर्विशेष बना रहता है, इसी कारण से जिसको बुद्ध (बुद्धि से विषयीकृत) तथा अबुद्ध (बुद्धि से विषय न किया गया) इन दोनों से ही विलक्षण मानना पड़ता है, परन्तु फिर भी किसी बुद्धि से तो जान ही लिया जाता है (तात्पर्य यह है कि ऐसे गहन भी आत्मतत्त्व को जिस किसी प्रकार जान पाने के कारण बुद्धि की कुशलता तथा श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है)।।४।।

अथ रङ्गलीलात्रयी

रञ्जितं रञ्जनैश्चित्रैश्चित्रं जातं हृदम्बरम्।
रङ्गे निरञ्जने क्षिप्तं रङ्गं प्राप्तं निरञ्जनम्।।१।। (६४६)

निरूप्यते इति शेषः। तत्र तावद् वस्त्रं यथा यादृग्रङ्गे निक्षिप्यते तादृशं रङ्गंस्वस्मिन्धारयति तथा हृदयमपि यादृशरङ्गे निक्षिप्यते तादृशं रङ्गं धारयतीत्याह **रञ्जितम् इति। रञ्जनै** रञ्जयन्ति स्वसंपृक्तं द्रव्यमिति रञ्जनानि अन्तःकरणविचित्रताकारणभूता विषयाः, **चित्रैः** चित्रयन्ति हृदयमिति चित्राणि जगत्पदार्थाः तैः कृत्वा, **रञ्जितं** विचित्रितं सद्, **हृदम्बरं** हृद्धृदयमेवाम्बरमाकाशं, **चित्रं** विचित्रं अनेकरूपमिति यावत्, तत् **जातं** जातं सम्पन्नं, तन्मयेदानीमधुना **निरञ्जने** निरुपाधिके स्वतः सिद्ध इत्यर्थः, **रङ्गे** रज्यते प्रकाश्यते जगदनेनेति रङ्गः परमात्मा तस्मिन्, **क्षिप्तं** स्थापितं, सत् **निरञ्जनं** निरुपाधिकं, **रङ्गं** रञ्जकमात्मानमित्यर्थः, **प्राप्तं** लब्धं जातं। लौकिकार्थे ताव**द्रञ्जनैः** रञ्जयन्ति विचित्रयन्ति वस्त्रादिकं तानि रञ्जनानि तैः चित्रैः चित्रयन्ति स्वसंसृष्टं द्रव्यं तानि रञ्जकद्रव्याणि तैः रञ्जितं चित्रितं सद्धृदम्बरं हृद्धृदयमिवाम्बरं वस्त्रं चित्रं विचित्ररूपं जातं सम्पन्नं तन्मया निरञ्जने निरुपाधिके रङ्गे रञ्जके द्रव्ये स्वतः पीतादिद्रव्ये क्षिप्तं स्थापितं सन्निरञ्जनं निरुपाधिकं पीतादिकं रङ्गं रागं प्राप्तं लब्धं भवतीति।।१।। (६४६)

'जगत्प्रतीति जीवन्मुक्त को बाधा नहीं पहुँचाती' यह बात इस प्रकरण में बतायी है। चित्रविचित्र रंजन द्रव्यों से रंजित हुआ मेरा हृदयाकाश अनेकरूप हो गया था, परन्तु निर्मल (तथा जगत्प्रकाशक) रङ्ग नामक परमात्मा की ओर लगाया हुआ वही हृदयाकाश निरुपाधिक रङ्गरूप आत्मा को प्राप्त हो गया किंवा आत्मा ही हो गया।

जिस प्रकार कोई स्वच्छ वस्त्र चित्र-विचित्र रंजक द्रव्यों से चित्रित होकर विचित्र रूप का हो गया हो, उस वस्त्र को यदि किसी गहरे रंजक द्रव्य में डुबो दिया जाय तो फिर वह भी अपने चित्र विचित्र रूप को छोड़कर उसी रंजक द्रव्य की तरह केवल एक ही रंग का हो जाता है। इसी प्रकार चित्र विचित्र पदार्थों के कारण, नाना रूपधारी यह हमारा हृदयाकाश, हमारी असावधानता के कारण, अनेकरूप वाला हो गया था, इस हृदय के इस प्रकार चित्रित होने से हमें नाना प्रकार के क्लेश उत्पन्न हो गये थे, उन सबको हटाने के लिये मैंने अपने उस हृदय को ले जाकर स्वतः प्रकाशरूप रङ्ग नामक (रज्यते प्रकाश्यते जगदनेनेति रङ्गः परमात्मा) परमात्मा में लगा दिया। अब तो इस मेरे हृदय ने उस निरुपाधिक आत्मा को ही प्राप्त कर लिया अथवा स्वयं यह निरुपाधिक आत्मा ही हो गया। इसके सबके सब चित्र-विचित्र अनेक आकार इसी आत्मप्रकाश से अभिभूत हो गये। मानो कि गहरा रंग चढ़ने पर किसी वस्त्र की पहली चित्रकारी छिप गयी हो।।१।।

रङ्गं निरञ्जनं प्राप्तमिदानीं तु हृदम्बरम्।
रञ्जितं रञ्जनैश्चित्रैरपि रङ्गं बिभर्ति न।।२।। (६४७)
रङ्गलीलाद्वयीमेतां तात चित्तेऽवधारय।
रङ्गं परीक्षय धिया साञ्जनं च निरञ्जनम्।।३।। (६४८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे रङ्गलीलात्रयी सप्तत्रिंशः।।३७।।

ततश्च किं जातं तदाह **रङ्गम् इति। तद्धृदम्बरं तु** हृदयरूपमाकाशमपि, **निरञ्जनं** निरुपाधिकं, **रङ्गं** रज्यते प्रकाश्यते जगदनेनेति रङ्गः प्रकाशरूप आत्मा तं, **प्राप्तं** लब्धं सद्, **इदानीं** अधुना, रञ्जनै रञ्जकैः चित्रैः चित्रसदृशैर्जगत्पदार्थैः परस्परविलक्षणैः, **रञ्जितं** संपृक्तमपि, रङ्गं जगत्पदार्थसम्बन्धं, **न बिभर्ति** न धारयति, व्यवहारदशायां जगत्पदार्थसम्बन्धवत्प्रतीतमपि ज्ञानिहृदयं वास्तवं सम्बन्धं न धारयतीति भावः। लौकिकार्थे तावद् हृदम्बरं हृद्धृदयवदम्बरं वस्त्रं, **निरञ्जनं** निरुपाधिकं, गैरिकादिरञ्जनद्रव्यं प्राप्तं सदिदानीं तादृशरङ्गधारणानन्तरमस्मिन्काले **चित्रैः** अनेकैः, रञ्जनैः रञ्जकद्रव्यै रञ्जितमपि संपृक्तमपि **रङ्गं** रञ्जनं, स्वस्मिन् **न बिभर्ति** न पूर्ववद्धारयतीति।।२।। (६४७)

इदानीमेतत्प्रकरणार्थधारणां तद्विचारं च विधत्ते **रङ्गलीला इति। हे तात** हे शिष्य, एतां मदुक्तां, **रङ्गलीलाद्वयीं** रज्यतेऽनेनेति रङ्गः सोपाधिको निरुपाधिकश्च तस्यानायाससिद्धत्वाल्लीला क्रीडा तस्याः प्रतिपादनकर्त्री द्वयी श्लोकद्वयात्मकं प्रकरणं, तां त्वं **चित्ते** चेतसि, **अवधारय** संगृह्णीष्व, ततश्च **धिया** बुद्ध्या, **साञ्जनं च** अज्यतेनेनेत्यञ्जनमुपाधिस्तेन सहितं, **रङ्गं**प्रकाशं **निरञ्जनं** निरुपाधिकं रङ्गं प्रकाशमात्मानात्मप्रकाशमिति यावत्, तत् **परीक्षय** अवलोकय।।३।। (६४८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ रङ्गलीलात्रय्यर्थप्रकाशः सप्तत्रिंशः।।३७।।

निरंजन रङ्ग को प्राप्त हुआ वह मेरा हृदयाकाश चित्र रंजनो से रंजित किया जाने पर भी अब पहले की तरह (स्पष्ट) रङ्ग को धारण नहीं करता है।

हमारा हृदयाकाश अब निरुपाधिक प्रकाशरूप परमात्मा को प्राप्त होने पर रंगने वाले चित्रतुल्य जगत्पदार्थों से संपृक्त हो तो जाता है, परन्तु पहले की तरह जगत् के पदार्थों का विचार नहीं रखताअब वह उनके रंग में रंगता ही नहीं। व्यवहारकाल में जगत् के पदार्थों से सम्बद्ध-सा प्रतीत होने वाला भी ज्ञानी का हृदय उनसे अपना वास्तव सम्बन्ध नहीं जोड़ता। जैसे कि कोई कपड़ा किसी गहरे रंग में डूब जाने पर चित्र-विचित्र रंगों को अपने ऊपर चढ़ने नहीं देता हो।।२।।

हे शिष्य! रङ्गलीला के इन दोनों श्लोकों को तू अपने चित्त में बैठा ले। फिर इस बुद्धिरूपी कसौटी से उपाधिसहित प्रकाश तथा निरुपाधि प्रकाश (आत्मानात्मप्रकाश) को पहचान लिया कर।।३।।

जगत्प्रकाशक चैतन्य तथा आत्मा में कोई भेद नहीं यह इस प्रकरण में बताया है। आत्मचन्द्र की जगत् का प्रकाश करने वाली चेतना का तथा जगदानन्ददायक

अथ चन्द्रिकाचन्द्रचमत्कारचतुष्टयी

अचन्द्रे चन्द्रिका नास्ति न चन्द्रश्चन्द्रिकां विना।
चन्द्रिकाचन्द्रसंयोगः कथं वा विनिवार्यताम्।।१।। (६४६)

एवं रङ्गलीलात्रय्या जीवन्मुक्ते व्यवहारकाले जगत्प्रतीतावपि बाधकाभावं प्रदर्श्य इदानीं तदेव दृढीकुर्वन् जगत्प्रकाशचैतन्यात्मचैतन्ययोरभेदं दर्शयितुं चन्द्रिकाचन्द्रचमत्कारचतुष्टय्याख्यं चतुःश्लोकं प्रकरणमारभमाण आह **अथ इति। अथ** रङ्गलीलात्रयी निरूपणानन्तरं, **चन्द्रिकाचन्द्रचमत्कारचतुष्टयी** चन्द्रिका कौमुदी चन्द्रश्च सोमः तयोश्चमत्कारो व्यवहारकौतुकं चन्दयति आनन्दयति जगदिति चन्द्रो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा आनन्दरूपत्वात् तस्य इयं चन्द्रिका ज्योत्स्ना जगत्प्रकाशिका चेतनेत्यर्थः। तस्याश्चन्द्रस्य च परमसुखरूपत्वात् जगदानन्दयितुः परमात्मनश्च यश्चमत्कारो भेदे प्रतीयमानेप्यभिन्नत्वाव्यभिचाररूपस्तस्य प्रतिपादयित्री चतुष्टयी श्लोकचतुष्टयरूपा प्रक्रिया निरूप्यते इति शेषः तत्र तावदादौ सर्वदा चन्द्रचन्द्रिकयोरिवात्मचैतन्यजगत्प्रकाशचैतन्ययोः वियोगाभावं प्रतिपादयति **अचन्द्र इति। अचन्द्रे** चन्दयति आनन्दयति सर्वं जगदिति चन्द्रो निरतिशयस्वयंप्रकाशानन्दरूप आत्मा स न भवति इति अचन्द्रोऽनात्मा तस्मिन् घटादिजगत्पदार्थे, **चन्द्रिका** जगदानन्दयित्री जगत्प्रकाशिका चेतना च, **नास्ति** न विद्यते, विद्यमाना न स्यादित्यर्थः, एवं चेज्जगदान्ध्यप्रसङ्ग इति भावः, ततश्च जगत्प्रकाशान्यथानुपपत्त्या तदानन्दानुपपत्त्या चात्मनः सत्त्वमङ्गीकर्त्तव्यं तथा सति चन्द्रचन्द्रिकयोरिव आत्मचैतन्यजगत्प्रकाशचैतन्ययोरपि द्वित्वं स्यादित्याशङ्क्य चन्द्राच्चन्द्रिकाया इव आत्मचैतन्यात् जगत्प्रकाशचैतन्यस्य पृथक् सत्त्वं निषेधति **न इति। चन्द्रिकां** कौमुदीं **विना** ऋते, **चन्द्रः** सोम इव, चन्द्रिकां जगत्प्रकाशकचेतनामृते चन्द्र आनन्दरूप आत्मा **न** नास्ति एकसत्ताकत्वादुभयोरिति भावः, अतः **चन्द्रिकाचन्द्रसंयोगः** चन्द्रिकाया जगत्प्रकाशकचेतनायाश्चन्द्रस्य चात्मनः संयोग ऐक्यं कौमुदीचन्द्रयोरैक्यमपि, **कथं वा** केन प्रकारेण, **विनिवार्यतां** निषेध्यतां न कथमपीत्यर्थः।।१।। (६४६)

आत्मचन्द्र का सर्वथा भेद प्रतीत हो रहा है तो भी अभी तक गुप्त अभेद ही बना हुआ है, यह एक असाधारण चमत्कार इन चार श्लोकों में कहा है।

अचन्द्र अर्थात् (जगत् के घटादि) जड पदार्थों में तो चेतना है ही नहीं तथा यह आत्मचन्द्र चेतना (जगत्प्रकाशक चेतना) के बिना रहता ही नहीं। ऐसी अवस्था में जगत्प्रकाशक चेतना के साथ आत्मचन्द्र की एकता को कौन रोक सकता है?

अचन्द्र अर्थात् आत्मचन्द्र से भिन्न जगत् के इन घटपटादि अनात्मपदार्थों में जगत् को आनन्द देने वाली या जगत् को प्रकाशित करने वाली चेतना शक्ति रह ही नहीं सकती, इस कारण से यह सब जगत् ही अन्धकारपूर्ण हो जाना चाहिये था, इसीलिये हमको इनमें आत्मा की सत्ता माननी पड़ती है, नहीं तो इस जड जगत् का प्रकाश भी कैसे हो? तथा इस जगत् को आनन्द की प्राप्ति भी कहाँ से हो? तब प्रश्न हो सकता

विस्मृत्या चन्द्रिका नाप्ता स्मृत्याऽऽप्तेव तु चन्द्रिका।
चन्द्रिकाचन्द्रतादात्म्यं केनाहो विनिवारितम्।।२।। (६५०)

ननु तर्हि चन्द्रिकाया जगत्प्रकाशकचेतनायाश्च कादाचित्कत्वं कथं प्रतीयते? तत्राह **विस्मृत्येति**। **चन्द्रिका** कौमुदी, **विस्मृत्या** निद्रादिरूपविस्मरणेनात्मचेतनापि विस्मृत्या अज्ञानरूपविस्मरेण, **नाप्ता** न दृष्टाऽननुभूता च कस्मिंश्चित्समये, **स्मृत्या** स्मरणेन ज्ञानेन च, **आप्तेव** प्राप्तेव प्रतीयते, वस्तुतस्तु चन्द्रिकाचन्द्रसंयोगवियोगौ आत्मचैतन्यजगत्प्रकाशचैतन्यसंयोगवियोगौ चैकरूप्यान्न स्तस्तत्प्रतीतिस्तु भ्रान्तिविलसितमितिभावः। अतोऽहो शिष्य! **चन्द्रिकाचन्द्रतादात्म्यं** चन्द्रिकायाः कौमुद्याः चन्द्रस्य च सोमस्य तादात्म्यमैक्यमात्मनो जगत्प्रकाशचेतनायाश्चैकत्वमभिन्नरूपत्वमित्यर्थः, **केन** निमित्तेन पुरुषेण वा, **विनिवारितं** विनाशितं न केनापीत्यर्थः।।२।। (६५०)

है कि फिर चन्द्र तथा चन्द्रिका के समान आत्मचैतन्य तथा जगत्प्रकाशक चैतन्य पृथक् पृथक् दो पदार्थ ही क्यों न मान लिये जायें? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे चांदनी के बिना चन्द्र कभी नहीं रहता इसी प्रकार जगत्प्रकाशक चेतना के बिना आनन्दरूप आत्मा भी नहीं रहता अर्थात् जहाँ जगत्प्रकाशक चेतना है वहाँ अवश्य ही आत्मा की स्थिति जाननी चाहिये, क्योंकि ये दोनों एक ही पदार्थ है। ऐसी अवस्था में जगत्प्रकाशक चेतना शक्ति तथा आत्मचन्द्र की एकता को, (कौमुदी तथा चाँद की एकता की तरह) किस प्रकार निषेध किया जाय।।१।।

विस्मरण हो जाने पर चन्द्रिका नहीं दीखती, स्मरण होने पर तो वही फिर प्राप्त हुई-सी प्रतीत होने लगती है, फिर बताओ किस कारण से चन्द्रिका तथा चन्द्र का तादात्म्य हटाया जाय? निद्रादि के कारण जब चाँद की चाँदनी का विस्मरण हो जाता है तब वह नहीं दीखती। आत्मचन्द्र की चेतनारूपी चाँदनी भी अज्ञानरूपी विस्मरण हो जाने पर, अनुभव में नहीं आती। परन्तु किसी समय सोते-सोते अकस्मात् उठकर याद आने पर तो वही चाँदनी फिर दुबारा प्राप्त हुई-सी प्रतीत होती है। आत्मचन्द्र की चेतनारूपी चाँदनी भी आत्मज्ञानरूपी जागरण हो जाने पर फिर दुबारा प्राप्त हुई-सी प्रतीत होने लगती है। परन्तु गम्भीर विचार करने पर तो जिस प्रकार चन्द्रिका तथा चन्द्र के संयोग या वियोग कभी नहीं होते इसी प्रकार आत्मचैतन्य तथा जगद्भासक चैतन्य के भी संयोगवियोग कभी नहीं होते। उन संयोगवियोगों की प्रतीति तो भ्रमरूप ही होती है।

हे शिष्य! ऐसी स्पष्ट परिस्थिति में चन्द्रिका तथा चन्द्र की परस्पर एकता को तथा आत्मा और जगद्भासक चेतना के अभेद को कौन रोक सकता है? (उनके कभी प्रतीत होने और कभी प्रतीत न होने का कारण तो अज्ञान होता है यह बात ऊपर बता दी गई है)।।२।।

त्वयाऽनुभूतमेवास्ति चन्द्रिकाचन्द्रकौतुकम् ।
दृष्टान्तदर्शनायाङ्ग पुनस्तत्प्रकटीकृतम् ।।३।। (९५१)
तावती चन्द्रिका प्रोक्ता यावानेव हि चन्द्रमाः ।
अनाद्यन्तस्तु चन्द्रोयमनाद्यन्तास्य चन्द्रिका ।।४।। (९५२)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे चन्द्रिकाचन्द्रचमत्कारचतुष्टयी अष्टात्रिंशः ।।३८।।

इदानीं शिष्यस्य चन्द्रचन्द्रिकाभिन्नत्वे प्रतीतेऽपि जीवन्मुक्तेषु जगद्भानस्याप्यात्मभानत्वप्रदर्शने दृष्टान्तत्वेनाभिधानादस्य सप्रयोजनत्वं दर्शयति **त्वया इति । त्वया** भवता, **चन्द्रिकाचन्द्रकौतुकं** चन्द्रिका जगत्प्रकाशरूपा चेतना चन्द्रः चेत्यरहितचिदानन्द आत्मा तयोः कौतुकं अभिन्नत्वे सत्यपि भिन्नत्वव्यवहारनिर्वाहरूपं कुतूहलम् **अनुभूतं** ज्ञातम् **अस्त्येव** विद्यत एव, तर्हि पुनः किमर्थं तन्निरूपणं? तत्राह **दृष्टान्त इति** । हे अङ्गहे शिष्य, **पुनः** भूयः, तव **दृष्टान्तदर्शनाय** दृष्टान्तस्य उपमानस्य दर्शनाय निरूपणाय, ब्रह्मचित्तच्चैतन्ययोरभिन्नत्वं **तत्** चन्द्रिकाचन्द्रकौतुकमिषेण **प्रकटीकृतं** स्फुटमुक्तमतोस्य न निष्प्रयोजनत्वमिति भावः ।।३।। (९५१)

इदानीं ब्रह्मचित्तच्चितोरनन्तत्वं चन्द्रिकाचन्द्रदृष्टान्ताद्वैलक्षण्येन दर्शयति **तावती इति** । हे शिष्य **हि** विद्वत्सु श्रुतिषु च प्रसिद्धः, **चन्द्रमाः** चन्दयति आनन्दयति जगदिति चन्द्रमाः, 'एष ह्येवानन्दयाती' त्यादिश्रुतेः परमात्मा **यावानेव** यत्परिमाण एवास्ति, **तावती** तत्परिमाणा, **चन्द्रिका** चेतना, **प्रोक्ता** कथिता, कियत्परिमाणश्चन्द्रो कियत्परिमाणा च चेतनारूपा चन्द्रिका इति आशङ्क्याह **अनाद्यन्त इति** । अयं विद्वत्प्रसिद्धः **चन्द्रः** सकलजगदानन्दकरः परमात्मा तु लोकप्रसिद्धचन्द्राद् विलक्षणः, **अनाद्यन्तः** न विद्येते आदिः कारणमन्तश्च नाशो यस्य स तथोक्तोऽस्ति, **अस्य** परमात्मचन्द्रस्य **चन्द्रिका** तु जगत्प्रकाशकचेतनशक्तिरपि **अनाद्यन्ता** न विद्येते आदिरन्तश्च यस्याः सा तथोक्तोऽस्ति उभौ अपि अनन्तौ इति भावः ।।४।। (९५२)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ चन्द्रिकाचन्द्रचमत्कारचतुष्टय्यर्थप्रकाशः अष्टात्रिंशः ।।३८।।

हे शिष्य! तुमने चन्द्रिका तथा चन्द्र का यह कौतुक स्वयं अनुभव किया ही है, फिर भी दृष्टान्त दिखाने के लिये हमने उसी को स्फुट कर दिया है। तात्पर्यजीवन्मुक्त पुरुषों को जो जगद्भान होता है वह भी आत्मभान ही होता है, इस बात को दिखाने के लिये तुम्हें यह दृष्टान्त देकर समझाया है। क्योंकि वे लोग इस तत्त्व को गम्भीरता के साथ अनुभव करने लगते हैं।।३।।

जितना चाँद होता है उतनी ही उसकी चाँदनी मानी जाती है। (इस आत्मचन्द्र का जितना विस्तार है उतने ही विस्तार वाली इसकी चन्द्रिका [चेतना] भी बतायी गयी है) क्योंकि यह चाँद अनादि और अनन्त है तो इसकी चन्द्रिका का भी कोई आदि और अन्त नहीं है।।४।।

अथाद्भुतशिरश्छेदपञ्चकम्

तत्तद्विचारवैराग्याद्वरिष्ठा विश्वविस्मृतिः ।
छेद्यस्य शिरसश्छेदः प्रत्यङ्गच्छेदनाद्वरः ।।१।। (९५३)

एवं ब्रह्मचैतन्यचित्तच्चैतन्ययोरभेदं प्रदर्श्य इदानीं मोक्षसाधनेषु समस्तेषु मनोबाधलक्षणस्य साधनस्य श्रैष्ठ्यं दर्शयितुमद्भुतशिरश्छेदपञ्चकाख्यं पञ्चश्लोकं प्रकरणमारभमाण आह **अथ इति। अथ** चन्द्रिकाचन्द्रचमत्कारचतुष्टयी-निरूपणानन्तरम् **अद्भुत-शिरश्छेदपञ्चकम्** अद्भुतोऽत्याश्चर्य-रूपो यः शिरश्छेदः सर्वप्राणिनां शिरश्छेदे मरणं जायते इति प्रसिद्धं यथा तथा मनसो बाधे जगन्नाशसम्भवात् जगतो मन एव शिरः शीर्षं तस्य च्छेदो बाधस्तस्य निरूपकं पञ्चानां श्लोकानां समूहरूपं प्रकरणं निरूप्यति इति शेषः। तदेव प्रतिपादयितुं सर्वपदार्थेषु प्रत्येकं विरागविवेकरूप-साधनेभ्यो विश्वविस्मृतिरूपस्य श्रैष्ठ्यमाह **तत्तद् इति। तत्तद्विचारवैराग्यात्** तस्य तस्य घटादिप-दार्थस्य तत्तदाकारवृत्तेश्च तत्तद्द्रष्टुर्भोक्तुश्चेत्येवमादिसमूहस्य विचारो विवेकस्तत्तद्विषयं वैराग्यं च वैतृष्ण्यमनयोः समाहारैकवचनं तस्मात्, मोक्षसाधनभूता **विश्वविस्मृतिः** विश्वस्य जगतः तत्कारणस्य मनसश्च विस्मृतिः'नेह नानास्ति किञ्चने' ति बाधपूर्वं विस्मरणं मोक्षसाधनमित्यर्थः। **वरिष्ठा श्रेष्ठा** तत्सम्भावयितुं दृष्टान्तमाह **छेद्यस्येति। छेद्यस्य** च्छेतुं योग्यस्य, **शिरसः** शीर्षस्य, **च्छेदः** कर्त्तनं, **प्रत्यङ्गच्छेदनात्** प्रत्येकमङ्गानामवयवानां छेदनाद् कर्त्तनाद्, **वरः** श्रेष्ठः। अयं भावः, केनचित् तीव्रापराधेन कस्यचिद्वध्यस्य वधे राज्ञाऽऽज्ञप्ते सति तद्दृष्ट्या विना शिरश्छेदं मृत्योरसम्भवात् पृथक् पृथगङ्गच्छेदनान्मृत्युसाधनभूताच्छिरःकर्त्तनमेव मृत्युसाधनं श्रेष्ठमिव मुमुक्षोर्मोक्षसाधन-भूतात्तत्तत्पृथक्पदार्थविवेकवैराग्याद् विश्वविस्मृतिलक्षणं मनोबाधं विना मोक्षासम्भवाद् विश्वोपलक्षितमनोबाधलक्षणसाधनस्यैव श्रैष्ठ्यं मुमुक्षुदृष्ट्येति भावः।।१।। (९५३)

उन उन अनन्त पदार्थों के विवेक तथा उनसे वैराग्य (करने का महान् प्रयत्न करने की) अपेक्षा विश्व की विस्मृति करना ही मोक्ष का श्रेष्ठ साधन कहाता है। वध्य पुरुष के प्रत्यङ्ग को अलग-अलग काटने से उसका सिर ही काट लेना अच्छा होता है।

तात्पर्ययदि किसी के वध के लिये राजाज्ञा हो गयी हो तो बिना सिर काटे उसका प्राणान्त नहीं होता, इसलिये प्रत्येक अङ्ग को पृथक् पृथक् न काटकर सिर को काट देना ही मृत्यु का उत्तम साधन माना जाता है। इसी प्रकार उन नाना पदार्थों का विवेक तथा उनसे वैराग्यादि कर लेने पर भी विश्वविस्मरणरूपी मनोबाध के बिना मोक्ष की प्राप्ति असम्भव होती है, इसलिये विश्व नामधारी इस मन का ही बाध कर लेना मुमुक्षु की दृष्टि में मोक्ष का उत्तम साधन कहाता है। विवेकादि साधनों के अनन्त होने से, उन सम्पूर्ण का अनुष्ठान किसी एक अधिकारी से होना भी असम्भव होता है, इसलिये लाघवदृष्टि से भी तो मनोबाध के लिये ही मुमुक्षु लोगों को प्रयत्न करना चाहिये।।१।।

प्रत्यङ्गच्छेदनेप्यस्य च्छेद्यमेव शिरो यदि।
प्रथमं तच्छिरश्छिन्धि वृथा किं चेष्टयाऽन्यया।।२।। (६५४)

वध्यस्य प्रत्यङ्गच्छेदने कृतेऽपि शिरश्छेदं विना मृत्व्यसम्भवात् प्रत्यङ्गच्छेदनवैय्यर्थ्यवन्मुमुक्षोः प्रत्येकं विषयवैराग्यविचारयोः कृतयोरपि विश्वविस्मृतिलक्षणमनोनाशं विना मोक्षासम्भवात् प्रत्येकं विषयविचारवैराग्ययोर्निष्प्रयोजनत्वमाह **प्रत्यङ्गइति** । हे शिष्य **अस्य** जगतः, **प्रत्यङ्गच्छेदनेपि** अङ्गमङ्गंप्रतीति प्रत्यङ्गंतस्य च्छेदने विकर्त्तने कृते सत्यपि पृथक्पृथगङ्गानां त्रिपुटीलक्षणानां नाशे कृतेपीत्यर्थः, **शिरः** शिर इव जगज्जीवनकारणं मन एव तत्त्वज्ञानेन विशीर्यमाणत्वाच्च शिरः, तस्य जगतो नाशाय **च्छेद्यमेव** च्छेत्तुं विकर्त्तितुं योग्यमेव, **यदि** यर्हि, तत्तर्हि त्वं **प्रथमं** आदौ, शीर्यते तत्त्वज्ञानाद्विनश्यतीति **शिरो** मनो जगज्जीवनकारणत्वात्सर्वाङ्गेषु मुख्याङ्गंशिर इव सप्तदशावयवेषु मध्ये मुख्यं मन एवेत्यर्थः, **छिन्धि** विकर्त्तय **अन्यया** पृथक्पृथक्त्रिपुटीलयलक्षणया, **वृथाचेष्टया** निष्प्रयोजनचेष्टया, व्यापृत्या **किं** किं फलं न किमपीत्यर्थः।।२।। (६५४)

ननु मुनीनां दयाशीलत्वं प्रसिद्धं तथा च मृत्युकारणभूते शिरश्छेदनप्रवृत्याऽतीवनिर्दयत्वप्रसिद्धेस्तां विहायाऽन्याङ्गच्छेदनप्रवृतौ किञ्चित् दयावत्त्वात् शिरश्छेदात्प्रत्यङ्गच्छेदने श्रैष्ठ्यमिव मनोनाशात्प्रत्येकत्रिपुटीलयस्यैव श्रैष्ठ्यमस्तु इत्याशङ्क्य; शिरश्छेदस्य प्रत्यङ्गच्छेदनस्य च दुःखरहितशीघ्रमरणहेतुत्वेन दुःखहेतुत्वपूर्वं मृत्युहेतुत्वेन चातीव वैलक्षण्यमेवेति प्रत्यङ्गच्छेदाच्छिरश्छेदस्य श्रैष्ठ्यमिव दुःखमात्रकारणात् प्रत्येकं त्रिपुटीलयाद् विश्वविस्मृत्या मनोनाशस्यैव श्रैष्ठ्यं दर्शयति **दयाशीला इति। मुनयो** मननशीला ज्ञानिन इत्यर्थः, **दयाशीला** दया कृपा शीलं स्वभावो येषां ते तथोक्ताः, सन्ति **हि** प्रसिद्धमेतच्छास्त्रेषु, तर्हि कथं निर्दयवज्जगज्जीवनहेतुमनःशीर्षश्छेदने प्रवृत्तिस्तत्राह **मुनेः इति। मुनेः** विवेकिनः, **सापि** सैव, **दयालुता** दयास्वभावता। सा का इत्यत आह **यदिति**। मुनिर**ङ्गच्छेदवेदनां विना**ऽङ्गानां त्रिपुटीलक्षणानामवयवानां **छेदः** छेदनं विकर्तनमित्यर्थः, तस्य **वेदनां** यातनामृते **मनःशीर्षं** मन एव शीर्षं शिरः, **छिनत्ति** विकर्त्तयतीति **यद्** या सेति योज्यम्। अयं भावःप्रत्यङ्गच्छेदजन्यदुःखस्य बहुत्वाद् अकस्माच्छिरश्छेदे च तदभावान्मनः-शिरश्छेदकर्त्तुर्मुनेरपि दयालुत्वसिद्धिरिति भावः।।३।। (६५५)

प्रत्यङ्ग को काटने के पश्चात् भी यदि इसका सिर काटना ही पड़ेगा तो प्रथम इसका सिर ही काट दो, इन दूसरे व्यर्थ परिश्रमों से क्या फल होगा?

हे शिष्य! विवेक वैराग्यादि के द्वारा इस जगत् के प्रत्यङ्ग का नाश करने के अनन्तर भी जगत् का नाश करने के लिये यदि मनरूपी सिर काटना ही पड़ेगा, तब तो सब (सत्रह) अङ्गों के मुख्याङ्ग यह मनरूपी सिर ही सबसे प्रथम काट लो। प्रत्येक विषयों का विचार तथा सकल विषयों से वैराग्यरूपी इस वृथा चेष्टा में तुम्हें क्या फल प्राप्त हो सकता है।।२।।

दयाशीला हि मुनयो मुनेः सापि दयालुता।
यच्छिनत्ति मनःशीर्षं विनाङ्गच्छेदवेदनाम्।।३।। (६५५)
सद्यो मम शिरश्छिन्धि मामित्याह मनो मम।
मया सोढुं न शक्यन्ते प्रत्यङ्गच्छेददुर्दशाः।।४।। (६५६)

ननु विवेकिबुद्धौ तत्सिद्धावपि यस्य शिरश्छेद्यते तद्दृष्ट्या तु तदसिद्धिरेवेत्याशङ्क्य तद्दृष्ट्यापि तत्सिद्धिं दर्शयति **सद्य इति**। वध्यपुरुष एवायमस्य प्रत्यङ्गं छेत्तव्यमिति राजाऽऽज्ञायां सत्त्यां प्रत्यङ्गच्छेदने दुःखबहुत्वं ज्ञात्वा वधकर्त्तारं बहुद्रव्यं दत्त्वा **मम शिरः** सद्य एव **छिन्धीति** वदति तद्दृष्ट्या प्रत्यङ्गच्छेदनं कर्त्तुः सकाशाच्छिरश्छेदनकर्त्तरि दयालुत्वं स्फुरति यथा तथा **मम मनः** अपि मे ज्ञानिनो मनोऽन्तःकरणं, प्रत्यङ्गच्छेदने दुःखबाहुल्यं ज्ञात्त्वैव जगदाकारं मनो मम मे जगदाकारस्य मनसः शिरस्तत्त्वज्ञानेन विशीर्यमाणत्वाच्छिरोभूतं जगत् जीवनभूतं सङ्कल्पविकल्परूपं मनः **सद्यः** शीघ्रं **छिन्धि** विकर्त्तयेत्येव मां मुमुक्षुं तन्नाशकमाह कथयति।

ननु जगदाकारस्य ते जीवनहेतुभूतसङ्कल्पविकल्पात्मकमनःशीर्षछेदने मरणहेतुभूते कुतो मां प्रेरयसीति पृष्टं मनो मां प्रति कथयामासेत्याह **मया इति। मया** जगदाकाररूपेण मनसा, **प्रत्यङ्गच्छेददुर्दशाः** प्रत्यङ्गानां पृथक् पृथगङ्गनां त्रिपुटीरूपाणामवयवानामित्यर्थः, छेदो विकर्त्तनं तज्जन्या दुर्दशाः पीडाः सोढुं क्षन्तुं न शक्यन्ते तत्सहने नाहं समर्थ इत्यर्थः, अतः प्रत्येकमङ्गच्छेदने-दुःखबहुत्वज्ञानाद् दुःखाभानेन तत्कालशिरश्छेदकर्त्तुर्दयालुत्वस्य वध्यपुरुषदृष्ट्या सिद्धिरिव

मुनिजन दयाशील होते हैं। यह भी तो मुनियों की दया ही है कि वे प्रत्येक अंग को कष्ट न देकर मनरूपी सिर को ही काट देते हैं।

ज्ञानी लोग बड़े ही दयाशील होते हैं, जबकि उन्हें इस जगत् का जीवन नष्ट कर डालना आवश्यक हो जाता है, तो फिर उस दशा में उनकी यह भी दयालुता ही है, कि वे प्रत्यङ्ग को काट-काट कर जगत् के जीवन को निर्दयतापूर्वक नष्ट नहीं करते; किन्तु इस घोर कष्ट को बिना दिये सहसा मनरूपी सिर को ही काट फेंकते हैं। प्रत्यङ्ग के छेद से जो दुःख होता है वह असह्य हो जाता है। अकस्मात् सिर काट डालने पर वह असह्य दुःख नहीं होता। क्योंकि उससे दुःखरहित शीघ्रमरण की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार पृथक् पृथक् वैराग्यादि साधन करने वालों को अनन्त कष्ट उठाने पड़ते हैं तथा उनका संसार चिरस्थायी हो जाता है। सहसा मनोनाश करने वाले को कुछ भी कष्ट उठाना नहीं पड़ता। उसको तो झटपट ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देने वालों से मनोनिग्रह करने वाले श्रेष्ठ साधक कहाते हैं।।३।।

असङ्ख्याश्चित्तजा भावा शक्याश्छेत्तुं क्रमात्कथम्।
चित्तमेतत्समाछिन्नमत एव मया मुने।।५।। (९५७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारेऽद्भुतशिरश्छेदपञ्चकमेकोनचत्वारिंशः।।३९।।

अनन्तत्रिपुटीलक्षणानामङ्गानां प्रत्येकच्छेदनेन दुःखबहुत्वज्ञानाज्जगदाकारमनोदृष्ट्यापि तच्छीर्षभूतसङ्कल्पविकल्परूपमनोबाधकर्त्तरि मयि दयालुत्वसिद्धिरिति भावः।।४।। (९५६)

किञ्च वध्यस्य प्रत्यङ्गच्छेदने कृतेपि वधाभाववदनन्तचित्तावयवानां कर्त्तनासम्भावात्तत्कर्त्तनेपि तन्नाशाभावाच्च शिरश्छेद इव जगच्छिरो मन एव च्छिन्नमित्याह **असंख्या इति**। हे शिष्य **चित्तजाः** चित्तादुत्पन्नाः, **भावा** विकारा, **असङ्ख्या** न विद्यते सङ्ख्या गणना येषान्ते तथाभूता अनन्ता इत्यर्थः, अत एव ते **क्रमात्** क्रमेण **छेत्तुं** विकर्त्तितुं, **शक्याः** सामर्थ्यविषयाः, **कथं** केन प्रकारेण भवन्ति न कथमपीत्यर्थः। **हे मुने** इति सम्बोधनेन त्वमप्येवं जानास्येवेति सूचितम्, **अत एव** अस्मादेव कारणात्, **मया** मनोनाशकर्त्रैतदिदं प्रत्यक्षं, **चित्तं** मनः, **समाच्छिन्नं** सम्यक् पुनरुत्पन्नं न स्याद्यथा तथाऽऽच्छिन्नं विकर्त्तितम् यदि त्वं मोक्षमिच्छसि तर्हि त्वयापि सङ्कल्पविकल्परूपमनोनाश एव कार्य इति भावः।।५।। (९५७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ अद्भुतशिरश्छेदपञ्चकार्थप्रकाशः एकोनचत्वारिंशः।।३९।।

मेरा मन मुझसे कहने लगा कि मेरा सिर ही झटपट काट डालो! प्रत्येक अङ्ग के छेदन की दुर्दशायें तो मुझसे सही नहीं जातीं।

तात्पर्यअनन्त ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयरूपी अङ्गों को लगातार काटते रहने से तो यही अच्छा होता है कि इस जगत् के शिरोभूत मन का ही बाध कर डाला जाय। इस सम्पूर्ण जगदाकार (तथा बाधा करने योग्य) मन की दृष्टि में इसके प्रत्यङ्ग को न काटकर केवल मनःशीर्ष की ही बाधा करने वाला मैं दयालु ही समझा जाता हूँगा।।४।।

हे शिष्य! चित्त से उत्पन्न होने वाले अनन्त भावों का क्रम से क्योंकर छेदन किया जा सकता है? हे मुने! इसी कठिनाई को देखकर मैंने पहले इस चित्त को ही भले प्रकार छिन्न भिन्न कर डाला है।

यदि तुम्हें भी मोक्ष की इच्छा हो तो तुम भी प्रथम इस संकल्पविकल्परूपी मन को ही नष्ट कर डालो। क्योंकि अनन्त होने से इसके प्रत्येक अङ्ग का वध तो हो ही नहीं सकता। ऐसी अवस्था में उनमें से कुछेक के काट देने पर भी जगत् का नाश नहीं हो सकेगा।।५।।

अथ जातसाक्षात्कारं शिष्यं प्रति श्रीगुरोः प्रश्नामृतम्

नित्यानुभूतमपि यन्नानुभूतत्वमागतम्।
अनुभूतिरसस्पर्शैरनुभूतं परं पदम्।।१।। (६५८)

इदानीमुपदिष्टार्थस्य शिष्ये स्थिरतापरीक्षणाय स्वप्रश्नानुदाहर्त्तुं श्रीगुरुप्रश्नामृताख्यं नवश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथ इति। अथ** अद्भुतशिरश्छेदपञ्चकनिरूपणानन्तरं, **जातसाक्षात्कारं** जात उत्पन्नः साक्षात्कारः स्वात्मप्रत्यक्षं यस्य तं तथोक्तं, **शिष्यं प्रति** शिष्यस्य प्रतियोगे द्वितीया, **श्रीगुरोः** श्रीगुरुकृतं कर्त्तरि षष्ठी, **प्रश्नामृतं** प्रश्नानां पृच्छानाममृतं शिष्ये सुखाविर्भावकारणत्वादमृतमिवैतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ परमपदानुभवो जातो वा नेति पृच्छति **नित्यानुभूतम् इति। यत्** प्रसिद्धं विदुषां, **नित्यानुभूतमपि** स्वयं प्रकाशरूपत्वात् नित्यं सर्वदा अनुभूतं अनुभवरूपमपि, भावे निष्ठा **नानुभूतत्वं** नानुभूतमनुभवविषयस्तस्य भावस्तत्त्वं कर्मणि निष्ठा **नागतं** न प्राप्तमवेद्यत्वात्तदुक्तलक्षणं, **परं** कार्यकारणातीतं, कार्यकारणयोस्तत्रैव कल्पितत्वेनासत्त्वादित्यर्थः। **पदं** पद्यते श्रुतियुक्त्यनुभवैर्गम्यते तत्पदं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म, **अनुभूतिरसस्पर्शैः** अनुभूतेरनुभवस्य यो रसः सुखविशेषस्तस्य स्पर्शाः साक्षात्काराः तैः, त्वया कर्त्रा **अनुभूतं** साक्षात्कृतं किं किमु न वेति एकः प्रश्नः।।१।। (६५८)

इदानीं प्रत्यगात्मनि ब्रह्मलक्षणानि साक्षात्कृतानि नवेति पृच्छति **प्रत्यक्षलक्षणैरेव इति**। हे शिष्य त्वया **पराग्वृत्तिविलक्षणैः** पराग्बहिरञ्चन्ति गच्छन्तीति पराञ्च्यो बहिर्मुखा या वृत्तयोऽन्तःकरणस्य घटाद्यनुभवकरणरूपा अंशाः ताभ्यो विलक्षणैः अविषयभूतैः विगतानि लक्षणानि चिह्नानि स्वलक्षकाणि येभ्यस्तैः, **प्रत्यक्षलक्षणैः** प्रत्यक्षाणि अव्यवहितप्रकाशरूपाणि लक्षणानि चिह्नानि येषां तानि तैः, तेषां स्वयं प्रकाशत्वेन सर्वदा स्फुरणरूपत्वात् तत्प्रात्यक्ष्यं सर्वत्र सर्वदानुभूयमानमिति भावः, **सच्चिदानन्दलक्षणैः** सत्कालत्रयाबाध्यं चिज्ज्ञप्तिमात्रमानन्दः सुखमेतान्येवाभिन्नानि ब्रह्मणो लक्षकत्वाल्लक्षणानि तैः, **साक्षात् शिवः** अव्यवहितप्रकाशरूपः, **शिवः** सुखरूपः, त्वंपदलक्ष्यः प्रत्यगात्मा साक्षात्प्रत्यक्षमनुभूतः किमिति पूर्वश्लोकादावर्त्तनीयं, किं किमु नवेति प्रश्नः।।२।। (६५९)

इस प्रकरण में उपदिष्ट अर्थ को शिष्य समझा या नहीं इस अभिप्राय को लेकर सुख का आविर्भाव कराने वाले ये अमृत के समान प्रश्न आत्मदर्शी शिष्य से किये जाते हैं।

नित्यानुभवरूप होने पर भी जो कभी अनुभव का विषय नहीं बनता, क्या तुमने अनुभूति के सुखद स्पर्शों से उस परम पद का साक्षात्कार कर लिया है?

स्वयंप्रकाशरूप होने से जो सदा ही अनुभवस्वरूप होता है, परन्तु अवेद्य होने से जो कभी किसी के अनुभव का विषय नहीं बनता है, क्या तुमने उस परमपद का (ब्रह्मानुभव के सुखदायक साक्षात्कारों के साथ) साक्षात् कर लिया है? अर्थात् क्या तुम्हें उस परमपद का अनुभव हो चुका है।।१।।

प्रत्यक्षलक्षणैरेव परागवृत्तिविलक्षणैः।
साक्षात्कृतः शिवः साक्षात्सच्चिदानन्दलक्षणैः।।२।। (९५९)
यशोदागीतमधुरैर्मृदुवेदान्तभाषितैः।
लालितः प्रापितो निद्रां मुकुन्द इव मोदसे।।३।। (९६०)

इदानीं वेदान्तश्रवणेन जनिततत्तत्फलं ब्रह्मसुखाविर्भूत्या निद्रायामिव सर्वदुःखविस्मरणं जातं नवेति पृच्छति **यशोदा इति**। हे शिष्य त्वं **यशोदागीतमधुरैः** यशोदाया नन्दपत्न्या गीतानि गायनानि कृतानि यानि तेषां माधुर्याणि मृष्टानि सुखविशेषा इत्यर्थः, तैः **लालितः** क्रीडितः सन्, **निद्रां** सुषुप्तिसुखं, **प्रापितः** प्राप्तः कृतः सन् **मुकुन्दः** श्रीकृष्णो, यथा **मोदते** हृष्यति सुखितो भवतीत्यर्थः, तद्वत्त्वं यशोदागीतमधुरैर्यशः कीर्तिं ददातीति **यशोदा** विवेकवती बुद्धिः विद्येति यावत्तया गीतानि गानानि कृतानि गुरुमुखाच्छ्रुतानि वाक्यानि तेने माधुर्याणि सुखविशेषा येषु तानि तथोक्तानि तैः **मृदुवेदान्तभाषितैः** मृदूनि कोमलस्पर्शानि सूक्ष्मार्थत्वात् सुखजनकत्वाच्चेत्याशयः, यानि वेदान्तानामुपनिषदां भाषितानि वचांसि तैः, **लालितो** विक्रीडितः सन्, **निद्रां** प्रपञ्चविस्मृतिलक्षणात्मसमाधिरूपां सुप्तिं, **प्रापितः** प्राप्तः कृतो, **मोदसे** हृष्यसि न वेति प्रश्नः। किंपदानुवृत्तिः कर्त्तव्यात्रापि।।३।। (९६०)

बाह्य पदार्थों को जानने वाली जो संसारी वृत्तियाँ हैं उनसे विलक्षण रहने वाले सच्चिदानन्दरूपी प्रत्यक्ष लक्षणों से तुमने उस साक्षात् शिव का साक्षात्कार किया या नहीं?

तात्पर्यजो सुखस्वरूप आत्मा सदा ही अव्यवहित रह कर सबका प्रकाश किया करता है, सर्वदा ही ज्ञानियों के अनुभव में आने वाले उसी आत्मशिव का क्या तुमने सत् (त्रिकालाबाधित) चित् (ज्ञानस्वरूप) तथा आनन्द नाम के प्रत्यक्षलक्षणों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया? अर्थात् अपने प्रत्यगात्मा में तुमने ब्रह्म के सच्चिदानन्द लक्षणों का समन्वय (साक्षात्कार) किया या नहीं।।२।।

यशोदा के गीतों के समान मधुर मृदु वेदान्तवाक्यों से लालित होकर, सुखरूपी नींद आ जाने पर, क्या तुम श्रीकृष्ण के समान हृष्ट रहने लगे हो?

यशोदा के गीतों की मधुरताओं से लालित होकर सोया हुआ श्रीकृष्ण जिस प्रकार निद्रासुख से सुखी हो जाता था इसी प्रकार यशोदा (अर्थात् यश को देने वाली विवेकवती बुद्धि) के मुख से निकलने के कारण सुख देने वाले, उपनिषदों के (सूक्ष्मार्थक तथा सुखजनक होने से अत्यन्त) मृदुवचनों द्वारा लालित होने पर (संसारविस्मरण तथा आत्मसमाधिरूपी) निद्रा को प्राप्त होकर क्या तुम मुदित रहने लगे हो? तात्पर्य यह है किनिद्रा में सर्वदुःखविस्मरण के समान वेदान्तों के श्रवण से तुम्हें, ब्रह्मसुखाविर्भाव हो जाने से, सर्व दुःखों का विस्मरण हुआ या नहीं।।३।।

नवनीतरसग्रासैश्चमत्कारैः स्वसंविदाम्।
अन्तराप्यायितो बालमुकुन्द इव खेलसि।।४।। (६६१)
स्वात्मनि प्रलयं नीत्वा दृश्यमेकाकितां गतः।
किं नृत्यसि निजानन्दे महादेव इवात्मनि।।५।। (६६२)

इदानीं स्वरूपसुखानुभवेन तृप्तोसि किं न वेति पृच्छति **नवनीत इति**। हे शिष्य त्वं **बालमुकुन्द इव** यथा बालमुकुन्दो बालो बालभावापन्नो मुकुन्दो मुक्तिप्रदो भक्तानां श्रीकृष्णो, **नवनीतरसग्रासैः** नवनीतं हैय्यङ्गवीनं तस्यैव ग्रासाः कवला भोग्या येषां ते तथोक्तास्तैः, **स्वसंविदां** स्वस्य श्रीकृष्णस्य संविदश्चेतना अन्तःकरणवृत्तयः चिदाभासविशिष्टा इत्यर्थः, तासां **चमत्कारैः** विलासैः, **अन्तराप्यायितो** अन्तरेव तृप्तः सन् खेलति क्रीडति, तद्वन् **नवनीतरसग्रासैः** नवनीतस्य हैय्यङ्गवीनस्य रस इव तृप्तिकरत्वाद्रसः सुखं 'रसो वै स' इति श्रुतेस्तदेव ग्रासो भोजनं येषां तैः, **स्वसंविदां** स्वाऽऽत्मरूपा याः सम्विदो ज्ञानानि तासां चमत्कारैः विलासैः अन्तराप्यायितो **अन्तरात्मन्येव** तृप्तः सन् **खेलसि** किं न वेति प्रश्नः।।४।। (६६१)

इदानीं स्वानन्दे स्थितोसि किं नवेति पृच्छति **स्वात्मनि इति**। हे शिष्य त्वं **महादेव इव** यथा महादेवः शिवोऽहङ्कारदेवता रुद्र इति यावद्, **दृश्यं** दर्शनविषयं जगत्, **स्वात्मनि** स्वरूपेऽहङ्कारे, **प्रलयं** नाशं, **नीत्वा** प्रापयित्वा, **एकाकितां** एकलत्वं, **गतः** प्राप्तः सन्, **निजानन्दे** स्वात्मसुखे स्थितो भूत्वा नृत्यति, तद्वद् **दृश्यं** ज्ञानविषयं समस्तं जगत्, **स्वात्मनि** ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि, **प्रलयं** प्रकृष्टो निर्बीजो लयो नाशस्तं, **नीत्वा** प्रापयित्वा, बाधं कृत्वेत्यर्थः, तत **एकाकितां** अद्वैतरूपतां, **गतः** प्राप्तः सन्, **निजानन्दे** निरतिशयात्मानन्द **आत्मनि** ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि स्थित्वा, **नृत्यसि** किं नृत्यं करोषि किं न वेति प्रश्नः।।५।। (६६२)

हे शिष्य, मक्खन के ग्रास के समान आत्मसंविद् (आत्मज्ञान) के चमत्कारों से अपने मन ही मन तृप्त होकर बालमुकुन्द की तरह खेलने लगे हो क्या?

श्रीकृष्ण जिस प्रकार अपनी बाल अवस्था में नवनीत के ग्रासों को खाकर तृप्त होकर पड़े-पड़े अकेले ही खेला करते थे, इसी प्रकार क्या अब तुम आत्मज्ञान के चमत्काररूपी विलासों से, (जिन विलासों का अनुभवरूपी भोजन नवनीत के तृप्तिकारक रस से किसी प्रकार भी कम आनन्ददायक नहीं होता) अपने आत्मा में ही तृप्त होकर क्रीडा करते हो अर्थात् सांसारिक विषय की सहायता तो अपेक्षित नहीं रही? अब तुम स्वरूपसुखानुभव से तृप्त होने के कारण अन्दर ही अन्दर मुदित सोकर आत्मकाम हो चुके हो क्या।।४।।

दृश्य को स्वात्मा में लीन कर देने से एकाकी रहकर महादेव के समान अब तुम निजानन्द में ही नाचने लगे हो क्या?

हे शिष्य, जिस प्रकार (अहंकार के देवता) रुद्र भगवान् इस समस्त दृश्य जगत् को

सायंकाले समाध्याख्ये स्निग्धां सर्वाङ्गसुन्दरीम्।
निजशक्तिमुमां पश्यन्महेश इव नृत्यसि।।६।। (९६३)

इदानीं सविकल्पसमाधौ स्थितोसि किं न वेति पृच्छति **सायंकाल इति**। हे शिष्य त्वं महेश इव यथा **महेशः** शिवः, **सायंकाले** प्रदोषसमये, **स्निग्धां** प्रेमवतीं, सर्वाङ्गसुन्दरीं सर्वाणि समस्तानि यानि अङ्गानि हस्तपादनासिकानेत्रादीनि तैः सुन्दरीं कामनीयां, **निजशक्तिं** स्वशक्तिं, **उमां** पार्वतीं, **पश्यन्** अवलोकयन्, **नृत्यति** नृत्यं करोति, तद्वत् **समाध्याख्ये** समाधिनाम्नि, **सायंकाले** सविकल्पसमाधिरूपप्रदोषसमये सविकल्पस्य समाधेः सर्वजगतो बाधपूर्वं स्फूर्तिसत्त्ववत्त्वेन प्रदोषकालत्वमिति भावः। स्निग्धां स्वात्मनि प्रेमवतीं, सर्वाङ्गसुन्दरीं सर्वैः समस्तैः अङ्गैः अवयवैः अनुभाव्यानुभवानुभवितृरूपैः सुन्दरीं कमनीयरूपाम्उकारवाच्यं लिङ्गशरीरं समष्टिव्यष्टिरूपं द्विविधं तदभिमानिद्वयमपि तैजसहिरण्यगर्भाख्यं तन्माति साक्षाद् दृश्यत्वेनावलोकयति सा तथोक्ता तां, यद्वाउ ब्रह्मैव प्रत्यगभिन्नं माति अनुभवति सा तथोक्ता तां, 'यो जागार तमु सामानि यन्ती'ति श्रुतेः **निजशक्तिं** निजा स्वीया शक्तिर्जगज्जननसामर्थ्यरूपा तां चिच्छक्तिं, **पश्यन्** सन् साक्षादवलोकयन् सन्, किं **नृत्यसि** यावत्प्रारब्धक्षयं व्यावृत्तिरूपं नृत्यं करोषि किमिति प्रश्नः।।६।। (९६३)

अपने आत्मभूत अहङ्कार में लय करके, अकेले बनकर, स्वात्मसुख में डूब कर, नृत्य किया करते हैं इसी प्रकार इस समस्त दृश्य जगत् को अपने प्रत्यगात्मा में (निर्बीज) लय करके (बाधा करके) अद्वैत रूप को प्राप्त होकरअपने निरतिशय आनन्दरूप में स्थित होकरनाचने लगे हो अथवा नहीं? तात्पर्यतुम्हारी, जगदानन्द की अभिलाषा के शान्त हो जाने पर क्या अब तुम स्वरूपानन्द में स्थित हो गये हो।।५।।

हे शिष्य समाधिनामक सायंकाल के आने पर सर्वाङ्गसुन्दरी लावण्यवती अपनी शक्तिरूपी पार्वती को देखकर अब महेश की तरह तुम भी नाचने लगे हो क्या?

जिस प्रकार महादेव सायंकाल के समय प्रेम करने वाली सर्वाङ्गसुन्दरी कमनीया पार्वतीरूप निजशक्ति को देख कर खुशी के मारे नाचा करते हैं इसी प्रकार सविकल्प समाधि नामक सायङ्काल के आने पर (सविकल्प समाधि में समस्त जगत् की बाधा होने पर भी कुछ कुछ स्फूर्ति बनी रहती है इसलिये सविकल्पसमाधि को सायंकाल के तुल्य माना जाता है) आत्मप्रेम से परिपूर्ण अनुभाव्य, अनुभव तथा अनुभवितारूपी सर्वाङ्गों से सुन्दर, 'उ' नामक ब्रह्म का अनुभव करने के कारण 'उमा' कहाने वाली, जगज्जननसामर्थ्यरूपी उस अपनी चिच्छक्ति को देख-देखकर, अपने प्रारब्धकर्मों का क्षय होने तक, तटस्थ होकर व्यापाररूपी नृत्य करते रहते हो अथवा नहीं? (जगद्व्यवहार करते रहने पर भी तुम्हें सविकल्प समाधि रहने लगी है या नहीं।)।६।।

दृश्यं निपीय गरलं पाचयित्वा तदात्मनि।
मृत्युञ्जयपदं प्राप्तः किं हृष्यसि हरो यथा।।७।। (६६४)
यथा संमुखतां नीत्वा मुकुरे मुखमीक्षितम्।
अखण्डवृत्तौ च तथा स्वरूपं किं विलोकितम्।।८।। (६६५)

इदानीं दृश्यविलयपरिपाको जातो न वेति पृच्छति **दृश्यं इति**। हे शिष्य त्वं **यथा** यद्वद्, **हरो** हरति भक्तदुःखमिति हरः सदाशिवो, **दृश्यं** सर्वदेवासुरादिदृग्विषयं, **गरलं** समुद्रादुत्पन्नं हालाहलं, **निपीय** निःशेषं पीत्वा तद्धालाहलमात्मनि स्वदेहे **पाचयित्वा** जारयित्वा, **मृत्युञ्जयपदं** मृत्युञ्जयतीति मृत्युञ्जयस्तदेव पदं नाम, **प्राप्तः** लब्धः सन्, **हृष्यति** मोदते, **तथा** तद्वद्, **दृश्यं** ज्ञेयं सर्वं जगत्, **गरलं** गरं विषं तद्धर्मं लाति अङ्गीकरोतीति गरलं, स्वसेवकस्य नाशकत्वात् **निपीय** निःशेषं पीत्वा आत्मनः पृथगसत्त्वेनावलोकयित्वेत्यर्थः। **तद् ग्रस्तं** बाधितं जगद् **आत्मनि** प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि, पाचयित्वा पक्वं कृत्वा पुनरुदयाक्षमं कृत्वेत्यर्थः, **मृत्युञ्जयपदं** मृत्युं मृतिकारणं संसारं जयतीति मृत्युञ्जयो ब्रह्म तस्य पदं स्वरूपं प्राप्तो यातः सन् **हृष्यसि** नित्यतृप्तो जातोसि किं न वेति प्रश्नः।।७।। (६६४)

इदानीं अन्तःकरणवृत्तौ स्वात्मानं साक्षात्पश्यसि न वेति पृच्छसि **यथा इति**। हे शिष्य त्वया **यथा** यद्वत्, **संमुखतां** स्वसन्मुखतां, दर्पणं मुकुरं **नीत्वा** प्रापयित्वा, तस्मिन् **मुकुरे** दर्पणेन **मुखं** वदनं, **ईक्षितं** अवलोकितं, **तथा** तद्वत्, **स्वरूपं** स्वस्यात्मनो रूपं आकृतिं, स्वतो द्रष्टुमशक्यमपि **अखण्डवृत्तौ** ध्यानाभ्यासेनाखण्डाकाराकारितायां वृत्तौ अहंब्रह्मास्मीत्याकारायामित्यर्थः, **स्वरूपं** स्वस्यात्मनो रूपं सच्चिदानन्दघनम् **विलोकितं** दृष्टं किं न वेति प्रश्नः।।८।। (६६५)

दृश्यरूपी हलाहल को पीकर, अपने अन्दर उसको पचाकर मृत्युंजय पद को पाकर क्या तुम भी अब महादेव की तरह हृष्ट रहने लगे हो?

हे शिष्य, जिस प्रकार महादेव समुद्र से उत्पन्न हुए हलाहल को पीकर, अपनी अनुपम शक्ति से उस हलाहल को अपने देह में ही पचाकर, मृत्युंजय नाम को पाकर, मन ही मन हृष्ट रहते हैं, इसी प्रकार इस दृश्यजगद्रूपी हलाहल को पीकर (अपने से पृथक् इसे कुछ भी न समझ कर) तथा इस ग्रस्त जगत् को भले प्रकार अपने आत्मा में पचा कर (इतना पचाकर कि फिर संसार के उदय होने का प्रसङ्ग ही न आये) मृत्यु के कारण संसार को जीत लेने वाले ब्रह्म के पद (स्वरूप) को प्राप्त होकर, क्या अब तुम सदा के लिये तृप्त हो गये हो? क्या अब तुम्हारा दृश्यजगत् का विलय परिपक्व हो चुका है? क्या अब तुम्हें कभी संसार का विचार तो उत्पन्न नहीं होता है।।७।।

बहिरन्तर्हरिं पश्यन्मायां पश्यञ्जगन्मयीम्।
विस्मयं परमं यासि मार्कण्डेय इवात्मनि।।६।। (६६६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे श्रीगुरुप्रश्नामृतं चत्वारिंशम्।।४०।।

इदानीं मायायामन्तर्बहिश्चात्मानं जगद्रूपां मायां च दृष्ट्वा परमाश्चर्यवाञ्जातोसि किं न वेति पृच्छति **बहिः इति**। हे शिष्य त्वं **मार्कण्डेय इव** यथा मार्कण्डेयो मृकण्डुपुत्रो, **बहिः** बाह्यदेशे, वटपत्रस्थितं बालमुकुन्दरूपं **अन्तश्च** तद्देहे प्रविष्टः सन्, स्वाश्रमे नारायणरूपं **हरिं** विष्णुं, **पश्यन्** अवलोकयन्, **मायां च** मुकुन्ददेहाद्बहिर्बाह्यदेशेऽन्तश्च तद्देहे जगत्स्वाश्रमादिदृश्यरूपां, **जगन्मयीं** जगद्रूपां, **पश्यन्** अवलोकयन् सन्, **परमं** उत्कृष्टं, **विस्मयं** आश्चर्यं, **यातः** प्राप्तः, तद्वद्बहिर्जगतो बाह्यदेशे स्वस्वरूपे स्थितं अन्तश्च जगति स्वदेहे सच्चिदानन्दरूपेणानुवृत्तं **हरिं** सर्वद्वैतहरणशीलं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म, **पश्यन्** अवलोकयन् सन्, **मायां** अपि सदसत्त्वादिलक्षणैः निरूपयितुमशक्यां, **जगन्मयीं** जगद्रूपां, पश्यन् अवलोकयन् सन्, **आत्मनि** अन्तःकरणे, **परमं** श्रेष्ठमुत्कृष्टमित्यर्थः, **विस्मयं** आश्चर्यं, **यासि** प्राप्नोषि किं किमु न वेति प्रश्नः।।६।। (६६६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ श्रीगुरुप्रश्नामृतार्थप्रकाशः चत्वारिंशः।।४०।।

हे शिष्य, जिस प्रकार किसी दर्पण को सामने लाकर उसमें अपने मुख को देखा जाता है इसी प्रकार 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस अखण्ड वृत्ति में अपने सच्चिदानन्दस्वरूप का दर्शन तुमने किया या नहीं।।८।।

अन्दर बाहर सर्वत्र हरि को देखकर तथा उसके साथ ही इस जगन्मयी माया को देखकर तुम्हें अपने ही अन्दर मार्कण्डेय के समान परम विस्मय होने लगा या नहीं?

हे शिष्य, जिस प्रकार मार्कण्डेय बाहर वटपत्रों पर बैठे हुए मुकुन्द को देखकर विस्मित हुआ था, तथा मुख खोलने पर मुकुन्द के मुँह में घुसकर अन्दर भी उसी तरह अपने आश्रम को, अपने आप को, तथा विष्णु को देखने के अनन्तर, अन्दर बाहर सर्वत्र (आश्रम आदि का रूप धारण करने वाली) जगन्मयी माया को देखकर मन ही मन परम विस्मित हुआ था, इसी प्रकार बाह्य जगत् में, अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में विद्यमान रहने वाले तथा आन्तर जगत् में (स्वदेह में) भी सच्चिदानन्दरूप से विराजते हुए आत्मदेव को देखकर, साथ ही अन्दर-बाहर जगन्मयी माया को भी देखकर, अपने मन में सर्वोत्तम विस्मय को प्राप्त होने लगे हो या नहीं? इस जगत् को माया समझ कर तथा अन्दर-बाहर सर्वत्र सच्चिदानन्दरूप आत्मा का दर्शन करके तुमको भी ज्ञानियों को होने वाला अलौकिक विस्मय रहने लगा है अथवा नहीं।।६।।

अथ शिष्यप्रतिवचनम्

श्रीगुरो सानुभावानां करुणापूर्णचेतसाम्।
श्रीमतां कृपया नूनमस्माकं किमु दुर्लभम्।।१।। (९६७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे शिष्य प्रतिवचनमेकचत्वारिंशम्।।४१।।

इदानीं शिष्यप्रतिवचनं निरूपयितुं शिष्यप्रतिवचनाख्यमेकश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथ इति। अथ** गुरुप्रश्नामृतनिरूपणानन्तरं, **शिष्यप्रतिवचनं** शिष्यस्य च्छात्रस्य प्रतिवचनं प्रत्युत्तरणमेतन्नामकं प्रकरणं निरूप्यते इति शेषः, तदेवाह **श्रीगुरो इति। हे श्रीगुरो** श्रिया स्वरूपसंपत्या युक्तो गुरुराचार्यः तस्य संबोधने हे श्रीगुरो सम्बोधनेन त्वादृग्गुरूणां कृपया शिष्याणां सर्वं सुलभमिति सूचितं, तदेव स्पष्टमाह **सानुभावानां** इति। सानुभावानां अनुभावः प्रतापः तेन सहितानां, यद्वाऽनुभावः स्वात्मानुभवस्तेन सहितानामित्यर्थः, अत एव करुणापूर्णचेतसां करुणया दयया पूर्णं भरितं चेतः चित्तं येषां तेषां, **श्रीमतां** स्वसाक्षात्कारसंपत्तिमतां युष्माकं, **कृपया** दयया, **अस्माकं** त्वच्छिष्यभावं प्राप्तानां, **नूनं** निश्चयेन, **दुर्लभं** दुःप्रापं **किमु** किमस्ति न किमपि, सर्वमपि सुलभमेवेत्यर्थः।।१।। (९६७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ शिष्यप्रतिवचनार्थप्रकाश एकचत्वारिंशः।।४१।।

ऊपर के सब प्रश्नों का उत्तर एक ही श्लोक के द्वारा शिष्य ने दे दियाहे श्रीगुरो! जिन हमको, अद्भुत अनुभव (प्रताप) रखने वाले तथा स्वानुभव से परिपूर्ण करुणारूपीजल से अपने चेतोह्रद को सम्पूर्ण भरे हुए, आत्मसाक्षात्काररूपी श्री वाले श्रीमान् जैसे सद्गुरु प्राप्त हों उन हमको आप लोगों की कृपा हो जाने पर क्या वस्तु अप्राप्य हो सकती है?

आपकी कृपा से अनुभव के अविषय आत्मदेव का मैंने अनुभव किया है, सच्चिदानन्द लक्षणों से शिव का साक्षात् दर्शन पाया है, मुकुन्द के समान प्रपंचविस्मरणरूपी सुखनिद्रा में सोकर मन ही मन मुदित हुआ हूँ, आत्मज्ञान के चमत्कारों से अन्दर ही अन्दर बालमुकुन्द के समान खेला हूँ, महादेव के समान आत्मानन्द में नाचा हूँ, अपनी चिच्छक्तिरूपी उमा को देखकर महादेव की तरह जी खोलकर नृत्य किया है और कूदा फांदा हूँ, महादेव के समान मृत्युंजय पद को पाकर सदा ही तृप्त रहने लगा हूँ, अपने अन्तःकरण की अखण्डाकार वृत्ति में अपने स्वरूप का दर्शन भी किया है तथा मार्कण्डेय के तुल्य अति विस्मित होकर अन्दर बाहर सर्वत्र ही आत्मदेव के अखण्ड दर्शन भी लेने लगा हूँ। आप जैसे सद्गुरु प्राप्त हों तो फिर हम लोगों को दुर्लभ पदार्थ ही क्या है? आपकी कृपा होते ही विवेक की भीड़ लग जाती है। जैसे कि मेघ

अथ चर्याचतुष्टयी

जात्या यद्यपि गौरमेव वदनं रूपस्य नास्ति क्षति
स्तत्किं कज्जलकालिमा मुखतले संलापनीयो बुधैः ।
अस्तु ब्रह्मविदः कृतैरपि न तैर्दुष्कर्मभिश्चेत्क्षतिः
किं कामादिकदर्थिता वरमहो निःसङ्गसौख्यं वरम् ।।१।। (९६८)

एवं शिष्यप्रतिवचनमभिधायेदानीं शिष्याणां ज्ञानित्वाभिमानेन निषिद्धाचरणे प्रवृत्तिं वारयितुं पूर्णज्ञानिनां तत्र प्रवृत्तावपि तददोषं च दर्शयञ्चर्याचतुष्टयाख्यं चतुश्श्लोकं प्रकरणमभिधास्यन्नाह **अथ इति। अथ** शिष्यप्रतिवचननिरूपणानन्तरं, **चर्याचतुष्टयी** चर्याया आचारस्य निर्णायिका चतुष्टयी चतुःश्लोकसमूहरूपैतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यते इति शेषः, तत्र तावदादौ ब्रह्मविदो 'न मातृवधेन न भ्रूणहत्यये'त्यादिश्रुत्या निषिद्धाचरणस्य दोषाभावप्रतिपादनात् केवलं तत्रैव प्रवृत्तिर्माभूदिति तत्र प्रवृत्त्या अशोभाकारित्वं सदृष्टान्तमाह **जात्या इति**। हे शिष्य **ब्रह्मविदो** ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु वेत्ति जानातीति ब्रह्मवित् तस्य ब्रह्मविदः, **कृतैः** आचरितैरपि, **तैः** नरकादिप्रापकैः ब्रह्महननादिभिः, **दुष्कर्मभिः** दुष्टानि निषिद्धानि यानि कर्माणि तैः, **क्षतिः** नाशो, **न** नास्ति, चेद्यदि तर्हि **अस्तु** भवतु, दोषाभावः श्रुतिप्रामाण्यात् तथापि ब्रह्मविदः **कामादिकदर्थिता** कामो विषयभोगेच्छा आदिर्येषां क्रोधादीनां तैः **कदर्थिता** तुच्छता, **वरं** उत्तमं, किम् अहो किमुत, **निःसङ्गसौख्यं** निःसङ्गं नाशादिभिरसंबद्धं सौख्यं सुखमेव सौख्यं निरतिशयं सुखमित्यर्थः, **वरं** श्रेष्ठं तद्वदेति शेषः। तत्र दृष्टान्तो **वदनं** यद्यपि मुखं, **जात्या** स्वभावेन, गौरवर्णमस्ति अत एव तत्र लग्नेपि कज्जले रूपस्य **क्षतिः** हानिः, **नास्त्येव** न विद्यते एव, परन्तु नेत्रप्रान्तभागेष्वेव लग्नेन कज्जलेन रूपस्य क्षतिर्नास्ति इत्युक्तं सत्यमेव किञ्च प्रत्युत रूपशोभाकार्येव तद्भवति तत्ततो हेतोः **बुधैः** विवेकिभिः, **मुखतले** वदनफलके, **कज्जलं** कालिमा कज्जलस्य तैलादिसंयुक्तदीपोत्पन्नस्य कार्ष्ण्यद्रव्यस्य कालिमा श्यामत्वं, **संलापनीयो** लेपनीय इत्यर्थः। अयं भावः **यद्यपि** 'न मातृवधेने'त्यादिश्रुतिभिर्ज्ञानिनां निषिद्धाऽऽचरणे दोषाभाव उक्तः तथापि न तत्र विधिः किन्तु तीव्रप्रारब्धवशेन जातेपि तस्मिन् दोषाभाव उक्तोऽतस्तत्रैव न प्रवर्त्तितव्यमसङ्गात्मसुख एव रतिः संपाद्या यथा गौरवर्णे मुखे लोकव्यवहारवशेन मुखशोभायै नेत्रयोरञ्जनं कार्यमित्युक्तेः नेत्रयोः कज्जले अञ्जिते तच्छोभा स्यात्तस्मिंश्च मुखतले संलापिते सति लोकेऽशोभैव स्यादेवं तीव्रप्रारब्धवेगेन कृतेपि निषिद्धकर्मणि तत्क्षयेन शुद्धि-कारणत्वात् अन्तःकरणस्य ज्ञानिनो गुण एव तस्मिंश्च बुद्धिपूर्वं कृते च मुखमण्डले कज्जललेप इव लोकहासजन्यं दुःखमेव स्यात्, किञ्च तदाचरणेन च नरकादिजन्यं दुःखमेव स्यादतस्तत्र न प्रवृत्तिः कार्येति ।।१।। (९६८)

अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को प्यासे चातकों के लिये उडेल देता है इसी प्रकार जब आप जैसे सद्गुरु किसी हम जैसे मुमुक्षु पर दयालु हो जाते हैं तो ज्ञान का अक्षय पिटारा ही खोल बैठते हैंजिसमें से तृप्तिकारक ज्ञानामृत का यथेच्छ भोजन मिल ही जाता है जब आप किसी का अङ्गीकार करते हैं तो उसके लिये सब संसार मोक्षमय हो जाता है ।।१।।

विद्यैवाधिगता सदामृतमयी विद्यावता तत्सुखं
स्थेयं वर्त्मनि सङ्गदोषरहिते सङ्गः पुनः कीदृशः।
किं भूषाऽस्य वरा स्थितिः स्तुतिमयी सा राजसिंहासने
द्वारि द्वारि कपर्दिकार्थमटनं किं वाऽस्य राज्ञो वरम्।।२।। (६६६)

ननु विद्यावतां प्रबलश्रुत्योक्तस्य निषिद्धाचरणे दोषाभावस्य सत्त्वात्तदाचरणे को दोष इत्याशङ्क्याह **विद्यैव इति। विद्यावता** ज्ञानिना, **विद्यैव** ज्ञानमेव, **अधिगता** प्राप्ता, सा च **अमृतमयी** अमृतं सुखं ब्रह्म तन्मयी तद्रूपाऽस्ति, **यदि** यर्हि, **तत्** तर्हि, **सुखं** यथा भवति तथा, **सङ्गदोषरहिते** सङ्गः कामादिभिः सम्बन्धः तज्जन्यो यो दोषो दुःखरूपमनिष्टं तेन रहिते व्यतिरिक्ते, **वर्त्मनि** आचरणरूपे मार्गे, **स्थेयं** स्थितिः कार्या, **पुनः** ज्ञानप्राप्तेरनन्तरं, **कीदृशः** किंप्रकारः, **सङ्गः** पापकर्मभिः सम्बन्धो भवेत् नैव भवेदित्यर्थः। ननु किं निःसङ्गसुखेन, विदेहमुक्तिस्तु स्यादेव ज्ञानफलत्वात् तस्या इत्याशङ्क्य; जीवतो मुक्तिसुखानुभवे तस्या अप्यसिद्धिरिति निश्चित्य सङ्गसुखान्निःसङ्गसुखाधिक्यं तदादराय प्रदर्शयन्दृष्टान्तेन पृच्छति **किमिति। अस्य** राजकुलोत्पन्नस्य प्राप्तराज्यस्य च पुरुषस्य, **राजसिंहासने** राज्ञो नृपस्य यत् सिंहासनं पदं तस्मिँल्लोकादरणीयस्थान इत्यर्थः, **सा** प्रसिद्धा लोकपूज्या, **स्थितिः** स्थानं, सा **वरा** श्रेष्ठा, **भूषा** अलङ्कृतिः, **स्तुतिमयी** स्तोत्ररूपा, किं किमु, **किं** किंवाऽस्य प्राप्तराज्यस्य, **राज्ञो** नृपस्य, **द्वारि द्वारि** लोकानां द्वारे द्वारे, **कपर्दिकार्थं** कपर्दकलाभेच्छया, **अटनं** भ्रमणं, **वरं** श्रेष्ठं तत्कथय। निन्द्याचरणेन जीवन्मुक्ति-सुखानुभवाभावात् लोकनिन्दाजन्यदुःखाधिक्याच्च विदेहमुक्त्यभावेन च नरकदुःखस्य विद्यमानत्वाच्च न निन्द्याचरणे प्रवर्त्तितव्यमिति भावः।।२।। (६६६)

ज्ञानीपने के अभिमान में आकर किसी को भी निषिद्ध कर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये। परन्तु पूर्ण ज्ञानी यदि प्रारब्ध के वश में आकर कुछ दोष कर भी बैठे तो उसे दोष नहीं लगता। यह बात इस प्रकरण में दिखायी गयी है। 'ब्रह्मज्ञानी को दोष नहीं लगता' इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ज्ञानी लोग केवल विगर्हित काम करने पर ही उतारू हो जायँ। उनको भी लोकसंग्रह के लिये तो शास्त्र की आज्ञाओं के अनुकूल ही चलना चाहिये।

दुष्कर्मों के करने पर भी उनसे ब्रह्मज्ञानी की कुछ हानि न भी हो तो भी क्या कामादियों के कारण उत्पन्न हुई तुच्छता अच्छा अथवा निःसङ्गता का निरतिशय सुख अच्छा, यह बताओ? यदि किसी का मुख स्वभाव से गौर वर्ण का हो तो उस पर कज्जल पोतने पर भी रूप की कुछ हानि तो नहीं हो जाती है, लेकिन कोई बुद्धिमान् मुँह पर काजल पोतेगा नहीं और ऐसा करे तो हास्यास्पद ही होगा। काजल तो नेत्रों में ही शोभा देता है। इसी प्रकार विद्वान् को पाप-पुण्य नहीं लगतेऐसा श्रुतियाँ कहती हैं वह तीव्र प्रारब्धवश हुए किसी रहस्यमय प्रयोजन वाले कर्म के बारे में लागू होता है, बात सही है कि उसे पापसे दोष नहीं लगता परन्तु निषिद्ध आचरण करने की आज्ञा नहीं देतीं। किसी तीव्र प्रारब्ध के कारण यदि किसी ज्ञानी से कोई निषिद्ध कर्म

हो जाय तो उसे दोष नहीं लगता यही उसका तात्पर्य है। किसी भी ज्ञानी को निषिद्ध कर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये, किन्तु असङ्ग आत्मसुख में ही प्रेम का उपार्जन करना चाहिये। यदि किसी तीव्र प्रारब्ध के वश में आकर ज्ञानी से कोई निषिद्ध कर्म हो जाय तो उस कर्म के कारण पछता-पछता कर ज्ञानी को मर नहीं मिटना चाहिये। आत्मा को सच्चे अर्थों में निर्लेप समझ कर प्रारब्धवश किया गया ज्ञानी का निषिद्ध कर्म भी ज्ञानी के लिये गुणकारक (अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला) हो जाता है। परन्तु यदि ज्ञानीपने के अभिमान में आकर ज्ञानपूर्वक निषिद्ध कर्म किया जाएगा तो लोकापहासजन्य ऐहिक दुःख तथा नरकादिजन्य पारलौकिक दुःख उसे अवश्य ही प्राप्त होगा। जो बुद्धिपूर्वक निषिद्ध कर्मों का आचरण करता है और सुख से अपने आपको ज्ञानी कहता है वह ज्ञानी ही नहीं होता। ज्ञानियों की प्रवृत्ति कभी भी निषिद्ध कर्मों की ओर नहीं होती। ज्ञानियों को पाप न लगने वाली श्रुति तो ज्ञानियों की स्तुति के लिये अर्थवाद है। वह विधि नहीं है।।१।।

ज्ञानी ने अमृतरूप ज्ञान प्राप्त कर लिया, अब तो उसे आनन्दपूर्वक संगदोषवर्जित मार्ग पर चलना चाहिये, ज्ञानी का संग से क्या सम्बन्ध? क्या भला राजतिलक कराकर शानदार ढंग से राजसिंहासन पर बैठा रहना अच्छा, या कौड़ी-कौड़ी के लिये द्वारे-द्वारे भटकना अच्छा?

विद्या वाले ज्ञानी ने अमृत(सुख-ब्रह्म)मयी आत्मविद्या को प्राप्त किया है, इसलिये उसे सुखपूर्वक ऐसे मार्ग में स्थित हो जाना चाहिये, जिसमें कि काम क्रोधादि के संग (सम्बन्ध) से उत्पन्न हुए दुःखरूपी दोष न पाये जाते हों। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ज्ञानी की पापकृत्यों में रुचि ही नहीं होनी चाहिये। यदि कहो कि ज्ञान हो जाने पर विदेहमुक्ति तो मिलेगी ही, निःसङ्गता के सुख से हमको क्या लेना है? तो उसका उत्तर यह है कि जब जीवित काल में ही तुमने मुक्तिसुख का अनुभव नहीं कर लिया तो विदेहमुक्ति ही तुम्हें क्योंकर मिल सकती है? इसलिये निःसङ्गता के सुख का ही आदर ज्ञानियों को करना चाहिये। सर्वलोकादरणीय राजसिंहासन पर बैठा रहना इस राजा की उत्तम शोभा है अथवा राज्य जैसे उत्तम पद को पाकर भी एक एक कौड़ी के लाभ के लिये दर-दर मारे फिरना अच्छा है यह बताओ? निन्दित कर्मों का आचरण करने से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस पुरुष को जीवन्मुक्ति के असङ्गतासुख का अभी तक अनुभव नहीं हुआ है, साथ ही लोकनिन्दा से उत्पन्न हुआ दुःख उसको और भी अधिक हो जाता है। ऐसे बहके हुए ज्ञानी को कभी भी विदेहमुक्ति नहीं मिल सकती,

शिष्टाचारपथं विना यदि भवेदात्मप्रबोधो महां
स्त्याज्यस्तर्हि तु सर्वदैव विदुषा वर्णाश्रमाणां क्रमः।
वर्त्म ज्ञस्य विलक्षणं यदि कृतात्किंचाकृतात्कर्मणः
संगृह्णातु जनांस्तदा मुनिजनस्तेनापि नास्य क्षतिः।।३।। (६७०)

ननु श्रुतिप्राबल्येन निन्द्याचरणे ज्ञानिनां प्रवृत्तिर्भवतु को दोष इत्याशङ्क्य प्रयोजनाभावान्न कार्येत्याशयेनाह **शिष्टाचार इति**। हे शिष्य तव **शिष्टाचारपथं विना** शिष्टानां श्रेष्ठानामाचारः कर्म तदेव पन्था मार्गः स्वर्गापवर्गकारणत्वात्तं तथोक्तं विना वर्जयित्वा निन्द्याचरणेनेत्यर्थः, **महान् प्रबोधो** दृढं ज्ञानं, **यदि** यर्हि, **भवेत्** स्यात्, **तर्हि तु** तर्हि एव, **विदुषा** ज्ञानिना, **वर्णाश्रमाणां** वर्णाश्च ब्राह्मणाद्या आश्रमा ब्रह्मचर्याद्यास्तेषां, **क्रम** आचारः, **सर्वदैव** सर्वकालमपि, **त्याज्यः** त्यक्तुं योग्यः स्यात्, निषिद्धाचरणेनैव ज्ञानप्राप्तौ सत्यां सर्वेषामेव मुक्तिः स्यादेवं च सर्वेषामपि तत्र प्रवृत्तौ सन्मार्गोच्छेदप्रसङ्गो, न हि सन्मार्गगामिनां प्रवृत्तिस्तत्र दृश्यते न हि च निषिद्धाचाराणां मुक्तिरपि सर्वेषां दृश्यते किन्तु केवलनरकप्राप्तिरेव दृश्यते श्रूयते चाऽतो निन्द्यकर्मणि प्रवृत्तिः नैव कार्येति भावः। ननु 'नैनं कृताकृते तपतः, एत ꣳ ह वाव न तपति किमह ꣳ साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमि'त्यादिश्रुतिभिः ज्ञानिषु सुकृतदुष्कृतभयाभावप्रतिपादनात् किं निष्फलसत्कर्माचार एवाग्रह इत्याशङ्क्य लोकसंग्रहफलसद्भावान्नैवमित्याह **वर्त्मेति। ज्ञस्य** ज्ञानिनो, वर्त्माऽऽचरणरूपो मार्गः, **कृतात्कर्मणोऽकृताद् अकर्मणः** कर्मत्यागादित्यर्थः,यद्वा कृतात्कर्मफलात्स्वर्गादेरकृतान्मोक्षाच्च। अत्रश्रुतिः

'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृताद्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वदे'ति ।।

विलक्षणं भिन्नमस्तीति, **यदि** चेद्वदसि, **तदा** तर्हि, **मुनिजनो** मुनीनां ज्ञानिनां जनः समूहो जनाँल्लोकान्कर्माधिकारिजीवानित्यर्थः, **संगृह्णातु** ग्राहयतु स्वयं कर्म कृत्वा लोकानपि कारयतु इत्यर्थः।

'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसी'ति।

भगवद्गीतोक्तेः। ननु तर्हि लोकसंग्रहार्थमेव कर्म कुर्वतोपि तदाऽऽसक्त्या बन्धः स्यादित्याशङ्क्याह **तेनापीति। तेनापि** लोकसंग्रहार्थं कृतेनापि कर्मणा, **अस्य** ज्ञानिनो, **क्षतिः** नाशो, **न** न विद्यते, निषिद्धाचारेण बन्धाभाव इव सत्कर्माचारेपि बन्धाभावात् लोकसंग्रहाय सत्कर्माचार एव ज्ञानिना प्रवर्तितव्यमिति भावः।।३।। (६७०)

प्रत्युत इन सब के बदले में नरकदुःख ही उसको प्राप्त होता है। इसलिये किसी भी ज्ञानी को निन्दित कर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये।।२।।

शिष्टाचार को छोड़कर ही यदि किसी का ज्ञान परिपक्व होता हो, केवल उसी अवस्था में ज्ञानी लोग वर्णाश्रमों के क्रम को छोड़ सकते हैं। यद्यपि ज्ञानी का मार्ग कृतकर्म तथा कर्मत्याग से अत्यन्त विलक्षण होता है (इसलिये यद्यपि उसे स्वयं कर्म

करने का कुछ भी प्रयोजन नहीं होता परन्तु) तो भी जिस मार्ग से चल कर ज्ञानी ने ज्ञान प्राप्त किया है वह मार्ग दूसरे अधिकारियों के लिये भी वैसा ही अक्षुण्ण बना रहे, इस विचार से लोकसंग्रह के लिये तो ज्ञानियों को भी कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। उससे उसकी अपनी कुछ भी हानि नहीं होती।

हे शिष्य, शिष्टाचार को छोड़कर निन्दितकर्मों का अनुष्ठान करने पर ही यदि तुम्हारा ज्ञान दृढ हो सकता हो, तभी तुम वर्णों तथा आश्रमों के आचार को छोड़ सकते हो। निषिद्धाचरण से ही यदि किसी को ज्ञान प्राप्त होता हो, तब तो सबकी ही मुक्ति हो जानी चाहिये, तथा जबकि सब ही लोग निषिद्धाचरण में प्रवृत्त होंगे तो सन्मार्ग का उच्छेद ही हो जायगा। परन्तु न तो सन्मार्गगामी पुरुष निषिद्धकर्म करने में प्रवृत्त ही होते हैं और न निषिद्धकर्म करने वालों की मुक्ति ही होती है। प्रत्युत निषिद्धकर्म करने वालों को नरकयातनायें मिलती हैं। यह बात आँखों से देखी तथा शास्त्रों से सुनी जाती हैं। इस कारण किसी को भी निन्दित कर्मों में प्रवृत्त न होना चाहिये। यदि कहो कि "एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिति" इस ज्ञानी को पाप करने किंवा पुण्य करने का फिर कुछ भी दुःख नहीं रहता, तो फिर यह ज्ञानी सत्कर्मों का निष्फल आचरण भी क्यों करे? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि ज्ञानी का आचरणरूपी मार्ग कृतकर्म तथा कर्मत्याग से अथवा स्वर्ग और मोक्ष दोनों से ही भिन्न हो जाता है; तो भी ज्ञानी लोगों का यह कर्तव्य है कि वे लोग स्वयं सत्कर्म करके कर्माधिकारी जीवों के सामने कर्म करने का आदर्श रक्खा करें। यदि लोकसंग्रह के लिये ज्ञानी लोग कर्म करेंगे तो उस सत्कर्म के करने पर भी उनकी कुछ हानि नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञानियों को पाप कर्म का ही लेप नहीं होता है तो फिर सत्कर्म का आचरण भी उनको बन्धन में नहीं डाल सकता। जिस सन्मार्ग के प्रताप से ज्ञानी को यह उत्तमपद मिला है, दूसरों को भी उसी सन्मार्ग में लाने के लिये ज्ञानोत्तर काल में भी ज्ञानी को सत्कर्म करने ही चाहिये। इसके विपरीत, यदि ज्ञानी लोग भी दुष्कर्म करने लगेंगे तो सन्मार्ग का उच्छेद होकर मुक्ति का घण्टापथ (सरल राजमार्ग) ही सदा के लिये बन्द हो जायगा। इस कारण ज्ञानियों को लोकसंग्रह के लिये सत्कर्मों का आचरण करना ही चाहिये।

इस श्लोक में यह भी भाव निकलता है कि यदि किसी ज्ञानी को अपनी कई निजी ऐसी कठनाईयाँ आ गई हों कि जिनसे ज्ञानोपार्जन में कठिनता पड़ती हो तो उसे शिष्टाचार को छोड़ देनें का हक है। दूसरा यह भाव भी पाया जाता है कि यदि अपनी

दत्तोऽसावृषभो जडश्च भरतो मङ्किश्च संवर्त्तकः
कर्मभ्रष्टपथं गताः कथममी चेत्पूर्वपक्षस्तव।
साधो जागरितान्प्रतीदमुदितं पश्यन्ति शृण्वन्ति ये
निद्रान्धा न विलोकयन्ति न पुनः शृण्वन्ति वाच्या न ते।।४।। (६७१)

श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे चर्याचतुष्टयी द्विचत्वारिंशः।।४२।।

ननु तर्हि दत्तादीनां कथं तत्र तत्र पुराणेषु स्वेच्छाचारः श्रूयते इत्याशङ्क्याह **दत्त इति। असौ** पुराणेषु प्रसिद्धो, **दत्तो** दत्तात्रेय, **ऋषभ** ऋषभनामा राजा नाभेः पुत्रो, **जडो भरतो** भागवते प्रसिद्धो जडभरतो, **मङ्किश्च** मङ्किनामा मुनिरपि, **संवर्त्तकः** च संवर्त्तकनामेत्येवम् **अमी** ऐते, **कर्मभ्रष्टपथं** कर्मभ्यो विहितकर्मभ्यो भ्रष्टश्च्युतो यो पन्था मार्गः तं, **गताः** प्राप्ताः, **कथं** कुत इति, **तव पूर्वपक्षः** प्रश्नः, **चेद्** यदि, तर्हि **हे साधो** अनेन सम्बोधनेन तव साधकत्वादेव कथितमिति सूचितं, तदेव स्पष्टमाह **जागरितानिति**। ये **पश्यन्ति** अवलोकयन्ति जगद्गतपदार्थाननुभवन्तीत्यर्थः, किञ्च **शृण्वन्ति** जगद्गतपदार्थनामानि श्रोत्रेणानुभवन्ति, तान् **जागरितान्** जाग्रदवस्थावत इत्यर्थः, **इदं** लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्त्तव्यमित्येवमुक्तम्। **ये** दत्तादय, आत्मसाक्षात्कारानन्तरं **न विलोकयन्ति** न जगत्पदार्थान्पश्यन्ति, **न** च नैव, **शृण्वन्ति** तत्तत्पदार्थनामान्यपि श्रोत्रेण नानुभवन्ति ते, **निद्रान्धा** निद्रया प्रपञ्चविस्मृतिलक्षणया सुप्त्याऽन्धाश्चक्षुर्हीनब्रह्मरूपास्ते पुरुषा न वाच्या न वचनार्हास्तेषां ब्रह्मरूपत्वाद्विधिनिषेधानधिकारितया सत्कर्महीना अपि न निन्द्या इति भावः।।४।। (६७१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ चर्याचतुष्टय्यर्थप्रकाशो द्विचत्वारिंशः।।४२।।

लोकप्रसिद्धि को हटाने आदि के लियेजिससे ज्ञानसिद्धि में विघ्न होने लगा होज्ञानी लोग कोई साधारण-सा शिष्टाचार तोड़ बैठें और कोई निन्दित-सा काम कर लें, तो उन्हें वैसा करने का अधिकार है। साधारण रीति से तो ज्ञान के बाद भी शिष्टाचार का पालन सभी को करना चाहिये। ज्ञानमार्ग के अब तक के इतिहास से इन दोनों बातों का अनुमोदन होता है।।३।।

यदि यह पूछो कि फिर दत्त, ऋषभ, जडभरत, मङ्कि तथा संवर्तक ये लोग कर्महीन मार्ग में क्यों कर पहुँच गये? तो हे नवीन साधको! ये उपर्युक्त बातें तो हम जागने वालों के विषय में कह रहे हैंजो कि अभी तक जगत् के पदार्थों को आँखों से देखते तथा कानों से सुनते रहते हैं। परन्तु जो निद्रान्ध होकर जगत् के पदार्थों को न तो आँखों से देखते ही हैं और न कानों से सुनते ही हैं, वे यदि सत्कर्म करना छोड़ भी दें तो भी वे निन्दित नहीं होते।

हे शिष्य, यदि तुम्हारा यह प्रश्न हो कि दत्तात्रेय, ऋषभ नाम का राजा, जड भरत, मङ्किमुनि तथा संवर्तक जैसे महापुरुषों ने विहित कर्मों से हीन मार्ग को क्यों

अथ ज्ञानगङ्गातरङ्गोनाशीतिकम्

ज्ञानगङ्गातरङ्गोनाशीतिकं शृणु साम्प्रतम्।
एकेनाप्यंगलग्नेन सर्वपापक्षयो भवेत्।।१।। (६७२)

एवं चर्याचतुष्टयीं निरूप्येदानीं बहुसन्देहनिराकरणेन ज्ञानदार्ढ्याय ज्ञानगङ्गातरङ्गोनाशीत्याख्यमेकोनाशीतिश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथ** इति। **अथ** चर्याचतुष्टयीनिरूपणानन्तरं **ज्ञानगङ्गातरङ्गोनाशीतिकं** ज्ञानं ज्ञप्तिः सा एव गङ्गा पवित्रकारकत्वाद्। 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति गीतोक्तेः, यद्वा ज्ञानं ज्ञप्तिः सैवाऽऽत्मसन्मुखतया सन्ततगतिमत्त्वात् सागरं प्रति सन्ततगमनवती गङ्गेव गङ्गा तस्यास्तरङ्गा इवास्मिन्प्रकरणे निरूपयिष्यमाणाः श्लोकास्ते तत्तत्संशयमलनिवर्त्तकत्वात्तरङ्गाः भङ्गाः तेषामेकेनोना न्यूनाऽशीतिस्तत्संख्यानां श्लोकानां समूहरूपमेकोनाशीतिकं प्रकरणमुच्यत इति शेषः। तत्र तावदादौ एतत्प्रकरणप्रयोजननिरूपणेनैतच्छ्रवणे शिष्यं प्रेरयति **ज्ञानगङ्गेति**। हे शिष्य **त्वं** भवान्, **सांप्रतं** अधुना, **ज्ञानगङ्गातरङ्गोनाशीतिकं** ज्ञानम् अहंब्रह्मास्मीतिप्रमारूपा वृत्तिस्तस्यैव ब्रह्मात्मविषये सन्ततप्रवाहवत्त्वात् पवित्रकारकत्वाच्च तदेव गङ्गेव गङ्गा तस्यास्तरङ्गास्तत्तद्विवेकरूपा वृत्तयस्तासां प्रतिपादकत्वादेतत्प्रकरणस्थश्लोकानां ज्ञानगङ्गातरङ्गत्वं तदाश्रयत्वाद् एतत्प्रकरणस्य च ज्ञानगङ्गात्वं; तेषामूनाशीतिकमूना एकोना याऽशीतिस्तत्परिमितानां श्लोकानां समूहरूपं वक्ष्यमाणं प्रकरणं समूहे कन्, **शृणु** श्रोत्रेणानुभव श्रोतव्यमित्यर्थः। ननु मम एतत्प्रकरणश्रवणेन किं फलं स्यादित्याशङ्क्याह **एकेनापीति। एकेनापि** ज्ञानगङ्गातरङ्गेण लौकिकगङ्गातरङ्गेणेव **अङ्गलग्नेन** अङ्गे लिङ्गशरीरे लग्नेन विचारपूर्वं स्थिरीभूतेन, गङ्गातरङ्गपक्षे शरीरलग्नेन **सर्वपापक्षयो** अखिलपापनाशो ज्ञानगङ्गातरङ्गपरामृष्टलिङ्गशरीरे सन्देहपापक्षयो **भवेत्** स्यात्, अतो मुमुक्षुणा त्वयाऽन्यैश्चेदं प्रकरणं श्रोतव्यमिति भावः।।१।। (६७२)

कर स्वीकार किया है? तो सुनो हे नवीन साधक! जो लोग ज्ञान हो जाने पर भी अभी तक जगत् के पदार्थों का अनुभव करते हैं, कानों से जगत् के पदार्थों के नाम सुनते रहते हैं, उन होश वाले तुम जैसे लोगों के लिये यह ऊपर की लोकसंग्रह वाली बात कही है। जो दत्तात्रेय आदि आत्मदर्शन हो जाने के बाद इतने गहरे उतर जाते हैं कि फिर वे इस संसार में अपनी इन आँखों से न तो कुछ देखते ही हैं और न इन कानों से कुछ सुनते ही हैं, संसारविस्मरणरूपी नींद के प्रताप से अन्धे बने हुए उन (ब्रह्मरूपधारी) लोगों के विषय में कुछ कहना ठीक नहीं होता। वे तो ब्रह्मरूप हो जाने से विधिनिषेध के अधिकार से बाहर हो जाने के कारण सत्कर्मों को छोड़ दें तो भी निन्दित नहीं होते। वैसी जगद्विस्मृति यदि तुम्हें भी हो जाय तो तुम भी उन्हीं की तरह कर्मभ्रष्ट मार्ग में निःशङ्क होकर जा सकते हो।।४।।

निरन्तर बहकर आत्मसागर की ओर को जाने वाली ज्ञानरूपी गङ्गा के, संशयरूपी मलों को निवृत्त करने वाले, तरंगरूपी उन्नासीश्लोकों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

वाङ्मयं खं हि सर्वत्र वाचो मूकस्य दुर्लभाः।
चिन्मयं ब्रह्म सर्वत्र विद्याहीनस्य दुर्लभम्।।२।। (६७३)

ननु चिद्रूपब्रह्मणो व्यापकत्वेन सर्वत्र विद्यमानत्वेपि कस्यचिल्लाभः कस्यचिदलाभोऽयुक्त इत्याशङ्क्य सदृष्टान्तं तत्सम्भावयति **वाङ्मयम् इति। चिन्मयं** चिन्मात्रं, **ब्रह्म** देशकाल-वस्तुकृतपरिच्छेद-शून्यमात्मवस्तु, **सर्वत्र** समस्तपदार्थेषु समस्तप्राणिष्वपि, **अस्ति** विद्यते ज्ञानिदृष्ट्या, तथा सत्यपि **विद्याहीनस्य** ज्ञानरहितस्य, **दुर्लभं** दुःखेन श्रवणादिप्रयासेनैव लब्धुं शक्यं नानायासेन लब्धुं शक्यं साधनहीनस्य तु अप्राप्यमेव तदिति भावः। तत्र दृष्टान्तो **हि** यथा, वाङ्मयं शब्दप्रचुरमाकाशस्य शब्दगुणवत्त्वात्, **खं** आकाशं, **सर्वत्र** समस्तप्राणिषु अस्ति, तथापि **मूकस्य** मूकत्वफलकेन केनचित् कर्मणा वागिन्द्रियमप्राप्तस्य, **वाचो** व्यक्तवाक्योच्चारा, **दुर्लभा** दुःखेन तत् प्रापककर्माचरणेन आयासेन लब्धुं शक्या नान्यथेत्यर्थः।।२।। (६७३)

हे शिष्य! अब तू ज्ञानगङ्गा के उन्नासी तरङ्गों को सुनो, इनका यह प्रताप है कि यदि इनमें से एक तरङ्ग भी किसी के शरीर को छू जायेगा तो उसके सर्वपापों का निश्चय ही क्षय हो जायगा।

जिस प्रकार गंगा का एक भी तरङ्ग शरीर को लगकर सकल पापों का नाश कर देता है इसी प्रकार ज्ञानगंगा के इन तरङ्गों में से एक भी यदि तुम्हारे लिङ्गशरीर (मन) नामक अंग में विचारपूर्वक स्थिर हो बैठेगा तो तत्क्षण ही तुम्हारे सन्देहरूपी सकल पापों का नाश हो जायेगा।।१।।

वाङ्मय आकाश सर्वत्र विद्यमान् भी है परन्तु गूँगे को उसमें से उच्चारण करना नहीं मिलता। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्मचैतन्य सर्वत्र परिपूर्ण हो गया है परन्तु फिर भी विद्यारहित होने के कारण अभागे लोगों को वह दुर्लभ ही रहता है।

व्यापक होने के कारण चैतन्यरूप ब्रह्म यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है तथापि वह किसी को तो प्राप्त हो जाय तथा दूसरा उसके पवित्र दर्शन से वञ्चित ही रह जाय यह बात अयुक्त है। इस संशय के निवारणार्थ कहते हैं किज्ञानी की दृष्टि में चैतन्यमात्र आत्मवस्तु समस्त-पदार्थों तथा सकल जीवों में परिपूर्ण हो रही है, तथापि ज्ञानरहित पुरुषों को वह दुर्लभ ही होती है। ज्ञानहीन पुरुष नाना प्रकार के श्रवण मनन आदि कष्ट, उठाकर ही उसे प्राप्त कर सकते हैं, बिना परिश्रम के उसके पुण्यदर्शन उनको नहीं मिलते। साधनहीन पुरुषों को तो वह आत्मवस्तु सदा ही अप्राप्य रहती है। जिस प्रकार किशब्द से व्याप्त यह आकाश सब प्राणियों में एक-समान ही है तो भी मूक पुरुष कोजिसकी वागिन्द्रिय किसी पाप के कारण नष्ट हो गयी हो, किंवा प्राप्त ही न हुई होस्पष्ट वाग्व्यवहार करना दुर्लभ हो जाता है। जिस प्रकार वागिन्द्रिय देने

प्राचीमथ प्रतीचीं वा यत्र क्वचन गच्छतु।
तमसा दृश्यते नैषा ब्रह्मचिद्भास्करो यथा।।३।। (६७४)

ननु ब्रह्मचैतन्यस्य स्वयं प्रकाशरूपत्वे सति कुतोऽन्तःकरणवृत्यप्रकाश्यत्वमित्याशङ्क्य सदृष्टान्तं तत्सम्भावयति **प्राचीमिति। यथा** यद्वत् **तमसा** रात्र्यन्धकारेण नेत्रपटलरूपेण वाऽऽवृतनेत्र इति शेषः, पुरुषः प्राचीं पूर्वदिशं प्रति, अथवा यद्वा **प्रतीचीं** पश्चिमां दिशं प्रति, अथवा यद्वा **यत्र क्वचन** यत्र कुत्रापि दक्षिणस्यामुत्तरस्यामध ऊर्ध्वं वेत्यर्थः। कुत्रापि सूर्यदर्शनाय **गच्छतु** यातु, तथापि तत्तद्दिशां प्रकाशको **भास्करः** सूर्यो, **न दृश्यते** नावलोक्यते, स्वयं प्रकाशमानोपि सूर्यः तिमिरावृतचक्षुषा यथा नैव दृश्यते इति भावः, तथा तद्वत्तमसाऽज्ञानेनावृतः पुरुषो यत्र क्वचन उपासनया इन्द्रलोकादिब्रह्मलोकान्तं कर्मणा वा पितृलोकं निषिद्धकर्मणा वा नरकादिस्थावरान्तं कुत्रापि **गच्छतु** यातु, तथापि **एषा** विद्वत्प्रत्यक्षा **ब्रह्मचिद्** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्या चित् सर्वचेत्यसामान्यप्रकाशिका चेतना, **न दृश्यते** नावलोक्यते, तस्याः स्वयं प्रकाशरूपत्वे सत्यपि अज्ञानावृतप्राणिषु अप्रत्यक्षत्वं तदावरणशून्येषु विद्वत्सु प्रत्यक्षत्वं चेति भावः।।३।। (६७४)

ननु प्रपञ्चासम्बद्धे ब्रह्मणि तदसम्बद्धप्रपञ्चस्य स्थितिः कथं सम्भाव्येत्याशङ्क्य तदपि सदृष्टान्तं सम्भावयति **आकाशमण्डल इति। यथा** यद्वत्, **शून्ये** वास्तववाय्वादिसम्बन्धरहितत्वान्न-

वाले किसी कर्म के अनुष्ठान कर लेने पर वह मूक भी, फिर इसी आकाश में उच्चारण कर सकता है, इसी प्रकार परिश्रमी पुरुष श्रवणादि उपायों का अनुष्ठान करके आत्मज्ञान को प्राप्त होकर सर्वत्र ही चिन्मय ब्रह्म के दर्शन पा सकता है।।२।।

पूर्व अथवा पश्चिम चाहे जहाँ जाओ तुमसे ढका हुआ होने के कारण यह ब्रह्मचैतन्य अंधकार से ढके हुए सूर्य की तरह दीख ही नहीं पड़ता।

रोगी नेत्र वाला पुरुष सूर्य को देखने के लिये पूर्व पश्चिम अथवा और भी चाहे जहाँ (उत्तर दक्षिण ऊपर नीचे) चला जाय तो भी वह सूर्य इस तिमिरावृत नेत्र वाले पुरुष को दीख नहीं पड़ता। इसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार से ढका हुआ यह अज्ञानी पुरुष चाहे तो उपासना के द्वारा इन्द्रलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक पहुँच जाय, अथवा कर्म करके पितृलोक का उपार्जन करले, किंवा निषद्ध कर्मों का अनुष्ठान करके नरक से लेकर स्थावरपर्यन्त गतियों को प्राप्त हो जाय, तो भी (सकल पदार्थों को सम रूप से प्रकाशित करने वाली ज्ञानियों को प्रत्यक्ष दीखने वाली सर्वत्र विद्यमान भी) यह ब्रह्मचेतना इसको कहीं भी दिखाई नहीं देती। तात्पर्य यह है कि स्वयं प्रकाश होने पर भी वह ब्रह्मचेतना अज्ञानावृतप्राणियों को नहीं दीखती। परन्तु अज्ञानरूपी आवरण को जिन विद्वानों ने अपने आध्यात्मिक परिश्रम से उतार फेंका हो उनको तो यह नित्य ही प्रत्यक्ष दीखा करती है।।३।।

आकाशमण्डले शून्ये यथा नक्षत्रमण्डलम्।
चिद्ब्रह्ममण्डले शून्ये तथा संसारमण्डलम्।।४।। (६७५)

क्षत्रमण्डलसम्बन्धरहित, **आकाशमण्डल** आकाशस्य वियतो मण्डले स्वरूपे, **नक्षत्रमण्डलं** नक्षत्राणां ताराणां मण्डलं समूहोऽस्ति, **तथा** तद्वत्, **शून्ये** वास्तवप्रपञ्चमण्डलसम्बन्धरहिते स्वतोपि निराकारे प्रतीतिविषयत्वाभावत् शून्यरूपे च, **चिद्ब्रह्ममण्डले** चिन्मात्रब्रह्मस्वरूपे, **संसारमण्डलं** संसाराणां सर्गाणां मण्डलं समूहोऽस्ति, आकाशस्य नक्षत्रमण्डलेन सह वास्तवसम्बन्धाभावेऽपि प्रातीतिकसम्बन्ध इव ब्रह्मसंसारमण्डलयोरपि वास्तवसम्बन्धाभावेपि प्रतीतिक एव सम्बन्धो ज्ञेय इति भावः।।४।। (६७५)

ननु मननवतो मुनेस्तुर्या स्थितिर्वर्ण्यते तत्र तत्र शास्त्रेषु तां कथयेत्यपेक्षां शिष्यस्यालक्ष्य तां प्रदर्शयति **जाग्रद् इति। सुषुप्ते** निद्रायां सुषुप्त्यावृते प्रत्यगात्मनीति यावत्, तिष्ठन् वर्त्तमानः सन् स्वप्नरूपं प्रातिभासिकमित्यर्थः, **इव** यथा पश्यति, **तथा** तद्वत्, **स्वरूपं** स्वेनैवान्यनिरपेक्षतया रूप्यते प्रकाश्यते इति स्वरूपं तस्मिंश्चिद्रूपे मायोपाधिके जगत्कारणभूते, **चिद्रूपे** अव्याकृताभिधे,

जिस प्रकार शून्य आकाश में रात्रि के समय नक्षत्रराशि दीख पड़ती है इसी प्रकार चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप में अज्ञानरूपी रात्रि के समय संसारों का समूह दीखा करता है। इस आकाश में किसी भी वास्तव वायु आदि का सम्बन्ध नहीं होता, इसीलिये नक्षत्रमण्डल का भी सम्बन्ध नहीं है, इसी कारण से सबसे शून्य कहाने वाले आकाश के स्वरूप में भी जिस प्रकार नक्षत्रसमूह प्रतीत हो रहा है इसी प्रकार यह ब्रह्म भी वास्तव प्रपंच के सम्बन्ध से रहित है, यह स्वयं निराकार है, तथा कभी भी किसी की प्रतीति का विषय नहीं होता है, इसीलिये वह सदा शून्य रहता है परन्तु ऐसे भी इस चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप में अज्ञानी लोगों को सृष्टियों का समूह प्रतीत होता रहता है। तात्पर्य यह है कि आकाश का नक्षत्रसमूह के साथ वास्तव सम्बन्ध न होने पर भी प्रातीतिक (केवल प्रतीतिकाल में होने वाला) सम्बन्ध जिस प्रकार होता है इसी प्रकार ब्रह्म तथा संसारमण्डल का वास्तव कोई सम्बन्ध न होने पर भी प्रातीतिक सम्बन्ध ही होता है। ऐसी अवस्था में इस शंका को भी अवकाश नहीं रहता कि जो ब्रह्म प्रपंच से सर्वथा असम्बद्ध है उसी में उससे असंबद्ध प्रपंच की स्थिति किसी प्रकार संभव हो गई? क्योंकि जिस प्रकार आकाश से असम्बद्ध नक्षत्रसमूह आकाश में रहता है इसी प्रकार ब्रह्म से असम्बद्ध भी यह जगत्प्रपंच ब्रह्म में रह सकता है।

इन श्लोकों का एक यह भी अर्थ हो सकता है किजिस प्रकार प्रकाशक सूर्य के न रहने पर सूने आकाशमण्डल में नक्षत्रमण्डल दीखने लगते हैं इसी प्रकार प्रकाशक ज्ञान के न रह जाने पर शून्य के समान हो गये हुए इस चिद्ब्रह्ममण्डल में संसारमण्डल दीखने लगता है।।४।।

जाग्रत्स्वरूप एवायं पश्यन्त्स्वप्नमयं जगत्।
सुषुप्त इव चिद्रूपे मुनेस्तुर्यस्थताद्भुता।।५।। (६७६)
मुमुक्षा दम्भमात्रं ते न ते तीव्रा मुमुक्षुता।
तीव्रा यदि मुमुक्षा स्यान्न विलम्बो भवेदियान्।।६।। (६७७)

जाग्रत् जाग्रदवस्थायां प्रतीयमानं, **जगत्** विश्वं स्वप्नवन्मिथ्याभूतं, **पश्यन्** अवलोकयन् सन् तिष्ठति स्थितिं करोति, **सा** एतादृशी, **मुनेः** ज्ञानिनस्तुर्यस्थता, **तुर्ये** मायाशबले ब्रह्मणि स्थितिस्तत्ता तद्रूपता **अद्भुता** आश्चर्यरूपाऽस्ति सा वक्तुमशक्येति भावः।।५।। (६७६)

ननु तर्हि सा तुर्यस्थितिर्मुमुक्षोरपि मम कुतो न जायते? तत्राह **मुमुक्षा इति**। हे शिष्य **ते** तव **मुमुक्षा** मोक्षेच्छा, **दम्भमात्रं** कपटमेव केवलमस्ति लोकप्रदर्शनाय केवलं सा त्वया धृतेति भावः। ननु मम मोक्षेच्छायाः पारमार्थिकत्वमेवास्ति न तु दाम्भिकत्वमतः कुतो मे सा न प्राप्यते इत्याशङ्क्याह **नेति**। हे शिष्य **ते** तव, **तीव्रा** दृढा फलपर्यन्तमपरिच्छिन्ना, **मुमुक्षुता** मोक्षेच्छावत्त्वं, **न** न विद्यते, ननु मम मोक्षेच्छाया अदाढ्र्यं भवता कथं निश्चितम्? तत्राह **तीव्रेती**। **तीव्रा**, दृढा **मुमुक्षा** मोक्षेच्छा, यर्हि **स्याद्** भवेद्, तर्हि **इयान्** एतावान् **विलम्बः** चिरकालः तुर्यास्थितेः, **न भवेत्** न स्यादतो दाम्भिकमुमुक्षाया इदं फलं तदभावे वा तददार्ढ्यफलमिति निश्चितमस्माभिरिति भावः।।६।। (६७७)

सोते समय जैसे मनुष्य एकतान होकर सपने के पदार्थों को देखता है ऐसे ही तुर्या में पहुँचा हुआ ज्ञानी भी केवल चिद्रूप के विषय में ही जागरूक हो जाता है (तब उसे उसके सिवाय और कुछ भी नहीं दीखता) मुनि की तुर्यस्थता भी बड़ी ही अद्भुत हो जाती है।

निद्रा के आ जाने पर जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थों को ही कोई जीव देखता रहता हैउसका ध्यान किन्हीं अन्य पदार्थों की ओर तिलमात्र भी नहीं जाता इसी प्रकार जब कोई मुनि केवल अपने स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप स्वरूप के विषय में ही निरन्तर जागने लग जाता है तथा इस जगत् को स्वप्न के समान मिथ्या समझकर इसकी ओर ध्यान बाँटना बन्द कर देता है और शान्त स्थिति में बैठ जाता है (मानो उसकी दृष्टि में उसके ध्यान को बटाने वाला जगत् नाम का कोई पदार्थ ही अब शेष नहीं है) तब महामुनियों की यह तुर्यस्थता एक बड़ी ही आश्चर्यकारिणी अवस्था हो जाती है। तभी तो इसका निरूपण करने के लिये इस समस्त जाग्रत् जगत् में हमें कोई नहीं मिला। इस महामहिम अवस्था का यथार्थ वर्णन तो कोई भी अपनी वाणी से नहीं कर सकता। यदि इस तुर्या स्थिति का यथार्थ रूप तुमको समझना हो तो स्वयं अनुभव करके ही देख लो।।५।।

यह तो तेरी मुमुक्षा ढोंग है अथवा वह तीव्र नहीं है। तीव्र यदि होती तो तुझे तुर्या स्थिति मिलने में इतना विलम्ब नहीं होता।।६।।

अभूत्कुहूमयं विश्वं पक्षः स मलिनो गतः।
इदानीं निर्मलः पक्षो जातं राकामयं जगत्।।७।। (६७८)

ननु तर्हि मुमुक्षावतोपि मे सा प्राप्ता भवेन्न वेति सन्देहं कुर्वन्तं प्रत्याह **अभूद् इति**। स त्वयानुभूतो **मलिनः** कृष्णः पक्षो मासार्धं, **गतो** व्यतीतः। कृष्णपक्षो गत इति कुतो ज्ञातं, तत्राह **अभूदिति**। **विश्वं** दृश्यमानं पदार्थजातं, **कुहूमयं** यस्याममावास्यायां चन्द्रकलानामत्यन्तमदृश्यता सा कुहूः, 'सा नष्टेन्दुकला कुहूरि'त्यमरसिंहः, अन्धकाररात्रिर्ग्राह्या तन्मयं तत्प्रचुरं, **अभूत्** स्थितं पूर्वं, तद् **इदानीं राकामयं** राका पूर्णचन्द्रवती पूर्णिमा तया चात्र तद्रात्रिर्ग्राह्या तया प्रकाशितं, **जगत्** जगद्गतपदार्थजातं, **जातं** सम्पन्नं अत **इदानीं** अधुना, **निर्मलः** शुक्लः, **पक्षो** मासार्धं विद्यतेऽत इदानीं मलिनपक्षो गत इति निश्चेतव्यम्। अयमाशयःपूर्वं तवान्तःकरणस्याज्ञानावृतत्वात् 'षोडशकलः सोम्य पुरुष' इति श्रुत्योक्तषोडशकलानां तदाऽऽवृतत्वेन तत्तत्त्रिपुटीरूपाणां तिथीनां मालिन्यमभूत्तेन चान्धकाररात्रिषु स्थाण्वादौ चौरादिविपरीतज्ञानवदाऽऽत्मन्येव तत्तद्रूपत्रिपुटीरूपज्ञानं विपरीतज्ञानमेव स्थितं स पक्षो मलिन इदानीं गत इदानीं शुक्लपक्ष इव प्रतिपदादिपूर्णिमान्ततिथिषु चन्द्रकलाधिक्येन रात्रौ प्रकाशाधिक्याद्विपरीतज्ञाननिवृत्त्या स्थाण्वादिषु स्थाण्वादियाथार्थ्यज्ञानमिवाज्ञाननिवृत्त्या श्रवणादिपरिपाके जाते ज्ञानस्य यथोत्तरं वृद्ध्या पञ्चदशत्रिपुटीलक्षणतिथिषु त्रिपुटीबाधपूर्वमात्मयाथार्थ्यस्फुरणं जायतेऽत इदानीं शुक्लपक्षस्य ब्रह्मपक्षस्यैव प्रवृत्तिर्जातेति पूर्णमास्यां चन्द्रवत्पूर्णं ज्ञानमपि स्यादिति निश्चेतव्यमिति।।७।। (६७८)

ननु सूक्ष्मस्यापि मनसो यत्र स्थितिर्न सम्भाव्यते तत्र मुनीनां पर्वतवत्स्थितिः कथं सम्भाव्या? तत्राह **न इति**। **यथा** यद्वद्, **गोः** धेनोः, **शृङ्गे** विषाणे शृङ्गाग्र इत्यर्थः, **सर्षपः** शिरीषबीजं, **न तिष्ठति** नैव स्थितिं प्राप्नोति, **तत्रैव** शैला इव यथा शिलानां समूहरूपा पर्वताः, स्वभारेण तदाक्रम्य **स्थितिं** स्थिरताम् **आगताः** प्राप्ता इति सम्भाव्यते, तद्वद् यत्र ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि, **मनः** सङ्कल्पविकल्पवदन्तःकरणं, **न तिष्ठति** न विद्यमानं भवति असद् भवतीत्यर्थः, यद्वा न स्थिरं

हे शिष्य! (अज्ञानावस्था में तुम्हें दीखने वाला) वह मलिन कृष्णपक्ष तो अब बीत गया। उसमें तो यह सब दृश्यमान संसार अमावस्या की घोर रात्रि ही बन रहा था। तब तो इसके यथार्थरूप का परिज्ञान सर्वथा नहीं था। क्योंकि अब जगत् के ये सब पदार्थ पूर्णमासी की रात्रि के समान अपने यथार्थ रूप में प्रकाशित हो गये हैं इसलिये मानना पड़ता है कि निर्मल शुक्लपक्ष आ गया तथा मलिनपक्ष बीत चुका।

अब तो तुम्हारे लिये ब्रह्मपक्षनामक शुक्लपक्ष का प्रारम्भ हो चुका है। जिस प्रकार पूर्णमासी आने पर चन्द्रमा पूर्ण हो जाता है इसी प्रकार यह ज्ञान भी धीरे-धीरे पूर्ण होकर वह तुरीयावस्था तुम्हें प्राप्त हो ही जायगी। उसके प्राप्त होने का सन्देह मत करो! क्योंकि अब तुम्हारी प्रवृत्ति प्रकाशपक्ष की ओर को हो चुकी है।।७।।

न तिष्ठति मनो यत्र गोः शृङ्गे सर्षपो यथा।
शैला इव समाधिस्थास्तत्रैव स्थितिमागताः।।८।। (६७९)
जलप्रवाह इव याऽनवच्छिन्ना स्वभावतः।
चतुर्दशधियां दूरे सा मुनेर्मननस्थितिः।।९।। (६८०)

भवति तत्रैव ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मन्येव समाधिस्थाः समाधौ निर्विकल्पसमाधौ स्थिताः सन्तो मुनयः **स्थितिमागताः** स्थिरतां प्राप्ताः।।८।। (६७९)

ननु मुनीनां मननस्थितिः सा कथं ज्ञातव्येत्यपेक्षां शिष्यस्यालक्ष्य गुरुराह **जलप्रवाह इति**। हे शिष्य **जलप्रवाह इव** यथा जलस्य तोयस्य प्रवाहः स्रोतः स्वभावतः स्वभावेनैवानवच्छिन्नो निरन्तरोऽखण्ड इत्यर्थः, अस्ति तथा तद्वद्या विवेकिप्रसिद्धा **स्वभावतः** स्वभावेनैव **अनवच्छिन्ना** नैरन्तर्येण वर्तमाना, **सा** उक्तलक्षणा, **मुनेः** मननवतः पुरुषस्य, **मननस्थितिः** मननस्य स्थितिः स्थिरता अन्येषां तस्य च, **चतुर्दशधियां** चतस्रो मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्या धियो ज्ञानानि दश च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च पञ्चेति दश धियश्चैतासां चतुर्दशधियां चतुर्दशसङ्ख्याकज्ञानानां, **दूरे** वर्त्तमानाऽविषयेत्यर्थः, अतः **सा** वर्णयितुं नैव शक्येति भावः।।९।। (६८०)

एवं मननस्थितेर्वचनाविषयत्वं निरूप्येदानीं तामेव लक्षणेन लक्षयति **परमात्मा इति**। पूर्वमज्ञानेन **परमात्मपदभ्रष्टः** परं कार्यकारणातीतं यदात्मस्वरूपं पदं स्वरूपं तस्माद् भ्रष्टः च्युतः, स एव **पुनः** भूयो, **विश्वात्मा** विश्वस्य जगत आत्मा स्वस्वरूपभूतः, **परमात्मतां** परमः कार्यकारणास्पृष्टो य

गौ के सींग की नोक पर यद्यपि सरसों का दाना भी नहीं ठहर सकता परन्तु उन्हीं सींगों पर समस्त पर्वतों का स्थिर होना जिस प्रकार सम्भव हो गया है, ठीक इसी प्रकार इस बात को भी समझ लो कि संकल्पविकल्परूपी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तःकरण भी जिस आत्मा में नहीं पहुँचतावह वहाँ पहुँचते ही असत् हो जाता है किंवा स्थिर नहीं होतानिर्विकल्प समाधिस्थ मुनि लोग उसी आत्मा में स्थित हो जाते हैं।।८।।

हे शिष्य! जिस प्रकार जल का प्रवाह स्वभाव से अखण्डरूप में बहता रहता है इसी प्रकार विवेकियों से जानी हुई, स्वभाव से ही निरन्तर रहने वाली, मननशील पुरुषों की स्थिति (किंवा स्थिरता) न तो दूसरे पुरुषों की चौदह प्रकार की (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार नामक चौदह पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली) बुद्धियों को समझ पड़ती है और न उसकी अपनी ही चौदह प्रकार की बुद्धियों की समझ में आती है। वह तो एक आश्चर्यकारिणी स्थिति होती है। (उस अद्भुत स्थिति को वर्णन करने का सामर्थ्य तो इन क्षुद्र शब्दों में है ही नहीं। यदि मुनियों की उस मननस्थिति को जानना हो तो स्वयं मुनि बनकर ही उसका अनुभव ले लेना चाहिये)।।९।।

परमात्मपदभ्रष्टः स पुनः परमात्मताम्।
यया प्राप्नोति विश्वात्मा सा मुनेर्मननस्थितिः।।१०।। (६८१)
प्रतिबिम्बं न गृह्णाति निर्मलो निकटस्थितः।
प्रपञ्चवञ्चने युक्तिः सा मुनेरेव नामुनेः।।११।। (६८२)

आत्मा तस्य भावस्तद्रूपता तां, **यया** स्थित्या, **प्राप्नोति** याति, **सा** उक्तलक्षणा, **मुनेः** मननवतः पुरुषस्य, **मननस्थितिः** मननरूपा स्थितिरवस्था ज्ञेया।।१०।। (६८१)

तामेव पुनर्लक्षणान्तरेण लक्षयति **प्रतिबिम्बमिति**। कश्चित् **निर्मलः** शुद्धो, दर्पणो मुकुरः समीपवर्त्त्यपि पदार्थानां नीलादिगुणवद्द्रव्याणां **प्रतिबिम्बं** आभासं, **न गृह्णाति** नाङ्गीकरोति, चेत्तद्वन्निर्मलो रागादिमलशून्यो **निकटस्थितो** जगद्गतपदार्थानां निकटे समीपे स्थितो वर्त्तमानः सन्नपि तेषां पदार्थानां, **प्रतिबिम्बम्** आभासं, **न गृह्णाति** नैवाङ्गीकरोतीति, या स्थितिः **सा** उक्तलक्षणा, **प्रपञ्चवञ्चने युक्तिः** प्रपञ्चस्य संसारस्य यद्वञ्चनं निरसनं तस्मिन् युक्तिः कुशलता मुनेरेव मननवत एव भवति, **अमुनेः** मननरहितस्य, **न** न भवति।।११।। (६८२)

परमात्मा के ऊँचे पद से भ्रष्ट हुआ यह विश्वात्मा अपने खोये हुए परमात्मपद को, जिस अद्‌भुत स्थिति के प्रताप से फिर दुबारा प्राप्त हो जाता है, वही तो मुनि की मननस्थिति (मननावस्था) कहाती है।।१०।।

निर्मल भी है निकट भी है परन्तु अपने अन्दर प्रतिबिम्ब को पड़ने नहीं देता है प्रपंच को वंचन करने की यह युक्ति मुनियों को ही मालूम है। जो मुनि नहीं हैं वे इस युक्ति को नहीं जानते।

सब ही निर्मल दर्पण के समीप आये पदार्थों के आभास को ग्रहण कर लेते हैं परन्तु उस मुनि की मननस्थिति को समझने के लिये कल्पना करनी पड़ेगी कि कोई दर्पण निर्मल होने पर भी और पदार्थों के समीप में विद्यमान होने पर भी (अपनी किसी अद्‌भुतता के कारण) उन पदार्थों के आभास को ग्रहण नहीं कर रहा है। हमारे कल्पित किये हुए उस दर्पण के अनुसार प्रपंच के वंचन (संसार के निरास) में कुशलतारूपी यह अद्‌भुत स्थिति (अवस्था) मननशील मुनियों के ही भाग्य में होती है। वे रागादि मलों से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल होते हैं तथा जगत् के पदार्थों के समीप विद्यमान होने पर भी उन पदार्थों के आभास को ग्रहण नहीं करते हैं। मननरहित अभागे लोगों को इस अद्‌भुत स्थिति की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार शब्द से इस अवस्था का निरूपण न हो सकने पर भी इस विचित्र लक्षण से उस मुनि की मननस्थिति को पहचान लेना चाहिये।।११।।

अपसर्पन्त्विति प्रोक्ताः क्षणादपसरन्त्यमी।
यदाज्ञया मनोभावाः सा वशी कस्य नाद्भुतः।।१२।। (९८३)
जारणात् कालकूटस्य शम्भोराशीविषा वशाः।
मारणान्मनसस्तद्वन्मुनेरिन्द्रियवृत्तयः।।१३।। (९८४)

इदानीं मुनेः प्रतापं दर्शयति **अपसर्पन्तु इति**। अनेन मुनिना **अपसर्पन्त्विति** अपसर्पन्तु दूरं गच्छन्तु इत्येवं, **प्रोक्ता** आज्ञप्ताः सन्तः, **अमी** एते प्रत्यक्षा, **मनोभावा** मनसोन्तःकरणस्य विकाराः कामक्रोधादयो, **यदाज्ञया** यस्य मुनेराज्ञा प्रेरणा तया, **क्षणात्** क्षणमात्रकालेनैव, **अपसर्पन्ति** निवृत्ता भवन्ति, **स** मुनिर्ज्ञानी, **कस्य** कस्य विकारस्यापि, **वशी** वशवर्त्ती, **न** न भवति, अतः सः **अद्भुतः** लोकदृष्ट्या विषयवशी प्रतीयमानोपि विषयावशित्वादाश्चर्यरूप इति भावः।।१२।। (९८३)

ननु अज्ञानिनां मनोवृत्त्यधीनत्वं ज्ञानिनां तु तदनधीनत्वमुक्तं, तत्र मनस ऐक्ये पुरुषभेदेन विलक्षणकारित्वे को हेतुरित्याशङ्क्य सदृष्टान्तं हेतूक्त्या तत्सम्भावयति **जारणात् इति**। **कालकूटस्य** कालकूटनामकं यत्समुद्रोत्पन्नं विषं तस्य, **जारणात्** पाचनाद्, एवं हि पौराणिकी कथादुर्वाससः शापेन त्रैलोक्यलक्ष्मीः समुद्रे मग्ना तदा त्रैलोक्ये पीडित इन्द्रादिदेवैः सह ब्रह्मा विष्णुं शरणं जगाम तदा विष्णुना समुद्रमथने प्रेरितैर्देवासुरैर्मिलितैः समुद्रस्थितलक्ष्मीप्राप्त्यै समुद्रमथने आरब्धे सति ततः कालकूटं विषं प्रथममुत्पन्नं तेन च देवासुराः जगच्च सर्वे पीडिताः प्रलयकाल इव तदा शिवं शरणं गतेषु सर्वेषु शिवेन तद्रक्षणाय तद्भक्षितं पाचितं चेति तत एव **शम्भोः** शम्भुनामप्राप्तस्य शिवस्य **आशीविषा** आशीषूरगदंष्ट्रासु विषं गरलं येषां ते, तथोक्ताः सर्पाः स्वबलं शिवे न्यूनत्वाद् अकिञ्चित्करं ज्ञात्वा **वशाः** स्वाधीना जाता, यथा यद्वत् तद्वत् तथा **मनसः** सङ्कल्पविकल्परूपस्यान्तः करणस्य, मारणात् नाशात्, **मुनेः** मननवतो ज्ञानिन, **इन्द्रियवृत्तय** इन्द्रियाणामन्तःकरणादिसहितानां श्रोत्रादीनां वृत्तयः स्वस्वविषयग्राहका अंशाः, **वशाः** स्वाधीना जाताः।।१३।। (९८४)

"ए मेरे मन के काम क्रोधादि विकारो! मेरे मन को छोड़ कर भाग जाओ" इतना कहने पर ही वे कामादि विकार जिसकी आज्ञा के अनुसार एक क्षणभर में ही निवृत्त हो जाते हैं। ऐसे अद्भुत वशीकारवाला वह मुनि किसको आश्चर्य में न डाल देगा?

तात्पर्य यह है कि ऊपर से देखने पर चाहे वह संसार में फँसा हुआ ही प्रतीत होता हो परन्तु किसी विषय के भी वश में न आने से वह मुनि आश्चर्यरूप हो जाता है।।१२।।

जब शम्भु ने कालकूट जैसे भयंकर ज़हर को पचा लिया तो सब साँप उसके वश में आ गये। इसी तरह जब मुनि ने मन को पछाड़ा तो इन्द्रियों की सारी वृत्तियाँ उसके वशीभूत हो गयीं।

कालकूट नाम के विष को अपने देह में पचा लेने के कारण, सर्पों से अधिक विषैला हो जाने पर, अपना कोई बल उस पर चलता न देखकर, सम्पूर्ण सर्प जिस

अहन्ताममतात्यागः कर्तुं यदि न शक्यते।
अहन्ताममताभावः सर्वत्रैव विधीयताम्।।१४।। (६८५)
वर्णाश्रमवयोवेषाध्ययनाचारसुन्दरः।
विना विचारवैराग्यैः पशुरेव न संशयः।।१५।। (६८६)

ननु मुमुक्षूणां प्रथममहंममतयोस्त्यागे विहिते तदशक्तेन किं कार्यमित्याशङ्क्याह **अहन्ता इति**। हे शिष्य **यदि** यर्हि, **अहंममतात्यागः** अहन्ताया देहादिष्वहंभावस्य ममतायाश्च पुत्रदारादिषु ममत्वस्य च त्यागो विसर्गः, **कर्तुं** सम्पादयितुं, **न शक्यते** न पार्यते, तर्हि **सर्वत्रैव** सर्वपदार्थेषु, अपि, **अहन्ताममताभावः** अहन्ताया अहङ्कारस्य ममताया ममत्वस्य चाऽभावोऽसत्तैव, **विधीयतां** अनुसन्धीयतां अनेनैवोपायेन मोक्षो भवेदिति भावः।।१४।। (६८५)

इदानीं वर्णाश्रमधर्मेभ्यो विचारवैराग्ययोर्विशेषमादरं कर्तुं तच्छ्रैष्ठ्यमाह **वर्णेइति**। **वर्णाश्रमवयोवेषाध्ययनाचारसुन्दरो** वर्णो ब्राह्मणादिस्तेनाऽऽश्रमश्च ब्रह्मचर्यादिस्तेन वयश्च तारुण्यं तेन वेषश्चालङ्कारः सौन्द्रर्यसम्पादनं तेन चाऽध्ययनं वेदादीनां पठनं तेनापि आचारश्च स्वविहितकर्मानुष्ठानं तेनापि सुन्दरो रमणीयो दृश्यमानोपि स पुरुषो, **विचारवैराग्यैः** विचारः सदसतोर्विवेको वैराग्यं च ब्रह्मपदान्तवस्तुषु काकविष्ठायामिव वैरस्यमादरे बहुवचनं तैः, **विना** ताभ्यां रहितश्चेत्, **पशुरेव** तिर्यग्जन्तुरेव ज्ञातव्योऽत्र, सन्देहः **संशयो न** नास्ति।।१५।। (६८६)

प्रकार शम्भु के वश में आ जाते हैं, इसी प्रकार संकल्पविकल्परूपी अन्तःकरण को मार (नष्ट कर) डालने से अन्तःकरणसहित सब इन्द्रियों की वृत्तियाँ, उस मुनि को अपने से अधिक बलशाली तथा अपने प्रभाव में न आने वाला देखकर, उसके अधीन हो जाती हैं। यही कारण है कि जो मनोवृत्तियाँ अज्ञानी पुरुषों को अपने वश में कर लेती हैं, ज्ञानी पुरुष उनके वश में नहीं आता।।१३।।

हे शिष्य, (अपनी निर्बलता के कारण) यदि तुमसे अहन्ता और ममता का त्याग नहीं हो सकता है तो तुम सम्पूर्ण संसार में ही अहन्ता और ममता करने लग पड़ो। (इस रीति से तुमको अहन्ता और ममता से मुक्ति मिल जायगी)।।१४।।

वर्ण, आश्रम, आयु, वेष, अध्ययन तथा आचार इन सब गुणों से युक्त होने पर भी सदसद्विवेक तथा वैराग्य के बिना यह जीव पशु ही होता है, इसमें लेशमात्र भी संशय मत करो।

तात्पर्य यह है किवर्णाश्रमधर्मों की क़वायद की अपेक्षा विचार और वैराग्य का ही विशेष आदर (विचार) मुमुक्षु लोगों को करना चाहिये। जिससे कि यह मन शुद्ध होकर आत्मदर्शन करने के लिये एक पवित्र दर्पण ही बन जाय।।१५।।

हे शिष्य, जिस महापुरुष के चित्त में सदा ही दृढ विवेक तथा दृढ वैराग्य जागते रहते हों, उस पुरुष को ज्ञानी जान लो, ऐसे महापुरुष को दूसरे साधनों के चिन्तन की

तीक्ष्णे विचारवैराग्ये चित्ते यस्य निरन्तरे।
स पण्डितः किमेतस्य साधनान्तरचिन्तनैः[१]।।१६।। (६८७)
वर्धते मूलसेकेन मूलशोषेण शुष्यति।
भस्मसात्क्रियते वह्निज्वालयेति तरुस्थितिः।।१७।। (६८८)
वर्धते मनसः सेकैर्मनःशोषेण शुष्यति।
भस्मसात्क्रियते बोधज्वालयेति भवस्थितिः।।१८।। (६८९)

ननु अन्यसाधनानामभावे केवलविचारवैराग्ययोर्मोक्षसाधकत्वासामर्थ्येन सामान्यत्वमस्त्वित्याशङ्क्य तयोः प्रधानत्वं दर्शयति **तीक्ष्णे इति**। हे शिष्य **यस्य** पुरुषस्य, **चित्ते** अन्तःकरणे, **तीक्ष्णे** दृढे अज्ञानभेदने समर्थे इत्यर्थः, **विचारवैराग्ये** विचारो विवेको वैराग्यं च ब्रह्मलोकान्तविषये तृणवत्तुच्छत्वबुद्धिः ते उभे निरन्तरे सर्वदा वर्त्तमाने भवतः, **स** पुरुषः, **पण्डितो** ज्ञानी ज्ञेय, एतस्योक्तलक्षणस्य ज्ञानिनः **साधनान्तरकल्पनैः** साधनान्तराणि अन्यसाधनानि तेषां कल्पनैः सङ्कल्पैः किं फलं न किमपि तैः प्रयोजनं तस्येत्यर्थः।।१६।। (६८७)

ननु मुमुक्षूणां मोक्षस्यैवेष्टत्वात्तस्यात्यन्तिकं ज्ञानमेव साधनमतस्तेनैव कृतार्थतास्तु किमापातिकेन वैराग्येणेत्याशङ्क्य प्रपञ्चवृक्षस्य शुष्कताकरणेन वैराग्येण विना तदसम्भवात् केवलज्ञानेन प्रपञ्चवृक्षस्य दाह आयासबहुत्वमार्द्रकाष्ठदाह इवेति समाधत्ते द्वाभ्यां, तत्रादौ दृष्टान्तमाह **वर्धते इति**। यथा इति अध्याहार्यं **यथा** यद्वत्, **मूलसेकेन** मूलेषु यः सेकः सिच्यतेऽनेनेति सेको जलार्पणं तेन, वृक्षो वर्धते एधते स एव **मूलशोषेण** मूलानां जलार्पणाभावेन यः शोषः शुष्कता तेन, **शुष्यति** शुष्को भवति, ततश्च **वह्निज्वालया** वह्नेरग्नेर्ज्वाला कीला तया, **भस्मसात्** भस्मरूपः, **क्रियते** सम्पाद्यत इत्येवंप्रकारा, **तरुस्थितिः** तरोर्वृक्षस्य स्थितिर्गतिर्भवति।।१७।। (६८८)

मूलेति। तथा तद्वन् **मनसः** संसारवृक्षस्यापि मनोमूलं तस्य तत्कल्पितत्वात्तस्य, **सेकैः** विषयजलार्पणरूपैः सिञ्चनैः, प्रपञ्चवृक्षो **वर्धत** एधते, स एव **मनःशोषेण** मनसः प्रपञ्चमूलभूतस्य शोषो वैराग्येण शुष्कत्वं तेन, **शुष्यति** शुष्को भवति, ततो **बोधज्वालया** बोधस्य जीवब्रह्मैक्यज्ञानस्याहंब्रह्मास्मीत्याकारस्य ज्वालाऽर्चिस्तया, **भस्मसात्** भस्मरूपो बाधितत्वेन तुच्छरूप इत्यर्थः, **क्रियते** सम्पाद्यते, इत्येवंरूपा **भवस्थितिः** भवः संसारस्तस्य स्थितिः गतिः भवति, अतो ज्ञान इव मुमुक्षुभिः वैराग्येपि आदरो विधेय इति भावः।।१८।। (६८९)

क्या आश्वयकता है? तात्पर्य यह है किविवेक तथा वैराग्य सम्पूर्ण साधनों में प्रधान साधन होते हैं। इनके प्राप्त होने पर दूसरे साधन न होने पर भी ज्ञानरूपी महाफल हाथ आ ही जाता है।।१६।।

मूल को सींचने से बढ़ता है, मूल के सूखने पर सूख जाता है, फिर अग्नि की ज्वालाओं से राख हो जाता है यह तो वृक्षों की अवस्था है। इसी प्रकार मनरूपी मूल

---

[१] कल्पनैः इति पाठभेदः कल्प्यते टीकानुरोधात्।

परपारस्थितं हंसं द्विधेव प्रतिबिम्बितम्।
तथात्मानं विजानाति तटस्थः सत्त्यदर्शनः।।१६।। (६६०)

ननूपाधौ विद्यमानायां तत्र चित्प्रतिबिम्बः स्यात् तस्मिंश्च सति कथम् अद्वैतात्मस्वरूपसाक्षात्कारः स्यात् ज्ञानिनामित्याशङ्क्य सदृष्टान्तं तं सम्भावयति **परेति**। यथा यद्वत् स्वस्थानात् **परपारस्थितं** परमन्यद्यत्पारं तटं नदीतडागादेस्तत्र स्थितं वर्त्तमानं, **हंसं** हंसनामकं पक्षिणं, **प्रतिबिम्बितं** जलगत-प्रतिबिम्बेन सह वर्त्तमानं, **द्विधेव** द्विप्रकारेण प्रतीयमानमपि एकरूपं वेत्ति जानाति **तथा** तद्वत्, **सत्त्यदर्शनः** सत्यं सत्त्यात्मविषयं दर्शनं दृश्यतेनेनेति दर्शनं ज्ञानं यस्य स तथाविधोऽत एव **तटस्थः** तटेऽविद्यानद्यास्तीरे स्थितः सन्, ज्ञानी अन्तःकरणाद्युपाधौ प्रतिबिम्बितेन सह अनेकधाप्रतीत-मप्यात्मानं पारमार्थिकमेकरूपं **विजानाति** वेत्ति, अत उपाधौ सत्यपि तत्र च प्रतिबिम्बेन सहानेक-धाप्रतीयमानेप्यात्मनि एकत्वानुभवः सम्भाव्य इति भावः।।१६।। (६६०)

को (विषयरूपी जलों से) सींचें तो बढ़ता है, मन के सूख जाने पर सूख जाता है, उसके पश्चात् बोधज्वाला से राख (बाधित) हो जाता है, यही इस संसार की अवस्था होती है। मुमुक्षु लोगों को तो मोक्ष ही इष्ट होता है, उस मोक्ष का आत्यन्तिक साधन तो ज्ञान ही है, उसी से कृतार्थता का लाभ हो जायगा, इस मध्यपाती वैराग्य से क्या होगा? इसका उत्तर इन श्लोकों में यह दिया गया है किप्रपंचरूपी वृक्ष को सुखाने वाले वैराग्य के बिना कोई भी कृतार्थ नहीं हो सकता। यदि इस गीले प्रपंचवृक्ष को केवल ज्ञानरूपी आग से जलाने का उद्योग किया जायगा, तो गीले काठ को जलाने में जिस प्रकार अधिक प्रयास होता है, इसी प्रकार इस गीले प्रपंचवृक्ष को भी बोधाग्नि से जलाने में साधक को बड़ा प्रयास उठाना पड़ेगा। इसलिये मुमुक्षु साधक पहले वैराग्य से इस प्रपंचरूपी वृक्ष को सुखा लें, तब ज्ञानाग्नि में उसको झोंक दें। अभिप्राय यही है कि मुमुक्षुओं को ज्ञान के समान ही वैराग्य का भी पूरा-पूरा विचार करना चाहिये।।१७-१८।।

जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् पुरुष नदी के दूसरे किनारे पर बैठे हुए हंस को, जल में (प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण) दो-सा प्रतीत होने पर भी, एक ही जानता रहता है, इसी प्रकार अविद्यारूपी नदी के किनारे पर बैठा हुआ वह सत्यात्मदर्शी विद्वान् (अन्तःकरण आदि उपाधियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण ही) अनेक-सा प्रतीत होने पर भी उस आत्मा को परमार्थ में एकरूप ही जाने रहता है।

जब कि द्वैत की प्रतीति की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान होती है, तब भी ज्ञानी लोगों को अद्वैतात्मस्वरूप का साक्षात्कार हो ही जाता है।।१६।।

भुने हुए बीज से जिस प्रकार अंकुररूपी कार्य उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार कैसे

चित्रमल्पेन कालेन बोधभर्जितचेतसः।
भर्जितस्येव बीजस्य कार्यसाधकता गता।।२०।। (६६१)

ननु ज्ञानिनि प्रतिबिम्बनिमित्तभूतान्तःकरणस्य विद्यमानत्वे पूर्ववत्संसारित्वापादनेन बन्धकं स्यादित्याशङ्क्याह **चित्रम् इति**। **बोधभर्जितचेतसो** बोधेन ज्ञानेन भर्जितं दग्धं यच्चेतोऽन्तःकरणं तस्य, **अल्पेन** अचिरेण, **कालेन** समयेन, **कार्यसाधकता** कार्यस्य संसारकल्पनारूपस्य कर्त्तव्यस्य साधकता कारणता, **गता** नष्टा, इदं **चित्रं** आश्चर्यं यावान्कालो मनसः संसारकारणत्वसम्पादनेऽपेक्षितस्तावान्न बोधस्य तन्नाशेऽपेक्षित इत्येवमाश्चर्यं ज्ञेयं, तत्र दृष्टान्तो **भर्जितस्येति**। यथा **भर्जितस्य** अग्निपक्वस्य बीजस्य चणकादिबीजस्याऽङ्कुरजननादिरूपकार्यसाधकत्वं नश्यति तद्वद्। अयमाशयःभर्जितचणकादेः भक्षणाद्युपयोगेन क्षुन्निवारणादि किंचित्कार्यसाधकत्वेपि अङ्कुरादिजननकार्यसाधकत्वाभाव इव मनसोपि ज्ञानभर्जितस्य प्रारब्धभोगसाधकत्वेपि संसारबन्धनरूपकार्यसाधकत्वाभावः तथा मनसः संसारसङ्कल्पने यावान्कालोऽपेक्ष्यते तावान्कालो बोधेन तन्नाशे नापेक्ष्यते यथा चणकादेरकुङ्रादिजनने यावान्कालोऽपेक्ष्यते तावान्कालोऽग्निना तद्दाहे नापेक्ष्यते तद्वदित्याश्चर्यमिति।।२०।। (६६१)

ननु तर्हि अन्तःकरणादीनामत्यन्तलयेन केवलं ब्रह्मसुखानुभव एव संपाद्यः किमन्तःकरणेन चक्षुरादिनिःसृतेन जगद्विषयास्वादे प्रवृत्त्येत्याशङ्क्याह **पङ्गव इति**। हे शिष्य **दृगाद्याः** दृग् दृष्टिः आद्या प्रथमा येषां श्रोत्रादीनां ताः सर्वा वृत्तयः, पङ्गवः पादहीनाः, **कृता एव** संपादिता एव, निश्चेतव्या भवता **यत्** यस्मात्कारणात्, **न चलन्ति** स्वविषयेषु न सरन्ति अतस्तासां पङ्गुत्वं

आश्चर्य की बात है कि बोध से भुने हुए चित्त की (संसारकल्पनारूपी) कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति थोड़े से ही काल में नष्ट हो गयी।

जितना लम्बा समय मन में संसार को बनवाने में लगता है, उतना समय उसको बोध से नष्ट करने में नहीं लगता, यही एक आश्चर्य की बात है। जैसे कि अग्नि में भुने हुए चने आदि के बीज की अंकुरजनन-शक्ति थोड़े से ही काल में नष्ट हो जाती है, उसी तरह ज्ञानाग्नि में भुने हुए चित्त की भी शक्ति थोड़े ही काल में नष्ट हो जाती है। भुने हुए चने आदि खाने के काम में आकर क्षुधानिवारणरूपी थोड़ा-सा काम तो यद्यपि कर सकते हैं परन्तु अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति उन भुने हुए चनों में नहीं रहती। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध हुआ मन प्रारब्ध भोगों को तो सिद्ध कर देता है, परन्तु फिर उससे संसारबन्धरूपी कार्य नहीं हो पाता। एक तात्पर्य यह भी निकलता है कि मन से संसार की रचना करने में जितना समय लग जाता है उतना समय बोधाग्नि से उसका नाश करने में नहीं लगता। जिस प्रकार चने आदि से अंकुर उत्पन्न होने में जितना समय लग जाता है उतना समय अग्नि से उस चने को भूनने में नहीं लगता। बस यही एक आश्चर्य की बात है।।२०।।

पङ्गवस्तु कृता एव दृगाद्या न चलन्ति यत्।
अन्धानपि करिष्यामि न पश्यन्ति यथा जगत्।।२१।। (६६२)
जानातु वा न जानातु ब्रह्म जीवस्य जीवनम्।
जानाति चेत्परो लाभो न जानाति भयं महत्।।२२।। (६६३)

संपादितमिति भावः, अत ऊर्ध्वं तान् दृगादिपदार्थान् च **अन्धानपि** चक्षुर्हीनानपि, **करिष्यामि** संपादयिष्यामि, **यथा** येनान्धत्वसंपादनेन, **जगत्** विश्वं, **न पश्यन्ति** नावलोकयन्ति।।२१।। (६६२)

ननु ब्रह्मणि ज्ञातेऽज्ञाते वा जीवस्य ब्रह्मसत्तयैव जीवनं, तथा सति ज्ञाने कोऽतिशयस्तत्राह **जानातु इति। अयं** जीवो, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **जानातु** वेत्तु, **वा** अथवा, **न जानातु** न वेत्तु, तथापि उभयपक्षेपि तद् ब्रह्म **जीवस्य** अधिष्ठानसहितबुद्धिस्थचिदाभासस्य, सत्ताप्रदत्वेन **जीवनं** जीवनकारणभूतमस्त्येवैतत्सत्यमेव। तर्हि ज्ञाने कोतिशयस्तत्राह **जानातीति**। अयं जीवस्तद् ब्रह्म **जानाति** वेत्ति, **चेत्** यदि, तर्हि **परः** श्रेष्ठो मोक्षरूपो, **लाभः** प्राप्तिरस्तीति ज्ञेया, स एव तत् **न जानाति** न वेत्ति, **चेत्** यदि तर्हि **महत्** मृत्युरूपं, **भयं** भीतिः भवेदयं ज्ञाने विशेष इति भावः।।२२।। (६६३)

ननु ब्रह्मणि को विषेशो येन तज्ज्ञानेन तल्लाभः संपाद्यः किं तु कामधेनूपासनया तत्साक्षात्कारेण ईप्सितकामलाभात् तदेव सम्पाद्यमित्याशङ्क्य ब्रह्मणि ततो विशेषं दर्शयति **ब्रह्मधेनोः इति। भोक्तैव** जीव एव सर्वविषयभोक्तृत्वेन प्रसिद्धः स, **तद्दुग्धपानात्** तस्या ब्रह्मधेनोर्दुग्धं दुग्ध्धवत्तृप्तिहेतुत्वात्सुखमत्र दुग्धपदेन ग्राह्यं दुह्यते तृप्तिरनेनेति व्युत्पत्या दुग्धं सुखं तस्य पानात्

हे शिष्य इन चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों को मैंने लंगड़ा तो कर ही डाला है (क्योंकि अब ये अपने-अपने विषयों की तरफ को तो नहीं चलती हैं) अब तो मैं शनैः शनैः इनको अन्धा भी कर डालूँगा जिससे कि इस जगत् को ये फिर कभी देखें भी नहीं।

मुझे अभी तक अपनी इन्द्रियों से जगत् का भान तो होता है, परन्तु अब मेरी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की तरफ़ को नहीं चलती हैं यही उनका लंगड़ापन है। अब तो मेरी इच्छा है कि मैं इन इन्द्रियों को अन्धा भी कर डालूँजिससे ये इस जगत् को देखना भी बन्द कर दें। तात्पर्य यह है कि मैं इतने गहरे आत्मचिन्तन में डूब जाना चाहता हूँ कि मुझे संसार का भान भी बन्द हो जाय।।२१।।

यह जीव उस ब्रह्म को जाने या न जाने दोनों ही अवस्थाओं में वह ब्रह्म (अपनी सत्ता देकर) इसके जीवन का कारण हो रहा है। यदि यह जीव उसे जानता है तो उसको (मोक्षरूपी) महालाभ हो जाता है। यदि तो उस ब्रह्म को नहीं जानता तो फिर (जन्ममृत्युरूपी) महाभय को प्राप्त होता है (जिस प्रकार घर में गड़े हुए निधि को यदि कोई जानता है तब तो उसको धनी होने का महालाभ हो जाता है। परन्तु यदि वह उसको नहीं जानता तो दरिद्रतारूपी महाभय उ़सको घेरे ही रहता है)।।२२।।

ब्रह्मधेनोः स्वभावोऽयं देवधेनोर्विलक्षणः।
भोक्तैव तद्दुग्धपानात्सद्यस्तद्रूपतां व्रजेत्।।२३।। (६६४)
यदि योगे कृता बुद्धिः सप्तमीं गच्छ भूमिकाम् ।
मग्नश्चेद् गच्छ पातालमिति नीतिविदां वचः।।२४।। (६६५)

आस्वादनात्, **सद्यः** तत्कालमेव, **तद्रूपतां** ब्रह्मधेनुरूपत्व मेवेयात् प्राप्नुयादयमुक्तलक्षणो, **ब्रह्मधेनोः** ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु तदेव धिनोति प्रीणाति जगदिति धेनुः आनन्दरूपत्वेन जगदानन्दप्रदत्वात् तस्याः स्वभावः शीलमस्ति स, **देवधेनोः** देवान् इन्द्रादीन् धिनोति प्रीणातीति देवधेनुस्तस्याः स्वभावाद्, **विलक्षणो** विचित्रो; देवधेनोः स्वभावे तत्तत्कामपूरकत्वेपि न स्वरूपप्रापकत्वं, ब्रह्मधेनोस्तु तत्तत्सुखप्रापकत्वे सति स्वरूपप्रापकत्वं विशेष इति भावः।।२३।। (६६४)

इदानीं ब्रह्मण्येव स्थिरत्वसंपादनाय तत्साधनाभ्यासे प्रवृत्तये वृद्धसंमतिमाह **यदि इति**। हे मुमुक्षो **यदि** यर्हि, त्वया साधकेन बुद्धिः निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः, **कृता** योजिता, तर्हि **सप्तमीं** तुर्याभिधां भूमिकां भुवं स्थितिमित्यर्थः, **गच्छ** व्रज, ततस्तत्र यदि **मग्नो** लीनः **चेत्** यदि, तर्हि **पातो** नाश, **आलीनो** नष्टो, यत्र तत् तथोक्तं ब्रह्म **गच्छ** प्राप्नुहि, ली लय इति धातोराङ्पूर्वाद् 'अन्येभ्योपी'ति डष्टेर्लोपश्च, इत्येवं **नीतिविदां** नीतिं न्यायं विदन्ति ते नीतिविदस्तेषां वेदान्तिनामित्यर्थः, **वचो** वाक्यं अतः अस्य प्रामाण्यं मत्त्वा अभ्यास आदरो विधेय इति भावः।।२४।। (६६५)

हमारी इस ब्रह्मधेनु का स्वभाव देवों की कामधेनु से अत्यन्त विलक्षण होता है। क्योंकि इस ब्रह्मधेनु के दुग्ध को पीकर पीने वाला तत्क्षण ही ब्रह्मरूप हो जाता है। देवताओं की धेनु उन-उन कामनाओं को तो पूरा कर देती है परन्तु किसी को भी अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं करा सकती। परन्तु यह ब्रह्मधेनु जीवों को उनकी इच्छानुसार अनेक प्रकार के सुखों को देकर, अन्त में अच्छे अधिकारियों को अपने स्वरूप की प्राप्ति भी करा देती है। इसी अद्भुत विलक्षणता को देख कर साधकों को ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाना चाहिये।।२३।।

यदि योग में बुद्धि को लगाया है तो (अपने चित्त को भागवत बनाकर) सीधे सप्तमी भूमिका (किंवा तुर्यावस्था) तक ही पहुँचकर विश्राम लो। योग जैसे पवित्र मार्ग में प्रवेश करने पर बीच में रुक जाना बड़े ही मन्दभाग्यों का फल होता है)। नीतिज्ञ लोग कहते हैं कि यदि (मोती निकालने के लिये) समुद्र में डुबकी लगानी है तो फिर सीधे पाताल (किंवा समुद्र के पैंदे) तक ही पहुँचकर दम लेना चाहिये, बीच में से लौट कर न आना चाहिये। अन्यथा मोती का मिलना असम्भव हो जायगा।

तात्पर्य यह है कि बड़ी श्रद्धा से अपने अभ्यास को निरन्तर चलाना चाहिये। अभ्यास में विच्छेद होने देना ठीक नहीं होता। जब मुमुक्षु लोग अभ्यास में प्रमाद करते हैं तो माया अर्थात् संसार के विचार बढ़ने लगते हैं।।२४।।

मध्याह्नभास्करं द्रष्टुं साक्षाद्यदि तु न क्षमम्।
पटव्यवहितं पश्येज्जले वा प्रतिबिम्बितम्।।२५।। (६६६)
तथा चिन्मात्रचण्डांशुं निर्विकल्पं न चेत्क्षमः।
सर्वव्यापितया पश्येदन्तर्यामितयाऽथवा।।२६।। (६६७)

ननु केवलचिन्मात्राकारवृत्तौ सम्पादितायां मोक्षः स्यादित्युक्तं तत्सत्यं; तदशक्तौ किं कर्त्तव्यं मुमुक्षुभिरित्याशङ्क्योपायान्तरं तस्य सदृष्टान्तमाह **मध्याह्नभास्करमिति। मध्याह्नभास्करं** दिने मध्यभागगतं सूर्यं, **साक्षात्** चक्षुषेक्षितुं, **द्रष्टुं यदि** यर्हि, **न क्षमं** न शक्यं, तर्हि सूर्यसाक्षाद्दर्शनेच्छावता पुरुषेण किं कर्त्तव्यं तदाह **पटेति**। तदा मध्याह्नसूर्यं **पटव्यवहितं** पटेन सूक्ष्मवस्त्रेण व्यवहितं अन्तर्हितं यथा तथा, **पश्येद्** अवलोकयेद्, **वा** अथवा, **जल** उदके, **प्रतिबिम्बितं** आभासितं पश्येद् अवलोकयेत् ततश्च दृष्टेः स्थिरतायां सत्यां साक्षाद् द्रष्टुं समर्थोपि भवेदिति भावः।।२५।। (६६६)

दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह **तथा इति**। मुमुक्षुरपि तथा तद्वत्, **चिन्मात्रचण्डांशुं** चैतन्यस्वरूपचण्डांशुं तीक्ष्णांशुं सूर्यमित्यर्थः, **निर्विकल्पं** निर्गता निवृत्ता विकल्पा देहनामजात्यायुः कल्पना विपरीतकल्पना यस्मात् तथाभूतं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मानं साक्षादहमिति प्रत्यक्षं द्रष्टुं अवलोकयितुं, **क्षमः** समर्थो, **न चेत्** न भवेत्, यदि तर्हि, तदा **सर्वव्यापितया** सर्वस्मिन्द्वैतजाते व्यापितया व्यापनस्वभावेन लक्षितमात्मानं, **पश्येद्** अवलोकयेत् चिन्तयेदित्यर्थः, **अथवा** तत्राप्यसामर्थ्ये सति, **अन्तर्यामितया** सर्वेषु भूतेषु भौतिकपदार्थेषु अन्तर्यमयति प्रेरयति भूतानीति अन्तर्यामी तस्य भावस्तत्ता तया, लक्षितमात्मानं **पश्येद्** अवलोकयेत्, ततश्चान्तःकरणशुद्धिः यथा यथा भवेत् तथा तथा आत्मसाक्षात्कारोपि स्यादिति भावः।।२६।। (६६७)

ननु सर्वव्यापिधारणायामन्तर्यामिधारणायां वाऽभ्यस्यमानायां सत्यामपि आत्मसाक्षात्कारस्तत्फलं भवेन्न वेत्यत्र को निश्चयः, किं च तन्निश्चयेपि कियत्कालं साभ्यसनीयेत्याशङ्क्य तन्निश्चयाय

मध्याह्न के सूर्य को यदि साक्षात् न देखा जा सकता हो तो (सूर्यदर्शनार्थी को उचित है कि) उस मध्याह्न के सूर्य को या तो कपड़े से व्यवहित करके देख ले, अथवा जल में प्रतिबिम्बित को देखे। (ऐसा करने पर जब दृष्टि स्थिर हो जाय तब साक्षात् भी देखा जा सकता है)।।२५।।

सूर्यदर्शनार्थी के समान ही मुमुक्षु को भी उचित है कि यदि निर्विकल्प चैतन्यसूर्य को वह प्रत्यक्ष न देख सकता हो तो सर्वत्र व्याप्त होने वाले स्वभाव के द्वारा उस आत्मा का चिन्तन किया करे। यदि सर्वव्यापी रूप से भी चिन्तन न कर सकता हो तो सब भूतों के प्रेरक अन्तर्यामिरूप के द्वारा उस आत्मा का चिन्तन किया करे। ऐसा करते-करते जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध होता जायगा तैसे-तैसे निर्विकल्प आत्मा का साक्षात्कार भी उसे होने लगेगा। तात्पर्य यह है कि मोक्ष को देने वाली केवल चिन्मात्राकारवृत्ति यदि किसी से न हो सकती हो तो वह पहले सर्वव्यापी किंवा अन्तर्यामिस्वरूप में आत्मा का चिन्तन किया करे।।२६।।

लक्षं शराः प्रयोक्तव्याः सूक्ष्मे लक्ष्येऽपि धन्विना ।
कदाचिद्दैवसंयोगादेकोपि तु लगिष्यति ।।२७।। (६६८)
सदैव चेतसो वृत्तिर्ध्यानाभ्यासे विधीयताम् ।
कदाचित्कृपया शम्भोरखण्डाकारता भवेत् ।।२८।। (६६९)

तदभ्यासविधिं च दर्शयितुं दृष्टान्तमाह **लक्षम् इति। धन्विना** धनुष्मता पुरुषेण, **सूक्ष्मेपि** दृगगोचरेपि, **लक्ष्ये** वेधार्थे लक्षिते कस्मिंश्चित्पदार्थे, **लक्षं** लक्षशः, **शराः** सायकाः, **प्रयोक्तव्याः** प्रयोजनीयाः, तथा कृते सति किं स्यात्तदाह **कदाचिदिति। दैवसंयोगाद्** लक्ष्यबाणयोः संयोगजनकं कर्म यदा पुष्टं सत् तत्संयोगफलोन्मुखं जातं तदत्र दैवपदेन ग्राह्यं तेन दैवेन यः संयोगो बाणलक्ष्ययोः सम्बन्धो जायमानः तस्मात् निमित्ताद्, **एकोपि तु** एक एवापि, **लगिष्यति** लक्ष्ये संयुक्तो भविष्यतीति संभावनीयम्, अपि संभावनार्थः।।२७।। (६६८)

दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह **सदैव इति**। मुमुक्षुणा पुरुषेण **चेतसः** अन्तःकरणस्य, **वृत्तिः** चिदाभाससहिता निश्चयात्मिका बुद्ध्यपरपर्याया, **सदैव** निरन्तरमेव, **ध्यानाभ्यासे** ध्यानमात्मविजातीयप्रत्ययानन्तरितात्मसजातीयविषयवृत्तिप्रवाह इति लक्षणलक्षितं तस्याभ्यासः पुनः पुनरावृत्तिरूपस्तस्मिन्, **विधीयतां** योज्यतां, तथा कृते किं स्यात्तदाह **कदाचिदिति। कदाचित्** कस्मिन्नपि काले, ध्यानाभ्यासेन प्रसादितस्य **शंभोः** शं सुखं भवति जीवेऽस्मादिति शम्भुः प्रत्यगात्मा तस्य, कृपया दयया विवेकोत्पादनरूपया, **अखण्डाकारता** अखण्डं भेदरहितं यद् ब्रह्म तस्याकारः सच्चिदानन्दरूपस्तस्य, सत्ता तत्ता ब्रह्मरूपतेत्यर्थः, **भवेत्** स्याद् अतो निश्चयेन ध्यानाभ्यासो विधेय इति भावः।।२८।। (६६९)

यदि किसी धनुर्धारी को किसी सूक्ष्म अदृश्य लक्ष्य का बेध करना हो तो उसे उस लक्ष्य की तरफ को लगातार लाखों बाण फेंकते रहना चाहिये। कभी दैवसंयोग से उनमें से कम से कम एक बाण तो लक्ष्य में जाकर लगेगा ही। इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष को उचित है किचित्त की बुद्धिनामक वृत्ति को सदा ही ध्यान (आत्मविषयक वृत्तियों का ऐसा प्रवाह कि उसमें आत्मविजातीय कोई भी विचार उत्पन्न न हो) के अभ्यास (बार-बार आवृत्ति) में लगाये रहे। लगातार ऐसा करते रहने पर यह होगा कि ध्यानाभ्यास से प्रसन्न हुए आत्मदेव की (विवेकोत्पादनरूपी) कृपा से वह वृत्ति कभी तो अखण्डाकारता (सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपता) को प्राप्त हो ही जायेगी।

इसलिये बड़े अध्यवसाय के साथ ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये। यह शंका कभी भी न करनी चाहिये कि सर्वव्यापी अथवा अन्तर्यामिरूप की धारणा से अभ्यास करने पर आत्मसाक्षात्काररूपी फल हाथ लगेगा या नहीं? 'कितने काल तक हमें ऐसा अभ्यास करते रहना चाहिये' इस शंका का भी समाधान उक्त श्लोक से ही हो जाता है किवृत्ति के अखण्डाकार होने तक यह अभ्यास करना चाहिये।।२७-२८।।

ब्रह्मणोपि ब्राह्मणः श्रेयानित्याह द्वाभ्याम्

लीलासिन्धोः कियदिव हरेः षोडशस्त्रीसहस्रं
निःसंख्याता विविधरुचिना येन भुक्ताः स्त्रियस्ताः।
तादृङ्नीतः स पुनरनया भामया वश्यभावं
सम्यग्भुक्तो यदुपतिरतः सत्यभामैव धन्या।।२६।। (१०००)

ननु ध्याने कृतेऽकृते वा ब्रह्मणि तत्कृतातिशयाभावाज्जीवेपि तस्मिन्नुभये सति पारमार्थिकब्रह्मरूपत्वस्य सिद्धान्तितत्वाच्च किं तदाकारवृत्त्युत्पादनायासेनेत्याशङ्क्य, तदभावे मुक्त्यभावं प्रतिपादयितुं ब्रह्माकारवृत्तिसम्पादने च प्रवर्त्तयितुं ब्रह्मणि तद्विदः सकाशान् न्यूनत्वदर्शनायोत्तरश्लोकद्वयं; तत्र च पूर्वश्लोकस्यान्यार्थत्वप्रतीतेः प्रकृतार्थत्वं दर्शयितुं स्वयमेवाह **ब्रह्मणोपि इति। ब्रह्मणोपि** ब्रह्मभावादपि, **ब्राह्मणो** ब्रह्मवेत्ता, **श्रेयान्** अतिश्रेष्ठ, इत्येवम् **आह**कथयति, **द्वाभ्यां** न तु पूर्वश्लोकस्यैवान्यार्थो वेदितव्य इति भावः। तदेव श्लोकद्वयमुदाहृत्य दर्शयति

लीलासिन्धोः इति। हे शिष्य **लीलासिन्धोः** लीलानां क्रीडानां जलस्थानीयानां सिन्धुरिव सिन्धुराधारभूतस्तस्य, **हरेः** भक्तदुःखहरणशीलस्य श्रीकृष्णस्य, **षोडशस्त्रीसहस्रं** षोडशसंख्याकं स्त्रीणां युवतीनां सहस्रं सहस्राणि, जातावेकवचनं भागवतादौ वर्णितं श्रुत्वा आश्चर्यं करोषि तत्षोडशस्त्रीसहस्रं **कियदिव** कियत्प्रमाणमिव अतिस्वल्पमेव तदित्यर्थः। कुत इत्यत आह **निःसंख्याता इति**। **विविधरुचिना** विविधाऽनेकप्रकारा रुचिः प्रीतिर्यस्य स तथोक्तस्तेन तथाभूतेन, **येन** हरिणा श्रीकृष्णेन, ता उक्ताः, **स्त्रियो** वनिता, **निःसंख्याता** निर्गता निवृत्ता संख्या गणना याभ्यस्तास्तथोक्ता, **भुक्ता** अभ्यवहृताः क्रीडिता इत्यर्थः, पालिताश्च, भुजधातोः पालनाभ्यवहारार्थान्निष्ठा, तस्मिन् श्रीकृष्णे षोडशस्त्रीसहस्रभोग एव नाश्चर्यकारणमिति भावः, तत्र विवाहेनाङ्गीकृतानां स्त्रीणामेवाष्टाधिकशतोत्तरषोडशसहस्रसंख्याकत्वेपि गोपकन्यानां विवाहितानामविवाहितानां चापरिमितानां रासक्रीडायां श्रीकृष्णेन भुक्तत्वादनन्तत्त्वं श्रीकृष्णभुक्तस्त्रीणां ज्ञेयं, **स** श्रीकृष्णः, **तादृग्** उक्तगुणसंपन्नो, **यदुपतिः** यदूनां यदुकुलोत्पन्नानां पतिः पालकः, श्रीकृष्णो**ऽनया** तादृशश्रीकृष्णवशीकरणगुणेन प्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्षया प्रख्यातयेत्यर्थः, **भामया** सत्यभामानाम्न्या स्त्रिया, **वश्यभावं** स्ववशत्वं, **नीतः** प्रापितः, **च** पुनः, **सम्यग् भुक्त** आतृप्ति भुक्तः, क्रीडितोऽतो हेतोः **सत्यभामैव** सत्यभामानाम्नी स्त्र्येवोक्तानन्तश्रीकृष्णवनितानां मध्ये तद्वशीभूताच्छ्रीकृष्णादपि **धन्या** कृतार्थाऽतिश्रेष्ठेति यावदिति लोकप्रसिद्धार्थः।

प्रकृतार्थस्तु **लीलासिन्धोः** लीलानां जीवन्मुक्तव्यवहाराणां अनायासेन कृतत्वात् ता एव लीलापदेन अत्र ग्राह्यास्तासां लीलानां जलस्थानीयानां नित्यमुक्तात्मब्रह्मैवाश्रयत्वात् सिन्धुरिव समुद्र इव तस्य हरेः सर्वद्वैतहरणशीलस्यात्मनो ब्रह्माभिन्नस्य लोकदृष्ट्या कस्मिंश्चित्समये कस्मिंश्चिज्ज्ञानिनि अन्तःकरणावच्छिन्नत्वेन प्रतीतस्य षोडशस्त्रीसहस्रं 'षोडशकलः सोम्यपुरुष' इति श्रुत्या कलानां षोडशत्वप्रतिपादनात् ता एवात्र षोडशसङ्ख्या ग्राह्यास्तासां च वाङ्मात्रत्वात्परस्पराश्रयाश्रयित्वं विना स्थित्यभावप्रसिद्ध्या च समूहरूपत्वाच्च स्त्रीति नाम, स्त्यै ष्ट्यै धातोः शब्दसंघातार्थस्येदं स्त्यायतेड्रिडिति

इटि डकारटकारयोर्लोपे च डिति टेर्लोपे च ततो ङीषि च स्त्रीशब्दनिष्पत्तेः; सर्वनाम्नां च वाचारम्भणश्रुत्या वाङ्मात्रत्वप्रतिपादनाद् अनुभूयमानपरस्पराश्रयस्य षोडशवृत्तिषु प्रसिद्धेश्च षोडशकलानां स्त्रीशब्देन प्रतिपादने तासां च प्रत्येकमनन्तविषयाकारवत्तयाऽनन्तरूपत्वात्सहस्रत्वं तत्षोडशस्त्रीसहस्रं भोग्यं **कियदिव** कियत्परिमाणमिव, अत्यल्पमेव तदिति येन भुक्तेन बन्धनं तस्य ज्ञानिनो कथं नेत्याश्चर्यं तव जायते तन्न कर्त्तव्यमिति भावः, कुत इत्यत आह **निःसङ्ख्याता इति**। विविधा अनेकप्रकारा रुचयः प्रीतयो यस्य स तथोक्तस्तेन येन ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मना योगिप्रत्यक्षेन समष्ट्यहङ्कार-सम्बद्धसर्वजगत्साक्षिरूपेण ब्रह्मणा हिरण्यगर्भोपासकदृष्ट्या हिरण्यगर्भरूपेण ता उक्तलक्षणा व्यष्टि-लिङ्गशरीरेषु षोडशसमूहरूपाः प्रत्येकं ताश्च सहस्रं सहस्रं परिणतास्ताः समष्टिलिङ्गशरीरे **निःसंख्याताः** निर्गतसङ्ख्याका अनन्ता इत्यर्थः, **स्त्रिय** उक्तलक्षणवत्त्वात् त्रिपुट्योऽत्र ग्राह्या **भुक्ताः** भोग्यत्वेनानुभूता इति यावत्। तैजसहिरण्यगर्भयोरुपाध्यभेदेनाभेदात् कूटस्थब्रह्मणोरप्यभेदात् कूटस्थब्रह्मणस्तैजस-हिरण्यगर्भस्य च अभेदात् तदभिप्रायेणेदमुक्तं ज्ञेयं, **स** उक्त**स्तादृक्** तादृशानन्तत्रिपुटीलक्षण-भोग्यवस्तुसम्बद्धोपि **उपतिः** उकारवाच्यस्य समष्टिव्यष्टिलिङ्गशरीरसहित-तैजसाभिन्नहिरण्यगर्भस्य सत्ताभानप्रदत्वेन पालकः त्वंपदलक्ष्यार्थकूटस्थचैतन्याभिन्नस्तत्पदलक्ष्यार्थो ब्रह्मचैतन्यं **सोऽनया** सर्ववेदान्तेषु प्रसिद्धत्वेन ज्ञानिप्रत्यक्षया 'दृश्यते त्वग्ग्रयया बुद्ध्ये'त्यादिश्रुतेः **भामया** प्रत्यगभिन्नस्वप्रकाशं ब्रह्म भापदेनात्र ग्राह्यं तन्माति अज्ञाननिवृत्तिमात्रफलकत्वेन व्याप्नोति इति भामाऽहंब्रह्मास्मीति प्रमारूपा वृत्तिस्तया **वश्यभावं** वशमनुकूलत्वमर्हतीति वश्यस्तस्य भावस्तत्ता तं नीतः प्रापितो यदानुभवेच्छा तदानुभवविषयत्वेन दृश्यते तथा सम्पादित इत्यर्थः, च पुनः **सम्यग**सम्भावना-विपरीतभावनारहितं यथा भवति तथा **भुक्तः** अनुभूतो **यद्** यतो हेतोरतो हेतोरनन्तत्रिपुटीलक्षणस्त्रीषु मध्ये ब्रह्मणः सामान्यरूपेण प्रत्यक्षरूपेण विद्यमानत्वादपि ब्रह्मतोपि सत्यभामैव सत्त्या कालत्रयाबाध्या या भा चितिः तां माति व्याप्नोति इति सत्यभामा अहंब्रह्मास्मीति प्रमारूपा वृत्तिरेव केवलं धन्या कृतार्थरूपा श्रेष्ठेत्यर्थः, ब्रह्मतोपि ब्रह्माकारवृत्तेः श्रैष्ठ्यप्रतिपादनेन तद्वतो ब्राह्मणस्यात्र श्रैष्ठ्यं दर्शितमिति भावः।।२६।। (१०००)

ब्रह्म की अपेक्षा ब्रह्मवेत्ता अतिश्रेष्ठ होता है यह अगले दो श्लोकों में कहा गया हैयदि यह शंका की जाय किध्यान करने अथवा न करने पर दोनों ही अवस्थाओं में ब्रह्म में ध्यान से कुछ भी विशेषता नहीं आतीये दोनों अवस्थायें जीव में रह सकती हैं, परन्तु वह भी तो पारमार्थिक ब्रह्मरूप ही होता है। इसलिये ब्रह्माकार वृत्तियों के उत्पादन के बखेड़े में क्यों पड़ा जाय? तो इस शंका का उत्तर यह है कि ब्रह्माकार वृत्ति किये बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, इसलिये ब्रह्माकारवृत्ति करनी ही चाहिये। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी की अपेक्षा ब्रह्म की प्रतिष्ठा कम मानी जाती है। यही बात दिखाने के लिये अगले दो श्लोक हैं।

जिस विविधरुचि श्रीकृष्ण ने अनगिनत स्त्रियाँ भोगी हैं, लीला (रूपी जल) के समुद्र, उस हरि के लिये सोलह हज़ार स्त्रियाँ होती ही कितनी हैं! वैसे (स्वतन्त्रविहारी) भी उस

वर्त्तते ब्रह्म सर्वत्र ब्राह्मणो लभ्यते क्वचित्।
समर्घाद् ब्रह्मणस्तस्मान्महर्घो ब्राह्मणो भवेत्।।३०।। (१००१)

इदानीं स्पष्टमेव तदाह **वर्त्तते इति। ब्रह्म** देशाद्यनवच्छिन्नं वस्तु, **सर्वत्र** समस्तजगद्गतपदार्थेषु सर्वजाग्रदाद्यवस्थासु चानुस्यूतं, **वर्त्तते** अस्ति, **ब्राह्मणस्तु** ब्रह्मवेत्ता च, **क्वचित्** कस्मिंश्चित्काले कस्मिंश्चिद्देशे वा विरल इत्यर्थः, **लभ्यते** प्राप्यते, **तस्मात्** ततः कारणात्, **समर्घात्** सर्वत्र सामान्यरूपेण विद्यमानतया समर्घ बहु तस्माद्, **ब्रह्मणः** प्रत्यगभिन्नपरमात्मनः सकाशाद्, **ब्राह्मणो** ब्रह्मवेत्ता, **महर्घो** बहुयत्नमूल्यलभ्यो, **भवेत्** स्यादतो मुमुक्षुभिः ब्रह्माकारवृत्तिसम्पादनेन ब्राह्मणत्वं साध्यमिति भावः।।३०।। (१००१)

यदुपति को इस सत्यभामा ने अपने वश में कर लिया और भले प्रकार उसे भोगा, इस कारण से सत्यभामा उन शेष सब स्त्रियों से (तथा अपने वश में आये हुए श्रीकृष्ण से) भी अधिक धन्य हो गई है।

प्रकृतजीवों की अनेक प्रकार की लीलाओं के समुद्र, सकल द्वैत को हरने वाले, हरि नामक आत्मदेव के लिये सोलह हज़ार वृत्तिरूपी स्त्रियाँ कितनी होती हैं? क्योंकि समष्टि अहंकार से सम्बद्ध होकर सकल जगत् के साक्षी बने हुए इस ब्रह्म ने तो त्रिपुटीरूपी अनन्त स्त्रियों को भोगा है (व्यष्टि लिंगशरीरों में जो वृत्तियाँ सोलह हजार हों समष्टि लिंगशरीर में वे सब मिलकर अनन्त हो ही जाती हैं) अनन्त त्रिपुटीरूपी भोग्य पदार्थों से सम्बद्ध ऐसे स्वच्छन्दचारी 'उपति' (तत्पद के लक्ष्यार्थ ब्रह्मचैतन्य) को भामा नाम की ब्रह्माकार वृत्ति ने अपने वश में कर लिया है (अर्थात् इस भामा ने उस ब्रह्म को ऐसा सधा लिया है कि उसको जब कभी ब्रह्मानुभव की इच्छा होती है वह ब्रह्म उसी क्षण इसके अनुभव में आ जाता है) उसने असंभावना और विपरीत भावना से विहीन उस ब्रह्म का यथेष्ट भोग भी किया है। यही कारण है कि उन अनन्त त्रिपुटीरूपी स्त्रियों के बीच में सामान्य तथा प्रत्यक्षरूप से विद्यमान रहने वाले भी उस अविशेषज्ञ ब्रह्म से तो यह हमारी सत्यभामा (ब्रह्मविषयक प्रमारूपी वृत्ति) ही धन्य है (कृतार्थ है, श्रेष्ठ होती है)।।२९।।

वह ब्रह्म तो सभी जगह है अर्थात् वह जगत् के समस्त पदार्थों तथा जाग्रदादि सकल अवस्थाओं में अनुस्यूत हो रहा है परन्तु ब्रह्म को जानने वाला महात्मा तो कहीं (किसी पुण्यस्थान तथा किसी अतिपवित्र समय में) ही मिलता है। (इसलिये सर्वत्र सामान्यरूप से विद्यमान समर्घ ब्रह्म की अपेक्षा से ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही महर्घ [बहुमूल्य] होता है अर्थात् बड़े यत्नरूपी मूल्य से हाथ लगता है। इसलिये मुमुक्षुओं को उचित है कि ब्रह्माकारवृत्ति करके ब्रह्मदर्शी ब्राह्मण बनें)।।३०।।

परसङ्गसुखासक्तं योगिनां योषितामिव।
विहाय लोकसिद्धान्तं रमते स्वमते मनः।।३१।। (१००२)

ननु तर्हि ब्रह्माकारा वृत्तिः कथं सम्पाद्येत्याशङ्क्य लोकेषणादित्यागं विना सा केवलश्रवणादियत्नेनैव न लभ्यते इत्याशयेन स्वेष्टवस्तुनि योगिमनोरमणं सदृष्टान्तमाह **परसङ्गसुखासक्तम् इति। योषितामिव** यथा योषितां व्यभिचारिणीनां स्त्रीणां, **परसङ्गसुखासक्तं** परेणान्यपुरुषेण सह यः सङ्गः संयोगो मैथुनमित्यर्थः, तज्जन्यं यत्सुखं तस्मिन्नासक्तं रतं सन्मनोऽन्तःकरणं, **लोकसिद्धान्तं** लोकेषु लौकिकशास्त्रेषु च यः सिद्धान्तो निर्णयस्तं व्यभिचारादिनिषेधरूपमित्यर्थः, **विहाय** परित्यज्य, **स्वमते** स्वस्या मतमिष्टं यत्परसङ्गसुखं तस्मिन्नेव, **रमते** क्रीडति, तद्वद्योगिनां ज्ञानिनां मनोन्तःकरणं **परसङ्गसुखासक्तं** परः कार्यकारणातीतः परमात्मा तेन सह यः सङ्गः संयोगस्तादात्म्यमित्यर्थः, तज्जन्यं यत्सुखं शर्म तस्मिन्नासक्तं रतं सन्, **लोकसिद्धान्तं** लोकानां तत्तच्छास्त्राणां च यः सिद्धान्तो निर्णयो देहाद्यात्मबुद्ध्या वर्णाश्रमाद्याचारस्यावश्यकर्त्तव्यरूपस्तं, **विहाय** परित्यज्य, **स्वमते** स्वस्यात्मनो मते इष्टे ब्रह्मसुख एव, **रमते** क्रीडति, एवमेव सर्वलोकधर्मान् परित्यज्य त्वया स्वमते ब्रह्मसुख एव रतिः कार्या तेन च ब्रह्माकारा वृत्तिर्भवेदिति भावः। अत्र भगवद्वचनं

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति।।

श्रुतिश्च 'लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चे'त्यादिः, 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुरि'ति च।।३१।। (१००२)

ननु सर्वलौकिकधर्मेभ्योपि व्यावर्त्तितस्य मनसो ब्रह्माकारता भवेन्नवेति सन्देहमालक्ष्य तन्दूरीकरोति सदृष्टान्तम् **तोय इति**। हे शिष्य यथा इति अध्याहार्यं यद्वत् **तोयरन्ध्रनिरोधेन** तोयस्य जलस्य यानि रन्ध्राणि च्छिद्राणि कर्कटादिभिर्निर्मितानि तद्द्वारा जलनिर्गमेन सरोवरस्यापूर्णत्वं भवेदिति प्रसिद्धं तेषामेव निरोधेन अवरोधेन कृतेन जलस्य तत्रैव स्थिरतया, **पूर्णं** भरितं, **सरोवरं** सरो, **भाति** शोभते, तथा इति अध्याहार्यं तद्वद् **वृत्तिरन्ध्रनिरोधेन** वृत्तयः कामादय इन्द्रियाणि च ता

ज्ञानी लोगों का मन, परमात्मा के साथ एकता होने पर मिलने वाले सुख में फंसा हुआ होने के कारण, लोकों के (''वर्णाश्रमादि धर्मों का आचरण अवश्य करना चाहिये'' इत्यादि) निर्णय को छोड़कर अपने अभिमत ब्रह्मसुख में ही इस प्रकार क्रीडा किया करता है जिस प्रकार कि दुराचारिणी स्त्रियों का मन अन्य पुरुषों के संगसुख में फंसकर, लोक के सदाचार के सिद्धान्त को छोड़कर, अपने इष्ट परसंग सुख में ही लगा रहता हो। तात्पर्य यह है कि सब लौकिक धर्मों को छोड़कर तुमको अपने अभिमत ब्रह्मसुख में ही रति करनी चाहिये। ऐसा करने पर ही ब्रह्माकार वृत्ति हो सकती है। यदि तो तुम एषणाओं का त्याग नहीं करोगे तो श्रवणादि में प्रयत्न करने पर भी ब्रह्माकार वृत्ति हाथ नहीं लगेगी।।३१।।

तोयरन्ध्रनिरोधेन भाति पूर्णं सरोवरम्।
वृत्तिरन्ध्रनिरोधेन पूर्णो बोधः किमद्भुतम्।।३२।। (१००३)

एव रन्ध्राणि अन्तःकरणावच्छिन्नज्ञानस्य तत्तद्विषयं प्रति गन्तुं द्वाराणि तेषां निरोधेन अवरोधेन कृतेन, **बोधो** ज्ञानं, **पूर्णो** परिपूर्णो, **भाति** शोभते, अत्रास्मिन्नर्थे **किमद्भुतं** कुत आश्चर्यं तव? नात्र सन्देहः कार्य इति भावः।।३२।। (१००३)

जिस प्रकार जल के छिद्रों को रोक देने से तालाब पूर्ण होकर शोभा देने लगता है इसी प्रकार वृत्तिरूपी द्वारों को रोक देने से यह बोध भी पूर्ण हो जाता है। इसमें आश्चर्य ही क्या है।

हे शिष्य! जो सरोवर छिद्रों के द्वारा पानी निकलते रहने से अपूर्ण तथा शोभारहित हो रहा हो, वह जिस प्रकार उन छिद्रों को बन्द कर देने पर पूरा-पूरा भर कर शोभा देने लगता है, इसी प्रकार इन कामक्रोधादि वृत्तियों तथा इन्द्रियरूपी छिद्रों के द्वारा प्रतिक्षण व्यय होते रहने से सदा ही अपूर्ण रहने वाला यह ज्ञान भी कामक्रोधादि विकारों तथा इन्द्रियरूपी द्वारों को रोक देने से परिपूर्ण किंवा अखण्ड होकर शोभित होने लग पड़ता है, इसमें तुम्हें आश्चर्य ही क्यों होता है? इसलिये इस मन को सब लौकिक धर्मों से हटा लेने पर भी यह हमारा मन ब्रह्माकार हो सकेगा या नहीं, ऐसा सन्देह मत करो। तात्पर्य यह है कि तुम्हारे ज्ञानरूपी द्रव्य को ये कामादि विकार तथा ये चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रतिक्षण ही चुराती रहती हैं, किसी क्षण भी तुम्हें तुम्हारे बोध की पूर्णता का अनुभव नहीं होने देतीं। तुम्हें उचित है कि जब कभी तुम्हारे इस ज्ञानद्रव्य की चोरी होने लगे (अर्थात् ये इन्द्रियाँ किसी विषय को देखने के लिये उठें) तो इन्हें तुरन्त रोक दो। जब मन में कामादि विकार उत्पन्न हों तो उसे भी टोक दो कि हे मेरे मन तथा इन्द्रियों! तुमने अनादिकाल से लेकर मेरे इस ज्ञानद्रव्य को अपनी इच्छानुसार चुराया है, तथा इसका यथेष्ट दुरुपयोग भी किया है। परन्तु इस सबके बदले में मुझे कुछ भी फल हाथ नहीं आया है। मैं तो आज भी अनादिकाल जैसा ही दीन और दुःखी बना हुआ हूँ। अब मुझे आप दोनों के प्रयत्नों की सार्थकता पर विश्वास नहीं रह गया है। कृपया अब अपनी इस चोरी को बन्द कीजिये। अब तो मुझे अपनी पूर्णता का सुखद आस्वाद ले लेने दीजिये। मैं अब तक आप के सहारे से अपनी पूर्णता को प्राप्त करने का निष्फल उद्योग करता आया हूँ परन्तु अब मुझे यह निश्चय हो गया है कि आपके किये यह पूर्णता मेरे हाथ न आयेगी। इसके लिये तो मुझे केवल इतना भर करना पड़ेगा कि यह आपकी अनादिकाल की चोरी बन्द कर दी जाय, फिर तो मैं पूर्ण का पूर्ण ही शेष रह जाऊँगा।।३२।।

निर्मूला निष्कला शुष्का कदर्या भोगवासना।
तया तिरोहितः स्वामी तृणेनेव महागिरिः।।३३।। (१००४)

ननु सर्ववृत्तिनिरोधस्त्ववश्यं कर्त्तव्यश्चेत् स क्रियतां जगद्विषयवासनानां विद्यमानत्वे का हानिरित्याशङ्क्य तन्निवारणमन्तरेण सा न स्यादित्याशयेन तस्या निष्फलत्वनिरूपणपुरःसरं तद्दोषं दर्शयति **निर्मूला इति। निर्मूला** वासना विषयाणामसत्त्वान्मूलहीना, **निष्कला** निर्गता निवृत्ता कला सदंशो यस्याः सा तथोक्ता वास्तवसत्त्वरहितेत्यर्थः, **शुष्का** नीरसा सुखहीनेत्यर्थः, **कदर्या** शठा स्वस्वविषयात्यागेन[1] दुःखदेत्यर्थः, एतादृशी **भोगवासना** भुज्यन्ते इति भोगा विषयास्तेषां जगद्गतपदार्थानां वासनेच्छाऽस्ति, ननु तर्हि अस्तु सा तादृश्या भोगवासनया किंकर्त्तव्यमात्मनो येन तन्निवारणं सम्पाद्यमित्याशङ्क्याह **तयेति। तया** भोगवासनया, **स्वामी** तस्याः सत्ताप्रदत्वेन पालकः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **तिरोहित** आच्छादितोऽस्ति अतो न प्रकाशते। ननूक्तलक्षणवत्त्वेन तस्यास्तुच्छतायां सत्यां कथं ब्रह्मरूपस्यात्मन आच्छादकत्वं सम्भाव्यमित्याशङ्क्य तत्सम्भावयितुं दृष्टान्तमाह **तृणेनेति। तृणेनेव** यथा तृणं स्वयमतिसूक्ष्मत्वेन तुच्छमपि स्वतो बीजारोपेण तदुत्पन्नतृणसमूहरूपेण परिणतेन यवसेन, **महागिरिः** महानतिस्थूलोपि गिरिः पर्वत आच्छादितो भवति तद्वदित्यर्थः, अयं भावःपर्वतादुत्पन्नस्य तृणस्य स्वस्यानेकत्वरूपपरिणामेन स्वतः तुच्छे सत्यपि स्वकारणबृहत्पर्वताच्छादकत्वसिद्धिरिव वासनायाः स्वतस्तुच्छत्वेपि स्वकारणभूतब्रह्मात्माच्छादकत्वसिद्धिरनेकविषयाकारपरिणामेन सम्भाव्येति तन्नाशे यत्नः कार्य इति।।३३।। (१००४)

अपने ऊपर जमे हुए तिनकों ही की ओट में जिस प्रकार पहाड़ आ जाता है, इसी प्रकार निर्मूल, निष्कल, नीरस तथा दुष्ट भोगवासना ने ही हाय हाय! हमारे स्वामी आत्मदेव को छिपा रक्खा है।

सांसारिक भोगों की वासना (इच्छा) यद्यपि निर्मूल है (क्योंकि ये सब विषय ही जबकि असत् हैं तो इस वासना का वास्तविक मूल तो कुछ भी नहीं है) निष्फल है (क्योंकि उसमें सत्यभाग कुछ भी नहीं है) शुष्क है (क्योंकि यह वासना नीरस अथवा सुखहीन है) तथा कदर्य अथवा कमीन है (क्योंकि यह वासना अपने प्रेमी पुरुषों को ही दुःख देती है)। उसको हटाना इसलिये आवश्यक हो जाता है कि उस भोगवासना ने अपनी सत्ता देकर पालने वाले स्वयं अपने स्वामी आत्मदेव को ही छिपा डाला है। इसी कारण से वह स्वामी अब सब लोगों को दीख नहीं रहा है। यदि कहो कि इतनी तुच्छ वस्तु ने ब्रह्मरूप आत्मा को किस प्रकार आच्छादित कर लिया है तो सुनोः जिस प्रकार वर्षाकाल में उसी पर्वत से उत्पन्न हुए अति सूक्ष्म तुच्छ तृणों से, अत्यन्त स्थूल पर्वत भी ढक दिया जाता है, इसी प्रकार तुच्छ वासना ने आत्मदेव पर परदा डाल रक्खा है। यद्यपि यह वासना स्वभावतः अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है परन्तु यह अनेक

---

[1] स्वप्रेमिणमेव दुःखदत्वाच्छठेति रामावतारः।

न देशकालौ न वयो न युक्तिर्न विदग्धता।
यदैव वासनात्यागस्तत्र मुक्तिस्तदैव हि।।३४।। (१००५)

तमेव वासनात्यागं द्रढयितुं तं विना देशकालादीनां मुक्तिसाधनानां मुक्तावकिञ्चित्करत्वं दर्शयति **न इति**। हे शिष्य वासनात्यागाभावे सति **तव** ते, **देशो** विजनादिः, **कालश्च** प्रत्यूषादिर्ध्यानयोग्यौ, मुक्तिप्रापकौ भवत, एवमग्रेपि। तथा **वयो** अवस्थापि वार्धक्यादिः, **न** नैव मुक्तिप्रदं भवति, **न** नैव, **युक्तिः** योगोपि, मुक्तिदा स्याद् **विदग्धता** पाण्डित्यं न मुक्तिं साधयति। ननु तर्ह्येषामभावेपि केवलभोगवासनात्यागस्यापि तथात्वमस्तु? तत्राह **यदैवेति**। हे शिष्य पूर्वोक्तसाधनेष्वसत्सु सत्सु वा **यदैव** यस्मिन्नेव समये, **तव** भवतो, **वासनात्यागो** वासनानां भोगेच्छासंस्काराणां त्यागः प्रमोकः स्यात्, **तदैव** तत्रैव समये, तव इति आवर्त्तनीयं **मुक्तिः** मोक्ष, स्याद्भवेद् **हि** प्रसिद्धमेतद्वेदान्ते विद्वत्सु च वासनात्यागस्यैव मुक्तिप्रदत्वमित्यर्थः।।३४।। (१००५)

विषयाकार धारण करके अपने ही कारण ब्रह्मात्मा जैसे बड़े पदार्थ को भी ढक लेती है। तात्पर्य यह कि जब तक इन तुच्छ जगद्विषयक वासनाओं को सर्वात्मना नहीं हटाया जायगा तब तक सर्ववृत्तिनिरोध नहीं हो सकेगा और ज्ञान में पूर्णता कदापि न आयेगी। इसलिये उन वासनाओं को ही नष्ट करने का उद्योग साधकों को करना चाहिये।।३३।।

मुक्ति होने में देश, काल, अवस्था, युक्ति तथा पाण्डित्य ये कुछ भी उपयोगी नहीं होते। याद रक्खो! जब तुम्हारी वासनायें छूट जायेंगी उसी क्षण तुम्हारी मुक्ति हो जायेगी।

हे शिष्य! यदि तुम इन वासनाओं का पिण्ड न छोड़ोगे तो फिर चाहे जितने विजन देश में चले जाओ, चाहे नित्य ही उषाकाल में उठा करो, अभ्यास करते-करते चाहे जितने परमवृद्ध हो जाओ, चाहे जितनी युक्तियों चलाओ, चाहे जितने योगसाधन करो, तथा चाहे जितने बड़े पण्डित बन जाओ, इनसे भी मुक्ति जैसी पवित्र वस्तु तुम्हारे हाथ न आयेगी। परन्तु भोगवासनाओं के छोड़ने में ऐसी बात नहीं होती। ऊपर कहे साधनों में से कोई साधन हों या न हों, जिस क्षण तुम भोगेच्छा के सूक्ष्म संस्कारों को निकालकर फेंक दोगे उसी समय तुम्हारी मुक्ति हो जायगी। तात्पर्य यह है कि यद्यपि उत्तम देश तथा उत्तम काल आदि भी मुक्ति के साधन कहाते हैं परन्तु मुक्ति में इनका कोई विशेष उपयोग नहीं है। मुक्ति का सबसे प्रधान साधन तो वासनाओं का त्याग ही होता है।।३४।।

(हल से जोतने आदि से) खेत को तैयार कर लेने पर जबकि उसमें शुद्ध (कीड़े आदि से न खाया हुआ) बीज बो दिया जाता है तब यदि इन्द्र भगवान् बरस पड़े और

उपायैः शोधिते क्षेत्रे निर्मलं बीजमर्पितम्।
किं चित्रं धान्यसम्पत्तौ स देवो यदि वर्षति।।३५।। (१००६)

ननु कृतेप्यभ्यासे ज्ञानं स्यान्नवेत्याशङ्कां शिष्यस्यालक्ष्य सदृष्टान्तं तत्सम्भावयति तत्र दृष्टान्तपक्षेऽर्थस्तावद् **उपायैः इति**। **उपायैः** कर्षणाद्युपायैः, **क्षेत्रे** बीजावापस्थान भूमौ, **शोधिते** शुद्धे कृते सति, ततश्च तत्र **निर्मलं** शुद्धं **बीजं** कीटादिभिरदुष्टं **बीजं** चणकादि धान्यमर्पितमुप्तं **यदि च** यद्येव, **स** मेघाभिमानी, **देव** इन्द्रो, **वर्षति** वृष्टिं करोति, **तर्हि** तदा, **धान्यसम्पत्तौ** धान्यानां चणकादीनां धन्यानां सम्पत्तौ प्राप्तौ सत्यां, **किं चित्रं** आश्चर्यं कः सन्देहो वा। दार्ष्टान्तिकपक्षेप्यत्रैवार्थ ऊह्यः स यथा हे शिष्य **क्षेत्रे** अन्तःकरण, **उपायैः** उपायान्ति मोक्षसाधनभूते ज्ञानेऽनुकूला भवन्ति त उपाया वैराग्यादयस्तैः, कृत्वा **शोधिते** निर्मलीकृते सति तत्रैव **निर्मलं** शुद्धं मायातत्कार्यमलरहितं भेदरहितमित्यर्थः, **बीजं** समस्तजगत्कारणभूतं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म **अर्पितं** धारणया स्थिरीकृतं सद्, **यदि** तर्हि, **स देवः स** गुरुरूपो, **देव** ईश्वरो, महावाक्यार्थोपदेशेन वेदान्तार्थ- निरूपणरूपेण जलेन वर्षति ज्ञानामृतवृष्टिं करोति तर्हि तदा **धान्यसम्पत्तौ** धान्यं धन्यत्वं कृतकृत्यत्वमित्यर्थः, तस्य सम्पत्तौ प्राप्तौ सत्यां **किञ्चित्रं** किमाश्चर्यं कः सन्देहो वा न कोपीत्यर्थः।।३५।। (१००६)

ननु महावाक्यविचारेण ज्ञानं भवतीत्युक्तं तत्कीदृशमित्याशङ्क्य लोकप्रसिद्धज्ञानविलक्षणं तद्दर्शयति **कृतवाक्येति**। हे शिष्य **कृतवाक्यविचारस्य** कृत आवर्त्तितो वाक्यानां महावाक्यानां तत्त्वमसीत्यादीनां विचारो विवेको येन स तथोक्तस्तस्य अत एव **परमार्थं** महावाक्यविचारेण विविक्तं परमार्थं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म तदेव मोक्षरूपं **अभीप्सतः** सर्वभावेनेच्छतो विदुषो गरिष्ठं अतिस्थूलं, लोकप्रसिद्धं यत्पाण्डित्याद्यतिस्थूलं **ज्ञानं** ज्ञायन्ते विषयाः सर्वे अनेनेति ज्ञानं वेदनं, तद् **अज्ञानम्** अवेदनं भवति, यद्वा लोकप्रसिद्धं यज्ज्ञानं वेदनं, तद् **गरिष्ठं** श्रेष्ठं, **अज्ञानं**

कृषक को उसमें से धान्य प्राप्त हो जायें तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है।

प्रकृत तात्पर्य यह है किअन्तःकरणरूपी क्षेत्र को वैराग्य आदि उपायों से निर्मल कर लेने पर जबकि उसमें मायारूपी मल से रहित, सकल जगत् के कारण ब्रह्मरूपी बीज को अपनी धारणा से स्थिर कर लिया जाय, तब यदि (देशिक के रूप में महावाक्यों का उपदेश करने वाले) वह आत्मदेव (वेदान्तार्थ के निरूपणरूपी जल से) ज्ञानामृत की वर्षा कर दे और किसी भाग्यशाली अधिकारी को कृतकृत्यतारूपी धन्यता हाथ आ जाय, तो फिर इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? (तात्पर्य यह है कि उक्त रीति से अभ्यास करने पर भी हमें ज्ञान जैसी पवित्र तथा बहुमूल्य वस्तु हाथ लगेगी या नहीं? यह शंका किसी को भी न करनी चाहिये।)।।३५।।

अद्‌भुत प्रसंग देखो किवाक्य विचार किये हुए तथा मोक्षरूप परमार्थ को चाहने वाले की दृष्टि में यह (लौकिक पदार्थों का) ज्ञान तो घोर अज्ञान हो जाता है तथा

कृतवाक्यविचारस्य परमार्थमभीप्सतः।
ज्ञानं गरिष्ठमज्ञानमज्ञानं ज्ञानमुत्तमम्।।३६।। (१००७)
व्याख्यासि वेदान्तगिरो जयसि द्वैतवादिनः।
नान्तर्विशसि तन्मन्ये तत्रास्ति मरणं तव।।३७।। (१००८)

भवतीति व्याख्येयं, तथा लोकप्रसिद्धम**ज्ञानं** जगद्विषयकं ब्रह्मविषयकमपि अवेदनं यद् **उत्तमं** श्रेष्ठं, **ज्ञानं** ज्ञायते भास्यते प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपेण तत्स्वयंप्रकाशरूपब्रह्मभानमेव भवति। यद्वोद्गतं तमोऽज्ञानं यस्मात्तदुत्तममज्ञानहीनं शुद्धमित्यर्थः, ज्ञानं ज्ञायते प्रकाश्यते प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मानेनेति ज्ञानं वेदनं भवतीत्यर्थः, तत् तादृशं ज्ञानं मुमुक्षुभिः मोक्षाय सम्पाद्यमिति भावः।।३६।। (१००७)

ननु तादृशज्ञानाभावेपि मम वेदान्तव्याख्यातृत्वेनैव मोक्षो भवेदित्याशङ्क्य तद्व्याख्यानासक्त्यात्मन्यस्थिरत्वे सति वादिजयादौ प्रवृत्त्या मोक्षो न स्यात् प्रत्युत देहात्मभावरूपं मरणं द्वेषवृद्ध्या वा अरिकृतमारणादिप्रयोगेन लोकप्रसिद्धं देहविसर्जनरूपं वा मरणं भवेदित्याशयेनाह **व्याख्यासि इति**। हे शिष्य **त्वं** भवान्, **वेदान्तगिरो** वेदान्तानामुपनिषदां सूत्रभाष्यादीनां च वाक्यानि, **व्याख्यासि** व्याख्यानं कृत्वा निरूपयसि सत्यं; तद्व्याख्यानेन च **द्वैतवादिनः** अनेकस्वगतादिभेदभिन्नं जगद् ब्रह्मजीवयोर्भेदं च द्वैतं तद्वदितुं सत्यत्वेन प्रतिपादयितुं शीलं येषां ते, तथोक्ताः तान् **जयसि** पराभवसि, तदपि सत्यं; परन्तु **अन्तः** अन्तरात्मनि, **न विशसि** लीनो न भवसि, **तत्** ततो हेतोः, **तत्र** द्वैतवादिजयाय वेदान्तव्याख्याने, **तव** ते, **मरणं** देहात्मभावरूपा मृतिरथवा वादिकृतमारणादिप्रयोगेन प्रसिद्धं देहविसर्गरूपं मरणं, **अस्ति** विद्यते, इत्यहं **मन्ये** निश्चिनोमि आत्मानुसन्धानाभावे वेदान्तव्याख्यानस्य मरणमेव फलं न मोक्ष इति भावः।।३७।। (१००८)

अज्ञान (लौकिक पदार्थों का ज्ञान सर्वथा न रहना) ही उत्तम ज्ञान हो जाता है।

आत्मबोधक वाक्यों का विचार करने वाले, मोक्षरूप परमार्थ को ही सर्वभावेन चाहने वाले, विद्वान् की दृष्टि में कैसे अद्भुत परिवर्तन हो जाते हैं कि यह लोकप्रसिद्ध जगद्विषयक पदार्थों का पाण्डित्य नामक स्थूलज्ञान तो उसकी दृष्टि में 'अज्ञान' हो जाता है (अथवा, यह लोकप्रसिद्ध ज्ञान ही बड़ा भारी अज्ञान सिद्ध हो जाता है) तथा जबकि जगत् के पदार्थों अथवा ब्रह्म का ज्ञान होना भी बन्द हो जाय तो यही 'उत्तमज्ञान' बन जाता है। क्योंकि जब ज्ञानज्ञेयादि भेद बन्द हो जाते हैं और ज्ञानमात्र शेष रह जाता है तब वह स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही होता है। मुमुक्षुओं को उचित है कि वे मोक्ष के लिये उस अज्ञानरूपी ज्ञान का ही सम्पादन कर लें।।३६।।

तुम वेदान्त के वाक्यों का व्याख्यान करते हो, द्वैतवादियों को परास्त भी कर डालते हो, परन्तु यदि तुम स्वयं अन्दर प्रवेश नहीं कर पाये हो, किंवा आत्मा में लीन नहीं होने लगे हो, तो इन सब व्यापारों से तुम्हारा मरण ही होगा। क्योंकि आत्मविस्मरण अथवा देह को आत्मा मान लेना ही मृत्यु कहाती है।

मित्रेण कुशले पृष्टे पूर्वावस्थामनुस्मरन्।
इदानीं कुशलं जातमिति हृष्यति योगवित्।।३८।। (१००६)

अत एव पूर्वपूर्वकालादुत्तरोत्तरकाल आत्मनि स्थैर्याधिक्यं सम्पाद्यमित्याशयेनाह **मित्रेण इति**। हे शिष्य **योगवित्** योगो जीवब्रह्मैक्यं तद्वेत्ति जानातीति योगवित् जीवब्रह्मैक्यवेत्ता, **मित्रेण** हितोपदेशकर्त्रा, गुरुणा, **कुशले** क्षेमे, **पृष्टे** अनुयुक्ते सति, ततः **पूर्वावस्थां** किंचिद्ब्रह्मसुखानुभवरूपामवस्थां स्थितिम्, **अनुस्मरन्** अनुचिन्तयन् सन्, **इदानीं** पूर्वावस्थातो अस्मिन् क्षणे, **कुशलं** क्षेमं विशिष्टं, **जातम्** उत्पन्नं, इत्येवं कथयित्वा गुरुं प्रति स्वयं **हृष्यति** हर्षं प्राप्नोति, एवमेव त्वयापि उत्तरोत्तरक्षणे ब्रह्मसुखस्थैर्यमन्तःकरणे स्याद् यथा तथा अभ्यासः कर्त्तव्य इति भावः।।३८।। (१००६)

जब तक आत्मा को भूलकर देहाध्यास नहीं हो जाता तब तक वादिपराजय और वेदान्त कथा जैसे कामों को कौन कर सकता है! आत्मविस्मरण ही सबसे बड़ी मृत्यु होती है। लोकप्रसिद्ध मृत्यु तो एक शरीर को ही नष्ट किया करती है, परन्तु यह आत्मविस्मरण तो अनन्त मृत्युओं का कारण हो जाता है। यदि तुम आत्मा का साक्षात् दर्शन नहीं कर सकते हो तो इससे मरणरूपी फल ही तुम्हारे हाथ लगेगा। मोक्ष की प्राप्ति कदापि न हो सकेगी। 'इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापियन्ति'। अनेक अनर्थों से परिपूर्ण इस संसार में रहते हुए, अज्ञानरूपी दीर्घनिद्रा से जागकर, यदि इस आत्मतत्त्व को जान लिया गया, तब तो कृतकृत्य हो जायेंगे, यदि हमने इस आत्मतत्त्व को न जान पाया तो हम अज्ञानी कहलायेंगे और अनन्त जन्ममरणरूपी महाविपत्ति हमारे ऊपर अपना अधिकार जमा लेगी। वे बड़े भाग्यशाली हैं जोकि इस बड़ी बरबादी से छुटकारा पा गये हैं क्योंकि उन्होंने ब्रह्म को जान लिया है। अन्य भी जो लोग इसी प्रकार ब्रह्म को जान लेंगे वे भी अमृत हो जायेंगे। परन्तु दूसरे अज्ञानी लोग तो जन्ममरणादि कष्टों को प्राप्त होते ही रहेंगे। अज्ञानी लोग उससे कभी छूट ही नहीं सकेंगे। क्योंकि उन लोगों ने तो अपनी मूर्खता से इस दुःखरूप शरीरादि को ही अपना आत्मा समझ कर जन्ममरण को ही अपनाया है।।३७।।

योग को जानने वाले किसी नवज्ञानी से उसके किसी हित मित्र ने जब उसका क्षेम पूछा तो वह अपनी पूर्व अवस्था को याद करते हुए (जबकि अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण ब्रह्मसुख का थोड़ा-थोड़ा ही अनुभव होता था) ''उसकी अपेक्षा अब तो उत्तरोत्तर अधिक ही कुशल हो गया है'' यह कहकर मन ही मन मुदित होने लगा। (इसी प्रकार तुमको भी वैसा अभ्यास करना चाहिए कि जिससे उत्तरोत्तर वह ब्रह्मसुख तुम्हारे अन्तःकरण में स्थिर होता चला जाय।)।।३८।।

कर्मठः काञ्चनालिप्तशून्यताम्रघटोपमः।
विद्वांस्तु रत्नसम्पूर्णहिमकुम्भ इवोत्तमः।।३९।। (१०१०)
भूरुहत्वाविशेषेपि द्वयोरन्तरमीदृशम्।
इक्षुकाण्डसमो विद्वान्दण्डकाष्ठसमः पशुः।।४०।। (१०११)

ननु मोक्षसाधनभूतज्ञानाभ्यासस्यातीव प्रयत्नसाध्यत्वात् स्वल्पप्रयत्नसाध्यकर्मणैव परलोकसुखादि साध्यं किं ज्ञानप्रयासेनेत्याशङ्कां शिष्यस्यालक्ष्य गुरुः कर्मरुचिवारणेन ज्ञाने रुचिमुत्पादयितुं कर्मिणः सकाशाज्ज्ञानिनः श्रैष्ठ्यं दर्शयति द्वाभ्याम् **कर्मठ इति। कर्मठः** कर्मासक्तो बहिः शुचित्वदर्शनादन्तरज्ञानावृतत्वाच्च, **काञ्चनालिप्तशून्यताम्रघटोपमो** बहिः **काञ्चनेन** सुवर्णेन, **आलिप्त** ईषल्लिप्तोऽन्तश्च **शून्यो** रिक्तो, यस्ताम्रस्य **घटः** कुम्भः, स एव **उपमा** दृष्टान्तो यस्य स तथोक्तोऽस्ति, **तु** पुनः **विद्वान्** ज्ञानी, **रत्नसम्पूर्णहेमकुम्भ इव** यथा रत्नैः हीरकादिभिः सम्पूर्णः परिपूर्णो हेम्नः सुवर्णस्य कुम्भः कलशः तथा **उत्तमः** श्रेष्ठोऽन्तर्ब्रह्मसुखपूर्णत्वाद्बहिरपि मुमुक्षूणां ज्ञानप्रदत्वाच्चातः कर्मठाज्ज्ञानी श्रेष्ठ इति भावः।।३९।। (१०१०)

ननु देहत्रयव्यवहारे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूप उभयत्र समाने दृश्यमाने ज्ञान्यज्ञानिनोरन्तरं कथमवगन्तव्यं तच्च कीदृगित्याशङ्क्य सुखप्रदत्वदुःखप्रदत्वाभ्यामेवेत्याशयेन तदेव सदृष्टान्तमाह **भूरुहत्वेति।** हे शिष्य **भूरुहत्वाविशेषेपि** भुवः पृथ्व्या रुहन्ति उत्पद्यन्ते ते भूरुहा वृक्षास्तेषां भावो जातिस्तस्याऽविशेषोऽवैलक्षण्यं तस्मिन् सत्यपि, **द्वयोः** इक्षुदण्डकाष्ठयोः, **अन्तरं** भेद, **ईदृशं** एतादृशमस्ति, मिष्टरसदानेन तृप्तिकारकत्वं, ताडनेनान्येषां दुःखकारणत्वं चान्तरं यद्वल्लक्ष्यते तद्वद् भूरुहत्वाविशेषेपि भूर्भवत्यस्माज्जगदिति भूशब्दवाच्यं ब्रह्म तस्माद्रुहत उत्पन्नौ भवतस्तौ तथाभूतौ ज्ञान्यज्ञानिनौ, देहत्रयं वां ब्रह्मोत्पन्नं, तस्य तयोर्वा भावस्तत्त्वं तस्य देहसत्त्वस्योभयत्राविशेषेऽवैलक्षण्ये सत्यपि द्वयोः ज्ञान्यज्ञानिनोः अन्तरं भेदम् ईदृशमेतादृशमस्ति; कीदृशं तदित्यत आह **इक्ष्विति। विद्वान्** ज्ञानी, मुमुक्षूणां मुक्तिसुखदानेन नित्यतृप्तिकारकत्वात् **इक्षुकाण्डेन** इक्षुदण्डेन, **समः** तुल्योऽस्ति, **पशुः** अज्ञानी, **दण्डकाष्ठसमो** दण्डो यष्टिस्तत्काष्ठं तद्यथा दण्डपरिणामेन दुःखकारणं तेन समः उत्तरोत्तरं दुःखकारणत्वात्तुल्योऽस्ति विद्यत इदमन्तरं ज्ञान्यज्ञानिनोरिति भावः।।४०।। (१०११)

सोने का झोल फिरे हुए तांबे के खाली घड़े के समान, कर्मठ पुरुषों की स्थिति होती है (वे उस घड़े के समान ऊपर से ही शुद्ध दीखते हैं परन्तु अन्दर तो अज्ञान से परिपूर्ण [ज्ञान से खाली] होते हैं) ज्ञानी (पुरुषों की स्थिति इनके विपरीत होती है वे) तो हीरे आदि रत्नों से भरे हुए सोने के घड़े के समान (अन्दर बाहर सर्वात्मना) श्रेष्ठ होते हैं (क्योंकि वे अन्दर तो ब्रह्मसुख से परिपूर्ण होते हैं तथा बाहर मुमुक्षु लोगों को ज्ञान का दान करते रहते हैं)।।३९।।

गन्ना और डण्डा दोनों ही यद्यपि भूमि से उत्पन्न होते हैं परन्तु उनमें यह बड़ा अन्तर है कि विद्वान् पुरुष इक्षुदण्ड के समान होते हैं तथा अज्ञानी पुरुष डण्डे के

विशालदृष्टौ रमते न त्वन्यत्र पतिर्मम।
येन दृष्टिर्विशाला स्यात्स मन्त्रो मम दीयताम्।।४१।। (१०१२)

इदानीं ब्रह्माकारापरिच्छिन्नवृत्तौ ब्रह्माविर्भावस्य तत्र तत्र वेदान्ते प्रतिपादनान्मुमुक्षुभिस्तादृशवृत्तिप्राप्त्युपायो यत्नेन सम्पाद्य इत्याशयेन तमेवार्थमन्योक्त्या प्रतिपादयति **विशालदृष्टौ इति**। हे शिष्य काचित्स्त्री स्वमतं सिद्धं प्रत्याह हे सिद्ध! **मम** मे, **पतिः** भर्त्ता, **विशालदृष्टौ** विशाला बृहती दृष्टिर्नेत्रं यस्याः सा तथोक्ता तस्यां कस्यांचित्स्त्रियां, **रमते** रतिं करोति, **अन्यत्र** अदीर्घनेत्रासु, **न तु** नैव रमते क्रीडति, अतः कारणाद् **येन** मन्त्रेण उपलक्षणमेतदौषधादीनां, **दृष्टिः** नेत्रं, **विशाला** दीर्घा, **स्यात्** भवेत्, **स** तादृशो, **मन्त्रो** मन्त्रौषधादिः, **मम** मे, **दीयतां** समर्प्यतामेवं प्रार्थयति। अयमाशयःयथा स्वपत्युः विशालदृष्टौ रमणं निरूपितं तथा प्रकृतेर्थे **विशाला** अपरिच्छिन्ना दृष्टिः 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिरि' तिश्रुत्युक्ता ब्रह्माकाराऽहंब्रह्मास्मीति प्रमा वृत्तिरत्र ग्राह्या, तत्र **मम** बुद्ध्यवच्छिन्नचिदाभासस्य मे, **पतिः** सच्चिदानन्दार्पणेन पालकः प्रत्यगभिन्नः परमात्मात्र ग्राह्यो, **रमते** क्रीडति, **अन्यत्र** परिच्छिन्नवृत्तिषु नैव रमतेऽतो, **येन** मन्त्रेण प्रणवादिना तदुपलक्षितेन योगेन ज्ञानेन वा, **दृष्टिः** दृश्यते अनुभूयते ब्रह्म अनया इति दृष्टिः अहंब्रह्मास्मीति वृत्तिः, **विशाला** अपरिच्छिन्नब्रह्मरूपा, **स्याद्** भवेत्, **स** उक्तलक्षणो, **मन्त्रो** मन्त्रादिसाधनं, **मम** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्य, त्वच्छिष्यस्य हे गुरो **दीयतां** समर्प्यतामेवं प्रार्थना गुरोरग्रे नित्यं कर्त्तव्येति ध्वनितम्।।४१।। (१०१२)

समान माने गये हैं। (गन्ना लोगों को मिठास से तृप्त करता और डण्डा लोगों को पीटने के काम आता है।)

ज्ञानी पुरुष मुमुक्षु लोगों को मुक्तिरूपी सुख देकर नित्य तृप्त करते रहने से इक्षुदण्ड के समान होता है, अज्ञानी पुरुष तो लाठी की लकड़ी के समान होता हैउससे तो दूसरों को तथा स्वयं अपने आपको दुःख ही दुःख पहुँचता है। तीनों देहों के जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक व्यवहार यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी में समान ही दीखते हैं, परन्तु उनमें यह बड़ा अन्तर है कि एक तो जीवों को अमृतसुख का दान करता है, दूसरा तो दुःख ही देता रहता है।।४०।।

मेरा पति विशाल नेत्रों वाली से प्रसन्न होता है, छोटे नेत्र वाली से नहीं। जिस मन्त्र अथवा जिस औषध से मेरी दृष्टि विशाल हो जाय वह मन्त्र मुझे बताइये।

संसार की सब दृष्टियों में 'मैं ब्रह्म हूँ' यह सबसे बड़ी दृष्टि कहाती है। मुझ चिदाभास का परमात्मारूपी पति वैसी अत्यन्त विशाल दृष्टि वाले से ही प्रसन्न होता हैसाधक की ऐसी दृष्टि हो जाने पर ही दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया करता हैवह अपना सच्चिदानन्दरूप उस साधक को सौंप कर उसे कृतकृत्य कर देता है। वह तो

पूज्योऽयमिति विज्ञाय पूजितः स्वापितो गृहे।
न भुक्तो मूढया स्वामी कश्चित्पुरुष इत्ययम्।।४२।। (१०१३)

इदानीं गुरुं प्राप्यापि उक्तविधप्रार्थनाया अभावेन ज्ञानाप्राप्तौ सत्यां सामान्यबुद्ध्या कृतया गुरुसेवया निष्फलायुर्व्ययमात्रं फलं जायते ततश्च दुःखमेव फलं पर्यवस्यतीति सूचनायान्योक्त्याह गुरुः **पूज्योयमिति**। यथा कयाचित् **मूढया** स्वपतिज्ञानाभाववत्या स्त्रिया, **स्वामी** स्वपतिरेव, चिरकालाद्देशान्तरादागतोऽयं **कश्चित्पुरुषः** सामान्यः कोपि नरो**ऽयं** दृश्यमान इति निश्चित्य स्वपत्युः परदेशस्थत्वे प्रत्क्षत्वायोगात्तस्मिन् दृश्यमाने तदसम्भवं मत्त्वेति यावदतः स्वगृहागमनान्मया गृहस्थया **पूज्यः** पूजितुमर्चितुं योग्योऽस्तीति **विज्ञाय** निश्चित्य च, **पूजितः** अर्चितो भोजनार्पणादिना तर्पितः सन्, **गृहे** मन्दिरे, **स्वापितो** निद्रायितः, परन्तु **न भुक्तो** न रत्याऽङ्गीकृतोऽतस्तावान्कालस्तस्या व्यर्थमेव गतो यथा तथा प्रकृतेपि योजनीयं; तद्यथा **मूढया** अज्ञानिमुमुक्षुबुद्ध्याऽयं, **कश्चित्पुरुषोः अयं** मत्पुरोवर्त्ती दृश्यमानः पुरुष उद्यमवान्नरः कोपि अस्ति लोकवद् व्याप्रियमाणत्वाज्ज्ञानी न भवतीत्येवं मत्त्वा देहधारणवतो मम पूज्यः पूजितुमर्चितुं योग्योऽयं मत्पुरत आगत इति **विज्ञाय** निश्चित्य, **पूजितो** भोजनपादसंमर्दनादिनाऽर्चितः सेवित इत्यर्थः, गृहे स्वमन्दिरे, **स्वापितः** शायितः, परं तु अयं स्वामी ममात्मप्रदत्वेन पालको गुरुरस्तीत्येवं ज्ञात्वा **न भुक्तो** धातुनामनेकार्थत्वात् ज्ञानपरिप्रश्नेन न सम्वादित इत्यर्थः, अतः कृतसेवायाः पारलौकिकसुखादिफलसत्त्वेपि मुमुक्षोर्मोक्षस्यैवेष्टत्वात् तत्साधनभूतज्ञानप्राप्त्यभावेन निरर्थकत्वात् व्यर्थमायुर्व्यय एवेति भावः।।४२।। (१०१३)

किसी भी परिच्छिन्न दृष्टि से प्रसन्न नहीं होता। अर्थात् संसारविषयक उत्तम से उत्तम भावनायें भी आत्मदर्शन में विघ्नकारिणी होती हैं। इसलिये हे गुरो! जिस ओंकार आदि मन्त्र अथवा योगज्ञानादि साधन से मेरी दृष्टि इतनी विशाल हो जाये अर्थात् ब्रह्म के समान ही अपरिच्छिन्न (पूर्ण) हो जाये, (अपनी शरण में आये हुए) मुझको वही रहस्य आप बता दीजिये।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्माकार अपरिच्छिन्न वृत्ति में ही ब्रह्म का आविर्भाव होता है। मनुष्य को उचित है कि उस वृत्ति की प्राप्ति के लिये किसी ब्रह्मदर्शी गुरु के समीप जाकर उससे ही उसकी प्राप्ति का उपाय पूछे।।४१।।

जिस प्रकार किसी मूढ स्त्री ने (रात्रि के समय चिरकाल के पश्चात् देशान्तर से आये हुए) अपने ही स्वामी को कोई साधारण अन्य पुरुष समझ कर, सामान्यतया सत्करणीय अतिथि जानकर भोजनादि के द्वारा उसका सत्कार किया और उसे अपने घर में सुलाया भी, परन्तु उसका भोग नहीं किया।

इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष की मुमुक्षाबुद्धि ने किसी आत्मदर्शी महापुरुष को साधारण लौकिक पुरुष जानकर तथा पूजनीय समझकर भोजनादि के द्वारा उसका सत्कार आदि भी किया, उसे अपने घर में ठहराया भी, परन्तु यह मुझे आत्मज्ञान जैसी पवित्र वस्तु

भोगयोग्येन वेषेण व्यतीत्य शयने निशाम्।
प्रियस्य भोगमप्राप्य प्रातः क्रन्दति कामिनी।।४३।। (१०१४)

ननु समाधिसाधनेनैव मोक्षोऽस्तु किं ज्ञानेनेत्याशङ्क्य ज्ञानं विना संसारानिवृत्तेः समाध्युत्थाने पुनर्दुःखमेव स्यादित्याशयेन तमेवार्थमन्योक्त्याह **भोगयोग्येन इति। भोगयोग्येन** भुज्यतेऽनुभूयते साक्षात्प्रत्यगभिन्नः परमात्माऽनेनेति भोगो ज्ञानमपरोक्षं महावाक्यजन्यं जीवब्रह्मैक्यविषयं तस्मिन्योग्योऽनुकूलस्तेन, **वेषेण** बहिः संन्यासादिवेषेणान्तर्वैराग्यादिचिह्नेन, चोपलक्षिता सति मुमुक्षुबुद्धिः **शयने** शेते निन्द्राति, सर्वो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपः प्रपञ्चोऽस्मिन्निति शयनं तस्मिन् समस्तप्रपञ्चलयोपलक्षिते समाधौ **निशां** रात्रिं

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।'

इत्युक्तलक्षणां प्रपञ्चास्फुरणारूपां **व्यतीत्य** अतिक्रम्य, **प्रातः** समाधौ प्रपञ्चास्फुरणनिशान्ते प्रपञ्चस्फुरणलक्षणदिवसात् पूर्वकाले, **प्रातः** प्रत्यूषकालः, तस्मिन् **प्रियस्य** आत्मसाक्षात्कारवज्ज्ञानस्य आत्मसुखस्य वा, **भोगं** संयोगमनुभवं, वा **अप्राप्य** अलभ्य, **कामिनी** तदिच्छावती मुमुक्षुबुद्धिः, **क्रन्दति** रोदिति हा खेद एतावान्मम कालो व्यर्थमेव गत आत्मसाक्षात्कारेण विना इति आक्रोशतीति भावः।

लौकिकार्थे तावत् काचित्कामिनी स्वपुरुषभोगेच्छावती स्त्री **भोगयोग्येन** स्वपत्त्या सह यो भोगो रतिः तस्मिन् योग्योऽनुकूलस्तेन, **वेषेण** शृङ्गारेणोपलक्षिता सति केनचित् क्रोधादिना मानादिना वा प्रतिबन्धेनाऽवरुद्धा सति, **प्रियस्य** स्वेप्सितपत्त्यु**र्भोगं** रतिम**प्राप्या**लभ्य **शयने** पर्यङ्के, **निशां** रात्रिं, **व्यतीत्य** अतिक्रम्य, **प्रातः** प्रभाते, **क्रन्दति** रोदिति, हा व्यर्थं मानेन कलहादिना वा भोगकालोऽतिक्रान्तो मया अहो दौर्भाग्यविलसितं ममेदमतोहं हिताहितज्ञानशून्यत्वान्मूर्खेत्येव विलपतीति भावः।।४३।। (१०१४)

देने वाला स्वामी पालक किंवा गुरु ही है यह न पहचाना और उससे ज्ञान की चर्चा नहीं की। यद्यपि उसकी सेवा से उस सेवक को पारलौकिक सुख भले ही मिले परन्तु मुमुक्षु को तो मोक्ष ही इष्ट होता है। उस मोक्ष का साधन ज्ञान ही यदि प्राप्त न किया तो समझ लो कि उसने व्यर्थ ही अपनी आयु को व्यय कर डाला है।।४२।।

कोई कामिनी भोग के योग्य (अलंकृत) वेश धारण करके (पति के साथ क्रोध या मान आदि प्रतिबन्ध हो जाने के कारण) भोग को न पाकर (अकेले ही बिस्तरे पर रात बिताकर) प्रातःकाल हो जाने पर पश्चात्ताप करने लगती है।

इसी प्रकार आत्मदर्शन के अनुकूल संन्यासादि वेश तथा वैराग्यादि चिह्न धारण करने पर भी जब कोई मुमुक्षुबुद्धि समस्त प्रपंच को लीन कर लेने वाली मूढसमाधि में ही प्रपंच की अस्फूर्तिरूपी रात्रि को बिता देती है और जब उस अज्ञानयोगी की

चित्रपत्रे कृता नारी विचित्रा रूपसम्पदा।
दृश्यते तावदेवाहो यावन्नायाति सुन्दरी।।४४।। (१०१५)

ननु समाधिसुखस्यापि गीतायां 'यत्रोपरमते चित्तमि'त्यादिश्लोकैर्ब्रह्मसुखत्वप्रतिपादनात्तेनैव कृतार्थतास्तु किं ज्ञानजन्येन ब्रह्मसुखसाक्षात्कारेणेत्याशङ्क्यान्योक्त्या साक्षात्कारसुखात्मसमाधिसुखे कृत्रिमत्वेन न्यूनत्वं दर्शयति **चित्रपत्र इति। रूपसंपदा** रूपस्याकारस्य संपत् संपत्तिः शोभेत्यर्थः, तया **विचित्रा** अत्याश्चर्यरूपा, **नारी** स्त्री, **चित्रपत्रे** चित्राधारभूते पत्रे तदुपलक्षिते पटादौ वा, **कृता** लिखिता, सा चित्ररूपास्त्र्यहो शिष्य **तावदेव** तावत्कालमेव, **दृश्यते** अवलोक्यते कामिभिरिति शेषः, **तावत्** कियत्कालपर्यन्तमित्यत आह **यावदिति। यावद्** यत्कालपर्यन्तं, **सुन्दरी** कमनीयरूपा स्त्री, **नायाति** न प्राप्नोति, तावत्कालमेव सा प्रेमभावेनावलोक्यते तदुत्तरं नेति भावः। प्रकृतार्थे तु न रातीति नरो वैराग्यादिसाधनसंपन्नः पुरुषोधिकारीत्यर्थः, तस्येयं **नारी** मुमुक्षुबुद्धिः, **चित्रपत्रे** चित्रसदृशजगत्पदार्थानामाधारभूते ब्रह्मणि शबले पत्रस्थानीये **कृता** समर्पिता, सा समाधिस्थिता बुद्धिः **रूपसंपदा** रूपं यदद्वैतसुखाकृति तस्य संपत् प्राप्तिः तया विचित्रा अत्याश्चर्यभूतेत्येवं, **तावदेव** तावत्कालमेव, मुमुक्षुभिः **दृश्यते** अवलोक्यतेऽहो शिष्य तावद् इत्युक्ते कालेऽवधिमाह **यावदिति। सुन्दरी** कमनीयरूपा सुखरूपा ब्रह्म चितिरित्यर्थः, **यावद्** यावत्कालं, **नायाति** न प्राप्नोति न प्रत्यक्षा भवतीति यावत् तावदिति योज्यं, यद्वा चित्रमनेकविचित्रं जगत्तत्पाति रक्षतीति चित्रपोऽहङ्कारस्तं त्रायते स्वसत्त्वदानेनेति चित्रपत्रं शबलं ब्रह्म तस्मिन्नित्यर्थः।।४४।। (१०१५)

मूढसमाधि खुलती है और उसे यह ज्ञान होता है कि ओहो! मुझे तो आत्मसुख का भोग प्राप्त ही नहीं हुआ, मैं तो व्यर्थ ही इतने समय मूढसमाधि में पड़ा रहा तो उसे बड़ा खेद होता है किहाय! मेरा इतना समय आत्मसाक्षात् के बिना व्यर्थ ही चला गया है। (तात्पर्य यह है कि समाधि सिद्ध कर लेने से ही हमारा मोक्ष हो जायगा, ज्ञान की हमें क्या आवश्यकता है? ऐसा विचार ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान के बिना तो यह संसार कदापि निवृत्त नहीं होगा। अतः समाधि से उत्थान होने पर फिर भी दुःख की ही प्राप्ति होगी। इसलिये अज्ञानपूर्वक की हुई वैसी मूढसमाधि से कोई विशेष उपकार नहीं होता। केवल थोड़ी देर के लिये संसार का भान बन्द हो सकता है। संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति तो केवल ज्ञान से ही होती है।।४३।।

कामी लोग चित्रपट पर बनायी हुई तथा रूपशोभा के कारण विचित्र दीखने वाली स्त्री को तभी तक प्यार से देखते हैं, जब तक कि कोई सजीव सुन्दर स्त्री उन्हें नहीं मिलती। (उसके मिलने पर वे कामी लोग उस नारीचित्र को छोड़ देते हैं)।

इसी प्रकार सकल जगत् के आधार ब्रह्मरूपी चित्र पर बनायी हुई (वैराग्यादिसम्पन्न पुरुष की, मूढसमाधि में डूबी हुई) मुमुक्षुबुद्धिरूपी नारी चाहे (उस समय अद्वैतसुख

चिन्तामणिं कराद् भ्रष्टं मा शुचः प्राह मे गुरुः।
दिनैः कतिपयैरेव पुनरेव मिलिष्यति।।४५।। (१०१६)

इदानीं गुरुवाक्ये विश्वासकर्तव्यतां स्वस्येव मुमुक्षूणां विधत्ते **चिन्तामणिरिति**। हे शिष्य **मे** मम, **गुरुः** महावाक्योपदेष्टा, **चिन्तामणिं** ईप्सितफलदातृत्वेन चिन्तामणिरिव ज्ञानं तं, **करात्** करोति ध्यानादि तत्करमन्तःकरणं तस्माद्, **भ्रष्टं** नष्टं केनचिद्विषयरागेण प्रतिबन्धेनान्तर्हितमित्यर्थः, तन् **मा शुचः** शोकं मा कार्षीः, शोकेन तदुद्यमाभावे पुनस्तत्प्राप्तिर्न स्यादतस्तत् शोकत्यागेन पुनस्तदुद्योगे कृते सति चिन्तामणिर्ज्ञानं **कतिपयैः** कतिचित्सङ्ख्यैः, **दिनैः** दिवसैः स्वल्पैरेव दिवसैरित्यर्थः, एवं निश्चय एव नात्र सन्देहः कार्य इत्यर्थः, **पुनरेव** भूयोपि, **मिलिष्यति** प्राप्तो भविष्यतीत्यर्थः, इत्येवं **मे** मां, **प्राह** प्रोक्तवान्, मया च तद्वचनविश्वासेन पुनः तदुद्योगे कृते पुनस्तत्प्राप्तमिति गुरुवचनविश्वास एव सर्वविघ्ननिवृत्त्या परमफलप्रापकः सर्वत्रेति भावः।।४५।। (१०१६)

की प्राप्ति हो जाने के कारण सांसारिक बुद्धियों की अपेक्षा) विचित्र भी लगती हो, परन्तु हे शिष्य, मुमुक्षु लोग तो उसको तभी तक देखते हैं, अर्थात् वे मूढसमाधि को तभी तक पसन्द करते हैं, जब तक कि सुखरूप ब्रह्मचैतन्य के प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें नहीं मिल जाते। उसके प्रत्यक्ष हो जाने पर तो ज्ञानी लोग मूढसमाधि को छोड़ देते हैं। (आत्मसाक्षात्कार की अपेक्षा समाधिसुख कृत्रिम होने से न्यून होता है, इसलिये साधकों को आत्मसाक्षात्कारसुख के लिये ही उद्योग करना चाहिये)।।४४।।

मेरे हाथ में से जब चिन्तामणि गिर पड़ी थी तो मेरे गुरु ने कहा था कि शोक मत करो, वह तो कुछ दिनों में तुम्हें फिर मिल जायेगी।

मोक्षरूपी परमपुरुषार्थ को देने वाला चिन्तामणि के तुल्य ज्ञान यदि किसी प्रबल रागद्वेषादि प्रतिबन्ध के कारण भ्रष्ट (नष्टछिपा हुआ) हो जाय तो उसके विषय में शोक मत करो। (क्योंकि शोक करते हुए उसके लिए फिर उद्योग कैसे कर सकोगे? और फिर वह दुबारा प्राप्त ही किस प्रकार होगा?) शोक को त्याग कर उसके लिये फिर उद्योग करो! उद्योग करते ही कुछ ही दिनों में फिर भी वह ज्ञान प्राप्त हो ही जायगा। इसमें संशय मत करो! यह बात मेरे आचार्य ने एक बार मुझसे कही थी, उसके वचन पर विश्वास करके उद्योग करने पर मैंने फिर भी उस ज्ञान को प्राप्त कर लिया था। इस ज्ञानमार्ग में अपने आचार्य पर विश्वास रखने से सम्पूर्ण विघ्न निवृत्त हो जाते हैं और परमफल की प्राप्ति होती है। क्योंकि वे लोग इस मार्ग के पथिक रह चुकने के कारण इसकी सब ऊँचनीच अवस्थाओं को भले प्रकार जानते हैं।।४५।।

करोमि संशयं यावन्मुकुन्दमुखदर्शने।
आश्वासयति मां तावत्परमा देवता मनः।।४६।। (१०१७)
कन्दर्पकोटिलावण्यं सत्यमुक्तं जनार्दने।
कन्दर्पप्रमुखाः सर्वे तत्प्रकाशे पलायिताः।।४७।। (१०१८)

इदानीं गुरुवचनविश्वासोपि स्वचित्तनिश्चयेनैव स्यादिति तत्र निश्चयं संपादयितुं स्वस्य संशयग्रस्तत्वे क्वचिद्विवेकरूपं मन एव मत्संशयनिवारकं भवति अतो मनसि विवेक एव स्थापनीय इत्याशयेनाह **करोमि इति**। हे शिष्य अहं अज्ञानावस्थायां **मुकुन्दमुखदर्शने** मुकुन्दो मुक्तिप्रदो गुरुरात्मा च ब्रह्माभिन्नस्तस्य गुरोर्मुखं देहस्थं प्रत्यक्त्वमेव तन्मुखतो महावाक्यद्वारा प्राप्तेन 'चेतोमुख' इति श्रुतेः प्रत्यगभिन्नं ब्रह्माकारवृत्तिरूपं मुखं ग्राह्यम्, आत्मनश्च सैव ब्रह्माकारावृत्तिर्मुखपदेन ग्राह्या, तस्य दर्शनं अवलोकनं तस्मिन्, यावत्कालपर्यन्तं **संशयं** मम गुरुमुखाच्छ्रुतेन महावाक्यविचारेण आत्मब्रह्मसाक्षात्कारः स्यान्न वेत्येवं रूपं सन्देहं, **करोमि** संपादयामि, **तावत्** तत्कालमेव, विवेकसंस्कारवन्**मनो**ऽन्तःकरणं, **परमा** श्रेष्ठा, **देवता** देववदादृतं सत्प्रकाशबहुलमित्यर्थः, **मां** सन्दिह्यमानं, माम् **आश्वासयति** साम्ना बोधयति अतो विवेकेन मन एव संस्कार्यं पूजनीयं च तन्मुमुक्षुभिरिति भावः।।४६।। (१०१७)

ननु आत्मनि कंदर्पकोटिलावण्यं किमभिप्रायेण वर्णितं, तच्चासम्भाव्यं सौन्दर्यस्य साकारनिष्ठत्वात् निराकारे तु तदात्मनि अयुक्तमेवेत्याशङ्कां शिष्यस्य लक्षणैरालक्ष्य तत्सम्भावनेन तां निराकरोति **कन्दर्प इति**। हे शिष्य **जनार्दने** जनानां जन्मवतां जीवानामर्दने आत्मत्वेन तन्निवार्हकत्वाद् गतिरूपे, यत्पुराणादिषु **कन्दर्पकोटिलावण्यं** कन्दर्पाणां कामानां कोटयोऽपरिमिता मूर्त्तयस्तासां लावण्यं सौन्दर्यमुक्तं पुराणादिषु कथितं तत्सत्यं यथार्थमेव, कुत इत्यत आह **कन्दर्पप्रमुखेति**। **यत्प्रकाशे** यस्य सर्वगतिरूपस्यात्मनः प्रकाशे द्योतेऽन्तःकरण आविर्भूते सतीत्यर्थः, **सर्वे** समस्ताः, **कन्दर्पप्रमुखाः** कन्दर्पः कामः प्रमुख आद्यो येषां क्रोधादीनां ते, तथोक्तास्ते **पलायिताः**, पलाय क्वापि गता नष्टा इत्यर्थः अतः सत्यमुक्तमिति योज्यम्।।४७।। (१०१८)

जब कि मैं मुकुन्द के मुखदर्शन में संशय किया करता था तो इतने में मेरा परमदेवता मन मुझको आश्वासन दे देता था। जब मेरी अज्ञानावस्था थी और मैं आत्मदेव के ब्रह्माकार वृत्तिरूपी मुख के दीखने के विषय में संशय किया करता था कि गुरुमुख से सुने हुए महावाक्य के विचार से मुझे आत्मसाक्षात्कार होगा या नहीं! तो इतने ही में मेरा विवेकी मनरूपी परमदेवता मुझे आश्वासन दिया करता था कि तुम्हें आत्मसाक्षात्कार अवश्य होगा। इसलिये मुमुक्षुओं को उचित है कि विवेक के द्वारा अपने मन को संस्कृत करते रहें तथा उस संस्कारी मन की सम्मति के अनुकूल बर्ताव किया करें। मन में विवेक के जागृत रहने पर ही सकल संशयों की निवृत्ति हो सकती है। वही जागृत विवेक ज्ञानयोगी को सीधे मार्ग में डाल देता है।।४६।।

अश्रु मुक्तं वियोगिन्या राधया मेलनाशया।
तत्रैव मायया गुप्तः प्राप्तः प्रकटतां हरिः।।४८।। (१०१६)

इदानीं रजोविकारारागादित्यागं विना अविद्यावरणनिरासो न स्यात्तं विना चात्मसाक्षात्कारो न स्याद् इति इमं अर्थं अन्योक्त्या दर्शयति **अश्रिवति। वियोगिन्या** श्रीकृष्णस्य वियोगोऽस्ति यस्याः सा तथोक्ता, तया **राधया** राधानाम्न्या गोपिकया, **मेलनाशया** श्रीकृष्णस्य मेलनं योगः तस्याशयेच्छया करणभूतया, **अश्रु** नेत्राम्बु, **मुक्तं** विसृष्टं, यदा तदा इति अध्याहार्यं **यदा** यस्मिन्समये, **तदा** तस्मिन्नेव समये, पूर्वं **मायया** स्वान्तर्धानशक्त्या, **गुप्तः** अन्तर्हितः, **हरिः** स्वभक्तदुःखहरणशीलः श्रीकृष्णः, **तत्रैव** यत्र स्थानेन्तर्हितस्तस्मिन्नेव स्थाने, **प्रकटतां** आविर्भूततां, **प्राप्तो** यातः। अयं भावः यथा कामादिरजोवृत्तिभी राधायाः कृष्णावलोककरणं चक्षुः पिहितं तदेव कृष्णान्तर्धाने निमित्तं जातमन्यथा स्वयंप्रकाशरूपसर्वानुस्यूतश्रीकृष्णे न तत्सम्भवः, तथा मुमुक्षोरपि गुरुदर्शने मानादिभिर्गुरुदर्शनकरणभूतचक्षुषः पिहितत्वात् सामान्यमनुष्यदर्शनेन तद्गतगुरुत्वदर्शनासम्भवः अन्तःकरणस्य तु ब्रह्मसाक्षात्कारकरणभूतान्तःकरणवृत्तिचक्षुषो रागादिरजोवृत्तिभिरावृतत्वाद् ब्रह्मसाक्षात्कारासम्भव उभयत्र स्वयंप्रकाशत्वेन स्वत आवरणं न सम्भवति। किञ्च यदा राधया श्रीकृष्णदर्शनाशयाऽश्रुत्यागमिषेण मानादिकं रजःकार्यं विसृष्टं तदैव श्रीकृष्णदर्शनमपि तत्रैव जातं तथा मुमुक्षूणामपि प्रथमं मानादिरजोवृत्तित्यागे तत्रैव पूर्वदृष्टपुरुषे गुरुत्वदर्शनं जायते ततश्च तदुपदेशेनान्तःकरणस्य रागादिरजोवृत्तित्यागेन ब्रह्मसाक्षात्कारोपि सम्भावनीय इतीममर्थं सम्भावयितुं तादृशचरित्रवर्णनं भागवतादौ कृतमिति भावः।।४८।। (१०१६)

जो कि उस जनार्दन में करोड़ों कामों के समान मोहकता का पुराणादियों में वर्णन किया है वह यथार्थ ही है। तभी तो उस आत्मा का प्रकाश जब किसी अधिकारी के अन्तःकरण में प्रकाशित हो जाता है तो समस्त कामक्रोधादि भाग जाते हैं।।४७।।

वियोगिनी राधा ने कृष्ण के मिलने की इच्छा के प्रबल हो जाने पर जब आँसू टपकाने शुरू किये, तो इतने ही में अपनी अन्तर्धानशक्ति से वहीं छिपा हुआ हरि प्रकट हो गया।

कृष्ण को देखने वाली राधा की आँखें रजोगुण की कामादि वृत्तियों से ढकी हुई थीं। यही कारण था कि कृष्ण का अन्तर्धान हो रहा था। इसी प्रकार मुमुक्षु की भी आत्मदेव का दर्शन करानेवाली आँखें जब विद्यामद, कुलमद, जाति मद आदि प्रतिबन्धों से ढक जाती हैं और वह विद्याप्राप्ति के लिये गुरु के पास नहीं जाता, तो फिर उसको वह आत्मविद्या का आचार्यजिसमें कि शास्त्र के अनुसार परमात्मा के समान ही भक्ति होनी चाहिये थी, साधारण मनुष्य-सा दीखने लगता है। यों साधनाभाव हो जाने से आत्मा के दर्शन नहीं मिलते। उस सबका कारण उस अधिकारी की अपनी वैसी मनोवृत्ति ही होती है। क्योंकि सदा ही स्वयंप्रकाश होने से

सौरभ्याय भ्रमन्त्येके मधु काङ्क्षन्ति चापरे।
न भ्रमन्ति न काङ्क्षन्ति मधुमत्ता मधुव्रताः।।४६।। (१०२०)

इदानीं सर्वसाधनेभ्यः सोपासनकर्मादिभ्यो ज्ञानेन ब्रह्मसुखाकारस्य वृत्तिविशेषस्य श्रैष्ठ्यं दर्शयन्नन्योक्त्याह **सौरभ्याय इति। एके** कतिचित् **मधुव्रताः** स्वतो मधुकरणसामर्थ्यवन्तोपि, तद्विस्मृत्य केवलं **सौरभ्याय** पुष्पकेसरस्थसुगन्धप्राप्तये, **भ्रमन्ति** आकाशे भ्रमणमेव कुर्वन्ति, अपरे च भ्रमरा मधुपुष्पकेसरस्थं सुगन्धमनुभूय तत्र तृप्तिजननाभावं विनिश्चित्य तदनादरेण मधुनि तृप्तिजननेन सुगन्धतो विशिष्टतामालक्ष्य तन्मधुपुष्परसं **काङ्क्षन्ति** इच्छन्ति, किञ्च केचिच्च **मधुव्रताः** स्वतोऽन्यत्र मधु कर्तुं समर्थाः, **मधुमत्ता** मधु पुष्परसस्तेन तत्पानेन तृप्ताः सन्तो, **न भ्रमन्ति** न सुगन्धेच्छया भ्रमणं कुर्वन्ति, **न काङ्क्षन्ति** पुष्परसं नेच्छन्ति। अयमाशयःकर्मफलस्य स्वर्गादिविषयजन्यसुखस्य तृप्तिहेतुत्वाभावात् भूमसुखप्रतिबिम्बत्वाच्च वासनामात्रतया गन्धतुल्यता तदर्थं कर्माद्यनुष्ठानमत्र भ्रमणं ग्राह्यं तदन्यलौकिककर्मतः श्रेष्ठमपि; तत्ततोपि ब्रह्मसुखमनुभवितुं समाध्यन्तमुपासनं मध्विच्छापदेनात्र ग्राह्यं तच्च कर्माद्यनुष्ठानाद्वरं; ततोपि विचारेण महावाक्यानां साक्षाद्ब्रह्मसुखानुभवेन नित्यतृप्तिमन्तोऽत्र मधुमत्तभ्रमरपदेन सूचिता अत्र ग्राह्यास्तेषां च नित्यब्रह्मसुखप्राप्त्या मधुमत्तभ्रमराणां मधुनैराकाङ्क्ष्यमिति ब्रह्मसुखेप्यनिच्छत्वमत्र सूचितं, ते च पूर्वोक्तोभयेभ्योप्यतिश्रेष्ठाः अतः कर्माद्यनुष्ठानं; तत्फलं स्वर्गादिसुखम्, उपासनाद्यनुष्ठानं, तत्फलं मोक्षसुखं चानादृत्य ज्ञानमेव सम्पाद्यमिति भावः।।४६।। (१०२०)

ब्रह्म में तो आवरण हो ही नहीं सकता। परन्तु जैसे कि राधा ने अश्रुत्याग के द्वारा रजोगुण से उत्पन्न मान आदि को छोड़ दिया था और उसे तुरन्त ही कृष्ण के दर्शन हुए थे इसी प्रकार जब मुमुक्षु लोग अपने मदमानादि को छोड़ देते हैं और जब वे आत्मदर्शन के लिये व्याकुल हो जाते हैं, तो उसी साधारण से दीखने वाले मनुष्य में उन्हें गुरुभावना उत्पन्न हो जाती है। उसके अनन्तर उसके उपदेश से रागादि रजोवृत्तियों का त्याग हो जाने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। रजोगुण के विकार रागादि को छोड़े बिना अविद्यारूपी आवरण का क्षय नहीं हो सकता तथा उस आवरण के क्षय हुए बिना किसी को भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता।।४८।।

कोई (भौंरे) तो सुगन्ध के लिये उड़ते फिरते हैं, दूसरे मधु की इच्छा करते हैं, परन्तु जो भौंरे मधु को पीकर मस्त हो चुके हैं वे (मधुव्रत भौंरे) न तो इधर-उधर उड़ते ही फिरते हैं और न उनको अब मधु की ही इच्छा शेष रही है।

प्रकृतकर्मों से उत्पन्न हुआ, स्वर्गादि विषयों से मिलने वाला सुख किसी की भी पूरी तृप्ति नहीं कर सकता, वह तो सर्वोत्तम ब्रह्मसुख का प्रतिबिम्ब होता है इसलिये उसको केवल सुख की वासनामात्र होने से गन्धतुल्य समझना चाहिये। उस गन्धतुल्य सुखाभास के लिये ही जो लोग वैदिक कर्मों में सिर-तोड़ परिश्रम करते हैं, उन्हीं को

धनं प्राप्नोति कष्टेन प्रदोषे काष्ठभारिकः।
सुखासनस्थो विपुलं धनं रत्नपरीक्षकः।।५०।। (१०२१)

इदानीं हठपातञ्जलाद्युक्तसमाधितोपि माहवाक्यविचारेण वेदान्तोक्तरीत्या नित्यसुखानुभवस्य श्रैष्ठ्यमन्योक्त्या दर्शयति **धनमिति**। हे शिष्य **काष्ठभारिकः** काष्ठानां दारूणां भारो भरस्तं वहति असौ काष्ठभारिकः काष्ठभारोपजीवीत्यर्थः, **कष्टेन** सर्वदिनकृतश्रमेण, **प्रदोषे** दिनान्तसमये, **धनं** द्रव्यं तदपि तद्दिन एवोदरपूर्तियोग्यं तत्रापि न्यूनं वा **प्राप्नोति** लभते, पुनः प्रभाते तदर्थं श्रम एव कर्त्तव्यस्तस्येत्यर्थः, किञ्च **रत्नपरीक्षको** रत्नानां हीरकादीनां परीक्षकः परीक्षाकर्त्ता पुरुषः, **सुखासनस्थः** सुखं यथा भवति तथा यदासनं स्वस्थितिसाधनभूतं कार्पासादिपूर्णं कशिप्वादि तस्मिन्स्थः स्थितः सन्, **विपुलं** सहस्रलक्षादिसङ्ख्यापरिमितं, **धनं** द्रव्यं, **प्राप्नोति** लभते, बहुधनप्राप्तौ बह्वायासोऽपेक्षितोऽल्पधनप्राप्तौ सोऽल्प इति न नियम इति भावः। अयं भावः हठपातञ्जलोक्तसमाधेरष्टाङ्गसाधनश्रमापेक्षत्वात् तदुक्तसमाधिसुखस्य च समाधिकालमात्रस्थितिकत्वात् व्युत्थानकाले प्रतीतसंसारदुःखेन तिरस्कृतत्वात् तस्य काष्ठभारिकार्जितद्रव्यस्याल्पत्वमिवाल्पत्वमेवात्र सूचितं श्रमसाध्यत्वादप्यल्पत्वमेवोभयत्र समं च सूचितं, वेदान्तोक्तरीत्या तु सर्वजगतो बाधनेन ब्रह्मसुखानुभवसमाधौ व्युत्थाने वा उभयत्र ब्रह्मसुखस्य विद्यमानत्वादखण्डत्वेन देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदरहितत्वेन च नित्यतृप्तिकारकत्वेन च साधनपरिश्रमाभावाच्च श्रमरहितरत्नपरीक्षकार्जितबहुद्रव्यतुल्यत्वं ज्ञानेन साक्षात्कृतब्रह्मसुखस्येति भावः।।५०।। (१०२१)

यहाँ भौंरे के भ्रमण की उपमा दी गई है। वह वैदिककर्मानुष्ठान अति सामान्य लौकिक कर्मों की अपेक्षा अच्छा होता है। ब्रह्मसुख का साक्षात् अनुभव करने के लिये की गई समाधिपर्यन्त उपासनायें यहाँ पर भौंरे की मधुपान की इच्छा के समान मानी गयीं हैं। वे तो उन वैदिक कर्मानुष्ठानों की अपेक्षा भी ऊँची श्रेणी की होती हैं। उसके अनन्तर महावाक्यों का विचार करके साक्षात् ब्रह्मसुख का अनुभव लेकर सदा के लिये तृप्त हो जाने वाले लोग ही यहाँ पर मधुमत्त भ्रमर कहे जाते हैं। वे मधुमत्त भ्रमर नित्य ब्रह्मसुख का पान करके फिर मधुपान की तरफ से उदासीन हो जाते हैं। अर्थात् फिर तो उनको ब्रह्मसुख की भी इच्छा नहीं रह जाती। वे उन पहले कर्मी तथा मुमुक्षु लोगों की भी अपेक्षा अतिश्रेष्ठ होते हैं।।४६।।

बिचारा लकड़हारा दिन भर के परिश्रम के बाद सायंकाल के समय थोड़ा बहुत धन प्राप्त कर लेता है। परन्तु रत्नपारखी (जौहरी) तो बढ़िया-बढ़िया गद्दों पर तकिये लगाकर बैठा हुआ भी हज़ारों लाखों रुपया बात ही बात में कमाता है।

ऐसा कोई नियम नहीं है कि बहुत धन की प्राप्ति में बहुत परिश्रम करना आवश्यक होता हो तथा अल्पधन के लिये अल्प परिश्रम करना पड़ता हो। तात्पर्य यह है किहठयोग तथा पातंजलविधि से समाधि करने में प्रथम तो अष्टांगसाधनों में बड़ा

नर्त्तकी स्वाङ्गभङ्गेन धनं प्राप्नोति वा नवा।
कुलाङ्गना कटाक्षेण स्वं वशीकुरुते पतिम्।।५१।। (१०२२)

ननु आसनमुद्रादिब्रह्मसुखप्राप्तिसाधनानामतीव श्रमसाध्यत्वात्तत्र श्रमभीत्या वेदान्तिनां विचारे प्रवृत्तानां तत्प्राप्तिरासनादिसाधनैर्विना कथं स्यादित्याशङ्क्य ब्रह्मसुखप्राप्तौ केवलं श्रम एव नापेक्षितः किन्तु केवलविचारेणापि तत्प्राप्तिः स्यादेवेति नासनादीनां तन्निमित्ततेतीममर्थमन्योक्त्या दर्शयति **नर्त्तकी इति**। **नर्त्तकी** वेश्या, **स्वाङ्गभङ्गेन** स्वस्य स्वदेहस्य यान्यङ्गानि करचरणनेत्रस्तनभृकुट्यादीनि तेषां भङ्गो नर्त्तनं, भङ्ग ऊर्मिरिव तत्तदङ्गनर्त्तनरूपो विकार इत्यर्थः, तेन, कृत्वाऽपि **धनं** द्रव्यं, **प्राप्नोति** लभते, **वा** पक्षान्तरे, **न वा** न च प्राप्नोति धनप्राप्तौ नियमेनाङ्गनर्त्तनं निमित्तं न दृष्टमिति भावः। किञ्च कुलाङ्गना सत्कुलभवाङ्गना स्त्री, **कटाक्षेण** कटाक्षो नेत्रप्रान्तेनावलोकनं तेन, **स्वं** स्वीयं, **पतिं** पालकं भर्त्तारं, **वशीकुरुते** वशीकृत्वा भुनक्ति, अतः प्रेमैव नियमेन स्वपतिवशीकरणे निमित्तं स च प्रेम्णा वशीभूतः सन् स्वयमेव द्रव्यादि ददातीति भावः। अयमाशयःयथा वेश्याकृतः स्वाङ्गभङ्गो नियमेन द्रव्यप्राप्तिसाधनं न दृष्टस्तथा हठिनामष्टाङ्गयोगस्य साधनानि आसनादीनि न नियमेन ब्रह्मसुखप्राप्तिसाधनानि दृष्टानि, तत्सत्त्वेपि कतिपयहठिषु तदप्राप्तिदर्शनात्तदसत्त्वेपि महावाक्यविचारेणैव केवलं तत्प्राप्तिदर्शनाच्च प्रेम्णैव महावाक्यविचारः केवलं ब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः। अत्र नर्त्तकीसादृश्यं हठिनां निन्द्यसिद्ध्याद्यासक्तत्वात् नर्त्तकीस्वाङ्गनर्त्तन-सादृश्यमासनादीनां हठप्रोक्तानां नर्त्तकीस्वाङ्गनर्त्तनस्य द्रव्यप्राप्तौ अकिञ्चित्करत्वमिवासनादीनां ब्रह्मसाक्षात्कारेऽकिञ्चित्करत्वं, कुलस्त्रीषु अङ्गनर्त्तनाभावेपि कटाक्षेण स्वमनोरथपूरकपतिवशीकरणमिव वेदान्तनिष्ठस्य ब्रह्मप्रेम्णैव केवलं भागत्यागलक्षणालक्षणविचारेणैव ब्रह्मात्मसाक्षात्कारो जायते एवेति।।५१।। (१०२२)

श्रम करना पड़ता है तथा उस समाधि से व्युत्थान होने पर उस समय प्रतीत होने वाले संसार के दुःखों से वह सुख दबा दिया जाता है इसलिये वह सुख लकड़हारे के कमाये हुए धन के समान अल्प ही होता है।.अष्टांगयोग के उस लम्बे श्रम को देखने पर तो वह सुख किसी गिनती का ही नहीं होता। परन्तु जब कि वेदान्त की बतायी प्रक्रिया से सब जगत् का बाध कर दिया जाता है तब चाहे तो समाधि की जाय और चाहे व्युत्थान में रहा जाय, दोनों ही जगह समानरूप से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। समाधि किंवा व्युत्थान से भी उस सुख का कोई खण्ड नहीं हो सकता, देश, काल तथा वस्तु की मर्यादाओं से भी वह ब्रह्मसुख कभी परिच्छिन्न नहीं होता। वह ब्रह्मसुख अपने भक्तों को नित्यतृप्ति का दान करता रहता है। उसके लिये साधनों का परिश्रम करना नहीं होता। वेदान्तमार्ग से ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने वाला ब्रह्मसुख, बिना परिश्रम के जौहरी से कमाये हुए बहुत धन के समान होता है। इसीलिये हठनिग्रह के परिश्रमों को छोड़कर महावाक्यों के विचार के द्वारा वेदान्त की प्रक्रिया से नित्यसुखानुभव की प्राप्ति के लिये ही पुरुषार्थ करना चाहिये।।५०।।

तव बुद्धिप्रकाशोऽयं निकटां मुक्तिमाह माम्।
नूनं निर्वाणसमये दीपो देदीप्यते भृशम्।।५२।। (१०२३)

ननु कृतेपि श्रवणादौ मम ब्रह्मसुखानुभवेन मुक्तिस्तत्साधनभूतं ज्ञानं च स्यान्न वेति सन्दिह्यमानं शिष्यं प्रत्याह **तव इति। अयं** मत्प्रत्यक्षः, **तव** ते, **बुद्धिप्रकाशो** बुद्धेरन्तःकरणस्य प्रकाशो[1] ज्ञानं, **मां** मा प्रति, **निकटां** समीपवर्त्तिनीं, **मुक्तिं** ते मोक्षं, **आह** उक्तवान् सूचयतीत्यर्थः, पूर्वकालादिदानीन्तनो बहुतरप्रकाशो मे तव मुक्तिं सूचितवानिति भावः। तत्र दृष्टान्तो **नूनमिति। नूनं** निश्चयेन, **दीपः** प्रदीपो, **निर्वाणसमये** निर्वाणस्य नाशस्य समये काले, **भृशं** बहु यथा भवति तथा, **देदीप्यते** अतीव प्रकाशते, एवं तवान्तःकरणप्रकाशः स्वनाशेन मोक्षं प्राप्तुमुद्युक्त इति भावः।।५२।। (१०२३)

नाचने वाली नटी अपने हाथ पैर आदि अंगों के नर्त्तन से धन को प्राप्त कर भी लेती है और नहीं भी, परन्तु कुलकामिनी तो केवल अपने कटाक्ष से ही पति को वश में कर लेती है (और उसे यथेष्ट भोगती भी है)।

प्रेम ही पुरुष को वश में करने का नियत कारण होता है। प्रेम के वशीभूत होकर तो वह फिर स्वयमेव घर का माल ताल उसे ही सौंप देता है। जिस प्रकार स्वाङ्गभंग करने पर भी नटियों का नियम से द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती इसी प्रकार हठियों के अष्टाङ्गयोग के साधन आसनादि भी, नियम से आत्मसुख को प्राप्त कराने वाले नहीं होतेअष्टाङ्गयोग का साधन करने वाले भी बहुत से हठी लोग ब्रह्मानन्द से वंचित देखे जाते हैं तथा अष्टाङ्गयोग का साधन न होने पर भी केवल महावाक्यविचार से ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति देखी जाती है। उससे यही निर्णय होता है कि प्रेमपूर्वक केवल महावाक्य का विचार ही ब्रह्मसाक्षात्कार का हेतु है। निन्दितसिद्धियों में आसक्त रहने वाले हठी लोग नर्तकी के समान कहे गये हैं। हठ में वर्णित आसनादि नर्तकी के अङ्गनर्तन के समान हैं। नर्तकी का अपने अङ्गों का नर्तन जिस प्रकार द्रव्यप्राप्ति का मुख्य साधन नहीं है इसी प्रकार आसनादि भी ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन नहीं होते। जिस प्रकार कि कुलीन स्त्रियाँ अपने अङ्गों का नर्तन किये बिना केवल कटाक्ष से ही पति का वशीकरण कर लेती हैं, इसी प्रकार वेदान्तनिष्ठ पुरुष ब्रह्मप्रेम का सहारा लेकर, भागत्यागलक्षणारूपी कटाक्षतुल्य विचारों से ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं और आनन्द की अक्षयनिधि को पा लेते हैं। तात्पर्य यह है कि आसनादि के कष्टों से डर कर इस उत्तम मार्ग को छोड़ देना उचित नहीं होता क्योंकि वह परमपद तो केवल विचार से प्राप्त हो सकता है। आसनादि उसके निमित्त नहीं हैं।।५१।।

---

[1] पश्यतु तृप्तिदीपे श्लो. १४३-४६।

एके खनन्ति वसुधां तथा विक्रयिणः परे।
घर्षयन्त्यपरे रत्नं भोगं गृह्णाति भाग्यवान्।।५३।। (१०२४)

इदानीं वेदान्तपाठं तदर्थाख्यानाऽन्यकृततदर्थसूक्ष्मज्ञानस्वात्मानुभवेषु मध्ये स्वात्मानुभवस्य श्रैष्ठ्यं दर्शयितुमन्योक्त्याह **एक इति। एके** केचित्पुरुषा, **वसुधां** पृथिवीं, **खनन्ति** हीरकादिरत्नप्राप्तये खनन्ति कर्षयन्ति, **तथा** तद्वद्, **अपरे** अन्ये पुरुषा, **विक्रयिणो** हीरकादीनां विक्रयकर्त्तारो भवन्ति, **अपरे** अन्ये केचित्पुरुषा **रत्नं** हीरकादिकं **घर्षयन्ति** शाणे मर्द्दयन्ति, किञ्च **भाग्यवान्** स्वतः सम्पत्तिमान्पुरुषो, **भोगं** रत्नस्य स्वशरीरे स्वभोग्यस्त्र्यादिशरीरे वा सन्धारणरूपं भोगं, **गृह्णाति** अङ्गीकरोति, ते च यथोत्तरं श्रेष्ठाः ज्ञेयाः, तथान्तःकरणशोधनेन वेदान्तार्थावलोकनपरा अन्तःकरणस्य क्षेत्रत्वाभिधानात्तत्कर्षकत्वेन हीरकाद्यर्थं पृथिवीकर्षकतुल्या अत्र ग्राह्याः, शिष्यादीनां वेदान्तव्याख्यानद्वारा ज्ञानप्रदास्तत्कृतसेवामूल्यदानेन तेऽत्र हीरकादिरत्नविक्रयिपुरुषोक्त्या सादृश्याद् ग्राह्याः, वेदान्तश्रवणेन त्यागादिभिरन्तःकरणसूक्ष्मत्वापादका रत्नघर्षकोक्त्या तत्सादृश्यादत्र ग्राह्याः, केवलात्मनिष्ठास्तु अन्यसाधननिरपेक्षत्वाद् रत्नभोगकर्त्तृपुरुषसादृश्यात् तेऽत्र ग्राह्याः, तेषु चोत्तरोत्तरं श्रैष्ठ्यात्तेषु केवलात्मनिष्ठानामेव श्रैष्ठ्यमिति भावः।।५३।। (१०२४)

(श्रवण आदि करने पर भी मुझे ब्रह्मसुख का अनुभव होकर मुक्ति मिलेगी या नहीं? अथवा इसका साधन ज्ञान भी प्राप्त होगा या नहीं? हे शिष्य! तुम ऐसा सन्देह मत करो! क्योंकि) यह तेरा अन्तःकरण का ज्ञान अदूरवर्ती मोक्ष को सूचित कर रहा है। (अर्थात् पहले की अपेक्षा अब तुम में ज्ञान का प्रकाश बढ़ रहा है, उससे मुझे तेरे शीघ्र ही मुक्त होने का अनुमान होता है)। बुझने के समय दीपक निश्चय ही बहुत जोर से चमकने लगता है। (इसी प्रकार तेरे अन्तःकरण का प्रकाश भी अपने आपको नष्ट करके मोक्ष को प्राप्त करने को उद्यत हो रहा है)।।५२।।

(हीरे आदि रत्नों को पाने के लिये) बहुत से मजदूर भूमि को खोदा करते हैं। दूसरे लोग (उन हीरों को) बेचने का ही रोजगार करते हैं। तथा कोई लोग उन हीरों को शाण पर घिसा करते हैं। किन्तु चौथे प्रकार के भाग्यशाली लोग (अपने शरीरों पर उसे पहनकर) उस हीरे का भोग लेते हैं।

इन चारों में जैसे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं, इसी प्रकार प्रथम तो अन्तःकरणरूपी क्षेत्र को शुद्ध करते हुए वेदान्तार्थ को पढ़ने वाले अधिकारी होते हैं। दूसरे अपने शिष्यों द्वारा की हुई सेवा के मूल्य में वेदान्त के गूढ अर्थों का ज्ञानदान करने वाले उन रत्नविक्रेताओं के तुल्य होते हैं जो कि खोदने वालों को उनके परिश्रम के बदले में कुछ धन दे देते हैं। तीसरे वेदान्त को सुनकर त्यागादिपूर्वक रहकर अपने अन्तःकरण को आत्मा के दर्शन के लिये सूक्ष्म कर लेते हैं, वे रत्नघर्षकों के तुल्य कहे जाते हैं। चौथे

एके तक्रेण तुष्यन्ति दधिदुग्धेन चापरे।
तत्त्वज्ञा नैव तुष्यन्ति नवनीतघृतं विना।।५४।। (१०२५)

इदानीं कर्मोपासनज्ञानजन्यसुखानां मध्ये ज्ञानजन्यसुखस्याधिक्यं दर्शयन्नन्योक्त्याह **एक इति**। एके केचित्पुरुषाः **तक्रेण** दधिविकारेण दधिमण्डेन, **तुष्यन्ति** तृप्यन्ति, **अपरे** अन्ये च केचित्पुरुषा, **दधिदुग्धेन** दध्ना दुग्धेन वा तृप्यन्ति, किञ्च **तत्त्वज्ञा** दधिदुग्धयोर्मध्ये यत्तत्वं नवनीतं घृतं वा तद्ये जानन्ति ते तथोक्तास्ते, **नवनीतघृतं विना** नवनीतं हैयङ्गवीनं घृतं च सर्पिस्ते उभे विना वर्जयित्वा, अन्येन तक्रादिना **नैव तुष्यन्ति** न च तृप्यन्ति, ते च यथोत्तरं श्रेष्ठाः ज्ञेयाः। अयं भावःतक्रतृप्तसदृशा अत्र कर्मजन्यविषयसुख इदमेव सुखं नान्यदिति तदासक्ता ग्राह्याः, उपासनादिजन्यसायुज्यादिसुखासक्ता अत्र दधिदुग्धाशनतृप्तपुरुषसादृश्या ग्राह्याः, ज्ञानजन्यब्रह्मसुखरता अत्र नवनीतघृततृप्तसदृशा अपि ग्राह्याः, तेषु च यथोत्तरं श्रेष्ठेषु नवनीतघृततृप्तश्रैष्ठ्यवज्ज्ञानतृप्ते श्रैष्ठ्यं ज्ञेयमिति भावः।।५४।। (१०२५)

इदानीं अन्येषां केषांचित्कर्मादौ रुचिरस्तु, मम तु ज्ञानाभ्यासेन सर्वत्र ब्रह्मसुखानुभवात् ज्ञानाभ्यास एव रुचिरस्तीति प्रतीत्यर्थं शिष्यस्य तत्र रुचिमुत्पादयितुमाह **यत्र इति**। हे शिष्य **मम** मे, **यत्र क्वापि** कर्मण्युपासने वा जाग्रदाद्यवस्थात्रये तुर्यायां वा, **स्वपामि** तत्तत्कालव्यवहारेपिप्रपञ्चविस्मृतिरूपां निद्रामनुभवामीत्येवं, **निद्रालुता** सुप्तिस्वभावे स्वाभाविकी रुचिर्ज्ञानाभ्यासेन, **जाता** उत्पन्ना। कुत इत्यत आह **विस्तीर्णमिति**। **विस्तीर्णं** अपरिच्छिन्नमनन्तमित्यर्थः, **कोमलं**

केवल आत्मा में ही निष्ठा रखने वाले, (दूसरे किसी साधन की अपेक्षा न करने के कारण) रत्नों को भोगने वाले पुरुषों के समान हैं। यद्यपि ये चारों ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं तथापि इनमें चौथाकेवल आत्मा में निष्ठा वालापुरुष ही सर्वश्रेष्ठ होता है। तात्पर्य यह है कि वेदान्त पढ़ने वाले, वेदान्तार्थों का व्याख्यान करने वाले, दूसरे से कहे हुए वेदान्तों के मर्म को जानने वाले तथा स्वात्मा का अनुभव करने वालों में स्वात्मानुभवी ही श्रेष्ठ होता है।।५३।।

कोई बालक तो तक्र पीकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, दूसरे दही किंवा दुग्ध पीकर तृप्त हो रहते हैं, परन्तु दधि और दुग्ध के तत्त्व (नवनीत किंवा घृत) को पहचानने वाले बालक तो नवनीत किंवा घृत को पाये बिना, कभी तृप्त नहीं होते।

कर्मजन्य विषयसुख जैसे क्षुद्रसुख को ही परमसुख मानने वाले लोग मट्ठे से तृप्त होने वाले लोग कहाते हैं। उपासना आदि से प्राप्त होने वाले सायुज्यादिसुखों को ही परमसुख मानने वाले लोग दही और दुग्ध से तृप्त होने वाले माने गये हैं। परन्तु ज्ञानजन्य ब्रह्मसुख में लवलीन रहने वाले लोगों को माखन या घृत से ही प्रसन्न होने वाला कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्मजन्यसुख, उपासनाजन्यसुख तथा ज्ञानजन्यसुख में से ज्ञानजन्यसुख ही सर्वोत्तम सुख होता है, तथा ज्ञानजन्यसुख से तृप्त रहने वाला पुरुष ही सबसे श्रेष्ठ है।।५४।।

यत्र क्वापि स्वपामीति जाता निद्रालुता मम।
विस्तीर्णं शयनं प्राप्तं कोमलं ब्रह्म निर्मलम्।।५५।। (१०२६)
दृश्यं बोधेन निर्घृष्टं तच्चिदाकारताङ्गतम्।
यत्र यत्रैव पश्यामि स्वं रूपं तत्र दृश्यते।।५६।। (१०२७)

सुखस्पर्शं सुखरूपत्वात्, **निर्मलं** मायाऽविद्यातत्कार्यमलरहितं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं प्रत्यगभिन्नं परमात्मरूपं, **शयनं** शेतेऽस्मिन्निति शयनं कशिपुस्थानीयं, **प्राप्तं** लब्धं अतः सर्वत्र प्रपञ्चास्फुरणरूपां निद्रामनुभवामीत्येतादृशी **निद्रालुता मम** ज्ञानाभ्यासेन सम्पन्नेति भावः।।५५।। (१०२६)

ननु सर्वदृश्यसत्त्वे प्रपञ्चास्फूर्तिः कथं स्यादित्याशङ्क्याह **दृश्यम् इति**। हे शिष्य **दृश्यं** जगद् **बोधेन** ज्ञानेन, **निर्घृष्टं** उपमर्दितं सत् **तत्** जगत् **चिदाकारतां गतं** चिन्मात्रस्वरूपतां यातमस्तीदानीमतोहं **यत्र यत्र** यस्मिन् यस्मिन्पदार्थे, **पश्यामि** अवलोकयामि, **तत्र** तत्र इति आवृत्त्या योज्यं तस्मिन् तस्मिन्पदार्थे स्वरूपमेव **दृश्यत** आत्मस्वरूपमेव केवलमवलोक्यते, अतः सर्वत्रात्मस्वरूपमात्रभानेन तद् व्यतिरिक्तजगत्पदार्थसत्त्वाभावात् तत् स्फुरणस्याप्यस्फुरणत्वेन सर्वावस्थासु निद्रालुत्वसिद्धिरिति भावः।।५६।। (१०२७)

मुझे तो अब ऐसी निद्रालुता हो गई है कि मैं जहाँ कहीं भी सोने लग पड़ा हूँ क्योंकि अब मैंने सोने के लिये कोमल निर्मल ब्रह्मरूपी विस्तीर्ण बिस्तरा पा लिया है।

चाहे तो मैं कर्म करूँ, चाहे उपासना में लगा रहूँ, चाहे जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति अथवा साक्षात् तुर्या में ही चला जाऊँ, यह सब कुछ करता हुआ भी मैं प्रपंचविस्मरणरूपी निद्रा में ही डूबा रहता हूँ। ज्ञान का अभ्यास करते-करते उसका परिपाक हो जाने से मुझे स्वभाव से ही ऐसे सोने में रुचि हो गयी है। क्योंकि अब तो मैंने एक अनन्त, कोमल, (सुखद स्पर्श को पैदा करने वाला) देश काल तथा वस्तुओं की मर्यादा में न आने वाला, परमात्मारूपी बिस्तरा पा लिया है। इसलिये अब तो मुझे सर्वदा ही प्रपंच का भान न होने देने वाली निद्रा बनी रहती है। यह निद्रालुता मेरे ज्ञानाभ्यास का ही शुभ परिणाम है। इसलिये और लोग भले ही कर्मादि दुःखदायक पदार्थों में रुचि रक्खें, मुझे तो ज्ञानाभ्यास करते-करते सर्वत्र ब्रह्मसुख का अनुभव होने लग पड़ा है, इसलिये मेरी तो ज्ञानाभ्यास में ही रुचि रहती है। तुमको भी उसी में रुचि करनी चाहिये।।५५।।

(यदि कहो कि सब दृश्य पदार्थों के विद्यमान रहते हुए प्रपंच की ऐसी अप्रतीति [जैसी कि ऊपर वर्णन की गयी है] किस प्रकार हो सकती है, तो सुनो) इस जगत् को जब मैंने ज्ञानरूपी शाण पर रगड़ा तो यह सब जगत् ज्ञानस्वरूप ही हो गया, तब से मैं जिस किसी पदार्थ की तरफ को दृष्टि फेरता हूँ उसी पदार्थ में अब मुझे केवल आत्मस्वरूप ही दृष्टिगोचर होने लग पड़ा है।।५६।।

यदेकोपि जनो गीर्णः स्तुवन्त्यजगरं जनाः।
मां न स्तुवन्ति किं येन गीर्णा ब्रह्माण्डकोटयः।।५७।। (१०२८)
मय्यसूया न कर्त्तव्या बहुजल्पामि यद्यपि।
ब्रह्मास्मीति वदाम्येव श्रुतिर्मां नाभ्यसूयति।।५८।। (१०२९)

ननु पूर्ववत्त्वयि व्यवहारस्य विद्यमानत्वात्कथं जगदभावस्त्वयि सम्भाव्य इत्याशङ्क्यानन्तब्रह्माण्डानां मया ग्रस्तत्वात्किमेकब्रह्माण्डग्रास आश्चर्यमित्याशयेनाह **यद् इति। यद्** येनाजगरेण, **एकोपि** एक एव, **जनो** नरो, **गीर्णो** गिलितस्तं, **अजगरं** तिलित्सं सर्पविशेषमित्यर्थः, **जना** लोकाः, **स्तुवन्ति** प्रशंसन्ति, अहो महानयं सर्पोऽयं मनुष्यान् खादति एवं स्तुवन्ति। येन मया प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपेण **ब्रह्माण्डकोटयो** ब्रह्माण्डानां जगतां कोटयोऽपरिमिताः कोटय इति यावद्, **गीर्णा** गिलिताः तं **मां** ब्रह्मस्वरूपं, **किं** कुतो **न स्तुवन्ति** न प्रशंसन्ति, अहो अयं महान् यस्य ब्रह्मस्वरूपत्वान्नास्माभिस्तुल्यतेति कुतो न जानन्तीति भावः।।५७।। (१०२८)

ननु त्वं देहत्रयपरिच्छिन्नोऽहमिव दृश्यसेऽतोऽपरिच्छिन्नं ब्रह्माहमिति नैव वक्तव्यमित्याशङ्क्य यद्यपि लोकप्रतीत्या सम्भावनाऽविषयमपि श्रुतिप्रामाण्येन मदनुभवेन च तत्सिद्धमेवेत्याशयेनाह **मयि इति**। हे जन! **अहं** प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **यद्यपि** यर्ह्यपि, **बहु** उत्कृष्टं, यथा भवति तथा लोकदृष्ट्या **ब्रह्मास्मीति जल्पामि** वदामि, तथापि श्रुतिः'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसी'त्याद्या **मां** प्रत्यगभिन्नब्रह्मसाक्षात्कारेणाहं ब्रह्मास्मीति वदन्तं मां **नाभ्यसूयति** नेर्ष्यां करोति, प्रामाणिकवचनवत्त्वाद्यतस्ततो 'ब्रह्मास्मी'ति **वदाम्येव** कथयाम्येव, अतो मयि ब्रह्मविदि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती' तिश्रुतेर्ब्रह्मस्वरूपत्वात् तवान्येषां चात्मनि स्वस्मिन् स्वेर्ष्याकर्त्तव्यतानुपपत्तेः **असूया** ईर्ष्या, **न कर्त्तव्या** नैव कर्तुं विहिताऽस्ति।।५८।। (१०२९)

जिस अजगर ने केवल एक ही मनुष्य को खा लिया हो, तो अन्य मनुष्य उस सर्प की स्तुति करने लगते हैं (कि यह सर्प बहुत बड़ा है, यह तो मनुष्य को भी खा लेता है।) परन्तु यह तो बताओ कि जिस मैंने (अनादिकाल से लेकर अब तक) करोड़ों ब्रह्माण्डों को निगल डाला है, ये संसारी लोग उस मुझ ब्रह्मस्वरूप की प्रशंसा क्यों नहीं करते।।५७।।

यद्यपि मैं 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह बड़ी बात अपने मुँह से बोलता हूँ तथापि मेरी बात का बुरा न मानना चाहिये। क्योंकि जब मैं 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहता हूँ तो श्रुतियाँ इस बात का बुरा नहीं मानतीं।

'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादि वाक्यों से वे मेरी इसी बात का अनुमोदन करती हैं। इसीलिये मुझसे यह न कहना चाहिये कि तीनों देहों के परिच्छेद में रहने पर, हम संसारी लोगों की तरह ही तुम भी अपने आपको ब्रह्म मत कहो। क्योंकि श्रुति के प्रमाण तथा मेरे अनुभव से इस बात की पुष्टि हो रही है।।५८।।

सिंहासनं समाधिर्मे वेदान्ता मम वन्दिनः।
मारितो मोहनामारिर्मम राज्यमकण्टकम्।।५९।। (१०३०)
दृष्टं चिदम्बरं नाम मया विस्तीर्णमम्बरम्।
इदं जडाम्बरं शून्यमत्यल्पं यदपेक्षया।।६०।। (१०३१)

इदानीं स्वस्मिन्स्वाराज्यसम्पत्तिं लक्ष्यीकृत्याह **सिंहासनमिति**। हे शिष्य **मे** मम, **समाधिरेव** निर्विकल्पसमाधिरेव सर्वदाऽऽत्मस्फुरणरूप इत्यर्थः, **सिंहासनं** राज्यासनं, तथा **वेदान्ताः** तत्त्वमसीत्यादिरूपाणी वाक्यानि, **मम** मे, **वन्दिनः** स्तुतिपाठकाः सन्ति, किञ्च **मोहनामा** मोहो नामाभिधानं यस्य स तथोक्तः, **अरिः** शत्रुः, **मया** स्वाराज्यप्राप्तिमता, **मारितो** मृत्युं प्रापितोऽत इदानीं **मम** मे **अकण्टकं** न विद्यते कण्टकः शत्रुर्यस्मिन्तत्तथोक्तं, **राज्यं** स्वाराज्यमस्ति सर्वप्रतिबन्धहीनमात्मराज्यं मया लब्धमिति भावः।।५९।। (१०३०)

ननु कुतस्तव स्वाराज्यप्राप्तिः कुतश्च नान्येषां, तत्राह **दृष्टम् इति**। हे शिष्य **मया** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासेन, **विस्तीर्णं** देशादिभिरपरिच्छिन्नं, **चिदम्बरन्नाम** चिन्मात्रस्वरूपं विद्वत्सु प्रसिद्धमम्बरमाकाशं, **दृष्टं** अवलोकितम्। कियद्विस्तृतं तदिति लक्षणेन निर्दिदर्शति**इदमिति**। **इदं** पञ्चभूतेषु प्रसिद्धं दृश्यमानं, **शून्यं** असद्रूपं वा **जडाम्बरं, जडम्** अचिद्रूपम्, **अम्बरम्** आकाशं **यदपेक्षया** यस्य सच्चिदानन्दरूपब्रह्माकाशस्यापेक्षया दृष्ट्या, **अत्यल्पं** अतिसूक्ष्ममस्ति। अनेनानुमानेन चिदाकाशस्य विस्तारोऽनुमेय इति भावः।।६०।। (१०३१)

ननु तवैव कुतश्चिदाकाशदर्शनं कुतश्च नान्येषामित्याशङ्क्य तद्विषयकप्रेमसत्त्वासत्त्वाभ्यामिति दर्शयति **इष्टमिति**। हे शिष्य यथा इति अध्याहार्यं यद्वत् **क्षुधया** बुभुक्षया **आर्त्तः** पीडां प्राप्तो यः पुरुषस्तस्य, **अन्नं** भोजनं, **इष्टं** प्रियं भवति, किञ्च यद्वत् **तृषितस्य** तृषा पिपासा सञ्जाताऽस्य स तृषितः पुरुषस्तस्य, **जलं** उदकं, **प्रियं** इष्टं भवति, किञ्च यद्वत् **कृपणस्य तु** शठस्यापि, **धनं** द्रव्यं **इष्टं** प्रियं भवति, तथा इति अध्याहार्यं तद्वन् **मम** साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासस्य मुमुक्षोर्मे, **चैतन्यं** चिन्मात्रमात्मरूपं, **वल्लभं** प्रियं भवति, मयि चिन्मात्रस्वरूपात्मविषयकप्रेमसत्त्वात्तद्दर्शनमन्येषु च तदसत्त्वात्तददर्शनमिति भावः।।६१।। (१०३२)

समाधि मेरा सिंहासन है, वेदान्त मेरे बन्दिगण हैं, मोह नामक शत्रु को मैंने मार डाला है। अब तो मेरा निष्कण्टक राज्य हो चुका है।

जिसमें सदा ही आत्मस्फुरण बना रहता है वह निर्विकल्प समाधि ही मेरा सिंहासन (राज्यासन) है। तत्त्वमसि आदि वेदान्तवाक्य मेरे स्तुतिपाठक हैं। स्वाराज्यप्राप्ति के लिये मैंने मोह नामक शत्रु को पछाड़ दिया है। इसलिये अब मेरा राज्य निष्कण्टक हो गया हैअर्थात् सकल प्रतिबन्धों से रहित आत्मराज्य की प्राप्ति अब मुझको हो गयी है।।५९।।

हे शिष्य, मैंने उस अतिविस्तीर्ण चिदाकाश के दर्शन पा लिये हैं, जिसकी अपेक्षा यह शून्य (असत्) जडाकाश एक अत्यन्त छोटी-सी वस्तु है।।६०।।

इष्टमन्नं क्षुधार्त्तस्य कृपणस्य धनं प्रियम्।
तृषितस्य जलं त्विष्टं चैतन्यं मम वल्लभम्।।६१।। (१०३२)
रसायनप्रसङ्गेन गतं ताम्रमताम्रताम्।
तथाऽस्माकमहङ्कारो निरहङ्कारतां गतः।।६२।। (१०३३)
पूर्वमासीदहङ्कारो मम दुःखस्य कारणम्।
रिपुरद्य मृतो दृष्टः परमानन्दकारणम्।।६३।। (१०३४)

ननु त्वय्यन्येषामिवाहङ्कारस्य दृश्यमानत्वात्त्वयि चिदाकाशदर्शनमन्येषु नेति कुत एतत्सम्भावनीयमित्याशङ्क्यैतत्सदृष्टान्तं सम्भावयति **रसायन इति**। **यथा** यद्वत् **ताम्रं रसायनप्रसङ्गेन** रसायनस्य पारदादिप्रभवस्यौषधविशेषस्य प्रसङ्गो योगस्तेन, **अताम्रतां** सुवर्णादिरूपतां, **गतं** प्राप्तं भवति, **तथा** तद्वद् **अस्माकं** ब्रह्मवेदिनां, **अहङ्कारो** अहङ्कृतिः, **निरहङ्कारतां** निर्गतो निवृत्तोऽहङ्कारोऽहङ्कृतिर्यस्मात्तन्निरहङ्कारं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म तस्य भावः तत्ता तां ब्रह्मतामित्यर्थः, **गतः** प्राप्तः, अतः **अस्माकं** चिदाकाशदर्शनमन्येषां नेति सम्भवतीति भावः।।६२।। (१०३३)

ननु अहं ब्रह्मास्मीति वदाम्येवेति त्वमेव वदसि अतस्त्वय्यहङ्कारो नास्तीति कथं प्रत्येतव्यमित्याशङ्क्याज्ञानावस्थायामेव बाधकत्वात्तस्य रिपुत्वमिदानीं तद्बाधेनाकिञ्चित्करत्वाद्बाधकत्वं न प्रत्युत ब्रह्माकारत्वेन सुखकारित्वमित्याशयेनाह **पूर्वमिति**। हे शिष्य **पूर्वं** अज्ञानावस्थायां, **अहङ्कारो** अहंकृतिः, **मम** मे, **दुःखस्य** खेदस्य, **कारणं** हेतुरासीदासाऽतो मे मम **रिपुः** शत्रुरासीत्सोऽद्येदानीं ज्ञानावस्थायां **मृतो** बाधितो, **दृष्टः** अनुभूतः, सोऽतः **परमानन्दकारणं** परमो निरतिशयो य आनन्दः सुखं तस्य कारणं हेतुः, जातोऽत इदानीं तस्य बाधितत्वेनाबाधकत्वात्तस्मिन् लोकदृष्ट्या विद्यमानत्वेपि चिदाकाशदर्शनेऽविरुद्धत्वमिति भावः।।६३।। (१०३४)

जिस प्रकार भूखे को भोजन, प्यासे को पानी और कृपण को धन ही प्रिय होता है, इसी प्रकार मुझ मुमुक्षु को तो चैतन्य (चिन्मात्र आत्मस्वरूप) ही प्यारा प्रतीत होने लगा है।।६१।।

जिस प्रकार रसायन के योग से ताम्र का अताम्र (सुवर्ण आदि) हो जाता है इसी प्रकार हम ब्रह्मज्ञानियों का अहङ्कार भी निरहङ्कारता अर्थात् आत्मरूपता को प्राप्त हो चुका है। (यही कारण है कि और लोगों के समान हममें बाधित अहङ्कार के दीख पड़ने पर भी, हमको उस चिदाकाश के दर्शन हो गये हैं, दूसरों को नहीं हुए, क्योंकि उनका अहङ्कार उनको ब्रह्मदर्शन नहीं होने देता।)।।६२।।

पहले (अज्ञानी अवस्था में) यह अहङ्कार मुझे दुःख दिया करता था, इसीलिये तब मेरा शत्रु था। परन्तु अब (ज्ञानी अवस्था में) जब मैं उसको मरा हुआ देख रहा हूँ किंवा बाधित समझ कर बैठा हूँ तो वह मेरे परमानन्द का कारण बन गया है। (अब वह मेरे चिदाकाश के दर्शन करने में बाधा नहीं डालता है। प्रत्युत अब तो वह ब्रह्माकार हो जाने से सुखकारी हो गया है।)।।६३।।

भोगेप्सूनां सभामध्ये भोक्ता कान्तो यथा युवा।
मुमुक्षूणां तथा मध्ये राजते परमार्थवित्।।६४।। (१०३५)
गृहकार्यप्रसक्तापि भुक्तभोगेव कामिनी।
मनसैव मनो नूनमानन्दयति योगवित्।।६५।। (१०३६)

ननु परमानन्दप्राप्तावपि किं महत्त्वं, तत्राह सदृष्टान्तम् **भोगेप्सूनाम् इति। भोगेप्सूनां** भुज्यन्त इति भोगा विषयास्तानीप्सन्ति प्राप्तुमिच्छन्ति ते तथोक्तास्तेषां विषयिणां स्त्रैणानामित्यर्थः, **सभामध्ये** सभा सदोगृहं तस्या मध्येऽन्तरे, **भोक्ता** बहुस्त्रीभोगी, **कान्तः** सुन्दरो, **युवा** तरुण एतद्गुणत्रयविशिष्टः पुरुषो, **यथा** यद्वद् **राजते** शोभते, **तथा** तद्वत् **मुमुक्षूणां** मोक्षेप्सूनां, **मध्ये** अन्तरे, **परमार्थवित्** परमः-श्रुतिश्रेष्ठः सत्यरूपश्च योऽर्थस्तत्त्वं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म वेत्ति जानातीति **परमार्थवित्** जीवब्रह्मैक्य ज्ञानवान्, **राजते** शोभते अज्ञानदृष्ट्या तच्छ्रैष्ठ्येऽप्रतीतेऽपि मुमुक्षुदृष्टौ तत्प्रतीयते इति भावः।।६४।। (१०३५)

ननु व्यवहारिण इव ज्ञानिनोपि व्यवहारसत्त्वे कथं सर्वदात्मसुखभानमित्याशङ्क्य सदृष्टान्तं तत्सम्भावयति **गृहकार्य इति। भुक्तभोगा** भुक्तोऽनुभूतो भोगः परपुरुषेण सह रतिसुखं यया सा तथोक्ता कामिनी परपुरुषरतिसुखेच्छावती स्त्री **इव** यथा, **गृहकार्यप्रसक्तापि** गृहस्य मन्दिरस्य यत्कार्यं लेपनसंमार्जनादिकं तस्मिन् प्रसक्ता अत्यासक्ता प्रतीयमाना सत्यपि, **मनसैव** परपुरुषभोगजन्य-सुखवदन्तःकरणवृत्त्यैव **मनो** गृहकार्यनिर्वाहकमन्तःकरणम् **आनन्दयति** सुखीकरोति गृहकार्यजनितखेदास्पृष्टं करोतीत्यर्थः, तद्वद् **योगविद्** योगं जीवब्रह्मैक्यं वेत्ति जानातीति स तथोक्तः, यद्वा युज्येते ऐक्येनानुभूयेते जीवब्रह्मणी अनेनेति योगो ज्ञानं तद्विन्दति प्राप्नोतीति योगवित् प्राप्तजीवब्रह्मैक्यज्ञान इत्यर्थः, लिङ्गपरिणामेन सर्वदृष्टान्तविशेषणान्यप्यस्मिन्दार्ष्टान्तिके योज्यानि, भुक्तभोगो लोकप्रतीत्या भुक्ता अभ्यवहृता भोगा विषया, येन स तथाभूतोपि अतो गृहकार्यप्रसक्तोपि गृह्यत आत्मतयाऽङ्गीक्रियत इति गृहं शरीरं तस्य यत्कार्यमवश्यकर्त्तव्यतया विहितं वैदिकं स्नानसन्ध्यादिकं गर्भाधानादिमरणान्तसंस्काररूपं स्मार्त्तं कर्म च लौकिकमशनादिकं च, यद्वा लौकिकं प्रसिद्धमेवात्र गृहं मन्दिरं तस्य कार्यमवश्यकर्त्तव्यं द्रव्यार्जनादिकं तस्मिन्सर्वोक्तलक्षणे प्रसक्तोऽत्यासक्तः प्रतीयमानोपि **नूनं** निश्चयेन, **मनसैव** ब्रह्मसुखानुभववद्वृत्तिविशेषेणैव, मनः शरीरव्यवहारगृहव्यवहारयोर्निर्वाहकमन्तःकरणं, **आनन्दयति** प्रपञ्चदुःखस्पृष्टं करोति, **ग्रहकार्यप्रसक्तापीति** पाठे ग्रहा इन्द्रियाणि तेषां कार्याणि श्रवणादीनि वचनादीनि च ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां सङ्कल्पादिकमन्तःकरणस्य च तेषु प्रसक्तापीति व्याख्येयं। दृष्टान्तपक्षे इन्द्रियकार्याणि खानपान-श्रवणादीनि गमनादीनि च तेषु प्रसक्तापीति योज्यमतो ज्ञानिनि लोकदृष्ट्या व्यवहारे प्रतीयमानेपि ब्रह्मसुखस्फुरणं सर्वदैवाखण्डितं विद्यत इति सम्भावनीयमिति भावः।।६५।। (१०३६)

भोगेप्सू (स्त्रैण) लोगों की सभा में जिस प्रकार भोक्ता सुन्दर युवा पुरुष सुशोभित होता है, इसी प्रकार परमार्थज्ञानी पुरुष मुमुक्षु लोगों के ही बीच में सुशोभित हुआ करता है।।६४।।

मुनिमानन्दितं दृष्ट्वा ग्रामीणो वक्ति तं मुहुः।
त्वया यस्तु निधिः प्राप्तस्तं प्रदर्शय मामपि।।६६।। (१०३७)

ननु लोकप्रतीत्यविषये विदुषि ब्रह्मानन्दे वर्त्तमाने कथं सम्भावना कार्या इत्याशङ्क्य, तस्य क्वचित्क्वचिल्लोकदृष्टावपि प्रतीतिविषयत्वं दर्शयति **मुनिमिति। ग्रामीणो** ग्रामे भवो ग्रामीणः संसारी मूढ इत्यर्थः, **मुनिं** विवेकिनं, **आनन्दितं** आनन्दो निरतिशयं सुखं सञ्जातमस्य स तथोक्तस्तं सुखसाधनविषयाभावेपि सुखितमित्यर्थः, **दृष्ट्वा** अवलोक्य, **तं** मुनिं **मुहुः** पुनः पुनः, **त्वया** भवता, **यस्तु** यत्प्रकारको लोकविलक्षणो, **निधिः** निधीयन्ते स्थाप्यन्ते सर्वसुखानि अस्मिन्निति निधिः ब्रह्मसुखं सः, **प्राप्तो** लब्धः, **तं** ब्रह्मानन्दं, **मामपि** संसारदुःखदुःखितं मां प्रत्यपि, **प्रदर्शय** समर्पय, इति एवं **वक्ति** वदति, अज्ञानिदृष्टावपि क्वचित् क्वचिद् ब्रह्मानन्दो ज्ञानिनि प्रतीयत एव अन्यथा तत्प्रार्थनानुपपत्तेरतस्तत्र तत्सत्त्वं सम्भाव्यमिति भावः।।६६।। (१०३७)

इदानीं स आनन्दो गुरुकृपां विना न लभ्यत इत्याशयेन गुरुप्रतापं वर्णयति **वञ्चकैः इति। हे तात** हे शिष्य, **वञ्चकैः** स्वासक्तपुरुषान्वञ्चयन्ति लुण्ठन्ति ते वञ्चकाः तैः, **विषयैः** स्त्र्यादिपदार्थैः, **के के** ब्रह्मादयोपीत्यर्थः,**न वञ्चिताः** स्वरूपं विस्मार्य लुण्ठिता न भवन्तीति, त्वं **वद** कथय, सर्वे ब्रह्मादयोपि विषयैः वञ्चिता एवेति भावः, विषयाणामेतादृशे सामर्थ्येपि एतेपि ईदृशप्राबल्यवन्तोपि प्रत्यक्षा विषयाः **पुरुषव्याघ्रैः** पुरुषाः पौरुषसम्पन्ना उद्योगिनस्तेषु व्याघ्राः श्रेष्ठा मोक्षसाधनवन्त

(ऊपर के मन से) घर के कामों में लगी हुई भुक्तभोगा कामिनी की तरह योगी लोग भी अपने (ज्ञानसंस्कारी) मन से (संसारी) मन को आनन्दित करते रहते हैं।

योगवित् पुरुष शरीररूपी घर के स्नान संध्या आदि वैदिककर्मों में, गर्भाधानादि से लेकर मरणपर्यन्त स्मार्त कर्मों में, खाना पीना आदि लौकिक कर्मों में फँसा रहने पर भी अथवा द्रव्योपार्जन आदि घर के कामों में लगा हुआ सा रहने पर भी, अपने आत्मसुखानुभव करने वाले मन से, शरीर के व्यापार में लगे हुए मन को भी, आनन्दित करता है। अर्थात् प्रपंच के दुःख का स्पर्श अपने मन में नहीं होने देता। तात्पर्य यह है कि लोकदृष्टि से ज्ञानी में व्यवहार के प्रतीत होने पर भी उसको सदा ही ब्रह्मसुख की अखण्ड स्फूर्ति बनी ही रहती है।।६५।।

(सुख के साधन विषयों के पास न होने पर भी) मुनि को अत्यन्त आनन्दित देखकर कोई ग्रामीण मनुष्य उससे बार-बार पूछने लगा, कि तैंने जिस निधि को पाया है, (जिससे तू इतना आनन्दित हो रहा है) उसको मुझे भी तो दिखा दे!

अज्ञानी लोगों की दृष्टि में भी कभी-कभी ज्ञानी लोगों में ब्रह्मानन्द का भान हो जाता है। ज्ञानी लोगों की आनन्दित आकृति उनके शान्त ब्रह्मदर्शीपने को झलकाने लगती है।।६६।।

वञ्चकैर्विषयैस्तात वद के के न वञ्चिताः।
गुरुभिः पुरुषव्याघ्रैर्नूनमेतेपि वञ्चिताः।।६७।। (१०३८)
शीर्षे घटसहस्राम्भः पातयन्तु जडा जनाः।
मौनमेवावलम्बेत शिवलिङ्गमिवात्मवित्।।६८।। (१०३९)

इत्यर्थः तैः, **गुरुभिः** गृणन्ति हितमुपदिशन्ति ते गुरवः तैः, **नूनं** निश्चयेन, **वञ्चिता** लुण्ठिताः स्वाधीनीकृता इत्यर्थः, अतः स्वशरणागतसर्वदुःखनिरसने गुरुरेव समर्थ इति तमेव मुमुक्षुभिः शरणं गन्तव्यमिति भावः।।६७।। (१०३८)

ननु प्रपञ्चपरित्यागेन मोक्षेच्छया गुरौ शरणं गतेपि स्वदेहसम्बन्धिजनकृतोपद्रवेण विघ्नः स्यात्तत्राह **शीर्ष इति**। हे शिष्य **शिवलिङ्गमिव** यथा शिवस्य महादेवस्य लिङ्गं चिह्नं पूजास्थानं प्रतिमाविशेष इति यावत्, तत् **जडा** मूढा, **जना** लोकाः **शीर्षे** शिरसि, **घटसहस्राम्भो** घटानां कुम्भानां सहस्राणि अपरिमिता घटा इत्यर्थः, तत्परिमितमम्भो जलं **पातयन्तु** तथापि **मौनमेव** केवलं तूष्णींभावमेव, अवलम्बति आश्रयति तन्निवारणं तदसहनं वा न करोतीत्यर्थः, **तथा** तद्वद् **आत्मविद्** आत्मज्ञानी, **जडा** मूर्खा, **जना** लोकाः, स्वसंबन्धिदृश्यदेहे **शीर्षे** शिरसि, घटसहस्राम्भः पातसदृशानपरिमितानुपद्रवान्कुर्वन्तु तथाप्यात्मनि देहत्रयातीते तदसम्बन्धं निश्चित्य **मौनमेव** मनोलयरूपं ब्रह्मभावमेव केवलं, **अवलम्बेत** आश्रयेत न तत्प्रत्याख्याने प्रवर्त्तितव्यमिति भावः।।६८।। (१०३९)

हे शिष्य, लोगों को धोखे में डालने वाले इन विषयों ने किन-किन लोगों को धोखे में नहीं डाल दिया! परन्तु सकल जगत् के हितोपदेशक उद्योगी मुमुक्षु पुरुषसिंहों ने तो इन विषयों को भी ठग डाला है।

इस पराक्रम के कारण ऐसे महात्मा गुरु लोग ही अपने शरणागत के दुःख को हटा सकते हैं। मुमुक्षु लोगों को उचित है कि सर्वभाव से ऐसे गुरुओं की शरण में जाकर आत्मनिवेदन कर दें। अन्यथा उस निरतिशय आनन्द को प्राप्त करने की तालिका का हाथ लगना असंभव ही है।।६७।।

मूर्ख लोग चाहे ज्ञानी के सिर पर हज़ारों घड़े पानी उड़ेल दें परन्तु ज्ञानी को शिवलिंग की तरह चुप्पी साधे रहना चाहिये।

शिवलिंग पर जिस प्रकार लोग हज़ारों घड़े पानी डालते हैं और वह मौन ही रहता है (न उसे हटाता ही है और न उसे असहन ही करता है) इसी प्रकार आत्मदर्शी विद्वान् को भी उचित है कि अज्ञानी लोग इस दृश्यदेहरूपी सिर को तंग करने के लिये चाहे निन्दा आदि हजारों उपद्रव करें तथापि यह निश्चय करके किइन बुराइयों तथा कष्टों का मेरे देहत्रयातीत आत्मा से तो कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो पाता हैमौन ही कर लिया करेअर्थात् मनोलयरूपी ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाया करे, उनके लगाये

सविचारास्तु गुरवो विरक्ता गुरुसत्तमाः।
विचारेपि विरक्ता ये गुरूणां गुरवो हि ते।।६९।। (१०४०)
दुस्त्यजान्विषयान्मूढो जिज्ञासुरपि मुञ्चति।
विदां तद्रागदोषस्य त्यागे किमिव दुष्करम्।।७०।। (१०४१)

ननु गुरवोपि बहवः सन्ति मुमुक्षुभिः क आश्रयणीया इत्याशङ्क्याह **सविचारा इति।** लोकप्रसिद्धगुरुषु मध्ये **सविचारास्तु** विचार आत्मानात्मविवेकस्तेन सह वर्त्तमानाः, **तुशब्देन** लोकप्रसिद्धगुरुभ्य एतेषां श्रैष्ठ्यं दर्शितमतस्तत्सेवनमेव मुमुक्षुभिः कार्यमिति भावः। ततोपि **विरक्ता** वैराग्यसंपन्नाः, सविचाराश्च ये वर्त्तन्ते ते **गुरुसत्तमाः** पूर्वोक्तसविचारगुरुषु सत्तमाः श्रेष्ठा इत्यर्थः, **ते** सेवनीयाः। ततोपि विचारवैराग्यफलं ब्रह्मानन्दं प्राप्ताः सन्तो **ये विचारेपि** विवेकेऽपिशब्दाद्वैराग्ये प्रयोजनाभावाद् **विरक्ता** उदासीनाः सन्ति ते, **हि** प्रसिद्धा, **गुरूणां** मध्ये **गुरवः** पूज्याः सन्ति, अतः पूर्वोक्तोभयविधेभ्य एतेऽत्यादरेण मुमुक्षुभिः सेव्या इति भावः।।६९।। (१०४०)

ननु विषयाणां दृश्यमानत्वाद् ब्रह्मसुखस्य तु वृत्त्यविषयत्वेनादृश्यत्वाच्च तदिच्छया विषयसुखत्यागो दुष्कर इत्याशङ्क्याह **दुस्त्यजान् इति। मूढः** केवलमज्ञो, द्वेषादिना **विषयान्** स्त्र्यादिपदार्थान्, **मुञ्चति** परित्यजति, **जिज्ञासुरपि** मुमुक्षुरपि ज्ञानप्राप्त्यभावादज्ञान्येव सोपि, **दुस्त्यजान्** दुःखेनातिक्लेशेन त्यक्तुं योग्यानपि विषयान् धनादिपदार्थान्, **मुञ्चति** परित्यजति, **तत्** तस्माद्धेतोः, **विदां** ज्ञानिनां, **रागदोषस्य** रागो विषयप्रेमा स एव दोषो दूषणं बन्धकत्वात् तस्य, **त्यागे** विसर्जने, **दुष्करं** दुःसंपादं, **किमिव** किमु अस्ति न किमपि दुष्करं ज्ञानिनामित्यर्थः।।७०।। (१०४१)

ननु सांसारिकवार्त्ताभिर्ज्ञानिनो ब्रह्मसुखानुसन्धानं व्याहन्येत? तत्राह **जायेत इति। यथा** यद्वद् **जागरे** जाग्रन्नामन्यवस्थाविशेषे, **समनुप्राप्ते** सम्यगुपलब्धे सति, **नृणां** मनुष्याणां, स्वप्नवार्ता जाग्रत्स्वानुभवविघाताय न भवति **तथा** तद्वत् **जातबोधानां** जात उत्पन्नो बोधः स्वस्मिन् ब्रह्मत्वज्ञानं

दूषणों का प्रत्याख्यान करने के लिये अपने मन को कदापि विक्षिप्त न करे। ऐसा करने पर कोई भी उपद्रव मोक्षमार्ग में विघ्न नहीं कर सकेगा।।६८।।

विचारवान् भी गुरुभाव से पूजने चाहिये। यदि विचार और वैराग्य दोनों से युक्त हों तब तो वे ही श्रेष्ठ गुरु कहाते हैं। परन्तु जिनको विचार में भी वैराग्य हो गया हो वे तो गुरुओं के भी गुरु कहे जाते हैं। वे ही श्रेष्ठतम हैं।।६९।।

देखते हैं कि मूर्ख अज्ञानी लोग तो क्रोध आदि के कारण दुस्त्यज स्त्री पुत्र आदि विषयों को छोड़ देते हैं और मुमुक्षु लोग जिज्ञासु होने के कारण बड़े दुःख से छूटने वाले धनादि विषयों को (बड़ी प्रसन्नता से) छोड़ बैठते हैं। फिर भला उनके रागरूपी दोष को जानने वाले ज्ञानी लोग विषयों को छोड़ बैठें तो इसमें कौनसी कठिन बात है? (ऐसी अवस्था में यह शंका न करनी चाहिये कि अदृश्य ब्रह्मानन्द की इच्छा से दृश्य विषयसुख का त्याग क्योंकर किया जा सकता है?)।।७०।।

जायेत जातबोधानामपि सांसारिकी कथा।
जागरे समनुप्राप्ते यथा स्वप्नकथा नृणाम्।।७१।। (१०४२)
मोहेन विस्मृते दृश्ये सुषुप्तिरनुभूयते।
बोधेन विस्मृते दृश्ये तुरीयमवशिष्यते।।७२।। (१०४३)
दृश्यं चेत्स्याद्रविर्न स्यात्तम एकं तदा किल।
रविश्चेत्स्याज्जगच्च स्याद् व्यवहारस्तदा किल।।७३।। (१०४४)

येषां तेषां ज्ञानिनामपि, **सांसारिकी** संसारविषयिणी, **कथा** वार्त्तापि, स्वात्मानुसन्धानविरोधिनी **न जायेत** न स्यादित्येवं सम्भावनीयमिति भावः।।७१।। (१०४२)

ननु तुर्यसुषुप्तयोर्दृश्यभानाविशेषे तद्भेदःकिन्निबन्धन इत्याशङ्क्याह **मोहेन इति**। हे शिष्य **मोहेन** स्वरूपाज्ञानेन, **दृश्ये** जगति, **विस्मृते** विस्मरणविषयीकृते सति, **सुषुप्तिः** निद्रा ज़ीवेन कर्त्रा, **अनुभूयते** दृश्यते, तेनैव जीवेन **बोधेन** जीवब्रह्मैक्यजगदसत्त्वज्ञानेन, **दृश्ये** जगति, **विस्मृते** विस्मरणविषयीकृते सति, **तुरीयं** प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म, **अवशिष्यते** अवशिष्टं भवति, मोहबोधौ सुषुप्तितुर्ययोर्दृश्यभानाऽविशेषेपि भेदहेतुर्भवत इति भावः।।७२।। (१०४३)

इदानीं जगत्सूर्यव्यवहारभेदेन दृष्टान्तेनात्मजगद्व्यवहारभेदं निरूपयति सार्धचतुर्भिः **दृश्यमित्यादिभिः**। हे शिष्य **चेद्** यदि, **दृश्यं** जगत्, **स्यात्** भवेत्, **चेद्** यदि, **रविः** सूर्यो, **न स्यात्** न भवेत् न दृग्गोचरो भवेदित्यर्थः, **तदा** तस्मिन्समये, **एकं** केवलं, **तमः** अन्धकारः, **किल** निश्चयेनानुभूयते, यदा च **चेद्** यदि, **रविः** सूर्यः **स्याद्** भवेत्, **चेद्** यदि, जगदपि **स्याद्** भवेत् **तदा** तस्मिन्समये, **व्यवहारः** क्रयादिरूपो व्यापारः, **किल** निश्चयेन, अनुभूयते। जगत्सत्त्वे सूर्यासत्त्वे चान्ध्यमेव, सूर्यजगतोः सत्त्वे व्यापार एव जायत इति भावः।।७३।। (१०४४)

जिस प्रकार जाग जाने पर भी मनुष्य सपने की कथा किया करते हैं इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष भी सांसारिक बातें कर ही सकते हैं। (केवल सांसारिक कथावार्ता करते देखकर ही उनके ब्रह्मज्ञ होने में सन्देह करना ठीक नहीं होता)।।७१।।

मोह से जब कोई जीव दृश्यजगत् को भूल जाते हैं तो वे सुषुप्ति में पहुँच जाते हैं। परन्तु आत्मदर्शनरूपी बोध से जब इस दृश्यजगत् का विस्मरण होता है तो तुरीय ब्रह्म ही शेष रह जाता है। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति तथा तुर्यावस्था में दृश्यजगत् का न दीखना यद्यपि समान ही होता है परन्तु मोह और बोध के कारण इन दोनों में भेद हो गया है। यदि सुषुप्ति में मोह न रहे तो वह तुर्यावस्था हो सकती है।।७२।।

यह दृश्य जगत् तो बना रहे परन्तु सूर्य न हो तो उस समय केवल अन्धकार ही अन्धकार दीख पड़ेगा। परन्तु जब कि सूर्य भी हो और जगत् भी हो तो उस समय सकल व्यापार दिखाई देने लगते हैं। (तात्पर्य यह है कि जगत् के होने और सूर्य के न होने पर अन्धापन तथा सूर्य और जगत् दोनों के होने पर व्यापार हुआ करता है)।।७३।।

रविरस्ति जगन्न स्याज्ज्योतिरेकं तदा किल।
इति लोकस्थितिः पुत्र परमार्थगतिं शृणु।।७४।। (१०४५)
नित्यो हि रविरस्माकं तस्य नाशो न विद्यते।
तमोभूतेपि सकले तमःसाक्षी सदव्ययः।।७५।। (१०४६)

किञ्च **रविः इति। चेद्** यदि, **रविः** सूर्यः, **स्याद्** भवेत्, **जगद्** विश्वं, **न स्यात्** न भवेत्, **तदा** तस्मिन् समये, **एकं** केवलं, **ज्योतिः** तेजोरूपः सूर्य एव, **किल** निश्चयेन अनुभूयते, उक्तां लोकस्थितिं दृष्टान्तभूतां उपसंहृत्य परमार्थगतिं निरूपयिष्यन् तच्छ्रवणे शिष्यमभिमुखीकरोति **इति** इत्येवंप्रकारा **लोकस्थितिः** लोकस्य लौकिकव्यवहारस्य स्थितिर्गतिः कथितेति शेषः, **हे पुत्र** हे शिष्य, त्वमित ऊर्ध्वं **परमार्थगतिं** परमार्थो दार्ष्टान्तिकः साक्षिचैतन्यसाक्ष्यजगद्व्यवहाररूपोऽर्थस्तस्य गतिः स्थितिः तां **शृणु** अवधारय।।७४।। (१०४५)

तां प्रतिज्ञातामेव परमार्थगतिं निरूपयिष्यंस्तत्र विशिष्टं सूर्यं प्रदर्शयति **नित्य इति। हि** सर्वत्र वेदान्ते प्रसिद्धो, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध' इति श्रुतेर्विद्वदनुभवसिद्धश्च **अस्माकं** ज्ञानिनां, **रविः** चित्सूर्यः सूर्यादिसर्वजगत्प्रकाशक इत्यर्थः, **नित्यः** कालत्रयाबाध्योऽस्ति विद्यते, अतस्तस्य **नाशः** अभावो, **न विद्यते** नास्ति, नाशादिसर्वजगत्प्रकाशकस्य नाशेऽङ्गीकृते नाशसाक्षिणोऽभावान्नाशासिद्धेः। कुत इत्यत आह **तमोभूत इति। सकले** समस्ते जगति, **तमोभूते** तमसि तमोरूपप्रकृतौ लयेन तन्मात्रे स्थिते सति, तदा तस्मिन्समये जगल्लयरूपतमसः प्रकृतेः **साक्षी** साक्षादव्यवधानेन प्रकाशकतया विद्यमानोऽत एव सदव्ययः सद्रूपोऽव्ययश्चापरिणामी, अव्ययत्वे सद्रूपत्वं हेतुः सद्रूपत्वे चाव्ययत्वं ज्ञेयः, अस्ति अतो नाशाभावान्नित्यत्वं चित्सूर्यस्येति भावः।।७५।। (१०४६)

एवं दृष्टान्तस्थितिमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकीं प्रतिज्ञातां परमार्थगतिं निरूपयति **रविः इति। समाधानवतः** समाधानं समाधिः विद्यतेऽस्य स तथोक्तस्तस्य, **मुनेः** ज्ञानिनो, **रविः** चित्सूर्यः, समाधिसाक्षित्वेन प्रकाशमानोऽस्ति विद्यते **जगद्** विश्वं, **नास्ति** न विद्यते **अनेन** उक्तलक्षणेन, **हेतुना** कारणेन, **तदा** समाध्यवस्थायां, **एकं** केवलं अद्वितीयं, **ज्योतिः** आत्मचैतन्यं,

कल्पना कर लो कि सूर्य तो है परन्तु यह दृश्यजगत् नहीं रहा है, तो उस समय केवल एक ज्योतीरूप सूर्य ही होगा। यह हमने लोक की मर्यादा दिखाई। हे पुत्र! इसके पश्चात् अब तुम हमसे परमार्थ की स्थिति को भी (इसी दृष्टान्त के अनुसार) समझ लो।।७४।।

हम ज्ञानी लोगों का चैतन्यसूर्य तो एक नित्य पदार्थ है। उसका तो कभी भी नाश नहीं होता। जबकि यह सब जगत् तमोरूप प्रकृति में लीन हो रहा था, उस तम का साक्षी सद्रूप तथा अपरिणामी यह चिदादित्य तो तब भी विद्यमान था ही।।७५।।

रविरस्ति जगन्नास्ति समाधानवतो मुनेः।
अनेन हेतुना साधो ज्योतिरेकं तदा किल।।७६।। (१०४७)
रविरस्ति जगच्चास्ति व्यवहारावलोकिनः।
रविर्नास्ति जगन्नास्ति तम एकं तदा किल।।७७।। (१०४८)
प्रकाश्यापगमे पुत्र प्रकाशः किं प्रकाशयेत्।
प्रकाश्यत्वविनाशेपि प्रकाशत्वमखण्डितम्।।७८।। (१०४९)

किल निश्चयेनास्तीति ज्ञेयम्।।७६।। (१०४७)

किञ्च **रविः इति व्यवहारावलोकिनो** व्यवह्रियते व्याप्रियतेऽस्मिन्निति व्यवहारो जाग्रदवस्था तमवलोकयितुं शीलमस्येति स तथोक्तस्तस्य ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा, **रविः** चित्सूर्यो जाग्रत्साक्षित्वेन प्रकाशमान इत्यर्थः, **अस्ति** विद्यते, **जगच्च** विश्वं अस्ति विद्यते, किञ्च सुषुप्तस्य निद्रितस्य ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा अज्ञानेनावृतत्वादप्रतीयमानो **रविः** चित्सूर्यो, **नास्ति** न विद्यते, **जगच्च** विश्वमपि लीनत्वात्, **नास्ति** न विद्यते, **तदा** तस्मिन्समये, **तमः** अज्ञानं, अस्ति विद्यते।।७७।। (१०४८)

ननु समाधावात्मप्रकाशो यदि स्यात्तर्हि जाग्रतीव कुतो न भासते? तत्राह **प्रकाश्येति। हे पुत्र** हे शिष्य, **प्रकाश्यापगमे** प्रकाश्यमात्मप्रकाशविषयभूतं जगत् तस्यापगमे नाशे सति, **प्रकाशः** चित्सूर्यश्चेतनारूपः, **किं** वस्तु, **प्रकाशयेत्** प्रकाशितं कुर्यात्, अतो विद्यमानोपि जाग्रतीव न प्रकाशत इति भावः, ननु प्रकाश्याभावेन जाग्रतीव न प्रकाशते किं वा स्वाभावेनेत्यत्र किं विनिगमकमित्याशङ्क्य, जगन्नाशप्रकाशान्यथानुपपत्त्या प्रकाश्याभावेपि तस्य भावोभ्युपेय इत्याशयेनाह **प्रकाश्यत्वेति। प्रकाश्यत्वविनाशेपि** प्रकाश्यं चित्प्रकाशविषयं जगत् तस्य भावस्तत्त्वं तस्य विनाशे लये सत्यपि, **प्रकाशत्वं** चिन्मात्ररूपत्वं, **अखण्डितं** अविनाशि अस्त्येव इति अभ्युपेयं अन्यथा नाशस्याप्यसिद्धेरिति भावः।।७८।। (१०४९)

इदानीं प्रसिद्धसूर्यादात्मसूर्ये विशेषं दर्शयति **आयातु इति**। हे शिष्य **भानोः** सूर्यस्य,

निर्विकल्प समाधि में डूबे हुए मुनि की दृष्टि में (समाधि का साक्षी) वह चित्सूर्य तो रहता ही है परन्तु तब यह जगत् नहीं रह जाता। हे साधो! इसी से तुम यह भी समझ लो कि समाधि के समय एक केवल अद्वितीय आत्मज्योति शेष रह जाती है।।७६।।

(ज्ञानी अथवा अज्ञानी) जब व्यवहार को देखने लगते हैं तो उस समय यह चैतन्यसूर्य भी (जोकि उस अवस्था का साक्षी है) विद्यमान रहता है। उसके साथ ही यह विश्व भी रहता ही है। परन्तु जब तो वे सुषुप्तावस्था में पहुँच जाते हैं तो अज्ञानावृत हो जाने के कारण प्रतीत न होने से (यह रवि) चैतन्यसूर्य भी नहीं रहता तथा (लीन हो जाने से) यह विश्व भी नहीं रह जाता। तब तो केवल अज्ञान ही शेष रह जाता है।।७७।।

आयातु यातु वा भानोः प्राकाश्यं निजहेतुभिः ।
न मम स्वप्रकाशस्य किञ्चिदायाति गच्छति ।।७६।। (१०५०)

इति बोधसारे ज्ञानगङ्गातरङ्गोनाशीतिकं त्रिचत्वारिंशम् ।।४३।।

प्राकाश्यं प्रकाशरूपत्वं, जगत्प्रकाशनशक्तिर्वा प्रकाशविषयं जगच्च **निजहेतुभिः** निजाः स्वीया हेतवः कर्मोपासनादिरूपाणि कारणानि तैः, आयातु आगच्छतु, **यातु वा** गच्छतु वा, सूर्यस्य तेजोरूपत्वं जगत्प्रकाशकत्वं तत् प्रकाश्यं जगच्च सर्वमेतत् कृतकत्वाद् अनित्यमिति भावः, **स्वप्रकाशस्य** स्वतः-सिद्धप्रकाशरूपस्य, **मम** मे आत्मसूर्यस्येत्यर्थः, **किञ्चित्** प्रकाशरूपत्वं जगत्प्रकाशकत्वं वा, जगद्वा प्रकाश्यम् आयाति नाऽऽगच्छति, **न गच्छति** न नश्यति, आत्मसूर्यप्रकाशस्य नित्यत्वात् प्रकाशनशक्तेर्जगतश्च पृथगसत्त्वाच्च न किमप्यात्मसूर्य उत्पद्यते विनश्यति चेत्ययं लौकिकसूर्यादात्मसूर्ये विशेष इति भावः ।।७६।। (१०५०)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ ज्ञानगङ्गातरङ्गोनाशीतिकार्थप्रकाशस्त्रिचत्वारिंशः ।।४३।।

एवं ज्ञानगङ्गातरङ्गोनाशीतिकाख्यं प्रकरणमभिधाय इदानीं 'मन एव मनुष्याणाङ्कारणं बन्धमोक्षयोरि'त्यादिश्रुतिषूक्तं मनोनिरोधे यत्नदार्ढ्याय मनोमाहात्म्यं तदत्र निरूपयितुं मनोमहिमाख्यं

हे शिष्य! (समाधि अवस्था में) जबकि यह प्रकाश्य जगत् ही नहीं रहता तो फिर यह हमारा चैतन्यसूर्य किस पदार्थ को प्रकाशित करे? (यही कारण है कि समाधि अवस्था में विद्यमान भी यह आत्मप्रकाश जाग्रत् अवस्था की तरह किसी को प्रकाशित नहीं करता है)। प्रकाश्यता के न रहने पर भी प्रकाशता (चिन्मात्ररूपता) तो अविनाशी रूप से बनी ही रहती है।।७८।।

लौकिक सूर्य में अपने कारणों से प्रकाश्य आये या चला जाये। परन्तु मैं जो स्वप्रकाश सूर्य हूँ, मुझमें तो न कहीं से कुछ आता ही है और न कहीं को कुछ जाता ही है।

यह लौकिक सूर्य स्वयंप्रकाश नहीं है किन्तु यह रूप तो इसे कर्म तथा उपासना आदि के कारण मिला हुआ है। जब वे कर्म तथा उपासनायें भोग के द्वारा क्षीण हो जायेंगे तब यह सूर्य न तो तेजोरूप ही रहेगा और न तब यह जगत् का प्रकाश ही कर सकेगा। परन्तु मैं जो स्वतःसिद्ध प्रकाशरूप आत्मसूर्य हूँ, मुझ में न तो कुछ कहीं से आता ही है और न कुछ कहीं को जाता ही है। इस आत्मसूर्य का प्रकाश नित्य है, इसकी प्रकाशनशक्ति भी नित्य ही है; तथा यह जगत् भी इससे भिन्न कुछ नहीं है, इसलिये इस आत्मसूर्य में न कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ नष्ट ही होता है। इस लौकिक सूर्य से इस आत्मसूर्य में यही विशेषता है।।७६।।

अथ मनोमहिमा

किं बद्धमसि मुक्तं वा मनः पृच्छ महामुने।
यदि बद्धमिति ब्रूयात्तर्हि बद्धोऽस्यसंशयः।।१।। (१०५१)
किंचिन्मुक्तमिति ब्रूयात्किंचिन्मुक्तोसि मोहतः।
यदि मुक्तमिति ब्रूयात्तर्हि मुक्तोसि मोहतः।।२।। (१०५२)

सार्धषट्श्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथ इति**। **अथ** ज्ञानगङ्गातरङ्गोनाशीतिकनिरूपणानन्तरं, **मनोमहिमा** मनसः चेतसो महिमा महत्त्वनिरूपकं प्रकरणं निरूप्यत इति शेषः। तत्रादौ आत्मनो नित्यमुक्तत्वात् मनःकृतावेव बन्धमोक्षावात्मनि प्रतीतौ भवत इति तौ विवेकेन मनस्येव विज्ञेयौ इत्याशयेनाह द्वाभ्याम् **किमित्यादिभ्याम्**। **हे महामुने** महाविवेकिन्, **त्वं** भवान्, **हे मनः** त्वं, **बद्धं** गुणैर्बन्धनं प्राप्तं, **असि** भवसि **किं** किं वा **मुक्तं** गुणतो मुक्तिं प्राप्तं **असि** भवसीत्येवं, **मनः** चेतः, **पृच्छ** अनुयोजय। तन्मनः कर्त्तृ त्वाम् अहं **बद्धं** संसारि अस्मीत्येवं, **ब्रूयात्** कथयेद्, **यदि** यर्हि, **तर्हि** तदा, त्वं **बद्धोसि** मनःकृतं बन्धनं त्वयि अस्तीत्यत्र, **असंशयो** न संशयोऽस्ति।।१।। (१०५१)

किञ्चिद् इति। **यदि** यर्हि, **किञ्चित्** स्वल्पं बाह्यवैराग्यादिना, कुतःकुतश्चित् संसारधर्मान् **मुक्त**महमस्मीत्येवं तन्मनः चित्तं **ब्रूयात्** वदेत्, **तर्हि** तदा, त्वं **मोहतः** अज्ञानात्, **किञ्चित्** स्वल्पं, **मुक्तो** मोक्षं प्राप्तोऽसीति निश्चेतव्यं। **यदि** यर्हि, तन्मनोऽहं **मुक्तं** मोक्षं प्राप्तमस्मीत्येव **ब्रूयात्** कथयेत्, **तर्हि** तदा, त्वं **मोहतः** अज्ञानात्, **मुक्तो** मोक्षं प्राप्तोसीति ज्ञेयम्।।२।। (१०५२)

ननु मनःकृतावेव बन्धमोक्षावात्मनि प्रतीयेते इति कुत उच्यते, वास्तवावेव तौ कुतो न स्त इत्याशङ्क्याह **बद्धेन इति**। हे शिष्य अयं मम प्रत्यक्षमनुभूयमान आत्मा **बद्धेन** विषयासक्तिमता, **मनसा** अन्तःकरणेन, **बद्धो** बन्धनं प्राप्तोऽस्ति, स एव **मुक्तेन** विषयानासक्तेन **चेतसा** अन्तःकरणेन, **मुक्तो** मोक्षं प्राप्त इत्यनुभूयते। वस्तुतस्तु आत्मनः चेतसः पृथगसत्त्वात् चेतसस्तत्कृतबन्धमोक्षयोश्चासत्त्वाच्चाऽ**य**मात्मा **न बद्धो** न बन्धनं प्राप्तो, **न च** नैव, **मुक्तो** मोक्षं प्राप्त इत्येव, **वेदान्तनिर्णयो** वेदान्तानामुपनिषदां निर्णयः सिद्धान्तोऽस्ति। तथा च श्रुतिः

'मन को रोकने में ही साधकों को अत्यधिक यत्न करना चाहिये' यह दिखाने के लिये 'मनोमहिमा' नाम का यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

हे महामुने, तुम अपने मन से पूछकर देख लो कि मन! तुम (गुणों से) बद्ध हो किंवा मुक्त हो गये हो? यदि वह मन तुम से यह कहे कि 'मैं तो बद्ध (संसारी) हूँ' तब तो तुम यह जान लो कि तुम वस्तुतः बद्ध ही हो। (क्योंकि तुम में मन का किया हुआ बन्धन विद्यमान ही है। यदि तो इसी प्रश्न के उत्तर में तुम्हारा मन यह कहे कि 'मैं तो कुछ-कुछ मुक्त हूँ' तब तुम यह समझ लो कि तुम भी अभी तक अज्ञान से थोड़े से ही मुक्त हो पाये हो। परन्तु यदि तुम्हारा मन यह कहने को तैयार हो कि 'मैं मुक्त हो गया हूँ' तो तुम भी यह निश्चय कर लो कि मैं अज्ञान से सर्वथा मुक्त हो चुका हूँ।।१-२।।

बद्धेन मनसा बद्धो मुक्तो मुक्तेन चेतसा।
न बद्धो न च मुक्तोऽयमिति वेदान्तनिर्णयः।।३।। (१०५३)
स्फुरन्ति महिमानो ये यत्र यत्र जगत्त्रये।
ते सर्वे मनसो धर्मा मनो हि महिमाश्रयम्।।४।। (१०५४)
अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं मनसो गुणाः।।५।। (१०५५)

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता' इति।।३।। (१०५३)

इदानीं ब्रह्मविष्ण्वादिषु, यन्महत्त्वं प्रतीयते तदपि मनःकृतमेवेत्याशयेनाह **स्फुरन्ति इति**। **जगत्त्रये** त्रैलोक्ये, **यत्र यत्र** ब्रह्मविष्ण्वादिषु, **ये** पुराणादिषु वर्णिताः श्रुताश्च, **महिमानो** महत्त्वानि, **स्फुरन्ति** भासन्ते, **ते सर्वे** समस्ता, **मनसः** चेतसो, **धर्मा** गुणा ज्ञेयाः, तेषां मनःकल्पनामात्रत्वादिति भावः। कुत इत्यत आह **मन इति**। **हि** यस्मात्कारणात् **मनः** चित्तं, **महिमाश्रयम्** महिम्नो महत्त्वस्याश्रयमाधारोऽस्ति सर्वमहत्त्वस्य मनःकल्पितत्वादिति भावः।।४।। (१०५४)

किञ्च अणिमादिसिद्धयोपि मनस एव गुणा इत्याह **अणिमा इति**। अणिमानाम्नी सिद्धिः **महिमा** महिमानाम्नी सिद्धिः, **लघिमा** लघुत्वसन्धारणरूपा योगजन्या शक्तिः, तथा **गरिमा** गुरुत्वसन्धारणरूपा योगजन्या शक्तिः, **प्राप्तिः** प्राप्तिनाम्नी सिद्धिः, **प्राकाम्यं** प्राकाम्यनाम्नी सिद्धिः, **ईशित्वं** ईशित्वनाम्नी सिद्धिः, **वशित्वं** वशित्वनाम्नी सिद्धिः, एते सर्वे **मनसः** अन्तःकरणस्य, **गुणा** धर्माः, सन्तीति ज्ञेयम्।।५।। (१०५५)

यह हमारा आत्मा बद्ध अर्थात् विषयासक्त मन से तो बद्ध हो जाता है तथा मुक्त अर्थात् विषयों से विरक्त चित्त से मोक्ष को पा लेता है। यह आत्मा अपने आप न तो बद्ध ही है और न मुक्त ही है, ऐसा वेदान्तों ने निर्णय किया है।।३।।

इस त्रिलोकी के अन्दर जहाँ कहीं भी महत्तायें प्रतीत हो रही हैं, वे सब इस मन के ही तो धर्म हैं। क्योंकि यह मन ही महिमा का आधार है। (संसार के सकल महत्त्वों को इसी ने कल्पित कर रक्खा है)।।४।।

योग से उत्पन्न होने वाली, अणिमा (सूक्ष्म हो जाना) महिमा (बहुत बड़ा बन जाना) लघिमा (हल्का हो जाना) गरिमा (भारी बन जाना) प्राप्ति (दूर के चन्द्र आदि पदार्थों को भी इन्द्रियों से प्राप्त कर सकना) प्राकाम्य (यथेच्छ कार्य कर सकना, जल के समान भूमि में भी प्रवेश कर सकना आदि) ईशित्व (नये पदार्थों को उत्पन्न अथवा नष्ट कर देना) तथा वशित्व (सब भूतभौतिक पदार्थों पर अपना प्रभुत्व जमा सकना, नदी के प्रवाह तथा अग्नि की ज्वालाओं तक को अपने पास न आने देना) ये भी सब मन के ही तो धर्म हैं।।५।।

मनो धनुर्मनो मौर्वी मन एव धनुर्धरः।
मनो लक्ष्यं मनो वेधो मनो विद्धं विमुक्तये।।६।। (१०५६)

किञ्च **मन इति। मनः** अन्तःकरणं, **धनुः** शरासनं ज्ञेयं, 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यत' इति श्रुत्युक्तरूपके धनुःशब्दवाच्यः प्राणवोपि मन एव ज्ञेयं मनःकल्पितत्वात् तस्य इति भावः, एवमुत्तरत्रापि प्रणवद्वारा ब्रह्मरूपलक्ष्ये चेतोवृत्तिरूपशरप्रवृत्तेः, तथा तत्रैव रूपके **मौर्वी** मूर्वं नाम तृणविशेषः तत उत्पन्ना मौर्वी धनुःप्रत्यञ्चा, सापि **मन एव** अन्तःकरणमेव, तस्या अपि मनःकल्पितत्वात्, किञ्च **धनुर्धरो** धनुःशब्दवाच्यस्य प्रणवस्य धरो धारकः प्रणवधारणाभ्यासीत्यर्थः, सोपि मन एव तस्यापि मनःकल्पितत्वेन मनोमात्रत्वात्, किञ्च **लक्ष्यं** लक्षणावृत्त्या बोध्यं ब्रह्मापि 'ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यत' इति श्रुतेस्तदपि **मनः** अन्तःकरणं ज्ञेयमुभयोरेकसत्ताकत्वात्; ब्रह्मणश्च पारमार्थिकलक्ष्यत्वगुणवत्त्वाभावेन लक्ष्यत्ववद्ब्रह्मणोपि मनःकल्पितत्वाद् वा मनोरूपत्वं ज्ञेयम्। किञ्च **वेधो** विध्यतेऽनेनेति वेधो ब्रह्ममनसोरेकाकारसम्पादनरूपा वेधनक्रिया, **मनः** अन्तःकरणमेव ज्ञेयं तस्यापि मनःकल्पिततया मनोमात्रत्वादिति भावः, एतादृशं **मनो**न्तःकरणं **विद्धं** वेधनक्रियया व्याप्तुमिष्टतमं कृतं सद्, **विमुक्तये** विदेहमुक्तिप्राप्त्यै भवेत् स्यादिति क्रियाया अध्याहारः कर्त्तव्यः, मुक्तिरपि मनोलयाधीना सर्वत्र शास्त्रेषु निरूपिताऽतो लयवन्मनोरूपत्वात् तस्या मनोरूपत्वमेव निश्चेतव्यम्, आत्मनि तु पारमार्थिकबन्धमोक्षाभावस्य प्रतिपादितत्वादिति भावः।।६।। (१०५६)

मन ही धनुष है, मन ही मौर्वी (प्रत्यंचाधनुष की रस्सी) है, मन ही धनुर्धारी है, मन ही लक्ष्य है, वेधनक्रिया भी मन ही है। बींधा गया मन ही मुक्ति दे देता है।

'प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' इस मुण्डक की श्रुति में ओङ्कार को धनुष, आत्मा को बाण तथा ब्रह्म को उसका लक्ष्य बताया गया है। परन्तु हम तो कहते हैं कि वह प्रणव (ओङ्कार) नामक धनुष भी मन है। क्योंकि उस प्रणव को भी तो मन ने ही कल्पित कर रक्खा है। उस धनुष में जो कि मौर्वी (धनुष की रस्सी) होती है वह भी मन ही है। उसे भी इस मन ने कल्पित कर रक्खा है। उस प्रणवरूप धनुष का धनुर्धारी (प्रणवधारण का अभ्यास करने वाला) भी तो यह मन ही है। क्योंकि वह भी एक मन की कल्पना ही तो होती है इसलिये उसे भी मनोमात्र ही जानना चाहिये। लक्ष्य (लक्षणावृत्ति से बोध्य) ब्रह्म भी मन के (मन की कल्पना के) अतिरिक्त कुछ नहीं होता। क्योंकि वह ब्रह्म परमार्थ दृष्टि से तो कभी भी लक्ष्य नहीं बनता, इसीलिये उसको भी मनोरूप ही जानना चाहिये। ब्रह्म और मन का एकाकार कर देना ही वेधक्रिया कहाती है। इसे भी मन ही समझना चाहिये। यह वेधक्रिया भी मन की कल्पित होने से मनोमात्र ही होती है। ऐसे स्वरूप अन्तःकरण को यदि किसी अधिकारी ने बींध डाला हो तो उसको मुक्ति के परमपद की प्राप्ति हो सकती है। सब

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
इतोऽधिकं तु किं वाच्यमद्वये तु स्थितं न तत्।।७।। (१०५७)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे मनोमहिमा चतुश्चत्वारिंशः।।४४।।

इदानीं बन्धमोक्षकारणत्वं मनसो निरूपयन् तच्छ्रैष्ठ्यं त्रिभिः पादैराह **मन एव इति। मनुष्याणां** जीवानां, **बन्धमोक्षयोः** बन्धो बन्धनं मोक्षश्च **मुक्तिः** तयोः, **कारणं** हेतुः, **मन एव** अन्तःकरणमेव अस्ति, अतो मनस्तोऽधिकं महत् **किं वाच्यं** किं वक्तव्यं, मन एव अतिश्रेष्ठं ततोधिकं किमपि नान्यदिति भावः। एवं मनसः सर्वश्रैष्ठ्यं प्रतिपाद्य इदानीं तस्य स्वात्मनि असत्त्वं दर्शयति **अद्वय इति। तत्** तु तन्मनोऽपि **अद्वये** न विद्यते द्वयं द्वैतं यस्मिन् स तथोक्तः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा तस्मिन्, **स्थितं** विद्यमानं, **न** नास्ति, आत्मनः सकाशात् मनसः पृथक् सत्ता नास्तीत्यर्थः।।७।। (१०५७)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ मनोमहिमार्थप्रकाशश्चतुश्चत्वारिंशः।।४४।।

एवं मनसः श्रैष्ठ्यनिरूपणपूर्वकमद्वयात्मनि तदसत्त्वं प्रतिपाद्य इदानीं तादृशमनसो लयं कर्त्तुं साधकानां लयोपाये प्रवर्त्तनाय तत्र च्युत्पादनाय च मनोलयफलं प्रदर्शयन् चिच्चडीपशुघातनाख्यमेकश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथ इति। अथ** मनोमहिमनिरूपणानन्तरं, **चिच्चण्डीपशुघातनं** चिदेव चण्डी देवी तस्या अग्रे तस्यै पशुर्बलिरज इत्यर्थः, घात्यते नाश्यतेऽस्मिन्निति पशुघातनं पशुहिंसनाख्यं तन्निरूपकत्वादेतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यत इति शेषः। तदेवाह पद्येन **चित्त इति**। हे शिष्य **चित्ताहङ्कृतिबुद्धिमानसमयैः** चित्तमनुसन्धानप्रत्यभिज्ञास्मृत्यनुभववृत्तिमान् अन्तःकरणभागश्चित्तमित्युच्यते, अहङ्कृतिश्चाहङ्कारोऽन्तःकरणभागः स द्वितीयः, बुद्धिश्च मतिः निश्चयरूपोऽन्तःकरणभागस्तृतीयः मानसं च संकल्पविकल्पात्मकोऽन्तःकरणभागश्चतुर्थः, एतद्रूपैः, **चतुर्भिः** चतुःसंख्याकैः, **पदैः** पादैः, **युक्तं** सहितं, अत एव चतुष्पदत्वेनाऽज्ञत्वेन च

शास्त्र इसी बात का प्रतिपादन कर रहे हैं कि मनोलय हो जाने पर ही मुक्ति मिलती है। जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि लय हुआ मन ही मुक्ति है। यों मुक्ति को भी मनोरूप ही जानना चाहिये। क्योंकि परमार्थ विचार करने पर आत्मा में न तो बन्ध ही है और न मोक्ष ही है।।६।।

जीवों के बन्ध तथा मोक्ष का कारण अन्तःकरण ही होता है इसलिये मन से बड़ा और किस को मानें! परन्तु (यह बात साधकों को सदा ही याद रखनी चाहिये कि) ऐसा महिमाशाली भी वह मन उस अद्वय परमात्मा में पहुँचने पर नहीं रहता।।७।।

उस मन को लय करने के लिये साधकों को लय के उपायों में लग जाना चाहिये। साधक लोगों की रुचि मनोलय की ओर को हो जाय इस उद्देश्य से मनोलय का अद्भुत फल दिखाने के लिये 'चिच्चण्डीपशुघातनम्' नाम का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

अथ चिच्चण्डीपशुघातनम्

चित्ताहंकृतिबुद्धिमानसमयैर्युक्तं चतुर्भिः पदै
श्छित्वान्तःकरणं पशुं परशुना बोधेन तीक्ष्णेन यः।
चिच्चण्डीचरणाम्बुजार्चनमनुप्राप्तः प्रसादं परं
किञ्चित्रं चरणे लुठन्ति रभसात्तस्याखिलाः सिद्धयः।।१।। (१०५८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे चिच्चण्डीपशुघातनं पञ्चचत्वारिंशः।।४५।।

पशुसाम्याद् **अन्तःकरणं** पञ्चभूतसत्त्वभागोपादानकं कार्यद्रव्यं, **पशुं** अजम्, 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामि'ति श्रुत्या प्रकृतेः मायापरपर्यायाया अजत्वप्रतिपादनात् तत्कार्यभूतान्तःकरणस्यापि अजत्वं चतुष्पदत्वाच्च पशुत्वेन अजत्वं स्पष्टमेवेति भावः। तं **तीक्ष्णेन** अज्ञानभेदनसमर्थेन दृढेनेत्यर्थः, **बोधेन** ज्ञानाख्येन, **परशुना**[1] परश्वधेन, **च्छित्वा** घातयित्वा, यो ज्ञानी **चिच्चण्डीचरणाम्बुजार्चनं** चित् चेत्यरहितचिन्मात्रस्वरूप आत्मा स एव, **चण्डी** भगवती, तस्याः **चरणौ** पादौ आरोपाधिष्ठानत्वापवादाधिष्ठानत्वरूपौ कल्पितांशौ इत्यर्थः, तयोः मध्ये योऽपवादाधिष्ठानत्वरूपोंशः स एव अत्र चरणौ जगद्भक्षकत्वात्, चरणशब्दस्य च गतिभक्षणार्थकचरधातुप्रकृतिकत्वाच्चेति भावः, स एव **अम्बुजं** कमलं, तस्य **अर्चनं** पूजनं, जगदपवादेन केवलतदनुसन्धानरूपमिति यावत्, तत् कृत्वा इति आध्याहार्यम्, **अनु** अनन्तरमेव, **परं** सर्वोत्कृष्टं, **प्रसादं** निरावरणानन्दरूपं, **प्राप्तो** लब्धः अस्ति तस्य आत्मसाक्षात्कारवतो योगिनः, **चरणे** पाद आरोपाधिष्ठानत्वरूपे कल्पितांश इत्यर्थः, तस्यैव सर्वसिद्धिनिर्वाहकत्वेन सर्वसिद्धीनां गतित्वादिति भावः; **अखिलाः** समस्ताः, **सिद्धयः** अणिमाद्या, **रभसा** वेगेन योगिनः तद्विषयानिच्छायां सत्यामपि स्वेच्छयैवेत्यर्थः, **लुठन्ति** कदापि अयं अस्मदंगीकारं करोतु इतीच्छया चरणसेवनपरा भवन्तीत्यत्र, **किं चित्रं** किमाश्चर्यं, न किमपीत्यर्थः।।१।। (१०५८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ चिच्चण्डीपशुघातनार्थप्रकाशः पञ्चचत्वारिंशः।।४५।।

ननु सत्यपि अन्तःकरणे ज्ञानसिद्ध्या प्रारब्धभोगान्ते विदेहकैवल्यसिद्धेस्तयैव कृतार्थः स्यात् किमापातिकया मनोनाशलक्षणया जीवन्मुक्त्येत्याशंकायां तन्निवारणाय जीवन्मुक्तावादरं च विधातुं जीवन्मुक्तिमहत्त्वख्यापकं जीवन्मुक्त्यष्टादश्याख्यमष्टादशश्लोकं प्रकरणमभिदधान आह **अथ इति। अथ** चिच्चण्डीपशुघातनानन्तरं, जीवन्मुक्त्यष्टादशी जीवन्मुक्तेर्निरूपणकर्त्र्यष्टादश्यष्टादशश्लोकसमाहाररूपैतन्नामकं प्रकरणं निरूप्यत इति शेषः। तत्र तावदादौ येन मनसः सकाशात् स्वात्मा मोचित स ईश्वर एवेति मनोनाशे प्रवृत्तिरुचिमुत्पादयितुमाह **संकल्प इति। यः** कश्चित्पुरुषधौरेयः,

मन बुद्धि चित्त अहङ्कार नाम के चार पैरों वाले इस अन्तःकरणरूपी पशु को बोधरूपी तीक्ष्ण परशु से काट कर, चैतन्यरूपी चण्डी देवी के चरणकमलों का पूजन करके, जब कोई परम प्रसन्नता को प्राप्त हो जाता है तो सम्पूर्ण सिद्धियाँ उसकी इच्छा न रहने पर भी उसके चरणों में आकर लोटने लगती हैं।।१।।

---

[1] परं द्वैतजातं श्यति च्छेदयतीति व्युत्पत्त्या परशुत्वं बोधस्य।

अथ जीवन्मुक्त्यष्टादशी

संकल्पबद्धं संकल्पाद्विमोच्यात्मानमात्मना।
आत्मनात्मनि सन्तुष्टः स्वात्मारामः स्वयं हरिः।।१।। (१०५९)
स्वरूपमेव कैवल्यं संसारः शुद्धमूर्खता।
अतिचित्रा गतिः पुत्र जीवन्मुक्तस्य या स्थितिः।।२।। (१०६०)

संकल्पबद्धं संकल्पेन संकल्परूपेणान्तःकरणेन बद्धं बन्धनं प्राप्तं, **आत्मानं** स्वं, **संकल्पात्** संकल्परूपात् मनसः सकाशाद् **आत्मना** तत्साक्षिचैतन्याभिन्नेन कर्त्रा, **विमोच्यात्** अत्यन्तं मोचयित्वा, तेनैव साक्षिचैतन्यरूपेणात्मना **आत्मनि** ब्रह्माभिन्ने चिन्मात्ररूपे सुखे, **सन्तुष्टः** तृप्तः तिष्ठति, **स आत्माराम** आत्मा स्वयमेवाराम उपवनं क्रीडावनं यस्य स तथोक्तः, **स्वयं** स्वतो, **हरिः** हरति सर्वं जगदिति हरिः परमात्मा एव अस्ति इति ज्ञातव्यः।।१।। (१०५९)

ननु जीवन्मुक्तौ को विशेषो येन तत्सम्पादने प्रयत्नो विधेयस्तत्राह **स्वरूपमिति। कैवल्यं** विदेहत्वं, **स्वरूपमेव** स्वस्यात्मनो रूपमाकृतिरेवास्ति। किञ्च **संसारः** संसृतिः, **शुद्धमूर्खता** शुद्धा केवला मूर्खता अज्ञता अस्ति, अतः संसारात्मनोर्जडचेतनरूपयोः परस्परं विरोधाद् एकत्रासम्भवेपि जीवन्मुक्तौ तत्सम्भवाद् **हे पुत्र** हे शिष्य, **जीवन्मुक्तस्य** जीवतोपि मुक्तस्य मोक्षं प्राप्तस्य, **या** तेषामेवानुभूयमाना, **स्थितिः** गतिः, सा **अतिचित्रा** अति आश्चर्यरूपा, **गतिः** अवस्था, अस्ति इति ज्ञेया।।२।। (१०६०)

जबकि हमें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया, तो अन्तःकरण के विद्यमान रहने पर भी, प्रारब्धभोग के पश्चात् विदेहमुक्ति प्राप्त हो ही जायगी तथा उसी से कृतकृत्यता का लाभ भी हो ही जायगा, फिर इस मनोनाश वाली जीवन्मुक्ति से हमें क्या लेना हैइस शङ्का को हटाने तथा जीवन्मुक्ति में आदरभाव बढ़ाने के लिये इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है।।१।।

जो कोई संकल्प (रूपी अन्तःकरण) से बंधे हुए अपने आत्मा को अपने आत्मा की सहायता से संकल्प (रूपी मन में) से छुड़ा कर अपने आपसे अपने आप में ही सन्तुष्ट रहने लगता है, वह अपने आप में ही रमण करने वाला महापुरुष तो साक्षात् हरि ही है।

जिसने अपने आत्मा को इस मन के पंजे से छुड़ा लिया वह साक्षात् ईश्वर ही होता है। इसलिये सब मुमुक्षुओं को मनोनाश करने में जुट जाना चाहिये।।१।।

कैवल्य (जिसको कि विदेहपना भी कहते हैं वह) तो आत्मा का अपना स्वरूप ही है तथा यह संसार तो केवल मूर्खता ही है। (इस प्रकार यद्यपि जड रूप वाला संसार तथा चेतन रूप वाला आत्मा ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी होते हैं, ये दोनों एक जगह कदापि नहीं रह सकते थे) परन्तु हे शिष्य! तुम अचम्भे की बात देखो कि जीवन्मुक्त महापुरुषों की जो अवस्था है वह तो अत्यन्त आश्चर्यकारिणी हो जाती है। (क्योंकि उनमें ये दोनों विरुद्ध बातें एक ही जगह रहने लगती हैं)।।२।।

जीवन्मुक्तिसुखप्राप्त्यै स्वीकृतं जन्म लीलया।
आत्मना नित्यमुक्तेन न तु संसारकाम्यया।।३।। (१०६१)
यदि न स्यादविद्याख्यमिदं कपटनाटकम्।
कथं लभेत विश्वात्मा जीवन्मुक्तिमहोत्सवम्।।४।। (१०६२)

अन्यमपि विदेहमुक्तेर्जीवन्मुक्तिश्रैष्ठ्ये हेतुमाह **जीवन्मुक्तीति**। **नित्यमुक्तेन** नित्यं सर्वदा मुक्तो मोक्षं प्राप्तस्तेन तादृशेन, अनेन विशेषणेन आत्मनि विदेहमुक्तीच्छाऽभावो दर्शितः, **आत्मना** प्रत्यगभिन्नेन परात्मना, **लीलया** क्रीडया, अनेनात्मना जन्माङ्गीकारेपि क्लेशाभावो दर्शितः, **जीवन्मुक्तिसुखप्राप्त्यै** जीवतो या मुक्तिः मोक्षः तस्मिन् यत् सुखं आनन्दः तस्य प्राप्तिः लाभः तस्यै तदर्थं, **जन्म** जननं, **स्वीकृतं** अङ्गीकृतं। ननु नित्यमुक्तस्य आत्मनो विदेहमुक्तीच्छा माऽस्तु संसारसुखेच्छयैव जन्माऽस्तु? तत्राह **न त्विति**। हे शिष्य **संसारकाम्यया** संसारस्य भवस्य काम्येच्छा तया, **न तु** नैव जन्म स्वीकृतं संसारस्य दुःखरूपत्वात्, नहि कस्यचित् ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा दुःखेच्छास्तीति दृष्टा इति भावः।।३।। (१०६१)

ननु नित्यमुक्तत्वादात्मनो नित्यमुक्तीच्छाऽभावोऽस्तु, संसारेच्छयैव जन्माऽङ्गीकारोऽस्तु अन्यथा अविद्यावरणविक्षेपाणामङ्गीकारो न स्यात् तदनङ्गीकारे च संसारनिर्वाहासम्भवाद् इत्याशङ्क्य, दुःखानुभवं विना सुखाधिक्याननुभव इव अविद्यानङ्गीकारे दुःखानुभवं विना जीवन्मुक्तिसुखे सुखाधिक्यप्रतीतिः न स्याद् इति तदर्थमेव अविद्योत्पादनमित्याशयेनाह **यदि इति**। हे शिष्य **यदि** यर्हि, **अविद्याख्यं** अविद्या इति आख्याऽऽह्वा यस्य तत् तथोक्तं, **इदं** प्रत्यक्षं, **कपटनाटकं** कपटरूपं दम्भरूपं नाटकं नृत्यविलासो, **न स्यात्** न भवेत् **तर्हि** तदा, **विश्वात्मा** विश्वस्य जगत आत्मा पारमार्थिकरूपो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा, **जीवन्मुक्तिमहोत्सवं** जीवतो या मुक्तिः मोक्षः तस्य महाञ्छ्रेष्ठो य **उत्सवो** हर्षः तं, **कथं** केन प्रकारेण **लभेत** प्राप्नुयात् न केनापि प्रकारेण प्राप्नुयादित्यर्थः, जीवन्मुक्तिसुखस्याऽविद्याजन्यदुःखप्रतीतिपूर्वकत्वात् तं विना तत्प्राप्तिः न स्यादिति भावः।।४।। (१०६२)

नित्यमुक्त भी उस आत्मा ने लीला में आकर जो कि जन्म को स्वीकार किया है वह तो जीवन्मुक्ति के सर्वोत्तम सुख को भोगने के लिये ही किया है। इस संसार के क्षुद्र सुखों की इच्छा से उसने यह जन्म धारण नहीं किया (क्योंकि यह संसार दुःखरूप है। कोई भी ज्ञानी अथवा अज्ञानी दुःख की इच्छा ही नहीं करता)।।३।।

यदि यह अविद्या नामक कपटरूपी नाटक न होता तो बताओ कि यह विश्वात्मा (जगत् का असली आत्मा) जीवन्मुक्ति के बड़े उत्सव को क्योंकर प्राप्त कर सकता?

जीवन्मुक्ति का आनन्द तभी आ सकता है जब कि कोई अविद्याजन्य दुखों का अनुभव किया हो। 'सुखं ही दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्'दुःख को भोगकर ही सुख की क़दर मालूम होती है। घोरान्धकार के बाद जब हमें दीपक का दर्शन हो तो वह बड़ा आनन्ददायक होता हैइसी प्रकार यदि यह आत्मा पहले

अद्वैतं न सदेहेऽस्ति विदेहे द्वैतमस्ति न।
जीवन्मुक्तस्य नान्यस्य द्वैताद्वैतमहोत्सवः।।५।। (१०६३)
सदेहे न विदेहत्वं विदेहे न सदेहता।
सदेहत्वं विदेहत्वं जीवन्मुक्ते प्रवर्त्तते।।६।। (१०६४)

इदानीं द्वैताद्वैतसुखस्य जीवन्मुक्तेषु एव सत्त्वे तच्छ्रैष्ठ्यज्ञापनाय दर्शयति **अद्वैतम् इति**। हे शिष्य **सदेहे** देहेन शरीरेण सह वर्त्तमाने पुरुषे सदेहत्वप्रतीतिमतीत्यर्थः, **अद्वैतं** न विद्यते द्वैतं द्वितीयं यस्मिंस्तदखण्डैकरसं ब्रह्मसुखमित्यर्थः, **न** नास्ति, किंच **विदेहे** विगतो निवृत्तो देहः शरीरं यस्मात् स तथोक्तः तस्मिन् पुरुषे देहाप्रतीतिमतीत्यर्थः, **द्वैतं** देहादिप्रपञ्चजातं, **नास्ति** न विद्यते, एवं विरोधे परस्परं सत्यपि **जीवन्मुक्तस्य** जीवन् सन् यो मुक्तो मोक्षं प्राप्तः तस्य पुरुषस्य, **द्वैताद्वैतमहोत्सवो** द्वैतं सांसारिकं सविषयं सुखम्, अद्वैतं केवलमात्मसुखं तयोः ताभ्यां वा महान् श्रेष्ठ उत्सवो हर्षः अस्ति। **अन्यस्य** नित्यमुक्तस्य बद्धस्य च **न** भवति अतो जीवन्मुक्तिरेव संपाद्येति भावः।।५।। (१०६३)

इदानीं जीवन्मुक्ते द्वैताद्वैतयोः सत्त्वं स्पष्टमेव दर्शयति **सदेह इति**। हे शिष्य **सदेहे** देहेन शरीरेण सह वर्त्तमाने जीवे देहसत्त्वप्रतीतिमतीत्यर्थः, **विदेहत्वं** देहरहितत्वं आत्मरूपत्वमित्यर्थः, **न** नास्ति, किञ्च तथा **विदेहे** देहरहित आत्मनि, **सदेहता** देहेन शरीरेण सह वर्तमानता, **न** नास्ति। किञ्च जीवन्मुक्तो मोक्षं प्राप्तो यो जीवः तस्मिन्, **सदेहत्वं** देहेन सह वर्तमानत्वं, **विदेहत्वं** देहरहितत्वं चोभयमपि, **प्रवर्त्तते** प्रवृत्तं भवति समाधिसुखं संसारसुखं च जीवन्मुक्तः अनुभवतीत्यर्थः।।६।। (१०६४)

अविद्या का अंगीकार न करता और दुःखों का अनुभव न कर लेता तो फिर उसकी दृष्टि में जीवन्मुक्ति का सुख कुछ बड़ा सुख ही न जान पड़ताउसमें कुछ मज़ा ही न आता।।४।।

जिस पुरुष को सदेहता का भान हो रहा है उसमें अद्वैत (नामक ब्रह्मसुख) नहीं रहता। जो पुरुष विदेह हो चुका है उसकी दृष्टि में फिर यह द्वैतनामक देहादि प्रपंच नहीं रह जाता। परन्तु जो महापुरुष जीवन्मुक्त (अर्थात् जीता हुआ ही मुक्त) हो गया हो उसको तो द्वैत और अद्वैत दोनों का महोत्सव देखना मिल जाता है। दूसरों को यह महोत्सव देखने को नहीं मिलता।

जीवन्मुक्त पुरुष सांसारिक विषयसुखों को भी भोग सकता है तथा केवल आत्मसुख का भोग भी ले सकता है। यह द्वैताद्वैतमहोत्सव न तो नित्यमुक्त को ही देखने को मिल सकता है और न किसी बद्ध संसारी को ही दीख सकता है।।५।।

जो अभी तक सदेह है (जिसको देहादि पदार्थ सत् प्रतीत होते हैं) उसमें विदेहता

सदेहस्य विदेहत्वं यदि न स्यात्तदा वद।
जनकस्य सदेहस्य कथं प्रोक्ता विदेहता।।७।। (१०६५)
विदेहस्य सदेहत्वं यदि न स्यात्तदा वद।
जनकस्य विदेहस्य कथं प्रोक्ता सदेहता।।८।। (१०६६)

ननु सदेहे विदेहता कथं सम्भाव्येत्याशङ्कामुद्भाव्य दृष्टान्तेन तां सम्भावयति **सदेहस्य इति**। हे शिष्य **सदेहस्य** लकोदृष्ट्या सदेहस्य देहेन सह वर्त्तमानस्य, **विदेहत्वं** देहरहितत्वं, **यदि** यर्हि, **न स्यात् तदा** तर्हि, सदेहस्य लोकदृष्ट्या **सदेहस्य** देहेन शरीरेण सह वर्तमानस्य, **जनकस्य** मैथिलस्य, निमेस्तद्वंशजस्यान्यस्य वेत्यर्थः, **विदेहता** देहरहितत्वं, श्रुतिषु **कथं** केनप्रकारेण, **प्रोक्ता** कथिता, तथा च श्रुतिः 'जनको ह वैदेह आसाञ्चक्र' इति, तत्त्वं भवान् **वद** कथय, अतः सदेहेपि विदेहत्वं सम्भाव्यमिति भावः।।७।। (१०६५)

अस्तु तर्हि विदेहे सदेहत्वासिद्धिः इत्याशङ्कामुद्भाव्य तामपि निराकरोति **विदेहस्य इति**। हे शिष्य **विदेहस्य** देहरहितस्य, **सदेहत्वं** देहसहितत्वं, **यदि** यर्हि **न स्यात्** तर्हि **तदा विदेहस्य** श्रुतिपुराणादिषु वर्णितस्य देहरहितस्य, **जनकस्य** मैथिलस्य निमेस्तद्वंशजस्य वा, **सदेहता** देहेन शरीरेण सह वर्त्तमानस्य भावस्तत्ता, **कथं** केन प्रकारेण, **प्रोक्ता** कथिता, तद् **वद** कथय ततो विदेहेपि सदेहत्वं सम्भाव्यमिति भावः।।८।। (१०६६)

ननु तत्र तत्र शास्त्रेषु विदेहमुक्तिरेव प्रतिपादिता, न जीवन्मुक्तिरित्याशङ्क्याह **विमुक्तिः इति**। हे शिष्य **विमुक्तिः** विदेहमुक्तिः, **शास्त्रे** वेदान्तशास्त्रे, यथा इति अध्याहार्यं यद्वद् **निश्चिता** निश्चयेन प्रतिपादिता, तथैव **जीवन्मुक्तिः** जीवत एव या मुक्तिः मोक्षप्राप्तिः सा, **सुनिश्चिता** सु शोभना निश्चयेन प्रतिपादिताऽस्ति अत उभयोरपि प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यमिति भावः। ननु तर्हि विदेहमुक्त्यैवालं, किमापातिकया मनोनाशसाध्यया जीवन्मुक्त्येत्याशङ्क्य, जीवन्मुक्तिं विना विदेहमुक्तेः असिद्धिं प्रतिपादयति **जीवन्मुक्तत्वमिति**। हे शिष्य **जीवन्मुक्तत्वं** जीवत एव लोकदृष्ट्या प्राणोपाधिमत एव मुक्तत्वं मोक्षं प्राप्तत्वं, **अप्राप्य** न लब्ध्वा, **विदेहविमुक्तता** कस्यापि पुरुषस्य विदेहो विगतो निवृत्तो देहः शरीरं यस्मात् स विदेहो देहरहितः स चासौ मुक्तश्च मुक्तिं प्राप्तश्च तस्य (अर्थात् आत्मरूपता) नहीं हो सकती। तथा देहविहीन आत्मा में सदेहता भी नहीं देखी जाती। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुष में तो सदेहता और विदेहता दोनों ही पायी जाती हैं। (जीवन्मुक्त पुरुष ही समाधि तथा संसार के सुख को भोग सकते हैं)।।६।।

यदि लोक की दृष्टि में सदेह दीखने वाला कोई पुरुष विदेह न हो सकता होता तो उपनिषदों ने सदेह जनक को विदेह क्यों कहा है? (सदेह होने पर भी विदेहपना हो सकता है यही उनका तात्पर्य है)।।७।।

विदेह लोग यदि सदेह न हो सकते होते तो बताओ कि उपनिषदों में विदेह जनक को सदेह क्यों कहा है? (विदेह भी सदेह हो सकता है। यही उन उपनिषदों का मन्तव्य है)।।८।।

विमुक्तिर्निश्चिता शास्त्रे जीवन्मुक्तिः सुनिश्चिता।
जीवन्मुक्तत्वमप्राप्य न विदेहविमुक्तता।।९।। (१०६७)
ज्ञानं विना न कैवल्यं न मृतो ज्ञानवान् भवेत्[1]।
जीवतो ज्ञानलाभः स्यात्सा जीवन्मुक्तिरक्षता।।१०।। (१०६८)

भावस्तत्ता, **न** न सिद्ध्यतीति शेषः, अतो विदेहमुक्तीच्छावतापि जीवन्मुक्तिं संपाद्यानन्तरं विदेहमुक्तः स्वयमेव स्यादिति भावः।।९।। (१०६७)

ननु 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते' इति श्रुतेर्ज्ञानेनैव विदेहकैवल्यसिद्धेः प्रतिपादनात् ज्ञानेनैव विदेहमुक्तिरस्तु अतः कथमत्र विरुद्धमुच्यते जीवन्मुक्त्यैव विदेहमुक्तिरितीत्याशङ्क्याह **ज्ञानं विना इति**। हे शिष्य **ज्ञानं विना** ऋते ज्ञानात् **कैवल्यं** विदेहमुक्तिर्न न भवतीति सत्यमेव, 'ज्ञानादेव तु कैवल्यमि'त्यादिबहुश्रुतिप्रामाण्यादिति भावः, तज्ज्ञानाभावे केवलं **मृतो** मरणं प्राप्तो, यः सोपि विदेहोऽस्ति तथापि तस्य ज्ञानाभावात् स **मोक्षभाग्** मोक्षं मुक्तिं भजति सेवतेऽसौ मुक्तिभाग् **न भवेत्** न स्याद्। **ज्ञानवान्** इति पाठेननु तस्य मरणसमये मोक्षात्यन्तसाधनभूतं ज्ञानं नास्तीति कुतो निश्चेतव्यमित्याशङ्क्य, मृते पुरुषे ज्ञानाभावः सर्वलोकप्रसिद्ध इत्याशयेनाह **मृतो** मरणं प्राप्तो, **ज्ञानवान्** मूर्च्छया पूर्वकालमनभ्यासेन वा ज्ञानी, **न भवेत्** न स्यादित्यर्थः। यद्वा मरणस्य अज्ञानकार्यत्वात् ज्ञानस्य च मरणनिवर्त्तकत्वाच्च ज्ञानिनि मरणाभावो, मरणवति च ज्ञानाभावः प्रसिद्ध एवेति मृतो मरणं प्राप्तो यः स ज्ञानी न भवेद्। अतो मरणवति प्रसिद्धदेहाभावेन लोकदृष्ट्या विदेहत्वेपि ज्ञानाभावेन न मोक्षसिद्धिरित्यर्थः। अतो **जीवतः** प्राणधारणवतो, ज्ञानलाभो मुक्तेरात्यन्तिकसाधनभूतज्ञानस्य लाभः प्राप्तिः, **स्यात्** जीवतः पुरुषस्य श्रवणादिज्ञान-साधनाभ्याससम्भवात् जीवत एव ज्ञानप्राप्तिरिति युक्तमिति भावः। अस्तु जीवतो ज्ञानलाभो, जीवन्मुक्त्या विदेहमुक्तिः कथं सिद्धा? तत्राह **सेति**। **सा** ज्ञानप्राप्तिरेव, **जीवन्मुक्तिः** जीवन्मुक्तिशब्देनोक्ता, **अक्षता** न क्षता नष्टा साऽक्षताऽविनाशिनीत्यर्थः, अतो जीवन्मुक्त्यनन्तरमेव विदेहमुक्तिः तां विना सा न सम्भवतीत्यर्थः, सिद्धान्ते तु जीवन्मुक्तिविदेहमुक्त्योर्न भेद इति भावः।।१०।। (१०६८)

वेदान्त शास्त्र में जिस प्रकार विदेहमुक्ति का प्रतिपादन किया गया है जीवन्मुक्ति का भी उसी प्रकार अपितु उससे भी अधिक प्रतिपादन किया गया है। यह रखिये, जीवन्मुक्ति को पाये विना किसी पुरुष को विदेहमुक्ति नहीं मिलती। (यदि किसी को केवल विदेहमुक्ति की ही इच्छा हो तो भी पहले उसे जीवन्मुक्ति को प्राप्त करना ही होगा। उसके पश्चात् वह स्वयमेव विदेहमुक्त हो जायगा)।।९।।

ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती। यदि ज्ञान होने पर भी कोई विदेहमुक्त हो सकता हो तो हम कहेंगे कि मरा हुआ मनुष्य मुक्तिगामी क्यों नहीं होता? जीवित पुरुष को ही ज्ञान का लाभ हो सकता है (क्योंकि जीता हुआ पुरुष ही ज्ञान के साधन श्रवणादि का अभ्यास कर सकता है) उस ज्ञानप्राप्ति को ही अविनाशिनी जीवन्मुक्ति कहते हैं।।१०।।

---

[1] मोक्षभाग्भवेदिति टीकोक्तपाठान्तरम्। हिन्दी भी इसी के अनुसार है।

जीवन्मुक्तिसुखं स्वल्पकालं किं तेन चेच्छृणु।
ब्रह्मलोके विराजन्ते कथं ते सनकादयः।।११।। (१०६९)
तस्मादीश्वरलीलेयं काचिदीश्वररूपिणी।
जीवन्मुक्तिर्महामुक्तेः संप्रदायप्रवर्त्तिनी।।१२।। (१०७०)

ननु जीवन्मुक्तेरेव विदेहमुक्तिरूपेण परिणामेपि किं स्वल्पकालसुखरूपया जीवन्मुक्त्याऽऽतस्तां विहाय विदेहमुक्तिरेव सम्पाद्येत्याशङ्क्य जीवन् मुक्तौ अपि चिरकालसुखं, तां विना विदेहकैवल्यासिद्धेस्तत्रादरं विधातुं दर्शयति **जीवन्मुक्तीति**। हे शिष्य **जीवन्मुक्तिसुखं** जीवन्मुक्तेः सुखं आनन्दः, **स्वल्पकालं** स्वल्पोऽदीर्घः कालः समयः परिच्छेदको यस्य तत्तथोक्तमस्ति, अतः **तेन** तादृशेन सुखेन, **किं** किं फलं न किमपीत्यर्थः, इत्येवं **यदि** यर्हि, वदसि **चेत्** तर्हि, **शृणु** अवधारय, हे शिष्य जीवन्मुक्तिसुखस्य अल्पकालपरिच्छिन्नत्वे सति ते पुराणादिषु प्रसिद्धाः **सनकादयः** सनक आदिर्येषां ते तथोक्ताः, **ब्रह्मलोके** द्विपरार्धावसानकालपरिच्छिन्ने ब्रह्मणो लोके सत्यलोके, **कथं** केन प्रकारेण, **विराजन्ते** विराजमाना भवन्ति, जीवन्मुक्तेः स्वल्पकालस्याङ्गीकारे ब्रह्मलोके द्विपरार्धकालं जीवन्मुक्तानां सनकादीनां स्थितिः न स्यादिति जीवन्मुक्तिरपि बहुकालवर्त्तिनीति निश्चेतव्यमिति भावः।।११।। (१०६९)

अतो गुरोः शिष्य इव विदेहमुक्तेर्जीवन्मुक्तिः सहचरी तत्स्वरूपनिश्चयकारणा च अनायासेन व्यवहारनिर्वाहकत्वेनेश्वरी चेत्याह **तस्माद् इति। तस्मात्** कारणाद् **इयं** प्रकृता, **जीवन्मुक्तिः** जीवत एव पुरुषस्य या **मुक्तिः** मोक्ष, **ईश्वरलीला** ईश्वरस्य ईशनादिशक्तिमतः परमात्मनो लीला क्रीडाऽस्ति, अतो **ईश्वररूपिणी** ईश्वराभिन्नत्वादीश्वरो रूपं स्वरूपं यस्याः सा तथोक्ताऽस्ति किञ्च सा **महामुक्तेः** विदेहमुक्तेः **संप्रदायप्रवर्त्तिनी** संप्रदायस्य प्रवर्त्तिनी प्रवर्त्तनकर्त्र्यस्ति विदेहमुक्तेः साक्षात्कारकारणभूतेति भावः।।१२।। (१०७०)

यदि यह प्रश्न किया जाय कि जीवन्मुक्ति का सुख तो थोड़े से समय रहता है उस (स्वल्पकालस्थायी सुख) से तो कुछ भी फल नहीं हो सकता। इसका समाधान यह है कि यदि जीवन्मुक्ति दीर्घकाल तक रहने वाली नहीं है तो सनकादि जीवन्मुक्त लोग तबसे अब तक ब्रह्मलोक में क्योंकर रह रहे हैं। (तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्ति का सुख चिरकालस्थायी भी होता है। यह तो जीवों के प्रारब्ध पर निर्भर है)।।११।।

यह सब देखकर हम तो इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि यह जीवन्मुक्ति तो ईश्वर की एक लीला है। इस जीवन्मुक्ति का विचारगम्य तात्त्विक स्वरूप भी ईश्वर ही है। जीवन्मुक्ति से ही विदेहमुक्ति का सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ करता है। (अर्थात् यही उसकी साक्षात् कारण होती है)।।१२।।

यस्यां खेलन्ति मुनयो नारदाद्या निरन्तरम्।
ज्ञानिभिर्यानुभूतैव सा जीवन्मुक्तिरक्षता।।१३।। (१०७१)
चित्तविक्षेपकर्त्तारं विहारं तु विहाय ये।
स्थिता निर्वाणनिष्ठायां त एव सनकादयः।।१४।। (१०७२)

ननु सा केषां साक्षात्केषां नेति? तत्राह **यस्यामिति**। हे शिष्य **नारदाद्या** नारदो नारदनामा ब्रह्मपुत्र आद्यः प्रथमो येषां सनकादीनां ते तथोक्ता, **मुनयो** मननवन्तो ज्ञानिन इत्यर्थः, **यस्यां** जीवन्मुक्तौ निरन्तरं सर्वदैव **खेलन्ति** क्रीडन्ति। ननु तर्हि इदानींतनानामनुभवगम्या स्यात् न वा इत्याशङ्क्याह **ज्ञानिभिरिति**। इदानीन्तनैरपि **ज्ञानिभिः** ज्ञानवद्भिः या जीवन्मुक्तिः सा **अनुभूतैव** साक्षात् जातैवाऽतः **सा जीवन्मुक्तिरक्षता** न क्षतं नाशो यस्याः सा न केनापि अनादृतेत्यर्थः, अतो विदेहमुक्तीच्छया न जीवन्मुक्तिस्त्याज्या इति भावः।।१३।। (१०७१)

एवं जीवन्मुक्तिं संस्थाप्य इदानीं जीवन्मुक्तेष्वपि केषुचिद् व्यवहारः प्रतीयते केषुचिच्च त्यागोऽतो लौकिकदृष्ट्या त्यागिषु जीवन्मुक्तत्वनिश्चयः स्यात् नान्येषु, तेन च ज्ञानसाधनं श्रवणादिकं त्यागिषु क्वचिदेव भवेद्, व्यवहारवत्सु च तन्निरन्तरमेव वागुच्चारणादिव्यवहारवत्त्वे न स्यादतस्तत्रैव व्यवहारवत्सु जीवन्मुक्तत्वनिश्चयेन तेषु शरणं गन्तुं मुमुक्षूणामुभयेष्वपि जीवन्मुक्तत्वं दर्शयति द्वाभ्याम् **चित्तेति**। **ये** शास्त्रेषु प्रसिद्धाः, **चित्तविक्षेपकर्त्तारं** चित्तस्य अन्तःकरणस्य विक्षेपः अतिचाञ्चल्यं तस्य कर्त्तारं कारणभूतं, व्यवहारं व्यापारं **विहाय** परित्यज्य, **निर्वाणनिष्ठायां** निर्वाणेऽखण्डैकरसाकारवृत्तौ निष्ठा सहजप्रीतिस्तस्यां, **स्थिताः** स्थितिं प्राप्ताः, **त एव** ते च उक्तलक्षणाः, **सनकादयः** सनक आदिर्मुख्यो येषां सनन्दनादीनां ते सन्तीति ज्ञेयाः।।१४।। (१०७२)

नारद तथा सनक आदि ज्ञानी लोग जिस जीवन्मुक्ति में सदा ही क्रीडा करते हैं तथा आजकल के ज्ञानी लोग भी जिस जीवन्मुक्ति का साक्षात् अनुभव कर रहे हैं उस जीवन्मुक्ति की अवहेलना कौन कर सकता है? (विदेहमुक्ति की ही इच्छा होने पर भी जीवन्मुक्ति का त्याग नहीं करना चाहिये)।।१३।।

चित्त को विक्षिप्त करने वाले व्यवहार को छोड़ कर जो महापुरुष निर्वाणनिष्ठा (अखण्ड तथा एकरसाकारवृत्ति में स्वाभाविक प्रेम) में ही स्थित हो जाते हैं वे सनक सनन्दनादि तो त्यागी जीवन्मुक्त कहाते हैं। जो महापुरुष अन्दर सर्वथा बोधरूप होने पर भी ऊपर से संसार के कारोबार में फँसे हुए से प्रतीत होते हैं तथापि तात्त्विक निरीक्षण करने पर जो सदा आत्मनिष्ठा में ही स्थिर हुए रहते हैं, वे जनकादि व्यवहारी जीवन्मुक्त कहाते हैं।

त्याग तथा व्यवहार के कारण दोनों ही प्रकार के जीवन्मुक्तों में यद्यपि कुछ विलक्षणता आ जाती है परन्तु जीवन्मुक्ति अवस्था का कारण ज्ञान तो दोनों में ही समान रहता है। इसलिये जीवन्मुक्तपना उन दोनों में ही तुल्य होता है।।१४।।

अन्तर्बोधमया लोके व्यवहारपरा इव।
ये स्थिता निजनिष्ठायां त एव जनकादयः।।१५।। (१०७३)
गृहं वास्तु वनं वास्तु येषां निष्ठा न वर्त्तते।
सनकादिषु नैवैते न च ते जनकादिषु।।१६।। (१०७४)

अन्तः इति। हे शिष्य **ये** शास्त्रेषु प्रतिपादिता, **अन्तः** अन्तःकरणे, **बोधमयाः** बुध्यते जीवब्रह्मैक्यं ज्ञायतेऽनेनेति बोधः तन्मयाः तद्रूपाः सन्तो, **लोके** लोकदृष्ट्या, **व्यवहारपरा इव** व्यवहारे व्यापारे परा आसक्ता इव भासन्ते, तथापि ते **निजनिष्ठायां** निजाऽऽत्मविषया या निष्ठा सहजप्रीतिस्तस्यां, **स्थिताः** स्थिरा जाताः, **त एव** ते च, **जनकादयो** जनको मैथिल आदिर्मुख्यो येषां यदुप्रभृतीनां ते तथोक्ता ज्ञेयाः, उक्तलक्षणेषु उभयेषु जीवन्मुक्तेषु व्यवहारतत्त्यागाभ्यां वैलक्षण्ये सत्यपि जीवन्मुक्तिकारणभूतज्ञानस्य विद्यमानत्वात् जीवन्मुक्तत्वं सममेवेति भावः।।१५।। (१०७३)

ननु ज्ञानमुभयत्रास्तु जीवन्मुक्तिविघातकस्य व्यवहारस्य विद्यमानत्वाऽविद्यमानत्वाभ्यां जीवन्मुक्तेरपि सत्त्वासत्त्वे अपि अभ्युपगन्तव्ये इत्याशङ्क्य व्यवहारभावाभावयोरेव न मुक्तिहेतुत्वं किन्तु ज्ञानस्य एव इत्याशयेन समाधत्ते **गृहमिति**। हे शिष्य **येषां** मूढानां, **गृहं** गृहनिमित्तं व्यापारकरणं **अस्तु** भवतु, **वा** अथवा, **वनं** तत्त्यागेन वनाश्रयो, **वा** पक्षान्तरे, **अस्तु** भवतु, परन्तु **निष्ठा** आत्मनि सहजं प्रेम, **येषां न वर्त्तते** न विद्यते, तेषां मुक्त्यभावेन **एते** उक्तलक्षणा ज्ञानहीना गृहिणः त्यागिनो वा, **सनकादिषु** सनक आदिर्मुख्यो येषां सनन्दनादीनां तेषु, **नैव** गणनार्हा, **जनकादिषु च** जनको मैथिल आदिः प्रथमो येषां रघ्वम्बरीषादीनां तेष्वपि, **न** न गणनार्हा, अतो ज्ञानमेव मुक्तिकारणं तदुभयत्रापि अस्तीति द्विविधा अपि जीवन्मुक्ता इति भावः।।१६।। (१०७४)

एवं व्यवहारिषु त्यागिषु चोभयत्र ज्ञानसत्त्वे जीवन्मुक्तत्वं प्रसाध्य इदानीं तत्सेवां कर्त्तुं मुमुक्षूणां तेषु गुरुत्वं प्रदर्शयति **अन्तःसारा इति। गुरवो हि** गृणन्ति हितमुपदिशन्तीति गुरवो दैशिका, **हि** यतः कारणाद्, **अन्तःसारा** अन्तः अन्तःकरणे सारो ब्रह्मतत्त्वं येषां ते तथोक्तास्ते गुरवः श्रेष्ठा ज्ञेयाः, ननु अन्तःकरणे तेषां ब्रह्मतत्त्वं साक्षादनुभूतमस्तीति कुतो ज्ञातव्यं, तत्राह **स्वल्पवाचेति। स्वल्पवाचा** स्वल्पाऽल्पाक्षरा वाग्वाणी तया, **अमृतप्रदा** अमृतं मरणरहितं ब्रह्मसुखमित्यर्थः, तत्प्रददतीति ते तथोक्ताः। स्वल्पवाक्त्वं ब्रह्मसुखदातृत्वं च तेषां अन्तःसारत्वज्ञापकमिति भावः, **हि** यस्मात्कारणात्, **प्रावृषेण्याः** प्रावृषि वर्षाकाले भवा उत्पन्नाः, **पयोधराः** पयसां जलानां

हे शिष्य! जिन लोगों को आत्मा के विषय में स्वाभाविक प्रेम नहीं है वे चाहें तो घर के लिये व्यवहार करते रहें और चाहें घर-बार सब कुछ त्याग कर वन को चले जायें। ऐसे ज्ञानहीन गृही अथवा ऐसे ज्ञानहीन त्यागी न तो सनकादि त्यागी जीवन्मुक्तों में ही गिने जा सकते हैं और न जनकादि व्यवहारी जीवन्मुक्तों ही में उनकी गणना हो सकती है। व्यवहार को करते रहने किंवा छोड़ देने से किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। किन्तु ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। वह ज्ञान इन दोनों प्रकार के महापुरुषों में पाया जाता है, इसलिये ये दोनों प्रकार के लोग जीवन्मुक्त कहाते हैं।।१६।।

अन्तःसारा हि गुरवः स्वल्पवाचाऽमृतप्रदाः।
मन्द्रं मन्द्रं हि गर्जन्ति प्रावृषेण्याः पयोधराः।।१७।। (१०७५)
सदैवाध्ययनीयेयं भावनीया सदैव हि।
जीवन्मुक्तिपदप्राप्त्यै जीवन्मुक्तिचतुर्दशी।।१८।। (१०७६)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे जीवन्मुक्त्याष्टादशी षट्चत्वारिंशः।।४६।।

धरा धारका मेघा, **मन्द्रं मन्द्रं** गम्भीरं गम्भीरं यथा भवति तथा, **गर्जन्ति** ध्वनन्ति, जलवृष्टिकराणां मेघानां गम्भीरस्वल्पस्वन इव जीवन्मुक्तानां स्वल्पेनैव वाग्व्यवहारेण मोक्षप्रदत्वं लक्षणं गुरुलक्षणं परीक्ष्य तादृशलक्षणवन्तं गुरुं स्वयमपि जीवन्मुक्तत्वप्राप्त्यै सेवेतेति भावः।।१७।। (१०७५)

इदानीं एतत्प्रकरणाभ्यासफलमाह **सदैव इति**। हे शिष्य मुमुक्षुभिः **इयं** प्रत्यक्षा मन्निरूपिता, **जीवन्मुक्तिचतुर्दशी** जीवन्मुक्तेर्निरूपिका चतुर्दशी चतुर्दशानां श्लोकानां समाहार एतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, **सदैव** निरन्तरमेव, **अध्ययनीया** पठनीया, **हि** पुनः, **सदैव** निरन्तरमेव, **भावनीया** विचार्या। प्रयोजनं पठनविचारयोरेतस्या दर्शयति **जीवन्मुक्तीति**। **जीवन्मुक्तिपदप्राप्त्यै** जीवतो मुक्तिरूपं यत्पदं स्थानम् अवस्था इत्यर्थः, तस्य प्राप्त्यै लाभाय; एतत्प्रकरणस्य विचारपूर्वकपाठेन अवश्यं जीवन्मुक्तिः स्यादेवेति भावः। अस्मिंश्च प्रकरणे 'यस्यां खेलन्ति' इत्याद्या 'गृहं वास्तु वनं वास्तु' इत्यन्ताश्चत्वारः श्लोकाः संगतत्वाद् व्याख्याता अपि क्षेपका ज्ञेयाः, जीवन्मुक्तिचतुर्दशीत्येवमुपसंहारादिति भावः।।१८।। (१०७६)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ जीवन्मुक्तिचतुर्दश्यर्थप्रकाशः षट्चत्वारिंशः।।४६।।

गुरुओं के अन्दर सार भरा रहता है, वे थोड़ी बात चीत से ही अमृत वर्षा कर देते हैं। लोक में भी वर्षा ऋतु के बादल धीरे-धीरे ही गरजते हैं।

जिस प्रकार जल बरसाने वाले बादल गम्भीर तथा थोड़ा गरजते हैं इसी प्रकार जीवन्मुक्त लोग थोड़ा सा बोल कर ही, दो चार शब्द कह कर ही, अधिकारी को मोक्ष जैसे सर्वोत्तम महाफल को दे देते हैं। उनके दो चार शब्द ही अधिकारी के हृदय में बैठ जाते हैं। इस लक्षण से जीवन्मुक्त गुरुओं को पहचान कर, स्वयं भी जीवन्मुक्ति के परम पद को पाने के लिये उनकी सेवा करनी चाहिये। जो लोग तो आत्मतत्त्व को समझाने में लम्बे-लम्बे व्याख्यान देने लगें, जिनकी बात सुनते-सुनते साधक का चित्त ऊब जाता हो, उनको निःसार जान कर उनका परित्याग साधक लोग कर दें।।१७।।

जीवन्मुक्ति के परम पद को पाने के लिये हमारी बतायी हुई इस जीवन्मुक्तिचतुर्दशी को सदा ही पढ़ते तथा विचारते रहना चाहिये। (इस प्रकरण में तेरह से लेकर सोलह तक के चार लोक प्रक्षिप्त हैं यह बात श्लोक के 'जीवन्मुक्तिचतुर्दशी' इस पद से प्रतीत होती है)।।१८।।

अथ ज्ञानिगजगर्जनम्

आयान्ति तत्र विलसन्ति वसन्ति च द्रा-
गुड्डीय यान्ति च कुलानि विहङ्गमानाम्।
भावास्तथा मयि समा विषमा विचित्रा
देवालयाग्रमिव केवलमस्मि नित्यः।।१।। (१०७७)

एवं जीवन्मुक्तिचतुर्दर्शीं निरूप्य इदानीं पूर्वप्रकरणे 'अन्तःसारा हि गुरव' इति श्लोके जीवन्मुक्तानां स्वल्पाक्षरगम्भीर वाण्याऽमृतप्रदत्वमुक्तं तदिदानीं दर्शयितुं ज्ञानिगजगर्जनाख्यं पञ्चत्रिंशच्छ्लोकं प्रकारणमभिदधान आह **अथेति**। **अथ** जीवन्मुक्तिचतुर्दशीनिरूपणानन्तरं, **ज्ञानिगजगर्जनं** ज्ञानी जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्कारज्ञानवान् स एव गजो हस्ती तस्य गर्जनं शब्दस्तन्निरूपकप्रकरणं तन्निरूप्यत इति शेषः। तत्र तावदादौ सर्वेषां समविषमपदार्थानां स्वाश्रितत्वेपि स्वस्मिंस्तत्कृतजन्मनाशादि विकाराभावं लक्ष्यीकृत्य गर्जति **आयान्तीति**। **तत्र** देवालयाग्रे, **विहङ्गमानां** पक्षिणां, **कुलानि** समूहा, यथा इति अध्याहार्यं **यथा** यद्वद् **आयान्ति** आगच्छन्ति, **यान्ति** गच्छन्ति, **विलसन्ति** क्रीडन्ति, **द्राग्** ईषद्, **वसन्ति च** तिष्ठन्त्यपि, तत **उड्डीय** उड्डानं कृत्वा, **यान्ति च** गच्छन्ति च, **तथा** तद्वत् **समाः** सुखसाधनभूताः शान्तिदान्त्यादयो, **विषमा** दुःखसाधनभूता रागादयो, **विचित्राः** केचित्सुखदुःखकारणत्वेन विचित्राः स्त्रीपुत्रादयोऽनेकरूपा, **भावा** वृत्तिविशेषास्तत्तद्विषयाश्च, **मयि** तत्त्वम्पदयोर्भागलक्षणया लक्षिते प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि, **आयान्ति** उत्पद्यन्ते, **यान्ति** गच्छन्ति नश्यन्तीत्यर्थः, **विलसन्ति** विचित्ररूपेण शोभन्ते, **वसन्ति च** किञ्चित् कालं तिष्ठन्त्यपि, द्रागीषत्कालमुड्डीयोड्डानं कृत्वा यान्ति च वियुक्ता भवन्त्यपि एवं च सति **देवालयाग्रमिव** देवस्यालयं मन्दिरं तस्याग्रं शिखरं यथा पक्षिसमूहागमनक्रियावन्न दृश्यते गमनेन च तेषां गमनक्रियावत्तन्न भवति तद्वद्विलासेन च तेषां विलासक्रियाविकृतिमन्न भवति तत्स्थानेनापि स्थितिक्रियावच्च न दृश्यते किञ्च तेषामुड्डीनेन चोड्डीनं न दृश्यते, तेषां वियोगेन च वियुक्तमपि न भवति, एवं विक्रियारहितत्वान्नित्यं सर्वदैकरूपं स्थितमित्यनुभूयते तथा अहंपदलक्ष्यः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा समविषम-विचित्रभावोत्पत्त्या समोत्पत्तिमान् विषमोत्पत्तिमान् विचित्रोत्पत्तिमांश्च न भवामि तन्नाशेनापि नाशक्रियाविकृतिमान्न भवामि तद्व्यक्त्या च व्यक्तिविकारवान्न भवामि तत्स्थित्या च स्थितिविकारवान्न भवामि तद्वियोगेनापि वियोगविकारवांश्च न भवामि, अतो**ऽहं केवलम्** अभिन्नो, **नित्यः** कालत्रयाबाध्यरूपो**ऽस्मि** भवामीति गर्जना प्रथमा।।१।। (१०७७)

पक्षियों के झुण्ड जिस प्रकार देवालय के शिखर पर आकर बैठते हैं, विलास करते हैं तथा फिर कभी अचानक ही उड़ जाते हैं। इसी प्रकार सम विषम तथा विचित्र भाव मुझमें आते हैं, कभी चले जाते हैं, कभी कुछ विलास करते हैं, कभी कुछ देर ठहरते हैं, तथा फिर कभी अकस्मात् ही चले जाते हैं। मैं तो उस देवालय के शिखर के समान सदा एकरूप ही रहता हूँ।

सुख के साधन शमदमादि सम भाव, दुखः के साधन रागद्वेषादि विषम भाव, सुख

उन्मज्ज्य मज्जति जगन्मयि दैवयोगा-
दुच्चावचा न गणिता अपि ते तरङ्गाः।
निष्ठाङ्गतः स्वमहिमन्यचलप्रतिष्ठे
तिष्ठामि सागर इव स्वरसादपारः।।२।। (१०७८)

इदानीं सागरदृष्टान्तेन स्वस्मिन्नचलप्रतिष्ठत्वं सम्भावयन्गर्जति **उन्मज्ज्येति**। यथा यद्वत् **सागरे** समुद्रेऽ**गणिता** असङ्ख्या अनन्ता इत्यर्थः, **उच्चावचा अपि** दीर्घाः केचित् खर्वाश्च, **तरङ्गा** भङ्गा, **उन्मज्ज्य** उदूर्ध्वमुत्पद्येत्यर्थः, **मज्जन्ति** लीयन्ते लीना भवन्तीत्यर्थः, पवनयोगादित्यध्याहार्यं पवनसंयोगादेवं सत्यपि **अचलप्रतिष्ठे** अचला स्थिरा प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तस्मिन्, स्वमहिमनि स्वस्य महिमनि सागरमहिमनि **निष्ठां** स्वाभाविकीं स्थितिं, **गतः** प्राप्तः सन्, **सागर इव** यथा सागरः समुद्रस्तिष्ठति स्थितिं करोति तथा तद्वन्मयि प्रत्यगभिन्ने परमात्मनि तत्त्वंपदाभ्यां भागत्यागलक्षणया लक्षित उच्चावचान्यपि स्थूलसूक्ष्माण्यपि अगणितानि जगन्ति ब्रह्माण्डानि, जातावेकवचनं दैवयोगात्प्रारब्धकर्मसम्बन्धादुन्मज्ज्योदूर्ध्वमुत्पद्येत्यर्थः मज्जन्ति प्रारब्धक्षयाल्लीनानि भवन्ति एवं च जगतामुत्पत्तौ लये चाहमहंपदलक्ष्यः प्रत्यगात्मा ब्रह्माभिन्नोऽचलप्रतिष्ठेन चला

और दुख दोनों के ही कारण स्त्री पुत्रादि अनेक रूप वाले विचित्र भाव तथा इन सबके नाना प्रकार के विषय मुझमें कभी तो उत्पन्न हो जाते हैं, कभी विचित्र रूप धारण करके शोभित होने लगते हैं, कुछ देर ठहरते हैं, तथा कभी अकस्मात् सबके सब वियुक्त हो जाते हैं। यह सब कुछ होने पर भी जिस प्रकार देवालय के शिखर में पक्षियों के आने-जाने विलास करने ठहरने तथा उड़ कर चले जाने आदि किसी क्रिया का कोई भी प्रभाव अथवा उनसे कोई भी परिवर्तन नहीं होता है, इसी प्रकार मैं आत्मदेव भी सब विषम तथा विचित्र भावों की उत्पत्ति वाला नहीं हो जाता हूँ। इनके नष्ट होने से मुझमें नाशक्रियारूपी विकार भी नहीं पाया जाता। इन सबके नष्ट हो जाने से वियोगरूपी विकार भी मुझे प्राप्त नहीं होता। अनादिकाल से चली आती हुई अपनी इस गम्भीर स्थिति को देखकर ही मैंने यह निश्चय कर लिया है कि मैं तो केवल त्रिकालाबाधित नित्य पदार्थ हूँ। ये सम विषम पदार्थ यद्यपि मेरे आश्रय से ही रहते हैं तथापि इनके किये हुए जन्मनाश आदि विकार मुझमें कभी नहीं आते। आत्मा की इस असंग स्थिति को पहचान कर सभी अधिकारियों को निर्लेप निर्द्वन्द्व तथा निर्विकार रहना सीख लेना चाहिए।।१।।

दैवयोग से यह जगत् मुझमें से निकल कर मुझमें ही डूब जाता है और बुरे भले अनगिनत विचार भी मुझमें यों ही उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। स्वरस के कारण अब मैं अपार सागर की तरह अपनी अचल महिमा का ही प्रेमी हो गया हूँ।

जन्मादयो वनचराः प्रवहन्तु कामं
घर्षन्तु कुम्भमभितो मयि वृत्तिनागाः।
अस्मिन् युगे परयुगे च युगान्तरे वा
तिष्ठामि निश्चलतया गिरिराजतुल्यः।।३।। (१०७९)

चलायमाना न चलाऽचला स्थिरा प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य स तथोक्तस्तस्मिन् **स्वमहिमनि** स्वस्यात्मनो यो महिमा महत्त्वं ब्रह्मत्वमित्यर्थः, तस्मिन् **निष्ठां** स्वाभाविकस्थितिं प्रीतिं वा गतः प्राप्तः सन्, **स्वरसात्** स्व आत्मरूपो यो रसः सुखं तस्मात्तमनुभूयेत्यर्थः, ल्यब्लोपे पञ्चमी, **अपारो** न विद्यते पारोऽन्तो यस्य स तथोक्तो देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्य इत्यर्थः, **तिष्ठामि** वसामि। सागरपक्षेपीदं विशेषणं योज्यंस्वरसात् स्वः समुद्ररूपो यो रसो जलरूपत्वं तस्मात्तं प्राप्येत्यर्थः, अपारो न विद्यते पारोऽन्तो यस्य स तथोक्तो यथा सागरे अनेकतरङ्गोत्पत्तिलयाभ्यामुत्पत्तिलयविकाराभावोऽचल-स्थितिरपारत्वं च सर्वदैव स्थितं, तद्वन्मयि अनन्तजगदुत्पत्तिलये प्रतीयमानेपि ताभ्यां मयि तदभावः स्वस्थैर्यं च स्वात्मानुभवश्चानन्तत्वं च पारमार्थिकं स्थितमेवेति भावः।।२।। (१०७८)

इदानीं जन्मादिविकारेषु प्रतीयमानेषु सत्सु कामादिवृत्तिष्वपि प्रतीयमानासु स्वस्मिंस्तत्स्पर्शाभावात् पर्वतदृष्टान्तेनाचलत्वमनुभूय गर्जति **जन्मादय इति।** गिरिराज इव यथा पर्वतराजे श्रेष्ठपर्वते हिमाचलादौ **वनचरा** वनेऽरण्ये चरा गमनवन्तो भक्षणवन्तश्च सिंहहरिणादयः, **कामं** स्वेच्छया, **प्रवहन्तु** प्राप्नुवन्तु, किञ्च **वृत्तिनागा** वृत्तय इव चलायमाना नागा गजाः, **कुम्भं** कटं, **अभितः** सर्वतः, **कामं** यथेच्छं, **घर्षन्तु** कण्डूयन्तु, **अस्मिन्युगे** वर्तमानयुगे युगपरिमितकाले, **परयुगे च** परमन्यत्पूर्वमत्र ग्राह्यं, युगे युगपरिमिते काले च, पुनः **युगान्तरे वा** अन्यद्युगं युगान्तरं तस्मिन् वा भविष्यद्युगेपि इत्यर्थः, तथापि वनचरसञ्चारेण वृद्धिरूपं विकारं कुम्भघर्षणेन ह्रासरूपं च विकारमप्राप्य **गिरिराजः** पर्वतश्रेष्ठो हिमाचलादिः, **निश्चलतया** स्थिरतया तिष्ठति वर्तते, तथा तद्वन्**मयि** प्रत्यगभिन्ने परमात्मनि, **वनचरा** वने सम्भजनीये विषयिजनसेव्ये देहे चरन्ति तिष्ठन्ति इति वनचरास्ते जन्मादयो 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' इति यास्कपठिताः षड्विकाराः **कामं** यथेच्छं, **प्रवहन्तु** प्राप्ता भवन्तु, किञ्च **वृत्तिनागा** वृत्तयोऽन्तःकरणस्य वृत्तयः कामक्रोधाद्यास्ता एव नागा गजास्त इवाऽभितः सर्वतः कुम्भं गजस्य कुम्भरूपमंशमिव स्वांशं विषयं घर्षन्तु संयोजयन्तु अस्मिन् वर्तमाने युगे युगपरिमिते काल उपलक्षणमेतत्कल्पादिरूपे कालांश इत्यर्थः, परयुगे च परमन्यङ्गतमत्र ग्राह्यं, युगे युगपरिमितः कालस्तस्मिन्भूतकल्पादिकाल इत्यर्थः, **युगान्तरे वा** अन्यद्युगं युगान्तरं तस्मिन्भविष्यत्कल्पादिकालांश इत्यर्थः, कालत्रयेपीति भावः, तथापि जन्मादिविकाररहितो विषयतद्वृत्तिसम्बन्धरहितश्च **गिरिराज-तुल्यो** गिरिराजो महान्पर्वतो हिमाचलादिस्तेन तुल्यः सदृशो निश्चलतया स्थिरतया, **तिष्ठामि** वसामि, यथा पर्वतं चालयितुमसमर्था वनचराः कुम्भघर्षणपरा गजाश्च तथा मामपि प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मरूपं स्थिरब्रह्मरूपाच्चालयितुं जन्मादिवृत्त्यादिरूपा विकारा विषया अपि न समर्था इति भावः।।३।।(१०७९)

वायु का योग होने पर जिस प्रकार छोटे बड़े अनगिनत तरङ्ग समुद्र में से ऊपर

उठकर फिर उसी में लीन होते रहते हैं, तो भी वह सागर अचलप्रतिष्ठावाली अपनी महिमा में स्वभाव से स्थित हुआ रहता है तथा स्वरूप (जल) की अधिकता के कारण अपार हो जाता है वह कभी भी अपनी महिमा को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार मुझ आत्मदेव में भी छोटे बड़े अगणित ब्रह्माण्ड प्रारब्ध कर्मों की प्रबलता से कभी तो उत्पन्न हो जाते हैं, प्रारब्ध कर्मों के क्षीण हो जाने पर कभी फिर मुझमें ही लीन हो जाते हैं। यह सब कुछ होने पर भी मैं अपनी स्थिरप्रतिष्ठावाली ब्रह्मत्वरूपी महिमा में ही स्वभाव से प्रीतिवाला होकर, स्वरस अर्थात् आत्मसुख का अनुभव कर लेने के कारण, पाररहित होकर स्थित हो गया हूँ। इन सब विकारों से मेरी अनन्तता का नाश नहीं हो पाता है। मेरी पारमार्थिक अनन्तता सदा ही अप्रतिहत बनी रहती है।।२।।

इस युग में दूसरे युग में और अनन्तयुगों में जन्म आदि जंगली जानवर भले ही घूमा करें। वृत्तिरूपी हाथी मुझसे अपने कुम्भों को भले ही रगड़ा करें। मैं तो हिमालय के समान निश्चलरूप में रहा हूँ।

भूत वर्तमान तथा भविष्यत् के किसी युग किंवा युग जितने लम्बे समय तक हिमालय आदि बड़े पर्वतों पर, वनचारी सिंह तथा हिरण आदि जन्तु स्वेच्छा से कहीं भी घूमा करें तथा चित्तवृत्तियों के समान चंचल हाथी, अपने गण्डस्थल को कहीं भी यथेच्छ रगड़ते रहें, तो भी वह गिरिराज उन वनचरों के घूमते रहने से, न तो बढ़ता ही है और न कुम्भों के रगड़ने से उसका कुछ घटता ही है। वह दोनों अवस्थाओं में वैसा ही निश्चल बना रहता है। ठीक इसी प्रकार विषयिजनों के सेवन करने योग्य इस देहरूपी वन में निवास करने वाले जन्म आदि छओं विकार इस प्रत्यगात्मारूपी गिरिराज में भी भले ही प्राप्त हो जाया करें, तथा अन्तःकरण के काम क्रोधादि वृत्तिरूपी हाथी अपने-अपने विषयरूपी कुम्भों (कपोलों) को इसमें संयुक्त भी कर दिया करें। इन विकारों के प्राप्त होने तथा विषयों के संयुक्त होने का व्यापार भी चाहे जितने लम्बे समय तक बराबर चलता रहे, तो भी यह आत्मदेव सदा ही उस गिरिराज के समान जन्मादि विकारों से रहित ही बना रहता है। इसमें कभी भी विषय तथा उनकी वृत्तियों का सम्बन्ध नहीं हो पाता है। यह तो सदा ही स्थिर हुआ रहता है। जिस प्रकार वन के सिंह मृग आदि पशु तथा अपने कपोलों को घिसने वाले हाथी पर्वत को विचलित नहीं कर सकते, इसी प्रकार मुझ ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा को भी ये प्रतीत होने वाले जन्मादि विकार तथा ये कामादि वृत्तियाँ अपने स्थिर रूप से कभी भी विचलित नहीं कर सकतीं।।३।।

नीचैर्निपातितविमोहमहीधरस्य विन्ध्यस्य मूर्धनि पदं विनिधाय सम्यक् ।
इष्टां दिशं प्रतिगतः पुनरागतो न स्वच्छन्दमेव विहरामि तदस्म्यगस्त्यः ।।४।।(१०८०)

इदानीमगस्त्यचरितसदृशचरित्रवर्णनेन स्वस्मिन्नगस्त्यत्वं सम्भाव्य गर्जति **नीचैरिति**। यथाऽ**गस्त्यो**ऽगस्त्यनामा मुनिः **नीचैर्निपातितविमोहमहीधरस्य नीचै**रधो, **निपातितः** स्वागमनेन स्वनमस्कारार्थं पातितो, **विमोहो** विशेषो मोहो दिग्भ्रमः सूर्याच्छादनेन यस्माज्जनानां स तथोक्तः स चासौ, **महीधरः** पर्वतः, तस्य **विन्ध्यस्य** विन्ध्यनाम्नो गिरेः **मूर्धनि** शीर्षे, **सम्यक्** दृढं पुनरुत्थानं न भवेद् यथा तथा इत्यर्थः, **पदं** पादं, **विनिधाय** संस्थाप्य, **इष्टां** गन्तुमीप्सितां, **दिशं** दक्षिणदिशं प्रति, **प्रतिगतो** यातः प्रतिष्ठित इति यावत्, स **पुनः** भूयो, **नागतो** नायातः काशीं प्रतीति शेषः, किन्तु तत्रैव दक्षिणस्यां दिशि **स्वच्छन्दमेव** स्वेच्छयैव, **विहरति** क्रीडति व्यापृणोतीत्यर्थः। इयम् आख्यायिका काशीखण्डे प्रसिद्धा। तथा अहमपि प्रत्यगभिन्नः परमात्मा अहं च नीचैः स्वात्मतो अधः क्षेत्रे निपातितो यो विमोहो विपरीतज्ञानं प्रपञ्चनिर्वाहकज्ञानमित्यर्थः यद्वा विमोहो मूलाज्ञानमेव मह्याः क्षेत्रस्य धरन्धारकमत एव **विन्ध्यस्य** विध्यति स्वात्मानं सदा एकरूपमपि भिनत्तीति विन्ध्य आत्मभेदनिमित्तभूत इत्यर्थः, कार्यकारणरूपोभयविधमपि मोहं क्षेत्रं कृत्वा इति भावः। तस्य **मूर्धनि** शिरसि **पदं** कल्पितांशं जगत्कारणत्वाधिष्ठानत्वादिरूपं अंशं **विनिधाय** संस्थाप्य **सम्यग्दृढं** यथा **पुन**रात्मनि सम्बद्धो न भवेद् यथा तथा इत्यर्थः, **इष्टां** सुखस्वरूपत्वादीप्सितां प्रियाम् इत्यर्थः। **दिशं** दिशति प्रकाशयति सामान्यरूपेण जगदिति दिक् आत्मचितिः तां **प्रतिगतः** प्राप्तः सन्निति यावत् **पुन**र्भूयः कार्यकारणसङ्घातरूपे प्रपञ्चे **नागतो** न प्राप्तस्तत्रात्मसुख एव स्वच्छन्दमेव स्वेच्छयैव **विहरामि** क्रीडामि **तत्त**स्माद्धेतोः अहंपदलक्ष्यार्थः प्रत्यगात्माऽ**गस्त्यो**ऽगं ज्ञानं विना न गच्छति निवृत्तं न भवति तदगमज्ञानं तत्कार्यमन्तःकरणं वा स्त्यायति खण्डयतीति अगस्त्यः स्वशरणागत- मुमुक्षुजनाज्ञाननाशकोऽ**स्मि** भवामि।।४।। (१०८०)

जो अगस्त्य मुनि नीचे गेरे हुए विमोहक (सूर्य को ढककर मनुष्यों को दिग्भ्रम कराने वाले) विन्ध्य पर्वत के शिखर पर भले प्रकार (कि वह फिर उठ ही न सके) पैर रख कर अपनी इष्ट (दक्षिण) दिशा को चले गये थे और फिर लौट कर नहीं आये थे, सो मैं भी दूसरा अगस्त्य मुनि ही हूँ। मैं भी उनकी ही तरह स्वच्छन्द विहार कर रहा हूँ।

मैंने भी विमोह (प्रपंच का निर्वाह करने वाले विपरीत ज्ञान अथवा मूलाज्ञान) को नीचे डाल दिया है (आत्मा से नीचे कर दिया है) यह मोह ही विन्ध्य पर्वत के समान हो रहा था क्योंकि यही आत्मा के भेद का निमित्त बन रहा था। मैंने इसके सिर पर अपना पैर बड़ी दृढता से रख दिया है कि फिर यह उठकर कभी आत्मा से सम्बद्ध ही न हो सके। अब मैं निश्चिन्त होकर अपने प्यारे आत्मचैतन्य में पहुँच गया हूँ। अब मैं इस शरीराध्यास में कभी लौट कर नहीं आऊँगा। अब तो मैं वहीं (आत्मसुख में) स्वच्छन्द होकर विहार करने लग पड़ा हूँ। अब तो मैं पूरा अगस्त्य हो चुका हूँ।

दृष्टो मयाद्य विगलद्वदनप्रसादः कश्चित्तृतीयपदतः पतितः पृथिव्याम्।
तन्मे मतिः समुदियाय परावरज्ञा स्वर्गस्तु हन्त नरकादपि दुर्विपाकः।।५।।(१०८१)

ननु 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरमि'त्यादि, 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवती'ति श्रुतिभ्यां स्वर्गसुखस्य नित्यत्वप्रतिपादनात्तत्प्रापकज्योतिष्टोमादि कर्मणा एव अहं कृतार्थः स्यां किं वैराग्यादिप्रयाससाध्येन ज्ञानेनेत्याशङ्क्य स्वर्गेपि बहुविधं दुःखं दर्शयितुं गर्जति **दृष्ट इति।** हे शिष्य **अद्य** वर्तमानरात्रौ, **मया** विचारवदन्तःकरणवता, **कश्चित्** कोपि स्वर्गी, **विगलद्वदनप्रसादो** विगलन्विनश्यमानो वदनस्य मुखस्य प्रसादः प्रसन्नता यस्य स तथाभूतः सन्, **तृतीयपदतो** लोकत्रये तृतीयं यत्पदं स्थानं तस्मात् स्वर्गात्, **पृथिव्यां** भूमौ, **पतितः** स्खलितो, **दृष्टो**ऽवलोकितः। स्ततः किमित्यत आह **तदिति। तत्** तस्मात्कारणात् स्वर्गपातावलोकनात्, **मे** मम, **परावरज्ञा** परः स्वर्गो अवरो मृत्युलोकस्तौ जानातीति सा तथोक्ता, **मतिः** निश्चयरूपा वृत्तिः, **समुदियाय** उत्पन्ना बभूव, तस्यां मतौ किं निश्चितम् तदाह **स्वर्गस्तु इति। हन्त** इति खेदे मन्मतौ स्वर्गस्मरणादिना खेद एव जायत इति भावः, **स्वर्गस्तु** मृत्युलोकादुत्कृष्टसुखरूपत्वेन वर्णितोपि स्वर्गो नाकलोको **नरकादपि** पापफलभूतबहुदुःखप्रदान्नरकादपि, **दुर्विपाको** दुष्टकर्मणां विपाकः फलभूत इति निश्चितम्। अयं भावःस्वर्गे सत्त्वगुणाधिक्येन प्रापञ्चिकज्ञानाधिक्यात्तेन च न्यूनाधिकबुद्धिसत्त्वे सति स्वान्योत्कर्षावलोकनेन ईर्ष्याजनितदुःखस्य विद्यमानतया अन्यपतनदर्शनेन च स्वपतनानुमानेन स्वपातस्मृतिजन्यदुःखस्यापि विद्यमानतयापि स्वस्मिंश्च उत्कृष्टसुखलाभेन किञ्चित् दुःखासहस्वभावे च जाते पातजन्यदुःखबहुत्वप्रतीतेश्च उच्चपदप्राप्त्यनन्तरं निकृष्टपदप्राप्तिजन्यदुःखस्यापि सत्त्वात् च सर्वतोपि दुःखरूपत्वं स्वर्गस्यातः पापस्य दुःखफलकत्वप्रसिद्धेर्बहुपापफलं स्वर्गः, नरके तु मौढ्यजन्यसुखस्य विद्यमानत्वात्तत्र च दुःखानुभवेन पश्चात्तापे पुण्यकर्मवासनोत्पत्तेश्च किञ्चित्पापफलत्वं नरकस्य इति नरकादपि बहुतरपापफलत्वं स्वर्गस्येति निश्चितमिति भावः।।५।। (१०८१)

अर्थात् अग (अज्ञान) का नाश करने वाला हो गया हूँ। अब तो मैं अपने शरणागत मुमुक्षुओं के अज्ञान को नष्ट करने लगा हूँ।।४।।

आज रात को मैंने तृतीयपद अर्थात् स्वर्गलोक से पृथिवी पर उतरे हुए, उदास मुँहवाले एक स्वर्गभ्रष्ट को देखा था। उसको देखकर मुझे यह परावरज्ञा (पर स्वर्गलोक तथा अवर मर्त्यलोक इन दोनों की अवस्थाओं को खूब पहचानने वाली अथवा ऊँच नीच भेद को जानने वाली) बुद्धि उत्पन्न हुई कि (जिसके लिये दुनिया मरी मिटती है) वह स्वर्गलोक (सुखमय जीवन अथवा लोकविशेष) तो (पाप का फल भुगाने वाले अधिक दुःखदायी) नरक (दुःखमय जीवन अथवा किसी लोक-विशेष) से भी अधिक दुर्विपाक (दुःखदायी) होता है। अर्थात् स्वर्ग का परिणाम तो नरक से भी अधिक दुःखदायी है।

आरुह्य तुङ्गपदवीं पतितादनार्या-
न्नारूढ एव हि वरं प्रकृतौ स्थितो यः।
अङ्गानि हन्त किल तस्य न चूर्णितानि
खेदो न चेतसि न वा परिहासपीडा।।६।। (१०८२)

अत एव स्वर्गप्राप्तेरपि मृत्युलोकादिस्वस्थानलोकप्राप्तिरेव श्रेयसीति सूचयन्गर्जति **आरुह्येति।** हे शिष्य **तुङ्गपदवीं** तुङ्गोच्चा या पदवी स्थितिस्ताम्, **आरुह्य** प्राप्य, **पतितात्** ततो भ्रष्टादत एव तद्रक्षणबुद्धिहीनत्वाद्, **अनार्यान्नीचाद्, अनारूढ एव** उच्चपदमप्राप्त एव, **वरः** श्रेष्ठो ज्ञेयः। कुत इत्यत आह **प्रकृतौ इति। हि** यस्मात्कारणाद् **यः** श्रेष्ठपुरुषः, **प्रकृतौ** स्वर्गप्राप्तिकारणभूते मर्त्यलोकेऽन्यत्रोच्चपदप्राप्तिकारणभूते नीचपदे च स्थितो वर्तमानोऽस्ति अतः श्रेष्ठ इत्यर्थः। उच्चपदे उच्चपदप्राप्तिसाधनाऽसम्भवात्तद्भोगेन ततः पतनहेतुत्वाच्च, नीचपदे तु उच्चपदप्राप्तिसाधनसम्भवाच्च तत्र स्थितस्यैव श्रेष्ठत्वमिति भावः। तत उच्चपदात्पतने च दुःखाधिक्यं दर्शयितुं नीचपदे स्थितस्य

हमको तो अब यह समझ पड़ता है कि नरक तो थोड़े पापों का फल है तथा स्वर्ग उससे अधिक भयानक पापों का फल है। स्वर्ग में सत्त्वगुण की अधिकता रहती है, इस कारण उस स्वर्गी को प्रपंच का ज्ञान भी अधिक ही रहता है, जिससे कि 'वह मुझसे अधिक सुखी है, मैं उससे न्यून सुखी हूँ यह ज्ञान बना रहता है। जब कि वह अपने से किसी अधिक सुखी को देखता है, तो उसे ईर्ष्या भी होती ही है! दूसरे का स्वर्ग से पतन देखकर अपने पतन का जब अनुमान करता है तो अपने पतन को याद करके ही दुःखी होता है। स्वर्ग के अनुपम सुख को भोगते-भोगते जब कि किसी भी दुःख को सहन करने का स्वभाव नहीं रह जाता तो वह स्वर्ग से पतन का दुःख उसे बहुत बड़ा दुःख प्रतीत होता है। 'स्वर्ग जैसे उच्चपद को प्राप्त करने के अनन्तर निकृष्ट पद पाना है' यह भी एक बड़ा भारी दुःख उस स्वर्ग में होता है। इस प्रकार हम तो यह देखते हैं कि यह स्वर्ग प्रत्येक दृष्टि से दुःखदायी है। जब कि यह एक सर्वसम्मत बात है कि कोई भी दुःख पाप का ही फल होता है तो फिर हम निःशंक होकर यह कह सकते हैं कि यह स्वर्ग तो बहुत से पापों का फल है। इसके विपरीत नरक में तो मूढता का भी एक बड़ा भारी सुख रहता है। इसके अतिरिक्त जब कि नरकयातनायें भोगनी पड़ती हैं तो उनके दुःख से चित्त में पश्चात्ताप पैदा होता है कि हाय! हमने ये अशुभ कर्म न करके यदि शुभकर्म किये होते, तो यह दुःख हमें क्यों मिलता। इस पश्चात्ताप के करने से पुण्यकर्मों की वासनायें उत्पन्न हो जाती हैं। इससे हम तो इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह नरक तो थोड़े से ही पापों का फल है। परन्तु यह स्वर्ग घोर पापों का फल है।।५।।

नाडीं प्रविश्य यदि जीवति भीतभीतः प्रान्ते च खादति मृतिश्चिरजीवनं किम्।
देहस्वभावरहितः परमात्मभावे तिष्ठन्मृतिं जयति चेच्चिरजीवनन्तत्।।७।। (१०८३)

त्रिविधदुःखाभावं दर्शयन् गर्जति **अङ्गानि इति।** **हन्त** इति कोमलामन्त्रणे, हे शिष्य तस्य नीचस्थानस्थितस्य **अङ्गानि अवयवा, न चूर्णितानि** न भग्नानि, **किल** इति निश्चये, किं च **तस्य** नीचस्थानस्थितस्य, **चेतसि** अन्तःकरणे, **खेद** उच्चपदवियोगजन्यं दुःखं न विद्यते किं च तस्य **परिहासपीडा** लोकैः कृतो यः परिहास उपहासः तज्जन्या पीडा दुःखमपि, **न वा** नैव विद्यते, अतो नीचपदस्थस्य श्रैष्ठ्यमुच्चपदस्थादिति वर्णितमिति भावः।।६।। (१०८२)

इदानीं हठयोगाभ्यासेन नाडीं प्रविश्य चिरजीवितसिद्ध्या कृतकृत्यं मन्यमानं लक्ष्यीकृत्य तत्रापि दोषं दर्शयन् गर्जति **नाडीमिति।** हे हठिंस्त्वमन्यो वा त्वादृशः कोपि **नाडीं** सुषुम्णां, **प्रविश्य** प्रवेशं कृत्वा, सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्य इत्यर्थः, **भीतभीतो** भीता मृत्युतो भयं प्राप्ताः स्वल्पभया इत्यर्थः, स्वरक्षणसाधनेषु अप्रवृत्तेः अल्पभयत्वमिति भावः, तेभ्योपि योऽति भीतः स्वरक्षणाय तत्साधनभूतनाडीप्रविष्टत्वाद् **यदि** यर्हि, **जीवति** कियत्कालं मृत्युरहितस्तिष्ठति, तथापि **प्रान्त** आयुषोन्तेऽवसाने समाध्यन्ते वा, **मृतिः** मृत्युः खादति च भक्षति एव चिरजीव्यभिमानिनं विनाशयति एव इत्यर्थः तत्तादृशं **चिरजीवनं** चिरकालं जीवनं, **किं** न किमपि इत्यर्थः, किं तु तच्चिरमरणमेव नाडीप्रविष्टत्वेन धर्मकामार्थानुपयोगान्मरणभीत्या च नाडीप्रवेशलक्षणेन हेतुनाऽज्ञा-

ऊँची पदवी को पाकर नीचे गिरे हुए उस अनार्य से तो वह ही अच्छा है जो कि कभी उच्च पद को प्राप्त ही नहीं हुआ। क्योंकि वह तो अभी तक प्रकृति में (अर्थात् स्वर्गपद को प्राप्त करा देने वाले मर्त्यलोक में) ही स्थित है। (सब से उच्च पद में पहुँच जाने पर किसी उच्च पद की प्राप्ति के लिये साधन ही नहीं किया जा सकता। उस उच्च पद को भोग कर वहाँ से गिरना भी आवश्यक होता है। इसके विपरीत नीचे पद में ठहरा हुआ प्राणी ऊँचे पद की प्राप्ति के लिये साधन भी कर सकता है इसलिये नीचे स्थान में ठहरा हुआ मनुष्य ही श्रेष्ठ है।) विचारणीय बात यह है कि उस नीचे पद में स्थित हुए मनुष्य के न तो अङ्ग ही टूटे हैं न उसके मन में ऊँचे पद से गिरने का पश्चात्ताप ही है और न उसे लोगों की हँसी उड़ाने से कुछ दुःख ही पहुँचा है (ज्ञान न होने पर परिणाम में नीचपदस्थ मनुष्य ही उच्चपदस्थ से श्रेष्ठ होता है।)।।६।।

महाडरपोक हठयोगी, यदि ब्रह्मनाडी में घुस कर जीता है और समाधि टूटने पर उसे फिर मौत खाने लगती है (मौत का डर व्याप जाता है) तो यह उसका कैसा चिरजीवन हुआ! यदि कोई देह के स्वभाव से रहित होकर, परमात्मभाव में स्थिर हो जाय और यों ज्ञान द्वारा मौत को जीत ले, तो यह ही सच्चा चिरजीवन है।

आलोकितानि च मतानि मुनीश्वराणा-
मालोकिताश्च बहवो बहुसिद्धमार्गाः।
अद्यापि तं मलिनभावमपास्य दूरं
सिद्धिस्तु किं न यदि सिद्ध्यति नित्यसिद्धः।।८।। (१०८४)

नित्वस्यानुमेयत्वाज्ज्ञानसाधनानुपयोगित्वाच्चाऽऽजन्मतो मरणान्तं रोगिजीवनस्य मरणतुल्यत्वात् मरणवत्त्वमिव तादृशचिरजीवनस्य चिरमरणत्वमेव सिद्धमिति भावः। ननु तर्हि योगेन चिरजीवनं साध्यमित्युक्तेः कोभिप्रायः कथं च दत्तगोरक्षादिभिश्चिरजीवनं संपादितमित्याशङ्क्याह **देहेति**। हे हठिन् **देहस्वभावरहितो** देहे शरीरे स्वस्य आत्मनो यो भावः सत्ताऽऽरोपिता स तत आत्मनि संयोज्य अनन्तरमात्मनि स्वपदवाच्ये देहस्य यो भावः सद्रूपता तेन रहितः सन्, **परमात्मभावे** परमः कार्यकारणातीतस्य आत्मनो भावे सत्त्वे आत्मपरात्मनोः सत्तैक्यानुभव इत्यर्थः, **तिष्ठन्** वर्तमानः सन्, **मृतिं** मरणं, **जयति** वशीकरोति, **चेद्** यदि, तर्हि **तज्जीवनं** चिरजीवनं चिरकालं जीवनं ज्ञेयम्। आत्मज्ञानपूर्वं दत्तादिभिश्चिरजीवनं सम्पादितं तस्य च मुक्तिरूपत्वात् सफलत्वमिति ज्ञानपूर्वस्य जीवनस्य ज्ञानदार्ढ्योपयोगितया तस्यैव साध्यत्वं प्रतिपादितं तत्र तत्र योगशास्त्रे अतः तस्मिंश्च ज्ञाने सति मोक्षसिद्ध्या मरणनिवृतौ च तदनुपयोग इति भावः।।७।। (१०८३)

ननु 'ज्ञानात्सिद्धिमवाप्नुयादि'त्यादिषु ज्ञानस्य सिद्धिफलकत्वप्रतिपादनात् सा सिद्धिस्तु योगेनैव सिद्ध्यति अतो योगस्यैव मुक्तिहेतुरूपज्ञानत्वमतस्तेनैव अहं कृतार्थः किं जीवब्रह्मैक्यज्ञानेन वेदान्तप्रतिपाद्येन तत्प्रतिपादकेन च वेदान्तशास्त्रेण वा किमित्याशङ्क्य, वेदान्तप्रतिपाद्यज्ञानं विना नित्यसिद्धिरूपात्मस्थितिर्न स्याद्योगसिद्धेस्तु तात्कालिकत्वात् न परमपुरुषार्थता इत्याशयेन समाधत्ते **आलोकितानीति**। हे शिष्य **मुनीश्वराणां** मुनयो मननवन्तस्तेषामीश्वराः स्वामिनः तेषु श्रेष्ठा इत्यर्थः, तेषां **मतानि** संमतानि तत्प्रणीतशास्त्राणि इत्यर्थः, **आलोकितानि** विचारितानि सन्ति,

जब तुम नाडी में प्रविष्ट होकर मूढसमाधि करते हो तो उस समय धर्म, अर्थ या काम, किसी का भी उपार्जन नहीं कर सकते। तुम्हारी वह अवस्था ज्ञान के साधनों के उपयोग की भी नहीं होती। मृत्यु के भय से नाडी में घुसने के कारण तुम्हारा अज्ञानी होना स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार जन्म से लेकर मरणपर्यन्त रोगी रहने वाले मनुष्य का जीवन मरण के समान होने से, मरण ही होता है इसी प्रकार उस निष्फल चिरजीवन को तो चिरमरण ही कहना अधिक उचित होगा। इसलिये चिरजीवन के तुम्हारे साधन ठीक नहीं हैं। चिरजीवन के मुख्य साधन तो ये हैंदेहाध्यास को छोड़ कर सदा ही परमात्मभाव में स्थित रह कर मरण को वश में कर लिया जाय।।७।।

हे शिष्य, हमने मुनीश्वरों के मतों का विचार किया है, बहुत से कपिल आदि सिद्धों के मार्गो को भी उनके बनाये शास्त्रों में देखा है। (उन सबका विचार करने के पश्चात् हमने तो यही निश्चय किया है) कि इस सर्वलोकप्रत्यक्ष मलिनभाव को त्याग कर यदि

अङ्गं प्रसार्य पतितः खलु चित्स्वरूपे।
निद्रालुतां गत इति प्रविनष्टचेष्टः।
विन्ध्यस्य योजनशतायतिका शिलेव
नैव ह्रसामि न च वृद्धिमुपैमि पूर्णः।।९।। (१०८५)

मया इति अध्याहार्यम्। **आलोडितानि** इति पाठे स एवार्थः। **च** पुनः **बहवो**ऽपरिमिता, **बहुसिद्धमार्गाश्च** बहवोऽनन्ताः सिद्धाः कपिलप्रभृतयस्तेषां मार्गा मतानि तत्प्रणीतशास्त्राणि अपि इत्यर्थः, **आलोकिता** विचारिताः सन्ति। तर्हि तद्विचारेण भवद्भिः किं निश्चितम्? तत्र आह **अद्यापि इति**। **तं** सर्वलोकप्रत्यक्षं, **मलिनभावं** मलिनं रागादिभिः कलुषीकृतमन्तःकरणं तस्य भावः सत्त्वं, यद्वा नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आत्मनि मलिन-अनित्य-अशुद्ध-अबुद्ध-जीवः अविद्यादिभिः संपादितः तस्य भावः सत्त्वं तं, **दूरं** दूरदेशं, **अपास्य** निषेध्य दूरीकृत्य इत्यर्थः, **नित्यसिद्धो** नित्यं सर्वदैव सिद्धो वर्तमानः सन्, **यदि** यर्हि, **न सिध्यति** न मुच्यते, **तर्हि** तदा, स योगाभ्यासी सिद्धः किं सिद्धिं प्राप्त इत्यर्थः। योगेन तात्कालिकमुक्तिप्रतितौ अपि तत्र प्रपञ्चबीजाज्ञानस्य विद्यमानत्वाद् यतो वेदान्तजन्यजीव-ब्रह्मैक्यप्र-पञ्चात्यन्तासत्त्वज्ञानं विना नित्यमुक्तिर्न इति सर्वशास्त्रविचारेण मया निश्चितमिति भावः।।८।। (१०८४)

इदानीं स्वान्तःकरणस्य चितिलयेन प्रपञ्चाभानात् स्वस्य चेष्टारहितत्वेन लक्ष्यं परिपूर्णत्वं अन्येषां तत्र रुच्युत्पादनाय क्षयवृद्धिहीनत्वं च दर्शयन् स्वस्मिन् स्वयमपि लक्ष्यीकृत्य गर्जति **अङ्गमिति**। हे शिष्य **अहं** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासोऽङ्गं मत्स्वरूपं चिदाभासस्वरूपमित्यर्थः, **प्रसार्य** प्रसृतं कृत्वा ब्रह्मरूपत्वं संपाद्य इत्यर्थः, **चित्स्वरूपे** चिच्चेतनं स्वरूपमसाधारणरूपं यस्य तस्मिन् प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि, **पतित** एकीभूतोऽस्मि, अतो **निद्रालुतां** निद्रास्वभावं, **गतः** प्राप्त इति, हेतोः **प्रविनष्टचेष्टः** प्रकर्षेण विनष्टा विलीना चेष्टा अन्तःकरणबहिःकरणव्यापारा यस्य स तथा उक्तोऽस्मि भवामि। ननु भवता प्रपञ्चाभानरूपनिद्रालुत्वे चिदाभासस्य ब्रह्मत्वसंपादने च समस्तकरणव्यापारनाशे चापि संपादिते सति किं फलं प्राप्तं इत्याशङ्क्य सदृष्टान्तं तद्दर्शयति **विन्ध्यस्य इति**। **विन्ध्यस्य** विन्ध्यनाम्नः पर्वतस्य, **योजनशतायतिका** योजनानि क्रोशचतुष्कानि तेषां शतानि अपरिमितशतानि तावदायतिका विस्तीर्णा, **शिलेव** यथा शिला न ह्रसति क्षीणा

उस नित्यसिद्ध आत्मा को सिद्ध न कर लिया (अर्थात् मुक्त न हो गये) तो फिर वह सिद्ध ही क्या हुआ।

योग के द्वारा तात्कालिक मुक्ति की प्रतीति हो जाने पर भी उस योगी में इस प्रपंच को पैदा करने वाले अज्ञानरूपी बीज के विद्यमान रहने से वेदान्तजन्य आत्मैक्य-साक्षात्कार हुए बिना तथा प्रपंच की असत्ता का ज्ञान हुए बिना कभी भी नित्यमुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।।८।।

परिलसति पिता मे सर्वलोकस्य राजा
धृतिमतिबलहेतुर्यौवनं मे नवीनम्।
इयमपि च सुबुद्धिः काचिदूढा वराङ्गी
सुखमधिकमतः किं मत्परो नास्ति धन्यः।।१०।। (१०८६)

भवति, **न च** नैव, **वृद्धिं** पुष्टिम्, **उपैति** प्राप्नोति, तथा अहं अहंपदलक्ष्यः प्रत्यगात्मा **नैव** नापि, **ह्रसामि** क्षयरूपं परिणामं प्राप्नोमि, **च** पुनः, **न** नैव, **वृद्धिं** पुष्टिरूपं विकार**मुपैमि** प्राप्नोमि, अतः **पूर्णो** ब्रह्मरूपेण व्यापको भवामि वृद्धिक्षयादिविकाराभावेन परिपूर्णब्रह्मरूपत्वं स्वस्मिन्ननुभूयमानमेव फलमिति भावः।।९।।(१०८५)

मैं तो अपने (चिदाभासरूपी सुकड़े हुए अङ्ग को खूब फैला कर अर्थात् उसको व्यापक ब्रह्मरूप करके) चित्स्वरूप (ब्रह्म) में गिर पड़ने (एकता को प्राप्त होने) के पश्चात् (प्रपंचविस्मरणरूपी) निद्रालुता को प्राप्त हो जाने से चेष्टा (मन तथा इन्द्रियों के व्यापारों) से रहित हो गया हूँ। अब तो मैं विन्ध्यपर्वत की सैकड़ों योजन लम्बी अति विस्तीर्णशिला के समान, न तो कभी क्षय को ही प्राप्त होता हूँ और न कभी वृद्धिरूपी विकार के ही वश में आता हूँ, किन्तु पूर्ण ब्रह्मरूप ही हो गया हूँ।

तात्पर्य यह है कि इन मन तथा इन्द्रियों के व्यापार-प्रवाह के बने रहने पर, मुझमें अपूर्णता-सी आ गयी थी। अब तो वह बन्द हो जाने से मैं फिर परिपूर्ण ब्रह्मरूप हो गया हूँ। मेरा यह अन्तःकरण मेरे आत्मचैतन्य में लय हो गया, तो प्रपंच का भान भी बन्द हो गया और चेष्टायें भी सब रुक गयीं। इस पद्धति से मुझे मेरी स्वाभाविक परिपूर्णता हाथ लग गयी। यदि औरों को भी ऐसी पूर्णता की अभिलाषा हो तो वे भी अपने मन को चैतन्य में लय करना सीखें और मेरे समान ही परमपद को प्राप्त करें।।९।।

मुझ चिदाभास का परमात्मारूपी पिता जो कि इस सकल जगत् का एकमात्र प्रकाशक है सब जगह साक्षात् प्रकाशित हो रहा है। मुझको एक ऐसा नवीन यौवन (आत्मा तथा अनात्मा का विवेचन) प्राप्त हुआ है कि उसके प्रताप से मुझमें धैर्य भी आ गया है (जिससे मुझमें आत्मधारणा भी रहने लगी है, अब विषयों को देखकर भी मैं अक्षुब्ध ही बना रहता हूँ) शास्त्रार्थों का मनन भी भले प्रकार होता रहता है। आत्मा की प्राप्ति के साधनों में मुझको बल अर्थात् अपरिमित उत्साह भी हो गया है। (इस यौवनावस्था के अनुरूप ही) मैंने एक अत्यन्त श्रेष्ठ अङ्गों वाली तथा अनिर्वचनीय आनन्द देने वाली सुबुद्धिरूपी स्त्री से अपना उद्धार कर लिया है। इस सुख से उत्तम और क्या सुख हो सकता है? यही कारण है कि अब मुझसे अधिक सौभाग्यशाली और कोई भी नहीं है। मैं तो सर्वथा कृतकृत्य हो गया हूँ।।१०।।

समरसपदचिन्तानन्तसन्तोषवन्तः
क्षणसुखकणतृष्णातन्तुमन्तर्विमुच्य।
निजसुखनिधिविद्याराजसिंहासनस्था
वयमिह कलयामः कालमालम्ब्य देहम्।।११।। (१०८७)

इदानीं स्वस्य कृतकृत्यत्वं रूपकेण निरूपयन् गर्जति **परिलसति इति**। **मे** मम चिदाभासस्य, **पिता** पातीति पिता सच्चिदानन्ददानेन पालकत्वात् स्वस्य तत उत्पन्नत्वाच्च पितृपदेन परमात्मा अत्र ग्राह्यः, स **सर्वलोकस्य** सर्वः समस्तो लोको लोक्यते दृश्यते इति लोको दृश्यं तस्य, **राजा** रञ्जकः प्रकाशक इत्यर्थः, **परिलसति** परितः सर्वत्र लसति साक्षात् प्रकाशत इत्यर्थः, तथा **मे** मम चिदाभासस्य, **धृतिमतिबलहेतुः** धृतिः आत्मधारणा, इन्द्रियादिक्षोभेनाक्षोभरूपं धैर्यं वा, मतिः शास्त्रार्थानां मननं, बलं आत्मप्राप्तिसाधनेषु उत्साहः तेषां हेतुः कारणभूतं, **यौवनं** आत्मानात्मनोर्विवेचनं, मिश्रणामिश्रणार्थद्वयवतो युधातोः करणे ल्युटि युवनमितिरूपं ततश्च स्वार्थे अणि च यौवनं, तेन च अमिश्रणेन विवेचनं अत्र ग्राह्यं तत् **नवीनं** प्रौढमस्ति नवीनपदं अत्र जीर्णत्वमात्रव्यावर्त्तकं न तु कोमलत्वपरम्, **अपि च** अन्यदपीयं कूटस्थसहितचिदाभासस्य मम दृश्यत्वेन प्रत्यक्षा काचिदनिर्वचनीया **सुबुद्धिः** सुखस्वरूपत्वात् **सु** शोभना **बुद्धिः** जीवब्रह्मैक्यविषयिणी निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः, **वराङ्गी** वरं श्रेष्ठं सर्वेषां ब्रह्मादीनां पूज्यत्वाद् अङ्गं, स्वरूपं यस्याः सा तथोक्ता स्त्री, **ऊढा** परिणीता, **अतो** अस्मात् सुखाद् **अधिकं** उत्कृष्टं अन्यत्, **सुखं** शर्म किं अस्ति न किमपि इत्यर्थः, इदमेवाधिकमिति भावः, यत एतादृशसुखवान् अस्मि ततो **मत्परो** मत्तः परो अन्यो, **धन्यः** सुकृती, **नास्ति** न विद्यते अहमेव सुखी इत्यर्थः।।१०।। (१०८६)

ननु तर्हि भवतां कृतकृत्यत्वात् सर्वव्यवहारसाधनभूतदेहधारणे प्रयोजनाभावेन न तदाश्रयो युक्त इत्याशङ्क्य देहव्यापृतिप्रयोजनाभावेपि स्वात्मसुखप्राप्त्या कृतकृत्यत्वात् प्रारब्धभोगमात्रोपयोगितया देहधारणं युक्तम् एव इत्याशयेन गर्जति **समरसेति**। हे शिष्य **समरसपदचिन्तानन्त-सन्तोषवन्तः** समः सामान्यरूपेण सर्वदा एकरूपो रसः सुखं यत्र 'रसौ वै स' इति श्रुतेः तत्तादृशं यत्पदं स्वरूपं तस्य चिन्ता चिन्तनं स्मरणमित्यर्थः, तेन योऽनन्तो नाशरहितः सन्तोषोऽलम्बुद्धिः निरङ्कुशा तृप्तिरित्यर्थः, स विद्यते येषु ते तथोक्ता वयं अस्मदादय आत्मसाक्षात्कारवन्तः। **समरसपदलब्ध्येति** वा पाठः, तदा समरसपदस्य लब्ध्या प्राप्त्या इति व्याख्येयम्। **क्षणसुखकणतृष्णातन्तुं** क्षणं क्षणकालपरिच्छिन्नं यत्सुखं वैषयिकं क्षणिकसुखमित्यर्थः, तस्य ये कणा लवाः तेषां तृष्णा सैव बन्धनहेतुत्वात् तन्तुरिव तन्तुस्तं सुच्छेदत्वं सूचितं ज्ञानिभिस्तृष्णाया अज्ञानिनां तु चटकादिवन्निर्बलत्वेन दृढबन्धनहेतुत्वं च तन्तुपदेन इति भावः। यद्वा ज्ञानिषु तस्याः सूक्ष्मत्वेन तन्तुसादृश्यं **अन्तः** अन्तःकरणे वर्तमानं, **विमुच्य** परिच्छिद्य, **निजसुखनिधिविद्याराजसिंहासनस्था** निजं आत्मरूपं यत्सुखं शर्म तस्य निधानं पात्रं ब्रह्म द्रव्यपूर्णं भाण्डमिव स्वसुखपूर्णं ब्रह्म इत्यर्थः, तस्य विद्या ज्ञानं सैव राज्ञः स्वयं-प्रकाशात्मनो

कति कति न हि जीवा देवराजादयोऽमी
पदपतनहताशाः संसृतौ संसरन्ति।
गुरुपदमवलम्ब्य ब्रह्मविद्यातरिस्था
अधिगतपरपारास्ते वयं धन्यधन्याः।।१२।। (१०८८)

मम सिंहासनं आस्यते स्थीयते अस्मिन्नित्यासनं हिंसति नाशयति आत्मज्ञानमिति सिंहो मोहः तन्नाशेन तस्य मोहसिंहस्यासनं चर्म इव विद्याया मोहकार्यत्वात् सिंहासनत्वं तत्रस्था वर्त्तमानाः सन्त इह व्यवहारे **देहं** शरीरं, **आलम्ब्य** आश्रित्य, **कालं कलयामो**ऽतिक्रामयामोऽस्माकं देहधारणं न कर्मजननेन देहान्तरप्राप्तये किन्तु प्रारब्धभोगायैव केवलमिति भावः।।११।। (१०८७)

ननु तर्हि इन्द्रादिपदं प्राप्तानां भवतां च शरीरधारणे समे सति भवतां तेभ्यः कोऽतिशय इत्याशङ्क्य तेषु तत्तत्पदभ्रंशस्य विद्यमानत्वाद् अस्माकं गुरुपदं प्राप्तानां ततो भ्रंशाभावो विशेष इत्याशयेन गर्जति **कति कति इति**। हे शिष्य **देवराजादयो** देवा विबुधास्तेषां राजा स्वामीन्द्रो 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच् स आदिर्मुख्यो येषां ते तथोक्ता, **जीवाः** प्राणिनः, **पदपतनहताशाः** पदात् स्थानाद्यत्पतनं भ्रंशस्तेन हता नष्टाऽऽशा विषयतृष्णा येषां ते तथोक्ताः सन्तः, सबीजनाशोऽत्र न तु निर्बीजनाशो ग्राह्यः, **कति कति** कियन्तः कियन्तः, **संसृतौ** संसारे, **न संसरन्ति** न जन्ममरणादिरूपं संसारमनुभवन्ति, सर्वेप्यनुभवन्तीत्यर्थः, **हि** प्रसिद्धमेतत् सर्वशास्त्रेषु इन्द्रादिपदानां अनित्यत्वम् इत्यर्थः, तस्मादिन्द्रादीनां तत्तत्पदभ्रंशरूपो मृत्युरस्तीति भावः। ये तु प्रसिद्धा **गुरुपदं** गुरोर्दैशिकस्य पदमङ्घ्रिं, यद्वा गुरु श्रेष्ठं यत्पदं स्वरूपं तदनन्तत्वाद्, **अवलम्ब्य** आश्रित्य, **ब्रह्मविद्यातरिस्था** ब्रह्मणो देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यस्य वस्तुनो विद्या ज्ञानं सैव तरिस्तरणिस्तस्मिन्स्था स्थिता, उक्तलक्षणास्ते **वयं** अस्मदादयो, **अधिगतपरपारा** अधिगतः प्राप्तः परः संसारसमुद्रस्य परोऽन्यः संसारास्पृष्टो ब्रह्मलक्षणो यैस्ते तथोक्ता, अतो **धन्यधन्या** धन्येभ्य इन्द्रादिपदं प्राप्तेभ्यः कृतकृत्यंमन्येभ्य इत्यर्थः, धन्याः प्राप्तप्राप्यत्वात् कृतकृत्याः स्मो भवाम इति क्रियाऽध्याहार्या, शरीरधारणे समे सत्यपि उभयत्र तेषु पदभ्रंशपूर्वं जन्ममरणम् अस्मासु तन्नेत्ययमेव विशेष इति भावः।।१२।। (१०८८)

समरस ब्रह्म पद की चिन्ता से अनन्त सन्तोष को पा लेने वाले हम लोग, क्षणिक सुखकणों के तृष्णारूपी तन्तुओं को अन्दर से तोड़-तोड़कर, आत्मसुखनिधि के ज्ञानरूपी राजसिंहासन पर बैठ चुके हैं। अब तो हम प्रारब्ध-काल तक इस देह के सहारे से अपनी उमर के शेष दिन गिन रहे हैं।

अब हमने कर्मों का आचरण करके दूसरा जन्म पाने के लिये इस देह को धारण नहीं कर रक्खा है। किन्तु आत्मसुख को प्राप्त हो चुकने से कृतकृत्य हो जाने के कारण केवल प्रारब्ध-भोगों के लिये ही इस शरीर को धारण कर रक्खा है। अब यह हमारा अन्तिम देह है।।११।।

व्योम व्योमचरैर्न लिप्तमपि यत्तत्सर्वदा नीरसं
क्षीराब्धिः सरसोपि वृद्धिमधिकां लब्ध्वा पुनर्मुञ्चति।
हेमाद्रिर्जनको मुदामपि मुदां नैवाश्रयो नीरसो
न क्षीणो न च नैव मोदरहितोऽहं तत्तुला नास्ति मे।।१३।। (१०८६)

इदानीं स्वात्मनि व्योमसागरमेरूपमा तत्र तत्र शास्त्रेषु दत्ता, तामसहमानस्तेषु न्यूनत्वं दर्शयन् गर्जति **व्योमेति**। हे शिष्य **व्योम** आकाशं, **व्योमचरैः** व्योम्नि आकाशे चरन्ति गच्छन्ति ते व्योमचरा मेघसूर्यधूलिपक्ष्यादयस्तैः, **न लिप्तमपि** न लेपं प्राप्तं, यद्यपि अतोऽनेन धर्मेणात्मन्युपमीकृते यद्यपि तथापि **यद्** यतः कारणात् **तत्** ततो हेतोर्नोपमा भवति। कुत इत्यत आह **सर्वदा इति**। **सर्वदा** सर्वकालं, **नीरसं** रसः सुखं तन्निर्गतं निवृत्तं यस्मात्तथोक्तं, स्वात्मा तु "रसो वै स" इति श्रुतेः सुखरूपोऽतस्तत्र तस्य उपमाऽनुचितेति भावः। किञ्च **क्षीराब्धिः** क्षीरस्य दुग्धस्य अब्धिः समुद्रः, **सरसोपि** रसो जलं तेन सहितो यद्यपि अस्ति तथापि यद्यतः कारणाद्, **अधिकाम्** उत्कृष्टां, प्रलये नित्यदा च चन्द्रोदये **वृद्धिं** वृद्धिरूपपरिणामं **लब्ध्वा** प्राप्य, **पुनः** भूयः, तां **मुञ्चति** विसृजति, तत्ततो हेतोः आत्मनि तदुपमाप्ययुक्तैवेति, न ह्रासवृद्धिपरिणामरहित आत्मनि तदुपमोचितेति भावः। तर्हि वृद्धिक्षयविकाररहितो मेरुरेवानन्दकारकत्वाद् आत्मनि उपमानम् अस्तु? तत्राह **हेमाद्रिरिति**। **हेमाद्रिः** हेम्नः सुवर्णस्य अद्रिः पर्वतो मेरुः, स **मुदां** हर्षाणां, **जनकोपि** अन्येषां हर्षोत्पादकोपि आत्मनि उपमा न स भवति, कुत इत्यत आह **मुदामिति**। यद् यस्मात्कारणात् **मुदां** हर्षाणां, **आश्रय** आधारो, नैव भवति जडत्वात्तस्य इत्यर्थः, अतः सर्वप्रीत्युपलक्षित-सर्वसुखाश्रयभूते स्वतः सुखरूपे च आत्मनि च नैवोपमानं भवति इति भावः। किञ्चाहं ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा **नीरसो** रसः सुखं तद्रहितो न भवामि किन्तु सरस एव भवामि, किं चाहमात्मा **क्षीणः** क्षयविकारवान्, **न च** नैवास्मि, किन्तु सर्वदैकरूपत्वान्नित्य एव अस्मि, किञ्च **मोदरहितश्च** मोदेन आनन्देन रहितो हीनोपि नैवास्मि किन्तु सुखरूप एवास्मि, **तत्** ततो हेतोः, **मे** मम प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपस्य, **तुला** उपमाऽऽकाशादीनां, **नास्ति** न विद्यत, आत्मनो निरुपमस्य व्योमक्षीरसमुद्रमेरूणां न सम्भवतीति भावः।।१३।। (१०८६)

क्या देवराज प्रभृति कितने ही जीव इस संसार में नहीं भटक रहे हैं, जोकि पदच्युत होने से हताश हो चुके हैं। धन्य तो हम हैं जोकि गुरु के चरण पकड़कर, ब्रह्मविद्यारूपी नौका पर बैठकर, इस संसारसागर के पार तक जा पहुँचे हैं।

तात्पर्य यह है कि उन इन्द्रादियों ने तथा हम ज्ञानियों ने यद्यपि शरीर का धारण तो समानरूप से ही कर रक्खा है परन्तु उन लोगों का पदभ्रंश होगा और वे फिर-फिर जन्म-मरण को प्राप्त करेंगे। हम लोगों का न तो पदभ्रंश ही होगा और न हमें जन्ममरण की प्राप्ति ही होगी। उन देवेन्द्र आदियों से हम ज्ञानी लोगों में यही विशेषता है।।१२।।

सायं प्रातरनेकरङ्गमपि तन्नानेकरङ्गाश्रयं
यान्त्यायान्ति पयांसि तत्र न पयोरेखापि दृष्टा क्वचित्।
सज्ज्ञानेन मया विगाह्य तदहो दृष्टं नभो निर्मलम्
नीलं नीलमिति प्रथैव नभसो मिथ्या नभोनीलिमा।।१४।। (१०६०)

ननु तर्हि केनाशयेन आत्मनि आकाशोपमा शास्त्रेषु दत्ता इत्याशङ्क्य रक्तपीतादिगुणानाश्रयेण जलादिभिरनार्द्रत्वेन च प्रतीयमाननीलत्वानाश्रयेणापि च सादृश्यादित्याशयेन गर्जति **सायमिति। सायं** सायंकाले, **प्रातः** उषःकाले, **नभ** आकाशं **अनेकरङ्गमपि** अनेके बहवो नीलपीतरक्तादयो रङ्गा रञ्जयन्ति स्वसंसृष्टं वस्त्रादीति ते तथोक्ता यस्मिन्नाकाशे तथाभूतं प्रतीयमानमपि, मूढदृष्ट्या तदाकाशं विवेकिदृष्ट्या **अनेकरङ्गाश्रयं** अनेके बहवो ये रङ्गा नीलपीतादिरञ्जकद्रव्याणि तेषामाश्रयं आधारभूतं न भवति तेन च धर्मेण रक्तश्वेतश्यामरूपरजःसत्त्वतमोगुणाधारत्वेन मूढानां प्रतीयमानोपि वस्तुतो विवेकदृष्ट्या गुणानां पृथगसत्त्वात्तदाधारत्वाभावेनाकाशेनोपमीयत इति भावः। किञ्च तत्राकाशे **पयांसि** जलानि, मेघद्वारा **यान्ति** गच्छन्ति, **आयान्ति** आगच्छन्ति च, तथापि **क्वचित्** कुत्रापि व्योमभागे, **पयोरेखा** जलरेखा, **नापि** नैव, **दृष्टा**ऽवलोकिताऽनेन जलास्पृष्टत्वधर्मेण वैषयिकसुखोत्पत्तिविनाशे प्रतीयमानेपि वस्तुत आत्मनि तदसत्त्वात्तेन तदुत्पत्तिलयेन च अस्पृष्टत्वादात्मनि गगनोपमत्वं प्रतिपादितमिति भावः। किञ्च **सज्ज्ञानेन** आकाशज्ञानवता मया ज्ञानिना, **तल्लो**के नीलकटाहाकृति प्रतीयमानं **नभ** आकाश, **विगाह्या**विश्य **निर्मलं** नीलगुणरहितं, **दृष्टं** अवलोकितं, तस्य च लोके **नीलं नीलमिति** श्याममित्येवं, **नभस** आकाशस्य, **प्रथैव** प्रख्यातिरेव केवलं, न तु तत्र वास्तवं तत्, तदुक्तमेव स्पष्टमाह **मिथ्या इति। नभोनीलिमा** नभस आकाशस्य नीलिमा नैल्यं, **मिथ्या** मृषास्ति, अनेनापि धर्मेण आत्मनि साकारत्वाज्ञानवत्त्वप्रतितौ सत्यामपि लोकदृष्ट्या, विवेकिदृष्ट्या तस्य तत्राभावादाकाशोपमोक्तेति ज्ञातव्यमिति भावः।।१४।। (१०६०)

यह आकाश आकाशचारियों से लिप्त तो नहीं होता परन्तु उसमें यह दोष है कि यह सर्वथा नीरस है। यह क्षीरसागर सरस तो है परन्तु यह भी बढ़-बढ़कर फिर फिर घट जाता है। यह हिमालय पर्वत प्रसन्नता को उत्पन्न तो करता है परन्तु स्वयं इस बिचारे को कभी प्रसन्नता नहीं होती। यही इनमें बड़े दोष हैं। इन तीनों के विपरीत मुझमें इन तीनों के गुण तो हैं (मैं निर्लेप भी हूँ, सरस भी हूँ, प्रसन्नता का जनक भी हूँ) परन्तु इनके दोष मुझमें नहीं हैंइनकी तरह मैं नीरस भी नहीं हूँ, घटता भी नहीं हूँ, मोदरहित भी नहीं होता हूँ। मुझे मालूम हो गया है कि मेरी उपमा देने को इस संसार में कुछ रहा ही नहीं। यों मैं निरुपम ही रह जाता हूँ।।१३।।

सायंकाल और प्रातःकाल वह आकाश अनेक रंग वाला दीखता तो है परन्तु वह वैसा होता नहीं है। उस आकाश में जल से भरे मेघमण्डल आते हैं, जाते हैं, परन्तु उसमें पानी की बूँद भी कहीं नहीं रहती। मैंने ज्ञानपूर्वक विचार कर उस निर्मल

रूप्ये रूप्यमतिः कृता कृतधिया रङ्गे पुनर्दुर्धिया
सत्यं द्वावपि संस्थितौ निजधिया स्वे निश्चये निश्चले।
एकस्यैव दरिद्रता व्यपगता तस्थौ द्वितीयस्तथा
सञ्जाते क्रयविक्रयव्ययविधौ व्यक्तो विशेषस्तयोः।।१५।। (१०६१)

इदानीं दृष्टान्तेन एव आत्मज्ञानाज्ञानयोः फलं दर्शयन् गर्जति **रूप्य इति**। मार्गे क्वचिद्रूप्यं रङ्गं च पतितं, तस्मिन् मार्गे गच्छतोर्द्वयोर्मध्ये एकेन **कृतधिया** विवेकिना पुरुषेण, **रूप्ये** रजते, यद्वा इदं रङ्गं रूप्यं वा उत विचार्य रूप्ये रङ्गभ्रान्तिं त्यक्त्वा रूप्य एव इदं रूप्यमिति कृता धीर्निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिर्येन स तथोक्तस्तेन **रूप्ये** रजते, **रूप्यमती** रजतबुद्धिः, **कृता** सम्पादिता, **पुनः** भूयश्च, **दुर्धिया** दुष्टाऽविवेकिनी धीर्मतिर्यस्य स तथोक्तो भ्रान्तबुद्धिरित्यर्थः, तेन **रङ्गे**[1] कार्ष्णायसे, **रूप्यमती** रजतबुद्धिः, **कृता** सम्पादिता, ततश्चोभाभ्यामुभयमपि गृहीत्वा **द्वावपि** उभावपि, **निश्चले** स्थिरे, **स्वे** स्वकीये, **निश्चये** निर्णये, **निजधिया** स्वस्वबुद्ध्या, 'समौ निर्णयनिश्चयावि'त्यमरः, **संस्थितौ** स्थितिं कृतवन्तावेतत्**सत्यं** यथार्थमेव, तथापि उभयबुद्धिगृहीतस्य द्रव्यस्य **क्रयविक्रयव्ययविधौ** क्रयोऽन्यस्मान्मूल्यदानेन ग्रहणं, विक्रयश्च स्वेन मूल्यं गृहीत्वा अन्यस्मै समर्पणं, व्ययश्च दानोपभोगस्तन्निमित्तं दानं तेषां विधिर्व्यापारः तस्मिन् **सञ्जाते** सति प्राप्ते सति, **दरिद्रता** दैन्यं **एकस्यैव** रूप्ये रूप्यनिश्चयेन तदङ्गीकर्तुरेव, **व्यपगता** निवृत्ता, द्वितीयो रङ्गे रूप्यनिश्चयं कृत्वा तदङ्गीकारवान् तथा यथा पूर्वं दरिद्री तथा **तस्थौ** स्थितवानयं, **तयोर्विशेषो** भेदो व्यक्तः प्रकटो जायत इति शेषः। अयमभिप्रायःरूप्ये रूप्यमतिरिव आत्मनि आत्ममतिः, कृतधीरिव ज्ञानी, दरिद्रत्वव्यपगम इव अज्ञानतत्कार्यदुःखापगमः, ज्ञानस्यान्यतो ग्रहणं क्रय इव, तन्मूल्यदानमिव गुरुसेवादिकं, विक्रय इवान्येषां जिज्ञासूनां ज्ञानार्पणम्, अन्यतो मूल्यग्रहणमिव जिज्ञासुभ्यः स्वसेवाङ्गीकारः, व्यय इवसेवादिनिरपेक्षं दानमिवान्येषां ज्ञानप्राप्तये ग्रन्थादिरचनं ग्रन्थवाचकत्वं च, भोगोपयोगिव्यय इव स्वज्ञानदार्ढ्याय ज्ञानसंवादः, रङ्गे रूप्यमतिरिव अनात्मनि आत्मबुद्धिः, दुर्धीरिव अज्ञानी, दरिद्राऽनिर्गम इव अज्ञानतत्कार्यदुःखानिवृत्तिः, क्रयविक्रयव्ययपदेश्चात्र स्वमतज्ञानस्यान्यतो ग्रहणमन्यस्मै समर्पणमात्मनस्तद्दार्ढ्याय विचारणं च क्रमेण ग्राह्याणि, विधिपदेनात्र प्रसङ्गो ग्राह्यस्तत्र च ज्ञान्यज्ञानिनोर्विशेषः स्फुटो भवति इति यथायथमूह्यमिति।।१५।। (१०६१)

आकाश के दर्शन किये हैं। उसे लोग नीला कहते हैं। उसका नीलापन तो सर्वथा झूठ ही है।

इसी प्रकार यद्यपि लौकिक दृष्टि में यह आत्मा साकार, सुखी, दुःखी, कामी, क्रोधी आदि ही क्यों न प्रतीत होता हो, परन्तु विवेकी लोगों की दृष्टि में तो आत्मा में कोई भी आकार या विकार नहीं होता है।।१४।।

(मार्ग में कहीं चाँदी और रांगा पड़े थे, दो यात्रियों में से) एक बुद्धिमान् यात्री ने

---

१. त्रपुनि।

निम्ना नूनमुदन्वतः स्थितिरियं कल्लोलिनी चेत्कृता
विक्षिप्तेन कुतश्चिदागतवता विन्ध्याटवीवायुना।
तत्किं नायमपां निधिः किमथवा स्थानादसौ चालितः
किन्तु प्रत्युत तादृशोपि महिमा विख्यापितो वारिधेः।।१६।। (१०९२)

ननु भवति संसारस्य विद्यमानत्वाद्विक्षेपोपि भवत्येव तथा सति विक्षेपनिवृत्तेरेव शास्त्रेषु मोक्षशब्दार्थत्वेन प्रतिपादनात् मोक्षः कथं सम्भाव्य इत्याशङ्क्य तस्याबाधकत्वेन स्वमहत्त्वसूचकत्वेन च अनुकूलत्वं दर्शयन्नन्योक्त्या गर्जति **निम्नेति। उदन्वत** उदकपूर्णसमुद्रस्य **इयं** सर्वप्रत्यक्षा, **स्थितिः** स्थानं प्रतिष्ठेत्यर्थः, **निम्ना** गम्भीराऽस्ति, **नूनं** अयं निश्चय एव, किञ्च सा **कुतश्चित्** कस्माच्चिद् देशाद्, **आगतवता** आगच्छता, **विक्षिप्तेन** कम्पाद्युपलक्षितेन, **विन्ध्याटवीवायुना** विन्ध्यस्य विन्ध्यनाम्नः पर्वतस्य सम्बन्धिनी याऽटव्यरण्यं तस्य कम्पनाद्युपलक्षितेन वायुना पवनेन, **चेत्** यदि, **कल्लोलिनी** महोर्मिमती, **कृता** सम्पादिता, **तत्त**र्हि, अयं प्रकृतोऽपां जलानां **निधी** राशिर्जलधिरित्यर्थः, न किं नास्ति किमस्त्येवेत्यर्थः, अथवा यद्वा**ऽसौ** समुद्रः, **स्थानात्** स्वस्थितिदेशात्, **चालितः** ततोन्यत्र कृतः, **किं** किमु नैवास्थाने कृत इत्यर्थः। ननु तर्हि किं कृतं तेनेत्यत आह **किंत्विति। किं तु** किमपि, **तादृशोपि** एकदेशागतवायुकृतविक्षेपेऽपि समुद्रत्वविनाशरहित-स्वस्थानस्थिरस्थितिरूपोऽपि, **वारिधेः** समुद्रस्य, **महिमा** महत्त्वं, **विख्यापितः** प्रकाशितोऽहो मया चालितोपि न नष्टो न च चलायमानोपि जातः समुद्रोऽतो महानयं ज्ञेय इत्येवं महत्त्वमस्य लोके प्रकाशितम्। अयं ध्वन्यर्थोऽत्रउदन्वत्सदृशस्यानन्दपूर्णस्यात्मनो गम्भीराऽज्ञानविक्षेपादिभिरालोडितुमशक्याऽतो गम्भीरा स्थितिः सा विन्ध्यसदृशजाड्यविपरीतकर्तृत्वाभ्यां मोहोत्र ग्राह्यस्तत्र चाटवीसदृशी भयहेतुभूता द्वैतप्रतीतिस्तत्र चैकदेशस्थो व्यष्टिसंसारस्तत उत्पन्नो वायुसदृशश्चञ्चलत्वकारणभूतो विक्षेपोत्र ग्राह्यस्तेन संसारनिर्वाहकारणभूतेन विक्षेपेण शोकमोहजरामृत्युक्षुधापिपासादिषडूर्मिमती कल्लोलिनीव कृता यद्यपि तथापि समुद्रे समुद्रत्वमिवात्मन्यात्मत्वमेव स्थितं न तु तन्नाशितं, किञ्च समुद्रस्य स्वस्थानाचालनमिव आत्मनः स्थितेरात्मचालनाभावोऽत्र सूचितो ज्ञेयः, तेन विक्षेपेण चात्मनि तन्नाशाभावात्तच्चालनाभावाच्च यन्महत्त्वं तत्प्रकटीकृतमहो एतादृशमात्मनो महत्त्वं समस्तसंसारव्यापृतौ विद्यमानायामपि आत्मत्वं स्वप्रतिष्ठत्वं च न व्याहतमित्येवं प्रकाशितमिति।।१६।। (१०९२)

चाँदी को ही चाँदी समझा (और उठा लिया)। दूसरे भ्रान्तिबुद्धि वाले यात्री ने रांगे को ही चाँदी समझा (और उठा लिया)। अपनी-अपनी समझ के अनुसार तो वे दोनों ही अपने निश्चल (अटूट) निश्चय में स्थिर हो गये। यद्यपि यह बात यथार्थ ही है, परन्तु उनका भेद तो तब खुला जब कि उन दोनों ने अपने-अपने पाये हुए द्रव्य को क्रयविक्रय (खरीदना बेचना) तथा दानभोगरूपी व्यय करना चाहा। उन दोनों में से एक की (जिसने चाँदी को ही चाँदी समझा था) तो दरिद्रता नष्ट हो गयी। दूसरा तो

पहले जैसा ही दरिद्री बना रहा।

तात्पर्य यह है किजिस समझदार ने आत्मा को ही आत्मा समझा हो उस ज्ञानी का अज्ञान तथा अज्ञानजन्य सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। वह गुरुसेवा के रूप में उसका मूल्य देकर दूसरों से ज्ञानग्रहणरूपी क्रय (खरीदारी) भी कर सकता है दूसरे जिज्ञासुओं से सेवा के रूप में उसका मूल्य देकर उनको ज्ञानदानरूपी विक्रय (बेचना) भी कर सकता है। सेवा आदि की कुछ परवाह न करके ज्ञानप्राप्ति के लिये ग्रन्थरचना किंवा कथा करना रूपी दान भी कर सकता है। अपने ज्ञान की दृढता के लिये लोगों से ज्ञानवार्तारूपी भोग भी कर सकता है। परन्तु जो तो इन शरीर इन्द्रिय तथा मन आदि अनात्मपदार्थों को आत्मा समझ लेता है वह दुर्बुद्धि अज्ञानी कहाता है। जिस प्रकार रांगे को चाँदी समझने वाले की दरिद्रता नष्ट नहीं होती, इसी प्रकार उसका अज्ञान तथा अज्ञानजन्य दुःख कभी नष्ट नहीं होते। भाव यह है कि स्वाभिमत ज्ञान को दूसरे से लेने, दूसरों को ज्ञान का दान करने, तथा ज्ञान की दृढता के लिये विचार करने पर ज्ञानी और अज्ञानी का भेद प्रकट हो ही जाता है।।१५।।

समुद्र की स्थिति बड़ी ही गम्भीर होती है। यदि कहीं से आया हुआ कोई विन्ध्याटवी का विक्षिप्त वायु उस गम्भीर अवस्था को बड़ी-बड़ी तरङ्गों के रूप में परिवर्तित कर डाले तो क्या उन तरङ्गों के आ जाने से वह समुद्र समुद्र नहीं रह जाता? अथवा क्या वह समुद्र उस स्थान से कहीं अन्यत्र हट जाता है? प्रत्युत उस वायु ने ही तो आकर समुद्र की उस अपार महिमा को जगत् में विख्यात कर डाला है।

यहाँ पर ध्वन्यार्थ यह है कि समुद्र के समान आनन्दरूपी जल से परिपूर्ण आत्मा की स्थिति बड़ी ही गम्भीर होती है। अज्ञान अथवा विक्षेपों से उसका आलोडन हो ही नहीं सकता। मोहरूपी विन्ध्यपर्वत के द्वैतरूपी जंगल में से उठ उठकर आये हुए (जीवों के चित्त को वायु के समान चंचल करने वाले इस संसार के निर्वाहक) विक्षेपों ने, यदि उस आत्मसमुद्र में शोकमोह जरामृत्यु, तथा भूखप्यासरूपी लहरें उठा भी डाली हों और आत्मा की गम्भीर स्थिति को भंग भी कर डाला हो, तो भी समुद्र में से जैसे समुद्रत्व नष्ट नहीं हो जाता इसी प्रकार आत्मा का आत्मत्व बना ही रहता है। वह कभी भी नष्ट नहीं होता। समुद्र जिस प्रकार अपने स्थान से नहीं हटता इसी प्रकार आत्मा भी अपनी स्वाभाविक स्थिति से तिलमात्र भी विचलित नहीं होता है। प्रत्युत इस विक्षेप ने आकर तो, आत्मा का नाश न कर सकने के कारण तथा आत्मा को उसकी स्वाभाविक स्थिति से विचलित न कर सकने के कारण, इसके महत्त्व को ही

माधुर्यं च पयस्त्वमाश्रितवता तुच्छे दधित्वाम्लते
रूपे संप्रति बिभ्रता तु पयसा सर्वं यशो हारितम्।
ग्रैवेयत्वमथाङ्गदत्वमथ च क्षुद्रत्वमक्षुद्रतां
पर्यायैर्भजतः स्वभामजहतो हेम्नस्तु नास्ति क्षतिः।।१७।। (१०६३)

इदानीं परिणामोपादानत्वपक्षमात्मनि परित्यज्य विवर्तोपादानत्वपक्षो ग्राह्य इति ध्वनयन्गार्जति **माधुर्यं चेति।** हे शिष्य **माधुर्यं** मधुरो मिष्टस्तस्य भावो माधुर्यं, **पयस्त्वं** च पयसः पय इति नाम्नो भावः पयस्त्वं मिष्टत्वरूपस्य पयोनाम्नश्च सत्त्वमित्यर्थः। **आश्रितवता** धृतवता, **पयसा** दुग्धेन, संप्रति इदानीं **तुच्छे** सात्त्विकानादृते **दधित्वाम्लते** दध्नो भावो दधित्वं दधिनामसत्त्वमित्यर्थः, अम्लता चाम्लरसरूपत्वं च ते एते द्वे रूपे स्वभावौ दधिभावव्यक्तिकाले **बिभ्रता** अङ्गीकुर्वता सता तेन **पयसा सर्वं** समस्तं **यशः** कीर्तिः, **हारितं** नाशितं। **हेम्नस्तु** तुपदेन पयस्तः सुवर्णस्य महदन्तरं सूचितं, तदेव विशदयति **हेम्नः** सुवर्णस्य, **ग्रैवेयत्वं** ग्रीवायाः कण्ठस्येदं ग्रैवेयं रुचकं तस्य भावस्तत्त्वं रुचकरूपत्वमित्यर्थः, **अथ** अनन्तरं **अङ्गदत्वं** बाहुभूषणरूपत्वम्, **अथा**नन्तरं **क्षुद्रत्वं** क्षुद्रं तुच्छं तस्य भावः स्वरूपलघुत्वमित्यर्थः, **अक्षुद्रतां** च न क्षुद्रं लघु तस्य भावस्तत्ता तां गुरुत्वमपीत्यर्थः, **पर्यायैः** क्रमैः, **भजतः** सेवमानस्य, **स्वभां** स्वस्य प्रभा कान्तिः तां, **अजहतो** न परित्यजतः, **क्षतिः** हानिः, **नास्ति** न विद्यते। अयमभिप्रायःपयसो दधित्वपरिणामवद् ब्रह्मणो जगत्परिणामत्वाङ्गीकारे दधित्वात्पुनः पयस्त्वाभाव इव जीवस्य पुनर्ब्रह्मभावानापत्या मोक्षाभावप्रसङ्गः स्याद् ब्रह्मासत्वं च स्यादतो नाङ्गीकार्यः परिणामपक्षः, सुवर्णस्यानेकभूषणाकारे प्रतीयमाने वास्तवसुवर्णत्वे विद्यमानेऽलङ्कारलयेन सुवर्णे सुवर्णत्वमिव जगज्जीवलये तत्स्थितौ वा ब्रह्मणो ब्रह्मत्वं न व्याहतमित्यतः परिणामवादाद्विवर्त्तवाद एव श्रेयानतः स एव ग्राह्य इति ध्वनिः।।१७।। (१०६३)

लोगों पर प्रकट कर दिया है किआत्मा की महिमा इतनी अपार है कि इस समस्त संसार के सकल व्यापारों के विद्यमान रहने पर भी आत्मा का आत्मत्व तथा स्वप्रतिष्ठितत्व मुझसे नष्ट नहीं हो सका है। तात्पर्य यह है कि संसार के सब विक्षेपों के विद्यमान रहने पर भी वे आत्मदर्शी के आत्मरूप की बाधा नहीं कर सकें, आत्मा को भुला नहीं सकें, ऐसी महत्त्वपूर्ण स्थिति को प्राप्त करने का उद्योग प्रत्येक साधक को कर डालना चाहिये।।१६।।

मधुरता तथा दुग्धता को धारण करने वाले दुग्ध ने तो अब उनके स्थानों में अम्लता (खट्टापन) तथा दधिभाव को धारण करके अपनी सब कीर्ति को ही नष्ट कर डाला है। परन्तु जो सुवर्ण क्रम से कभी ग्रैवेय (कण्ठ का भूषण) होता है, कभी अङ्गद (बाहु का भूषण) बनता है, कभी हलका होता है तथा कभी भारी हो जाता है, तथापि वह किसी भी अवस्था में अपनी कान्ति को नहीं छोड़ रहा है ऐसे उस सुवर्ण के स्वरूप की हानि कभी भी नहीं होती है।

ननु विवर्तवादपक्षस्यैव निर्दोषत्वेन ग्राह्यत्वे कुतः परिणामवादादिषु चातुर्यं विशिष्टं मन्यते लोक इत्याशङ्क्य, मूढप्रतीत्या तदस्ति न तु विवेकिदृष्ट्येति दर्शयन्गर्जति **न हि न हीति। ते** परिणामवादिनः, **चतुरा** बुद्धिमन्तो, **न हि न हि** न भवन्तीत्येवं निश्चय एव, कुत इत्यत आह **यैरिति। यैः** परिणामवादिभिः, **विशुद्धं** परिणामविकारहीनं चिन्मात्रस्वरूपं ब्रह्म, **न बुद्धं** न ज्ञातं यथावन्न ज्ञातं किन्तु तेषां तद्भ्रान्तमेव ज्ञानमित्याशयः। ननु तर्हि ते कुतः स्वात्मानं कृतकृत्यं मन्यन्ते? इत्याशङ्क्य तदपि तेषां मौढ्यविलसितमेवेति सूचयन्गर्जति **न हि न हीति। ते** परिणामादिवादिनः, **कृतिनः** कृतं कर्मास्ति येषां ते तथोक्ताः कृतकृत्या इत्यर्थः, **न हि न हि** नैव सन्ति, कुत इत्यत आह **य इति। ये** परिणामादिवादिनः, **पारं** संसारसमुद्रस्यान्तं ब्रह्म न **प्रयाता** न प्राप्ता अतो वेदान्तश्रवणादिकर्मणां तेष्ववशिष्टत्वान्न तेषां कृतकृत्यत्वमिति भावः। ननु तर्हि तेषां कुलीनत्वजन्यसुखेनैव कृतार्थतास्तु किं संसारसमुद्रपारप्राप्तिप्रयासेनेत्याशङ्क्य तदपि तेषां नास्तीत्या- शयेन गर्जति **न हि नहीति। ते** परिणामादिवादिनः, **कुलीनास्तु** कुलीना अपि, **न हि न हि** नैव भवन्ति, कुत इत्यत आह **यैरिति। यैः** परिणामादिवादिभिः, **तत्त्वम**नारोपितमात्मवस्तु **न विविक्तमारो**पितादनात्मरूपात्पृथक्कृत्य न ज्ञातमतो न कुलीना इत्यर्थः, कुः पृथिवी यथा बीजानामावापस्थानं तथा ब्रह्मैवात्र संसारबीजभूताज्ञानावापस्थानत्वेन कुपदार्थो ग्राह्यस्तत्र लीनत्वं तत्परिणामादिवादिनां नास्तीत्यतस्तज्जन्यं सुखमपि तेषां नास्तीति कुलीनत्वाभिमान एव केवलं तेषां व्यर्थ इति भावः। ननु तर्हि तेषां मुनित्वं कथं लोकैः प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य तेषु तल्लक्षणाभावात्तदप्यज्ञानविजृम्भितमेवेत्याशयेन गर्जति **न हि न हीति। ते** परिणामादिवादिनो, **मुनयो** मननवन्तो, **न हि न हि** नैव भवन्ति, कुत इत्यत आह **यैरिति। यैः** परिणामादिवादिभिः, **लोभवार्ता** लोभस्य विषयभोगेच्छाया द्वैतत्यागभयात् परिणामादिवादस्य वार्ता वृत्तान्तो धृता अङ्गीकृता, मननवत्सु च यथार्थब्रह्मज्ञानेन विषयसुखेच्छाभावाद् ब्रह्मसुखपरिपूर्णत्वाच्च द्वैतारुच्या

जिस प्रकार दूध का परिणाम दही होता है इस प्रकार यदि इस जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना जायगा तो जिस प्रकार दही का दूध नहीं बनता इसी प्रकार यह जीव फिर कभी भी ब्रह्मभाव को प्राप्त नहीं हो सकेगा और मोक्षरूपी परमपुरुषार्थ से सदा वंचित ही रह जायगा। इस जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्मनामक कोई वस्तु भी न रहेगी। इन सब कारणों से परिणामवाद को स्वीकार न करना चाहिये। सुवर्ण यद्यपि अनेक भूषणों का आकार धारण करता हुआ प्रतीत होता है, तो भी उसमें सुवर्णत्व बना ही रहता है जिस प्रकार अलङ्कारों का लय हो जाने पर भी सुवर्ण में सुवर्णत्व सिद्ध ही रहता है, इसी प्रकार जगत् और जीव के लय हो जाने (किंवा बने रहने) पर भी, ब्रह्म का ब्रह्मत्व कभी नष्ट नहीं होता। इस कारण से परिणामवाद पक्ष की अपेक्षा से विवर्तवाद ही न्याय-संगत है। उसी को ग्रहण करना चाहिये।।१७।।

न हि न हि चतुरास्ते यैर्न बुद्धं विशुद्धं
न हि न हि कृतिनस्ते ये न पारं प्रयाताः।
न हि न हि तु कुलीना यैर्न तत्त्वं विविक्तं
न हि न हि मुनयस्ते यैर्धृता लोभवार्ता।।१८।। (१०६४)

परिणामादिवादानङ्गीकार एव योग्योऽतः परिणामादिवादिषु मुनित्वप्रतीतिरज्ञानविलसितमेव ज्ञेयमिति भावः।।१८।। (१०६४)

इदानीं कस्यचित्पक्षस्यापि गृहीतिरहङ्कारे सति सम्भवति, तस्य तु प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मण्यत्यन्ताभावात्तत्रैवावस्थानेच्छोस्तं विलापयितुं तं प्रार्थयन्गर्जति **हेऽहंकृते इति। हे अहङ्कृते** हे अहङ्कार, **तव** त **इह** स्वयं प्रकाशे मयि, यद्वा मुमुक्षोर्मम मोक्षसाधनभूते ज्ञाने जातेऽत्र **कृत्यं** कार्यमवशिष्टमिति शेषः, **किञ्चित्** किमपि नास्ति न विद्यतेऽतस्त्वं भवती **अचलप्रतिष्ठे** न चला चलायमाना केनापि कारणेन प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य स तथोक्तस्तस्मिन्, **स्वमहिमनि** स्वस्य प्रत्यगात्मनो यो

वे किसी प्रकार भी चतुर नहीं हैं, जिन्हें विशुद्ध तत्त्व का ज्ञान नहीं है। वे कृतकृत्य नहीं हैं जो पार तक नहीं पहुँचे हैं। वे कुलीन नहीं कहा सकते, जिन्होंने तत्त्व का विवेक नहीं किया है। जिन पर अभी तक लोभ सवार है, वे लोग मुनि नहीं कहा सकते।

संसार के अज्ञानी लोग इन परिणामवादियों को भले ही चतुर समझते रहें परन्तु तत्त्वदृष्टि से तो वे लोग चतुर नहीं होते। क्योंकि उन परिणामवादियों को परिणामरहित शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म नामक तत्त्व का यथावत् ज्ञान नहीं होता। इसलिये उनका वह ज्ञान भ्रान्तज्ञान कहाता है। वे परिणामवादी लोग अपनी परिषद् में बैठकर अपने आपको कृतकृत्य मान लेने से कृतकृत्य नहीं हो सकते। क्योंकि संसाररूपी समुद्र के पार ब्रह्मनामक सदाशिवस्थान पर वे नहीं पहुँच सके हैं। इसलिये वेदान्त का श्रवणमननादि अभी तक उनके लिये कर्तव्य शेष चला ही जाता है। फिर भला वे कृतकृत्य क्योंकर हों? जिन परिणामवादियों ने अनारोपित आत्मतत्त्व को, इस अरोपित अनात्मरूप संसार में से, पृथक् करके नहीं पहचाना है, उनको कुलीन भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कुनामक ब्रह्म में लीन न होने से वे कुलीन नहीं कहा सकते। उनका कुलीनत्वाभिमान भी व्यर्थ ही है। उन परिणामवादियों को मुनि कहना भी उचित नहीं होता क्योंकि विषयभोगों की इच्छा से वे द्वैत को छोड़ते हुए डरते हैं। इसीलिये उन्होंने परिणामवाद रूपी लोभ की बात को अङ्गीकार कर लिया है। मुनि लोगों को तो यथार्थब्रह्मज्ञान हो जाने के कारण विषयसुख की इच्छा ही नहीं रहती, वे तो ब्रह्मसुख से परिपूर्ण हुए रहते हैं। उनकी तो फिर द्वैत में रुचि ही नहीं रहती इसीलिये वे परिणामवाद को स्वीकार नहीं करते।।१८।।

हेऽहंकृते तव न कृत्यमिहास्ति किञ्चि-
ल्लीना भव स्वमहिमन्यचलप्रतिष्ठे।
चेतस्त्वमेहि परमं स्वसुखाब्धिमन्तः
सोढुं न शक्नुम इमास्तव दुष्टवृत्तीः।।१६।। (१०६५)

महिमा महत्त्वं ब्रह्मत्वमित्यर्थः। तस्मिँल्**लीना** तदाकारत्वसंपादनेन नष्टा, **भव** ब्रह्माकारत्वं प्राप्नुहीत्यर्थः। ननु मम कोऽपराधो 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरि'ति श्रुत्या 'मन एवे'ति स्मृत्या च तत्र तत्र शास्त्रेषु च मनस एव बन्धकारित्वप्रतिपादनादहं ब्रह्मास्मीत्यादिवाक्येषु ब्रह्मपदाहंपदयोः सामानाधिकरण्यदर्शनाद् ब्रह्मज्ञाने च बाधासामानाधिकरण्येनोपयोगादहङ्कारस्य लयप्रार्थनं मनसि विद्यमाने व्यर्थमेव ज्ञात्वा तदेव मनः प्रार्थयन् गर्जति **चेत् इति। हे चेतो** हे चित्त, **त्वं परमं** श्रेष्ठमन्तस्त्वय्येवान्तरे **स्वसुखाब्धिं** स्वमात्मरूपं यत्सुखं शर्म तस्याब्धिं समुद्रमानन्दसमुद्रमित्यर्थः, **एहि** प्राप्नुहि। कुतो मय्युदासीनस्त्वमिदानीं यतो मां नाशयितुमिच्छसीत्यत आह **सोढुम् इति**। हे चेत **इमा** एतास्**तव** ते **दुष्टवृत्तीः** दुष्टा विषयविदूषिता या वृत्तयः कामक्रोधाद्या, वयं **सोढुं** क्षन्तुं, **न शक्नुमः** समर्था न भवामो, मनसो विषयविदूषितत्वेनाऽहङ्कारस्यापि बन्धकत्वं, तस्यैव निर्मलत्वेन चाहङ्कारस्य मुक्तिहेतुत्वमिति भावः।।१६।। (१०६६)

ननु मनसि विषयोत्पत्तिः स्वाभाविक्येवेति तद्द्वाराऽऽत्मन्यपि मनःसम्बन्धेन विषयाणामपि सम्बन्धः स्यादित्याशङ्क्यात्मनि न वास्तवविकारसम्बन्धस्तथापि मनःकृततत्सम्बन्धे प्रतीयमाने तन्निवारणायोपायं प्रदर्शयन्गर्जति **आयान्तीति। हे सुत** हे शिष्य, **तत्र** आत्मनि, **मनोविकारा** मनसोऽन्तःकरणस्य विकाराः कामादयो विकारा, **नैवायान्ति** नैव प्राप्नुवन्ति, आत्मनो निर्विकारत्वाद्विकारप्रसक्तिरात्मनि नैव सम्भाव्येति भावः। तथापि **चेद्** यदि, **आयान्ति** प्राप्नुवन्ति,

हे अहङ्कार! मुझ स्वयंप्रकाश आत्मा में तुम्हारा कुछ भी काम नहीं है अथवा मुझ मुमुक्षु को मोक्ष का साधन ज्ञात हो जाने पर अब तुम्हारा कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा है इसलिये तुम मर्यादा से विचलित न होने वाली आत्मा की (ब्रह्मत्वरूपी) महिमा में ही लीन हो जाओ, (अर्थात् ब्रह्मरूपता को प्राप्त होकर नष्ट हो जाओ। अथवा ब्रह्माकार ही बन जाओ।) हे मेरे मन! तुम भी अपने अन्दर के परमश्रेष्ठ आत्मसुखसमुद्र में घुस जाओ। हे चित्त! अब हम तुम्हारी विषयों से दूषित काम क्रोध आदि वृत्तियों को क्षमा नहीं कर सकेंगे।

हे मन! तुम्हारे विषयदूषित होने से ही अहंकार में बन्धकता आ गयी है। तुम्हारे निर्मल होते ही यह हमारा अहंकार मुक्ति का कारण हो जायगा। उस अहंकार को भी तुमने ही विकृत कर रक्खा है। मुझे बन्धन में रखने में उस अहंकार का स्वतन्त्र अपराध कोई भी नहीं है। इसलिये तुम आनन्दसमुद्र में प्रविष्ट हो जाओ और मुझे आत्मानन्द का भोग कर लेने दो।।१६।।

आयान्ति नैव सुत तत्र मनोविकारा
आयान्ति चेदिह विचारय जोषमास्यम्।
त्वं चापि मन्दमिह सञ्चर मुञ्च मोहं
सोऽहम्पदे सुखनिधौ यदि ते मनीषा।।२०।। (१०६६)

तर्हि **जोषं** तूष्णीं निर्विकारं यथा भवति तथा,**ऽऽस्यं** स्थेयम्, आत्मनि विकारप्रतीतौ प्रारब्धभोगमात्रेण तन्निवृत्तिसिद्धेस्तावत्कालं तूष्णीं स्थीयतामिति भावः, विचाराद्दार्ढ्येन तत्प्राप्तौ सत्यां **त्वं विचारय** विवेकं कुरु विवेके कृते सति ते विकारा मनस्येव प्रतीयन्ते नात्मनीति भावः। **अपि चान्यदपि, त्वं च** त्वम**पीह** विकाररूपे मनसि, **मन्दं** स्वल्पं यथा भवति तथा, **सञ्चर** प्रविश, क्वचित्क्वचित्प्रारब्धमात्रोपभोगो यथा स्यात्तथोत्तरं क्रियमाणं नोत्पद्येत यथा तथा मनसा सह वर्तितव्यमिति भावः। नन्वात्मनः पृथग् मनःप्रतीतावपि तद्विस्मृत्या मनस्यात्मतादात्म्यं जायते पुनः पुनरिति चेत्तत्राह **मुञ्चेति**। हे शिष्य मोहमज्ञानं **मुञ्च** त्यज, मोहत्यागः कुतः कार्य इत्यत आह **सोहमिति। यदि** यर्हि, **ते** तव, **सुखनिधौ** सुखस्य आनन्दस्य निधिः समुद्र इव सुखपूर्णमित्यर्थः, तस्मिन् **सोहंपदे** स तत्पदलक्ष्यः परमात्मा, अहं पदलक्ष्यः प्रत्यगात्मा च तयोः सामानाधिकरण्येन जीवब्रह्मैक्यं भागलक्षणया लक्षितं यत्पदं चिन्मात्रस्वरूपं तस्मिन् **मनीषा** मनस इच्छाऽस्ति, तर्हि मदुपदिष्टं कुरु अन्यथा मा कुरु मोहत्यागाद्युपायैर्विना जीवब्रह्मैक्यानुभवः साक्षान्न स्यादिति भावः।।२०।। (१०६६)

इदानीमिन्द्रियचौरेभ्यः स्वात्मधनरक्षणाय स्वात्मनि जागृतिं विधातुं गर्जति **तीव्रमित्याद्यन्योक्त्या।** हे शिष्य **तमो**ऽन्धकारः, **तीव्रं** निबिडं गाढमित्यर्थः, अस्तीत्यध्याहार्यं विद्यते, किं **चैषः** प्रत्यक्षो वर्तमानः **समयः** कालो, **निशीथनामा** निशीथोऽर्धरात्र इत्येवं नाम यस्य स तथोक्तोऽस्ति विद्यते, किंच **देशोपि** अयं स्ववासस्थानभूतो देशः स्थानमपि, **चौरबहुलः** चौरा बहुला बहवो यस्मिन् स

हे पुत्र, उस आत्मा में मनोविकार आते ही नहीं, ऐसा तुम निश्चय कर रक्खो। यदि फिर भी मनोविकार न रुकें, तो चुप होकर विचार किया करो (कि यह कोई प्रारब्ध आया दीखता है, इसी से यह मनोविकार विचार करने पर भी हट नहीं रहा है, यदि केवल मनोविकार होता तो हट जाता) यदि सुख के समुद्र 'सोहं' पद की अभिलाषा हो तो ऐसे मनोविकारों के आने पर मन्द (धीरे से) अथवा उदासीन होकर (वैरागी की तरह) बर्ताव किया करो और मोह को तो पास भी मत फटकने दो।

धीरे से प्रवेश का अभिप्राय यह है कि विषयों में मन के पैर को डरते-डरते रक्खो। उस मन के साथ मिलकर ऐसा व्यवहार किया करो कि प्रारब्ध कर्मों का भोग तो हो जाय परन्तु आगामी कर्मों का संचय न हो सके। कर्मों को करते हुए उनमें उलझ मत जाओ। मोहत्याग का अभिप्राय यह है कि मोहत्याग आदि उपायों के बिना आत्मैक्य का साक्षात् अनुभव हो ही नहीं सकेगा।।२०।।

अन्धकार बड़ा ही गहन है अर्धरात्रि का समय है। इस देश में चोर भी बहुत से

तीव्रं तमः समय एष निशीथनामा
देशोपि चौरबहुलः शिथिला च भित्तिः।
इत्थं स्थिते निजधनं प्रति सावधानो
जागर्त्ति चेद्गृहपतिर्विफला हि चौराः।।२१।। (१०६७)

तथोक्तः, यद्वा चौरैस्तस्करैर्बहुलो मलिनोऽस्ति किंच भित्तिश्च कुड्यमपि **शिथिला** आर्द्राऽस्ति अदृढा इत्यर्थः, **इत्थं** एव स्थिते वर्त्तमाने सति, **गृहस्य** गेहस्य, **पतिः** स्वामी, **निजधनं प्रति** निजं स्वीयं यद्धनं द्रव्यं तत्प्रति तस्मिन्नित्यर्थः, तस्मै वा चतुर्थीपक्षे स्वधनं रक्षितुमित्यर्थः **सावधानो** अवधानेन सहितः सावधानोऽनलस इत्यर्थः, भूत्वा इति अध्याहार्यं, **चेद्** यदि, **जागर्ति** न निद्राति, तर्हि **चौराः** तस्करा, **विफला** निष्फला निष्फलप्रयत्ना इत्यर्थः भवन्ति, **हि** प्रसिद्धमेतत्सर्वेषामिति लौकिकार्थः। ध्वन्यर्थस्तु **तमो**ऽज्ञानं **तीव्रं** निविडं गाढमित्यर्थः, विना ज्ञानमनिवार्यमितिभावः, अस्ति एष प्रत्यक्षो वर्तमान इत्यर्थः, **समयः** कालो **निशीथनामा** 'या निशा सर्वभूतानामि'त्यत्र सर्वजीवजागृत्युपलक्षिता लोकव्यवहाररूपा ज्ञानिनां रात्रिर्ग्राह्यात्र तत्र चात्यन्तविक्षेपो निशीथपदेन ग्राह्यः अस्ति। किञ्च **देशोपि** दिश्यते अनेनेति देशो व्यावहारिकं ज्ञानं तदपि **चौरबहुलो** ज्ञानद्रव्यापहारकत्वाच्चौरा इव इन्द्रियाणि तैर्बहुलो व्याप्तोऽस्ति, किञ्च **भित्तिश्च** कुड्यं तत्सदृशी ज्ञानस्वरूपधनरक्षणाय साधिता यमनियमादिसाधनसंपत्तिः समाध्यन्ता नित्यानित्यवस्तुविवेकरूपा च श्रवणादिरूपा अपि अत्र भित्तिपदेन ग्राह्या सा **शिथिला**ऽदृढाऽस्ति, **इत्थ**मेवं स्थिते वर्तमाने सति **गृहपति**र्गृह्यते स्वात्मतयाऽङ्गीक्रियते गृहं शरीरं तस्य पतिः पालको जीवः, यद्वा गृह्यते विषया यैस्ते गृहा इन्द्रियाणि तेषां पतिः पालको जीव एव **ग्रहपतिरिति** पाठेपि स एवार्थः। **निजधनं प्रति** निजं स्वमात्मरूपं यद्धनं धिनोति तर्पयति सर्वं जगदिति धनं द्रव्यं सुखरूपं, यद्वा धनवत् प्रियमात्मस्वरूपं प्रति तदर्थमित्यर्थः, **सावधानो** अनलसः सञ्**जागर्ति** न निद्राति **चेद्य**दि तर्हि चौराः चौरसादृश्यादात्मधनापहारकाणि इन्द्रियाणि **विफला** निष्फला भवन्ति हि प्रसिद्धमेतद्विद्वत्सु इति ध्वनिः।।२१।। (१०६७)

हैं। भित्ति भी कमजोर हैं। ऐसी विपरीत अवस्था के होने पर यदि घर का स्वामी अपने द्रव्य की रक्षा में सावधान होकर जागता रहेगा तो ये चोर अवश्य ही विफलमनोरथ हो जायेंगे।

ध्वन्यार्थ यह है कि हे शिष्य, यह प्रत्यक्ष दीखने वाला अज्ञान बड़ा ही गहन है। ज्ञानी लोगों की दृष्टि में यह अर्धरात्रि का समय हो रहा है। क्योंकि ये सम्पूर्ण जीव अज्ञाननिद्रा में सोये हुए ही सब लोकव्यवहारों को कर रहे हैं। व्यावहारिकज्ञानरूपी इस देश में, ज्ञानरूपी द्रव्य को चुराने वाले, इन्द्रियरूपी बहुत से चोर हैं। उनसे ज्ञानरूपी धन की रक्षा करने के लिये यमनियमादिसाधन, समाधि अवस्था, नित्यानित्यवस्तुविचार तथा श्रवणमननादि रूप में बनायी हुई भित्ति भी अभी कुछ दृढ नहीं हो पायी है। ऐसी

भूपालकैर्निशितशास्त्रधरैरुदारै-
र्दुष्टं मृगं शमयितुं मृगया विधेया।
दुष्टो मृगो न निहतो निहतास्तदन्ये
व्यर्थस्य तत्क्षितिपतेर्वद कः प्रभावः।।२२।। (१०६८)

इदानीं मनोनिग्रहाभावे सति इन्द्रियनिग्रहो व्यर्थ इति रूपकेण सूचयन् गर्जति **भूपालकैरिति**। लौकिकार्थस्तावत् **निशितशास्त्रधरैः** निशितानि तीक्ष्णधाराणि यानि शास्त्राणि स्वार्थेऽण्, आयुधानि तेषां धरा धारकास्तैः**रुदारैः**, **भूपालकैः** भुवो भूमेः पालकैः पालनकर्तृभी राजभिरित्यर्थः, **दुष्टं** हिंस्रं व्याघ्रादिकं, **मृगं** मृगयति अवलोकयति भक्षितुं जीवानिति मृगस्तं **शमयितुं** नाशयितुं, **मृगया** मृगा यान्ति प्राप्नुवन्ति यया सा मृगयाऽऽखेटकं **विधेया** कर्त्तव्येति धर्मशास्त्रे कथितं सत्यं, तथापि येन राज्ञा **दुष्टो मृगो** दुष्टो हिंस्रो मृगो व्याघ्रादिः, **न निहतो** न मारितः, किञ्च **तदन्ये** ततो व्याघ्रादेरन्ये भिन्ना अहिंस्राः शशादयो दीना इत्यर्थः, **निहता** हिंसिता, अतो **व्यर्थस्य** विगतो निवृत्तोऽर्थः भूपाल-नाम्नस्तात्पर्यं यस्मात् स तथोक्तस्तस्य भुवः पालकत्वाभावात्प्रत्युत बहुप्राणि-हिंसया तद्घातकत्वाच्चेति भावः, **तत्क्षितिपतेः** तस्य प्राणिघातकस्य क्षितिपते राज्ञो, राजापदेशस्येत्यर्थः **प्रभावः** प्रतापः **कः** कीदृशः सिद्ध एतत्त्वं **वद** कथय। प्रकृतार्थस्तावत् **निशितशास्त्रधरै**र्निशितानि तीक्ष्णानि अज्ञानतत्कार्यभेदने शक्तानि यानि शास्त्राणि उपदेशकवाक्यानि तत्त्वमस्यादीनीत्यर्थः, तेषां तदर्थस्य धरा धारकास्तैस्तत्त्वमस्यादिवाक्यानां जीवब्रह्मैक्यरूपास्यार्थस्य च धारणावद्भिरित्यर्थः, **उदारै**रुदारताऽत्रान्येषु जिज्ञासुषु ज्ञानदानं तद्वद्भिर्**भूपालकै**र्भवत्यस्या जीव इति भूः क्षेत्रं तस्या बुध्यादिरूपायाः क्षेत्रशब्दवाच्याया जीवोत्पत्तिनिमित्तभूतायाः पालकाः पालनकर्त्तारः साधिष्ठान-बुद्धिस्थचिदाभासा अत्र ग्राह्याः, ते स्वात्मसत्त्वारोपेण क्षेत्रपालकास्तै**र्दुष्टं** विषयवासनाभिर्दूषितं **मृगं** मृग्यन्ते विषया अनेनेतिमृगो मनस्तं, यद्वा विषयान्मृगयतीति मृगो मनस्तं **शमयितुं** नाशयितुं **मृगया** मृग्यन्ते भुज्यन्ते इति मृगा विषयाः ते यान्ति प्राप्नुवन्ति अनया सा मृगया विषयप्राप्ति-साधनभूता द्रव्योपार्जनादिव्यापृतिः सा **विधेया** कार्येति लौकिकशास्त्रेषु कथितं तत् सत्यम्। यद्वा मृगया हिंसाप्रधाना वनजन्तुवधरूपा क्रिया तत्सादृश्यात् संसारनाशसाधनभूता जीवत्वनाशसाधनभूता

विपरीत परिस्थित में, इस शरीररूपी गृह का स्वामी अथवा इन्द्रियरूपी गृहों का पालने वाला जीवात्मा, अपने सुखरूप आत्मधन की रक्षा के लिये, यदि सावधान बना रहे, अज्ञानरूपी नींद न लेने लग जाय तो आत्मधन को चुराने वाले इन्द्रियरूपी चोर चोरी करने में निष्फल हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियरूपी चोरों से स्वात्मारूपी धन की रक्षा के लिये साधकों को आत्मा के विषय में सदा सावधान रहना चाहिये।।२१।।

तीक्ष्ण शस्त्रों को धारण किये हुए उदार भूमिपतियों को उचित है कि हिंसक मृगों को मारने के लिये मृगया (शिकार आखेट) किया करें (यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है)। परन्तु किन्हीं मूर्ख भूमिपतियों ने उन दुष्ट मृगों को तो नष्ट नहीं किया किन्तु दीन

इष्टे नष्टे नश्वरे त्यक्तभोगः
सञ्जातालंप्रत्ययो वीतरागः।
तां तां कक्षां स्वैरमभ्येति सूक्ष्मां
यां यामन्ये साधकाः साधयन्ति।।२३।। (१०६६)

च साधनचतुष्टयसम्पादनपूर्विका वेदान्तश्रवणादिरूपा व्यापृतिर्विधेया कर्त्तव्येति वेदान्तशास्त्रे कथितं तत्सत्यम्। तथापि तया येन जीवेन **दुष्टः** संसारोत्पादनेन दुःखप्रदत्वाद्विषयवासनाविदूषितत्वाच्च दुष्टो **मृगो** मनो न **निहतो** न नाशितः, किञ्च **तदन्ये** ततो मनोरूपाद् दुष्टमृगादन्ये भिन्नाश्चक्षुरादयो **निहता** अवरोधेन नाशिता अतो **व्यर्थस्य** विगतो निवृत्तोऽर्थो मोक्षरूपो यस्मात् स तथोक्तस्तस्य मनोनाशाभावान्मोक्षार्थहीनस्येत्यर्थः, **तत्क्षितिपते**स्तादृशेन्द्रियावरोधपरस्य क्षेत्रपालजीवस्य **प्रभावः** प्रतापः **कः** कीदृश इति पृच्छामि तत्त्वं वद कथय।।२२।। (१०६८)

ननु तर्हि मनोनाशस्य क उपाय इत्याशङ्कायां तं दर्शयन् गर्जति **इष्ट इति। इष्टे** प्रीतिविषये, **नश्वरे** नाशवति, **नष्टे** सति नाशं प्राप्ते सति, तत्र मिथ्यात्वनिश्चयेन **सञ्जातालंप्रत्ययः** सञ्जातो दृढोत्पन्नोऽलंप्रत्ययस्तृप्तिनिश्चयो यस्य स तथाभूतः सन्, **वीतरागो** वीतो निवृत्तो रागः स्नेहो यस्मात्स तथाविधो यो भवति स, **तां तां कक्षां** मोक्षद्वारभूतामवस्थां भूमिमित्यर्थः, **सूक्ष्मां**

हिरण शशादियों को मार डाला। निर्दोष प्राणियों को मारने वाले, व्यर्थ ही भूमिपति कहाने वाले उन राजाओं का क्या प्रभाव हो सकता है, यह तुम ही बताओ?

प्रकृत तात्पर्य यह है कि जो अज्ञान तथा उसके कार्य इस जगत् की बाधा कर सकें, जो जीवब्रह्मैक्यरूपी अर्थ को धारण कर सकें, जो जिज्ञासुओं को ज्ञानदान करने में बड़े ही उदार हों ऐसे भूपालकों अर्थात् मुमुक्षु जीवों को चाहिये कि विषयवासनाओं से दूषित मनरूपी मृग को मारने के लिये ही वे मृगया करें अर्थात् संसार तथा जीवभाव को नष्ट करने के लिये नित्यानित्य वस्तुओं का विवेक, इस और परलोक के भोगों से वैराग्य, शमादमादि साधनों की संपत्ति तथा मुमुक्षुत्वरूपी चारों साधनों से युक्त होकर, वेदान्त के श्रवण मनन तथा निदिध्यासन में लग जायें। जिस जीव ने, संसार को पैदा करके दुःख देने वाले विषयवासनाओं से विदूषित, इस मनरूपी दुष्ट मृग को तो नष्ट नहीं किया, किन्तु चक्षु आदि दीन इन्द्रियों को रोक रोक कर शरीर को भूखा रख कर किंवा पंचाग्नि में तपा कर इन्हें निकम्मा कर डाला हो, मोक्षरूपी परमपुरुषार्थ से वंचित उस क्षेत्रपालरूपी जीव का क्या प्रभाव हो सकता है? यह हम तुमसे पूछते हैं। तात्पर्य यह है कि मनोनिग्रह न होने पर इन्द्रियों का निग्रह करना व्यर्थ ही होता है। केवल इन्द्रियनिग्रही लोग मिथ्याचारी हैं। उनका यह निग्रह टिकाऊ नहीं होगा। ऐसे लोग विषयों को देखते ही फिसल पड़ेंगे।।२२।।

हृदि यदि सविचारास्तर्हि सम्यक्प्रचारा
गतिमनुगतिभाजः केवलं दुःखभाजः।
परिकलय यदन्धैर्नीयमाना इवान्धा
युगपदपि समेता अन्धकूपे पतन्ति।।२४।। (११००)

मनोवागगोचरां, **स्वैरं** स्वेच्छया अनायासेनैवेत्यर्थः, **अभ्येति** प्राप्नोति। तां कामित्यत आह **अन्ये** मन्दवैराग्या साधका मोक्षसाधनरता, **यां यां** मोक्षभूतां स्थितिं, **साधयन्ति** यतन्ते तीव्रवैराग्यमेव मुख्योपायो मनोलयकारणभूतज्ञानदार्ढ्ये नान्य इत्याशयः।।२३।। (१०९९)

ननु तर्हि तीव्रवैराग्याभावे सति कुतो मोक्षसाधनभूते वेदान्तश्रवणादौ प्रवर्त्तमाना दृश्यन्ते? इत्याशङ्क्य ते सविचारा यदि भवन्ति तर्हि क्रमेण मुक्तिभाजो भवन्त्येव, अन्यथा प्रवर्त्तमाना यदि स्युस्तर्हि तेषां संसारनिवृत्तिर्न स्यात् प्रत्युत विपरीताचरणेन अनर्थ एव स्यादिति दर्शयन् गर्जति **हृदीति**। हे शिष्य **हृदि** अन्तःकरणे, **यदि** यर्हि, **सविचारा** विचारेण सह वर्तन्ते इति सविचारा विवेकिनो भवन्ति, **तर्हि** तदा, ते **सम्यक्प्रचाराः** सम्यगुत्तमः प्रचारो येषां ते तथोक्ता ज्ञेयाः, किञ्च **गतिं** गम्यते प्राप्यते फलमनया सा गतिराचारस्त**मनु** अन्येषामाचारं लक्ष्यीकृत्य **गति**माचारं **भज**न्ति सेवन्ते ते तथोक्तास्ते, **केवलं** अत्यन्तं, **दुःखभाजो** दुःखं क्लेशं भजन्ति सेवन्ते ते तथाभूता भवन्ति, गतानुगतिकास्तु केवलं दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। हे शिष्य त्वं तान् गतानुगतिकान् **यद्**यस्मात् कारणात् यथा इति अध्याहार्यम्, **अन्धैः** चक्षुर्हीनैः, **नीयमाना** मार्गं प्राप्यमाणा, **अन्धाश्**चक्षुर्हीनाः पुरुषाः, **युगपदपि** एकदैव, **समेताः** समूहीभूताः सन्तो**ऽन्धकूपे**ऽन्धकारयुक्ते

जो प्रिय वस्तु नष्ट हो गयी या जो नष्ट होने को है, उन सबमें से भोगवासनाओं को निकाल कर 'अब मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिये' इस प्रकार वीतराग हुआ पुरुष उन उन सूक्ष्म भूमिकाओं को अनायास ही पाता चला जाता है, जिनको कि दूसरे (अवैरागी) साधक बड़े यत्न से बहुत दिनों में सिद्ध कर पाते हैं।

अपनी प्रीति के विषयों में से कुछ को भूतकाल में नष्ट हुआ देखकर तथा कुछको भविष्यत् गें नाश के जबड़े में कुचला जाने वाला समझ कर, उनमें से सुखाभिलाषा को छोड़कर, बड़ी दृढतापूर्वक आत्मतृप्त होकर जो महापुरुष वीतराग हो जाता है, वह मन और वाणी की अगम्य उस सूक्ष्म मोक्ष भूमिकारूपी अवस्था को अपने पूर्ण वैराग्य के प्रभाव से अनायास ही प्राप्त होता जाता है, जिसको कि मोक्ष के साधनों में लगे हुए मन्द वैराग्य वाले अधिकारी किंवा हठयोगादि के साधन में लगे हुए मुमुक्षु बड़े प्रयत्न से सिद्ध करते हैं। तात्पर्य यह है कि मन को लय करने वाले ज्ञान को दृढ करने के लिये विषयों से तीव्र वैराग्य ही मुख्य साधन होता है और कोई नहीं। वैराग्य पूर्ण हो तो साधक को ज्ञानभूमिकायें बिना ही परिश्रम के प्राप्त होने लगें।।२३।।

एकः प्राह पठेति मां तदितरः प्राहाट दूराटवी-
मन्यः प्राह समेधयाग्निमपरः प्राहार्कमालोकय।
स्विष्टेप्सुं प्रति मां वचो गुरुजनैरुक्तं त्वमेवासि तत्
स्विष्टाप्तेर्ममघूर्णिते पि नयने अन्धा न पश्यन्त्यमी।।२५।। (११०१)

गम्भीरे कूपे अन्धौ 'पुंस्येवान्धुः प्रहिःकूप'इत्यमरसिंहः, **पतन्ति** पातं प्राप्नुवन्ति, तथा तेऽविचारिणोऽन्धकूपसदृशे मोहे पतन्तीति **परिकलय** जानीहि।।२४।। (११००)

ननु अविचारेणापि श्रवणादौ प्रवृत्तानां विवेकिभिर्बोधिते सति तेषामपि सुगतिः स्यादित्याशङ्क्य तेषामज्ञानित्वेन विक्षेपबाहुल्याद् विक्षेपकारणभूतलौकिकशास्त्रजनवाक्यश्रवणे सति मदुपदिष्टार्थनाशेन निरर्थकत्वं स्यात्तत्रेति द्योतयन् स्वस्मिँल्लौकिकशास्त्रजनकृतमनेकविधमुपदेशं स्मरन् स्वस्य तत्रानादरं च स्मरन्नन्येषां मुमुक्षूणां तथा कर्त्तव्यतामुपदिशंश्च गर्जति **एक इति। एको** धर्मशास्त्ररुचिमान् वेदशास्त्राणां सर्वधर्ममूलत्वाद्वेदाञ्छास्त्राणि च स्वकल्याणाय **पठ** अधीहीत्येवं **मां** ब्रह्मविदं प्रत्याह। **तदितरः** ततः शास्त्राद्यध्यनोपदेशकादितरोऽन्यस्तीर्थसेवाद्यासक्तः कोपि पुरुषो, **दूराटवीं** दूरे दूरदेशे याऽटव्यरण्यं धर्मारण्यादिकमुपलक्षणमेतत्कुरुक्षेत्रपुष्करादीनाम् अट सञ्चरेत्येवं मां प्रति प्राह। किञ्च **अन्यो** अपरः अग्निहोत्रादिनाग्न्युपासकः कोपि पुरुषो मीमांसकादिः, **अग्निं** वह्निं, **समेधया**श्रय श्रौतं स्मार्तं वाऽग्निं सेवस्व इत्यर्थः, एवं ब्रह्मविदं मां **प्राह** कथितवान्। **अपरो** अन्यः, कश्चित् सूर्योपासको **अर्कं** सूर्यं **आलोकय** पश्य, चक्षुषः सूर्यविषयिणीं धारणां सम्पादयेत्यर्थः, इत्येवं **मां** ब्रह्मविदं प्रत्याह कथितवान्। किञ्च **गुरुजनैः** गुरवो हितोपदेष्टारो दैशिका इत्यर्थः, तेषां जनैः समूहैर्गुरुजनमुखश्रुतत्वात् स्वनिश्चयदार्ढ्यमिति सूचनाय गुरुजनैरिति पदद्वयपाठो ज्ञेयः, **स्विष्टेप्सुं प्रति** सु शोभनं यदिष्टं प्रियं मोक्षसुखमीप्सतीच्छति स तथोक्तः तं, मां प्रति मे तद् ब्रह्म

हे शिष्य (तीव्र वैराग्य न होने पर भी) यदि किसी के हृदय में विवेक बना रहता है तो उनको क्रम से मुक्तिरूपी उत्तम प्रचार (गति) प्राप्त हो ही जाता है। यदि तो वे भी दूसरों की गति (आचार) को देखकर अपनी गति (आचार) निश्चित कर लेते हैं तो उनको अत्यन्त क्लेश होता है (क्योंकि गतानुगतिक लोगों को केवल दुःख ही मिलता है।) उन गतानुगतिक पुरुषों को तो तुम ऐसा समझो जिस प्रकार कि अन्धों से ले जाये हुए अन्धे सब इकट्ठे होकर किसी गहरे कुएँ में गिर पड़ते हों (अर्थात् अविचारी लोग अन्धकूप के समान मोह में पड़ जाते हैं)।

तात्पर्य यह है कि तीव्र वैराग्य न होने पर भी जो लोग वेदान्तश्रवणादि में लगे रहते हैं, वे यदि सदा विचार ही करते रहें, तो उनको भी क्रम से मुक्ति के परमपद का लाभ हो सकता है। यदि वे लोग विचार को छोड़ दें तो उनका संसार का बन्धन कभी भी निवृत्त नहीं हो सकता। प्रत्युत विपरीताचरण करने से अनर्थ ही होता है।।२४।।

त्वमेवासि तत् सकलजगत्कारणीभूतमायाशबलं साधिष्ठानं चैतन्यं, त्वं देहत्रयपरिच्छिन्नं साक्षिप्रत्यगात्मचैतन्यसहितं चैतन्यम् एते उभे समस्तजगत्कारणमाया-तदवच्छिन्नचैतन्य-देहत्रयपरिच्छिन्न-चैतन्याभ्यामविविक्तम् अभिन्नमेवेति असिपदे उभयोः पदयोः सामानाधिकरण्येनोपदिष्टं सद् भागत्यागेन तदेव लक्षित**मुक्तं** कथितमुपदिष्टमिति; बहुगुरुजनमुखश्रुतत्वात् तेन **स्विष्टाप्तेः** सु शोभनं यदिष्टं प्रियं ब्रह्मात्मसुखं तस्याप्तिः प्राप्तिः तस्याः सकाशात्, **मम** मे ब्रह्मसुखसाक्षात्कारवत इत्यर्थः, **नयने** नेत्रे, **घूर्णितेपि** ब्रह्मसुखसाक्षात्कारेणानुपयुक्ते जाते अपि, **नयने** अत्र नीयेते ब्रह्मसंसारावाभ्यामिति व्युत्पत्त्या संसाराप्तिब्रह्मप्राप्तिसाधनभूतावविचारविचारौ ग्राह्यौ, लोकप्रसिद्धनयनपक्षे घूर्णनं बाह्यसर्वदृश्यविमुखत्वेनान्तःप्रवृत्तिर्ग्राह्या; **अपि**-शब्दस्याकारलोपो भागुरिमतेन, अन्यथा 'ईदूदेदिति' प्रगृह्ये 'प्लुतप्रगृह्या' इति प्रकृतिवद्भावे सन्धेरसम्भवाद्। अविचारविचारयोर्विघूर्णनपदेन अनुपयुक्तत्वं तत्कर्त्रभावे क्रमरहिता प्रवृत्तिः सर्वविषयाणामवास्तवत्वादन्तर्मुखतेति भावः। ते कर्मभूते **अन्धाश्च**क्षुर्हीना इव ब्रह्मज्ञानरहिता, **अमी** एते मम पठनाद्युपदेष्टारो, **न पश्यन्ति** नावलोकयन्ति।।२५।। (११०१)

ननु तर्हि तान्वादैर्जित्वा तेष्पुपदेश्या भवद्भिरन्यथा तेषां मुक्तिर्न स्यादित्याशङ्क्याश्रद्धालुत्वात्स्तब्धत्वाच्च तेषां बोधो नैव स्यादिति तदुपेक्षैवोचितेत्याशयं प्रकटयन् गर्जति **येषामिति। येषां** लौकिक-शास्त्राभ्यासवतां, **कपोलं** गण्डो, **वज्रदृढं** वज्रं कुलिशमिव दृढं गाढमस्ति, **अथवा** यद्वा, तेषामेव **जिह्वा** रसना, **वितस्त्यायता** वितस्तिररत्निस्तत्परिमाणाऽऽयता दीर्घा लम्बायमानेत्यर्थः। अस्ति अत एव **ख्यात्यर्थं** ख्यातिर्लोकान्प्रति प्रकथनं सम्वाद इत्यर्थः, तदर्थं **कलहाय** कहलो वादस्तं कर्त्तुं, **पुस्तकपिशाचानां** पुस्तकैरुपलक्षिता लोकदुःखप्रदत्वाल्लौकिकपण्डिताः पिशाचा इव तेषां, **कथा** वार्ता, **तिष्ठतु** अवसन्ना भवतु। तर्हि त्वां किं प्रष्टव्यं तत्राह **मामिति। हे अच्छमते**

कोई (धर्मशास्त्री मेरे कल्याण के लिये) मुझको पढ़ने के लिये कहता था, दूसरा (तीर्थचारी) तो मुझे दूर (धर्मारण्यादि में) भ्रमण करने की सम्मति देता था, तीसरा (कर्मकाण्डी श्रौत स्मार्त) अग्नि की सेवा करना बताता था तथा कोई (सूर्योपासक) सूर्यदर्शन के लिये कहता था। परन्तु इन सबके विपरीत आत्मविद्या के आचार्यों ने मोक्षरूपी पुरुषार्थ के अभिलाषी मुझको यह बता दिया कि वह सर्वानुगत ब्रह्मचैतन्य तुम ही तो हो। उनके कहने से अपने इष्ट ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही मेरे नेत्रों में घूर्णन आ गया है। (अब वे बाह्य संसार को देखना नहीं चाहते हैं, वे तो अब अन्तर्मुख हो गये हैं) उन मेरे घूर्णित नेत्रों को क्या ये ब्रह्मज्ञानहीन अन्धे लोग (जो कि मुझे पढ़ने आदि की सलाह देते हैं) नहीं देखते हैं?

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लौकिक जनों के कहने से मैंने अपने मोक्षमार्ग को नहीं छोड़ा इसी प्रकार अन्य मुमुक्षुओं को भी लोगों की भिन्न-भिन्न सम्मतियों का अनादर करके आत्मचिन्तन में ही तत्पर रहना चाहिये।।२५।।

येषां वज्रदृढं कपोलमथवा जिह्वा वितस्त्यायता
ख्यात्त्यर्थं कलहाय पुस्तकपिशाचानां कथा तिष्ठतु।
मां पृच्छाच्छमते कथं विलसति ध्यानं कथं धारणा
को भावः स्वरसेन केन विधिना चेतः परे लीयते।।२६।। (११०२)

अच्छा निर्मला मतिर्बुद्धिर्यस्य तस्य सम्बोधने हे निर्मलबुद्धे अनेन सम्बोधनेन निर्मलमतिभिरेवास्मात्प्रष्टव्यन्त एवास्माकमुपदेष्टव्या इति सूचितं, त्वं **मां पृच्छा**ऽनुयोजय। किं प्रष्टव्यमित्यत आह **कथमिति। ध्यानं** ब्रह्मणश्चिन्तनं, **कथं** किंप्रकारकं, **विलसति** स्थिरं प्रकाशते, किञ्च **धारणा** ब्रह्मणो धारणा, **कथं** केन प्रकारेण, साध्या किञ्च **स्वरसेन** स्व आत्मस्वरूपो यो रस आनन्दस्तेन, **को भावः** किं स्वरूपं प्राप्यते, किञ्च **केन** कीदृशेन, **विधिना** विधानेनाऽनुक्रमेणेत्यर्थः, **चेतो** मनः, **परे** कार्यकारणातीत आत्मनि, **लीयते** लीनं भवति, इत्येवमादि मां पृच्छेति पूर्वत्र योज्यम्।।२६।। (११०२)

इदानीं चित्तनिरोधाय प्रथमं जीवन्मुक्तिसुखेच्छावता वाचोनिरोधः सम्पाद्य इति सूचयन् स्वयमेव जिह्वां प्रार्थयमानो गर्जति **जिह्वे इति**। हे जिह्वे इति हे **जिह्वे देवि** हे रसने त्वं वाग्रूपा देव्यसि अतो मम प्रार्थनीयासि अतोहं प्रार्थयामि त्वां, त्वं **अधुना** अद्य **मौनं** तूष्णींभावं **गृहाण** अङ्गीकुरु। कुतो मां मौन कारयसि, किञ्चित्कालं मत्कृतं वाग्व्यवहारं शृणु इत्याशङ्क्य; पूर्वं बहु **जल्पितं** तच्छ्रुतमपि तत्रेदानीं न ममेच्छेति सूचयन् गर्जति **भूय इति**। हे जिह्वे **त्वया** भवत्या, पूर्वं **भूयो** बहु, यथा तथा **जल्पितं** सम्भाषणं कृतमतो मौनमङ्गीकार्यमित्यर्थः। ननु त्वं पूर्वं मद्भाषणे रुचिमान् स्थित इदानीं कुतो विरसतां प्राप्तः? तत्राह **प्रत्यग् इति**। हे जिह्वे मम **मतिः** बुद्धिर्यर्हि **प्रत्यग्वस्तुनि** प्रति अञ्चतीति प्रत्यक् सर्वानुस्यूतं निर्विकारं साक्षिचैतन्यं तदेव वस्तु सत्यस्वरूपं ब्रह्म तस्मिन्, **निष्ठिता** निष्ठा सहजप्रीतिः सा संजाताऽस्याः सा निष्ठिता सहजप्रेमवती जातेत्यर्थः। **तत्** ततः कारणात्, **तव** ते, **प्रलापाः** 'प्रलापोनर्थकं वच' इत्यमरसिंहः, व्यर्थवचनानि **किं** किंप्रयोजना, इदानीं न किमपि प्रयोजनमस्माकं तेष्वित्यर्थः। ननु प्रत्यग्वस्तुनिष्ठया **तव** को लाभो जातो येन मत्प्रलापे तव वैरस्यमित्याशङ्क्य गर्जति **स्वच्छन्देति**। हे जिह्वे **स्वच्छन्दोपरमामृताब्धिलहरीलावण्यलग्ने** स्वच्छन्दं स्वेच्छया य उपरम उपरतिः स्वाभाविकश्चित्तलय इत्यर्थः, तज्जन्यं तद्रूपं वा

(वादिनिग्रह के लिये लौकिक शास्त्रों का अभ्यास करते करते) जिनके कपोल वज्र के समान दृढ हो गये हैं अथवा जिनकी जिह्वा बारह अंगुल लम्बी हो गयी है, अपनी ख्याति अथवा दूसरों से कलह करने के लिये उन पुस्तकों के पिशाचों की सी बातें रहने दो (अर्थात् वे झगड़े की बातें मुझसे मत पूछो)। हे निर्मल बुद्धि वाले! मुझसे तो तुम यह पूछो कि ध्यान (ब्रह्मचिन्तन) किस प्रकार होता है? ब्रह्म की धारणा कैसे की जाती है? आत्मस्वरूप आनन्द से किस स्वरूप की प्राप्ति होती है? तथा किस पद्धति से यह मन परम आत्मा में लीन हो जाता है।।२६।।

जिह्वे देवि गृहाण मौनमधुना भूयस्त्वया जल्पितं
प्रत्यग्वस्तुनि निष्ठिता यदि मतिस्तत्किं प्रलापास्तव।
स्वच्छन्दोपरमामृताब्धिलहरीलावण्यलग्ने हृदि
प्रायः कर्कशतां गतासि कुटिले तस्मान्न मे रोचसे।।२७।। (११०३)

यदमृतं सुखं तस्याब्धिः समुद्र इवोपरमसुखपूर्णं ब्रह्म तस्य लहरीवाहं ब्रह्मास्मीत्याकारा प्रमारूपा वृत्तिः सापि ब्रह्मसुखरूपैव तस्या लावण्यं सौन्दर्यं प्रीतिविषयत्वात्सुखरूपत्वं तस्मिन् लग्नं आसक्तं तस्मिन् हृद्यन्तःकरणे सति त्वं भवती **प्रायो** बहु यथा स्यात्तथा कुटिला वक्रा दुःखकारणभूतेत्यर्थः, अतः **कर्कशतां** कठिनत्वं, **गता** प्राप्ताऽसि, विद्यसे तस्मात्कारणान्**मे** मम, ब्रह्मसुखसाक्षात्कारवदन्तःकरणस्येत्यर्थः, **न रोचसे** प्रिया न भवसि, अतस्त्वयेतः परं बहुभाषणं नैव कार्यमिति भावः।।२७।। (११०३)

इदानीं ब्रह्मानन्दसाक्षादनुभवे सति समस्तकर्मोपासनेषु तत्फलेषु चानादरो जायत इति सूचनाय सर्वत्र कर्मोपासनानां फलसिद्धिं दर्शयन्गर्जति **सम्पूर्णमिति। परे** कार्यकारणयोर्मिथ्यात्वात्तयोः **परे ब्रह्मणि** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्ये विभुत्वगुणविशिष्ट आत्मनि, **दृष्टे** साक्षादनुभूते सति आत्मब्रह्मसाक्षात्कारवतः पुरुषस्य, **सम्पूर्णं** समस्तं, **जगद्** विश्वमेव, **नन्दनवनं** नन्दयति सुखयति सर्वं जगदिति नन्दनं सुखरूपं ब्रह्म वनं सम्भजनं सेवनमित्यर्थः, वन धातोः सम्भजनार्थत्वात्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुत्या सर्वजगतो ब्रह्मत्वप्रतिपादनाद् ब्रह्मणश्च 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुत्या जगदानन्दयितृत्वप्रतिपादनाच्च समस्तजगतो ब्रह्मविदां नन्दन-ब्रह्मप्रतीतेर्नन्दनवनत्वं समस्तजगतो ज्ञानिदृष्ट्येति नैकदेशस्थनन्दनवनप्राप्तये ज्ञानिनां कर्मोपासनाद्यपेक्षेति भावः, समस्तजगतो नन्दनवनत्वसम्पादनायैवोत्तरविशेषणानि योज्यानि **सर्वेपि कल्पद्रुपा** इत्यादीनि **वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिर** इत्यन्तानि। तद्यथाननु सम्पूर्णजगतो नन्दनवनत्वे स्वर्गस्थं नन्दनवनं कल्पवृक्षसमूहरूपमस्ति समस्तजगति तु तदभावान्न नन्दनवनत्वं सम्भवतीत्याशङ्‌क्यात्रापि तत्सम्भावयन्गर्जति **सर्वेपीति।**

हे जिह्वे देवी! अब तो तुम मौन धारण कर लो। तुम अब तक बहुत कुछ निरर्थक बोल चुकी हो। हे जिह्वे! क्योंकि मेरी बुद्धि अब निर्विकार साक्षिचैतन्यरूपी ब्रह्म में निष्ठित (प्रीतिवाली) हो गयी है, इसलिये तुम्हारे व्यर्थ वचनों से अब हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा है। जब से मेरे चित्त में स्वभाव से उपरम आया है और उस अमृतसागर की ब्रह्माकारवृत्तिरूपी लहरें उठी हैं, तबसे उनके लावण्य में मेरा अन्तःकरण फँस गया है। तभी से हे कुटिले! तुम कर्कश हो गयी हो और मुझे प्यारी नहीं लगती हो। इसलिये अब से लेकर तुम बहुत भाषण करना छोड़ दो।

तात्पर्य यह है कि जो कोई जीव मुक्ति के परम पद को प्राप्त करना चाहे तो वह अपने चित्त का निरोध करने के लिये सबसे प्रथम वाणी का निरोध करे अर्थात् व्यर्थ बातें करना त्याग दे।।२७।।

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेपि कल्पद्रुमा
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिचयाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वैव स्थितिरस्य मुक्तिपदवी दृष्टे परे ब्रह्मणि।।२८।। (११०४)

अत्र जगन्नन्दनवने **सर्वेपि** समस्ता अपि, ब्रह्मादिस्थावरान्ता देहाः 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते, समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न' इत्यादिश्रुतिभिः समस्तदेहानां वृक्षत्वेन निरूपणाद् 'उर्ध्वमूलमधः शाखमि'त्यादिस्मृत्या च तथात्वप्रतिपादनाच्च कल्प्यन्ते इति कल्पाः कल्पिता इत्यर्थः, किञ्च तैर्यत्सुखादिफलं परस्परं प्राप्यते तस्यापि कल्पितत्वाविशेषात् कल्पितफलदातृत्वस्यापि तेषु सत्त्वाल्लोकेपि प्रसिद्धं कल्पवृक्षाणां कल्पितफलदातृत्वमतः **कल्पद्रुमा** एव सन्ति, सर्वेषां देहानां कल्पद्रुमत्वे समस्तजगतो नन्दनवनत्वं सम्भाव्यमिति भावः। ननु प्रसिद्धस्वर्गस्थनन्दनवने परिखाभूता गङ्गास्तीति श्रूयते तत्रत्य-प्राणिनां सर्वेषां गङ्गाजलस्यैव पानमस्ति तस्य च अत्र समस्तजगत्यसम्भवान्न समस्तजगतो नन्दनवनत्वसिद्धिरित्याशङ्क्य, गङ्गास्वरूपाविदुषामिदं सर्वत्र गङ्गा नास्तीति भाषणं प्रलाप एव, पुष्पदन्तेन शिवमहिमाख्यस्तोत्रे 'वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिरि'त्यस्मिञ्श्लोके वियद्व्यापित्वब्रह्माण्डद्वीपावरकत्वेन गङ्गास्वरूपनिरूपणात्, श्रीमद्भागवते च वामनचरणाङ्गुष्ठकृतभेदेन ब्रह्माण्डबहिर्देशाद्गङ्गाया आगमनं ब्रह्माण्डे निरूपितमतश्च ब्रह्माण्डावरकगङ्गाजलस्यैव सर्वब्रह्माण्डे विद्यमानत्वेन सर्वजलानां गङ्गाजलत्वमिति द्योतयन्गर्जति **गाङ्गमिति। समस्तवारिनिचयाः** समस्ताः सर्वे ये वारिनिचया वारीणां जलानां निचयाः समूहा राशय इत्यर्थः, **गाङ्गं** गङ्गायां इदं गाङ्गं विष्णुपदीसम्बन्धीत्यर्थः, **वारि** जलमस्ति अतः सर्वत्र जलमात्रस्य गङ्गाजलत्वाद् ब्रह्मविदां सर्वदा गाङ्गजलपानसम्भवादपि सर्वजगतो नन्दनवनत्वमिति भावः। ननु गङ्गाजलकल्पतरुनन्दनवनानां प्राप्तिः पुण्यकर्मभिरेव जायते, भवत्सु च पुण्यकर्मकर्तृत्वस्यास्माकं दृष्ट्यानवलोकनात्कुतस्तत्प्राप्तिः सम्भाव्येत्याशङ्क्य, 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमान' इत्यादिना तित्तिरिशाखायां ज्ञानिकृतसर्वलौकिककर्मणां यज्ञरूपके यज्ञाङ्गत्वेन प्रतिपादनात्'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योतोस्ति श्रोते'त्यादि श्रुतिदृष्ट्या कर्तृत्वबाधपूर्वं समस्तकर्मनिवहि सत्यपि ज्ञानिनि तत्कृतलेपाभावात् ज्ञानिकृतसर्वकर्मणां पुण्यकर्मत्वमेवेति सूचयन् गर्जति **पुण्या इति। समस्ता** लौकिकवैदिकाः सम्पूर्णा अपि, **क्रियाः** कर्माणि, पुण्याः 'नान्योतोस्ति द्रष्टे'त्यादिश्रुत्या कर्तृत्वस्य बाधपूर्वं कृतत्वेनालेपकत्वात् **पुण्याः** पवित्राः, सन्ति अतस्तासामेव फलमिदं समस्तजगतो नन्दनवनत्वं, समस्तदृश्यपदार्थानां कल्पतरुत्वं, समस्तजलानां च गङ्गाजलत्वं च, तस्य च सर्वदा ज्ञानिनां सर्वत्रोपलब्धतोक्ता सा सम्भाव्येति भावः। ननु श्रुतिवाग्भिर्वैदिककर्माणि निर्वर्त्यन्ते, संस्कृतशब्दैः पौराणिकमन्त्रैश्च पौराणिककर्मनिर्वाहोपि दृश्यते केवलप्राकृतवाग्भिर्लौकककर्मनिर्वाहश्च दृश्यते, भवतां च मुखे कदाचिद्वेदवाक् कदाचिच्च पौराणिकी संस्कृता च वाक् प्रदृश्यते कदाचिदपि प्राकृतवागुच्चारोपि दृश्यतेऽतः समस्तकर्मणां कथं पुण्यकर्मत्वं सम्भाव्यमित्याशङ्क्य, भगवता 'त्रैगुण्यविषया वेदा' इत्यत्र त्रिगुणविषयवाङ्मात्रस्य वेदत्वप्रतिपादनाद्भगवता ब्रह्मणापि सृष्ट्युत्पादनसमये

सर्वान्देवादिपतङ्गान्तान्सृष्ट्वा तेषु च स्वस्वव्यवहारज्ञानसाधनभूता वेदा अपि तस्मै तस्मै समर्पिता इति च पुराणेषु उक्तत्वाच्च वेदशब्दस्य च ज्ञानवाचकत्वेन सर्ववाचां ज्ञानप्रतिपादकत्वाच्च सर्ववाग्जाते वेदत्वं विद्यतेऽतः सर्ववाचां ज्ञानिदृष्ट्या श्रुतिवाक्त्वमेवेति निरूपयन्गर्जति **वाच इति। प्राकृतसंस्कृताः** प्राकृताः प्राकृतजनानां तत्तद्देशीयाः, संस्कृताश्च व्याकरणशुद्धा देवानां तत्सदृशानां मनुष्याणां चोच्चरिता, **वाचो** वाण्यः, समस्ता अपि **श्रुतिगिरो** वेदवाण्य एव सन्ति त्रिगुणविषयत्वात् ज्ञानसाधनत्वाच्चेति तादृशवाचा निर्वाह्यानां समस्तक्रियाणामपि पुण्यकर्मत्वस्योक्तस्य सम्भावना कर्त्तव्येति भावः। ननु 'काश्यां तु मरणान्मुक्तिरि'त्यादिना पुराणेषु काश्यां मरणेन मुक्तिप्राप्तेः श्रूयमाणत्वात्तत्र गमनं ज्ञानिनामप्यवश्यं कर्त्तुं युक्तमतो मास्तु स्वर्गप्राप्तिसाधनभूतं ज्योतिष्टोमादिकं कर्म तेषां, काशीवासस्त्ववश्यं सम्पाद्यएव इत्याशङ्क्य, आत्मन एव विश्वेश्वरत्वात् तस्य च ज्ञानिदृष्ट्या सर्वत्र विद्यमानत्वात् ज्ञानिन एवात्मविश्वेश्वररूपत्वात्तत्कृतोपदेशस्य च संसारसमुद्रतारकत्वेन तारकत्वात् ज्ञानिवासस्थाने तस्य सत्त्वाच्च सर्वत्र ज्ञानिवासेन मुमुक्षूणां मुक्तिसिद्धेः ज्ञानिदृष्ट्या सर्वपृथिव्यां काशीत्वं सम्भावयन्गर्जति **वाराणसीति। मेदिनी** पृथिवी, ब्रह्मविदां **वाराणसी** काश्यस्ति ज्ञानिनां सर्वत्र मुक्तिसिद्धेः सर्वत्र आत्मरूपविश्वेश्वरदर्शनात् सर्वत्र तत्कृतोपदेशस्य तारकस्य विद्यमानत्वाच्च सर्वत्र काशीलक्षणत्वेन समस्तभूमेः काशीत्वं सम्भाव्यं तेन ज्ञानिनां नैकदेशे काश्यादौ गमनं मूढानामिवापेक्ष्यमिति भावः। ननु समाधिसुखस्य योगशास्त्र उत्कर्षश्रवणात्तस्यैव मुक्तित्वप्रतिपादनाच्च मुक्तिश्च ज्ञानिनामपीष्टाऽतो ज्ञानवतामपि समाधिः साध्य एव इत्याशङ्क्य आत्मप्रतीतेरेव वेदान्ते समाधिशब्देन प्रतिपादितत्वात्तस्याश्च विवेकिदृष्ट्या जाग्रदादिसर्वावस्थासु सत्त्वाज्ज्ञानिनां सर्वावस्थानां मुक्तित्वमिति सूचयन्गर्जति **सर्वैवेति।** अस्य साक्षात्कृतात्मनो ज्ञानिनामित्यर्थः, **सर्वैव** समस्तैव, जाग्रदादिः **स्थितिः** अवस्था, **मुक्तिपदवी** मोक्षरूपा पदवी, स्थितिरस्ति आत्मसत्त्वस्य जगन्मिथ्यात्वस्य च सर्वावस्थासु स्फुरणादिति भावः। केवलकर्मणैव प्राप्तस्य प्रसिद्धनन्दनवनस्य कतिचिद्विषयाणामप्राप्त्या कतिचिद्विषयेषु प्राप्तेषु तद्रक्षणादिचिन्तया च पुण्यक्षये तद्वियोगे सति दुःखप्रदत्वाच्च न नन्दनवनत्वं, काश्याम् अपि विना ज्ञानं ब्रह्मप्रकाशकत्वाभावात् काशते ब्रह्म यस्यामिति काशी शब्दार्थप्रतिपादनाच्च लोकप्रसिद्धकाश्यां तदर्थाभावे सति न काशीत्वं, योगशास्त्रोक्तसमाधेरपि ब्रह्मसाक्षात्कारकारणीभूतज्ञानं विना आत्मसत्त्वजगदसत्त्वभानयोस्तत्राविद्यमानत्वात् प्रपञ्चबीजसत्त्वाच्च काचित्कत्वादपि न समाधित्वम्। अतस्तेषु ज्ञानिनामादरो नैवास्तीति ज्ञेयम्।।२८।। (११०४)

परब्रह्म का दर्शन कर लेने पर उस ब्रह्मदर्शी की व्यापक दृष्टि में यह सकल जगत् नन्दनवन, इस जगत् के सम्पूर्ण देह कल्पवृक्ष, सकल जलराशियाँ गङ्गाजल, सारी लौकिक वैदिक क्रियायें पुण्यकर्म, प्राकृत संस्कृत सारी वाणियाँ वेदवाक्य, तथा यह समस्त पृथिवी वाराणसी बन जाती है। कहाँ तक कहें! इस ब्रह्मदर्शी की सब ही स्थिति (अवस्थायें) मोक्ष की पदवी हो जाती है।।२८।।

जल में तरंग की तरह यह सम्पूर्ण विचित्र जगत् जिस मन में ओत प्रोत हो रहा

ओतं प्रोतमिदं विचित्रमखिलं यस्मिञ्जगद्वर्त्तते
यत्रोदेति विलीयते पुनरिदं तोये तरङ्गादिवत्।
तच्चेतो मयि लीयते प्रतिदिनं मय्येव तज्जायते
मह्यं तर्हि वदन्तु हे लयविदः सोहं तु लीये क्व नु।।२६।। (११०५)

इदानीं लययोगाभ्यासिनं स्वलयाधिष्ठानं पृच्छमानो गर्जति **ओतमिति। विचित्रं** आश्चर्यरूपमनेकरूपं, **अखिलं** समस्तं, **इदं** दृश्यमानं **जगद्, यस्मिन्** मनसि, **ओतं** पट ऊर्ध्वतन्तुरिव व्याप्तं, **प्रोतं** च पटे तिर्यक्तन्तुरिव स्थितं, सदा सर्वकाले स्थितिकाले इति यावद् **वर्त्तते** तिष्ठति। किञ्च **यस्मिं**श्चेतसि अभ्युदेति उत्पन्ने सतीदं दृश्यमानं जगदभ्युदेति उत्पद्यते, यस्मिंश्चेतसि सलये नाशेन सह वर्तमाने सति नष्टे सतीत्यर्थः, **जगद्विश्वं, लीयते** लीनं भवति तज्जगदुत्पत्तिलयाधारभूतं **चेतो**ऽन्तःकरणं, **प्रतिदिनं** दिने दिने, उपलक्षणमेतत् क्षणलवादेः क्षणे क्षणे लवे लव इत्यर्थः, **मयि** ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि, **लीयते** लीनं भवति, पुनश्च तन्मनो **मय्येव** ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मन्येव, **जायत** उत्पन्नं भवतीत्येवमनुभूयते, इत्थं स्थिते तर्हि तदा **हे लयविदो** लयं लययोगं विदन्ति जानन्ति ते तथोक्तास्तेषां संबोधने हे लयविदो लयविदंमन्या भवन्तः! **स** चित्तलयाद्याधारभूतः तुपदेन लयोत्पत्तिमच्चित्ततो वैलक्षण्यमात्मनो दर्शितं, **क्व नु** कुत्राधारे, **लीये** लीनो भवामीति, तद् **वदन्तु** कथयन्तु। अयमभिप्रायः भवद्भिर्लयः प्रतिपाद्यते स किं सतः किमसतो? नाद्यः सतो लयवत्त्वायोगात् सत एव लयेऽङ्गीकृते लयस्यैवासत्त्वेन लयभावासिद्धेश्च। न च लयवत्सतोऽन्यसत्त्वयोगेन लयसत्त्वं वाच्यम्, आकाशैक्यवत्सर्ववस्तुसत्त्वस्यैक्यात्तद्भेदे चाङ्गीकृत आकाशेपि भेदकल्पनोपपत्तेः। न द्वितीयोऽसतोऽविद्यमानस्य लयक्रियाकर्मत्वायोगात् तादृशासत्कर्मकलयस्यैव तदर्थत्वोपपत्तेश्च लये लयार्थत्वेन च लयो लयरूप इत्यर्थवत्त्वेन लयशब्दोच्चारस्य तत्प्रतिपादकशास्त्रस्य चोन्मत्तप्रलपितत्वप्रसङ्गाच्च अतोऽसतो मनआदेर्लयासम्भवः। आत्मनश्च सतो लयासम्भवे त्वत्प्रणीतं लयप्रतिपादकं शास्त्रमपि निर्विषयत्वेनोन्मत्तप्रलाप एव अतस्तद्विचारस्तदुक्तसाधनप्रयासश्चोन्मत्तचेष्टैवेति भावः।।२६।।(११०५)

है, जिस मन के उत्पन्न हो जाने पर यह जगत् उत्पन्न हो जाता है, जिस मन के लीन हो जाने पर यह जगत् लीन हो जाता है (जगत् की उत्पत्ति तथा लय का आधार) वह चित्त भी प्रतिदिन किंवा प्रतिक्षण ही मुझमें लीन होता और मुझमें से ही उत्पन्न होता रहता है। ऐसी परिस्थिति में हे लययोग जानने वाले लोगो! मैं भला किसमें लीन हो जाऊँ यह मुझे बताओ। (तात्पर्य यह है कि लय का प्रतिपादक शास्त्र लय न होने वाले इस आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं करा सकता। उस शास्त्र का विचार तथा उसके प्रतिपादित साधनों में प्रयास, उन्मत्तचेष्टा के समान निष्फल होगा। क्योंकि उससे आत्मदर्शन नहीं हो सकेगा)।।२६।।

श्वश्रू (आदि मान्य स्त्रियों) से नियमित की हुई कोई नव-विवाहिता स्त्री जिस प्रकार लोगों की दृष्टि में नीचे भूमि पर दृष्टि लगाये रहने पर भी अपनी लम्बी दृष्टि

बाला श्वश्रूजननियमिता देहलीदत्तदृष्टि-
र्दीर्घं चक्षुः किरति वदने यौवनालंकृतस्य।
युक्तस्यैवं न चलति ततो भ्रूतटे दत्तदृष्टे-
श्चेतोवृत्तिः स्फुरति पुरुषे मोक्षलक्ष्मीनिवासे।।३०।। (११०६)

ननु तर्हि सर्वकाले स्वात्मस्फूर्तिरूपः समाधिर्मनआदिप्रपञ्चप्रतीतौ सत्यां कथं स्यात्तदभावे च जीवन्मुक्तिः कथं स्यादित्याशङ्क्य सदृष्टान्तं तत्सम्भावयन्गर्जति **बालेति**। **श्वश्रूजननियमिता** श्वश्रूणां श्वश्रूसदृशानां श्वश्रूननान्दृश्वसुरादीनामवरोधकानां जनः समूहस्तेन नियमिताऽवरुद्धा, **बाला** नवयौवना नायिका, **देहलीदत्तदृष्टिः** देहलीत्युपलक्षणं नीचस्थानस्य देहल्यां नीचस्थाने दत्ताऽर्पिता दृष्टिर्नेत्रं यया सा तथाभूता लोकदृष्ट्या प्रतीयमाना सती, **दीर्घं चक्षुः** दूरदेशगामी लम्बायमानमित्यर्थः, **चक्षुः** नेत्रं मनस्यतिप्रियस्य **यौवनालङ्कृतस्य** यौवनेन तारुण्येनालंकृतस्य भूषितस्य, स्वीयस्यान्यस्य कस्यचित्पुरुषस्य **वदने** मुखे, **किरति** प्रेरयति प्रसारयतीत्यर्थः, यथा यद्वदेवमनेन प्रकारेण **भ्रूतटे** दत्तदृष्टेः बिभृतो जगतो भ्रुवौ संकल्पविकल्पौ तयोस्तटम् उभयनदीमध्यतटवत्तटं मध्यं तस्मिन् संकल्पविकल्पयोरेव जगद्धारकत्वप्रसिद्धेः तत्र संकल्पविकल्पसन्धावित्यर्थः, **दत्तदृष्टेः** दत्ता स्थापिता दृष्टिर्दृश्यते ज्ञायते जगदनया सा दृष्टिर्ज्ञानं येन तस्य संकल्पविकल्परहितत्वेन स्थिरीकृतज्ञानस्येत्यर्थः, **युक्तस्य** जीवब्रह्मैक्यज्ञानस्येत्यर्थः, **चेतोवृत्तिः** चेतसोऽन्तःकरणस्य वृत्तिः साभासान्तःकरणांशरूपा स्वविषयाज्ञाननिवृत्तिफलाऽहं ब्रह्मास्मीत्येवंरूपा प्रमेति यावत्, **मोक्षलक्ष्मीनिवासे** मोक्षरूपा या लक्ष्मीः सम्पत्तिस्तस्या निवस्तेऽस्मिन्निति निवासो वासस्थानं तस्मिन्नधिकरणे, वसे'र्हलश्चे' ति घञ्, **पुरुषे** परिपूर्णे प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि, व्यवहारे विद्यमानेऽविधमाने वा स्फुरति प्रकाशते आत्मस्फुरणे तस्य सर्वदैव समाधिसिद्धिरिति भावः।।३०।। (११०६)

को यौवन से सुशोभित अपने प्रियतम के मुख पर फैलाया (फेंका) करती है, इसी प्रकार भ्रू अर्थात् भौं में अथवा संकल्पविकल्प के सन्धिरूपी तट में अपनी दृष्टि (ज्ञान) को ठहराने (जमाने) वाले (अर्थात् संकल्पविकल्प से रहित होकर अपने ज्ञान को स्थिर करने वाले) युक्त पुरुष की चेतोवृत्ति मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवासभवन परिपूर्ण ब्रह्म में सदा लगी रहती है।

ऐसा पुरुष चाहे तो संसार के व्यवहारों को करता रहे अथवा त्याग दे। उसको सदा ही आत्मस्फुरण बना रहता है। इसीलिए वह सदा ही समाधि अवस्था में रहता है। भ्रू के दूसरे अर्थ में भाव यह है कि एक संकल्प नष्ट हो चुका हो और दूसरा अभी उत्पन्न न हो पाया हो यह अवस्था संकल्प और विकल्पों की सन्धि कहाती हैयदि कोई साधक इस सन्धि पर अड़कर बैठ जायसंकल्प विकल्पों को उदय न होने देइस अवस्था को बलात् ठहराये रहे और बीच बीच में सच्चिदानन्द तत्त्व की ओर को दृष्टि फेंकता रहे तो आत्माकारवृत्ति जाग उठती है। फिर इस वृत्ति को धीरे-धीरे बढ़ाता चला जाय तो यही वृत्ति पकते-पकते समाधि बन जाती है।।३०।।

पर्यन्तै रहितस्य यस्य महती गम्भीरता तादृशी
मग्ना यत्र विभान्ति नो अगणिता ब्रह्माण्डमृत्पिण्डिकाः।
यादृक्तस्य चिदर्णवस्य सुरसो यादृक्स्वरूपं महत्
तत् कस्मै कथयामि कस्य विषयः को वास्य वक्ता भवेत्।।३१।। (११०७)

इदानीं ब्रह्मणोऽगाधत्वनिरूपणपूर्वकं ब्रह्मसुखस्य 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इत्यादिश्रुत्युक्तं वागगोचरत्वं सूचयन्गार्जति **पर्यन्तैरिति। यस्य** विद्वत्प्रत्यक्षस्य, **पर्यन्तै रहितस्य** परितोऽभितोऽन्तैस्तीरै रहितस्य हीनस्यानन्तस्येत्यर्थः, **चिदर्णवस्य** चिच्चेतना जलस्थानीया तस्या अर्णव उदधिः समुद्रस्तस्य, **महती** बृहती, **तादृशी** तादृग्रूपा **गम्भीरता**ऽगाधता निम्नतेत्यर्थः, अस्ति। कीदृशीत्यत आह **मग्ना इति। अगणिता** गणना संख्या तस्या अतीता अनन्ता इत्यर्थः, **ब्रह्माण्डमृत्पिण्डिकाः** ब्रह्माण्डानि जगन्ति तान्येव मृत्पिण्डिका मृदो मृत्तिकायाः पिण्डिका अल्पपिण्डा इव यत्र चित्समुद्रे मग्ना बुडिताः सन्त्यो लीना इत्यर्थः, **नो विभान्ति** न प्रतीता भवन्तीत्यर्थः, तादृशीत्यर्थः। किञ्च **तस्योक्त**महत्त्वलक्षणस्य **चिदर्णवस्य** चैतन्यसमुद्रस्य, **यादृग्**यथा, **सुरसः** सु शोभनो यो रसः सुखमानन्द इति यावद्, 'रसो वै स' इति श्रुतेः, किञ्च **तस्य चिदर्णवस्य स्वरूप**माकारो **यादृग्**यादृशं **महद्** बृहदस्ति **तच्चि**त्समुद्रस्य रूपं सुखं च **कस्मै** श्रोत्रे न कस्मा अपीत्यर्थः, **कथयामि** वच्मि, श्रोतुः पृथक् सत्त्वाभावादिति भावः। किञ्च स चिदर्णवस्य रसः स्वरूपं च **कस्य** वचनस्य श्रोतुर्वक्तुर्वा **विषयो** वाच्यः श्रोतव्यश्च भवेन्न कस्यापीत्यर्थः, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः, 'शृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युरि'ति च श्रुतेर्वचनस्य श्रोतृवक्त्रोरपि ततः पृथगसत्त्वादिति भावः। किञ्चास्य चिदर्णवस्य स्वरूपरसयोः **वक्ता** वाचकः, **कः** को भवेन्न कोपीत्यर्थः।।३१।। (११०७)

इदानीं स्वरूपस्फुरणजन्यं सुखं तदनुभववतां ब्रह्मादीनां पुरत एव कथनीयमिति सूचयन्गार्जति **आख्यास्यामीति**। अहं साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासः स्वात्मसाक्षात्कारवान्मम मे **कुतूहलमये** कौतुकयुक्तेऽतः **शान्ते** निर्वासने **चेतसि** मनसि, **यत्**प्रत्यक्षं **संविदा** ज्ञानेन संवेदितं निःसंशयं ज्ञातमत एव, **निर्जिह्मं** निर्गतं निवृत्तं जिह्मं मायाख्यं कपटं यस्यां क्रियायां यथा तथा, **उज्जृम्भितं** उत्कृष्टं प्रकाशितमत एव, **प्रकाशपरमं** प्रकाशेन चेतनेन परमं श्रेष्ठं, यत् **प्रह्लादप्रवणं** निम्नस्थानरूपं ब्रह्मसुखं यथा जलस्य निम्नस्थानं समुद्रस्तथा सर्ववैषयिकसुखानामाश्रय-

(विद्वानों को प्रत्यक्ष दीखने वाले) जिस पर्यन्तरहित (अनन्त) चित्समुद्र की इतनी बड़ी गम्भीरता है कि उस चित्समुद्र में भूतकाल में जो अनन्त ब्रह्माण्डरूपी मिट्टी के ढेले समा गये हैं अब वे कहीं भी नहीं दीख पड़ते हैं। उस महान् चैतन्य समुद्र का जैसा कुछ सुरस (आनन्द) है अथवा जितना बड़ा आकार है चित्समुद्र के उस सुख और उस अनन्त स्वरूप को किस श्रोता से कहूँ? उस चित्समुद्र के रस और स्वरूप को किस शब्द से कहा अथवा सुना जा सकता है 'यतो वाचो निवर्तन्ते'। उस चित्समुद्र के रस और स्वरूप को कहने वाला भी कौन हो सकता है।।३१।।

आख्यास्यामि रमावरस्य पुरतो गौरीवरस्याथवा
शब्दब्रह्ममयीवरस्य पुरतस्त्वन्यस्य कस्यापि न।
प्रह्लादप्रवणं प्रकाशपरमं सम्वेदितं संविदा
शान्ते चेतसि यत्कुतूहलमये निर्जिह्ममुज्जृम्भितम्।।३२।। (११०८)

रूपत्वाद् ब्रह्मसुखस्य समुद्रत्वमित्यर्थः, तद् **रमावरस्य** रमाया लक्ष्म्या वरः पतिर्विष्णुस्तस्य, **पुरतो**ऽग्र, **आख्यास्यामि** निरूपयिष्यामि, **अथवा** किं वा, **गौरीवरस्य** गौर्याः पार्वत्या वरः पतिः शिवस्तस्य, **पुरतो**ऽग्र, **आख्यास्यामि** कथयिष्यामि, वा किं वा **शब्दब्रह्ममयीवरस्य** शब्दब्रह्म वेदस्तन्मयी तद्रूपा गायत्री तस्या वरः पतिर्ब्रह्मा तस्य, **पुरतो**ऽग्र, **आख्यास्यामि** अनुभविनामग्रे कथनेनानन्द वृद्धेर्विष्ण्वादीनामात्मसुखस्यानुभवस्य विद्यमानत्वात्तेषामेवाग्र आत्मानुभवसुखवर्णनं युक्तमेवेति भावः, **अन्यस्या**त्मानुभवहीनस्यात्मनो भिन्नस्य जीवत्वं प्राप्तस्येत्यर्थः, **कस्यापि** पुरुषस्य पुरतोऽग्रे **न** तु नैव कथयिष्यामि आत्मानुभवहीनानामग्र आत्मानुभवसुखे निरूपिते सति तदसहनेन तत्कृतोपहासेन वा स्वस्मिन् तत्कृतेर्ष्यया वेत्यादि बहुविधदुःखकारणेन बहुदुःखसत्त्वादिति भावः।।३२।। (११०८)

इदानीं निर्मायात्मस्वरूपज्ञानं विनान्यसाधनैः साधितमप्यात्मज्ञानं तत्प्रतिकूलवृत्तिभिर्विनाश्यमानं सत्स्थिरं न जायत इति सूचयन्गर्जति **तृष्णाभिरिति। क्षमाभिः** सुखदुःखसहनरूपाभिर्वृत्तिभिः,

मेरे कुतूहलवाले शान्त चित्त में ज्ञान की महिमा से निःसन्दिग्ध, मायारूपी कपट से रहित, प्रकाशरूप होने से अत्यन्त श्रेष्ठ, प्रह्लाद से परिपूर्ण, जो ब्रह्मसुख, बड़े गौरवयुक्त रूप से प्रकाशित हुआ है, आत्मा का साक्षात् करने वाला मैं उस ब्रह्मसुख को या तो रमापति विष्णु के सामने निरूपण करूँगा अथवा गौरीपति महेश के सामने कहूँगा अथवा शब्दब्रह्ममयी गायत्री के पति ब्रह्मा के सामने वर्णन करूँगा, (क्योंकि अनुभवी लोगों के सामने कहने से ही मेरे आनन्द की वृद्धि होगी। उन विष्णु आदि महानुभावों को आत्मसुख का अनुभव है इसलिये उन्हीं के सामने आत्मानुभव से आने वाले सुख का निरूपण करना उचित होगा) जो तो आत्मा के अनुभव से रहित हैं, जो अभी जीवभाव में फँसे हुए हैं उन किन्हीं भी सामान्य प्राणियों के सामने मैं उस आत्मानुभव का वर्णन नहीं करूँगा।

आत्मानुभव से हीन लोगों के सामने यदि आत्मानुभव सुख का वर्णन किया जायगा तो वे प्रथम तो अपने संस्कारों के विपरीत बात सुनकर उसको सहन ही न कर सकेंगे और उस अद्वितीय सुख का परिहास भी करेंगे, अथवा उस अनुभवी से ईर्ष्या करने लगेंगे इत्यादि बहुत प्रकार के दुःखों को पैदा करके उससे दुःख की सृष्टि की ही वृद्धि होगी।।३२।।

तृष्णाभिर्गलितं क्षमाभिरुदितं प्रज्ञाभिरुन्मीलितं
मोहैरस्तमितं भ्रमैः प्रचलितं द्वन्द्वैश्च दूरं गतम्।
बोधैरुल्लसितं सुखैर्विलसितं सन्मीलितं संशयैः
स्वं धाम स्फुरितं यदैव मुनिना निर्मायमालोकितम्।।३३।। (११०६)

साधिताभिः क्वचित्समय **उदित**मुत्पन्नमिव प्रतीतं **स्वं धाम** स्वात्मरूपं तेजस्तत्**तृष्णाभि**र्विषयभोगवासनारूपवृत्तिभिः, **गलितं** स्रस्तमिव जायते, तत्र **प्रज्ञाभिः** विवेकरूपवृत्तिभिः, **उन्मीलितं** अज्ञानतिरोधानेन क्वचित्काले व्यक्तमिव जातं, ततस्तत्प्रतिकूलै**र्मोहै**रज्ञानरूपवृत्तिभिर्विषयस्नेहरूपवृत्तिभिर्वा, **अस्तमितं** अस्तं नाशमितं प्राप्तमिव जातं नष्टमित्यर्थः, **भ्रमैः** भ्रान्तिरूपवृत्तिभिः, **प्रचलितं** विक्षिप्तमिव प्रतीतं भवति। **द्वन्द्वैश्च** द्वन्द्वानि सुखदुःखाकारवृत्तयस्तैरुत्पन्नैः, **दूरं** दूरदेशं, **गतं** प्राप्तमिव प्रतीयते दूरीभूतमित्यर्थः, क्वचित्समये **बोधैः** ज्ञानरूपवृत्तिभिः, उदिताभि**रुल्लसित**मुत्कृष्टं प्रकाशितमिव प्रतीयते ततश्च **सुखैः** आनन्दाकारवृत्तिभिरुदिताभिः **विलसितं** शोभायमानं प्रतीतं भवति, क्वचित्समये ततश्च **संशयैः** सन्देहरूपाभिर्वृत्तिभिरुदिताभिः, **सन्मीलितं** अत्यन्तमाच्छन्नमिव जायते, एतादृशैरनुकूलैः प्रतिकूलैश्चान्तःकरणविकारैरात्मरूपमाविर्भावतिरोभाववत्त्वेन चलायमानं स्थितमिव प्रतीतं भवति। तर्हि स्थिरं कदा प्रतीतं स्यात्तत्राह **स्वमिति। यदैव** यस्मिन्नेव समये, **मुनिना** मननवता पुरुषेण, **स्वं** आत्मरूपं, **धाम** ज्योतिश्चैतन्यमित्यर्थः, **निर्मायं** मायारहितं अपवादं कृत्वा मायायास्ततः पृथक् शुद्धरूपमित्यर्थः, **आलोकितम्** साक्षाद् दृष्टं, तदैव **स्फुरितं** प्रकाशितं यथार्थं ज्ञातमित्यर्थः, अन्यदा तु मायाया विद्यमानत्वेन स्वात्मनि प्रतीतेपि तस्याऽयथार्थत्वेन तृष्णादिप्रतिकूलवृत्तिभिराच्छाद्यते क्षमादिवृत्तिभिरनुकूलाभिरुदितमिव भासते तस्य च मायां निषेध्य केवलात्मप्रकाशो जीवब्रह्मैक्यज्ञानरूपो वेदान्तमहावाक्यजन्यो जायते तदा तु मायालये सति तृष्णादिक्षमादिप्रतिकूलानुकूलवृत्तिभिः प्रारब्धशेषेणोदिताभिरपि नात्मप्रकाश आच्छादितो भवतीति भावः।।३३।। (११०६)

क्षमाओं ने जन्माया था तो तृष्णाओं ने उसे मार डाला, प्रज्ञाओं ने जगाया था तो मोहों ने उसे फिर सुला दिया, भ्रमों ने उसे हिला दिया, द्वन्द्वों ने उसे दूर भगाकर ही छोड़ा, बोधों ने विकसित किया था सुखों ने फैलाया था तो संशयों ने आकर उसे फिर ढक दिया (यों उस आत्मज्ञानरूपी बालक को किसी ने जीवित रहने ही नहीं दिया) परन्तु जब किसी मुनि ने अपने मायारहित आत्मा के दर्शन किये तो उसका अपना आत्मा सदा के लिये चमक उठा। (फिर उसे कोई दबा ही नहीं सका)

अथवाज्यों ही किसी मुनि ने मायारहित आत्मधाम के दर्शन किये त्यों ही उसकी तृष्णायें नष्ट हो गयीं, क्षमायें जागीं, प्रज्ञायें खिल उठीं, मोह मर गये, भ्रम भाग गये, द्वन्द्वों ने दूर जाकर दम लिया, बोध चमके, सुखों को होश आया और संशय तो सदा के लिये नष्ट ही हो गये।

पूर्वं नाम किमन्तरं समभवद्यन्नेदमालोकितं
किं वा कारणमस्ति जातमधुना येनेदमालोक्यते।
इत्थं विस्मयवन्मनो हि विदुषां विज्ञाननिद्राघने
तत्रानन्दवने मुनीन्द्रसदने लीनं परब्रह्मणि।।३४।। (१११०)

इदानीं तदपि यावत्प्रारब्धभोगं जीवन्मुक्तिसुखाविरुद्धं सत्स्वस्मिन्पूर्वमात्माभाने किं कारणमिदानीमात्मभाने च किङ्कारणमिति विचारयन्कारणासिद्धौ सत्यामाश्चर्यवत्सत्तदपि ब्रह्मणि लीनं भवतीत्याशयेन गर्जति **पूर्वमिति। यद्यतः** कारणा**दिदं** प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वरहितमात्मरूपं **नालोकितं** न दृष्टं तत्तादृशं **पूर्वं** आदौ, **नाम** प्रसिद्धं **अन्तरं** भेदोस्यातीति अन्तरं मत्तो भिन्नमात्माभाने कारणमित्यर्थः, **किं समभवत्** किंरूपमभून्न किमपीत्यर्थः, अज्ञानस्यात्मतो भिन्नसत्ताकत्वाभावाद् आत्मनस्तु स्वयं प्रकाशत्वेन सर्वदाभानत्वाच्च न किमप्यज्ञानादिकमात्माभाने कारणं सम्भाव्यत इति भावः। किञ्च **अधुना** इदानीमपि, **येन** कारणेन, **इदं** प्रत्यक्षमात्मस्वरूपं, **आलोक्यते** साक्षादनुभूयते, तत्तादृशं **कारणं** निमित्तञ्**जात**मुत्पन्नं **किम्वा** किञ्चा**स्ति** विद्यते न किमपीत्यर्थः, अज्ञानस्येव ज्ञानस्यापि स्वात्मतः पृथक्सत्त्वाभावादात्मनस्तु स्वयं प्रकाशत्वेन सर्वदा भानस्वरूपत्वे सति ज्ञानानपेक्षत्वाच्च न किमपि ज्ञानादिकमात्मभाने कारणं सम्भाव्यत इति भावः, **इत्थं** एतादृशमात्मभानाभानकारणासम्भवे सत्यपि आत्मभानाभानरूपकार्यप्रतीतौ सत्यामित्यर्थः, **विस्मयवद्** आश्चर्ययुक्तं सद् **हि** लोकप्रत्यक्षं प्रारब्धभोगव्यापारानुमेयं, **विदुषां** ज्ञानिनां, **मनः** चित्तं,

जब तक माया विद्यमान रहती है तब तक कभी-कभी आत्मा की प्रतीति तो हो जाती है परन्तु आत्मा का वह स्वरूप शुरू नहीं होता। क्योंकि वह कभी तो तृष्णा आदि प्रतिकूल वृत्तियों से ढक दिया जाता है तथा कभी क्षमा आदि अनुकूल वृत्तियों से उदित-सा हो जाता है परन्तु जब कोई मुनि उस माया का निषेध (बाध) कर देता है तो उसको केवल शुद्ध आत्मा का दर्शन हो जाता है। उस माया के लय हो जाने के अनन्तर, प्रारब्ध कर्मों की प्रबलता से, तृष्णा क्षमा आदि प्रतिकूल अथवा अनुकूल वृत्तियों के उदित हो जाने पर भी, वह आत्मप्रकाश फिर कभी आच्छादित नहीं हो पाता। तात्पर्य यह है कि यदि कोई अकेली क्षमा, अकेले विवेक, केवल ज्ञान तथा केवल सुखाकारवृत्तियों से ही आत्मज्ञान को सिद्ध करना चाहेगा तो ऐसा आत्मज्ञान उन प्रतिकूल वृत्तियों से विनष्ट होता रहा करेगा और कभी भी स्थिर नहीं हो सकेगा। इसलिये मायारहित आत्मस्वरूप का ज्ञान ही सिद्ध करने योग्य ज्ञान है। उसी से कृतकृत्यता हो सकती है।।३३।।

पहले क्या भेद हो रहा था? कि यह (आत्मा) दीखता नहीं था, अब कौन-सा कारण हो गया कि वह दीखने लग पड़ा है, यों अचम्भे में पड़ा हुआ ज्ञानी का मन

शुद्धे बोधे स्फुरति परितः क्षालिता वासनाङ्काः
क्षीणं चित्तं विरतिरुदिता कर्मपाशा विशीर्णाः।
भग्नो भेदः सुखमधिगतं कल्पना दूरमुक्ता
दृष्टे तत्त्वे करबदरवन्नास्ति कर्त्तव्यशेषः।।३५।। (११११)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे ज्ञानिगजगर्जनं सप्तचत्वारिंशम्।।४६।।

विज्ञाननिद्राघने विगतं ज्ञानं जगद्विषयो बोधो यस्मात्तद्विज्ञानं तद्रूपा या निद्रा सुषुप्तिः सामान्यचैतन्यरूपात्र विज्ञाननिद्रा ग्राह्या, 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'ति भगवदुक्तेस्तया चेतनया घने निविडेऽत एव **आनन्दवन** आनन्दानां जगद्गतसर्वसुखानां वनमरण्यमिव तस्मिन्, यद्वा सर्वविषयजन्यसुखाश्रयत्वाद् ब्रह्मसुखस्फुरणमेव वनं सम्भजनमित्यर्थः, सम्भजनार्थवनधातुप्रकृतिकत्वाद्वनशब्दस्येति भावः। अत एव **मुनीन्द्रसदने** मुनयः प्रथमादिचतुर्थ्यन्तभूमिस्थास्तेषां इन्द्राः श्रेष्ठाः पञ्चम्यादिसप्तम्यन्तभूमिस्थास्तेषां वासस्थानत्वात्सदने मन्दिरे, **तत्रो**क्तलक्षणे, **परब्रह्मणि** परं कार्यकारणातीतं यद् ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु तस्मिन्, **लीनं** नष्टं भवति, प्रारब्धभोगक्षये सति ज्ञानिमनः स्वयमेव नश्येतेति भावः।।३४।। (१११०)

इदानीं स्वस्यात्मज्ञानेन कृतकृत्यतां प्रदर्शयन् गर्जति **शुद्ध इति। शुद्धे** बोध्यरूपविषयतदुपादानभूताज्ञानाभ्यां रहिते, **बोधे** ज्ञानरूपे, आत्मनि **स्फुरति** भासमाने सति, तत्स्फुरणेनैव **तत्त्वे** जीवेश्वरजगदारोपाधिष्ठानत्वेन स्वतोऽनारोपित आत्मन्येव सच्चिदानन्दानन्तब्रह्मलक्षणानुभवेन ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि **करबदरवत्** करे हस्ते बदरं यथा साक्षाद् दृश्यते तद्वत्साक्षाद् **दृष्टे**ऽनुभूते सति, मम **कर्त्तव्यशेषः** कर्त्तव्यस्य कार्यस्य शेषोऽवशेषो नास्ति न विद्यतेऽवशिष्टं कार्यं नास्ति प्राप्तप्राप्यत्वादिति भावः। तमेव कर्त्तव्यतानवशेषं दर्शयति **क्षालिता इत्यादिना। वासनाङ्का** विषयाणां मिथ्यात्वे ज्ञाते सति तेषां वासना इच्छा एवाङ्काश्चिह्नानि, **क्षालिता** धौता, अतो वासनालयसाधनकर्त्तव्यताभावो मय्यस्तीति भावः। किञ्च **चित्तं** चेतः, **क्षीणं** नष्टं बाधितमनुभूतमित्यर्थः, अतो मनोनाशे योगादिकर्त्तव्यताभावो मयि ज्ञेय इति भावः। किञ्च **विरतिः** विगता निवृत्ता रतिः प्रीतिर्यस्याः सा विरतिर्विरसता वैराग्यमित्यर्थः, **उदिता** उत्पन्नाऽतो वैराग्यकर्त्तव्यशेषोपि मयि नास्तीति भावः। किञ्च **कर्मपाशाः** कर्मरूपाः पाशसादृश्यात् पाशा इव बन्धनानि, **विशीर्णाः** त्रुटिता, अतः कर्मपाशनिवर्त्तकसंन्यासादिकर्त्तव्यशेषोपि मयि नास्तीति भावः। किञ्च **भेदो** द्वयो, **भग्नो** नष्टोऽतो द्वैतनिरासक्रियाशेषोपि मयि नास्तीति भावः। किञ्च ननु सुखोपभोगाय किञ्चित्कर्त्तव्यशेषोस्त्विति चेन्नेत्याह **सुखमिति। सुखं** सर्वसुखानां ब्रह्मसुखेऽन्तर्भावात्तत्सुखाश्रयभूतं ब्रह्मसुखं, **अधिगतं** प्राप्तमतः सर्वसुखसाधनकर्त्तव्यताशेषोपि मयि नास्तीति भावः। ननु कल्पनानिवृत्तये तु किञ्चित्कर्त्तव्यतास्तु? तत्राह **कल्पनेति। कल्पना**ऽऽत्मन्यनात्मारोपबुद्धिः, **दूरमुक्ता** दूरदेशे मुक्ता त्यक्ताऽतस्तत्कर्त्तव्यतापि मयि नास्तीति भावः।।३५।। (११११)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ ज्ञानिगजगर्जनार्थप्रकाशः सप्तचत्वारिंशः।।

विज्ञान की गहरी नींद में डूबे हुए, आनन्द के वन, मुनीन्द्रों के शान्तिनिकेतन, ब्रह्म में जाकर लीन हो गया।

तात्पर्य यह है कि प्रारब्ध कर्मो का भोग समाप्त हो जाने पर ज्ञानी लोगों का मन आत्मा के भान होने और न होने का कुछ भी कारण न पाकर आश्चर्य में पड़ कर ब्रह्म में लीन हो जाता है अर्थात् स्वयमेव नष्ट हो जाता है।।३४।।

जब चारों ओर से शुद्धबोध चमकने लगा तो यह सब अपने आप ही हो गया कि वासनारूपी धब्बे छूटे, चित्त क्षीण हुआ, वैराग्य का उदय हुआ, कर्मबन्धन टूटे, भेद फूटा, सुख मिला, कल्पना दूर रह गयी। हस्तामलक की तरह आत्मतत्त्व के दीख पड़ने पर पता चला कि अब तो कुछ भी कर्तव्य नहीं है।

जब कि मुझे शुद्धबोध (अर्थात् ज्ञानरूप आत्मा) की स्फूर्ति होने लगी तथा हाथ पर रक्खे हुए बेर के समान (सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्माभिन्न) प्रत्यगात्मा का साक्षात् अनुभव हो गया तो (प्राप्तव्य के प्राप्त हो जाने के कारण) अब मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा। बोध की स्फूर्ति से जब मुझे विषयों के मिथ्यापन का निश्चय हो गया तो उन विषयों के वासनरूपी चिह्न भी स्वयमेव धुल गये। (यही कारण है कि मुझे वासनालय के साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रही)। मेरा चित्त क्षीण हो गया (यही कारण है कि मुझे मनोनाश के लिये योगादिकर्तव्यता नहीं रही)। वैराग्य भी स्वयमेव उत्पन्न हो गया (इसी कारण से विषयों से वैराग्य करना भी मुझे शेष नहीं रहा) मेरे कर्मरूपी बन्धन भी स्वयमेव टूट गये (इसलिये कर्मपाश को हटाने वाले संन्यास आदि का ग्रहण भी मुझे शेष नहीं रहा)। भेद नष्ट हो गया (इस कारण द्वैत का निरास करना भी मुझे शेष नहीं रहा) सम्पूर्ण सुखों का निधान ब्रह्म नामक अलौकिक सुख मैंने प्राप्त कर लिया। आत्मा में अनात्मा (देह तथा इन्द्रियादि) की कल्पना को भी मैंने दूर छोड़ दिया। तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान हो जाने से अब मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा है और मैं कृतकृत्य हो गया हूँ।।३५।।

हे चित्त के साक्षी, यह पापी हिरण्यकशिपु बड़ा ही बलवान् है। यह नरहरिरूपधारी तुम्हारा नाम लेने मात्र से नष्ट नहीं होता है। तुमको उचित है कि नृसिंह का रूप धारण करके ही इस मोहक हिरण्यकशिपु दैत्य को मारो। (उसको मारकर अपने भक्त देवों की रक्षा करो)।

प्रकृत तात्पर्य यह है किकेवल अपने आपको ब्रह्म कह लेने मात्र से ही किसी का अज्ञान नष्ट नहीं हो जाता किन्तु अपने में ब्रह्मत्व का संपादन करने से ही वह नष्ट होता है। इसलिये हे मेरे चित्त, तुम नरहरि का रूप धारण करके इस अज्ञान को नष्ट करो। इस प्रकार मुमुक्षु लोग अपने चित्त से प्रार्थना किया करें और उसे समझाया करें

अथ नरहरिषट्कम्

नाम्नैव नो नरहरेर्हि विदीर्यतेऽसौ
दुष्टो हिरण्यकशिपुर्नितरां बलिष्ठः।
तस्मात्त्वया नृहरिरूपधरेण चित्त
मोहो हिरण्यकशिपुस्तु विदारणीयः।।१।। (१११२)

एवं ज्ञानिगजगर्जनं निरूप्य इदानीं स्वगुरुनरहरिमहत्त्वख्यापनाय नरहरिषट्काख्यं सप्तश्लोकं प्रकरणमारभमाण आह **अथेति। अथ** ज्ञानिगजगर्जननिरूपणानन्तरं, **नरहरिषट्कं** नरहरेः सम्बन्धि षट्कं षण्णां श्लोकानां समूहः षट्कं, नरहरिलीलानिरूपकं षट्कनामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ नरहरिनाममात्रेण केवलं हिरण्यकशिपोर्वधो न स्यादिति नरहरिरूपं धृत्वा हिरण्यकशिपोर्वधः कर्त्तव्य इत्याशयेन समष्टिव्यष्टिचित्ताधिष्ठातारं श्रीवासुदेवं ब्रह्मा प्रार्थयते **नाम्नैवेति। हे चित्त** हे चित्ताधिष्ठातर्वासुदेव, अधर्मरतत्वाद् **दुष्टः** पापी **हिरण्यकशिपुः** हिरण्यकशिपुनामा दैत्यो, **नितरां** अतिशयेन, **बलिष्ठो** बलवानस्ति। कुत इत्यत आह **नाम्नेति। हि** यतः कारणात्, **नरहरेः** नरश्चासौ हरिश्च नरहरिर्नरहरिरूपवान्भवांस्तस्य ते **नाम्नैव** नरहरिरिति, नाममात्रेण केवलं **असौ** हिरण्यकशिपुर्दैत्यो, **नो विदीर्यते** न विनाश्यतेऽत इति योज्यं। यत एवं **तस्मान्नृहरिरूपधरेण** ना चासौ हरिश्च नृहरिर्नृसिंहः स एव रूपमाकृतिस्तस्य धरं धारकं तेन, **त्वया** भवता, मोहयति स्वमायाबलपराक्रमै रणे देवान्निति **मोहो** मोहको, **हिरण्यकशिपुः** हिरण्यकशिपुनामा दैत्यो, **विदारणीयस्तु** भेदनीय एव, तं घातयित्वा स्वभक्ता देवा रक्षणीया इत्याशय इति लौकिकार्थः।

प्रकृतार्थे तु मुमुक्षोः केवलं ब्रह्माऽहमस्मीति वाङ्मात्रेणाज्ञाननाशो न स्यादिति स्वस्मिन् ब्रह्मत्वसंपादनेनैव तद्विनाशः स्यादिति स्वगुरुनरहरिरूपं धृत्वैवाज्ञानं विनाशयेत्येवं स्वचित्तं प्रार्थयति **नाम्नैवेति।** हे चित्त हे चेतो दुष्टः स्ववशं प्राप्तस्य अतीवदुःखत्त्वान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-निर्विकारस्वभावे प्रत्यगात्मनि अनित्याशुद्धाज्ञानबद्धविकारस्वभावोत्पादकत्वाच्चापि च सर्वदोषकारणत्वाच्च दोषरूप एव **हिरण्यकशिपु**र्हिरण्यवत्प्रकाशबहुलं पञ्चभूतसत्त्वगुणांशकार्यभूतमन्तःकरणद्रव्यं कशिपुरिव निद्रासामग्रीरूपं यस्य स तथोक्तस्तदाश्रयेणैव तत्प्रतीतेः स **मोहः**, यद्वा हिरण्यपदेन प्रकाशबहुलं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्र ग्राह्यं, तस्यैव सर्वारोपाधिष्ठानत्वात्तत्कशिपुरिव निद्रासामग्रीरूपं यस्य स तथोक्तो मोह इत्यर्थः, आत्मन्येवाऽस्थित्वाऽऽत्मविस्मृतिरूपनिद्रामनुभवितेत्यर्थः, **नितरामत्यन्तं बलिष्ठः** प्रबलोऽस्ति। कुत इत्यत आह **नाम्नेति। नरहरे**र्नरश्च जीवोऽसौ हरिश्चात्मा व्यवहारदृष्ट्या बुद्ध्याद्युपाधिमत्त्वेन प्रतीयमानत्वाज्जीवत्वं, पारमार्थिकदृष्ट्या ब्रह्मवित्त्वेन सर्वद्वैतहरणशीलत्वेन च ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वं श्रीगुरौ लक्ष्यीकृत्य नरहरिनाम्ना स्वगुरुरत्र विवक्षितः तद्द्वारा च प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ग्राह्यं तस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपगुरोर्नाम्नैव केवलं नाममात्रेणैव स्वस्मिन्परोक्षज्ञानपूर्वं ब्रह्माहमस्मीत्याकारेण ब्रह्मभिन्नप्रत्यगात्मवाचकेन नरहरिरिति कल्पित नाममात्रेणेत्यर्थः, **असौ मोहो नो विदीर्य्यते** न विनाश्यतेऽतो **बलिष्ठ** इति योज्यं, तस्मात्कारणान्नृहरिरूपधरेण ना जीवो हरिः सर्वद्वैतहरणशीलः परमात्मा तयोर्जीवपरमात्मनो रूपमुभयत्र भागत्यागलक्षणया लक्षितमखण्डैकचिन्मात्र-

स्वरूपं तस्य धरं धारकं तेन प्रत्यगभिन्नब्रह्मसाक्षात्कारवत्स्वगुरुरूपग्रहणवता त्वया भवता **हिरण्यकशिपु**र्हिरण्यवत्प्रकाशबहुलं सत्त्वगुणकार्यत्वादन्तःकरणं, स्वयं प्रकाशरूपं तदाधारभूतं प्रत्यक् चैतन्यं वा, कशिपुवत्स्वात्मविस्मृतिरूपनिद्रासामग्रीरूपं यस्य स तथोक्तो **मोहो**ऽज्ञानं **विदारणीयो** विनाशितव्य एव ब्रह्माभिन्नस्वात्मसाक्षात्कारेणैवाज्ञाननाशः स्यान्न तु ब्रह्माहमस्मीत्युच्चारणमात्रेणेति भावः ।।१।। (१११२)

कि यह मोह बड़ा ही दुष्ट है, यह अपने वश में आये अज्ञानी जीवों को अत्यन्त दुःख देता है। यह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव वाले प्रत्यगात्मा में अनित्य अशुद्ध अज्ञानबद्ध तथा विकारी स्वभाव उत्पन्न करके सकल दोषों का कारण होने से सर्वदोषरूप हो रहा है। इसको हिरण्यकशिपु भी कहते हैं क्योंकि इस धृष्ट ने हिरण्य के समान प्रकाशबहुल आत्मचैतन्य को ही अपना कशिपु (शयन करने का गद्दा) बना लिया है। यह उसी को अपने नीचे दबा कर सोया करता है। यह आत्मचैतन्य में रह कर भी आत्मविस्मृतिरूपी नींद ले रहा है। यह बड़ा ही बलशाली है। यही कारण है कि नरहरि (मनुष्य ही ईश्वरतत्त्व है) इस कल्पित नाममात्र के ले लेने से वह नष्ट नहीं हो जाता है। इसलिये तुम्हें उचित है कि नरहरि रूप धारण करके अर्थात् नृनामक जीव तथा हरिनामक आत्मा के अखण्ड एकरस चिन्मात्र रूप को धारण करके (अर्थात् प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का पूर्णतया साक्षात्कार करके) इस हिरण्यकशिपु नाम के अज्ञान को नष्ट करो जिसने कि आत्मविस्मरणरूपी निद्रा लेने के लिये आत्मचैतन्य को ही अपना बिस्तरा बना रक्खा है। निष्कर्ष यह हुआ कि अपने ब्रह्माभिन्न आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार कर लेने पर ही अज्ञान नष्ट होता है। केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' रट लेने मात्र से किसी का अज्ञान नष्ट नहीं होता। वह तो समाधि का पूर्ण परिपाक होने पर ही नष्ट होता है। समाधि के परिपाक से उत्पन्न हुआ साक्षात्कार (ज्ञान) ही अज्ञान और अज्ञानजन्य संसार को नष्ट करने में समर्थ है।।१।।

तृष्णाओं से भरा हुआ लोभी हिरण्यकशिपु नाम का अपना (इन्द्र अथवा प्रह्लाद का) रिपु इन्द्र के राज्य को पाकर भी अभी तक तृप्त नहीं हुआ है। अतः अब तो इस असन्तोषी का सर्वथा नाश कर देना ही मुझे सुखदायक होगा (तभी मेरे भक्त सुख चैन से बैठ सकेंगे) यह विचार कर ज्ञानस्वरूप हरि ने उस हिरण्यकशिपु को मार डाला।

प्रकृत तात्पर्य यह है कि लोभी तथा तृष्णाओं से भरा हुआ आत्मा के सच्चिदानन्दादि गुणों को छिपा लेने वाला यह मोह इन्द्र नाम वाले मुझ चिन्मात्र आत्मा के (आत्मत्वरूपी) राज्य को (विषयप्राप्ति आदि के समय) प्राप्त करके भी अभी तक (निरंकुश) तृप्ति को प्राप्त नहीं कर सका है (यह अभी तक ज्यों का त्यों असन्तुष्ट ही बना हुआ है) इस

इन्द्रस्य राज्यमपि सम्प्रतिलभ्य लुब्ध-
स्तृष्णामयो निजरिपुर्न जगाम तृप्तिम्।
अस्याधुना प्रलय एव हितं ममेति
प्रज्ञात्मना नृहरिणा प्रलयं प्रणीतः।।२।। (१११३)

ननु को दोषो हिरण्यकशिपोरस्ति यं निमित्तीकृत्य नरहरिणा नाशं प्रापित इत्याशङ्क्याह **इन्द्रस्येति। लुब्धो** लोभवांस्तत्र हेतुः **तृष्णामयः** तृष्णाभिः वाञ्छाभिः प्रचुरोऽत एव, **निजरिपुः** निजस्य स्वीयस्येन्द्रस्य प्रह्लादस्य वा रिपुः शत्रुर्हिरण्यकशिपुनामा दैत्य, **इन्द्रस्य** शक्रस्य, **राज्यं** पदं, **सम्प्रतिलभ्य** संप्राप्यापि, **तृप्तिं अलंबुद्धिं, न जगाम** न प्राप, इति हेतो**रस्य** हिरण्यकशिपोः **प्रलय एव** नाश एव, **मम** मे चित्ताधिष्ठातुर्वासुदेवस्य, **हितं** स्वभक्तसुखकारणत्वादिष्टमस्तीत्येवं विचार्येति शेषः, **प्रज्ञात्मना** प्रज्ञा बुद्धिरेवात्मा शरीरं यस्य स तथोक्तस्तेन ज्ञानस्वरूपेणेत्यर्थः, **नृहरिणा** वासुदेवेन, असौ हिरण्यकशिपुः **प्रलयं** नाशं, **प्रणीतः** प्रापित, इन्द्रपदप्राप्तावपि तृप्त्यभावेन सर्वजगज्जयोद्योगमालक्ष्य तेनैव दोषेण हिरण्यकशिपुर्घातित इति भाव इति लौकिकार्थः।

प्रकृतेर्थे तु मुमुक्षुणा मोहशत्रुघाते कुतः प्रवर्त्तितव्यं, को वा दोषस्तस्मिन्नित्याशङ्क्य, स्वगुरुनरहरिचरितवर्णनमिषेणैव वधे निमित्तभूतमज्ञाने दोषं दर्शयइि **इन्द्रस्येति।** हे शिष्य **लुब्धो** लोभवांस्तत्र हेतु**स्तृष्णामय**स्तृष्णा आशास्ताभिः प्रचुरोऽत एव **निजरिपु**र्निजः स्वीयो रिपुः शत्रुरात्मन आवरकतया स्वरिपुत्वमज्ञानस्य स्वस्यासत्त्वानन्दत्वादिस्वभावानावृणोदिति भावः। प्रोक्तदोषवान्मोह **इन्द्रस्ये**दंतया सर्वदृश्यं पश्यतीति दक्षिणाक्षिस्थितः सञ्जगद्द्रष्टदृत्ववान्पुरुष इन्द्रस्तस्येन्धति प्रकाशयति जगदितीन्द्रशब्दवाच्यस्यैवात्मन इन्द्र इति परोक्षतया श्रुतिप्रोक्तस्यात्मन इति भावः, तथा च श्रुतिः 'इन्धो ह वै नामैष योयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्ध ँ॒ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विष' इति। यद्वेदमिति साक्षादव्यवधानेन सामान्यरूपेण प्रकाशयतीतीदन्द्रशब्द-वाच्यस्यात्मन एव परोक्षतयेन्द्र इति नाम्नो मे आत्मस्वरूपस्य, तथा च श्रुतिः'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती ँ॒ तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नामैतमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा' इति। अस्मिन्नर्थे जीवब्रह्मैक्यस्फुरणरूपश्चिन्मात्र एवेन्द्रपदेन ग्राह्यः, तस्य तादृशस्य मे **राज्यं** पदमात्मत्वमित्यर्थः। **संप्रतिलभ्य** समाध्यादौ प्राप्यापि **तृप्तिं** सन्तोषं निरंकुशां तृप्तिमित्यर्थः, न **जगाम** न प्राप इति हेतोर**धुने**दानी**मस्य** मोहस्य **प्रलय एव** नाश एव ममात्मस्वरूपस्य स्वस्मिन्ब्रह्मत्वस्फुरणहेतुत्वा**द्धित**मिष्टं भवतीत्येवं निश्चित्येति शेषः, **प्रज्ञात्मना** प्रज्ञा प्रज्ञानं ब्रह्मात्मा स्वरूपं यस्य तेन 'प्रज्ञानं ब्रह्मे'ति श्रुतेः, अत एव **नृहरिणा** लोकदृष्ट्या ना पुरुषो जीव इत्यर्थः, परमार्थदृशा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतेर्हरिः सर्वद्वैतहरणशीलं ब्रह्म, एवमुभयरूपेण मयाऽसौ मोहरूपः शत्रुः **प्रलयं** नाशं **प्रणीतः** प्रापितोऽतोन्येषां मुमुक्षूणामपि मोहनाशं विना स्वात्मसुखप्राप्तिर्न स्याद् इति भावः।।२।। (१११३)

असन्तोषी मोह का तो नाश ही अब मेरे लिये हितकारी है। इस मोह के नष्ट होने से ही मुझमें ब्रह्मत्व की स्फूर्ति हो सकेगी। यही सब निश्चय करके प्रज्ञात्मा (ब्रह्मात्मस्वरूप)

वक्षो हिरण्यकशिपोः किल वज्रसारं
शस्त्राणि तत्र सकलान्यपि कुण्ठितानि।
तादृक्पुनस्तव नखैर्नृहरे विदीर्ण-
मत्यद्भुतो भवत एष नखप्रभावः।।३।। (१११४)

इदानीं हिरण्यकशिपुवक्षो वज्राद्यायुधाभेद्यमपि नरहरिनखैर्विदारितमिति श्रीनरहरिनखस्य दार्ढ्यवर्णनमुखेन नरहरिं प्रस्तौति **वक्ष इति**। हे शिष्य **हिरण्यकशिपोः** हिरण्यकशिपुनाम्नो दैत्यस्य, **वक्ष** उरो, **वज्रसारं** वज्रस्य कुलिशस्य सारं दार्ढ्यं तदिव सारं दार्ढ्यं यस्य तत्तादृशं स्थितं **किल** इति निश्चये। कुत एतज्ज्ञातं, तत्राह **शस्त्राणीति। शस्त्राणि** वज्राद्यायुधानि, **सकलानि** समस्तानि, अपि तत्र हिरण्यकशिपुवक्षसि **कुण्ठितानि** तद्भेदनेऽसमर्थानि जातानि, अतो वज्रादपि तत्र दार्ढ्यमधिकमिति निश्चेतव्यम् **हे नृहरे** हे नरसिंह, **तादृक्** तादृशदार्ढ्यवद्धिरण्यकशिपोर्वक्षःस्थलं, **तव** ते, **नखैः** कररुहैः, **विदीर्णं** विदारितमत **एष** हिरण्यकशिपोर्वक्षोविदारणरूपो, **भवतः** तव, **नखप्रभावो** नखानां कररुहाणां प्रभावः प्रतापो**ऽत्यद्भुतो**ऽत्याश्चर्यरूपोऽस्ति सर्वशस्त्रेभ्योऽपि त्वन्नखसामर्थ्यमधिकमिति भावः इति लौकिकार्थः।

परमार्थे तु स्वगुरुं नरहरिनामानं मोहनिवर्त्तकतद्वाक्यप्रशंसामिषेण प्रस्तौति **वक्ष** इति। हे **नृहरे हिरण्यकशिपो**र्हिरण्यं सुवर्णं तद्वत्तेजोमयत्वात्प्रकाशबहुलमन्तःकरणं कशिपुवत्स्वरूपविस्मृतिरूपनिद्रासाधनं यस्य तस्य मोहस्य **वक्षः** सदद्वैतानृतद्वैतयोरन्योन्यारोपरूपं मोहजीवनहेतुत्वा**द्वक्ष**ःस्थलं तद् **वज्रसारं** वज्रादपि दृढं किल। एवं निश्चय एव कुत इत्यत आह **शस्त्राणीति**। शंसन्ति हितमुपदिशन्तीति शस्त्राणि शास्त्राणीत्यर्थः, **सकलानि** समस्तानि तत्रोक्तलक्षणे सत्यानृताद्वैतद्वैतैक्यरूपे वक्षसि **कुण्ठितानि** तद्भेदनेऽसमर्थानि जातानि अत इति योज्यं, हे **नृहरे** ना जीवो व्यवहार दृष्ट्या सन्नपि परमार्थदृशा हरे सर्वद्वैतहरणशील हे अद्वैतरूप गुरो **तादृगपि** सर्वशास्त्रवाक्यैरभेद्यमपि **तव** ते **नखैर्न** विद्यन्ते खानि असत्पदार्थास्तात्पर्यभूता येषु बोधकवाक्येषु तानि सदद्वैतात्ममात्रविषयकानि वाक्यानि तैः पुनः पुनर्वारं वारं दार्ढ्यायेति यावद् **विदीर्णं** विदारितं विविच्य प्रदर्शितमिति भावः, अत एव सदद्वैतानृतद्वैतान्योन्यारोपलक्षणवक्षोभेदनरूपो **भवतस्तव नखप्रभावो** नखानां केवलसन्मात्रबोधकवाक्यानां **प्रभावः** प्रतापो**ऽत्यद्भुतो**ऽत्याश्चर्यरूपोऽस्ति।।३।। (१११४)

मुझ नृहरि ने (जो कि यद्यपि लोकदृष्टि के अनुसार जीव ही है परन्तु परमार्थ दृष्टि से जो साक्षात् हरिरूप हो गया है, उभयरूप धारण करके) मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर डाला। निष्कर्ष यह हुआ कि अन्य मुमुक्षु लोग भी जब तक मेरे ही समान मोह को नष्ट नहीं करेंगे तब तक उन्हें सच्चे स्वात्मसुख की प्राप्ति हो ही नहीं सकेगी।।२।।

हिरण्यकशिपु नामक दैत्य का वक्षःस्थल वज्रसार (के समान बड़ा ही दृढ) है जिस पर प्रहार करने पर वज्र आदि सम्पूर्ण हथियार कुण्ठित हो जाते हैं। हे नृहरे! उतना कठोर भी वह उसका वक्षःस्थल तुम्हारे नखों से विदीर्ण हो गया है। इस महत्त्वपूर्ण

अध्यात्मदृष्टि हृदयं हृदयाग्रसंस्थं
तेजोमयोऽरिमनयन्नृहरिस्तमस्तम्।
कष्टं समस्तमपि नष्टदशां प्रयातं
प्रह्लाद एव परमं महिमानमाप।।४।। (१११५)

ननु नृहरिणा हिरण्यकशिपुः कथं घातितस्तेन च किं फलं सिद्धं तादृग्लीलया च कस्य महिमा संवर्धित इत्याशङ्क्य तत्सर्वं क्रमेण दर्शयति **अध्यात्मेति**। हे शिष्य **अध्यात्मदृष्टि** आत्मानं प्रत्यञ्चमधि अधिष्ठाय स्थितं तदध्यात्ममहङ्कारादि सर्वं जगद् दृश्यतेऽनेनेति दृष्टिर्ज्ञानमस्मिन्नस्तीति तत्तथोक्तं समस्तज्ञानकरणमित्यर्थः, एतादृशं नरहरेः **हृदयं** चित्तस्थानोपलक्षितमुदरवक्षसोर्मध्यमस्ति, किञ्च **तेजोमयो** वह्निज्वालाप्रचुरो, **नृहरिः** नरसिंहो, **हृदयाग्रसंस्थं** हृदयस्योदरवक्षसोर्मध्यदेशस्याग्रे पुरतः संस्थं स्थापितं तं पूर्वोक्तं हिरण्यकशिपुनामान**मरिं शत्रुं, अस्तं** नाशं, **अनयत्** प्रापयत्। तन्नाशेन किं फलं सिद्धमित्यत आह **कष्टमिति। समस्तमपि** समस्तजगतः सम्बन्धित्वात्, **समस्तं** सकलं, **कष्टं** दुःखं, **नष्टदशां** नाशावस्थां, **प्रयातं** प्राप्तं, ततोपि किमित्यत आह **प्रह्लाद इति**। तस्य हिरण्यकशिपोर्वधेन समस्तजगतो दुःखे नष्टे सति **प्रह्लाद एव** हिरण्यकशिपोः पुत्रः प्रह्लादनामैव **परमं** उत्कृष्टं, **महिमानं** सर्वसुरासुरपूज्यत्वमपि प्राप्तवानिति लौकिकार्थः।

परमार्थे तु ननु जीवब्रह्मैक्याखण्डरसरूपेण गुरुणा कथं मोहनिरासः कृतस्तेन च किं फलं प्राप्तं ततश्च कस्य वृद्धिर्जातेत्याशङ्क्य तत्सर्वं क्रमेण दर्शयति **अध्यात्मे**ति। **अध्यात्मदृष्टि** आत्मानं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मानमधिश्रित्येत्यध्यात्ममात्मविषयकं यद्दृष्टिर्ज्ञानं 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्ये'ति श्रुतेस्तदेव **हृदयं** हृत्सर्वद्वैतहरणशीलमद्वैतात्मरूपं तदयते प्रकाशयतीति हृदयं जीवब्रह्मैक्यविषयकं ज्ञानं तदज्ञाननिवर्तकाहंब्रह्मेति प्रमारूपमस्तीति ज्ञेयं, किञ्च **तेजोमय**स्तेजः सर्वजगत्प्रकाशकत्वेन स्वयंप्रकाशमानत्वाच्चैतन्यं तद्रूपो **नृहरि**र्व्यवहारदृष्ट्या ना जीवः परमार्थदृशा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतेर्हरिः सर्वद्वैतहरणशीलोऽद्वैतब्रह्मस्वरूपः श्रीगुरुरित्यर्थः, **हृदयाग्रसंस्थ**मध्यात्मज्ञानरूपहृदय-

विजय को प्राप्त करने से तुम्हारे नखों का प्रभाव अति ही आश्चर्यरूप है।

प्रकृत परमार्थ यह है किहे नृहरे! हिरण्यकशिपु नामक मोह का (सत् असत् किंवा द्वैत अद्वैत का अन्योन्याध्यासरूपी) वक्षःस्थल वज्र से भी कठोर हो गया है। हितोपदेश देने वाले सम्पूर्ण शास्त्र इसी अन्योन्याध्यासरूपी वक्षःस्थल पर टकरा-टकरा कर कुण्ठित हो चुके हैं। उनके उपदेश का लोगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़तावे भी इस अध्यास का निवारण नहीं कर सके हैं। हे नृहरे! हे अद्वैतरूप गुरुदेव, उतना कठोर भी वह मोहरूपी वक्षःस्थल तुम्हारे अद्वैतात्मबोधक नखरूपी वाक्यों के प्रहार से समूल नष्ट हो चुका है। 'सत् अद्वैत तथा अनृत द्वैत के अन्योन्यारोपरूपी वक्षःस्थल को विदीर्ण कर डालना' यह तुम्हारे नखरूपी केवल सन्मात्रबोधक वाक्यों में एक अति ही अद्भुत प्रभाव भरा हुआ है।।३।।

नान्तस्तु नापि च बहिर्न दिवा न रात्रौ
नार्द्रेण शुष्कवपुषा च न मार्यते यः।
नायं नरेण न मृगेण निपातनीय-
स्तादृग्रिपुं नरहरिर्हतवान्विचित्रम्।।५।। (१११६)

स्याग्रे सम्यक् स्थितं कृत्वा प्रकाशे तम इव तं मोहनामान**मरिं** शत्रुं स्वस्यासङ्गत्वादिगुणावरकत्वाद्वैरित्वं मोहस्येति ज्ञेयम् **अस्तं** कालत्रयेप्यसत्त्वरूपं नाश**मनयत्**प्रापितवान्। ननु मोहनाशेन किं फलं सिद्धमित्याशङ्क्यानिष्टनाशेष्टप्राप्तिरूपं यत्सिद्धं तद्दर्शयति **कष्टमि**ति। **समस्तमपि** सर्वमपि **कष्टं** दुःखं **नष्टदशां** नाशरूपा या दशाऽवस्था तां **प्रयातं** प्राप्तमिदमनिष्टनिवृत्तिरूपं प्रयोजनं सिद्धमिति दर्शितं, किञ्च **प्रह्लाद एव** प्रकृष्टो ह्लाद आनन्दो विद्यानन्द एव केवलं **महिमानं परममु**त्कृष्टं महिमानमपरिच्छिन्नब्रह्मानन्दत्वमपि **प्राप** मोहविनाशे सति तापत्रयनिवृत्तिर्विद्यानन्दस्यापि विद्योपाधिनिवृत्तौ ब्रह्मानन्दत्वप्राप्तिश्चेति द्विविधमपि फलं सम्पन्नमिति भावः।।४।। (१११५)

ननु हिरण्यकशिपुनाऽन्तर्बहिर्देशे दिवारात्रौ च काले सजलनिर्जलवस्तुभिश्च करणैर्नरैः पशुभिश्च कर्तृभिर्मृत्युर्मे माभूदिति ब्रह्मणो वरः प्राप्त इति श्रूयते, तत्कथं तस्य मृत्युर्नृहरेः सम्भाव्यस्तत्राह **नान्त इति**। यो हिरण्यकशिपुर्ब्रह्मणो वरलाभा**दन्त**र्गृहाद्यन्तर्देशे **न मार्यते** न विनाश्यते, **तु** पदेन अन्यशत्रुवधादस्य वधो दुर्घट इति सूचितम्, **अपि च** पुनश्च **बहि**र्बाह्यदेशे, न मार्यते न विनाश्यते, किञ्च **दिवा** दिवसे, न मार्यते न विनाश्यते, **रात्रौ** निशि च, न मार्यते न विनाश्यते, किञ्च **आर्द्रेण**

नरहरि का हृदय-अध्यात्मदृष्टि है (आत्मा में अध्यस्त समस्त अहङ्कारादि को उससे जाना जा सकता है।) तेजोमय नृसिंह ने अपने हृदयाग्र में स्थित हुए (हिरण्यकशिपु नामके) शत्रुको अस्त कर दिया। उसके नष्ट होते ही वैसे तो सम्पूर्ण संसार का ही कष्ट नष्ट हुआ परन्तु उसके नष्ट होने से परम महिमा तो केवल प्रह्लाद को ही प्राप्त हुई (जिससे कि वह सुरासुरों का पूज्य हो गया)।

परमार्थ यह है किस्वयंप्रकाश चैतन्यरूप मनुष्यशरीरधारी ब्रह्म (अर्थात् मेरे गुरुदेव) ने आत्मज्ञानरूपी हृदय में ठहरे हुए मोहनामक शत्रु को (जिसने कि अभी तक मेरे असङ्गत्व आदि गुणों का आच्छादन कर रक्खा था) सर्वथा नष्ट कर ड़ाला। उससे यह फल हुआ कि तभी से सकल संसार के ही सकल क्लेश नाश को प्राप्त हो गये। परन्तु सबसे बड़ा लाभ तो प्रह्लाद नाम के विद्यानन्द को ही प्राप्त हुआ (कि वह अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूपतारूपी महिमा को प्राप्त हो गया)। मोह के नष्ट हो जाने पर प्रथम तो तीनों प्रकार के ताप नष्ट हुए, उसके पश्चात् तो जब कि विद्यानन्द की भी विद्यारूपी उपाधि हटी तो ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो गयी। इस प्रकार अनिष्टनिवृत्ति तथा इष्ट प्राप्तिरूपी दोनों प्रकार के ही प्रयोजन सिद्ध हो गये।।४।।

सरसेन, आयुधादिना न मार्यते न विनाश्यते **शुष्कवपुषा च** शुष्कं रूक्षं वपुराकारो यस्य तथाविधेनाप्यायुधेन न मार्यते न विनाश्यते, किञ्च **अयं** हिरण्यकशिपुः, **नरेण** मनुष्यादिब्रह्मान्तोपलक्षितशरीरवता कर्त्रा, **न निपातनीयो** न मारणीयः, किञ्च मृगेण मृगोपलक्षितपशुशरीरवता वराहेण वा न निपातनीयो न विनाश्योऽस्ति अतो **नरहरिः** नरो मनुष्यः स चासौ हरिश्च सिंह उभयविधशरीरोपलक्षितो भूत्वेत्यर्थः, **तादृग्रिपुं** तादृगुक्तलक्षणवान्योरिपुः शत्रुस्तं, **हतवान्** विनाशितवानिति, नरहरेः कर्म **विचित्रम्** अद्भुतमस्तीति लौकिकार्थः।

परमार्थस्तु ननु नरहरिरूपेण लोकदृष्ट्या मनुष्यरूपेण पारमार्थिकदृष्ट्या ब्रह्मरूपेणेत्युभयविधरूपेण गुरुणा कुतो मोहो निपातितः कुतश्च केवलब्रह्मरूपेण केवलजीवरूपेण वा न निरस्त इत्याशङ्क्य तादृशरूपेणैव स विनाशयितुं शक्यः केवलजीवस्य तदधीनत्वात्केवलब्रह्मणश्च तद्विरोधाभावात्, किञ्च केवलस्यात्मतत्त्वस्य निर्विकारत्वेन कर्त्तृत्वाद्यभावाच्चेति परिहरति **नान्त**रिति। **यो** मोहः सो**ऽन्तर**न्तर्देशे धारणाध्यानसमाध्युपायैर्न **मार्यते** न विनाश्यते धारणादीनां मोहकार्यत्वात्। मोहनाशस्यान्योपायैर्दुर्घटत्वं सूचितं **तु**पदेन, **अपि च** पुनरपि यो मोहो **बहि**र्बहिर्देशे स्वस्ववर्णाश्रमकर्माचरणैः स न विनाश्यते 'न कर्मणे'त्यादिश्रुतेस्तेषामपि तत्कार्यत्वादिति भावः। किञ्च **दिवा** केवललोकव्यवहारलक्षणेन दिवसेन न मार्यते न विनाश्यते स मोहो **रात्रौ** केवललोकव्यवहारोपसंहृतिलक्षणायां समाधिरूपायां रात्रौ स न मार्यते न विनाश्यते।

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

इति स्मृत्युक्तौ दिवारात्रिशब्दाभ्यां व्यवहारसमाधी ग्राह्यौ तयोरपि मोहनाशहेतुत्वं नास्तीति भावः, किञ्चा**र्द्रेण** केवलप्रेमलक्षणोपासनेन न मार्यते न विनाश्यते, शुष्कवपुषा च शुष्कं प्रेमरसहीनं वपुः स्वरूपं यस्य तेन केवलशुष्कज्ञानेनेत्यर्थः, न मार्यते न विनाश्यते। केवलप्रेम्णा मोहं निवर्तयितुं न शक्यते तस्य च तत्कार्यत्त्वाविशेषान्मोहनिवर्त्तकज्ञानाभावाच्च। प्रेमहीनशुष्कज्ञानस्य तु विषयभोगेषु प्रेमवत्त्वेन दार्ढ्याभावान्न तादृशज्ञानस्यापि मोहनिवर्त्तकत्वं, अत उभयसंयोगेनैव मोहनिवृत्तिः स्यान्नैकैकेनेति भावः। किञ्चा**यं** मोहाख्यः शत्रुर्न**रेण** न राति आदत्ते विषयानिति नरः केवलवैराग्यवान् तेन जीवेन **न निपातनीयो** न विनाशनीयः प्रारब्धभोगशेषे सति केवलवैराग्ये विक्षेपस्यावश्यम्भावित्वान्न केवलवैराग्ये मोहनिवर्त्तकता सम्भवतीति भावः। किञ्च **मृगेण** मृगयति विषयानिति मृगो विषयासक्तस्तेन जीवेनापि अयं मोहरूपः शत्रुर्न निपातनीयो न विनाशयितुं शक्यः केवलविषयासक्तस्य विक्षेपादिबहुदोषवत्त्वात् तस्य च तत्कार्यत्वाच्च तादृशजीवस्यापि न मोहविनाशे सामर्थ्यमिति भावः। अतो **नरहरि**र्लोकदृष्ट्या व्यवहारवत्त्वेन नरो जीवः परमार्थदृशा तु 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतेः सर्वद्वैतहरणशीलत्वाद्धरिश्च ब्रह्मेत्येवमुभयरूपो भूत्वा इति अध्याहार्यं, नरहरिर्जीवब्रह्मोभयरूपो भूत्वा उभयरूपे च ध्यानादीनां कर्मादीनां सत्त्वाद् व्यवहारसमाध्योर्भक्तिज्ञानयोश्च जीवब्रह्माभावयोश्चापि विद्यमानत्वात्सः **तादृग्रिपुं** तादृशदुर्घटमरणवन्तमपि शत्रुं मोहं हतवान्विनाशितवान्नित्येवंप्रकारं नरहरेः कर्म **विचित्र**मत्यद्भुतमस्ति।।५।। (१११६)

(ब्रह्मा के वरदान के प्रभाव से) जो हिरण्यकशिपु घर के अन्दर या बाहर रात

अथवा दिन में गीले अथवा सूखे आयुध की सहायता से नहीं मारा जाता था, जो न मनुष्य से ही मार खाता था और न वराह आदि मृग से ही मरता था। (वरदान के बल के कारण उत्पन्न हुई इसी असमंजसता के कारण नृसिंह का अकल्पित रूप धारण करके) नरहरि ने ऐसे अवध्य रिपु को भी मार डाला, यह अद्भुत पराक्रम नरहरि का ही है।

जो मोह अन्दर ध्यान धारणा तथा समाधि नामक उपायों से भी नष्ट नहीं होता (क्योंकि ये ध्यान धारणादि भी तो मोह से ही उत्पन्न होते हैं)। जिस मोह का नाश बाहर के वर्णाश्रम धर्मों के अनुष्ठान से नहीं हो सकता (क्योंकि ये वर्णाश्रमादि भेद भी मोह के कारण ही उत्पन्न हो जाते हैं) लोकव्यवहार करते हुए दिन के समय में भी जिस मोह का नाश नहीं हो सकता, तथा मूढ समाधिरूपी रात्रि में भी (जब कि संसार के समस्त व्यवहार बन्द हो जाते हैं) जो नष्ट नहीं होता, प्रेमयुक्त उपासनारूपी आर्द्र उपायों से भी जो विलीन नहीं होता (क्योंकि वह प्रेम भी तो मोह से ही उत्पन्न होता है) तथा प्रेमहीन केवल शुष्कज्ञान से भी जिस मोह का मूलोच्छेद नहीं हो पाता (क्योंकि आत्मप्रेमहीन शुष्कज्ञानी को विषय-भोगों में प्रेम बना रहता है, इसीलिये उसका ज्ञान दृढ नहीं हो पाता)। इसी कारण से यह माना गया है कि प्रेम तथा ज्ञान दोनों का संयोग होने पर ही मोह की निवृत्ति हो सकती है। इस मोह नामक शत्रु को केवल वैराग्यशील नर भी नहीं मार सकते क्योंकि प्रारब्ध कर्मों के शेष रहने से केवल वैराग्यशील पुरुष को विक्षेप होते ही रहेंगे। अतः केवल वैराग्य से मोह की निवृत्ति असम्भव है तथा केवल विषयासक्त मनुष्यरूपी मृग से भी यह मोहरूपी शत्रु मार नहीं खाता। क्योंकि विषयासक्त मनुष्य को तो सदा ही विक्षेप बने रहते हैं। इसलिये साधारण जीव भी इस मोह को नष्ट नहीं कर सकते। परन्तु नरहरि ने (जो कि लौकिक दृष्टि से व्यवहारासक्त दीखने के कारण यद्यपि मनुष्य ही है परन्तु परमार्थ दृष्टि से सम्पूर्ण द्वैत को भस्म करने वाला ब्रह्म ही होता है) जीव तथा ब्रह्म का उभयरूप धारण करके (जिस उभयरूप को धारण करने के प्रभाव से व्यवहार तथा समाधि दोनों ही साथ-साथ चलते रहते हैं, जिसमें भक्ति तथा ज्ञान दोनों ही एकत्रित हो जाते हैं) कठिनता से मरने योग्य मोहनामक शत्रु को मार डाला। नरहरि ने यह एक बड़ा ही अद्भुत पराक्रम किया है।।५।।

वह नरहरि क्या स्थावर क्या जंगम सभी जगह स्थित है, फिर भी वह दैवयोग से पत्थर के खम्भे में ही प्रकट हुआ और वैसे प्रपंची हिरण्यकशिपु को उसने मारा, यह सब कौतुहल उसने अपने भक्त प्रह्लाद के कारण ही तो किया।

सर्वत्रैव सदा स्थितो नरहरिर्यत्स्थावरे जङ्गमे
दैवाद् व्यक्तिमुपागतः पुनरसौ पाषाणपिण्डेपि यत्।
नास्तित्वं गमितो हिरण्यकशिपुस्तादृक्प्रपञ्चाश्रयः
तत्सर्वं किल कौतुकं निजजनप्रह्लादहेतोः कृतम्।।६।। (१११७)

ननु नरहरेः सर्वत्र विद्यमानत्वे सति पाषाणस्तम्भादेव कुतो व्यक्तिः प्रदर्शितेत्यत आह **सर्वत्रैवेति**। **नरहरिः** नरसिंह ईश्वरत्वाद्, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः, पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं, स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमि'त्यादिश्रुतिभ्यः **सर्वत्र** सर्वेषु जगद्गतपदार्थेषु, **सर्वदा** सर्वकालं, **स्थितस्**तिष्ठत्येव, **यत्त**त्सत्यमिति शेषः, तर्हि पाषाणस्तम्भ एव कुत आविर्भूतस्तत्राह **दैवादिति**। **पुनः** एवं सत्यपि **तादृक्प्रपञ्चाश्रयस्ता**दृगिन्द्रराज्यलाभेपि सन्तोषमप्राप्तोऽत एव प्रपञ्चस्य संसारस्यैवाश्रयः संबन्धो विद्यतेऽस्य तथाविधः सन्नत एव **नास्तित्वं** प्रपञ्चाव्यतिरिक्त ईश्वरो नास्ति तद्व्यापको न विद्यते यस्य तस्य भावस्तत्त्वं, **गमितः** प्राप्तः, प्रपञ्चसुखलाभेन तद्व्यतिरिक्तं ब्रह्मसुखं नास्तीति निश्चयवानित्यर्थः, **यद्** यतः कारणादतो **दैवात्** सोपाधित्वेन स्वादृष्टकर्मतो हेतो**र्हिरण्यकशिपु**र्दैवाद्वा **पाषाणपिण्डेपि** पाषाणस्याश्मनः पिण्डो विग्रहः स्तम्भ इत्यर्थः, तस्मिन्नपि तस्मिन्नेव, **अपि**शब्दात्सचेतनेषु तु व्यक्तिः प्रसिद्धैवेति जडेपि तदाविर्भावेन **सर्वत्र** सर्वदाविर्भावः सूचितः, **व्यक्तिं** प्रकटतामुप समीपे एव हिरण्यकशिपोः **आगतः** प्राप्तः, **तत्सर्वं** समस्तं चरितं, **निजजनप्रह्लादहेतोः** निजः स्वीयो यो जनः पुरुषः स्वभक्तजन इत्यर्थः, एवंभूतो यः प्रह्लादः प्रह्लादनामा हिरण्यकशिपोरेव पुत्रः स एव **हेतुः** निमित्तं, तस्मात् **कृतं** आचरितमिति लौकिकार्थः।

परमार्थे तु ननु व्यवहारदृष्ट्या पुरुषस्य परमार्थदृष्ट्या ब्रह्मरूपस्य सर्वकारणत्वात् सर्वत्र व्याप्तौ सत्यां मोहांशरूपवृत्तिविशेषभूतायां ब्रह्माहमस्तीति वृत्तावेव कुतोभिव्यक्तिर्दृश्यते? इत्याशङ्क्य; आनन्दहेतुतयेति दर्शयन्नाह **सर्वत्रैवेति**। **नरहरिः** व्यवहारदृष्ट्या नरो जीवः परमार्थदृष्ट्या हरिः परमात्मा इति उभयरूप आत्मा, **सर्वत्र** सर्ववृत्तिषु सामान्यरूपेण, **सदा** सर्वकालं, **स्थित** एव तिष्ठत्येव, **यदेव**मुच्यते तत्सत्यं; तर्हि कुतो ब्रह्माहमस्मीति वृत्तौ एव अभिव्यक्तिर्भवतीत्युच्यते? तत्राह **दैवादिति**। **यद्** यस्मात्कारणाद् **हिरण्यकशिपुः** हिरण्यमिव प्रकाशबहुलमन्तःकरणं सत्त्वगुणकार्यभूतं कशिपुरिवात्मविस्मृतिरूपनिद्रासामग्रीव यस्य स तथोक्तो मोहः स **नास्तित्वं** स्वस्मात् जगतश्चान्यद् वस्तु न विद्यते यस्य मोहस्य तस्य भावस्तत्त्वं, **गमितः** प्राप्तः सन्, गमशब्दात् तारकादित्वाद् इतच्, तत्र हेतुः **तादृक्प्रपञ्चाश्रयः** तादृग् यथा प्रपञ्चातीतात् आत्मप्रतीतिर्न स्यात् तथा प्रपञ्चस्य संसारस्याश्रयं सेवनं यस्य स तथोक्तः, **पुनः** सामान्यरूपेण **सर्वत्र सदा** विद्यमानत्वेपि **असौ** व्यवहार-परमार्थदृशोः **नरहरिः** जीवब्रह्मोभयरूपो **दैवात्** श्रवणादिजनितादृष्टसंस्कारात् **पाषाणपिण्डेपि** पाषाणसदृशस्य अत्यन्तजडस्य मोहस्येत्यर्थः पिण्डः अवयवविशेषो ब्रह्माहमस्मीति साक्षात्काररूपवृत्तिविशेषः तस्मिन्नेव **व्यक्तिं** प्रत्यक्षतां **उपगतः** प्राप्तः, **तत् सर्वं** समस्तं चरितं, **कौतुकं** आश्चर्यरूपं, **निजजनप्रह्लादहेतोः कृतं** निजात्स्वस्माज्जनं जन्म यस्य स तथाविधो यः

जित्वेन्द्रियरिपुषट्कं हृदि गायति वारषट्कं चेत्।
एतन्नरहरिषट्कं विकारषट्कं निवारयति।।७।। (१११८)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे नरहरिषट्कमष्टाचत्वरिंशम्।।४७।।

प्रह्लादः प्रकृष्टो ह्लादः सुखं विद्यानन्द इति यावद्, यद्वा निजं स्वीयं जनं जन्म यस्मात्स ब्रह्मानन्दाविर्भावकारणभूतो विद्यानन्दः स एव हेतुः निमित्तं स्यात् **कृतं** आचरितं, **किल** इति निश्चयेन ज्ञातव्यम्। आनन्दव्यक्त्याधिक्यपूर्वकमात्माभिव्यज्यते प्रमारूपवृत्तौ, इतरासु तु सच्चिन्मात्ररूपेण इति अयमेव विशेष इति भावः।।६।। (१११७)

इदानीं साधनपूर्वमेतत्पाठे फलमाह **जित्वा इति।** हे शिष्य **इन्द्रियरिपुषट्कं** इन्द्रियाणां श्रोत्रादिकानां मनःसहितानां रिपूणां षण्णां समूह इन्द्रियरिपुषट्कं, **जित्वा** नियम्य, **एतद्** इदं, **नरहरिषट्कं** नरहरिः जीवब्रह्मोभयरूपश्चिदात्मा तस्य लीलाप्रतिपादकं षण्णां श्लोकानां समूहरूपं प्रकरणं, **वारषट्कं** षड्वारं, **हृदि** अन्तःकरणे, **गायति** पठति, **चेद्** यदि, हृदि इति पदेन विचारपूर्वकमिति ज्ञेयं, तर्हि **विकारषट्कं** विकाराणां कामादीनां शोकमोहादीनामपि साक्षित्वसहितानां

जीव तथा ब्रह्म के उभयरूप को धारण करने वाला आत्मा सामान्यरूप से सब वृत्तियों में सदा ही स्थित रहता है। परन्तु फिर भी ''ब्रह्माहमस्मिमैं ब्रह्म हूँ'' इसी वृत्ति में जो कि विशेषतया प्रकट होता है, उसका कारण तो यह है कि वह हिरण्यकशिपुरूपी मोह (जिससे कि आत्मविस्मृतिरूपी निद्रा आ जाती है) नास्तिक हो गया था जिससे कि वह 'मेरे और इस जगत् के सिवाय और कोई सत्ता है ही नहीं, ऐसा निश्चय कर बैठा था तथा प्रपंच में इस प्रकार लिप्त हो गया था कि किसी प्रकार भी इस आत्मत्व की प्रतीति न हो सकी थी। परन्तु जीव तथा ब्रह्म के उभयरूप को धारण करने वाला वह नृहरि, श्रवणमननादि से उत्पन्न हुए अदृष्ट संस्कारों के कारण, पाषाणपिण्ड के समान अत्यन्त जडरूप इस मोह से उत्पन्न हुई 'अहं ब्रह्मास्मि' इस साक्षात्काररूपी वृत्ति में ही व्यक्त हो उठा। उसने यह सब कौतुहल अपने से उत्पन्न हुए विद्यानन्द के लिए ही किया। अथवा यह जान लो कि ब्रह्मानन्द को व्यक्त करने वाले विद्यानन्द के लिये ही यह सब कुछ किया गया। गूढ तात्पर्य यह है कि प्रमारूप वृत्ति में जब आत्मा व्यक्त होने लगता है तो आनन्द की स्वभाव से ही अधिकता हो जाती है। दूसरी वृत्तियों में तो वह आत्मा अपने सच्चित्‌रूप से ही प्रकट होता है। उन साधारण वृत्तियों में आनन्द का आविर्भाव कभी नहीं होता। यही कारण है ब्रह्माकारवृत्ति में ही आत्मदेव व्यक्त हुआ करता है।।६।।

हे तात, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन इन छओं इन्द्रियों को नियम में रखकर, इस नरहरिषट्क नाम के प्रकरण को (जिसमें कि जीव तथा ब्रह्म उभयरूपधारी चिदात्मा

अथोन्मत्तप्रलापशतकम्

शुद्धबोधसुधास्वादी प्रलपामि प्रमत्तवत्।
तत्प्रलापनिगूढार्थं शोधयन्तु सतां धियः।।१।। (१११९)
कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मदमत्सरौ।
संसारतारका यद्वत्तथा तद्विवृतिं शृणु।।२।। (११२०)

कोशानां चापि 'जायते' इत्यादीनां यास्कपठितानां च विकाराणां च षट्कं षण्णां समूहं, **निवारयति** निवर्त्तयति।।७।। (१११८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ नरहरिषट्कार्थप्रकाशः अष्टाचत्वारिंशः।।

एवं नरहरिषट्कं निरूप्येदानीं विदुषां विनोदाय मूढानां विरुद्धार्थप्रतीतिजनकत्वाद् उन्मत्तप्रलापशतकाख्यं प्रकरणमभिदधानः शतश्लोकं गद्येन प्रतिजानिते **अथ इति। अथ** नरहरिषट्कनिरूपणानन्तरं, **उन्मत्तप्रलापशतकं** उन्मत्तस्य उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य यः प्रलापो लोकप्रतीत्या निरर्थकवाग्व्यापारःतस्य निरूपकं शतकं शतश्लोकसमूहरूपं प्रकरणं निरूप्यत इति शेषः। तत्रादौ उन्मत्तप्रलापत्वेन एतदुपेक्षा न कर्त्तव्या इत्याशयेन एतदर्थविचारणाय सज्जनबुद्धीः प्रार्थयति **शुद्ध इति।** हे शिष्य **शुद्धबोधसुधास्वादी** शुद्धो बोद्धृबोधबोध्यरूपत्रिपुटीरहितो यो बोधः चिन्मात्रस्वरूप आत्मा स एव सुधा अमृतं तत्सेवनेन मरणनिवृत्तेः सुखरूपत्वाच्च तस्या आस्वादो अनुभवः तद्वान्, अहं **प्रमत्तवत्** प्रमत्तो मद्यादिपानेन यथा प्रलपति तद्वत्, **प्रलपामि** लोकप्रतीत्या निरर्थकं वदामि, तथापि तत्र प्रलापत्वं न सम्भाव्यमित्याह **तदिति। सतां** सज्जनानां मुमुक्षूणामित्यर्थः, **धियो** मतयः, **तत्प्रलापनिगूढार्थं** तस्य आत्मसुखानुभविनो मम यः प्रलापो अर्थहीनत्वेन प्रतीयमानं भाषणं तस्मिन्निगूढो गुप्तः स्थूलधियामनवगम्यो अर्थः तात्पर्यं तं, **शोधयन्तु** विचारयन्तु इति प्रार्थना। अस्मिन्प्रकरणे श्रद्धादिगुणसम्पन्ना मुमुक्षव एवाधिकारिण इति भावः।।१।। (१११९)

की लीला का वर्णन है) कोई अधिकारी विचारपूर्वक छह बार भी यदि अपने (एकान्त) हृदय में पढ़ ले तो (भूख प्यास शोक मोह तथा जरामृत्यु नामक) छओं विकारों अथवा (जायते अस्ति आदि छओं) परिणामों को सर्वथा निवृत्त कर देगा।।७।।

हे शिष्य, शुद्ध (चिन्मात्ररूप) आत्मबोधरूपी सुधा (अमृत) का परमास्वाद लेने वाला मैं (साधारण दृष्टि में तो) पागलों की तरह बकना प्रारम्भ करता हूँ। परन्तु इस प्रलाप में जो गम्भीर विचार छिपे हैं, मुमुक्षु लोगों की बुद्धियाँ उन गम्भीर विचारों को खोज निकालें। (श्रद्धा आदि से युक्त मुमुक्षु लोग ही इस प्रकरण को सुनने के अधिकारी हैं दूसरों के लिये इसमें कुछ भी नहीं है)।।१।।

काम, क्रोध (काम के रुकने पर उसी का रूपान्तर) लोभ (प्राप्त विषयों से तृप्ति न होना) मोह (पूर्वापरविस्मरण) मद तथा मत्सर ये छओं दोष (यद्यपि मोक्षशास्त्रों के

विश्रान्तिसुन्दरीसङ्गरतिलावण्यलम्पटाः।
एकान्तलीलाचतुराः कामिनो मुक्तिगामिनः।।३।। (११२१)

एवं प्रार्थयित्वा तमेव प्रतिज्ञातं प्रलापं निरूपयितुं शास्त्रेषु कामादिविकाराणां मोक्षादीष्टपरिपन्थित्वेनाभिहितत्वात्तद्विरुद्धन्तेषामेव मोक्षोपायत्वं प्रदर्शयन् प्रतिजानीते **काम इति। कामः** अभिलाषः, **क्रोधः** तत्प्रतिबन्धे सति तस्यैव परिणामः कोपो, **लोभश्च** प्राप्तेपि विषये तृप्त्यभावरूपो विकारो, **मोहश्च** पूर्वापराननुसन्धानरूपो विकारो, **मदमत्सरौ** मदश्च स्वोत्कृष्टत्वबुद्धिरूपो विकारो मत्सरश्च स्वान्येषु उत्कर्षासहनरूपो विकार एते सर्वे मोक्षपरिपन्थित्वेन शास्त्रे प्रतिपादिता अपि ते **यद्वद्** यथा, **संसारतारकाः** संसाराद् भवात् तारयन्ति उद्धरन्ति, **तथा** तद्वत्, **तद्विवृतिं** तेषां विवृतिं व्याख्यां कामादिपदार्थानां विवरणमित्यर्थः, **शृणु** अवधारय।।२।। (११२०)

तत्र तावदादौ कामस्य मोक्षोपायत्वं वदन् प्रलपति **विश्रान्ती इति।** हे शिष्य **विश्रान्तिसुन्दरीसङ्गरतिलावण्यलंपटा** विश्रम्यतेऽनया सा विश्रान्तिः विश्रामहेतुभूता या सुन्दरी रमणीया स्त्रीत्यर्थः, तस्याः सङ्गः संयोगो रतिश्च तस्यां रमणं लावण्यं च सौन्दर्यं च तस्या एव तेषु लम्पटा लुब्धा, अत एव **एकान्तलीलाचतुरा** एकान्ते निर्जने स्थाने या लीला मैथुनक्रीडा तस्यां चतुराः कुशला एवंविधा ये **कामिनः** कामोऽभिलाषो येषामस्ति ते तथोक्ताः ते, **मुक्तिगामिनो** मुक्तिं मोक्षं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ते तथोक्ताः सन्तीति लौकिकार्थः। परमार्थे तु विश्रम्यते समस्तविक्षेपराहित्येन परमानन्दः प्राप्यतेऽनया सा **विश्रान्तिः** अहं ब्रह्मास्मीति जीवब्रह्मैक्यविषयसाक्षात्काररूपा प्रमारूपा वृत्तिः सैव **सुन्दरी** सुखरूपत्वाद्रमणीया तस्याः **सङ्गः** संयोगो **रति**श्च तस्यां रमणं **लावण्यं** सौन्दर्यं च तस्याः तापत्रयनिवृत्त्या सुखस्पर्शरूपत्वमित्यर्थः, तेषु **लम्पटा** आसक्ता अत एव **एकान्तलीलाचतुरा** एकान्ते विजने देशे या लीलाः तस्यां द्वैतनिषेधकैकत्वस्य लयावधिभूतब्रह्मणि या सहजसमाधिरूपा क्रीडा तस्यां कुशला इति भावः, एतदृशाः **कामिनः** कामो ब्रह्मसुखानुभव एवाभिलाषो विद्यते येषां ते तथाभूता **मुक्तिगामिनो** मुक्तिं मोक्षं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ते तथाविधा भवन्ति। एवमुत्तरत्र लौकिकार्थो यथायथमूह्यः परमार्थस्तु व्याख्यास्यते एव।।३।। (११२१)

कथनानुसार मोक्ष के विरोधी हैं परन्तु ये भी) जिस रीति से मुमुक्षु को संसार से पार कर देते हैं, उसका विवरण हम (ज्ञानोन्मत्तों) से सुन लीजिये।।२।।

विश्रान्ति नाम की सुन्दरी के संग के, उसकी रति तथा उसी के लावण्य के लम्पट कामी लोग जब उसके साथ एकान्तलीला करने में प्रवीण हो जाते हैं तो वे मुक्तिनगरी में पहुँच जाते हैं, यह आश्चर्य देखो।

अनादिकाल से संसारारण्य में भटकते हुए इस जीव को जिस ब्रह्माकारवृत्तिरूपी स्त्री के मिल जाने (किंवा ब्रह्माकारवृत्ति के उदय हो जाने) पर समस्त विक्षेपों से रहित परमानन्दरूपी विश्राम प्राप्त हो जाता है, तीनों तापों को निवृत्त करने वाली, सुखदस्पर्शरूपिणी, उसी विश्रान्तिरूपी सुन्दरी के साथ संग करने, उसी के साथ रमण

यद्बलान्मोहदैत्यस्य योगी नरहरिः स्वयम्।
वक्षो विदारयाञ्चक्रे स क्रोधो मुक्तिसाधनम्।।४।। (११२२)
भ्रुकुटीकुटिलं यस्य मुखमीक्षितुमक्षमाः।
कामलोभादयो भावाः स द्वेषी केशवप्रियः।।५।। (११२३)

इदानीं क्रोधे तद्दर्शयन्प्रलपति **यद्बलाद् इति**। हे शिष्य **यद्बलाद्** यस्य क्रोधस्य बलाद् आश्रयाद्, **योगी** योगो जीवब्रह्मैक्यविषयं ज्ञानं विद्यते अस्य स तथोक्तः स्वयमात्मा, **नरहरिः** नरो व्यवहारदृष्ट्या वैराग्यादिसाधनसम्पन्नो जीवः परमार्थदृशा हरिः सर्वद्वैतहरणशीलं ब्रह्मेत्येवमुभयरूपो, भूत्वा **मोहदैत्यस्य मोहो** मूलाऽज्ञानं स एव **दैत्योऽ**सुरस्तस्य, **वक्षः** तज्जीवनकारणं जीवब्रह्मणोरन्योन्यारोपरूपं ग्रन्थ्यपरपर्यायं, **विदारयाञ्चक्रे** चिच्छेद, स उक्तलक्षणः **क्रोधः** कोपो, **मुक्तिसाधनं** मुक्तेः मोक्षस्य साधनं कारणमस्तीति निश्चेतव्यम्।।४।। (११२२)

इदानीं क्रोधविशेषस्यैव द्वेषस्य मोक्षोपायत्वं वदन्प्रलपति **भ्रुकुटीकुटिलं इति। कामलोभादयः** कामः अप्राप्तवस्तुन्यभिलाषो लोभश्च प्राप्तेप्यसन्तोष एतावादी प्रथमौ येषां ते तथोक्ता भावा विकारा **भ्रुकुटीकुटिलं** बिभृतो जगतो भ्रुवौ सङ्कल्पविकल्पौ कुटति विनाशयतीति भ्रुकुटी अहं ब्रह्मास्मीति प्रमारूपा वृत्तिः तया कुटिलं वक्रं **यस्य** ज्ञानिनो, **मुखं** चेतः स्वात्मसुखानुभवसाधनभूतां चित्तवृत्तिमित्यर्थः, 'चेतोमुख' इति। श्रुतेः **ईक्षितुं** अवलोकयितुं, **न क्षमाः** समर्था न करने तथा उसी के लावण्य पर मोहित होने वाले कोई जीव जब एकान्त (विजनदेश किंवा ब्रह्म) में ही समाधिरूपी लीला करने में परम चतुर हो जाते हैं, तो ऐसे कामी लोग भी मुक्ति के परमपद को प्राप्त कर लेते हैं।।३।।

योगीरूपी नरहरि ने स्वयं जिस (क्रोध) के बल से मोहरूपी दैत्य का वक्षःस्थल विदीर्ण कर डाला था ऐसा क्रोध भी मुक्ति का साधन हो जाता है।

योगी को नरहरि कहने का तात्पर्य यह है कि वह व्यवहार-दृष्टि से तो वैराग्यादियुक्त नर ही दीखता है परन्तु परमार्थ में वह सब प्रकार के द्वैत को हरण करने वाला हरिरूप ब्रह्म ही हो जाता है। सात्त्विक क्रोध में आकर योगी लोग नरहरि बनकर मूलाज्ञानरूपी मोह के चिज्जडग्रन्थिनामक वक्षःस्थल को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। ऐसे क्रोध से भी तो मुक्ति का परमपद हाथ लग ही जाता है।।४।।

काम तथा लोभ आदि भाव जिस ज्ञानी के, भ्रुकुटी के कारण कुटिल से प्रतीत होने वाले चित्तरूपी मुखको देख भी नहीं सकते, ऐसे 'द्वेषी' ज्ञानी को भी परमात्मा प्यार करता है।

वह ज्ञानी जब काम क्रोधादि की ओर को कुटिल दृष्टि से देखता है तो उसका सात्त्विक रोष कामादियों से सहा नहीं जाता। वे उतने से ही मर जाते हैं।।५।।

शाश्वते सुप्रसन्नानां नश्वरे भ्रुकुटीभृताम्।
रागद्वेषवतां तात मुक्तिः करतले स्थिता।।६।। (११२४)
मनःकाचमणिं दत्त्वा ज्ञानचिन्तामणिं मुनिः।
क्रीणाति येन लोभेन स लोभो मुक्तिसाधनम्।।७।। (११२५)

भवन्ति, किं पुनः वक्तव्यं तत्र स्थातुं न समर्था इति। लोकेपि द्वेषवतो मुखं **भ्रुकुटीकुटिलमिति** प्रसिद्धिः, अतः **स** उक्तलक्षणो, **द्वेषी** द्वेषोऽप्रीतिर्विद्यतेऽस्य स तथोक्तः पुरुषः कामादिषु वृत्तिषु द्वेषवानित्यर्थः, **केशवप्रियः** कं ब्रह्मसुखं तस्मिन्नेव प्रपञ्चविस्मरणेन शेते निद्राति स केशवः परमात्मा तस्य प्रिय इष्ट आत्मरूपत्वात्, 'प्रेयोन्यस्माच्च सर्वस्मादान्तरतरोऽयमात्मे'ति श्रुतेः।।५।। (११२३)

इदानीं रागद्वेषयोरपि तद्दर्शयन्प्रलपति **शाश्वत इति। शाश्वते** नित्यस्वरूपे ब्रह्मणि, **सुप्रसन्नानां** सुष्ठु प्रसन्नाः सुप्रसन्ना रागिण इत्यर्थः तेषां, किञ्च **नश्वरे** विनाशिनि द्वैते, **भ्रुकुटीभृतां** भ्रुकुटी वक्रभ्रुवं बिभ्रति ते भ्रुकुटीभृतः तेषां वक्रभ्रुवामिति यावद् एतादृशां **रागद्वेषवतां** रागद्वेषौ प्रीत्यप्रीती विद्येते एषां तेषां, यद्यपि मुक्तिः नास्तीति प्रतिपादितं अन्यत्र तथापि अस्मन्मते तेषां **मुक्तिः** मोक्षः, **करतले** हस्ततले, **स्थिता** तिष्ठति, तदधीना वर्त्तते **हे तात** हे शिष्य, यस्मै कस्मै सा समर्प्यते तैः तस्य सा प्राप्ता भवेत् तेषां तु तदपेक्षैव नास्तीति भावः।।६।। (११२४)

इदानीं लोभस्यापि मोक्षसाधनत्वं वदन्प्रलपति **मन इति। मुनिः** ज्ञानी, **येन** ज्ञानविषयिणा, **लोभेन** असन्तोषेण, **मनःकाचमणिं** मन एव काचमणिरिव तुच्छस्तं, **दत्त्वा** समर्प्य, **ज्ञानचिन्तामणिं** ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यविषयो बोधः स एव चिन्तामणिरिव बहुमूल्यस्तं, **क्रीणाति** अङ्गीकरोति, **स लोभो** विद्वत्सु प्रसिद्धो लोभ इच्छा, **मुक्तिसाधनं** मुक्तेः मोक्षस्य साधनं उपायभूत एवास्ति, अतो लोकशास्त्रेषु वेदान्ते च लोभस्य मुक्तिसाधनभूतज्ञानप्रतिकूलत्वं यदुक्तं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।७।। (११२५)

शाश्वत ब्रह्म में ही जो लोग सुप्रसन्न रहते हैंकेवल उसी में परम राग रखते हैंतथा इस नश्वर संसारजाल की ओर को जो सदा ही क्रोधभरी भौएँ चढ़ाकर द्वेषपूर्वक देखते रहते हैं ऐसे रागी और ऐसे द्वेषियों की हथेली पर भी मुक्ति बैठी रहती हैं। (वे लोग और भी जिस किसी को मुक्ति देना चाहें उसे भी दे सकते है)।।६।।

जिस लोभ के वश में आकर यह मुनि, मनरूपी अपनी काँचमणि को देकर उसके बदले में ज्ञानरूपी अमूल्य चिन्तामणि बदल लेता है ऐसा लोभ भी तो मुक्ति का साधन हो जाता है।

अब भी यदि कोई साधक ज्ञान के लोभ में मन को खो दे तो उसे मुक्ति का साधन ज्ञान प्राप्त होकर ही रहे।।७।।

येन वर्णाश्रमाचारदेहभोगधनादिकम्।
विस्मरन्ति चितः प्रेम्णा स मोहः परमं पदम्।।८।। (११२६)
मत्तो नान्यत्परं किंचिदहमेव महेश्वरः।
अहमेवोत्तमश्चेति मदो मुक्तिप्रदो मतः।।९।। (११२७)
दृश्योत्कर्षं न सहते ज्ञानोत्कर्षबलात्तु यः।
स तु सम्वत्सरशतं ज्येष्ठो निर्मत्सरान्मुनेः।।१०।। (११२८)

इदानीं मोहस्यापि मोक्षसाधनतां वर्णयन्प्रलपति **येन इति।** हे शिष्य **येन** मोहेन अद्वैतात्मस्फुरणपूर्वकद्वैतास्फुरणरूपेणेत्यर्थः, **वर्णाश्रमाचारदेहभोगधनादिकं** वर्णा ब्राह्मणादय आश्रमाश्च ब्रह्मचर्यादय आचारश्च स्वस्ववर्णाश्रमविहितकर्मानुष्ठानं देहश्च मनुष्यादिशरीरं भोगश्च तत्तद्देहयोग्यः सुखदुःखादिसाधनभूतो विषयो धनं सुवर्णादिकं द्रव्यं आदिपदेन हस्त्यश्वराज्यादिकमत्र ग्राह्यं, तत् सर्वं **चितः** चिन्मात्रात्मवस्तुनः, **प्रेम्णा** स्नेहेन, **विस्मरन्ति** न जानन्ति, **स मोह** उक्तलक्षणो मोहः, अज्ञानं **परमं** कार्यकारणातीतं, **पदं** आत्मस्वरूपमस्तीति ज्ञेयम्।।८।।(११२६)

इदानीं मदस्यापि तद्दर्शयन्प्रलपति **मत्त इति। मत्तः** अहंपदलक्ष्यात् कूटस्थात् **परं अन्यद्** भिन्नं श्रेष्ठं, **किंचित्** किमपि, **नास्ति** न विद्यते, ननु ईश्वरः श्रेष्ठोस्तीति चेत्? तत्राह **अहमेवेति। अहमेव** अहंपदलक्ष्यः कूटस्थचिन्मात्रात्मैव, **महेश्वरः** सर्वजगत्साक्षी परमात्मा, **अस्मि** भवामि, अतः अहमेव **उत्तमश्च** अहंपदलक्ष्यः कूटस्थचिदात्मा एव उत्तमः श्रेष्ठोऽस्मि भवामि इति, एवं यो **मदः** स्वोत्कृष्टत्वबुद्धिरूपो निश्चयो, **मुक्तिप्रदो** मोक्षसाधनभूतो, **मतो** निश्चितो मुनिभिरिति शेषः।।९।। (११२७)

इदानीं मत्सरहीनादपि मत्सरिणः श्रैष्ठ्यं दर्शयन्प्रलपति **दृश्योत्कर्षम् इति। य** आत्मनिष्ठ आत्मसाक्षात्कारवानित्यर्थः, **ज्ञानोत्कर्षबलात्** ज्ञानस्य जीवब्रह्मैक्यविषयकबोधस्य अहं ब्रह्मास्मीति-साक्षात्काररूपस्य बलात् सामर्थ्यात् आश्रयादित्यर्थः, **दृश्योत्कर्षं** दृश्यस्य द्वैतस्य उत्कर्षं आधिक्यं, **न सहते** न क्षमते, **स तु** उक्तलक्षणो मत्सरवान्, **निर्मत्सरान्मुनेः** निर्गतो निवृत्तो मत्सरः

जिस चैतन्य के प्रेम में मतवाले होकर ज्ञानी लोग वर्णो, आश्रमों, इनके आचारों, देहों, भोगों, धनों तथा हाथी, घोड़े राज्य आदि तक को भूल जाते हैं, ऐसा वह अद्भुत मोह (अज्ञान, विस्मरण) ही परमपद (आत्मस्वरूप में सच्ची स्थिति) कहाता है।

जब किसी को चैतन्य का प्रेम उदय हो जाता है तो उसका स्वाभाविक परिणाम यही होता है कि वह वर्णाश्रमादि की खट-पट को एकपदे भूल जाता है। इस भूल को ही परमपद या शुद्ध आत्मस्थिति जान लो।।८।।

मेरे सिवाय और कोई भी श्रेष्ठ पद नहीं है। सकल जगत् का साक्षी वह महेश्वर तत्त्व भी तो मैं ही हूँ। सारांश में मैं ही सर्वोत्तम हूँ। ऐसे अलौकिक मद को भी तो (मुनि लोग) मुक्तिदायक मानते हैं।।९।।

क्षणं न क्षमते यस्तु बाह्यस्फुरणमक्षमी।
तद्वामचरणाङ्गुष्ठे निबद्धाः क्षमिणां गुणाः।।११।। (११२९)
कामादयो महाधूर्त्ता धूर्तितं यैर्जगत्त्रयम्।
तान्धूर्त्तयति यो युक्त्या स धूर्त्तो धूर्जटिप्रियः।।१२।। (११३०)

सुखदुःखादि द्वन्द्वासहनरूपो यस्मात्स मत्सरहीनः पुरुषः तस्मात् **संवत्सरशतं** संवत्सराणां शतं यथा भवति तथा, **ज्येष्ठो** वृद्धोऽस्ति।।१०।। (११२८)

इदानीं क्षमावतः सकाशादपि तद्रहितस्य श्रैष्ठ्यं दर्शयन्प्रलपति **क्षणम् इति। यस्तु** योपि ज्ञानी, **बाह्यस्फुरणं** बाह्यानां दृश्यानां स्फुरणं भानं घटादिपदार्थस्फुरणमित्यर्थः, **क्षणं** क्षणकालं, **न क्षमते** न सहते, **स** उक्तविधः, **अक्षमी** क्षमाहीनो ज्ञेयः, **तद्वामचरणाङ्गुष्ठे** तस्य उक्तविधस्याक्षमावतो वामः सव्यो यश्चरणः पादः तस्याङ्गुष्ठे, **निबद्धाः** स्थिताः, **क्षमिणां** दृश्यसत्त्वबुद्ध्या सुखदुःखक्षमावतां, **गुणा** ये शास्त्रेषूक्तास्ते ज्ञेयाः। अयमाशयःबाह्यदृश्याऽक्षमावतो ज्ञानिनो 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवती' तिश्रुतेः ब्रह्मरूपत्वं तस्य आरोपाधिष्ठानरूपोऽपवादाधिष्ठानश्च द्वौ पादौ कल्पितांशौ अत्र ग्राह्यौ, तत्र च वामचरणपदेनारोपाधिष्ठानत्वरूपोंऽशोऽत्र ग्राह्यः, तत्राप्यङ्गुष्ठसदृशो योगोऽत्र ग्राह्यः तस्मिन्नेव क्षमित्वं तद् गुणाश्चानुकूला अतस्तत्र निबद्धत्वं तेषामिति।।११।। (११२९)

इदानीं वञ्चकेपि शिवप्रियत्वं दर्शयन्प्रलपति **कामादय इति। कामादयः** कामोऽभिलाष आदिर्मुख्यो येषां क्रोधादीनान्ते तथोक्तस्ते, **महाधूर्ता** महान्तः श्रेष्ठाः धूर्त्ता वञ्चकाः सन्ति। कुत

जो आत्मदर्शी ज्ञानी ज्ञान की महिमाका आश्रय लेकर इस दृश्य जगत् के उत्कर्ष (अधिकता) को कभी सहता ही नहीं, ऐसे उस असहनशील ज्ञानी को निर्मत्सर (सहनशील) मुनियों से सैकड़ों वर्ष बड़ा समझलो।।१०।।

जो अक्षमाशील ज्ञानी बाह्य (घटादि दृश्य) पदार्थों के स्फुरण को क्षण भर के लिये भी सहन नहीं कर सकता (बाह्य स्फूर्ति की जगह जिसको सदा ही आत्मस्फूर्ति बनी रहती है) उसकी महिमा को कहाँ तक कहें, लौकिक क्षमी लोगों के सम्पूर्ण गुण उस अक्षमी ज्ञानी के बायें पैर के अंगूठे में निवास किये रहते हैं।

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति के अनुसार बाह्य दृश्यों का अक्षमी वह ज्ञानी साक्षात् ब्रह्म ही हो चुका है। उसके जगदारोपाधिष्ठान तथा जगदपवादाधिष्ठानरूपी दो कल्पित पाद कहाते हैं। वामचरण जगदारोप का अधिष्ठान कहाता है उसी वामचरण से यहाँ अभिप्राय है। योग ही उस वामचरण का अंगुष्ठ माना गया है। क्षमा तथा क्षमा के साथी अन्य वैरत्याग आदि गुणों के होने से योग में ही अनुकूलता आती है। इन लौकिक क्षमी लोगों के गुणों को ज्ञानी के वामचरणाङ्गुष्ठ में बंधा हुआ माना है। अर्थात् उस ज्ञानी की दृष्टि में क्षमी लोगों के गुण कुछ भी मान्य वस्तु नहीं होते।।११।।

यो लालयति लोभादीनन्तर्मूलानि कृन्तति।
बहिरन्योन्य एवान्तर्मुक्तिमेति कपट्यसौ।।१३।। (११३१)
गुणात्मकेषु सर्वेषु दोषमेवान्तरात्मनः।
कर्णे जपति यो नित्यं पिशुनोऽसौ विमुक्तिभाक्।।१४।। (११३२)

इत्यतः आह **धूर्तितमिति। यैः** कामक्रोधादिभिः, **जगत्त्रयं** जगतां लोकानां त्रयं त्रिकं, **धूर्तितं** वञ्चितमस्ति, किञ्च **यो** ज्ञानी, **तान्** कामादीन् महाधूर्त्तान्, **युक्त्या** प्रथमं जगद्विषयवैरस्यप्रदर्शनाख्ययुक्त्या ततो मनोनिरोधाख्ययोगयुक्त्या ततः परं तद्विषयासत्त्वप्रदर्शनयुक्त्या, **धूर्त्तयति** वञ्चयति, स उक्तविधो **धूर्त्तो** वञ्चकोऽयं ज्ञानिरूपो, **धूर्जटिप्रियो** धूर्जटेः शिवस्य प्रिय इष्टः स्वात्मत्वादिति भावः।।१२।। (११३०)

इदानीं कपटिनोपि मुक्त्यधिकारित्वं प्रतिपादयन्प्रलपति **य इति। यो** ज्ञानी, **लोभादीन्** लोभो प्राप्तेपि विषयेऽतृप्तिरूपो विकार आदिर्येषान्ते कामादयः तान् विकारान्, **लालयति** तत्तद्विषयप्रदानेन पालयति, व्यवहारदृष्ट्याऽन्तरन्तरे आत्मानात्मविवेचनं कृत्वा आत्मनः पृथगसत्त्वप्रतीत्या तेषां कामादीनां मूलानि अज्ञानं काम्यवासनाश्च तदाश्रिताः **कृन्तति** कर्तयति, अतो **बहिः**लोकदृष्ट्या, **अन्यो** भिन्नः, कामादिविकारवान् इव प्रतीयमानोऽन्तरन्तरे**ऽन्य एव** भिन्न एव, कामादिविकारहीन एव वर्तमानोऽस्ति अतः **असौ** उक्तविधः पुरुषः, **कपटी** च्छली, **मुक्तिं** मोक्षं, **एति** प्राप्नोति।।१३।। (११३१)

इदानीं पिशुनस्यापि मोक्षः स्यादिति ब्रुवन्प्रलपति **गुणात्मकेषु इति। यो** ज्ञानी, **गुणात्मकेषु** गुणाः सत्त्वरजस्तमोभिधा आत्मा स्वरूपं येषान्ते तथोक्ताः तेषु भावेषु पदार्थेषु, **दोषमेव** अनित्यत्व-

काम क्रोधादि बड़े ही घूर्त हैं यह बात जगजाहिर है क्योंकि इन्होंने तीनों लोकों को ठग रक्खा है, परन्तु जो ज्ञानी युक्ति से इन महाधूर्तों को चकमा दे दें ऐसा धूर्त ज्ञानी धूर्जटि शिव को बड़ा प्यारा लगता है।

इन कामादियों को ठगने की ज्ञानी की युक्ति तो यह है कि पहले इन्हें जगत् की विरसता दिखायी जाय, उसके अनन्तर मनोनिरोधनामक योग की युक्ति लड़ाई जाय तथा अन्त में तो विषयों की असत्ता का निश्चय करा दिया जाय।।१२।।

जो ज्ञानी महात्मा व्यवहारदृष्टि से तो लोभादि विकारों को पालता रहता है परन्तु अन्दर तो (आत्मानात्मविवेकरूपी पैनी छुरी से) इन लोभादियों की जड़ों (अज्ञान तथा अज्ञान के आश्रय पर रहने वाली काम्यपदार्थों की वासनाओं) को काटता रहता है। इस प्रकार अन्दर बाहर दो तरह का वह कपटी मुनि भी मुक्ति को पा लेता है।

ऐसा ज्ञानी देखने में तो कामादि विकारों में फँसा हुआ प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः वह उनसे सर्वथा पृथक् रहता है। गृहस्थी तत्त्वज्ञानी इसी श्रेणी में गिने जाते हैं।।१३।।

परापवाद एवास्ति हृदये यस्य सर्वदा।
पराङ्गतिं गतो दृष्टः स मया मुनिशेखरः।।१५।। (११३३)
मिथ्यैवेदं जगत्सर्वमिति निश्चितचेतसाम्।
स मिथ्यावादिनां लोको दुर्लभः सत्यवादिनः[१]।।१६।। (११३४)

दुःखप्रदत्व-स्वबन्धकत्वादिरूपं दोषं केवलं, **अन्तरात्मनः** प्रत्यक्साक्षिचिन्मात्ररूपस्यात्मनः, **कर्णे** श्रवणवृत्तौ, **नित्यं** सर्वदा, **जपति** सूचयति, **असौ** उक्तविधः, **पिशुनो** दोषसूचको, **विमुक्तिभाक्** विमुक्तिं विदेहमुक्तिं भजते सेवते, स तथोक्तो मोक्षाधिकारीत्यर्थः, भवति।।१४।। (११३०)

इदानीं परापवादिनोपि परमगतिर्भवतीति सूचयन्प्रलपति **परापवाद इति।** हे शिष्य **यस्य** ज्ञानिनो, **हृदये** अन्तःकरणे, **परापवाद एव** परस्यान्यस्याऽज्ञानस्य तत्कार्यस्य च जगतः अपवादः निषेध एव, **सर्वदा** नित्यमस्ति, स उक्तलक्षणः परापवादी **मुनिशेखरो** मुनिषु ज्ञानिषु शेखर इव उच्चतरः, **परां** उत्कृष्टां, **गतिं** स्थितिं जीवब्रह्मैक्यरूपां स्थितिमित्यर्थः, **गतः** प्राप्तो, मया उन्मत्तेन **दृष्टः** अवलोकितः।।१५।। (११३३)

इदानीं मोक्षप्राप्तिर्भवति मिथ्यावादिनामिति ब्रुवन्प्रलपति **मिथ्यैवेदम् इति।** हे शिष्य **इदं** दृश्यं, **सर्वं** समस्तमपि, **जगद्** विश्वं, **मिथ्यैव** भ्रममात्रमेव, **इत्येवं, निश्चितचेतसां** निश्चितं निश्चयवच्चेतोन्तःकरणं येषां तेषां, **मिथ्यावादिनां** समस्तं जगत् मिथ्या भ्रममात्रमित्येवं जिज्ञासून् प्रति वदन्तीति ते मिथ्यावादिनः तेषां, **लोको** जीवब्रह्मैक्यविषयं साक्षात्काररूपं ज्ञानं प्राप्यते, **स** बोधः, सत्यवादिनाम् इदं जगत् सत्यमिति ये वदन्ति लोकान् प्रति ते **सत्यवादिनः** तेषां यद्वा लोकप्रत्यक्षा ये सत्यवक्तारः तेषामपि वाङ्मात्रस्य मिथ्याविषयत्वाद् **दुर्लभो** दुष्प्रापोऽस्तीति ज्ञेयः।।१६।। (११३४)

जो ज्ञानीरूपी पिशुन (चुगलखोर) इन त्रिगुणात्मक भावों के दोष ही दोष अन्तरात्मा के कानों में कहता रहता है (जो इन सांसारिक पदार्थों के अनित्यता दुःखदायित्व तथा स्वबन्धकत्व आदि दोष ही सदा आत्मा को सुझाता रहता है (ऐसा वह पिशुन भी विदेहमुक्ति के परमपद को पा जाता है।।१४।।

जिस ज्ञानी के हृदय में पर (अज्ञान तथा अज्ञान से उत्पन्न हुआ इस जगत्) का अपवाद (निषेधमिथ्यात्वनिश्चय) ही सदा बना रहता है ऐसे उस परनिन्दक मुनिशेखर को मैंने उत्कृष्ट गति को पाये हुए देखा है।।१५।।

यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है ऐसा निश्चय जिनके चित्तों में हो गया है (जो दूसरों को भी इस मिथ्यावाद का उपदेश देते रहते हैं) उन (लोकोत्तर मिथ्यावादियों) को जो (बोधरूपी) लोक मिलता है वह इन लौकिक क्षुद्रसत्यवक्ताओं को कभी भी हाथ नहीं आता।।१६।।

जो महापुरुष यह कह उठे कि ओहो! मैं तो कुछ भी कभी नहीं करता हूँ, जो इस

---

[१] 'सत्यवादिनाम्' इति टीकापाठः।

नैव किंचित्करोमीति यः सदाचारवर्जितः।
आचारिणो न गच्छन्ति तस्यानाचारिणो गतिम्।।१७।। (११३५)
पूर्वं यानि च मित्राणि विचारादीनि तान्यपि।
विहाय तत्परं यातो मित्रद्रोही स मुच्यते।।१८।। (११३६)

इदानीमाचारवतां मोक्षो न स्यादिति तद्रहितानामेव स स्यादिति कथयन्प्रलपति **नैव इति।** हे शिष्य **अहं** अहंपदलक्ष्यः प्रत्यगात्मा कर्तृशब्दवाच्यबुद्धिसाक्षी, **किंचित्** किमपि कार्यं, **नैव करोमि** नैव सम्पादयामि, **इति** एवं, **यः** असङ्गात्मानुसन्धानवान् प्रसिद्धः कोपि पुरुषः, **सदाचारवर्जितः** सदा सर्वकालं आचारेण विहितकर्मकर्तृत्वेन रहितोऽस्ति किन्तु विहितकर्मकर्तृत्वं विज्ञानमये बाधिते बाधितमेव कर्त्तृत्वं सदा पश्यतीत्यर्थः, अन्यस्य शुभाशुभकर्मणि अन्यस्मिन्नारोपितेऽन्यप्रायश्चित्तेनान्यस्मिन् पापनिवृत्तिरित्यतिप्रसङ्गेन विज्ञानमयस्य कर्मादिकं कर्तृत्वादिकं च आत्मनि असम्भाव्यमित्यनुसन्दधान इति भावः, **तस्यानाचारिण** उक्तविधस्याचारवर्जितस्य, या गतिर्मोक्षरूपा शास्त्रेषु प्रतिपाद्यते तां **गतिं आचारिणो** विज्ञानमयस्य कर्तृत्वं चिदात्मनि समारोप्य कर्त्तृत्वाभिमानिनो, **न गच्छन्ति** प्राप्नुवन्ति।।१७।। (११३५)

इदानीं मित्रद्रोहिणामपि मोक्षो भवतीति प्रतिपादयन्प्रलपति **पूर्वम् इति।** लोकशास्त्रे मित्रद्रोहिणां मोक्षो नास्ति प्रत्युत नरक एव भवेदिति प्रतिपादितं यद्यपि तथापि अस्मन्मतं शृणु हे शिष्य **पूर्वं** आत्मसाक्षात्कारात् प्राग् **यानि** शास्त्रेषु प्रसिद्धानि, **विचारादीनि** विचार आत्मानात्मविवेक आदिः प्रथमो येषां तानि आदिपदेन श्रवणादीनि नियमादीनि च योगसाधनानि ग्राह्याणि, **तानि** सर्वाणि मोक्षरूपेष्टसम्पादनानुकूलतया **मित्राणि** सखायस्तान्यपि मुक्तिसिद्धौ निष्प्रयोजकतया **विहाय** परित्यज्य, वर्त्तमानः सन् **तत्** विद्वत्सु प्रत्यक्षानुभवसिद्धं, **परं** कार्यकारणास्पृष्टं आत्मस्वरूपं ब्रह्माभिन्नो, **यातः** प्राप्तो भवति, **स** उक्तलक्षणो, **मित्रद्रोही** मित्राणि हितकारीणि यमादिश्रवणादीनि द्रुह्यतीति मित्रद्रोही स्वात्मसुखानुसन्धानखण्डनहेतुत्वात् तन्नाशक इत्यर्थः, **मुच्यते** मुक्तो भवति।।१८।। (११३६)

परमार्थ के ज्ञात हो जाने पर सदा के लिये आचार से रहित हो जाता है (अपने कर्तृत्व को बाधित समझने लगता है) ऐसे उस आचारहीन मुनि को जो सद्गति मिलती है वह गति आचारी लोगों को (तो सपने में भी) नसीब नहीं होती।।१७।।

जो विचार आदि पहले जिज्ञासुकाल में मित्र की तरह उपकारी हो रहे थे उन सबको निराश्रय छोड़ कर जो मित्रद्रोही ज्ञानी अकेला ही परमपद को चला जाता है ऐसा मित्रद्रोही भी मुक्त हो जाता है।

विचार आत्मानात्मविवेक श्रवण मनन आदि उपाय तथा योग के नियमादि साधन मुमुक्षु के मित्र-समान होते हैं। मुमुक्षु लोग क्षण भी इनके बिना नहीं काट सकते, परन्तु ज्ञानावस्था आने पर वे यमनियमादि आत्मसुखानुसन्धान में विघ्न डालने लगते हैं आत्मसुख को खण्डित करने लगते हैं, इस लिये ज्ञानी लोग उन्हें भी छोड़ कर अगली ऊँची अवस्था में अकेले ही पहुँच जाते हैं।।१८।।

पञ्चभूतात्मकं विश्वं निर्मितं येन मायया।
स एव हि मया दृष्टो मायावी मुक्तिभाजनम्।।१९।। (११३७)
स्वेच्छयैव कृतं विश्वं स्वेच्छयैव निहन्ति यः।
कृतज्ञादपि पूज्योऽसौ कृतघ्नो मोक्षमश्नुते।।२०।। (११३८)

इदानीं मायोपजीविनाम् ऐन्द्रजालिकानां नरकप्राप्तिरूपा दुर्गतिः शास्त्रेषु प्रतिपादिता, अत्र तु उन्मत्तस्तेषामेव मुक्तिर्भवतीति तद्विरुद्धं प्रतिपादयन्प्रलपति **पञ्चभूत इति। येन** प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपेण कर्त्रा, **मायया** स्वस्यैव जगत्सर्जनेच्छारूपया शक्त्या सत्त्वासत्त्वादिरूपैरनिर्वचनीयत्वान्मायात्वं तस्यास्तया कारणरूपया, **पञ्चभूतात्मकं** पञ्चसंख्यानि यानि भूतानि आकाशादीनि तान्येवात्मा स्वरूपं यस्य तत्तथाविधं, **विश्वं** जगत्, **निर्मितं** उत्पादितं, **स एव** उक्तलक्षणएव, केवलं, **मायावी** मायोपकरणवान्, **हि** प्रसिद्धो, विद्वत्सु शास्त्रेषु च **मया** उक्तप्रकारमायाविस्वरूपवेत्रा **मुक्तिभाजनं** मुक्तेः मोक्षस्य भाजनं पात्रभूतो, **दृष्टो** निश्चितोऽतः शास्त्रे तादृशस्य नरको भवतीति प्रतिपादितं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।१९।। (११३७)

इदानीं कृतज्ञानामुत्तमगतिः कृतघ्नानामधोगतिश्च भवति इति अन्यशास्त्रेषु प्रतिपदितम, अत्र तु उन्मत्तस्तद्वैपरीत्यं प्रतिपादयन्प्रलपति **स्वेच्छयैव इति।** हे शिष्य येन ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मना कर्त्रा **स्वेच्छयैव** स्वस्यात्मन इच्छयैव काङ्क्षयैव, **विश्वं** जगत्, **कृतं** निर्मितं, अस्ति 'सोऽकामयते'ति श्रुतेः, तथा च प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपः, **स्वेच्छयैव** स्वात्मकाङ्क्षयैव, न तु अन्यत्किमपि करणान्तरमपेक्षत इत्यर्थः, **विश्वं** जगत्, **निहन्ति** नाशयति, मानोरथिकप्रासादादिवदित्यर्थः, अतः **असौ** उक्तलक्षणः, **कृतघ्नः** कृतं विश्वं हन्ति नाशयतीति कृतघ्नः पुरुषविशेषः, **कृतज्ञादपि** कृतं जानातीति कृतज्ञस्तस्मात् कृतवेत्तुरपि, **पूज्य** आदरणीय अर्च्यः मुमुक्षूणामिति शेषः, अस्ति किञ्च स कृतघ्नो **मोक्षं** मुक्तिं, **अश्नुते** कृतसत्त्वप्रतीतिपूर्वककृतज्ञत्वादपि कृतासत्त्वप्रतीतिरूपं कृतघ्नत्वं श्रेष्ठमिति भावः।।२०।। (११३८)

जिसने अपनी (जगदुत्पादनेच्छारूपी) माया से इस पंचभूतात्मक संसार को बना कर खड़ा कर दिया है ऐसे उस मायावी को भी मैंने मोक्ष के परमपद को पाते देखा है। (मायावी को नियम से नरकयातना ही भुगतनी पड़े यह विचार सर्वांश में सत्य नहीं है)।।१९।।

जिसने पहले तो अपनी ही 'सोऽकामयत' इस इच्छा से इस जगत् को बनाया तथा फिर (मनोरथ के बनाये हुए महल आदि की तरह) अपनी ही मरजी से नष्ट भी कर डाला। मुमुक्षु लोगों को तो ऐसे कृतघ्न मुनि की पूजा कृतज्ञों से भी अधिक करनी चाहिये। क्योंकि ऐसे कृतघ्न लोग मोक्ष पाये बिना कभी नहीं चूकते। (कृतघ्न को नियम से अधोगति मिलने की लौकिकशास्त्रों की बात ठीक नहीं है)।।२०।।

आश्चर्यं योऽभिमन्येत जीव आत्मानमीश्वरम्।
सोऽभिमानी गतिं याति निरहङ्कारदुर्लभाम्।।२१।। (११३९)
गुणेषु दोषं पश्यन्तो विश्वमात्रविनिन्दकाः।
आत्मस्तुतिपरा यान्ति नित्यं वैकुण्ठमन्दिरम्।।२२।। (११४०)

इदानीमभिमानवतां मुक्तिर्नास्तीति प्रतिपादितं अन्यशास्त्रेषु तद्रहितानां तु सा स्यादित्येवमपि, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं कथयन्प्रलपति **आश्चर्यम् इति**। हे शिष्य यो लोकप्रसिद्धो **जीवः** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासो देहद्वयवान्, आत्मानं स्वं विविच्येति शेषः, देहत्रयात्पृथक्कृत्येत्यर्थः, **ईश्वरं** ईशनादिशक्तिमन्तं परमात्मानं, **अभिमन्येत** सर्वावस्थासु मन्यते, **स** उक्तविधः, **अभिमानी** अभिमानवान्, **निरहङ्कारदुर्लभां** अहङ्कारसत्त्वप्रतीतिपूर्वकत्वात् निरहङ्कारवतः पुरुषस्य दुर्लभां दुष्प्रापां, **गतिं** स्थितिं मुक्तिरूपां अवस्थामित्यर्थः, **याति** प्राप्नोति।।२१।। (११३९)

इदानीं परगुणेषु दोषदर्शिनां परनिन्दकानां स्वस्तावकानां च नरकपातोऽन्यशास्त्रेषु प्रतिपादितः अत्र तु उन्मत्तस्तेषामेव मुक्तिर्भवतीति प्रतिपादयन्तद्विरुद्धं प्रलपति **गुणेषु इति। गुणेषु** मायागुणेषु, सत्त्वरजोतमोभिधानेषु तत्कार्येषु शान्त्यादिवृत्तिष्वपि **दोषं** स्वात्मसुखानुसन्धानविरोधत्वरूपं दुष्टस्वभावं, **पश्यन्तः** अवलोकयन्तः, किञ्च **विश्वमात्रविनिन्दका** विश्वमात्रस्य समस्तजगतो विनिन्दका अतिशयेन निन्दाकर्त्तारो ये सन्ति। किञ्च **आत्मस्तुतिपरा** आत्मनो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मन एव स्तुतिः स्तोत्रं तस्यां परा आसक्ता ये सन्ति ते त्रयोपि, **नित्यं** सर्वदा वर्त्तमानं, यतो जयविजयौ पतितौ स त्वनित्य एव, ततो विलक्षणमिति यावद् **वैकुण्ठमन्दिरं** विशेषेण कुण्ठा कुण्ठिता बुद्धिर्यत्र तद्विकुण्ठमात्मस्वरूपं विकुण्ठमेव वैकुण्ठं तदेव मन्दिरं जीवानामालयरूपं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मचैतन्यं, **यान्ति** प्राप्नुवन्ति।।२२।। (११४०)

हे शिष्य, अचम्भे की बात देखो कि जो जीव अपने आप को ईश्वर परमात्मा ही समझने लग पड़ता है उस अभिमानी जीव को ऐसी उत्तम गति मिलती है कि वह गति अहंकाररहित भी लौकिक पुरुषों को मिलनी दुर्लभ हो जाती है। (सब अभिमानी मुक्ति से वंचित ही रह जाते हों, लौकिक शास्त्रों का ऐसा आग्रह, हमारी समझ में नहीं आता)।।२१।।

गुणों (सत्त्व, रज, तम तथा इन गुणों से उत्पन्न पदार्थों किंवा वृत्तियों) में भी जो सदा दोष ही टटोलते हैं (जो इन सबको आत्मसुखानुभव का विरोधी समझ लेते हैं) जो संसार भर की निन्दा और अपने आत्मा की ही स्तुति करते हैं, ये तीन महानिन्दित काम करने वाले ये तीनों ही वैकुण्ठमन्दिर में पहुँच जाते हैं (ऐसी अवस्था में लौकिक शास्त्रों की परगुणों में दोषदर्शन, परनिन्दा तथा स्वात्मस्तुति को नरकसाधन बताने की बात को सर्वांश में सत्य कैसे मान लें?)।।२२।।

बुध्वापि शुद्धमात्मानं व्यावहारिकलोकवत्।
करोति न करोमीति दम्भकृच्छम्भुवल्लभः।।२३।। (११४१)
बोधखड्गेन तीक्ष्णेन मोहाहङ्कारदुर्धियाम्।
घातकः पातकं हन्ति पूर्वजन्मशतार्जितम्।।२४।। (११४२)

इदानीमन्यशास्त्रे दाम्भिकानां नरकप्राप्तिर्भवतीति प्रतिपादितम्, अत्र तु उन्मत्तस्तेषामेव मुक्तस्वरूपत्वेन शिवप्रियत्वं प्रतिपादयन्प्रलपति **बुध्वेति। यो** ज्ञानी, **शुद्धं** कर्तृत्वाद्यस्पृष्टमसङ्गं, **आत्मानं** ब्रह्माभिन्नचिदात्मानं, अहं कूटस्थोऽसङ्गोऽस्मि अतोहं किञ्चिदपि विहितं प्रतिषिद्धं वा न करोमीति **बुध्वा** विज्ञाय, **व्यावहारिकलोकवद्** व्यवहारं व्यापारमाचरन्तीति व्यावहारिकाः कर्तृत्वाभिमानिनो मूढा इत्यर्थः, ते तथाभूता ये लोका जनाः ते यथा कुर्वन्ति आचरन्ति तद्वत् **करोति** आचरति लोकप्रदर्शनायेति यावत्, लोकेपि लोकप्रदर्शनाय कर्माचरणं दम्भशब्देनोच्यतेऽतः स एवंप्रकारो **दम्भकृद्** दम्भं छलं करोतीति स तथोक्तः, **शम्भुवल्लभः** शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भुः जगदानन्दकरो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा तस्य प्रियः स प्रियो यस्येति वा स तथोक्त आत्मत्वात् 'प्रेयोन्यस्माच्च सर्वस्मादान्तरतरोऽयमात्मे'ति श्रुतेरस्तीति ज्ञेयः।।२३।। (११४१)

इदानीं लोकेषु शास्त्रेषु च घातकानां दुर्गतिर्भवतीति प्रसिद्धम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रदर्शयन्प्रलपति **बोधखड्गेन इति। यो** ज्ञानी, **तीक्ष्णेन** तीव्रेणाज्ञानभेदनसमर्थेनेत्यर्थः, **बोधखड्गेन** बोधो महावाक्यजन्यं प्रत्यगभिन्नब्रह्मसाक्षात्कारज्ञानं स एव खड्गोऽसिस्तेन, **मोहाहङ्कारदुर्धियां** मोहः अज्ञानं अहङ्कारस्तत्कार्येषु तादात्म्यप्रतीतिरूपाऽहङ्कृतिर्दुर्धियो विषयवासना विदूषिता मतयस्तासां, **घातको** नाशकोऽस्ति, **पूर्वजन्मशतार्जितं** पूर्वाणि अतीतानि यानि जन्मानि जननानि तेषां शतानि असंख्यजन्मानीत्यर्थः, **तेष्वर्जितं** सम्पादितं, **पातकं** पापं, **हन्ति** नाशयति, उक्तविधो घातकोऽन्येषां पातकानि नाशयति किं पुनर्वक्तव्यं तस्य पापं नास्तीति भावः।।२४।। (११४२)

जो ज्ञानी अपने शुद्ध आत्मरूप को पहचान कर भी संसार के (आजीवन सदस्य) व्यवहारी लोगों की तरह ही कर्म तो करता है परन्तु अन्दर यह माने रहता है कि ओहो! मैं तो कुछ भी नहीं करता हूँ। ऐसा वह दाम्भिक ज्ञानी शम्भु (जगदानन्ददायक आत्मदेव) का अत्यन्त प्रिय होता है। (यों सभी दाम्भिक नरकगामी होते हैं यह विचार ठीक नहीं)।

दाम्भिक लोग अपने को धर्मात्मा जताने के लिये कर्म करते हैं, ज्ञानी लोग लोगों को कर्म का मार्ग दिखाने के लिये (लोकसंग्रहार्थी) कर्म करते हैं, कर्म में आस्था (श्रद्धा) दोनों को ही नहीं होती।।२३।।

जो बोधरूपी पैनी तलवार लेकर मोह (अज्ञान) अहंकार (अज्ञान से उत्पन्न हुए शरीर इन्द्रिय आदि पदार्थों में तादात्म्य कर लेना) तथा विषयवासना से दूषित बुद्धि इन तीनों का घात कर देता है ऐसा वह घातक (हिंसक) भी बीते हुए असंख्य जन्मों में

अहङ्कारं हरिरहं ब्रह्मैवाहमहं शिवः।
इति विश्वास्य हन्तारः पुण्या विश्वस्तघातकाः।।२५।। (११४३)
मुक्तो विधिनिषेधाभ्यां निश्चिन्तः स्वेच्छया चरन्।
कर्मठानामपाङ्क्तेयः सोऽस्माकं पङ्क्तिपावनः।।२६।। (११४४)

इदानीं विश्वासघातिनां नरकप्राप्तिर्भवतीति प्रतिपादितमत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रतिपादयन्प्रलपति **अहंकारम् इति। अहं** अहंपदलक्ष्यः स एव ब्रह्मणोऽभिन्नत्वाद्, **हरिः** सर्वदुःखहरणशीलत्वाद् हरिः विष्णुरस्मि, किञ्च अहंपदलक्ष्यो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा ब्रह्मैव सर्वजगत्तत्त्वस्योभयत्रावैशिष्यात्प्रजापतिरस्मि, किञ्च अहंपदलक्ष्यो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा आनन्दरूपत्वात् समस्तजगन्नाशाधिष्ठानत्वाच्च, **शिवो** रुद्रोऽस्मीत्येवं **विश्वास्य** विश्वासं दत्त्वा, **हन्तारो** नाशका, ये भवन्ति अहंकारस्य मामयं वर्धयतीत्येवं विश्वासमुत्पाद्य घातयन्तीत्यर्थः, ते **विश्वस्तघातका** विश्वस्तस्य विश्वासवतो घातका नाशकाः, **पुण्याः** पवित्राः सन्तीति ज्ञेयं, यत्पुनर्विश्वासघातिनां नरकप्राप्तिर्भवतीति प्रतिपादितं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।२५।। (११४३)

इदानीं कर्मभ्रष्टानां पुण्यपापचिन्तारहितानां लोके पङ्क्तिबहिष्कृतत्वं दृश्यते शास्त्रेषु च तेषां नरकप्राप्तिः श्रूयतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **मुक्त इति।** हे शिष्य **यो** ज्ञानी, **विधिनिषेधाभ्यां** विधि 'हुतशेषंभक्षयेद्, आजीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'त्यादिरूपः कर्मसु प्रवर्तको वाक्यप्रयोगः, निषेधश्च 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी'त्यादिरूपोऽनिष्टकर्मभ्यो निवृत्तिजनको वाक्यकदम्बस्ताभ्यां, **मुक्तः** अतीतो, **निश्चिन्तः** तत्फलस्वर्गनरकादिशङ्काशून्यो भूत्वा, **स्वेच्छया** स्वस्यात्मनः सम्बन्धिनी या इच्छा काङ्क्षा तयैव लोकेपि विधिनिषेधाभावेन यथेच्छं, **चरन्** प्रवर्त्तमानः सन्, **कर्मठानां** कर्तृत्वसद्बुद्ध्या कर्मसु आसक्तानां **अपाङ्क्तेयः** पङ्क्तौ साधुः पाङ्क्तेयः पङ्क्तियोग्य इत्यर्थः, **अपाङ्क्तेयः** पङ्क्तियोग्यो न भवतीति स तथोक्तो भवति, **स** उक्तलक्षणः पङ्क्तिबहिष्कृतः कर्मठानाम्, **अस्माकं** ज्ञानिनां जिज्ञासूनामपि, **पङ्क्तिपावनः** पङ्क्तिं ज्ञानिनां जिज्ञासूनां च समूहं पावयति पवित्रयति स तथोक्तोऽस्तीति हेतोः लोके शास्त्रे च तत्तस्यापाङ्क्तेयत्वं निरूप्यते तदसमञ्जसमेवेति भावः।।२६।। (११४४)

इदानीं मीमांसायामभिनिर्मुक्ताभ्युदितयोर्निन्दा क्रियतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति

कमाये हुए पापों को नष्ट कर देता है। (फिर सभी घातकों की दुर्गति होती है ऐसा कहना ठीक नहीं है)।।२४।।

जो अहंकार को पहले तो यह विश्वास दिलाते हैं कि मैं ही हरि हूँ, मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही प्रजापति ब्रह्मा हूँ, मैं ही (जगदानन्ददायक) शिव हूँ। यों विश्वास दिला दिला कर पीछे से मार डालते हैं (उनके विश्वास में आकर अहंकार को यह भ्रम हो जाता है कि यह तो मुझको अत्यन्त ऊँचे पद दे रहा है) वे विश्वासघातक बड़े पवित्र होते हैं (सभी विश्वासघातक पापी नहीं होते)।।२५।।

निन्दितावभिनिर्मुक्ताभ्युदितौ यौ तु तौ हि नः।
पूतौ कर्माभिनिर्मुक्तोऽभ्युदितश्च चितौ सदा।।२७।। (११४५)

निन्दितौ इति। हे शिष्य **यौ तु** मीमांसायां प्रतिपादितौ, **अभिनिर्मुक्तः** अभ्युदितश्च इत्यभिधौ तौ च तत्र, **निन्दितौ** गर्हितौ स्तः, तथापि **कर्माभिनिर्मुक्तः** कर्मभ्यो विहितनिषिद्धकर्मभ्यः अभितः सर्वभावेन निर्मुक्तोऽकर्तृब्रह्मभावं प्राप्तः, **चितौ** चिन्मात्रस्वरूपे ब्रह्मणि, **सदा** सर्वकालं, **उदितश्च** उदयं प्राप्तश्च भवति, **तौ** एतौ, **हि** प्रसिद्धौ, **नः** अस्माकं मते, **पूतौ** पवित्रौ स्तः।।२७।। (११४५)

इदानीं धर्मशास्त्रे द्वारमाच्छाद्यातिथिभ्योप्यप्रदाय मिष्टपदार्थभोजनमेकलस्य नरकप्रदत्वेन हेतुना निषेधितम्, अत्र तु उन्मत्तस्तदेव परमपदप्रापकत्वेन विहितमित्येवं दर्शयन्प्रलपति **दत्त्वा इति।** हे शिष्य **यः** कोपि पुरुषः आत्मसुखरतो, **द्वारि** आत्मसुखप्राप्तिद्वारभूते विवेके, **कपाटं** कं ब्रह्मसुखं पाटयति विच्छिनत्ति स कपाटः अहङ्कारः तं, **दत्त्वा** समर्प्य, विवेकेन सह अहंकारं संयोज्येति भावः, **एकाकी** एकलः सन् अद्वितीय इत्यर्थः, **मुनिः** ज्ञानी, **खण्डलड्डुकवद्** यथा खण्डस्य इक्षुरसविकारस्य लड्डुको मोदको मिष्टो भवति तद्वन् मिष्टं सुखरूपत्वात् मधुरं ब्रह्मसुखमित्यर्थः, **अश्नाति** भुनक्ति अनुभवतीत्यर्थः, **स** उक्तविधः स्वयं एकाकी मिष्टभोजनशीलः, **परमां** श्रेष्ठां जीवब्रह्मैक्यस्थितिरूपां, **गतिं** स्थितिं, **याति** प्राप्नोति, अतो लोके शास्त्रे च एकाकिमिष्टभोजिनां नरकप्राप्तिर्भवतीत्यसमञ्जसमेवोक्तमिति भावः।।२८।। (११४६)

विधि और निषेध से छूट जाने के कारण (स्वर्ग और नरक की ओर से) निश्चिन्त हुआ (केवल आत्मदर्शन की इच्छा से प्रेरित होकर) स्वेच्छा से बर्ताव करता हुआ जो ज्ञानी कर्मियों की पंक्ति में बैठने योग्य नहीं रह जाता, वही पंक्तिबहिष्कृत ज्ञानी, हम ज्ञानी तथा जिज्ञासु लोगों की पंक्ति को पवित्र करने वाला होता है (ऐसी अवस्था में सब कर्मभ्रष्ट तथा पुण्य पाप की चिन्ता से विहीन लोगों को, पंक्तिबहिष्कृत कर देने की तथा उनको नरक की प्राप्ति होने की बात सर्वथा माननीय नहीं है)।।२६।। (२६)

कर्मकाण्ड में अभिनिर्मुक्त (सूर्यास्त के समय सोने के कारण जिसके कर्म छूट गये हों) तथा अभ्युदित (सूर्योदय के समय सोने के कारण जिसके प्रातःकाल के कर्म छूट गये हों) ये दोनों ही निन्दित कहे हैं। परन्तु ये दोनों ही हम ज्ञानी लोगों के सम्प्रदाय में पवित्र गिने जाते हैंप्रथम तो वह जो कि विहित और निषिद्ध कर्मों से सर्वभाव से निर्मुक्त होकर (छूट कर) अकर्तृब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया हो तथा दूसरा वह जो कि चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म के चिन्तन में सदा ही अभ्युदित अर्थात् तत्पर रहने लगा हो।।२७।।

दत्त्वा द्वारि कपाटं यः खण्डलड्डुकवन्मुनिः।
एकाकी मिष्टमश्नाति स याति परमां गतिम्।।२८।। (११४६)
ज्ञानकर्मेन्द्रियगणो निरुद्ध्य निजमन्दिरे।
पंक्तीकृत्य हतो येन सोऽस्माकं पंक्तिपावनः।।२९।। (११४७)

इदानीं पंक्तिघातकस्याधोगतिः स्यादिति प्रतिपाद्यते लोके शास्त्रे च अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रदर्शयन्प्रलपति **ज्ञानेति**। हे शिष्य **येन** ज्ञानिना, **ज्ञानकर्मेन्द्रियगणो** ज्ञानानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाणि कर्माणि च क्रिया वचनादानगमनानन्दविसर्गाख्याः पञ्च तेषामिन्द्रियाणि करणानि पञ्च श्रोत्रादीनि वागादीनि च पञ्च तेषां गणः समूहो, **निजमन्दिरे** निजं स्वीयं यन्मन्दिरं वासस्थानं लिंगशरीरं तस्मिन् निरुध्य रुद्ध्वा, **पंक्तीकृत्य** समूहीकृत्य, **हत** आत्मतः पृथगसत्त्वेनावलोक्य नाशितः, **स** उक्तलक्षणः पंक्तिघातकः, **अस्माकं** मुमुक्षूणां मुक्तानां च, **पंक्तिपावनः** पंक्तिः समूहः तस्याः पावनः पवित्रयिताऽस्तीति ज्ञेयः, अतः शास्त्रेषु पंक्तिघातकानां नरको भवतीति यत् प्रतिपादितं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।२९।। (११४७)

इदानीं संसारद्वेष्टॄणां नरकप्राप्तिर्भवतीति प्रतिपाद्यते लोके शास्त्रे च अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **पश्य इति**। हे शिष्य **त्वं** भवान्, **ये** ज्ञानिनो मुमुक्षवश्च, **संसारनाशार्थं** संसारो जन्ममरणादिरूपः तस्य नाशो घातः स एवार्थः प्रयोजनं यस्यां क्रियायां यथा भवति तथा, **आत्मनाशं** आत्मनो मिथ्यात्मनो जीवस्येत्यर्थः, नाशो घातः तं, **सहन्ति** क्षमन्ते; लोके हि मूढानां अतीवद्वेषिणां स्त्र्यादीनां स्वान्यद्वेष्यनाशेच्छया स्वात्मनाशोपि दृश्यते तादृशां; तेषामुक्तलक्षणानां **संसारद्वेषिणां** संसारो जन्ममरणादिरूपस्तं द्विषन्ति **ते** तथोक्तास्**तेषां** **मुक्तिः** मोक्षः, **शास्त्रेषु** वेदान्तेषु, **वर्णिता** प्रतिपादितेति, **पश्य** अवलोकय, उक्तमिदं तवापि साक्षादनुभवगोचरमेवेति

हे शिष्य, जो महामुनि इन्द्रियरूपी दशों द्वारों पर संयमरूपी कपाट लगा कर खांड के बने मीठे लड्डू के समान मधुर ब्रह्मसुख का भोग अकेला ही लेता रहता है, वह अकेला मिष्टभोजी पुरुष परमश्रेष्ठ गति को प्राप्त हो जाता है। (ऐसी परिस्थिति में लौकिक शास्त्रों का यह कहना कि 'द्वार बन्द करके अतिथियों को भी न खिलाकर अकेले ही मिष्ट पदार्थ खानेवाला पुरुष नरकगामी होता है' सर्वांश में प्रामाणिक नहीं है)।।२८।।

श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ वागादि पाँच कर्मेन्द्रियों (तथा इनके विषयों) को जिस ज्ञानी ने अपने (लिंगशरीर नामक) मन्दिर में बन्द करके एकदम ही मार डाला हो (आत्मा से पृथक् इनको असद्रूप से देख लिया हो) ऐसा वह पंक्तिघातक ही हम मुमुक्षु और मुक्त लोगों की पंक्ति को पवित्र कर देता है (ऐसी अवस्था में सभी पंक्तिघातकों की अधोगति होना प्रामाणिक नहीं है)।।२९।।

पश्य संसारनाशार्थमात्मनाशं सहन्ति ये।
संसारद्वेषिणां तेषां मुक्तिः शास्त्रेषु वर्णिता।।३०।। (११४८)
अहं ममेति सर्वस्वं बोधद्यूतेषु हारितम्।
येनासौ मुक्तिभाक्प्रोक्ता बृहदारण्यकश्रुतौ।।३१।। (११४९)

सूचितमतो लोके शास्त्रे संसारद्वेषिणां मुक्तिर्नास्ति नरकः प्राप्यते च इत्येवं यत्प्रतिपादितं तदसमञ्जसमिति भावः।।३०।। (११४८)

इदानीं धर्मशास्त्रेषु द्यूतकाराणां नरकपातो वर्णितः अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **अहं ममेति इति**। हे शिष्य **अहंममेति सर्वस्वं** अहं शरीरत्रये तादात्म्यं स्वात्मनो मम गृहादिषु मदीयत्वाभिमान इत्येवमेव सर्वस्वं धनं यत् तद्, **येन** ज्ञानिना, **बोधद्यूतेषु** बोधो जीवब्रह्मैक्यज्ञानं तदेव द्यूतानि द्यूताभिधाः क्रीडास्तेषु, **हारितं** विनाशितं, **असौ** उक्तविधो द्यूतकारी, **बृहदारण्यकश्रुतौ** बृहदारण्यकमेतन्नामकं ब्राह्मणं वाजसनेयिशाखागतं तद्रूपश्रुतौ, **मुक्तिभाग्** मुक्तिं मोक्षं भजतीत्येवं, **प्रोक्तः** कथितः, अतो लौकिकशास्त्रेषु द्यूतकारिणामधोगतिर्भवतीति यत्प्रतिपादितं तदसमञ्जसमिति भावः।।३१।। (११४९)

किञ्च दीनेषु दयावानेव भगवत्प्रियः तद्रहितस्तु अप्रियो भगवत इत्येवं लोकेषु पुराणादिषु च श्रूयतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **दीनेन्द्रियेति**। हे शिष्य **यस्य** मुमुक्षोः मुक्तस्य वा कस्यचिद्, **दीनेन्द्रियमृगेष्वेव** दीनाः स्वाधीनत्वात् स्वतः तद्रहितत्वाच्च स्वपोष्या इन्द्रियाण्येव शब्दादिज्ञानकरणानि श्रोत्रादीन्येव मृगयन्ति स्वस्वविषयान् इति मृगाः तेषु प्रत्यक्षेषु, **दया** कृपा, **न**

हे शिष्य, जो (ज्ञानी और जो मुमुक्षु लोग) इस जन्म-मरणरूपी संसार को नष्ट करने के लिये अपना (मिथ्या जीवत्वरूपी भ्रम का) नाश भी सह लेते हैं (जैसे संसार के अत्यन्त मूर्ख लोग अथवा अपने गृहजनों से लड़कर मरने वाली द्वेषिणी स्त्रियाँ, उनको राजशासन में फाँसने के लिये, अपने मरने को प्रसन्नता से सह लेती हैं या जैसे लोग दूसरों का शकुन बिगाड़ने के लिये अपनी नाक कटा लेते हैं इसी तरह के मूर्ख से दीख पड़ने वाले) उन संसारद्वेषियों की मुक्ति भी अध्यात्मशास्त्र में कही है। (इससे यह निश्चय कर लो कि सभी संसारद्वेषी मुक्ति से वंचित रहकर नरकगामी होते हों यह विचार ठीक नहीं है)।।३०।।

अहन्ता (तीनों शरीरों में तादात्म्य) तथा ममता (स्त्री, पुत्र, गृहादि में मेरेपन का भाव) ये ही दोनों तो अज्ञानी के सर्वस्व कहाते हैं। जिस जुआरी ज्ञानी ने अपने इस सर्वस्व को ज्ञान के जुए में हार दिया हो, बृहदारण्यक श्रुति में ऐसे जुआरी को मुक्ति मिलने की बात कही है। (सम्पूर्ण जुआरियों की अधोगति हो जाना प्रामाणिक नहीं है)।।३१।।

दीनेन्द्रियमृगेष्वेव दया यस्य न विद्यते।
स एव देवकीसूनोर्दीनबन्धोरतिप्रियः।।३२।। (११५०)
आत्मभोगरतो राजा यस्तु नावेक्षते पुरीम्।
लिप्यते न स पापेन प्रमाणं मुण्डकश्रुतिः।।३३।। (११५१)

विद्यते नास्ति, **स एव** उक्तविध एव नान्यस्तेषु दयावानित्यर्थः, **दीनबन्धोः** दीनानां परवशानां बन्धुः मित्रं तस्य, **देवकीसूनोः** देवक्या देवककन्याया वसुदेवपत्न्याः सूनुः पुत्रः श्रीकृष्णस्तस्य, **अतिप्रियो** अत्यन्तमिष्टोऽस्तीति ज्ञेयो दीनघातको दीनहितकारिणो हितो भवतीत्यत्र विरोधः प्रतीयमानोपि देवकीसूनोरितिपदेन देवक्याः स्वमातुर्बन्धनेन पराधीनत्वेपि तस्या बन्धनमेव दृढीकृतं यशोदायास्तु स्वजन्मोत्सवबाललीलादिप्रदर्शनेन आनन्दो दत्त इत्येवं विरुद्धकारित्वस्य श्रीकृष्णे प्रसिद्धत्वान्नेदमेवं विरुद्धं मन्तव्यमिति भावः।।३२।। (११५०)

किञ्च लोकशास्त्रेषु राज्ञो विषयसुखलोभेन नगराद्युपलक्षितप्रजारक्षणोपेक्षा नरकाद्यनिष्टप्राप्तिसाधनत्वेन निषिद्धा, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **आत्मभोग इति**। हे शिष्य **यस्तु** प्रसिद्धो ज्ञानी, **राजा** राजते स्वयंप्रकाशात्मरूपेण प्रकाशते इति राजा सन्, **आत्मभोगरत** आत्मनः स्वात्मसुखस्य भोगः अनुभवः तस्मिन् रत आसक्तः सन्, **पुरीं** पृणाति पालयति स्वोपाधित्वेन जीवत्वमिति पुरी देहत्रयरूपा तां, **नावेक्षते** नावलोकयति, **स** उक्तविधः स्वात्मसुखभोगे लोभेन प्रजापालन उपेक्षावान् राजा, **पापेन** किल्विषेण, **न लिप्यते** लिप्तो न भवतीति ज्ञेयम्, अत्रार्थे **मुण्डकश्रुति**र्मुण्डकोपनिषत्स्था'आत्मक्रीड आत्मरतिरि'ति श्रुतिः प्रमाणमस्ति। अतो लोकशास्त्रेषु आत्मभोगरत्या प्रजारक्षोपेक्षाणां राज्ञां नरकप्राप्तिरिति यदुक्तं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।३३।। (११५१)

जिसको (अपने अधीन, अपने पोष्य इन) श्रोत्रादि दीन इन्द्रियरूपी मृगों पर भी दया नहीं आती, जो कभी भी इनके मुँह में विषयरूपी ग्रास नहीं देता, ऐसा निर्दय पुरुष ही दीनों के बन्धु भगवान् को अत्यन्त प्यारा होता है (फिर दीनों पर दया करने वाले को ही भगवान् प्यार करते हों, यह कैसे मान लें?)।।३२।।

जो ज्ञानी राजा आत्मसुख के भोग में ही रत रहकर इस (देहत्रय नाम की) पुरी की देखभाल नहीं करता, इस शरीर के वासी भूतों तथा इन्द्रियों की रक्षा नहीं करता, यों आत्मसुख के लोभ से अपनी रैयत के पालन में उपेक्षा (लापरवाही) करने वाला भी वह ज्ञानी राजा, पाप से लिप्त नहीं होता। आश्चर्य तो यह है कि मुण्डक उपनिषत् की 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' इत्यादि श्रुति उसकी इस उपेक्षा का अनुमोदन कर रही है। (ऐसी स्थिति में पुरी की देखभाल न करके केवल आत्मभोग में लगे हुए सभी राजा पापी और नरकगामी होते हों सो ठीक नहीं है)।।३३।।

ज्ञानवैराग्यपाशेन हतो येन मनो धनी।
यः स्यादेवंविधः पाशी तस्य काशी पदे पदे।।३४।। (११५२)
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण यो भुङ्क्ते स रण्डाव्यसनी शुचिः।।३५।। (११५३)

किञ्च लोकशास्त्रेषु पाशिनां नरको भवतीति प्रतिपादितम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **ज्ञानवैराग्येति**। हे शिष्य **येन** ज्ञानपाशिना, **ज्ञानवैराग्यपाशेन** ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यविषयं वैराग्यं च आत्मव्यतिरिक्तविषयेषु वैरस्यं च समाहार एकवचनं तदेव पाशो जालविशेषः तेन कृत्वा **मनो धनी** मनश्चित्तमेव, **धनी** धनवान् जगद्द्रव्यवत्त्वात्तस्य **हतो** मारितोऽस्ति, **एवंविधः** एवंप्रकारो, **यः** प्रसिद्धः, **पाशी** पाशवानस्ति, **तस्य** उक्तविधपाशिनः, **पदे पदे** यत्र यत्र पादो निक्षिप्यते तत्र तत्र तथाविधपाशिन एव विश्वेश्वरत्वात् तस्मिंस्तस्मिन्स्थाने काशीत्वं इतरेषां मुक्तिहेतुत्वात्, **काशी** वाराणसी, भवतीति निश्चेतव्यं अतो लोकशास्त्रेषु पाशिनां नरकप्राप्तिर्भवतीति यत्प्रतिपादितं तदयुक्तमेवेति भावः।।३४।। (११५२)

किञ्च लोके शास्त्रे च बालरण्डासङ्गो निषेधितः स तु बलात्कारादतीव निषेधितः अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **गङ्गायमुनयोः इति**। हे शिष्य **गङ्गायमुनयोः** गङ्गा इडाख्या नाडी यमुना च पिङ्गलाख्या नाडी तयोः, **मध्ये** अन्तराले वर्त्तमानां, **तपस्विनीं** तप आलोचनं ज्ञानं विद्यते यस्याः सा तथोक्ता तां, **बालरण्डां** बालः केशः तद्वदतिसूक्ष्मरूपेण रण्डां गतिमतीं सुषुम्णामित्यर्थः, **यः** कश्चिद् योगाभ्यासी, **बलात्कारेण** योगाङ्गभूतप्राणायामबलेन, **भुंक्ते** वशीकरोति, **स** उक्तविधो, **रण्डाव्यसनी** नित्यं सुषुम्णायामासक्तः, **शुचिः** शुद्धोऽस्तीति ज्ञेयः, अतो लोकशास्त्रे रण्डागामिनां अधोगतिर्भवतीति प्रतिपादितम् असमञ्जसमेवेति भावः।।३५।। (११५३)

किञ्च लोके शास्त्रे च दावाग्निप्रदायिनां नरकप्राप्तिः श्रूयतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **बोधदावाग्निनेति। येन** ज्ञानिना कर्त्रा, **बोधदावाग्निना** बोधो जीवब्रह्मैक्यविषयं ज्ञानं स एव सर्वद्वैतवनदाहकत्वाद्दावाग्निरिव दावानलः तेन करणभूतेन, **घनं** सघनं, **द्वैतवनं** द्वैतं विश्वमेवाज्ञानसहितं

जिस किसी ने ज्ञान और वैराग्य से बने हुए पाश (जाल) से (जगत्रूपी सम्पत्ति का संग्रह कर रखने वाले) किसी मनरूपी धनी को मार डाला हो, तो ऐसा वह पाशी जहाँ जहाँ पैर रखता जाता है वहीं वहीं काशी का पुण्य धाम बनता चला जाता है (उसके पदचिह्नों पर जो कोई मुमुक्षु चल पड़ता है वही मुक्ति पा लेता है। ऐसी अवस्था में समस्त पाशी नरकगामी होते हों सो ठीक नहीं है)।।३४।।

गङ्गा (इडा=चन्द्रानाडी) तथा यमुना (पिङ्गला=सूर्यनाडी) नाम की नाडियों के बीच में निवास करने वाली तपस्विनी बालरण्डा (बाल अर्थात् केश के समान सूक्ष्म गति बाली) सुषुम्णा नामक मोक्षनाडी को जो योगाभ्यासी बलात्कार से (प्राणायाम से) अपने वश में कर लेता है, ऐसा वह रण्डाव्यसनी (सुषुम्णाप्रेमी) पवित्र होता है।।३५।।

बोधदावाग्निना दग्धं येन द्वैतवनं घनम्।
अतिपुण्यां गतिं याति स हि दावाग्निदायकः।।३६।। (११५४)
गृहे स्थितानामपि यो गवां ग्रासं ददाति न।
आचारत्यात्मनः पुष्टिं सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३७।। (११५५)

वनं अरण्यं, **दग्धं** दाहं प्रापितं, **स** उक्तलक्षणो, **हि** प्रसिद्धो, **दावाग्निदायको** द्वैतवने ज्ञानाग्निसर्म्पकः **अतिपुण्यां** मायाविद्यादिमलरहितां **गतिं** आत्मरूपां स्थितिं, 'स आत्मा अपहतपाप्मे' त्यादिश्रुतेः **याति** प्राप्नोति, अतो दावाग्निदायिनां नरकप्राप्तिः भवतीति लोकशास्त्रेषु प्रतिपादितं तद् अस्मन्मतेऽसमञ्जसमेवेति भावः।।३६।। (११५४)

किञ्च लोकशास्त्रेषु गावः सर्वदा गृह एव न निरोद्धव्या निरुद्धाश्चेत् तासां समये समये तृणजलादिकं देयमनन्तरं स्वयम्भोक्तव्यमन्यथाकरणे नरकपातः स्याद् इति उक्तम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **गृह इति**। हे शिष्य **यो** ज्ञानी, **गृहे स्थितानामपि** गृह्यते आत्मतया स्वीक्रियते तद्गृहं शरीरं तस्मिन् स्थितानामपि बाधितत्वेन प्रारब्धक्षयपर्यन्तं स्थितानां, प्रारब्धभोगानुकूलतया स्वरूपेण विद्यमानानामपि लोकदृष्टौ **गवाम्** इन्द्रियाणां, **ग्रासं** ग्रस्यते उपभुज्यते इति ग्रासः तत्तद्विषयभोगः तं, **न ददाति** न समर्पयति सत्त्वबुद्धिपूर्वं नार्पयतीति यावत्, किञ्च **आत्मनः** स्वस्य, **पुष्टिं** पालनं, **आचरति** करोति, **स** उक्तलक्षणः पुरुषः, **सर्वपापैः** सर्वकिल्बिषैः, **प्रमुच्यते** प्रकर्षेण मुक्तो भवति, अतो लोकशास्त्रोक्तं विरुद्धमेवेति भावः।।३७।। (११५५)

किञ्च रसविक्रयिणां लोकशास्त्रेषु दोषः प्रदर्शितोऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **रसा इति**। हे शिष्य **येन** ज्ञानिना, **धर्माधर्मं** धर्मो वेदविहितस्वस्वविहिताचारः अधर्मश्च वेदनिषेधितः स्वस्वाविहिताचारः तयोः समाहार एकवद्भावः तं, **अजानता** न जानातीति अजानन् तेन अनुसन्दधता सता, **सर्वेपि** समस्ता अपि, **रसा** विषयसुखविशेषा, **विक्रीता** ज्ञानमूल्यग्रहणेन परित्यक्ताः,

जिसने ज्ञानरूपी लौ लगाकर इस द्वैतरूपी वन को जला कर खाक कर डाला हो, द्वैतवन में आग लगाने वाला वह महापराधी भी अतिपुण्य गति को प्राप्त हो जाता है। (अर्थात् सभी दावाग्नि लगाने वाले नरकगामी नहीं होते)।।३६।।

जो ज्ञानी अपने देहरूपी घर में (प्रारब्ध के क्षय होने तक) रहने वाली इन्द्रियरूपी गौओं को भी (विषयरूपी) ग्रास नहीं डालता और केवल अपने आत्मा की ही पुष्टि करता है (इन्द्रियरूपी गौओं को घर में बांधकर उन्हें भूखा मारने वाला तथा केवल अपने आत्मा का ही पोषण करने वाला) वह पापी भी सकल पापों से छूट जाता है (ऐसी अवस्था में लौकिक शास्त्रों का यह कहना ठीक नहीं है कि गौओं को सर्वदा घर में न बांधे रहना चाहिये। यदि बांधा भी जाय तो उन्हें घास तथा जलादि के ग्रास देते रहना चाहिये, तब कहीं जाकर स्वयं भोजन करने का अधिकारी होता है अन्यथा नरक मिलता है)।।३७।।

रसाः सर्वेपि विक्रीता धर्माधर्ममजानता।
ग्रन्थौ बद्धं बोधधनं स धन्यो रसविक्रयी।।३८।। (११५६)
अन्तर्याम्यात्मना येन रचितो वर्णसंकरः।
स्वयं शंकर एवासौ वर्णितो वर्णसंकरी।।३९।। (११५७)

किञ्च **ग्रन्थौ** अहंकारलक्षणे चिदचिद्ग्रन्थिरूपे, **बोधधनं** बोधो जीवब्रह्मैक्यविषयं ज्ञानं तदेव धनं द्रव्यं, **बद्धं** धृतं, **स** उक्तविधो, **रसविक्रयी** रसानां विषयसुखविशेषाणां विक्रयी विक्रेता परित्यागीत्यर्थः, **धन्यः** कृतकृत्योऽस्ति, अतोऽन्यशास्त्रेषु रसविक्रयिणां निन्दितत्वमुक्तं यत्तदसमञ्जसमेवेति भावः।।३८।। (११५६)

किञ्च वर्णसङ्करकारिणां गीतायां नरकपात उक्तः अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **अन्तः इति**। हे शिष्य **येन** ज्ञानिना, **अन्तर्याम्यात्मना** अन्तः सर्वभूतानां भौतिकानां चान्तरे वर्त्तमानः सन् तानि सर्वभूतानि यमयति असौ अन्तर्यामी स एव आत्मा स्वरूपं यस्य तेन, 'यः सर्वेष्वन्तः तिष्ठन्सर्वाणि यमयती'ति श्रुतेः **वर्णसंकरो** वर्णानां ब्राह्मणादीनां संकरो मेलनं, **रचितः** अद्वितीय-ब्रह्मचैतन्यमात्ररूपेण ऐक्यं प्रापितः, **असौ** उक्तविधो, **वर्णसंकरी** वर्णानां ब्राह्मणादीनां संकर ऐक्यं विद्यतेऽस्य, **स** तथोक्तः, **स्वयं** स्वतः सिद्धः, **शंकर एव** शं सुखं जगतः करोतीति शंकरो जगदानन्दकरः परमात्मैव, 'एष ह्येवानन्दयाति, एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिश्रुतिभिर्वर्णितः कथितः, अतो

'दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम'।।

इत्यादिभिर्वाक्यैः वर्णसङ्करकारिणां नरकवासो भवतीति यत्प्रतिपादितं तदसमञ्जसमेवति भावः।।३९।। (११५७)

इदानीं वेदप्लाविनां लोकशास्त्रे दुर्गतिः प्रोक्ताऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विरूपं प्रलपति **येन इति**। हे शिष्य **येन** ज्ञानिना, **वेदाः** श्रुतयः, **समभ्यस्य** सम्यगधीत्य, ततस्तेषां **अर्थं** तात्पर्य जीवब्रह्मैक्यरूपं,

यदि कोई ब्राह्मण धर्म की बात माने तो उसे रस (दूध घी आदि) नहीं बेचना चाहिये। परन्तु जिसने धर्म अधर्म का कुछ भी विचार न करके सम्पूर्ण रसों (विषयसुखविशेषों) को बेच डाला हो और उसके बदले में ज्ञानरूपी धन को लेकर उसे अपनी (अहंकाररूपी) गांठ में बांध लिया होधारण कर लिया होऐसा यदि कोई रसविक्रयी हो जाय तो वह कृतकृत्य हो जाता है (अर्थात् रसों के बेचने वाले सभी निन्दित नहीं होते हैं)।।३८।। (३८)

जिस ज्ञानी ने अपने ब्राह्मण आदि वर्णों की अन्तर्यामी तत्त्व के साथ संकरता कर डाली हो (उससे उन्हें अभिन्न जान लिया हो) ऐसे वर्णसंकरकारक को नरकवास तो क्या मिलता, वह तो साक्षात् जगदानन्ददायक शंकर ही हो गया है।।३९।।

येन वेदाः समभ्यस्य विदित्वाऽर्थं स्वचिन्तया।
प्लाविताः सह वेदान्तैर्वेदप्लावी स मुच्यते।।४०।। (११५८)
शिवे निवेदिते सर्वं शिवनिर्माल्यतां गतम्।
तद् भुनक्ति पवित्रात्मा शिवनिर्माल्यभोजनः।।४१।। (११५९)

विदित्वा ततः **स्वचिन्तया** स्वात्मचिन्तनहेतुना, **वेदान्तैः** उपनिषद्भिः, **सह** साकं, ते वेदाः **प्लाविता** विसृष्टाः, **स** एतादृशो, **वेदप्लावी** वेदाभ्यासत्यागी, **मुच्यते** मुक्तो भवति, अतो लोकशास्त्रेषु उक्तं असमञ्जसमेवेति भावः।।४०।। (११५८)

इदानीं लोकशास्त्रेषु शिवनिर्माल्यभोजिनां निन्द्यत्वमुक्तम्, अत्रोन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **शिव इति।** हे शिष्य ज्ञानिना **सर्वं** समस्तं जगत्, **शिवे** ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि, **निवेदितं** तन्मात्रतयाऽवलोकितं, तत् **शिवनिर्माल्यतां** शिवस्वत्वं, **गतं** प्राप्तं, **तच्च** जगद्विषयजातं यावत्प्रारब्धशेषं **भुनक्ति** अवलोकयति, यः स **शिवनिर्माल्यभोजनः पवित्रात्मा** शुद्धान्तःकरणः सन् मुच्यते मुक्तो भवति, अतो लोकशास्त्रे शिवनिर्माल्यभोजिनां दुर्गतिरुक्ता तदसमञ्जसमेवेति भावः।।४१।। (११५९)

किञ्च अन्यशास्त्रेषु स्त्रीभोगो निषेधितः पातित्यहेतुत्वाद् ब्रह्मचारिणाम् अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **ब्रह्मचर्यम् इति।** हे शिष्य **यः** पुरुषो, **ब्रह्मचर्यं** ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचरो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा तस्य इदं ब्रह्मचर्यं स्वस्मिन् ब्रह्माभिन्नस्फूर्तिरूपं कर्म, **गतः** प्राप्तः सन्, **सर्वाः** समस्ता, **नगरनायिका** नगरं शरीरं तस्मिन्नायिकाः, स्वविषयान् भोक्तारं प्रति प्रापिका वृत्तयः ता **भुङ्क्ते** अनुभवति, **स** उक्तलक्षणो ब्रह्मचारी, **पापेन** किल्बिषेण, **न लिप्यते** सम्बद्धो न भवति। नन्वेवं लोकविरुद्धं शास्त्रविरुद्धं चैतत्कथं सम्भाव्यमित्याशङ्क्याह **चित्रमिति। वेदान्तदर्शनं** दृश्यते ज्ञायते ब्रह्मानेनेति दर्शनं शास्त्रं वेदान्तनामकं दर्शनं शास्त्रं, **चित्रं** अत्याश्चर्यमस्ति,

जिसने पहले तो वेदों का अभ्यास किया फिर आत्मचिन्तन करके उनके परमार्थ को पहचाना और अन्त में (आत्मचिन्तन को निर्विघ्न चलाने के लिये) उपनिषदों के साथ ही साथ वेदों को भी बहा (छोड़) दिया हो, ऐसा वेदप्लावी (वेदाभ्यासत्यागी) भी मुक्त हो जाता है।।४०।।

ज्ञानी ने तो इस सब जगत् को ही आत्मशिव के सामने निवेदन कर दिया है। उसकी दृष्टि में अब यह सब जगत् शिवनिर्माल्य (शिव की सम्पत्ति) हो गया है। अब जब कि यह ज्ञानी इस समर्पित (निवेदित) जगत् में से अपने किसी प्रारब्धशेष को भोगता है तो वह शिवनिर्माल्य को ही भोगता है और पवित्र अन्तःकरण वाला होकर मुक्त हो जाता है (लौकिक शिवनिर्माल्यभोजी की दुर्गति भले ही हो जाय, परन्तु ऐसे अलौकिक शिवनिर्माल्यभोजी की दुर्गति कभी नहीं होती)।।४१।।

ब्रह्मचर्यं गतो भुङ्क्ते सर्वा नगरनायिकाः।
लिप्यते न स पापेन चित्रं वेदान्तदर्शनम्।।४२।। (११६०)
योगिनामवधूतानां शुकादीनां मुखाच्च्युतम्।
किञ्चिदुच्छिष्टमास्वाद्य मुच्येदुच्छिष्टभोजनः।।४३।। (११६१)

वेदान्तशास्त्रस्य आश्चर्यरूपत्वात् तदर्थस्याप्याश्चर्यरूपत्वम् अत उक्तेर्थे सम्भावना कार्येति भावः।।४२।। (११६०)

किञ्च लोकशास्त्रेषूच्छिष्टभोजनं निषेधितमत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **योगिनाम् इति।** हे शिष्य **योगिनां** जीवात्मैक्यानुभविनां, अत एव **अवधूतानां** वर्णाश्रमतद्धर्मातीतानां, **शुकादीनां** शुको व्यासपुत्र आदिः प्रथमो येषां दत्तभरतप्रभृतीनां, **मुखाद्** वदनात् **च्युतं** निसृतं, **उच्छिष्टं** तदनुभवस्य सर्वस्यावर्णनीयत्वात् तदनुभवस्योच्छिष्टरूपं वाक्यजातं, **किञ्चित्** स्वल्पमपि, **आस्वाद्य** तदनुभवं अङ्गीकृत्य, वर्त्तमानः स तादृश **उच्छिष्टभोजन** उच्छिष्टस्य भोजनं भोगो यस्य स तादृशो, **मुच्येत** मुक्तो भवेत्, अतो लौकिकशास्त्रेषु उक्तं उच्छिष्टभोजिनां पातित्यमसमञ्जसमेवेति भावः।।४३।। (११६१)

किञ्च लोकशास्त्रेषु
'स्वदत्तां परदत्तां वा हरेत सुरविप्रयोः।
स याति नरके घोरे यावदिन्द्राश्चतुर्दशे'ति।।

ब्राह्मणवृत्तिहारिणां नरकपातो वर्णितोऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **ब्रह्मेति। यः** पुरुषो, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं प्रत्यगभिन्नं वस्तु, **जानाति** अहमिति वेत्ति, **तस्य स्वचेतसः** स्व आत्मैव चेतः अन्तःकरणं यस्य तस्य तादृग्विधस्यैव मुख्यस्य, **ब्राह्मणस्य** ब्रह्मविदो, **येन** तदुपदेष्ट्रा, **वृत्तिलोपः** अन्तःकरणस्यासत्त्वप्रदर्शनेन तद्वृत्तीनां लोपो विनाशः कृतः असत्त्वं सम्पादितमित्यर्थः, स उक्तलक्षणो, ब्राह्मणस्य **वृत्तिलोपकृद्** वृत्तीनां लोपो विनाशः तस्य कृत् कर्त्ता, **धन्यः**

ब्रह्मचर्य (अपने में ब्रह्म के साथ एकता के परिज्ञान) में रहकर भी सारी नगरनायिकाओं (इस शरीररूपी नगर में रहने वाली वृत्तिरूप सब नायिकाओं) को भोगता (अनुभव करता) हुआ भी वह ब्रह्मचारी पापी नहीं होता। ऐसी अद्भुतता केवल वेदान्तदर्शन में ही पायी जाती है।।४२।।

शुक, दत्त तथा भरत आदि जो योगी तथा अवधूत (वर्णाश्रमधर्मातीत) हो गये हैं उनके मुख से निकले, उच्छिष्ट वाक्यों का थोड़ा सा भी स्वाद लेकर (उनके अनुभव के आधार पर चल कर) प्रारब्ध यात्रा करने वाले उच्छिष्टभोजी लोग भी मुक्त हो जाते हैं। (वे लोग उच्छिष्ट भोजन के कारण लौकिक मनुष्यों की तरह पतित नहीं होते)।।४३।।

ब्रह्म जानाति तस्यैव ब्राह्मणस्य स्वचेतसः।
वृत्तिलोपः कृतो येन स धन्यो वृत्तिलोपकृत्।।४४।। (११६२)
यस्तु वृन्ताकदग्धान्नं कलञ्जादि यदृच्छया।
लब्धमश्नाति हि मुनिस्तस्यादूरतरो हरिः।।४५।। (११६३)

कृतकृत्योस्तीति ज्ञेयम्, अतो ब्राह्मणवृत्तिहारिणां नरकप्राप्तिर्भवतीति यदुक्तं तदयुक्तमेवेति भावः।।४४।। (११६२)

किञ्च पुराणेषु वृन्ताकदग्धान्नकलञ्जगृञ्जनादिभक्षकाणां भगवत्प्राप्तिर्दूरेति प्रतिपादितम् अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **यस्तु इति। यस्तु** ज्ञानिषु प्रसिद्धो, **मुनिः** मननवान् विहितान्नसम्पादनेन मनने विक्षेपबाहुल्यदर्शनाद्, **यदृच्छया** अयत्नतो, **लब्धं** प्राप्तं, **वृन्ताकं दग्धान्नं** वृन्ताकं दग्धमन्नं च स्थालीपुरीषं तयोः समाहारस्तत् **कलञ्जादि** कलञ्जमादि मुख्यं यस्य तत्तथोक्तमादिपदेन लशुनगृञ्जनादिकमपि, **अश्नाति** भक्षति, तस्य निषिद्धवृन्ताकादिभोजिनो **हरिः** सर्वद्वैतहरणशील आत्मा, **अदूरतरो** न दूरतरोऽतिसन्निकृष्ट इत्यर्थः, अस्ति अतो लोकशास्त्रेषु कलञ्जादिभक्षकाणां भगवत्पदं दूर इति यदुक्तं तदयुक्तमिति भावः।।४५।। (११६३)

किञ्च धर्मशास्त्रे वारुणीपानेन नरकप्राप्तिर्भवतीति प्रतिपादितम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **भृगव इति।** हे शिष्य **भृगवे** भृगुनामकाय वरुणपुत्राय तमेव वरुणं शरणंगताय, **वरुणेन** प्रचेतसो, **उक्ता** कथिता, या **ब्रह्मविद्या** ब्रह्मणो देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यस्य वस्तुनो विद्या ज्ञानमस्ति, सा तु सैव **वारुणी** वारुणी नाम्नी अस्ति, वरुणेन प्रोक्तत्वा'त्तेन प्रोक्तमि'त्यण् 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन्प्रतिष्ठिते'ति श्रुतेः, **तद्वारुणीरसास्वादमत्तानां** सोक्तलक्षणा या वारुणी वारुणीनाम्नी मदिरा तस्या रसः सुखं 'रसौ वै स' इति श्रुतेः तस्यास्वादोऽनुभवः तेन मत्ता उन्मनीभावं प्राप्ताः तेषां, **उत्तमा** श्रेष्ठा, **गतिः** स्थितिः भवति, यद्वा उद्गतं निवृत्तं तमोऽज्ञानलक्षणमान्ध्यं यस्याः सकाशादित्यु**त्तमा** स्वयंप्रकाशात्मस्वरूपा स्थितिः भवतीत्यर्थः अतो धर्मशास्त्रेषु वारुणीपातेन नरकपातो भवतीत्युक्तं असमञ्जसमेवेति भावः।।४६।। (११६४)

जो ब्रह्म को पहचाने वही ब्राह्मण है, इस अर्थ में चित्त ही सच्चा ब्राह्मण है, उस ब्राह्मण (चित्त) की वृत्ति (विचारधारा या जीविका) का लोप जिसने कर दिया हो वह वृत्तिलोप करने वाला भी धन्य होता है (ब्राह्मण की वृत्ति को हरण करने वाले ऐसे महापुरुष को अनेकानेक साधुवाद)।।४४।।

(मैं विहित अन्न ही खाऊँ ऐसा यदि वहम करेगा तो मनन में विक्षेप होगा इस विचार से) जो ज्ञानी बिना ही प्रयत्न किये प्राप्त हुए बैंगन, पात्रों की खुरचन, तथा कलिंज आदि निषिद्ध अन्नों तथा दुरागतादि दूषणों से दूषित भोजनों को भी खा लेता है, उस निषिद्धभोजी से परमात्मा दूर नहीं रहता (किन्तु उन्हें भागवत पद की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है)।।४५।।

भृगवे वरुणेनोक्ता ब्रह्मविद्या तु वारुणी।
तद्वारुणीरसास्वादमत्तानामुत्तमा गतिः।।४६।। (११६४)
पराग्वृत्तिं परित्यज्य या प्रत्यक् सा तु वारुणी।
तदभ्यासरतानां च न दूरे परमं पदम्।।४७।। (११६५)
सुन्दरीं वीक्ष्य चित्कान्तामिन्द्रियेश्वरमिन्द्रियम्।
मानसं स्खलितं येषां ते मुक्ता अजितेन्द्रियाः।।४८।। (११६६)

अस्यैवार्थं स्पष्टयति **पराग्वृत्तिम् इति**। हे शिष्य **पराग्वृत्तिं** पराची बाह्यदृश्यविषया या वृत्तिः अन्तःकरणस्य साभासोंशः तां, **परित्यज्य** विहाय, **या** प्रसिद्धा ज्ञानिषु, **प्रत्यक्** अन्तरात्मविषयिण्यपरोक्षानुभूतिरिति अपरपर्यायाऽस्ति, **सा तु** लोकप्रसिद्धवृत्तिविलक्षणा उक्तलक्षणा वृत्तिरेव, **वारुणी** वरुणेन प्रोक्ता वारुणी अस्तु, ततः किमित्यत आह **तदिति। तदभ्यासरतानां** तस्या उक्तलक्षणाया अहं ब्रह्मास्मीति वृत्तेः योऽभ्यासः पुनः पुनरावर्त्तनं तत्र ये रता रमणास्तेषां च तेषामेव नान्येषामित्यर्थः, **परमं** कार्यकारणातीतं, **पदं** स्वरूपं, **न दूरे** नैव दूरदेशेऽस्ति, किन्तु समीपमेवास्ति आत्मत्वात् तद्वृत्तिमत्त्वाच्च तेषामिति भावः।।४७।। (११६५)

किञ्च शास्त्रेषु अजितेन्द्रियाणां मोक्षो नास्तीत्यापादितम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **सुन्दरीम् इति**। हे शिष्य **येषां** ज्ञानिनां, **सुन्दरीं** सुखस्वरूपं, **चित्कान्तां** कमनीयां चिद्रूपां, **वीक्ष्य** साक्षादवलोक्य चिद्रूपां मुमुक्षुकामनाविषयामनुभूय इत्यर्थः, **इन्द्रियेश्वरं** समस्तेन्द्रियाणामध्यक्षं, **इन्द्रियम्** अन्तःकरणरूपं, **मानसं** मनः, **स्खलितं** स्रस्तमसत्त्वं संपन्नमित्यर्थः, लोकेपि स्खलितेन्द्रियाणामजितेन्द्रियत्वप्रसिद्धेः **ते** उक्तलक्षणा स्खलितेन्द्रिया, **अजितेन्द्रिया** न जितं वशीकृतं इन्द्रियम् अन्तःकरणं यैः ते तथोक्ता, मनसोऽसत्त्वात् तद्वशीकारस्यापि तथात्वाद् अजितेन्द्रियत्वं, **मुक्ता** मोक्षं प्राप्ता इत्यर्थः, मनोनाशस्यैव मोक्षत्वप्रसिद्धेः अतोऽजितेन्द्रियाणां मोक्षो नास्तीत्युक्तिरयुक्तेति भावः।।४८।। (११६६)

जब भृगु ऋषि अपने पिता वरुण की शरण में गये तो उन्होंने उनको ब्रह्मविद्या का उपदेश किया तभी से उसका नाम 'वारुणी' विद्या पड़ गया। (वरुण की कही हुई विद्या भी 'वारुणी' और मदिरा भी 'वारुणी' कहाती है) उस वारुणी के रसास्वाद से जो लोग मत्त हो जाते (उन्मनी अवस्था को पा लेते) हैं उनको श्रेष्ठ गति मिलकर ही रहती है।।४६।।

बाह्य वृत्तियों को छोड़कर, जो कि ज्ञानी लोगों में, अन्तरात्मविषयक एक अद्भुत वृत्ति रहती है (जिसको अपरोक्षानुभूति भी कहते हैं) वही वारुणी (वरुण ऋषि की बतायी हुई) वृत्ति कहाती है। उस वृत्ति के अभ्यास में जो सर्वात्मना रत रहते हैं उनसे परमपद दूर नहीं रहता।।४७।।

सुन्दरी (सुखरूपिणी) चैतन्य नाम की कमनीय स्त्री को देखकर (उसका साक्षात्कार अथवा अनुभव करके) जिनका सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन स्खलित (नष्ट) हो

योगभूमिं समारुह्य गम्भीरे ब्रह्मसागरे।
पश्चान्निपतितो लीन आरूढपतितः शुचिः।।४९।। (११६७)
चिद्विद्याकर्मनाशायां नद्यां स्नानं मया कृतम्।
कर्मनाशाजलस्पर्शात् कर्मबन्धो निवर्त्तते।।५०।। (११६८)

किञ्च आरूढपतितानामशुचित्वं लोकशास्त्रे प्रतिपादितमत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **योगभूमिं इति**। हे शिष्य **यः** कोपि पुरुषः पूर्वं **योगभूमिं** योगो जीवब्रह्मैक्यज्ञानं तस्य भूमिं भुवं तुर्याभिधां सप्तमभूमिमित्यर्थः, **समारुह्य** सम्यगारुह्य संप्राप्येत्यर्थः, **पश्चाद्** अनन्तरं, **गम्भीरे** निम्ने, **ब्रह्मसागरे ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु तदेव **सागरः** समुद्र इव तस्मिन् निपतितो योगभूमितो ब्रह्मणि स्खलितः सन् **लीनः** तत्रैव लयं प्राप्तः, स तथाविध **आरूढपतितः** पूर्वमारूढः पश्चात् पतितः पातं प्राप्तः स, **शुचिः** शुद्धोऽस्ति अत आरूढपतितानां यत्पातित्यं प्रतिपादितं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।४९।। (११६७)

किञ्च लोकशास्त्रे कर्मनाशानदीजलस्पर्शो निषेधितोऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **चिद्विद्या इति**। हे शिष्य **मया** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासेन, **चिद्विद्याकर्मनाशायां** चितो विद्या ज्ञानं प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मचैतन्यज्ञापिका अहं ब्रह्मास्मीति प्रमाख्या वृत्तिः अत्र ग्राह्या, सैव कर्म त्रिविधमपि सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणाख्यं नाशयतीति सा तथोक्ता तस्यां, **नद्यां** सन्ततं प्रवाहवत्त्वेन नदीवत् तस्यां, **स्नानं** अवगाहनं, **कृतं** आचरितं, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'ति श्रुतेः, 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी'ति स्मृतेः, ततश्च किं फलं प्राप्तं? तत्राह **कर्मनाशेति**। **कर्मनाशाजलस्पर्शात्** कर्मणां नाशिका या विद्या तस्या यज्जलं रसशब्दवाच्यं ब्रह्मसुखं तस्य स्पर्शः अनुभवः तस्माद्, यद्वा डलयोरभेदात् कर्मनाशया सह यो जडस्य जाड्यांशस्य स्पर्शो योगः तस्मात् **कर्मबन्धः** कर्मभिः कृतो यो बन्धो बन्धनं अकर्त्रात्मनि कर्तृभोक्तृत्वरूपः, स **निवर्त्तते** विनश्यति, इत्येवं मत्कर्मबन्धनिवृत्त्या निश्चितं अतः कर्मनाशाजलस्पर्शो न कर्त्तव्य इति लोकशास्त्रेषु उक्तं असमञ्जसमेवेति भावः।।५०।। (११६८)

जाय, स्खलितेन्द्रिय होने से अजितेन्द्रिय कहे जा सकने वाले वे लोग भी मुक्त हो जाते हैं।।४८।।

जो कोई महापुरुष योग की (सातवी या चौथी) भूमिका पर चढ़कर फिर अतिगम्भीर ब्रह्मसागर में गिर पड़ा और वहीं लीन हो गया ऐसा आरूढपतित (ऊँचा चढ़कर गिरा हुआ) पुरुष भी शुद्ध होता है। (सभी आरूढपतित पापी नहीं होते प्रत्युत ऐसे आरूढपतित होने में तो प्रत्येक मुमुक्षु और मुक्त को गर्व होना चाहिये)।।४९।।

हे शिष्य, आत्मविद्यारूपी कर्मनाशा नदी में मैंने तो स्नान कर डाला है। इस विचित्र कर्मनाशा नदी के (ब्रह्मरूपी) जल का स्पर्श (अनुभव) कर लेने से ही कर्मबन्धन सर्वथा नष्ट हो जाता है (यह मैंने अपने कर्मबन्धन के नष्ट हो जाने से अनुभव किया है। फिर मैं कर्मनाशा के जलों के स्पर्श को सर्वथा निषिद्ध क्योंकर मान लूँ)।।५०।।

अङ्गबङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
सर्वत्र परिपूर्णोऽहं पुनः संस्कारवर्जितः।।५१।। (११६९)
निजं गृहं परित्यज्य रमते परमन्दिरे।
स गृहस्थो गतिं गच्छेत्परामिति विदां मतम्।।५२।। (११७०)

किञ्चाङ्गबङ्गादिनिषिद्धदेशेषु वासे कृते पुनः संस्कारः कर्त्तव्य इति लोकशास्त्रेषु उक्तम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **अङ्गबङ्ग इति।** हे शिष्य **अङ्गबङ्गकलिङ्गेषु** अङ्गश्चाङ्गनामको देशविशेषो बङ्गश्च बङ्गनामको देशविशेषः कलिङ्गश्च कलिङ्गनामको देशविशेषः, तथा **सौराष्ट्रमगधेषु च** सौराष्ट्रश्चैतन्नामको देशः[1] तेषु अनुक्तसमुच्चयार्थश्चशब्दः, **सर्वत्र** उक्तानुक्तेषु सर्वेषु निषिद्धदेशेषु शुद्धदेशेऽपि, **अहं** अहंपदलक्ष्यो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा, **परिपूर्णः** व्याप्तोऽस्मि, तथापि पुनः **संस्कारवर्जितः पुनः** भूयः संस्कारो व्रतबन्धादिरूपः तेन वर्जितो रहितः, किञ्च पुनः वारं वारं यः संस्कारो जन्मादिकारणीभूतो वासनारूपः तेनापि वर्जितो हीनोऽस्मि निर्विकारब्रह्मरूपत्वाद् अतो बङ्गादिनिन्द्यस्थानात् पुनः संस्काररूपं प्रायश्चित्तमभिहितं तदयुक्तमेवति भावः।।५१।। (११६९)

किञ्च गृहस्थानां स्वगृहं त्यक्त्वाऽन्यगृहवासो निषेधितो लौकिकशास्त्रेषु, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **निजम् इति।** हे शिष्य **यो** गृहस्थो, **निजं** स्वीयं, **गृहं** गृह्यते स्वात्मतयाऽङ्गीक्रियते इति गृहं शरीरत्रयं, **परित्यज्य** विसृज्य शरीरत्रये स्वत्वं स्वीयत्वं चोभयमपि विहायेत्यर्थः, **परमन्दिरे** परं कार्यकारणातीतं परिपूर्णस्वरूपं च यद् ब्रह्माभिन्नं प्रत्यगात्मचैतन्यं तदेव मन्दिरं गृहमिव सर्ववासत्वात्तस्मिन् ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मनि, **रमते** क्रीडति, **स** उक्तलक्षणो, गृहस्थो लोकदृष्ट्या व्यवहारदशायां **गृहस्थो** गृहे शरीरत्रये स्थः स्थितोपि, **परां** अतिश्रेष्ठां, **गतिं** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मरूपां स्थितिं **गच्छेत्** प्राप्नुयादित्येवं, **विदां** ज्ञानिनां, **मतं** निश्चितमस्ति, अर्थात् लौकिकशास्त्रे परगृहेषु रमतां स्वगृहत्यागेन गृहस्थानां नरकप्राप्तिरिति वर्णितं यत् तद् अज्ञानिमतमेवेति भावः।।५२।। (११७०)

अङ्ग (भागलपुर के समीप का प्रान्त) बङ्ग (समुद्र से ब्रह्मपुत्र तक का देश) कलिङ्ग (जगन्नाथ से कृष्णा के तीर तक का देश) सौराष्ट्र, मगध (बिहार का दक्षिण प्रदेश) तथा और भी बहुत से (निषिद्ध एवं निवासायोग्य) देशों में मैं चिदात्मा परिपूर्ण हो रहा हूँ। इन देशों में जाने पर भी, फिर शुद्ध होने के लिये मुझे कोई भी प्रायश्चित्त आदि संस्कार करना नहीं पड़ता। अथवा इन अनन्त स्थानों में भ्रमण कर आने पर भी, बार-बार जन्म दिलानेवाले वासनारूपी संस्कार मुझमें प्रवेश नहीं कर सके हैं।।५१।।

जो कोई गृहस्थ अपने (तीनों शरीररूपी) घर को छोड़ कर (इन तीनों शरीरों में से मैं और मेरेपन के भावों को निकाल करइन तीनों शरीरों को भूलकर) परमन्दिर (अर्थात् परब्रह्म नामक चतुर्थ चैतन्य के घर) में क्रीडा करता रहता है, ऐसा गृहस्थ (लौकिक दृष्टि से तीनों शरीरों में फँसा हुआ) अतिश्रेष्ठ गति को प्राप्त हो जाता है। यह ज्ञानी लोगों का मन्तव्य है। (अपना घर छोड़कर पर घर में रमण करने वालों को निकृष्ट गति मिलने की लौकिक शास्त्रों की बात अज्ञानी लोगों के लिये है)।।५२।।

---

[1] 'मगध एतन्नामको देशविशेषः'इति स्खलितः स्यात् पाठः।

आत्मनः सुखलोभेन सुकृतं येन हारितम्।
स एव सुकृती शेषः सुकृत्यपि हि दुष्कृती।।५३।। (११७१)

किञ्च 'न जातु कामान्नभयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो'रित्यादिना लौकिकशास्त्रेषु सुखलोभेन सुकृतलक्षणो धर्मो न त्याज्य इति उक्तम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **आत्मन इति**। हे शिष्य **येन** पुरुषेण, **आत्मनो** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मनः, अभेदेऽपि भेदव्यपदेशेन षष्ठी राहोः शिर इति वद् आत्मनः स्वरूपभूतमित्यर्थः, **यत्सुखम्** 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, यो वै भूमा तत्सुखं, रसो वै स' इत्यादिश्रुतिभ्यः तस्य सुखस्य आनन्दस्य **लोभेन** अलंबुद्ध्यभावेन निमित्तेन **सुकृतं** पुण्यकर्मापि, **हारितं** विनाशितं असत्त्वदृष्ट्यानादृतं, यद्वा **हारितं** ईश्वरे समर्पितं, 'नान्योतोस्ति द्रष्टे'त्यादिश्रुतेः परमात्मनः सकाशात् कर्तृत्वस्य पृथगसत्त्वेन स्वकर्तृकं सुकृतं यत्प्रतीयते तन्न स्वस्य किन्तु ईश्वरस्यैव परात्मनस्तन्न ममेति निश्चितमिति भावः, **स एव** उक्तलक्षणः सुकृतत्याग्येव **सुकृती** सुकृतं पुण्यकर्म अस्य अस्तीति, **स** तथोक्तः सर्वपुण्यफलभूतात्मसुखलोभवत्त्वात्, **शेषः** तदन्यः कश्चित्, **सुकृत्यपि हि** लौकिकशास्त्रेषु प्रसिद्धो लोकदृष्ट्यापि पुण्यकर्मा प्रतीयमानोपि अस्मद्दृष्ट्या **दुष्कृती** दुष्कृतं पापकर्म अस्य विद्यते स तथाभूतोऽस्ति संसारलक्षणनरकप्राप्तिहेतुत्वात्, लौकिकपुण्यकर्मणोऽतः सुखलोभकामाभ्यां जन्ममरणादिसंसारभयहेतुकत्वात् तद् विहाय सर्वदा सद्रूपस्थितिरूपजीवनहेतुत्वेन सुकृतत्यागादेव मुक्तिसिद्धेः न जात्वित्यादिषु उक्तम् उन्मत्तप्रलपितमेवेति भावः।।५३।। (११७१)

आत्मा के सुख के लोभ में आकर जिसने अपने पुण्य को भी नष्ट कर डाला हो (ईश्वरार्पण कर दिया हो किंवा आत्मसुख के जुए में हार दिया हो) तो इस प्रकार सुकृतों का उदात्त त्याग करने वाला ही सच्चा सुकृती कहाता है। शेष तो सारे पुण्यशील भी पापशील ही हैं।

विचार कर देखो तो कर्तृत्व भी परमात्मा से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है इससे अपने किये हुए पुण्यों को अपना न समझ कर परमात्मा का ही समझना चाहियेउनमें से अपनापन खींच लेना चाहिये। वह ज्ञानी इन पुण्यों का त्याग इस लिये करता है कि उस पर सकल पुण्यों के फल, आत्मसुख का अलौकिक लोभ ही सवार हुआ रहता है। ऐसे सुकृती (पुण्यशाली) से भिन्न लौकिक सुकृतियों को पापी कह देने का भाव तो यह है कि जो मनुष्य आज पुण्यशाली है कल उसे जब पुण्यभोग मिलेगा तो वह प्रमादी होते होते पापाचारी हो जायगा, फिर पापाचरणों का दुष्परिणाम जब उसे भुगतना होगा तो उसे बड़ा ही पछतावा होगा कि हाय! मैंने पुण्य कर्म नहीं किये थे। यदि मैंने पुण्यकर्म किये होते। तो आज मुझे यह महादुःख क्यों भोगना पड़ता। बस इसी पश्चात्ताप से पुण्यवासना उत्पन्न हो जायगी। फिर पुण्यकर्म करेगा। पुण्यकर्मों का

अज्ञानमेव विज्ञानमविवेको विवेकिता।
सर्वात्मकत्वं कैवल्यं येषां ते सिद्धसत्तमाः।।५४।। (११७२)

किञ्च लोकशास्त्रेषु ज्ञानस्यैव ज्ञानत्वं विवेकस्यैव विवेकत्वं अद्वैतरूपस्यैव कैवल्यत्वं प्रतिपाद्यतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **अज्ञानमेव इति**। हे शिष्य **अज्ञानमेव** न विद्यते ज्ञानं यस्मात् तद् अज्ञानं उत्तमं ज्ञानं, यद्वा न विद्यते ज्ञानं ज्ञेयविषयीकरणं यस्मिंस्तद् अज्ञानं चेत्यरहितं चिन्मात्ररूपं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मचैतन्यं तदेव, **विज्ञानं** विशिष्टं ज्ञानं येषां; किञ्च **अविवेको विवेकिता** अविवेको विविक्तस्वरूपत्वाद् विवेकसदृशः अविवेको विवेकिता येषां अस्ति सर्वद्वैतात्यन्तासत्त्वाद्वात्मैवाविवेकशब्देन ग्राह्य उभयत्र नञ्पर्युदासार्थो, न ब्राह्मणोऽब्राह्मण इति वद्, विवेकिता विवेकित्वं विवेकफलमित्यर्थः, येषाम् अस्ति; किञ्च **सर्वात्मकत्वं** समस्तस्य जगतो द्वैतस्य, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'ति श्रुतिदृष्ट्या सर्वबाधेनाऽऽत्मकत्वं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वं **कैवल्यं** केवलस्याखण्डरसात्मन आत्मकत्वं, **येषां** अस्ति **ते** उक्तलक्षणवन्तः, **सिद्धसत्तमाः** सिद्धेषु स्वात्मसाक्षात्कारवत्सु मध्ये सत्तमा अतिश्रेष्ठा ज्ञेयाः, अतो लोकशास्त्रे ज्ञानस्य ज्ञानत्वं विवेकस्य विवेकत्वं अद्वैतस्य केवलत्वं यदुक्तं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।५४।। (११७२)

किञ्च लोकशास्त्रेषु विपरीतकारिणां नरकपातो वर्णितोऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **बोध इति**। **ये** ज्ञानिनो, **यदवधानेन** यस्य मनसो मनःकर्तृकमवधानमनुसन्धानं तेन कृत्वा, **बोधः** श्रवणादिना जीवब्रह्मैक्यज्ञानं जायते तत् स्वोपकारकं, **मनः** चित्तं, **नाशयन्ति** आत्मनः पृथगसत्त्वदृष्ट्या अवलोकयन्ति, **तेषां** उक्तविधानां, **विपरीतकृतां** विपरीतकारिणां, **मुक्तिः** मोक्षो भवतीति, एवं

मधुर भोग उसे जब मिलेगा तब फिर पहले की तरह प्रमादी हो जायगा। यों यह जीव कभी पुण्यात्मा और कभी पापात्मा होता ही रहता है। ऐसे लौकिक पुण्यात्माओं को वेदान्तसिद्धान्त में पुण्यात्मा समझा ही नहीं जाता। अपने पुण्यों को आत्मसुख के जुए में हार जाने वाले अर्थात् निष्काम कर्म करने वाले लोग ही इस मार्ग में सच्चे सुकृती गिने जाते हैं।।५३।।

और अचम्भे की बात देखो कि सबसे श्रेष्ठ सिद्ध तो वे हैं जिनके मत में अज्ञान ही विज्ञान है, जिनके विचार में अविवेक ही विवेक समझा जाता है तथा जो सर्वात्मकता को ही कैवल्य समझ बैठते हैं।

लौकिक लोग भले ही ज्ञान को ज्ञान, विवेक को विवेक तथा अद्वैत को ही कैवल्य समझते रहें, परन्तु सर्वश्रेष्ठ सिद्ध तो वे ही हैं जिनकी सूक्ष्मदृष्टि में अज्ञान (ज्ञेयपदार्थों के न रहने पर चिन्मात्ररूपी ब्रह्मचैतन्य) को ही विशेषज्ञान कहा जाता है, अविवेकरूपी आत्मतत्त्वको ही विवेकिता अर्थात् विवेक का फल समझा जाता है तथा सर्वरूपता ही पूरा कैवल्य हो जाती है।।५४।।

बोधो यदवधानेन तन्मनो नाशयन्ति ये।
विपरीतकृतां तेषां मुक्तिरित्याह शङ्करः।।५५।। (११७३)
वेदान्तपाठरूपेण स्वधर्माः कीर्त्तिता मया।
स्वधर्मकीर्त्तनादेव सायुज्यं पदमर्जितम्।।५६।। (११७४)

शङ्करः सर्वजगत्सुखप्रदः शिव, **आह** कथयामास, शंकरपदेन तद्वचने प्रमाणता सूचिता, एवं वदतां एव च शंकरत्वमपि अतो विपरीतकारिणां नरकपातो भवतीत्यसमञ्जसमेवोक्तमिति भावः।।५५।। (११७३)

किञ्च लोकशास्त्रे स्वधर्मकीर्तनं निषिद्धमत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **वेदान्तेति**। हे शिष्य **मया** ज्ञानवता, **वेदान्तपाठरूपेण** वेदान्तानामुपनिषदादिग्रन्थानां पाठः पठनं तदेव रूपं स्वरूपं यस्य तेन, **स्वधर्माः** स्वस्यात्मनो ये धर्मा असङ्गनिर्विकारत्वादिस्वभावाः, **कीर्तिताः** कथिताः सन्ति, तेन च किं फलं प्राप्तं? तदाह **स्वधर्मेति। स्वधर्मकीर्त्तनात्** स्वस्यात्मनो ये धर्माःस्वभावाः तेषां कीर्त्तनं कथनं तस्मात्, **सायुज्यं** ब्रह्मणा सहैक्यं पदमेव, **अर्जितं** सम्पादितं, अतो धर्मशास्त्रे स्वधर्मकीर्तननिषेधोऽयुक्त एवेति भावः।।५६।। (११७४)

किञ्च द्विभार्यब्राह्मणस्य पूर्वपतिव्रताभार्यात्यागेन द्वितीयभार्यानिषेधो धर्मशास्त्रेऽभिहितोऽत्र तु उन्मत्तः स एव विहित इति प्रलपति **द्विभार्य इति**। हे शिष्य **यस्तु** यो ज्ञानिषु प्रसिद्धो लोकविलक्षणो, **द्विभार्यो** द्वे भार्ये जाये यस्य स तथोक्तः, प्रवृत्तिनिवृत्त्याख्ये भार्ये अत्र वक्ष्यमाणे **ब्राह्मणो** ब्रह्मवेत्ता, **परस्या** द्वितीयभार्यया, **गुणलोभेन** गुणानां शान्तिदान्त्यादिधर्माणां लोभेन इच्छया, **पूर्वां** प्रथमभूतां, **पतिव्रतां** पत्युः कर्तृरूपस्य व्रतं नियम इव नियमो व्रतं यस्याः तां, **त्यजेत्** जह्यात्, **स** उक्तलक्षणः पूर्वभार्यात्यागी, **परमां** श्रेष्ठां मुक्तिरूपां, **गतिं** स्थितिं, **याति** प्राप्नोति।।५७।। (११७५)

जिस मन के किये हुए अवधान (अनुसन्धान) से (श्रवणादि के द्वारा) बोध जैसी पवित्र वस्तु हाथ लग जाती है उस (अपने उपकारी) मन को भी जो (निर्दय) लोग नष्ट कर डालते हैं वे विपरीतकारी लोग भी मोक्ष को पाते हैं यह बात शंकर ने कही है। (सब विपरीतकारी नरकगामी ही होते हों यह बात हमें माननीय नहीं है। यहाँ पर मन को नष्ट कर डालने से अभिप्राय उसको आत्मा से पृथक् असत् समझ लेने से है)।।५५।।

वेदान्तपाठ के रूप में (उपनिषदादि वेदान्त ग्रन्थों के स्वाध्याय का बहाना बना कर) मैंने अपने (असंगता निर्विकारता आदि अलौकिक) धर्मों का कीर्तन अपने ही मुँह से कर डाला है और इस स्वधर्मकीर्तन की महिमा से ही मैंने सायुज्य (ऐक्य पद) का अर्जन कर लिया है। (ऐसी अवस्था में 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' इत्यादि लौकिक शास्त्रों का, सब ही स्वधर्मकीर्तनों को निषिद्ध बताना उचित नहीं)।।५६।।

द्विभार्यो ब्राह्मणो यस्तु त्यजेत्पूर्वां पतिव्रताम्।
परस्या गुणलोभेन स याति परमां गतिम्।।५७।। (११७५)

एतस्य विवरणम्

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्वे भार्ये वेदबोधिते।
प्रथमा कर्मनिष्ठा स्याद् ब्रह्मनिष्ठा तथाऽपरा।।५८।। (११७६)

एतच्छ्लोकस्यार्थं स्वमुखेनैव प्रतिपादयितुं गद्येन प्रतिजानीते **एतस्येति। एतस्यास्य** श्लोकस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तत्प्रतिज्ञातमेवाह **प्रवृत्तिश्च इति।** हे शिष्य ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य **प्रवृत्तिश्च** प्रवृत्तिनाम्नी एका, **निवृत्तिश्च** निवृत्तिनाम्नी, **अपरा** इत्येवं, **द्वे** उभे, **भार्ये** जाये, 'तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनरि'ति श्रुतेः प्रवृत्तिस्त्रियां प्रवृत्तरूपेण स्वोत्पत्तेः, निवृत्तिस्त्रियां च निवृत्तरूपेण स्वोत्पत्तेश्चानुभूयमानत्वात् प्रवृत्तनिवृत्तयोश्च पोषकत्वेनापि उभयोर्भार्यात्वं प्रवृत्तिनिवृत्योरिति ज्ञेयं, ते एते भार्ये **वेदबोधिते** वेदेन श्रुत्या बोधिते प्रतिपादिते स्तः। तयोः स्वभावभेदेनापि नामान्तरे आह **प्रथमेति। प्रथमा** प्रवृत्तिनाम्नी भार्या, **कर्मनिष्ठा** कर्मणि विहितक्रियायां निष्ठा सहजप्रवृत्तिर्यस्याः सा तथोक्ता, **स्यात्** भवेत्, **तथा** तद्वद्, परा निवृत्तिनाम्नी भार्या **ब्रह्मनिष्ठा** ब्रह्मणि देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्य आत्मवस्तुनि, **निष्ठा** सहजं प्रेम यस्याः सा तथाविधा अस्ति भवति, एते उभे मती अत्र ग्राह्ये।।५८।। (११७६)

स्वभावान्तरभेदेनापि तयोर्नामभेदान्तरमाह **कर्कशेति।** हे शिष्य **तयोः** प्रवृत्तिनिवृत्योः, **कर्कशा** दुःखप्रदत्वात् कर्कशा कठोरा, **रसिका च** सुखप्रदत्वाद् रसिका सुखदा इत्येवं, **क्रमात्** क्रमेण, **नामान्तरं** अन्यदपि नामान्तरम् नामभेदोऽस्ति, जातित्वादेकवचनम्। तयोः स्थाने अप्याह **कर्कशेति।** हे शिष्य **कर्कशा** कर्कशानाम्नी भार्या, **कर्मकाण्डस्था** कर्मणः प्रतिपादकं यत्काण्डं वेदभागः तस्मिन्नेव तिष्ठतीति सा तथोक्ताऽस्ति, प्रवृत्तिनाम्न्याः भार्यायाः कर्मकाण्डमेव स्थानं तत्रैव ततस्थितेः उपलभ्यमानत्वादिति भावः, किञ्च **रसिका** एतन्नाम्नी भार्या, **ब्रह्मवादिनी** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यम् आत्मवस्तु वदितुं शीलमस्याः सा तथोक्ता, अस्ति ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषद्भागे तदुपलब्धेस्तदेव तत्स्थानमिति भावः।।५९।। (११७७)

यदि कोई दो भार्या वाला ब्राह्मण दूसरी भार्या के (शान्ति आदि) गुणों का लोभी होकर पहली पतिव्रता को छोड़ बैठे तो, उसे परमगति मिल जाती है यह आश्चर्य तो देखो।।५७।।

वेद ने प्रवृत्ति और निवृत्ति नाम की दो भार्यायें बतायी हैं उनमें से प्रवृत्तिभार्या का तो स्वाभाविक प्रेम विहित कर्मों में ही रहता है। दूसरी निवृत्तिभार्या तो स्वभाव से ही ब्रह्म के साथ गाढ प्रेम रखती है।

लोगों की दो प्रकार की बुद्धियाँ पायी जाती हैं। कुछ लोग स्वभाव से कर्म के प्रेमी होते हैं तथा कुछ स्वभाव से ब्रह्मप्रेमी पाये जाते हैं।।५८।।

कर्कशा रसिका चेति तयोर्नामान्तरं क्रमात्।
कर्कशा कर्मकाण्डस्था रसिका ब्रह्मवादिनी।।५९।। (११७७)
कर्कशा रसिका चेति यद्यपि द्वे पतिव्रते।
रसिका स्वपतिं भुंक्ते कर्कशा कष्टभागिनी।।६०।। (११७८)
कर्मनिष्ठा तु दासीव गृहकर्मरता सदा।
ज्ञाननिष्ठा महाराज्ञी राजसिंहासने स्थिता।।६१।। (११७९)

ननु कर्कशा भार्या दुःशीलत्वाद् व्यभिचारिणी स्यादतस्त्याज्यैव सा इत्याशङ्क्य, द्वयोरपि पातिव्रत्यमाह **कर्कशा इति**। हे शिष्य **कर्कशा** प्रवृत्तिनाम्नी भार्या, **रसिका च** निवृत्तिनाम्नी भार्यापि इत्येवंप्रकारे, **द्वे** उभे, **पतिव्रते** पत्युः प्रवृत्तस्य निवृत्तस्य च प्रमातुः व्रतं नियमः कर्मप्रवृत्तिज्ञानप्रवृत्तिरूप इव व्रतं नियमो ययोः ते तथोक्ते स्तो, **यद्यपि** सत्यमेवैतत् तथापि **रसिका** निवृत्तिभार्या, **स्वपतिं** स्वस्याः पतिः पालको ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा तमेव सर्वदा, **भुंक्ते** अनुभवति, किञ्च **कर्कशा** प्रवृत्तिभार्या, **कष्टभागिनी** कष्टं दुःखं संसाररूपं भजते सेवते तच्छीला अस्ति एवं तयोरन्तरं ज्ञेयम्।।६०।। (११७८)

अन्यमपि उच्चत्वनीचत्वरूपं भेदमाह **कर्मनिष्ठा तु इति**। हे शिष्य **कर्मनिष्ठा तु** कर्मणि विहितक्रियायां निष्ठा सहजप्रीतिर्यस्याः सा तथोक्ता प्रवृत्तिभार्या, तु-पदेन अस्या निवृत्तिभार्यातो महत् नीचत्वं सूचितं, तदेव स्पष्टयति **दासीव** यथा दासी सदैव गृहकर्म लेपनसंमार्जनादिकं करोति सम्पादयति तद्वत्, **सर्वदा** सर्वकालं, **गृहकर्मरता** गृह्यते स्वात्मतयाऽङ्गीक्रियते इति गृहं शरीरं तस्य यत् कर्म स्वस्ववर्णाश्रमविहितं सन्ध्यावन्दनादि नित्यं नैमित्तिकं च जातेष्ट्यादिकं तत्र रता आसक्ता भवति **ज्ञाननिष्ठा** ज्ञाने जीवब्रह्मैक्यबोधे निष्ठा सहजप्रीतिः यस्याः सा तथोक्ता निवृत्तिभार्या, **महाराज्ञी** महान् अपरिच्छिन्नब्रह्मरूप आत्मैव राजा स्वयम्प्रकाशत्वात्तस्येयं, **महाराज्ञी** स्वयम्प्रकाशात्मविषयिणीत्यर्थः, अतः सा **राजसिंहासने** राज्ञः स्वयंप्रकाशात्मनः सिंहासने हिंसति सर्वं द्वैतमिति सिंहं सर्वद्वैतापवादरूपमासनं स्थितिस्तस्मिन्नेव, **स्थिता** वर्त्तते इत्यर्थः।।६१।। (११७९)

उन दोनों भार्याओं के कर्कशा और रसिका ये दो और नाम भी पाये जाते हैं। उनमें से कर्कशा नाम की भार्या अधिकतर कर्मकाण्ड में ही लगी रहती है। दूसरी रसिका भार्या तो ब्रह्मवादिनी है।।५९।।

यद्यपि कर्कशा और रसिका ये दोनों ही पतिव्रता हैं (इन दोनों ने ही अपने पति की कर्मप्रवृत्ति तथा ज्ञानप्रवृत्ति को ही अपना-अपना व्रत बना लिया है) तो भी रसिका में यह विशेषता है कि वह अपने पति आत्मदेव को भोगा करती है, दूसरी बिचारी कर्कशा प्रवृत्तिभार्या (कष्टरूप संसार में फँसी रह जाती है और) कष्ट ही भोगती रहती है।।६०।।

पतिहेतोर्दिवानक्तं गृहकर्म करोतु सा।
पतिं नालिङ्ग्य निद्राति कथं सौभाग्यभागिनी।।६२।। (११८०)

ननु कर्कशापि स्वपत्यर्थमेव कर्म करोति अतस्तस्याः कुतो दासीसादृश्यमुच्यते? तत्राह **पतिहेतोः इति। सा** कर्कशा भार्या, **पतिहेतोः** पतिः प्रमाता तस्य हेतुः प्रयोजनं तस्माद्, **दिवानक्तं** दिवसे रात्रौ च सर्वकालमित्यर्थः, **गृहकर्म** गृहं स्वात्मतया गृह्यतेऽङ्गीक्रियते इति गृहं शरीरं तस्य कर्म सन्ध्यावन्दनादिरूपं वैदिकं लौकिकं भोजनादिकं च, 'शरीरं गृहमुच्यते' इत्युक्तेः **करोतु** निर्वर्त्तयतु तथापि यतः कारणात् **पतिं** पातीति पतिः स्वसत्ताप्रदानेन पालको बुद्धेरात्मा तं, **नालिंग्य** न परिरभ्य तेन सह ऐक्यमप्राप्येत्यर्थः, **निद्राति** निद्रां प्राप्नोतीत्यर्थः, प्रपञ्चास्फुरणपूर्वमात्मस्फुरणरूपां निद्राम् अनुभवतीति भावः, यद्वा प्रपञ्चास्फुरणपूर्वमात्मास्फुरणरूपामित्यर्थः, तस्याऽपि अवास्तवत्वात् निद्रात्वमेव भगवद्वचनात्, ततो हेतोः **सा** कर्कशा, **सौभाग्यभागिनी** सु शोभनं भगं ऐश्वर्यमसङ्गानन्दाद्वयादिरूपं सुभगमेव सौभाग्यं स्वार्थे अण् यत्तद् भजते तच्छीला, **कथं** केन प्रकारेण स्यात् न कथमपीत्यर्थः।।६२।। (११८०)

किञ्च **रसरीतिम् इति। कर्कशा** प्रवृत्तिभार्या, **रसरीतिं** रसस्य सुखस्य रीतिः आचरणं, 'रसो वै स' इति श्रुतेः तां **न जानाति** न वेत्ति, किन्तु **कर्मवादिनी** कर्म क्रियामेव वदितुं प्रतिपादयितुं शीलम् अस्याः सा तथाभूताऽस्ति, किञ्च **पतिव्रता** पत्युः प्रमातृरूपस्य स्वामिनो व्रतं नियम इव व्रतं नियमो यस्याः सा तथाविधा यद्यपि तथापि सा, **स्वभावेन** स्वस्या भावः स्नेहस्तेन कृत्वा, **भर्त्तारं** स्वपोषकं प्रमातारं, कर्तृत्वारोपेण तस्मिन् **केवलं स्तौति** एव प्रशंसत्येव, न तु तत्तात्त्विकरूपज्ञानेन तत्सुखमनुभवतीत्यर्थः।।६३।। (११८१)

विचार यह है कर्मनिष्ठा प्रवृत्तिभार्या तो (घर को लीपने पोतने बुहारनेवाली) दासी की तरह सदा ही इस शरीररूपी घर के कामों (अपने वर्णाश्रम में विहित सन्ध्यावन्दनादि तथा जातकर्म आदि कर्मों) में फँसी रहती है। दूसरी ज्ञाननिष्ठा निवृत्तिभार्या तो महारानी बनकर (सकलद्वैतापवादरूपी) राजसिंहासन पर विराजती रहती है।।६१।।

वह कर्कशा भार्या अपने पति को प्रसन्न करने के लिये भले ही दिन रात इस शरीररूपी घर के कामों (सन्ध्यावन्दनादि वैदिक तथा भोजनादि लौकिक कर्मों) को करती रहो, परन्तु वह बिचारी अपने आत्मारूपी पति का आलिङ्गन करके (उसके साथ एकता को प्राप्त होकर) कभी नहीं सो पाती। फिर भला वह सौभाग्यभागिनी कैसी होगी? (इस कारण से उसे दासी के समान कहा है)।।६२।।

रस किसको कहते हैं यह तो उस बिचारी कर्कशा को मालूम ही नहीं। वह तो केवल काम-काज का ही वर्णन करना जानती है। केवल पतिव्रता धर्म को स्वीकार करके अपने सहज प्रेम से अपने भर्ता की स्तुति करती रहती है (भर्ता के तात्त्विक

रसरीतिं न जानाति कर्कशा कर्मवादिनी।
पतिव्रतास्वभावेन भर्त्तारं स्तौति केवलम्।।६३।। (११८१)
ज्ञाननिष्ठा तु रसिका तत्तत्संस्कारलक्षणैः।
आनन्दयति भर्त्तारं तमेवाश्लिष्य खेलति।।६४।। (११८२)
आसने शयने याने भोजने सा तदन्विता।
क्षणं न तिष्ठति स्वामी तां विना रसलालसः।।६५।। (११८३)

इदानीं प्रवृत्तिभार्यायाः सकाशात् निवृत्तिभार्याया यदन्तरं तत्प्रदर्शयति **ज्ञाननिष्ठा तु इति।** हे शिष्य **ज्ञाननिष्ठा तु** ज्ञाने जीवब्रह्मैक्यबोधे निष्ठा सहजप्रीतिर्यस्याः सा तथाविधा निवृत्तिभार्या तु-पदेन प्रवृत्तिभार्यायाः सकाशाद् महद्वैलक्षण्यं सूचितं, तदेव विशदयति **रसिकेति। रसिका** रसम् आत्मसुखं जानातीति रसिकाऽस्ति, अतः **तत्तत्संस्कारलक्षणैः** ते च ते शान्तिदान्त्यादयः संस्कारा वासनाविशेषाः तान्येव लक्षणानि चिह्नानि तैः, कृत्वा **भर्त्तारं** स्वपोषकं ज्ञानात्मानं, **आनन्दयति** सुखीकरोति, **तमेव** केवलं सुखात्मानमेव न तु दुःखितं संसार्यात्मानमित्यर्थः, **आश्लिष्य** आलिंग्य तेन सह ऐक्यं प्राप्येत्यर्थः, **खेलति** क्रीडतीत्यर्थः, जीवन्मुक्तस्वभावेन व्यापृणोतीति भावः।।६४।। (११८२)

किञ्च **आसन इति। सा** निवृत्तिभार्या, **आसने** स्थाने, **शयने** पर्यङ्कादौ शयने च, **याने** यात्रायां, **भोजने** अन्नादिभक्षणे विषयभोगे वा क्रियमाण इत्यादि सर्वक्रियासु, **तदन्विता** तेन सुखरूपेणात्मना, **अन्विता** युक्ता भवतीति शेषः, आत्मापि तां त्यक्त्वा **क्षणम्** अन्यत्र, **न तिष्ठति** इति तयोरभेदज्ञानायाह **क्षणमिति। स्वामी** निवृत्तिभार्यायाः पतिः चिदात्मेत्यर्थः, **रसलालसः** सन् रसो मुक्तिसुखं तस्मिन् लालसा यस्य स तथोक्तः सन्, **तां** निवृत्तिवनितां, **विना** ऋते, **क्षणं** क्षणमात्रकालमपि, **न तिष्ठति** न वर्त्तते, निवृत्तिवनिताया निवृत्तात्मनश्चैकरूपेणावभासमानत्वादिति भावः।।६५।। (११८३)

रूप को जानकर उसके सुख को भोगने की रीति तो उसे ज्ञात ही नहीं होती) ।।६३।।

ज्ञान में निष्ठा (भक्ति) वाली निवृत्तिभार्या तो रसिका है अर्थात् रसनामक आत्मसुख को खूब ही पहचानती है। वह उन शमदम आदि संस्कारों के कारण अपने भर्ता आत्मदेव को आनन्द पहुँचाती रहती है और उसी सुखरूप आत्मा को आलिङ्गन करकेउसके साथ एकता को प्राप्त होकर(जीवन्मुक्तों की तरह) खेलती रहती है।।६४।।

वह निवृत्तिभार्या बैठते, उठते, सोते, जागते, यात्रा में, भोजन के समय, या फिर विषयभोग करते हुए भी उसी (सुखरूप) आत्मा से चिपकी रहती है। उधर उस निवृत्तिभार्या का पति भी मुक्तिरस का लोभी होकर उस निवृत्तिवनिता के बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता।।६५।।

यस्तु जानाति चातुर्यान्महदन्तरमेनयोः।
स कथं तत्र मूढायां रमेत किमु तत्सुखम्।।६६।। (११८४)
यस्तु कश्चिन्महामूढः पामरः पशुधर्मवान्।
स कर्कशायां रमते रसिकां च न विन्दति।।६७।। (११८५)

अतो ज्ञानी प्रवृत्तिवनितायां नैव रमेतेत्याह **यस्तु इति**। हे शिष्य **यस्तु** यः कोपि ज्ञानी, तुपदेन अज्ञानितोऽस्य महदन्तरं सूचितं, **चातुर्यात्** चतुरः कुशलः तस्य भावश्चातुर्यं तस्माद्, **एनयोः** उक्तविधयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिभार्ययोः, **महद्** अत्यन्तं, **अन्तरं** भेदं, **जानाति** वेत्ति, **स** ज्ञानी तत्र तादृशदुःखरूपभार्यायां, तत्र हेतुः **मूढायां** अज्ञानरूपायां प्रवृत्तिभार्यायां, **कथं** केन हेतुना प्रकारेण वा, **रमते** रमतां ज्ञानाज्ञानयोस्तमःप्रकाशयोरिव एकत्र स्थित्यसम्भवात् न तयोः केनापि प्रकारेण क्रीडा सम्भवतीति भावः, **किमु तत्सुखं** तादृशमूढस्त्रीभागजन्यं सुखं किमु किं तत्र किमपीत्यर्थः, असत्त्वाद् दुःखमिश्रितत्वाच्च न तत्सुखमेवेति भावः।।६६।। (११८४)

तर्हि तत्र केन रतिः कार्येत्यत आह **यस्तु इति**। हे शिष्य **यस्तु** यः प्रसिद्धः कोपि पुरुषो, **महामूढो** महान् अत्यन्तं मूढो मूर्खः, अज्ञानित्वाद् दुःखदपदार्थसेवने कदाचिज्जातेऽपि तज्जन्यदुःखानुभवेन तत्त्यागोऽपि स्यात् तस्य तु तदनुभवेपि तत्रैव पुनः पुनः आसक्तत्वात् महामूढत्वम् अत एव **पामरो** ग्रामीणः, तत्रापि **पशुधर्मवान्** पशूनां श्वादीनां मैथुनसमये शिश्नस्य योन्यन्तरवरोधनेन लोककृतताडनजन्यदुःखस्यानुभूयमानत्वेपि तत्रैव पुनः पुनः प्रवृत्तिरूपो धर्म इव धर्मः प्रवृत्तिर्विद्यते यस्य **स** तथोक्तः उक्तलक्षणो मूर्खः तत्र **कर्कशायां** प्रवृत्तिरूपायां भार्यायां, **रमते** क्रीडति, किञ्च स **रसिकां च** सुखप्रदां निवृत्तिवनितामपि, **न विन्दति** नैव प्राप्नोति।।६७।। (११८५)

तस्यां च दुःखप्राप्तौ तया सह नित्यं च कलहे च जायमानेपि तां न विसृजतीत्याह **तस्यां च इति**। **सः** अतिमूढः **तस्यां** प्रवृत्तिभार्यायां, **दुःखं** क्लेशं, **प्राप्नोति** लभते, **प्रत्यहं** च इति उभयान्वयि नित्यमेव **कलहायते** कलहं करोति, तथापि **भूयः** पुनरपि, **तामेव** प्रवृत्तिभार्यां दुःखरूपामेव भार्यां, **भजते** सेवते। ननु दुःखानुभवे सति पुनः तत्रैव प्रवृत्तिः कुत इत्याशंक्याह **दौर्भाग्यमिति**। **तस्य** अतिमूढस्य तादृशं दुःखानुभवे सति पुनः पुनः तत्रैव प्रवृत्तीच्छारूपं **दौर्भाग्यं** एव जन्मान्तरीयं दुःखप्रदं कर्मैव तत्र प्रवृत्तीच्छाजनकं ज्ञेयम्।।६८।। (११८६)

जो कोई ज्ञानी अपनी चतुराई से इन दोनों के भेद को जाने रहता है वह भला उस दुःखरूप मूढ प्रवृत्तिभार्या में किस प्रकार रमण कर सकता है? उसमें सुख ही क्या है।।६६।।

जो कोई महामूर्ख गँवार पुरुष बिलकुल पशुओं की सी वृत्ति वाला हो गया है (उन्हीं से दुःख पाता और उन्हीं पदार्थों में आसक्त हुआ रहता हैजिसने अपनी वृत्ति कुत्ते आदि निकृष्ट पशुओं की सी बना ली है) वह उस कर्कशा प्रवृत्ति-भार्या को ही अपने रमण के लिए पसन्द करता है और रसिका को नहीं पा सकता तथा उसी प्रवृत्तिभार्या के दिये हुए क्लेशों को भोगता और हर समय उसी से झगडता रहता है।

तस्यां च दुःखमाप्नोति प्रत्यहं कलहायते।
भूयस्तामेव भजते दौर्भाग्यं तस्य तादृशम्।।६८।। (११८६)
अत्र द्विभार्यशास्त्रार्थे विषयोऽयं व्यवस्थितः।
निवृत्तिवनितां त्यक्त्वा प्रवृत्तो नरकं व्रजेत्।।६९।। (११८७)
प्रवृत्तिवनितां त्यक्त्वा निवृत्तो मोक्षमश्नुते।
विषमोप्येष शास्त्रार्थः प्रमाणं व्यासवाक्यतः।।७०।। (११८८)

इति प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रविवरणम्।।

इदानीं अस्य द्विभार्यश्लोकविवरणस्य विषयं स्पष्टयति सार्धेन **अत्र इति।** हे शिष्य **अत्र** अस्मिन्, **द्विभार्यशास्त्रार्थे** द्वे उभे भार्ये जाये तयोः शास्त्रार्थे निर्णये, **अयं** वक्ष्यमाणो, **विषयः** सिद्धान्तो, **व्यवस्थितो** निश्चितोऽस्ति, तमेव व्यक्तं दर्शयति **निवृत्तीति। निवृत्तिवनितां** निवृत्तिरूपा या वनिता भार्या तां, **त्यक्त्वा** विहाय, **प्रवृत्तः** प्रवृत्तिभार्यागामी, **नरकं** संसारलक्षणं नरकं, **व्रजेत्** प्राप्नुयात्, संसारस्य नरकत्वे निरालम्बोपनिषत् श्रुतिः 'को नरक इति असत्संसारविषयिजनसंसर्ग एव नरक' इति।।६९।। (११८७)

किञ्च **प्रवृत्तिवनितां** प्रवृत्तिनाम्नी या वनिता भार्या तां, **त्यक्त्वा** विहाय, **निवृत्तो** निवृत्तिभार्यागामी, **मोक्षं** मुक्तिं, **अश्नुते** प्राप्नोति। ननु एतत् शास्त्रविरुद्धं स्वकपोलकल्पनया उक्तं कथमङ्गीकार्यमित्याशङ्क्याह **विषमोपीति। एष** अयं द्विभार्यशास्त्रविषयः **शास्त्रार्थो** निर्णयोऽपि यद्यपि विषयो विरुद्धः तथापि, **व्यासवाक्यतो** व्यासः पाराशर्यस्तस्य वाक्येन, **प्रमाणं** प्रामाणिकोऽस्ति, व्यासवाक्यं च 'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जित' इति, गुणदोषशब्दाभ्यां विधिनिषेधरूपा प्रवृत्तिरेवाभिहिता तत्त्याग एव उभयवर्जितपदेन अभिहितः तस्यैव च गुणत्वप्रतिपादनं मुक्तिप्राप्तिहेतुत्वात्। तथा

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'।।

इति च। श्रुतिरपि 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुरि'ति।।७०।। (११८८)

परन्तु हाय! फिर भी उस दुःखदायिनी को ही पसन्द करता है। इस सबको उसके दुर्भाग्य के अतिरिक्त और क्या कहा जाय।

दुःख का अनुभव होने पर भी जब वह बार-बार उसी की इच्छा करता है तो यही कहा जायगा कि उसका कोई दुष्कर्म उदय हो रहा है, जिससे वह अपने आत्मसुख को ही नहीं पहचान पाता है।।६७-६८।।

इस 'द्विभार्यशास्त्रार्थ' में यह निश्चय हो चुका कि निवृत्तिवनिता को छोड़कर प्रवृत्तिभार्यागामी पुरुष संसाररूपी नरक में झोंक दिया जायगा तथा प्रवृत्तिवनिता को छोड़कर निवृत्तिभार्यागामी पुरुष को मुक्ति की प्राप्ति होगी।।६९।।

अथान्यदपि

एको विष्णुर्महद्भूतं व्यासेनोक्तं लगेद्यदि।
तन्महाभूतसञ्चारे न दूरे परमं पदम्।।७१।। (११८६)

एवं द्विभार्यश्लोकार्थं व्याख्यायात्र तत्सप्राप्तिं सूचयितुं गद्येनाह **इति इति। प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रविवरणं** प्रवृत्तिः कर्मसु प्रवर्त्तनं निवृत्तिश्च मोक्षेच्छया ततो निवर्त्तनं तयोः शास्त्रं अनुशासकं वाक्यं 'द्विभार्यो ब्राह्मण' इत्यादिरूपं तस्य विवरणं व्याख्यानं **इति** अत्र समाप्तं ज्ञेयम्।

इत उत्तरं प्रकृतमुन्मत्तप्रलापनमेवेति ज्ञापयितुमाह **अथ इति। अथ** प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रविवरणानन्तरं, **अन्यदपि** पूर्वोक्तोन्मत्तप्रलापादन्यदितरदुन्मत्तप्रलापनमेवोच्यते इति शेषः। तत्र प्रथमं लोके कस्यचिद् भूतबाधायां सत्यां तस्य ऐहिकपारलौकिकसुखसाधनभूतकर्माद्यनुष्ठानासम्भवेन मोक्षसाधनज्ञानहेतु-श्रवणाद्यनुष्ठानासम्भवेन च सर्वसुखाप्राप्त्या निन्द्यत्वं प्रसिद्धम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **एक इति।** हे शिष्य **एकः** स्वगतसजातीयविजातीयभेदरहितो, **विष्णुः** व्यापनशीलः परमात्मा, **महद्** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं ब्रह्मरूपं, **भूतं** सन्मात्रं पिशाचं चेति, **व्यासेनोक्तं** बादरायणेन कथितमस्ति, तद् **यदि** यर्हि, **लगेद्** शरीरे सञ्चरेत्, **तर्हि** तदा, **तन्महाभूतसञ्चारे** तद् यद् व्यासेन उक्तं महाभूतं ब्रह्मस्वरूपभूतं पिशाचं अदृश्यत्वे सति सर्वप्राणिशरीरेषु सञ्चारित्वात् तस्य सञ्सारे प्रवेशे जाते सति, **परमं** कार्यकारणातीतं, **पदं** स्वरूपं, **न दूरे** दूरदेशे नास्ति किन्तु समीप एव वर्त्तते, लोके हि ब्रह्मभूतस्य प्रबलत्वं अदृश्यरूपेण शरीर प्रवेशकारित्वं प्रसिद्धमिति तत्सादृश्येन विष्णोरपि ब्रह्मभूतत्वं अतः तत्कृतबाधावतोऽप्रयोजकं जीवनमिति यदुक्तं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।७१।। (११८६)

किञ्च डाकिनीमन्त्रजापकानां लोकशास्त्रे नरकपात उक्तः अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **डाकिनी इति।** हे शिष्य **अयं** एष, **ब्रह्मास्मीत्यक्षरात्मकः** अहंपदलक्ष्यः कूटस्थः चिदात्मा स एव

इस शास्त्रार्थ ने जो निर्णय किया है वह देखने में विषम (विरुद्ध) सा लगता है। परन्तु व्यास के कथनानुसार इसे प्रमाण मानते हैं। व्यास जी का कहना है कि गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः। अर्थात् गुण और दोष इन दोनों की ओर को दृष्टि रखना ही 'दोष' कहाता है। इसे ही प्रवृत्ति भी कहते हैं तथा इन गुणदोषों को छोड़ देना ही 'गुण' कहाता है। इसी को निवृत्ति कहा जाता है। उपनिषद् में कहा है 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' कुछ ने त्याग (निवृत्ति) से अमरभाव पाया था।।७०।।

प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्र का व्याख्यान समाप्त हुआ। व्यासदेव ने जिस एक ब्रह्मनामक महाभूत का वर्णन वेदान्त में किया है वह यदि भूतपिशाच (अदृश्य रहकर प्राणियों के शरीर में संचार करने वाला) होकर किसी के अन्तर में घुस बैठे तो फिर उससे वह परमपद दूर नहीं रह जाता है (ऐसी अवस्था में भूतबाधा को सर्वथा निन्दित ही नहीं कहा जा सकता)।।७१।।

डाकिनीसिद्धमन्त्रोऽयं ब्रह्मास्मीत्यक्षरात्मकः।
भावनामात्रतो यस्य सद्यस्तद्रूपतां व्रजेत्।।७२।। (११६०)
गुरुशास्त्रप्रसादेन संप्राप्य परमं पदम्।
ममैवेदं मया प्राप्तमिति प्राह स उत्तमः।।७३।। (११६१)

ब्रह्म देशाद्यपरिच्छिन्नमस्मि भवामि इत्येवं आत्मब्रह्मैक्यबोधकानि अक्षराणि वर्णा एव आत्मा स्वरूपं यस्य स तथोक्तो, **डाकिनीसिद्धमन्त्रो** डाकिनीनां सिद्धो मन्त्रो यथा भावनामात्रेण डाकिनीत्वप्रापको भवति स इवास्ति। कुत इत्यत आह **भावनेति। यस्य** ब्रह्मास्मीति मन्त्रस्य तस्यार्थस्य च, **भावनामात्रतः** केवलं भावनयैव, **सद्यः** तत्कालमेव, तद्भावकः **तद्रूपतां** तस्य ब्रह्मणो रूपं स्वरूपं तस्य भावः तत्ता तां, **व्रजेत्** प्राप्नुयात्, अतो डाकिनीमन्त्रसादृश्याद् अस्य डाकिनीमन्त्रत्वम् अस्य च भावनया परमपदप्राप्तिदर्शनाद् डाकिनीसिद्धमन्त्रजापकानां नरकपातो भवति इत्युक्तमसमञ्जसमेवेति भावः।।७२।। (११६०)

किञ्च लोके कस्मिनपि पदार्थे ममत्वाभिनिवेशो न कार्य इत्युक्तम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **गुरुशास्त्रेति।** हे शिष्य **गुरुशास्त्रप्रसादेन** गुरोः महावाक्योपदेष्टुः शास्त्रस्य च वेदान्तस्य प्रसादः प्रसन्नता तेन, कृत्वा, **परमं** कार्यकारणातीतं, **पदं** स्वरूपं, **संप्राप्य** उपलभ्य, यः पुरुष इदं स्वरूपं **ममैव** प्रत्यगात्मनोऽहंपदलक्ष्यस्यैवास्ति, **मया** प्रत्यगात्मना चिदाभासेन, **इदं** इति साक्षात्, **प्राप्तं** लब्धं इत्येवं, **प्राह** कथयति, **स** पुरुषः, **उत्तमः** श्रेष्ठः, अन्यः अधमोऽस्ति अतो गीताया 'मिदमद्य मया लब्धमि' त्यादिनोक्तमिदं ममेदं मयालब्धमित्येवं जल्पनम् आसुरीसम्पत्त्वेन निन्द्यमिति तदयुक्तमेवेति भावः।।७३।। (११६१)

'मैं ब्रह्म हूँ' इसे एक डाकिनीसिद्धमन्त्र समझना चाहिये। डाकिनियों के सिद्धमन्त्र से जिस प्रकार डाकिनीपन प्राप्त होना मानते हैं इसी प्रकार इस मन्त्र की भावना करने पर साधक पुरुष उसी क्षण ब्रह्मरूपता को पा लेता है। (फिर डाकिनीसिद्धमन्त्रों को जप करने वाले सभी नरकगामी होते हों यह कैसे मानें?)।।७२।।

जो पुरुष पहले तो गुरु तथा अध्यात्मशास्त्र की कृपा से परमपद (कार्यकारणातीत पद) को पाये और फिर यों कहने लग पड़े कि ओह! यह क्या मिला, यह तो मुझे मेरा ही रूप मिला है, बस उसी कृतघ्न को उत्तम पुरुष समझ लो।।७३।।

जो यह मानने के लिये विवश हो चुका हो कि ओहो! सैकड़ों जन्मों के अभ्यस्त विज्ञानों से मुझे आज तक कुछ भी लाभ (प्राप्ति) नहीं हुआ है, तो समझ लो कि उसका यह कुछ न पाना ही उसे बड़ा भारी लाभ हो गया है (ऐसी अवस्था में लौकिक लोगों का यह कहना कि कुछ पाना ही 'लाभ' है तथा कुछ न पाना ही 'अलाभ' है सर्वांश में ठीक नहीं है)।

यह मनुष्य अनन्त जन्मों में जिन ज्ञानों का अभ्यास किया करता है, तत्त्वविचार करें तो उनसे उसे कुछ लाभ नहीं होता, भूतों का ज्ञान मरने पर भूतों में रह जाता है।

यत्तु जन्मशताभ्यस्तविज्ञानैरपि वस्तुतः।
न किञ्चिदपि सम्प्राप्तं तस्य प्राप्तिर्महीयसी।।७४।। (११६२)
अणीयसो महीयस्त्वं नेदीयस्त्वं दवीयसः।
परस्य निजरूपत्वं यत्प्रत्येति प्रमा हि सा।।७५।। (११६३)

किञ्च लोके हि यत्किञ्चनवस्तुनः प्राप्तेरेव प्राप्तिरिति मन्यतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **यत्तु इति**। हे शिष्य **यत्तु** यच्च लोकप्रसिद्धवस्तुविलक्षणं वस्तु, **जन्मशताभ्यस्तविज्ञानैरपि** जन्मनां जनीनां शतानि शतकानि अनन्तशतकानीत्यर्थः, तेषु अभ्यस्तानि अभ्यासेन सम्पादितानि यानि विज्ञानानि तैः कृत्वापि, **वस्तुतः** पारमार्थिकदृशा, **किञ्चिदपि** किमपि, **न प्राप्तं** न लब्धं, आत्मस्वरूपस्य नित्योपलब्धत्वेन स्वयंप्रकाशत्वेन च ज्ञानप्राप्यत्वाभावादिति भावः, अतोऽलब्धमेवात्मस्वरूपं **तस्य** आत्मस्वरूपस्याऽऽत्माऽलभ्य इति ज्ञानवतो वा, **प्राप्तिः** उपलब्धिः, **महीयसी** अतिश्रेष्ठाऽस्ति, अतः किञ्चिद्वस्तु प्राप्तवतो लाभोऽलाभ यदुक्तं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।७४।। (११६२)

किञ्च अतिसूक्ष्मस्यातिसूक्ष्मत्वं महतो महत्त्वं दृश्ये दृश्यत्वमदृश्येऽदृश्यत्वं परे परत्वं स्वे स्वत्वं च येन ज्ञायते तत् प्रामाणिकं ज्ञानमित्युच्यतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **अणीयस इति**। हे शिष्य **अणीयसः** अतिसूक्ष्मस्य वस्तुनो, **महीयस्त्वं** अतिमहत्त्वं अतिशयितं महत् महीयस्तस्य भवस्तत्त्वमिति विग्रहः, दृश्यत्वाभावाद् अतिसूक्ष्मस्य वस्तुनो देशाद्यपरिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मत्वाद् अतिमहत्त्वं यद्यया प्रमया **प्रत्येति** अनुभवति, किञ्च **दवीयसः** अतिशयेनादृश्यं दवीयस्तस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मणो, नेदीयस्त्वं नेदीयः समीपतया साक्षाद् अतिदृश्यं तस्य भावस्तत्वं दृग्विषयत्वमिव अदृश्यस्यात्मनः स्वत्वस्वप्रकाशत्वाभ्यामतीव दृश्यत्वं **यद्** यया प्रमया **प्रत्येति** अनुभवति, किञ्च **परस्य** कार्यकारणातीतस्य परमात्मनो, **निजरूपत्वं** निजं स्वीयं रूपं आकृतिः तस्य भावस्तत्त्वं, व्यवहारावस्थायां परोक्षप्रत्यक्षत्वाभ्यां सर्वज्ञकिञ्चिज्ञत्वाभ्यां जगदधिष्ठानव्यष्ट्यहंकाराधिष्ठानत्वाभ्यां परिपूर्णसद्वितीयत्वाभ्यां च स्वपरत्वरूपभेदे प्रतीयमानेपि भागलक्षणया विरुद्धांशत्यागेनाविरुद्धांश-चिन्मात्रस्यैक्यात्परमात्मनः स्वस्वरूपत्वं यद्यया प्रमया प्रत्येति अनुभवति **सा** उक्तप्रकारा त्रिविधरूपापि, **प्रमा** प्रमाणरूपा वृत्तिरस्ति, **हि** इत्येवं विद्वत्सु प्रसिद्धं, अत एतद्विपरीतप्रमायाः प्रमात्वं यदुक्तं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।७५।।

किया कराया सब प्रत्येक जन्म में, मिट्टी में मिलता जाता है। उनसे आत्मा की स्थिति में तिलमात्र भी उन्नति या अवनति नहीं हो पाती। जिस आत्मरूप को पाने के लिये बड़े-बड़े कठोर तप किये जाते हैं लम्बे-लम्बे ब्रह्मचर्य पाले जाते हैं, इनके बाद जो आत्मतत्त्व पाया हुआ सा लगा करता है, वह तो सब को सदा ही प्राप्त रहता है। वह तो स्वयंप्रकाश तत्त्व है। फिर प्राप्त पदार्थ को, ज्ञान से प्राप्त होने वाला कैसे कह दिया जाय? यह तो सदा अप्राप्त ही रहता है। इसे पाने वाले को तो कहना चाहिये कि कुछ भी नहीं मिला। परन्तु यह कुछ न मिलना, मामूली बात नहीं है। यही एक महान् लाभ गिना जाता है।।७४।।

यद् दृश्यते तत्तु मिथ्या तत्सत्यं यन्न दृश्यते।
एतत्प्रामाणिकत्वं हि महोपनिषदां मतम्।।७६।। (११६४)

किञ्च लोके शास्त्रे च लौकिकं दृश्यपदार्थविषयं यज्ज्ञानं तत्सत्यमित्युच्यते अदृश्यपदार्थविषयकज्ञानस्य च मिथ्यात्वम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **यद् इति**। हे शिष्य **यत्** पदार्थजातं, **दृश्यते** ज्ञायते, **तत्तु** पदार्थजातं, **मिथ्या** असदस्ति, यच्च आत्मस्वरूपं **न दृश्यते** न ज्ञायते, **तद्** आत्मरूपं, **सत्यं** अबाध्यं वस्तु अस्ति, **एतद्** उक्तलक्षणं, **प्रामाणिकत्वं** प्रमाणसिद्धं ज्ञानं तस्य भावस्तत्त्वं, **हि** प्रसिद्धं, **महोपनिषदां** महत्यः श्रेष्ठा या उपनिषद उप समीप एव निषण्णं स्थितं श्रेयः कल्याणं मोक्षरूपं यासु ता उपनिषदो वेदशिरोभागास्तासां सर्वश्रेष्ठात्मज्ञान- प्रतिपादकत्वादुपनिषदां महत्त्वमिति ज्ञेयं, **मतं** इष्टं, दृश्यस्यासत्त्वे श्रुतयस्तावद् 'अतोऽन्यदार्तम्, अथात आदेशो नेति नेति, नेह नानास्ति किञ्चन, तदेतज्जडं मोहात्मकं मायामात्रमि'त्याद्याः, आत्मनोऽदृश्यत्वे च श्रुतयः, 'यत्तदद्रेश्यं, यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनमि'त्याद्याः, अदृश्यरूपस्यात्मनः सत्त्वे चापि श्रुतयः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' त्याद्याः अतोऽदृश्यासत्त्वदृश्यसत्त्वज्ञानस्य प्रामाणिकत्वं यदुच्यते तदसमञ्जसमेवेति भावः।।७६।। (११६४)

हम ज्ञानोन्मादी लोग तो 'प्रमा' (ठीक ज्ञान) उसी को कहेंगे जिससे कि सबसे सूक्ष्म ही सबसे महीयान् बन जाय, सबसे दूर की अदृश्य वस्तु ही सबसे समीप की दृश्य वस्तु हो गयी हो, तथा पररूप ही निजरूप प्रतीत होने लगा हो (इस प्रकार कुछ का कुछ कर डालने वाली अद्भुत आत्मस्थिति मिल जाने पर लौकिक लोग भले ही उसको 'प्रमा' कहते रहें जिससे कि सूक्ष्म को सूक्ष्म, महान् को महान्, दृश्य को दृश्य, अदृश्य को अदृश्य, पर को पर, तथा स्व को ही स्व, पहचाना जाता है। हम ज्ञानोन्मत्त लोग तो उसे 'अप्रमा' ही कह देंगे)।।७५।।

जानते हो महोपनिषदों में प्रामाणिकता किस बात की है? वे जो यह कहती हैं कि जो कुछ (आँखों से) दीख पड़ रहा हैप्रकट है, वह तो मिथ्या है तथा सत्य वह है जो तुम्हें (आँखों से) दीख नहीं रहा हैगुप्त हैबस यही उपनिषदों में प्रामाणिकता है।

जो भी कुछ पदार्थ दीखता अर्थात् ज्ञान का विषय होता है वह तो मिथ्या है। क्योंकि वह तो देश काल तथा वस्तु की मर्यादा में बंधा है। वह किसी विशेष देश किसी परिमित काल तथा किसी एक परिच्छिन्न वस्तु के रूप में ही तो होगा। यों वह सत्य नहीं है। सत्य तो वही होगा जो समस्त देशों, तीनों कालों तथा सब वस्तुओं में एक-समान रहने वाला तत्त्व हो। जो आत्मत्व किसी को भी दीख नहीं पड़ता अर्थात् किसी के ज्ञान का विषय नहीं होता वही तो पूरा सत्य है। "अतोऽन्यदार्तम्" इससे

विचित्रा यस्य रचना समस्ता भाति नीरसा।
जीवन्मृतकतुल्योऽसौ जीवन्मुक्तः श्रुतौ स्तुतः।।७७।। (११९५)
स्वयमेव प्रकाशेत दीपः शून्यालये यथा।
तस्य व्यर्थप्रकाशस्य सार्थकं जन्म वर्णितम्।।७८।। (११९६)

किञ्च लोके जगद्गतविचित्रपदार्थेषु नीरसत्वप्रतीतिमतः पुरुषस्य किञ्चित्कालं जीवने प्रतीयमानेपि भिषग्भिर्मृतत्वमेव निश्चितमित्येवं वदन्तीति प्रसिद्धम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **विचित्रा इति**। हे शिष्य **इयं** दृश्यमाना, **समस्ता** सकला, **विचित्रा** अनेकरूपा, **रचना** जगद्घटना, **नीरसा** रसः सुखं निर्गतो निवृत्तो यस्याः सा तथाभूता, यस्य पुरुषस्य **भाति** भासते, **असौ** पुरुषो, **जीवन्मृतकतुल्यो** लोकदृष्ट्या किञ्चित् जीवन्मृतकः प्रेतस्तेन तुल्यः सदृशोऽस्ति, तथापि असौ **श्रुतौ** वेदे, **जीवन्मुक्तो** लोकदृशा जीवन् सन् परमार्थदृशा मुक्तो मुक्ततां प्राप्त इत्येवं, **स्तुतः** प्रशंसितोऽस्ति, अतः तादृशस्य जीवन्मृतकत्वं यदुच्यते लोके तदसमञ्जसमेवेति भावः।।७७।। (११९५)

किञ्च यस्य जन्मनि हितमहितं वा किमपि न प्राप्तं स्वेनान्येन वा न च स्वहितं परहितं वा ज्ञातं किमपि तस्य जन्म व्यर्थमिति वदन्ति लोके लौकिकशास्त्रे च, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **स्वयमेव इति**। हे शिष्य **यथा** यद्वत्, **शून्यालये** शून्यं दीपप्रकाशव्यवहर्तृजनहीनं यद् आलयं गृहं तस्मिन्, **स्वयमेव** अन्यव्यवहारिजनरहित एव, **प्रकाशेत** प्रकाशमानस्तिष्ठति, **तथा** तद्वद्, **यः** पुरुषः, **शून्यालये** शून्यं मातृपितृबन्धुभगिनीभार्यापुत्रसुहृन्मित्रादिहीनं यद् आलयं गृहं तस्मिन् स्वयमेव एकाकी एव उक्तमातृपित्रादिहीन एवेत्यर्थः, **प्रकाशेत** दृश्येत, **तस्य** उक्तविधस्य, **व्यर्थप्रकाशस्य** व्यर्थो धर्मार्थकाममोक्षाख्यार्थचतुष्टयहीनः प्रकाशो दृश्यत्वं यस्य तस्य, **जन्म** जननं, **सार्थकं** सफलम् अस्ति। एवम् अस्मन्मते **वर्णितं** कथितमस्तीति लोकार्थः।

भिन्न सभी मिथ्या हैं, मौत के लपेट में आये हुए हैं। ''यच्चक्षुषा न पश्यति'' जो आँखों से दीख नहीं पाता ''यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्'' जो ज्ञानेन्द्रियों से जाना और कर्मेन्द्रियों से पकड़ा नहीं जाता इत्यादि उपनिषदों में उस तत्त्व को विस्तारपूर्वक कहा है। संसार के अन्य सम्पूर्ण शास्त्र किसी विशेष अविद्या को नष्ट करते हैं परन्तु उपनिषदों की अध्यात्मविद्या तो सम्पूर्ण अविद्याओं को तथा उन सबकी जननी मूलाविद्या को नष्ट करती है। यही कारण है कि उसका नाम 'राजविद्या' पड़ गया है।।७६।।

जिसको यह सारी विचित्र जगद्रचना (जिसको देखं कर पामर प्राणी वाह-वाह करते नहीं थकते) सर्वथा नीरस प्रतीत होने लगे अथवा फाड़ खाने को दौड़ने लगे (संसारी लोगों की दृष्टि में) जीते मुरदे के समान बने हुए उसी पुरुष को उपनिषदों में जीवन्मुक्त कहा है। (फिर दुनिया के लोग ऐसे महापुरुषों को भले ही निकम्मा कहा करें। उनकी बात को प्रमाणिक कैसे मानें?)।।७७।।

न बोधयति भावानामात्मनो भेदमण्वपि।
अबोधदीप एवायमस्माकं बोधदीपकः।।७६।। (११६७)

परमार्थस्तु यथा यद्वद् दीपः प्रदीपः शून्यालये शून्यं दीपप्रकाशव्यवहर्तृजनहीनं यदालयं तस्मिन् स्वयमेव स्वप्रकाशव्यवहर्तृजनरहित एव प्रकाशेत प्रकाशमानो वर्त्तेत तथा यद्वद् यः पुरुषो जन्मान्तरीयसाधनैः कस्माच्चित्प्रतिबन्धात् पूर्वजन्मनि अप्राप्तसाक्षात्कारः सन् तेनैव प्रतिबन्धेन कस्यचिद् गृहस्थस्य गृहे हस्तामलकादिरिव प्राप्तजन्मा सन् अत्रैव जन्मनि मातृपित्रादिसम्बन्धरहितत्वात् शून्ये गृहे स्वयमेव वास्तवपितृमात्रादिसम्बन्धरहित एव प्रकाशेत दृश्येत तस्योक्तविधस्य व्यर्थप्रकाशस्य विगतो निवृत्तोऽर्थोऽर्थकामधर्ममोक्षाख्यार्थः तेषां मिथ्याभूतत्वात् अस्मात् प्रकाशात् स तादृशः प्रकाशो यस्य तस्य पुरुषस्य जन्म जननं सार्थकं सफलं परमप्रयोजनमोक्षस्य सिद्धेरित्येवं वर्णितं कथितम्, उक्तविधान्यस्यैव निरर्थकं जन्मेत्यर्थः।

यद्वा यः प्रमाता शून्यालये दीप इव शून्यालये पितृमात्रादिसंबन्धरहितं संन्यासग्रहणेन सर्वसम्बन्धरहितं यद् गृहं आलयं तस्मिन् शरीरे स्वयमेव एकाकी एव प्रकाशेत दृश्येत तस्योक्तविधस्यार्थप्रकाशस्य ऐहिकपारलौकिकार्थहीनः प्रकाशो ज्ञानं यस्य तस्य जन्म जननं संन्यासलक्षणं लोकप्रसिद्धं वा जन्म यस्मिन्नेतादृशः संन्यासः साधितः तत्सार्थकं सफलं वर्णितं कथितं शास्त्रेष्विति।

यद्वा सः साधिष्ठानो बुद्धिस्थचिदाभासः शून्यगृहदीप इव शून्यालयो शून्यं कर्तृत्वभोक्तृत्वरागादिसम्बन्धहीनं यदालयं ज्ञानेन बाधितत्वात् सर्वदैव लीनप्रायं शरीरत्रयं तस्मिन्नेव स्वयमेव कूटस्थादभिन्नत्वं स्वस्य ज्ञात्वा स्वयंशब्दवाच्यकूटस्थाभिन्न एव नान्य इत्यर्थः, प्रकाशेत स्वयं प्रकाशमानस्तिष्ठति तस्योक्तविधस्य व्यर्थप्रकाशस्य मिथ्यात्वाद् विगता निवृत्ता अर्था धर्माद्याश्चत्वारो यस्मात्स तथाभूतः प्रकाशो ज्ञानं यस्य तस्य प्रमातुः अस्मद्दृष्ट्या यज्जन्म लिङ्गशरीर आविर्भावलक्षणं

मान लो कोई सूना घर हो। उस घर में प्रकाश का उपयोग करने वाला कोई भी न हो। वहाँ कोई दीपक अकेला व्यर्थ ही जल रहा हो। उस व्यर्थ जलते हुए दीपक की तरह यदि कोई महापुरुष (अपने जन्मजन्मान्तर के आध्यात्मिक परिश्रम से) अपने आत्मप्रकाश को व्यर्थ कर डालेअपने आत्मप्रकाश को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नाम के मिथ्या पुरुषार्थों में व्यय न होने देबस केवल ऐसे ही महापुरुष का जन्म सार्थक कहा गया है। (ऐसे लोगों के जन्म को निरर्थक [बेमतलब] कहना ठीक नहीं होता।)।७८।।

(सांसारिक पदार्थों के आपस के स्थूल भेदों को जताने की तो हम बात ही क्या कहें) जो अलौकिक दीपक संसार के पदार्थों को अपने से भी किंचित् पृथक् सिद्ध नहीं कर पाता है, साधारण समझ के लोग उसे भले ही अबोधदीपक कहा करें परन्तु हम ज्ञानी लोगों की दृष्टि में तो वही सच्चा बोधदीपक है। फिर संसारी लोग भले ही बोधदीपक को बोधदीपक कहा करें हम तो इस अबोधदीपक को ही बोध दीपक कहते रहेंगे।।७६।।

निशायामेव जागर्मि निद्रामि सकलं दिनम्।
न च रोगा प्रबाधन्ते मा जरामरणादयः।।८०।। (११६८)

जननं तत्सार्थकं कर्माचरणेन लोकसंग्रहरूपो मुमुक्षूणां ज्ञानप्राप्तिरूपश्च योर्थः फलं तेन सहितमेवास्तीत्येवं वर्णितं कथितं शास्त्रेष्विति शेषः।

यद्वा यः कूटस्थ आत्मैव शून्यालये दीप इव शून्यालये शून्यमसद्यदालयं कालत्रयेपि नष्टप्रायं शरीरं तस्मिन् स्वयमेव अन्यचिदाभासबाधेनानन्य एव प्रकाशेत प्रकाशितो भवेत् तस्योक्तविधस्य व्यर्थप्रकाशस्य विगतो निवृत्तोऽर्थः प्रकाश्यरूपो द्वैतप्रपञ्चो यस्मात्स तथाविधः प्रकाशो ज्ञानमात्रस्वरूपं यस्य तस्य कूटस्थात्मनो जन्माऽसङ्गनिर्विकारसच्चिदानन्दस्वरूपाविर्भावलक्षणं जननं सार्थकमर्थः सद्रूप आत्मैव तेन रहितमेव तन्न तु लोकप्रसिद्धमिव जन्म तदिति वर्णितं कथितं विद्वद्भिरिति शेषः।

यद्वा यः तत्त्वंपदार्थयोः परमात्मकूटस्थयोर्भागत्यागलक्षणया विरुद्धांशत्यागेनाविरुद्धचिन्मात्ररूपमैक्यमनुभूय वर्त्तमानः स्वयमेव प्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मरूप एव नान्य इत्यर्थः, शून्यालये दीप इव शून्यालये शून्यं असद्द्वैतं तस्यालये 'नेह नानास्ति किञ्चने'त्यादिश्रुतिभिः कृत्वा बाधे सति प्रकाशेत सर्वलयावधिरूपेण प्रकाशमान इत्यर्थः, स्यात्तस्य ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मनो व्यर्थप्रकाशस्य सतोपि विगतो निवृत्तो द्वैतरूपोऽर्थः प्रयोजनं यस्मात्स तथाविधः प्रकाशः चेतनं यस्य स तथाविधः तस्य जन्म द्वैतरूपेणाविर्भावलक्षणं जननं सार्थकमर्थो जीवन्मुक्तिलक्षणः पुरुषार्थस्तेन सहितमेव तदित्येवं वर्णितं कथितमित्यलमतिविस्तरेण। अतस्तादृशस्य जन्म निरर्थकमित्युक्तिरयुक्तैवेति भावः।

सुव्यक्तस्यास्य पद्यस्य पञ्चार्थाः कथिता मया।
यथाबुद्धि विचिन्वन्तु सन्तोऽर्थं विहरन्तु च।।७८।। (११६६)

किञ्च लोके ज्ञानदीपस्यैव ज्ञानदीपत्वं वर्ण्यतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **न बोधयति इति**। हे शिष्य **यो** दीपो, **भावानां** जगद्गतपदार्थानां, **आत्मनः** स्वस्मात् सकाशाद्, **अण्वपि** सूक्ष्ममपि, **भेदं** पार्थक्यं, **न बोधयति** न प्रकाशयति किं वक्तव्यं स्थूलभेदं न प्रकाशयतीति, **आत्मनः** सर्वस्य पृथगसत्त्वात्तस्योभयस्योभयप्रतियोगिको भेदोप्यसदेव अतस्तज्ज्ञानस्याप्यसत्त्वादिति भावः, अतः स तादृशोऽपि **अयमस्मत्प्रत्यक्षः अबोधदीप एव** अन्यदृष्ट्याऽज्ञानसादृश्यादबोधोऽज्ञानरूप एव दीप इव प्रकाशमानोऽस्ति यद्यपि तथापि स उक्तलक्षणोऽबोधदीपः, **अस्माकं** अस्मदादीनां ज्ञानिनां, **बोधदीपको** बोधो ज्ञानं तत्स्वरूपः सन् दीपक इव स्वयंप्रकाशमानोऽस्ति अतस्तार्किकादिभिरात्मनोऽचिद्रूपत्वं प्रतिपाद्यते यत्तदसमञ्जसमेवेति भावः।।७९।। (११६७)

मैं तो रात को ही जागता हूँ और सारे दिन सोता हूँ परन्तु आश्चर्य यह है कि जरा, मरण आदि कोई भी रोग मुझे नहीं हो पाते हैं।

चिकित्साशास्त्री लोग रात को जागने और दिन के सोने को भले ही अनेक रोगों का कारण बताया करें, मैं तो दुनिया के लोगों की घोर रात के समान आत्मज्ञानरूपी निशा में ही जागता हूँ (संसार के अन्य सम्पूर्ण प्राणी इस आत्मविषय में सदा ही सोते

किञ्च चिकित्साशास्त्रे रात्रौ जागरणं दिवा निद्रा चेत्येते रोगहेतुत्वात् निषेधिते, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **निशायामेव इति।** हे शिष्य **अहं** साधिष्ठानबुद्धिस्थश्चिदाभासो, **निशायामेव** महावाक्यविवेकेन तत्त्वंपदार्थयोः कूटस्थपरमात्मनोर्भागत्यागलक्षणया विरुद्ध-प्रत्यक्परोक्षाद्यंशं त्यक्त्वा तदैक्यरूपायां रात्रौ सर्वप्राणिभिस्तत्र सुप्तत्वाद्।

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'।

इति भगवदुक्ते**र्जागर्मि** जागृतिमानस्मि, किञ्च **सकलं** समस्तं, **दिनं** दिवसं, प्रति कार्यकारणरूपो व्यवहारोऽज्ञानिनां दिवसस्तस्मिन्निति भावः, **निद्रामि** स्वपामि।

'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेरि' त्युक्तेः,

आत्मस्वरूपे जागर्मि प्रपञ्चे निद्रामीत्याशयः, किञ्च एतादृशविपरीतकारिणमपि **मा** मां, **जरामरणादयो** जरा वार्धक्यं मरणं च मृत्युः तावादि येषां जन्मादीनां ते तथोक्ता, **रोगाः** पीडाहेतुत्वाद् व्याधयस्ते, **न च बाधन्ते** नैव पीडयन्ति, अतो भिषक्शास्त्रे यदुक्तं रात्रौ जागरणं दिवा निद्रा च न कर्तव्या रोगहेतुत्वादिति तदयुक्तमेवेति भावः।।८०।। (११६८)

किञ्च बुद्धिमत एव बुद्धिमत्त्वं लोके शास्त्रे च प्रतिपाद्यतेऽत्र तु उन्मत्तो भगवता निर्बुद्धेरेव बुद्धिमत्त्वमर्जुनं प्रत्युपदिष्टमिति तमुपहसन्प्रलपति **उत्तमा इति।** हे शिष्य **उत्तमाधममध्यानां** उत्तमः श्रेष्ठोऽधमो नीचो मध्यः मध्यमस्तेषां, **भेदभानं** भेदस्य पार्थक्यस्य भानं प्रतीतिरेव, **धियां** बुद्धीनां, **फलं** प्रयोजनमस्तीति, सर्वलोकेषु प्रसिद्धं गीतायां तु **ताभिः** बुद्धिभिः, **हीनस्य** रहितस्य पुरुषस्य, **हरिणा** सर्वजगत्संहारशीलेन श्रीकृष्णेन, **पण्डितराजता** पण्डिता बुद्धिमन्तस्तेषां राजेव शोभमानस्तस्य भावस्तत्ता, **प्रोक्ता** कथिता, उपहसन्पक्षे कृष्णस्य'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त' इत्यादिवाक्यैर्लोकानां क्षयकर्तृत्वप्रतिपादनं प्रसिद्धमत एवार्जुनाय विरुद्धमुपदिशंस्तन्मिषेणैव तत्सहितसर्वजगन्नाशे प्रवृत्त इति हरिपदार्थाशयेनोपहसनं प्रलपनञ्च

रहते हैं इससे उसको निशा कहा गया है) तथा व्यवहाररूपी दिन जब निकला रहता है तो मैं सोया पड़ा रहता हूँउस समय मैं प्रपंच की ओर से पूरा उदासीन रहकर आत्मनिरीक्षण में तत्पर रहता हूँ। इस प्रकार विपरीत आचरण करने का प्रभाव देखो कि अब मुझे जन्म-मरण आदि रोगों के होने का डर ही जाता रहा। हम तो समझते हैं कि यह रात्रि और यह दिन तो भिषक्शास्त्रियों के ध्यान में भी नहीं आया होगा, जभी तो दिवाशयन और रात्रिजागरण को रोगों का कारण लिख मारा है।।८०।।

बुद्धियों का तो संसार में यही फल माना जाता है कि उनसे उत्तम मध्यम और अधम के भेद की प्रतीति होती रहे, परन्तु जो महापुरुष इन तीनों प्रकार की बुद्धियों से हीन हो चुका हो, भगवान् कृष्ण ने उसी को बुद्धिमानों का शिरोमणि कह डाला है। (ऐसी परिस्थिति में लोक तथा शास्त्रों का केवल बुद्धिमान् को ही पण्डित कहना तथा ऐसे निर्बुद्धि को सर्वथा निर्बुद्ध समझ बैठना माननीय नहीं है)।।८१।।

उत्तमाधममध्यानां भेदभानं धियां फलम्।
ताभिर्हीनस्य हरिणा प्रोक्ता पण्डितराजता।।८१।। (११९९)
जडेन येन संत्यक्ते उभे सुकृतदुष्कृते।
बुद्धियुक्तः स एवेति पार्थं प्राह जनार्दनः।।८२।। (१२००)

निर्बुद्धेर्बुद्धिमत्त्वं विरुद्धमिति। वस्तुतस्तु विषमबुद्धिनिरासेनात्माकारसमबुद्धिमर्जुनायोपदिशन्मुक्तिप्रदत्वेन समस्तदुःखहरणशीलत्वाद् हरिरितिनाम्नोऽन्वर्थकतेति भावः।।८१।। (११९९)

किञ्च लोकशास्त्रे लोके च बुद्धियुक्तस्यैव बुद्धियुक्तत्वं प्रतिपाद्यतेऽत्र तु उन्मत्तो गीतायां भगवता जडस्यैव बुद्धियुक्तत्वं प्रतिपादितमित्येवं तमुपहसन्प्रलपति **जडेन इति**। हे शिष्य **येन** ज्ञानिसंमतेन, लोकदृष्ट्या **जडेन** मूढेन पुरुषेण, त्याज्यात्याज्यज्ञानशून्यत्वात् जडत्वमत एव **सुकृतदुष्कृते** सुकृतं पुण्यकर्म दुष्कृतं च पापकर्म ते, **उभे** द्वे अपि, **संत्यक्ते** कालत्रयासत्त्वबुद्ध्या पुनरुत्पत्तिर्यथा न स्यात् तथा विसृष्टे स एवोक्तविधो जड एव बुद्धियुक्तो ज्ञानयुक्तो नान्य इत्येव। 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' इत्यादिवाक्यैः **जनार्दनो** जनानां जीवानां अर्दनो गतिरूपः श्रीकृष्णः, **पार्थं** पृथा कुन्ती तस्या अपत्यं पुमान् पार्थस्तं, **प्राह** उक्तवान्, जडे बुद्धियुक्तत्वकथनमनर्थकत्वाभासेन प्रलापः, जनार्दनपदेन समस्तजीवानामेतादृशविरुद्धज्ञानोपदेशेन जनार्दननाम्नो निरर्थकत्वेन प्रत्युत घातकत्वेन च विरोधिलक्षणान्यायस्यात्र सम्भवादभद्रायां भद्रा नामेवोपहसनं, पार्थपदेन च तथैव पृथापुत्रत्वेनातीव कातर्यवतोऽर्जुनस्य तथाकम्पनमतीव युक्तमेवाऽर्दधातोर्गतिकम्पनार्थवत्त्वादिति वोपहसनं, वस्तुतस्तु सुकृतदुष्कृतज्ञानरहितज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वेन तादृशज्ञानवत एव बुद्धियुक्तत्वमित्येवमुपदेशेन पृथापुत्रत्वेनाधीरस्यार्जुनस्या धीरत्वनिरासेन च मोक्षसाधनभूते ज्ञाने स्थिरीकरणाज्जनार्दननाम्नोऽन्वर्थकथनेन प्रमाणमेवैतदिति सुकृतिन एव लोके बुद्धियुक्तत्वं यदुच्यते तदसमञ्जसमेवेति भावः।।८२।। (१२००)

(ज्ञानियों में तो परम माननीय परन्तु संसारी दृष्टि में) जड कहाने वाले जिस मूढ पुरुष ने पुण्य और पाप दोनों ही को इस प्रकार छोड़ दिया हो कि ये फिर कभी उदय ही न हो सकें तो बस उसी को कृष्ण ने अर्जुन के प्रति सच्चा बुद्धिमान् कहा है।

जिस पुरुष को ऐसा अद्भुत और अलौकिक ज्ञान हो जाय कि फिर उसे पुण्य पाप का परिज्ञान ही न रहे तो वही सच्चा बुद्धिमान् है। जिस ज्ञानसूर्य से उदय हो जाने पर पुण्यपापज्ञानरूपी टिमटिमाते हुए दीपक स्वयमेव निष्प्रभ हो जायँ, ऐसा ज्ञानसूर्य ही मुक्ति जैसे प्रकाशस्वरूप पद को देने में समर्थ हो सकता है। ऐसा ज्ञान जिसे मिल जाय वही सच्चा ज्ञानी है। लोक में बुद्धिमान् को बुद्धिमान् कहने की परिपाटी पड़ गयी है, परन्तु गीता के मत से तो ऐसे जड लोग ही सच्चे ज्ञानी कहाने योग्य हैं। शेषों की बुद्धिमत्ता तो धूल फांकती है और सैकड़ों ठोकरें खाती है।।८२।।

कृताकृतैर्न यस्यार्थो नाश्रयो यस्य कुत्रचित्।
पार्थसारथिरित्याह स तुच्छः स्वच्छमुक्तिभाक्।।८३।। (१२०१)
धर्माधर्मौ न जानाति न जानाति शुभाशुभे।
सुखदुःखे न जानाति स ज्ञानीति मतं हरेः।।८४।। (१२०२)

किञ्च लोके तुच्छस्य तुच्छत्वमेव प्रतिपाद्यतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतमर्जुनाय भगवतोक्तमिति प्रदर्शयन्नुपहसंश्च तं प्रलपति **कृताकृतैः इति**। हे शिष्य **यस्य** ज्ञानिनः, **कृताकृतैः** कृतानि कर्मफलानि अकृतश्च मोक्षस्तैः, **अर्थः** प्रयोजनं, **न** नास्ति, किञ्च **यस्य** ज्ञानिन, **आश्रयः** अभिनिवेशः, **कुत्रचिद्** अद्वैते द्वैते वा क्वचिदपि, **न** नास्ति, उभयस्यापि मिथ्यात्वात् **स** उक्तलक्षणः पुरुषः, **तुच्छ एव** लोके उपेक्षाविषय एव, यद्यपि तथापि **पार्थसारथिः** पार्थस्य अर्जुनस्य सारथिः सूतः श्रीकृष्णः स, **स्वच्छमुक्तिभाक्** स्वच्छा निर्मला आत्मस्थितिरूपा या मुक्तिः मोक्षः तां भजते सेवते इति स तथाविधोऽस्तीत्येवम्, **आह** कथितवान् अर्जुनायेति शेषः, तुच्छत्वलक्षणवतः परमपुरुषार्थ-मोक्षप्राप्तिर्भवतीति तस्य श्रेष्ठत्वकथनेन विरोधाभासात् निरर्थकत्वे प्रलापत्वम्, असमञ्जसकथनेनासमञ्जसबोधेनैव क्षत्रकर्मत्यागात् सूतकर्मणि प्रवृत्तिस्तत्रापि पृथापुत्रत्वेन सूचितकातर्यवतोऽर्जुनस्येत्युपहसनं, वस्तुतस्तु तादृशलक्षणवत एव मुक्त्यधिकारित्वकथनाद्यथार्थमेवोक्तम्, एवं च लोके तादृशस्य तुच्छत्वं यदुच्यते तदयुक्तमेवेति भावः। तथाहि गीतायाम्

'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रय' इति।।८३।। (१२०१)

किञ्च धर्माधर्मादिज्ञानशून्यानां लोकशास्त्रेषु मूढत्वमुच्यतेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धमर्जुनाय भगवतोपदिष्टमित्युपहसन्प्रलपति **धर्माधर्मौ इति**। हे शिष्य **यः** पुरुषो, **धर्माधर्मौ** धर्मो वेदप्रणिहितः स्वस्ववर्णाश्रमानुकूल आचारोऽधर्मश्च तद्विपरीत आचारः तौ, **न जानाति** न वेत्ति सत्त्वनिश्चयेन नावलोकयतीत्यर्थः, किञ्च **शुभाशुभे** पुण्यपापे अपि, **न जानाति** न वेत्ति, किञ्च **सुखदुःखे** सुखं शर्म दुःखं पीडा ते अपि, **न जानाति** न वेत्ति, **स** उक्तविधोऽज्ञानी लोकदृष्ट्या प्रतीयमानोपि, अज्ञानिलक्षणवतो ज्ञानित्वकथनं निरर्थकत्वाभासेन प्रलपनम्, अज्ञानिलक्षणवत एव ज्ञानित्वकथनरूपविरुद्धोपदेशेन च सर्वजगन्नाशकधर्मवत्वाद् हरिति श्रीकृष्णस्योचितमभिधानमित्युपहसनं, वस्तुतस्तु पारमार्थिकाखण्डैकरसात्मविज्ञाने धर्माधर्मादिज्ञानाभावाद्यथार्थमेवेति न लोकशास्त्रोक्तं **ज्ञानी** ज्ञानवान् अस्ति इत्येवं, **हरेः** श्रीकृष्णस्य, **मतं** निश्चितमस्ति इति त्वं विद्धि, अत्र

जिस पुरुष को कृत (अर्थात् कर्मफलों) से कुछ प्रयोजन न रहा हो, जो पुरुष अकृत (अर्थात् मोक्ष) से भी कुछ वास्ता न रखता हो, अथवा जिसको किये न किये या अधिक किये की कुछ परवाह न रही हो, जिसको किसी भी वस्तु में मोह ममता न रही हो, अथवा जिसका कहीं भी घरद्वार न हो, ऐसे तुच्छ (उपेक्षणीय) पुरुष को ही पार्थ के सारथी श्रीकृष्ण ने, निर्मल आत्मस्थिति में पहुँचा हुआ बताया है। (उनके मत से ऐसे तुच्छ को ही स्वच्छ मुक्ति की प्राप्ति हुई रहती है)।।८३।।

चिन्तनेनैव मुक्तिः स्यादिति सर्वत्र वर्णितम्।
अस्माकं तु मते स्वस्मिन्न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।८५।। (१२०३)

धर्माधर्मादिज्ञान-शून्यानामज्ञानित्वं समञ्जसमिति भावः। भगवद्वाक्यानि च 'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः, शुभाशुभफलैरेवं, सुखदुःखे समे कृत्वे'त्यादीन्यत्रोह्यानि।।८४।। (१२०२)

किञ्च शास्त्रे साकारचिन्तनं निराकारचिन्तनं च मोक्षसाधनत्वेन निरूपितम्, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **चिन्तनेन इति।** हे शिष्य **चिन्तनेनैव** ध्यानेनैव, **मुक्तिः** मोक्षः, **स्यात्** भवेद्, इत्येवं **सर्वत्र** शास्त्रेषु, 'तद्बुद्धयस्तदात्मानः, ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते, मामनुस्मर युध्य च, मच्चित्ता मद्गतप्राणा' इत्यादिना गीतासु 'ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तादि'ति श्रुतिषु च **वर्णितं** कथितं, **अस्माकं तु** तुपदेन स्वमते ततो वैलक्षण्यं सूचितं, **मते** निश्चितेर्थे, **स्वस्मिन्** आत्मनि, **किञ्चिद्** अनात्मरूपमात्मरूपं वा, **न चिन्तयेत्** नैव ध्यायेत्, ध्येयध्यानध्यातृरूप-त्रिपुटेर्मिथ्यात्वाद्। अष्टावक्रोप्यत्राह

'अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽसौ चिन्तारूपं भजत्यसौ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थित' इति।

तस्मात्सर्वशास्त्रेषु ध्यानेन मुक्तिः स्यादित्येवं प्रतिपादितं यत्तदयुक्तमेवेति भावः।।८५।।(१२०३)

तदेव स्पष्टयति सार्धेन **चिन्तनं इति।** हे शिष्य **सर्वशास्त्राणां** सर्वाणि समस्तानि यानि शास्त्राणि तेषां, **चिन्तनं** ध्यानं, **मतम्** इष्टं मोक्षसाधनत्वेनाभिमतमित्यर्थः। **मम** मे, **अन्यद्** भिन्नमेव, **मतं** निश्चितमस्ति, किं तदित्यत आह **नेति। न किञ्चिच्चिन्तनादेव** किञ्चिच्छब्दवाच्यं

(ज्ञानोन्माद में आकर) जिस पुरुष को धर्म अधर्म का विचार न रह गया हो, जिसकी शुभाशुभ की पहचान जाती रही हो, बात यहाँ तक बढ़ गयी हो कि अब जिस सुख दुःख की प्रतीति भी बन्द हो गयी हो (लौकिक लोग भले ही उसे पूरा पूरा अज्ञानी समझते रहें परन्तु) हरि के मन की बात तो यह है कि वह (बेसुध) ही सच्चा ज्ञानी है।।८४।।

प्रायः सब ही शास्त्रों में (साकार अथवा निराकार का) चिन्तन करने से मुक्ति पाने की बात कही है। परन्तु हम ज्ञानोन्मादियों के मत में तो सब ही प्रकार का चिन्तन बन्द कर देना चाहिये। (चिन्तन से मुक्ति मिलने की सम्पूर्ण शास्त्रों की बात हमारी समझ में ठीक नहीं है, क्योंकि सकल चिन्तनों के पूर्णरूप से रुक जाने पर जब कि इन चिन्तनों का साक्षी आत्मा ही अपने कैवल्य रूप में शेष रहने लग पड़े, तभी मुक्ति का दुर्लभ पद किसी के हाथ आता है)।।८५।।

सम्पूर्ण शास्त्र एकस्वर से चिन्तन (ध्यान) को ही मोक्ष का परम साधन कहते हैं, परन्तु हमारा तो उन सबसे ही भिन्न मत है। हमारे मत में तो जब कोई सब कुछ

चिन्तनं सर्वशास्त्राणां मतमन्यन्मतं मम।
न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।८६।। (१२०४)
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत्। इति सार्धश्लोकौ

द्वैतमद्वैतं वा तस्य चिन्तनं ध्यानं तदभावान्नैकधेत्यादिवत् न शब्दस्य किञ्चिच्चिन्तनशब्देन सह समासः तस्मादेव कारणात्, **स्वयं** स्वत एव, **तत्त्वं** अनारोपितं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यगात्मरूपं, **प्रकाशते** प्रकाशितं भवति।।८६।। (१२०४)

ततः किमित्यत आह **स्वयं इति। तत्त्वे** अनारोपितात्मस्वरूपे **स्वयमनन्यद्रूपे, प्रकाशिते** प्रकाशमाने सति, **तत्क्षणात्** तत्त्वप्रकाशसमकालमेव, तदन्यस्य सर्वस्य बाधितत्वात् **तन्मयः** स्वयं प्रकाशात्मस्वरूप एव, **भवेत्** स्यात्, अत्रैव एतच्छ्लोकव्याख्यानस्य समाप्तिं द्योतयति। **इति इति। सार्धश्लोकौ** अर्धेन सहितौ श्लोकौ, द्वौ श्लोकौ इति समाप्तौ; इत उत्तरमन्यदेवेत्याशयः।

इदानीं सगुणवर्णनं योग्यत्वात् लोके प्रशस्तम्, अत्र तु उन्मत्तः श्रीकृष्णेन निर्गुणस्य गुणवर्णनं कृतमित्युपहसन्प्रलपति **एकोपि इति।** हे शिष्य **यस्मिन्** आत्मनि, **एकोपि** सत्त्वं रजस्तमो वा, एकत्वसंख्यारूपो वा, **गुणो** धर्मो, **न** नास्ति, तत्रात्मनि **द्वौ** गुणौ, **त्रयो** वा गुणा द्वित्रिसंख्याश्च गुणा वा, **कुतः** कारणाद् भवन्ति, **किल** इति निश्चयेन, नैव भवन्तीत्यर्थः। यद्वा यस्मिन्नात्मनि एकोपि एकत्वसंख्यारूपो धर्मो न नास्ति अद्वैतरूपो धर्मो नास्तीत्यर्थः, तत्र आत्मनि द्वौ द्विरूपौ प्रकृतिपुरुषाख्यौ धर्मौ, त्रयो वा सत्त्वरजस्तमोभिधास्त्रयो गुणास्तदभिमानिनो हरिविष्णुरुद्राख्याश्च तद्विषयाः संख्या अपि **कुतः** कस्मात्कारणात् किल इति निश्चयेन नैव सन्तीत्यर्थः। **तस्य** उक्तलक्षणस्य, **हि** प्रसिद्धस्य ज्ञानिनां, **निस्त्रैगुण्यस्य** निर्गतं निर्वृतं त्रैगुण्यं त्रिगुणकार्यं गुणाश्च त्रयो यस्मात्तत्तथोक्तं तस्यात्मनो, **गोविन्दो** गोपालः श्रीकृष्णो, **गुणान्** धर्मान्, **गायति** उपदिशति अर्जुनायेति शेषः, अत्र च निर्गुणस्य गुणगानं विरोधाभासेन निरर्थकत्वप्रतिभासनात् प्रलपनं, निर्गुणस्य गुणकथनं अयुक्तमिति विरुद्धभाषित्वेन गोविन्दनाम्नो ग्रामीणत्वार्थग्रहादन्वर्थकत्वमिति उपहसनं, वस्तुतस्तु निर्गुणस्यात्मनो गुणा असङ्गत्वसच्चिदानन्दादयो धर्माः तेषां कथनं उपदेशनं मुक्तिसाधनमतो निर्गुणस्य गुणकथने मूढत्वं यदुच्यते तदसमञ्जसमेवेति भावः।।८७।। (१२०५)

सोचना छोड़ देता है, वह परमतत्त्व तब अधिकारी पर प्रकाशित होकर रहता है। जब वह तत्त्व प्रकाशित होता है तो उसकी महिमा या पहचान यह है कि वह साधक भी तत्क्षण ही स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप ही हो जाता है। यह डेढ़ श्लोक समाप्त हुआ, अब दूसरी बात कहेंगे।।८६।।

एकोऽपि न गुणो यस्मिन्द्वौ त्रयो वा कुतः किल।
गुणान्गायति गोविन्दो निस्त्रैगुण्यस्य तस्य हि।।८७।। (१२०५)
यस्य नैवाधिकारोऽस्ति कस्मिंश्चिदपि कर्मणि।
मुख्योऽधिकारी कैवल्ये स गीतो नन्दसूनुना।।८८।। (१२०६)
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन् यः प्रत्यक्षापलापकृत्।
नैव किञ्चित्करोमीति तमार्यं प्राह केशवः।।८९।। (१२०७)

किञ्च कस्मिन्नपि कर्मणि ज्ञान उपासनायां चाधिकारित्वं यस्य नास्ति धर्मार्थकाममोक्षे च, तस्य लोके शास्त्रे च निन्द्यत्वं श्रूयतेऽत्र तु उन्मत्तस्तादृशस्यैव मोक्षाधिकारोऽस्तीति भगवता प्रतिपादितमिति तमुपहसन्प्रलपति **यस्य इति**। हे शिष्य **यस्य** पुरुषस्य, **कस्मिंश्चिदपि** कुत्रचिदपि, **कर्मणि** क्रियायां, **अधिकारो** योग्यत्वं, **नैवास्ति** नैव भवति, **स** उक्तलक्षणः सर्वत्रानधिकारवान्, **कैवल्ये** मोक्षे, **मुख्यः** प्रधानः अधिकारवान्, **नन्दसूनुना** नन्दस्य नन्दनाम्नो गोपस्य सूनुः पुत्रः श्रीकृष्णस्तेन, **गीतः** प्रतिपादितः, अत्र च कुत्रापि अनधिकारिणो मोक्षे मुख्याधिकारित्वकथने विरोधाभासेन अनर्थकत्वप्रतीत्या प्रलापत्वम्, एतादृशविरुद्धप्रतिपादनादेव नन्दसुतत्वयोग्यमित्युपहासः, वस्तुतस्तु सर्वकर्मोपासनफलेषु विरक्तस्यैव मोक्षे मुख्याधिकारित्वकथनं युक्तमिति सर्वत्रानधिकारवतो लोके शास्त्रे च निन्द्यत्वं यत्प्रतिपाद्यते तदसमञ्जसमेवेति भावः।।८८।। (१२०६)

किञ्च विरुद्धभाषिणो लोकेऽनार्यत्वमुच्यतेऽत्र तु उन्मत्तस्तादृशस्य भगवताऽऽर्यत्वं प्रतिपादितमिति तमुपहसन्प्रलपति **पश्यन् इति**। हे शिष्य **यः** पुरुषः, **पश्यन्** चक्षुर्द्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन रूपजातमवलोकयन् सन्, किञ्च **शृण्वन्** श्रोत्रद्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्युपहितचैतन्येन शब्दजातं जानन्सन्, किञ्च **स्पृशन्** त्वग्द्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन स्पर्शविषयमनुभवन्सन्, किञ्च **जिघ्रन्** घ्राणद्वारा निर्गतान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन गन्धजातमनुभवन्सन्, लोकदृष्ट्या प्रतीयमानोपि **प्रत्यक्षापलापकृत्** प्रत्यक्षस्य दृश्यमानस्यापलापो विरुद्धवचनव्यवहारस्तस्य

विचार करने पर जिस आत्मतत्त्व में एक भी गुण नहीं है, दो और तीन का तो कहना ही क्या! दूसरे शब्दों में कहें तो जो आत्मतत्त्व सर्वथा निर्गुण है (जिसमें अद्वैतरूप एक महागुण भी नहीं रहता, जिसमें प्रकृति-पुरुष नामक दो गुण तथा सत्त्व रजस् तमस् नामक तीनों गुण तथा इनके अभिमानी ब्रह्मा विष्णु महेश आदि तीनों की तीन संख्यायें भी नहीं रहतीं) उसी निस्त्रैगुण्य (निर्गुण) ज्ञानी के (असंग सच्चिदानन्द आदि) गुणों को श्रीकृष्ण स्वयं अपने कण्ठ से गाते हैं।।८७।।

('अर्थी ह्यधिक्रियते' चाहवाला अधिकारी होता है इस न्याय से चाह न रहने के कारण) जिसका किसी भी काम में अधिकार न रहा हो, कृष्ण भगवान् ने तो उसी को मोक्ष का मुख्य अधिकारी कह डाला है।।८८।।

जानन्तोपि न सन्मार्गं मूढायोपदिशन्ति ये।
मूढमार्गं प्रशंसन्ति तान्साधूनाह माधवः।।९०।। (१२०८)

कृत् कर्त्ता। कथमपलापं करोतीति? अत्राह **नैवेति। अहं** अहंपदलक्ष्यः प्रत्यगसङ्गचिद्रूप आत्मा, **किञ्चित्** किमपि, **नैव करोमि** नैवाचरामि, इत्येवमपलापकृदस्ति **केशवः** श्रीकृष्णः, **तं** तादृशं विरुद्धभाषिणं, **आर्यं** यथार्थवक्तारं, **प्राह** कथयामास। अत्र च विरुद्धभाषिणोऽविरुद्धभाषित्वलक्षणमार्यत्वकथनं विरुद्धप्रतीत्या प्रलापः, एतादृशानार्यत्वलक्षणवति पुरुष आर्यत्वज्ञानवतो भगवतो भ्रान्तत्वादेव शयनायोग्ये जलोपलक्षिते सर्पे जल एव वा शयनेन केशव इति नाम योग्यमेवेत्युपहासः, वस्तुतस्तु अहम्पदलक्ष्यं कूटस्थमात्मानमात्मत्वेन साक्षात्कृतवतः पुरुषस्य कर्तृत्वादिबाधेनान्तःकरणावच्छिन्नचिदाभासरूपेण यावत्प्रारब्धं तन्निर्वाहाद् व्यवहारनिर्वाहस्य लोकदृष्ट्या दर्शनाद् व्यवहारे सत्यपि कूटस्थात्मनि तदसत्त्वादविरुद्धभाषिणस्तस्यार्यत्वकथनं युक्तमेवेति लोकशास्त्रे विरुद्धभाषिणामनार्यत्वकथनं यत्तदयुक्तमेवेति भावः।।८९।। (१२०७)

किञ्च ये स्वयमुत्तममार्गं जानन्तोपि ततो भ्रष्टानां तदविदुषां सन्मार्गं न प्रदर्शयन्ति किञ्च प्रत्युत तमेव मार्गं तदग्रे स्तुवन्ति तेऽसाधुलक्षणवन्तः खला इति लोकशास्त्रे च वर्णिता, अत्र तु उन्मत्तस्ते एव साधव इति भगवदुक्तत्वात्तं भगवन्तमुपहसन्प्रलपति **जानन्तोपि इति।** हे शिष्य **ये** पुरुषाः, **स्वयं** स्वतः, **सन्मार्गं** उत्तममार्गं मोक्षमार्गभूतं ज्ञानमित्यर्थः, **जानन्तोपि** विदन्तः सन्तोपि, **मूढाय** अज्ञाय मोक्षमार्गमज्ञायेत्यर्थः, **नोपदिशन्ति** न प्रदर्शयन्ति, किञ्च **मूढमार्गं** मूढानां ज्ञानानधिकारिणां मार्गः पन्थाः स्वर्गादिस्वस्वेष्टसाधनभूतं कर्म वा उपासनं वेत्यर्थः, **प्रशंसन्ति** स्तुवन्ति, **तान्** उक्तलक्षणवतः खलानपि, **माधवः** श्रीकृष्णः, **साधून्** दयावतः सज्जनानित्यर्थः,

सब कुछ देखता सुनता छूता तथा सूंघता हुआ भी जो ज्ञानी 'मैं असंग आत्मवस्तु कुछ भी नहीं करता हूँ' इस उदात्त विचार के प्रभाव में फँसकर, सब लोगों के प्रत्यक्ष का ही अपलाप करने लगे कि 'मैं तो कुछ भी नहीं करता हूँ' उस (विरुद्धभाषी अनार्य) को ही केशव ने गीता में यथार्थवक्ता आर्य माना है।।८९।।

जो पुरुष (मोक्षदायक ज्ञानरूपी) सन्मार्ग को जानते तो हैं, परन्तु (ज्ञानमार्ग के अनधिकारी) मूढ लोगों को उस मार्ग का उपदेश कभी नहीं करते। किन्तु जिस कर्म अथवा उपासना के मार्ग में वे लोग लगे रहते हैं उसी मार्ग को उनके लिये 'हाँ यही ठीक है' कह देते हैं, ऐसे उन खल लोगों को ही माधव ने साधु कह डाला है।

जो लोग ज्ञान के गहन तत्त्व को समझ ही नहीं सकते उनको भूल कर भी ज्ञान की बात न कहनी चाहिये। गीता के शब्दों में उनका बुद्धिभेद कभी न करना चाहिये, प्रत्युत उनके स्वीकृत मार्ग की ही प्रशंसा ज्ञानी लोग किया करें। जिससे कि उनका अन्तःकरण शुद्ध होता जाय और वे लोग काल पाकर ज्ञानमार्ग के अधिकारी बन सकें।।९०।।

यस्मिन्मार्गे प्रविष्टस्य भ्रष्टताऽग्रिमजन्मनि।
तमेव योगिनां मार्गमस्तौषीत् पार्थसारथिः।।६१।। (१२०९)
यथेष्टचेष्टारोधो हि सिद्धिदो हठयोगिनाम्।
यथेष्टचेष्टा कैवल्यमस्माकं ज्ञानयोगिनाम्।।६२।। (१२१०)

आह उक्तवान् गीतायामिति शेषः। अत्र च खलत्वलक्षणवतां साधुत्वकथनं विरुद्धत्वेन निरर्थकत्वात् प्रलापः, तादृशखलत्वलक्षणवतां साधुत्वकथनं विरुद्धमपि लोके यत्प्रमाणं मन्यते तत्तस्य श्रीमत्त्वादेव न प्रमाणत्वाद् इत्युपहासो माधवपदेनात्र ज्ञेयः, वस्तुतस्तु सन्मार्गपदवाच्य-ज्ञानानधिकारिणां ज्ञानमार्गाप्रदर्शनं कर्ममार्गस्तवनं च मूढानां कल्याणकारकत्वात् तत्कुर्वतां पुरुषाणां साधुत्वकथनं युक्तमेवेति लोके शास्त्रे सन्मार्गज्ञानवतां तत्र भ्रष्टानां तमजानानां तमप्रदर्श्य तत्स्तावकानामसाधुत्वं यदुच्यते तदसमञ्जसमेवेति भावः।।६०।। (१२०८)

किञ्च चौरादिदुष्टप्राणिमतो मार्गस्य प्राणिनां दुर्मरणेनाग्रे नीचजन्मप्रापकत्वान्निन्द्यत्वमुच्यते लोके शास्त्रे चाऽत्र तु उन्मत्तस्तादृशमार्गस्यैव श्रैष्ठ्यं भगवता प्रोक्तमिति तमुपहसन्प्रलपति **यस्मिन् इति**। हे शिष्य **यस्मिन्** विवेकिषु प्रसिद्धे, **मार्गे** मोक्षप्राप्तिसाधनभूते ज्ञाने, यद्वा **यस्मिन्** विद्वत्प्रत्यक्षे, **मार्गे** मार्गयन्ति वैराग्यादिसाधनपूर्वं श्रवणाद्युपायैः अन्विष्यन्ति मुमुक्षवो यं स मार्गो ब्रह्मानन्दः तस्मिन्, **प्रविष्टस्य** प्रवेशं कृतवतो योगेन ब्रह्मणि समाहितस्य ज्ञानेन वा तदैक्यं प्राप्तस्य वेत्यर्थः, **अग्रिमजन्मनि** भाविजन्मविषये, **भ्रष्टता** प्रच्युतिः मुक्तिः इत्यर्थः, भवतीति शेषः, **तमेव** तादृशमेव, **योगिनां** ज्ञानिनां, **मार्गं** मोक्षगतिप्रापकमुपायभूतं ज्ञानं ब्रह्मसुखं वा, **पार्थसारथिः** पार्थस्य अर्जुनस्य सारथिः सौत्ये कर्मणि स्थितः श्रीकृष्णः, **अस्तौषीत्** 'सुखमात्यन्तिकं यत्तदि' त्यादिना ब्रह्मसुखं, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इत्यादिना ज्ञानं च प्रशंसितवान्। अत्र च यन्मार्गप्रविष्टस्याग्रिमजन्मनि नीचयोनिं प्राप्य उत्तममार्गतो भ्रष्टता स्यात् तादृशदुष्टमार्गस्य प्रशंसा विरुद्धत्वेन निरर्थकत्वात्प्रलापः, मार्गज्ञानिनामेव सारथित्वमपि युक्तमत्र तादृशमार्गाज्ञानिनः श्रीकृष्णस्य तत्सारथ्यमयुक्तमेवेत्युपहासः, वस्तुतस्तु ज्ञानमार्गप्रविष्टस्य अग्रिमजन्मभ्रंशेन मोक्षसिद्धेस्तत्प्रशंसनेनाधीरस्यार्जुनस्य तारकत्वेन तत्सारथित्वमुचितमेवेति पुरोभाविजन्मभ्रंशकमार्गस्य निन्दा धर्मशास्त्रे कृता सा अयुक्तेति भावः।।६१।। (१२०९)

किञ्च हठयोगिनां स्वाभाविकदेहेन्द्रियादिचेष्टावरोधो मुक्तिसाधनत्वेनाभिमतः, अत्र तु उन्मत्तस्तद्विरुद्धं प्रलपति **यथेष्ट इति**। हे शिष्य **हठयोगिनां** हठेन बलात्कारेण युजन्ति आत्मानं परमात्मनि ते हठयोगिनस्तेषां, **यथेष्टचेष्टारोधो** यथेष्टः स्वाभाविक्यो याश्चेष्टाः क्रियास्तासां रोधः अवरोधनं, **हि** प्रसिद्धो, योगशास्त्रे स **सिद्धिदः** सिद्धिर्मुक्तिस्तां ददातीति सिद्धिदोऽस्तीति मतं तत्त्वयुक्तमेव, अस्माकं तु तेभ्योऽतीव विलक्षणं मतमिति तुपदेन सूचितम्, **अस्माकं**

जिस (ज्ञान अथवा ब्रह्मानन्दरूपी) मार्ग में प्रविष्ट हो जाने पर अगले जन्म से भ्रष्टता आ जाय (अगला जन्म मिले ही नहीं) पार्थ के सारथि श्रीकृष्ण ने भ्रष्ट कर डालने वाले योगियों के उसी मार्ग की भरपेट प्रशंसा की है।।६१।।

हत्त्वापि य इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।
अस्माकं तु मते तस्य सङ्गतिः शान्तिसाधनम्।।६३।। (१२११)

ज्ञानयोगिनां ज्ञानमेव जीवब्रह्मैक्यविषयं ज्ञानं बोधः तदेव योगो जीवब्रह्मैक्ययोगजनकं साधनं येषामस्ति तेषामस्मदादीनां, **यथेष्टचेष्टा** यथेष्टा स्वाभाविक्यायासरहितेत्यर्थः, चेष्टा देहादिनिर्वाहाय देहादिभिर्निर्वर्त्यमाना क्रिया, सैव **कैवल्यं** मोक्षमस्ति, तदुक्तं

'अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम्।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बोधो ग्रन्थिभेदत' इति।।

अतो हठयोगिमतमुक्तेः कादाचित्कत्वादसमञ्जसमेव तन्मतमिति भावः।।६२।। (१२१०)

किञ्च सर्वप्राणिघातकस्य सङ्गत्या नरकप्राप्तिर्भवतीति धर्मशास्त्रे प्रतिपादितमत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **हत्त्वा इति**। हे शिष्य **यः** कोपि पुरुषः, **इमान्** प्रत्यक्षान्, **लोकान्** लोक्यन्ते दृश्यन्त इति लोकाः तान् पञ्चभूतानि भौतिकांश्च ब्रह्माण्डादीन् दृश्यानित्यर्थः, **हत्त्वापि** स्वात्मनः पृथक्सत्त्वरहितान् कृत्त्वापि यद्वा लोकप्रसिद्ध एवार्थः, तस्मिन्नपि कर्तृत्वबाधेन सर्वप्राणिनो नाशयित्वापि, **न हन्ति** न नाशयति, विनाश्यलोकस्य तद्विनाशकस्य चोभयोरपि असत्त्वादत एव न निबध्यते अहमेषां घातक इति जगन्नाशकर्तृचिदाभासतत्साक्षिचिदात्मनोरन्योन्यारोपेण स्वात्मनि घातकत्वं नानुभवतीत्यर्थः, किञ्च तद्बाधपूर्वं आत्मनः पृथगनुभवतीति भावः, **तस्य** उक्तविधघातकस्य, **सङ्गतिः** सङ्गः, **शान्तिसाधनं** तन्मुखवाक्यश्रवणादिना शान्तेः मोक्षस्य साधनं साधिका भवतीत्येव, **अस्माकं तु** अस्मदादीनामेव, **मतं** निश्चितमस्तीति ज्ञेयं, अतो लोकघातकानां सङ्गतिः नरकप्रदेत्युक्तमसमञ्जसमेवेति भावः।।६३।। (१२११)

हठयोगी के मत में देह इन्द्रिय आदि की यथेष्ट चेष्टाओं (स्वाभाविक क्रियाओं) को रोक लेने से मुक्ति नामक सिद्धि का मिलना माना गया है। (उनका वह मत ठीक नहीं है)। हमारा सिद्धान्त तो उनसे सर्वथा ही विलक्षण हैहम ज्ञानयोगियों के मत में तो यथेष्टचेष्टायें (शरीर और आत्मा को सर्वात्मना पृथक् पृथक् जान कर प्रारब्ध भोग के अनुसार केवल शरीरयात्रा के लिये, केवल शरीर आदियों से ही जब स्वाभाविक क्रियायें होने लगेंजब उन क्रियाओं में हमारा थोड़ा-सा भी अहंभाव न रहेतो यही यथेष्ट-चेष्टायें कहाती हैं) ही मोक्ष कहाती है।।६२।।

जो कोई महापुरुष इन समस्त लोकों को मार कर भी (समस्त प्राणियों का वध करके भी) तत्त्वदृष्टि के अनुसार न तो मारता ही है और न मारने के पाप का भागी ही बनता है, ऐसे उस घातक की संगति करने (उसके मुख से निकले हुए अनुभवपूर्ण वाक्यों को सुनने) से मोक्षनामक परमशान्ति के दर्शन हो जाते हैं। (ऐसी अवस्था में धर्मशास्त्र का लोकघातकों की संगति को नरक देने वाली बताना, हमें, सर्वांश में माननीय नहीं है।।६३।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
एतस्यापरिहार्यस्य परिहारो मतं मम।।६४।। (१२१२)
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि कुरुते यस्य भस्मसात्।
न तस्य कर्मभ्रष्टस्य कर्मठैर्लभ्यते पदम्।।६५।। (१२१३)

किञ्च गीतायां भगवतोक्तम्

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि'।।

इति जन्ममरणयोरपरिहार्यत्वमत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **जातस्य इति।** हे शिष्य **हि** लोके शास्त्रे च प्रसिद्धमेवेदं, **जातस्य** उत्पन्नस्य, **मृत्युः** मरणं, **ध्रुवः** अवश्यंभावीत्यर्थः, **मृतस्य च** मरणं प्राप्तस्यापि, **जन्म** जननं, **ध्रुवं** अवश्यंभावि अस्ति, **एतस्य** भगवदुक्तस्य, **अपरिहार्यस्य** परिहर्तुं निवर्त्तयितुं योग्यं परिहार्यं न परिहार्यमपरिहार्यं तस्यापि, **मम** मे, **मतं** इष्टं आत्मस्वरूपमेव, **परिहारो** निवृत्तिरस्ति, जन्ममरणादिवद्देहतादात्म्यनिरसनेन आत्मन आत्मत्वेनावस्थाने सति तयोः परिहारः स्यादिति तयोरपरिहार्यत्वोक्तिरयुक्तेति भावः।।६४।। (१२१२)

किञ्च कर्मभ्रष्टानामधोगतिः श्रूयते धर्मशास्त्रेऽत्र तु उन्मत्तस्तद्विपरीतं प्रलपति **ज्ञानाग्निः इति।** हे शिष्य **यस्य** पुरुषस्य, **ज्ञानाग्निः** सकारणसर्वसंसारदाहकत्वात् ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यविषयो बोध एव अग्निः वह्निः, **सर्वकर्माणि** समस्तानि सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणानि, **भस्मसाद्** अबाधकत्वेन भस्मरूपाणि, **कुरुते** सम्पादयति, **तस्य** उक्तविधस्य कर्मभ्रष्टस्य कर्मभ्यो भ्रष्टस्य मुक्तस्य यत् पदं जीवन्मुक्तिस्वरूपं तत्, **कर्मठैः** कर्मिभिः, **न लभ्यते** न प्राप्यते, अतः कर्मभ्रष्टानां अधोगतिर्भवतीति धर्मशास्त्रे यत्प्रतिपादितं तदसमञ्जसमेवेति भावः।।६५।। (१२१३)

उत्पन्न हुए का मरना तथा मृत का दुबारा जन्म लेना, ये दोनों बातें लोक में अपरिहार्य समझी जाती हैं। मेरे मत में तो इन अपरिहार्य बातों का भी परिहार (निवृत्ति) हो जाता है।

जन्ममरणशील शरीरादि के साथ जब हम तादात्म्य छोड़ देते हैं और केवल आत्मस्वरूप में स्थित होना सीख जाते हैं, तो ये अपरिहार्य समझे जाने वाले जन्ममरण आदि भी सदा के लिये निवृत्त हो जाते हैं।।६४।।

धर्मशास्त्र कर्मभ्रष्ट लोगों को अधोगति का मिलना भले ही बताया करो, परन्तु (सकल संसार को भस्मसात् कर डालने वाली) ज्ञानाग्नि जिसके (संचित प्रारब्ध और क्रियमाण) सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् करके कर्मभ्रष्ट कर चुकी हो, ऐसे उस कर्मभ्रष्ट के (जीवन्मुक्तिरूपी) परम पद को कर्मी लोग कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते।।६५।।

यस्तु कापुरुषः कामात्सर्वस्मादपि निर्गतः।
स एव पुरुषार्थीति जगाद पुरुषोत्तमः।।९६।। (१२१४)
विष्णुगीता मयाऽधीता निर्णयस्तत्र निर्गतः।
सर्वधर्मपरित्यागी सर्वपापैः प्रमुच्यते।।९७।। (१२१५)

किञ्च सर्वकामहीनस्य लोके कुत्सितपुरुषत्वमुच्यतेऽत्र तु उन्मत्तो भगवता तद्विपरीतमेव प्रतिपादितमिति तमुपहसन्प्रलपति **यस्तु इति**। हे शिष्य **यस्तु** प्रसिद्धः पुरुषः, **सर्वस्मादपि** सकलादपि धर्मार्थकाममोक्षाख्यविषयात्, **कामाद्** अभिलाषात्, **निर्गतः** निवृत्तोऽस्ति, स **कापुरुषः** कुत्सितः पुरुषो लोकमते नरो ज्ञेयः तथापि **पुरुषोत्तमः** पुरुषेषु पुरुषार्थिषूत्तमः श्रीकृष्णः, **स एव** उक्तविधः सर्वकामहीन एव, पुरुषः **पुरुषार्थीति** पुरुषार्थो मोक्षाख्यो विद्यतेऽस्य स तथोक्तोऽस्तीत्येवं, **जगाद** उवाच स्पष्टम्, अत्र च कापुरुषस्य पुरुषार्थित्वकथनं विरुद्धत्वात्प्रलपनमेव, तादृशस्य पुरुषार्थित्वप्रतिपादनेन पुरुषज्ञानहीनत्वात् पुरुषत्वस्याप्यसम्भवे सति पुरुषोत्तमनाम्नोऽयोग्यत्वमेवेत्युपहासः। वस्तुतस्तु सिद्धान्ते

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता'।।

इति श्रुतेः सर्वपुरुषार्थानामनाऽऽत्मत्वेन 'आत्मकाम' इति आत्मकामत्वप्रतिपादनात् तादृशात्मकामे पुरुषे सर्वकामनिवृत्त्युपलब्ध्या पुरुषार्थित्वप्रतिपादनं युक्तमेवेति सर्वकामहीनस्य कापुरुषत्वप्रतिपादनमयोग्यमेवेति भावः।।९६।। (१२१४)

किञ्च धर्मशास्त्रे तावत्सर्वधर्मत्यागिनां नरकप्राप्तिरेवाभिहिताऽत्र तु उन्मत्तस्तादृशसर्वधर्मत्यागिनामेव सर्वपापनिवृत्तिरितितद्विरुद्धं प्रलपति **विष्णुगीता इति**। हे शिष्य **मया** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासेन साधनचतुष्टयसम्पन्नेन, **विष्णुगीता** विष्णुना श्रीकृष्णेन गीतोपदिष्टा अर्जुनाय शिष्यायेति शेषः, सा **अधीता** पठिता, तत्र च **निर्णयो** निश्चयो, **निर्गतः** प्राप्तोऽस्ति। कोऽसौ? इति अपेक्षायामाह **सर्वधर्मेति**। यः कोपि **सर्वधर्मपरित्यागी** सर्वे समस्ता ये धर्माः स्वस्ववर्णाश्रमोचितानि कर्माणि निषिद्धानि च तेषां परित्याग आत्मैकशरणत्वेन अत्यन्तं विसर्जनं सोऽस्यास्तीति स

(संसार के झंझटों से घबराया हुआ) जो कोई भीरु (डरपोक) पुरुष (धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष नामक सम्पूर्ण) कामनाओं से सर्वथा निवृत्त हो चुका हो, पुरुषोत्तम ने गीता में उसी भीरुको सबसे बड़ा पुरुषार्थी कह दिया है।

ये कामादि सकल पुरुषार्थ, विचार की अन्तिम श्रेणी में जब हम पहुँचते हैं तब केवल आत्मरूप ही पाये जाते हैं। अपने विचार की प्रबलता से जो मनुष्य सदा ही केवल आत्मकाम हो सकता है, जो किसी भी अनात्मपदार्थ की इच्छा ही नहीं करता, सबसे बड़े पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेने वाले ऐसे सर्वकामहीन पुरुष को कापुरुष कहना कदापि युक्तिसंगत नहीं है।।९६।।

असङ्गवस्तुविषये प्रलापोऽयं तु सङ्गतः।
ध्यातो मुहुर्मुहुर्दद्यात्सतां पूर्णामसङ्गताम्।।९८।। (१२१६)

तथोक्तः, स **सर्वपापैः** सर्वाणि समस्तानि पापानि कल्मषाणि तैः, **प्रमुच्यते** मुक्तो भवति तस्य आत्मत्वाद्, 'य आत्माऽपहतपाप्मे'ति श्रुतेरिति। अतो धर्मशास्त्रे सर्वधर्मत्यागिनां पापप्रसक्तिः प्रतिपादिता साऽयुक्तैवेति भावः।।९७।। (१२१५)

इदानीमेतत्प्रकरणस्योन्मत्तप्रलापत्वं स्पष्टीकर्तुं तावत्प्रलापत्वं साधयति **असङ्गता इति।** हे शिष्य **असङ्गवस्तुविषये** न विद्यते सङ्गः केनापि वाच्यधर्मेण सम्बन्धो यस्य तत्तादृशं यद्वस्तु ब्रह्म तस्मिन्विषयेऽस्य शतकस्य वर्णयितुं प्रवृत्तत्वाद् **अयं** श्लोकशतकरूपः, **प्रलापः** अनर्थकवचनरूपः, **सङ्गतस्तु** युक्त एवाऽस्ति। ननु तर्हि प्रलापत्वादुपेक्ष्यः स्यादित्याशङ्क्याऽसङ्गत्वस्फूर्तिलक्षणफलसद्भावान्नोपेक्ष्य इत्याह **ध्यात इति।** अयं प्रलापो **मुहुर्मुहुः** पुनः पुनः, **ध्यातः** चिन्तितो विचारितः सन्, **सतां** साधनसम्पन्नानां एतच्चिन्तकानां, **पूर्णां** अखण्डां, **असङ्गतां** असङ्गात्मरूपां स्थितिं, **दद्यात्** समर्पयेदतो नोपेक्ष्यत्वमस्येति भावः।।९८।। (१२१६)

नन्वस्य प्रलापत्वमस्तून्मत्तप्रलापत्वं कुत इत्यत आह **अगोचर इति। अस्य** शतकस्य, **अगोचरविचारे** न गोचरं विषयो मनोवचसोः प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म चैतन्यं तस्य विचारो विवेकः तस्मिन् **निन्द्यकामादिवर्त्मना** लोकशास्त्रयोर्निन्द्या गर्ह्या ये कामादयस्त एव वर्त्म मार्गो द्वारमित्यर्थः, तेन **प्रवृत्तस्य** प्रवर्तमानस्य, **शतकस्य** शतश्लोकात्मकस्य प्रकरणस्य, **उन्मत्तप्रलापता** उन्मत्तस्य प्रमत्तस्य प्रपञ्चाननुसन्धानवत इत्यर्थः, प्रलापः अनर्थकवाग्व्यवहारस्तस्य भावस्तत्ता **व्यक्ता** स्पष्टैवास्ति।।९९।। (१२१७)

(धर्मशास्त्र के कथनानुसार सब धर्मों का त्याग कर देने वाले को अवश्य ही नरक यातनायें भोगनी पड़ेंगी, परन्तु) मैंने जो भगवद्गीता का स्वाध्याय किया तो मुझे उसमें से केवल यही निर्णय हाथ आया कि जो कोई सकल वर्णाश्रम के उचित भी धर्मों अथवा कर्मों का सच्चे अर्थों में परित्याग कर सके (केवल आत्मैकशरण होकर रह सके) तो वह सभी पापों से मुक्त हो जाय और मुक्ति के परमपद को पाकर ही छोड़े।।९७।।

असंग वस्तु के विषय में हमने जो यह प्रलाप किया है यह बड़ा ही संगत है। इसका बार-बार ध्यान करने से साधन-सम्पन्न पुरुषों को पूरी असंगता प्राप्त हो सकेगी। (इस कारण इसकी उपेक्षा न करनी चाहिये)।।९८।।

संसार में निन्दनीय समझे जाने वाले काम क्रोधादि के द्वारा ही इस शतक में अगोचर आत्मतत्त्व का विचार किया है, इसी से उसका नाम 'उन्मत्त प्रलाप' अर्थात् उन्मत्त का सा प्रलाप रक्खा है।

अगोचरविचारेऽस्य निन्द्यकामादिवर्त्मना।
शतकस्य प्रवृत्तस्य व्यक्तोन्मत्तप्रलापता।।९९।। (१२१७)
अस्योन्मत्तप्रलापत्वादुपेक्षां तात मा कुरु।
नूनमेतस्य भावार्थो दुर्बोधो विषयात्मभिः।।१००।। (१२१८)
इत्युन्मत्तप्रलापोऽयं नाम्ना प्रोक्तो मया तव।।१०१।। (१२१९)

ननु तर्ह्युभयथाप्युपेक्ष्यत्वमस्येत्याशङ्क्याह **अस्य इति। हे तात** हे शिष्य, **अस्य** प्रकरणस्य, **उन्मत्तप्रलापत्वाद्** उन्मत्तप्रलापनाममात्रेण, **उपेक्षाम्** अनादरं, **मा कुरु** नैव कर्त्तव्या, कुत इत्यत आह **नूनमिति। एतस्य** अस्य प्रकरणस्य, **भावार्थः** तात्पर्यं **विषयात्मभिः** विषयेषु भोगेषु आत्माऽन्तःकरणं येषां तैः पुरुषैः, **दुर्बोधो** दुःखेनातिक्लेशेन बोद्धुं योग्यो न तु सुबोधो, **नूनम्** इति निश्चयेनास्तीत्यत इति योज्यम्।।१००।। (१२१८)

अत एव तवाग्रे मया एतन्निरूपितमित्याह **इति** इति। **इति** अतो हेतोः, **नाम्ना** अभिधानेन, **उन्मत्तप्रलाप** उन्मत्तप्रलाप इत्येवं, **तव** ते, **मया** त्वद्धितोपदेष्ट्रा, **प्रोक्तः** कथितोऽस्ति।।१०१।। (१२१९)

तर्हि किं कर्तव्यमित्याशङ्कायामाह **नूनम् इति।** हे शिष्य **नूनं** निश्चयेन, **एकान्तनिष्ठेन** एकान्ते विजने देशे अद्वितीयब्रह्मस्वरूप इत्यर्थः, लौकिकेपि विजने देशे निष्ठा सहजप्रीतिर्यस्य तथाभूतेन; ब्रह्मणो विजनदेशशब्दवाच्यत्व आचार्यवचनम्

'आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सकलं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृत' इति।।

इन काम क्रोध आदि मनुष्य के शत्रुओं का झुकाव जब तक संसार की ओर रहता है तभी तक ये निन्द्य अथवा हानिकारक समझे जाते हैं, परन्तु जब इनका झुकाव ईश्वर तत्त्व की ओर हो जाता है तो ये हमारे पक्के मित्र होकर हमें अपने साथ ही ईश्वरतत्त्व की ओर ले जाते हैं। संसारसागर को पार करने में वे ही निन्द्य काम क्रोध आदि किस किस रीति से हमारी सहायता करके हमें अगोचर ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं, यही सब इस सौ श्लोक के प्रकरण में कहा है।।९९।।

केवल उन्मत्तप्रलाप समझ कर इस सुन्दर प्रकरण का अनादर मत करना। इस प्रकरण का भावार्थ उन लोगों की समझ में बड़ी ही कठिनता से आयेगा, जिनका अन्तःकरण सदा ही विषयों (भोगों) में उलझा रहता है। इसका भाव तो सहज में वे ही समझ सकेंगे जिन्होंने अपने अन्तःकरण को भोगों से पृथक् कर लिया होगा।।१००।।

यही सब सोचकर मैंने इस प्रकरण का नाम 'उन्मत्तप्रलाप' रक्खा है और तुम्हें यह सब कह सुनाया है।।१०१।।

नूनमेकान्तनिष्ठेन नित्यमेकाग्रचेतसा।
इत्युन्मत्तप्रलापोऽयं विचार्यः कृतबुद्धिना।।१०२।। (१२२०)
अवस्थाया मनोन्मन्या उन्मत्ता ये महाधियः।
निधिस्तेषां प्रलापोऽयं स्थाप्यो हृदयमन्दिरे।।१०३।। (१२२१)

इति उन्मत्तप्रलापशतकमेकोनपञ्चाशत्तमम्।।४६।।

किञ्च **नित्यं** सर्वदा, **एकाग्रचेतसा** एकं स्वगतादिभेदशून्यं ब्रह्मैव अग्रे स्फुरद्रूपं यस्य विषयभूतं तदेकाग्रं चेतोऽन्तःकरणं यस्य तेन तथाभूतेन, **कृतबुद्धिना** कृता संपादिता बुद्धिः ब्रह्माहमिति प्रमारूपा वृत्तिः येन तादृशेन भवता अन्येन वा, **इति** यत उपेक्षा न कर्तव्या इत्यतो हेतोः **अयं** मया त्वदग्रे निरूपितः त्वया च श्रुत एष **उन्मत्तप्रलाप** उन्मत्तप्रलापनामकं प्रकरणं, **विचार्यो** विचारणीयो, न तु उपेक्षणीय इति भावः।।६०२।। (१२२०)

येषामुन्मत्तानामयं प्रलापो यतश्चास्यानुपेक्षणीयत्वं तेषां लक्षणमस्य च लक्षणमप्याह **अवस्थाया इति**। हे शिष्य **ये** लोकप्रसिद्धोन्मत्तेभ्यो विलक्षणा, **मनोन्मन्या** मनसोऽन्तःकरणस्योन्मनी मनोनाशरूपा ब्रह्माकारा या वृत्तिः तस्या अवस्थायाः स्थितेः कारणाद्, **उन्मत्ता** नष्टमनस्का, अत एव **महाधियो** महती अपरिच्छिन्नब्रह्मरूपा धीः बुद्धिः येषां ते तथोक्ताः, **तेषां** उन्मत्तानां, **अयं** एषः, **प्रलापो** भाषणं, यथा **निधिः** द्रव्यपूर्णं पात्रं गृहे गुप्तमेव स्थाप्यते तथा अयमपि निधिः निधीयते विचिन्त्यते ब्रह्मतत्त्वमस्मिन्निति निधिरस्ति, अतो **हृदयमन्दिरे** हृदयमन्तःकरणमेव मन्दिरं तस्मिन्, **स्थाप्यः** सन्धार्यो मुमुक्षुभिरिति शेषः।।१०३।। **(१२२१)**

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ उन्मत्तप्रलापशतकार्थप्रकाश एकोनपञ्चाशत्तमः।।४६।।

क्योंकि यह प्रकरण सामान्य प्रकरण समझकर उपेक्षणीय नहीं है, इसलिये किसी निर्जनस्थान में अपने चित्त को ब्रह्म में एकाग्र करके कृतबुद्धि लोगों को यह प्रकरण सदा ही विचारना चाहिये।।१०२।।

हम साधारण लौकिक उन्मत्तों की बात नहीं कहते, जो लोग मनोन्मनी (मनोनाशरूपी ब्रह्माकारवृत्ति) अवस्था के प्रभाव में आकर उन्मत्त अथवा नष्टमानस हो जाते हैं, यह भाषण उन महाबुद्धि लोगों की एक अत्यन्त गोपनीय निधि है। मुमुक्षुओं को उचित है कि वे अपने हृदयरूपी मन्दिर में बड़े प्रयत्न से इस प्रकरण को धारण किये रहें।।१०३।।

अब शिवपूजाशतक नामका प्रकरण आरम्भ किया जाता है(सामान्य नियम यह है कि कर्म से प्राणी बन्धन में पड़ जाता है परन्तु) शिवपूजा नाम का कर्म तो कर्मों को उखाड़ फेंकने में समर्थ है। (इसी प्रकार सामान्यतया संकल्पों से दुःख ही दुख पैदा होते हैं परन्तु) शिवपूजा का संकल्प तो संकल्पों से होने वाले समस्त दुःखों को ही हर

अथ शिवपूजाशतकम्

शिवपूजात्मकं कर्म कर्मनिर्मूलनक्षमम्।
सङ्कल्पः शिवपूजायाः सर्वसङ्कल्पदुःखहृत्।।१।। (१२२२)

एवमुन्मत्तप्रलापशतकं निरूप्य इदानीं ज्ञानविनोदेन ज्ञानिनां कालातिक्रमणाय शिवपूजाशतकाख्यं शतश्लोकं प्रकरणमारभमाणो गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** उन्मत्तप्रलापशतकनिरूपणानन्तरं, **शिवपूजाशतकं** शिवस्य ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मगुरोः पूजा अर्चा तत्स्मरणरूपा तस्याः प्रतिपादकं शतकं शतश्लोकसमूहरूपं प्रकरणं निरूप्यते इति शेषः। तत्र तावदेतत्प्रकरणप्रतिपाद्यशिवपूजायां रुचिं जनयितुं शिवपूजायास्तत्सङ्कल्पस्य च फलं दर्शयति **शिवपूजेति। शिवपूजात्मकं** शिवो महादेवस्तस्य पूजा अर्चा सैवात्मा स्वरूपं यस्य तत्तथाविधं, यत् **कर्म** क्रिया तत्कर्म बन्धनहेतुभूता या क्रियास्ति, तस्य **निर्मूलनं** मूलमज्ञानं तेन सहैव निवर्त्तनं, तस्मिन् **क्षमं** समर्थमस्ति अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानजननेनाज्ञानसहितकर्मनाशनसमर्थमिति भावः। किञ्च **शिवपूजायाः** शिवस्य महादेवस्य या पूजा अर्चा तस्याः, **सङ्कल्पः** अध्यवसायः, स **सर्वसङ्कल्पदुःखहृत्** सर्वे समस्ता ये सङ्कल्पा अध्यवसायास्तेभ्यो यद्दुःखं पीडा तस्य हृद् हर्त्ता भवतीति शेषः, इति लौकिकार्थः।

प्रकृतार्थस्तु **शिवपूजात्मकं** शिवः सुखरूपः प्रेमास्पदत्वाद् ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा 'यो वै भूमा तत्सुखं, विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतेः, 'प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मादान्तरतरोयमात्मे'ति श्रुतेः स पूज्यते अर्च्यतेऽनया सा तथोक्ता सर्ववृत्तिपुष्पैरात्मनः पूजेत्यर्थः, प्रमारूपा ब्रह्मात्मविषया वृत्तिरिति भावः, सैवात्मा स्वरूपं यस्य तत्तथाविधं **यत्कर्म** कर्तृसापेक्षत्वात् क्रिया, **तत्कर्मनिर्मूलनक्षमं** कर्मणः समस्तबन्धनरूपक्रियाया निर्मूलनं मूलमात्माज्ञानं तत्सहितं यत्कर्तृत्वं तेन सहितकर्मनिवर्त्तनं तस्मिन् क्षमं समर्थमस्ति ज्ञानस्वरूपत्वात्। किञ्च **शिवपूजायाः** शिवस्य परमानन्दरूपस्यात्मनः पूजा पूर्वोक्तात्मविषया वृत्तिस्तस्याः **संकल्पः** अध्यवसायः **सर्वसंकल्पदुःखहृत्** सर्वस्य जगतो यः संकल्पो मननं 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इति श्रुत्युक्तस्ततो यद् दुःखं पीडा तस्य हृत् निवर्त्तको भवति अतः शिवपूजायां शिवपूजासंकल्पे च मुमुक्षुभिः रुचिः कर्त्तव्येति भावः।।१।। (१२२२)

लेता है। जब सम्पूर्ण वृत्तिरूपी पुष्पों से इस सदाशिव आत्मदेव की पूजा की जाती है अर्थात् ब्रह्माकारवृत्ति कर ली जाती है तो इस कर्म का यह प्रभाव होता है कि इस वृत्ति के करने में जो जो कर्म विघ्न डाला करते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। उनके साथ ही उन सबका कारण मूलाज्ञान तथा उससे उत्पन्न हुआ कर्तृत्व आदि सम्पूर्ण संकट एकदम नष्ट हो जाता है।

यदि कोई अधिकारी इस सदाशिव आत्मदेव की पूजा का संकल्प भी कर लेता है तो उस संकल्प का ही इतना अद्भुत प्रभाव होता है कि संकल्पों से पैदा होने वाले उसके समस्त दुःख स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं।

इसका दूसरा भाव यह भी है कि सृष्टि के आरम्भ में इस समस्त जगत् को बनाने

शिवपञ्चाक्षरी दीक्षा शब्दब्रह्ममयी हिता।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।।२।। (१२२३)
तिस्रो रेखा विभूतेस्तु श्रद्धाभक्तिविरक्तयः।
पूजाधिकारसिद्ध्यर्थं धार्याः स्वांगेषु शाम्भवैः।।३।। (१२२४)

एवं शिवपूजायां रुचिमुत्पाद्येदानीं तत्रैव योग्यं मन्त्रमाह **शिवपञ्चाक्षरी इति। शब्दब्रह्ममयी** शब्दरूपं यद्ब्रह्म प्रणवाख्यं वाच्यवाचकयोरभेदोपचारात् प्रणवस्य ब्रह्मत्वम् 'ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वमि'त्यादिश्रुतेस्तन्मयी तद्रूपा, **शिवपञ्चाक्षरी** शिवस्य आनन्दरूपस्यात्मनः पञ्चाक्षरी पञ्चाक्षरसमूहरूपा, **दीक्षा** विद्या, **हिता** मुमुक्षूणामिष्टा कर्तृतया ग्राह्यतया च विहितेति भावः। पञ्चाक्षराणां प्रणवरूपत्वं श्रीभैरवेण मार्कण्डेयं प्रत्युक्तम्

ॐ कारस्तु शिवः स्वात्मा नकारः शक्तिरुच्यते।
मकार ईश्वरप्राज्ञौ शिः सूत्रात्मकतैजसौ।।
वकारश्च विराड्विश्व एतत्संघप्रकाशकः।
मकारः पञ्चमो वर्ण ॐकारो बीजमुच्यते।।
पञ्चाक्षरीयं प्रणवब्रह्मरूपा प्रकीर्त्तिता। इति

अस्तु पञ्चाक्षरीविद्यायाः प्रणवरूपत्वं, ततश्च किं? तत्राह **शब्दब्रह्मणीति। शब्दब्रह्मणि निष्णातः** शब्दब्रह्म प्रणवः तस्मिन् निष्णातः तद्वाच्ये ब्रह्मणि ध्यानादिना रतः, चेत्तर्हि, **परं** कार्यकारणातीतं, **ब्रह्म** देशाद्यनवच्छिन्नं निरतिशयसुखस्वरूपं वस्तु, **अधिगच्छति** प्राप्नोति ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः, अतो मुमुक्षुभिः सैवाङ्गीकर्तव्येति भावः। लौकिकार्थस्तु स्पष्ट एव।।२।। (१२२३)

के लिये जो कि एक बड़ा संकल्प किया गया थाजिसको 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' इत्यादि शब्दों में कहा गया हैजगद्धाता की उस बड़ी भूल से इस संसार में जोकि दुःखों के बड़े-बड़े ढेर उत्पन्न हो गये हैं, इस शिवपूजन के संकल्प के प्रभाव से वे सब दुःखों के ढेर एकपदे ही न मालूम कहाँ उड़ जाते हैं। इसलिये मुमुक्षु लोग शिवपूजा करें या कम से कम इसका संकल्प तो कर ही लें।।१।।

शब्दब्रह्म के रूप में संसार में अवतीर्ण हुई यह शिवपंचाक्षरी दीक्षा (विद्या) मुमुक्षु लोगों के बड़े ही लाभ की वस्तु है। क्योंकि जब कोई अधिकारी शब्दब्रह्म में पारंगत हो जाता है (ध्यान आदि के द्वारा प्रणव के अर्थ [ब्रह्म] में रत हो जाता है किंवा ओंकार के अर्थ ब्रह्मनामक पदार्थ का चित्र अपने मानस नेत्रों के सामने अनायास खड़ा कर लेता है) तब उसके पश्चात् उसको परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती हैवह स्वयं ब्रह्म ही हो गया होता है। मुमुक्षु लोग इस विद्या को अवश्य ही अंगीकार करें।।२।।

(जीव को उसका भूला हुआ ब्रह्मभाव फिर प्राप्त हो जाय यही एक बड़ी भारी

रुद्राभरणमुद्रास्तु धार्या रुद्राक्षमालिकाः।
देवो भूत्वा यजेद्देवमितीयं शाश्वती श्रुतिः।।४।। (१२२५)

एवं मन्त्रमभिधायेदानीं वक्ष्यमाणलक्षणपूजाधिकारार्थं मुमुक्षूणां लोकप्रसिद्धविभूतिरेखात्रयविलक्षणं रेखात्रयस्य विभूतेर्विधारणं विधत्ते **तिस्र इति।** **विभूतेः** विशिष्टा जीवस्य ब्रह्मस्वरूपेण या भूतिराविर्भावस्तस्याः साधनभूता**स्तु** लोकप्रसिद्धविभूतिरेखात्रयविलक्षणाः **श्रद्धाभक्तिविरक्तयः** श्रद्धा गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासरूपा वृत्तिस्तस्या अपि जीवस्य स्वस्मिन् या ब्रह्मत्वस्मृतिस्तस्याः साधनत्वं 'श्रद्धस्व सौम्ये'ति च श्रुतेः। भक्तिश्च गुरुब्रह्मात्मनामभेदे सहजप्रीतिलक्षणा पराऽत्र ग्राह्या, तस्या अपि जीवस्य ब्रह्मरूपत्वस्मृतिसाधनत्वं 'निरुद्ध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्ये'ति श्रुतौ दर्शितम्। विरक्तिश्चात्मव्यतिरिक्तविषयेषु विरसता तस्याश्चापि 'नाविरत' इति श्रुतौ जीवस्य ब्रह्मरूपत्वस्मृतौ साधनता प्रतिपादिता। एताः **तिस्रः** त्रिसंख्या, **रेखा** ब्रह्माकारवृत्तेरंशभूताः सन्तीति ज्ञेयाः, **शाम्भवैः** शं सुखमात्मन एते साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासा मुमुक्षवस्तैः, **स्वांगेषु** स्वांगभूताः प्रमारूपा अहंब्रह्मास्मीत्याकारावृत्तयस्तासु, स्वस्य चिदाभासस्य **पूजाधिकारसिद्ध्यर्थं** ब्रह्माभिन्नस्वात्मचिन्तनरूपा या वक्ष्यमाणलक्षणा पूजा अर्चा तस्यामधिकारो योग्यता तस्य सिद्धिः प्राप्तिः साऽर्थः प्रयोजनं यस्यां क्रियायां यथा भवति तथा, **धार्या** धारणीयाः।।३।। (१२२४)

एवमलौकिकं विभूतिरेखात्रयधारणं विधाय इदानीमलौकिकरुद्राक्षमालाधारणमपि विधत्ते **रुद्राभरणेति।** हे शिष्य **रुद्राभरणमुद्रास्तु** रोदयति असङ्गानन्दादिस्वभावं विस्मार्य दुःखीकरोति स रुद्रः अहङ्कारः तस्याभरणानि अलङ्कारभूताः ससङ्गदुःखित्वादिस्वभावं विस्मार्य असङ्गानन्दाद्यात्मधर्मस्फूर्तिकारणभूता इत्यर्थः, या मुद्राः शाम्भव्यादिनाम्न्यस्ता एव **रुद्राक्षमालिकाः** रुद्रस्याहङ्कारस्य अक्षीणि इव अक्षीणि नेत्राणि स्वात्मदर्शनसाधनत्वात् तेषां धारणारूपाणां मालिका मालाः सन्ततावृत्तिरूपा इत्यर्थः, **धार्या** अङ्गीकार्याः स्वाङ्गेष्वित्यावर्त्तनीयं प्रमाख्यवृत्तिष्वित्यर्थः। ननु एतादृशं विभूतिरेखात्रयविधारणं रुद्राक्षमालाधारणं च शिव एव सम्भाव्यते न तु तत्पूजके क्वापि दृष्टमित्याशङ्क्य अस्यां पूजायां शिवः स्वयं भूत्वा एवाधिकारी नान्यथेत्यर्थं दर्शयितुं श्रुतिमुदाहरति **देव इति।** हे शिष्य **देव**श्चिन्मात्ररूप आत्मा, **भूत्वा** सम्भूय, **देवं** चिन्मात्ररूपमात्मानं, **यजेत्** पूजयेदित्येवमियमेषा, **शाश्वती** शाश्वतोपनिषत्स्था, **श्रुतिः** वेदवागस्ति, अत एव एतादृशविभूतिरेखात्रयरुद्राक्षमालाधारणेन शिवः सन् शिवमर्चयेदिति भावः।।४।। (१२२५)

विभूति कहाती है इस) विभूति की श्रद्धा-भक्ति तथा वैराग्य नामक तीन रेखायें मानी गयी हैं। शाम्भव (शम्भु नामक सदाशिव आत्मा के उपासक मुमुक्षु) लोगों को चाहिये कि वे अपने (वृत्तिरूपी) अंगों में पूजा करने का अधिकार सिद्ध करने के लिये इन तीनों रेखाओं को सदा ही धारण किये रहें।

तीनों रेखाओं को धारण करने से ही उनकी आगे वर्णित पूजा करने की योग्यता सिद्ध हो सकती है अन्यथा नहीं। लौकिक विभूति को मलना छोड़ कर यही अलौकिक विभूति शिव के भक्तों को अपने वृत्तिरूपी अंगों में मल लेनी चाहिये।।३।।

अथ पूजाक्रमः

आकाराः कल्पिता यस्यां ब्रह्माद्याः स्थिरजङ्गमाः।
तन्मृत्तिकामयं शैवैः शिवलिङ्गं प्रपूज्यते।।५।। (१२२६)

एवं पूजाधिकारसिद्धये साधनानि उपदिश्य इदानीं तादृशाधिकारवतः पूजाक्रमं दर्शयितुमाह **अथ इति। अथ** पूजासाधननिरूपणानन्तरं, **पूजाक्रमः** पूजाया अर्चाया क्रमः अनुष्ठानं निरूप्यते इति शेषः, पूजनानुष्ठानप्रकारो वक्ष्यते इत्यर्थः। तत्रादौ मणिमयादिलिङ्गानि शिवपूजास्थानानि शैवतन्त्रेषु समाहात्म्यानि प्रतिपादितानि सन्ति तेषु च मृण्मयस्यैव लिङ्गस्यातिविस्तृतमाहात्म्यनिरूपणात् मृण्मयमेवात्र लिङ्गं कर्तव्यं पूज्यं चेत्याशयेनात्र पूजायां लौकिकमृद्विलक्षणां मृदं दर्शयति।

आकारा इति। हे शिष्य **यस्यां** लौकिकमृद्विलक्षणायां, मर्दयति नाशयति सर्वं द्वैतमिति मृदिति व्युत्पत्त्या 'नेह नानास्ति किञ्चने'ति श्रुतिदृष्ट्या सर्वद्वैतबाधावधित्वेन प्रतिपादितं ब्रह्मैवात्र मृच्छब्देन ग्राह्यं, तस्यां **ब्रह्माद्या** ब्रह्मा स्वयंभूः आद्यः प्रथमो येषां ते तथोक्ताः, **स्थिरजङ्गमाः** स्थिरा स्थावराः पर्वतादयो जङ्गमाश्च गतिमन्तो मनुष्यादयः ते समस्ता आकारा आकृतयो लौकिकमृदि घटादय इव रूपाणीत्यर्थः, **कल्पिताः** कल्पनयोत्पादिताः, सन्ति सा मृत् **शैवैः** शिवा एव शैवाः स्वार्थे अण् अतः शिवस्वरूपभूतैरधिकारिभिः, **तन्मृत्तिकामयं** सा उक्तलक्षणा या मृत् सर्वद्वैतापमर्दकं

पहले तुम देव बन लो और फिर देव (चिन्मात्रदेव आत्मा) का भजन करना प्रारम्भ करो। यह शाश्वत उपनिषद् में कहा है। इसलिये पहले रुद्राक्षमालाओं को, जो कि रुद्र के आभरण तथा रुद्र की मुद्रा हैं, धारण कर लो।

पूजा के उपयुक्त वातावरण बनाने के लिये यह आवश्यक है कि रुद्र नामक अहंकार के ससंगत्व तथा दुःखित्व आदि स्वभाव को भुला दिया जाय और असंगत्व तथा आनन्द आदि धर्मों को प्रकट करने वाली शाम्भवी आदि मुद्राओं को ही शम्भु के पहनने की रुद्राक्षमालिका समझ कर उसे अपने वृत्तिरूपी अंगों में धारण कर लिया जाय। ऐसी अलौकिक तीन विभूति रेखाओं तथा ऐसी अलौकिक रुद्राक्षमालाओं को धारण कर लेने पर जब तुम साक्षात् रुद्र हो जाओगे तभी रुद्र भगवान् का सफल पूजन कर सकोगे।।४।।

पूजा के सम्पूर्ण साधनों को बताने के अनन्तर अब पूजा का क्रम अथवा उसका अनुष्ठान करने की पद्धति बताई जाती है

यद्यपि शैवतन्त्रों में जहाँ तहाँ मणि आदि अनेक-अनेक प्रकार के शिवलिंग बनाने की बात कही है, परन्तु मिट्टी के लिंग का ही सबसे अधिक माहात्म्य होता है। इसलिये मृण्मय लिंग ही बनाना और पूजना चाहिये। उसके लिये जिस अलौकिक मृत्तिका की आवश्यकता होती है, वही इस अग्रिम श्लोक में बतायी जाती है

तत्र प्रथमं हराय नम इति मृत्तिकाग्रहणम्।

मृत् सत्या यच्छरावास्तु श्रुता ब्रह्माण्डकोटयः।
हराय नम इत्येवं ग्राह्या सा मृत्तिका बुधैः।।६।। (१२२७)

ब्रह्म तन्मयं तद्रूपं प्रत्यगात्मस्वरूपं, **शिवलिङ्गं** शिवो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगानन्दात्मा तस्य लिङ्गं लक्षकं चिह्नं आनन्दमयाद्यन्नमयान्तं बाह्यं च घटाद्याकाशान्तं च जगत् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुतिदृष्ट्या **प्रपूज्यते** आद्रियते, यद्वा शिवस्य सुखरूपस्य ब्रह्मणो लिङ्गं सच्चिदानन्दादिचिह्नं स्वस्मिन् प्रत्यगात्मनि प्रपूज्यतेऽहं ब्रह्मास्मीतिं साक्षात्क्रियते इत्यर्थः, स्वस्मिन् जगति वा ब्रह्ममात्रत्वानुभव एवात्र पूजनमिति भावः।।५।। (१२२६)

एवं मृत्तिकां निर्णीयेदानीं समन्त्रकं मृद्ग्रहणं विधातुं मृद्ग्रहणमन्त्रं च दर्शयितुं च गद्येन प्रतिजानीते **तत्र इति**। पूजा क्रमनिरूपणे **प्रथमं** आदौ, **हराय नम इति** हरति सर्वं द्वैतमिति हरः समस्तद्वैतबाधावधित्वेनोपलक्षितः प्रत्यगभिन्नः परात्मा तस्मै नमः अष्टप्रकृतिरूपाष्टाङ्गसहितेश्वर-सहितजीवत्वबाधरूपः प्रह्वीभावोऽस्त्विति शेषः, इत्येवंप्रकारं मन्त्रार्थानुसन्धानमेवाऽत्र **मृत्तिकाग्रहणम्** उक्तलक्षणमृच्छब्दवाच्यं ब्रह्मभावग्रहणं स्वस्मिन्कर्त्तव्यमिति भावः।

तमिममर्थं श्लोकेनाह **मृद् इति**। **सत्या** कालत्रयाबाध्यब्रह्मरूपा, **मृत्** सर्वद्वैतोपमर्दकत्वात् मृन्नाम्नी ज्ञेया। लोकप्रसिद्धमृत्साम्यमप्यस्यां दर्शयति **यदिति**। **ब्रह्माण्डकोटयो** ब्रह्माण्डानां कोटयोऽनन्तकोटिब्रह्माण्डानीत्यर्थः, **यच्छरावा** यस्या ब्रह्मस्वरूपमृत्तिकायाः शरावाः शरावसदृशकार्यरूपाः, तुपदेन लौकिकशराववैलक्षण्यमेतेषु सूचितं, **श्रुताः** श्रुतिभिः प्रतिपादिताः सन्ति अतो मृत्सादृश्यादपि ब्रह्मणो मृन्नामयोग्यतेति भावः। जगतो ब्रह्मकार्यत्वे श्रुतयः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्याद्याः, **सा** उक्तलक्षणा मृत्तिका ब्रह्मरूपा स्थितिरित्यर्थः, **बुधैः** विवेकिभिः,

सबसे प्रथम 'हर के लिये नमस्कार' यह कह कर मिट्टी उठानी चाहिये।

इस सब द्वैतजाल को एकदम हर लेने वाले परात्मा को, जो समस्त द्वैतजाल की बाधा करने पर भी शेष रह ही जाता है, हमारा साष्टांग प्रणाम हो। इस प्रणाम को करते हुए हम ऐसे गिरें कि आठ प्रकृतिरूपी आठ अंगों से युक्त परमेश्वर की तथा परमेश्वर सहित हमारे जीवभाव की पूर्णरूप से बाधा हो जाय। इस प्रणिपात के बाद इन दोनों का चिह्न कहीं भी देखने को न मिले। ये दोनों कहीं खोजने पर भी हाथ न आयें। ऐसी गम्भीर अवस्था में प्रवेश कर जाना ही इस पूजा में शिवलिंग बनाने के लिये मिट्टी उठाना कहा जा सकता है।

जिस (अलौकिक ब्रह्मरूपी) मिट्टी में ब्रह्मा से लेकर क्या स्थावर क्या जंगम सभी आकृतियाँ (लौकिक घड़े आदि की तरह) कल्पनामात्र से बना डाली गयी हैं, शैव लोग ऐसी उस (ब्रह्ममयी) अद्भुत मिट्टी के बने शिवलिंग को ही पूजते हैं।।५।।

महेश्वराय नम इति लिङ्गसङ्घट्टनम्।

अखण्डाकारवृत्तिस्तु वेदान्ते या निरूपिता।
नमो महेश्वरायेति लिङ्गसङ्घट्टनं हि तत्।।७।। (१२२८)

हराय नमः सर्वद्वैतबाधेनावशिष्टस्वरूपः प्रत्यगभिन्नः परमात्मैव हरः तस्मै तद्रूपं प्राप्तुं नमः अष्टप्रकृतिरूपाष्टाङ्गसहितेश्वराभिन्नजीवत्वबाधरूपः प्रह्वीभावोऽस्तु, **इत्येवं** मन्त्रार्थानुसन्धानेन, **ग्राह्या** अङ्गीकार्या, अन्यथा तदङ्गीकारो न स्यादिति भावः।।६।। (१२२७)

एवं लोकप्रसिद्धमृद्ग्रहणविलक्षणं मृद्ग्रहणं समन्त्रकं प्रदर्श्य इदानीमत्र तादृशमेव लिङ्गसङ्घट्टनं विधत्ते। तत्रादौ तन्मन्त्रमाह **महेश्वराय इति। महेश्वराय** महान्मायोपाध्यनवच्छिन्नो य ईश्वरः अन्तर्याम्यारोपाधिष्ठानभूतः सर्वेश्वरः 'सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादन्तर्यामित्वतः पृथगि'ति विद्यारण्यस्वामिभिरुक्तं ब्रह्म महेश्वरपदेनात्रोक्तः, श्रुतिश्च 'एष सर्वेश्वर' इति, तस्मै तद्रूपत्वं प्राप्तुमित्यर्थः, **नम** उक्तविधाष्टाङ्गसहितेश्वराभिन्नजीवत्वबाधलक्षणः प्रह्वीभावः कार्यः, इत्येवमर्थानुसन्धानमेवात्र **लिङ्गसङ्घट्टनं** लिङ्गस्य ब्रह्मलक्षकत्वेन तच्चिह्नभूतस्य जगतोऽहं ब्रह्मास्मीतिवृत्तेर्वा सङ्घट्टनं, तेन ब्रह्मणा सहैक्यसंपादनं कार्यमिति शेषः।।

सत्य (अर्थात् त्रिकालाबाधित) ब्रह्म ही (सकल द्वैत का उपमर्दन करने वाली) मृत्तिका कहाती है। (मृत्तिका तो उसे केवल इसलिये कहते हैं कि) ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसी ब्रह्मरूपी मृत्तिका के शरावों (बर्त्तनों) के समान अतितुच्छ कार्य हैं। (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्यादि श्रुतियों में यही बात प्रतिपादित की गयी है) बुध अर्थात् विवेकी लोगों को उचित है कि उस मृत्तिका नामावली ब्रह्मरूप स्थिति को ही 'हराय नमः' इस मन्त्रार्थ का विचार करते हुए ग्रहण कर लें। (यदि वे ऐसा न करेंगे तो शिवलिंग बनाने के लिये मृत्तिका ही उनके हाथ न लगेगी और फिर उनकी पूजा का भ्रंश हो जायगा)।।६।।

महेश्वर के लिये नमन इस विचार को लेकर लिंग का निर्माण करना चाहिये।

जो ब्रह्म मायोपाधि से बाहर है, अन्तर्यामी आदि का भी आरोप जिसके आधार पर ही कर लिया गया है, ऐसे उस सर्वेश्वर को (उसकी सर्वेश्वरता पर अपना पूर्णाधिकार जमाने के लिये) हमारा साष्टांग प्रणाम हो। इस प्रणाम को करते हुए हम बेसुध होकर ऐसे गिरें कि वह हमारा अष्टांग सहित परमेश्वर तथा ईश्वरसहित जीवभाव सर्वथा नष्ट हो जाय। इस प्रणिपात का यह भाव हो कि हम गिरने वाले तथा हमारे गिरने की भूमि वह परमेश्वर, कोई भी इस अतीतगाथा को कहने के लिये शेष न रह जायँ। ये सब गाथायें अनन्तकाल के लिये विलीन हो जायँ। इस प्रकार क्रमानुसार गम्भीर, गम्भीरतर तथा गम्भीरतम होते चले जाना ही इस शिवपूजन में 'लिंगसंघट्टन' अथवा

शूलपाणये नम इति प्रतिष्ठापनम्।

त्यक्त्वाऽसम्भावनां तद्वद्विपरीतत्वभावनाम्।
शूलपाणिः प्रतिष्ठाप्यः पीठे निष्ठामये बुधैः।।८।। (१२२९)

इममेव मन्त्रार्थं श्लोकेनापि संगृह्णाति **अखण्डाकार इति। या तु** विद्वत्सु प्रत्यक्षमनुभूयमाना, **वेदान्ते** वेदान्तशास्त्रे, **अखण्डाकारवृत्तिः** अखण्डं भेदरहितं यद् ब्रह्म तस्याकार इव आकारो यस्याः या तथाभूता स्वास्फुरणपूर्वकब्रह्ममात्रस्फुरणरूपा या वृत्तिः प्रमा, **निरूपिता** प्रतिपादिता, तद् ब्रह्माकारवृत्तित्वं **हि** प्रसिद्धं ज्ञानिनि, **नमो महेश्वरायेति** महेश्वरः अन्तर्याम्यारोपाधिष्ठानभूतो मायोपाध्यनवच्छिन्नः तत्पदलक्ष्यः तस्मै तद्रूपं प्राप्तुं नमोऽष्टप्रकृत्यष्टाङ्गसहितेश्वरसहितजीवत्वबाधरूपः प्रह्वीभावः कार्य इत्येवं मन्त्रार्थानुसन्धानेन, **लिङ्गसङ्घट्टनं** लिङ्गस्य ब्रह्मलक्षकत्वेन चिह्नभूतस्य जगतो वृत्तेर्वा प्रमारूपायाः सम्यग्घट्टनं पुनः पार्थक्यं न स्यादित्येवं ब्रह्मणा सह ऐक्यसम्पादनं भवति नान्यथा इति भावः।।७।। (१२२८)

एवं अलौकिकं लिङ्गसंघट्टनं प्रदर्श्येदानीं तादृशलिङ्गप्रतिष्ठां प्रदर्शयितुं तावन्मन्त्रमाह **शूलपाणय इति। शूलपाणये** शूलमज्ञानशत्रुभेदकत्वाच्छूलमिवात्र ज्ञानशूलं ग्राह्यं, वक्ष्यति हि

शान्तिवैराग्यबोधाख्यैस्त्रिभिरग्रैस्तरस्विभिः।
त्रिगुणत्रिपुरं हन्ति त्रिशूलेन त्रिलोचनः।।

इति, तत्पाणौ हस्ते यस्य स तथोक्तः, अनेनात्र स्वशरणागतमुमुक्षूणां ज्ञानप्रदो गुरुरेव ब्रह्म।

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः'।।

इति स्मृतेः। तस्मै गुरुरूपब्रह्मत्वप्राप्तये नमः पूर्वोक्तलक्षणः प्रह्वीभावो विधेय इत्येवं ब्रह्मस्वरूपगुर्वभेदचिन्तनं स्वस्मिन् यत् तदेवास्यां पूजायां **प्रतिष्ठापनं** प्रतिष्ठा ज्ञेया, तमिममेवार्थं श्लोकेनापि संगृह्य दर्शयति

त्यक्त्वा इति। हे शिष्य **असम्भावनां** स्वगुरुब्रह्मणाम् उक्ताभिन्नत्वेऽसम्भावनामनिश्चयरूपां वृत्तिं, **त्यक्त्वा** विसृज्य, **तद्वत्** तथा **विपरीतत्वभावनां** स्वगुरुब्रह्मणां भिन्नत्वनिश्चयरूपं विपरीतत्वं तस्य भावनां, स्फूर्तिं त्यक्त्वा विसृज्य **बुधैः** स्वगुरुब्रह्मणामभिन्नत्वनिश्चयवद्भिः, **निष्ठामये**

लिंगनिर्माण कहता है। जब किसी को ऐसा लिंगनिर्माण करना आ जाय तो हम कहेंगे कि उसे ब्रह्माकार वृत्ति करना भी आ गया और ब्रह्म के साथ एकता सम्पादन करने की कला भी उसके हाथ लग गयी है।

शूलपाणि अर्थात् (शान्ति वैराग्य तथा बोध नाम के तीन तीक्ष्ण शूलों से मिलकर बने हुए ज्ञानशूल को सदा ही अपने हाथ में लिए हुए) गुरुदेव को (उनके गुरुरूपी ब्रह्मतत्त्व को भी प्राप्त कर लेने के लिए) हमारा साष्टांग प्रणाम हो। यही तो इस पूजा में 'प्रतिष्ठापन' कहाता है।

पिनाकधृते नम इत्यावाहनम्

सर्वगस्यापि देवस्य भक्तिरावाहनं तव।
आवाहयामि भक्त्या त्वामित्यावाह्यः पिनाकधृत्।।९।। (१२३०)

स्वात्मगुरु-ब्रह्मणामखण्डरूपत्वे या निष्ठा सहजं प्रेम तन्मये तद्रूपे, **पीठ** आसने, **शूलपाणिः** अज्ञानशत्रुभेदकत्वात् शूलमिव शूलं तत्त्वबोधः पाणौ हस्ते यस्य स तथोक्तः, सांख्ययोगौ निजौ बाहू इत्युक्तत्वात्स शूलपाणि ब्र्ह्माभिन्नात्मस्वरूपो गुरुः **प्रतिष्ठाप्यो** ब्रह्माभिन्नस्वात्माभिन्नत्वानुसन्धाने स्थिरीकर्त्तव्य इदमेवात्र प्रतिष्ठापनम्।।८।। (१२२९)

एवमलौकिकं प्रतिष्ठापनं निरूप्य इदानीं अस्यां पूजायां अलौकिकमेवावाहनं निरूपयितुं तावद् आदौ आवाहनमन्त्रमाह **पिनाकधृत इति। पिनाकधृते** 'पिनाकोऽजगवन्धनु' रित्यमरसिंहोक्तेरजोत्र चिन्मात्ररूपः परमात्मा, गच्छति तत्त्वज्ञानेन निवृत्ता भवतीति गौरत्र माया प्रकृत्यपरपर्याया ग्राह्या तयोः समूहरूपं शबलं ब्रह्म प्रणवार्थभूतमजगवं पिनाकनामकं तद्वाचकः प्रणवश्चाभेदेनात्र ग्राह्यः, प्रणवस्य धनुष्ट्वे श्रुतिः 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मे'ति स पिनाकस्तस्य धृत् धारकः तदधिष्ठानभूतं परं ब्रह्म तद्रूपो गुरुश्च तस्मै तदर्थं तत्स्वरूपप्राप्तय इत्यर्थः, **नमः** पूर्वोक्तलक्षणः प्रह्वीभावो विधेय इत्येवं मन्त्रार्थानुसन्धानमेवावाहनमत्र शिवस्वरूपगुरुस्वात्मनोः सामीप्यकारणमिति भावः।

इममेव मन्त्रार्थं श्लोकेन स्पष्टयति **सर्वगस्य इति। सर्वगस्यापि** सर्वत्रानुस्यूतस्यापि अस्तिभातिप्रियरूपेण सर्वत्र विद्यमानत्वाद्, **देवस्य** चिन्मात्ररूपस्य शिवस्य, **भक्तिः** सेवा सच्चिदानन्दरूपेणाङ्गीकार इत्यर्थः, **आवाहनं** समीपप्रापणं, भवेत् स्यादतोहं प्रमाता तं सच्चिदानन्दरूपेण सर्वत्र अनुस्यूतं शिवं **आवाहयामि** समीपे प्रत्यक्षं करोमीत्येवं, **पिनाकधृत्** पिनाकस्य पिनाकनाम्नोऽजगवधनुषः प्रणवस्य तद्वाच्यशबलब्रह्मणो वा धारक आधारभूतं ब्रह्म योगहस्ते च प्रणवतद्वाच्यशबलब्रह्मधृतवदत्र लक्ष्यं स **आवाह्यः** सर्वदा स्वप्रत्यक्षत्वेनानुभवनीयः।।९।। (१२३०)

असम्भावना तथा विपरीत भावना को सर्वथा निकाल डालने के अनन्तर बुद्धिमान् लोगों को उचित है कि अपने हृदय की अभेदनिष्ठारूपी पीठ (चौकी) बनाकर शूलपाणि (ब्रह्म से अभिन्न आत्मस्वरूप गुरुदेव) को उस पर प्रतिष्ठित कर दें अर्थात् बार-बार विचार करें कि मैं, मेरा गुरु तथा वह परब्रह्म, तीनों अन्ततोगत्वा एक ही हैं। यही इस शिवपूजन में प्रतिष्ठापन कहाता है।।८।।

ओंकार के अर्थरूपी पिनाक (धनुष) को जिन्होंने धारण कर रक्खा है उन गुरुदेव के स्वरूप को प्राप्त करने के लिये वही पहले जैसा साष्टांग प्रणिपात हो। यही इस शिवपूजन का 'आवाहन' कहाता है।

सर्वत्र व्याप्त हुए तुम आत्मदेव की भक्ति (सच्चिदानन्दरूप से स्वीकार) कर लेना ही तुम्हारा सच्चा आवाहन (समीप बुलाना) कहाता है। मैं तो सर्वत्र परिपूर्ण तुम

अथ ध्यानम्

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्।।१०।। (१२३१) इति

एवमलौकिकमावाहनं प्रदर्श्य इदानीं तथाविधं ध्यानं दर्शयितुं सर्वलोकप्रसिद्धमेव ध्यानश्लोकमुदाहरन्नाह **अथ इति। अथ** आवाहननिरूपणानन्तरं, **ध्यानं** चिन्तनं निरूप्यते इति शेषः। तमेव प्रसिद्धं ध्यानश्लोकमुदाहरति **ध्यायेद् इति।** अस्यार्थः षोडशश्लोकैर्ग्रन्थकारो निरूपयिष्यति अतः संक्षेपेणात्र वर्णयामि हे शिष्य **रजतगिरिनिभं** रजतगिरिणा रौप्यपर्वतेन निभं सदृशं, **चारुचन्द्रावतंसं** चारुः सुन्दरो यश्चन्द्रः सोम सोऽवतंसश्चूडाभूषणं यस्य तं, **रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं** रत्नश्रेष्ठैरुज्ज्वलं प्रकाशमानम् अङ्गं शरीरं यस्य स तथाविधस्तं, **परशुमृगवराभीतिहस्तं** एकस्मिन्हस्ते परशुः कुठारः अपरे च मृगः तदन्ये च वरः चतुर्थहस्ते च अभीतिर्भयनिवर्त्तनं क्रमेण यस्य तं, **प्रसन्नं** हास्यमुखं, **पद्मासीनं** पद्मे कमले आसीनं स्थितं, **समन्तात्** सर्वतः स्थितैरिति शेषः, **अमरगणैः** देवसमूहैः, **स्तुतं** प्रशंसितं, **व्याघ्रकृत्तिं** व्याघ्रस्य शार्दूलस्य कृत्तिश्चर्म, तद् **वसानं** परिदधानं, **विश्वाद्यं** विश्वस्य जगत आद्यं तं कारणभूतं, अत एव **विश्ववन्द्यं** विश्वस्य वन्द्यं नमनार्हं, **निखिलभयहरं** निखिलं समस्तं यद्भयं समस्तानां वा भयं भीतिः तस्य हरं नाशकं, **पञ्चवक्त्रं** पञ्चसंख्यानि वक्त्राणि वदनानि यस्य स तथोक्तः तं, **त्रिनेत्रं** त्रिसंख्यानि नेत्राणि लोचनानि यस्य तं, **नित्यं** सद्रूपं, **महेशं** शिवं, **ध्यायेत्** चिन्तयेदिति लौकिकार्थः।।१०।। (१२३१)

सदाशिव को सदा अपने समीप बुलाकर बिठाये लेता हूँ। इस रीति से प्रणवनामक धनुष को धारण करने वाले ब्रह्म को सदा ही प्रत्यक्ष करते रहना चाहिये। ऐसा अलौकिक आवाहन ही इस शिवपूजन में उपयोगी हो सकता है।।६।।

आवाहन के पश्चात् अब ध्यान को बताया जाता हैदेखने में चाँदी के पर्वत के समान उज्ज्वल वर्णवाले सुन्दर चन्द्रमा को अपने सिर पर भूषण की जगह धारण किये हुए, श्रेष्ठ रत्नों को पहनने के कारण जगमगाते हुए अंगों वाले, एक हाथ में परशु दूसरे में मृग तथा तीसरे में वर को संभाल कर अभयदान देते हुए, प्रसन्न मुखवाले, पद्म पर आसन जमाए हुए, चारों तरफ से घेर कर बैठे हुए देवों के समूहों से प्रशंसा पाये हुए, व्याघ्रचर्म को पहने हुए, इस समस्त जगत् के आदिकारण, इस समस्त विश्व के वन्दनीय, सम्पूर्ण भयों को अथवा सब लोगों के भयों को हटाते हुए, पाँच मुख तथा तीन नेत्र वाले, महेश को ही नित्य समझ कर उसका ध्यान किया करे। ध्यान श्लोक का यह लौकिक अर्थ हुआ।।१०।।

अथाऽस्य विवरणम् तत्र ध्यायेदित्यादिपदत्रयस्य विवरणम्।

अनित्ये नित्यं विरसा नित्ये नित्यं धृतव्रताः।
नित्यं महेशं ध्यायन्ति नित्यानित्यविवेकिनः।।११।। (१२३२)

इति अनेनैव ध्यानं कर्त्तव्यमिति शेषः। प्रकृतपूजोपयुक्तमस्यार्थं निरूपयिष्यमाण आह गद्येन **अथ इति। अथ** ध्यानश्लोकोदाहरणानन्तरं, **अस्य** ध्यानश्लोकस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः।

एवं ध्यानश्लोकव्याख्याननिरूपणं प्रतिज्ञायेदानीमादौ ध्यायेन्नित्यं महेशमिति पदत्रयस्य तात्पर्यं निरूपयिष्यन्नाद्येनाह **तत्रेति। तत्र** ध्यानश्लोकविवरणे, नित्यं महेशं ध्यायन्तीति **पदत्रयस्य विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव श्लोकेनाह

अनित्य इति। हे शिष्य **अनित्ये** कालत्रयेपि असद्रूपेऽनात्मभूते द्वैतप्रपञ्चे, **नित्यं** सर्वदा, **विरसा** विगतो रसः सुखं येषां तथाभूताः, किञ्च **नित्ये** कालत्रयेऽप्यबाध्य आत्मस्वरूपे, **नित्यं** सर्वदा एव, **धृतव्रता** धृतं गृहीतं व्रतं श्रवणाद्यनुष्ठाननियमो यैस्ते तथोक्ता, **नित्यानित्यविवेकिनो** नित्यं कालत्रयाबाध्यमात्मचैतन्यं अनित्यं अनात्मरूपं द्वैतं ते विविच्येते अनेनेति नित्यानित्यविवेक आत्मानात्मपृथक्ज्ञानं येषामस्ति ते तथाभूताः, **नित्यं** कालत्रयाबाध्यमात्मस्वरूपं, **महेशं** अन्तर्याम्यारोपाधिष्ठानं सर्वेश्वरं, यद्वा **नित्यं** सर्वदैव यथा भवति तथा, **ध्यायन्ति** चिन्तयन्ति, अनित्यात् नित्यमात्मानं पृथक्कृत्य नित्यात्मस्वरूपस्य प्राप्तये सर्वदा श्रवणाद्यनुष्ठाननियमवन्तो नित्यात्मस्फुरणपूर्वकं श्रवणाद्यावृत्त्यैव कालमतिक्रामन्ति तदेवात्र ध्यानशब्देन विवक्षितमिति भावः।।११।। (१२३२)

एवं ध्यायेन्नित्यमहेशपदानां तात्पर्यमभिधाय इदानीं रजतगिरिनिभं इति पदं व्याख्यास्यन् गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** ध्यायेन्नित्यं महेशमिति पदत्रयव्याख्यानानन्तरं, **रजतगिरिनिभमिति** पदस्य **विवरणं** क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **रजतस्य इति। रजतस्य** यथा रूप्यं प्रपञ्चनिर्वाहकं सर्वेषां सुखजनकं च भवतीति प्रसिद्धं, तथा आनन्दोपि 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि

इस ध्यान श्लोक का जो शिवपूजा में उपयोगी अर्थ है उसका वर्णन किया जायेगा

ध्यानश्लोक के 'ध्यायेन्नित्यं महेशम्' इन तीनों पदों का विवरण सुन लो

इस अनित्य द्वैतप्रपंच के विषय में जो सदा ही उदासीन रहते हैं (इससे मिलने वाले किसी भी काल्पनिक सुख की ओर जिनका मन नहीं चलता) नित्य आत्मस्वरूप को अनुभव करने का जो सदा ही व्रत धारण किये रहते हैं (श्रवणादि के द्वारा इस नित्य आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का जो सदा ही गम्भीर प्रयत्न करते रहते हैं) ऐसे वे नित्यानित्य पदार्थों को पहचानने वाले महापुरुष नित्य महेश्वर का सदा ही ध्यान करते हैं। यही तो इस शिवपूजन में ध्यान कहाता है।।११।।

अथ रजतगिरिनिभमित्यस्य विवरणम्

रजतस्य गिरिः शंभुः शाम्भवानां परं धनम्।
धनेन तेन पूर्णानां दरिद्रत्वं न विद्यते।।१२।। (१२३३)

भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतिभिः सर्वजगन्निर्वाहकत्वप्रतिपादनाद् 'एष ह्येवानन्दयाति, एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिश्रुतिभिश्चानन्दत्वनिरूपणाच्चानन्दस्य रजतसाम्यतया स रजतपदेनात्र ग्राह्यः, तस्य गिरिरिव **गिरिः** पर्वत आनन्दसमूहरूपः शिवः, अत एव **शम्भुः** शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भुः समस्तसुखप्रदः परमात्माऽस्ति, अतः स **शाम्भवानां** शम्भोरेव हिता ये सेवकास्तेषां, यद्वा शम्भुरेव शाम्भवास्तेषां हितार्थे स्वार्थे वा तद्धितः, **परं** उत्कृष्टं, **धनं** द्रव्यमस्ति। द्रव्यसाम्यमेव दर्शयति **धनेनेति। तेन** प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपेण, **धनेन** द्रव्येण, प्रीतिविषयेणेत्यर्थः, **पूर्णानां** तृप्तानां विदुषां, **दरिद्रत्वं** दरिद्रं दुःखप्रदा दुर्गतिस्तस्य भावस्तत्त्वं, **न विद्यते** नास्ति, अत एव रजतवत् सुखसाधनत्वाद् दुःखस्वरूपदारिद्र्य-निवर्त्तकत्वाच्च आनन्दसमूहरूपत्वादपि आनन्दात्मनः शिवस्य रजतगिरिसाम्यं प्रतिपादितमिति भावः।।१२।। (१२३३)

'अथ रजतगिरिनिभमित्यस्य विवरणम्'यह आत्मशम्भु आनन्दरूपी रजत के एक बड़े पर्वत हैं, शम्भु के भक्तों का यही परमधन है, इस धन से जो परिपूर्ण हों, वे कभी दरिद्र नहीं होते।

जैसे कि इस सकल प्रपंच का व्यवहार रजत अथवा सुवर्ण के अधार पर चलता है, इसी प्रकार यह सब जगद्-व्यवहार आनन्ददायक पदार्थ से चल रहा है। जोकि रजत के समान ही सुखजनक है 'एष ह्येवानन्दयाति' 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'। यही आत्मदेव सकल विश्व को आनन्दित कर रहा है। ये सम्पूर्ण प्राणी इसी आत्मानन्द की मात्रा (कण) का उपभोग कर रहे हैं। यह शम्भु उसी आनन्दरूपी रजत का एक बड़ा गिरि है। अथवा यों कहना चाहिये कि वह आनन्द की बड़ी राशी है। यह सम्पूर्ण सुख उसी में से आ रहे हैं और जगत् में कर्मों के अनुसार बाँटे जा रहे हैं। सदाशिव आत्मदेव के भक्तों का परमगुह्य धन भी यही शम्भुदेव है। जो लोग इस आत्मधन के धनी बन जाते हैं, उनकी फिर कभी दुर्गति नहीं होती। वे फिर कभी भी पामर प्राणियों की तरह दीन नहीं बनते। तात्पर्य यह है कि रजत के समान सुखदायक होने के कारण दुःखरूप दरिद्रता को नष्ट करने के कारण तथा आनन्द का एक अक्षय भण्डार होने के कारण, आनन्दात्मा शिव को रजतगिरि के समान कहा गया है।।१२।।

अथ चारुचन्द्रावतंसमित्यस्य विवरणम्

शुद्धात्मा शीतला कान्ता सूक्ष्मा बोधकला परा।
वक्रायते दुरापेयं चन्द्रचूडो बिभर्ति ताम्।।१३।। (१२३४)

एवं रजतगिरिनिभमिति पदस्य तात्पर्यमभिधायेदानीं चारुचन्द्रावतंसमिति पदतात्पर्यं दर्शयितुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** रजतगिरिनिभमितिपदव्याख्याननिरूपणानन्तरं, **चारुचन्द्रावतंसमित्यस्य** चारुचन्द्रावतंसमित्येवंरूपं यत्पदं तस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव श्लोकेनाह **शुद्धेति।** हे शिष्य **शुद्धात्मा** शुद्धः प्रपञ्चरागादिकलङ्कशून्य आत्मा स्वरूपं यस्याः सा तथोक्ता, अत एव **शीतला** तापत्रयनिवर्त्तयित्री स्वतश्च तापत्रयहीना, अत एव **कान्ता** आनन्दरूपत्वात् कमनीया, **सूक्ष्मा** सूक्ष्मात्मविषयत्वाद् वृत्यन्तरविषयत्वाच्च तन्वी, **परा** सर्वोत्कृष्टा आत्मविषयत्वात् स्वतश्च सर्ववृत्तिभ्य उत्कृष्टत्वाच्च, **परा** प्रपञ्चादन्या, एवंविधा या **बोधकला** बोधरूपं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मचैतन्यं कलयति अनुभवतीति सा तथोक्ता **इयम्** उक्तलक्षणा विद्यारूपा वृत्तिः, **दुरापा** दुःखेन क्लेशेनाऽप्नोतीति सा तथाभूता, अत एव **वक्रायते** वक्रमिवाचरतीति सा तथा भवति दुरापत्वमेव तस्या वक्रभाव इति भावः, **तां** उक्तलक्षणां ज्ञानकलां आह्लादकत्वात् चन्द्रत्वं तस्यास्तां, **बिभर्ति** धरति, अतः शिवः तया बोधकलाधारणया **चन्द्रचूडः** चन्दयति स्वसंसृष्टं प्रमातारमाह्लादयतीति चन्द्रो बोधः चूडायां चूडोपलक्षितमस्तके यस्य स तथोक्तः, प्रसिद्धोऽस्तीति शेषः।।१३।। (१२३४)

अब 'चारुचन्द्रावतंसम्' इस पद का विवरण लिखा जाता है।

अत्यन्त पवित्र, शीतल, कमनीय तथा सूक्ष्म यह बोधचन्द्र की कला बहुत ही दुरापा है। इसी से उसे वक्रा कहा जाता है। इस चन्द्रकला को धारण करने से ही योगी आत्मदेव को चन्द्रचूड कहा गया है।

इस स्त्रीपुत्रादि प्रपंच का रागादि कलङ्क जिसमें सर्वथा नहीं है, जो स्वयं परमशुद्ध है, इसी परमशुद्धता के कारण जो परमशीतल (अर्थात् जो आध्यात्मिकादि तीनों तापों को हटाने वाली तथा स्वयं भी तीनों प्रकार के तापों से सर्वथा रहित) है, जो मुमुक्षु लोगों को बड़ी ही कमनीय हो रही है, जो बड़ी ही सूक्ष्म है (क्योंकि प्रथम तो वह सूक्ष्म आत्मा को विषय करती है, तथा अन्य किन्हीं भी वृत्तियों से व्यवहित अथवा खण्डित नहीं होती) ऐसी वह सर्वोत्कृष्ट तथा प्रपंच से अतीत रहने वाली आत्मज्ञानरूपी बोधकला (बोधरूपी चन्द्रमा का एक छोटा-सा भाग) बड़ी ही कठिनता से किसी बड़भागी के हाथ लगती है। इसी कठिनता के कारण सम्प्रदाय में उसको चन्द्रमा की कला के समान वक्र माना गया है। (उसकी दुरापता ने ही उसे वक्र कहला दिया है) परम आह्लाद देने वाली, उस सूक्ष्म ज्ञानकला को ही जब कि वह सदाशिव अपने मस्तक पर धारण कर लेता है, तब उसको चन्द्रचूड नाम से कहा जाता है।।१३।।

अथ रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गमित्यस्य विवरणम्

योगदीक्षामयान्येव बोधरत्नानि कानि चित्।
दधाति शंकरोऽतोऽस्य रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गता।।१४।। (१२३५)

अथ परशुहस्तपदविवरणम्

येन मोहवनं छिन्नं कदाचिन्न प्ररोहति।
स बोधः परशुस्तीक्ष्णो हस्ते रुद्रस्य वर्त्तते।।१५।। (१२३६)

एवं चारुचन्द्रावतंसमिति पदस्य तात्पर्यमभिधायेदानीं रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गमिति पदस्य तात्पर्यमभिधातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** चारुचन्द्रावतंसमिति पदस्य तात्पर्यनिरूपणानन्तरं, **रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गमिति** पदस्य **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव श्लोकेनाह **योगदीक्षेति।** हे शिष्य **योगदीक्षामयानि** योगः कूटस्थब्रह्मणोर्भागत्यागलक्षणया विरुद्धांशत्यागेन चिन्मात्ररूपेणैक्यं तस्य दीक्षा संस्कारो वासना इत्यर्थः तन्मयानि तत्प्रचुराणि, **कानिचिद्** अनिर्वचनीयानि, **बोधरत्नानि एव** बोधा जीवब्रह्मैक्यविषयाणि ज्ञानान्येव रत्नानि स्वप्रकाशरूपेण रत्नसादृश्याद् रत्नानीव, **दधाति** बिभर्ति, अत एव **शंकरः** तैरेव ज्ञानरत्नैः समस्तस्वशरणागतजीवानां शं सुखं करोतीति शंकरः, अनेन स्वज्ञानप्रदो गुरुरेव परमात्मरूपतया पूज्य इति ध्वनितमतो बोधरत्नधारणादेव **अस्य** ब्रह्मात्मगुरुशिवस्य, **रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गता** स्वप्रकाशत्वेन रत्नतुल्यबोधैरुज्ज्वलमंङ्गं स्वरूपं यस्य स्वप्रकाशेन बोधप्रकाशेन च अत्यन्तं प्रकाशस्वरूप इत्यर्थः, तस्य भावस्तत्ताऽस्तीति ज्ञेया।।१४।। (१२३५)

एवं रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गमिति पदस्य तात्पर्यं निरूप्येदानीं परशुहस्तपदस्य तात्पर्यमभिधातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गमिति पदस्य व्याख्यानानन्तरं, **परशुहस्तपदस्य विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव श्लोकेनाह **येन इति।** हे शिष्य **येन** जीवब्रह्मैक्यविषयेण बोधपरशुना, **मोहवनं** मोहोऽज्ञानं तदेव वनं अरण्यं कामादिव्याघ्रनिवासत्वेन भयहेतुत्वाद् अरण्यत्वं मोहस्येति भावः, तत् **छिन्नं** सन्निकृत्तं सत्, **कदाचित्** कस्मिन्नपि समये कालत्रयेपीत्यर्थः, **न प्ररोहति** नोत्पद्यते, **स** उक्तलक्षणः, **परशुः** परमभिन्न आत्मनि भेदकारणभूतं मायां तत्कार्यं च शातयति खण्डयतीति, **परशुस्तीक्ष्णो** भेदकारणाज्ञानादिभेदेन तीव्रो, **बोधो** ज्ञानमेव ज्ञेयः, **स रुद्रस्य** रोदयति स्वसम्बद्धं जीवमिति रुदहङ्कारस्तं राति 'नेह नानास्ति किञ्चने'ति श्रुतिदृष्ट्या बाधितत्वात् स्वात्ममात्रत्वेनाङ्गीकरोतीति रुद्रः परमात्मस्वरूपो गुरुस्तस्य, **हस्ते** सांख्ययोगौ निजौ बाहू इत्युक्तत्वात्सांख्याख्यहस्ते, **वर्त्तते** तिष्ठति।।१५।। (१२३६)

अब "रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गम्" का व्याख्यान किया जाता है।

योग (ऐक्य) की वासनाओं से भरे हुए कुछ अनिर्वचनीय बोधरूप रत्नों को धारण किये रहता है। इसी से उसका स्वरूप रत्न के समान उज्ज्वल हो गया है। (अपने को ज्ञानदान करने वाले उस उज्ज्वलाङ्ग परमात्मरूपी गुरुदेव की साधकों को पूजा करनी चाहिये)।।१४।।

अथ मृगहस्तपदविवरणम्

धर्तुं न शक्यते धीरैर्यो धृतोऽपि पलायते।
लीलयैव धृतो हस्ते शम्भुना स मनोमृगः।।१६।। (१२३७)

एवं परशुहस्तत्वं व्याख्यायेदानीं मृगहस्तत्वं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** परशुहस्तत्वव्याख्यानानन्तरं, **मृगहस्तत्वविवरणं** मृगहस्तत्वयच्छिवस्योक्तं तस्य व्याख्यानं विवरणं क्रियते इति शेषः। तदेव श्लोकेनाह

धर्तुं इति। हे शिष्य **धीरैः** ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नैः, विघ्नैः पराभूतावपि मनसः स्थैर्यसम्पादनेन योगाभ्यासादपरावृत्तैश्चायं **मनोमृगो** मृग्यन्ते विषया अनेनेति मनोरूपो मृगो, **धर्तुं** स्वाधीनीकर्त्तुं, **न शक्यते** न समर्थ्यते, किञ्च कदाचिद् **यो** मनोमृगो, **धृतोपि** स्वाधीनीकृतोपि, **पलायते** दूराद्दूरं गच्छति, **स** उक्तलक्षणो मनोमृगो मनश्चित्तं तदेव मृगयति विषयानिति मृगो मन एव मृगोऽत्र ग्राह्यः, **शम्भुना** शम्भवति अस्माज्जगतो मुमुक्षूणां च स शम्भुस्तेन, एतेन ज्ञानयोगाभ्यां मुमुक्षूणां मुक्तिप्रदः परब्रह्मस्वरूपो गुरुशिवो ग्राह्यः, 'गुरुर्ब्रह्मे'त्यादिस्मृतेः, 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेश्च ब्रह्मात्मगुरोः शम्भुत्वं ज्ञेयं, **लीलयैव** क्रीडयैव, **हस्ते** योगाख्यहस्ते, **धृतो** भृतः स्थिरत्वं सम्पाद्य वशीकृत इत्यर्थः।।१६।। (१२३७)

एवं मृगहस्तत्वं व्याख्यायेदानीं वरहस्तत्वं व्याचिख्यासुर्गद्येनाह **अथ इति। अथ** मृगहस्तत्वव्याख्यानानन्तरं, **वरहस्तत्वविवरणं** शिवे यद्वरहस्तत्वं प्रोक्तं तस्य विवरणं व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **वरार्थिभिः इति।** हे शिष्य **यैः** मुमुक्षुभिः, **वरार्थिभिः** वरं जीवब्रह्मैक्यभावलक्षणं मोक्षमर्थन्त इच्छन्ति ते तथोक्तास्तैः, मोक्षस्यैव धर्माद्यर्थेषु श्रेष्ठत्वाद् **वरेण्याय**

अब 'परशुहस्तम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है।

जिस बोधरूपी खड्ग से (कामादि भयानक व्याघ्रों की निवासभूमि) इस मोहरूपी अरण्य को इस प्रकार समूल काट डाला जाता है कि फिर कभी भी उसमें शाखाएँ नहीं फूटतीं, ऐसा वह विचित्र तीक्ष्ण परशुरूपी बोध, रुद्र नामक गुरुदेव के हाथ में सदा ही रहता है (अपने सांख्यनामक हाथ में वह ज्ञानी गुरुदेव सदा ही ज्ञानरूपी खड्ग को लिए रहते हैं और उससे मोहरूपी वन की जड़ें काट कर फेंक देते हैं। उनकी इस अपार दया से सैकड़ों मुक्ति को पा जाते हैं)।।१५।।

इस शिवपूजनपद्धति में शिव को मृगहस्त कहने का तात्पर्य बताया जाता है।

घोर योगी लोगों के भी वश में जो नहीं आता, तथा वश में आ जाने पर भी कभी-कभी दूर से दूर निकल भागता है, उसी मनरूपी अत्यन्त चंचल मृग को शम्भु ने अपने योगनामक हाथ में बड़ी सरलता से पकड़ लिया है, अर्थात् उसे स्थिर करके अपने वश में कर डाला है।।१६।।

अथ वरहस्तत्वविवरणम्

वरार्थिभिर्वरेण्याय वृतो यैस्तु वरः स तम्।
वरं ददाति हस्तेन वरदस्तेन शंकरः।।१७।। (१२३८)

अथाऽभीतिहस्तत्वविवरणम्

मृत्योर्बिभेति ब्रह्मापि मृत्युरेव भयं महत्।
तस्मादमृत्युरभयं हस्ते मृत्युञ्जयस्य तत्।।१८।। (१२३९)

वरेण्यं सर्वजनैः प्रार्थनीयं ब्रह्मसुखं तत्प्राप्तुं, **वृतो** याचितः सेवितो वा, **यः** शिवः **स तु** उक्तलक्षणो ब्रह्मरूपो गुरुरेव, **तं वरं** ब्रह्मभावलक्षणं श्रेष्ठमर्थं, **हस्तेन** वेदान्ताविरुद्धसांख्यहस्तेन, **ददाति** अर्पयति स्वात्मन्येवासङ्गत्वादिलक्षणप्रदर्शनेन ब्रह्मभावप्रापकत्वात् मोक्षं ददातीत्यर्थः, **तेन** कारणेन **वरदो** वरं मोक्षं ददातीति वरदः, अत एव **शंकरः** समस्तस्वशरणागतसुखकरोऽस्तीति ज्ञेयः।।१७।। (१२३८)

एवं वरदहस्तत्वं व्याख्यायेदानीमभीतिहस्तत्वं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** वरहस्तत्वविवरणानन्तरं, **अभीतिहस्तत्वविवरणं** अभीतिहस्तमिति पदस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **मृत्योः इति।** हे शिष्य **ब्रह्मापि** स्वयम्भूरपि किं पुनरितर इति अपि-शब्देन सूचितं, **मृत्योः** मरणाद्, **बिभेति** भीतिं प्राप्नोति, अतो **महद्** उत्कृष्टं, **भयं** भीतिः, **मृत्युरेव** मरणमेवास्ति, **तस्माद्** हेतोः, **अमृत्युः** न विद्यते मृत्युर्मरणं यत्र साऽमृत्युर्मोक्षः अभयं, **भयं** मरणं, नास्ति यस्मिन् तदस्ति तदभयाख्यं पदं मोक्षरूपं **मृत्युञ्जयस्य** मृत्युर्मरणं जयति स्ववशं सम्पादयतीति मृत्युञ्जयो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मरूपो गुरुस्तस्य, ब्रह्मस्वरूपत्वात् वशीकृतमृत्योरिति भावः, **हस्ते** योगाख्ये करे वर्त्तते। मृत्युरूपद्वैताप्रतीतिस्तु योग एव वर्त्तते इति भावः।।१८।। (१२३९)

अब शिव को वरहस्त कहने का तात्पर्य बताया जाता है।

जिन वरार्थी मुमुक्षु लोगों ने वरेण्य ब्रह्मसुख को पाने के लिये जिस (सदाशिव) को वरण किया है, उसी (ब्रह्मभाव किंवा मोक्षरूपी स्पृहणीय) वर को वह अपने हाथ से दूसरों को दिया करता है, इसी कारण से उस शंकर को वरद कहा जाता है, (वह समस्त स्वशरणगत जन्तुओं को सदा ही मोक्षरूपी वरदान देता रहता है)।।१७।।

अथ शिव के 'अभीतिहस्तत्व' का विवरण किया जाता है।

स्वयम्भू ब्रह्मा भी मृत्यु से डरते हैं, इसलिये सबसे बड़ा भय मृत्यु ही है। परन्तु अमृत्यु तथा अभय नाम का परमपद तो मृत्युंजय गुरुदेव के (योग नामक) हाथ में रखा रहता है। तात्पर्य यह है कि योग करने से मृत्युरूपी द्वैत की प्रतीति सर्वथा बन्द हो जाती है।।१८।।

अथ प्रसन्नमित्यस्य विवरणम्

सिद्धिमेकामपि प्राप्य कश्चिदन्तः प्रसीदति।
निधानं सर्वसिद्धीनां प्रसन्नः सर्वदा हरः।।१९।। (१२४०)

अथ पद्मासीनमित्यस्य विवरणम्

सतां हृदयपद्मेषु यदासीनः सदाशिवः।
अत एव हि वेदेषु पद्मासीन इतीरितः।।२०।। (१२४१)

एवं परशुमृगवराभीतिहस्तमिति पदं चतुर्भिः श्लोकैर्व्याख्यायेदानीं प्रसन्नमिति पदं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** परशुमृगवराभीतिहस्तमितिव्याख्यानानन्तरं, **प्रसन्नमित्यस्य** प्रसन्नमिति पदस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव श्लोकेनाह **सिद्धिं इति।** हे शिष्य **कश्चित्** कोपि जीव **एका**माकाशगमनादिषु गौणसिद्धिषु अणिमादिषु प्रधानसिद्धिषु वा काञ्चन, **एकां सिद्धिं** विभूतिं, **प्राप्य** उपलभ्य, **अन्तः** अन्तःकरणे, **प्रसीदति** प्रसन्नो भवति, तर्हि **सर्वसिद्धीनां** सर्वाः समस्ता याः सिद्धयो विभूतयस्तासां, **निधानं** निधीयन्ते स्थाप्यन्तेऽस्मिन्सिद्धय इति निधानं आधारः शिवोऽतः सुखरूपः प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरुरस्ति, अतः **सर्वदा** सर्वकालं, **प्रसन्नः** सुखरूपोऽस्ति, अतो मुक्त्यादिसर्वसिद्धिप्रदो गुरुरेव प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूप इत्यर्थः।।१९।। (१२४०)

एवं प्रसन्नमिति पदं व्याख्यायेदानीं पद्मासीनमिति पदं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** प्रसन्नमिति पदविवरणानन्तरं, **पद्मासीनमित्यस्य विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **सताम् इति।** हे शिष्य **यद्** यस्मात्कारणात्, **शिवो** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगानन्दरूपो गुरुः, **सतां** आत्मसाक्षात्कारवतां, 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुरि'ति श्रुतेः, **हृदयपद्मेषु** हृदयान्यन्तःकरणान्येव पद्मानि कमलानीव तेषु, यद्वा हरति सर्वं द्वैतमिति हृत्सर्वद्वैतनिषेधः'अथात आदेशो नेति नेति, नेह नानास्ति किञ्चने'त्यादिश्रुतिकृतस्तमयते प्रकाशयतीति हृदयं समस्तजगदत्यन्ताभावप्रकाशकं चैतन्यं तदेव पद्मानि पद्यते गम्यते श्रवणादिसाधनैः प्राप्यते इति पद् ब्रह्माभिन्नं प्रत्यगात्मचैतन्यं माति साक्षात्करोति इति पद्मं जीवब्रह्मैक्यविषयो बोधः, आदरे बहुवचनं, तेषु तत्रैव सर्वदा प्रतीतेः **आसीनः** स्थितः, **अत एव** अस्मादेव कारणाद्, **वेदेषु** श्रुतिषु, 'हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धमि'त्यादिषु **हि** प्रसिद्धमेतद्विद्वत्स्वपि, **पद्मासीनः** पद्मे सतां हृदयकमले उक्तविधजीवब्रह्मैक्यविषयकबोधे वा आसीनः स्थित, **इति** एवं, **ईरितः** कथित इति निश्चेतव्यम्।।२०।। (१२४१)

अब श्लोक में 'प्रसन्नम्' इस पद का व्याख्यान करते हैं।

जब कोई साधक किसी एक सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, तब अपने मन में बड़ा ही प्रसन्न होता है, परन्तु सम्पूर्ण सिद्धियों का भण्डार वह हमारा शिवगुरु तो सदा ही प्रसन्नमुख (किंवा सुखरूप) बना रहता है।।१९।।

अथ समन्तात्स्तुतममरगणैरित्यस्य विवरणम्

स्तुवन्ति देवान्मनुजास्ते देवा देवनायकान्।
देवदेवो महादेवः स्तूयते देवनायकैः।।२१।। (१२४२)

एवं पद्मासीनमिति पदं व्याख्यायेदानीं समन्तात्स्तुतममरगणैरिति पदत्रयं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** पद्मासीनमिति पदव्याख्यानानन्तरं, **समन्तात्स्तुतममरगणैः** इत्येवं यत्पदत्रयं तस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव श्लोकेनाह **स्तुवन्ति इति। मनुजा** मनुष्या, **देवान्** मरुत्प्रभृत्यमरान्, **स्तुवन्ति** प्रशंसन्ति, **ते** मनुष्यैः स्तुता, **देवा** मरुत्प्रभृत्यमरा, **देवनायकान्** देवानां मरुदाद्यमराणां ये नायका ईश्वरा इन्द्रब्रह्मादयः तान्, **स्तुवन्ति** प्रशंसन्ति, **देवदेवो** देवानां मरुत्प्रभृत्यमराणां तदीश्वराणामिन्द्रब्रह्मादीनां देवः प्रकाशात्मस्वरूपत्वात् प्रकाशकः प्रत्यगभिन्न ब्रह्मचैतन्यरूपो गुरुरत एव, **महादेवो** महान् अपरिच्छिन्नात्मस्वरूपो यो देवः चिन्मात्रस्वरूपः स्वयंप्रकाशः स, **देवनायकैः** देवानां मरुदाद्यमराणां ये नायका ईश्वरा इन्द्रब्रह्माद्यास्तैः, **स्तूयते** प्रशंस्यते, सर्वदेवानामात्मत्वात्सर्वदेवैः शिव एव स्तुत्य इति भावः।।२१।। (१२४२)

एवं समन्तात्स्तुतममरगणैरिति पदत्रयं व्याख्यायेदानीं व्याघ्रकृत्तिं वसानमिति पदद्वयं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** समन्तात्स्तुतममरगणैरिति पदत्रयव्याख्यानानन्तरं, **व्याघ्रकृत्तिं वसानमिति** पदद्वयस्य व्याघ्रकृत्तिं वसानमित्येवं पदयोर्यद्द्वयं युग्मं तस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव श्लोकेनाह **शङ्करेण इति।** हे शिष्य **शङ्करेण** शं सुखं करोतीति शंकरः सकलजगदानन्दकरः परमात्माभिन्नः प्रत्यगात्मा तेन, 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः **किरातेन** वक्ष्यमाणलक्षणव्याघ्रघातकत्वेन किरातेन व्याधभूतेन, यद्वा किरति स्वात्मसुखसाक्षाकाररूपं धर्मं वर्षतीति किरो धर्ममेघाख्यः समाधिः तं आतनोति विस्तारयतीति किरातः स्वात्मसाक्षात्कारसाधनभूतो जीवब्रह्मैक्यविषयो बोधः तदुपदेशेन कृत्वा धर्ममेघाख्यसमाधिविस्तारको गुरुरूपः परमात्मा तेन स्वरूपेण, **मोहव्याघ्रो** मोहयति विस्मारयतीति स्वात्मानं स मोह एव दुःखदत्वाद् भीतिहेतुत्वाच्च व्याघ्रः शार्दूल इव स मोहव्याघ्रो, **निपातितो** घातित इति निश्चेतव्यम्, इत्थं कुतो निश्चेतव्यमित्यत आह **कटाविति।**

अब 'पद्मासीनम् इस पद का व्याख्यान किया जाता है। शिवरूपधारी गुरु (आत्मसाक्षात्कार करने वाले) सत्पुरुषों के हृदयरूपी कमलों में सदा ही (प्रतीति के द्वारा) आसन जमाए बैठा रहता है। यही कारण है कि श्रुतियों में उसको 'पद्मासीन' कहा गया है।।२०।।

अब 'समन्तात् स्तुतममरगणैः' इन तीनों पदों की व्याख्या की जाती है। साधारण मनुष्य तो (मरुत् प्रभृति) देवताओं की स्तुति किया करते हैं, वे देवता लोग देवनायकों (इन्द्र ब्रह्मा आदि) का यशोगान करते हैं, परन्तु इन सब देवों के भी देव (चिन्मात्ररूप स्वयंप्रकाश) महादेव की स्तुति तो देवनायक भी करते हैं। तात्पर्य यह है कि सब देवों का आत्मा होने से शिव ही पूरा स्तुत्य कहा जाता है।।२१।।

अथ व्याघ्रकृत्तिं वसानमित्यस्य विवरणम्

शङ्करेण किरातेन मोहव्याघ्रो निपातितः।
कटौ कृत्तिस्वरूपेण पश्य तस्य निदर्शनम्।।२२।। (१२४३)

तस्य उक्तस्य मोहव्याघ्रघातस्य, **निदर्शनं** चिह्नं, **कटौ** कटति आवृणोति स्वात्मानमिति कटिः अहंकारः तस्मिन् न तु आत्मनि, **कृत्तिस्वरूपेण** कृत्तिः चर्म तदिव स्वसम्बद्धव्याघ्रसूचकं यथा तथा स्वकारणमोहसूचकं बाधितं देहद्वयसहितं चिदाभासरूपं कृत्तिसादृश्यादत्र कृत्तिपदेन ग्राह्यं, यद्वा कृन्तति भिनत्ति स्वात्मानमिति व्युत्पत्त्या आत्मनि भेदप्रतीतिहेतुर्देहद्वयसहितश्चिदाभासो मोहव्याघ्रस्य बाधितत्वेन चर्मेवावशिष्टोऽत्र ग्राह्यः, सैव स्वरूपं यस्य तेन **पश्य** अवलोकय, तेनैव चिह्नेन मोहव्याघ्रो घातितः स्वात्मशिवगुरुणेति निश्चेतव्यमिति भावः।।२२।। (१२४३)

एवं व्याघ्रकृत्तिं वसानमिति पदद्वयं व्याख्यायेदानीं विश्वाद्यं विश्ववन्द्यमिति पदद्वयं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** व्याघ्रकृत्तिं वसानमिति पदद्वयव्याख्यानानन्तरं, **विश्वाद्यं विश्ववन्द्यमित्यनयोः** व्याख्यानं **विवरणं** क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **विश्वकृद् इति।** हे शिष्य **असौ** शिवः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **विश्वकृद्** विश्वं जगत्करोति उत्पादयतीति विश्वकृत् समस्तजगत्कर्त्तुरन्तर्यामिणस्तदाधारभूतचिदखण्डैकरसात्पृथगसत्त्वात्, किञ्च **विश्वरूपो** विश्वं जगदेव रूपमाकारो यस्य, यद्वा विश्वं जगद् रूप्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति विश्वरूपो जगत्प्रकाशकः, तथा **विश्वहृद्** विश्वं समस्तं जगन्मायातत्कार्यरूपं हरति विनाशयतीति स तथोक्तो जगत्प्रलयकर्त्तुरहंकारस्य तदधिष्ठातू रुद्रस्य च प्रत्यगभिन्नब्रह्मणः पृथगसत्त्वात्तथा, **विश्वपालको** विश्वस्य जगतः पालको रक्षकः, स्वसत्ताचितिसुखार्पणेन प्रसिद्धजगत्पालकस्यापि विष्णोस्ततः पृथगसत्त्वादपि तथा **विश्वेशो** विश्वस्य जगत ईशो नियन्ता तस्यापि ततः पृथगसत्त्वाच्च, **गिरिजापतिः** गिरति विनश्यति तत्त्वज्ञानादिति गिरिः मोहः तत्कार्यरूपो विक्षेपश्च तस्मात् जाता उत्पन्ना गिरिजा अहं ब्रह्मास्मीति प्रमा वृत्तिस्तस्याः पतिः पालकः, तं विना तस्या जीवनासिद्धेः, प्रसिद्धं च वृत्तेर्विषयाधिष्ठानयोर-

अब 'व्याघ्रकृत्तिं वसानम्' इन दो पदों की व्याख्या करते हैं।

शङ्कररूपी किरात ने (आत्मा को भुलाने वाले) मोहरूपी व्याघ्र को (जो कि आत्मा के दुःख तथा भय का कारण बना हुआ था) मार गिराया है। उस (मार गिराने) का चिह्न देखो कि उस मोहव्याघ्र की (दोनों देहों सहित चिदाभासरूपी) कृत्ति (चर्म) उस आत्मशङ्कर की अहंकार रूपी कटि में बंधी हुई है।

तात्पर्य यह है कि स्वात्मशिवरूपी गुरु ने मोहरूपी व्याघ्र को मार डाला है। यह बात उसके दोनों देहों सहित चिदाभासरूपी चर्म को केवल अहंकार में लटकता हुआ देख कर निश्चय कर लो। देखो कि उस शिवगुरु के दोनों देहों तथा उन देहों में परिच्छिन्न चिदाभास का अब उसके आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह गया है। वे तो अब केवल अहंकार के आधार पर ही जीवनयात्रा कर रहे हैं।।२२।।

अथ विश्वाद्यं विश्ववन्द्यमित्यस्य विवरणम्।

विश्वकृद्विश्वरूपोऽसौ विश्वहृद्विश्वपालकः।
विश्वाद्यो विश्ववन्द्यश्च विश्वेशो गिरिजापतिः।।२३।। (१२४४)

अथ निखिलभयहरमित्यस्य विवरणम्

श्रुतिर्भयमिति प्राह 'द्वितीयाद्वै भयं' भवेत्।
हरो हरति भक्तानां मुक्तिदो निखिलं भयम्।।२४।। (१२४५)

धीनं जीवनमत एवंभूतत्वाद् **विश्वाद्यो** विश्वस्य जगत आद्य आदौ भवः समस्तजगत्कारणमित्यर्थः, अत एव **विश्ववन्द्यश्च** विश्वस्य जगतो वन्द्यो वन्दनार्होऽपि अस्तीति निश्चेतव्यम्।।२३।। (१२४४)

एवं विश्ववन्द्यमिति पदे व्याख्यायेदानीं निखिलभयहरमिति व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** विश्वाद्यं विश्ववन्द्यमिति पदव्याख्यानानन्तरं, निखिलभयहरमित्येतस्य **निखिलभयहरमिति** पदस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव श्लोकेनाह **श्रुतिः इति।** हे शिष्य **'द्वितीयाद्वै भयं भवेद्'** द्वितीयं द्वैतं तस्माद्धेतोर्भयं भीतिर्भवेत्स्याद्वै इति निश्चय इत्येवं, **श्रुतिः** वेदो, **भयं** भयकारणं द्वैतं, **प्राह** उक्तवान्, किञ्च **मुक्तिदो** मुक्तिं मोक्षं ददातीति मुक्तिदः अद्वैतस्वरूपमुक्तिप्रद इत्यर्थः, अत एव **हरो हरति** सर्वं द्वैतमिति हरः समस्तभक्तक्लेशनिवारक इत्यर्थः, प्रत्यगभिन्नब्रह्मस्वरूपो गुरुः **भक्तानां** स्वसेवकानां मुमुक्षूणामित्यर्थः, **निखिलं** समस्तं, **भयं** भयकारणं द्वैतं हरति विनाशयति।।२४।। (१२४५)

अब 'विश्वाद्यम्' 'विश्ववन्द्यम्' इन दो पदों का व्याख्यान किया जाता है। यह प्रत्यगभिन्न परमात्मा ही इस सकल विश्व को बनाने वाला है। यह समस्त विश्व ही उसका आकार है। इस समस्त विश्व का संहार भी वही करता है। इस सकल जगत् को (अपनी सत्ता, अपना चैतन्य तथा अपना आनन्द देकर) पालने वाला भी वही है। इस सम्पूर्ण विश्व पर शासन करने वाला भी वही है। गिरि नामक मोह तथा उसके कार्य विक्षेप की सहायता से उत्पन्न होने वाली ब्रह्माकारवृत्तिरूपी गिरिजा का पति भी वही है। विश्व का कारण तथा विश्व का वन्दनीय भी वही है।।२३।।

अब श्लोक के 'निखिलभयहरम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है।

"द्वितीयाद्वै भयं भवति" भय का सिद्धान्त ही दूसरा है क्योंकि भय दूसरे से ही हो सकता है। श्रुति ने बड़ी दृढता के साथ द्वितीय को ही भय का कारण बताया है। अद्वैतरूपिणी मुक्ति को देने वाले तथा भक्तों के समस्त क्लेशों को निवारण करने वाले हररूपी गुरुदेव अपने भक्त किंवा सेवक मुमुक्षु लोगों के सम्पूर्ण भय (अथवा भय के कारण द्वैत प्रपंच) को क्षण भर में विनष्ट कर डालते हैं।।२४।।

अथ पञ्चवक्त्रमित्यस्य विवरणम्

ध्यायन्ति भक्ताः सर्वत्र सर्वेषामपि सन्मुखः।
उन्मुखो विमुखानां यस्तस्य सा पञ्चवक्त्रता।।२५।। (१२४६)

एवं निखिलभयहरमितिपदं व्याख्यायेदानीं पञ्चवक्त्रमिति पदं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** निखिलभयहरमिति पदव्याख्यानानन्तरं, **पञ्चवक्त्रमिति** पदस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **ध्यायन्ति इति।** हे शिष्य **भक्ताः** सेवका मुमुक्षव इत्यर्थः, **सर्वत्र** चतुर्दिक्षु स्थिताः सन्तो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुं, **ध्यायन्ति** चिन्तयन्ति, तेषां स्वचिन्तकानां **सर्वेषामपि** समस्तानामपि, **यः** प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः, **सन्मुखः** प्रत्यक्षत्वेन प्रतीयमानो भवति, किञ्च **विमुखानां** स्वस्मिन्पराङ्मुखानां य उक्तलक्षणः परमात्मशिवगुरुः, **उन्मुखः** पराङ्मुखो भवति, **सा** सर्वपदवाच्यचतुर्दिक्स्थभक्तसान्मुख्येन चतुर्मुखता पराङ्मुखेषु च पराङ्मुखता, एवंप्रकारा तस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः **पञ्चवक्त्रता** पञ्चसङ्ख्यमुखवत्त्वं भवतीति ज्ञेया।।२५।। (१२४६)

एवं पञ्चवक्त्रमिति पदं व्याख्यायेदानीं त्रिनेत्रमिति पदं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** पञ्चवक्त्रमितिपदव्याख्यानानन्तरं **त्रिनेत्रमित्यस्य** त्रिनेत्रमितिपदस्य, **विवरणं** व्याख्यानं क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **कर्मोपास्ती इति।** हे शिष्य प्रत्यगभिन्नपरात्मशिवगुरुं विना निर्वाहाभावात्तस्यैव **कर्मोपास्ती** कर्मज्ञानमुपासनाज्ञानं चेत्येते, **उभे** द्वे, **नेत्रे** नयने स्तः, **तृतीयकं** तृतीयं, **नेत्रं** नयनं, **ज्ञानं** ज्ञायते साक्षात्क्रियते ब्रह्माऽनेनेति ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यविषयको बोधो ज्ञेयं, पितृलोकदेवलोकमोक्षप्रापकत्वादेतेषां नेत्रत्वमिति भावः, तत् तृतीयं ज्ञाननेत्रं यस्य प्रत्यगात्मशिवगुरोः **ललाटे** भालवदेकदेशे, यस्मात्कारणाद् **राजते** प्रकाशते, तेन कारणेन **शंकरः** सकलजगदानन्दकरः परमात्मगुरुः, **त्रिनेत्रः** त्रीणि नेत्राणि नयनानि, **यस्य** स तथोक्तोऽस्ति कर्मोपासनज्ञानाधिकारिणां तत्तत्फलप्रापकत्वात् कर्मोपासनज्ञानानां नेत्रत्वं तेषां च आधेयानां आधारत्वात् शिवगुरोश्च संबन्धित्वं ज्ञेयमिति भावः।।२६।। (१२४७)

अब श्लोक के 'पंचवक्त्रम्' इस पद का व्याख्यान करते हैं

भक्त मुमुक्षु लोग जहाँ तहाँ चारों दिशाओं में बैठकर ध्यान करते हैं, यह सदाशिव उन सब भक्तों को सन्मुख ही दीखा करता है, परन्तु जिन भाग्यहीन लोगों को उस पर श्रद्धा नहीं है, उनसे तो वह सदा ही पराङ्मुख रहता है। यही तो उसकी पंचवक्त्रता कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि चारों दिशाओं में भक्तों को दर्शन देने के कारण तो वह चतुर्मुख होता है तथा भक्तिहीन लोगों से विमुख रह जाने के कारण उसको पंचवक्त्र कहा जाता है। यही उसके पाँच मुख कहाते हैं।।२५।।

अथ त्रिनेत्रमित्यस्य विवरणम्

कर्मोपास्ती उभे नेत्रे ज्ञानं नेत्रं तृतीयकम् ।
ललाटे राजते यस्य त्रिनेत्रस्तेन शङ्करः ।।२६ ।। (१२४७)

इति ध्यानम्

अथोपकरणविचारः

एवं ध्यानश्लोकं व्याख्यायेदानीं तत्प्रसङ्गादेव तदुपयोगितया चोपकरणानां विचारं कर्तुमस्यां पूजायां तद्व्याख्यानं निरूपयितुं पूर्वोक्तस्योत्तरवक्ष्यमाणस्य चासङ्करायोपसंहरति गद्येन **इति इति**। **ध्यानविवरणं** ध्यानस्य ध्यानप्रतिपादकश्लोकस्य विवरणं व्याख्यान**मिति** एवं कथितम्। एवं ध्यानश्लोकं व्याख्यायेदानीमुपकरणानां विचारं निरूपयितुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** ध्यान-व्याख्यानानन्तरं, **उपकरणविचार** उपकरणानामुपाङ्गानां विचारो विवेको ध्यानोपकारकाङ्गानां विवेक इत्यर्थः, क्रियते इति शेषः। तेषु प्रथमं शुद्धस्फटिकसङ्काशतां व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **तत्र इति। तत्र** प्रतिज्ञात उपकरणविचार, **आदौ** प्रथमं, **शुद्धस्फटिकसङ्काशताविचारः** शुद्धो निर्मलो यः स्फटिकः स्फटिकनामाश्मा तेन सङ्काशता सादृश्यं यच्छिवे निरूपितं तस्य विचारो विवेकः क्रियते इति शेषः। तामेव शुद्धस्फटिकसङ्काशतां विचारयन्गद्येनाह **निर्मल इति**। हे शिष्य **यद्** यस्मात्कारणात्, **निर्मले** निर्गतं मायातत्कार्यजगद्रूपं मलं यस्मात्तत्तथोक्तं तस्मिन्, **अस्मिन्** स्वयं प्रकाशत्वेन सदा एव अपरोक्षरूपे प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरौ, **सर्वमेव** समस्तमपि **इदं** जगत्, **प्रतिबिम्बति** जीवा ईश्वरश्च ताभ्यां सहितं प्रत्यगात्मशिवगुरौ अवभासत इत्यर्थः, स जगत्प्रतिबिम्बवानयं स्वयंप्रकाशत्वेन नित्यापरोक्षरूपः प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः **नीरागः** पारमार्थिकरागशून्योऽत एव, **ईश्वर** उक्तलक्षणैश्वर्यसंपन्नोऽस्ति, अतः **शुद्धो** निर्मलो, यः **स्फटिक** एतन्नामाश्मा, तेन **सङ्काशः** सदृशो ज्ञेयः, यथा स्फटिकाश्मनि नीलपीतादिरागप्रतिबिम्बवत्यपि प्रतीयमाने सति वस्तुतो रञ्जनारहित एव तिष्ठति तद्वत् प्रत्यगभिन्नपरमात्मा शिवगुरुरपि

अब 'त्रिनेत्रम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है

हे शिष्य! कर्म किंवा उपासना ये ही तो दो नेत्र साधारण लोगों के पाये जाते हैं। तीसरा ज्ञानरूपी नेत्र तो कभी किसी महापुरुष का ही देखा जाता है। वह तीसरा ज्ञानरूपी नेत्र जिस गुरुदेव के ललाट में खुल गया हो, उसी के कारण उस गुरुरूप शङ्कर को त्रिनेत्र कहा गया है। कर्म से पितृलोक, उपासना से देवलोक और ज्ञान से मोक्षधाम मिलता है।।२६ ।।

यह ध्यान प्रतिपादक श्लोक का विवरण समाप्त हुआ।

अब ध्यान के उपकारक उपाङ्गों का विचार किया जायगा।

शिव को शुद्ध स्फटिक के समान बताया है। अब उसके कारण का विचार किया जाता है।

तत्रादौ शुद्धस्फटिकसङ्काशताविचारः

निर्मले सर्वमेवेदं यदस्मिन्प्रतिबिम्बति।
शुद्धस्फटिकसङ्काशो नीरागः सोऽयमीश्वरः।।२७।। (१२४८)

अथ कर्पूरगौरताविचारः

यद्वासनाप्रसादेन सर्वा दुर्वासना गता।
स्वभावशीतला सेयं शिवे कर्पूरगौरता।।२८।। (१२४६)

जगत्प्रतिबिम्बवानिव प्रतीयमानोपि वस्तुतस्तद्रहित एव विद्वद्भिरनुभूयतेऽतः स्फटिकसङ्काशत्वं प्रतिपाद्यते इति भावः।।२७।। (१२४८)

एवं शुद्धस्फटिकसङ्काशत्वं विचार्येदानीं कर्पूरगौरतां व्याचिख्यासुर्गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** शुद्धस्फटिकसङ्काशत्वविचारानन्तरं, **कर्पूरगौरताविचारः** शिवे कर्पूरगौरता या निरूपिता तस्या विचारो विवेकः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **यद्वासना इति।** हे शिष्य **यद्वासनाप्रसादेन** यस्य शिवस्य सम्बन्धिनी या वासना भावना तस्याः प्रसादः प्रसन्नतोत्पत्तिरित्यर्थः, तेन कृत्त्वा **सर्वा** समस्ता, **दुर्वासना** दुष्टा स्वसंस्पृष्टजीवानां दुःखदात्री या वासना संस्कारः समस्तजगद्विषयिणी जीवानां बन्धकारणभूता वासना इति भावः। **गता** निवृत्ता भवति, **स्वभावशीतला** स्वभावेनाकृत्रिमरूपेण शीतला तापत्रयनिवर्तयित्र्यस्ति, लोकेपि कपूरे गौरता शीतलता च अभिन्नाऽनुभूयते तथात्र प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुविषयवासनायामपि तापत्रयनिवर्तकत्वेन शीतलत्वं शुद्धत्वेन गौरत्वं च अभिन्नमनुभूयतेऽत इयमेव **कर्पूरगौरता** कर्पूरस्य गौरतेव गौरता ज्ञेया, **शिवे** प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरौ विषये।।२८।। (१२४६)

यह सम्पूर्ण जगज्जाल सदा ही प्रत्यक्ष रहने वाले उस निर्मल (सदाशिव) में ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। सकल जगत् के प्रतिबिम्ब वाला होने पर भी वह नित्य प्रत्यक्ष ईश्वर सदा ही नीराग बना रहता है।

जिस प्रकार स्फटिक पत्थर नीले पीले पदार्थों के समीप आ जाने पर नीला पीला सा प्रतीत होने तो लगता है, परन्तु वस्तुतः उसमें कोई भी रंग नहीं होता। इसी प्रकार वह आत्मतत्त्व भी, यद्यपि देखने में जगत् के पदार्थों के प्रतिबिम्बवाला दीखता है, परन्तु तत्त्वविचार करने पर तो उसमें जगत् के पदार्थों का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं हो पाया है। यह बात अनुभवी विद्वानों के ही अनुभव में आती है।।२७।।

अब शिव की 'कर्पूरगौरता' का अभिप्राय बताया जाता है।

जिस शिव की वासना (भावना) के उत्पन्न हो जाने से अन्य सम्पूर्ण दुर्वासनाएँ निवृत्त हो गईं, ऐसी वह स्वात्मशिवविषयक वासना स्वभाव से ही बड़ी शीतल है (इसके प्रभाव से तीनों प्रकार के ताप निवृत्त हो जाते हैं)। यही तो हमारे स्वात्मशिव में कर्पूरगौरता कहाती है।।२८।।

अथ दिगम्बरताविचारः

निरावरणविज्ञानस्वरूपो हि स्वयं हरः।
स्वैरं चरति संसारे तेन प्रोक्तो दिगम्बरः।।२९।। (१२५०)

एवं कर्पूरगौरतां विचार्येदानीं दिगम्बरतां विचारयितुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** कर्पूरगौरताविचारणानन्तरं, **दिगम्बरताविचारः** शास्त्रे लोके च या दिगम्बरतोच्यते तस्या विचारो विवेकः क्रियते इति शेषः। तमेव विचारं गद्येनाह **निरावरण इति।** हे शिष्य **हि** यस्मात्कारणाद्, **हरो** हरति सर्वं द्वैतमिति हरः प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः, **स्वयं** स्वतो, **निरावरणचैतन्यस्वरूपो** निर्गतं निवृत्तमावरणं ब्रह्मात्मा न भाति नास्तीत्येवंरूपव्यवहारकारणं कारणाविद्यासहितं यस्मात् तत्तथोक्तं, यच्चैतन्यं चिन्मात्रं तदेव स्वमसाधारणं रूपं यस्येति स तथोक्तोऽस्ति, किञ्च स तथाविधोपि संसारे समष्टिव्यष्टिदेहत्रयरूपे प्रपञ्चे **स्वैरं** स्वेच्छं यथा भवति तथा, **चरति** वर्तते विधिनिषेधातीतः सन्, **संसारे** तिष्ठतीति भावः, **तेन** हेतुना, **दिगम्बरो** निरावरणत्वात् नग्नः, **प्रोक्तः** तद् एतादृशं दिगम्बरत्वं मूढजनैर्नग्नत्वेन प्रतिपाद्यते इति भावः।।२९।। (१२५०)

एवं दिगम्बरत्वं विचार्येदानी भस्मोद्धूलनं व्याख्यातुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** दिगम्बरत्वविचारानन्तरं, **भस्मोद्धूलनविचारो** भस्मनो विभूतेः यदुद्धूलनं लेपनं लोके लौकिकशास्त्रे च शिवे प्रतिपाद्यते तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **ज्ञानाग्निः इति।** हे शिष्य **ज्ञानाग्निः** ज्ञानं जीवब्रह्मैक्यविषयं महावाक्यजन्यमपरोक्षं तदेव सकलकर्मदाहकत्वादग्निरिव स यस्य प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः, समष्टिदेहद्वयसहितचिदाभासेऽहंप्रतीत्या कृतानि यानि **सर्वकर्माणि** सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणाख्यानि क्रियापरपर्यायाणि, **भस्मसाद्** भस्मरूपाणि, **कुरुते** करोति, **किल** इति निश्चये, एवं निश्चये श्रुतिषु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'ति श्रुतेः, **तेनैव** तादृशेनैव, **भस्मना** बाधितसर्वकर्मणामकिञ्चित्करत्वाद् भस्मसादृश्यं न तु अन्येनेत्यर्थः, **गात्रं** गा बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धीश्च त्रायते पालयतीति गात्रं, सच्चिदानन्दं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नमुद्धूलयति मलिनं लोकदृष्टौ दर्शयति बाधितसर्वकर्मणां प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिव एव अधिष्ठानाधिष्ठेयत्वेन लोकदृष्टौ प्रतीयमानतैव भस्मोद्धूलनत्वेनोपचर्यते इति भावः, अतः शिवगुरुः **धूर्जटिः** धूम्रवर्णा जटा यस्य स तथोक्तः, अत्र वेदान्तसांख्ययोगाख्या जटा ग्राह्याः।।३०।। (१२५१)

शास्त्र तथा लोक में शिव को दिगम्बर कहा गया है, अब उसका तात्पर्य बताया जाता है

सम्पूर्ण द्वैत जाल को हरने वाला शिव स्वयं यद्यपि आवरणरहित चैतन्यस्वरूप है, परन्तु फिर भी समष्टिरूपी तीनों देहों में स्वेच्छापूर्वक विहार करता रहता है, कहीं उलझता नहीं। इस प्रकार (तत्त्वदृष्टि से निरावरण होने के कारण ही) उसको दिगम्बर कहा गया है (ऐसी अलौकिक दिगम्बरता को न समझकर मूर्ख लोग शिव की दिगम्बरता का अर्थ नग्नता कर बैठते हैं।)।।२९।।

अथ भस्मोद्धूलनविचारः

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते किल।
तेनैव भस्मना गात्रमुद्धूलयति धूर्जटिः।।३०।। (१२५१)
भासते भिन्नभावानामपि भेदो न भस्मनि।
स्वस्वभावस्वभावेन भस्म भर्गस्य वल्लभम्।।३१।। (१२५२)

एवं भस्म विचार्येदानीं तादृशभस्मनः शिवस्य च मूढदृष्टौ प्रतीयमानं भेदं निरस्यति **भासत इति**। हे शिष्य **भिन्नभावानां** भिन्नोऽन्योन्यत्र व्यावृत्तो भावोऽन्तःकरण सत्ता वा येषां, तेषां भेदः प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः सकाशात् पृथक्त्वं बाधितकर्मकर्तृरूपप्रपञ्चविभूतौ यद्यपि **भासते** प्रतीयते, तथापि स **भेदः** प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः सकाशाद्, **भस्मनि** बाधितकर्त्रादिप्रपञ्चरूपविभूतौ, **न** नास्ति। कुत इत्यत आह **स्वस्वभावेति**। **भर्गस्य** भर्जति संसारबीजं दहतीति भर्गः प्रत्यगभिन्न-परमात्मशिवगुरुस्तस्य, **स्वस्वभावस्वभावेन** स्वस्यात्मनो यः स्वभावो धर्मो जगद्बीजभर्जकरूपः स इव स्वभावो धर्मो यस्य भस्मनः तेन कारणेन, **भस्म** उक्तलक्षणा विभूतिरबाधरूपत्वाद्, **वल्लभं** प्रियमस्ति, अत आत्मशिवस्य बाधितकर्मरूपभस्मनश्च न भेद आत्मत्वेनैव प्रियत्वस्य उपलभ्यमानत्वाद् इति भावः।।३१।। (१२५२)

लोक तथा लौकिकशास्त्रों में जहाँ तहाँ शिव के भस्मलेपन की चर्चा की गई है, उसका गूढ तात्पर्य यहाँ बतलाया जाता है

ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर डालती है, कर्मों की उसी भस्म से यह शिव अपने गात्र को पोता करते हैं।

जबकि शिव के हृदय में सकलकर्मदाहक आत्मज्ञानरूपी अग्नि जल उठती है, तब वह संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण नामक सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर डालती है, यह बात "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" इत्यादि श्रुतियों में बतायी गई है। वेदान्त सांख्य तथा योग नामक तीन जटाओं को धारण करने वाला वह धूर्जटि उन्हीं कर्मों की भस्म को अपने सच्चिदानन्द ब्रह्म नामक गात्रों में मले रहता है। जिस प्रकार भस्म से कोई काम नहीं निकलता, इसी प्रकार इन बाधित कर्मों से भी फिर किसी योग की प्राप्ति नहीं होती। वह कुछ न कर सकने वाली भस्म किसी के गात्र पर जिस प्रकार पुत रही हो, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष में बाधित कर्मों की प्रतीति लौकिक दृष्टि से होती ही रहती है। इसी भाव को भस्मोद्धूलन जैसे गम्भीर शब्द से निरूपण किया गया है।।३०।।

भस्म बन जाने पर फिर भिन्न-भिन्न पदार्थों का भी भेद नहीं रह जाता, तब तो वे सब एकरूप ही हो जाते हैं। भस्म का यह स्वभाव महादेव के स्वभाव से मिलता जुलता है। इसी कारण से शिव को भस्म प्यारी हो गई है।।३१।।

अथ चन्द्रचूडताविचारः

नश्यन्त्यस्य कलाः सर्वाः सा कला नैव नश्यति।
याऽर्पिता शंकरे भक्त्या चन्द्रचूडस्तया हरः।।३२।। (१२५३)

अथ जटाजूटविचारः

विश्रामोऽयं मुनीन्द्राणां पुरातनवटो हरः।
वेदान्तसांख्ययोगाख्यास्तिस्रस्तज्जटयः स्मृताः।।३३।। (१२५४)

एवं भस्मोद्धूलनत्वं विचार्येदानीं शिवे या चन्द्रचूडतोच्यते लोके शास्त्रे च तां विचारयितुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** भस्मोद्धूलनविचारानन्तरं, **चन्द्रचूडताविचारः** शिवे या चन्द्रचूडता निरूपिता तस्या विचारो विवेकः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **नश्यन्ति इति।** हे शिष्य **अस्य** अन्तःकरणोपहिचैतन्यस्य चन्द्रस्य, **सर्वाः** समस्ताः, **कला** अवयवा, **नश्यन्ति** नष्टा भवन्ति, पञ्चज्ञानेन्द्रियपञ्चकर्मेन्द्रियप्राणमनोरूपाः षोडश कला ज्ञेयाः, तद्वत्त्वेन पुरुषस्य चन्द्रसादृश्यात् चन्द्रत्वं चेति भावः। किञ्च सोक्तलक्षणकलासु मध्ये कापि एका **नैव नश्यति** नैव नष्टा भवति। सा का इत्यपेक्षायां तां दर्शयति **येति।** चिदाभासरूपचन्द्रेण **भक्त्या** प्रत्यगभिन्नपरमशिवगुरुविषयकप्रेम्णा, **शंकरे** सकलजगदानन्दकरे प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरौ, **या** कला, कापि **अर्पिता** तदाकारत्वेन संपादिता, **सा** इति योज्यम्, अतः शिवाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेः शिवस्वरूपत्वेन अविनाशात् तया प्रत्यगभिन्नपरमात्माकारवृत्त्यैव हरो हरति सर्वं द्वैतमिति **हरः** सर्वद्वैतहरणशीलः प्रत्यगभिन्नपरमात्मा, **चन्द्रचूडः** चन्द्रः चन्द्रकला चूडायां शिखायामिव एकदेशे यस्यास्ति स, तथाविध उक्तो लोके शास्त्रे चेति ज्ञेयम्।।३२।। (१२५३)

अब शिव की चन्द्रचूडता का विचार किया जाता है।

इस चैतन्यरूपी चन्द्रमा की सारी कलाएँ नष्ट हो जाती हैं। केवल एक वही कला नष्ट नहीं होती, जिसको कि वह भक्तिभाव से शङ्कर को अर्पण कर देता है। भक्त की दी हुई उसी कला को धारण करने से वह हर चन्द्रचूड हो गया है।

अन्तःकरण की उपाधि में फंसे हुए चैतन्यरूपी चन्द्रमा की पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच प्राण तथा मनरूपी सोलह कलाएँ होती हैं जिनके कारण कि पुरुष को चन्द्रमा की उपमा दी गई है। काल पाकर वे सब ही नष्ट हो जाती है। परन्तु उनमें से केवल एक वह कला नष्ट नहीं होती, जिसको कि चैतन्यरूपी चन्द्रमा, भक्ति के आवेश में आकर सकलजगदानन्ददायक परमात्मा को अर्पण कर देता है किंवा तदाकार बना देता है। कभी भी नष्ट न होने वाली उस (परमात्माकार चित्तवृत्तिरूपी) कला को धारण करने के कारण ही परमात्मा को लोक किंवा शास्त्रों में जहाँ तहाँ चन्द्रचूड कहा गया है।।३२।।

अथ गङ्गाधरत्वविचारः

ब्रह्मलोका च या गंगा सुषुम्णा शीतलद्रवा।
मस्तके राजते यस्य तेन गंगाधरो हरः।।३४।। (१२५५)

एवं चन्द्रचूडतां विचार्येदानीं जटाजूटं विचारयिष्यन् गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** चन्द्रचूडताविचारानन्तरं, **जटाजूटविचारः** शिवस्य यो जटाजूटो लोके शास्त्रे च प्रतिपाद्यते तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **विश्राम इति।** हे शिष्य **अयं** स्वयंप्रकाशत्वेन नित्यापरोक्षः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **हरो** हरति सर्वं द्वैतमिति हरो गुरुः, **मुनीन्द्राणां** मुनीनां ज्ञानिनां य इन्द्रा श्रेष्ठाः पञ्चम्यादिभूमिषु स्थितास्तेषां, **विश्रामो** विश्रम्यतेऽस्मिन्निति विश्रामोऽधिकरणे घञ् 'हलश्चे'ति सूत्रेण, आवासस्थानमित्यर्थः, अतः **पुरातनवटः** अनादिकालस्थितो वट इव स ज्ञेयः, किञ्च **वेदान्तसांख्ययोगाख्या** वेदान्तो वेदान्तशास्त्रं सांख्यं च सांख्यनामकं शास्त्रं योगो योगशास्त्रं एता आख्या आह्वा यासां ताः तथोक्ताः, **तिस्रः** त्रिसंख्याः, **तज्जटयः** तस्य प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः जटयो जटा इव तदलङ्कारत्वात् ज्ञेयाः।।३३।। **(१२५४)**

एवं जटाजूटं विचार्येदानीं गङ्गाधरत्वं विचारयन्गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** जटाजूटविचारानन्तरं, **गङ्गाधरत्वविचारो** गङ्गाधरत्वं यत् शिवस्योक्तं तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **ब्रह्मलोका चेति।** हे शिष्य **या** विद्वत्प्रसिद्धा, **ब्रह्मलोका** ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु तस्य लोका प्रकाशिका अहं ब्रह्मास्मीति प्रमारूपा वृत्तिः, सैव **शीतलद्रवा** शीतलस्तापत्रयनिवर्त्तको द्रव आनन्दरूपो रसो यस्याः सा तथोक्ता, अत एव सन्ततगमनवत्त्वाच्छीतलद्रवत्त्वेन च गंगासादृश्याद् गंगेव **सुषुम्णा च** सुषुम्णा नाडी च तादृशविशेषणविशिष्टत्वेन गंगासादृश्याद् **गंगा** इव **यस्य** प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः, **मस्तके** मस्तक इव एकदेश उच्चस्थाने च सर्वादरविषयत्वाद्, **राजते** प्रकाशते, **तेन** हेतुना, **हरो** हरति सर्वं द्वैतमिति हरः सर्वद्वैतबाधावधित्वेन प्रकाशमानः प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरुः, **गङ्गाधरो** गंगाया अहं ब्रह्मास्मीति प्रमारूपवृत्तेः सुषुम्णानाड्याश्च धरो धारकोऽस्तीति लोके शास्त्रे च प्रतिपाद्यते इति भावः।।३४।। (१२५५)

अब शिव के जटाजूट का अभिप्राय प्रकट करते हैं।

अनादिकाल से उगे हुए पुराने वट के समान यह हर, मुनीन्द्र लोगों के विश्राम लेने का स्थान बना हुआ है। उस सदाशिव आत्मदेव की वेदान्त सांख्य तथा योग नामक तीन जटाएँ कहाती हैं। (इन्हीं से वह सुशोभित हो रहा है।)।।३३।।

शिव को 'गङ्गाधर' बताने का गूढ तात्पर्य

ब्रह्मलोक में रहने वाली, आनन्दरूपी शीतल जल से भरी हुई, गङ्गा के समान पवित्र, सुषुम्णा नाडी जिस शिवगुरु के मस्तक में प्रकाशित हो जाती है, उसी के कारण उसको गङ्गाधर कहा जाता है।।३४।।

अथ त्रिनेत्रताविचारः

आप्यायनस्तमोहन्ता विद्यया दोषदाहकृत्।
सोमसूर्याग्निनयनस्त्रिनेत्रस्तेन शङ्करः।।३५।। (१२५६)

एवं गंगाधरत्वं निर्णीयेदानीं त्रिनेत्रतां विचारयिष्यन्नाद्येनाह **अथ इति। अथ** गंगाधरत्वविचारानन्तरं, **त्रिनेत्रताविचारः** शिवस्य या त्रिनेत्रता प्रतिपादिता तस्या विचारः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **आप्यायन इति।** हे शिष्य **आप्यायनः** आप्यायति तर्पयति जगत् स्वानन्ददानेनेति स तथोक्त आप्यायन आनन्दः अतः स सोम इव, किञ्च **तमोहन्ता** तमसोऽज्ञानस्य हन्ता नाशकः अज्ञानतमसो नाशयित्री चित्ताऽत्र ग्राह्या, अतः सा सूर्य इव, किञ्च **विद्यया** दोषदाहकृद् विद्यया ज्ञानरूपवृत्त्या, **दोषदाहकृद्** दोषा रागादयः तेषां दाहो दहनं तस्य कृत्कर्त्ता, **तेन** धर्मेण अग्निसादृश्याद् अग्निरिव सः, अत एव **सोमसूर्याग्निनयन** उक्तविधसोमसूर्याग्निनयनोऽस्ति तेन उक्तविधसोमसूर्यग्निनयनवत्त्वेन, **शङ्करः** समस्तजगत्सुखकारकः, **त्रिनेत्रः** त्रिनेत्रत्वेन लोके शास्त्रे च प्रतिपादितो न तु लोकप्रसिद्धमत्र सोमसूर्याग्नियनवत्त्वं ललाटस्थिताग्निनेत्रेण वा त्रिनेत्रत्वं ग्राह्यमिति भावः।।३५।। (१२५६)

एवं त्रिनेत्रत्वं विचार्येदानीं नीलकण्ठत्वं विचारयितुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** त्रिनेत्रताविचारानन्तरं, **नीलकण्ठताविचारः** शिवस्य या नीलकण्ठता प्रतिपाद्यते तस्या विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **कण्ठ इति।** हे शिष्य **स्फटिकसंकाशे** स्फटिकनामाश्मा यथा नीलपीतादिद्रव्यसामीप्येन तत्प्रतिबिम्बवत्त्वेन नीलपीतादिरूपः प्रतीयमानोपि वस्तुतस्तु शुद्ध एव तेन अनेन धर्मेण तुल्यः शिवः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा जगत्तत्कारणमायासन्निधानेन शबलःप्रतीयमानोपि वस्तुतः चेत्यरहितचिन्मात्ररूपत्वाच्छुद्ध एव अतः स्फटिकतुल्ये तस्मिन्नेवैकदेशे सर्वब्रह्माण्डानां स्थितेः, **कण्ठ** एकदेशे, **गिलितानां** निगीर्णानां, **ब्रह्माण्डनभसां** ब्रह्माण्डेषु जगत्सु यानि लोकदृष्टौ प्रतीयमानानि भ्रान्त्या नीलानि आकाशानि तेषां, **छाया** प्रतिबिम्बोऽस्ति, स

अब शिव की त्रिनेत्रता का तात्पर्य बताया जाता है

आप्यायन (अर्थात् अपने आनन्द का दान करके तर्पण करने वाला) होने से जो सोम के समान है। अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने के कारण जिसको सूर्य की उपमा दी गई है। विद्या नामक ज्ञानरूपवृत्ति से रागादि दोषों को भस्मसात् करने के कारण जो अग्नि के सदृश है। इन्हीं सब समानताओं के कारण उसको सोम सूर्य तथा अग्नि नेत्रवाला कहा जाता है। यही समानता देखकर शङ्कर को, लोक तथा शास्त्र में 'त्रिनेत्र' बताया जाता है।

उसके त्रिनेत्र होने के कारण लौकिक चन्द्रमा सूर्य तथा अग्नि नहीं हैं, अथवा ललाट के अग्नि नामक तीसरे नेत्र के कारण भी उसको त्रिनेत्र नहीं कहा गया है। ऐसी त्रिनेत्रता का ज्ञानमार्ग में उपयोग भी क्या हो!।।३५।।

अथ नीलकण्ठताविचारः

कण्ठे ब्रह्माण्डनभसां गिलितानामनेकधा।
छाया स्फटिकसङ्काशे नीलकण्ठत्वकारणम्।।३६।। (१२५७)
यद् ब्रह्माण्डशरीरस्य श्यामलं पार्वतीपतेः।
कण्ठदेशे स्थितं व्योम नीलकण्ठस्ततो हरः।।३७।। (१२५८)
शङ्करेणाभ्रशुभ्रेण यद्विषाम्बु दयालुना।
कण्ठे धृतमतः कण्ठे नवाम्बुधरसुन्दरः।।३८।। (१२५९)

नीलकण्ठत्वकारणं प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरुशिवे नीलकण्ठत्वं यदुच्यते लोके शास्त्रे च तस्य कारणं बीजं ज्ञेयं नान्यदित्यर्थः।।३६।। (१२५७)

किञ्चोक्तधारणानधिकारिणां द्वितीयं नीलकण्ठत्वकारणमाह **यदिति**। हे शिष्य **ब्रह्माण्डशरीरस्य** ब्रह्माण्डं जगदेव शरीरं देहो यस्य शिवस्य तस्य, अत एव **पार्वतीपतेः** पर्वाणि तमोमोहादिरूपाणि पञ्च तनोति विस्तारयति असौ पर्वतो महामोहः तस्मादुत्पन्ना पार्वती ब्रह्माण्डाहंबुद्धिस्तस्याः पतिः पालकः तस्य विराजः **कण्ठदेशे** कृकस्थाने **यत्** प्रसिद्धं सर्वलोकदृष्ट्या, **श्यामलं** श्यामत्वं, **स्थितं** वर्त्तमानं प्रतीयते शास्त्रतश्च ज्ञायते, तद् **व्योम** आकाशमेव, श्यामरूपेण भासते **ततो** हेतोः **हरः** सर्वद्वैतहरणशीलः प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः, **नीलकण्ठो** विराड्रूपेण श्यामगलोऽस्तीति निश्चेतव्यम्।।३७।। (१२५८)

साकारशिवोपासकान्प्रति तत्कारणं दर्शयति **शङ्करेण इति**। हे शिष्य **दयालुना** सर्वप्राणिषु

अब शिव की नीलकण्ठता का तात्पर्य बताया जाता है

स्फटिक पत्थर में जिस प्रकार नील पीत आदि रंग नहीं चढ़ते, किन्तु वह शुद्ध बना रहता है, उसी की तरह उपाधि के धर्मों से सदा ही असंपृक्त रहने वाले, सदाशिव परमात्मा के कण्ठरूपी एकदेश में, यदा तदा निगीर्ण होने वाले ब्रह्माण्डों के मध्यवर्ती नीलाकाश का जो कि प्रतिबिम्ब पड़ गया है, उसी से इस शिव को नीलकण्ठ कहा जाने लगा है। (इसके अतिरिक्त उसकी नीलकण्ठता का और कोई कारण नहीं है)।।३६।।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (जगत्) ही जिसका शरीर है, समस्त ब्रह्माण्ड में अहंबुद्धि करने वाले उस पार्वतीपति विराट् के कण्ठ में जो श्यामता बताई जाती है, वह और कुछ नहीं है, वह तो केवल रिक्त (द्वैतहीन) आकाश ही है। उसी के कारण सकल द्वैत जाल को हरण करने वाले शिव को नीलकण्ठ कहा जाता है।

अब साकार शिवोपासकों के सिद्धान्तानुसार नीलकण्ठता का कारण बताया जाता है।।३७।।

शुद्धस्फटिकसङ्काशः स्थितोऽयं मन्दराचले।
इन्द्रनीलाचलच्छाया नीलकण्ठत्वकारणम्।।३९।। (१२६०)
रामोऽस्य परमो भक्तः शङ्करो भक्तवत्सलः।
रामरत्नं धृतं कण्ठे नीलकण्ठत्वकारणम्।।४०।। (१२६१)

दयावता, **अभ्रशुभ्रेण** अभ्रं शरत्कालीनो निर्जलो मेघः तद्वत् शुभ्रेण श्वेतरूपेण, **शङ्करेण** शं सुखं करोतीति शङ्करो जगज्जीवनप्रदस्तेन, **यद्** यस्मात्कारणाद्, **विषाम्बु** समुद्रस्य मथनसमये विषरूपं जलं निःसृतं तत्, **कण्ठे** गले, **धृतं** स्थापितं, **अतः** कारणात् शिवः, **कण्ठे** गले, **नवाम्बुधरसुन्दरो** नवो नवीनो योऽम्बुधरो मेघः तद्वत्सुन्दरः कमनीयो दृश्यते इति शेषः।।३८।। (१२५९)

किञ्च **शुद्धेति**। हे शिष्य **अयं** साकारः शिवः, **शुद्धस्फटिकसङ्काशः** शुद्धो निर्मलः स्फटिकनामाश्मा तेन सङ्काशस्तुल्योऽस्ति, किञ्च अयं शिवो **मन्दराचले** मन्दरनाम्नि पर्वते, **स्थित** उषितोऽत एव तस्मिन् शिवकण्ठे, **इन्द्रनीलाचलच्छाया** इन्द्रनीलमणिरूपमन्दरपर्वतस्य छाया प्रतिबिम्बो भवतीति शेषः। तदेव **नीलकण्ठत्वकारणं** शिवस्य यन्नीलकण्ठत्वं तस्य कारणं बीजं निश्चेतव्यम्।।३९।। (१२६०)

इदानीं भक्तेरेव श्रैष्ठ्यं मन्यमानान्प्रत्याह **राम इति**। हे शिष्य **रामो** दाशरथिः, **परमः** श्रेष्ठः, **अस्य** शिवस्य, **भक्तः** सेवको मुख्यसेवक इत्यर्थः, अस्ति किञ्च **शङ्करो** भक्तानां सुखकर इत्यर्थः, **भक्तवत्सलो** भक्तेषु वत्सलः प्रीतिमानस्तीति, तत्ततो हेतो **रामरत्नं** रामो दाशरथिरेव रत्नं नीलमणिः, तत् **कण्ठे** गले, **धृतं** स्थापितं शिवेन तत्, **नीलकण्ठत्वकारणं** शिवस्य यन्नीलकण्ठत्वं तस्मिन् कारणं हेतुः अतः कर्मज्ञानाभ्यां भक्तेरेव श्रैष्ठ्यमिति भावः।।४०।। (१२६१)

यद्यपि शम्भु (स्वयं शरत्काल के निर्जल) मेघ के समान शुभ्रवर्ण के हैं परन्तु उन्होंने सकल प्राणियों पर दया करके (समुद्र-मथन के समय निकले हुए) विषजल को अपने गले में धारण कर लिया है, इसीलिये वे शिव, कण्ठ में नवीन मेघ के सामान सुन्दर नीलवर्ण के हो गये हैं।।३८।।

देखने में शुद्धस्फटिक के समान (शुभ्र वर्णवाला) वह साकार सदाशिव मन्दर नामक पर्वत पर निवास कर रहा है। उसका निवास स्थान वह मन्दराचल पर्वत इन्द्रनील नामक मणियों का बना हुआ है। उस इन्द्रनीलाचल की छाया उसके शुभ्र वर्ण शरीर पर पड़ती है, यों उसका कण्ठ नीला दीखने लगा है, यही उस शिव की नीलकण्ठता का मुख्य कारण है।।३९।।

राम इस शिव का परम भक्त है, शङ्कर अपने भक्तों पर बड़ा प्यार करते हैं (इसी स्नेह के कारण) उसने नीले रंग के रामरूपी (नीले) रत्न को अपने गले में धारण कर लिया है, यही शिव की नीलकण्ठता का कारण है।।४०।।

अब शिव की भुजङ्गभूषणता का विचार किया जाता है

अथ भुजङ्गभूषणताविचारः

योगिनः पवनाहारास्तथा गिरिबिलेशयाः।
निजरूपे धृतास्तेन भुजङ्गाभरणो हरः।।४१।। (१२६२)
काचित् कुण्डलिनी शक्तिः शंकरेण वशीकृता।
कुण्डलिन्या कुण्डलिनो देहाभरणतां गताः।।४२।। (१२६३)

एवं नीलकण्ठत्वकारणं विचार्येदानीं भुजङ्गभूषणतां व्याख्यातुं गद्येनाह **अथ इति। अथ** नीलकण्ठत्वकारणविचारानन्तरं, **भुजङ्गभूषणताविचारो** भुजङ्गाः सर्पा भूषणं अलंकारो यस्य तस्य भावस्तत्ता तस्या विवेको विचारः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **योगिन इति।** हे शिष्य **पवनाहाराः** पवनः प्राणनामा वायुराह्रियते वशीक्रियते यैस्ते तथोक्ताः, **तथा** तद्वद् **गिरिबिलेशया** गिरति पतति तत्त्वज्ञानेनेति गिरिर्देहसमूहः स एव बिलं छिद्रं तस्य वा बिलं अवकाशं तस्मिन् शयाः शेरत इति शया निद्रिता स्वाभिन्ने परमात्मनि जागरिता इत्यर्थः, अतः पवनाहार-बिलेशयत्वाभ्यां योगिभुजङ्गयोः सादृश्याद् योगिनां भुजङ्गपदेनात्र ग्रहणमिति भावः, ते योगिरूपा एव भुजङ्गा **निजरूपे** स्वस्वरूपे प्रत्यगभिन्ने परमात्मनीत्यर्थः, **धृताः** स्वाभिन्नत्वेन स्थापिताः, **तेन** कारणेन, **हरो** हरति सर्वं द्वैतमिति हरः प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः, **भुजङ्गाभरणः** सर्पभूषणः उक्तः। यद्वा भुजाभ्यां सांख्ययोगहस्ताभ्यां गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति स्वस्वरूपमिति व्याख्येयम्।।४१।। (१२६२)

योगरीत्यापि तद्विचारमाह **काचिद् इति।** हे शिष्य **काचित्** सूक्ष्मनाडीरूपा, **कुण्डलिनी** कुण्डलिनीनाम्नी, **शक्तिः** जीवशक्तिः सर्वशरीरेषु वर्त्तते सा, **शंकरेण** शिवेन, **वशीकृता** वशत्वेन सम्पादिता, तयैव **कुण्डलिन्या** वशीकृतकुण्डलिनीशक्त्या तस्या एव सर्वसर्पेष्वपि स्थितत्वादित्यर्थः, **कुण्डलिनः** सर्पाणां कुण्डलाकारत्वप्रसिद्धेः, सर्वा **देहाभरणतां** देहस्य शरीरस्याभरणतां भूषणत्वं, **गताः** प्राप्ता इति योगमतेन निश्चेतव्यम्।।४२।। (१२६३)

प्राण नामक पवन को वश में करने वाले, गिरि अर्थात् तत्त्वज्ञान से गिरने वाले देहरूपी बिल में सोते हुए, (अर्थात् शरीर की तरफ से सदा ही उदासीन रहने वाले तथा परमात्मविषय में सदा सजग रहने वाले) योगिरूपधारी भुजङ्गों (सर्पों) को उसने अपने रूप में स्थापित कर लिया है, इसी कारण से उस हर को भुजङ्गाभरण कहा जाने लगा है।

जैसे सर्प पवनाहार तथा बिलेशय होते हैं इसी प्रकार योगी भी होते हैं। इसी समानता से योगियों को भुजङ्गों (सर्पों) की उपमा दी गई है।।४१।।

सब प्राणियों के शरीर में सुषुप्त अवस्था में रहने वाली कुण्डलिनी नामक जीवनशक्ति को जगाकर शिव ने अपने वश में कर लिया है, उसी कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ही सर्प लोग उसकी देह के भूषण बन गये हैं। क्योंकि वह शक्ति सर्पों के शरीर में भी निवास किये रहती है, (योग की प्रक्रिया से यह विचार किया है)।।४२।।

शुद्धस्फटिकसङ्काशः स्थितोऽयं मन्दराचले।
इन्द्रनीलाचलच्छाया नीलकण्ठत्वकारणम्।।३९।। (१२६०)
रामोऽस्य परमो भक्तः शङ्करो भक्तवत्सलः।
रामरत्नं धृतं कण्ठे नीलकण्ठत्वकारणम्।।४०।। (१२६१)

दयावता, **अभ्रशुभ्रेण** अभ्रं शरत्कालीनो निर्जलो मेघः तद्वत् शुभ्रेण श्वेतरूपेण, **शङ्करेण** शं सुखं करोतीति शङ्करो जगज्जीवनप्रदस्तेन, **यद्** यस्मात्कारणाद्, **विषाम्बु** समुद्रस्य मथनसमये विषरूपं जलं निःसृतं तत्, **कण्ठे** गले, **धृतं** स्थापितं, **अतः** कारणात् शिवः, **कण्ठे** गले, **नवाम्बुधरसुन्दरो** नवो नवीनो योऽम्बुधरो मेघः तद्वत्सुन्दरः कमनीयो दृश्यते इति शेषः।।३८।। (१२५९)

किञ्च **शुद्धेति**। हे शिष्य **अयं** साकारः शिवः, **शुद्धस्फटिकसङ्काशः** शुद्धो निर्मलः स्फटिकनामाश्मा तेन सङ्काशस्तुल्योऽस्ति, किञ्च अयं शिवो **मन्दराचले** मन्दरनाम्नि पर्वते, **स्थित** उषितोऽत एव तस्मिन् शिवकण्ठे, **इन्द्रनीलाचलच्छाया** इन्द्रनीलमणिरूपमन्दरपर्वतस्य छाया प्रतिबिम्बो भवतीति शेषः। तदेव **नीलकण्ठत्वकारणं** शिवस्य यन्नीलकण्ठत्वं तस्य कारणं बीजं निश्चेतव्यम्।।३९।। (१२६०)

इदानीं भक्तेरेव श्रैष्ठ्यं मन्यमानान्प्रत्याह **राम इति**। हे शिष्य **रामो** दाशरथिः, **परमः** श्रेष्ठः, **अस्य** शिवस्य, **भक्तः** सेवको मुख्यसेवक इत्यर्थः, अस्ति किञ्च **शङ्करो** भक्तानां सुखकर इत्यर्थः, **भक्तवत्सलो** भक्तेषु वत्सलः प्रीतिमानस्तीति, तत्ततो हेतो **रामरत्नं** रामो दाशरथिरेव रत्नं नीलमणिः, तत् **कण्ठे** गले, **धृतं** स्थापितं शिवेन तत्, **नीलकण्ठत्वकारणं** शिवस्य यन्नीलकण्ठत्वं तस्मिन् कारणं हेतुः अतः कर्मज्ञानाभ्यां भक्तेरेव श्रैष्ठ्यमिति भावः।।४०।। (१२६१)

यद्यपि शम्भु (स्वयं शरत्काल के निर्जल) मेघ के समान शुभ्रवर्ण के हैं परन्तु उन्होंने सकल प्राणियों पर दया करके (समुद्र-मथन के समय निकले हुए) विषजल को अपने गले में धारण कर लिया है, इसीलिये वे शिव, कण्ठ में नवीन मेघ के सामान सुन्दर नीलवर्ण के हो गये हैं।।३८।।

देखने में शुद्धस्फटिक के समान (शुभ्र वर्णवाला) वह साकार सदाशिव मन्दर नामक पर्वत पर निवास कर रहा है। उसका निवास स्थान वह मन्दराचल पर्वत इन्द्रनील नामक मणियों का बना हुआ है। उस इन्द्रनीलाचल की छाया उसके शुभ्र वर्ण शरीर पर पड़ती है, यों उसका कण्ठ नीला दीखने लगा है, यही उस शिव की नीलकण्ठता का मुख्य कारण है।।३९।।

राम इस शिव का परम भक्त है, शङ्कर अपने भक्तों पर बड़ा प्यार करते हैं (इसी स्नेह के कारण) उसने नीले रंग के रामरूपी (नीले) रत्न को अपने गले में धारण कर लिया है, यही शिव की नीलकण्ठता का कारण है।।४०।।

अब शिव की भुजङ्गभूषणता का विचार किया जाता है

अथ भुजङ्गभूषणताविचारः

योगिनः पवनाहारास्तथा गिरिबिलेशयाः।
निजरूपे धृतास्तेन भुजङ्गाभरणो हरः।।४१।। (१२६२)
काचित् कुण्डलिनी शक्तिः शंकरेण वशीकृता।
कुण्डलिन्या कुण्डलिनो देहाभरणतां गताः।।४२।। (१२६३)

एवं नीलकण्ठत्वकारणं विचार्येदानीं भुजङ्गभूषणतां व्याख्यातुं गद्येनाह **अथ इति। अथ** नीलकण्ठत्वकारणविचारानन्तरं, **भुजङ्गभूषणताविचारो** भुजङ्गाः सर्पा भूषणं अलंकारो यस्य तस्य भावस्तत्ता तस्या विवेको विचारः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **योगिन इति।** हे शिष्य **पवनाहाराः** पवनः प्राणनामा वायुराह्रियते वशीक्रियते यैस्ते तथोक्ताः, **तथा** तद्वद् **गिरिबिलेशया** गिरति पतति तत्त्वज्ञानेनेति गिरिर्देहसमूहः स एव बिलं छिद्रं तस्य वा बिलं अवकाशं तस्मिन् शयाः शेरत इति शया निद्रिता स्वाभिन्ने परमात्मनि जागरिता इत्यर्थः, अतः पवनाहार-बिलेशयत्वाभ्यां योगिभुजङ्गयोः सादृश्याद् योगिनां भुजङ्गपदेनात्र ग्रहणमिति भावः, ते योगिरूपा एव भुजङ्गा **निजरूपे** स्वस्वरूपे प्रत्यगभिन्ने परमात्मनीत्यर्थः, **धृताः** स्वाभिन्नत्वेन स्थापिताः, **तेन** कारणेन, **हरो** हरति सर्वं द्वैतमिति हरः प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः, **भुजङ्गाभरणः** सर्पभूषणः उक्तः। यद्वा भुजाभ्यां सांख्ययोगहस्ताभ्यां गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति स्वस्वरूपमिति व्याख्येयम्।।४१।। (१२६२)

योगरीत्यापि तद्विचारमाह **काचिद् इति।** हे शिष्य **काचित्** सूक्ष्मनाडीरूपा, **कुण्डलिनी** कुण्डलिनीनाम्नी, **शक्तिः** जीवशक्तिः सर्वशरीरेषु वर्त्तते सा, **शंकरेण** शिवेन, **वशीकृता** वशत्वेन सम्पादिता, तयैव **कुण्डलिन्या** वशीकृतकुण्डलिनीशक्त्या तस्या एव सर्वसर्पेष्वपि स्थितत्वादित्यर्थः, **कुण्डलिनः** सर्पाणां कुण्डलाकारत्वप्रसिद्धेः, सर्वा **देहाभरणतां** देहस्य शरीरस्याभरणतां भूषणत्वं, **गताः** प्राप्ता इति योगमतेन निश्चेतव्यम्।।४२।। (१२६३)

प्राण नामक पवन को वश में करने वाले, गिरि अर्थात् तत्त्वज्ञान से गिरने वाले देहरूपी बिल में सोते हुए, (अर्थात् शरीर की तरफ से सदा ही उदासीन रहने वाले तथा परमात्मविषय में सदा सजग रहने वाले) योगिरूपधारी भुजङ्गों (सर्पों) को उसने अपने रूप में स्थापित कर लिया है, इसी कारण से उस हर को भुजङ्गाभरण कहा जाने लगा है।

जैसे सर्प पवनाहार तथा बिलेशय होते हैं इसी प्रकार योगी भी होते हैं। इसी समानता से योगियों को भुजङ्गों (सर्पों) की उपमा दी गई है।।४१।।

सब प्राणियों के शरीर में सुषुप्त अवस्था में रहने वाली कुण्डलिनी नामक जीवनशक्ति को जगाकर शिव ने अपने वश में कर लिया है, उसी कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ही सर्प लोग उसकी देह के भूषण बन गये हैं। क्योंकि वह शक्ति सर्पो के शरीर में भी निवास किये रहती है, (योग की प्रक्रिया से यह विचार किया है)।।४२।।

अनन्तवासुकी शम्भोः कर्णकुण्डलतां गतौ।
तत्प्रधानतयाऽन्येपि ख्याताः कुण्डलिसंज्ञया।।४३।। (१२६४)

अथ त्रिशूलविचारः

शान्तिवैराग्यबोधाख्यैस्त्रिभिरग्रैस्तरस्विभिः।
त्रिगुणत्रिपुरं हन्ति त्रिशूलेन त्रिलोचनः।।४४।। (१२६५)

साकारोपासकमतेनापि तद्विचारयन्नाह **अनन्त इति।** हे शिष्य **अनन्तवासुकी** अनन्तनामा सर्पो वासुकिनामा च सर्प, एतौ **शम्भोः** शिवस्य, **कर्णकुण्डलतां** कर्णयोः श्रवणयोः कुण्डलतां कुण्डलनामकभूषणत्वं, **गतौ** प्राप्तौ। कुत एतन्निश्चेतव्यमित्यत आह **तदिति। तत्प्रधानतया** तयोरनन्तवासुकिनामकसर्पयोः प्रधानता मुख्यता तया च्छत्रिन्यायेनेत्यर्थः, **अन्येपि** सर्पाः, **कुण्डलिसंज्ञया** कुण्डलिरिति संज्ञा नाम तया, **ख्याताः** प्रसिद्धाः सन्तीत्यतो हेतोरित्यर्थः।।४३।। (१२६४)

एवं भुजङ्गभूषणत्वं विचार्येदानीं त्रिशूलं विचारयन्गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** भुजङ्गभूषणत्वव्याख्यानानन्तरं, **त्रिशूलविचारः** शिवस्य हस्ते यः त्रिशूलोऽस्तीत्युच्यते तस्यायुधविशेषस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **शान्तीति।** हे शिष्य **शान्तिवैराग्यबोधाख्यैः** शान्तिरुपरतिरष्टाङ्गयोगसाधनजन्या जगदभानरूपा व्यवहाराभावकार्येतिलक्षणक्षिता, तदुक्तं

'यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः।
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरिति' (पंचदशी ६.२८०)।

वैराग्यं च दोषदृष्टिजन्यं सर्वविषयत्यागेच्छारूपं भोग्यादैन्याभावकार्यं चेति लक्षितं, तदुक्तं

'दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोग्येष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोप्यमी'ति।। (६.२७८ पं. द.)।

बोधश्च ज्ञानं श्रवणादिजन्यं सत्यमिथ्याविवेचनरूपं चिदात्माहंकारैकत्वोपलक्षितग्रन्थ्युत्पत्त्यभावकार्यमित्युपलक्षितं, तदुक्तं

'श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम्।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः' इति (६.२७९ पं. द.)।

अनन्त तथा वासुकि नाम के सर्प शिव के कर्णकुण्डल बन गए थे। वे दोनों सब सर्पों में प्रधान सर्प हैं। इसलिये (छत्रिन्याय से) शेष सर्प भी कुण्डली कहाने लगे हैं। (यह बात साकार उपासकों के मत से कही है)।।४३।।

शिव के त्रिशूल का गूढ तात्पर्य बताया जाता है

अज्ञान को विदीर्ण करने में समर्थ शान्ति (अष्टाङ्ग योग से होने वाली उपरति, जिसके होने पर जगत् का भान बन्द होने से व्यवहार भी बन्द हो जाता है) वैराग्य (विषयों में दोष देख कर विषयों को त्यागने की उत्कृष्ट इच्छा तथा भोग्य पदार्थों में दीनता न रहना) तथा बोध (श्रवण मनन तथा निदिध्यासन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान,

अथ डमरुविचारः

टण्टङ्कारच्छलेनासौ शैवानां मुक्तिहेतवे।
नेति नेति मुहुः प्राह डमरुः शाम्भवो हि सः।।४५।। (१२६६)

एता आह्वा येषां तैः, **तरस्विभिः** अज्ञानतत्कार्यभेदेन वेगवद्भिः, **त्रिभिः** त्रिसंख्याकैः, **अग्रैः** फलैः, उपलक्षितेन **त्रिशूलेन** उक्तलक्षणानि त्रीणि शूलानि फलानीव यस्य स तथाविधस्तेन प्रत्यगभिन्नब्रह्मबोधेन, **त्रिलोचनः** पूर्वोक्तलक्षणत्रिनेत्रः प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरुः, **त्रिगुणत्रिपुरं** त्रयो रजःसत्त्वतमोऽभिधा ये गुणाः प्रकृतेर्विकारास्तान् तत्कार्यं च त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरं स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यं देहत्रयमित्यर्थः, 'नवद्वारे पुरे देही'त्युक्तेः, **हन्ति** नाशयति।।४४।। (१२६५)

एवं त्रिशूलं विचार्येदानीं डमरुं विचारयन्गद्येनाह **अथ इति। अथ** त्रिशूलविचारनिरूपणानन्तरं, **डमरुविचारः** शिवस्य हस्ते यो डमरुः प्रसिद्धस्तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **टण्टम् इति।** हे शिष्य **टण्टङ्कार** इति डमरुध्वनेरनुकरणं तादृशध्वनिरेव, **च्छलं** मिषं, तेन कृत्वा **असौ** शास्त्रेषु प्रतिपादितः परोक्षतया श्रूयते, **शाम्भवः** शम्भोर्जगत्सुखप्रदस्य प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोरयं शाम्भवो वेदो वेदशिवयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकसम्बन्धेन सम्बन्धवत्त्वं, **हि** विद्वत्सु प्रत्यक्षसिद्धः, सो विद्वत्सु परोक्षतया श्रुतो **डमरुः** डमरुत्वेन कल्पितः, **शैवानां** शिवस्यैते शैवाः प्रत्यगभिन्नब्रह्मांशभूता जीवाः तेषां, **मुक्तिहेतवे** मुक्तिर्मोक्षः स एव हेतुः प्रयोजनं तस्मै तत्प्राप्त्यर्थमित्यर्थः, **मुहुः** पुनः पुनः, **नेति नेति** इति निरूपितं यद् द्वैतं तन्न नास्तीत्येवं, **प्राह** उपदिशति, अत्र वेदस्य डमरुत्वम्, 'अथात आदेशो नेति नेती'त्यादीनां सर्वद्वैतनिषेधकवाक्यानां ध्वनित्वं च विवक्षितमिति भावः।।४५।। (१२६६)

जिसके होने पर स्वभाव से ही सत्य-मिथ्या का विवेक हो जाय, जिसके प्रभाव से चिदात्मा तथा अहंकार की चिज्जडग्रन्थि खुल जाय और फिर कभी ऐसी उलझन उत्पन्न न हो) इन तीन अत्यन्त तीव्र फलक वाले त्रिशूल की मार से वह त्रिनेत्र सदाशिव सत्त्व, रज, तम नामक तीन गुणों में बने हुए (स्थूल सूक्ष्म तथा कारण नामक तीनों पुरों (देहों) को एकपदे नष्ट कर देता है।।४४।।

शिव के डमरु का तात्पर्य बताते हैंशम्भु अथवा वेद में बताया गया डमरु शिव के भक्तों को मुक्ति दिलाने के लिये 'टन् टङ्कार' शब्द के बहाने से बार-बार नेति-नेति यह उपदेश कर रहा है।

वह कहता है कि हे शिवभक्तो! जिस द्वैत के माया मोह में तुम फँस रहे हो, जिसको तुम परम पुरुषार्थ समझे बैठे हो, जिसको तुम 'यत्परो नास्ति' सोच रहे हो, वह द्वैत तो कुछ नहीं है। उसकी तो कोई असली बुनियाद ही नहीं है। तुम अपने अमूल्य आयुष्य को व्यर्थ मत खोवो, तुम तो सर्वाधिष्ठान सकल जगत् के साक्षी, सम्पूर्ण जगत् के प्रकाशक सदाशिव आत्मदेव का भजन करो, उसी से तुम्हें मुक्ति का परमपद हाथ लगेगा।।४५।।

अथ मुण्डमालाविचारः

अनन्तमृतब्रह्माण्डमुण्डमालाविधारणे।
अनाद्यनन्तरूपत्वात् समर्थः शिव एव हि।।४६।। (१२६७)

अथ वृषवाहनविचारः

ब्रह्माद्या यत्र नारूढास्तमारोहति शङ्करः।
समाधिं धर्ममेघाख्यं तेनायं वृषवाहनः।।४७।। (१२६८)

एवं डमरुं विचार्येदानीं मुण्डमालां विचारयन् गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** डमरुविचारनिरूपणानन्तरं, **मुण्डमालाविचारो** मुण्डमालायाः शिवे या प्रोक्ता मुण्डमाला तस्या विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव प्रतिज्ञातं पद्येनाह **अनन्त इति।** हे शिष्य **अनन्तमृतब्रह्माण्डमुण्डमालाविधारणे** अनन्तानि अपरिमितानि मृतानि नष्टानि यानि ब्रह्माण्डानि तेषु च अपरिमितानि यानि मुण्डानि कपालानि तेषां माला स्रक् तस्या विधारणे परिधाने, **अनाद्यनन्तरूपत्वात्** नाऽऽदिर्यस्य तदनादि न विद्यतेऽन्तो नाशश्च यस्य तदनन्तमनादि यदनन्तमेतादृशं रूपं स्वरूपं यस्य स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्, **शिव एव** प्रत्यगभिन्नपरमात्मगुरुरेव, **समर्थः** प्रभुरस्ति, **हि** एतद्विद्वत्सु प्रसिद्धमित्यर्थः।।४६।। (१२६७)

एवं मुण्डमालाविधारणं निर्णीयेदानीं वृषवाहनत्वविचारं प्रतिजानीते गद्येन **अथ इति। अथ** मुण्डमालाविधारणनिर्णयनिरूपणानन्तरं, **वृषवाहनविचारः** शिवस्य यद् वृषवाहनं निरूपितं शास्त्रेषु तस्य विचारः क्रियते इति शेषः। तमेव श्लोकेनाह **ब्रह्माद्या इति।** हे शिष्य **ब्रह्माद्या** ब्रह्मा विरञ्चिराद्यो मुख्यो येषां ते तथोक्ता, **यत्र** समाधौ, **नारूढा** न स्थितिं प्राप्ताः, **शङ्करः** समस्तजगदानन्दकरः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **तं** शास्त्रेषु प्रसिद्धं, **धर्ममेघाख्यं** धर्मवृष्टिकर्त्तारं, **समाधिं** 'क्षणमेकं क्रतुशतस्यापी'ति श्रुतेः, **आरोहति** आरूढो दृश्यते तत्रैव तदुपलब्धेः, **तेन** हेतुना, **अयं** प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः, **वृषवाहनो** वृषः सर्वश्रेष्ठः समाधिः धर्ममेघाख्यो वाहनं गमनसाधनं यस्य स तथाविधोऽस्ति न तु अत्र लौकिकं वृषवाहनत्वं ग्राह्यम्, उपासनायां 'मनो ब्रह्मेत्युपासीते'ति श्रुतेः मनसि ब्रह्मत्वबुद्धिरिव नन्दिनि वृषे धर्ममेघसमाधिबुद्धिः शिवे च ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मगुरुबुद्धिश्च कार्येति भावः।।४७।। (१२६८)

शिव के पहनने की मुण्डमाला का तात्पर्य बताते हैंअनादिकाल से लेकर अब तक नष्ट हुए अनन्त ब्रह्माण्डों के मुण्डों (कपालों) की माला बनाकर पहनने में समर्थ तो वह हमारा आत्मदर्शी शिव गुरु ही है क्योंकि वह अनादि तथा अनन्तरूप को प्राप्त हो चुका है।।४६।।

शिव के वृषवाहन का गूढ तात्पर्य कहते हैं

धर्म की मूसलाधार वृष्टि करने वाली जिस धर्ममेघ नामक समाधि पर ब्रह्मा आदि भी आरूढ नहीं हो सके, जगदानन्ददायक परमात्मा उसी धर्ममेघ नामक समाधि पर आरूढ हुए दीख पड़ते हैं। इसी कारण से उनको वृषवाहन कहा जाता है।।४७।।

अथ कैलासविचारः

कैवल्ये लसते रुद्रस्तद्भक्ता अपि सर्वदा।
तत्कैवल्यविलासेन कैलासं शम्भुमन्दिरम्।।४८।। (१२६९)

अथ मन्दरविचारः

मथितो मुक्तिरत्नार्थं येनायं भवसागरः।
स बोधो मन्दरो नाम मन्दिरं शङ्करस्य तत्।।४९।। (१२७०)

एवं वृषवाहनत्वं विचार्येदानीं कैलासविचारं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** वृषवाहनविचारनिरूपणानन्तरं, **कैलासविचारः** कैलासनाम्नः पदार्थस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **कैवल्य इति।** हे शिष्य **रुद्रो** रोदयति मायया दुःखी करोति जीवमिति रुद्रः परमात्मा, **कैवल्ये** अखण्डैकरस आत्मनि ब्रह्माभिन्ने, **लसते** स्वयंप्रकाशमानो वर्त्तते, **तद्भक्ता अपि** तस्य प्रत्यगात्मनोऽभिन्नपरमात्मशिवगुरोः भक्ताः सेवकास्तच्चिन्तकाश्च, **सर्वदा** सर्वकालं तस्मिन्नेव कैवल्ये लसन्ति स्वयंप्रकाशमाना वर्त्तन्ते, **तत्कैवल्यविलासेन** तादृशकैवल्यविलसनेन **कैलासं** अखण्डैकरसस्वयंप्रकाशनमेव, **शम्भुमन्दिरं** शंभवति अस्मादिति शम्भुः समस्तजगत्सुखकारणं प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरुस्तस्य मन्दिरमिव वासस्थानं ज्ञेयम्।।४८।। (१२६९)

एवं कैलासं निर्णीयेदानीं मन्दरं विचारयन्गद्येनाह **अथ इति। अथ** कैलासविचारनिरूपणानन्तरं, **मन्दरविचारो** मन्दरस्य मन्दरनाम्नः पर्वतस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **मथित इति।** हे शिष्य **येन** बोधेन, **अयं** सर्वलोकप्रत्यक्षो, **भवसागरो** भवति अस्मात्संसार इति भवः अविद्यातत्कार्यरूपः प्रपञ्चो गिरति भक्षतीति गरो मृत्युः तेन सह वर्त्तते इति स एव सागरः स्वार्थेण्, यद्वा गरो विषं विषयरूपं तत् स्पर्शेन तद्भोगेन च मरणसम्भवात् तेन सहितः

अब कैलास का तात्पर्य बताया जाता है

रुद्र नामक परमात्मा सदा ही कैवल्य (अर्थात् अखण्डैकरस आत्मा) में विलास करते रहते हैं। उसके सेवक भक्त लोग भी सदा उसी कैवल्य को पाकर स्वयंप्रकाश हो जाते हैं। इस प्रकार सदा ही कैवल्य का विलास बना रहने से, सकल जगत् को सुख देने वाले शम्भु का वासस्थान, सदा ही कैलास के समान स्वयं प्रकाशमान बना रहता है। (अनन्त कोटि भक्तों की भीड़ हो जाने पर भी वहाँ का कैवल्य नष्ट नहीं हो पाता)।।४८।।

अब मन्दर नामक पर्वत की व्याख्या करते हैं

जिस बोध ने मोक्षरूपी रत्न को पाने के लिये इस समस्त संसाररूपी सागर को मथ डाला, वह बोध (आत्मज्ञान) ही सच्चा मन्दर कहाता है। उस पवित्र बोध को ही जगदानन्ददायक शङ्कर का निवासस्थान समझना चाहिये (ऐसे बोध में आकर ही सदाशिव वास करते हैं।)।।४९।।

अथ श्मशानविचारः

नित्यं क्रीडति यत्रायं स्वयं संहारभैरवः।
तत्र श्मशाने संसारे शिवः सर्वत्र दृश्यते।।५०।। (१२७१)

अथ गणविचारः

आनन्दसागरः शम्भुस्तच्छक्तिर्द्रव उच्यते।
शीकरा इव सामुद्रास्तदानन्दकणा गणाः।।५१।। (१२७२)

सगरः स एव सागरः, स **मुक्तिरत्नार्थं** मुक्तिर्मोक्षः स एव रत्नमिव तस्मै तं प्राप्तुं, **मथित** आलोडितः, **स** उक्तविधो, **बोधः** प्रत्यगात्मपरमात्मैक्यविषयं ज्ञानं, **मन्दरो** मकारवाच्यं कारणशरीरमज्ञानं समष्टिव्यष्टिरूपं तदुपहितौ प्राज्ञेश्वरौ च दरति विनाशयतीति व्युत्पत्त्या मन्दरो नाम प्रसिद्धोऽस्ति। **तत्** स बोध एव, **शंकरस्य** शं सुखं करोति स शङ्करो जगदानन्दकरः प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः तस्य, **मन्दिरं** वासस्थानं ज्ञेयं तत्रैव तत्प्राप्तेः प्रसिद्धत्वादित्यर्थः। उपासनापक्षे 'मनो ब्रह्मे'ति श्रुत्या मनसि ब्रह्मत्वचिन्तनमिव लोकप्रसिद्धमन्दरपर्वते बोधरूपत्वचिन्तनं तत्रस्थे शिवे च प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरुरूपत्वचिन्तनं च कार्यमिति भावः।।४६।। (१२७०)

एवं मन्दरं निर्णीयेदानीं लोके शास्त्रे च शिवस्य श्मशानवासोऽभिहितस्तन्निर्णयं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** मन्दरविचारनिरूपणानन्तरं, **श्मशानस्य** प्रेतावासस्य **विचारो** निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **नित्यम् इति**। हे शिष्य **स्वयं** स्वतः सिद्धः, **अयं** प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः विद्वत्प्रत्यक्षः, **संहारभैरवः** सन् संह्रियते विनाश्यते विश्वमनेनेति संहारो मृत्युः सर्वजगल्लयाधिष्ठानमित्यर्थः, अतः सर्वभयहेतुत्वादेव भैरवो भीतिप्रदः सन् यत्र **संसारे** जगति, **नित्यं** सर्वदा, **क्रीडति** रमते, तत्रोक्तविधे संसाररूपे सर्वदा मंगलरूपत्वात् **श्मशाने सर्वत्र** सर्वपदार्थेषु सर्वकाले च, **शिवः** प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरुः, **दृश्यते** अवलोक्यते ज्ञानिभिरिति शेषः, उपासनापक्षे श्मशाने संसारत्वं तत्र शिवप्रत्यगभिन्न गुरुरूपत्वं च ध्येयमिति भावः।।५०।।(१२७१)

एवं श्मशानं निर्णीयेदानीं गणान्विचारयितुं गद्येनाह **अथ इति। अथ** श्मशानविचारनिरूपणानन्तरं, **गणविचारो** गणानां विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **आनन्देति**। हे शिष्य **शम्भुः** शं सुखं भवति अस्मादिति शम्भुः प्रत्यगानन्दाभिन्नब्रह्मानन्दशिवगुरुः, **आनन्दसागर** आनन्दानां चतुर्विधानां विद्यानन्दानां विषयानन्दानां च जलस्थानीयानां सागरः समुद्र इव ज्ञेयः, तस्य आनन्दसागरस्य **शक्तिः** जगज्जननसामर्थ्यं, **द्रव** आर्द्रता, **उच्यते** कथ्यते मुनिभिरिति शेषः।

अब श्मशान का तात्पर्य बताया जाता है

संहार को करने के कारण, डरावने रूप को धारण किये हुए, वे आत्मदेव सदा ही संसाररूपी श्मशान में खेल किया करते हैं (उनकी क्रीडाभूमि होने के कारण यह संसाररूपी श्मशान [मुरदों के सोने की जगह] भी मङ्गलरूप हो गया है)। इस संसाररूपी श्मशान में वे शिव, ज्ञानी लोगों को सदा और सब जगह दीखते हैं।।५०।।

जगद्विलक्षणः स्वामी स्वरूपाकृतिलक्षणैः।
जगद्विलक्षणा एव गणास्तस्य किमद्भुतम्।।५२।। (१२७३)

तदानन्दकणाः तस्यानन्दरूपस्य प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः ये कणा अंशा विषयानन्दास्ततः समीपे वर्त्तमाना विद्यानन्दाश्च, **सामुद्राः** समुद्रसम्बन्धिनः, **शीकरा इव** अम्बुकणा इव, सन्ति तेषां च समूहरूपत्वेन उक्तविधशिवसान्निध्येन च **गणाः** सेवका इव ज्ञेयाः। उपासनापक्षे च शिवे प्रत्यगभिन्नपरमात्मगुरुरूपत्वं पार्वत्यां च तच्छक्तिरूपत्वं तद्गणेषु च विद्यानन्दविषयानन्दरूपत्वं च ध्येयमिति भावः।।५१।। (१२७२)

ननु शिवगणेषु जगद्विलक्षणत्वं स्वभावाकृतिभिरुक्तं पुराणेषु श्रुतं तदत्र कथं सम्भाव्यं तत्राह **जगद्विलक्षण इति।** हे शिष्य उक्तलक्षणानां विद्यानन्दादिरूपगणानां **स्वामी** सच्चिदानन्दादिसमर्पणेन पालकः प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः, **जगद्विलक्षणो** जगतोऽसज्जडदुःखरूपात् प्रपञ्चाद्विलक्षणो विपरीतलक्षणवान्, **स्वरूपाकृतिलक्षणैः** स्वेनैव रूप्यते प्रकाश्यते इति स्वरूपं स्वप्रकाशं, जगत्तु परप्रकाशम्, आकृतिः निराकाररूपा, जगत्तु साकाररूपम्, लक्षणं च सच्चिद्रूपं, जगतस्तु असज्जडदुःखरूपं लक्षणं, तैः प्रत्यगभिन्नब्रह्मणो जगतश्च वैलक्षण्यमस्ति यदि तर्हि **तस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मानन्दस्य, **गणा** उक्तविधा विद्यानन्दादिरूपाः सेवका, **जगद्विलक्षणा एव** जगन्ति गच्छन्तीति जगन्ति विषयानन्दास्तेभ्यो विलक्षणा विपरीतलक्षणा एव निश्चयेन सन्ति, अत्रार्थे **किमद्भुतं** किमाश्चर्यं न किमपीत्यर्थः।।५२।। (१२७३)

एवं साधारणच्छिवगणान् निर्णीयेदानीं योगिनीगणान् विचारयितुं गद्येनाह **अथ इति। अथ** गणनिर्णयनिरूपणानन्तरं, **योगिनीगणविचारो** योगिनीनां योगिनी-नामदेवतानां यो गणः समूहः शिवसमीपेऽस्तीति शैवपुराणेषु श्रूयते तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **यैव यैव इति। योगिनां** योगेन प्राप्तजीवब्रह्मैक्यभावानां, **योगाभ्यासेन** योगस्य निरोधलक्षणस्य

अब गणों का विचार करते हैंवह शम्भु (स्वयं विद्यानन्द तथा विषयानन्द आदि समग्र) आनन्दों के समुद्र हैं। उसी आनन्दसागर की जगज्जननशक्ति को ही मुनि लोग द्रव (आनन्दवारि) कहते हैं। आनन्दरूप उसी शम्भु के (विषयानन्द तथा विद्यानन्द आदि) अंश, समुद्र के जलशीकरों के समान तुच्छ भाग होते हैं। ये सब आनन्दकण ही उस शम्भु के सच्चे गण (सेवक) हैं।।५१।।

विद्यानन्द आदि गणों का स्वामी वह शम्भु इस (असत् जड तथा दुःखस्वरूप) जगत् से सर्वथा ही विलक्षण है (उसका स्वरूप स्वतःप्रकाश है, यह जगत् तो परतः प्रकाश्य है, वह निराकार है, जगत् तो प्रत्यक्ष ही साकार दीख पड़ता है। वह सच्चिदानन्द है, यह जगत् तो असत् जड तथा दुःखरूप है) उस शम्भु के (विद्यानन्द आदि) गण भी विषयानन्दादिरूपी जगत् से विलक्षण प्रकार के ही हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।।५२।।

अथ योगिनीगणविचारः

यैव यैव मनोवृत्तिर्योगाभ्यासेन योगिनाम्।
सा समीपं गता शम्भोः सैवायं योगिनीगणः।।५३।। (१२७४)
सखायः शङ्करस्यैते योगिनीभैरवादयः।
जीवन्मुक्ता जडैरुक्ता भूतप्रेतपिशाचकाः।।५४।। (१२७५)

अथ कालभैरवविचारः

विवर्त्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः।
कालाद्विभेति यद्विश्वं स गणः कालभैरवः।।५५।। (१२७६)

योऽभ्यासः पुनः पुनरावर्तनं तेन, **यैव यैव** या या च प्रसिद्धा, रुद्धा **मनोवृत्तिः** मनसोऽन्तकरणस्य वृत्तिः साभासांशरूपाऽस्ति, सा सा इति आवृत्तिः कर्त्तव्या **सा** सा वृत्तिः, **शम्भोः** जगदानन्दकरस्य प्रत्यगानन्दपरमात्मनः, **समीपं** निकटदेशं, **गता** प्राप्ताऽस्ति, **सैव** उक्तलक्षणवृत्तिसमूहरूप एव, **अयं** विद्वत्प्रत्यक्षो, **योगिनीगणो** योगिन्यो निरोधाख्ययोगवत्यो वृत्तयस्तासां गणः समूहो ज्ञेयः। उपासनापक्षे योगिनीगणे निरुद्धचित्तवृत्तित्वं शिवे च तद्ध्येयप्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरुत्वं च चिन्त्यमिति भावः।।५३।। (१२७४)

ननु लोके शास्त्रे च शिवगणानां पिशाचत्वं श्रूयते इत्याशङ्क्य तेषु पिशाचत्वबुद्धिमूढानामेवेत्याह **सखाय इति**। हे शिष्य **एत** उक्ता वक्ष्यमाणाश्च गणादयः, **शङ्करस्य** जगदानन्दकरस्य प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः, **योगिनीभैरवादयो** योगेन निरुद्धवृत्तयो योगिन्यो, भैरवश्च जगद्भयजनको मृत्युश्चादी मुख्यौ येषां ते तथोक्ताः ते, **सखायः** सुखरूपत्वेनात्मसुखसाधनत्वेनेष्टा, **जीवन्मुक्ता** जीवन्त एव मुक्ता ब्रह्मभावं प्राप्ता अत एव विधिनिषेधातीताः ते, **जडैः** मूढैः, **भूतप्रेतपिशाचका** भूता भूतनामानः प्रेताः प्रेतनामानः पिशाचकाः पिशाचनामान इति जातिभेदात् नामभेदेन, **उक्ताः** कथिता इति ज्ञेयम्।।५४।। (१२७५)

एवं योगिनीगणं निर्णीयेदानीं कालभैरवविचारं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति**। **अथ** योगिनीगणविचारनिरूपणानन्तरं, **कालभैरवविचारः** शिवसमीपे यः कालभैरवो गणोऽस्तीति लोके शास्त्रे च प्रसिद्धस्तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **विवर्तितेति**। हे शिष्य **विवर्तितजगज्जालो** विवर्तितं विपरीतरूपत्वेन कल्पितं जगद्रूपं जालमिव जीवबन्धनकारणं येन स

शैव पुराणों में वर्णित योगिनियों का तात्पर्य बताते हैंयोगी लोग जब योगाभ्यास करते हैं, तब उनकी बाह्य विषयों से रुकी हुई जो जो मनोवृत्ति शम्भु नामक परमात्मा के निकट तक जा पहुँचती है, ज्ञानियों की दृष्टि में तो वह ही योगिनीगण कहाते हैं।।५३।।

ये योगिनी तथा भैरव आदि उसी जगदानन्ददायक शंकर के बड़े मित्र जीवन्मुक्त लोग हैं, मूर्ख लोग तो शिव के इन गणों को भूत प्रेत तथा पिशाच कहने लगे हैं।।५४।।

अथ दण्डपाणिविचारः

मनसो दण्डनेनैव दण्डपाणिर्गणो भवेत्।
तादृशा एव देवस्य गणत्वमुपयान्ति हि।।५६।। (१२७७)

तथाविधः, **कालः** कलयति जगदिति व्युत्पत्त्या कालः सर्वजगत्कल्पक ईश्वरः, **अस्य** प्रत्यगभिन्न-परमात्मशिवगुरोः, **द्वारपालको** द्वारं प्रत्यगभिन्नपरमात्मत्वप्रापकं प्रत्यगात्मपरमात्मैक्यविषयं ज्ञानं तस्य पालको रक्षकोऽस्ति। कालपदं व्याख्याय भैरवपदं व्याख्यास्यन्नाह **कालादिति। यद्** यस्मात् **कालाद्** ईश्वराद्, **विश्वं** समस्तं जगद्, **बिभेति** भयं प्राप्नोति, अतः **स** ईश्वरोऽनन्त-ब्रह्माण्डापेक्षयाऽनन्तेश्वराणां **गणः** समूहरूपः, **कालभैरवः** कालभैरवनामाऽस्तीति ज्ञेयम्। उपासनापक्षे तु कालभैरवनाम्नि शिवगणे जगत्कल्पकत्वसर्वभयहेतुत्वोपलक्षितमीश्वरत्वं शिवे च प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपत्वं च समारोप्य ध्येयमिति भावः।।५५।। (१२७६)

एवं कालभैरवं निर्णीयेदानीं दण्डपाणिनिर्णयं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति। अथ** कालभैरवविचार-निरूपणानन्तरं, **दण्डपाणिविचारो** दण्डपाणिनामको यः शिवस्य गणो लोके शास्त्रे च प्रोक्तस्तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **मनस इति।** हे शिष्य **मनसः** संकल्पात्मिकान्तः-करणवृत्तिः मनः तस्य, **दण्डनेनैव** निरोधलक्षणदण्डनेन शासनेनैव नान्य-साधनेनेत्यर्थः, **दण्डपाणिः** दण्डो मनोनिग्रहाय निरोधाख्यः समाधिः पशूनां निग्रहार्थं दण्ड इव पाणौ अनात्मरूपं द्वैतं त्यक्त्वा आत्मस्वरूपब्रह्मग्रहणकरणत्वाद् अष्टाङ्गयोगोऽत्र पाणिः ग्राह्यस्तस्मिन् यस्य स तथोक्तो, **गणः** सेवकः तेषां ब्रह्माण्डबहुत्वापेक्षया बहुत्वं, तेषां समूहो वा, **भवेत्** स्यादेवं सम्भावना कार्येति भावः, ततश्च किमित्यत आह **तादृशा इति। तादृशा एव** उक्तलक्षणदण्डपाणिसदृशा इव इदानीन्तना अपि ये भवन्ति ते एव नान्य इत्यर्थः, **देवस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मचैतन्यरूपगुरोः, **गणत्वं** सेवकत्वं, **उपयान्ति** प्राप्नुवन्ति, **हि** प्रसिद्धमेतद्विद्वत्सु अतोऽत्र विश्वासः कार्य इति भावः।।५६।। (१२७७)

शिव के समीपवर्ती कालभैरवों का विचारजिसने इस जगद्रूपी जाल को विपरीत रूप का बना डाला है, जगत् की कल्पना करने वाला वह काल ही इस शिव का द्वारपाल है। उस काल से यह समस्त जगत् भय खाता है। काल नामक उन अनन्त ईश्वरों का समूह ही कालभैरव कहाता है।।५५।।

अब शिव के दण्डपाणिगणों का विचार करते हैंजब कोई महापुरुष (निरोधरूपी दण्ड से अपने सङ्कल्परूप) मन को दण्ड दे देते हैं किंवा अपने मन पर शासन कर लेते हैं, तब ये ही लोग दण्डपाणि नामक गण बन जाते हैं। (जैसे कि पशुओं को रोकने के लिये हाथ में दण्ड पकड़ा जाता है, इसी प्रकार अपने मन को रोकने के लिये निरोध नामक समाधि अथवा अष्टाङ्गयोग को हाथ में ले लेते हैं, तो ये ही लोग दण्डपाणि नाम के गण हो जाते हैं) अब भी जो कोई इस पद्धति से प्रयत्न करे तो वह भी उसका गण बन सकता है।।५६।।

अथ क्षेत्रपालविचारः

परमात्मा स्वयं शम्भुस्तदंशाः क्षेत्रपालकाः ।
अंशांशिभावभेदेन क्षेत्रपालैर्वृतो हरः ।।५७।। (१२७८)

एवं दण्डपाणिं विचार्येदानीं क्षेत्रपालान्विचारयितुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति। अथ** दण्डपाणिविचारानन्तरं, **क्षेत्रपालविचारः** क्षेत्रपालनामको यः शिवस्य गणः प्रोक्तस्तस्य विचारः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **परमात्मा इति**। हे शिष्य **शम्भुः** शं सुखं भवति अस्मादिति शम्भुः जगदानन्दकरः, **परमात्मा** कार्यकारणातीत आत्मा, **स्वयं** स्वतः सिद्ध एवाऽस्ति, किञ्च **तदंशाः** तस्य प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः अंशाः प्रतिबिम्बा जीवाः, **क्षेत्रपालकाः** क्षेत्राणि समष्टिव्यष्टिसूक्ष्मशरीराणि समष्टिव्यष्टिस्थूलशरीराणि च तेषां पालका रक्षितारो भवन्ति, अतः **अंशांशिभावभेदेन** अंशा जीवा अंशी च प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरुः तयोरारोपितयोर्भाव आरोपितं यत्सत्त्वं तस्मिन् यो भेदः सोपि आरोपित एव तेन, कृत्त्वाऽऽरोपावस्थायां **क्षेत्रपालैः** जीवैः, **हरः** सर्वद्वैतहरणशीलः अद्वैतरूपो वस्तुतः सन्नपि प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **वृत** आवृतत्वेन व्यवह्रियतेऽतोऽत्र क्षेत्रपालपदेन जीवा ग्राह्याः। उपासनापक्षे तु शिवक्षेत्रपालगणेषु जीवत्वं शिवे च प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपत्वं समारोप्य ध्येयमिति भावः ।।५७।। (१२७८)

एवं क्षेत्रपालान्निर्णीयेदानीं नन्दिगणविचारं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति। अथ** क्षेत्रपालविचारानन्तरं, **नन्दिगणविचारो** नन्दिनामा यो गणः सेवकस्तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **यस्य इति**। हे शिष्य **यस्य** बोधस्य, **उपरि** उर्ध्वं, **परमेश्वरः** परमः कार्यकारणाभ्यामतीत ईश्वरः सर्वेश्वरः प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुः, **स्फुरद्रूपः** स्फुरत्प्रकाशमानं रूपं यस्य स तथाभूतो, **दृश्यते** साक्षादनुभूयते, **स** उक्तलक्षणः, **शुद्धभावात्मा** शुद्धो मायातत्कार्यरहितो यो भावः प्रेमसहितः जीवब्रह्मैक्यबोधः स एव आत्मा स्वरूपं यस्य स, **नन्दिकेश्वरो** नन्दिक आनन्दात्मविषयत्वात् नन्दिनामक ईश्वरविषयत्वादीश्वररूपत्वाच्चेश्वर एतन्नामको गणः सेवको, **गीयते** कथ्यते विवेकिभिरिति शेषः। उपासनापक्षे तु प्रसिद्धनन्दिगणे सप्रेमजीवब्रह्मैक्यविषयकबोधारोपं कृत्त्वा शिवे च तद्विषयजीवब्रह्मैक्यं समारोप्य ध्येयमिति भावः ।।५८।। (१२७९)

एवं नन्दिकेश्वरं विचार्येदानीं भृङ्गिनामानं गणं विचारयितुं गद्येनाह **अथेति। अथ** नन्दिगणविचारानन्तरं, **भृङ्गिविचारः** शिवस्य यो भृङ्गीनामा गणः प्रोक्तस्तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **य इति**। हे शिष्य **यः** कोपि, **भक्तः** सेवकः, **कीटभृङ्गभावेन** भृङ्गे भ्रमरविशेषे भावः प्रेम्णा भयेन स्मरणं कीटसंबन्धि कीटकृतं भ्रमरस्य चिन्तनमित्यर्थः, तेन तादृशेन भावेन **सारूप्यं** रूप्यते प्रकाश्यते इति रूपं स्वयंप्रकाशचिन्मात्रं तेन सह वर्त्तते इति सरूपं

अब क्षेत्रपाल नामक शिव के गणों का विचार करते हैंशम्भु नामक परमात्मा तो स्वयं ही सिद्ध है। क्षेत्रपाल अर्थात् समष्टि व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म शरीरों को पालने वाले जीव लोग उसी के अंश हैं। इस प्रकार अंशांशिभाव की कल्पना कर लें तो हर नामक परमात्मा क्षेत्रपाल नामक जीवों से घिरा रहता है।।५७।।

अथ नन्दिगणविचारः

यस्योपरि स्फुरद्रूपो दृश्यते परमेश्वरः।
स बोधः शुद्धभावात्मा गीयते नन्दिकेश्वरः।।५८।। (१२७९)

अथ भृङ्गिविचारः

यः कीटभृङ्गभावेन भक्तः सारूप्यमागतः।
स एव खण्डपरशोर्भृङ्गिनामा गणः किल।।५९।। (१२८०)

प्रत्यगात्मरूपं ब्रह्मणोऽभिन्नं तस्य भावः सारूप्यं प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वं, **आगतः** प्राप्तः स एव प्रत्यगभिन्नब्रह्मानुभववानेव, **खण्डपरशोः** खण्डयति नाशयाति अज्ञानं तत्कार्यं चेति खण्डो बोधः स एव परशुः कुठारो यस्य स तथोक्तस्तस्य 'येन मोहवनं छिन्नमि'त्युक्तत्वात् (श्लो १२३६) तस्य प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः, **भृङ्गिनामा** भृङ्गिनाम्ना प्रसिद्धो, **गणः** सेवकः, **किल** इति निश्चयेन ज्ञातव्यः। तेन सेवकसेव्ययोर्व्यवहारदृष्ट्या भेदः पारमार्थिकदृष्ट्याऽभेद इति निश्चेतव्यम्।।५९।। (१२८०)

एवं भृङ्गिगणं निर्णीयेदानीं महाकालं विचारयितुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति। अथ** भृङ्गीविचार-निरूपणानन्तरं, **महाकालविचारः** शिवस्य यो महाकालनामको गणोऽस्ति तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **कालेन इति। कालेन** सर्वं द्वैतं कलयति नाशयतीति कालो मृत्युस्तेन, **विश्वं** जगद्, **भक्षितं** ग्रस्तं, स **कालो** मृत्युर्जगन्मिथ्यात्वेन तदसत्त्वाद्, **बोधेन** ज्ञानेन, **भक्षितो** ग्रस्तः, अतः **अयं** विद्वत्प्रत्यक्षो, **बोधात्मा** बोधो जीवब्रह्मैक्यविषयं ज्ञानं जगदसत्त्वेन मृत्युविषयासत्त्वज्ञानं च आत्मा स्वरूपं यस्य स तथोक्तः, **कालकालो** मृत्योरपि मृत्युरतः स एव, **परः** अन्यो, **महाकालो** महामृत्युनामको, **गणः** सेवकः अस्तीति निश्चेतव्यम्। उपासनायां तु प्रसिद्ध-महाकाले जीवब्रह्मैक्यजगन्मिथ्यात्वविषयबोधत्वं समारोप्य चिन्तनीयमिति ज्ञेयम्।।६०।। (१२८१)

अब शिव के नन्दि नामक सेवकों का विचार करते हैंजिस बोध के हाथ लग जाने के अनन्तर परमेश्वर प्रकाशमान रूप में साक्षात् अनुभव में आने लगता है। उस शुद्ध तथा निर्लेप भाव वाले बोध को ही विवेकी लोग नन्दिकेश्वर गण कहते हैं।।५८।।

शिव के भृङ्गि नामक गणों का विचार करते हैं

जिस प्रकार भृङ्ग किसी कीड़े को पकड़ कर अपने बनाए घर में बन्द कर देता है, तो वह भय अथवा प्रेम से उस भृङ्ग को ही स्मरण करता करता अन्त में स्वयं भी भृङ्ग ही बन जाता है। इसी प्रकार जो कोई भक्त प्रेम से विचार करते-करते सारूप्य (ब्रह्मभाव) को प्राप्त हो जाता है तो वही ज्ञानी, खण्डपरशु शिव का भृङ्गि नामक गण कहाने लगता है।।५९।।

अब शिव के महाकाल नामक गण का विचार करते हैं

अथ महाकालविचारः

कालेन भक्षितं विश्वं कालो बोधेन भक्षितः।
बोधात्मा कालकालोऽयं महाकालो परो गणः।।६०।। (१२८१)

अथ स्कन्दविचारः

बोधस्वसेनया येन मोहस्य स्कन्दनं कृतम्।
स बुद्धिमान् महासेनः स्कन्दो नाम शिवात्मजः।।६१।। (१२८२)

एवं महाकालं निर्णीयेदानीं स्कन्दं निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** महाकालविचारानन्तरं, **स्कन्दविचारः** स्कन्दः कार्तिकेयस्तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **बोध इति। येन** प्रत्यगात्मरूपस्कन्देन, **बोधस्वसेनया** बोधः स्वपरमात्माभेदविषयः स एव स्वस्य प्रत्यगात्मस्कन्दस्य सेना चमूस्तया, **मोहस्य** स्वपरमात्मनोरभेदाज्ञानस्य, **स्कन्दनं** नाशनं, **कृतं** संपादितम्, अज्ञानशत्रुनिबर्हणसाधनत्वाद् बोधस्य सेनात्वं ज्ञेयं, **स** उक्तलक्षणः प्रत्यगात्मैव, **बुद्धिमान्** स्वपरमात्मैक्यविषयिणी बुद्धिः मतिः यस्य विद्यते स तथोक्तोऽत एव, **महासेनो** महती बृहती तादृश्यज्ञानशत्रुजयसामग्रीरूपा मतिः सेनेव यस्य स तथाभूतोऽत एव, **स्कन्दो नाम** स्कन्दनामकः प्रसिद्धः, **शिवस्य** परमात्मशिवगुरोः, **आत्मजः** पुत्र इवात्मेत्यर्थः, 'आत्मा वै पुत्रनामासीति' श्रुतेर्ब्रह्मशिवस्वरूप एवेत्यर्थः। उपासनापक्षे तु प्रसिद्धस्कन्दे प्रत्यगात्मत्वं शिवे च परमात्मत्वं स्कन्दसेनायां प्रत्यगात्मपरमात्मनोरभिन्नविषयमतित्वं च समारोप्याभेदेनैतत्त्रयं ध्येयमिति भावः।।६१।। (१२८२)

एवं स्कन्दं विचार्येदानीं गणेशविचाराय गद्येनाह **अथेति। अथ** स्कन्दविचारानन्तरं, **गणेशविचारो** गणेशस्य गणेशनामकशिवपुत्रस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **सुत इति।** हे शिष्य **अन्यः** स्कन्दादन्य, उक्तलक्षणस्कन्दाद् गुणैर्विलक्षणो न त्वात्मतया वक्ष्यमाणलक्षणैर्लक्षितः **सुतः** पुत्र आत्मेत्यर्थः, 'आत्मा वै पुत्रनामासीति' श्रुतेः। तान्येव लक्षणानि आह **विघ्नेत्यादिभिः। विघ्नराशिघ्नो** विघ्नाः परिपन्थिभूता मोक्षसाधनभूते ज्ञाने रागादयस्तेषां

मृत्यु ने समस्त जगत् को ग्रस रखा है, यह तो सभी जानते हैं, परन्तु उस काल नामक मृत्यु को भी बोध (ज्ञान) ने ग्रस लिया है। ज्ञानियों के प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाला वह बोध, काल का भी काल है। वही 'महाकाल' नाम का गण कहाता है।।६०।।

अब स्कन्द का निर्णय किया जाता है

जिस प्रत्यगात्मरूपी स्कन्द ने बोधरूपी सेना को लेकर अज्ञानरूपी शत्रु का नाश कर डाला, आत्मा तथा परमात्मा को एक समझने वाली उसी बुद्धिरूपी सेना के कारण महासेन कहाने वाला वह ज्ञानी ही स्कन्द नाम का शिवपुत्र कहाता है। क्योंकि वह भी तो शिवस्वरूप ही होता है।।६१।।

अथ गणेशविचारः

सुतोऽन्यो विघ्नराशिघ्नः सर्वविद्याविशारदः।
आनन्दतुन्दिलः साक्षात्सिद्धिदाता गणेश्वरः।।६२।। (१२८३)

राशिः समूहः तं हन्ति नाशयति इति स तथोक्तो वैराग्यलक्षणेन लक्षित इति भावः। तत्र हेतुमाह **सर्वेति। सर्वविद्याविशारदः** सर्वाः समस्ता या विद्या ज्ञानानि रागादिदोषनिवर्तकानि तेषु विशारदः कुशल इति भावः, अत एव **आनन्दतुन्दिलो** विक्षेपहेतुरागादिशून्यत्वेन विद्यानन्दपूर्णोदरत्वाद् बृहदुदर इव लक्षितः, **साक्षात्सिद्धिदाता** प्रत्यक्षं यथा भवति तथा सिद्धेः मुक्तेः दाता प्रापकोऽव्यवधानेन मुक्तिप्रद इत्यर्थः, यः प्रत्यगभिन्नपरमात्मविषयबोधोपलक्षितः प्रत्यगात्मा, सोऽत्र **गणेश्वरो** गणस्य शान्त्यादिसमूहस्य ईश्वरः स्वामी स्वाधीनीकृतशान्त्यादिवृत्तिरित्यर्थः अस्ति, सोऽत्र गणेशो ज्ञेयः। उपासनायां तु रागादिसमूहे विघ्नराशित्वं तन्निवर्त्तकविषयदोषज्ञानेषु विद्यात्वं समारोप्य ताभिश्च करणैरुक्तविधविघ्ननाशकत्वेनोपलक्षितो विक्षेपराहित्येन पुष्ट आनन्दः तं गणेशोदरे समारोप्य मुक्तिदातृत्वं च प्रत्यगात्मत्वं च गणेशे समारोप्योपास्यमिति भावः।।६२।। (१२८३)

एवं गणेशं विचार्येदानी शिवरात्रिं विचारयितुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति। अथ** गणेशविचारानन्तरं, **शिवरात्रिविचारः** शिवस्य या रात्रिर्निशा प्रोक्ता तस्या विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। इदानीं लोकप्रसिद्धशिवरात्रिविलक्षणां शिवरात्रिं तस्यां तत् लोकप्रसिद्धजागरणविलक्षणं च तत्फलं च तावद्दर्शयति **या निशेति।** हे शिष्य **सर्वभूतानां** सर्वाणि समस्तानि यानि भूतानि तेषां, **या** शास्त्रप्रसिद्धा, **निशा** यथा रात्रौ व्यवहारोपसंहारः तथा यस्यां आत्मस्थितौ सर्वप्राणिनां व्यवहारोपसंहारः, किञ्च सर्वप्राणिनां रात्रौ निद्रया व्यवहाराज्ञानं तथा अत्रापि आत्माज्ञानं लक्ष्यतेऽतोऽत्र सर्वप्राणिनामात्मैव निशात्वेन ग्राह्यः सैवात्र मोक्षकारणत्वेन सुखसाधनत्वात् शिवरात्रिरिति भावः। ननु अस्या रात्रौ को जागर्ति लोकप्रसिद्धशिवरात्रौ तु बहवो जागरकर्त्तार उपलभ्यन्ते? इत्यत आह **तस्यामिति।** हे शिष्य यद्यपि सर्वप्राणिनोऽस्यां जागरणं न कुर्वन्ति तथापि **तस्याम्** उक्तलक्षणायामात्मस्थितिरूपायां शिवरात्रौ, **संयमी** संयम्यन्ते बुद्धिवृत्तयोऽस्मिन्निति संयमो निरोधनामको योगः

अब गणेश नामक शिवपुत्र का विचार करते हैं

मोक्षमार्ग में विघ्नकारक रागादि दोषों की राशि को नष्ट करने वाला, सम्पूर्ण विद्याओं में बड़ा चतुर, आत्मानन्द की अधिकता के कारण सदा ही तुन्दिल सा प्रतीत होता हुआ, प्रत्यक्षसिद्धि का दान करने वाला प्रत्यगात्मा ही उनका दूसरा पुत्र गणेश्वर कहलाता है।

उसने शान्ति आदि वृत्तियों के गणों पर अपना पूर्ण अधिकार जमा रखा है। उसी को इस शिवपूजा में गणेश समझना चाहिये।।६२।।

अथ शिवरात्रिविचारः

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
जागर्त्ति शिवरात्रौ यः शिवस्तस्मिन्प्रसीदति।।६३।। (१२८४)

'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः'।।

इत्युक्तलक्षणो ब्रह्माभ्यासो वा विद्यते यस्य स योगाभ्यासवान् ब्रह्माभ्यासवान् वा **जागर्ति** जागरणं करोति सर्वप्राणिनां व्यवहारप्रतीतिरिव ज्ञानिनामात्मप्रतीतिरेव जागरणशब्देनात्र ग्राह्येति भावः। ननु अत्र एवंविध जागरणे कृते च किं फलं भवतीत्यत आह **जागर्तीति**। हे शिष्य **यः** कोपि पुरुष, इदानींतनो योगाभ्यासेन ब्रह्माभ्यासेन वा शिवरात्रौ उक्तलक्षणायां **शिवरात्रौ** सुखस्वरूपायां लोकव्यवहाराभानवत्यां आत्मस्थितौ इत्यर्थः, **जागर्ति** जागरणं करोति सर्वदैवात्मस्वरूपमनुभवतीत्यर्थः, **तस्मिन्** स्वात्मानुसन्धानवति बुद्धिगतचिदाभासे, **शिवः** तच्चिन्तितो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः, **प्रसीदति** प्रसन्नो भवतीत्यर्थः, निर्मलत्वेन स्फुरतीति भावः।।६३।। (१२८४)

ननु लोकप्रसिद्धशिवरात्रेश्चतुर्दशीत्वं प्रसिद्धमस्यान्तु तत्सम्भवः कथमित्याशङ्क्य तदस्यामपि सम्भावयितुमाह **पञ्चेति**। **कर्मेन्द्रियाणि** क्रियासाधनानि करणानि, **पञ्च** पञ्चसंख्यानि सन्ति, तु पुनः **ज्ञानेन्द्रियाणि** ज्ञानकरणानि, **पञ्च** पञ्चसंख्यानि सन्ति, एवं तानि दशैव भवन्ति **मन** एकं **अहंकृतिर**हंकारश्चैक**श्चित्तं** चैकमेतानि पूर्वोक्तदशेन्द्रियैः सहितानि **त्रीणि** एतानि त्रयोदश भवन्ति एतेषां बोधरूपा **बुद्धिश्च** साक्षी पूर्वत्रयोदशापेक्षया **चतुर्दशी** चतुर्दशसंख्यापूरकत्वात् चतुर्दशीत्वं ज्ञेयम्, अन्तःकरणान्तर्गतबुद्धेस्तु त्रयोदशसु अन्तर्भावं मत्वा बुद्धिपदवाच्योऽत्र बोधात्मा चतुर्दशत्वेन ग्राह्यस्तस्य च पुंस्त्वे प्रतीतेऽपि लोकप्रसिद्धशिवरात्रेर्वाचकचतुर्दशीशब्दस्य स्त्रीलिङ्गप्रसिद्धेस्तत्सादृश्यमात्रविवक्षया बुद्धित्वं चतुर्दशीत्वं स्त्रीत्वं चेति निर्दिष्टानि, यद्वा ब्रह्माभिन्न-

अब शिवरात्रि का तात्पर्य बताते हैं

सब भूतों की जो रात्रि है संयमी पुरुष उसी में जागते हैं, उसी को शिवरात्रि समझो। उस शिवरात्रि में जो जागता है उस पर शिव प्रसन्न हो जाते हैं।

जिस आत्मस्थिति में पहुँच जाने पर प्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहार बन्द हो जाते हैं, वह आत्मस्थिति ही सब प्राणियों की निशा है। ऐसी रात्रि को ही शिवरात्रि कहना चाहिये। साधारणतया कोई भी प्राणी इस अलौकिक शिवरात्रि में जागरण नहीं करते, परन्तु जो कोई भी संयमी अभ्यासी इस शिवरात्रि में जागने (तत्पर रहने) लगता है (अर्थात् लोकव्यवहार का भान बन्द होकर आत्मस्थिति जब किसी को प्राप्त हो जाती है, जब कोई आत्मस्वरूप का प्रतिक्षण अनुभव करता रहता है) तब वह सदाशिव उस पर प्रसन्न हो जाता है (उसको शिव के निर्मलस्वरूप के दर्शन हो जाते हैं)।।६३।।

पञ्चकर्मेन्द्रियाण्येव पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि च।
मनोऽहंकृतिचित्तानि त्रीणि बुद्धिश्चतुर्दशी।।६४।। (१२८५)
इयं तु शाम्भवैः प्रोक्ता शिवरात्रिचतुर्दशी।
निराहारतया तत्र वृत्तिरोधी भवेद् बुधः।।६५।। (१२८६)

प्रत्यगात्मविषयक बुद्धिवृत्तेरेव ब्रह्माहमस्मीति प्रमायाः पूर्वत्रयोदशापेक्षया चतुर्दशीत्वं ज्ञेयमिति भावः।।६४।। (१२८५)

ननु अस्या बुद्धिवृत्तेर्बोधात्मनो वा शिवरात्रित्वं न क्वापि शास्त्रे प्रतिपादितमित्याशङ्क्य ज्ञानिषु एव अस्याः शिवरात्रित्वं प्रसिद्धम् अज्ञानिनां तु लोकप्रसिद्धशिवरात्रौ एव शिवरात्रित्वमित्याशयेनाह **इयं तु इति**। हे शिष्य **शाम्भवैः** शम्भवति अस्मादिति शम्भुर्जगदानन्दकरः परमात्मा तस्य एते शाम्भवास्तदात्मभूता ज्ञानिन इत्यर्थः, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतमि'ति भगवदुक्तेः, तैरियं तु मदुक्तैव लोकप्रसिद्धशिवरात्रिविलक्षणा **शिवरात्रिचतुर्दशी** शिवरात्रिनाम्नी चतुर्दशी सुखस्वरूपत्वात् शिवा व्यापाराभावाद् रात्रिः कर्मेन्द्रियादित्रयोदशत्रिपुटीप्रकाशकत्वेन तदपेक्षया चतुर्दशी, **प्रोक्ता** कथिता, लोकप्रसिद्धा तु शिवरात्रिचतुर्दशी मूढजनायेति भावः। ननु लोकप्रसिद्धशिवरात्रौ उपवासो विहितः सोत्र कथं कार्य इत्याशङ्क्यात्रापि विशिष्टमुपवासं विधत्ते **निराहारतयेति**। **बुधो** ज्ञानी, तत्रोक्तलक्षणायां शिवरात्रौ **निराहारतया** आह्रियन्त उपभुज्यन्ते विषया यैः ते आहारास्तत्तद्वृत्तिभिस्तत्तद्विषयोपभोगास्ते निर्गता निवृत्ता यस्मात् स निराहारो विषयासेवनमसत्त्वेन विषयतद्भोगभोक्तृणाम् अवलोकनमित्यर्थः, तस्य भावस्तत्ता तया **वृत्तिलोपी** वृत्तीनां ज्ञानविरुद्धकामादिवृत्तीनां लोपो नाशः सोऽस्यास्तीति तथाविधो, **भवेत्** स्यादयमेवास्यां शिवरात्रौ उपवासः कार्य इति भावः।।६५।।(१२८६)

ननु शिवरात्रिसामान्यात् लोकप्रसिद्धायामेव शिवरात्रौ प्रवृत्तिरस्तु किमप्रसिद्धायामस्यां प्रवृत्त्या? इत्याशङ्क्य, मुमुक्षूणामत्रैव प्रवृत्तिरुच्युत्पादनायास्यामेव शिवप्रीतिरधिकेति ज्ञानिनामत्रैव प्रवृत्तिरित्याह **शिवभक्तैः इति**। यतः कारणाद् **इयं** मदुक्ता, **शिवरात्रिः शिवस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मानन्दगुरोः **अत्यन्तवल्लभा** अत्यन्तं अतिशयेन वल्लभा प्रिया आत्मत्वात्, 'प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मादान्तरतरोयमात्मे'ति श्रुतेः, अतः **शिवभक्तैः** शिवस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरोः ये भक्ताः सेवकाः प्रत्यगभिन्नब्रह्मचिन्तकाश्चिदाभासा इत्यर्थः, तैः **पूर्वं** प्राक्काले कृतोपासिताऽस्ति, कुत

पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच ज्ञानेन्द्रिय मन अहंकार तथा चित्त ये तेरह पदार्थ होते हैं। अखण्ड ज्ञानरूप बुद्धि ही चतुर्दशी कहाती है। अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्ति को ही चतुर्दशी कहते हैं। शम्भु के आत्मभूत ज्ञानी लोग इसी को सच्ची शिवरात्रि नाम की चतुर्दशी मनाते हैं। बुद्धिमान् को उचित है कि इस शिवरात्रि में किसी भी विषय का आहार (भोग) न करे और ज्ञान के विरोधी कामादि वृत्तियों का नाश करता रहे।

यही तो इस शिवरात्रि का उपवास कहाता है। केवल भोजन न करने मात्र से इस शिवरात्रि का व्रत पूरा नहीं होता।।६४-६५।।

शिवभक्तैः कृता पूर्वं शिवस्यात्यन्तवल्लभा।
शिवरात्रिरियं पुत्र शिवसायुज्यदायिनी।।६६।। (१२८७)
निशीथ एव मध्याह्नो रात्रिरेव दिनं विभोः।
न यत्र किञ्चित् काशेत स प्रकाशस्तु शाम्भवः।।६७।। (१२८८)

इत्यत आह **पुत्रेति। हे पुत्र** हे शिष्य **इयं** शिवरात्रिः, **कृता** सती उपासिता सती, **शिवसायुज्यदायिनी** शिवेन प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरुणा सह सायुज्यं ऐक्यं तस्य दायिनी दात्री चिदाभासस्येत्यर्थः, भवतीति शेषः।।६६।। (१२८७)

ननु अन्यदेवानां दिनमेव पूजादिकर्मणि गृहीतं शिवस्य तु रात्रिरेव गृहीतेत्यत्र किं कारणमित्याशङ्क्याह **निशीथ इति।** हे शिष्य **विभोः** व्यापकस्य सर्वत्र विशेषेषु कार्यकारणरूपेषु सामान्यरूपेणानुवृत्तस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरोः, **रात्रिरेव** सामान्यप्रकाशत्वेन विशेषाप्रकाशाद् रात्रिरेव आत्मप्रकाशरूपा सर्वव्यवहारोपसंहारवत्त्वाद् रात्रित्वमात्मप्रकाशस्य, **दिनं** दिवसोऽस्ति प्रकाशरूपत्वादतो, **निशीथ एव** लोकव्यवहारसाधनभूतकार्यकारणादिरूपप्रपञ्चात्यन्तास्फुरणोपलक्षितोऽर्धरात्र एव, **मध्याह्नो** मध्यदिनमस्तीति ज्ञेयं, ननु दिवसे मध्याह्ने च प्रकाशः अनुभूयते लोके तस्याभावादत्र रात्रेर्दिनत्वमर्धरात्रस्य मध्याह्नत्वं च कथं संभाव्यम्? तत्राह **नेति। यत्र** यस्मिन्सामान्यचिद्रूपे प्रकाशे, **किञ्चित्** किमपि विशिष्टं वस्तुजातं, **न काशेत** प्रतीयेत, **स** उक्तविधः **शाम्भवः** शम्भवति अस्मादिति शम्भुः जगदानन्दकरो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मगुरुस्तस्य तद्रूप एव शाम्भवः, **प्रकाशो** ज्ञानं ज्ञेयः, अतो रात्रेर्दिनत्वमर्धरात्रस्य मध्याह्नत्वमुक्तं सम्भाव्यमिति भावः।।६७।। (१२८८)

हमारी बताई हुई यह शिवरात्रि (आत्मस्थिति) ही शिव को अत्यन्त प्रिय लगती है। शिव के भक्तों ने इसी शिवरात्रि को मनाया है और इसी की उपासना की है। हे शिष्य! उपासित हुई यही शिवरात्रि उपासक (चिदाभास) को शिव के साथ एकता का दान किया करती है।।६६।।

उस विभु की तो रात्रि ही दिन है और आधीरात ही भरी दोपहरी का समय होता है। जिसमें कुछ भी नहीं दीख पड़ता वही तो शाम्भव प्रकाश कहाता है।

हे शिष्य! यद्यपि अन्य देवताओं की पूजा दिन में ही की जाती है, परन्तु शिवपूजा के लिये रात्रि को पसन्द करने का एक बड़ा गूढ कारण यह है कि सर्वत्र सामान्यरूप से रहने वाले उस विभु शम्भुदेव का आत्मप्रकाश जब होता है। तब सब विशेष प्रकाश बन्द हो जाते हैं, तथा केवल सामान्य प्रकाश शेष रह जाता है। उसके होने पर रात्रि के समान ही सम्पूर्ण व्यवहार बन्द हो जाते हैं। इसलिये यह रात्रि ही ज्ञानी का सच्चा दिन है। इसी में ज्ञानी को ज्ञानरूपी प्रकाश के अखण्ड दर्शन होने लगते हैं। ऐसी अलौकिक रात्रि का जब निशीथ (आधीरात) आता हैजिसमें कि प्रपंच की स्फूर्ति

अथ शिवताण्डवविचारः

यस्यानन्दलयेनैव नन्दिता नारदादयः।
तदानन्दविनोदाख्यं शाम्भवं विद्धि ताण्डवम्।।६८।। (१२८९)

एवं शिवरात्रिं व्याख्यायेदानीं शिवताण्डवं निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** शिवरात्रिविचारनिरूपणानन्तरं, **शिवताण्डवविचारः** शिवस्य महादेवस्य यत्ताण्डवं नृत्यं यत् शैवपुराणे निरूपितं तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तदेव पद्येनाह **यस्य इति**। यथा लोके नृत्यं लयसारं, लयश्च स्वरगानतालमृदङ्गादिवाद्यपादप्रक्षेपहावभावानां समत्वं तस्मिंश्च सति तद्द्रष्टॄणां समाजः सुखितो भवति तद्वदत्र **यस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपगुरोः, **आनन्दलयेनैव** 'स एको ब्रह्मण आनन्दः, यो वै भूमा तत्सुखं, रसो वै सः' इत्यादिभिः य आनन्दः प्रतिपादितः तस्मिन् यो लयः साम्यं सर्वे वेदादिशब्दा गानं तत्तदुक्तक्रियोपासनाज्ञानाख्याः पादविक्षेपास्तत्तत्फलवासनापूर्वकावेशाश्च हावभावास्तेषां सर्वेषां आनन्दप्रयोजकत्वेन आनन्दे साम्यं पर्यवसानं तेनैव क्रियादीनां इच्छापूर्वकत्वादिच्छायाश्च सुखविषयत्वाद् 'वरेण्यमि'तिश्रुतेः ब्रह्मानन्दस्यैव; 'नाल्पे सुखमस्ती'ति श्रुत्या विशेषसुखे सुखनिषेधात्। सुखत्वसिद्धेश्च ब्रह्मसुखस्यैव सुखत्वमतः तस्मिन्नेव सर्वक्रियादिनृत्यसाम्यमिति भावः। तेनैव तादृशनृत्येनैव **नारदादयो** नारदो ब्रह्मपुत्र आदिर्मुख्यो येषु ते नारदचतुःसनकादि-शुकदत्तप्रभृतयस्तादृशनृत्यस्य स्वस्मिन्नाविर्भावेन **नन्दिता** नन्दो ब्रह्मानन्दः सञ्जात उत्पन्नो येषां ते तथोक्ताः सन्तीति शेषः, ब्रह्मानन्दं प्राप्ता इत्यर्थः, 'रस ँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती'ति श्रुतेः। तद् उक्तविधं **आनन्दविनोदाख्यं** आनन्दाय यो विनोदः क्रीडा स आख्या आह्वा यस्य तदानन्दपूर्वको वा यो विनोदोऽनायासेन कर्मोपासनाज्ञानानुष्ठानरूपं रमणं साऽऽख्याऽऽह्वा यस्य तत्तथाभूतं, **शाम्भवं** शम्भवति अस्मादिति शम्भुः सकलजगदानन्दकरो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः तस्य इदं शाम्भवं, **ताण्डवं** नटनं, **विद्धि** जानीहि, 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लयः साम्यमथास्त्रियामि'ति चामरसिंहः।।६८।। (१२८९)

सर्वथा बन्द हो जाती है तब यही ज्ञानी का सच्चा मध्याह्न कहाने लगता है। जिस चिद्रूप प्रकाश के हो जाने पर और कोई भी वस्तु प्रतीत न हो, जगदानन्ददायक शम्भु नामक ब्रह्म का यही तो सच्चा ज्ञानरूप प्रकाश होता है। इस आत्मप्रकाश को दृष्टि में रख कर ही रात्रि को दिन तथा आधी रात को मध्याह्न कहा है।।६७।।

शिव के ताण्डव का तात्पर्य कहते हैंजिसके आनन्दलय नामक नृत्य से नारद शुकदेव तथा दत्तात्रेय आदि नन्दित (किंवा ब्रह्मानन्द को प्राप्त) हो रहे हैं, ऐसा वह आनन्दविनोद नामक नृत्य ही (जिसके होने पर कि कर्म उपासना तथा ज्ञान, असङ्ग रहते हुए भी अनायास ही होते रहते हैं) शम्भु का सच्चा ताण्डव नृत्य कहाता है।।६८।।

अथ स्मरहरत्वविचारः

हृते स्मरे हृता एव षडप्येते स्मरादयः।
स्मरादिहरणादेव देवः स्मरहरो हरः।।६९।। (१२६०)

एवं शिवताण्डवं निर्णीयेदानीं शिवे स्मरहरत्वं यत् लोके शास्त्रे च प्रतिपाद्यते तद्विचारयिष्यन्गद्येनाह **अथ इति। अथ** शिवताण्डवविचारानन्तरं, **स्मरहरत्वविचारः** स्मरहरनाम्नो विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **हृत** इति। हे शिष्य **स्मरे** स्मरति जगदिति स्मरो जगद्विषयको बोधः तस्मिन्, **हृते** 'नेह नानास्ति किञ्चने' त्यादिश्रुतिदृष्ट्या उपसंहृते सति बाधिते सतीत्यर्थः, **षडपि** षट्संख्याका अपि, **स्मरादयो** जगत्स्मरणरूपमनस उत्पन्नः काम आदिर्येषां ते कामक्रोधलोभमोहमदमत्सराख्या विकारा, **हृता एव** उपसंहृता एव, तेषां विषयस्य जगतो बाधितत्वेन तेपि बाधिताः स्युरिति भावः। यतोऽतः **स्मरादिहरणादेव** स्मरः काम आदिर्मुख्यो येषां तेषां हरणादेव, तत्कारणजगद्बोधबाधेनैव तेषां कामादीनामपि बाधितत्वात् केवलं **देवः** चिन्मात्रस्वरूपो, **हरो** हरति सर्वद्वैतमिति हरोऽद्वैतलक्षणो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मशिवगुरुः, **स्मरहरः** स्मरस्य जगद्बोधस्य हरो नाशकोऽस्ति न तु केवलं लोकप्रसिद्धकामदाहकत्वेनैव स्मरहरत्वं संभाव्यमिति भावः। उपासनापक्षे तु लोकप्रसिद्धशिवेऽद्वैतब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुत्वं समारोप्य ध्येयमिति भावः।।६९।। (१२६०)

एवं समरहरत्वं विचार्येदानीं गौरीं विचारयन्गद्येन प्रतिजानीते **अथेति। अथ** स्मरहरत्वविचारानन्तरं, **गौरीविचारो** गौरी पार्वती तस्या विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तदेतद् द्वादशभिः पद्यैर्निरूपयितुं तस्याः स्वरूपं तावद्दर्शयति **सेति**। हे शिष्य या इति अध्याहार्यं **या** प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रे विद्वत्सु च, **मनोवाचां** मनसो वाचां च नामरूपातीतब्रह्मविषयत्वद्, **अगोचरा** न गोचरा विषया भवति अहं ब्रह्मा स्मीति प्रमारूपा वृत्तिः, **सा** उक्तविधा, **स्वभावेनैव** स्वरूपेणैव, **वामा** कमनीया सुन्दरी सुखरूपत्वादित्यर्थः,**गौरी** शुद्धा मायाविद्यारहितब्रह्माभिन्न-प्रत्यगात्मविषयत्वात् शुद्धत्वं अस्या अतो गौरीनाम्ना सा अत्र ग्राह्येति भावः। तस्याः स्थानमाह **वामदेवस्य** वामः सुखरूपत्वात् कमनीयो यो देवः चिन्मात्रस्वरूपो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुस्तस्य, **वामे** कमनीये सुखस्वरूपेऽङ्ग इत्यर्थः, **विराजते** प्रकाशते आनन्दमात्रविषयतया स्फुरतीत्यर्थः, अत एव **वामाङ्गी** वामं कमनीयं सुखरूपमङ्गंस्वरूपं यस्याः सा, तथोक्ता प्रसिद्धा लोके शास्त्रे च ज्ञेया न केवलं देहमात्रसौन्दर्येणेति भावः।।७०।। (१२६१)

अब शिव के स्मरहर नाम का विचार करते हैंजब किसी को जगत् का स्मरण ही भूल जाता है, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर नामक छहों विकार तो स्वयमेव बाधित हो जाते हैं। इन कामादि का बाध करने के कारण उस हर को स्मरहर (अर्थात् जगत् के स्मरण [भान] को नष्ट करने वाला) कहते हैं। (लोकप्रसिद्ध काम को जला डालने से ही शिव को स्मरहर नहीं कहा जाता।)।६९।।

अथ गौरीविचारः

सा स्वभावेन वामैव मनोवाचामगोचरा।
वामाङ्गी वामदेवस्य वामे गौरी विराजते।।७०।। (१२६१)
सा ब्रह्मवादिनां श्रेष्ठा भवानी ब्रह्मवादिनी।
या कटाक्षेण सर्वत्र शिवाख्यं ब्रह्म वीक्षते।।७१।। (१२६२)

तस्या एवं श्रेष्ठत्वं कारणसहितं दर्शयति **सा इति**। हे शिष्य **सा** अहं ब्रह्मास्मीति प्रमारूपा पार्वती, यतो **भवानी** भवन्ति अस्मिँश्चिदाभासरूपा जीवा इति भवः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा तं अनिति जीवयति सा भवानी असद्रूपं जीवेश्वरत्वं मरणतुल्यं निरस्य अमरब्रह्मभावस्मारकत्वेन जीवकत्वमस्या इति भावः, तत्र हेतुः **ब्रह्मवादिनी** जीवे ब्रह्मत्वं वदति तच्छीलाऽत एव ब्रह्मवादिनां ब्रह्मवदितुं निरूपयितुं शीलं येषां तेषां मध्ये, **श्रेष्ठा** महती अस्ति अनयैव हेतुभूतया सर्वेषामपि ब्रह्मवादित्वसिद्धिरिति भावः। ननु अस्या ब्रह्मवादित्वं ब्रह्मजीवकत्वं ब्रह्मवादिश्रेष्ठत्वं च कुतः संभाव्यमित्याशङ्क्याह **येति**। हे शिष्य **या** विवेकिषु प्रत्यक्षा ब्रह्माकारवृत्तिरूपा गौरी, **कटाक्षेण** कटाक्षं दृष्ट्यैकदेशेनावलोकनं तदिव चिदाभाससहितवृत्तिदृष्ट्या चिदाभासस्य निष्फलत्वात्केवलवृत्तिमात्रस्यैकदेशत्वतया, यद्वा कटति वर्षति धर्ममिति कटं धर्ममेघाख्यसमाधिरूपमेवाऽक्षं नेत्रमिव ब्रह्मदर्शनसाधनं तेनेत्यर्थः, **सर्वत्र** जाग्रदाद्यवस्थासु तत्रापि सर्वपदार्थेषु, **शिवाख्यं** सुखस्वरूपत्वात् शिव इति आख्या आह्वा यस्य तद्, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, 'शिवमद्वैतमि'ति श्रुतेः प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मेत्यर्थः, **वीक्षते** साक्षादनुभवतीत्यर्थः, अत इति योज्यम्।।७१।। (१२६२)

इदानीं तस्यां सर्वत्र ब्रह्मानुभवं सम्भावयंस्तस्या ब्रह्मविषयप्रेमनिरूपणपूर्वकं कृतकृत्यतामाह **मम इति**। हे शिष्य **यस्याः** प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयकवृत्तेः विद्वत्सु प्रसिद्धाया, **मम** मे प्रत्यगभिन्नविषयवृत्तिगौर्या, एवमुत्तरत्र त्रिष्वपि मम शब्देषु व्याख्येयं प्रिय इष्ट आनन्दरूपत्वात् किञ्च **मम** मे, **स्वामी** पालको, मम तत्सत्तयैव सत्त्वात्, किञ्च **मम** मे, **आत्मा** पारमार्थिकं रूपं

अब बारह श्लोकों में गौरी का निर्णय करते हैंजिस वृत्ति को मन और वाणी के विषय में न आने वाली बताया गया है, ऐसी वह अद्भुत ब्रह्माकारवृत्ति स्वभाव से ही बड़ी कमनीय हो गई है। परमशुद्ध होने से उसी को गौरी भी कहा जाता है। वह तो वामदेव नामक सुखरूप आत्मा के सुखरूपी वाम अङ्ग में विराजती रहती है। यही कारण है कि उसको वामाङ्गी अर्थात् सुखस्वरूप वाली कहते हैं (वामाङ्गी कहाने में देह की सुन्दरता कारण नहीं है)।।७०।।

जीव को ब्रह्म कहने वाली वह ब्रह्मवादिनी भवानी ही ब्रह्मवादी लोगों में सर्वश्रेष्ठ है। विवेकी लोगों में रहने वाली वृत्तिरूपी भवानी की सर्वोपरि श्रेष्ठता का कारण यह भी है कि वह अपने (धर्ममेघ समाधि नामक) कटाक्ष से जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओं तथा जगत् के सब पदार्थों में शिवनामक ब्रह्म के अखण्ड दर्शन लेने लगती है।।७१।।

मम प्रियो मम स्वामी ममाऽऽत्मा मे गृहेश्वरः।
इति यस्याः शिवे भावः सा धन्या शैलकन्यका।।७२।। (१२६३)
स ईक्षितः स आश्लिष्टः स भुक्तः स च पूजितः।
स एव हृदये ध्यातः पार्वत्या परमेश्वरः।।७३।। (१२६४)

तं विना मम असत्त्वात्, किञ्च मे मम, **गृहेश्वरो** गृह्यते स्वात्मतयाऽङ्गी क्रियते इति गृहं प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वस्वीकरणमित्यर्थः, तस्य ईश्वरो नियन्ता ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुरेव स्वस्मिन् यद् ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वस्वीकरणमपि तदधीनमेवेत्यर्थः, इत्येवं **शिव** आनन्दरूपेऽद्वैतात्मनि, **भावः** प्रेमाऽस्ति, **सा** उक्तलक्षणा प्रमारूपा वृत्तिः, **शैलकन्यका** पार्वती, **धन्या** कृतकृत्याऽस्ति, शिलति दुःखयतीति शिलः स एव शैलो मोहस्तस्य कन्यका सुता इति व्याख्येयं तज्जत्वात्तस्या इति भावः।।७२।। (१२६३)

पुनरपि तदेव द्रढयितुं तस्याः सर्वदा ईक्षणादिभिस्तद्विषयीकरणमेवाह **स इति**। हे शिष्य **पार्वत्याः** पर्वाणि पञ्च तमोमोहादीनि तनोति विस्तारयतीति पर्वतोऽज्ञानं तत्कार्यभूतो वा, तनु विस्तार इति धातोः 'अन्येभ्योपि दृश्यते' इति डः प्रत्ययः, 'डिति चे'ति टेर्लोपे पर्वत इति सिद्धं, तस्माद् उत्पन्ना पार्वती तत एव उत्पन्ना तया प्रमारूपया वृत्त्या अहं ब्रह्मास्मीत्येवंरूपया स तद्विषयत्वेनोक्तः **परमेश्वरः** परमः कार्यकारणातीतो य ईश्वरः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, **ईक्षितः** अवलोकितः, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चने'त्यादिश्रुतिभिः नानात्वस्य निषेधेन प्रत्यगभिन्नब्रह्ममात्रं साक्षात्कृतमित्यर्थः, अतः **स** उक्तलक्षणो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मैव, **आश्लिष्टः** आलिङ्गितः, स **एव भुक्तः** अनुभूतः **स च** उक्तलक्षण एव प्रत्यगात्मा ब्रह्माभिन्न एव, **पूजित** आदृतः, किञ्च **स एव** प्रत्यगभिन्नः परमात्मैव, **हृदये** सर्वबाधप्रकाशे, **ध्यातः** चिन्तितो नान्यः।।७३।। (१२६४)

जिस ब्रह्माकार वृत्ति का शिव में सदा ही यह प्रेम भाव बना रहता हो कि वह शिव ही मुझे प्रिय है, वही मेरा पालक है। (उसी की सत्ता से मेरी सत्ता चल रही है)। वही मेरा आत्मा है किंवा वही मेरा पारमार्थिक स्वरूप है (उसके बिना मेरी तो कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है) वही मेरा गृहेश्वर है। (अर्थात् जब मैं ब्रह्मत्व को स्वीकार करती हूँ और अपनी सुध बुध भूल जाती हूँ तब मुझ अन्धीभूत का हाथ पकड़ कर चलाने वाले नियामक भी तो वह सदाशिव ही हैं) इस प्रकार सर्वात्मना आत्मसमर्पण करने वाली शैलकन्या (ब्रह्माकार वृत्ति) बड़ी ही धन्य और कृतकृत्य हो गई है।।७२।।

पर्वत नामक अज्ञान से उत्पन्न होने वाली ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती ने (बाह्य पदार्थों से विरक्त होकर) सर्वत्र उसी परमेश्वर को देखा है (प्रपंच का निषेध करके केवल उसी का साक्षात्कार किया है) उसी को ऐक्यभावनारूपी आलिङ्गन दिया है, उसी का अनुभव किया है, उसी को आदर की दृष्टि से देखा है तथा उसी का अपने हृदयमन्दिर में चिन्तन किया है।।७३।।

शिवं भजति भावेन पातिव्रत्येन पार्वती।
अतः सौभाग्यमेतस्या लोके वेदे च गीयते।।७४।। (१२६५)

ननु सर्वशास्त्रेषु लोके च पार्वत्याः सौभाग्यं प्रसिद्धं लोकेपि सौभाग्यार्थं पूज्यते च तदत्र कथं संभाव्यमित्याशङ्क्यात्रापि तत्संभावयति **शिवम् इति**। हे शिष्य **पार्वती** पञ्चपर्वविस्तारकमोहजन्या अहं ब्रह्मास्मीति वृत्तिः पार्वती, **पातिव्रत्येन** पतिरहं ब्रह्मास्मीति वृत्तेः स्वविषयत्वेन सत्त्वदानेन च पालको ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा तस्य व्रतम् अखण्डैकरसत्वेनावस्थानरूपो नियम एव नियमो यस्या विद्यते तस्या भावः पातिव्रत्यम् अखण्डैकरसस्थितिरूपं तेन भावेन प्रेम्णा तद्रूपावस्थानेन वा, **शिवं** सुखस्वरूपं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यगात्मानं, **भजति** सेवते, यतोऽ**तः** कारणाद् **एतस्या** विद्वत्प्रत्यक्षायाः प्रमावृत्तेः, **सौभाग्यं** सु शोभनं भगम् ऐश्वर्यं सच्चिदानन्दसमवस्थितिरूपं तदेव सौभाग्यं, **लोक** ऋषिप्रणीतशास्त्रे **वेदे च** श्रुतौ च, **गीयते** वर्ण्यते, तद्द्वारा च जनेष्वपि वर्ण्यते।।७४।। (१२६५)

ननु शास्त्रेषु पार्वत्या दिव्ययोगिनीत्वं प्रोक्तं, तदत्र कथं संभाव्यमित्याशङ्क्य तदप्यत्र संभावयति **योगेश्वराणां इति**। हे शिष्य, **यत्** यतो योगात् जीवब्रह्मैक्यविषयकज्ञानादित्यर्थः, **महेश्वरो** महान्मायोपाध्यनवच्छिन्नः प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूप एव ईश्वर ईश्वरत्वारोपाधिष्ठानभूतो, **भुज्यते** अनुभूयते, स **अयं** प्रत्यक्षो, **योगेश्वराणां योगो** जीवब्रह्मैक्यविषयं ज्ञानं तस्येश्वराः स्वाधीनज्ञाना इत्यर्थः, यस्य उपरि अनुग्रहं कुर्वन्ति तस्य योगं समर्पयितुं समर्था इति भावः, तेषां ब्रह्मवादीनां योगो युज्यते जीवो ब्रह्मणा सह एकीक्रियते इति **योगो** ज्ञानमस्ति, **तेन** तादृशेन, **योगेन** जीवब्रह्मैक्यज्ञानेन, **संपन्ना** युक्ता, **भवानी** सर्वसंसारोत्पत्तिकारणभूतप्रत्यगभिन्नब्रह्मजीवनहेतुभूता एव प्रमारूपा वृत्तिरेव, **दिव्ययोगिनी** दिव्योऽलौकिको योगो ज्ञानं विद्यतेऽस्याःसा तथोक्ता शास्त्रेषु प्रोक्ता।।७५।। (१२६६)

ननु शैवशास्त्रेषु पार्वत्याः पुरतः शिवो नृत्यतीत्युक्तं तदत्र न सम्भवतीत्याशङ्क्यास्यां तदपि सम्भावयति **नित्यम् इति**। हे शिष्य **परमेश्वरः** परमः कार्यकारणातीत ईश्वरो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः, **पार्वत्याः** पञ्चपर्वविस्तारकमोहजन्यायाः प्रमावृत्तेः, **पुरतः** अग्रभागे, **नित्यं** सर्वदा, **नृत्यति** नृत्यं करोतीव स्फुरतीत्यर्थः। कुत इत्यत आह **यदन्तरिति**। हे शिष्य **यदन्तः** यस्याः

पार्वती (ब्रह्माकार वृत्ति) शिवस्वरूप ब्रह्म को पातिव्रत्य प्रेम से भजन करती है, (वह समझती है कि मुझ ब्रह्माकार वृत्ति को सदा ही अपने इस पति का व्रत धारण किये रहना चाहिये। मुझे सदा ही अखण्ड एकरस बने रहना चाहिये) यही कारण है कि ऋषिप्रणीत लौकिक शास्त्रों में, वेदों में तथा इन दोनों के द्वारा साधारण लोगों तक में इस वृत्ति की महिमा अथवा सौभाग्य जहाँ तहाँ गाया गया है।

समस्त तीर्थों के स्नान, सम्पूर्ण पृथ्वी के दान, सम्पूर्ण यज्ञों के अनुष्ठान, सम्पूर्ण देवों के तर्पण तथा संसार से अपने पितरों के समुद्धरण से भी वह फल प्राप्त नहीं होता, जो एक बार अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति करने वाले महात्मा के हाथ लगता है।।७४।।

योगेश्वराणां योगोऽयं भुज्यते यन्महेश्वरः।
तेन योगेन सम्पन्ना भवानी दिव्ययोगिनी।।७५।। (१२६६)
नित्यं नृत्यति पार्वत्याः पुरतः परमेश्वरः।
यदन्तस्तादृशं प्रेम तदग्रे किं न नृत्यतु।।७६।। (१२६७)

प्रमाख्यवृत्या अन्तरन्तरे, **तादृशं** शिवस्य साक्षात्स्फुरणनृत्ययोग्यं पूर्वत्र (१२६३) मम प्रिय इत्यादि श्लोकद्वयोक्तं **प्रेम** प्रीतिरस्ति, **तदग्रे** तस्यास्तादृशप्रेमवत्याः प्रमापार्वत्या अग्रे पुरोभागे, **किं** कुतो, **न नृत्यतु** नर्त्तनं न करोतु किन्तु नृत्यतु एवेत्यर्थः, संभावनायां लोट् सर्वदैव स्फुरत्विति भावः।।७६।। (१२६७)

इदानीं ब्रह्माकारवृत्तेर्ब्रह्मणश्च भिन्नत्वेन प्रतीतावपि तयोर्वास्तवमेकत्वं निश्चित्य तदनुसन्धाय च तौ प्रणमति **एकात्मेति**। हे शिष्य **यथा** यद्वद्, **एकात्मभावसम्पन्ने** एकोऽद्वितीयो य आत्मा तत्त्वं तस्य भावस्तादात्म्यं तत्सम्पन्ने अपि प्राप्ते अपि **भिन्नात्मके** भिन्नौ आत्मानौ स्वरूपे ययोस्ते तथोक्ते, अत एव **ब्रह्मविद्ब्रह्मणी** ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म च तज्ज्ञानविषय इति एवं अर्थवाचकशब्दाभ्यामुच्येते, तथा तद्वद्, **एकात्मभावसंपन्नौ** एकोऽद्वितीयः सच्चिदानन्दरूप आत्मा स्वरूपं ययोस्तौ, तथोक्तौ वस्तुतो विद्यमानावपि **भिन्नात्मकौ** भिन्नः पृथगात्मा स्वरूपं ययोस्तौ तथाभूतौ लोकदृष्ट्या प्रतीतौ, **भवानीशङ्करौ** भवति अस्माद् माया तत्कार्यं च प्रपञ्चश्चेति भवो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा तम् अनिति जीवयति असद्रूपं जीवेश्वरभावरूपं मरणं बाधित्वा सच्चिदानन्दस्फोरकत्वेन जीवयतीति भवानी ब्रह्मास्मीति प्रमारूपा ब्रह्माकारा वृत्तिः, शङ्करश्च जगदानन्दकरो ब्रह्माभिन्नो प्रत्यगात्मा तौ, अहं साधनसम्पन्नः साधिष्ठानश्चिदाभासो, **वन्दे** प्रणमामि, चिदाभासस्य स्वतस्तदग्रे स्फुरणाभावेन बुद्धिवृत्त्यधीनत्वाद् ब्रह्माकारवृत्त्यनुसरणेनैव ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मतादात्म्यं स्वस्मिन्ननुसन्दधामीत्यभिप्रायः। लौकिकार्थस्तु पूर्वत्रोतरत्र च स्पष्ट एवेति न दर्शितः स स्वबुध्यैवानुसन्धेयः।।७७।। (१२६८)

महेश्वर सदाशिव आत्मदेव को (योग की विधि से) अनुभव का विषय बना लिया जाय, बस इसी को योगकला का मर्म जानने वाले लोग, ब्रह्मा आदि योगेश्वरों का योग (अर्थात् ब्रह्म के साथ एकीकरण की गुह्य विधि किंवा गुह्य ज्ञान) बताते हैं। उसी महामहिम योग से सम्पन्न भवानी नामक ब्रह्माकार वृत्ति को दिव्ययोगिनी (अलौकिक ज्ञानवाली) कहा गया है।।७५।।

(यह ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती जब किसी विवेकी को सिद्ध हो जाती है तब) उसी पार्वती नामक वृत्ति के सामने आकर वह परमेश्वर सदा ही नृत्य करता हुआ सा प्रतीत होने लगता है। क्योंकि जिस वृत्ति के हृदय में वैसा (रिझा देने वाला) अनन्य प्रेम हो, उस प्रेममयी वृत्ति के सामने वह परमेश्वर क्यों न नाचने लगे।।७६।।

एकात्मभावसम्पन्नौ स्थितौ भिन्नात्मकाविव।
भवानीशङ्करौ वन्दे ब्रह्मविद्ब्रह्मणी यथा।।७७।। (१२६८)
प्रकारद्वितयेनापि पार्वती स्तुतिमर्हति।
यदस्याः शङ्करे प्रेम यदस्यां प्रेम शाङ्करम्।।७८।। (१२६६)

एवं ब्रह्मविद्ब्रह्मणी परमार्थत एकत्वेन लौकिकदृष्ट्या च भिन्नत्वेन लक्षयित्वा इदानीं ब्रह्मणि तु सर्वदैव प्रपञ्चाभाव इति, मुक्तिसुखं वृत्तौ एव इति वृत्तौ आदरं विशिष्टं विधातुं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मनः सकाशाद् ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्माकारवृत्तेरेव श्रैष्ठ्यमाह चतुर्भिः। तत्रादौ उभयोरुभयत्र प्रेम्णोऽतिशयेन स्वेष्टब्रह्मतोपि तद्विषयकवृत्तौ एवादरः कर्त्तव्य इत्याशयेन वृत्तेरेव स्तुतियोग्यत्वं विशेषतो ब्रह्मत इत्याह **प्रकारेति**। हे शिष्य **प्रकारद्वितयेनापि** प्रकारस्य धर्मस्य द्वितयं द्वयं तेन हेतुनापि, **पार्वती** पञ्चपर्वविस्तारकमोहजन्यापि अहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्माकारा वृत्तिः, **स्तुतिं** स्तवनं आदरमित्यर्थः, **अर्हति** युनक्ति स्तुतियोग्या भवति इति भावः। किं तत्प्रकारद्वयमित्यपेक्षायां तद् दर्शयति **यदिति**। **यद्** अलौकिकं, **प्रेम** स्नेहः, **अस्या** ज्ञानिप्रत्यक्षाया अहं ब्रह्मास्मीतिवृत्तेः, **शंकरे** सकलजगदानन्दकरे प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि अस्ति इति एकः प्रकारः, यच्चालौकिकं **शांकरं** सकलजगदानन्दकरप्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मसम्बन्धि, प्रेम स्नेहोऽस्यां प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयकविद्वत्प्रत्यक्षायां वृत्तौ अस्तीत्येवं द्वितीयः प्रकारो ज्ञेयः।।७८।। (१२६६)

आनन्दाधिक्यहेतुत्वादपि सामान्यानन्दरूपात् प्रत्यगभिन्नब्रह्मणः सकाशाद् ब्रह्माकारवृत्तौ एव आदरो विधेय इत्याह **पूजनीयेति**। हे शिष्य **शंकरादपि** सकलजगदानन्दप्रदात् प्रत्यगभिन्नब्रह्मणोपि सकाशाद् **विशेषेण** अतिशयेन, **पार्वती** पञ्चपर्वविस्तारकाज्ञानोत्पन्नापि अहं ब्रह्मास्मीति वृत्तिः, **पूजनीया** आदरणीया, कुत इत्यत आह **साक्षादिति**। **यो** विद्वत्प्रत्यक्षो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा, **आनन्दरूपः** सुखस्वरूपः, **साक्षात्** स्वत एव अस्ति 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्, यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्, एष ह्येवानन्दयाति, यो वै भूमा तत्सुखमि' त्यादिश्रुते**स्तस्य** तादृशस्यापि

जिस प्रकार एकात्मभाव को पाकर भी अभी तक ब्रह्म तथा ब्रह्मज्ञानी ये दोनों ही अपने-अपने भिन्न स्वरूप को धारण किये हुए हैं, इसी प्रकार सच्चिदानन्दरूपी वास्तव एकात्मभाव को प्राप्त हो कर भी, लौकिक दृष्टि के अनुसार अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपों को भी धारण किये हुए, इन भावानी तथा शङ्कर दोनों को मैं मुमुक्षु प्रणाम करता हूँ।।७७।।

हे मुमुक्षो! यह ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती दोनों ही प्रकार से स्तुति अथवा आदर की पात्र है, क्योंकि इस पार्वती का सकल जगदानन्ददायक ब्रह्म में अपूर्व स्नेह है, तथा इस विद्वन्मनोविनोदिनी पार्वती नामक वृत्ति पर वह शङ्कर भगवान् भी अत्यन्त स्नेह रखते हैं। अतः मुमुक्षु लोगों को ब्रह्माकारवृत्ति बनाने में विशेष आदर रखना चाहिये।।७८।।

पूजनीया विशेषेण शंकरादपि पार्वती।
साक्षादानन्दरूपो यस्तस्याप्यानन्दवर्धिनी।।७९।। (१३००)
परब्रह्मस्वरूपैव पार्वती नात्र संशयः।
यदस्यां प्रचुरप्रेमा ब्रह्मज्ञानी सदाशिवः।।८०।। (१३०१)

आनन्दवर्धिनी आनन्दः सुखं वर्धयतीति सा तथोक्ता स्वविषयब्रह्मानन्दस्वात्मानन्दाभ्यामानन्दद्वैगुण्यकारिणीति भावः, अस्तीतिशेषः, अत इति पूर्वत्र योज्यम्।।७९।। (१३००)

ननु मुमुक्षूणां प्रत्यगभिन्नब्रह्मभाव एव इष्टः साक्षान्मुक्तिप्रदत्वाद् वास्तवत्वाच्च अस्तु किमापातिकया वृत्त्या इत्याशङ्क्य तस्या एव ब्रह्मत्वं सोपपत्तिकमाह **परब्रह्मेति**। हे शिष्य **पार्वती** पञ्चपर्वविस्तारकमोहात् उत्पन्ना प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषया अहं ब्रह्मास्मीति प्रमारूपावृत्तिः पार्वती, **परब्रह्मस्वरूपैव** परं कार्यकारणातीतं ब्रह्म देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु स्वमसाधारणं रूपमाकृतिर्यस्याः सा तथाभूतैवास्तीति निश्चेतव्यम्, **अत्र** ब्रह्माकारवृत्तेर्ब्रह्मरूपत्वे, **संशयः** सन्देहो, **न** नास्ति, कुत इत्यत आह **यदिति। यद्** यस्मात्कारणाद्, **ब्रह्मज्ञानी** ब्रह्मणः प्रत्यगभिन्नब्रह्मणो ज्ञानं साक्षात्कारो विद्यते यस्य स, तादृशोपि अत एव **सदाशिवः** सर्वदा सुखस्वरूपः सन्नपि प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरुः, **अस्यां** प्रकृतायां ब्रह्माकारवृत्तौ पार्वत्यां, **प्रचुरप्रेमा** प्रचुरं उत्कृष्टं प्रेम स्नेहो यस्य स तथाविधोऽस्ति अत इति योज्यम्।।८०।। (१३०१)

मुमुक्षु लोगों को उचित है कि शङ्करदेव से भी अधिक इस ब्रह्माकारवृत्तिरूपी पार्वती की पूजा (आदर) किया करें। क्योंकि जो शङ्कर स्वतः ही आनन्दस्वरूप हैं उन आत्माशङ्कर के भी आनन्द को यह वृत्ति बढ़ा देती है।

यह वृत्ति अपने विषय ब्रह्मानन्द को भी भोगती है तथा आत्मानन्द को भी लेती रहती है। इस प्रकार इस वृत्ति की महिमा से यह आनन्द दुगुना हो जाता है। यही कारण है कि सामान्य आनन्दस्वरूप ब्रह्म की अपेक्षा आनन्द को अधिक कर देने वाली ब्रह्माकारवृत्ति का ही विशेष आदर मुमुक्षु लोगों को करना चाहिये।।७९।।

इस ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती को साक्षात् परब्रह्मस्वरूप ही समझना चाहिये। इसकी ब्रह्मरूपता में सन्देह करने का कोई भी कारण नहीं। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी सदाशिव इस वृत्तिरूपी पार्वती पर सदा ही अपना प्रगाढ प्रेम रखते हैं।

साक्षात् मुक्ति पद को दिलाने वाला ब्रह्मभाव ही यद्यपि मुमुक्षु लोगों को प्रिय होना चाहिये, तथापि इस ब्रह्माकारवृत्ति तथा ब्रह्मभाव में कोई भी अन्तर नहीं है, तथा सभी ब्रह्मज्ञानी लोग इस वृत्ति पर बड़ा अनुराग रखते हैं। ये लोग इसी वृत्ति के बढ़ते-बढ़ते अन्त में पूर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण से ब्रह्मभाव के समान ही यह वृत्ति भी मुमुक्षु लोगों को प्रिय हो गई है।।८०।।

मन्दारास्तरवो वनेषु परिखातोयं सुधासागरो
द्वारेऽप्यष्टविभूतयो निधिगणैरन्तःपुरे पार्वती।
शूलं शस्त्रवरं वृषः प्रियसखा नारः कपालः करे
ग्रैवेयं गरलं भुजेषु भुजगा भस्माङ्गरागे रुचिः।।८१।। (१३०२)

ननु प्रत्यगात्मशिवगुरौ साकारे च शिवे वृत्तिसुखाभिलाषेण स्त्रीभोगजन्यसुखाभिलाषेण च विषयित्वमेव कुतो न स्यात् कुतश्च ब्रह्मज्ञानित्वं तयोः निश्चेतव्यमित्याशङ्क्य उभयत्र विषयित्वलक्षणाभावं दर्शयति **मन्दारा इति**। हे शिष्य साकारपक्षे यस्य इति अध्याहार्यं, यस्य शिवस्य **वनेषु** अरण्येषु आरामेषु वा, **मन्दारा** मन्दारनामकास्तरवः, कल्पवृक्षाः सन्ति अन्यकामिनां कामानुरूपफलप्रदत्वाद् यत्प्राप्तये कर्माद्यनुष्ठानं क्रियते ते कल्पवृक्षाः शिवस्य अरण्ये साहजिकाः स्थिता इति भावः। किञ्च यस्य शिवस्य **परिखातोयं** परिखा शिवनगरस्य परितः खातरूपा तस्यास्तोयं जलं **सुधासागरः** अमृतसमुद्रोऽस्ति कामिनां विषयभोगाय बहुकालशरीर-जीवनहेतुभूतम् अमृतं काम्यमिति तत्प्राप्तये कर्माद्यनुष्ठानक्लेशस्तत्तस्य समुद्र इव शिवनगरपरिखाभूतं विद्यते इति भावः, किञ्च **द्वारेपि** यस्य शिवस्य द्वार्यपि, **निधिगणैः** सह निधयः पद्मशंखादयो नव तेषां गणैः समूहैः, सह साकं **अष्टविभूतयः** अष्टौ अष्टसंख्या विभूतय अणिमाद्याः सिद्धयः सन्ति सर्वकामसाधनत्वात्, नवनिधिषु अष्टसिद्धिषु च कामिनां कर्मोपासनाद्यनुष्ठानप्रयासः प्रदृश्यते ते नव निधयः ताः च अष्टसिद्धयः शिवस्य नित्यप्राप्तत्वादनादरणीयत्वाच्च शिवदर्शनविघ्नरूपत्वेन द्वारे स्थापितास्तिष्ठन्तीति भावः, किञ्च यस्य शिवस्य **अन्तःपुरे** अवरोधे पार्वत्यस्ति गौरी विद्यते; सुन्दरस्त्रीलाभाय अन्यकामिभिः गौरी पूज्यते सैव शिवस्यानुकूला भार्येति भावः। एवं भोगसामग्र्यां विद्यमानायामपि शिवस्य कामित्वाभावे चिह्नान्याह **शूलमिति। शूलं** त्रिशूलं, तस्य शिवस्य **शस्त्रवरं** शस्त्रेषु आयुधेषु वरं श्रेष्ठमायुधमस्ति, निर्धारणे षष्ठी सप्तमी वा, श्रेष्ठमायुधं मतमित्यर्थः, कामिनां स्वल्पसम्पत्तावपि विद्यमानायां सत्यां धनुःखड्गादीन्यायुधानि तेषां स्वस्य च सौन्दर्याय सुवर्णादिधातुभिश्चित्रितानीष्टानि दृश्यन्ते, शिवस्य तु सर्वलोकारुचिविषयं लौहं सुवर्णादिभिरचित्रितं त्रिशूलं मान्यं शस्त्रमतस्तस्मिन् कामिलक्षणाभावात्कामित्वं नास्तीति निश्चेतव्यमिति भावः। किञ्च तस्य शिवस्य **प्रियसखा** प्रिय इष्टः सखा मित्रम् इष्टं वाहनमित्यर्थः, **वृषो** बलीवर्दोऽस्ति, कामिनां तु स्वल्पायामपि सम्पदि प्राप्तायां सत्यां करितुरगरथादियानानि सुवर्णादिभूषितानि दृश्यन्ते शिवस्य एतादृशि संपदि विद्यमानायामपि लोकगर्ह्यं वृषवाहनमस्ति ततः तस्मिन् कामिलक्षणाभावात् न कामित्वमिति निश्चेतव्यमिति भावः। किञ्च शिवस्य **करे** हस्ते, **नारो** नुर्मनुष्यस्यायं नारः, **कपालो** नृकरोट्यस्ति, कामिनां तु किञ्चित्संपन्नानामपि पानभोजनपात्राणि सुवर्णादिनिर्मितानि दृश्यन्ते, शिवस्य तु पानभोजनार्थं मनुष्यशिरोस्थिभूतं लोकनिन्द्यं कपालमस्ति ततोपि कामिलक्षणाभावात् न शिवे कामित्वमिति भावः। किञ्च शिवस्य **ग्रैवेयं** ग्रीवाभूषणं, **गरलं** विषमस्ति, कामिनां स्वल्पायामपि संपदि विद्यमानायां सुवर्णरत्नादिनिर्मितानि ग्रीवाभूषणानि दृश्यन्ते शिवस्य तु कण्ठभूषणं विषमतः कामित्वलक्षणाभावात् न शिवे कामित्वं सम्भाव्यमिति भावः। किञ्च **भुजेषु** शिवस्य हस्तेषु,

भुजगाः सर्पाःसन्तिः, कामिनां तु किञ्चित्संपत्तौ विद्यमानायां बाहुषु सुवर्णरत्नादिनिर्मितानि भूषणानि दृश्यन्ते शिवभुजेषु तु लोकभीतिप्रदाः सर्पा एव भूषणत्वेन धृता अतश्च कामिलक्षणाभावान्न शिवे कामित्वमिति भावः, किञ्च शिवस्य **भस्माङ्गरागे** भस्म विभूतिरेवाङ्गस्य शरीरस्य रागो रञ्जनद्रव्यं तस्मिन्, **रुचिः** प्रीतिरस्तीति शेषः, कामिनां तु स्वल्पायामपि संपदि विद्यमानायां चन्दनकस्तूर्याद्यङ्गरागे रुचिर्दृश्यते शिवस्य तु सर्वलोकाप्रिये भस्मनि एव प्रीतिरधिकाऽतो न तस्मिन्कामित्वं किन्तु तस्मिन् वैराग्यलक्षणस्य विद्यमानत्वाद् ब्रह्मवित्त्वं तादृशब्रह्मज्ञानित्वे विद्यमानेपि शिवस्य पार्वत्यामधिकप्रीतिदर्शनात्पार्वत्याः परब्रह्मत्वं पूर्वश्लोकोक्तं सम्भाव्यमिति भावः।

प्रकृतार्थे तु प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः यस्य विद्वत्प्रत्यक्षस्य **वनेषु** सम्भजनविषयेषु वेदान्तेषु, वनधातोः सम्भजनार्थाद् वनशब्दनिष्पत्तेः वनशब्देन सेवनयोग्या वेदान्ता अत्र ग्राह्या इति भावः, **तरवः** तरन्ति भवसागरं ते तरवो ज्ञानिनो, **मन्दारा** मं मकारवाच्यं समष्टिव्यष्ट्यज्ञाने तदुपाधिकौ ईश्वरप्राज्ञौ च एतद्रूपं प्रपञ्चं दारयन्ति स्वस्य अन्येषां च विनाशयन्ति ते तथोक्ताः तिष्ठन्ति यस्य शिवस्य स्वरूपाज्ञानप्रतिपादकेषु वेदान्तेषु स्थिताः सन्तः स्वतो भवसागरं तीर्णा अन्येषामपि अज्ञाननिवारणेन तारका भवन्ति किं पुनः तेषां कामित्वं नास्तीति तेषां कामित्वाभावे च किं पुनः प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरौ कामित्वं नास्तीति कामित्वाभावेपि ब्रह्माकारवृत्तौ प्रीत्यतिशयस्यानुभूयमानत्वाद् ब्रह्माकारवृत्तौ ब्रह्मत्वमुक्तं सम्भाव्यमिति भावः। किञ्च प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः **परिखातोयं** परितः खनति उन्मूलयति अविद्यामिति परिखा विद्या तस्यास्तोयं तोयमिव तृष्णानिवर्त्तकं सुखं विद्यानन्दशब्दवाच्यं, **सुधासागरः** सुधा अमृतानि सुखानि मानुषानन्दादिब्रह्मानन्दान्तानि 'आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठ' इत्यादिकया 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तया श्रुत्या प्रतिपादितानि उत्तरोत्तरं शतशतगुणितानि तेषां तोयस्थानीयानां सागर इव विद्यानन्दोऽस्ति ब्रह्मानन्दविद्यानन्दयोरभेदाद् ब्रह्मानन्द एव सुधासागरत्वेन ग्राह्यः। किञ्च द्वारेपि प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः प्राप्तिकारणत्वाद् द्वारभूतं योगो ज्ञानं वा तस्मिन्नपि **निधिगणैः** सह निधीयन्ते स्थाप्यन्ते सिद्धयो येषु ते निधयस्तत्तत्सिद्धिप्रापका धारणाविशेषास्तेषां गणाः समूहास्तैः, साकम् **अष्टविभूतयो**ऽष्टसङ्ख्याः सिद्धयः सन्ति। किञ्च यस्य प्रत्यगभिन्नशिवगुरोः **अन्तःपुरे अन्तःकरणे** लिङ्गशरीरे, **पार्वती** पञ्चपर्वविस्तारकमोहोत्पन्नापि अहं ब्रह्मास्मीति प्रमावृत्तिरस्ति, किञ्च यस्य प्रत्यगभिन्नशिवगुरोः **शूलं** शान्तिवैराग्यबोधा ख्यैरित्यादिश्लोकोक्तां (१२६५); प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयबोधरूपमेव त्रिशूलं शत्रुभेदकमिवाज्ञानशत्रुभेदकं शस्त्रवरं शंसनीयेषूपदेश्येषु शस्त्रेषु वरं श्रेष्ठमस्ति, किञ्च **वृषो** 'ब्रह्माद्या यत्र नारूढा' इति श्लोकोक्तो धर्ममेघाख्यः समाधिः श्रेष्ठत्वाद् वृषः, स **प्रियसखा** इष्टं मित्रमस्ति। किञ्च **यस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः, **करे** हस्ते योगाख्ये 'सांख्ययोगौ निजौ बाहू' इत्युक्तेः, **नारो** न राति किञ्चिदपीति नरो वैराग्यादिसाधनसम्पन्नः प्रमाता तस्यायं नारः, **कपालः** कं ब्रह्मसुखं पालयति रक्षतीति कपालो ब्रह्मसुखसाक्षात्कारोऽस्ति ब्रह्मसुखसाक्षात्कारस्य योगाधीनत्वाद् योगहस्तेनैवान्येषामपि तत्प्राप्तिरिति भावः। किञ्च **यस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः, **ग्रैवेयं** ग्रीवायामिव एकदेशे स्थितं भूषणमिव वर्त्तमानं, **गरलं** गृणाति हितमुपदिशतीति गरो गुरुः, गिरति ग्रसति अज्ञानमिति गरो गुरूपदिष्टवाक्यकदम्बो वा अज्ञानाद्यनर्थग्रासकत्वात् तं लाति

चन्द्रादित्यशतप्रकाशजयिनी चन्द्रावतंसोज्ज्वला
गङ्गागर्भजटाधरा त्रिनयना गङ्गाम्बुवन्निर्मला।
वामे भूधरकन्यका सहचरी भूत्या सदालंकृता
स्वानन्दा शितिकण्ठिनी पुरभिदो मूर्त्तिः पुरः स्फूर्जति।।८२।। (१३०३)

आदत्ते इति गरलं गुरुसेवनं गुरूपदिष्टवाक्याङ्गीकरणं वाऽस्तीति ज्ञातव्यम्। किञ्च **यस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः, **भुजेषु** द्वैताद्वैतत्यागादानहेतुत्वाद् भुजौ सांख्ययोगौ आदरे बहुवचनं तेषु, **भुजगा** भुजाभ्यां सांख्ययोगाभ्यां गच्छन्ति आत्मानमिति भुजगाः सांख्येन योगेन वा जीवब्रह्मैक्य-साक्षात्कारा इति भावः, योगिनो विवेकिनश्च सन्ति। किञ्च **यस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरो, **रुचिः** प्रीतिः, **भस्माङ्गरागे** ज्ञानबाधितं प्रारब्धशेषपर्यन्तं प्रतीयमानं जगत् तदेव भस्मतुल्यत्वाद् भस्मेव भस्म तदेवाङ्गरागः स्वरूपरञ्जकं द्रव्यं तस्मिन्नस्तीति ज्ञेयम्, एतैः लक्षणैः प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरौ कामित्वाभावः सम्भाव्यः तथा सत्यपि स्वाकारवृत्तौ प्रीत्यतिशयदर्शनाद् ब्रह्माकारवृत्तौ एव ब्रह्मत्वं संभाव्यमिति भावः।।८१।। (१३०२)

ननु साकारे शिवे प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरौ च पार्वत्यां ब्रह्माकारवृत्तौ च प्रेमाधिक्यदर्शनात्कामित्वं तर्हि कुतः प्रतिपाद्यते इत्याशङ्क्य मूढजनानां तथा प्रतीतिरस्तु, मत्प्रतीत्या तु न तथा इत्याशयेनाह **चन्द्रादित्येति**। हे शिष्य साकारपक्षे **चन्द्रादित्यशतप्रकाशजयिनी** चन्द्राः सोमा आदित्याश्च सूर्याश्च तेषां शतानि शतकानि तेषां प्रकाशः प्रभा तं जयति तच्छीला अतितेजस्विनीत्यर्थः *निराकारपक्षेपि*

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम'ति भगवद्वचनात्।

जिसके वनों में तो बहुत से कल्पवृक्ष खड़े हैं, सुधा का समुद्र जिसके नगर की परिखा (खाई) का जल बन रहा है, नौ निधियों के साथ ही आठों विभूतियाँ जिसके द्वार पर (पहरा देती) रहती हैं, जिसके अन्तःपुर में पार्वती जैसी अनुपम स्त्री है (इतना बड़ा सम्पत्तिशाली और इतनी बड़ी महिमा वाला होने पर भी) त्रिशूल को ही जिसने अपना सर्वोत्तम आयुध बनाया है, बैल से ही जिसने प्रिय मित्र का नाता जोड़ा है, आदमी की खोपड़ी को ही जिसने अपने हाथ में (पात्र की जगह) ले रखा है (सब कुछ छोड़कर) गरल (हलाहल) को ही जिसने अपना ग्रैवेय (कण्ठ का भूषण) बना लिया है (सोने आदि के अमूल्य आभूषणों को छोड़कर) जिसने अपनी भुजाओं में साँपों को लपेट रक्खा है (चन्दन आदि सुगन्ध और बहुमूल्य पदार्थों को छोड़कर) अपने अंगों पर भस्म मलना ही जिसने पसन्द किया है।।८१।।

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। तस्य भासा सर्वमिदं विभाती'ति, श्रुतेश्च।।

ननु श्रुतौ स्मृतौ च एकचन्द्रस्य एकसूर्यस्य च प्रकाशतिरोधानं, तत्र न तच्छतकप्रकाशजेतृत्वं दृश्यते, किञ्च तेषां शतकमपि लोकशास्त्रविरुद्धं च न सम्भवति,सूर्यचन्द्रयोरेकत्वस्योपलभ्यमानत्वादिति चेत्? न, सूर्यप्रकाश एकदीपप्रकाशतिरोधानमिव अनेकदीपप्रकाशतिरोधानसम्भव इव एकैकसूर्यचन्द्रयोः प्रकाशतिरोधाननिरूपणादनन्तचन्द्रसूर्यादीनां प्रकाशतिरोधानस्य सम्भावितत्वादनन्तब्रह्माण्डापेक्षया च सूर्यचन्द्रादीनामनन्तत्वाच्चाऽनन्तचन्द्रादित्यप्रकाशजेतृत्वं सम्भाव्यं प्रत्यगात्मशिवगुरौ। तथा **चन्द्रावतंसोज्ज्वला** चन्द्रः सोम एवावतंसश्चूडाभूषणं तेन उज्ज्वला अतिशोभायमाना। निराकारपक्षेऽपि '**शुद्धात्मा**शीतला कान्ते'त्यादिश्लोकोक्तमायाविद्यारहितत्वतापत्रयनिवर्तकत्वकमनीयत्वसूक्ष्मत्वदुष्प्रापत्वकार्यकारणातीतत्वलक्षणैः लक्षितो बोध एव चन्दयति आह्लादयतीति व्युत्पत्या चन्द्रपदेन ग्राह्यः सोऽवतंस इव शिरसा धार्यो मुमुक्षूणां तेनोज्ज्वला निर्मलत्वेन प्रकाशमाना, तथा **गङ्गागर्भजटाधरा** गङ्गा विष्णुपदी गर्भ उदरे यासां तथाभूतानां जटानां सटानां धरा धर्त्री; निराकारपक्षे तु 'ब्रह्मलोका च या गङ्गा' इत्यत्र उक्ता ब्रह्मविषयिणी सन्ततं प्रवर्त्तमाना वृत्तिरेव, योगपक्षे सुषुम्णा वात्र गङ्गापदेन ग्राह्या, सा गर्भ उदर इव अन्तः स्थिता यासां जटानां तासां 'विश्रामोयं मुनीन्द्राणामि'त्याद्युक्तानां वेदान्तसांख्ययोगाख्यानां जटानां धरा धात्र्याधारभूतेत्यर्थः। तथा **त्रिनयना** त्रीणि त्रिसंख्यानि नयनानि नेत्राणि यस्याः सा तथोक्ता; निराकारपक्षे तु त्रीणि त्रिसंख्यानि नयनानि प्रापकानि 'कर्मोपास्ती उभे नेत्रे' इत्यत्रोक्तानि कर्मोपासनज्ञानाख्यानि अन्तःकरणशोधनेन चित्तस्थैर्यसम्पादनेन च साक्षात्प्रकाशनेनापि क्रमेण यस्याः सन्ति सा तथाभूता। तथा **गंगाम्बुवन्निर्मला** यथा गंगाजलं स्वतो मलरहितं सद् अन्येषामपि मलनिवर्त्तकं भवति तथा निर्मला स्वतः पापरहिता सती स्वशरणामुमुक्षूणामपि पापनिवर्त्तिका; निराकारपक्षे तु 'अपहतपाप्मे'ति श्रुतेः स्वतः पापमायाविद्यादिमलरहिता सती स्वसाक्षात्कारवतां स्वशरणागतमुमुक्षूणां च पापस्य मायाविद्यादिमलानां च निवर्तयित्री। किञ्च यस्या शिवमूर्त्तेर्**भूत्या** जातौ एकवचनं अष्टविभूतिभिः **सदा** सर्वकालं च, **अलङ्कृता** भूषिता, **सहचरी** सह साकं चरितुं वर्तितुं शीलमस्याः सा तथोक्ता, **भूधरकन्यका** भुवः पृथिव्या धरः स्तम्भकः पर्वतो हिमालयः तस्य कन्यका सुता पार्वती, **वामे** वामभागेऽस्ति; निराकारपक्षे तु यस्याश्चिन्मात्राकृतेः **भूत्या** अष्टविभूतिभिः, **सदा** सर्वकालं, च **अलंकृता** भूषिता, सति ब्रह्माकारवृत्तौ एव सर्वसिद्धीनां उपलब्धेः, **भूधरकन्यका** भवन्ति अस्या जीवा इति भूरज्ञानं तत्कार्यं च विक्षेपः क्षेत्रापरपर्यायम् अन्तःकरणमित्यर्थः, अत्र भूपदेन ग्राह्यं; तस्या धरः अवष्टम्भकः, तस्य कन्यका सुता इव जीवब्रह्मैक्यसाक्षात्कारहेतुभूता अहंब्रह्मास्मीत्याकारा वृत्तिः **वामे** वामं सुन्दरं सुखरूपं तस्मिन् सुखविषयत्वादेव तस्या इति भावः, **सहचरी** सह साकं चरितुं स्वात्मसुखमनुभवितुं शीलमस्याः सा तथाभूताऽस्ति विषयतद्वृत्योः साहचर्यस्य लोके प्रसिद्धत्वादिति भावः। तथा **स्वानन्दा** स्व आत्मरूप आनन्दः सुखं यस्याः सा तथोक्ता, न तु शिवः कामिवद्विषयसुखेन सुखीति भावः। निराकारपक्षे तु स्व आत्मैवानन्दः सुखं तद्रूपेत्यर्थः, न तु विषयसुखेन

विद्यानन्देन च सुखरूपेत्यर्थः। तथा **शितिकण्ठिनी** 'कण्ठे ब्रह्माण्डनभसामि'ति श्लोकोक्तप्रकारेण निराकारपक्षे श्यामकण्ठवत्त्वं व्याख्येयं, 'यद् ब्रह्माण्डशरीरस्ये'त्यादिभिः 'रामरत्नं धृतं कण्ठे नीलकण्ठत्वकारणमि'त्यन्तैः श्लोकैरुक्तेषु नीलकण्ठत्वकारणेषु मध्ये यथारुचि साकारपक्षे नीलकण्ठत्वं व्याख्येयम्। एतादृशी **पुरभिदः** पुरं त्रिपुरं भिनत्ति नाशयति असौ पुरभित् त्रिपुरहन्ता शिवः, तस्य **मूर्तिः** आकृतिः, मे **पुरः** अग्रे, **स्फूर्जति** भासते। निराकारपक्षे तु **पुरभिदः** पुराणि स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यानि समष्टिव्यष्टिरूपाणि शरीराणि भिनत्ति बाधते असौ पुरभित्तस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः **मूर्तिः** चिन्मात्ररूपाऽकृतिः, **मे** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मरूपस्य चिदाभासस्य, **पुरः** अग्रे प्रत्यक्षतयेत्यर्थः, **स्फूर्जति** प्रकाशते, अतः कामिभिःस्वसादृश्यारोपेण साकारे निराकारे च पार्वत्यां वृत्तौ ब्रह्माकारायां वा शिवस्य ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरोश्च प्रेमाधिक्यदर्शनात्कामित्वं प्रतिपादितं तन्मौढ्यविलसितमेवेति कामित्वाभावेन ब्रह्मज्ञानिनः शिवस्य ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरोश्च पार्वत्यां प्रमारूपवृत्तौ च प्रेमाधिक्यदर्शनात् पार्वत्या ब्रह्माकारवृत्तेश्चोक्तं ब्रह्मत्वं सम्भाव्यमिति भावः।।८२।। (१३०३)

(यद्यपि वे इतने सीधे सादे हैं) परन्तु अनन्त सूर्यचन्द्रों के प्रकाश को परास्त करने वाली (सिर पर पहने हुए) चन्द्रभूषण के कारण निर्मल, गङ्गागर्भित जटाओं वाली (जिस मूर्ति की जटाओं में गङ्गा समा रही है) तीन नेत्रों वाली, गङ्गाजल के समान निर्मल भूति (विभूति अथवा भस्म) से सदा अलंकृत, अपने में से ही आनन्द को लेने वाली नीलकण्ठवाली अपने वामभाग में पार्वती को बिठाये हुए उन त्रिपुरनाशक की वह मूर्ति हमारे सामने सदा ही चमका करती है।८२।।

प्रकृतजिस (ब्रह्मज्ञानी शिव) के (सेवन करने योग्य वेदान्तरूपी) वनों में मन्दार नामक (मकार के अर्थ समष्टि व्यष्टि अज्ञान, अज्ञानोपाधि ईश्वर और प्राज्ञ, इन सबसे मिल कर बने हुए अपने प्रपंच को और साथ ही शरण में आये हुए मुमुक्षु लोगों के भी प्रपंच को विदीर्ण कर डालने वाले) ज्ञानीतरु निवास करते हैं (जिन्होंने कि इस भवसागर को बात की बात में पार कर डाला है, जो ज्ञानी लोग शिवस्वरूप के ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले वेदान्तों में बतायी हुई निष्ठा में रह कर स्वतः तो भवसागर को पार कर ही जाते हैं परन्तु साथ ही दूसरों के अज्ञान को हटा कर उन्हें भी पार कर देते हैं) अविद्या को उखाड़ देने वाली विद्यानाम की परिखा (खोद डालने वाली) में भरा हुआ विद्यानन्द आदि नामों से कहा जाने वाला सुखरूपी जल ही (जिसने कि तृष्णारूपी प्यास को बुझाने का बोझ स्वयं ही अपने सिर पर उठा रक्खा है) सुधासागर नाम से कहा जाता है। इस सदाशिव की प्राप्ति के साधन जो योग अथवा ज्ञानरूपी दो द्वार हैं उन द्वारों पर, आठों प्रकार की सिद्धियाँ उन उन

सिद्धियों को देने वाली उन उन धारणाओं के साथ ही विराजती रहती हैं। उसके लिङ्गशरीररूपी अन्तःपुर में सदा ही ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती बैठी रहती है। (वे सदा ही अपने मन में ब्रह्मचिन्तन करते रहते हैं। शान्ति वैराग्य तथा बोध नाम की तीन धारों से बना हुआ, अज्ञानरूपी शत्रु का वध करनेवाला बोधरूपी) त्रिशूल ही जिसका (उपदेश करने योग्य शास्त्रों में) सर्वश्रेष्ठ शस्त्र हो रहा है, धर्ममेघ समाधि नाम का वृष ही जिनका प्रिय मित्र बन गया है, जिसने नार अर्थात् वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न अधिकारी के (ब्रह्मसुखसाक्षात्काररूपी) कपाल को अपने (योग नाम के) हाथ में पकड़ रक्खा है, गुरुसेवन रूपी गरल को (अथवा गुरु के बताये रहस्य को स्वीकार कर लेने रूपी गरल को) ही जिसने अपने कण्ठ का भूषण बना लिया है, जिसने (अपनी द्वैतत्याग तथा अद्वैतग्रहणरूपी सांख्य अथवा योग नाम की भुजाओं के सहारे से आत्मा का दर्शन करने वाले) योगी अथवा विवेकी भुजगों को अपनी भुजाओं का भूषण बना कर पहन रक्खा है, ज्ञानाग्नि से जलाये हुए, प्रारब्धशेष पर्यन्त होने वाले, जगद्रूपी भस्म से ही जिसने अपने स्वरूप को रंग डालना पसन्द किया है, पुरभिद् अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारण नाम के तीनों शरीरों को विदीर्ण करके बाहर निकल आने वाले शिवात्मा) की वह अनन्त सूर्य और अनन्त चन्द्रों के प्रकाशों को जीतने वाली, बोधरूपी चाँद के बने हुए शिरोभूषण को पहन कर निर्मल दीखती हुई, ब्रह्माकार वृत्तिरूपी गंगा से युक्त, वेदांत सांख्य तथा योग नाम की जटाओं को धारण किये हुए (क्रमानुसार अन्तःकरण को शुद्ध, चित्त को स्थिर तथा आत्मा का दर्शन कराने वाले) कर्म, उपासना तथा ज्ञान नाम के तीन नेत्रों वाली (अपने और अपनी शरण में आये हुए मुमुक्षु लोगों के पाप माया और अविद्या आदि मलों को हटाने के कारण) गंगाजल के समान निर्मल आकार को धारण किये हुए, आठों विभूतियों से सदा सुशोभित रहने वाली भूधरकन्यका (भूनाम के अन्तःकरण को धारण करने वाले अहंकार की पुत्री के समान ब्रह्माकार वृत्ति) को अपने सुखरूपी वाम भाग में बिठाने वाली, अनादि काल से लेकर अब तक निगले हुए अनन्त ब्रह्माण्डों की नीलिमा को अपने गले में धारण करने वाली, वह चिन्मात्ररूप आकृति हम विवेकी लोगों की ध्यानरूपी आँखों के सामने सदा ही खिंची रहती है।

इति सोपकरणं ध्यानम्। पशुपतये नमः, स्नानम्

पशुत्ववासना त्याज्या ज्ञानगङ्गाम्बुधारया।
पवित्रया शीतलया स्नाप्यः पशुपतिः शिवः।।८३।। (१३०४)

इदानीं निर्णीतं सोपकरणं ध्यानमुत्तरत्रासङ्करायोपसंहरति गद्येन **इतीति। सोपकरणम्** उपकरणं ध्यानानुकूलसर्वसामग्री तेन सहितं सोपकरणं, **ध्यानं** चिन्तनरूपः पूजोपचार इति समाप्तम्।

एवं ध्यानं निर्णीयेदानीमुत्तरमवशिष्टं पूजाक्रमं निर्णेतुं तत्र प्रथमं स्नाननिर्णयाय स्नानमन्त्रं तावद्दर्शयति **पशुपतय इति। पशुपतये** पशवोऽज्ञा जीवा इत्यर्थः, तेषां पतिः पालकः स्वसत्त्वचित्त्वानन्दत्वदानेन रक्षको जीवानां ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुस्तस्मै तत्स्वरूपप्राप्तय इत्यर्थः, **नमः** प्रह्वीभावोऽष्टप्रकृत्यष्टाङ्गसहितोऽष्टप्रकृतितदुपहितजीवबाधेन लय एवात्र प्रणामो विवक्षितः। अष्टधा प्रकृतिश्च।

'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'।।

इति श्लोके गीतायां भगवतोक्ता, बाधश्च 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योतोस्ति श्रोते' त्यादिश्रुतिभिरष्टप्रकृत्युपहितकर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मचिदाभाससत्त्वनिषेधरूप उक्तः प्रसिद्धस्तेन च पशुत्वत्याग एव पशुपतिशब्दवाच्यो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मनैक्यमेव मन्त्रार्थोऽत्र विवक्षित इति भावः। इममेवार्थं श्लोकेन स्पष्टयति **पशुत्वेति**। हे शिष्य **ज्ञानगङ्गाम्बुधारया** ज्ञायते प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मानेनेति ज्ञानं बोधः स एव सन्ततगमनात्पवित्रत्वकारणाच्च गङ्गा इव तस्या अम्बिव तापत्रयनिवर्तकत्वाद्विद्यानन्दोऽत्र ग्राह्यस्तस्य धारेवात्राखण्डत्वं विविक्षितं तया, **पवित्रया** मायाविद्यारागादिमलनिवर्त्तकया, **शीतलया** तापत्रयनिवर्त्तयित्र्या, **पशुत्ववासना**ऽज्ञत्वात् पशोः जीवस्य भावः पशुत्वं तस्य वासना इच्छा, **त्याज्या** त्यक्तुं योग्यास्ति, तेन इति अध्याहार्यं तेन पशुत्ववासनात्यागेन, **पशुपतिः** पशूनामज्ञानां जीवानामिति यावत् पतिः पालकः स्वसत्त्वं जीवेषु आरोप्य रक्षको ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः, **शिवः** सुखरूपः, **स्नाप्यः** स्नापितव्यो, ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरोर्जीवत्ववासनात्यागपुरःसरं जीवत्वबाध एवात्र पूजायां स्नानं कार्यमिति भावः।।८३।। (१३०४)

प्रथम तो अपने पशुत्व (जीवभाव) के विचारों को सर्वथा छोड़ दो और फिर (जब कि आत्मज्ञान का धारावाहिक प्रवाह बहने लगे, संसार के विषयों का चिन्तन इस प्रवाह को विच्छिन्न अथवा खण्डित न कर सके तब ऐसी) निरन्तर बहने वाली तथा दूसरों को भी पवित्र कर देने वाली ज्ञानरूपी गङ्गा के (तीनों तापों को हटाने वाले विद्यानन्दरूपी) जल की (अविद्या राग आदि मल से रहित होने से) पवित्र तथा (आध्यात्मिकादि तीनों तापों को हटाने के कारण) शीतल धार से पशुपति (अर्थात् शिवनामक सुखरूप आत्मदेव) को स्नान कराना चाहिये। (अपनी जीवत्ववासना को शनैः शनैः कम करते-करते अन्त में जीवत्व की सम्पूर्ण बाधा ही कर देनी चाहिये। यही तो इस हमारे शिवपूजन में स्नान कहाता है)।।८३।।

शिवाय नम इति पूजनम्

शिवो देवः शिवो जीवः शिवादन्यन्न विद्यते।
एवं शिवे प्रकर्त्तव्यं भक्त्या चन्दनलेपनम्।।८४।। (१३०५)

अथाक्षताः

भजनादक्षता भक्ता देवस्तु स्वयमक्षतः।
अतस्त्वक्षतया भक्त्या पूजनीयः शिवोऽक्षतैः।।८५।। (१३०६)

एवं स्नानं निर्णीयेदानीमुत्तरोपचारान्निर्णेतुं तत्समर्पणमन्त्रं तावदाह **शिवाय नम इति। शिवाय** शिवो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मशिवगुरुः तस्मै, तत्स्वरूपप्राप्तये **नमः** अष्टप्रकृत्यष्टाङ्गसहितः साधिष्ठानचिदाभासबाधरूपः प्रह्वीभावोऽस्त्विति प्रार्थना इति मन्त्रार्थः। इत्यनेन सर्वोपचारार्पणं ज्ञायते इति शेषः। तमेवार्थं श्लोकेनापि स्पष्टयति **शिव इति**। हे शिष्य **देवः** प्रत्यगभिन्नब्रह्मचिद्रूपो गुरुः, **शिव** आनन्दरूपोऽस्ति, 'यो वै भूमा तत्सुखमि'ति श्रुतेः, किञ्च **जीवः** अधिष्ठानकूटस्थचैतन्यसहितः प्राणोपाधिमान् बुद्धिस्थचिदाभासो जीवः, स **शिवः** प्रत्यगभिन्नब्रह्मानन्द एवास्ति, 'नान्योतोस्ति द्रष्टे' त्यादिश्रुतिभिर्जीवबाधेन कूटस्थावशेषणादेतदेव व्यतिरेकेणाप्याह **शिवादिति। शिवाद्**, ब्रह्माभिन्नप्रत्यगानन्दगुरोः सकाशाद्, **अन्यत्** पृथग्, जीवत्वं **न विद्यते** नास्ति, ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मनः सकाशात् जीवसत्ताऽन्या नास्तीत्यर्थः, **एवं** इत्थंभाव एव, **शिवे** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगानन्दरूपे, **भक्त्या** प्रेम्णा, **चन्दनलेपनं** चन्दयति आह्लादयतीति चन्दनं विद्यानन्दः तस्य लेपनं संयोजनं, **प्रकर्तव्यं** प्रकर्षेण सम्पाद्यमिति भावः।।८४।। (१३०५)

एवमेवाक्षतान्समर्पयितुं गद्येन प्रतिजानीते **अथ इति। अथ** चन्दनलेपननिर्णयानन्तरं, **अक्षता** लोके शिवपूजायां यथा समर्प्यन्ते तेऽत्र पूजायां निर्णीयन्त इति शेषः। तमेव निर्णयं पद्येनाह

शिवाय नमः इस मन्त्र से पूजन किया जाता है।

शिवरूप को प्राप्त करने के लिये मेरा ऐसा प्रह्वीभाव अथवा पतन हो कि उसके पश्चात् मैं जब उठ कर देखूँ तो मुझे आठ प्रकृतिरूपी आठों अंगों का तथा अधिष्ठानसहित मेरे जीवभाव का स्वल्प चिह्न भी हाथ न आये।

शिव ही पूजनीय देव है, शिव ही यह प्राणोपाधि वाला जीव हो बैठा है। शिव से पृथक् तो कुछ भी नहीं है। इस प्रकार के विचारप्रवाहों से बड़े प्रेमावेश में आकर बड़ी तत्परता से आत्मशिव के ऊपर विद्यानन्दरूपी चन्दन का लेप कर डालना चाहिये।।८४।।

भजन के प्रभाव से भक्त लोग भी अक्षत (अमर) हो जाते हैं। निरुपाधि आत्मदेव तो स्वभाव से ही अक्षत (अविनाशी) हैं। इस कारण अक्षत भक्तों को सदा ही अक्षत भक्ति किंवा ब्रह्माकारवृत्ति के द्वारा इस आत्मशिव की पूजा अथवा आदर करते रहना चाहिये। यही इस शिवपूजन में अक्षतपूजन है।।८५।।

अथ अर्कपुष्पविचारः

अर्कः पाशुपतो नाम देवः पाशुपतप्रियः।
अतः पाशुपतार्कस्य पुष्पं पशुपतेः प्रियम्।।८६।। (१३०७)
कटुपत्रस्तरुः कोपि भक्तेन गिरिशेऽर्पितः।
प्रकाशकस्तमोहन्ता स एवार्कत्वमागतः।।८७।। (१३०८)

भजनादिति। हे शिष्य **भक्ता** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वस्य स्वस्मिंश्चिदाभासे सेवका अङ्गीकर्तारश्चिदाभासा एव, **भजनात्** तादृशं यत्स्वस्मिन् ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वस्वीकारलक्षणं भजनं सेवनं, तस्माद् हेतोः **अक्षता** न क्षता न नष्टा भवन्ति, **देवस्तु** ब्रह्माभिन्नप्रत्यक् चिद्रूप आत्मापि, **स्वयं** स्वत एव, **अक्षतो** न क्षतोऽविनाशी, 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मे'त्यादिश्रुतेः, एवं च उभयोः स्वभवैक्याच्च परस्परं प्रीतिः सिद्धेति भावः, अत एव उभयोः अक्षतत्वेन ऐक्याद् एकस्वभावत्वाच्च हेतोः **अक्षतैः** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वस्य स्वस्मिन्नङ्गीकारेण अविनाशित्वं प्राप्तैः चिदाभासैः, **अक्षतया** न क्षता नष्टा तथाविधा या भक्तिः प्रत्यगात्मत्वस्य स्वस्मिन्नङ्गीकारे प्रेमलक्षणा वृत्तिः तयाऽहंब्रह्मेत्येवंरूपया वृत्त्येति भावः, **शिवो** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः, **पूजनीय** आदरणीयः, इदम् एवात्र अक्षतैः पूजनं ज्ञेयमिति भावः।।८५।। (१३०६)

एवमक्षतार्पणं निर्णीय इदानीमर्कपुष्पार्पणं निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **इति इति। अथ** अक्षतार्पणनिर्णयानन्तरं, अर्कपुष्पार्पणनिर्णयो लोके यदर्कपुष्पाणां शिवे समर्पणं क्रियते तस्यात्र शिवपूजायां निर्णयो **विचारः** क्रियते इति शेषः। तमेव निर्णयं पद्येनाह **अर्क इति**। हे शिष्य **पाशुपतः** पशुः जीवः तस्य पतिः पालकः स्वसत्त्वसमारोपेण रक्षकः प्रत्यगभिन्नपरमात्मा इत्यर्थः, तस्यायं पाशुपतः प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयको बोधो नाम प्रसिद्धः स एव प्रकाशरूपत्वाद्, **अर्कः** सूर्य इवास्ति अतः स बोध एवार्कोऽत्र ग्राह्यः, किञ्च **देवो** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा, **पाशुपतप्रियः** पशुपतिः जीवरक्षकः प्रत्यगात्मा ब्रह्माभिन्नस्तस्य तद्विषयत्वेन तत्सम्बन्धी **पाशुपतो बोधः** प्रियः सुखकारणत्वादात्मत्वाच्चेष्टो यस्य स तथोक्तोऽस्ति **अतो** जीवब्रह्मैक्यबोधप्रियत्वादेव, **पाशुपतार्कस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयकबोधस्य प्रकाशरूपत्वेनार्कस्य, **पुष्पं** पुष्पमिव प्रफुल्लं मुक्तिसुखं, **पशुपतेः** पशूनां जीवानां पतेः पालकस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मणः, **प्रियं** इष्टं भवति, न लौकिकार्कपुष्पमत्र पूजायां ग्राह्यमिति भावः।।८६।। (१३०७)

अर्क पुष्पों को लौकिक शिव पर चढ़ाने की विधि का इस शिवपूजन में तात्पर्य बताया जाता है

पाशुपत अर्थात् पशुपतिनामक परमात्मा का बोध ही (प्रकाशरूप हो जाने से) अर्क अथवा सूर्य कहाता है। वह पाशुपत बोध आत्मदेव को बड़ा ही प्रिय लगता है। इसी कारण बोधरूपी सूर्य का (मुक्तिसुखरूपी खिला हुआ) फूल ही पशुपति का प्रिय पुष्प हो गया है। (लौकिक अर्कपुष्प का यहाँ कुछ भी उपयोग नहीं है)।।८६।।

पुष्पङ्कटुदलस्यास्य शाम्भवेन निवेदितम्।
शम्भुना स्वीकृतं तेन सा जाता शिवमल्लिका।।८८।। (१३०९)

ननु लोके तावदर्कनाम्ना वृक्षः प्रसिद्धोऽत्र तु अर्कपदेन बोधः प्रतिपादितस्तत्र वृक्षधर्मवत्त्वं कथं सम्भाव्यं तत्राह **कटुपत्र इति**। हे शिष्य **भक्तेन** अहं ब्रह्मास्मीति स्वस्मिन् ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुत्वाङ्गीकारवता, कोपि सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयः पूर्वम् अज्ञानावस्थायां **कटुपत्रः** कटूनि तीक्ष्णानि पत्राणि दलानि कामक्रोधादिवृत्तिरूपाणि यस्य स तथोक्तः, **तरुः** ज्ञानावस्थायां तरति संसारसमुद्रमिति तरुः ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मबोधो, **गिरिशे** गिरन्ति नश्यन्ति तत्त्वज्ञानेनेति गिरयोऽज्ञानतत्कार्यरूपाः प्रपञ्चास्ताञ्छातयति स्वयंप्रकाशचिद्रूपेण तनूकरोति असौ गिरिशो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मशिवगुरुस्तस्मिन्, **अर्पितः** तदभिन्नत्वेन निश्चितश्चेदित्यध्याहार्यं, चेद् यदि तर्हि प्रकाशकः प्रकाशयिता, आत्मानात्मनोः **तमोहन्ता** तमसोऽज्ञानस्य हन्ता नाशको, यतो भवति अत **एव स** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मविषयको बोध एव, **अर्कत्वं** प्रकाशकत्वेन अर्कनामत्वं, **आगतः** प्राप्त इति निश्चेतव्यम्।।८७।। (१३०८)

ननु लोकप्रसिद्धेऽर्के शिवमल्लीति नाम प्रसिद्धं तदत्र कथं सम्भाव्यं तत्राह **पुष्पमिति**। हे शिष्य **अस्य** प्रत्यक्षस्य **कटुदलस्य** कटूनि तीक्ष्णानि दलानि कामादिरूपाणि पर्णानीव यस्य तस्यान्तःकरणावच्छिन्नचिदाभासरूपबोधस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयस्य, **पुष्पं** पुष्पमिव प्रफुल्लं विद्यासुखं, **शाम्भवेन** शं भवति अस्मादिति शम्भुः सर्वजगदानन्दकरः प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरुः तस्य अयं शाम्भवः तदंशत्वात् चिदाभासस्तेन, **शिवे** प्रत्यगभिन्नब्रह्मणि, **निवेदितं** समर्पितं ततः पृथगसत्त्वेन निश्चितमित्यर्थः, तत् **शम्भुना** स्वीकृतं शम्भुः जगदानन्दकरः प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरुः तेन, **स्वीकृतं** अङ्गीकृतं स्वाभिन्नत्वेन सम्पादितमित्यर्थः, **तेन** कारणेन, **सा** अहंब्रह्मास्मीति बोधरूपा वृत्तिः, **शिवमल्लिका** शिवेन प्रत्यगभिन्नब्रह्मणा सह एकीभूय मालते शोभते इति **शिवमल्लिकानाम्नी जाता** लोके प्रसिद्धास्तीति ज्ञेयम्।।८८।। (१३०९)

किसी भक्त ने अपनी काम क्रोधादि वृत्तिरूपी कड़वे पत्तों वाले तरु अर्थात् बोध को स्वयंप्रकाश चिद्रूप आत्मदेव को अर्पण कर दिया हो तो फिर वही बोध इस अर्पण के प्रभाव से आत्मा और अनात्मा का प्रकाशक तथा अज्ञान का नाशक हो जाता है। यही कारण है कि वह बोध फिर 'अर्क' नाम से कहाने लगता है।
।८७।।

काम-क्रोधादिरूप कड़वे पत्तों वाले जीवरूप वृक्षपर खिले ज्ञानसुखरूप पुष्पको किसी शम्भुभक्त (चिदाभास) ने आत्मदेवको अर्पण किया जिसे निरुपाधिक आत्मदेवने स्वीकारा, अपने से अभिन्न बना डाला। तभी से बोधरूप ब्रह्माकार वृत्ति शिवमल्लिका कही जाती है क्योंकि शिव से एकता पाकर शोभित होती है।।८८।।

अथ धत्तूरनिर्णयः

ईश्वरस्य प्रसादेन भासतेऽन्यादृशं जगत्।
स्वसमानगुणत्वेन धत्तूरः शिववल्लभः।।८६।। (१३१०)

एवमर्कपुष्पार्पणं निर्णीयेदानीं धत्तूरं निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति। अथ** अर्कपुष्पनिर्णयानन्तरं, **धत्तूरनिर्णयो** लोके धत्तूरः शिवे समर्प्यते तस्य **निर्णयो** विचारः क्रियते इति शेषः। तमेव निर्णयं पञ्चधत्तूरनामनिरुक्त्या पञ्चभिः श्लोकैराह। तत्र तावद्धत्तूर इति धत्तूरनामनिरुक्त्योभयोः स्वभावसाम्यदर्शनेन तमाह **ईश्वरस्येति**। हे शिष्य **ईश्वरस्य** शिवस्य, **प्रसादेन** भजनाद्युपायैः स्वस्मिंस्तदाविर्भावलक्षणेन, **जगद्** विश्वं, **अन्यादृशं** पूर्वं सद्रूपेण यत् प्रतीतं तदेव ततो विपरीतं असद्रूपं, **भासते** दृश्यते, धत्तूरस्यापि सेवनेन तत्सेवके धत्तूराविर्भावलक्षणेन धत्तूरस्य प्रसादेनापि जगद् अन्यादृशं विपरीतं भवति इत्यतः, **स्वसमानगुणत्वेन** स्वस्य शिवस्य गुणेन स्वभावेन समानस्तुल्यो गुणः स्वभावो यस्य धत्तूरस्य तस्य भावस्तत्त्वं तेन, **धत्तूरो** लोक उन्मत्तवृक्षः, **शिववल्लभः** शिवस्य महादेवस्य वल्लभः प्रियोऽस्ति। प्रकृतार्थे तु ईश्वरो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुस्तस्य प्रसादेन प्रसादो विवेकेन चिदाभास आविर्भावलक्षणस्तेन तस्यैव स्वात्मसाक्षात्कारवतः चिदाभासस्य जगद् विश्वं अन्यादृशं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'ेति दृष्ट्या जगत्त्वबाधनेन ब्रह्मस्वरूपं भासते प्रतीयते इत्यतः स्वसमानगुणत्वेन स्वेन प्रत्यगभिन्नब्रह्मणा समानः तुल्यो गुणःस्वभावो यस्य स तथोक्तः स्वात्मतादात्म्येन स्वात्मसेवकचिदाभासेषु आविर्भावे सति जगदन्यथाप्रतीतिकरणगुणसाम्यवांस्तस्य भावस्तत्त्वं तेन तेनोपलक्षितः पुरुषो धत्तूरः शिववल्लभः शिवस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरोः वल्लभः प्रिय आत्मत्वाद् भवतीति ज्ञेयम्।।८६।। (१३१०)

धतूरा चढाने का तात्पर्य बताते हैं

जब किसी पर ईश्वर की प्रसन्नता होती है तब उसे यह जगत् और ही तरह का (नीरस) प्रतीत होने लगता है। धत्तूरे के सेवन का भी यह प्रभाव होता है कि उसके पीनेवाले को भी यह जगत् और तरह का (उल्टा) दीखा करता है। इस प्रकार अपने समान गुणवाला होने से धत्तूर नाम का उन्मत्तवृक्ष महादेव को प्रिय हो गया है।

प्रकृतईश्वरकृपासे आत्मसाक्षात्कार करने वाले चिदाभास को जगत् पूर्वसे विलक्षण दीखता है। जिसे अज्ञान रहते जगत् समझता रहा, वही आत्मरूप दीखता है! इसी गुण की समानता के कारण धत्तूर नामक वह पुरुष जिसको कि यह जगत् अन्य प्रकार का ही प्रतीत होने लगा हो, शिव का अत्यन्त प्यारा हो जाता है।।८६।।

उन्मन्या स्वयमुन्मत्त उन्मादयति शाम्भवान्।
अत एव प्रियं शम्भोः पुष्पमुन्मत्तसम्भवम्।।९०।। (१३११)

इदानीमुन्मत्तनामनिरुक्त्यापि तत्तात्पर्यमाह **उन्मन्या इति**। हे शिष्य **स्वयं** शिव, **उन्मन्या** मनोलयापरपर्याययोन्मन्यावस्थया, **उन्मत्त** उन्मादं प्राप्तः सन्, **शाम्भवान्** शम्भुः शिवः तस्य एते शाम्भवाः शिवभक्ताः तान्, **उन्मादयति** उन्मत्तान्करोति, यतः कारणाद् **अत एव** अनेनैव कारणेन, **शम्भोः** शिवस्य, **उन्मत्तसम्भवं** धत्तूरोत्पन्नं, **पुष्पं** कुसुमं, **प्रियं** इष्टं ज्ञेयम्। परमार्थतस्तु स्वयं ब्रह्माभिन्नश्चिदात्मा उन्मन्या 'नेह नानास्ति किञ्चन'इति श्रुत्या सर्वस्यात्मभिन्नस्य वस्तुनो बाधितत्वेन मनसोऽत्यन्ताभावरूपया मुक्तावस्थया उन्मत्त इव विधिनिषेधातीतः प्रतीयते तथा सन् शाम्भवान् शम्भुः सकलजगदानन्दकरः प्रत्यगभिन्नो ब्रह्मानन्दः तस्य एते शाम्भवा ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वं प्राप्ताः चिदाभासाः प्रमातार इत्यर्थः, तान् उन्मादयति मनोनाशेन विधिनिषेधातीतान्करोति मुक्तान् करोति यतः कारणाद् अत एव एवंस्वभावादेव शम्भोः सकलजगदानन्दकरस्य ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरोः उन्मत्तसम्भवं बाधितमनसश्चिदाभासात् सम्भव उत्पत्तिः यस्य तत् तादृशं पुष्पमिव विकसितं ज्ञानं ज्ञानरूपा वृत्तिः प्रियम् इष्टमस्ति न धत्तूरपुष्पमिति ज्ञेयम्।।९०।। (१३११)

इदानीं कितवनामनिरुक्त्यापि तद्द्रढयति **कैतवमिति**। हे शिष्य **अस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः, **कितवस्य** सर्वगत्वे सति अलिप्तत्वं कपटं तेन युक्तत्वात् कपटिनो यज्ज्ञानिषु प्रसिद्धं, **सर्वगः** सर्वत्रानुस्यूतः सन्, **न लिप्यते** लिप्तो न भवति सर्वोत्पत्तिलयादिना तद्वान् न भवतीति, तदिदं **कैतवं** कपटं ज्ञेयं, यतः **अतः** कारणात् कपटवत्त्वादित्यर्थः, **कितवधूर्त्तस्य** सर्वगत्वे सति अलिप्तत्वेन कितवः कपटः कामादिधूर्त्तवञ्चकत्वेन धूर्तो वक्ष्यमाणो वञ्चकः प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरुस्तस्य, यद्वा स्वस्मिन् सर्वगत्वेन अलिप्तत्वं कामादिवञ्चकत्वं च साक्षात्कृतवान् प्रमाता तस्य, **कैतवं** तस्मादुत्पन्नं, **कुसुमं** पुष्पमिव प्रफुल्लमलिप्तत्वसर्वगत्वकामादिवञ्चकत्वोपलक्षितं

वह शिव स्वयं तो उन्मनी (मनोलय) अवस्था के प्रभाव से सदा ही उन्मत्त बना रहता है। वह अपने भक्तों को भी उन्मत्त बनाये रखता है। इसी कारण से उन्मत्त नामक वृक्ष का पुष्प उस शम्भु को प्यारा लगता है।

परमार्थ'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार शब्दानुविद्ध समाधि करते-करते जब मन का अत्यन्त अभाव हो जाता है और मुक्तावस्था प्राप्त होने के कारण साधक उन्मत्त सा होकर जगत् के कार्यों को भूलने लगता है, पूर्णतया उन्मनी के प्रभाव में आकर लोगों को भी उन्मत्त सा प्रतीत होने लगता है और शिव के भक्त अन्य विवेकी चिदाभासों को भी अपने समान ही उन्मत्त कर लेता है। (अर्थात् उनका भी मनोनाश कर लेता है) तब इस अद्भुत स्वभाव के कारण शम्भु को उस नष्टमनस्क (जिसका मन मर गया हो) चिदाभासरूपी वृक्ष पर लगा हुआ विकसित ज्ञान रूपी पुष्प ही अत्यन्त प्रिय लगता है। लौकिक धत्तूर पुष्प का यहाँ कुछ भी उपयोग नहीं है।।९०।।

कैतवं कितवस्यास्य सर्वगोऽयं न लिप्यते।
अतः कितवधूर्त्तस्य कैतवं कुसुमं प्रियम्।।६१।। (१३१२)
कामादयो महाधूर्त्ता धूर्त्तितं यैर्जगत्त्रयम्।
तान्धूर्त्तयति यो युक्त्या स धूर्तो धूर्जटिप्रियः[1]।।६२।। (१३१३)

प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरुविषयकं ज्ञानं विद्यानन्दविकसितमिति भावः, **प्रियम्** इष्टं नान्यदित्यर्थः। लौकिकार्थे तु अस्य प्रत्यक्षस्य कितवस्य च्छलिनो यत्प्रसिद्धं सर्वगः समष्ट्यहंभावाधिष्ठातृत्वेन समस्तपदार्थेषु व्याप्तः सन्नपि न लिप्यते लिप्तो न भवति इत्येवं कैतवं कापट्यमस्ति अतः कारणात् कितवधूर्त्तस्य कपटेनोक्तविधेन धूर्त्तस्य सर्ववञ्चकस्य स्वस्वभाववत्त्वेन कैतवं धात्तूरसम्बन्धि कुसुमं पुष्पं प्रियम् इष्टम्।।६१।। (१३१२)

इदानीं धूर्त्तनामनिरुक्त्यापि तद्द्रढयति **कामादय इति**। हे शिष्य **कामादयः** कामोऽभिलाष आदिर्मुख्यो येषु क्रोधादिषु ते, **महाधूर्त्ता** महान्तः श्रेष्ठा धूर्त्ता वञ्चकाः सन्ति। तत्रोपपत्तिमाह **धूर्त्तितमिति। यैः** कामादिभिः, **जगत्त्रयं** जगतां लोकानां त्रयं त्रिकं, **धूर्त्तितं** वञ्चितमस्ति, ते कामाद्याः शिवेन ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुणा धूर्त्तिताः तत्तद्विषयबाधनेन वञ्चिताः सन्तीति हेतोरयं तादृशकामादिवञ्चकः प्रत्यक्षो **धूर्त्तः** सर्वकामादिवञ्चको ज्ञानी चिदाभासो, **धूर्त्तवल्लभो** धूर्त्तकामादिवञ्चकस्य प्रत्यगभिन्नपरमात्मन आत्मत्वाद् वल्लभः प्रियोऽस्ति, न तु लौकिकधूर्त्त इत्यर्थः। लौकिकार्थे तु उभयोः स्वभावैक्यात् लौकिकधूर्त्तप्रियः शिवः, शेषं समानम्।।६२।। (१३१३)

इदानीं कनकाह्वयनामनिरुक्त्यापि तदेवाह **अर्पितमिति**। हे शिष्य **शंकरे** जगदानन्दप्रदे प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरौ, **अर्पितं** तत्सत्तासमर्पणेन प्रत्यगात्माभेदेन संपादितं, **धूर्त्तपत्रं** उक्तलक्षण-

यह हमारा कपटी आत्मदेव सर्वग अर्थात् सर्वत्र अनुस्यूत होकर भी उनमें लिप्त नहीं होता है (अर्थात् उत्पत्ति आदि के बन्धन में स्वयं कभी नहीं आता है) यही इसका एक बड़ा कपट है। इस अद्भुत कपट को पसन्द करने के कारण ही आत्मा का दर्शन करने वाले इस कपटी धूर्त को कैतव पुष्प अर्थात् उसी अलौकिक कपटवृक्ष पर लगा हुआ आत्मविषयक ज्ञानरूपी पुष्प ही प्यारा लगता है। अन्य लौकिक पुष्प नहीं।।६१।।

ये काम क्रोधादि बड़े ही धूर्त हैं। इन्होंने तीनों जगत् को भ्रम में डालकर ठग लिया है। (इनके प्रभाव में आकर यह समस्त त्रिभुवन सर्वथा अकर्त्तव्य में फंस गया है और अन्धे के पीछे अन्धे के समान ही संसाररूपी भंवर में फंसकर चक्कर खा रहा है। परमार्थ का किसी को लेशमात्र भी ध्यान नहीं रह गया है) जो तो युक्ति के सहारे से इन जगद्वंचक कामादि धूर्तों को भी ठग लेता है तो ऐसा वह धूर्त ही (सबसे बड़े) धूर्त परमात्मा को प्रिय लगने लगता है।।६२।।

---

[1] धूर्तवल्लभः। धूर्जटिप्रियःइति पाठान्तरम्। अयं उन्मत्तप्रलापे १२ तमोऽपि (श्लो. ११३०)। तत्र धूर्जटिप्रिय इति संगच्छते।)

अर्पितं शंकरे धूर्त्तपत्रं कनकपुण्यदम्।
अनेन हेतुना जातो धत्तूरः कनकाह्वयः।।६३।। (१३१४)

अथ कण्टकारिकानिर्णयः

भक्त्या भक्तेन चेद् वृत्तिर्मनसः शंकरेऽर्पिता ।
सकण्टकस्वभावापि जाता साऽकण्टकारिका।।६४।। (१३१५)

कामादिवञ्चकस्य चिदाभासस्य पत्रमिव वृक्षस्य अंशभूतम् अहंब्रह्मास्मीति ज्ञानं, **कनकपुण्यदं** कनकस्य सुवर्णस्य अर्पणेन यत्पुण्यं सुकृतं तद् ददातीति तथाभूतं भवति, **अनेन** एतेन, **हेतुना** कारणेन, **धत्तूरो** जगदन्यथाभासक उक्तलक्षणो ज्ञानी, **कनकाह्वयः** कनकं सुवर्णम् इति आह्वयं नाम यस्य स तथोक्तो, **जातो** वेदेषु प्रतिपादितः 'सुवर्णं धर्मं परिवेदनमि'त्यादिष्वित्यर्थः। लौकिकार्थे तु धूर्त्तपत्रं धूर्तस्य धत्तूरस्य पत्रं पर्णं शंकरे शिवेऽर्पितं सत् कनकपुण्यदं सुवर्णार्पणपुण्यफलप्रदं भवतीति शैवपुराणेषु प्रतिपादितम्। अनेन हेतुना एतेन कारणेन धत्तूरः कनकाह्वयः कनक इति नामको जातो लोके प्रसिद्धः।।६३।। (१३१४)

एवं धत्तूरं निर्णीयेदानीं कण्टकारिकां निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीतेअथेति। अथ धत्तूरनिर्णयानन्तरं, कण्टकारिकानिर्णयः। लोके या कण्टकारिका शिवे समर्प्यते तस्या निर्णयो निश्चयोऽत्र क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **भक्त्येति**। हे शिष्य **भक्तेन** जीवब्रह्मैक्यप्रेमवता साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासेन अधिकारिणा **मनसः** चेतसो, **वृत्तिः** तत्त्वंपदार्थशोधनेन शुद्धतत्त्वंपदार्थयोः कूटस्थब्रह्मणोरैक्यविषया अहंब्रह्मास्मीतिरूपा, **भक्त्या** प्रेम्णा तद्विषयकस्नेहेनेत्यर्थः, **शंकरे** सकलजगदानन्दकरे प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरौ, अर्पिता तदाकाराकारिता पृथगसत्त्वेनावलोकितेत्यर्थः, **चेद्** यदि, तर्हि तदर्पणात्पूर्वं सा वृत्तिरेव **सकण्टकस्वभावापि** कण्टका इव पीडाहेतवः कामादिविकारा अत्र ग्राह्याः तैः सहितो युक्तः स्वभावो यस्याः, **सा** तथोक्तापि कामादिविकारैः संपृक्तापीत्यर्थः, केवलब्रह्मानन्दातिशयेन **अकण्टकारिका** न विद्यन्ते कण्टका दुःखकारणभूताः कामादिविकारा यस्यां सा तथाभूता केवलं सुखमात्रानुसन्धानवतीत्यर्थः, **जाता** सम्पन्ना लोकप्रसिद्धार्थेपि यद्यपि कण्टकैः सह वर्त्तमाना कण्टकारिका वृहती भक्तिपूर्वकं शिवपूजकेन शिवे अर्पिता यदि स्यात्तर्हि। शिवप्रसादद्वारा तत्समर्पकाणां सुखप्राप्तिहेतुत्वात् कण्टकरहितैव सम्पन्नेति योज्यम्।।६४।। (१३१५)

शङ्कर को अर्पण किया हुआ (कामादि का वंचन करने वाले जीव का आत्मज्ञानरूपी) धूर्तपत्र सुवर्ण का दान करने के तुल्य ही महाफल को प्राप्त करा देता है। इसी कारण से (जगत् को अन्य प्रकार का समझने वाला) धत्तूर नाम का ज्ञानी भी सुवर्ण अथवा कनक नामवाला कहाने लगा है (क्योंकि वही इसे फेंक देने किंवा फूंक देने योग्य असार संसार में सुवर्ण के समान ग्राह्य किंवा सत्करणीय पदार्थ है। वह संसार का सुवर्ण है।)।६३।।

भक्त जब अपने मन की ब्रह्माकार वृत्ति को प्रेमगद्गद होकर आत्मशङ्कर के चरणों

अथ बिल्वविचारः

शिवभक्तिस्वभावेन शाण्डिल्यो हि महामुनिः ।
तन्नाम्नैव प्रियं शम्भोः पत्रं शाण्डिल्यसम्भवम् । ।९५ । । (१३१६)
विश्वरूपो महादेवः स्वयं शैलूषलक्षणः ।
अतः शैलूषपत्राणां पूजया स प्रसीदति । ।९६ । । (१३१७)

एवं कण्टकारिकां निर्णीयेदानीं बिल्वपत्राणि निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति। अथ** कण्टकारिकानिर्णयानन्तरं, **बिल्वनिर्णयः** शिवस्य बिल्वः प्रेयानिति लोके शास्त्रे च प्रसिद्धिरतो अत्र बिल्वस्य बिल्वनाम्नो वृक्षस्यापि निर्णयो **विचारः** क्रियते इति शेषः। तमेव त्रिभिः पद्यैराह। तत्र तावच्छाण्डिल्य इति बिल्वनामास्तीति तन्निरुक्त्या तद्विचारमाह **शिवभक्तीति**। हे शिष्य **शिवभक्तिस्वभावेन** शिवे प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरौ या भक्तिः प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वसेवनरूपा वृत्तिः स एव स्वभावः शीलं तेन, उपलक्षितोऽत एव **महामुनिः** महान् श्रेष्ठो मुनिः ज्ञानी, **शाण्डिल्यः** शाण्डिल्यनामको, **हि** प्रसिद्ध, उपासनाशास्त्रेऽस्ति अतः तस्मिन् प्रेम्णः शिवसम्बन्धिन आधिक्यदर्शनात् तत्र च शिवप्रेमाधिक्ये ब्रह्मविद्ब्रह्मणोरभेदनिरूपणाद् ब्रह्मविदि ब्रह्मात्मत्वेन ब्रह्मणः प्रेमाधिक्यं सम्भाव्यं 'प्रेयः पुत्राद्वित्तात्प्रेयोन्यस्माच्च सर्वस्मादान्तरतरोऽयमात्मे'त्यादिश्रुतेः **शम्भोः** शम्भवति अस्मादिति शम्भुः ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगानन्दः, तस्य तत्प्रणीतमुपासनाशास्त्रं प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयिणी वृत्तिर्वा शाण्डिल्याभिधान्मुनेः सम्भव उत्पत्तिर्यस्य तत्तथाविधं पत्रमिव वृक्षस्य अत्र ग्राह्यं **तन्नाम्नैव** शाण्डिल्य इति लोकप्रसिद्धदेहादिदृष्ट्या नामाभिधानं तेनैवोपलक्षितं, **प्रियं** प्रीतिविषयं भवतीति ज्ञेयं, न तु प्रसिद्धबिल्वपत्रमत्र शिवप्रियं ग्राह्यमिति भावः। लौकिकार्थेऽपि प्रसिद्धशिवभक्तशाण्डिल्यमुनिनामवत्त्वादेव बिल्वपत्रं शिवप्रियमिति योज्यम् । ।९५ । । (१३१६)

इदानीं शैलूषनामनिरुक्त्यापि तन्निर्णयमाह **विश्वरूप इति**। हे शिष्य महादेवो महानपरिच्छिन्नो देवश्चिन्मात्ररूपो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा, यतो विश्वरूपो विश्वं समस्तं जगद्रूपमाकृतिर्यस्य स तथाविधोऽस्ति, अतः स्वयं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा, शैलूषलक्षणः शैलूषस्य बहुरूपधारिणो नटस्य लक्षणमिव लक्षणं चिह्नं यस्य स तथाविधोऽस्ति, **अतः** शैलूषलक्षणवत्त्वादेव हेतोः, **स** उक्तविधो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः, **शैलूषपत्राणां** तादृशसमस्तजगद्रूपधारिणां तद्बाधेन ब्रह्मस्वरूपधारिणां चिदाभासानां पत्राणीव ब्रह्माकारवृत्तयस्तासां, कृतया **पूजया** कर्तरि षष्ठी ताभिः कृतयेत्यर्थः, ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाह एवात्र पूजा तया, **प्रसीदति** प्रसन्नो भवति, न तु लोकप्रसिद्धबिल्वपत्राण्यत्र ग्राह्याणि लोकप्रसिद्धबिल्वपत्रैः पूजनं तु सांसारिकफलहेतुत्वान्मुमुक्षुभिर्नादरणीयमिति भावः । ।९६ । । (१३१७)

में धर देता है तब इस अर्पण करने से पूर्वकाल में उस वृत्ति में पीडा देने वाले कामादि विकाररूपी कण्टक भले ही रहे हों, परन्तु अब तो वह वृत्ति सर्वथा अकण्टकारिका हो जाती है। उसमें अधिकारी को दुःख देने वाले कामादि विकार नहीं रहते। अब तो वह केवल सुखमात्र का ही अनुसन्धान करने लगती है। ।९४ । ।

जन्मनस्तु फलं श्रीमद्बिल्वपत्रार्पणाच्छिवे।
अतो निरूपितो वृक्षो बिल्वः श्रीफलसंज्ञया।।९७।। (१३१८)

इदानीं श्रीफलनामनिरुक्त्यापि तन्निर्णयमाह **जन्मन इति**। हे शिष्य यस्मिन् जन्मनि देहद्वयाविर्भावपूर्वं तादात्म्यप्रतीतिरूपे जन्मनि ब्रह्माभिन्ने प्रत्यगात्मशिवे सुखरूपे **बिल्वपत्रार्पणाद्** उक्तविधो यो बिल्वश्चिदाभासस्तस्य पत्रमिव पत्रम् अहं ब्रह्मास्मीतिवृत्तिरूपं तस्यार्पणं निवेदनं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्ममात्रत्वसम्पादनलक्षणं तस्माद् हेतोः, तस्य **जन्मनस्तु** देहद्वयसहितचिदाभासाविर्भावलक्षणोत्पत्तेः, **फलं** प्रयोजनं, **श्रीमत्** श्रीः मुक्तिसम्पत्तिर्विद्यतेऽस्य तत्तथोक्तं, जायते यतः **अतः** कारणाद्, **बिल्व** उक्तविधो ज्ञानी चिदाभास एव, **वृक्षः** तत्त्वज्ञानेन वृश्चनीयो विनाशार्हः, **श्रीफलसंज्ञया** श्रीफल इति नाम्ना निरूपितो विशेषितो मुक्तिफलवत्त्वात् मुक्तनाम्ना निर्दिष्ट इति भावः। लौकिकार्थे तु यस्मिन् जन्मनि शिवे बिल्वपत्रं समर्पितं तस्य जन्मनः फलं श्रीमत्सायुज्यादिमुक्तिप्राप्तिमद् भवति अतो बिल्वनामको वृक्षः श्रीफलनाम्ना लोके व्यवह्रियते इति भावः।।९७।। (१३१८)

शिवभक्ति का स्वभाव पड़ जाने के कारण शाण्डिल्य मुनि एक महामुनि कहलाने लगा था उस शाण्डिल्य मुनि के उपदेश से उत्पन्न हुआ ज्ञानरूपी पत्र उसी के नाम से शम्भु को अत्यन्त प्रिय हो गया है। इस आत्मशिव को लौकिक बिल्वपत्र रुचिकर नहीं होता।।९५।।

विश्वरूप होने से वह महादेव स्वयं भी तो एक प्रकार का शैलूष (नट, बहुरूपिया) ही तो है। इस कारण शैलूष (बेल) के पत्तों की पूजा से वह प्रसन्न हो जाता है।

अपरिच्छिन्न चिन्मात्ररूप होने से महादेव कहलाने वाले उस प्रत्यगात्मा ने ही इस समस्त जगत् का रूप धारण कर लिया है और यों वही विश्वरूप हो गया है। ये ही उसमें बहुरूपधारी शैलूष (नट) के लक्षण पाये जाते हैं। इस थोड़ी-सी समानता के कारण ही, कभी तो इस समस्त जगदाकार बने हुए तथा कभी जगद्रूप की बाधा करके ब्रह्मरूप को धारण कर लेने वाले, जीवों की ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पत्तों से की हुई अपनी पूजा को देखकर वह महादेव अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं। हमारे शिवपूजन में लौकिक बिल्वपत्रों की पूजा का कुछ भी उपयोग नहीं है। क्योंकि वह तो पूजकों को केवल सांसारिक फल दे सकती है।।९६।।

जब कोई अधिकारी अपने ब्रह्माकार वृत्तिरूपी बिल्वपत्र को शिव की सेवा में अर्पण कर देता है तब उसके जन्म धारण करने का प्रयोजन श्रीमत् (मुक्ति सम्पत्तिरूपी श्री से सुशोभित) हो जाता है इसी कारण वह ज्ञानीरूपी बिल्व वृक्ष 'श्रीफल' अर्थात् मुक्तिरूपी फलवाला कहाने लगता है।

धूपप्रदीपनैवेद्यफलताम्बूलदक्षिणाः।
शिवाय नम इत्येव सर्वमेवास्य पूजनम्।।९८।। (१३१९)
विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टा रुदैकादशिनी श्रुतौ।
तत्र पञ्चाक्षरी श्रेष्ठा सा जप्या शिवतुष्टये।।९९।। (१३२०)

एवं बिल्वपत्रार्पर्णं निर्णीयेदानीं शिष्टान्धूपादीन्दक्षिणान्तानुपचारानपि निर्णीय दर्शयति **धूपेति। हे शिष्य धूपप्रदीपनैवेद्यफलताम्बूलदक्षिणा धूपश्च** दशेन्द्रियाणि वैराग्यानले दग्ध्वा तत उत्पन्नो ब्रह्मात्मविषयकवासनारूपः 'कर्मज्ञानमयो यदिन्द्रियगण' इत्यत्रोक्तः (देवपू. ७), **प्रदीपश्च** जीवब्रह्मैक्यविषयको ज्ञानस्वरूपो 'यस्मिन्नुज्ज्वलित' इत्यत्रोक्तः, **नैवेद्यश्च** द्वैतबाधरूपो 'यद्भक्ष्यं प्रियमस्ये'त्यत्रोक्तः, **फलं** च भक्तिरूपं 'निष्कामोत्तमधर्मसम्भ्रमजुषामि'त्यत्रोक्तः, **ताम्बूलं** च मैत्र्यादिवृत्तिचतुष्टयाङ्गीकरणलक्षणं 'यन्मैत्र्यादिचतुष्टयमि'त्यत्रोक्तमेव, **दक्षिणा च** मनश्चिन्तामणि-समर्पणलक्षणा 'सर्वस्वं मम तत्किले'त्यत्रोक्तैव, एते सर्वेप्युपचाराः **शिवाय नम इत्येव** 'शिवो देवः शिवो जीव' इत्यत्र उक्तलक्षणेन प्रत्यगभिन्नपरमात्मशिवगुरोः जीवस्य पार्थक्यबाधनेन लक्षिताश्चेत् स्युस्तर्हि, **सर्वमेव** समस्तमपि लौकिकवैदिकनिषद्धाचरणमपि, अस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः, **पूजनं** पूजा भवति, तत्र किं वक्तव्यमेतादृशाचरणं पूजा भवतीति भावः।।९८।। (१३१९)

एवं दक्षिणान्तानुपचारान्निर्णीयेदानीं मन्त्रजपं निर्णेतुं मन्त्रनिर्णयमाह **विद्यासु इति।** हे शिष्य **विद्यासु** ज्ञानसाधनोपासनासाधनप्रतिपादिकासु वाणीषु मध्ये, **श्रुतिः** वेद, **उत्कृष्टा** प्रमाणशिरोभूतत्वात् श्रेष्ठाऽस्तीति ज्ञेयं, तत्र श्रुतौ वेदेपि **रुद्रैकादशिनी** एकादशानुवाकैर्नमकाराख्यैश्चमकाराख्यैश्चोपलक्षिता रुद्राध्यायरूपा वाक् श्रेष्ठा ज्ञेया, **तत्रा**पि नमः शिवाय चेति **पञ्चाक्षरी** आकाशादिपञ्चभूतरूपवाच्यांशत्यागेन तत्साक्षिप्रत्यगभिन्नब्रह्मचिन्मात्रशिवगुरुलक्षिका शिवाय नम इति पञ्चाक्षरसमूहरूपा वाक् **श्रेष्ठा** उत्कृष्टाऽस्ति। यद्वा पञ्चम्यर्थे सप्तमी; **तत्र** ततोपि रुद्राध्यायरूपवाक्यजातादपि, **पञ्चाक्षरी** पञ्चानामक्षराणां वर्णानां समाहाररूपा वागहं ब्रह्मास्मीत्येवंरूपा, **श्रेष्ठा** इति व्याख्येयं, **सा** उक्तविधा **शिवपञ्चाक्षरी** अहं ब्रह्मास्मीति पञ्चाक्षररूपा शिवाय नम इत्येवंरूपा वा, **शिवतुष्टये** शिवो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुस्तस्य तुष्टिः सन्तोषः सुखमित्यर्थः, तस्य ब्रह्मानन्दप्राप्त्यै **जप्या** आवर्तनीया।।९९।। (१३२०)

लौकिकार्थजिस जन्म में शिव को बिल्वपत्र चढ़ाया जाता है उस जन्म का फल यह होता है कि फिर उसे सायुज्य आदि मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये बिल्व वृक्ष को लोक में 'श्रीफल' कहा जाता है।।९७।।

धूप, दीप, नैवेद्य, फल, ताम्बूल तथा दक्षिणा नाम के सब उपचार शिव को नमस्कार करने के भाव से किये जायें तो फिर इस पूजक के (लौकिक, वैदिक, विहित और निषिद्ध) सभी कर्म उस आत्मदेव की पूजा ही हो जाते हैं। फिर इन अलौकिक भावों का तो कहना ही क्या।।९८।। (देवपूजाचतुर्दशी-शीर्षकमें इनपर विचार आ चुका है।)

अथैकादशबिल्वपत्रिकाः

द्रष्टा च दर्शनं दृश्यमिति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे प्रथमा बिल्वपत्रिका ।।१००।। (१३२१)

एवं मन्त्रं निर्णीयेदानीमेकादशबिल्वपत्रैः शिवं पूजयितुं तन्निर्णयं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति**। **अथ** मन्त्रनिर्णयानन्तरं, एकादशबिल्वपत्रार्पणमेकादशसङ्ख्यानि यानि पूर्वोक्तचिदाभासलक्षणस्य बिल्वस्य पत्राणीव वृत्तयस्तेषामर्पणं प्रत्यगभिन्नब्रह्ममात्रत्वानुसन्धानं तस्य निर्णयो विचारः क्रियते इति शेषः। तत्रादौ प्रथमबिल्वपत्रार्प्पणं निर्णीय दर्शयति **द्रष्टेति**। हे शिष्य **द्रष्टा** साधिष्ठानो बुद्धिस्थश्चिदाभासो रूपसाक्षात्कारकरणभूतचक्षुषा रूपदर्शनवान्, **दर्शनं च** तस्योक्तविधद्रष्टू रूपज्ञानकरणभूतं चक्षुः, **दृश्यं** च रूपमित्येवं यानि पत्राणि वृत्तयस्तेषां **त्रयं** अन्योन्यसापेक्षत्वात्त्रिकं त्रिदलमित्यर्थः, तेन **अन्विता** युक्ता, **प्रथमा** वक्ष्यमाणासु आदिभूता, **बिल्वपत्रिका** सामान्यत्रिपुटीसाक्षिचिद्विषयिणी वृत्तिः, **शिवे चिद्रूपे** भागत्यागलक्षणया लक्षिते चिन्मात्रस्वरूपे ब्रह्माभिन्नप्रत्यगानन्दशिवगुरौ समर्प्या ततः पृथगसत्त्वात्तस्या बाधपूर्वमवलोकनीया, इदमेवात्र समर्पणम्। एवमग्रेपि दशसु ज्ञेयम्।।१००।। (१३२१)

शास्त्रों में वेद ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उस वेद में ग्यारह अनुवाकों वाला रुद्राध्याय सबसे श्रेष्ठ है। उसमें से भी "शिवाय नमः" यह पंचाक्षरी मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। (क्योंकि इसके पाँच अक्षरों से पाँचों भूतों का ग्रहण करके उनके वाच्यांश को त्याग कर उनके साक्षी आत्मदेव का बोध, लक्षणावृत्ति से कराया जाता है)। अथवा उस रुद्राध्याय की अपेक्षा से भी "अहं ब्रह्मास्मि" यह पंचाक्षरी वाणी अधिक श्रेष्ठ है। मुमुक्षु लोग इन पंचाक्षरियों के जाप की आवृत्ति आत्मशिव के सन्तोष के लिये (अर्थात् उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कर देने के लिये) बार-बार करें।।९९।।

द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन तीन पंखड़ियों वाली पहली बिल्वपत्रिका को चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो। रूपादि को देखने वाला द्रष्टा, रूपादि देखने का साधन चक्षु तथा दृश्य रूप आदि, इस प्रकार तीनों दलों से मिल कर बनने वाले त्रिदल बिल्वपत्र को इन तीनों (द्रष्टा दर्शन तथा दृश्य) में अनुगत इन तीनों के साक्षी चैतन्यमात्र आत्मरूप की सेवा में अर्पण कर देना चाहिये। यह विचार करना चाहिये कि इन तीनों में समान रूप से अनुगत वह साक्षिचैतन्य ही वास्तविक सत्य है, वही मैं हूँ। उससे पृथक् इन तीनों की कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" उसी साक्षिचैतन्य के आत्मप्रकाश से यह सब विश्व भासित हो रहा है, इस विश्व की अपनी कोई भी सत्ता नहीं है। इसने अपने प्रकाश के लिये उसी आत्मचैतन्य से सत्ता को (आत्मदर्शन अथवा तत्त्वज्ञान होने तक के लिये) ऋणरूप में ले रक्खा है। द्रष्टा

कर्त्ता कार्यं च करणमिति पत्रत्रयात्मिका।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे द्वितीया बिल्वपत्रिका।।१०१।। (१३२२)

इदानीं द्वितीयां तथाविधां बिल्वपत्रीं दर्शयति **कर्त्तेति**। हे शिष्य **कर्त्ता** साधिष्ठान-बुद्धिस्थचिदाभास इन्द्रियजन्यक्रियाभिमानी, **कार्यं च** इन्द्रियै रूपादिसाक्षात्करणरूपो व्यवहारः, **करणं च** तत्तत्क्रियासाधनमन्तःकरणं बाह्येन्द्रियदशकं च, **इति पत्रत्रयात्मिका** इत्येवं यत्पत्राणां दलानां त्रयं त्रिकं तदेवात्मा स्वरूपं यस्याः सा बुद्धिरेवात्र ग्राह्या सा उक्तविधा **द्वितीया** द्विसङ्खयापूरणी, **बिल्वपत्रिका** पूर्वोक्तचिदाभासलक्षणस्य बिल्वस्य पत्रिकेवांशभूता पत्रिका त्रिदलरूपेत्यर्थः, **चिद्रूपे** चेत्यरहितचिन्मात्ररूपे, **शिवे** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मानन्दशिवगुरौ, **समर्प्या** समर्पणीया तदभिन्नत्वेनावलोकनीयेति भावः।।१०१।। (१३२२)

दर्शन तथा दृश्य यह तो एक इन्द्रियोपाधिक भ्रम है। यह तो इन्द्रियों के रहते रहते बना ही रहेगा। जिस प्रकार जल के रहते-रहते वृक्ष उलटे दीखते ही रहते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों के विद्यमान रहते-रहते यह भ्रम भी निवृत्त होने वाली वस्तु नहीं है। बुद्धिमान् लोगों को दिग्भ्रम अथवा पीलिया रोग से दीखने वाले भ्रम या पीलेपन के समान इनको कभी भी परमार्थ सत् न मानना चाहिये। ऐसे विचार करना ही इस सदाशिव को प्रथम बिल्वपत्रिका का अर्पण कहा जाता है।।१००।।

कर्त्ता (कर्तृत्व का अभिमानी) कार्य (रूपादि-साक्षात्कार) तथा करण (उन उन क्रियाओं के साधन दशइन्द्रिय तथा मन) इन तीन पत्तों से मिलकर बनने वाली (बुद्धिरूपी) दूसरी त्रिदल बिल्वपत्रिका को उस शिव आत्मा की सेवा में अर्पण कर डालो और उसे चिन्मात्ररूप ही शेष रख लो।

मुमुक्षु को सदा ही यह भावना बनाये रखनी चाहिये के उसी सामान्य चेतन के अज्ञान के कारण कर्ता, कार्य तथा करण नाम के तीन विभाग हो गये हैं। परमार्थ विचार करने पर ये तीनों उस सामान्य साक्षिचैतन्यरूप से किसी प्रकार भी पृथक् नहीं हैं। वह एक ही साक्षिचैतन्य उपाधि के कारण इन तीनों रूपों में भासित हो रहा है। जब इन विभागों को अपनी बुद्धि में से निकाल दिया जायगा तब फिर वही चिद्रूप शेष रह जायगा। जब किसी मुमुक्षु को अभ्यास करते समय अपनी किन्हीं क्रियाओं में अभिमान का उदय होने लगे अथवा बलात् ही रूपादि साक्षात्कार हो जाय तब इनके इस झगड़े में घुसने किंवा इनकी विचारधारा में बह निकलने से प्रथम ही अपनी स्थिति को स्पष्ट कर देना चाहिये कि मैं तो इन तीनों को चैतन्य का दान करने वाला, तीनों का प्रकाशक, तीनों का साक्षी चैतन्य हूँ। इन तीनों विचारों के आने से प्रथम मेरी जो शुद्ध स्थिति थी तथा इनके नष्ट हो जाने के अनन्तर मेरी जो निर्विकार स्थिति रह

भोक्ता च भोजनं भोज्यमितिपत्त्रत्रयात्मिका।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे तृतीया बिल्वपत्रिका।।१०२।। (१३२३)
भूर्भुवश्च तथा स्वर्ग इतिपत्त्रत्रयान्विता[1]।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे चतुर्थी बिल्वपत्रिका।।१०३।। (१३२४)

इदानीं तृतीयां बिल्वपत्रीं दर्शयति **भोक्तेति**। हे शिष्य **भोक्ता** इन्द्रियैरन्तःकरणवृत्तिभिश्च प्रापितविषयजन्यसुखानुभववान् सानन्दमयो विज्ञानमयः, **भोजनं च** तत्तत्सुखानुभवकरणरूपा वृत्तिः, **भोज्यं च** भोगविषयं सुखं च, **इति पत्त्रत्रयात्मिका** इत्येवं यत्पत्राणां दलानां त्रयं त्रिकं तदात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथाविधा बुद्धिः, **तृतीया** त्रिसंख्यापूरणी, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्य पूर्वोक्तचिदाभासलक्षणशाण्डिल्यस्य पत्रिका पत्री, **चिद्रूपे** चिन्मात्ररूपे, **शिवे** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरौ, **समर्प्या** तदभिन्नत्वेनावलोकनीया।।१०२।। (१३२३)

चतुर्थीमाह **भूरिति**। हे शिष्य भूर्भवन्त्यस्या भूतानीति **भूः** पृथ्वी, **भुवः** चान्तरिक्षलोकः, **तथा** तद्वत्, **स्वर्गः** स्वर्गलोक, **इति पत्त्रत्रयान्विता** अत एवंविधं यत्पत्राणां दलानां त्रयं त्रिकं तेन अन्विता युक्ता बुद्धिः, **चतुर्थी** चतुःसंख्यापूरणी, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्य उक्तविधत्रिपुटीलक्षणत्रिदललक्षितचिदाभासस्य पत्रिका पत्रीव बुद्धिः, **चिद्रूपे** चेत्यरहितचिन्मात्ररूपे, **शिवे** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरौ, **समर्प्या** समर्पणीया तद्रूपत्वेनानुभाव्येति भावः।।१०३।। (१३२४)

जायगी, उसी शुद्ध स्थिति में मैं अब भी हूँ। मैं तो अनादि काल से उसी प्रकार शुद्ध और निर्लेप चला आ रहा हूँ। केवल वर्तमान में कभी-कभी इस देहाध्यास के चक्कर में आकर अपने को विकारी किंवा परिणामी सा मान बैठता हूँ और दुःखी सा बन जाता हूँ। परन्तु गम्भीर विचार करने पर तो मैं अब भी अत्यन्त शुद्ध और निर्लेप ही हूँ। जब किसी को उन्मनी अवस्था को लानेवाले ऐसे विचार पैदा होने लगें तब समझना होगा कि उसने सदाशिव की सेवा में दूसरी बिल्वपत्रिका का अर्पण कर दिया।।१०१।।

भोक्ता, भोजन तथा भोज्य इन तीन दलों से मिल कर बने हुए बुद्धिरूपी तीसरे बिल्वपत्र को सदाशिव आत्मदेव को अर्पण कर दो। समाधि करते समय इन्द्रिय तथा अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा प्राप्त हुए विषयजन्य सुख के आपातमात्रमधुर बन्धन में जब हम फंसने लगें, जब हम में भोक्तृत्व का अभिमान उदय होने लगे, अथवा जब हम विषयसुख का भोजन करने लगें, किंवा भोज्य विषयसुख ही किसी प्रारब्धवश उपस्थित हो जाय, तब पूर्वश्लोक में कहे प्रकार से सदा ही अपने शुद्ध रूप का बारम्बार स्मरण करते रहना चाहिये कि भोक्ता, भोजन तथा भोज्य ये तीनों भाव आगमापायी हैं। इन तीनों भावों को प्रकाशित करने वाला मैं तो इन तीनों का साक्षी सनातन पदार्थ

---

[1] टीकानुसार्ययं पाठः। त्रयात्मिका इति मूले मुद्रितमासीत्।

जाग्रत्स्वप्नस्तथा सुप्तिरितिपत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे पञ्चमी बिल्वपत्रिका।।१०४।। (१३२५)

पञ्चमीं दर्शयति **जाग्रदिति**। हे शिष्य **जाग्रद्** इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितमित्युक्तलक्षणा जाग्रदवस्था, **स्वप्नो** जाग्रद्विषयवासनावासितबुद्धौ प्रातीतिकः प्रपञ्चः स्वप्न इत्युक्तलक्षणा स्वप्नावस्था, **तथा** तद्वत्**सुप्तिर्जा**ग्रत्स्वप्नविषयैः सह वृत्तिसहितबुद्धेर्लयेन कारणाज्ञानमात्रस्थितिरित्युपलक्षिता सुषुप्त्यवस्थेत्येवं, **पत्रत्रयान्विता** पत्राणां दलानां यत् त्रयं त्रिकं तेन अन्विता युक्ता बुद्धिः, **पञ्चमी** पञ्चसंख्यापूरणी, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्य उक्तविधत्रिदलोपलक्षितचिदाभासस्य पत्रिका पत्री, **चिद्रूपे** चेत्यसहितचिन्मात्ररूपे, **शिवे** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरौ, **समर्प्या** समर्पणीया तद्रूपेणानुभाव्येति भावः।।१०४।। (१३२५)

हूँ। इन तीनों भावों के आ जाने पर भी मैं इतना ही शुद्ध बना रहता हूँ जितना कि वशीभूत हो जाने से प्रथम रहता था। केवल भ्रम के कारण ही में इन के आधीन हो गया सा प्रतीत होने लगता हूँ। वस्तुस्थिति तो यह है कि मैं तो सूर्य के समान इन सब विभागों को प्रकाशित किया करता हूँ और कभी भी इन से लिप्त नहीं होता हूँ। इस प्रकार अपनी असङ्ग स्थिति को जब कोई मुमुक्षु स्पष्ट करने लगता है तब समझना चाहिये कि उसने तीसरी बिल्वपत्रिका भी सदाशिव को समर्पण कर दी है।।१०२।।

अभ्यास करते हुए जब कभी भूलोक, अन्तरिक्षलोक अथवा स्वर्गलोक का ध्यान आकर ब्रह्माकारवृत्ति खण्डित होने लगे तब साधक को उचित है कि तुरन्त ही सन्नद्ध हो कर इन तीनों पत्तों वाली चौथी बिल्वपत्रिका को भी उसी सदाशिव के अर्पण करदे।

तब उसको निम्न प्रकार से विचार करना चाहिये कि उस चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव ने ही भू, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग लोक के रूप में अपना विवर्त परिणाम कर लिया है। ये तीनों लोक भी कृतक होने से उत्पत्ति विनाशशील हैं। इन तीनों का भासक, इन तीनों में अनुगत, वह आत्मचैतन्य ही सदा रहने वाला तत्त्व है। फिर भला मुझे इन अशाश्वत पदार्थों के चिन्तन में पड़ कर अपने समाधिसुख को किस प्रयोजन से खण्डित कर लेना चाहिये? जब कोई इन तीनों भावों से रहित होकर तथा सकल संकल्पों को छोड़ कर एक महती शुद्ध स्फटिक शिला के समान निश्चल हो रहेगा और अपने चिन्मात्ररूप साक्षी चैतन्य के अखण्ड दर्शन कर लेगा तब समझा जायगा कि उसने चौथी बिल्वपत्रिका को शिव की भेंट चढ़ा दिया है।।१०३।।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन पंखड़ियों वाली पाँचवीं बिल्वपत्रिका को भी शिव के अर्पण कर देना चाहिये।

जब आत्मानुसन्धान को जाग्रत् स्वप्न किंवा सुषुप्ति के विचार खण्डित करने लगें

स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमितिपत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे षष्ठिका बिल्वपत्रिका।।१०५।। (१३२६)

षष्ठीं दर्शयति **स्थूलमिति**। हे शिष्य **स्थूलं** पञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यरूपं समष्टिव्यष्टिस्थूलशरीरं, **सूक्ष्मं** अपञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यरूपं सप्तदशावयवकं समष्टिलिङ्गशरीरं, **कारणाख्यं** स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रकृतिरूपमज्ञानसमष्टिव्यष्टिरूपं कारणशरीरं, इति पत्रत्रयान्विता इति उक्तविधं यत्पत्राणां दलानां त्रयं त्रिकं तेन अन्विता युक्ता बुद्धिः, **षष्ठिका** षट्संख्यापूरणी, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्य उक्तप्रकारत्रिपुटीलक्षणत्रिदलोपलक्षितचिदाभासस्य पत्रिका पत्री, **चिद्रूपे** चेत्यरहितचिन्मात्ररूपे, **शिवे** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगानन्दात्मगुरौ, **समर्प्या** अर्पितव्या तन्मात्रत्वेनाऽनुभाव्येति भावः।।१०५।। (१३२६)

और आत्मज्ञानरूपी अंकुर इन अवस्थाओं के प्रभाव में आकर मुरझाने को उद्यत हो तब तुम अपने बोधांकुर के लालने पालने से कभी भी उपेक्षा मत करो। 'गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः' गर्भिणी स्त्रियाँ जिस प्रकार विपरीत आहार विहार से अपने गर्भ की रक्षा करती हैं इसी प्रकार इस बोधशिशु को विचारकर्दम में मत फंसने दो। तुरन्त ही आत्मोद्बोधन करके बार-बार इसकी शुद्ध स्थिति और असंगता को स्मरण करते रहो। इस विचार को कभी भी अपने मन से न हटने दो कि जाग्रत्, स्वप्न, तथा सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें आने जाने वाली हैं। एक के आने पर शेष दो नहीं रहती। यों इन तीनों का आपस में निरन्तर व्यभिचार देखा जाता है। इन तीनों अवस्थाओं में माला के पुष्पों में सूत्र की तरह जो चैतन्य अनुगत हो रहा है वही परमार्थी लोगों को ज्ञातव्य पदार्थ है। वही मैं हूँ। फिर भला मुझे पामर प्राणियों के समान इन जाग्रदादि के विचारों में ही क्यों उलझे रहना चाहिये। मुझे इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर क्यों नहीं उठ जाना चाहिये। ये तीनों तो शरीर इन्द्रिय तथा मन तक ही परिमित रह जाने वाली अशाश्वत अवस्थायें हैं। इनके लिये मुझे अपने शाश्वत आत्मदेव का हनन क्यों होने देना चाहिये। ऐसा विचार प्रवाह जब उमड़ पड़े और गम्भीर शान्ति के चिराभिलषित दर्शन होने की मधुर आशा बंधने लगे, आत्मानुसन्धान का बार-बार खण्डित होना बन्द हो जाय, हमारी समाधि के छिद्र थोड़े होने लगें, तब समझना चाहिये कि हमने पाँचवीं बिल्पपत्रिका को भी सदाशिव आत्मदेव को अर्पण कर डाला है।।१०४।।

स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धिरूपी छठी बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के समर्पण कर देना चाहिये। ब्रह्माकारवृत्ति करते समय यदि समष्टि व्यष्टि स्थूल शरीर का विचार आने लगे अथवा केवल लिङ्गशरीर के सम्बन्ध में रह कर मनोराज्य होने लगे अथवा कारण शरीर अज्ञान में ही समययापना हो रही हो तो अपने मनोमन्दिर में से इन तीनों प्रकार की बुद्धियों को एकदम बाहर कर दो। अपने इन तीनों भावों को, सदाशिव आत्मदेव

अविद्या संसृतिर्जीव इति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे सप्तमी बिल्वपत्रिका।।१०६।। (१३२७)
उत्पत्तिश्च स्थितिर्नाश इति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे ह्यष्टमी बिल्वपत्रिका।।१०७।। (१३२८)

इदानीं सप्तमीं बिल्वपत्रीं दर्शयति **अविद्येति**। हे शिष्य **अविद्या** मलिनसत्त्वप्रधाना प्रकृत्यंशरूपा जीवत्वोपाधिभूता, **संसृतिः** संसरति प्रसरतीति संसृतिः संसारः, **जीवो** जीवयति संसारं विपरीतज्ञानेनेति जीवः प्राणोपाधिमान् संसारी चिदाभास, **इति पत्रत्रयान्विता** इत्येवं यत्पत्राणां दलानां त्रयं त्रिकं तेन अन्विता युक्ता बुद्धिः, सप्तमी सप्तसंख्यापूरणी, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्य उक्तविधत्रिपुटीलक्षण-त्रिदलोपलक्षितस्य चिदाभासस्य पत्रिका इव अंशरूपा, **चिद्रूपे** चेत्यरहितचिन्मात्रस्वरूपे, **शिवे** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरौ, **समर्प्या** समर्पणीया तन्मात्रत्वेन चिन्तनीयेति भावः।।१०६।। (१३२७)

अष्टमीं बिल्वपत्रीं लक्षयति **उत्पत्तिरिति**। हे शिष्य **उत्पत्तिः** जगतः स्वस्य वा उद्भवः, **स्थितिश्च** स्वधर्मस्थानलक्षणमर्यादापालनं स्वयं च तदाचरणं, **नाशश्च** संहार, **इति पत्रत्रयान्विता** इत्येवं यत्पत्राणां दलानां त्रयं त्रिकं तेन अन्विता युक्ता बुद्धिः, **चिद्रूपे** चेत्यरहितचिन्मात्ररूपे, **शिवे** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरौ, **अष्टमी** अष्टसंख्यापूरणी, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्य उक्तविध-त्रिपुटीलक्षण-त्रिदलोपलक्षितचिदाभासस्य पत्रिका पत्री, **समर्प्या** समर्पणीया तन्मात्रत्वेनानुभाव्येत्यर्थः ।।१०७।। (१३२८)

के अर्पण कर डालो। यह विचार करो कि मुक्त होने के समय हम लोग जिस शुद्ध आत्मस्थिति में रहेंगे उसमें तथा इस स्थिति में केवल अज्ञान के कारण ही तो अन्तर पड़ा हुआ है। यदि अपने आध्यात्मिक श्रम से हम इस अज्ञान को हटा सकें तो केवल शुद्धचैतन्य ही शेष रह जायगा। जब किसी मुमुक्षु को तीनों शरीरों के बन्धन में से निकल कर शुद्ध चिन्मात्र रूप रह जाने की युक्ति हाथ आ जाय तब कहना होगा कि उसने छठी बिल्वपत्रिका को भी सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है।।१०५।।

अविद्या, संसार तथा जीव इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी सातवीं बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो।

तात्पर्य यह है कि अविद्या से (उस अविद्या से उत्पन्न होने वाले इस) संसार से तथा जीव के जीवभाव का स्मरण आने से, जब जब अखण्ड आत्मानुसन्धान खण्ड खण्ड होने लगे तब तब मुमुक्षु को उचित है कि इन विद्या संसार तथा जीव नाम के तीनों पदार्थों में अनुगत चिन्मात्र रूप का ध्यान बड़ी तत्परता से किया करे कि ये तीनों पदार्थ क्षणध्वंसी परतः प्रकाश्य तथा अशाश्वत हैं। यदि मैं इनका ही चिन्तन करता रहूँगा और अपने अमूल्य आयुष्य ही यों ही व्यर्थ गंवा दूँगा तो मुझे अपने इस व्यर्थप्रयास का क्या फल मिलेगा? मुझे तो सदा अपने उस शाश्वत चिन्मात्र रूप

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्र इति पत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे नवमी बिल्वपत्रिका।।१०८।। (१३२६)

नवमीं पत्रिकां दर्शयति **ब्रह्मेति**। हे शिष्य **ब्रह्मा** विरिञ्चिः सर्वजगज्जनकत्वेन प्रसिद्धः, **विष्णुश्च** जगत्पालकत्वेन प्रसिद्धो हरिः, **तथा** तद्वद्, **रुद्रः** सर्वसंहारकः शिव, **इतिपत्रत्रयान्विता** इत्येवं यत्पत्राणां दलानां त्रयं त्रिकं तेन अन्विता युक्ता बुद्धिः, **नवमी** नवसंख्यापूरणी, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्योक्तत्रिपुटीत्रिदलोपलक्षितचिदाभासस्य पत्रिका इव अंशरूपा, **चिद्रूपे** चेत्यरहितचिन्मात्रस्वरूपे, **शिवे** सुखरूपे प्रत्यगभिन्नब्रह्मगुरौ, **समर्प्या** समर्पणीया ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुमात्रतयाऽवलोकनीयेति भावः।।१०८।। (१३२६)

आत्मदेव का ही मनन करते रहना चाहिये। जिसके प्रताप से मैं इस भवसागर को पार करके पाँचों क्लेशों से मुक्ति पा सकूँगा। इस प्रकार के विचार-प्रवाह में जब कोई अधिकारी बह निकलता है और बहता-बहता आत्मतट तक पहुँच जाता है। तब समझा जाता है कि उसने सातवी बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव को अर्पण कर डाला।।१०६।।

उत्पत्ति स्थिति तथा नाश इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी आठवीं बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो।

जब कि अपने अथवा उस जगत् के उत्पन्न होने, अथवा किसी वस्तु को पैदा करने के विचार किसी मुमुक्षु के मन में आने लगें, जब कभी अपने धर्माचरण की भावनायें हृदय में उठती हों तथा जगव्यवहार को चलाने वाले धर्माचरण में प्रवृत्ति होती हो, या कभी किसी का संहार करना ही मन को रुचिकर होने लगे, तब इन सब बुद्धियों को समेट कर (इन सबके प्रकाशक) आत्मदेव की भेंट चढ़ा दो। यह भेंट इतनी गम्भीर हो कि जब यह भेंट चढ़ा चुको तब न तो किसी की उत्पत्ति का विचार आये, न किसी की स्थिति का संकल्प उठे और न किसी का संहार करने की ही भावना जागे। तब केवल चिन्मात्ररूप आत्मदेव ही जहाँ तहाँ सर्वत्र दिखाई पड़ने लगेगा। यह भावना सदा के लिये दृढ हो जाय कि इन उत्पत्ति आदियों में अनुगत रहने वाला इनका साक्षी चेतन आत्मा ही एक शाश्वत तथा चिन्तनीय पदार्थ है। इन तीनों का चिन्तन करने से तो क्लेशों के वश में आना पड़ता है। इस सब खटपट से छूटने का सर्वोत्तम तथा करने में भी सुखदायी उपाय तो यही है कि केवल चिन्मात्ररूप में अपनी स्थिति का सम्पादन कर लिया जाय। अथवा यों समझो कि अपने चिन्मात्र 'ओम्' आत्मा में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया जाय। जब किसी अधिकारी को ऐसी स्थिति अनायास ही प्राप्त होने लगे तब समझ लेना चाहिये कि उसने आठवीं बिल्वपत्रिका

को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है।।१०७।।

ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली नवमी बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूपशिव के अर्पण कर दो।

अपनी कामपूर्ति के लिये ब्रह्मा की किंवा अपने किसी भोग को स्थित रखने के लिये विष्णु की तथा किसी शत्रु का संहार आदि करने के लिये रुद्र की उपासना करने के विचार उत्पन्न होने लगें और इन्हीं विचारों के कारण समाधि में लम्बे-लम्बे छिद्र हो जायें और उन छिद्रों में होकर साधक का आत्मसुख विलुप्त होने लगे तो तुरन्त सावधान होकर वस्तुस्थिति का विचार करना चाहिये कि इन ब्रह्मा आदियों को भी (अपनी सत्ता का दान देकर) पालने वाला तो यह मेरा शुद्ध चैतन्य ही है। इन उपाधि वाले चेतनों के प्रपंच में फंस कर मुझे अपने आत्मसुख को खण्डशः (टूक टूक) क्यों कर देना चाहिये! हाय! हाय! यह कैसी निकृष्ट स्थिति है कि अखण्ड सुख को छोड़ कर खण्डित सुखों की ओर ही मेरा मन चलता है। इस स्वाभाविक स्थिति से तो मुझे अवश्य ही बाहर हो जाना चाहिये। इस प्रकार से विचार करते-करते जब किसी अधिकारी की परमुखापेक्षिता (सुख के लिये दूसरे विषयों का मुँह ताकने की आदत) नष्ट हो जाय और केवल आत्मसुख से ही तृप्ति मिलने लगे जब कि शुद्ध आत्मारामता का आविर्भाव होने लगे, तब निश्चय कर लेना चाहिये कि इस अधिकारी ने नौवीं बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्र सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है।।१०८।।

तम, रज तथा सत्त्व इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी दसवीं बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो।

जब किसी मुमुक्षु की बुद्धि (आत्मा को भुला डालने वाले मोहरूपी) तमोगुण से दब कर किंवा (चंचलस्वभाव वाले) रजोगुण में फंस कर अथवा (धर्म में प्रीति बढ़ाने वाले तथा सकल जगत् का ज्ञान कराने वाले प्रकाशस्वरूप) सत्त्व गुण में रम कर अपने आत्मधाम को भूल जाय तब उसे चाहिये कि वह तुरन्त सावधान होकर इन बुद्धिवृत्तियों को सदाशिव आत्मा की भेंट चढ़ा दिया करे। तब यह चिन्तन किया करे कि इन तीनों गुणों को प्रकाशित करने वाला मेरा आत्मचैतन्य ही परमार्थ वस्तु है। ये सब तो उसी आत्मचैतन्य के काल्पनिक रूप हैं। मुझे तो इन सब का चिन्तन छोड़ कर सदा अपने उसी पारमार्थिक स्वरूप का विचार रखना चाहिये। यह आत्मचैतन्य, सदा ही त्रिगुणाती (तीनों गुणों से बाहर) है इन गुणों से आत्मा की सच्ची अवस्था में तो कुछ भी अन्तर (फ़र्क़) नहीं पड़ता है। फिर मुझे ऐसी भूल क्यों करनी चाहिये कि मैं

तमो रजस्तथा सत्त्वमितिपत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे दशमी बिल्वपत्रिका।।१०६।। (१३३०)
त्वन्ताऽहन्ता तथेदंत्वमितिपत्रत्रयान्विता।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे रुद्राख्या बिल्वपत्रिका।।११०।। (१३३१)

दशमीं बिल्वपत्रीं लक्षयति **तम इति**। हे शिष्य **तम** आवरणात्मकं मोहस्वभावं स्वात्मविस्मृतिकारणमत्र तमःशब्देन ग्राह्यं, **रजश्च** चाञ्चल्यधर्मवत्सर्वजगदुत्पत्त्यादिक्रियाकारणं लोभादिवृत्त्युपलक्षितमत्र ग्राह्यं, **तथा** तद्वत्, **सत्त्वं** प्रकाशस्वरूपं सर्वजगज्ज्ञानकारणं धर्मप्रीत्याद्युपलक्षितं, **इतिपत्रत्रयान्विता** इत्येवं प्रकारं यत्पत्राणां दलानां त्रयं त्रिकं तेन अन्विता संयुक्ता बुद्धिः, **दशमी** दशसंख्यापूरणी, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्योक्तविधत्रिपुटीत्रिदलोपलक्षितस्य चिदाभासस्य पत्रिका इव अंशभूता, **चिद्रूपे** चेत्यरहितचिन्मात्ररूपे, **शिवे** सुखस्वरूपे ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरौ, समर्प्या समर्पणीया प्रत्यगभिन्नब्रह्ममात्ररूपेण भावनीयेति भावः।।१०६।। (१३३०)

एकादशीं बिल्वपत्रीं प्रदर्शयति **त्वंतेति**। हे शिष्य **त्वंता** स्वभिन्नपुरुषविषयकस्वप्रत्यक्षता, **अहन्ता** स्वानन्यदेहद्वयसहितसाधिष्ठानचिदाभासता, **तथा** तद्वद् **इदंत्वं** स्वान्यस्वदृश्यत्वम्, इतिपत्रत्रयान्विता इत्येवंप्रकारं यत्पत्राणां दलानां त्रयं त्रिकं तेन अन्विता युक्ता बुद्धिः, **रुद्राख्या** रुद्रा एकादशेत्याख्याऽऽह्वा यस्याः सा तथोक्ता एकादशीत्यर्थः, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्योक्तत्रिपुटीत्रिदलोपलक्षितचिदाभासस्य पत्रिकेवांशभूता, **चिद्रूपे** चेत्यरहितचिन्मात्ररूपे, **शिवे** सुखस्वरूपे ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरौ, समर्प्या समर्पणीया ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुरूपमात्रत्वेनानुभाव्येति भावः।।११०।। (१३३१)

इनके चिन्तन ही में लगा रह जाऊँ? जब कोई इस विधि से त्रिगुणातीत होकर शुद्ध आत्मस्थिति को पा लेता है तब कहा जाता है कि उसने दसवीं बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव की भेट चढ़ा दिया है।।१०६।।

त्वन्ता (तूपन) अहन्ता (मैंपन) और इदन्ता (यहपन) इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी ग्यारहवीं बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दिया करो।

ब्रह्माभ्यास करते-करते जब किसी मुमुक्षु के मन में तुझसे, मुझसे या अन्य किसी से सम्बन्ध रखने वाले विचार उदय होने लगे और उस साधक के नवप्रज्वलित बोधदीपक के बुझने का भय हो तब उचित है कि बड़ी तत्परता के साथ इन सब प्रकार के विचारों को समेट कर सदाशिव आत्मदेव के अपवादाधिष्ठान रूपी चरण में फेंक दिया करे। यदि ये विचार सहसा वश में न आते हों तो निम्न विधि से विचार किया करे कि ये सब त्वन्ता (तूपन) आदि इसी चिन्मात्र आत्मा को न पहचानने से इसी के

एकादशैताः कथिताः शाम्भवाः बिल्वपत्रिकाः।
एताभिरर्चितः शम्भुः सद्यो मुक्तिं प्रयच्छति।।१११।। (१३३२)

इदानीं उक्तबिल्वपत्रार्पणमुपसंहृत्य तत्फलं दर्शयति **एकादशेति**। हे शिष्य **एता** मया निरूपिता इमा, एकादशा एकादशसंख्याः, **शाम्भवाः** शम्भवति अस्मादिति शम्भुः सकलजगदानन्दकरो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगानन्दात्मशिवगुरुः तस्य एताः शाम्भवास्तदर्पणेनोक्तविधेन तत्सम्बन्धीकृता, **बिल्वपत्रिका** बिल्वस्योक्तत्रिपुटीलक्षणत्रिदलोपलक्षितचिदाभासस्य पत्रिकाः पत्राणीवांशभूताः सन्ति ता, मया ते **कथिता** निरूपिताः, किञ्च **एताभिः** आभिः एकादशसङ्ख्यबिल्वपत्रिकाभिः, कृत्वा **शम्भुः** शं सुखं भवति अस्मादिति शम्भुः ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः **अर्चितः** पूजितः, तत्तद्वृत्तिलयेनाखण्डैकरसश्चिन्तितश्चेद्यदि तर्हि **सद्यः** तत्कालमेव, **मुक्तिं** मोक्षं, **प्रयच्छति** ददाति ।।१११।। (१३३२)

अपारमार्थिक रूप बन गये हैं। काठ के बने हुए हाथी के समान ये सब काल्पनिक हैं। इन सब का सच्चा रूप तो वह सदाशिव आत्मा ही है। फिर भला मुझ साधक को उस पारमार्थिक रूप को छोड़कर इन अशाश्वत और मायिक पदार्थों के चिन्तन में ही क्यों डूब रह जाना चाहिये। इन त्वन्ता अहन्ता आदियों ने तो मेरे आत्मसुख को मुझ से छीनने का बीड़ा उठा रक्खा है। यह सब जान चुकने पर भी मुझे उनकी ठगाई में क्यों आते जाना चाहिये। जब किसी मुमुक्षु की बुद्धि पर से त्वन्ता अहन्ता आदि की मोहकी फांसी उठ कर शुद्ध चैतन्य के दर्शन होने लगे हों तो समझना चाहिये कि उसने ग्यारहवीं बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मा को भेंट चढ़ा दिया है।।११०।।

हमने शम्भु की भेंट करने को ये ग्यारह बिल्वपत्रिकायें बतायी हैं, इनसे पूजा हुआ शम्भु शीघ्र ही मुक्ति दे देता है।

जीवों के मनों में आने वाले, आत्मशम्भु पर चढ़ाने योग्य, बिल्वपत्ररूपी ग्यारह प्रकार के विचारों का निरूपण हमने यहाँ तक किया। जब कोई मुमुक्षु प्रसंगानुसार उपयुक्त समय देखकर इन ग्यारह पत्तों से अपने आत्मशम्भु की पूजा कर दे (अर्थात् जब इन ग्यारह प्रकार के विचारों में से कोई सा विचार उत्पन्न हो तब तुरन्त ही अपने अध्यात्मविचार की सहायता से उनका लय कर दे और अखण्ड एकरस आत्मदेव के चिन्तन का निरन्तर प्रवाह बहादे) तो यह आत्मशम्भु उस पर तुरन्त प्रसन्न होकर तत्काल ही उसे जीवन्मुक्ति के दुर्लभ पद का दान कर देता है।

भाव यह है कि ब्रह्माभ्यास करते-करते जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ शान्त हो जायँ, जब सब संकल्पों में महामारी सी फैल जाय, जब मनोधर्म का चिह्न भी शेष न रहे, जब बुद्धि भी चेष्टा करना बन्द कर दे, खोजने पर जब प्रवृत्ति का पता न पाये अथवा यों

अथाष्टमूर्तिपूजनम्

शर्वो भवो रुद्र उग्रो भीमः पशुपतिस्तथा।
महादेवस्तथेशान इति मूर्त्तिप्रपूजनम्।।११२।। (१३३३)

एवमेकादशबिल्वपत्रार्पणं निर्णीयेदानीमष्टमूर्तिपूजननिर्णयनिरूपणं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति।** **अथ** एकादशबिल्वपत्रिकानिर्णयनिरूपणानन्तरं,अष्टमूर्त्तिपूजननिर्णयः अष्टौ अष्टसंख्या याः शिवस्य मूर्त्तय आकृतयः कथिताः शैवशास्त्रेषु क्षित्यादिनाम्न्यस्ताभिः क्रियते यत् शिवस्य पूजनं अर्चनं, यद्वा तासामेव पूजनं तस्य निर्णयो निश्चयः क्रियते इति शेषः। तदेव सफलं निरूपयति **शर्व इति द्वाभ्याम्।** हे शिष्य **शर्वः** शरान्चाति धारयतीति शर्वः, विशीर्यमाणदेहोपलक्षितप्राणिधारणोपलक्षिता पृथ्वी प्रकृतिदेहः। **भवः** सैव पृथ्वी भवति अस्मादुत्पद्यते इति भवो जलम्, 'अम्भो मरीचीर्मरमाप' इत्यादिकया श्रुत्या 'अद्भ्यः पृथिवी'ति श्रुत्या च पृथिव्यादिसृष्टेर्जलकारणत्वनिरूपणाज्जलप्रकृतिरूप इत्यर्थः। **रुद्रो** दाहकत्वेन रोदयति सर्वं जगदिति रुद्रः अग्निप्रकृतिरूपस्तेजोमूर्त्तिरित्यर्थः। **उग्रः** कहना चाहिये कि अनादि काल से अपने तुच्छ कामों में फँसे हुए शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को विश्राम मिलने लगे तब समझना चाहिये कि परमगति की प्राप्ति होने लगी है, ज्ञानात्मा को शान्त आत्मा में यमन करने की विधि मालूम पड़ गई है, बुद्धि से भी परम जो तत्त्व है उसको पहचान लिया गया है। परन्तु करोड़ों पुण्यों से कमाई हुई ऐसी शुद्ध आत्मस्थिति को हमारे अनादि काल के संस्कार बार-बार खण्डित करते ही रहते हैं। वे इसे निरन्तर नहीं रहने देते। उस पवित्र अवस्था को निरन्तर रखने के लिये ही उक्त ग्यारह प्रकार के बिल्वपत्रार्पण बताये गये हैं। जिस प्रकार उड़ने की कला में सिद्धहस्त (चतुर) गिद्ध आदि महापक्षी अपने पंखों को हिलाये बिना ही आकाशमार्ग में उड़ान मारते रहते हैं, केवल कभी कभी (जब कि नीचे को गिरने का भय हो जाता है तब) अपने पंखों को थोड़ा सा हिला लेते हैं इसी प्रकार मुमुक्षु लोग भी ब्रह्माकार वृत्ति करते-करते शुद्ध आत्मस्थिति में विहार करने लगते हैं। परन्तु जब कभी उनकी उस शुद्ध स्थिति के भंग होने का प्रसंग आने लगे, तब वे तुरन्त ही (उक्त ग्यारह प्रकारों में से किसी एक पद्धति से) फिर-फिर ब्रह्माकार वृत्ति बना लेते हैं और इस प्रपंच के मिथ्या बंधन से बार-बार मुक्त होते रहते हैं। इस अभ्यास को करते-करते अन्त में तो ऐसी शान्त और स्पृहणीय देवदुर्लभ अवस्था का प्रादुर्भाव होता है कि जिसका वर्णन करने का भारी बोझ मनुष्यों की अधूरी भाषा से सँभल भी नहीं सकता। जिन ज्ञानयोगियों का हृदय जितनी देर के लिये वैसी देवदुर्लभ अवस्था का विलासक्षेत्र बन जाता है वे लोग उतनी देर के लिये आकाश के समान अनन्त, समुद्र के समान गम्भीर, सलिल के समान शीतल और स्फटिक के समान स्वच्छ हो जाते हैं।।१११।।

अष्टौ प्रकृतिरूपाणि कष्टान्यष्टैव देहिनः।
स्पष्टं मूर्त्तिभिरष्टाभिरष्टमूर्त्तिर्हरत्यसौ।।११३।। (१३३४)

तेजआदिभूतभौतिकानां शोषकत्वादिनोग्रो वायुर्वायुप्रकृतिमूर्त्तिरित्यर्थः। तथा **भीमः** सर्ववाय्वादिभूतभौतिकलयात्मकत्वेन सर्वभीतिहेतुरत्राकाशस्तत्प्रकृतिमृत्यूपलक्षितः। **तथा** तद्वत्, **पशुपतिः** पशुं जीवं स्वोपाधितया पाति रक्षतीति पशुपतिः अत्र मनःप्रकृतिमूर्त्तिरिति भावः। **महादेवो** महान् मनसोऽपि श्रेष्ठो देवश्चिद्रूपो विज्ञानशब्दवाच्यत्वात् सर्वसंसारक्रीडासाधनभूतो बुद्धिप्रकृतिमूर्त्तिरित्यर्थः। **तथा** तद्वद् **ईशान** ईष्टे जीवान् स्वशक्तित्वेन प्रेरयति असौ **ईशानः** अहङ्करप्रकृतिमूर्त्तिरित्येवं, **मूर्त्तिप्रपूजनं** अष्टौ प्रकृत्य एवात्राष्टौ मूर्त्तयस्ताभिरुपाधिभिस्तत्तत्साक्षित्वेनोपलक्षितं प्रत्यगभिन्नब्रह्मचैतन्यं सर्वदैव चिन्त्यं तदेवात्राष्टमूर्त्तिप्रपूजनं, न तु अन्यद् लौकिकमष्टमूर्त्तिप्रपूजनमिति भावः।।११२।। (१३३३)

शैव शास्त्रों में क्षिति आदि नाम वाली शिव की आठ मूर्तियों का वर्णन आता है उनके द्वारा शिवपूजन का निश्चय अब किया जाता है

शर्व (प्राणियों को धारण करने वाला पृथिवी से बना हुआ देह) भव (पृथिवी को उत्पन्न करने वाला जल से बना हुआ देह) रुद्र (जलाकर सब जगत् को रुलाने वाला अग्नि से बना हुआ तेजःस्वरूप देह) उग्र (भूत भौतिक पदार्थों का शोषण करने वाला वायु से निर्मित देह) भीम (वायु आदि समस्त भूत भौतिक पदार्थों को अपने में लय करने के कारण सबको भय देने वाला आकाश से बना हुआ देह) पशुपति (जीवरूपी पशु की रक्षा करने वाला मनोनिर्मित देह) महादेव (मन से भी श्रेष्ठ होने से महान् तथा चैतन्य रूप, सकल संसार की क्रीडाभूमि, बुद्धि से निर्मित देह) तथा ईशान (जीवों को अपनी शक्ति से प्रेरित करने वाला अहङ्कारनिर्मित देह) हमारी शिवपूजा में ये ही आठ मूर्ति हैं। इनका पूजन करना चाहिये।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार नामक आठ प्रकृति ही उस चिन्मात्र के अपारमार्थिक रूपान्तर हो गये हैं। जब इन सब के साक्षी का ध्यान किया जाता है तब शिव (निरुपाधि प्रत्यगभिन्न ब्रह्मचैतन्य) ही दृष्टिगोचर होने लग जाता है। इन आठों प्रकृतियों में से जिस किसी पर मुमुक्षु की दृष्टि पड़ती है उसको वहीं वहीं अपने साक्षी आत्मा के अखण्ड दर्शन होते हैं और समाधि होने लगती है। जब किसी मुमुक्षु को आत्मदेव के ऐसे सार्वत्रिक दर्शन मिलने लगें तब समझना चाहिये कि उसने अष्टमूर्ति का विधिपूर्वक पूजन कर लिया है।।११२।।

परा प्रकृति ने ये ही पृथिवी आदि आठ रूप धारण कर लिये हैं। यही कारण है कि देही जीवात्मा को इन आठ ओर से आये हुए, आठ प्रकार के ही दुखों को, भोगना

अथ प्रदक्षिणनिर्णयः

अपर्यन्तो महादेवस्तस्य कल्पशतैरपि।
न स्यात्प्रदक्षिणं तेन शिवस्यार्धं प्रदक्षिणम्।।११४।। (१३३५)

नन्वेतदष्टमूर्त्युपलक्षिताखण्डचिन्मात्रचिन्तनरूपपूजनेन किंफलमित्याशङ्क्य तद्दर्शयति **अष्टाविति।** हे शिष्य यानि **अष्टौ** अष्टसंख्यानि, **प्रकृतिरूपाणि** प्रकृतेः पराभिधायाः प्रकृतेः 'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परामि'त्यादिना 'यया सन्धार्यते जगदि'त्यन्तेन वाक्येन भगवतोक्तया रूपाणि आकृतयः सन्ति।

'भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'।।

इति गीतोक्तानि **देहिनः** साधिष्ठानदेहद्वसहितचिदाभासस्य, **अष्टैव** अष्टसंख्यान्येव, **कष्टानि** दुःखानि, ज्ञेयानि स्पष्टं एतत् प्रसिद्धमेव तानि, **अष्टौ** प्रकृतिरूपाणि दुःखानि, **असौ** उक्तविध अष्टमूर्त्तिरात्माऽष्टमूर्त्तीनामष्टप्रकृत्युपाधीनां साक्षित्वेनाऽनुसन्धितो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः, **अष्टाभिः** अष्टसंख्याभिः, **मूर्तिभिः** आकृतिभिः, **हरति** निवारयति, अष्टप्रकृत्यष्टमूर्त्युपलक्षिताष्टप्रकृतिसाक्षिप्रत्यगभिन्नब्रह्मचैतन्यशिवगुरुः अनुसन्धानलक्षणेन पूजनेन अष्टप्रकृतिबाधेन तत्तज्जन्यदुःखनिवृत्तिः फलं स्यादिति भावः।।११३।। (१३३४)

एवमष्टमूर्त्तिपूजनं निर्णीयेदानीं प्रदक्षिणं निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति। अथ** अष्टमूर्त्तिपूजननिर्णयानन्तरं, **प्रदक्षिणनिर्णयः** शिवपूजायां प्रदक्षिणनामको य उपचारस्तस्यात्र पूजायां निर्णयो विचारः क्रियते इति शेषः। तमेवाह पद्येन **अपर्यन्त इति।** हे शिष्य **महादेवो** महानपरिच्छिन्नो देशकालवस्तुभिः देवश्चिन्मात्ररूपो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः, **अपर्यन्तो** न विद्यते परितः सर्वतोऽन्तोऽवच्छित्तिर्यस्य स तथाविधोऽनन्तः इत्यर्थः, अस्ति अत एव **तस्य** प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः **कल्पशतैरपि** कल्पानां द्विपरार्धोपलक्षितमहाकल्पानां शतानि शतकानि अपरिमितानि शतकानीत्यर्थः, तैरपि तत्परिमितकालेनापीतिभावः, **प्रदक्षिणं** सर्वप्रकारेण दक्षिणभागे कृत्वा गमनं चिदाभासस्य **न स्यात्** न भवेत् **तेन** हेतुना **शिवस्य** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरोः, **अर्ध** एकदेश एव **प्रदक्षिणं** प्रकृष्टं दक्षिणं प्रत्यगभिन्नब्रह्मचिन्तने दक्षत्वमस्तीति ज्ञेयम्, अत एव लोकेपि सोमसूत्रानुल्लङ्घनं चिह्नं दृश्यते इति भावः।।११४।। (१३३५)

पड़ता है। परन्तु उन आठ प्रकार के दुःखों को यह हमारा जागा हुआ अष्टमूर्ति अपनी आठों मूर्तियों से हर लेता है।

इन आठों मूर्तियों के द्वारा लक्षणावृत्ति से ज्यों ही इन आठों प्रकृतियों के साक्षी आत्मचैतन्य का अनुसन्धान कोई साधक करते हैं त्यों ही आठों प्रकृतियों का बाध हो जाता है (उनमें से कोई सी भी शेष नहीं रहती) तब तो वहाँ एकान्तलीलाचतुर केवल साक्षिचैतन्य ही विराजा करते हैं। जब कि वे आठों प्रकृतियाँ नहीं रहतीं तब उन आठों प्रकृतियों से उत्पन्न होने वाला दुःख ही कैसे रहे।।११३।।

अथ गल्लवाद्यविचारः

यथा स्वरूपं देवस्य तथा वक्तुं न शक्यते।
स्तुतिर्वा गल्लवाद्यं वा तेन शम्भोर्द्वयं समम्।।११५।। (१३३६)

एवं प्रदक्षिणं निर्णीयेदानीं गल्लवाद्यं निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति**। **अथ** प्रदक्षिणविचारानन्तरं, **गल्लवाद्यविचारः** शिवाग्रे यद् गल्लवाद्यं क्रियते तस्य विचारो निर्णयः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येन प्रदर्शयति **यथेति**। हे शिष्य **देवस्य** चिन्मात्ररूपिणो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरोः, **यथा** यादृक्स्वरूपमाकृतिरस्ति, **तथा** तादृक् **वक्तुं** वचनेन प्रतिपादयितुं, **न शक्यते** न समर्थ्यते, **तेन** वचनमात्रस्य शिवस्वरूपाविषयीकरणेन निरर्थकत्वात् शिवप्रसादहेतुत्वेन सार्थकत्वाच्च, **स्तुतिर्वा** स्तोत्रं च, **गल्लवाद्यं वा** कपोलवादनध्वनिरपीति, द्वयं युग्मं, **शम्भोः** शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भुः समस्तजगदानन्दकरो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुस्तस्य, **समं** तुल्यं ज्ञेयं, गल्लवाद्योपलक्षणेन यावद् व्यक्ताव्यक्तशब्दजातस्य नैरर्थक्येन प्रसन्नताहेतुत्वेन च सम्यगनुसन्धानमेवात्र पूजायां गल्लवाद्यमिति भावः।।११५।। (१३३६)

चिन्मात्ररूप महादेव का पर्यन्त (अथवा समाप्ति) कहीं भी नहीं होता। अनगिनत महाकल्पों का समय व्यतीत कर देने पर भी उसकी पूरी प्रदक्षिणा किसी भी चिदाभास से हो नहीं सकती। इसी कारण से शिव तत्त्व की प्रदक्षिणा आधी अर्थात् एकदेश में ही मानी गयी है।

ब्रह्म के सम्पूर्ण रूप का चिन्तन किसी से भी नहीं किया जा सकता। जितने भी ज्ञानी लोग हैं वे सब उसके किसी एकदेश के चिन्तन में ही दक्ष पाये जाते हैं। (कोई ज्ञानी उसकी पूर्णता का ही ध्यान करते हैं, कोई उसकी समता में ही विश्राम कर लेते हैं, किसी को उनका शान्तरूप ही पसन्द आता है, किसी को चतुर्थ चिन्ता ही भाती है, कोई तो कुछ भी चिन्तन न करने को परमपुरुषार्थ समझने लगते हैं इत्यादि)। लौकिक शिवपूजन में शिवप्रदक्षिणा करते समय सोमसूत्र (शिवलिंग पर चढ़ाये हुए जल के बाहर निकलने की नाली) को उल्लंघन न करने (किंवा शिव की आधी प्रदक्षिणा करने) का तात्पर्य भी यही है कि सैकड़ों कल्पों तक प्रदक्षिणा करने पर भी अनन्तरूप महादेव की पूरी प्रदक्षिणा किसी से भी नहीं हो सकती।।११४।।

चिन्मात्ररूपी आत्मदेव का जैसा स्वरूप है यथार्थ में उसके प्रतिपादन करने का सामर्थ्य तो किसी को भी नहीं है। ऐसी अवस्था में उस सदाशिव आत्मदेव की चाहे तो स्तुति की जाय या फिर (स्तुती की निरर्थकता को देखकर) गाल बजाये जायें, सकल जगत् को आनन्द देने वाले उस आत्मशम्भु की दृष्टि में ये दोनों बातें समान ही होती हैं।।११५।।

अथ नमस्कारविचारः

प्रेमनिर्भरभावेन दण्डवत्पतितैर्भुवि।
महादेवो नमस्कार्यो गलितत्वादहङ्कृतेः।।११६।। (१३३७)

एवं गल्लवाद्यं निर्णीयेदानीं नमस्कारं निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति**। अथ गल्लवाद्यनिर्णयानन्तरं, नमस्कारनिर्णयो नमस्काराभिधोपचारस्य निर्णयो विचारः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **प्रेमेति**। हे शिष्य **प्रेमनिर्भरभावेन** प्रेम्णः स्नेहस्य यो निर्भरभावो निरतिशयत्वं तेन, कृत्वा **अहंकृतेः** अहङ्कारस्य, **गलितत्वाद्** विनष्टत्वात्, हेतोः **भुवि** भवत्यस्मात् जीवेश्वरत्वादिरूपः प्रपञ्च इति भूः ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुः तस्मिन्, **दण्डवत्** यथा दण्डः स्वाधारभूतभूमौ अभिमानरहितः पतति तद्वत्तत्र कालेन विलीनो भवति तथा **पतितैः** एकीभावं प्राप्तैः चिदाभासैः, **महादेवो** महानपरिच्छिन्नो ब्रह्मस्वरूपो देवः प्रत्यक्चैतन्यरूप आत्मशिवगुरुः, **नमस्कार्यो** नमस्कर्तुं योग्यो नान्यैरित्यर्थः, अहङ्काराद्युपाधिपरित्यागेन चिदाभासानां प्रत्यगभिन्नब्रह्मणा सहैक्यसम्पादनमेवात्र पूजायां नमस्कार इति भावः।।११६।। (१३३७)

अहंकार के पूरा नष्ट हो जाने के कारण, प्रेम से गद्‌गद होकर, ब्रह्मरूपी भूमि में दण्ड के समान निरभिमान होकर शयन कर सकने वाले लोग ही महादेव को नमस्कार किया करें।

शिवपूजन करते-करते जब प्रेम की मात्रा अपनी सीमा का उल्लंघन करने लगे और अधिकारी का अहङ्कार नष्ट हो जाय तब मुमुक्षु को उचित हैं कि ब्रह्मनाम की विस्तीर्ण भूमि (जीवेश्वरादि प्रपंच के उत्पत्तिस्थान होने से उसे भूमि कहा गया है) में इस प्रकार गिर पड़े और काल पाकर वहीं इस प्रकार विलीन हो जाय जैसे कि डण्डा लम्बायमान होकर भूमि पर गिर पड़ता है और वहीं पड़ा पड़ा गल सड़कर उसी भूमि में विलीन होकर अपना नामरूप खो देता है। जिन साधकों के गम्भीर पतन में इस प्रकार मर मिटने और विलीन हो जाने का सामर्थ्य आ गया हो ऐसे मुमुक्षु पुरुष ही अनन्त चैतन्यरूप ब्रह्म को नमस्कार करने के सच्चे अधिकारी हैं। तात्पर्य यह है कि जब कोई अधिकारी अहङ्कारादि उपाधियों का परित्याग कर देता है और ब्रह्म के साथ एकता का सम्पादन कर लेता है तब यही इस शिवपूजन का नमस्कार कहाता है।।११६।।

मनुष्य जन्म पाकर भी महेश्वर का पूजन मैंने नहीं किया, यह मुझसे बड़ा भारी अपराध हुआ। हे सदाशिव! मेरे इस अपराध को सहन कर लीजिये। ऐसी प्रार्थना अपने आत्मदेव से बार-बार करता रहे। अनादि काल से लेकर मैंने अनेक बार मनुष्य जन्म पाये, परन्तु अपने अज्ञान के कारण मैं सदा ही अल्पेश्वरों की पूजा करता रहा। उन जन्मों में कभी भी उस महादेव का पूजन नहीं किया (मैं सदा इन्हीं पामर-स्मृहणीय

अथ क्षमापनम्

मानुष्यमपि संप्राप्य पूजितो न महेश्वरः।
अपराधो महाञ्जातः क्षमस्वेति मुहुर्वदेत्।।११७।। (१३३८)

अथ विसर्जननिर्णयः

ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वजीवत्वादिविसर्जनम्।
एतस्यां शिवपूजायामेतदेव विसर्जनम्।।११८।। (१३३९)

एवं नमस्कारं निर्णीयेदानीं क्षमापनं निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति**। **अथ** नमस्कारनिर्णयानन्तरं, क्षमापननिर्णयः **क्षमापनं** समाधापनं तस्य निर्णयो विचारः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **मानुष्यमिति**। हे शिष्य **मानुष्यं** मनुष्यजन्मापि, **संप्राप्य** लब्ध्वापि, **महेश्वरो** महान् देशाद्यपरिच्छिन्न ईश्वरो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मेश्वरत्वारोपाधिष्ठानं, **न पूजितः** सर्वं परित्यज्य नादृतोऽयमेव **महान्** श्रेष्ठः, **अपराध** आगो, **जातः** सम्भूतः तम् इमं अपराधं, **क्षमस्व** सहस्वेति, एवं **मुहुः** पुनः पुनः, **वदेत्** ब्रूयात् स्वात्मानं प्रति।।११७।। (१३३८)

एवं क्षमापनं निर्णीयेदानीं विसर्जनं निर्णेतुं गद्येन प्रतिजानीते **अथेति**। **अथ** क्षमापननिर्णयानन्तरं, **विसर्जननिर्णयो** विसर्जनस्योद्वासनस्य निर्णयो विचारः क्रियते इति शेषः। तमेव पद्येनाह **ज्ञत्वेति**। हे शिष्य **ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वजीवत्वादिविसर्जनं** ज्ञत्वं ज्ञानेन्द्रियान्तःकरणवृत्तिसहितत्वं, कर्तृत्वं कर्मेन्द्रियप्राणक्रियासहितत्वं, भोक्तृत्वं भोग्यविषयजन्यसुखदुःखित्वं, जीवत्वं प्राणोपहितसाधिष्ठानचिदाभासत्वम्, एतानि आदीनि येषां तेषां धर्माणां विसर्जनं प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि परित्यागोऽत्यन्ताभावचिन्तनं, यत्तदेतदेव **एतस्यां** पूजायां उक्तप्रकारायां पूजायां, अस्यां ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुचिन्तनरूपायामर्चायां तदाकारवृत्त्याऽऽदररूपायामित्यर्थः, विसर्जनम् उत्थापनं नान्यदित्यर्थः।।११८।। (१३३९)

झगड़ों में फँसा रहा) यह मुझसे हुए एक बड़े भारी अपराध को आप सह लीजिये। मुमुक्षु को उचित है कि अपने आत्मदेव से बार-बार ऐसी क्षमायाचना करता रहे।।११७।।

ज्ञत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा जीवत्व आदि धर्मों का परित्याग ही इस शिवपूजन में विसर्जन कहाता है।

आत्मज्ञान में दीक्षित हो जाने के अनन्तर पूर्वाभ्यासवश जब कभी यह भान होने लगे कि "ये कान, नाक, आँख आदि ज्ञानेन्द्रियाँ मेरी हैं मैं इनसे श्रवण आदि करता हूँ, कर्मेन्द्रियाँ मेरी हैं, मैं इनसे क्रिया करता हूँ, मैं ही प्राण लेता हूँ, उन उन भोग्य विषयों के आने पर सुख अथवा दुःख भी मुझे ही होते हैं। प्राणों को धारण करने वाला जीव भी मैं ही हूँ" तब तब परन्तु सावधान होकर इन सब अनात्मधर्मों का विसर्जन कर देना चाहिये अर्थात् यह चिन्तन करना चाहिये कि शुद्ध आत्मचैतन्य में इन धर्मों

आज्ञाकरत्वमायाति पुरुषार्थचतुष्टयी।
यतोऽस्याः शिवपूजाया महिमा केन वर्ण्यताम्।।११९।। (१३४०)
तत्त्वतो यः शिवं वेद स वेद शिवपूजनम्।
कस्तत्त्वतः शिवं वेद को वेद शिवपूजनम्।।१२०।। (१३४१)

इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे शिवपूजाशतकं पञ्चाशत्तमम्।।५०।।

इदानीमेतत्पूजनमाहात्म्यमाह **आज्ञाकरत्वमिति**। हे शिष्य **यतः** कारणाद् उक्तविधया पूजया कृतया, **पुरुषार्थचतुष्टयी** पुरुषार्थानां धर्मार्थकाममोक्षाख्यानां चतुष्टयी चतुष्कं, **आज्ञाकरत्वं** आज्ञाकारित्वं, **आयाति** प्राप्नोति तद्वशा भवतीत्यर्थः, पुरुषार्थेषु मध्ये यस्मै यस्मै यं यं ददाति तस्य तस्य स लभते इति भावः, तत् तस्मात् कारणाद्, **अस्या** अत्रोक्तलक्षणायाः, **शिवपूजायाः** शिवो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मगुरुस्तदाकारवृत्त्यादररूपाया अर्चाया, **महिमा** महत्त्वं, **केन** वक्त्रा वाक्प्रपञ्चेन, **वर्ण्यतां** निरूप्यतां वागविषयत्वात्स्वतश्चानन्तत्वान्न वर्णनार्हेति भावः।।११९।। (१३४०)

इदानीमस्यामधिकारिस्वरूपनिरूपणं तद्दौर्लभ्यनिरूपणपूर्वकमाह **तत्त्वत इति**। हे शिष्य **यः** कोपि पूरुषः साधनचतुष्टयसम्पन्नः, **तत्त्वतो** याथार्थ्येन, **शिवं** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मशिवगुरुं, **वेद** जानाति, **स** पुरुषः, शिवपूजनं शिवस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः पूजनं अर्चनं तदाकारवृत्त्यादररूपमित्यर्थः, **वेद** जानाति, तस्य च दौर्लभ्यं दर्शयति **क इति**। हे शिष्य **कः** पुरुषः, तत्त्वतो याथार्थ्येन, **शिवं** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगानन्दात्मशिवगुरुं, **वेद** जानाति न कोपीत्यर्थः, अतः **कः** पुरुषः, **शिवपूजनं शिवस्य** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगानन्दात्मशिवगुरोः, पूजनं तदाकारवृत्त्यादररूपमर्चनं, वेद जानाति न कोपि जानातीत्यर्थः, 'को अद्धा **वेद** क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूवे'ति श्रुतेः। अत्र ध्याननिर्णायकश्लोकस्य व्याख्यानरूपाणां षोडशश्लोकानां तद्व्याख्येये 'ध्यायेन्नित्यं महेशमि'तिश्लोकेऽन्तर्भावेणास्य शतकत्वं ज्ञेयं, द्वयोश्च माहात्म्याधिकारिनिरूपकयोरपि तत्रैवान्तर्भावः।।१२०।। (१३४१)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ शिवपूजाशतकार्थप्रकाशः पञ्चाशत्तम।।५०।।

का अस्तित्व कहीं भी नहीं है। ये सब धर्म इन्द्रिय प्राण तथा मन आदि उपाधियों के कारण हैं। जब कोई विवेकी इन अनात्मधर्मों को कभी भी अपने पास नहीं फटकने देता, अपने ज्ञानदीपक को कभी बुझने नहीं देता, इन्द्रियों को कभी भी अपने ज्ञानद्रव्य को चुराने नहीं देता, वृत्तिरूपी रन्ध्रों के द्वारा अपने ज्ञानद्रव्य को बहने नहीं देता, तब यह अनात्मधर्मों से हट जाना ही इस शिवपूजन में विसर्जन कहाता है।।११८।।

यदि कोई विवेकी उक्त प्रकार से शिवपूजन कर ले तो चारों पुरुषार्थ हाथ बाँध कर उसकी दासता करने लगते हैं। फिर भला किस संसारी की वाणी में इतना सामर्थ्य हो कि इस शिवपूजन की महिमा का पूरा-पूरा वर्णन कर सके।।११९।।

अथ बोधसारप्रशंसा

आदौ गुरुस्तवो यत्र प्रान्ते च शिवपूजनम्।
मध्ये मुकुन्दस्मरणं बोधसारः स उत्तमः।।१।। (१३४२)

एवं शिवपूजाशतकं निरूप्येदानीं मुमुक्षूणामत्रैव ग्रन्थे रुच्युत्पादनाय सर्वाऽन्यग्रन्थाननादृत्यात्रैव प्रवृत्तये चास्य ग्रन्थस्यान्यग्रन्थेभ्यः श्रैष्ठ्यं दिदर्शयिषुर्बोधसारप्रशंसाख्यमष्टश्लोकं प्रकरणमारभमाण आह गद्येन **अथेति। अथ** शिवपूजाशतकनिरूपणानन्तरं, **बोधसारप्रशंसा** बोधसारस्य बोधसारनामकस्यास्य ग्रन्थस्य प्रशंसा स्तुतिः अस्यां सा तथोक्ता एतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरुप्यते इति शेषः। तत्रादौ एतद्ग्रन्थस्य श्रैष्ठ्यं सहेतुकमाह **आदाविति।** हे शिष्य **यत्र** बोधसारनाम्नि ग्रन्थ, **आदौ** प्रारम्भे, **गुरुस्तवो** गुरोर्मोक्षसाधनभूतं ज्ञानं मुख्यं जीवब्रह्मैक्यविषयं तत्प्रतिपादकं महावाक्यं च तदुपदेष्टुर्दैशिकस्य स्तवः स्तुतिर्यस्मिन्स तथोक्त एतन्नामकं प्रकरणमित्यर्थः, अस्ति। **प्रान्ते चा**ऽवसानेपि, **शिवपूजनं** शिवस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः पूजनं तदाकारवृत्तिचिन्तनरूपं यत्र तत्तथोक्तं शिवपूजाशतकनामकं प्रकरणमित्यर्थः, अस्ति। किञ्च यत्र बोधसारनाम्नि ग्रन्थे, **मध्ये** मध्यभागे, **मुकुन्दस्मरणं** तुरीयतुलसीपत्रपूजानिरूपणमिषेण मुकुन्दस्य मुक्तिदातुः जीवब्रह्मैक्यज्ञानोपदेशद्वारा मुक्तिसमर्पकस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मशिवगुरोः स्मरणं चिन्तनं यस्मिंस्तत्तथोक्तं तुरीयतुलसीपत्रपूजानामकं प्रकरणमित्यर्थः, निरूपितमस्ति। एवमादिमध्यान्ते मङ्गलप्रतिपादनादत्र **स** उक्तलक्षणो मङ्गलत्रयनिबद्धो, **बोधसारो** बोधो जीवब्रह्मैक्यज्ञानं सारो मुख्यार्थो वर्णनीयो यत्र स तथाविध एतन्नामको ग्रन्थ **उत्तमः** अन्यग्रन्थेभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः। अत्र भाष्यसम्मतिः 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते सिद्धार्थद्योतकानि सिद्धार्थाध्येतृकाणि च स्युरि'ति अतोस्य महाशास्त्रत्वात् सिद्धार्थबोधनशक्तिमत्त्वाच्चैतत्पाठकानां सिद्धार्थप्रापकत्वादपि मुमुक्षूणामत्रैव प्रवर्त्तितुं योग्यमस्तीति भावः।।१।। (१३४२)

जो कोई महापुरुष यथार्थरूप में सदाशिव को जान जाय वही शिवपूजन को सम्पूर्णतया जान सकता है। परन्तु ऐसा प्रसङ्ग कभी भी आने वाला नहीं है। क्योंकि ऐसा है ही कौन जो कि यथार्थ रूप में शिव के स्वरूप को जाना गया हो? यही कारण है कि शिवपूजन की पद्धति का सम्पूर्ण ज्ञान आज तक किसी को भी ज्ञात नहीं हो सका है।

शिवपूजाशतक में एक सौ बीस श्लोक हो गये हैं। उनका विवरण इस प्रकार हैः इनमें सोलह श्लोक ध्याननिर्णायक श्लोक की व्याख्या है तथा माहात्म्य और अधिकारी का निरूपण करने वाले दोनों श्लोक भी उसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।।१२०।।

आत्मज्ञान में दीक्षित पुरुषों को अन्य सब ग्रन्थ छोड़ कर (पाठकों की वृत्ति को सैकड़ों बार अखण्डाकार करने वाला) यह ग्रन्थ ही सर्वाधिक उपादेय है। यही बात ग्रन्थकार ने इस आठ श्लोकों के 'बोधसारप्रशंसा' नामक प्रकरण से निरूपण की है।

सिद्धार्थः सुगमार्थश्च विशेषैर्बहुभिर्वृतः।
ग्रन्थस्त्वेतादृशस्तात न भूतो न भविष्यति।।२।। (१३४३)
न स्तौमि न च निन्दामि कथयामि यथास्थितम्।
एकैकस्मिन्निह श्लोके प्रोक्तः सिद्धान्तनिर्णयः।।३।। (१३४४)

उक्तं श्रैष्ठ्यमेव द्रढयितुं विशेषणैर्विशिनष्टि **सिद्धार्थ इति। सिद्धार्थः** सिद्धः स्वतः सिद्धो जीवब्रह्मैक्यरूपोऽर्थस्तात्पर्यतया वर्णनीयो यस्मिन् स तथोक्तः, कर्कशत्वं निवारयति **सुगमार्थश्च** सुगमः सुबोधोऽर्थोऽभिप्रायो यस्य स तथोक्तः, मनोरञ्जकत्वमाह **विशेषैरिति। बहुभिः** अनेकैः, **विशेषै** रूपकैर्वृत्तो युक्तोऽस्ति, अतो हे **तात** हे शिष्य **एतादृश** एतत्तुल्यो, **ग्रन्थः** शास्त्रं, **न भूतो** नैव केनापि कृतो, **न भविष्यति** न कोपि करिष्यति अतो वर्त्तमानेपि एतत्तुल्यो ग्रन्थो नास्ति अतोऽयमतिश्रेष्ठत्वादादरणीय इति भावः।।२।। (१३४३)

ननु स्वरुच्यैव भवद्भिरस्यातिप्रशंसा क्रियते इत्याशङ्क्याह **नेति** । हे शिष्य अहमिमं ग्रन्थं **न स्तौमि** न प्रशंसामि, **च** पुनः, **न निन्दामि** न गर्हामि, किन्तु यथास्थितं यथार्थमेव, **कथयामि** निरूपयामि, तत्किं यथार्थमित्यत आह **एकैकस्मिन्निति। इह** अस्मिन् ग्रन्थे, **एकैकस्मिन्** एकश्चैकश्चानयोः समाहार एकैकं तस्मिन्नेकैकस्मिन् **श्लोके** पद्ये प्रत्येकश्लोकमित्यर्थः, **सिद्धान्तनिर्णयो** सिद्धान्तस्य जीवब्रह्मैक्यरूपस्य निर्णयो निश्चयः, **प्रोक्तः** कथितोऽस्ति, समस्तशास्त्रतात्पर्यभूतं जीवब्रह्मैक्यमत्र श्लोके श्लोके निरूपितमित्यतोऽयमत्यद्भुतो ग्रन्थ इति भावः।।३।। (१३४४)

जिस ग्रन्थ के प्रारम्भ में (आत्मज्ञान में दीक्षित करने वाले देशिक) गुरु की स्तुति करने वाला 'गुरुस्तव' नाम का अद्भुत प्रकरण आया है, जिसकी समाप्ति में (सदाशिव आत्मदेव का पूजन सिखाने वाला) 'शिवपूजाशतक' नामक प्रकरण ग्रथित हो रहा है तथा जिसके मध्य में भी 'तुरीयतुलसीपत्रपूजा' नाम से मुकुन्दस्मरण किया गया है (इस प्रकार आदि मध्य तथा अन्त में मङ्गलमय होने से) यह बोधसार नामक ग्रन्थ अन्य ग्रन्थों से श्रेष्ठ है।।१।।

जीव-ब्रह्मैक्यरूपी सनातन सिद्ध अर्थ को निरूपण करने वाला होने पर भी अत्यन्त सुगम पद्धति से अभिप्राय को वर्णन करता हुआ, अनेक प्रकार की विचित्रताओं वाला (अनेक प्रकार के विचित्र रूपकों, अद्भुत उपमाओं, अलौकिक दृष्टान्तों, रोमहर्ष तथा अश्रुपात कराने वाले निरूपणों, पाठकों के मन और वाणियों को स्तब्ध कर देने वाले वर्णनों वाला) ऐसा अद्भुत शास्त्र आज तक न किसी ने बनाया और न आगे को ही बनाने की आशा है। वर्तमान की तो बात ही क्या कही जाय! इसलिये यह ग्रन्थ मुमुक्षु लोगों के बड़े ही काम की चीज हो गयी है)।।२।।

मैं इस ग्रन्थ की न तो स्तुति ही करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ किन्तु

यथा ब्रह्माण्डसर्वस्वं पिण्डे पिण्डे निरूपितम्।
तथा सिद्धान्तसर्वस्वं श्लोके श्लोके निरूपितम्।।४।। (१३४५)
अविद्योन्मूलकुद्दालस्त्वविद्यादावपावकः।
अविद्यामृगशार्दूलस्त्वविद्यागजकेसरी।।५।। (१३४६)

ननु अनेकसहस्रसंख्यापरिमितानेकशास्त्रप्रतिपादिततात्पर्यस्यैकैकस्मिञ् श्लोके कथं प्रतिपादनं कृतमिति सम्भाव्यमित्याशङ्क्य सदृष्टान्तं तत्सम्भावयति **यथेति**। हे शिष्य **यथा** यद्वद्, **ब्रह्माण्डसर्वस्वं** ब्रह्माण्डस्य सर्वस्वं सर्वपदार्थजातं ब्रह्मेन्द्रध्रुवसूर्यचन्द्रादिपिपीलिकान्तं पदार्थजातं पञ्चाशत्कोटियोजन-विस्तृतदेशस्थमपि, **पिण्डे पिण्डे** प्रत्येकदेहे सप्तवितस्तिपरिमिते, **निरूपितं** प्रतिपादितमस्ति, तन्मूढानामसम्भावितमपि योगिनां प्रत्यक्षमेवानुभूयते ज्ञानवतां च **तथा** तद्वत् **सिद्धान्तसर्वस्वं** सिद्धान्तस्य अनेकशास्त्रप्रतिपादितस्य तात्पर्यरहस्यस्य जीवब्रह्मैक्यरूपस्य सर्वस्वं स्वरूपं, **श्लोके श्लोके** पद्ये पद्ये, **निरूपितं** कथितं, तन्मूढानामसम्भावितमपि ज्ञानिनां तु अनुभूयते एवेति सम्भावनाऽत्र मुमुक्षुभिः कार्येति भावः।।४।। (१३४५)

इदानीमविद्यानाशनेऽस्य प्रतापं दर्शयति **अविद्योन्मूलकुद्दाल** इत्यादिभिर**विद्यास्वप्नजागर** इत्यन्तैश्चतुर्भिः पद्यैः। हे शिष्य **अयं** बोधसारो, **अविद्योन्मूलकुद्दालः** अविद्यैव पृथिवीस्थानीया तस्या उन्मूलनं खननं तत्र खनिकरणक्रियाकरणभूतः शस्त्रविशेषोऽस्ति, किञ्चायं बोधसारः **अविद्यादावपावकः** अविद्याऽज्ञानं तदेव दावो वनं तस्य पावकोऽग्निरिव दाहको भवति, किञ्च **अविद्यामृगशार्दूलः** अयं बोधसारोऽविद्यैव मृगो हरिणः तस्य शार्दूलो व्याघ्र इव घातकोऽस्ति, किञ्चाऽयं बोधसारः **अविद्यागजकेसरी** अविद्यैव गजस्थानीया तस्य केसरी सिंह इव घातको भवति।।५।। (१३४६)

वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि इस ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोक में वेदान्त के गूढ सिद्धान्तों का निर्णय किया गया है (इस कारण से ही ग्रन्थ में इतनी अलौकिकता आ गयी है)।।३।।

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड का सर्वस्व (ब्रह्मा इन्द्र शिव तथा सूर्य चन्द्र आदि) सब इस सात बालिश्त के देह में ही बताये जाते हैं (योगी लोग इन सबको प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं) इसी प्रकार वेदान्त के अनेक शास्त्रों में बिखरे हुए जीव-ब्रह्मैक्यरूपी रहस्य के यथार्थ स्वरूप को मैंने प्रत्येक पद्य में कूट-कूट कर भर दिया है। (इसलिये मुमुक्षु लोगों को इस ग्रन्थ का बड़ा ही आदर करना चाहिये)।।४।।

यह ग्रन्थ अविद्या को जड़ से उखाड़ने वाला कुदाल है, अविद्यारूपी वन को जलाने वाली अग्नि है, अविद्यारूपी मृग को फाड़ खाने वाला व्याघ्र, है अविद्यारूपी हाथी को मार भगाने वाला सिंह है।।५।।

अविद्याजीवगरलमविद्याकण्ठकृच्छुरी ।
अविद्यालवणस्याऽऽप अविद्याप्रलयार्णवः ।।६ ।। (१३४७)
अविद्याशैलदम्भोलिरविद्यान्धकशङ्करः ।
अविद्याकंसगोविन्दस्त्वविद्याचण्डचण्डिका ।।७ ।। (१३४८)
अविद्यादाहशीतांशुरविद्याध्वान्तभास्करः ।
तथैव बोधसारोऽयमविद्यास्वप्नजागरः ।।८ ।। (१३४९)

इति बोधसारप्रशंसा ।।५१ ।।

अविद्येति । हे शिष्य **अयं** बोधसारः, **अविद्याजीवगरलं** अविद्या मूलाज्ञानं तदेव जीवो जीवनं तस्य गरलं विषमिव नाशको भवति, किञ्चायं बोधसारः **अविद्याकण्ठकृच्छुरी** अविद्याऽज्ञानमेव कण्ठस्थानीया तं कृन्तति च्छेदयतीति स तथाभूताच्छुरी एतन्नामकं आयुधविशेषनामको भवति, किञ्च अयं बोधसारः **अविद्यालवणस्य** अविद्याऽज्ञानमेव लवणस्थानीयं तस्य, **आपो** जलमिव नाशकोऽस्ति, किञ्च अयं बोधसारः **अविद्याप्रलयार्णवः** अविद्यैव सृष्टिस्थानीया तस्याः **प्रलयार्णवः** प्रलयकालीनः समुद्र इव नाशकोऽस्ति ।।६ ।। (१३४७)

किञ्च **अविद्येति ।** हे शिष्य अयं बोधसारो **अविद्याशैलदम्भोलिः** अविद्याऽज्ञानमेव शैलः पर्वतः तस्य दम्भोलिरशनिरिव नाशकोऽस्ति, किञ्च अयं बोधसारः **अविद्यान्धकशङ्करः** अविद्याऽज्ञानमेवान्धकोऽन्धकनामासुरस्तस्य शङ्करः शिव इव नाशकोऽस्ति, किञ्च अयं बोधसारः **अविद्याकंसगोविन्दः** अविद्याऽज्ञानमेव कंस औग्रसैनिस्तस्य गोविन्दः कृष्ण इव नाशकोऽस्ति, किञ्चायं बोधसारः **अविद्याचण्डचण्डिका** अविद्याऽज्ञानमेव चण्डश्चण्डनामासुरस्तस्य **चण्डिका** दुर्गेव नाशकोऽस्ति ।।७ ।। (१३४८)

किञ्च **अविद्येति ।** हे शिष्य **अयं** बोधसारः, **अविद्यादाहशीतांशुः** अविद्याऽज्ञानमेव दाहः सन्तापस्तस्य शीतांशुश्चन्द्र इव नाशकोऽस्ति, किञ्च अयं बोधसारः **अविद्याध्वान्तभास्करः**

यह बोधसार नामक ग्रन्थ अविद्यारूपी जीव को मारने में विष के समान है। अविद्या के गले को काटने वाली छुरी है। यह अविद्यारूपी लवण को घोल कर नष्ट कर डालने वाला जल है। अविद्या से बनी हुई सृष्टि को बहा डालने अथवा डुबा देने के लिये तो यह साक्षात् प्रलयार्णव ही हो जाता है।।६ ।।

यह बोधसार नामक ग्रन्थ अविद्यारूपी पर्वत को काटकर फेंकने वाला इन्द्र का वज्र हो जाता है। अविद्यारूपी अन्धकासुर को नष्ट करने वाला शङ्कर बन बैठता है। अविद्यारूपी कंस को मारते समय कृष्ण का रूप धारण कर लेता है। अविद्यारूपी चण्डासुर को नष्ट करने के लिये चण्डिका सा भयंकर हो जाता है।।७ ।।

यह ग्रन्थ अविद्या के दाह के लिये चन्द्रमा, अविद्यारूपी अंधेरे के लिये सूर्य तथा अविद्यारूपी सपने को तोड़ने वाला जागरण है।।८ ।।

अथ बोधसारोपासना

गुरुर्मे बोधसारोऽयं यतो ज्ञानप्रदो मम।
शिष्यो मे बोधसारोऽयं यमुद्दिश्य वदाम्यहम्।।१।। (१३५०)

अविद्याऽज्ञानमेव ध्वान्तं तमस्तस्य भास्कर इव नाशकोऽस्ति, किञ्च **अयं** मत्कृतः प्रत्यक्षो, **बोधसारो** बोधसारनामको ग्रन्थः, **अविद्यास्वप्नजागरः** अविद्यैवाज्ञानमेव स्वप्नः स्वप्नावस्था तस्य जागरो जागृतिरिव निवर्त्तकोऽस्ति, इतः परं पुनः पश्चात् किं वक्तव्यमस्ति न किमपीत्यर्थः।।८।। (१३४९)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ बोधसारप्रशंसार्थप्रकाश एकपञ्चाशत्तमः ।।५१।।

एवं बोधसारप्रशंसां निरूप्येदानीं गुर्वादिब्रह्मान्तसर्वपदार्थानामस्मिन् ग्रन्थे समारोपणेनैतद्ग्रन्थावृत्तौ कृतायां चित्तैकाग्र्यस्य सिद्धेरेतद्ग्रन्थनाम्नो बोधसारस्य बोधसारपदार्थयोर्जीवब्रह्मणोर्विरुद्धांशं त्यक्त्वा भागत्यागलक्षणया लक्षिते प्रत्यग्ब्रह्मैक्ये साक्षात्कारज्ञानमुदेतीति मुमुक्षूणां मन्दप्रज्ञानामस्य ग्रन्थस्योपासनं विधातुं बोधसारोपासनाख्यं प्रकरणं नवश्लोकमारभमाण आह गद्येन **अथेति। अथ** बोधसारप्रशंसानिरूपणानन्तरं, **बोधसारोपासना** बोधसारस्योपासनोपास्तिर्निरूप्यते इति शेषः। तत्रादौ स्वगुरुत्वं बोधसारे समारोप्य बोधसारपदलक्ष्यं जीवब्रह्मैक्यमपि समारोप्योपासनं स्वकृतं शिष्यं प्रत्याययति **गुरुरिति।** हे शिष्य अयं प्रत्यक्षो **बोधसारो** बोधसारनामको ग्रन्थो, **मे** मम, **गुरुः** जीवब्रह्मैक्यविषयकाहंब्रह्मास्मीतिस्वरूपज्ञानोपदेष्टाऽऽचार्योऽस्ति। कुत इत्यत आह-**यत इति। यतः** कारणात्, **मम** मे, **अयं** बोधसारो, **ज्ञानप्रदो** ज्ञानस्य जीवब्रह्मैक्यविषयकबोधस्याऽहंब्रह्मास्मीत्याकारस्य प्रदः प्रदाताऽत इति योज्यं, लोकेपि ज्ञानप्रदातुरेव गुरुत्वप्रसिद्धेः। अयमाशयः गुरुबोधसारयोरैक्यं विचिन्त्य बोधसारग्रन्थतत्प्रतिपाद्यजीवब्रह्मैक्ययोरैक्यं चिन्तनीयमिति। ननु गुरुबोधब्रह्मणामैक्यचिन्तनं भवतु शिष्यं बोधयितुं प्रवृत्तस्य तस्मिंस्ततो भेदप्रतीत्या तत्खण्डनं स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि पूर्वोक्तं चिन्तनाखण्डत्वाय तस्यापि तेन सहैक्यं सम्पाद्यमित्याशयेनाह-**शिष्य इति।** अयं बोधसारो ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यं जीवब्रह्मैक्यं च **मे** मम, **शिष्यश्**छात्रोऽस्ति, कुत इत्यत आह **यमिति।** यत इत्यनुवर्त्तनीयं यतः कारणाद् **अहं** अहम्पदलक्ष्यः प्रत्यगात्मा सन्नपि वक्तृधर्मवाञ्चिदाभासो भूत्वा, **यं** बोधसारं ग्रन्थं तद्वाच्यं जीवब्रह्मैक्यं च **उद्दिश्य** बोध्यत्वेन विषयीकृत्य, **वदामि** कथयामि, अतः शिष्येपि मम बोधसारग्रन्थत्वं गुरुत्वसहितं तत्प्रतिपाद्यं जीवब्रह्मैक्यं च समारोप्य शिष्यग्रन्थब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मनामभिन्नत्वानुसन्धानलक्षणं ध्यानं न खण्ड्यमिति भावः।।१।। (१३५०)

इस प्रकरण में बोधसार को ही उपास्यदेव मान कर भिन्न-भिन्न प्रकार से उसी की उपासना का विधान है। यह बोधसार नाम का ग्रन्थ ही मेरा गुरु है क्योंकि इससे मुझे आचार्य के समान मेरे स्वरूप के ज्ञान का उपदेश मिला है। मेरा शिष्य भी तो बोधसार ही है क्योंकि इसी (बोधसार ग्रन्थ तथा इसके प्रतिपाद्य जीवब्रह्मैक्य) को उद्देश्य करके मैं यह सब बोल रहा हूँ।।१।।

स्वामी मे बोधसारोऽयं मां पालयति यः सदा।
सेवको बोधसारो मे मम सेवां करोति यः।।२।। (१३५१)
सुहृन्मे बोधसारोऽयं सर्वं जानाति मद्गतम्।
सखा मे बोधसारोऽयं यस्मिन्दृष्टे सुखं मम।।३।। (१३५२)

ननु तर्हि स्वामिप्रतीतौ तत्खण्डना स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि तत्खण्डनाभावं दर्शयति **स्वामीति**। **अयं बोधसारो** मत्प्रत्यक्षः प्रत्यगभिन्नपरमात्मा तत्प्रतिपादको ग्रन्थश्च, **मे** मम, **स्वामी** सेव्योऽस्ति, कुत इत्यत आह **मामिति**। यतः कारणाद् **यो** बोधसारस्तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा, च, **मां** तदनुसन्धानवन्तं चिदाभासरूपं प्रमातारं स्वसत्ताप्रदानेन सर्वकालं, **पालयति** रक्षति, अतः स्वामिसेवाकाले तत्प्रतीतौ सत्यां बोधसारोपास्तिखण्डना न स्यादिति भावः। ननु तर्हि स्वसेवकप्रतीतौ तद्विच्छित्तिः स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि तद्विच्छित्यभावं सम्भावयति **सेवक इति**। **अयं** प्रत्यक्षो बोधसारो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा तत्प्रतिपादको ग्रन्थश्च तदभिन्नो **मे** मम, **सेवको** भृत्योऽस्ति, कुत इत्यत आह **ममेति**। यतः कारणाद् यो बोधसारो ग्रन्थस्तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा च, **मम** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्ममात्रस्य चिदाभासस्य, सेवाम् अङ्गीकृतिं भजनं च वा, **करोति** संपादयति, अतः सेवकप्रत्यगभिन्नब्रह्मग्रन्थानामेकत्वानुसन्धानलक्षणे ध्याने सति नोपासनाखण्डनं सम्भवतीति भावः।।२।। (१३५१)

ननु तर्हि स्वदेशसम्बन्धिसुहृत्प्रतीतौ सा स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि ध्यानविच्छित्यभावं दर्शयति **सुहृदिति**। **अयं** प्रत्यक्षो, **बोधसारो** बोधसारनामको ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म च, **मे** मम, सुहृत्सम्बन्धेन प्रीतिमान्मय्यस्ति तत्रोपपत्तिमाह **सर्वमिति**। यतः कारणाद् **मद्गतं** मयि ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मनि तदभिन्नचिदाभासेऽस्मच्छब्दवाच्ये गतं विद्यमानं, **सर्वं** समस्तमात्मत्वानात्मत्वेन स्थितमुभयमपि, **जानाति** वेत्ति सामान्यरूपेणाऽत इति योज्यं पूर्वत्र, अत्र **सुहृद्**-ग्रन्थप्रत्यगभिन्नब्रह्मणां क्रमतो व्युत्क्रमतश्चैक्यानुसन्धाने न ध्यानविच्छित्तिरिति भावः। ननु मित्रे मित्रत्वप्रतीतौ तद्विच्छेदः स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि तदभावं दर्शयति **सखेति**। **अयं** प्रत्यक्षो, **बोधसारो** बोधसारनामको ग्रन्थो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा च, **मे** मम **सखा** उपकारि मित्रमस्ति, तत्रोपपत्तिमाह **यस्मिन्निति**। यतः कारणाद् **यस्मिन्** बोधसारग्रन्थे तत्प्रतिपाद्ये प्रत्यगभिन्नब्रह्मणि च, **दृष्टे** अवलोकिते सति, **मे मम** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्माभिन्नस्य मे चिदाभासस्य, **सुखं** आनन्दो भवति अत इति योज्यम्, अत्र च मित्रग्रन्थतत्प्रतिपाद्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मणां क्रमव्युत्क्रमाभ्यामैक्यानुसन्धानेन नोपास्तिखण्डनेति भावः ।।३।। (१३५२)

मेरे समाधिकाल में मुझे प्रत्यक्ष दीखने वाला यह बोधसार परमात्मा तथा उसका प्रतिपादन करने वाला यह ग्रन्थ मेरा स्वामी है। मैं तो इसकी सेवा करता हूँ। उसके विनिमय (बदले) में यह बोधसार उसका विचार करने वाले मुझको सदा ही पालता रहता है। यह बोधसार ही मेरा सच्चा सेवक है क्योंकि यह सदा ही मेरा अङ्गीकार अथवा भजन करता रहता है।।२।।

यह बोधसार मेरा सच्चा सुहृत् है क्योंकि मुझमें विद्यमान आत्मा-अनात्मा सभी को सामान्य रूप से जानता है। यही मेरा परम उपकारी मित्र है, उसे देखने पर मुझे परम आनन्द मिलता है।।३।।

गृहं मे बोधसारोऽयं यत्रैव निवसाम्यहम्।
आरामो बोधसारो मे विहारो यत्र मामकः।।४।। (१३५३)

ननु गृहकर्मणि आवश्यके तत्प्रतीत्योपास्तिविच्छेदो भवेदित्याशङ्क्य तत्रापि तदभावं साधयति **गृहमिति**। **अयं** प्रत्यक्षो, **बोधसारो** बोधसारनामको ग्रन्थस्तत्प्रतिपाद्यं ब्रह्म च, **मे** मम तदभिन्नत्वं स्वस्मिन्ननुसन्धानवतश्चिदाभासस्य, **गृहं** मन्दिरमस्ति, तत्रोपपत्तिमाह **यत्रैवेति**। **अहं** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्दधानश्चिदाभासो **यत्रैव** बोधसारग्रन्थे तत्प्रतिपाद्येऽखण्डे ब्रह्मणि चाभेदेन, **निवसामि** वासं करोमि, यतः कारणादत इति योज्यम्। अत्र च गृहग्रन्थप्रत्यगभिन्नब्रह्मणामैक्यानुसन्धानेन नोपास्तिखण्डनेति प्रदर्शितं बोध्यम्। ननु तर्हि आरामादिप्रतीतौ तद्विच्छेदः स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि तदविच्छेदं सम्भावयति **आराम इति**। अयं प्रत्यक्षो, **बोधसारो** ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा च, **मे** मम तदभिन्नस्वानुसन्धानवतश्चिदाभासस्य, **आराम** उपवनमस्ति, तत्रोपपत्तिमाह **विहार इति**। यतः कारणाद् बोधसारग्रन्थे, तत्प्रतिपाद्येऽखण्डचिदात्मनि च **मामको** मे मम ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्दधतश्चिदाभासस्य, **अयं** मामको, **विहारः** क्रीडा भवति अत इति योज्यम्, अत्र आरामग्रन्थब्रह्मणामैक्यानुसन्धानेन ध्यानं विच्छिन्नं न स्यादिति भावः।।४।। (१३५३)

ननु तर्हि कान्तादिप्रतीतौ तद्विच्छित्तिः स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि तदभावं दर्शयति **कान्तेति**। **अयं** प्रत्यक्षो, **बोधसारो** बोधसारनामको ग्रन्थः, तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा च मे मम तदभिन्नस्वत्वानुसन्धानवतश्चिदाभासस्य, **कान्ता** सुन्दरी प्रेयसी भार्याऽस्ति, तत्रोपपत्तिमाह **यमिति**। यतः कारणाद् **अहं** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्माऽभिन्नस्वत्वानुसंदधानश्चिदाभासः, **अयं** बोधसारं ग्रन्थं तत्प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मानं, च **आलिङ्ग्य** परिरभ्य, स्वपामि निद्रामि प्रपञ्चविस्मृतिरूपां निद्रामनुभवामि। अत्र कान्ताग्रन्थतत्प्रतिपाद्यब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मना-मैक्यानुसन्धानेन नोपासना-विच्छित्तिरिति भावः। ननु मनसोऽनुसन्धाने तद्विच्छित्तिः स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि तदभावं सम्भावयति **मन इति**। **अयं** प्रत्यक्षो, **बोधसारो** बोधसारनामको ग्रन्थस्तत्प्रतिपाद्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म च, **मे** मम प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्धानवतश्चिदाभासस्य, **मनः** सङ्कल्पात्मकमन्तःकरणमस्ति, तत्रोपपत्तिमाह **मननमिति**। यतः कारणाद् **येन** ग्रन्थेन तत्प्रतिपाद्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मणां च, **मननं** युक्तिपूर्वकश्रुतार्थावधारणं, **जायते** भवति अत इति योज्यम्। अत्र क्रमतो व्युत्क्रमतश्च मनोग्रन्थप्रत्यगभिन्नब्रह्मणामैक्यानुसन्धानेन नोपासनाविच्छेदः स्यादिति भावः।।५।। (१३५४)

मेरा तो यह बोधसार ही सच्चा घर है जिसमें कि मैं सदैव निवास करता रहता हूँ। मेरा तो घूम फिर कर मनोविनोद करने का साधन 'आराम' भी यही बोधसार है, जिसमें कि मैं प्रपंच की चिन्ता से रहित होकर सदैव ही विहार किया करता हूँ।।४।।

मैं तो अपनी प्रिय भार्या भी इसी बोधसार को समझता हूँ। क्योंकि इसी (ब्रह्मात्मा रूपी बोधसार) को आलिङ्गन करके मैं (प्रपंचविस्मृति रूपी नींद लिया करता हूँ। मेरा

कान्ता मे बोधसारोऽयं यमालिङ्ग्य स्वपाम्यहम्।
मनो मे बोधसारोऽयं मननं येन जायते ।।५।। (१३५४)
बुद्धिर्मे बोधसारोऽयं परमं बुध्यते यया।
चित्तं मे बोधसारोऽयं येन चेतामि तत्पदे।।६।। (१३५५)

ननु तर्हि बुद्ध्यनुसन्धाने सा स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि तदभावं दर्शयति **बुद्धिरिति**। **अयं** प्रत्यक्षो, **बोधसारो** बोधसारनामको ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा च, **मे** मम ब्रह्मात्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्धानवतोऽस्मच्छब्दवाच्यचिदाभासस्य, **बुद्धिः** निश्चयात्मकमन्तःकरणमस्ति, तत्रोपपत्तिमह **परममिति**। यतः कारणाद् **यया** ग्रन्थरूपया तत्प्रतिपाद्यब्रह्मात्मैक्यरूपया च निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्त्या, **परमं** कार्यकारणातीतं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मचैतन्यं, **बुध्यते** ज्ञायतेऽत इति योज्यम्, अत्र च बुद्धिग्रन्थतत्प्रतिपाद्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मणामैक्यानुसन्धानेन न तद्विच्छेदः स्यादिति भावः। ननु तर्हि चित्तानुसन्धाने तद्विच्छेदः स्यादित्याशङ्क्य तत्रापि तदभावं सम्पादयति-**चित्तमिति**। अयं प्रत्यक्षो, **बोधसारो** ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यं प्रत्यगभिन्नब्रह्मचैतन्यं च, **मे** मम प्रत्यगभिन्नब्रह्ममात्रत्वं स्वस्मिन्ननुसन्धानवतोऽस्मच्छब्दवाच्यस्य चिदाभासस्य, **चित्तं** ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मचैतन्यानुसन्धानकर्त्रन्तःकरणमस्ति, तत्रोपपत्तिमाहयतः कारणाद् **येन** बोधसारेण ग्रन्थेन तत्प्रतिपाद्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मणा च, तदनु-सन्धानवताऽन्तःकरणेन च अहं प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्धानवांश्चिदाभासोऽस्मच्छब्दवाच्य**स्तत्पदे** प्रत्यगभिन्नब्रह्मणि, **चेतामि** अनुसन्धानवान् भवामि अत इति योज्यम्, अत्रापि चित्तग्रन्थप्रत्यग-भिन्नब्रह्मणामैक्यानुसन्धानेन नोपासनाविच्छित्तिः स्यादिति भावः।।६।। (१३५५)

ननु तर्ह्यहङ्कारानुसन्धाने तद्विच्छित्तिः स्यादित्याशङ्क्याह **अहङ्कार इति**। **अयं** प्रत्यक्परोक्षत्वरहितो, **बोधसारो** ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा च, **अहङ्कारः** शरीरत्रये अहं प्रत्ययवान्साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभासोऽस्ति, किञ्चा**ऽहमेव** साधिष्ठानबुद्धिस्थचिदाभास एव, बोधसारग्रन्थस्तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नः प्रत्यगात्मा चाऽस्ति **हि** प्रसिद्धं ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मचिदाभासयोरैक्यं ज्ञानिषु इति भावः। इदमत्र महावाक्यं ज्ञेयम्; अहङ्कारग्रन्थतत्प्रतिपाद्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मणामभिन्नत्वानुसन्धानरूपं ध्यानमत्र विहितमिति भावः। ननु शरीरत्रयप्रतीतौ तद्विषयकाहमः कथं बोधसारग्रन्थतत्प्रतिपाद्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मभ्यां सहैक्यं सम्भाव्यमित्याशङ्क्य शरीरस्यापि ताभ्यां सहैक्यानुसन्धानं विधत्ते **शरीरमिति**। **अयं बोधसारः** प्रत्यक्षो बोधसारनामको ग्रन्थः प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मचैतन्यं च, **मे** मम ब्रह्मात्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्धानवतश्चिदाभासस्येत्यर्थः, **शरीरं** स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यं देहत्रयमस्ति

संकल्प विकल्पात्मक मन भी तो यह बोधसार ही है क्योंकि इसी ग्रन्थ के सहारे से मैं (अपनी ब्रह्मात्मा का) मनन किया करता हूँ।।५।।

मेरी तो बुद्धि भी यही बोधसार है क्योंकि इससे मुझे कार्यकारणातीत प्रत्यगभिन्न ब्रह्मचैतन्य का ज्ञान हुआ है। मेरा तो चित्त भी यही बोधसार है क्योंकि इसी की सहायता से मैं सदा ही प्रत्यगभिन्न ब्रह्मपद का अनुसन्धान करता रहता हूँ।।६।।

अहङ्कारो बोधसारो बोधसारोऽहमेव हि।
शरीरं बोधसारो मे ममता यत्र भूयसी।।७।। (१३५६)
प्राणो मे बोधसारोऽयं यतः प्रियतरो मम।
जीवो मे बोधसारोऽयं येन जीवाम्यहं सदा।।८।। (१३५७)

न तु बोधसारात्तत्पृथगस्तीत्यर्थः, तत्रोपपत्तिमाह **ममतेति**। यतः कारणाद् **यत्र** बोधसारनाम्नि ग्रन्थे तत्प्रतिपाद्ये प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि च, **मे** प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्दधतश्चिदाभासस्य मम, **ममता** मदीयत्वबुद्धिरज्ञानावस्थायां देह इव, **भूयसी** उत्कृष्टाऽस्ति अत इति योज्यम्, अत्र च बोधसारग्रन्थस्तत्प्रतिपाद्यब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मदेहानामभेदानुसन्धानेनाहमो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मग्रन्थाभ्यां सहैक्यमनुसन्धातुं शक्यमिति भावः।।७।। (१३५६)

इदानीं प्राणप्रतीतावपि तत्सम्भावयति **प्राण इति**। **अयं बोधसारः** प्रत्यक्षो बोधसारो ग्रन्थस्तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा च, **मे** मम ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्दधतश्चिदाभासस्य, **प्राणो** जीवनोपाधिः प्राणनामको वायुरस्ति, तत्रोपपत्तिमाह **यत इति**। **यतः** कारणाद् असौ बोधसारो ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा च, मम मे ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्दधतश्चिदाभासस्य, **प्रियतरः** अतिशयेन प्रियोऽस्ति, अत इति योज्यम्, अत्रापि प्राणग्रन्थप्रत्यगभिन्नब्रह्मणामभेदानुसन्धानेन नोपासनाक्षतिरिति भावः, जीवप्रतीतावपि तदविच्छेदं दर्शयति **जीव इति**। **अयं** प्रत्यक्षो, **बोधसारो** बोधसारनामको ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा च, **मे** मम ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्दधतोऽहम्पदवाच्यस्य चिदाभासस्य, **जीवो** देही जीवनमित्यर्थः, अस्ति तत्रोपपत्तिमाह **येनेति**। **अहं** प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्दधानश्चिदाभासः, **सदा** सर्वकालं, **येन** बोधसारग्रन्थेन तत्प्रतिपाद्यब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मना च, **जीवामि** प्राणान्धारयामि अत इति योज्यम्, अत्र च ग्रन्थजीवब्रह्मणामैक्यानुसन्धानेन नोपासनाहानिरिति भावः।।८।। (१३५७)

ईश्वरप्रतीतौ चोपासनाविच्छेदाभावं सम्भावयति **ईश्वर इति**। अयं प्रत्यक्षो **बोधसारो** ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा च, **मे** मम ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्धानवतः

मेरा अहंकार भी बोधसार ही है तथा मैं चिदाभास ही यह बोधसार हो गया हूँ (जब किसी को इस रहस्य का ज्ञान हो जाता है तब उसकी दृष्टि में इस अहंकार, इस बोधसार तथा इसके प्रतिपाद्य प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में कोई भी भेद शेष नहीं रह जाता) मेरा देह भी तो यह बोधसार ही है क्योंकि अज्ञानावस्था में जैसे केवल देह में ही मुझे बड़ी ममता हो रही थी उसी प्रकार अब मुझे इस बोधसार में बड़ी ममता हो गयी है।।७।।

मेरे जीवन का साधन प्राण भी तो यह बोधसार ही है क्योंकि यह मुझे अत्यन्त प्यारा लगता है। मेरा जीव (अर्थात् जीवन) भी यह बोधसार ही है क्योंकि इसी के सहारे से मैं सदा अपने प्राणों को धारण कर रहा हूँ और जी रहा हूँ।।८।।

ईश्वरो बोधसारो मे यतो मुक्तिप्रदो मम।
बोधसारः परं ब्रह्म बोधसारात्परं नहि।।६।। (१३५८)

।। इति श्रीनरहरिकृतौ बोधसारे बोधसारोपासनं द्विपञ्चाशत्तमम्।।५२।।

अहंपदवाच्यचिदाभासस्येत्यर्थः, **ईश्वर** उपास्योऽस्ति, तत्रोपपत्तिमाह **यत इति**। **यतः** कारणाद् अयं बोधसारो ग्रन्थः तत्प्रतिपाद्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म च, **मम** मे प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वं स्वस्मिन्ननुसन्धानवतश्चिदाभासस्येत्यर्थः, **मुक्तिप्रदो** मुक्तिं मोक्षं प्रददाति समर्पयतीति स तथाविधोऽस्ति अत इति योज्यम्, अत्र ग्रन्थेश्वरब्रह्मणामभेदानुसन्धाने नोपासनाक्षतिरिति भावः। ब्रह्मप्रतीतावपि तदविच्छेदं दर्शयति **बोधसार इति**। **परं** कार्यकारणातीतं, **ब्रह्म** देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यं वस्तु, **बोधसारो** बोधसारनामाको ग्रन्थ एवास्ति अतो बोधसाराद् ग्रन्थात्तत्प्रतिपाद्यात्मवस्तुनश्च परं अन्यत्किमपि वस्तु नास्ति हि प्रसिद्धमेतन्मम।

अत्रेदमाकूतम्उपासनात्रैविध्यमुत्तमं मध्यममधमं चेति भेदाद्, उत्तमं च गुर्वादीश्वरान्तोक्तपदार्थानामस्य ग्रन्थस्य चैतद्ग्रन्थप्रतिपाद्यविषयभूते जीवब्रह्मैक्ये समारोपणेन निरन्तरं जीवब्रह्मैक्यमात्रचिन्तनं। मध्यमं च गुर्वादीश्वरान्तपदार्थानामेतद्ग्रन्थप्रतिपाद्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मणश्चैतस्मिन् बोधसारे ग्रन्थे समारोपणेनैतद्ग्रन्थमात्रत्वानुसन्धानं निरन्तरम्। अधमं च गुर्वादीश्वरान्तपदार्थजात एतद्ग्रन्थस्य तत्प्रतिपाद्यप्रत्यगभिन्नब्रह्मणश्च निरन्तरमनुसन्धानम्। एतेषु च क्रमादुत्तमादयोऽधिक्रियन्ते तेषां च यथाधिकारमुपासने कृते जीवब्रह्मैक्यापरोक्षज्ञानप्राप्त्या मुक्तिर्भवतीति।।६।। (१३५८)

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचितायां बोधसारार्थदीप्तौ बोधसारोपासनार्थप्रकाशो द्विपञ्चाशत्तमः।।५२।।

एवं ग्रन्थं परिसमाप्येदानीमस्य प्रामाण्यसिद्धये पद्येनाह **उपनिषदीति**। हे शिष्य **ये** प्रसिद्धा वेदान्तेषु, **उपनिषदि** उप समीपे निषण्णं श्रेयो मोक्षलक्षणं यस्यां सोपनिषत्तस्यां तद्रूपे, **वने** अरण्ये सम्भजनीये देश इत्यर्थः, आविष्टलिङ्गेन विशेषणविशेष्यभावः, **मन्त्रवृक्षाः** मन्त्राः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्याद्या वृक्षा इव वृक्षा द्रुमाः सर्वाज्ञानतत्कार्यप्रपञ्चवृश्चकत्वादित्यर्थः, **पुष्पिताः** प्रस्फुटार्थकुसुमिताः, सन्ति एषामुक्तानां मत्प्रत्यक्षाणामुपनिषद्वनसंस्थितस्फुटार्थकुसुमितमन्त्रवृक्षाणां **सुरभि** ब्रह्मात्मवासनाप्रदत्वेन सुगन्धि, **एकमेकं** प्रत्येकं प्रत्येकं पृथक् पृथक्, **कुसुमं** अर्थरूपं पुष्पं, **विविच्य** समूहीकृत्य, मया **नरहरिसुधिया** न रातीति नरो वैराग्यपूर्वकप्रपञ्चमिथ्यात्वानुसन्धानवान् एतादृशो यो हरिः द्वैतनिवृत्त्या स्वशरणागतमुमुक्षुजनदुःखनिवर्तकः सन् नरहरिर्गुरुस्तस्मिन् सुष्ठु शोभना स्थिरत्वसम्पन्ना धीर्बुद्धिर्निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिर्यस्य स तथोक्तस्तेन तद्रूपत्वं प्राप्तेन मया, **समरसपदलब्ध्यै** समः सदैकरूपो रस आनन्दो यत्र तत् तादृशं यत्पदं स्वरूपं तस्य

मेरा उपास्य ईश्वर भी यह बोधसार ही है क्योंकि अनुसन्धान किये हुए इसी बोधसार ने मुझे मुक्ति का दान किया है। वह परब्रह्म भी तो यह बोधसार ही है। यही सब देखकर यह निश्चय करना पड़ता है कि इस बोधसार नामक ग्रन्थ तथा इसके प्रतिपाद्य जीवब्रह्मैक्य से भिन्न कोई भी दूसरी वस्तु इस संसार में नहीं है।।६।।

उपनिषदि वने ये पुष्पिता मन्त्रवृक्षाः
सुरभिकुसुममेषामेकमेकं विविच्य।
समरसपदलब्ध्यै वाङ्मयैरेव पुष्पै-
र्नरहरिसुधियैतत्पूजितं बोधलिङ्गम्।।१।। (१३५९)

लब्धिः प्राप्तिस्तस्यै, तदर्थं **वाङ्मयैः** वाग्रूपैरेव, **पुष्पैः** कुसुमैः, **एतत्** मत्प्रत्यक्षं **बोधलिङ्गं** बोधः प्रत्यगभिन्नब्रह्मापरोक्षविषयकं ज्ञानं तेनैव लिङ्ग्यते साक्षात्क्रियते यत्तथोक्तं ब्रह्म, **पूजितं** अर्चितम् अनुसन्धितमित्यर्थः, अतोऽस्य प्रामाण्यमभ्युपेतव्यति भावः।।१।। (१३५९)

इदानीमस्य ग्रन्थस्य श्रैष्ठ्यज्ञानपूर्वमेतत्पठनं विधत्ते **बुधजनेति। बुधजनहितकारी** बुधा ज्ञानिनो ये जना लोकाः तेषां हितं मोक्षं करोति स तथोक्तः श्रद्धादिसम्पन्नानां मोक्षप्रद इत्यर्थः, किञ्च **संप्रदायानुसारी** संप्रदाय उपदेष्टृपुरुषाणां परम्परा तमनुसरतीति स तथोक्तः संप्रदायागत इत्यर्थः, किञ्च **परमसुखनिधानं** परमं निरतिशयं यद् भूमशब्दवाच्यं ब्रह्मस्वरूपं सुखमानन्दस्तस्य **निधानं** द्रव्यपूर्णं पात्रमिव पात्रभूतोऽस्ति, किञ्च **मोहमुक्तेः** मोहान्मूलाज्ञानान्मुक्तिर्मोक्षः तस्या निदानं मूलकारणं हेतुरित्यर्थः, किञ्च **नरहरिविहितो** नरहरिः ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मस्वरूपो मम गुरुस्तेन विहितो विरचितः, किञ्च **बोधवृक्षस्य** बोधः प्रत्यगभिन्नब्रह्मविषयकापरोक्षज्ञानं स एव वृक्षोऽज्ञानतत्कार्यप्रपञ्चयोर्वृश्चकत्वाद् वृक्षस्तस्य, **तोयं** जलमिव जीवनोपायभूतः, किञ्च **कुमतिवनकुठारः** कुत्सिता निन्दिता मतिः बुद्धिः संसारासक्तिरूपा सैव वनं अरण्यं तस्या वा वनं सम्भजनविषयः प्रपञ्चस्तस्य कुठारः परशुरिव च्छेदने समर्थः, अयं प्रत्यक्षो **बोधसार** एतन्नामको ग्रन्थः, **पठ्यतां** अधीयतां मुमुक्षुभिरित्यर्थः।।२।। (१३६०)

वेदान्तों में प्रसिद्ध मुमुक्षु जनों से सेवनीय उपनिषद्रूपी वनों के जिन मन्त्ररूपी वृक्षों पर (ज्ञानरूपी) पुष्प खिल रहे हैं उन्हीं कुसुमित वृक्षों में जहाँ तहाँ बिखरे हुए ब्रह्मात्मवासना से सुगन्धित प्रत्येक कुसुमतुल्य मनोहर परमार्थ को एकत्रित करके सदा एकरस परमानन्ददायक पद को पाने के लिये इन वाङ्मय पुष्पों से इस ब्रह्मनामक बोधमय लिङ्ग को मुझ नरहरि नामक विद्वान् ने पूजा है।।१।।

यह ग्रंथ बुध जनों का मोक्षरूपी परमहित करने वाला है। वेदान्त के सम्प्रदाय के अनुसार ही वेदान्त के मर्मों का प्रतिपादन करने वाला है। परम सुख का निवासस्थान है। मूलाज्ञान नामक मोह से छूटने का मूल कारण है। नरहरि का बनाया हुआ नये अङ्कुरित कोमल बोधवृक्ष को दिया जाने वाला जल है। संसारासक्त कुमतिरूपी वन को काट कर फेंकने वाला एक प्रकार का कुठार है। मुमुक्षु लोगों को इस बोधसार ग्रन्थ को बार-बार पढ़ना चाहिये।।२।।

गुरु लोगों से जो महापुरुष दीक्षित हो जाते हैं उनके सभी (लौकिक वैदिक) कार्य (स्वभावतः) ईश्वरार्पण हुआ करते हैं। परन्तु मेरा बनाया हुआ यह बोधसार तो इस

बुधजनहितकारी संप्रदायानुसारी
परमसुखनिधानं मोहमुक्तेर्निदानम्।
नरहरिविहितोऽयं बोधवृक्षस्य तोऽयं
कुमतिवनकुठारः पठ्यतां बोधसारः।।२।। (१३६०)
गुरुभिर्दीक्षितानां हि सर्वमेवेश्वरार्पणम्।
अयं तु बोधसारोऽस्य स्वात्मैव परमेशितुः।।३।। (१३६१)

इति श्रीनरहरिविरचितो बोधसारः समाप्तः।।

एवमेतद्ग्रन्थपाठे मुमुक्षून्प्रवर्त्येदानीमेतस्येश्वरार्पणासम्भवनिरूपणेनैव समर्पणं द्योतयति **गुरुभिरिति**। **गुरुभिः** प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वं महावाक्यद्वारा बोधयद्भिर्दैशिकैः, **दीक्षीतानां** उपदिष्टानां पुरुषधैरेयाणां, **सर्वमेव** लौकिकं वैदिकं च समस्तमपि कर्म, **ईश्वरार्पणम्** ईश्वरे सर्वाधारभूते सर्वनियन्तरि ब्रह्मणि अर्पणं प्रदानमेव भवति, **हि** प्रसिद्धमेतच्छ्रुतौ स्मृतौ च, 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योतोस्ति श्रोता नान्योतोस्ति विज्ञाते' त्यादिश्रुतेः, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविरि'त्यादिस्मृतेश्च। अतः **अयं** प्रत्यक्षो, **बोधसारस्तु** बोधसारनामको ग्रन्थः **तु**पदेन अस्य ग्रन्थस्य अन्यसमस्तग्रन्थेभ्यो विलक्षणत्वं सूचितं, **परमेशितुः** परमः कार्यकारणातीत ईशितेश्वरो ब्रह्माभिन्नप्रत्यगात्मा तस्य बोधसाररूपत्वसामान्यादुभयोरपीत्यर्थः, **अस्य** ज्ञानिनां प्रत्यक्षत्वेनानुभूयमानस्यात्मनः **स्वात्मैव** स्वस्वरूपमेवास्ति, अतः समर्पकस्य समर्प्यस्य च समर्पणस्यापि असम्भवात्समर्पणं न सम्भवतीत्येवं निश्चय एवात्र समर्पणं नान्यदिति भावः।।३।। (१३६१)

नरहरिपदसेवालब्धविज्ञानसारो
बुधजनहितकृत्यै बोधसारार्थदीप्तिम्।
बुधदिनकरसाह्वो मुक्तये सज्जनाना-
मकृत जनशयरण्यस्तेन तृप्यात्परात्मा ।।१।।
सन्तः कृपालवस्तज्ज्ञाः क्षमन्तु मम साहसम्।
स्वाधिकारमदृष्ट्वैव यदुक्तं क्षमिणो हि ते।।२।।
शाके गजत्रिमुनिभूमिमिते तु वर्षे
रामाद्रिनागशशचिह्नमिते तपस्ये।
पक्षे सिते सुतशशाङ्कतिथौ ज्ञवारे
व्याख्या समाप्तिमगमद्विबुधैकवन्द्या।।३।।
बोधसारार्थदीप्त्याख्या व्याख्येयं भावबोधनी।
दिवाकरेण रचिता नरसिंहप्रसादतः।।४।।

इति श्रीनरहरिशिष्यदिवाकरविरचिता बोधसारार्थदीप्त्याख्या टीका समाप्ता।

परमेश्वर का साक्षात् स्वरूप ही है। ऐसी अवस्था में यह मेरी बोधसार नाम की पुस्तक ईश्वर के अर्पण कैसे हो! मैं ईश्वर को ही ईश्वर के अर्पण कैसे करूँ? इसलिये मैं इस बारे में उनसे कुछ भी कह कर उनके मौन का भंग नहीं करूँगा।।३।।

श्लोकसूची

श्लोकः	सख्या	पृष्ठम्
अंकुरोन्मुखतां याति	३५१	१६१
अखण्डमण्डलाकारं	५८५	२८१
अखण्डाकारवृत्तिस्तु	१२२८	७२३
अगोचरविचारऽस्य	१२१७	७१६
अग्निहोत्रमिदं नित्य-	६०५	२९४
अङगबङगकलिङगेषु	११६९	६८७
अङ्ग प्रसार्य पतितः	१०८५	६२०
अचन्द्रे चन्द्रिका	९४९	५२४
अचिन्तनं पदार्थानां	६६४	३३४
अचेत्यचित्स्वरूपत्वाद्	२४९	११५
अजपा नाम गायत्री	२२९	१०४
अज्ञानभूमिकाः सप्त	३४६	१५९
अज्ञानमेव विज्ञानं	११७२	६८९
अणिमा महिमा चैव	१०५५	५९८
अणीयसो महीयस्त्वं	११९३	६९९
अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो	३०६	१४३
अत्यन्तचपलस्यापि	१९७	८९
अत्यन्तशुद्धरूपो-	९०५	४९८
अत्यन्तहीनो बलपौरुषाभ्याम्	४८६	२३०
अत्र द्विभार्यशास्त्रार्थे	११८७	६९६
अत्र ब्रूमोविशेषो	३९७	१८१
अथ कर्मातिपातःस्यात्	५९३	२८६
अथ तर्कप्रसंगेन	६६८	३३६
अथ भक्तिप्रसादाख्ये	५५७	२६७
अथ वक्ष्ये स्तुतिव्याजात्	२४१	११०
अथ सिद्धान्तसर्वस्वं शृणु	२९३	१३७

अथातो धर्मजिज्ञासा	१०८	४९
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	३५	१७
अथातो योगदीक्षाया	१९२	८७
अथात्मानमसौ वेत्ति	३९६	१८१
अथान्योऽपि महिमा	३३१	१५२
अथायं हृदि कर्तव्यो	३४५	१५९
अथावस्थाव्यवस्थाख्यं	५०५	२३८
अथोपयुक्तःक्रियते	५६२	२७०
अद्वैतं न सदेहेऽस्ति	१०६३	६०४
अद्वैतकल्पितत्वं चा	१६५	७५
अद्वैतप्रतिपत्तिरात्म-	६१७	३०३
अधिष्ठानं विना कार्यं	८४७	४५२
अध्यात्मदृष्टि हृदयं	१११५	६५६
अध्याये भक्तियोगाख्ये	३१४	१४६
अनन्तकोटिचन्द्राणां	७८५	३९८
अनन्तमृतब्रह्माण्ड-	१२६७	७५०
अनन्तवासुकी शम्भोः	१२६४	७४८
अनन्तविस्तारमयो हठः	२२६	१०३
अनन्तशक्तिसन्दोहपूर्णस्य	२	३
अनर्थाः सर्वएवार्थाः	७१८	३६५
अनाचारस्तु मालिन्यम्	१३७	६३
अनित्यमिति यो वक्ति	९२	४२
अनित्ये नित्यं विरसा	१२३२	७२७
अनिषिद्धेषुभोगेषु	४२५	१९३
अन्तः सारा हि गुरवः	१०७५	६१०
अन्तर्बहिर्यदा देवं	३१६	१४७
अन्तर्बोधमया लोके	१०७३	६०९
अन्तर्यामिस्वरूपेण	५८७	२८२

अन्तर्याम्यात्मना	११५७	६८१
अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो	२३७	१०८
अन्धः पश्यतिसर्वं च	८८८	४८०
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां	५४९	२५८
अपमानः परा पूजा	२८४	१३२
अपरोक्षा महादीक्षा	३६०	१६५
अपरोक्षानुभूतिर्या	३०२	१४०
अपर्यन्तो महादेवः	१३३५	८००
अपसर्पन्त्विति प्रोक्ताः	९८३	५५२
अपानः कर्षतिप्राणं	५६८	२७२
अपूर्वंभासतेवस्तु	८१६	४२९
अपृथग्भावरूपेण	१८८	८५
अप्राप्तं प्राप्तवान्बोधं	९१७	५०२
अप्राप्यमवशिष्टंकिं	९०८	४९९
अबलानां स्वनाथानाम्	६५१	३२७
अभाग्यं परमं पुंसां	९६	४४
अभावात् सापदार्थानां	८१७	४२९
अभावो यत्र भावानां	८०५	४२२
अभ्यासतारतम्येन	४९३	२३३
अमृतजलधौ यस्मिन् वार्ता	४८३	२२४
अयं विहाय कामादीन्	८०६	४२२
अरुणकिरणग्रस्तां	५५३	२६३
अर्कः पाशुपतो	१३०७	७७९
अर्चालक्षाधिकाप्रोक्ता	८४५	४५१
अर्थानुवेधितस्तूक्तः	९३५	५१४
अर्पितं शंकरे	१३१४	७८४
अर्पितानन्दबोधेभ्यः	९४१	५१७
अवगाहया विशेषेण	१५८	७२

अवश्यं मरणंतर्हि	६८४	३४४
अवस्थात्रयनिर्मुक्तं	८१८	४३०
अवस्थानांव्यवस्थेयं	५४०	२५२
अवस्थाया मनोन्मन्या	१२२१	७१७
अविगीते न तुष्येत्तु	४५४	२०७
अविद्या संसृतिर्जीव	१३२७	७९३
अविद्याजीवगरलम्	१३४७	८०८
अविद्यादाहशीतांशुः	१३४९	८०८
अविद्याशैलदम्भोलिः	१३४८	८०८
अविद्योन्मूलकुद्दा	१३४६	८०७
अविवेकः पुंप्रकृत्योः स	२१५	९९
अशनायां पिपासां च	९८	४५
अश्रु मुक्तं वियोगिन्या	१०१९	५७८
अष्टादशाध्यायमयी	३४५	३२३
अष्टौ प्रकृतिरूपाणि	१३३४	७९९
असंख्याः सांख्यतत्त्वानां	६७६	३४०
असङ्गवस्तुविषये	१२१६	७१५
असङ्ख्याश्चित्तजा	९५७	५३०
अस्ति भाति प्रियं	९२२	५०५
अस्ति सत्ता भातिचिच्च	९२८	५०९
अस्मान्द्विष्यतिसा नित्यं	८७९	४७२
अस्मान्पुष्णाति या नित्यं	८७८	४७२
अस्मिन्नसतिसत्ता हि	९३१	५११
अस्य क्रव्यादभक्ष्यस्य	५६	२५
अस्यै तु पतिरात्मानं	४२७	१९३
अस्योन्मत्तप्रलापत्वाद्	१२१८	७१६
अस्वरूपमिदंब्रह्म	८५८	४५७
अहं त्वनूढ़ा तरुणी	४४५	२०३

अहं ममेति सर्वस्वं	११४९	६७७
अहङ्कारं हरिरहं	११४३	६७४
अहङ्कारंपृथक्कृत्य	८६८	४६४
अहङ्कारो बोधसारो	१३५६	८१३
अहन्ताममतात्यागः	९८५	५५३
अहन्ताममतेधीमन्	७७२	३९१
अहमज्ञोन जानामि	७२७	३७१
अहमस्मीतिजानाति	४०३	१८४
अहमेव परं ब्रह्म	८६१	४५९
अहिंसा सत्यमस्तेयं	६०६	२९४
अहिक्रीडा न कर्त्तव्या	८७५	४६९
अहिनानेन येदष्टा	८७६	४७०
अहन्तया सहैवायं	९०३	४९७
आकाराः कल्पिता	१२२६	७२१
आकाशमण्डलेशून्ये	९७५	५४७
आकाशमनिलस्तेज-	७४२	३७८
आकाशे नीलिमायद्वत्	४०८	१८६
आख्याताः शम्भुना गौर्यै	२५८	११९
आख्यास्यामि रमाव-	११०८	६४७
आगते स्वागतं कुर्याद्	१२२	५६
आज्ञाकरत्वमायाति	१३४०	८०४
आत्मचैतन्यभास्यस्य	४१२	१८७
आत्मज्ञानेन यो योगो	१९९	८८
आत्मनः सुखलोभेन	११७१	६८८
आत्मभानाद्दते नाहम्	३९४	१८०
आत्मभायांसमायातो	४१४	१८८
आत्मभोगरतो राजा	११५१	६७८
आत्मरूपमिदंवाच्यम्	८५०	४५४

आत्मा कलेनगीतेन	७१७	३६५
आत्मा विश्वस्यदेवोऽयं	६३९	३१८
आत्मारामाश्चमुनयः	३३५	१५४
आत्मैवायमनन्तचिद्घन-	६२५	३०९
आथर्वणी ब्रह्मविद्या	७१४	३६३
आदौ गुरुस्तवो	१३४२	८०५
आधारं प्रथमं चक्रं	२३०	१०४
आधारः सर्वभूतानां	८४६	४५२
आधिव्याधिभयोद्वेग -	४५	२१
आधिव्याधिभयोद्वेग -	४७	२१
आनन्दघनगोविन्द-	६३२	३१३
आनन्दसागरः शम्भुः	१२७२	७५२
आनन्दानपि संविहाय	२५६	११८
आनिद्रं प्रातरारभ्य	७५	३४
आप्यायनस्तमोहन्ता	१२५६	७४४
आब्रह्मकल्पंगरुडो	५३५	२५०
आभासरेणुभिस्तद्वत्	६५४	३२९
आभूत्कुहूमयं विश्वं	९७८	५४९
आयातु यातु वा भानोः	१०५०	५९६
आयान्ति तत्र विलसन्ति	१०७७	६११
आयान्ति नैव सुत	१०९६	६३३
आयान्ति यान्तिधावन्ति	७८८	४०१
आयुर्वेदो धनुर्वेदो	६६०	३३३
आरूह्य तुङ्गपदवीं	१०८२	६१७
आलोकितानि च मतानि	१०८४	६१९
आविर्भूता तु सा नैव	४५१	२०६
आश्चर्यं योभिमन्येत	११३९	६७२
आसनं सुखरूपेणशरीर-	२०१	९२

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

आसने शयने थाने	११८३	६९४
इज्याचारदमाहिंसा-	६९८	३५३
इडा वामापिंगला-	५७५	२७६
इति पातञ्जलः प्रोक्तो	२१८	१००
इतीम सेतुसामोक्ता	५९६	२८८
इत्थं ज्ञानविनोदेन	७१९	३६६
इत्ययं योगयुक्तानां	१४३	६६
इत्यादयो महामन्त्राः	२२१	१०१
इत्याद्युपनिषद्वाक्य-	९३४	५१३
इत्युन्मत्तप्रलायो	१२१९	७१६
इत्येवं व्यवसायेन	४९	२२
इदं तीर्थमिदं तीर्थं	१३३	६२
इदं दृश्यमहं द्रष्टा	५८३	२८०
इदं सत्यमिदं मिथ्या	३८८	१७७
इदमित्थमिदंनेत्थम्	७३२	३७४
इदमेव कथंनुस्याद्	४२९	१९५
इन्द्रस्य राज्यमपि	१११३	६५२
इयं तु शाम्भवैः	१२८६	७६१
इयं पराङ्मुखीभूय	४६४	२१२
इष्टमन्नं क्षुधार्त्तस्य	१०३२	५८८
इष्टे नष्टे नश्वरे	१०९९	६३६
ईक्षणं चेति वेदान्तै	३५२	१६१
ईदृशे व्यवहारेतु	८७०	४६६
ईश्वरः परिपूर्णत्वाद्	२९९	१३९
ईश्वरः सर्वहेतुत्वाद्	१३	८
ईश्वरस्य प्रसादेन	१३१०	७८१
ईश्वरानुग्रहं प्राप्ता	५०३	२३७
ईश्वरो बोधसारो	१३५८	८१४

उक्तं मूढसमाधानं	५०८	२४०
उक्तं व्युत्थितचित्तानां	२१०	९७
उज्ज्वला मधुराशीता	७७७	३९३
उत्क्रान्तिगत्या-	७६७	३८९
उत्तमाधमभावेन	६२	२८
उत्तमाधममध्यानां	११९९	७०४
उत्थानेन जयेन्निद्रां	५९७	२८८
उत्पत्तिश्च स्थितिर्नाश	१३२८	७९३
उत्पत्तिस्थितिनाशानां	३६	१७
उद्धृते गार्हपत्याग्नौ	६०१	२९२
उन्नताऽऽनततां यातो	६०	२७
उन्मज्ज्य मज्जति	१०७८	६१२
उन्मन्या स्वयमुन्मत्त	१३११	७८२
उपकारापकारौ हि	९१४	५०१
उपक्रमादितात्पर्य-	१५४	७०
उपदेशक्रमो राम	३३	१६
उपनिषदि वने	१३५९	८१५
उपमाता कुजातिस्ते	८८३	४७५
उपमाता च माताच	८८०	४७३
उपसंहर विश्वात्मन्	९३३	५१२
उपायैः शोधिते क्षेत्रे	१००६	५६८
उभयात्मा मनस्तेन	१७९	८१
ऊर्ध्वं निलीनप्राणस्य	२३५	१०७
ऊर्ध्वाधोगतिमुख्यं	५६७	२७२
एकः प्राह पठेति	११०१	६३८
एकतः सकला लोका	१०५	४८
एकदन्त:समाम्नाय	८२२	४३२
एकमेव निजं नाथं	१८७	८४

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

एकरूपमिदंब्रह्म	८५६	४५६
एकरूपाः प्रकाशन्ते	८२६	४३७
एकाकिनी बत	८९५	४८८
एकात्मभावसम्पन्नौ	१२९८	७६९
एकादशैताः कथिताः	१३३२	७९७
एकान्ते मुक्तिगाथानां	४३३	१९७
एकीकृत्य सुपर्णौद्वौ	६३६	३१६
एके खनन्ति वसुधां	१०२४	५८३
एके तक्रेण तुष्यन्ति	१०२५	५८४
एको विष्णुर्महभ्दूतं	११८९	६९७
एकोऽपि न गुणो	१२०५	७०९
एतद्विमुक्तिसोपान-	२२३	१०२
एतस्यां दिनचर्यायां	६३४	३१५
एवं नामानि सर्वाणि	९२५	५०७
एवं विवेकतो धीमन्	३२	१५
एवं समाप्यविधिना	५९१	२८५
एवंविधेनविधिना	५४६	२५६
एवमभ्यासयोगेन	३९२	१७९
एवमादिव्यवस्थायाः	३२२	१४९
एवमेव कियत्कालं	७२०	३६६
एषा मधुमती विद्या	८०३	४१८
ओतं प्रोतमिदं	११०५	६४४
औदासीन्येन यः पश्येत्	४४३	२०२
क ईश्वरश्च को जीवः	३९०	१७८
कटुः कषायोमधुरो	७४९	३८२
कटुपत्रस्तरुः	१३०८	७७९
कण्ठे ब्रह्माण्डनभसां	१२५७	७४५
कण्डूयनेन यत्कण्डूसुखं	७०	३२

कति कति न हि जीवा	१०८८	६२३
कथं साधर्म्यवैधर्म्य	६७२	३३८
कथयामि सद्दृष्टान्तं	३२३	१४९
कथयामि समासेन	५४	२४
कथयाम्यत्रदृष्टान्तं	५२५	२४७
कदाचिच्छुद्धभावेन	३७१	१६९
कदाचित् क्वचिदेवासौ	८२८	४३८
कन्दर्पकोटिलावण्यं	१०१८	५७७
करोमि संशयं यावद्	१०१७	५७७
कर्कशा कलहा कृत्या	८३३	४४२
कर्कशा रसिका चेति	११७८	६९२
कर्कशा सिका	११७७	६९२
कर्त्ता कार्यं च करणं	१३२२	७८९
कर्मठः काञ्चनालिप्त	१०१०	५७१
कर्मणा चित्तशुद्धिःस्यात्	११७	५३
कर्मणा संभवेज्जन्म	६९२	३४९
कर्मणां निर्णयं त्वेवं	११४	५२
कर्मनिष्ठा तु दासीव	११७९	६९२
कर्मभिश्चेतसःशुद्धिः	६९६	३५१
कर्मयोगः परा पूजा	२८७	१३४
कर्मातिपातेप्रायश्चित्तं	५९४	२८७
कर्मेन्द्रियाणां संरोधः	१२९	५९
कर्मोपास्ती उभे नेत्रे	१२४७	७३८
कलेवरमिदं स्थानं	५७	२५
कल्पको येनकल्पेन	७०४	३५६
कल्पनागौरवं दोषः	६७५	३३९
कल्पानां प्रथमः कल्पो	७०३	३५६
कश्चित् प्राणजयेनैव	५७०	२७४

कश्चिद् द्वयजयेनैव	५७१	२७४
कष्टं कर्मेत्ययं	६९०	३४८
कस्मिन्निदं कुतश्चेदं	३८९	१७८
काकविष्ठाधनस्यार्थे	७९	३६
काचित् कुण्डलिनी	१२६३	७४७
कान्ता मे बोधसारोऽयं	१३५४	८१२
कापालिकाःक्षपणकाः	७७०	३९१
कापिलेन मुकुन्देन	१७२	७९
कामः क्रोधश्च लोभश्च	११२०	६६२
कामकिंकरतां प्राप्य	९३	४३
कामधेनुर्गृहेयेषां	४६	२१
कामबाणैर्यत्र पीडा	५९	२६
कामादयो महाधूर्त्ता	११३०	६६७
कामादयो महाधूर्त्ता	१३१३	७८३
कारागृहं गर्भवासो	५८	२६
कालेन भक्षितं	१२८१	७५८
किं च लक्षणभेदोहि	३१२	१४५
किं बद्धमसि मुक्तं वा	१०५१	५९७
किं मां पृच्छसि	७९९	४११
किं वर्णयामि पुरतः	८९६	४९१
किंचिन्मुक्तमिति ब्रूयात्	१०५२	५९७
किंञ्चिद् धनकणं ध्यात्वा	८१	३७
किंप्रकारः किमाकारः	४००	१८३
किञ्चित्कुतूहलेनैव	१	१
कीर्तिदानं कामदानं	१३२	६१
कुण्डलिन्याःसुषुम्णायां	२२८	१०४
कुसूले संस्थितं बीजं	३४८	१६०
कृतवाक्यविचारस्य	१००७	५६९

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

कृता कपटभावेन	११९	५५
कृताकृतैर्न यस्यार्थो	१२०१	७०५
कृतिः कार्यंच करणं	७४०	३७८
कृत्वा सम्पुटितौ करौ	२३३	१०६
कृशत्वं परमा पूजा	२८१	१३१
केनाप्येष प्रकारेण	९०९	४९९
केयं कस्य कुतः कैन	२४३	१११
कैतवं कितवस्यास्य	१३१२	७८३
कैवल्यकुञ्चिकांतात	९२०	५०४
कैवल्ये लसते	१२६९	७५१
क्रिया तु परमा पूजा	२६७	१२४
क्रुद्धस्त्यजति गेहं स्वं	१४०	६४
क्लेशकर्मविपाकैश्च	२११	९७
क्षणं न क्षमते	११२९	६६७
क्षत्रधर्मे परा हिंसा	६४	२९
क्षमयैव जयेत्क्रोधं	५९५	२८७
क्षम्यतामिति किं वाच्यं	१५	९
खं वायुरग्निस्तोयं	१७७	८०
खंवायुतेजोजलभू -	३०८	१४४
खेद एव परा पूजा	२६४	१२२
गंगायमुनयोर्मध्ये	२२२	१०१
गंङ्गायमुनयोर्मध्ये	११५३	६७९
गतेह्नि शोचतिमुहुः	४२४	१९२
गाढं वाऽस्तुविलीनम्	८००	४१३
गुञ्जद्भृंगिध्वनिं श्रुत्वा	४४७	२०४
गुणदोषदशातीतं	९१५	५०२
गुणप्रधानभावेन	३८	१८
गुणातीततया	७९२	४०४

गुणात्मकेषु सर्वेषु	११३२	६६८
गुणात्मा प्रकृतिर्माया	९२७	५०८
गुणेषु दोषं पश्यन्तो	११४०	६७२
गुणैर्गौरवमायाता	६	६
गुरुप्रभा हि शिष्यस्था	२२	१२
गुरुभिर्दीक्षितानां	१३६१	८१६
गुरुभिश्च सतीर्थ्यैश्च	६४१	३२०
गुरुर्मे बोधसारोऽयं	१३५०	८०९
गुरूपसदनं पूर्वं	३७७	१७२
गुरूशास्त्रप्रसादेन	११९१	६९८
गुरो लाक्षणिकैरेव	७८२	३९७
गुरोरनुग्रहादीश	१२	८
गृहं देहःपतिर्जीवः	६०२	२९३
गृहं मे बोधसारोऽयं	१३५३	८११
गृहं वास्तु वनं वास्तु	१०७४	६०९
गृहकार्यप्रसक्तापि	१०३६	५८९
गृहे स्थितानामपि	११५५	६८०
गेहादिममतानास्ति	९१६	५०२
गोपालिकास्मि चतुरा	८९४	४८७
गोरक्षचर्पटिप्राया	२३९	१०९
गौरीं महेश्वरःप्राह	५४२	२५३
घटो न घो नापि	९२४	५०६
घनः कामोऽस्माकं	३४३	१५८
चञ्चलं हि न जानाति	२५७	११९
चतुर्विंशत्यक्षरया-	५८८	२८२
चन्द्रादित्यशतप्रकाशजयिनी	१३०३	७७३
चर्चितुं योग्ययाभूयः	८६५	४६२
चर्वयन्ति महामांसं	६७	३०

चलार्णवयुगच्छिद्र -	३७४	१७१
चलिता स्वामिगेहाय	३८६	१७६
चले वाते चलंचित्तं	५६९	२७३
चित्तविक्षेपकर्त्तारं	१०७२	६०८
चित्तविक्षेपशान्त्यर्थं	१२७	५८
चित्तवृत्तिनिरोधस्तु	१९९	९०
चित्ताहंकृतिबुद्धिमानसमयैः	१०५८	६०१
चित्रकृल्लेखकः	७५७	३८५
चित्रपत्रे कृता नारी	१०१५	५७५
चित्रमल्पेनकालेन	९९१	५५६
चित्राः परिमलामोद-	७५०	३८२
चिदंगे कोमले लग्नो	४८२	२२४
चिद्विद्याकर्मनाशायां	११६८	६८६
चिन्तनं सर्वशास्त्राणां	१२०४	७०८
चिन्तनीयं त्वयावस्तु	८३१	४४१
चिन्तनेनैव मुक्तिः	१२०३	७०७
चिन्तामणिं कराद् भ्रष्टाम्	१०१६	५७६
चेतनोऽहं विजानामि	४०५	१८५
चेतिता चेतनेनेति	२५०	११५
चेष्टैव परमा पूजा	२७६	१२९
चौरस्त्यजति गेहं स्वं	१३९	६४
छान्दोग्येनोपनिषदा	७१३	३६२
छायां पश्यति कायस्य	१००	४६
जगद्विलक्षणः स्वामी	१२७३	७५३
जडं करतलेकृत्वा	५६१	२६९
जडत्वाच्चघटादीनि	३९५	१८१
जडेन येन सन्त्यक्ते	१२००	७०४
जनैः पण्डित इत्युक्तः	८३४	४४३

जन्म नामासतःसत्ता	९००	४९६
जन्मदुःखं तथा मोहो	२१४	९८
जन्मनस्तु फलं	१३१८	७८६
जन्मादयो वनचराः	१०७९	६१३
जन्मैव परमा पूजा	२७७	१२९
जयति श्रीगुरुणां हि	९	७
जरामरणसंसर्गी	८८१	४७४
जरायुजाण्डजस्वे-	७५१	३८३
जलप्रवाह इव या	९८०	५५०
जागरानन्तरं निद्रा	५१४	२४२
जागरे तादृशी नास्ति	५१८	२४३
जागरोऽयं तु मिथ्येति	५१५	२४२
जाग्रतः स्वप्न इव यत्	३५५	१६२
जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तिश्च	५०६	२३९
जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तिश्च	५०७	२४०
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्ये	३५४	१६२
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि	८३९	४४५
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः	३४७	१६०
जाग्रत्स्वप्नस्रथा	१३२५	७९१
जाग्रत्स्वरूप एवायं	९७६	५४८
जातस्य हि ध्रुवो	१२१२	७१३
जाता चेत्सा तु जातैव	४९५	२३४
जाते विद्वदनुग्रहेण	८०१	४१४
जाते समरसानन्दे	३३६	१५४
जातेऽपि जागरेजन्तोः	३५६	१६३
जात्या यद्यपि गौर-	९६८	५३८
जानन्तोपि न सन्मार्गं	१२०८	७१०
जानातु वा न जानातु	९९३	५५७

जायते शब्दशास्त्रेण	१६१	७३
जायेत जातबोधानामपि	१०४२	५९३
जारणात्कालकूटस्य	९८४	५५२
जिज्ञासा दीर्घतिलको	५६०	२६८
जिज्ञासाथ विचाराख्या	३५८	१६४
जिज्ञासोत्र संसारो	३६५	१६७
जित्वेन्द्रियरिपुषट्कं	१११८	६६१
जिहासा संसृतेर्ब्रह्म	४३	२०
जिह्वे देवि गृहाण	११०३	६४१
जीवचैतन्यभास्यानां	४१०	१८७
जीवन मुक्तिसुखप्राप्त्यै	१०६१	६०३
जीवन्मुक्तिसुखं स्वल्प-	१०६९	६०७
जीवस्यैतन्निजंरूपं	८१९	४३०
ज्ञत्वं कर्तृत्व-	८३७	४४४
ज्ञत्वकर्तृ	७३३	३७५
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्व-	१३३९	८०३
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्व	४३८	२००
ज्ञातृस्वरूपमेवास्तु	८५३	४५५
ज्ञानं कुतो मनसि	२३६	१०७
ज्ञानं विना न कैवल्यं	१०६८	६०६
ज्ञानकर्मेन्द्रियगणो	११४७	६७६
ज्ञानगंगाह्रदेशुद्धे	५५६	२६६
ज्ञानगङ्गातरङ्गोना	९७२	५४४
ज्ञाननिष्ठा क्षमासत्यं	६३३	३१४
ज्ञाननिष्ठा तु रसिका	११८२	६९४
ज्ञानयोगः पारा पूजा	२८८	१३४
ज्ञानयोगप्रसन्नानां	५४७	२५७
ज्ञानवैराग्यपाशेन	११५२	६७९

ज्ञानस्य ब्रह्म विषय	८५१	४५४
ज्ञानस्वरूपमेवास्तु	८५२	४५५
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	१२१३	७१३
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	१२५१	७४१
ज्ञानाज्ञानप्रपञ्चेस्मिन्	५५२	२६२
ज्ञानाज्ञानेतद्विषयौ	५५०	२६०
ज्ञानामृतं न चेत्पीतं	७१५	३६३
ज्ञाने जातेऽपि नत्याज्यं	११५	५२
ज्योतिषा येनसुर्यादि	७१०	३६०
ज्योतिष्टोमे स्वर्गकामो	१४५	६७
ज्वरापस्मारकुष्ठानि	७६५	३८८
टण्टङ्कारच्छलेनासौ	१२६६	७४९
डाकिनीसिद्धमन्त्रोऽयं	११९०	६९८
तच्छन्दो यदिन ज्ञातं	७०९	३५९
ततः प्रभृत्यसौविद्वान्	८७३	४६८
ततः षष्ठीमतिक्रम्य	४७९	२२२
ततो भक्तिप्रभावेन	३२८	१५१
तत्तद्विचारवैराग्याद्	९५३	५२७
तत्तद्विवेकवैराग्य -	२८	१४
तत्त्वज्ञानं त्वयाप्रोक्तं	६७७	३४१
तत्त्वतो यः शिवं	१३४१	८०४
तत्पवित्रकरोभूत्वा	५५९	२६८
तत्पुनर्जीवचैतन्यं	४११	१८७
तत्र सद्गुरुणाप्रोक्तं	८७४	४६८
तत्र साक्षात्कृतं ब्रह्म	५११	२४१
तत्सत्यं दातृपात्राभ्यां	३०	१५
तत्समाधिस्थिता जित्वे-	५०९	२४०
तत्सर्वममृतं तस्य	४७५	२१९

तथा च शाण्डिल्यंसूत्रं	३०१	१४०
तथा चिन्मात्रचण्डांशुं	९९७	५५९
तथा भक्तो भजन्देवं	३११	१४५
तथा मूढसमाधानाद्	५३१	२४९
तथा मूढसमाधौतु	५२७	२४७
तथा य एव पञ्चम्यां	४९२	२३३
तदेवाज्ञानमित्युक्तं	३५०	१६१
तद्ब्रह्मेति श्रुतेः	८६३	४६१
तद्विद्धि प्रणिपातेन	१५७	७१
तन्वङ्गीं तरुणीं	७२२	३६८
तमो रजस्तथा	१३३०	७९६
तर्हि केन विशेषेण	५१२	२४१
तव तीर्थफलं स्वल्पं	१३४	६२
तव बुद्धिप्रकाशोयं	१०२३	५८२
तवास्मीति भजत्येक	३१५	१४७
तस्माच्छ्रुतिःप्राहसत्यम्	८२१	४३१
तस्मात् तया कामनया	११३	५२
तस्मात् तुरीयासर्वासां	५३४	२५०
तस्मात् सिद्धान्तएवैको	५८०	२७८
तस्मादनन्तरंजाग्रत्	५२६	२४७
तस्मादीश्वरलीलेयं	१०७०	६०७
तस्यां च दुःखमाप्नोति	११८६	६९६
तस्योन्मेषनिमेषाभ्याम्	५६३	२७०
तां द्वैतरूपिणीमेव	२४२	११०
तापपापक्षयौस्नानं	३२५	१५०
तारकस्योपदेशेन	११	८
तार्या वयं तरिबोध	१०	७
तावती चन्द्रिकाप्रोक्ता	९५२	५२६

तावत् पूजां न मनुते	६२८	३११
तिष्ठेज्जपेच्चगायत्रीं	५८६	२८१
तिस्रो रेखा विभूतेस्तु	१२२४	७१९
तीक्ष्णे विचारवैराग्येचित्ते	९८७	५५४
तीर्थे पापक्षयः स्नानै	१३५	६२
तीर्थे शीतोष्णसहनं	१३६	६२
तीव्रं तमः समय	१०९७	६३४
तीव्रा मुमुक्षा यद्यस्ति	१४६	६७
तीव्रात्संसारवैराग्याद्	५१	२३
तुरीयतुलसीपत्रै-	८९२	४८५
तुरीयतुलसीपत्रैः	८९८	४९४
तुरीया प्रथमाभासे	४९६	२३४
तुरीये बाधितंविश्वं	५२८	२४८
तृतीयभूमिकाभ्यासाद्	४३०	१९६
तृतीया मननप्राया	३६१	१६५
तृष्णां विहाय तुच्छेभ्यो	४६९	२१६
तृष्णां विहायतुच्छेभ्यो	८१०	४२४
तृष्णां संहर	७९८	४१०
तृष्णाभिर्गलितं	११०९	६४८
तृष्णैव परमा पूजा	२७१	१२६
ते त्वर्धयोगिनः प्रोक्ता	५७४	२७५
तेजसो जलमुत्पन्नं	९२६	५०८
तेनात्मनस्तु सा व्यक्ता	४०७	१८५
तोयरन्ध्रनिरोधेन भाति	१००३	५६५
त्यक्त्त्वाऽसम्भवनां	१२२९	७२४
त्यक्त्वा मोहमयींपूजां	६२६	३१०
त्यक्ष्यन्त्यवश्यं च त्वाम्ये	१०३	४७
त्यज चिन्तां महाबुद्धे	८३०	४४०

त्रिभिर्गुणैर्निबद्धोहं	७२९	३७३
त्रैलोक्यराज्यकामस्य	२०८	९६
त्वगसृङ्मांसमेदोस्थि	७६२	३८७
त्वन्तऽहन्ता तथैदन्त्वम्	१३३१	७९६
त्वमेव तत्परंब्रहम	८६२	४६०
त्वया स्तने परित्यक्ते	८८६	४७७
त्वयाऽनुभूतमेवास्ति	९५१	५२६
दत्तोऽसावृषभो	९७१	५४३
दत्त्वा द्वारि कपारं	११४६	६७६
दयाशीला हि मुनयो	९५५	५२९
दरिद्र इव सम्प्राप्य	४४०	२०१
दर्शनस्पर्शनघ्राण-	६३८	३१७
दशाचतुष्टयाभ्यासाद्	४४८	२०५
दानं तु परमा पूजा	२६५	१२३
दानभोगविहीनं च	७७	३५
दिक्षु किंञ्चित्प्रकाशासु	५५५	२६४
दिनं गतं गतारात्रिः	४२३	१९२
दीनेन्द्रियमृगेष्वेव	११५०	६७८
दीपप्रभायामायातौ	४१३	१८८
दीर्घमायुर्जराभुक्त्यै	९९	४५
दीर्घायुः परमा पूजा	२७८	१२९
दुग्धफेनोज्ज्वला शय्या	८४	३९
दुस्त्यजान्विषयान्मूढो	१०४१	५९२
दृश्यं चेत्स्याद्रविर्न स्यात्	१०४४	५९३
दृश्यं निपीय गरलं	९६४	५३५
दृश्यं बोधेन निर्घृष्टं	१०२७	५८५
दृश्योत्कर्षं न सहते	११२८	६६६
दृष्टं चिदम्बरं नाम	१०३१	५८७

दृष्टमेकान्तभक्तेषु	३१७	१४७
दृष्टो मयाद्य विगलद्	१०८१	६१६
दृष्ट्या मया मधुरया	८९३	४८६
दृष्ट्या श्रुत्यानुभूत्या वा	९२१	५०४
दृष्ट्वा लोकस्थितिं लोलां	४२२	१९१
देवर्षिपितृभूतेभ्यो	६११	२९७
देवादयः सात्त्विकाःस्युः	१८३	८३
देवानुसंधानधिया	६३१	३१३
देवेष्वपि तथाशक्र	४३२	१९७
देशकालनिमित्ता ये	११०	५०
देहेन्द्रियमनःप्राण -	४३७	१९९
देहेन्द्रियमनःप्राण -	५४४	२५५
दोषा एव परा पूजा	२८३	१३२
द्रष्टा च दर्शनं	१३२१	७८८
द्रुमो बीजपरीणामो	१८	१०
द्रुमो हि बीजजातीयः	१९	११
द्विभार्यो ब्राह्मणो	११७५	६९१
द्वे आहुती जुहोत्येते	६०३	२९३
द्वेषेन ताड्यते सर्पो	१२६	५८
द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक्	३३४	१५३
धनं प्राप्नोति कष्टेन	१०२१	५८०
धनिभ्यो धनमादाय	८९	४१
धर्तुं न शक्यतेधीरैः	१२३७	७३१
धर्मशास्त्रविचारेण	६९७	३५२
धर्मा बहुविधाः प्रोक्ताः	१४४	६७
धर्माधर्मौ न जानाति	१२०२	७०६
धर्मार्थकाममोक्षाणां	२९४	१३७
धर्मे चार्थेच कामे च	४०४	१८४

धारणा च तथा ध्यानं	१६७	७६
धारणाध्यानवैचित्र्यात्	२१७	९९
धूपप्रदीपनैवेद्या-	१३१९	७८७
धैर्यं तु परमा पूजा	२६९	१२५
ध्यानाध्वरविधौ यस्य	४७३	२१८
ध्यानामृतार्णवनिमग्न-	८०२	४१७
ध्यायन्ति भक्ताः	१२४६	७३७
ध्यायेन्नित्यं महेशं	१२३१	७२६
ध्वनिर्वर्णविभेदाय	७४५	३८०
न कर्मणां परित्यागः	११६	५३
न खेलति वयस्याभिः	४६५	२१३
न घना प्रीतिरुत्पन्ना	६६१	३३३
न जाने क्वपलायन्ते	६३०	३१२
न ज्ञातं मूढभावेन	८८५	४७७
न तर्कितंपरं ब्रह्म	६६६	३३५
न तापकर्त्ताकस्यापि	८२५	४३५
न तिष्ठति मनो यत्र	९७९	५५०
न देशेकालौ न वयो	१००५	५६७
न धावति न हन्त्येव	७८६	४००
न पिशाचा न डाकिन्यो	७३	३३
न प्राप्तपरमार्थस्य	४६२	२११
न बुद्धमपियद् बुद्धं	९४५	५२१
न बोधयति भावानाम्	११९७	७०२
न मौनी मूकतां यातो	१३०	५९
न यान्ति नूनंतज्ज्ञस्य	८०७	४२३
न लोभस्योपचाराय	८०	३६
न विरक्ता धनैस्त्यक्ता	१३८	६४
न वेशो विहितःकश्चिन्	४६६	२१४

न शक्यं वक्तुमेवेदं	८१५	४२७
न शूद्रे वेदसंस्कारः	४१	१९
न शृणोषि वरंयावत्	८४२	४४८
न शोभते तथैवायं	९०	४२
न सन्ति यस्यां निद्रायां	७९१	४०४
न सिद्धिर्योगसिद्धिर्हि	६८८	३४७
न स्तौमि न च निन्दामि	१३४४	८०६
न हि कश्चिद् भवेन्मुक्त	२९८	१३९
न हि न हि चतुराः	१०९४	६३१
न ह्यन्यो बलवान् कश्चित्	९१०	५००
ननु ज्ञानं विना मुक्तिः	३२०	१४८
ननु मूढसमाधौ च	५२०	२४४
नन्वेतदेव सुकृतं	८९७	४९२
नमः सवित्रेजगदेक-	५९०	२८४
नरवाहनसंरूढाः	४७२	२१८
नर्तकी स्वांगभंगेन	१०२२	५८१
नवद्वारां पुरीमेताम्	६४०	३१९
नवनीतरसग्रासैः	९६१	५३३
नश्यन्त्यस्य कलाः	१२५३	७४२
नश्यन्त्यांमोहनिद्रायां	५५४	२६३
नष्टायां मोहनिद्रायां	८६४	४६२
नाकाशात् पतति द्रव्यं	६६	३०
नागः कूर्मश्चकृकरो	७६४	३८८
नाडीं प्रविश्य यदि	१०८३	६१८
नादासक्तं मृगं व्याधः	७१	३२
नाधर्मो रोचते यस्य	३८३	१७४
नाधारपात्रमादत्ते	८२४	४३३
नानाख्यानैः महारम्या	६४८	३२४

नान्तस्तु नापि	१११६	६५७
नापकर्तुं क्षमःकश्चिद्	९०७	४९९
नाभसीं धारणां बद्ध्वा	१९८	८९
नामरूपे तुनैव स्तः	९२६	५०५
नाम्नैव नो नरहरेः	१११२	६५२
नायं सर्प इतिज्ञात्वा	५३०	२४८
नारायणाष्टाक्षरवा-	२१९	१००
नालंकृता नो कुलीना	४६७	२१५
नास्वादयेद्रसंतत्र	६००	२९१
नास्वादिता सिता यावत्	४९४	२३४
निःसंगतासुखं प्राप्ताः	१४१	६५
निःसंशयस्तृतीयायां	३६३	१६६
निकटस्थस्यात्मनश्चे-	६८६	३४६
निजं गृहं परित्यज्य	११७०	६८७
निजं पतिं परित्यज्य	८६७	४६४
निजमातुः स्तनरसः	८८४	४७६
नित्य एवास्मिशुद्धोऽस्मि	९३०	५१०
नित्यं क्रीडति यत्रायं	१२७१	७५२
नित्यं नृत्यति पार्वत्याः	१२९७	७६८
नित्यमेव स्फुरद्रूपो	८३५	४४३
नित्यानित्यविवेकेन	३९१	१७९
नित्यानुभूतमपि यन्न	९५८	५३१
नित्यो हि रविरस्माकं	१०४६	५९४
नित्योऽस्मि शुद्धएवास्मि	४३५	१९८
निद्रादौ जागरसयान्ते	५६५	२७१
निद्रादौ जागरस्यान्ते	२५९	१२०
निद्रालस्यंप्रमादश्च	७३६	३७६
निधानं यक्षसर्पाद्या	७६	३४

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

निन्दितावभिनिर्मुक्ता-	११४५	६७५
निम्ना नूनमुदन्वतः	१०९२	६२७
निरञ्जनस्य देवस्य	७७६	३९३
निरन्तरश्चित्प्रवाहो	२०३	९३
निरावरणविज्ञान-	१२५०	७४०
निरुक्तं चिदवस्थानं	७०८	३५८
निर्गुणं तत्परंब्रहम	८५६	४५६
निर्जिता विषयानूनं	८०९	४२४
निर्दोषो निश्चलो नाथः	१८९	८५
निर्धनत्वं परा पूजा	२८५	१३३
निर्मले सर्वमेवेदं	१२४८	७३९
निर्मूला निष्कला शुष्का	१००४	५६६
निर्विकल्पसमाधाने	९३८	५१६
निर्वैरो जयमाप्नोति	८९१	४८३
निशायामेव जागर्मि	११९८	७०३
निशीथ एव मध्यान्हो	१२८८	७६२
निश्चेता निश्चिनोत्यन्तं	८८९	४८१
निषादर्षभगान्धार-	७४६	३८१
निष्कामा वा सकामा	३७०	१६९
निष्कामोत्तमधर्म-	६२१	३०६
निष्प्रकारोनिराकारो	४०१	१८३
नीचैर्निपातितविमोह	१०८०	६१५
नीरसापिसुधामिष्टा	७८९	४०१
नूनमालस्यदोषोहि	८१३	४२७
नूनमेकान्तनिष्ठेन	१२२०	७१७
नृदेहैर्निशि नृत्यन्ति	६८	३१
नेत्रयोरञ्जनं कार्यं	१७१	७८
नेदमस्त्यहमेवास्मि	५८४	२८०

नेयं मूर्च्छा न रोगोऽयं	५२२	२४५
नैव किंचित्करोमीति	११३५	६७०
पक्षद्वयेपिपश्यामि	६२९	३१२
पङ्गवस्तु कृताएव	९९२	५५७
पञ्चकर्मेन्द्रियाण्येव	१२८५	७६१
पञ्चभूतात्मकं विश्वं	११३७	६७१
पञ्चमीं तु समारभ्य	४८९	२३२
पञ्चमीमथवा षष्ठीं	५००	२३६
पटोः प्रणवलेखेषु	९३७	५१६
पतिहेतोर्दिवानक्तं	११८०	६९३
पदं पदार्थो वाक्यार्थः	१५९	७२
पदव्युत्पत्तिरनन्वेष्या	७०५	३५७
पदार्थानां विवेकेन	६७३	३३८
पयस्यमलगम्भीरे	७८४	३९८
परचित्तस्थितं	६८५	३४५
परदारपरद्रव्य	१२३	५६
परदारपरद्रव्य-परद्रोहपराङ्मुखः	१२४	५७
परन्तु गुरुदीक्षाभिः	२२५	१०३
परपारस्थितंहंसं	९९०	५५५
परब्रह्मस्वरूपैव	१३०१	७७०
परमं यदि वैराग्य-	२२४	१०२
परमात्मपदभ्रष्ट	९८१	५५१
परमात्मा स्वयं शम्भुः	१२७८	७५६
परव्यावर्त्तकंस्वत्वं	८६०	४५९
परसंगसुखा सक्तं	१००२	५६४
परस्परमविज्ञाता	८३८	४४५
पराग्वृत्तिं परित्यज्य	११६५	६८५
परापवाद एवास्ति	११३३	६६९

परिचीय पुरादेवं	६२७	३११
परिलसति पिता मे	१०८६	६२१
परेण पुरुषेणाद्य	८४३	४४९
पर्यन्तै रहितस्य	११०७	६४६
पवित्राः सूक्ष्मशास्त्रार्थाः	५५८	२६८
पशुत्ववासना	१३०४	७७७
पश्चात्तु स्त्रीजितः सोपि	८६९	४६५
पश्चादाचमनीयमत्र	६२०	३०५
पश्य संसारनाशार्थ-	११४८	६७७
पश्यन्शृण्वन्स्पृशळिजघ्रन्यः	१२०७	७०९
पातालं वसुधा स्वर्गो	७६०	३८६
पारमार्थिकमद्वैतं	३३८	१५५
पिंगलेडासुषुम्णा च	७६६	३८९
पीडैव परमा पूजा	२६३	१२१
पीयते प्रेम पीयूषं	४७७	२२१
पुच्छे प्रगृह्यभुजगीं	२३४	१०६
पुण्यक्षेत्रेषु या बुद्धिः	३७९	१७३
पुत्रमित्रकलत्रेभ्यो	८७	४१
पुनर्जन्म पुनर्मृत्युः	६३	२८
पुराणन्यायमीमांसा	६५९	३३२
पुराणोऽपि न जीर्णोयः	६६२	३३४
पुरान्तकहरो रुद्रः	७	६
पुरुषस्य परीक्षार्थं	६७८	३४१
पुरुषान्नपरंकिंचित्	६७९	३४१
पुष्कला निश्चला पूर्णा	४९८	२३५
पुष्पङ्कटुदलस्यास्य	१३०९	७८०
पूजनीया विशेषेण	१३००	७७०
पूज्योऽ यमिति विज्ञाय	१०१३	५७३

पूर्णबोधस्तर्हिजातो	३९९	१८२
पूर्णाञ्जलिमयास्त्र्यर्घा	५८२	२७९
पूर्णे बोधे समुत्पन्ने	४७४	२१९
पूर्वं नाम किमन्तरं	१११०	६४९
पूर्वं यानि च मित्राणि	११३६	६७०
पूर्वमासीदहङ्कारो	१०३४	५८८
पूर्वां मांवल्लभां	८११	४२५
पूर्वावस्थाचतुष्के ये	५०१	२३६
पूर्वोत्तराभ्यां पक्षाभ्यां	१५६	७१
पृथक्त्वेन परिज्ञाता	१९०	८६
पौराणिकच्छान्दसिक-	७५५	३८४
प्रकारद्वितयेनापि	१२९९	७६९
प्रकाशकस्य महिमा	२७	१४
प्रकाशको रविर्यद्वत्	२६	१३
प्रकाश्यापगमे पुत्र	१०४९	५९५
प्रकृतिर्विकृतिर्नापि	१९१	८६
प्रकृतेर्लक्षणं त्वेतद्	३८७	१७७
प्रकृतेस्त्रिगुणात्मत्वात्	१८०	८१
प्रणवेनैव धनुषा	७१६	३६४
प्रतिबिम्बं न गृह्णाति	९८२	५५१
प्रत्यक्षलक्षणैरेव	९५९	५३२
प्रत्यङ्गच्छेदनेऽप्यस्य	९५४	५२८
प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां	२०२	९३
प्रमादः परमा पूजा	२८६	१३४
प्रवृत्तिवनितां त्यक्त्वा	११८८	६९६
प्रवृत्तिश्चनिवृत्तिश्च	११७६	६९१
प्रश्नान् मनोगतान्	३८२	१७४
प्रसंगादविरोधस्य	१६४	७४

प्राचीमथ प्रतीचींवा	९७४	५४६
प्राच्यौदीच्यप्रतीच्यादया	७५६	३८५
प्राणद्वारा मनःसाध्यं	५७२	२७५
प्राणवृत्तौ विलीनायां	२३८	१०८
प्राणापानसमानाश्चो-	७६३	३८८
प्राणायामंमुनिःकुर्यात्	५८१	२७८
प्राणो मे बोधसारोऽयं	१३५७	८१३
प्रातः स्मरन्ति मुनयो	५४८	२५७
प्राप्तवानमृतं ब्रह्म	९०१	४९६
प्रायश्चित्तात्मका धर्माः	१११	५१
प्राह रामस्तरन् सिन्धुं	६५६	३३१
प्रियतमहृदये वा खेलतु	३३९	१५५
प्रेक्षितुं न विजानाति	३८५	१७५
प्रेमनिर्भरभावेन	१३३७	८०२
बंधध्वंसमभीप्सुना	४८४	२२५
बद्धमुक्तव्यवस्थायां	६७४	३३९
बद्धेन मनसा बद्धो	१०५३	५९८
बहिरङ्गान्तरङ्गाणां	३९	१८
बहिरन्तर्हरिं पश्यन्	९६६	५३६
बहिर्मुखजनस्तुत्या	४२६	१९३
बालकस्तात तातेति	३०९	१४४
बालस्य शूद्रकल्पस्य	४२१	१९१
बाला श्वश्रूजननियमिता	११०६	६४५
बालानां भक्षिकाभीमा	६५०	३२६
बीजं गुरूपदेशो हि	१६	१०
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्	३४९	१६०
बीजेन बीजजातीयः	२०	११
बुद्धा बोधरसादन्य-	३१९	१४८

बुद्धिर्मे बोधसारोऽयं	१३५५	८१२
बुद्ध्या न बुद्धोयो बोधो	९४४	५२०
बुधजनहितकारी	१३६०	८१६
बुधो यथा न मुह्येत	४६०	२१०
बुध्वापि शुद्धमात्मानं	११४१	६७३
बोधखड्गेन तीक्ष्णेन	११४२	६७३
बोधदावाग्निना	११५४	६८०
बोधस्वसेनया येन	१२८२	७५८
बोधात्मना गुरुः शिष्य -	२४	१३
बोधो यदवधानेन	११७३	६९०
ब्रह्म जानाति तस्यैव	११६२	६८४
ब्रह्म नास्तीतिको ब्रूयाद्	८५७	४५७
ब्रह्म वक्तुंन जानाति	८१२	४२६
ब्रह्मचर्यं गतो	११६०	६८३
ब्रह्मचारी गृहीवान-	७६९	३९०
ब्रह्मजिज्ञासया तात	५२	२३
ब्रह्मणो दिनमारभ्य	९५	४४
ब्रह्मत्वसंस्मृतिः सैव	४५०	२०६
ब्रह्मधेनोः स्वभावोऽयं	९९४	५५८
ब्रह्मलोका च या गंगा	१२५५	७४३
ब्रह्मविद् ब्रह्मविद्यायां	४८७	२३१
ब्रह्मा विष्णुस्तथा	१३२९	७९४
ब्रह्माद्या यत्र नारूढाः	१२६८	७५०
ब्राह्मणःक्षत्रियो	७६८	३९०
ब्राह्मणा इव ता गावः	६५२	३२८
भक्ते भक्तिमयीं पशौ	२५५	११७
भक्तेर्ज्ञानं ततो मुक्ति	३२१	१४९
भक्त्या ज्ञानमवाप्यैव	३२७	१५१

भक्त्या भक्तेन	१३१५	७८४
भजनादक्षता	१३०६	७७८
भवन्ति वायसादीनाम्	६८७	३४६
भवेत् स्पर्शमणिस्पर्शा -	३१	१५
भारते व्यासमुनिना	६४६	३२४
भावः सम्यक्परीज्ञातो	४४४	२०२
भाविते भावुकैरेवं	२५४	११७
भाषणं परमा पूजा	२७५	१२८
भासते भिन्नभावानाम्	१२५२	७४१
भास्वतो ममभामात्रं	८३६	४४४
भित्तिचित्रकृतं सर्पं	८७२	४६८
भुञ्जते तत्पदं प्राप्ता	३३३	१५३
भूतादयोऽपिजानन्ति	६८३	३४४
भूताविष्ट इवाकस्माद्	४५५	२०८
भूपालकैर्निशितशास्त्र	१०९८	६३५
भूमिकात्रितयं जाग्रत्	४८८	२३१
भूमिकाद्वितयाभ्यासात्	४१९	१९०
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्	४७०	२१७
भूमिकाभेदमारभ्य	३४४	१५९
भूरुहत्वाविशेषेपि	१०११	५७१
भूर्भुवश्च तथा स्वर्ग	१३२४	७९०
भृगवे वरुणेनोक्ता	११६४	६८५
भोक्ता च भोजनं भोज्यम्	१३२३	७९०
भोगयोग्येन वेषेण	१०१४	५७४
भोगार्थमेव देवत्वं	४३१	१९७
भोगेप्सूनां सभामध्ये	१०३५	५८९
भोजनं परमा पूजा	२७३	१२७
भ्रुकुटीकुटीलं	११२३	६६४

मकरन्दं पिबन् भृंगो	२९२	१३६
मत्तो नान्यत्परं	११२७	६६६
मथितो मुक्तिरत्नार्थं	१२७०	७५१
मदमत्सरमुख्यांश्च	५९८	२८९
मदमोहाभिधक्रूर-	५	५
मद्गुरोः सदृशः कश्चिद्	२९०	१३५
मध्याह्नभास्करंद्रष्टुं	९९६	५५९
मन एव मनुष्याणां	१०५७	६००
मनः काचमणिं दत्वा	११२५	६६५
मनःप्राणद्वययुजस्ते	५७३	२७५
मनसो दण्डनेनैव	१२७७	७५५
मनसो निग्रहार्थाय	१२१	५६
मनुष्याणां सहस्रेषु	३७३	१७०
मनो धनुर्मनो मौर्वी	१०५६	५९९
मनो यदि निरुध्येत	५७९	२७८
मनोबुद्धिरहङ्कारः	७३०	३७३
मन्दारास्तवरो	१३०२	७७१
मम प्रियो मम स्वामी	१२९३	७६६
ममता संमतामूढैः	७७१	३९१
मय्य सूया न कर्तव्या	१०२९	५८६
मरणं परमा पूजा	२७९	१३०
मरणस्य तु किं वाच्यं	६१	२७
महतापि प्रयत्नेन	३८१	१७४
महत्तत्त्वमहङ्कारः	१७४	७९
महानिद्रेति सा प्रोक्ता	४७१	२१७
महायोगेश्वरः शम्भुः	१९३	८७
महावाक्यार्थविज्ञानं	१६३	७३
मा धाव सुखहेतोः	८४०	४४६

माधुर्यं च पयस्तवं	१०९३	६२९
मानुष्यं दुर्लभं प्राप्तं	४८	२२
मानुष्यमपि सम्प्राप्य	१३३८	८०३
मान्य एव सुरेन्द्राणां	९१३	५०१
मान्यस्तु पद्मजादीनां	९१२	५००
माया मायेति विज्ञाता	८०८	४२३
मायाब्रह्ममयस्तात	८८७	४७८
मायाशक्ति विलासतो	६१२	२९८
मार्गेषु मिलिताश्चौराः	८५	४०
मित्रेण कुशले पृष्टे	१००९	५७०
मिथ्यैवेदं जगत्	११३४	६६९
मीमांसकः सत्यमाह	६९१	३४९
मीमांसया च वाक्यार्थ	१६२	७३
मुक्तं साधर्म्यवैधर्म्य -	६७०	३३७
मुक्तिप्राधान्यमेवास्ति	६९३	३५०
मुक्तिर्नास्ति जटाजूटे	१२५	५७
मुक्तिर्मुख्यफलं ज्ञस्य	३३०	१५१
मुक्तो विधिनिषेधाभ्यां	११४४	६७४
मुनिः प्रसार्यसरलौ	५८९	२८३
मुनिमानन्दितं	१०३७	५९०
मुनिरर्धकटाक्षेण	४५३	२०७
मुनीन्द्रदिनचर्येयं	७२३	३६९
मुनीन्द्रदिनचर्येयं	७२५	३७०
मुनेर्भावस्तु मौनंस्यात्	१३१	६०
मुमुक्षा दम्भमात्रं ते	९७७	५४८
मूकान्धपङ्गुबधिर-	७५९	३८६
मूढः किं त्यजतु प्रमत्त -	१४२	६५
मूढस्ताम्रमये पात्रे	७८	३६

मूढानामपि जायते	२०७	९५
मूले तु मूलबन्धःस्यात्	२२७	१०३
मृतशब्देन सम्बोध्य	९७	४४
मृतिः शरीरसंत्यागो	९०२	४९७
मृत्युर्मूर्च्छासुषुप्तिश्च	५३७	२५१
मृत्योर्बिभेति ब्रह्मापि	१२३९	७३२
मृत्सत्या यच्छरावास्तु	१२२७	७२२
मेरवो घृतबिन्द्वाभा	७४	३४
मोक्ष एव ममाऽस्त्वीश	३७८	१७३
मोक्षे तु विषयोनास्ति	३६९	१६८
मोहजालाद्विनिर्गत्य	४३९	२००
मोहनिद्रा नतत्रास्ति	८१५	४२८
मोहस्यापिस्वभावोयं	४०९	१८६
मोहेन विस्मृते दृश्ये	१०४३	५९३
मौनं चतुर्विधं प्रोक्तं	१२८	५९
मौनमेवावलम्बन्ते	४८१	२२३
यं भूषयन्ति कनकैः	५५	२४
यः कीटभृङ्गभावेन	१२८०	७५७
यः परानन्ददःस्वात्मा	७११	३६०
यः स्वयंकर्मजाड्येन	६९४	३५०
यच्च संकल्प्यतेपूर्वं	७३१	३७४
यच्छन्ति देवतास्तुष्टाः	८	६
यज्ञशाला भूमिकास्यात्	५९२	२८५
यतः कुतश्चिदानीय	३८०	१७३
यतस्तु परिनिष्पन्नैः	७०७	३५८
यत्तु जन्मशताभ्यस्त-	११९२	६९९
यत्त्वं वदसि चिद्देवी निःस्पर्शा	७८०	३९६
यत्त्वं वदसि चिद्देवी निर्गुणा	७८१	३९६

यत्त्वं वदसि चिद्देवी नीरसा	७७९	३९५
यत्त्वं वदसि चिद्देवी नीरुपा	७७८	३९४
यत्पुरोडाशतांयाति	६३५	३१५
यत्प्राप्तयेमहापुण्या:	७९३	४०५
यत्र क्वापि स्वपामीति	१०२६	५८५
यत्र न ज्ञायते किञ्चित्	२०६	९५
यत्र प्रमाणंवेदान्ता:	७२६	३७१
यत्र बोधमयोभावो	७७४	३९२
यत्साक्षित्वात् प्रमाणानि	४५७	२०९
यथा द्वात्रिंशद्दन्तस्था	१८६	८४
यथा निजकथास्तद्वत्	४३६	१९९
यथा ब्रह्माण्डसर्वस्वं	१३४५	८०७
यथा वर्तुलपाषाणा	४५२	२०६
यथा संमुखतां नीत्वा	९६५	५३५
यथा स्वरूपं देवस्य	१३३६	८०१
यथाधिकारविहितं कर्म	१४९	६८
यथापूर्वं नखेलन्ति	८७७	४७१
यथारोगस्तन्निदानं	२१३	९८
यथेष्टचेष्टारोधो हि	१२१०	७११
यथैव लौकिकज्ञाने	४५६	२०८
यथैवं भावभेदेन	३२६	१५०
यदग्निः काष्ठमारुह्य	२३	१२
यदस्य कार्यंपरमं	९११	५००
यदा तातपदार्थस्य	३१०	१४५
यदा द्वावपिरुद्ध्येते	५७६	२७६
यदा यदा शिथिलतां	२६१	१२१
यदा शिथिलतां याति	२६०	१२०
यदात्मतत्वे विमले	६६३	३३४

यदि न स्यादविद्याख्यमिदं	१०६२	६०३
यदि योगे कृताबुद्धिः	९९५	५५८
यदि वित्तार्जनेनैव	९१	४२
यदि विद्वत्समाधानाद्	५३२	२४९
यदि विस्मरणादेव	५३३	२४९
यदियं ब्रह्मविषया	७२८	३७२
यदीश्वररसी भक्तः	३१८	१४७
यदुत्थानंसमाधानात्	५६४	२७१
यदेकोपि जनो गीर्णः	१०२८	५८६
यदेव वेदे कथितं	१४८	६८
यद् दृश्यते तत्तु	११९४	७००
यद् बुद्धमप्यबुद्धंतत्	९४३	५१८
यद् ब्रह्माण्डशरीरस्य	१२५८	७४५
यद्ज्वलान्मोहदैत्यस्य	११२२	६६३
यद्यन्यत्साधनं नास्ति	२९७	१३८
यद्यपि क्षेत्रबीजाभ्यां	१७	१०
यद्यप्युदयने भानोर्यथा	२५	१३
यद्वासनाप्रसादेन	१२४९	७३९
यमास्त्वहिंसासत्याद्या	१६६	७५
यमोऽस्तेयऋताहिंसा	२००	९१
ययाऽत्र रक्त्या जीवोयं	२९५	१३८
यशोदागीतमधुरैः	९६०	५३२
यश्चक्षुषामविषयो	८२७	४३७
यस्तु वृन्ताकदग्धान्नं	११६३	६८४
यस्तु कश्चिन्महामूढः	११८५	६९५
यस्तु कापुरुषः	१२१४	७१४
यस्तु जानाति चातुर्यात्	११८४	६९५
यस्तु स्यात्तापशान्त्यर्थी	३२४	१५०

यस्मिञ्जागरणेप्राप्ते	५४३	२५४
यस्मिन्देशे सिता नास्ति	४६८	२१६
यस्मिन्नुज्ज्वलिते	६१९	३०४
यस्मिन्मार्गे प्रविष्टस्य	१२०९	७११
यस्य नैवाधिकारोऽस्ति	१२०६	७०९
यस्यां खेलन्ति मुनयो	१०७१	६०८
यस्यानन्दलयेनैव	१२८९	७६३
यस्योपरि स्फूरद्रूपो	१२७९	७५७
या निशा सर्वभूतानां	१२८४	७६०
या प्रकाशविमर्शाभ्यां	३	४
या प्रीतिरविवेकानां	३००	१४०
यातं दिनं न पुनरेति	८४४	४५०
यातेऽथ व्यवहारनाम्नि	७२१	३६७
यात्रा हि परमा पूजा	२७२	१२७
यात्रासमागमसमे	१०१	४७
यादृशो यस्य संस्कार-	३६८	१६८
यावच्छरीरपतनं	६४३	३२१
यावन्त्येवभुवां	६२२	३०७
युक्त्यैव वृत्तिभिःपूर्णं	८२९	४३९
ये तु बोधेन संप्राप्ता	११८	५४
ये विश्वतैजसप्रज्ञा	७३५	३७६
येन वेदाः समभ्यस्व	११५८	६८२
येन मोहवनं	१२३६	७३०
येन वर्णाश्रमाचार-	११२६	६६६
येनेदं व्याकृतंविश्वं	७०६	३५७
येषां दर्शनमात्रेण	१५३	७०
येषां ध्यानकलायां च	४९९	२३५
येषां वज्रदृढं	११०२	६४०

यैव यैव मनोवृत्ति	१२७४	७५४
यो लालयति लोभादीन्	११३१	६६८
योगनिद्रेति सा प्रोक्ता	४८०	२२३
योगभूमिं समारुह्य	११६७	६८६
योगभ्रष्टास्त उच्यन्ते	५०२	२३७
योगसिद्धिप्रसक्तो-	६८०	३४२
योगाभ्यासप्रसक्तस्य	२१६	९९
योगिनः पवनाहारा	१२६२	७४७
योगिनामवधूतानां	११६१	६८३
योगी क्रीडति निद्राति	४६१	२११
योगे नास्तिगति:	३४१	१५७
योगेश्वराणां योगोयं	१२९६	७६८
योदीक्षामयान्येव	१२३५	७३०
योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं	२३२	१०५
रक्तं पीतं सितंकृष्णं	७४८	३८१
रङ्गं निरञ्जनंप्राप्त-	९४७	५२३
रङ्गलीलाद्वयीमेताम्	९४८	५२३
रजतस्य गिरिःशम्भुः	१२३३	७२८
रजश्चलं तमः स्तब्धं	१८१	८२
रज्जुसर्पं यथादृष्ट्वा	५२९	२४८
रञ्जितं रञ्जनैश्चित्रै:	९४६	५२२
रमन्ते योगिनोयस्मिन्	६५८	३३२
रविरस्ति जगच्चास्ति	१०४८	५९५
रविरस्ति जगन्न स्यात्	१०४५	५९४
रविरस्ति जगन्नास्ति	१०४७	५९५
रसरीतिं न जानाति	११८१	६९४
रसाः सर्वेपि विक्रीता	११५६	६८१
रसायनप्रसङ्गेन	१०३३	५८८

रहस्यं हि रहस्यानां	९३९	५१७
रागद्वेषमदक्रोध-	३८४	१७५
रागिणी गणिका वित्तं	८८	४१
राज्यभ्रष्टा दीर्घरोगाः	४४	२०
रामोऽस्य परमो	१२६१	७४६
रुधिरं पिबति स्वीयं	७२	३२
रूद्राभरणमुद्रास्तु	१२२५	७२०
रूप्ये रूप्यमतिः	१०९१	६२६
रे योगसिद्धजीवानां	६८१	३४३
रोगा एव परा पूजा	२६६	१२३
रोमरेखासुविभ्रान्ताः	७८७	४००
रोमाञ्चेन चमत्कृता	३४२	१५७
लक्षं शराः प्रयोक्तव्याः	९९८	५६०
लक्ष्ये लक्षणवल्लक्ष्यम्	७८३	३९७
लयानामपि सर्वेषां	२९१	१३६
लये मन्त्रे हठे राज्ञि	१६८	७६
लये सम्बोधयेच्चित्तं	५९९	२८९
लिहति स्पृशति भ्रान्तो	६९	३१
लीलासिन्धोः कियदिव	१०००	५६१
लोभश्चंचलता	७३८	३७७
लोभादयो रजोभावाः	१८२	८२
लोला लक्ष्मीर्वयं लोला	१०६	४८
लोहार्गलो भद्रहरो	८२	३८
लोहिता धवलाकृष्णा	७१२	३६१
वंशपात्रमिवापूर्णं	९४	४३
वक्षो हिरण्यकशिपोः	१११४	६५५
वञ्चकैर्विषयैस्तात	१०३८	५९१
वर्त्तते ब्रह्म सर्वत्र	१००१	५६३

वरयोग्यासिकल्याणि	८४१	४४७
वरार्थिभिर्वरेण्याय	१२३८	७३२
वर्णाश्रमवयोवेशा	९८६	५५३
वर्णाश्रमसमाचारः	१०९	५०
वर्धते मनसःसेकैः	९८९	५५४
वर्धते मूलसेकेन	९८८	५५४
वर्धिता वर्धते चिन्ता	८३२	४४१
वसिष्ठव्यासपद्धत्या	९४०	५१७
वह्निपक्वं यथा मांसं	४६३	२११
वह्निप्रभा हि वर्त्तिस्था	२१	११
वाक्पाणिपादौ पायुश्च	७४४	३८०
वाङ्मयं खं हि सर्वत्र	९७३	५४५
वाचा मौनमयी गतिः	४८५	२२६
वानरो यत्प्रसादेन	६५५	३३०
वासिष्ठगार्ग्यशाण्डिल्य	७५४	३८४
वासुदेवः परं ब्रह्म	३०५	१४२
वासुदेवमयं सर्वं	३०४	१४१
विकासकोऽपि तपनो न	२९	१४
विकृत्या विकृतिर्नाहं	९३२	५१२
विघासु श्रुतिरुत्कृष्टा	१३२०	७८७
विचित्रा यस्य रचना	११९५	७०१
विचित्राक्षरविन्यासैः	५४१	२५३
वितर्केण विचारेणा-	२०५	९४
विदुषां वीतरागाणाम्	३७२	१७०
विदेहस्य सदेहत्वं	१०६६	६०५
विद्या विद्वत्समा-	५३८	२५१
विद्यैवाधिगता	९६९	५३९
विधिश्चप्रतिषेधश्च	७३९	३७८

विनापि क्षेत्रमाहात्म्यं	१४	९
विमुक्तिर्निश्चिता शास्त्रै	१०६७	६०६
विमुक्तिर्वादिनां तस्माद्	१७०	७८
विरक्तिभक्तिविज्ञान-	३२९	१५१
विरागश्च विचारश्च	३१३	१४६
विरोचनः कार्त्तवीर्यो	५०	२२
विरोधिनः सहायाश्च	१८४	८३
विरोधिलक्षणान्याया -	१९६	८९
विलक्षणे महादेवे	२४८	११४
विवर्त्तितजगज्जालः	१२७६	७५४
विशालदृष्टौ रमते	१०१२	५७२
विशुद्धिः पञ्चमं चक्र-	२३१	१०५
विशेषाहंकृतिः सूक्ष्मा-	३५३	१६२
विश्रान्तिसुन्दरीसङ्ग-	११२१	६६३
विश्रामोऽयं मुनीन्द्राणां	१२५४	७४२
विश्वं गुणात्मकं सर्व-	१८५	८४
विश्वकृद्विश्वरूपोऽसौ	१२४४	७३६
विश्वरूपो महादेवः	१३१७	७८५
विश्वश्च तैजसःप्राज्ञो	५५१	२६१
विश्वेश्वरस्तु सुधिया	३४०	१५६
विषयैः शब्दसंस्पर्श-	४४१	२०१
विष्णुगीता मयाधीता	१२१५	७१४
विष्णोर्मे दर्शनंभूयात्	८०४	४२०
विस्मृत्या चन्द्रिकानाप्ता	९५०	५२५
वृत्तिगोपीजनैःक्रीडन्	६४९	३२५
वेदशास्त्रपुराणेषु	६१०	२९७
वेदशास्त्राविरोधेन	१५५	७१
वेदशास्त्रोक्तविधिना	१२०	५५

वेदान्तपाठरूपेण	११७४	६९०
वेदान्तसंप्रदायेन	४१५	१८९
वेदान्तसम्प्रदायेन	५१०	२४०
वेदान्ताः सम्यगभ्यस्ताः	४३४	१९८
वेदान्तैरपि जिज्ञासोः	३७६	१७२
वेदे नास्त्यधिकारोऽस्य	१४७	६८
वेद्यत्वात्कल्पितःस्वस्मिन्	३९८	१८२
वैराग्यं द्विविधं सुक्ष्मं	४२	१९
वैराग्यपीठिकाबन्धं	४०	१९
व्यतिरिक्तमिवात्मानं	४४२	201
व्यवहारविमूढानां	१०४	४८
व्यवहारस्यसर्वस्य	९४२	५१८
व्याख्यासि वेदान्तगिरा	१००८	५६९
व्युत्थानानन्तरं तेषां	५२४	२४६
व्योम व्योमचरैर्न	१०८९	६२४
व्योमादिपञ्चभूतानि	१७६	८०
शक्ता नूनं हि कार्येषु	२५२	११६
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा	२४०	१०९
शक्तिरेव न यस्यास्ति	२५१	११६
शक्तिशक्तिमतोर्यस्माद्	२५३	११६
शङ्करेण किरातेन	१२४३	७३५
शङ्करेणाभ्रशुभ्रेण	१२५९	७४५
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च	७४१	३७९
शमो विवेकःसौम्यत्वं	७३७	३७७
शरीराभ्यन्तरोवायु:	५६६	२७१
शर्कराद्वितयंधृत्वा	९३६	५१५
शर्वो भवो रुद्र	१३३३	७९८
शश्वदीश्वरभक्ता ये	१५२	६९

शान्तिवैराग्यबोधाख्यैः	१२६५	७४८
शान्तिसीता समानीता	६५७	३३१
शाश्वते सुप्रसन्नानां	११२४	६६५
शास्त्रार्थः सम्परिज्ञातो	३०३	१४१
शिक्षा कल्पोव्याकरणं	७०१	३५४
शिवं भजति भावेन	१२९५	७६७
शिवः कर्ता शिवो भोक्ता	३०७	१४३
शिवः कर्त्ता शिवो भोक्ता	२४४	११३
शिवपञ्चाक्षरी दीक्षा	१२२३	७१९
शिवपञ्चाक्षरी श्रेष्ठा	२२०	१०१
शिवपूजात्मकं कर्म	१२२२	७१८
शिवभक्तिं पुरस्कृत्य	३३२	१५२
शिवभक्तिस्वभावेन	१३१६	७८५
शिवभक्तैः कृता	१२८७	७६२
शिवे निवेदिते सर्वं	११५९	६८२
शिवो देवः शिवो	१३०५	७७८
शिष्टाचारपथं विना	९७०	५४१
शीतोष्णं कटुतिक्त-	६१४	३००
शीतोष्णमृदुकाठिन्य-	७४७	३८१
शीर्षे घटसहस्राम्भः	१०३९	५९१
शुद्धबोधसुधास्वादी	१११९	६६१
शुद्धस्फटिकसङ्काशः	१२६०	७४६
शुद्धात्मा शीतला	१२३४	७२९
शुद्धिकृत्कामनिर्मुक्तं	६९५	३५१
शुद्धे बोधे स्फुरति	११११	६५०
शुद्धो विदेहभावेन	७०२	३५५
शून्याशून्येसमे यस्मिन्	७७५	३९३
शैववैष्णसावित्र-	७५३	३८३

शोकमोहौ भयं दैन्यम्	१०७	४९
शौचं संतोषःस्वाध्यायः	६०७	२९५
श्रद्धा निर्ममताविराग-	६१६	३०२
श्रद्धा यद्यस्तिवेदान्ते	५३६	२५०
श्रद्धाभक्तिभृतां	७९७	४०९
श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञा-	२०९	९६
श्रवणं तु परा पूजा	२८९	१३५
श्रवणं श्रौतमित्युक्तं	६९९	३५३
श्रीगुरून् परमानन्द	४	४
श्रीगुरो सानुभावानां	९६७	५३७
श्रुतं श्रीगुरुवक्त्रेभ्यः	७००	३५४
श्रुतिः सर्वपदार्थानां	६७१	३३८
श्रुतिप्रामाण्यसिद्धेर्थे	८९९	४९५
श्रुतिर्भयमिति प्राह	१२४५	७३६
श्रोतव्यं श्रुतिवाक्येन	८२३	४३२
श्रोतव्या श्रीमतासाधो	८६६	४६३
श्रोत्रं त्वक्चक्षूरसनं	१७८	८१
श्रोत्रं त्वङ्नयनं जिह्वा	७४३	३७९
श्वेतं श्याममिति	६२३	३०८
षडवस्थापरित्यागे	३५७	१६३
षोडशापि पदार्थास्ते	६६७	३३६
स ईक्षितः स अश्लिष्टः	१२९४	७६६
स मूर्त्तिमानहंकारः	६५३	३२९
स सर्वज्ञः स्वभावेन	२१२	९८
संचारस्तीर्थसंचारः	४७६	२२०
संपुटीकृत्य हस्तौ द्वौ	६०८	२९६
संप्रज्ञातस्तदन्यश्च	२०४	९४
संप्राप्ते परमानन्दे	४७८	२२२

संप्राप्यापि पदार-	६२४	३०८
संफुल्लैर्निजभाव-	६१८	३०३
संलग्नेऽप्यातपे भानोः	४५८	२०९
संसारमेव यो वेत्ति	३६७	१६८
सकामाः कामिनीलुब्धा	८३	३९
सक्षारैरग्निसंस्कारैः	४१७	१८९
सखायः शङ्करस्यैते	१२७५	७५४
सङ्कल्पबद्धं सङ्कल्पात्	१०५९	६०२
सच्चिदानन्दरूपंत्	३७	१७
सच्चिदानन्दरूपत्वात्-	८२०	४३१
सच्चिदानन्दरूपेण	४०२	१८४
सतर्कैर्बोधसंस्कारैः	४१८	१९०
सतां हृदयपद्मेषु	१२४१	७३३
सत्यं प्रियं चपथ्यं च	६४२	३२०
सत्संगः परमा पूजा	२६८	१२५
सत्संगसुधया तात	१५०	६९
सदेहस्य विदेहत्वं	१०६५	६०५
सदेहे न विदेहत्वं	१०६४	६०४
सदैव चेतसो वृत्ति-	९९९	५६०
सदैवाध्ययनीयेयं	१०७६	६१०
सद्यो मम शिरश्छिन्धि	९५६	५२९
सनकाद्या वसिष्ठाद्याः	१९४	८८
सप्तमी तु पराकाष्ठा	३६२	१६६
सप्तमी तुर्यमित्युक्ता	३५९	१६४
सप्तमी सहजा तुर्या	३६४	१६७
सप्तावस्था इमाः	५३९	२५२
समरसपदचिन्ता-	१०८७	६२२
समाधितीर्थे मुनिना	६३७	३१७

समाधिशयने शुभ्रे	६४४	३२२
समाधिस्तत्र कर्त्तव्यो	९२९	५०९
समाप्ते भारतेग्रन्थे	६४७	३२४
समो यद्यपिसर्वत्र	९१८	५०३
सम्पूर्णं जगदेव	११०४	६४२
सर्वं प्रियंस्वकामाय	४०६	१८५
सर्वगस्यापि देवस्य	१२३०	७२५
सर्वत्रैव सदा	१११७	६५९
सर्वरूपमिदंब्रह्म	८५४	४५५
सर्वस्मात्तत्पृथ-	८४८	४५३
सर्वस्मादपृथग्ब्रह्म	८४९	४५३
सर्वा विकृतयो यस्याः	१७३	७९
सर्वा साधनसम्पत्ति -	२९६	१३८
सर्वांगीणसुखावहं	६१५	३०१
सर्वाहारी निराहार-	८९०	४८२
सर्वे भावाःप्रलीयन्ते	७७३	३९२
सर्वेषां तत्र तन्त्राणाम्	१६०	७३
सर्वेष्टानिष्टभावानाम्	२६२	१२१
सलक्षणे महादेवे	२४६	११४
सविचारास्तु गुरवो	१०४०	५९२
सविशेषाः पदार्थाये	६६९	३३७
ससुरासुरगन्धर्व	७५२	३८३
सहजं यस्य वैराग्यं	५३	२३
सहजानन्दरूपत्वा-	९०६	४९८
सा नश्यतिद्वितीयायां	४१६	१८९
सा ब्रह्मवादिनां श्रेष्टा	१२९२	७६५
सा स्वभावेन वामैव	१२९१	७६५
साऽपरोक्षा नैव निशा	४४९	२०५

साक्षित्वभावना-	५४५	२५५
साधनानां हि सर्वेषां	१५१	६९
साध्यसाधनसंबन्ध-	७२४	३६९
सान्धकारगृहस्थस्य	४२०	१९१
सायं प्रातरनेकरङ्गमपि	१०९०	६२५
सायंकाले समाध्याख्ये	९६३	५३४
सिंहव्याघ्रवराह-	७६१	३८७
सिंहासनं समाधिर्मे	१०३०	५८७
सिद्धान्तः सर्वतन्त्राणां	३४	१६
सिद्धार्थः सुगमार्थश्च	१३४३	८०६
सिद्धिकामनया यैस्तु	५२१	२४४
सिद्धिमेकामपि प्राप्य	१२४०	७३३
सिद्धिरात्मपरिज्ञान-	६८९	३४७
सुखं घनसुषुप्तौ	४९१	२३३
सुखभोगःफलं नात्र	७९४	४०५
सुतरां गुरवोऽस्माकं	१०२	४७
सुतोऽन्यो विघ्नराशिघ्नः	१२८३	७५९
सुन्दरीं वीक्ष्यचित्कान्तां	११६६	६८५
सुलभा शुद्धबोधानां	७९५	४०७
सुषुप्तिः शिथिला गाढा	३६६	१६७
सुषुप्तेः प्रथमावस्था	४९०	२३२
सुषुप्तौ केचिदाश्वस्ताः	५०४	२३८
सुषुम्णावाहिनिप्राणे	५७८	२७७
सुहृमे बोधसारोऽयं	१३५२	८१०
सूर्यप्रभावच्चततः	४९७	२३५
सेवायां परमं कष्टं	६५	२९
सेव्यः श्रीगुरुचेववाक्य-	६१३	२९९
सैव माता पितासैव	८८२	४७४

स्वानन्दबोधगुरू-	७९६	४०८
स्वानुभवानांसत्यपि	८७१	४६७
स्वामी तु चौरवद् द्रव्यं	८६	४०
स्वामी मे बोधसारोऽयं	१३५१	८१०
स्वेच्छयैव कृतं विश्वं	११३८	६७१
हठिनामधिकस्त्वेकः	१६९	७७
हतः कामी कटाक्षेण	४४६	२०४
हत्त्वापि य इमान्	१२११	७१२
हरिप्रसादकाम्या च	११२	५१
हर्ष एव परा पूजा	२८०	१३०
हानिरेव परा पूजा	२८२	१३१
हुते चेदाहुतीएते	६०४	२९४
हृते स्मरे हृता एव	१२९०	७६४
हृदये वसतिप्रीत्या	३३७	१५५
हृनदि यदि सविचाराः	११००	६३७
हे योगसिद्धजानासि	६८२	३४३
हेतुमालामयीधार्या	९१९	५०३
हेमगौरविशालाक्ष-	७५८	३८६
हेहंकृते तव	१०९५	६३२

शिवम्
शान्तम्
अद्वैतम्